१२ उगा पगा
५। ८ १ ५ लि ला
(५)
१३ ॥

ॐ

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

का

वेदाङ्क ।

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वर्ष १९] पौष १८५१, जनवरी १९३८ [अङ्क १

वार्षिक मूल्य म. आ. से. ५) रु.
" " वी. पी. से. ५॥) रु.
" " विदेशके लिये ६॥) रु.

इस अङ्कका मूल्य २) रु.

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वैदिक धर्म ।

' वेदाङ्क ' की विषयानुक्रमणिका ।

वर्ष १९
अंक १
क्रमांक २१७

धर्म

पौष
संवत् १९९४
जनवरी
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकरजी। सहसंपादक-पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

श्रद्धासे उन्नति।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
(ऋग्वेद १०।१५१।५)

"(प्रातः) प्रातःकाल हम सब मिलकर (श्रद्धां हवामहे) श्रद्धाका आवाहन करते हैं। (मध्यं दिनं परि श्रद्धां) दो पहर के समय भी हम सर्वथा श्रद्धाको ही धारण करते हैं। (सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धां) सूर्यके अस्त होनेके समय अर्थात् सायंकाल हम सब श्रद्धाका आश्रय करते हैं। हे (श्रद्धे) श्रद्धादेवी! (नः इह श्रद्धापय) हम सबको श्रद्धासे युक्त कर दे।"

प्रातःकाल से शामतक और शामसे प्रातःकालतक प्रत्येक कर्म श्रद्धासे हुआ, तो वह सफल और सुफल होता है। श्रद्धासे ही नीरोगता प्राप्त होती है और श्रद्धासे ही रुग्णावस्था आती है। यदि ऐसा है तो सर्वकाल उत्तम श्रद्धाका धारण मनुष्य क्यों न करें? सत्यधर्म और सत्यस्वरूपी ईश्वरपर मनुष्य श्रद्धा रखेगा, तो मनुष्य सद्गतिहि निःसंदेह प्राप्त करेगा।

वेदाङ्क से वर्षका प्रारंभ

'वैदिक धर्म' मासिक का वर्षारंभ इस 'वेदाङ्क' से शुरू हो रहा है, यह एक आनंदका सूचक चिह्न है। हमारे मन में कई वर्षोंसे प्रतिवर्ष 'वेदांक' प्रकाशित करनेका विचार था, परंतु कई कारणोंसे वह विचार इस समयतक सिद्ध न हो सका। इस समय इस वेदांक द्वारा उस विचारको प्रकाशित होनेका अवसर प्राप्त हुआ, इसलिये विशेष आनंद होना स्वाभाविक है।

इसी माससे "वैदिक धर्म" का कलेवर दुगणा किया गया है और प्रतिवर्ष इससे भी बडे विशेषांक प्रकाशित होते रहेंगे। इतना होनेपर भी वार्षिक चंदा ३) रु० के स्थानपर केवल ५) रु० किया गया है। वैदिक धर्मकी सेवा इस मासिकने जो इस समयतक की है, वह ग्राहकोंसे छिपी नहीं है और आगे यह मासिक इससे भी अधिक धर्मसेवा करनेकी इच्छा धारण करके इस 'वेदांक' के रूपमें ग्राहकोंके पास आ रहा है। इसका स्वागत ग्राहक विशेष रूपसे करेंगे, ऐसी हमें आशा है।

यों तो 'वैदिक धर्म' का प्रत्येक अंक 'वेदांक' ही होता है, परंतु आगे द्विगुणित कलेवर धारण करके केवल वेदके तत्त्वोंका विशदीकरण करनेवाले वेदविषयक लेखहि इसमें प्रकाशित होते रहेंगे। किसी अन्य मासिक ने केवल वेदविषयक लेख प्रकाशित करनेका निश्चय अभीतक नहीं किया है, यही इस 'वैदिक धर्म' की विशेषता रहेगी।

आगे प्रति अंकमें वैदिक धर्मके तत्त्वोंका विचार और प्रचार तथा चर्चा होनेके लिये प्रत्येक अंकमें एक एक पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दिया जायगा और उसी पर ग्राहक तथा लेखक अपनी संमतियां भी प्रदर्शित करेंगे। इससे नियमित रूपसे वेदका अध्ययन होगा और हरएक ग्राहक वेदके तत्त्वके साथ अधिक परिचय प्राप्त कर सकेगा। 'वैदिक धर्म' मासिक की विशेषता इसी खुली चर्चामें रहेगी। पाठक इससे अधिक लाभ उठाएंगे ऐसी आशा है।

इस अंकमें १६–१७ लेख वेदका विषय प्रतिपादन करनेवाले आ गये हैं। प्रायः इन लेखोंमें सांप्रदायिकता नहीं है। यद्यपि विद्यानिधि सिद्धेश्वरशास्त्री के 'वेद और उपवेदोंका परिचय नामक' लेखमें वेदमें इतिहास होना स्वीकार किया गया है और स्व० पं० रघुनंदन शर्माजी के 'क्या वेदोंमें इतिहास है?' इस लेखमें वेदमें इतिहास अर्थात् मनुष्योंका इतिहास नहीं है, यह प्रतिपादन किया है। इस तरहकी परस्परविरुद्धता विविध लेखोंमें होनेपर भी प्रत्येक लेख खोजकी दृष्टिसे लिखा गया है। इस कारण प्रत्येक लेखमें पाठकोंको कुछ विशेष और नया ज्ञान प्राप्त होगा। खोज करनेवाले विद्वान् अपनी स्वतंत्र विचारशक्ति से जो खोज करते हैं, उनमें किसी समय कुछ परस्परविरोध भी होना स्वाभाविक है। उसको सहन करनेसे ही आगे खोज बढती रहेगी और अन्त में सबका सहाय्यक ज्ञान प्राप्त होगा।

परंतु जो लोग अल्पसा विरोध भी सहन नहीं कर सकते और विशेष विचारप्रणालीके अन्दर ही सदा रहना चाहते हैं और साथ साथ स्वतंत्र विचारकोंको विरोधदृष्टि से ही देखते हैं, उनके विषयमें यहां कुछ भी न लिखना ही योग्य है। क्योंकि उनके सिद्धान्त निश्चित होनेके कारण उनके लिये खोजकी आवश्यकता ही नहीं है। ऐसे सर्वज्ञ विद्वानोंको प्रणाम करके उनसे दूर रहना ही अच्छा है!

वास्तवमें हम वेदके ज्ञानके महासागर के पास भी अभीतक नहीं पहुंचे हैं। वेदके अंदर प्रवेश करके वहांके अमूल्य रत्न हमें अभी प्राप्त करने हैं। इस तरह के जिन पाठकोंके विचार हैं, उनके लिये ही 'वैदिक धर्म' अपनी सेवा अर्पण कर सकता है और उनके लिये ही वैदिक धर्म कुछ सहाय्यक हो सकता है।

परम दयालु परमेश्वर वैदिक धर्मकी सेवा करनेका बल हमें दे और उस सेवा द्वारा सबका जीवन सफल होवे।

'संपादक'

वेदभाष्यका उत्तरदायित्व ।

(लेखक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.)

वेदोंका शुद्ध मुद्रण।

हमने जबसे 'वेदोंका शुद्ध मुद्रण' करनेका कार्य प्रारंभ किया है, तबसे कई ग्राहक हमसे पत्र लिख-लिखकर पूछने लगे हैं कि, 'आप वेदोंका भाष्य शीघ्रातिशीघ्र क्यों नहीं करते?' पहिले पहिल तो हमारी यही इच्छा थी, कि हम शीघ्रातिशीघ्र वेदोंका भाष्य करके उसे छाप कर प्रकाशित करें। परन्तु जैसा जैसा हमने वेदोंका गहरा अभ्यास करना प्रारंभ किया, वैसा वैसा हमारा मत बदलता गया और इस समय हमारा यह मत स्थिर हो चुका है कि—

(१) सबसे प्रथम सम्पूर्ण आर्ष ग्रंथोंका शुद्ध मुद्रण करना चाहिये,

(२) सम्पूर्ण आर्ष ग्रंथोंकी उत्तमसे उत्तम सूचियां बनानीं चाहिये,

(३) आर्ष ग्रंथोंके विषयानुसारी समन्वयग्रंथ निर्माण होने चाहिये,

(४) एक ही विषयके संबंध में सम्पूर्ण आर्ष ग्रन्थोंमें क्या लिखा है, वह सब एक स्थानपर मिल जाय, ऐसे संग्रहग्रंथ निर्माण होने चाहिये,

(५) वैदिक शब्दों के वेद में तथा ब्राह्मणादि सम्पूर्ण आर्ष ग्रन्थों में जो निर्वचन किये हैं, उनका संग्रह होना चाहिये।

इस तरह के साधन-ग्रन्थ निर्माण करने के पश्चात् हि वेदों का सर्वांगसम्पूर्ण भाष्य होना सम्भव है। इन साधनग्रन्थों के निर्माण होने से पूर्व जो वेदभाष्य बनेंगे, उनमें कितनी त्रुटियां होंगी, उसकी गिनती भी इस समय नहीं की जा सकती।

आज जो विद्वान् पण्डित वेदभाष्य करने में अपना जीवन लगाये हुए हैं, उनका प्रयत्न निःसन्देह प्रशंसनीय है, परन्तु हमें वेदभाष्य ऐसा चाहिये कि, प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक अर्थ के विषय में सम्पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक और प्रकाशक अपने सिर पर लेनेको तैयार हों। अर्थात् पद के प्रत्येक अर्थ के तथा मन्त्र के प्रत्येक अर्थ के प्रमाण आर्ष ग्रन्थों से देनेके साधन भाष्यकर्ता के पास तैयार होने चाहिये। यही भाव दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि, वेदमन्त्रों का अर्थ वेद के अन्तर्गत प्रमाणों से पुष्ट होवे और आर्ष-ग्रन्थों के प्रमाणों से विशद होवे। जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक होनेवाले भाष्य पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ होने असम्भव है। यह हमारा निश्चय होनेके पश्चात् हि हमने वेदों और ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थों का शुद्ध मुद्रण करने का कार्य प्रारम्भ किया है।

जबतक वेदों के शुद्ध पुस्तक हमारे पास ही नहीं हैं और मन्त्रपाठ, ऋषि, देवता आदि के विषय में निश्चित शुद्धता का पता नहीं है, वेदपाठमें पर्याप्त अशुद्धियां मुद्रित हो चुकी हैं, तब उन वेदमन्त्रों का भाष्य निर्दोष रीतिसे किस तरह हो सकता है?

सबसे प्रथम मंत्रपाठ नितांत शुद्ध छपना चाहिये और साथ साथ पदपाठ भी शुद्ध छपना चाहिए। शुद्ध छपनेका अर्थ यह है, कि चारों वेदोंके मंत्रों में एक भी अशुद्धि रहनी नहीं चाहिये। वेदोंका संशोधन, अर्थकी खोज, भाष्य की प्रामाणिकता ये सब शुद्ध पुस्तक तैयार होनेके पश्चात् हि हो सकनेवाले विषय

हैं। हमारे पास शुद्ध- एक भी अशुद्धि जिसमें न हो ऐसी पुस्तकें तैयार होने तक जो वेदोंकी खोज हो रही है, उसका मूल्य बिलकुल नहीं के बराबर है।

सब अन्य प्रमाण वेदके प्रमाणसे सिद्ध होनेवाले हैं। परन्तु वही स्वतःप्रमाण वेद शुद्ध छपा हुआ कहीं भी मिलता नहीं, यह कितनी बडी लज्जा की बात है ?

(२) अशुद्धियोंसे भरे पुस्तक ।

आज जो चारों वेदोंकी मुद्रित पुस्तकें मिलतीं हैं, उन में जो अशुद्धियां हैं, उन सबकी पुस्तक बनाई जाय, तो उतनी ही बडी होगी। क्या स्वतःप्रणाम वेद की यही स्थिति समाधान माननेयोग्य है ? इन में मन्त्रपाठकी अशुद्धि, पदच्छेद की अशुद्धि, ह्रस्व-दीर्घकी और स्वरकी अशुद्धि, चरण की अशुद्धि, मन्त्रांक की अशुद्धि, ऋषिदेवताछन्दकी अशुद्धि, इस तरह जो जो बातें वेदके सम्बन्ध में हैं, उन सबके संबन्ध में अनेकानेक अशुद्धियां हैं। इनके होते हुए, इन अशुद्ध पुस्तकों को लेकर जो शास्त्रार्थ किये जाते हैं, जो लेख लिखे जाते हैं, जो प्रमाण दिये जाते हैं और जो भाष्य रचे हैं, उनकी प्रामाणिकता कहाँ तक मानी जाने योग्य है, इसका पाठक ही विचार करें।

(३) धनी दाताओंका कार्य ।

चार मूल वेदोंका, इस तरह की एक भी अशुद्धि न रखते हुए, छापना, यह एक धनके व्यय के साथ सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है। पर्याप्त धन व्यय करनेके लिये मिल जायगा, तो यह कार्य स्थायी रूपसे हो सकेगा। एकवार निर्दोष मुद्रण करनेके पश्चात् बार बार के मुद्रण में पुनः गलतियां न रहने पावें, इस लिए वेदके पृष्ठोंके ब्लॉक्स बनाने चाहिये। इस तरह एक बार ब्लॉक शुद्ध बन गए तो आगे जितनी वार वेदसंहिताएं छापी जांयगीं, उतनी वार शुद्धही छपती रहेंगीं। जो व्यय और जो परिश्रम पहिली वार करना पडेगा, उतना तो करनाहि होगा, परन्तु एक बार ब्लॉक बन गए तो फिर शुद्ध वेद छापने के विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी। अस्तु। इस तरह यह कार्य होना संभव है। केवल धनकीहि आवश्यकता है।

हमने तो यह निश्चय किया है, कि इस तरह एकवार प्रयत्न करके चारों वेदोंकी पुस्तकें छापेंगे और पृष्ठोंके ब्लॉक भी बनावेंगे। यदि ब्लॉक बननेपर किसी पृष्ठ में कुछ गलती होनेका सन्देह हुआ, तो वह पृष्ठ नया तैयार करेंगे। और इस तरह एक भी अशुद्धि न रहने देना हमारा ध्येय है।

श्रीसायणाचार्य के समय जो सुविधा थी वह इस समय नहीं है। उस समय चारों वेदोंको तथा अनेक शाखाओंको कण्ठ रखनेवाले ब्राह्मण विद्यमान थे और वे सचमुच वेदमूर्ति थे। वे जीवित और जाग्रत सूचीरूपही थे। उनको वेदके विषय में जो पूछा जाय, वह उनको उपस्थित रहता था। इसलिए उस समय सूचियोंके ग्रन्थ न होनेपर भी इन जीवित सूचियोंसे उनका कार्य चल सकता था। आज इस समय केवल ऋग्वेदके वेदपाठी २०-२५ महाराष्ट्रमें हैं, काशी में १०-१५ हैं। इनमें से बहुतसे वृद्ध हैं और तरुण पीढी में कोई नये पैदा हो नहीं रहे। ये विद्वान् ऐसे हैं कि इन को वेदपाठ के सम्बन्धमें जो कुछ पूछा जाय वे निःसन्देह ठीक ठीक बता सकते हैं।

यजुर्वेद की तैत्तिरीय, वाजसनेयी और काण्व के क्वचित् कोई ऐसे विद्वान् मिलते हैं। दसबीस भी मिलना कठीन हैं। सामवेदके चारपाँच मिलें तो मिलें। अथर्व-वेदके तो एकदोही हैं।

ये पंडित भी २५-३० वर्षके पश्चात् मिलनेवाले नहीं हैं। अतः इनकी उपस्थितिमेंहि वेदपाठका निश्चय करके वेदोंका मुद्रण होना चाहिए। यदि यह कार्य इस समय न हुआ तो सौ पचास वर्षोंके पश्चात् होनेकी कोई आशा नहीं है, क्यों कि उस समय तक ऐसे वेदपाठी रहनेकी संभावना कम ही है। दिन प्रतिदिन उनकी संख्या कम होती जा रही है।

(४) शंका-समाधान ।

इन वेदपाठियों के मौखिक वेदपाठका शुद्धता के विषय में कई लोगों को शंका हो सकती है। उनको इतना ही कहा जा सकता है, कि वे इन वेदमूर्तियोंकी परीक्षा लें। हमारे पास ऐसे १५-२० पंडित इस समय हैं और अधिक स्थानस्थानसे बुलाए जा सकते हैं। कोई विद्वान् अपने हाथमें ऋग्वेदका ग्रन्थ लेवे और ये लोग मुखसे बोलते जायंगे। इस तरह परीक्षा ली जावे और शंका करनेवाले इस तरह अपनी शंका निवृत्त करें। शंका निवृत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। हमने इसी तरह परीक्षा की हुई है और निश्चय कर लिया है, कि इनका पाठ परंपरासे शुद्ध चला आया है और जो सुप्रसिद्ध घनपाठी वेदमूर्ति हैं, उनके मुखसे अशुद्ध पाठ निकलनेकी संभावना भी नहीं है।

कोई संस्था इस बातकी अवश्य परीक्षा करे। जो व्यय करने का सामर्थ्य रखता है, वही परीक्षा लेवे। प्रत्येक को आनेजाने का मार्गव्यय और परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उसे कमसे कम १००) रु० पारितोषिक तो अवश्य देना ही चाहिए। जो परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहेंगे, उनको कुछ भी देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमारा निश्चय यही है कि जो घनपाठी विद्वान् इस समय हैं, वे वेदको कण्ठसे निर्दोष बोलते हैं और वेदपाठ में एक भी अशुद्धि नहीं करते। यह निश्चय हमने परीक्षा करके हि किया है।

(५) शुद्धता की कसौटियाँ ।

इतना होनेपर भी प्राचीन शुद्ध पुस्तकें, युरोप की शुद्ध पुस्तकें, व्याकरण तथा भाष्य आदि देखकर ही शुद्ध पाठका निश्चय किया जा सकता है। पाठ की शुद्धता की परीक्षा करने का सर्वमान्य शास्त्र है। उस शास्त्र की कसौटी पर हरएक पाठ देखा जायगा, तभी उसकी शुद्धता का निश्चय होगा। ऐसी सम्पूर्ण परीक्षाएं देखकर ही पाठकी शुद्धता निश्चित होती है।

वेदों के पुस्तक शुद्ध छापने में जो व्यय होता है, वह इसी कारण होता है। इतना व्यय करने के पश्चात् भी यदि ब्लॉक न बनाये, तो फिर भी द्वितीय मुद्रण में उनहीं अशुद्धियों की सम्भावना बनी रहेगी। इसलिये एक वार प्रयत्न करके जिनमें एक भी अशुद्धि न हो, ऐसी वेदों की पुस्तकें छापनी चाहिये और शुद्ध मुद्रण का स्थिर प्रवन्ध करने के लिये वेदों के पृष्ठों के ब्लॉक बनाने चाहिये।

ऐसी पुस्तकें तैयार होनेपर ही वेदों का विचार और वेदों की खोजका प्रारम्भ करना सम्भव हो सकता है। इससे पूर्व नहीं।

मूल चारों वेद छपने पर शाखासंहिताएं, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, अङ्ग और उपाङ्ग ये सब ग्रन्थ ऐसे ही शुद्ध छापने होंगे। उन्हें शुद्ध छापने के पश्चात् उनकी सब प्रकारकी सूचियाँ बनानी चाहिये। सूचियाँ बनने के पूर्व वेदों की कोई खोज हो ही नहीं सकती। आजकल खोज करनेवालों को वेद कण्ठ नहीं होते और जिन थोडे लोगों को वेद कण्ठ हैं, उनको व्युत्पत्ति का ज्ञान न होने के कारण वे खोज नहीं कर सकते। जितने लोग खोज करते हैं, उनमें से एकको भी वेद कण्ठ नहीं। इसलिये सूचियोंके बिना आजकल खोज होनी असम्भव है। अतः सूचियां बनाना अत्यन्त आवश्यक है और इसपर जो व्यय होगा वह भी अत्यन्त आवश्यक समझना चाहिये।

ये सूचियाँ अनेक प्रकार की बननीं चाहिए और ऐसी बननीं चाहिये, कि जिनमें अशुद्धियां न रहें।

(६) चरणसूची ।

सबसे पहली सूची मन्त्र के चरणों की है। यह यदि आद्याक्षर से तथा अन्त्य-अक्षर से, ऐसी दो प्रकार की बनेगी तब बडी उपयोगी होगी। यदि दोनों सूचियाँ न बनें तोभी आद्याक्षरवाली सूची तो अवश्य ही बननी चाहिये। इस समय जो वेदमन्त्रों की अनुक्रमणिका बनी है, वह मन्त्र का प्रथम चरण लेकर हि बना है। समझ लीजिये कि किसी को मन्त्र के प्रथम चरण का पता नहीं और दूसरे,

तीसरे अथवा चौथे चरण का मालूम है और उस मन्त्र को वह वेद में देखना चाहता है, तो आज की अनुक्रमणिका से उसका कार्य नहीं चलेगा। जिस समय प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक चरण की अनुक्रमणिका होगी, तभी वह सर्वांगसम्पूर्ण होगी और यदि आद्याक्षरानुसारी और अन्त्याक्षरानुसारी होगी तब तो निःसन्देह बडा ही उपकार होगा।

यह मन्त्र ढूण्ढने के लिये एक पादानुक्रमणिका हुई। इसके पश्चात् विशेषणयुक्त शब्दसूची चारों वेदों की बननी चाहिये। आजकल जो शब्दसूचियाँ हैं, उनसे फलाना शब्द कहां है इसका हि पता लग सकता है; परन्तु वे सब मन्त्र जब कागजपर लिखे जायंगे, तब खोज करने का प्रारम्भ होता है। कई वार ४-४ सौ मन्त्र लिखने पडते हैं और उनके लिखे जाने तक खोज करनेवाले की खोज की शक्ति समाप्त होने लगती है। इसलिये यदि विशेषणयुक्त शब्दसूचियाँ बनेंगी तब तो थोडे परिश्रम से बहुत ही लाभ हो सकेगा। उदाहरण के लिये देखिये—

किसीको अग्नि की खोज करनी है। चारों वेदोंमें अग्नि के मन्त्र दो सहस्र से अधिक हैं। पहिले इन सब का लेखन करने में उसकी शक्ति का व्यय होगा। लेखन होनेके पश्चात् अपने विषय के मन्त्र छांटने के लिए समय चला गया, इतना अथक परिश्रम करने के पश्चात् उसकी खोज शुरू हो सकेगी। परन्तु यदि अग्निकी विशेषणयुक्त सूची तैयार रहेगी, तो उस सूचीसे झट आवश्यक मन्त्र निकल सकेंगे, जैसे—

द्रविणोदा अग्निः
राष्ट्रदा अग्निः
वैश्वानर अग्निः
पुरीष्य अग्निः
पुरोहित अग्निः
ऋत्विक् अग्निः
होता अग्निः
रत्नधा अग्निः
कविः अग्निः
सत्य अग्निः
देव अग्निः
राजा अग्निः

इस से पाठक जान सकते हैं, एकही अग्नि इतने रूपों में वेदमें वर्णित हुई हुई है। 'द्रविणोदा अग्नि' 'कवि अग्नि' एक नहीं है, तथा 'राजा अग्नि' का कार्य भिन्न है और 'ऋत्विज अग्नि' भिन्न ही है। इस कारण आज मिलनेवाली केवल वैदिक पदोंकी सूचीसे वह कार्य निकल नहीं सकता, जो ऐसे विशेषणयुक्त शब्द-सूचीसे हो सकता है। इस समय कई विद्वान् चतुर हैं और वेदोंकी खोज करनेमें रुचि भी रखते हैं, खोज करनेकी योग्यता भी उनमें है, परन्तु योग्य साधनों के अभावके कारण उनसे कुछ भी नहीं बनता। उदाहरण के लिए देखिए कि 'कवि अग्नि' की खोज करनेवाला विद्वान् सब से प्रथम सम्पूर्ण अग्निके मन्त्र लिखे, पश्चात् अपने 'कवि अग्नि' के मन्त्र छांटे, पश्चात् अपने विषय का विचार करे। इतना समय सबोंके पास नहीं होता और इन आवश्यक साधनसामग्री के अभाव के कारण खोज करनेकी योग्यता रखनेवाले भी खोज का कार्य छोड देते हैं। इससे आर्य-धर्मियोंकी कितनी हानि हो चुकी है, इसकी पाठक कल्पना कर सकते हैं।

(७) वेदकी विद्याएं।

कितनी वेदकी विद्याएं, कितने वेदके सन्देश और कितने वेदके आदेश वेदोंकी पुस्तकोंमें ही अभीतक गुप्त पडे हैं। इसका दोष पंडितोंके सिरपर नहीं है। क्योंकि निर्धन पंडित क्या करेंगे ? यह इतने बडे व्यय का कार्य है, कि यह कोई भी अकेला निर्धन पंडित कर नहीं सकता। इस कारण इसके व्ययका प्रबन्ध सम्पूर्ण वैदिक धर्मी धनी सज्जनोंकोहि सामूहिक संघटित रूपसे करना चाहिए।

उपर कही विशेषण युक्त शब्दसूची तो सबसे प्रथम बननी चाहिए। मन्त्रपादसूची आद्याक्षर और

अंत्याक्षर ऐसी दो प्रकार की बनते ही विशेषणसूची बननी चाहिए। विशेषणसूची का संक्षेपसे उपयोग तो इससे पूर्व बताया गया है। विस्तारसे उपयोग बतानेका यह स्थान नहीं। उक्त लेख पढनेके पश्चात् हर कोई पाठक विशेषणयुक्त सूची का कितना उपयोग है, यह जान सकता है।

कई पाठक यहां प्रश्न पूछ सकते हैं, कि मन्त्रपाद-सूची आद्याक्षरक्रमसे हो, यह तो माना जा सकता है, परंतु अंत्याक्षरक्रमसे भी होनी चाहिए, इसका प्रयोजन क्या हो सकता है? जो कोई खोज करनेवाले हैं, उनको इन सूचियोंकी आवश्यकता का पता स्वयं लग सकता है, परन्तु जिनका खोज करने के विषय से सम्बन्ध नहीं, उनके लिए इसकी उपयुक्तता समझाना थोडासा कठिन कार्य है। तथापि संक्षेपसे इस विषय को स्पष्ट कर देते हैं।

खोज करनेके लिए सदृश मन्त्रोंके संग्रह करनेकी बडी भारी आवश्यकता रहती है। जितने सदृश मन्त्र एक स्थानपर संग्रहित हो जांय, उतनी खोज की पूर्णता होनी संभव है। सब सदृश मन्त्रों में जो विचारप्रवाह अनुस्यूत होगा, वही वेदका सिद्धांत निश्चित है, ऐसा निःसन्देह कहा जा सकता है। जबतक आद्याक्षर और अंत्याक्षर क्रमसे सूची नहीं बनती, तबतक कोई साधन नहीं है, जिसमें सदृश मन्त्र इकट्ठे मिलें।

उदाहरण के लिए हम अपनी भगवद्गीताकी आद्याक्षर और अन्त्याक्षरसूचीसे कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं—

ईश्वरविषयक।

आद्याक्षरसूचीसे—

ईश्वरोऽहमहं भोगी।	१६।१४
ईश्वरः सर्वभूतानां।	१८।६१

अंत्याक्षरसूचीसे—

जगदाहुरनीश्वरं।	१६।८
समवस्थितमीश्वरं।	१३।२८
तिष्ठन्तं परमेश्वरं।	१३।२७
पश्य मे योगमैश्वरं।	११।८; ९।५
परमं रूपमैश्वरं।	५।२९
वेत्ति लोकमहेश्वरं।	१०।३
सर्वलोकमहेश्वरं।	५।२९
मम भूतमहेश्वरं।	९।११

ईश्वर और ऐश्वर विषयक इतने श्लोक इन सूचियोंसे सहजही से मिलते हैं। दूसरा कोई साधन ऐसा नहीं है, कि जिससे ऐसे सदृश मन्त्र इकठ्ठे होकर तैयार मिले। यदि ये दोनों सूचियाँ तैयार मिल जांय, तो सूचियाँ देखते ही कई विषयोंके मन्त्र इकठ्ठे एक स्थानपर मिल जांयगे, जिससे वेदका धर्म निश्चित होनेमें सुगमता हो सकेगी। चारों वेदोंकी मन्त्रपादसूचियाँ आद्याक्षरी और अन्त्याक्षरी क्रमसे बनाना, यह पैसा खर्च करनेवाली कोई संस्था मिल जाय, तो सुगमतासे हो सकनेवाला यांत्रिक कार्य जैसा है। यह कोई मतभेद का प्रश्न नहीं है, किसी मतके विद्वान् हों सब मिलकर यह कार्य कर सकते हैं।

जिस प्रकार शुद्ध वेद छापनेका कार्य किसी एक संप्रदायके साथ सम्बन्धित नहीं है, इसी तरह मन्त्रपादसूचियाँ, तथा सविशेषण पदसूची ये सब कार्य ऐसे हैं कि जिन से हरएक वैदिक धर्मीका लाभ ही लाभ है। और किसी का कोई विरोध होना सम्भव ही नहीं।

(८) विविध पदसूचियाँ।

शब्दसूचीयां भी अनेक प्रकार की बननी चाहिए। जैसा कि ऊपर विशेषणयुक्त सूची का निर्देश किया भी है। इसके साथ साथ विषयवार शब्दसूची भी बननी चाहिए। जैसे राज्यशासन, धर्म, यज्ञ, युद्ध, शिक्षा, मुक्ति, गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, कला-हुनर, खानपान, वस्त्र आदि विभिन्न विषयों के शब्द अलग अलग छांटकर उनको विषयानुसार परन्तु अक्षरानुक्रमसे सूचियां बनाना आवश्यक हैं। इससे जिसको जिस विषयका अभ्यास करना हो, वह उस से कर सकता है। आजकल यह साधन न होनेसे

वैदिक सिद्धान्त की खोज करनेवाला क्या करे और कहां क्या ढूंढे? रोटीका प्रश्न हल करते हुए इसके पास इतना समय नहीं, कि वह इन साधनों के बिनाभी कुछ रहस्यपूर्ण खोजमें सफलता प्राप्त कर सके।

वेदभाष्य करनेवाला भी इन आवश्यक सूचियों के विना इतना पूर्वापर अनुसन्धान कैसा करे? और किसी स्थानपर राज्यशासनविषयक निर्देश आया, तो सब वेदभर वह कहां क्या लिखा है, यह जानेविना ही वहां वह आद्योपान्त वेदानुकूल भाष्य किस तरह से करे? और जो कुछ वह लिखेगा वह पूर्ण वेदानुकूल है, इसके लिए भी क्या कसौटी है? अतः निर्णय देनेवाला भी किस आधारपर निर्णय देवे? इस समय अंधेराही है।

विषयानुसारी शब्दसूची तो प्रतिदिन भाष्यकार को अत्यन्त उपयोगी होनेवाली सूची है। वास्तव में देखा जाय तो विषयानुसारी शब्दसूची में उन शब्दोंवाले सब मन्त्र भी दिए जांय तो कार्य बडा ही सुगम हो सकता है। परन्तु जहां विशेषणानुसारी शब्दसूची के बननेका ठिकाना नहीं, वहां विषयानुसारी शब्दसूची बननेकी ही बात करनाही फजूल हो जाता है।

विषयानुसारी शब्दसूची बनाना बडाहि विद्वत्ताका कार्य है। जिसने वेदका आद्योपांत अभ्यास किया है, और किस मन्त्र का कहां किस विषयपरक अर्थ होता है, यह जिसको पूर्वापर सम्बन्धके साथ विदित हो, ऐसे अनेक विद्वानोंका मिलकर प्रयत्न इस अत्यन्त उपयोगी सूचीको बना सकता है। इस सूची के लिए व्यय भी पर्याप्त लगेगा और वह व्यय इसकी विक्रीसे वापस मिल सकेगा, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इसपर होनेवाला व्यय वापस नहीं मिलनेवाला, ऐसा समझकर ही दानी पुरुषों को इस आवश्यक व्यय की योजना करनी चाहिए।

ऋषिसूचियाँ दो प्रकारकी अलग अलग बनानीं चाहिए। एक ऋषिसूची सूक्तद्रष्टा ऋषियोंकी होगी और दूसरी वेदमंत्रांतर्गत जो ऋषियोंके, राजाओंके तथा अन्य मनुष्यके वाचक शब्द आते हैं, उनकी बनानी चाहिए। इस सूचीमें ऋषि, राजा तथा अन्य मनुष्य के वाचक शब्द अलग अलग विचारपूर्वक देने चाहिए। इनमें भी इनके विशेषण साथ साथ दिये जांय तो बहुत ही अच्छा होगा। मन्त्रान्तर्गत ऋष्यादि नामोंका विचार वेदान्वेषण करनेके कार्य में बडाही आवश्यक है। वेदमन्त्रों में जो ऋषियोंके नाम आये हैं, उनका विचार वेदभाष्य के प्रारंभ होनेके पूर्वहि होना आवश्यक है। वेदमन्त्रों में जो ऋषि नाम आए हैं, वे ऋषियोंके वचाक हैं वा वे गुणवाचक हैं, यह वाद बडा प्राचीन है। इसका निर्णय तब हो सकता है, जब सम्पूर्ण मन्त्रार्गत ऋषिनामोंका निर्णय हो जाय। अतः यह विचार वेदार्थयत्न के पूर्व ही होना उचित है और यह विचार अल्प प्रयत्नसे होनेवाला नहीं है, यह भी पाठकों को ध्यान में रखने योग्य बात है।

(९) दैवत-संहिता।

देवतासमन्वय अर्थात् एक एक देवताके जितने भी मन्त्र चारों वेदोंमें और शाखा-उपशाखाओं में हैं, उनका एक स्थानपर संग्रह होना अभ्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस समय तक ऐसा संग्रह किसीने भी नहीं किया है। यह संग्रह करना कोई कठिन कार्य नहीं है। चारों वेदोंमें अग्नि, इन्द्र, मरुत् आदि देवताओं के बिखरे हुए मन्त्र अनेक स्थानों में हैं। उन सबको उस उस देवताके शीर्षक के नीचे लाना, अर्थात् अग्नि के सब मन्त्र एक स्थान में, इन्द्र के सब मन्त्र एक स्थान में, मरुतों के सब मन्त्र एक स्थानमें इसी तरह अन्यान्य देवताओंके मन्त्र इकट्ठे रखनेसे 'दैवत-संहिता' बन सकती है। इस समय जो ऋग्वेद-संहिता है, वह आर्षेय संहिता है, अर्थात् पहिले आठ मण्डल ऋषिक्रमानुसार हैं, नववा मण्डल सोम-देवताका होनेसे वह दैवत-संहिताका एक भाग आज भी हो सकता है। दसवें मण्डलमें विविध ऋषिदेवताओंके सूक्त मिले-जुले हैं। अतः उसे दैवत-संहिता में विभक्त करना आवश्यक है।

अथर्ववेदके सूक्तभी देवतानुसार संग्रह करने योग्य हैं। यजुर्वेदके तथा शाखासंहिताओंके मंत्र ढूंढ कर देवताओंके संग्रहमें यथास्थान रखने चाहिये। इस तरह यदि दैवत-संहिता तैयार हो जायगी, तो वेदाभ्यासियों के लिये यह एक बडा भारी सुगम साधन बन जायगा। एक एक विद्वान् एक एक देवताके मंत्र लेकर अभ्यास करता जायगा, तो उसका उसमें प्रवेश होगा और वेदका अर्थ इस तरह के शास्त्रीय अभ्याससे स्वयं प्रकट हो सकेगा।

इस समय अग्निके मंत्र सैंकडों स्थानोंमें बिखरे हुए हैं। पाठकों को पतातक नहीं चलता कि कहां क्या बात लिखी है। किस स्थानपर क्या विधान है और किसका संबंध कहां, किस मंत्रके साथ कैसा है, यह किसीको पतातक नहीं है। जब संपूर्ण एक एक देवताका मंत्रसंग्रह इकट्ठा हो जायगा और 'अग्निमंत्र, इन्द्रमंत्र, मरुन्मंत्र, अश्विनीमंत्र, आदि मंत्रसंग्रह तैयार होगा, तो एक एक विद्वान् एक एक मंत्र-संग्रहको अपने अभ्यासके लिये लेगा और कई वर्षोंके लगातार मननसे मंत्रके अर्थ स्वयं खुलते जांयगे। और इस तरह वेदभाष्य अनेक पंडितोंके शास्त्रीय अभ्यास से स्वयमेव बनता जायगा। और इस तरह के शास्त्रीय अभ्यास से जो बनेगा, वही स्थिर हो सकेगा।

ये साधनग्रन्थ न बनेंगे, तो अभ्यास करनेवाले किस चीज का अभ्यास करेंगे? इस समय जो अभ्यास करते हैं, उनके सामने कठिनताके पहाड खडे होते हैं। जिनके पास धन होता है, वे वेदाभ्यास की कठिनता को समझ नहीं सकते, और जिनके सामने यह कठिनता सदा खडी रहती है, उनके पास धन नहीं होता। इस तरह अव्यवस्था होनेके कारण धनिकों की सहाय्यता पंडितों को नहीं और पंडितोंकी कठिनता धनिक सुननेके लिए तैयार नहीं। यह अवस्था वैदिक धर्मियोंकी इस समय है। इस कारण न तो वेद की शुद्ध पुस्तकें बनतीं हैं और नाही अन्यान्य साधनग्रन्थोंकी तैयारी ही हो रही है।

यही कारण है, कि इतने वर्ष व्यतीत होनेपर भी वेद वैसे ही दुर्बोध रहे हैं और जबतक धन और विद्याकी संगति नहीं होगी, तबतक यही अवस्था बनी रहेगी। धन मिलनेपर भी उसका व्यय शास्त्रीय पद्धतिके अनुसारहि होना चाहिए। अन्यथा कितना भी धन का व्यय हुआ, तो भी इष्ट फल प्राप्त नहीं हो सकेगा।

(१०) वैदिक निर्वचन।

वैदिक शब्दाके निवर्चन जो ब्राह्मणादि ग्रन्थों में हैं, उनका संग्रह कई लोगोंने किया है, तथापि सम्पूर्ण ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, इतिहासपुराणों तथा अन्यान्य ग्रन्थों में जो व्युत्पत्तियां दी हैं, उन सबका संग्रह इस समयतक किसीने भी नहीं किया है। इसी तरह वैदिक शब्दोंका अर्थ जो वेदके मंत्रोंके अन्तर्गत है, वह तो किसीने भी नहीं संग्रहित किया। इस तरह का प्रयत्न श्री० पं० रुलिया रामजी कश्यप M. Sc. ने किया था, जिनके खोजपूर्ण लेख 'वैदिक धर्म' में छपे थे, जो इस समयतक नवीनतासे युक्त माने जाते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण वेदोंकी खोज करके एक एक शब्दके जितनेभी अर्थ वेदमन्त्रों में मिलने संभव हैं, उतने सब संग्रहित करने चाहिए। यह एक बडा भारी खोजका कार्य है और कई विद्वानों के अथक परिश्रम से कई वर्षों में सिद्ध होनेवाला है। यह कार्य है तो अत्यन्त कठिन, परन्तु यह जब सिद्ध हो जायगा, तब इसीसे महान् उपकार होनेवाला है और सच्ची वेदभाष्यकी बुनियाद यही है, इस में सन्देह नहीं।

(११) तंत्रोंका सहाय्य।

अन्त में एकही विशेष महत्त्वकी बात कहने की रही है और वह यह, कि तन्त्रादि ग्रंथोंमें वेदमन्त्रों के अर्थ विशेष प्रकारसे किए हैं। वेदोंका वैज्ञानिक अर्थ उन्हीं तन्त्रग्रंथों में मिलता है। इसको अभी खोज की बडी आवश्यकता है। यह विभाग अभी किसी के द्वारा खोजा नहीं गया। यह सब शक्ति-विद्या है। शक्तिपन्थका आजकल कुछ विपरीत ही

अर्थ हुआ है। उसको छोडना चाहिए और शक्तिमार्गी लोगोंने जो विविध वैज्ञानिक विभागों में अन्वेषणा की है, वही संग्रहित करनी चाहिए। यह खोज जैसी अध्यात्मशक्तिविकास की साधक है, वैसी ही वैज्ञानिक शक्तिविकास की भी साधक है। यह सब केवल उनके ग्रन्थ पढनेसे प्राप्त नहीं होगी, परन्तु उनकी पन्थपरंपरामें जाकर यह विद्या प्राप्त करनी चाहिए।

वेदका सत्य अर्थ खोज करने के लिए इस विद्या को छोडना नहीं चाहिए, इतना ही यहाँ कहना है। अस्तु। इस तरह साधनग्रन्थ निर्माण होनेसे उत्तरदायित्वके साथ वेदभाष्य हो सकता है।

इससे पूर्व जो भाष्य होंगे वे सामयिक होंगे, उनका स्थिर महत्त्व कभी नहीं हो सकता। आधुनिक कोश अपूर्ण हैं। उनकी सहायतासे वेदोंका अर्थ करना नितांत महा अनर्थकारी है। आजकल कई पंडित ऐसा कर रहे हैं। परंतु इस भूलका जब पता लग जायगा, तब ही इसकी भयंकरताका भी पता लगेगा।

इसलिए वैदिक धर्मियों को निवेदन है, कि वे इस लेख पर विचार करें, मनन करें, मिलकर वादविवाद करके निश्चय करें कि यह बात सत्य है या नहीं। इतना करने के पश्चात् यदि इसमें सत्यका अंश है ऐसा उनको पता चले, तो उसको पूर्ण करनेके लिए अपना तन-मन-धन अर्पण करके अपना जीवन वैदिक धर्म की तेजस्विता प्रकाशित करने में लगा दें और इस आत्मसमर्पणद्वारा कृतकृत्य बनें।

वेद, उनका प्रादुर्भाव, और उनके समझनेका प्रकार।

(लेखक- श्रीमान् नारायण स्वामीजी महाराज.)

मनुष्यका स्वाभाविक ज्ञान पशुओंसे कम है। गाय आदि पशुओंके बच्चे स्वभावतः तैरना जानते हैं; परन्तु मनुष्य सीखे बिना नहीं तैर सकता। मनुष्यको पशुओंसे जो विशेषता प्राप्त है, उसका कारण यह है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके उसकी वृद्धि करनेकी योग्यता रखता है। यही नैमित्तिक ज्ञान मनुष्यत्वकी भित्ति ऊँची किया करता है। इसी योग्यता का लगभग अभाव पशुओंको ऊँचा होनेसे रोक दिया करता है।

स्वाभाविक और नैमित्तिक ज्ञान।

स्वाभाविक ज्ञान जन्मसिद्ध होता है। परंतु नैमित्तिक ज्ञान वह है, जो अन्योंसे प्राप्त किया जाय। इस समय वह माता, पिता और अध्यापकवर्गसे प्राप्त किया जाता है। परन्तु जगत् के प्रारंभमें, जिसे दुनिया की पहली नस्ल, कहा जाता है, अमैथुनि सृष्टिमें होनेके कारण, उसे कोई शिक्षा देकर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करानेवाला नहीं होता। फिर उस समय वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो? इसी प्रश्नका उत्तर न मिल सकनेके कारण, ईश्वरीय ज्ञानप्राप्ति (इलहाम) की कल्पना की जाती है। इसी कल्पनाका संकेत, 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'' + योगदर्शनके इस प्रसिद्ध सूत्रमें किया गया है।

ऋषियोंके दो भेद।

ऋषि दो प्रकारके होते हैं:-(१) देव्यऋषि (२) श्रुतऋषि- इनमेंसे देव्य ऋषि वे हैं, जिनपर वेदका प्रकाश होता है, जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा। श्रुत-ऋषि वे हैं जो देव्य तथा अपनेसे पहले श्रुत-ऋषियोंसे शिक्षा पाकर ऋषि बनते हैं! इन्हीं दोनों प्रकारके ऋषियोंको पूर्व और नूतन ऋषि भी कहा जाता है। यथाः-

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
सदेवां एह वक्षति॥ ऋ० १।१।२

अर्थात् वह (अग्नि) ईश्वर, पूर्व (देव्य) और नूतन (श्रुत) दोनों प्रकारके ऋषियोंसे स्तुति करनेके योग्य है। देव्य ऋषियोंका प्रादुर्भाव जगत्के प्रारंभ ही में एक बार हुआ करता है। वे बार बार नहीं होते। परन्तु श्रुतऋषि, बराबर होते रहते हैं। इसी लिये वेदमें मनुष्योंको श्रुत ऋषि होने योग्य ही पुत्रकी प्रार्थना करनेका विधान किया गया है-

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गंभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र। श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ (ऋ० १०।४७।३)

अर्थात् हे इन्द्र! हमें, वेदका प्रेमी, परमात्माका भक्त, उदार, विशालहृदय, गंभीर, फैली हुई जडों (यश) वाला, तेजस्वी (इन्द्रियरूपी) शत्रुओंका दबानेवाला, विचित्र शक्तिशाली "श्रुत ऋषि" पुत्र दे। योगसूत्रमें आये हुए "पूर्वे-

+ योगदर्शन २।२१ —अर्थात् वह ईश्वर, जो समयसे विभक्त नहीं हो सकता, पहले ऋषियोंका भी गुरु है।

षाम्" शब्दका अभिप्राय देव्य ऋषियोंसे है। और इन देव्य ऋषियोंका भी गुरु, ईश्वरको कहा गया है। अस्तु ! जगतके प्रारंभमें ज्ञान (नैमित्तिक) ईश्वरकी ओरसे मिला करता है। यह सिद्धान्त जगतके प्रारंभसे डार्विनके जमाने तक, सर्वसम्मतिसे, बराबर माना चला आता रहा था। डार्विनने इस सिद्धान्तके सर्वसम्मत होनेमें, अपने विकास वादके द्वारा आपत्ति उठाई जिसका विवरण इस प्रकार है-

विकासवाद।

डार्विनने शिक्षा दी कि मनुष्य, योनि-विकास के द्वारा, पशुसे मनुष्य बना है। उसने योनि-विकासका क्रम इस प्रकार बतलाया— (१) प्रथम अमीवा आदि एकघटक जन्तु हुए। (२) फिर आदिम-मत्स्य। (३) फिर फेफडेवाले मत्स्य (४) फिर सरीसृपजलमें ढक आदि जलचारी जन्तु। (५) फिर स्तन्यजन्तु। (६) फिर अंडज-स्तन्य। (७) फिर पिंडज=अजरायुज-स्तन्य। (८) फिर जरायुज-स्तन्य। (९) फिर किम्पुरुष=बन्दर, बनमानुस, पतली नाकवाले। बनमानसोंमें पहले पूँछवाले कुक्कुटाकार, फिर विना पूँछवाले नराकार, फिर इन्हीं नराकार बनमानसोंकी किसी शाखा (लुप्त कडी) से जिसका अभी तक ज्ञान नहीं गूंगे मनुष्य, फिर अन्तमें उन्हींसे बोलनेवाले मनुष्य उत्पन्न हुए।

डार्विनने इस योनिविकासके साथ ही मानसिक विकास (Mental evolution) की भी कल्पना करते हुये प्रकट किया ह कि मनुष्यमें विना किसी निमित्त पुरुषके, स्वतः क्रमशः ज्ञानकी वृद्धि हो जाती है।

इस वादपर आक्षेप।

पहला आक्षेप।

एकविकासवादी प्राणी शास्त्रज्ञके मतानुसार उद्भिदोंसे लेकर मनुष्ययोनि तक पहुँचनेमें ६७ लाख योनियां बीचकी, कूती (कल्पी) जाती हैं। परंतु इन ६७ लाख योनियोंका विवरण देकर, उनमें योनिविकास प्रमाणित करनेकी तो कथा ही क्या है, उनके नाम भी बतलाना असम्भव है। जर्मनके प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्रज्ञ अर्नेस्ट हैकलने एक जगह लिखा है कि "मछलीसे मनुष्य होने तक कमसे कम ५३ लाख ७५ हजार योनियां बीती हैं। सम्भव ह कि यह संख्या इस (५३ लाख) से १० गुनी हो + " पुराणोंमें कुलयोनियां ८४ लाख वर्णित हैं। जिनकी तफशील एक जगह, इस प्रकार मिलती है-

स्थावर	योनियां	३० लाख
जलचर	,,	९ ,,
कृमि	,,	११ ,,
पक्षि	,,	१० ,,
पशु	,,	२० ,,
मनुष्य	,,	४ ,,
	योग	८४

स्थावर योनिया को छोडकर जलचर से मनुष्य तक ५४ लाख योनियां पुराणोंके अनुसार हैं। परन्तु हैकलने, सैकडों वर्षोंके बाद, उन्हें केवल ५३॥ लाख कूता है। फिर यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें क्रमशः ज्ञानका ह्रास तो माना जा सकता है, परन्तु इसे ज्ञान का विकास किस प्रकार कहा जा सकता है ? फिर इन ५३॥ लाख योनियों के विवरण देनेमें हैकलने यह कहकर अपनी असमर्थता प्रकट की है कि "सम्भव है यह संख्या इससे १० गुनी हो।" थोडेसे मुट्ठीभर स्तन्य जन्तुओं का विवरण देकर जिसके भीतर भी, लुप्त कडी, अभीतक बाकी ही है, योनिविकास को प्रमाणित समझना, साहस मात्र है।

दुसरा आक्षेप

अबतक सैकडों जन्तु योनिरूप में, अन्ध ही पैदा होते हैं। पता नहीं इनका विकास क्यों नहीं हुआ ? और पशुओंको छोडकर अनेक द्वीपोंमें

+ 'Lost Link' by Ernest Haeckal with notes by Dr. H. Gada.

अबतक मनुष्य-भक्षक मनुष्य पाये जाते हैं। इनके ज्ञानकी क्रमशः वृद्धि न होनेका समाधान क्या है ?

तीसरा आक्षेप ।

विकासवाद की पुष्टिमें एक युक्ति यहभी दी जाती है, कि मनुष्य के गर्भ की अवस्थाभी इस वादकी पुष्टि करती है।

इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि गर्भके प्रारंभिक मासोंमें उस (गर्भ) का चित्र उन्हीं जन्तुओं से मिलता-जुलता होता है, जिनसे कि उन्नत होकर योनी-विकासद्वारा, मनुष्य बना हुआ, कहा जाता है। अन्त के मांसों में उसमें मनुष्यत्व के चिन्ह प्रकट हुआ करते हैं। परन्तु यह कथन, अब हाल की खोजों से ठीक सिद्ध नहीं होता है। " थियोसोफिकल पाथ " में डाक्टर वूड जौन्स के कथन का हवाला देते हुए, रियान (C. J. Ryan) ने लिखा है:— " हैकल का यह वाद, कि मनुष्य का गर्भ बन्दरों के गर्भसे लगभग अन्त के मांसों तक पहचाना नहीं जा सकता, अशुद्ध और त्याज्य है। कुछेक आवश्यक अंग, जैसे कि मनुष्य के पांव एक मांसपेशी (Leg Muscle) के साथ, जो मनुष्य से नीचे के जन्तुओं में नहीं पाये जाते, मनुष्य के गर्भ में यथासम्भव प्रारम्भ ही में प्रकट हो जाते हैं। यदि मनुष्य चार पाँववाले जन्तुओं आदिकी योनियों से गुजर कर बना होता, तो वे अवयव अवश्य गर्भ के अन्त में प्रकट होते। " डाक्टर वूड जौन्स और रियान का भाव उनके ही शब्दों में समझा जा सके, इसलिये इन दोनों सज्जनों के लेखों के उद्धरण फुटनोट में दे दिये गये हैं। वूड जौन्स ने अपने लेखमें, जैसा कि उनके उद्धरण से मालूम होगा, इस बातको स्पष्ट रीतिसे वर्णन कर दिया है कि मनुष्ययोनि विकास द्वारा नहीं बनी है। किन्तु उसकी योनि इन सबसे भिन्न और स्वतन्त्र है (×)। जब दस मास में रज और वीर्य के मेल से मनुष्य बन जाता है तब उसे लाखों वर्षों में बना हुआ बताना, ईश्वरी शक्ति (Nature) का अपमान करना है।

(×) Dr. Wood Jones (The Problem of Man's Ancestry -P. 33)-" We are left with the unavoidable impression that the search for his ancestors must be pushed a very long way back. × ×× It becomes impossible to picture man as being descended from any form at all like the recent monkeys × × × or from their fossil representatives. × × × He must have started an independent line of his own long before the anthropoid apes and the monkeys developed those specializations which shaped their definite evolutionary destinies. "

Referring to Wood Jone's above view Mr. C. J. Ryan writes in the "Theosophical Path". He proves that Haeckal's teaching that a human embryo cannot be distinguished from that of monkeys until very late developments is wrong and must be abandoned, by showing that certain essentially human characters such as the human walking foot with a leg-muscle found in none of the lower animals, are visible in the human embryo at the earliest possible time and not late in the formation as they would be if man had passed these anthropoidal and quadrupadal stages. (Vedic Magazine. May 1926, P. 143.)

चौथा आक्षेप।

यह (विकास) वाद प्रत्यक्ष के विरुद्ध और अवैज्ञानिक है। संसार में एक सार्वत्रिक नियम देखा जाता है कि जो चीज उत्पन्न होती है नष्ट हो जाती है। जो चीज बढती है, अन्तमें घटने लगती है। सूर्य की गरमी बढकर अब घट रही है। मनुष्य उत्पन्न होकर युवा होता है, फिर बूढा होने लगता और अन्तमें मर जाता है। वृक्षों की यही अवस्था होती है। यह कहीं भी नहीं देखा जाता कि कोई चीज बढती ही चली जाय और घटे नहीं। विकास के साथ ह्रास अनिवार्य है। परन्तु डार्विन का विकासवाद एक पहिये की गाडी है, ह्रासशून्य विकास है, इसलिये, अ-स्वीकर्तव्य है।

पांचवा आक्षेप।

क्रमशः ज्ञानवृद्धि का सिद्धान्त तो सर्वथा निराधार और क्लिष्ट कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में अनेक समयोंमें अनेक व्यक्तियों के द्वारा परीक्षण किये गये और सबका एक ही फल निकला। और वह वह था कि क्रमशः ज्ञानवृद्धि का सिद्धान्त अप्रामाणिक है। परीक्षण करनेवाले व्यक्तियों के नाम ये हैं—

(१) असुरबानापाल-लेयार्ड (Layard) और रौलिन्सन (Rowlinson) दो अन्वेषकों ने, नैनवा और बैबलन (असीरिया) के पुराने खंडरोंको खुदवाया और ईंटोंपर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। उन पुस्तकों से बानापाल के परीक्षणों का हाल मालूम हुआ। पुराणों में इसी बानापाल को, बानासुर लिखा है। जिसने इस देशपर आक्रमण किया था और पराजत हुआ था।

(२) यूनान का राजा सेमिटिकल।

(३) द्वितीय फ्रेडरिक (Fredrick the Second)

(४) चतुर्थ जेम्स (James the 4 th of Scotland)

(५) महान् अकबर

इन राजाओं के आधिपत्य में अनेक विद्वानों ने १०-१० बारह-बारह (अकबरनें ३० बच्चोंपर) छोटे-छोटे नवजात बालकों कोशीशों के मकानों में रक्खा गया और उन की परवरिश के लिये धाइयाँ रक्खीं गईं और उनको समझा दिया गया कि वे बच्चों को खिलापिलाकर प्रत्येक प्रकार से उनकी रक्षा करें। परन्तु उनको किसी प्रकार की कोई शिक्षा न दें, न उनके सामने कुछ बोलें। उन धाइयोंने ऐसा ही किया। इस प्रकार परवरिश पाकर जब बच्चे बडे हुए तब जांच करनेसे मालूम हुआ कि वे सभी बहरे और गूँगे थे।× यदि विना शिक्षा दिये स्वयमेव किसी में ज्ञान उत्पन्न हो सकता होता, तो इन बच्चोंको भी बोलना आदि स्वयमेव आ जाता। इनका बहरा और गूंगा रह जाना साफ तौरसे प्रकट करता है कि स्वयमेव ज्ञान न उत्पन्न होता है न उसकी वृद्धि होती है।

छठा आक्षेप।

वैज्ञानिक भी अब क्रमशः ज्ञानवृद्धि के मन्तव्य का विरोध करने लगे हैं।

(१) सर आलिवर लाज, क्रमशः ज्ञानवृद्धिके सिद्धान्तका विरोध करते हुए, ऐसा माननेवालोंसे प्रश्न करते हैं कि सूक्ष्म कला (Fine arts) फोटोग्राफी आदिका विना शिक्षा प्राप्त किये, किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ ? एक दूसरे विद्वान् बालफोर (Balfour) ने लाजके इस प्रश्नका समर्थन किया है (+) (२) डाक्टर बालेसने, जो विकासवादके आविष्कारकोंमेंसे एक थे, अपने क्रमशः ज्ञानकी वृद्धिवाले सिद्धान्तको छोड कर एक जगह लिखा है कि जो विचार वेदकी ऋचाओंसे प्रकट

× Tranactions of the Victoria Institute. (Vol. 15, P. 336.)

(+) Life and matter by sir olives porge P. 143

होते हैं, उनके लेखक उत्तमसे उत्तम शिक्षकों और हमारे मिलटनों और टैनीसनोंसे न्यून नहीं थे। डाक्टर वालेसके शब्द ये हैं।—

"We must admit that the mind which conceived and expressed appropriate language, such ideas, as are everywhere apparent in these Vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religious teachers and poets to our Milton's and our Tennysons." (*)

(३) डाक्टर वालेसने मिश्र और मेसोपटेमियाकी पुरानी कलाओं और लेखोंपर विचार करते हुए उनकोभी आजकलकी अच्छीसे अच्छी कलाओंसे कम नहीं ठहराया है। उन्होंने इन और ऐसीही अन्य बातोंपर विचार करते हुए परिणाम यह निकाला है, कि क्रमशः ज्ञानवृद्धिका कोई प्रमाण नहीं है-

There is therefore no proof continuously increasing intellectual power.(*)

(४) (क) गैलटन महोदयने एक जगह लिखा है-

It follows from this that the average ability of the Athenian race is on the lowest possible estimate, very nearly two grades higher than our own; that is about as much as our own race is above that of the African Negro. (Heridity Genius. by Galton, P. 331.)

इसका सार यह है कि यूनानियोंकी मध्य योग्यता नीचीसे नीची मात्रामें यदि वह कूती जावे, तो भी हमारी सभ्यतासे दो दरजे ऊपर थी। अर्थात् लगभग उतनी-ऊंची थी जितनी हमारी जाति आफरीकाके हबशियोंसे ऊँची है।

(४) (ख) प्रोफेसर गोल्डस्मिथके एक पुस्तक (The laws of life) की समालोचना करते हुए "के' (W. E. Key) महोदयने "गुड-हैल्थ" (Good Health) में लिखा है कि विकासवादका अर्थ समझनेसे पहिले, यह बात अच्छी तरहसे हृदयांकित कर लेनी चाहिये कि यह वाद न तो यह कहता है कि ईश्वर नहीं है और न इसकी शिक्षा यह है कि मनुष्य बन्दरोंसे उत्पन्न हुआ है (×) पैरने अपने एक ग्रन्थ (*) में और इडवार्ड कारपेंटरनेभी अपने एक दूसरे ग्रन्थमें (+) डॉक्टर वालेस और प्रो० " के " की सम्मतियोंका समर्थन किया है—

(६) डारविन भी, जो विकासवादका आविष्कारक था, अनीश्वरवादी नहीं था। उसने अपने एक पुस्तकके पहले संस्करणमें, जो योनियोंके उत्पत्तिके सम्बन्धमें है, लिखा था—

" I should infer from analogy that probably all the organic beings have descended from some one premordial form into which life was first breathed."

परन्तु उसी पुस्तकके दूसरे संस्करणमें उसने

(*) " Social Environment and Moral progress, " by Dr. Wallace, p. 14)

(*) Social Environment and moral progress, by Dr. Wallace, P. 5-26

(×) Before considering the meaning of evolution it neither eliminates God, nor does it teach that monkeys are the ancestors of man. (Vedic Mag. Sept. 1923)

(*) The children of the sun, by Perry.

(+) The Art of Creation, by Edward Carpentor, P. 105.

उपर्युक्त वाक्योंको संशोधन करके इस प्रकार लिखा है—

There is a grandeur in this view of life having been originally breathed by the creator into a few forms or into one." ❋

संशोधित वाक्यमें, जीवन फूंकनेवाला ईश्वरको वर्णन करके, डार्विनने साफ शब्दोंमें प्रकट कर दिया है कि वह ईश्वरकी सत्ता मानता था। [टिंडलने अपने बेलफास्टके भाषणमें डार्विनके पहले संस्करणमें प्रयुक्त किये हुए आदिम योनि (Premordial Form) शब्दोंपर आक्षेप किया था कि उस (डार्विन) ने किस आधारपर यह कल्पना की है। +]

जो कुछ विकास-वादके संबन्धमें ऊपर लिखा गया, वह यह प्रकट कर देनेके लिये पर्याप्त है कि यह वाद अनेक त्रुटियों और कमियोंसे पूर्ण है और इस वाद के दो सिद्धान्त तो अत्यन्त आपत्ति-जनक हैं:— (१) एक योनि से दूसरी योनिका उत्पन्न होना, (२) क्रमशः ज्ञान की वृद्धि (Mental evolution) और अधिकतर वैज्ञानिक भी अब इस के विरुद्ध हो गये और बराबर होते चले जाते हैं। इसलिये डार्विन ने ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति के सिद्धान्त में, जो बाधा अपने विकासवाद की अन्वेषणा से, पहुंचाने का यत्न किया था, वह यत्न निष्फलसा सिद्ध हो रहा है। इसलिये उसके सम्बन्ध में अब और अधिक न कहकर फिर मैं असली विषय (ईश्वरीय ज्ञान) की ओर आता हूं:—

ईश्वरीय ज्ञानके सम्बन्धमें तीन कल्पनाएं

जो ज्ञान ईश्वरद्वारा प्राप्त होता है, उसके सम्बन्धमें तीन कल्पनाएं की जाती हैं:—

पहली कल्पना ।

ईश्वरीय ज्ञानकी आवश्यकता जगत्के प्रारम्भमें होती है। जब तत्कालीन मनुष्यसमाजमें शिक्षको का अभाव होता है, उस अभावकी पूर्ती ईश्वरीय ज्ञानद्वारा होती है। भारतवर्षके ऋषिमुनियोंका ऐसा ही विचार था और अब भी ऋषि दयानन्दने इसी कल्पनाकी पुष्टि की है और आर्य-समाज इसी विचारका पोषक है।

दूसरी कल्पना ।

दूसरा विचार यह है कि समय समयपर विशेष विशेष पुरुषों के द्वारा विशेष विशेष पुस्तकों के रूपमें ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ करता है। ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि सम्प्रदाय इस विचारके समर्थक हैं।

तीसरी कल्पना ।

तीसरा विचार यह है कि विना किसी पुस्तकके माध्यमके समय समय पर विशेष विशेष पुरुषोंको ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता रहता है। ब्रह्मसमाज और उनके अनुयायी तथा अन्य कुछके पुरुष, इस कल्पनाको ठीक मानते हैं। जब जगत्के प्रारंभमें मनुष्यकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हो चुका, तब उसके बादभी ऐसे ज्ञानप्राप्ति की कल्पनासे ईश्वरकी सर्वज्ञतामें धब्बा आता है। इलहाम होकर फिर उसका रद्द करना, अथवा उसमें संशोधन करना, अथवा उसके स्थानपर नया ज्ञान देनेसे, ईश्वरके ईश्वरत्वमें बाधा पहुंचती है। इसलिये दूसरी और तीसरी कल्पनायें अप्रतिष्ठित हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है ।

पहली कल्पनाके अनुसार इस देशमें प्रारम्भसे अबतक बराबर वेदको अपौरुषेय मानते चले आये

❋ 'Origin of Species' by Charles Darwin.

\+ 'Lectures and Essays' by Tyndall. P. 30.

हैं । स्वयं वेदभी इस मंतव्यकी साक्षी देते हैं ।

तस्मात् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत+॥ १॥

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञसे (जिसका पहिले वर्णन हुआ है) ऋग्वेद, सामवेद, उत्पन्न हुए (छन्दांसि) अथर्ववेद उत्पन्न हुए उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

(अथर्व० १०।७।२०)

अर्थात् ऋचायें (ऋग्वेद) जिससे निकली हैं, यजु (यजुर्वेद) जिससे उत्पन्न हुए हैं, साम (सामवेद) जिससे लोभ (रोमों की सदृश), अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) जिस का मुख है बताओं कि वह स्कम्भ (ईश्वर) कौन है ।

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचाऽजायत॥३॥
(अथर्व० १३।४।३८)

अर्थात् वह (ईश्वर) ऋचाओं (वेदों) से प्रकट हुआ उस (ईश्वर) से ऋचायें (वेद) प्रकट हुईं ।

ऋग्वेद १०।९०।९ और अथर्ववेद १०।७।२० तथा अन्य अनेक स्थलोंपर भी वेदों के ईश्वर से प्रकट हुआ होनेका उल्लेख है ।

(Phillip) फीलीप ने अपने ग्रन्थ Teachings of the Vedas में (देखो पृष्ठ २३१) लिखा है कि " वेदानुयायी आर्यों के उच्च विचारोंका केन्द्र प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान था "

(क) डाक्टर फिलीमिंगने भी ईश्वरीय ज्ञानप्राप्तिके सिद्धान्त का समर्थन किया है–

" If we are to obtain more solid assuraces it cannot come to the mind of man groping feebly in the dim light of unassisted reason but only by a communication made directly from this Supreme Mind to the finite mind of man. " (Science and Religion–by seven Men of Science, Lecture by Dr. Fleeming)

(ख) स्वयं हैकल जैसे जडवादीने भी इलहाम की संभावना स्वीकार की है । उसने लिखा है कि यदि ईश्वरकी सत्ता कर ली जावे तो उस ईश्वरके द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेमें कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं हो सकती उसके शब्द ये हैं ।

" They may or may not receive such information but there is no scientific ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing. (T. O. Mazina, quoted in the Materialism by Dorab Dinah Ranga, P. 52).

(ग) अमेरिकाके प्रसिद्ध विद्वान् टामस पेन, जिसने बाईबलके इलहामी होनेका प्रबल खंडन किया है और जिसने बाईबलके अनेक लेखकोंके लिए प्रमाणित किया है कि वे जोड और बाकी तक नहीं जानते थे, इलहामके सम्बधमें उसने जो समझ दी है वह वेदोंपर पूर्ण रीतिसे चरितार्थ होगी । उसकी सम्मति इस प्रकार है ।

" Revelation is a communication of some-thing which the person to whom the thing is revealed, did not know before. For if I have done a thing, or seem it done, it needs no revelation to tell me, I have done it or seen it nor enable me to tell it or to write it. Revelation therefore cannot be applied to anything done upon earth of which man is himself actor or the witness and consequently all the historical part of the Bible which is almost the whole of it is not within the meaning and compass of the word revelation and therefore is not the word of God. (Age of Reason, P. 10-11)

स्पष्ट है कि वेद इतिहास न होनेसे वेदही इलहामके अर्थोंमें सार्थक होते हैं ।

+ ऋग्वेद १०।९०।८ तथा यजुर्वेद ३१।७ तथा अथर्ववेद १९।६।१३

वेद का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ?

ऋग्वेद में वेद के प्रादुर्भूत होनेके सम्बन्ध में एक जगह इस प्रकार वर्णन है-

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ (ऋ० १०।७१।१)

अर्थात् " ईश्वर (वेद) वाणी का स्वामी है। वह वाणी ऋषियों के * हृदयों में उत्पन्न होती है। उसी वाणीको ऋषि अपने हृदयोंसे निकाल कर उसके द्वारा वस्तुओंके नामादि उच्चारण करते हैं।" इस मन्त्रसे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान प्राप्त होनेकी प्रणाली यह है कि ज्ञान वाणीके साथ ऋषियोंके हृदयोंमें प्रकट होता है और वे ज्ञानके ग्राहक ऋषि उसे संसारमें प्रचलित किया करते हैं। हम इस कार्य-प्रणालीको अन्तःकरणकी प्रेरणावत् समझ सकते हैं। मनुष्य जब कोई अच्छा काम करना चाहता है तो उसके संकल्प मात्र से उसके हृदय में उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है। और जब कभी कोई बुरा काम करना चाहता है, तो उसके सङ्कल्प मात्रसे भय, शङ्का और लज्जा उत्पन्न होती है।

दोनों सूरतोंमें मनुष्यके भीतर जो उत्साह और अनुत्साह उत्पन्न होता है, इसे कोई जबानसे नहीं कहता, न वह (ग्राहक) मनुष्य उसे कानोंसे सुनता है। यह भाव हृदयही में उत्पन्न होता है और हृदय ही के माध्यमसे मनुष्य उसे सुन और समझ लिया करता है। इसी अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) की भांति ईश्वरीय ज्ञान भी ग्राहक ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होता है और ऋषि उसे हृदयही से समझ लिया करते हैं। *

इपीक्यूरस इसका समर्थक है।

ग्रीक दार्शनिक इपीक्यूरस (Epicurus) ने उपर्युक्त भान्ति ज्ञानप्राप्ति का समर्थन किया है। उसने एक जगह लिखा है-

" सबसे प्रथम भाषा के प्रकट करने में, ईश्वरीय प्रेरणा से मनुष्यने अबोधता के साथ (सोते में बोलने बडबडाने के सदृश) काम किया, जिस प्रकार से वह, (विना इरादेके) खाँसा छींकापा आ भरा, करता है- इत्यादि (Materialism by D. D. Thanga, p. 52)

उपनिषदों का समर्थन।

बृहदारण्यके उपनिषद् में लिखा है—

"अस्य" महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्। ऋग्वेद

अर्थात् उस महाभूत (ईश्वर) के श्वाससे, यह जो ऋग्वेद है, प्रकट हुआ।

भाषा भी ईश्वरीय थी।

अस्तु ! ज्ञानप्राप्ति का प्रकार समझने के बाद यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह प्राप्त ज्ञान भाषाके साथ था। विना भाषा के कोई (नैमित्तिक) ज्ञान समझा नहीं जा सकता। ध्यानपूर्वक अपने हृदय में विचार कर देखो कि क्या कोई बात, जो शब्दों में न हो, ख्याल में आभी सकती है। उत्तर यही मिलेगा कि " नहीं "। इसीलिये इस देश के विचारकों में से, महामुनि पन्तजलि, जैमिनि आदि

---

* ऋषियों से अभिप्राय उन्हीं देव्य ऋषियों से है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है और जिनसे शिक्षा पाकर श्रुत ऋषि बना करते हैं।

* ऋषि दयानन्द अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) को ईश्वरप्रेरणा मानते थे। पाईथागोरस भी ऐसा ही मानता था—

" But there is a voice of conscience within us the utterance of a divine law independent of human statutes and traditions, selfevident, irrefragable " (Science of Language, by Max Muller, Vol. II, p. 396.

सज्जनों ने शब्दको नित्य माना है । प्लैटोने भी इसका समर्थन किया है । मैक्समूलर ने पाईथागोरस, प्लेटो आदि का हवाला देते हुए प्रमाणित किया है कि ज्ञान विना भाषा के और भाषा विना ज्ञान के नहीं हो सकती ✻। शीलिंग ने भी इसका समर्थन किया है ❧ ।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ के बाद एक वाद का आविष्कारक लाक और ऐडम् स्मिथ (Adam Smith) समर्थक था, उस वाद को (Theory of convention) कहते हैं। वह वाद यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य गूङ्गे थे । विचारपरिवर्तन शरीर के अवयवों के सङ्केत से करते थे, कभी मुंह बनाकर और कभी उँगुलियों के सङ्केतसे। पीछे कुछ चिह्न निश्चित करके उनके अर्थ परस्पर की सलाह से कल्पना कर लिये । इस पर आक्षेप हो सकता है, कि जब शब्द और अर्थ अनिश्चित थे तो सलाह कैसे थी और अर्थ किस भाषा में नियत किये ? क्योंकि उस समय भाषा तो कोई थी नहीं ।

एक दूसरा वाद है, जिसे (Onomatopoetic theory) कहते हैं। इस वाद का विवरण यह है– " सबसे प्रथम मनुष्य ने जब बोलना शुरू किया तो अपने समीपवर्ती जीवित प्राणियों की आवाज की नकल की और जिन की आवाज की नकल करके बोलना शुरू किया था पीछे वे शब्द, उन्हीं जन्तुओंके नाम हो गये । इस प्रकार के अनेक ☙ छोटेमोटे वाद हैं जो भाषा का प्रारम्भ प्रकट करने के लिये गढे गये हैं । परन्तु उनका मूल्य तुकबन्दियों से अधिक नहीं । इन और इस प्रकार की अन्य तुकबन्दियों से भाषा की उत्पत्ति जैसे जटिल प्रश्न के हल करने का यत्न, मृगतृष्णा से प्यास बुझाने के सदृश है। भाषा की उत्पत्ति के इस प्रकार के प्रयत्नों को निस्सार समझते हुये, स्वीकार करना पडता है, कि ज्ञान के सदृश भाषा भी दैवी महिमा है और ईश्वर ही की देन है ।

वेदका नित्यत्व ।

ऋग्वेद में एक जगह एक मन्त्र इस प्रकार आया है—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया ।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥

(ऋग्वेद ८।७५।६)

इस में वेद को ईश्वरीय वाक्य और नित्य कहा है। इसी की पुष्टि वेदान्तदर्शन में " अतएव च नित्यत्वम् ॥ (वेदान्त० १।३।२९) सूत्र द्वारा की गई है । महाभारत में एक जगह इसी प्रकार की बात कही गई है–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

(म० भारत १२।२३३।२४)

अर्थात् सृष्टि के आदि में स्वयंभु परमात्मा से

✻ I, therefore, declare my conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language. (Science of Language, by Prof. Max Muller, p. 99)

❧ Without language says Schelling, it is impossible to concieve philosophical, nay, even any human consciousness. (Do, p. 98.)

☙ दो और वादों का विवरण इस प्रकार है—

(१) Introjectional Theory. मानसिक भावों के प्रकट करने के आवेश में मुंहसे अचावक शब्दों का निकल पडना। जैसे आह आह या वाह वाह इत्यादि ।

(२) Bow-Vow Theory.

ऐसी वाणीवेद निकले जिनका न आदि है, न अन्त। जो नित्य नाशरहित और दिव्य हैं। उन्हीं से जगत् में सब प्रवृत्तियों का प्रकाश हुआ है।

फिर एक जगह कहा गया है-

स्वयम्भुदेव भगवन् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः॥

अर्थात् हे स्वयम्भु भगवन्। पुरातन काल में वेद आप ही के द्वारा गाया गया था। शिव से लेकर ऋषियों तक उस (वेद) के स्मरण करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं।

कुल्लूक भट्टने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उस के वाक्य ये हैं- " प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः " अर्थात् प्रलयकाल में भी वेद सूक्ष्म रूप से ईश्वर में स्थित रहते हैं।

" मेधातिथि " ने भी लिखा है- " नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि॥ " अर्थात् महाप्रलय में भी वेद उपस्थित रहते हैं। गीता में भी इसी का समर्थन किया गया है-

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
(भ० गीता ३।१५)

अर्थात् कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म = वेद से हुई और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुये हैं।

सांख्य ने भी वेद को अपौरुषेय कहा है। (देखो, सांख्य १।४६) और पूर्वमीमांसा में उसका नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है। (देखो पूर्व-मीमांसा १।१।२९)

क्या वेद में ऋषियों के नाम हैं ?

जमदग्नि वशिष्ठादि शब्द वेदों में आये देख कर, किन्हीं को सन्देह होता है कि उन (वेदों) में ऋषियों के नाम आये हैं। इस का समाधान महर्षि जैमिनि ने निम्न सूत्रों द्वारा किया है।

आख्या प्रवचनात्॥ (पूर्वमीमांसा॥ १।१।३०)
परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्॥ (,, १।१।३१)

अर्थात् वेद में जमदग्नि आदि शब्द सामान्य (यौगिक) शब्दों के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं, पीछे से यह लोगों के नाम भी पड गये।

शतपथ और जमदग्नि आदि शब्द।

शतपथ में वेद में आये जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये गये हैं-

जमदग्नि	= आंख	(शतपथ ८।१।२।३)
वशिष्ठ	= प्राण	(" ८।१।१।६)
भारद्वाज	= मन	(" ८।१।१।९)
विश्वामित्र	= कान	(" ८।१।२।६)
विश्वकर्मन्	= वाक	(" ८।१।२।९)

इसी प्रकार से शुनःशेप के अर्थ निरुक्त में विद्वान किये गये हैं। (देखो निरुक्त ३।२)

ऋषि दयानन्द-प्रतिपादित वेदार्थ-शैली और मैक्समूलर।

ऋषि दयानन्द ने निरुक्त, पूर्वमीमांसा और शतपथादि ग्रन्थों का उपर्युक्त भांति, अनुकरण करते हुये, प्रकट किया है कि वेद में इतिहास नहीं, इसलिये कि वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। मैक्समूलर ने एक जगह आश्चर्य है कि पश्चिमी विद्वानों की निर्धारित शैली के विरुद्ध ऋषि दयानन्द की शैली का समर्थन किया है। उसने लिखा है कि वेदों में आये हुए, ऐसे शब्द जो आज ऋषियों के नाम के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं, व्यक्तियों के नाम या खिताब आदि नहीं हैं। *

---

* Names are to be found in the Vedas as it were, in a still fluid state, they never appear as appelative nor yet as proper names; they are organic nor yet broken or smoothed down.

(Ancient Sanskrit Literature, p. 287.)

राथ भी इस शैली के समर्थन में।

राथ ने अपनी प्रसिद्ध कोष के सात भागों में से पहले भाग के ४ से ६ पृष्ठों में जो कुछ लिखा है, उसका सार यह है-

"वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नहीं बल्कि उन आर्थों का जो वैदिक ऋषियों के मन में था, ढूंढना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिबिंब, वेदों में देखते हैं-सत्य वेदार्थ प्रायः सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अतः अपने अपने समयके धार्मिक विचारों का समावेश वेदार्थ में करते आये हैं।"

राथ की इस सम्मति पर गोल्डस्टकर तो बहुत अप्रसन्न हुआ था, परन्तु ह्विटनी (On the translation of the Veda by Whitnay) जे. म्यूर (On the interpretation of the Veda by J. Muir) और वीबर (Indian wisdom by Weber) ने अपने अपने ग्रन्थों में हाथ के उपर्युक्त आशय को एक प्रकार से स्वीकार किया है।

"मन्त्रकृत्" शब्द पर विचार।

वेद-मन्त्रों के साथ जो मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम लिखे चले आते हैं, उन को कोई विद्वान मन्त्र-द्रष्टा नहीं अपितु मन्त्रकर्ता मानते हैं। मूरने अपने एक ग्रन्थ (Original Sanskrit Text, vol. III) के तीसरे प्रकरण में ८० के लगभग मन्त्र दिये हैं जिनमें "कृ" और "तक्ष्" बनाना धातुओं के प्रयोग हुये हैं।

"पंचविंश" ब्राह्मण (देखो १३।३।१४) और ऐतरेय ब्राह्मण (देखो ६।१।१) में भी मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग हुआ है।

तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ४ अनुवाद एक में भी मन्त्रकृत् शब्द आया है। उपर्युक्त विद्वान् अपने पक्ष की पुष्टि में ये और इसी प्रकार के हवाले दिया करते हैं। परन्तु सायणादि पौराणिक विद्वान् तक इन विद्वानों के पक्ष का समर्थन नहीं करते। यहां दो एक उदाहरण दिए जाते हैं।

(१) उपर्युक्त तैत्तिरीयारण्यक (४।१७) में प्रयुक्त वाक्य इस प्रकार है-

नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः॥

इस का भाष्य करते हुये सायणाचार्य ने इस प्रकार लिखा है-

"मन्त्रं कृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारा न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्र-कृत उच्यन्ते॥"

स्पष्ट है कि मंत्रग्रहणकर्ता (अग्नि, वायु आदि) ऋषियों को सायण मंत्रकर्ता शब्द से ग्रहण करता है। उसने उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि में किसी स्मृतिकार का निम्न वाक्य भी दिया है-

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

अर्थात् युगांत में लोप हुये वेदों को, ऋषिगण अपने पूर्व संचित तप से प्राप्त करते हैं। इस वाक्य को उद्धृत करते हुये सायण लिखता है-

'त एव महर्षयः (अग्नि वायु आदि)'

संप्रदायप्रवृत्या मन्त्राणां पालनां मन्त्रपतय इत्यु-च्यन्ते॥ अर्थात् उन्हीं वेदों को प्राप्त करनेवाले ऋषियों को "मन्त्रपति" भी कहते हैं।

(२) सर्पऋषिर्मन्त्राकृत्॥ (ऐ० ब्राह्मण ६।१।१)

इस पर सायणाचार्य ने टीका करते हुये लिखा है—

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत्" ('कृ' धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः) मन्त्रस्य द्रष्टा। अर्थात् इस वाक्य में 'कृ' धातु दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्प ऋषि मन्त्रकृत् = मन्त्रद्रष्टा है।

(३) यास्काचार्य ने भी सायण के उपर्युक्त भाव का बहुत पूर्व से समर्थन किया है-

" ऋषिदर्शनात्स्तोमान्दर्शेत्यौपमन्यवस्तद् यदेनांस्तपस्यमानां ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ॥

(निरुक्त २।३।२)

अर्थात् (पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मात् अर्थान्) ऋषि मन्त्र के सूक्ष्म अर्थों को देखता है। इसलिये उसे ऋषि कहते हैं। औपमन्यव का मत है कि जो स्तोम = वेदमन्त्रों को तपश्चर्या से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा देखे उसे ऋषि कहते हैं।

(४) तै० आ० २।९।१ में भी औपमन्यव के वाक्य इसी प्रकार के मिलते हैं।

अजान ह वै पृश्नींस्तपस्यमानां ब्रह्म स्वयम्भभ्यानर्षत ह्ययोऽभवत् तदृषीणामृषित्वम् ॥

अर्थात् वेद (ब्रह्म) को (स्वयंभू) जो विना किसी के रेच, स्वयं (ईश्वर द्वारा) प्रकट होनेवाले, (आभ्यानर्षत) विना पढे, अपने विशेष तप के कारण ऋषियों ने देखा, यही ऋषियों का ऋषित्व है।

(५) ऋष् गतौ धातु से ऋषि शब्द बनती है- ऋषि दयानन्द ने उणादि कोश में उस का अर्थ इस प्रकार किया है-

ऋषति गच्छति, प्राप्नोति जानाति वा स ऋषिः ॥

(उणादि कोश ४-१२)

(६) निरुक्त में एक जगह लिखा है—

" साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः ॥ "

(निरुक्त १-६५)

अर्थात् धर्म को साक्षात् करनेवाले ऋषि होते हैं और जिन्होंने धर्म को साक्षात् नहीं किया है, ऐसे लोगों के लिये मन्त्रों का उपदेश किया है।

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट करते हैं। ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं थे अपितु मन्त्रों को साक्षात् करके उनका उपदेश और प्रचार करनेवाले थे और यह कि " मन्त्रकृत् " में " कृ " धातु दर्शन अर्थ में है और इस लिये मन्त्रकृत् शब्द के अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही हैं।

मन्त्रक्रम ।

निरुक्त में लिखा है—

" श्रुतितोऽपि तर्कता न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकटनाय एव तु निर्वक्तव्याः ॥

(निरुक्त २३-१२)

भाव इसका यह है कि चाहे मन्त्रार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों आदि के प्रमाण से करें, चाहे युक्ति और तर्क का आशय लेकर करें; परन्तु प्रत्येक दशा में, प्रकरण से अलग करके, मन्त्रों का अर्थ न करें। इससे साफ जाहिर है कि मन्त्रों का जो क्रम है, उसी के अनुसार प्रकरण को देखकर ही मन्त्रार्थ ठीक हो सकता है, क्रम और प्रकरण से अलग करके नहीं।

वेदों और उपवेदों का परिचय।

(लेखक- श्री० विद्यानिधि सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, पूना)

दुनियामें वेद जितना प्राचीन ग्रंथ अबतक एक भी उपलब्ध नहीं। इस कारण वैदिक वाङ्मय का महत्व विशेष होना स्वाभाविक है। वेदके कुल ४ भाग हैं। जिन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से कहा जाता है। इनमें ऋग्वेद व थोडेसे अपवादों के साथ अथर्ववेद छन्दोबद्ध हैं, जब कि यजुर्वेद प्रायः गद्य है। सामवेद को ऋग्वेद की संगीत-पद्धति से बोलनेका प्रकार, स्वरलेखन (Notation) कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का भी वेदोंमें समावेश किया जाता है। उक्त मूल चार वेदोंके धनुर्वेदादि ४ उपवेद हैं।

वेदोंका अर्थ समझने के लिए उपयुक्त ग्रंथ, कर्मकांड का व्यवस्थित खुलासा करनेवाले ग्रंथ, वर्णोच्चारण, छंद और ज्योतिष् आदिके संबंधमें बतलानेवाले ग्रंथों का वेदांगोंमें समावेश किया जाता है। इनके अलावा प्रातिशाख्य अर्थात् प्रत्येक वेदका व्याकरण,अनुक्रमणिका अर्थात् प्रत्येक मंत्रके छंद, ऋषि, देवता और आशय बतलानेवाले अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें से कुछ वैदिक लोकोंने पठनपाठन परिपाटी के द्वारा अबतक टिका रखे हैं। इन अनेक ग्रंथसमुदायमें से आज यहां हमें वेद और उपवेदके संबंधमें ही संक्षेपसे परिचय करवाना है।

वेदग्रंथ कहां तक विश्वसनीय हैं, इसविषयक शंका करना व्यर्थ है। भारतीय युद्ध के पश्चात् कृष्णद्वैपायन व्यासने उस समय उपलब्ध वैदिक ग्रंथ (संहिता) एकत्रित किए। वेदोंका इस समय संहिता आदि विभाग उन्होंने किया, ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध है। संशोधकोंने भी इस बातको स्वीकार कर लिया है। उनसे पहले ये सब एक ही यजुर्वेद के नाम से कहे जाते थे। यजुर्वेद का अर्थ है 'यज्ञ का वेद'। कृष्णद्वैपायनने यज्ञप्रक्रिया से पूर्ण संबंधित भाग अलग करके एक जगहपर संगृहीत किया। और इसी प्रकार अन्य भाग भी अलग अलग करके वेद के विभाग बनाए। साथ ही साथ उनके पठनपाठन के लिए भी ऐसी व्यवस्था कर दी कि तत्कालीन वेदमें किंवा उनके पढने की पद्धति में सीधेसादे उच्चारणों तक में भी फरक न पड सके। तदनुसार वेद पढने की परंपरा आज भी चालू है और दोचार अपवादों को छोड दिया जाय, तो उच्चारणमें पाठभेद भी नहीं हो पाया। यह बात ख्याल करने जैसी है। आवश्यक बातों को लिख रखने की पद्धति को भी उसके शिष्यवर्गने कायम रखा। अतः भारतीय युद्ध से लेकर आजपर्यंत वेदवाङ्मय वैसा का वैसाही उपलब्ध होता है। भारतीय युद्ध ई० स० से ३००२ वर्षपूर्व हुआ था, ऐसा परंपरागत लोकोंका कहना है। संशोधकोंने भी 'उसका काल उक्त सनके १२०० वर्षपूर्व से इधर नहीं हो सकता,' यह स्वीकार कर लिया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ५००० वर्षके पहले का वाङ्मय आज हमारे हाथमें है। इतने दीर्घ कालमें भी उसमें कोई विकार नहीं हो पाया, यह बात वास्तव में आश्चर्य जनक है।

वैदिक वाङ्मय को जैसे का तैसा टिकाए रखनेमें वैदिक लोकोंने आश्चर्यपूर्ण यश संपादन किया है। चातुर्वर्ण में से पहले तीन को वेदाध्ययन का अधिकार है। उनको उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिए, ऐसा सख्त नियम है। यह नियम अब भी कुछ कुछ अंशमें व्यवहृत होता हुआ मिलता है। इसी कारण प्रत्येक त्रैवर्णिक को कुछ न कुछ वेदमंत्र कंठस्थ होते ही हैं। उन्हें

उनके नित्यनैमित्तिक कर्म इन्हीं वेदोंके मंत्रों से करने होते हैं। कोई भी संस्कार, आचार या कार्यसमारंभ करनेके लिए वेदमंत्रों की जरूरत रहती है। इससे हालां कि वेदत्रयपर उपजीविका करनेवाला एक वर्ग पैदा हुआ, तो भी उसके कारण वैदिक परंपरा अखंड रखनेमें मदद जरूर हुई।

उच्चारण आदि स्थिर बनाए रखने के लिए वैदिक लोगोंने जो उपाययोजना की थी, वह बहुतही आश्चर्यकारक है। संहिता, उनके पदपाठ, उसी प्रकार क्रम व जटा घन आदि अष्टविकृतियां, जिनके कि कारण प्रत्येक शब्द, उसकी संधि, अनुस्वार, विसर्ग आदि अत्यंत स्पष्टरूपमें हजारों वर्षोंसे यथापूर्व यथास्थान नजर आते हैं। इन्हीं की वजह से इस समय जो कुछ स्वरूप उपलब्ध होता है उसमें किसी को भी संशय का स्थान नहीं रहता।

प्रत्येक वेदके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये ४ भाग हैं। ब्राह्मण-ग्रंथमें यज्ञविषयक चर्चा रहती है। उदाहरणार्थ सोमयाग या ऐसेही किसी यज्ञ को लेकर प्रारंभ से लेकर अंत तक किए जानेवाले क्रियाकांड का विशद वर्णन होता है और साथही साथ अन्य भी बहुतसी प्रसंगोपात्त यज्ञविषयक बातों का स्पष्टीकरण किया हुआ होता है। आरण्यक और उपनिषद् प्रायः तत्वज्ञानकी चर्चा कर रहे होते हैं। बहुत से स्थानोंमें आरण्यकोंमें ही उपनिषदों का भी समावेश किया हुआ होता है। और बृहदारण्यक जैसी कुछ उपनिषदें ब्राह्मणग्रंथमें मिलती हैं। ईशावास्य उपनिषद् तो शुक्ल यजुःसंहिता का ही ४० वां अध्याय है। इस प्रकार विभाग करनेका बहुत प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है और वह चाहे सफल भी हुआ हो तो भी पूर्ण हुआ है यह कहना कठिन है।

इन ग्रंथों की अनेक शाखायें भी हुई मिलती हैं। ऋग्वेद २१, कृष्णयजुर्वेद ८५, शुक्लयजुर्वेद १६, सामवेद १०००, और अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं, ऐसा महाभाष्यकार लिखते हैं। इन शाखाओंमें से सिर्फ कुछ शाखाओंके ही ग्रंथ मिलते हैं। उनके देखनेसे यह मालूम पडता है कि चाहे भिन्न भिन्न शाखाभेद से अलग अलग ग्रंथ बन गए हैं, फिर भी वे ग्रंथ बहुत कुछ परस्पर अवश्य मिलते जुलते हैं। उनमें जो भेद पाया जाता है, उसमें उच्चारणभेद अत्यंत थोडासा मतभेद और थोडेसे कमज्यादा मंत्र, इसके सिवाय अधिकसा फरक हुआ हुआ नहीं दीखता। इसका मतलब यह हुआ कि परंपराके साथ थोडासा भी मतभेद आदि सहन न करने की बुद्धि ही इस शाखाभेद की जननी हुई। इस प्रकार से उत्पन्न शाखाभेद वैदिकोंकी नाना तरह की प्रगति व इतिहास का प्रदर्शक है। विशेष करके ऋग्वेद के कुछ शाखाओंके बारेमें महीदास के चरणव्यूह भाष्य का विवेचन इसपर बहुत अच्छा प्रकाश डालता है। ऋग्वेद की शाकल शाखा के सिवाय अन्य शाखायें लुप्त हो चुकी हैं, ऐसा हम समझते हैं। परंतु महीदास का कहना है कि आजकल की शाकलसंहितामें एकाध सूक्त बढा दिया जाय या क्रम फेर दिया जाय तो वही संहिता दूसरी शाखा की संहिता बन जाती है। इस पर से यह समझमें आ सकता है कि शाखाभेद का आधार क्या था?

कृष्णयजुर्वेदकी ८५ शाखाओंमें से ५-६शाखाओंकी संहितायें ही उपलब्ध होती हैं। इसी तरह शुक्ल यजुर्वेद की १६ शाखाओंमें से काण्व और माध्यंदिन इन दोही शाखाओंकी संहितायें उपलब्ध हैं। सामवेदकी हजार शाखायें होनेपर भी सिर्फ कौथुम और राणायनीय, इन दोही शाखाओं की संहितामें मिलती हैं। इसी तरह अथर्ववेद की पिप्पलाद और शौनक, इन दोही शाखाओंकी संहितायें उपलब्ध हैं। इनमें से यजुर्वेद-संहिता की तुलना अच्छी तरह से हुई हुई है। उस परसे उक्त सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। कुछ शाखाभेदों के अनुसार बनाए गए ब्राह्मण-ग्रंथ और

श्रौतसूत्र आदिके ग्रंथ भी मिलते हैं। इस सबसे यही बात निश्चित होती है कि तात्त्विक भेदकी अपेक्षा विषयान्तर्गत छोटेमोटे भेदोंसेही शाखाभेद हुए हैं।

ऋग्वेद ।

ऋग्वेद-संहितामें एक हजार अट्ठाईस सूक्त हैं। उनमें यदि ११ वालखिल्य और ३२ खिल सूक्त मिला दिए जांय, तो कुल सूक्तसंख्या एक हजार इकहत्तर होती है। यह संहिता संपूर्ण छंदोबद्ध है। प्रत्येक सूक्तमें प्रायः ३ से लेकर ७ ऋचा यानि कवितायें हैं। ज्यादा से ज्यादा ऋचायें जिनमें हैं ऐसे अस्यवामीय (ऋ०१।१६४, ऋचा ५२), अस्यप्रेषा (ऋ० ९।९७, ऋचा ५८) और विवाहसूक्त (ऋ० १०।८५, ऋचा ४७) हैं। ऐसेही सिर्फ १ मंत्रवाला सूक्त (ऋ० १।९९) भी ऋग्वेद में है। इस प्रकार ऐसे ऐसे सूक्तों के संग्रहका नाम ऋग्वेद-संहिता है। ये सब के सब सूक्त अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरप्रणीत हैं। और सब विद्याओंके आदिमूल हैं ऐसी वैदिकों की प्रामाणिक समझ है। तथापि वे ज्ञानी ऋषियोंके मार्फत हमें मिले हैं ऐसा वे मानते हैं। वे ऋषियोंको मन्त्रकर्ता न मानते हुए मंत्रद्रष्टा मानते हैं। ऐसे द्रष्टा ऋषि अनेक हैं। उनके दृष्ट सूक्तोंमें विषय भी भिन्न भिन्न हैं। आजकल की संहितामें उन ऋषियोंका थोडासा समन्वय किया हुआ है। दूसरे मंडलसे लेकर ८ वें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल 'कुलमंडल' के नामसे प्रसिद्ध है। उसमें अनुक्रमसे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ और आंगिरस या उनके कुल की किसी व्यक्ति के सूक्त एकत्रित करनेका प्रयत्न किया गया है।× नवमें मंडलमें सिर्फ सोमविषयक सूक्तोंकाही संग्रह किया गया है। उनमें से पहले ४ अध्याय 'पवमान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले और दसवें मंडलमें छोटे मोटे विभाग करके बचे हुए सूक्त डाल दिए गए हैं, ऐसा दीखता है। यह व्यवस्था कृष्णद्वैपायन व्यासने की होगी। इस संहिताका पदपाठ शाकल्यने लिखा और बाभ्रव्यने वेदाक्षरोंमें तबदीली न हो जाय तदर्थ क्रम बोलने की पद्धति प्रारंभ की।

इन सूक्तोंमें सामान्यतया देवताओंकी स्तुति पाई जाती है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, मरुत्, अश्विनौ, भग, पूषा, आदि भिन्न भिन्न देवता इन सूक्तोंमें स्तुति किए गए हैं। इन देवताओंकी संख्या पर्याप्त बडी है और उनकी प्रशंसा करनेकी पद्धति भी देवता के अनुसार अलग अलग है। देवताओं का वैशिष्ट्य निश्चितरूपसे उल्लिखित किया जाकर, किस किस देवता के लिए कौन कौनसे विशेषण प्रयुक्त होने चाहिए यह भी लगभग निश्चितसा ही है। इस प्रकार इन देवताओंके वर्णन करनेवाले स्फुट काव्य के संग्रह का नाम ही आजकल का ऋग्वेद है, ऐसा कह सकते हैं। इसको और भी अच्छी तरह समझनेके लिए इन्हें तुकाराम के अभंगोंकी गाथा से उपमा दे सकते हैं। जैसे गाथा में सैंकडों स्फुट अभंगोंका संग्रह होता है, पर उन अभंगोंकी रचना का काल भिन्न होता है, ठीक उसी प्रकार ऋग्वेद की स्थिति है। उसमें और इसमें फर्क इतना ही है कि वहां अभंगों का रचयिता सिर्फ अकेला तुकाराम है जब कि ऋग्वेद में सूक्तद्रष्टा भिन्न भिन्न अनेक ऋषि हैं।

इन सूक्तोंमें बहुतसे संवाद हैं। जिनमें से पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋ० १०।९५), यमयमी-संवाद (ऋ० १०।१०), सरमा-पणी-संवाद (ऋ० १०।१०८) और विश्वामित्र-नदी-संवाद (ऋ० ३।३३) इत्यादि विशेष प्रसिद्ध हैं। इस तरह के संवाद प्रथम चार व दसवें मंडलमें विशेष रूपसे हैं। इसी तरह विशेष कथाभाग भी पाये जाते हैं। इन कथाभागोंकी संख्या भी काफी बडी है। वे कथायें जब तक ज्ञात न हों तबतक उन सूक्तोंका अर्थ समझना भी कठिन हो जाता है। इन कथाओंका संग्रह करनेका कार्य शाट्यायन ब्राह्मण तथा बृहद्देवता आदि ग्रंथोंने अच्छा किया

× इस विषयक विशेष खुलासा देखना है तो 'वेदभाष्य' नामक लेख इसी अंकमें अन्यत्र देखियें। 'संपादक'

है। इनके बाद लौकिक, आध्यात्मिक और संस्कार विषयक सूक्तोंका संग्रह भी बहुतायत से ऋग्वेदमें पाया जाता है। इनके अलावा मंत्रतंत्र किंवा जादूटोना-विषयक भी कुछ सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं। विष उतारनेके मंत्र (ऋ० १।१९१), रोग मिटाना (ऋ०१०।९७), ज्वर (ऋ० ७।५०।४) श्लीपद (ऋ० १०।१६१ और राजयक्ष्मा १६३), गर्भरक्षण (ऋ० ५।७८, व १०।१६२), दुष्ट स्वप्न-निवारण (ऋ० १०।१६४), ऐसे ही नींद आनेके मंत्र इत्यादि तरह के मंत्र इस विभागमें आते हैं। 'जूआ खेलनेवाला तथा उसकी स्त्री' इस विषयक अत्यंत मनोहर वर्णन भी ऋग्वेदके एक सूक्तमें आया है। वह आज भी हृदयस्पर्शी है। ऐसे ही दान की स्तुति करनेवाले भी बहुत सूक्त हैं। उनमें दाता की खुले दिलसे स्तुति की हुई मिलती है। यज्ञ के प्रसंगसे या देवताओंको उद्देश करके स्तुति की हुई होनेसे यजमान के दान दिए जानेपर नामनिर्देशपूर्वक दाताकी प्रशंसा की गई है। इन से ऐतिहासिक दान भी बहुत कुछ उपलब्ध होता है। इन सब के अलावा भी एकदम लौकिक या जिसे मज़ेदार कह सकते हैं ऐसे भी कुछ सूक्त हैं। इसका उत्तम उदाहरण दर्दुर सूक्त है। उसमें मेंढकोंका अत्यंत स्वाभाविक वर्णन किया हुआ है। (ऋ० ७।१०३)

इसपरसे यह समझना भूलभरा होगा कि ऋग्वेदमें महत्त्वके अन्य विषयही नहीं। आध्यात्मिक सूक्तोंकी थोडीसी संख्या होनेपरभी वह अत्यंत महत्त्व की है। उसमें विश्व और उसकी उत्पत्ति तथा उसमें रमे हुए एकही आत्माकी उत्कृष्ट कल्पना उल्लिखित की गयी है। यह अतीव उच्च कल्पना अत्यंत पुरातन कालसे वैदिक लोगोंपर छाप डाले हुए आजभी टिकी हुई है। इस विषयक शंकायें कर करके निश्चयात्मक उत्तर भी इसी ग्रंथमें दिया हुआ है। सृष्टिके मूलमें कौनसा तत्त्व है, इस बारेमें अनेक मत प्रदर्शित किए गए हैं। परंतु अन्ततो गत्वा उस एकही तत्त्वको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम किंवा मातरिश्वा कहते हैं, ऐसा प्रतिपादित किया गया है। (ऋ० १।१६४।४६)

सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हुई इस विषयमें उन्हें बडी भारी जिज्ञासा हुई हुई दीखती है। परंतु यह ज्ञान बहुत थोडे लोकोंको हुआ करता है, इस बातका भी उन्हें पता था। इसी लिए उन्हें बारंबार 'को वेद यत आबभूव' ऐसे ऐसे उद्गार निकालने पडे हैं। (ऋ० १०।१२९।६) इस आध्यात्मिक ज्ञान का पसारा ऋग्वेदमें चाहे अत्यंत थोडे सूक्तों में स्पष्टतया आया हुआ हो तो भी उसका मुख्य स्थान उपनिषदें ही हैं। उपनिषदों में ऋग्वेदस्थ अनेक मंत्र उद्धृत करके उनपर सुंदर विवेचन किया हुआ है। उनमें 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति' (ऋ० १-१६४-२०) यह मंत्र अत्यंत मशहूर है। जीवात्मापरमात्माके एकत्वकी कल्पना उत्कृष्टतया व्यक्त की हुई है। ऋग्वेदमें अनेक देवताओंपरक सूक्त होते हुए भी जगत्का उत्पत्ति व स्थितिकर्ता एक ही है। बाकीके देव केवल नामभेदसे भिन्न हैं। इस बातका 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० १०-१२१-१) इस सूक्तमें सुंदर रूपसे प्रतिपादन किया गया है। इन के अतिरिक्त ऋग्वेदमें कूट सूक्त भी मिलते हैं। इस प्रकारके कूट मंत्रोंका संग्रह एक बडे भारी सूक्तमें किया गया नजर आता है। (ऋ० १।१६४) में कुछ कूट इतने दुर्बोध हैं कि शब्दोंके स्पष्ट होते हुए भी उनका अर्थ अबतकभी खुल नहीं सका है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं–

(१) तीन माता और तीन बापोंका बोझ पीठ पर लाद कर भी यह सीधा खडा रह सकता है। इस भारसे वह कभी भी खिन्न नहीं होता। (ऋ० १।१६४।१०)।

(२) इस सफेद बालोंवाले होता का मंझला भाई अघाशी है और तीसरा भाई घीवहन करनेवाला है। मैंने सात पुत्रोंवाला राजा देखा। (ऋ० १।१६४।१)।

इसके सिवाय जिन मंत्रोंका बिलकुल ही अर्थ नहीं लग सका ऐसे भी बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं। जिनमेंसे 'सृण्येव जर्भरी' (ऋ० १०।१०६।६)

यह मंत्र अत्यंत प्रसिद्ध है। इसका अर्थ करना मुश्किल है ऐसा निरुक्तमें यास्काचार्यने कहा है। ऐसे ऐसे मंत्र ऋग्वेदमें चाहे कम हुए हों तोभी निःसंदेह ऋग्वेदका बहुतसा भाग अभीतक ठीक ठीक लग नहीं पाया है। ऋग्वेदमें ऐसे बहुतसे शब्द हैं कि जिनके पर्यायवाची देखनेके लिए कोई साधन नहीं। उनका निश्चित अर्थ क्या होगा, इस विषयक शंका बनी ही रहती है। किसी भी रूढ शब्दके पीछे जो एक खास कल्पनासृष्टि होती है, वह कुछ कालके पश्चात् अदृश्य होती जाती है। इस कारण उस शब्दका निश्चित महत्त्व पीछेसे ध्यानमें नहीं आ पाता। उसी तरह सदा नवीन कल्पनायें उत्पन्न होती रहती हैं, पदार्थोंकी स्थितियां बदलती रहती हैं, ज्ञानमें कमती बढती होती रहती है, और कितनेही प्राणी व पदार्थ नष्ट होकर नये उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण परिस्थति बदल जानेसे अर्थ करनेका कार्य अत्यंत कठिन हो गया ह।

ऋग्वेदकी शाखाओंमेंसे आज सिर्फ शाकल-संहिताही मिलती है। अन्य शाखाओंके कुछ मंत्र मिलते हैं और ऐसाभी ख्याल है कि उन शाखासंहिताओंमें बहुतसा फरक नहीं होगा। परंतु ब्राह्मणग्रन्थ मात्र ऐतरेय और सांख्यायन या कौशीतिकी नामक शाखा के उपलब्ध हैं। कौशीतिकी या सांख्यायन शाखाके ब्राह्मण आजकल मथुरा आदि स्थानोंमें मिलते हैं। उनकी वहां स्वतंत्र पाठशाला भी है। इन दोनों शाखाओंके ब्राह्मण छपकर प्रसिद्ध भी हुए हुए हैं जो कि बडे महत्त्वके माने जाते हैं।

४

ऐतरेय ब्राह्मणमें ५-५ अध्यायोंकी ८ पंचिकायें हैं। कुल मिलाकर ४० अध्याय हैं। सब भाग गद्य है। महीदास ऐतरेय नामक आचार्यद्वारा इस ग्रंथका संग्रह किया हुआ प्रतीत होता है। इसमें मुख्यतः सोमयाग (अग्निष्टोम, अग्निहोत्र,) और राजसूय यज्ञका वर्णन है। अंतके १० अध्यायों में सम्राट्के राज्याभिषेक की प्रशंसा की हुई है।

सांख्यायन ब्राह्मणमें ३० अध्याय हैं। उसमें निम्न लिखित विषयोंका समावेश है। पहले ६ अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासकी इष्टि, ऋतुयाग इत्यादि। ७ से ३० अध्यायोंमें सोमयागका वर्णन है। उस वर्णनमें और ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णनमें बहुत कुछ साम्य है। इसके सिवाय ऐतरेय आरण्यक और सांख्यायन आरण्यक नामके दो ग्रन्थ हैं, जिनमें ऐतरेय और कौशीतिकी उपनिषदोंका समावेश हुआ हुआ है। इसके अलावा ऋग्वेद की एक वाष्कल नामकी उपनिषद् भी मिलती है। इन दोनों ही शाखाओंके श्रौत सूत्र और गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं। वसिष्ठ-धर्मसूत्रको ऋग्वेदका धर्मसूत्र माना जाता है। ऋग्वेदकी पठनपाठनपद्धति के बारेमें शौनकका प्रातिशाख्य नामक ग्रंथ मशहूर है। पाणिनीय शिक्षाभी ऋग्वेदकी शिक्षा समझी जाती है। शिक्षामें उच्चारण शास्त्रसंबंधी विचार होता है।

ऋग्वेदमें दाशराज्ञ युद्ध नामक एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख सर्वत्र मिलता है। उस युद्धमें यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु आदि दस पंधरा राजे सुदास राजाके विरुद्ध लढनेका वर्णन है। भारतीय युद्ध (महाभारत) के पूर्व यही महायुद्ध मालूम देता है। इस युद्धमें वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसे बडे बडे आदमी भी भाग लेते हुए जान पडते हैं। परन्तु वे उसमें योद्धा न होते हुए मुत्सदी हैं। वे उसमें परस्परविरोधी दलों से भी मिले हुए दिखाई देते हैं। इससे ऐसा

पता लगता है कि यह युद्ध बहुत समयतक चला हुआ होना चाहिए। उस युद्ध में अर्ण और चित्ररथ राजा को यमुनामें डुबाकर मार डाला गया है। और रावी तथा सतलुज नदी के संगमसे विश्वामित्र सुदासके लिए इस तरफ आते हैं। इस परसे यह युद्ध किस प्रांतमें चल रहा था, उसका ख्याल आता है। परन्तु क्योंकि यह ग्रंथ इतिहास का न होनेसे और किसी भी घटना का ग्रंथमें विस्तार से वर्णन न होनेके कारण संगतिवार हालत समझने बहुत मुश्किल पडती है। तो भी दसों ही मंडलोंमें यह युद्ध किंवा इसमें के महत्वपूर्ण व्यक्तियोंका निर्देश होनेसे इस युद्ध की असर लोगोंके मनोंपर कितनी ज्यादा हुई होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। इन सब के सिवाय कुछ अलग अलग ऐतिहासिक घटनाओंका अस्पष्ट उल्लेख ऋग्वेदमें होते हुए भी उनका विस्तार आगे आनेवाले वाङ्मयमें होने से उसका विशेष महत्व नहीं। उदाहरण ही देना हो तो वसिष्ठविश्वामित्र विरोधका दिया जा सकेगा।

भूगोल की दृष्टि से भी ऋग्वेदकी समालोचना करनेपर उस के स्थल के संबंधमें स्पष्ट कल्पना करनेमें मदद मिलती है। दीर्घकालीन उषा और अग्निके माहात्म्य के वर्णन पर से (चाहे कुछ सूक्त हिन्दुस्थानके बाहर के उत्तर ध्रुवकी ओर के प्रदेशों या वन प्रदेशों की मनपर छाप के होते हुए तैयार किए गए हों तथापि) ऋग्वेदका बहुतसा भाग कुभू अर्थात् काबुल नदी से लेकर यमुनापर्यंत के प्रदेशमें बना हुआ है। इस पश्चिमोत्तर भाग के सिवाय पूर्व की ओर के भागों में आर्योंका प्रवेश हुआ हुआ हो इस बातका ज्ञापक ऋग्वेद में नहीं मिलता। 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' (ऋ० १०।७५।५) ये सूक्त आर्यों के प्रदेश-निदर्शक होते हुए आज भी वैदिक आर्यों के निवासस्थान की साक्षी दे रहे हैं।

ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। (भा० ३।१२-३८) आयुर्वेद के नाम से स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। आयुर्वेद अर्थात् आर्यवैद्यक। उसका स्वतंत्र विवेचन ऋग्वेदमें अन्यत्र आया हुआ है ही।

यजुर्वेद।

इसके बाद अब पाठकोंको यजुर्वेद का परिचय कराना है। कालदृष्टि किंवा भौगोलिक दृष्टिसे ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद का परिचय ही कैसे क्रमप्राप्त है यह बात निम्न लिखित विवेचन से समझ में आ जायगी।

यजुर्वेदका मुख्य आचार्य वैशंपायन है। उसने याज्ञवल्क्य आदि अनेक शिष्य तैयार किए। याज्ञवल्क्यने वैशम्पायनका वेद वापस करके सूर्य से नया वेद प्राप्त किया। उसने गुरु के वेदका नाम कृष्णयजुर्वेद रखा और अपने वेदका गौरवास्पद नाम शुक्ल यजुर्वेद रखा। वैशंपायन ने स्वयं तथा अपनी शिष्यशाखा के जोर से याज्ञवल्क्यका जोरशोरसे विरोध किया। परंतु याज्ञवल्क्य भी ढीला ढाला न था। वह तत्वज्ञान में भी अत्यंत निष्णात था। उसने हस्तिनापुरके सम्राट् जनमेजय और विदेह के सम्राट् जनक को अपने ताबेमें लेकर नवीन वेदका प्रचार बडे जोरशोर से किया। परिणाम यह हुआ कि कृष्णयजुर्वेदी लोकोंको दक्षिण दिशा का आश्रय लेना पडा।

पहले दिल्ली के राजघरानेपर वैशंपायन की छाप थी। वहां अब याज्ञवल्क्यका सिक्का जम गया। इस घटना का संक्षेपसे परंतु अत्यंत स्पष्ट रूपमें वायुपुराण में वर्णन देखनेको मिलता है। इस घटना की आज भी साक्षी इस बातसे मिलती है कि कृष्णयजुर्वेदवालों की बहुसंख्या दक्षिण में तथा शुक्ल-यजुर्वेदियोंकी बहुसंख्या उत्तरमें पाई जाती है। उत्तरमें कृष्णयजुर्वेदियों की संख्या नाममात्र भी उपलब्ध नहीं होती। क्षत्रिय आदि त्रैवर्णिकोंके सब धर्मकृत्य आज भी

शुक्ल यजुर्वेद से ही होते हैं। इसका कारण भी याज्ञवल्क्यने जो महत्त्व प्राप्त किया वही है। आगे चलकर यह बात धर्मशास्त्रों में भी लिखी गई कि क्षत्रियोंका वेद शुक्ल यजुर्वेद है और उनके तमाम धर्म के कार्य इसी वेदसे होने चाहिए।

कृष्णयजुर्वेदकी आजकल ५ शाखायें उपलब्ध हैं। आठ शाखाओंके श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं। शेष ७७ शाखाओंके नाम मात्र चरणव्यूहमें मिलते हैं। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ और कापिष्ठल शाखाओं की संहितायें छपकर प्रकाशित हो चुकी हैं। जब कि श्वेताश्वेतर शाखा की संहिता अभी तक प्रसिद्ध नहीं हो पाई। इन शाखाओंमें से सिर्फ तैत्तिरीय शाखा का ही ब्राह्मण उपलब्ध है। आरण्यकभी तैत्तिरीय शाखा के ही हैं और उसीमें तैत्तिरीय उपनिषद् भी अन्तर्गत है।

श्रौतसूत्रोंमें से आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी (सत्याषाढ), भारद्वाज, वैखानस, वाधूल, मानव (मैत्रायणी शाखा) और वाराह ये आठ, कृष्णयजुर्वेद के श्रोतसूत्र उपलब्ध हैं। इनमेंसे वाराह को छोडकर शेष सब छपकर प्रसिद्ध भी हो चुके हैं। भारद्वाज, वैखानस और वाधूल भी अपूर्ण ही मिलते हैं। इन्हीं सूत्रोंमें गृह्य-सूत्रोंका भी समावेश होता है। धर्मसूत्र तथा कुण्ड आदि के लिए भूमितिदर्शक शुल्ब-सूत्र भी इन्हीं ग्रंथोंमें एक एक प्रकरणमें रखे हुए हैं। इस शाखा का तैत्तिरीय प्रतिशाख्य नामक व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध है। इसपर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकायें भी हो चुकी हैं। इस प्रतिशाखामें अन्य शाखाओंका भी थोडा-बहुत समावेश किया हुआ पाया जाता है। शिक्षा मात्र उपनिषदों में समाविष्ट हुई हुई है और वही मान्य भी है।

तैत्तिरीय संहितामें निम्न लिखित विषय यथाक्रम आए हुए हैं। इस संहिता की विशेष सूची जिन्हें देखनी हो उन्हें 'ज्ञानकोष' के प्रस्तावनाखण्डमें देखनी चाहिए। तथापि कुछ ख्याल आनेके लिए वहांपर आए हुए विषयों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

प्रथम अग्न्याधान का विधान करके फिर काम्येष्टि के विषयमें बतलाया गया है। तत्पश्चात् चातुर्मास्य होत्रों का वर्णन करते हुए दर्श-पौर्णमास इष्टिके विषयमें वर्णन है। उसके अनन्तर अग्निष्टोम यज्ञका वर्णन करके, आप्तोर्याम बतलाते हुए वाजपेयके संबंधमें दर्शाया गया है। तब राजसूय आश्वमेध, सौत्रामणि, सोमयाग, सूत्र, गवामयन आदि यज्ञों के बारेमें बतलाया है। बीचबीच में कहीं कहीं वर्णाश्रमधर्मके संबंधमें प्रतिपादन करनेके साथ साथ नित्याचार के विषयमें भी कुछ मिलता है। संहिता और ब्राह्मणग्रंथ परस्पर मिश्रित हो गए हैं। यजुर्वेदको छोडकर अन्य वेदोंके ब्राह्मणग्रंथ और संहितायें बिलकुल पृथक् पृथक् हैं। परन्तु यजुर्वेदकी स्थिति इससे अत्यंत भिन्न है। प्रायः संहिता और ब्राह्मण दोनों ही गद्य होते हुए उनमें आये हुए छंदोबद्ध मंत्र दूसरोंसे उद्धृत किए हुए हैं। इन ग्रंथोंमें गद्यभाषा बहुतही विस्तृत तथा पुनरुक्तिप्रधान है।

इस वेदके लोक दक्षिणमें कृष्णाके मुखके पास विशेषतः पाए जाते हैं। फिर भी अलग अलग रूपसे दक्षिण भारतके सभी प्रान्तोंमें ये लोक मिलते हैं। हिरण्यकेशी शाखा के लोग प्रायः कोंकण के चित्तपावन ब्राह्मणोंमें ही हैं। बौधायन और आपस्तम्ब शाखाके लोक शाखाके प्रमाणसे ज्यादा संख्यामें हैं। मैत्रायणी शाखाके अनुयायीगण खानदेश वगैरे स्थानोंमें हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुतही अल्प है। वे अल्प संख्या में होनेसे तथा कर्मप्राधान्य छोड देनेसे संपन्न होते हुए भी धार्मिक दृष्टिसे हीन हो गए हैं। आपस्तंब, बौधायन और हिरण्यकेशी शाखाओं के लोगोंने मात्र अपना कर्मप्राधान्य खूब अच्छी तरहसे टिकाए रखा है।

याज्ञवल्क्यने वैशंपायनका वेद वापस करके सूर्यकी कृपासे नया यजुर्वेद प्राप्त किया। जो कि शुक्लयजुर्वेद के नामसे विख्यात हुआ। उसकी १६ शाखाओंमें स काण्व और माध्यंदिन इन दोही शाखाओंको संहितायें तथा ब्राह्मण ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। माध्यंदिनी शाखा को ही वाजसनेय शाखा कहते हैं। इस संहितामें ४० अध्याय हैं। जिनमें निम्न लिखित विषयों का समावेश है।

१-२, दर्शपूर्णमास मंत्र और पितृयज्ञ; ३ अनित्यानित्य कर्म, अग्निप्रतिष्ठा, हवन व चातुर्मास्ययज्ञ; ४-८, सोमयज्ञ, राजसूयके मंत्र; ९।१०, सोमयज्ञमंत्र; ११-१८, अग्निचयन विधि और मंत्र; १९।२१ सौत्रामणी आदि भागोंके मंत्र; २२-२५, अश्वमेधयज्ञमंत्र; २६-३०, पुरुषमेध (यज्ञरहस्य); ३१, पुरुष-सूक्त; ३२, तत्त्वज्ञान (उपनिषद्); ३३-३४ शिवसंकल्पोपनिषद्; ३५. अन्त्येष्टि मंत्र; ३६-३९, प्रवर्ग्यमंत्र; ४०, ईशावास्योपनिषद्।

२६ से ३६ तक अध्यायोंका परिशिष्टवाची 'खिल' नाम है। उनसे अगले ५ अध्यायोंमें विषय भी (तात्त्विक होनेसे) अलग प्रतीत होते हैं। अर्वाचीन अभ्यासी-गण अंतिम १५ अध्यायोंको (अलग होनेकी वजहसे) पीछेसे जोडे गये होंगे ऐसा कहते हैं। इस संहितामें गद्य व पद्य दोनों ही हैं। इसका बहुतसा पद्यभाग ऋग्वेदमें आया हुआ है। गद्यात्मक भाग सर्वथा नवीन है। उसे यजुः कहते हैं। अतएव इसका नामभी यजुर्वेद पडा है। यजुःका अर्थ होता है यज्ञ। यज्ञ में अध्वर्यु मुख्य होता ह और उसके नेतृत्वमें अन्य ऋत्विजोंको कार्य करना होता है। यजुर्वेद में अध्वर्युके कार्यका समावेश मुख्यरूपसे किया हुआ है।

शुक्ल-यजुर्वेदका अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ शतपथ-ब्राह्मण है। इस बडे भारी ग्रन्थकी काण्व और माध्यंदिन नामक दो प्रतियां मिलती हैं। काण्व-शाखाके शतपथमें १७ काण्ड हैं। जब कि माध्यंदिन शाखाके शतपथमें १४ काण्ड हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम कांडमें सुप्रसिद्ध बृहदारण्यकोपनिषद् का समावेश हुआ हुआ है। दोनों प्रतियोंमें काफी साम्य होनेपर भी विषमता पर्याप्त है। प्रायः यह वैषम्य पाठभेदके स्वरूपमें है. ऐसा कह सकते हैं। परन्तु अन्तिम आचार्यतक भी यह फेर पाया जाता है।

इस ग्रन्थका वैदिक वाङ्मय में अनेक दृष्टिसे महत्त्व है। अन्य ब्राह्मणग्रन्थोंकी तरह इसमें भी यज्ञका स्पष्टीकरण किया गया है। तो भी स्थान स्थान पर किया गया स्पष्टीकरण, शब्दोंके अर्थ बतलानेका तरीका और खास खास मन्त्रोंका अर्थबोधक स्पष्टीकरण अत्यन्त उद्बोधक है। सब वैदिक वाङ्मयपर इस ब्राह्मण-ग्रन्थके कारण विशेष तरहका प्रकाश पडता है। तत्कालीन भिन्न-भिन्न विद्याओंमें प्रवीण आचार्योंकी नामावलि भी इस ग्रन्थसे उपलब्ध होती है। ६-१० काण्डोंमें वेदीकी रचना के संबंध में विचार करते हुए वहांपर शाण्डिल्यके मतको प्रधानता दी गई है। अन्य भागोंमें साधारणतया याज्ञवल्क्यको प्रधानता दी गई है। इतना ही नहीं अन्तमें तो यह भी प्रतिपादन किया गया है, कि यह ग्रन्थ याज्ञवल्क्यने ही लिखा है। इसमें गान्धार, साल और केकय या वायव्य प्रदेशस्थ लोकोंके निर्देश के साथ साथ कुरु, पांचाल, कोसल, विदेह, सृंजय प्रान्तोंके लोकोंका मुख्यतया किया गया उल्लेख, वैदिक संस्कृतिका केन्द्र पंजाब से पूर्व-हिन्दुस्थानमें पहुंचा इस बातका निदर्शक है।

इसमें १०० अध्याय होनेसे इसका नाम शतपथ है। उस समय मिथिलाके विदेह राजाके दरबार में अनेक बडे बडे वादविवाद होते थे। उनका विस्तृत वर्णन इस ब्राह्मणमें विशेषतः अन्तके बृहदारण्यकोपनिषद् नामसे प्रसिद्ध भागमें पाया जाता है। स्वयं याज्ञवल्क्य विदेहमें होगा और पश्चिम के विद्वानोंका अपने ज्ञानसे पराभव करता रहा होगा, ऐसा दीखता है। वैदिक लोकोंका

वैश्वानर अग्नि पूर्वकी सदानीरा नदीतक जलता चला गया। परन्तु उससे आगे अग्निने जानेसे इनकार कर दिया। इस आशय की विदेघमाथव की एक कथा इस ब्राह्मण में दी हुई है। उस परसे वैदिकोंका हिंदुस्थानमें कहांतक प्रवेश हुआ था, इस विषयक कल्पना की जा सकती है। (श० ब्रा० १।४।१।१०-१७) यह सदानीरा नदी आजकल कोसल और विदेह की सीमा बता रही है। परन्तु उसका आजकल नाम गंडकी प्रतीत होता है।

वैशंपायन के शिष्यों में तथा याज्ञवल्क्य के बीच में उत्पन्न विरोध का निर्देश इस ब्राह्मणमें कई स्थानोंपर है। याज्ञवल्क्यने स्वतंत्र मार्ग निकालकर उसे सफल बनाकर दिखा दिया। ऐसा करने में पहले के लोगोंका उसके साथ सतत विरोध होता होगा। याज्ञवल्क्यने खुलमखुला वादविवाद करके जय प्राप्त किया हुआ दीखता है। प्रतिपक्षी की यज्ञक्रियाके दोषोंका उद्‌घाटन भी इस ब्राह्मण में वारंवार आया हुआ है। प्रतिपक्षी को चरक या चरकाध्वर्यु शब्दसे इस ग्रन्थ में कहा गया है। इस चरक शब्दसे कृष्णयजुर्वेद की कठ, कापिष्ठल व मैत्रायणी आदि शाखाओंका निर्देश ध्वनित होता है। चरकका अर्थ है गुरु वैशंपायन के लिए प्रायश्चित्त करनेवाले। एकवार वैशंपायनके हाथसे ब्रह्महत्या हो गई। उसका प्रायश्चित्त करने के लिए उसने अपने शिष्योंसे कहा। उस वक्त याज्ञवल्क्यने कहा कि ' मैं अकेला ही प्रायश्चित करता हूं और किसी की जरूरत नहीं '। इस अभिमान के बदले में गुरुने उसे अपने शिष्यों में से निकाल दिया। जिन्होंने प्रायश्चित्त किया, उन चरकों में और स्वतन्त्र पन्थ खडा करनेवाले याज्ञवल्क्य में जो विरोध हुआ उसका इतिहास बडा मनोरंजक है। इस ब्राह्मणकी दोनोंही प्रतियां सायण के भाष्यसहित प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उनका अंग्रेजी अनुवाद भी ' सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट ' में एजलिंगने किया है। आगे चलकर उत्पन्न हुए हुए आसुरी आदि सांख्य-मत का भी इसमें उल्लेख है। कुरु-वंशके सुप्रसिद्ध जनमेजय तो याज्ञवल्क्यका पुरस्कर्ता ही था। उसका भी उल्लेख इस ब्राह्मण में है। परन्तु पांडवादियों का उल्लेख इसमें नहीं है। पुरूरवा-उर्वशी-संवाद इसमें विस्तार से दिया हुआ है। इतना ही नहीं उनके प्रणय तथा विरह का भी वर्णन है। दुष्यन्त और शकुंतला तथा उनके पुत्र भरत की मनोरम कथा भी इसमें पढनेको मिलती है।

सुप्रसिद्ध प्रलयविषयक मनुकी कथा वैदिक वाङ्मय में सिर्फ इसी ग्रंथमें ही मिलती है। अथर्ववेदमें और शायद ऋग्वेद में भी उस कथा का उल्लेख है। परन्तु इतना स्पष्ट निर्देश अन्य कहीं भी नहीं मिलता। वह कथा इस प्रकार है- मनुको एकवार एक मछली मिली। उसने अपना पालन-पोषण करनेके लिए मनुसे प्रार्थना की। आगे होनेवाले प्रलय में मैं तेरी रक्षा करूंगी, ऐसा उसने मनुको अभिवचन दिया। जब जलप्रलय शुरू हुआ तो मनु एक नाव में बैठ गया और उस मछलीने उस नावको हिमालय के एक शिखरपर सुरक्षित ले जाकर पहुंचा दिया। उस हिमालय के शिखर का नाम 'प्रभ्रंशन' पडा। यह मनु मनुष्यजातिका प्रलय के पश्चात् आद्य जनक हुआ। इस प्रकार यह ग्रन्थ अनेक विद्याओं और कथाओंका मातृकुल है। उसकी भाषा स्पष्ट है। उसमें यज्ञ-प्रक्रिया तथा अध्यात्मतत्त्व का सुन्दर विवेचन है।

इस वेदके श्रौत सूत्र कात्यायन ने रचे हैं। जो कि पारस्कर-सूत्र के नामसे प्रसिद्ध हैं। उसमें श्रौत और गृह्य दोनोंही सूत्रोंका समावेश है। इन सूत्रोंका प्रातिशाख्य भी कात्यायननेही बनाया है। उसमें काण्व-शाखाके मतभेदोंका भी उल्लेख है। याज्ञवल्क्य-शिक्षा वेदोंके उच्चारण की दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। अन्य वेदोंकी अपेक्षा स्वर और उच्चारण के विषय में यह वेद बहुतही अलग है। माध्यंदिनी शाखाके लोग 'य' के स्थान में 'ज' और 'ष' के स्थानमें 'ख' उनके नियम के अनुसार बोलते हैं।

उसी प्रकार 'व' आदियोंका द्वित्त उच्चारण करते हैं। अनुस्वार का उच्चारण ज्यादा सानुनासिक

करके विसर्ग का उच्चारण भी काफी भिन्न तरहसे करते हैं। स्वर भी गर्दन हिलाकर या उच्चारण से व्यक्त न करते हुए हाथ से ही व्यक्त करनेकी विधि है। अनुस्वार और विसर्ग के बहुतसे प्रकार होंगे, परन्तु वे उच्चारण के प्रकार आजकल नष्ट हुए हुए हैं। उनके लिए उपयुक्त चिन्होंपर से सिर्फ अनुमान ही किया जा सकता है। काण्व-शाखाके लोगोंने अपनी वेद पढनेकी पद्धति प्रायः ऋग्वेदी लोगोंके समान ही रखी हुई है। यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद है। धनुर्वेद नामकी एक स्वतन्त्र संस्कृत पुस्तक प्रसिद्ध है।

सामवेद।

वेदोंमें सामवेद तीसरा है। इसे स्वतंत्र वेद कहनेकी अपेक्षा ऋग्वेद के मन्त्रों के गाने की पद्धति का संग्रह ऐसा कहा जा सकता है। इसमें सिर्फ ७५ मन्त्रही ऐसे हैं जो कि ऋग्वेदसे भिन्न हैं। सामवेद की १००० शाखायें हैं, ऐसा महाभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है। परन्तु इस समय सिर्फ एकही शाखाकी संहिता उपलब्ध है। दूसरी दो एक शाखायें अपुरी मिली हैं। उस शाखाओंका नाम कौथुम व राणायनीय है। ऋग्वेदी लोक ब्रह्मयज्ञ में इस वेद के प्रारंभ के वाक्य बोलते हैं। वे वाक्य 'अग्न आ याहि वीतये' हैं। हजार शाखा यह शब्द गौरव के लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है, और वह अनेक रागपद्धतियों का निदर्शक है, ऐसा सत्यव्रत सामश्री का मत है।

इस संहिता के दो भाग हैं। पहिले भाग को पूर्व आर्चिक (ऋक्-संग्रह) और दूसरे को उत्तरार्चिक (दूसरा ऋक्-संग्रह) कहते हैं। इस में कुल १८१० ऋचायें हैं। पुनरुक्तियां छोड देनेपर उनकी संख्या १५४९ होती है। जो ७५ ऋचायें नवीन हैं, वे ऋग्वेद-संहिता को छोडकर अन्य संहिताओंमें और विधि-ग्रंथों में पाई जाती हैं। ऋग्वेद और सामवेद की ऋचायें एक होनेपर भी उन में कुछ महत्त्व का पाठभेद मिलता है। शायद कुछ पाठभेद अत्यन्त प्राचीन भी हो! यज्ञ में सामवेद गाने का काम करनेवाली व्यक्ति उद्गाता कहाती है। उसे ये मन्त्र भिन्न भिन्न तर्जों में गाने आने चाहिए। तर्ज बतलाने के लिए १ से ३ पर्यंत अङ्क निश्चित है, जो कि मन्त्रों के अक्षरों के ऊपर लिखे रहते हैं। उनसे आरोह व अवरोह समझना होता है। उसी प्रकार गाने में सुगमता होनेके लिए शब्दोच्चारणमें भी फरक करना पडता है, जो दिखाया हुआ होता है। उसे 'स्तोभ' कहते हैं।

इन तरह तरह की तर्जोंके नाम रूढ हुए थे। उनका उल्लेख ऋग्वेदादि ग्रंथों में मिलता है। जैसे रथन्तर-साम, बृहत्साम आदि नाम ऋग्वेद में भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस तर्ज और तर्ज में मन्त्र बोलने के लिए विशेष शक्ति है ऐसा समझा जाता था। साम-विधान, ब्राह्मण का दूसरा भाग केवल अभिचारकर्म के लिए ही लिखा गया है। इसपर से अभिचारकर्म के साथ सामवेद का निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। अभिचारकर्मसे सम्बन्ध के कारण सामगान को अपवित्रभी माना जाता होगा। क्योंकि सामका स्वर सुनते ही ऋग्वेद और यजुर्वेद का पठन बन्द कर देना चाहिए, ऐसा धर्मशास्त्रों में कहा हुआ है। आपस्तंब-सूत्र में अध्ययन बंद करने के कारणों में सामवेद का भी समावेश किया हुआ है। गानेकी ओर मनुष्य का सहज ध्यान आकर्षित हो जाता है, ऐसा समझकर भी हो सकता है कि अनध्याय रखने को कहा गया हो!

साम शब्द का मूल अर्थ निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। तथापि गाकर बोले जानेवाले मन्त्र 'गीतिषु सामाख्या' (जै. सू. ९) से साम कहलाते हैं, ऐसा इससे पता चलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के स्पष्टीकरण से भी यही अर्थ निकलता है (ऐ. ब्रा. १२।१३)। इस वेदपर सायणाचार्यने स्वतंत्र भाष्य नहीं किया। परन्तु अन्य बहुतसे लोकोंने इसपर भाष्य लिखे होंगे, ऐसा देवराज यज्वाकृत निरुक्त-टीकासे पता लगता है। माधवीय विवरण का कुछ भाग उपलब्ध भी है। सायणाचार्य का ऋग्वेद का भाष्य जैसा का तैसा सामवेदपर उतार

लिया गया है। परन्तु छंद, ऋषि, देवता और विनियोग भिन्न भिन्न होने से वह भाष्य सामवेद के मन्त्रों के लिए योग्य नहीं।

इस वेदके निम्न लिखित ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। १. पंचविंश (प्रौढ किंवा ताण्डय), २. षड्विंश, ३. सामविधान, ४. आर्षेय, ५. मन्त्र, ६. दैवताध्याय, ७. वंश, ८. संहितोपनिषद्, ९. जैमिनीय, १०. जैमिनीयोपनिषद्। ये सबके सब प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से पंचविंश या ताण्डय-ब्राह्मणग्रन्थ शतपथ जैसा ही विस्तृत है। उस में अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका समावेश किया हुआ मिलता है। वस्तुत: पंचविंश, षड्विंश और छांदोग्योपनिषद् मिलकर एक ग्रन्थ होता है जिसे महाब्राह्मण कहते हैं। अन्य ब्राह्मणों को अनुब्राह्मण कहा जाता है। षड्विंश ब्राह्मण के अन्तिम प्रकरणमें अद्भुत बातोंकी चर्चा होनेसे उसे अद्भुत-ब्राह्मण के नामसे भी कहा गया है।

जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण में दशोपनिषद् में से सुप्रसिद्ध कठोपनिषद् का समावेश किया हुआ है। उसे सामवेद की तवलकार शाखा की उपनिषद् मानते हैं। पहले वह तवलकार के नामसे ही प्रसिद्ध होनी चाहिए।

आगे चलकर प्रारंभ के 'केन' शब्द के कारण उसे केनोपनिषद् के नामसे कहा जाने लगा, ऐसा जान पडता है। इसका पहला भाग पद्यात्मक है और दूसका गद्यात्मक। प्रथम भाग में सगुण और निर्गुण ब्रह्मका भेद स्पष्ट किया है। दूसरे भाग में इतर देवताओंका सामर्थ्य भी ब्रह्माधीन कैसे है इस बातको अत्यन्त सुगम रीतिसे बताया गया है।

इसी वेदकी दूसरी छांदोग्योपनिषद् पंचविंश-ब्राह्मण का अन्तिम भाग है, जिसका तत्त्वज्ञान के विचार में अत्यन्त महत्त्व है। आद्य शंकराचार्यने अपने शारीरिक भाष्य में इसी उपनिषद्में से पौने हिस्से से भी ज्यादा वचन उद्धृत किए हैं। इसपरसे इस उपनिषद्का महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। इसके व बृहदारण्यक के कुछ भाग समान हैं। इस वेदके खादिर, लाटयायन और द्राह्ययायण ऐसे तीन श्रौत-सूत्र प्रसिद्ध हैं। खादिर, गोभिल और गौतम-गृह्य-सूत्र तथा गौतम के धर्मसूत्र भी इसी वेदके माने जाते हैं। नारदीय शिक्षा इस वेदका उच्चारण-सम्बन्धी शिक्षाग्रन्थ है। पुष्पसूत्र इसका प्रातिशाख्य है। ये सब ग्रन्थ भाष्यसहित उपलब्ध हैं। इस वेदका उपवेद गन्धर्ववेद है। परन्तु ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं।

अथर्ववेद।

चौथा वेद अथर्ववेद है। अथर्वांगिरसने इस वेद को देखा था, अत: इसे अथर्ववेद कहते हैं। वेद व इतर वाङ्मय में प्राय: तीन वेदों का ही उल्लेख पाया जाता है (ऋ० १०।९०।९)। तथापि यज्ञमें ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य अथर्ववेद से सम्बन्ध रखता है। अत: यज्ञकर्म में अथर्ववेदका महत्त्व कम नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त ऋक्, यजु और साम ये विषयदर्शक नाम हैं। 'ऋग्वेद में अथर्ववेद का भी समावेश हो सकता है।' इसी वास्ते इसका ब्रह्मवेद ऐसा दूसरा नाम भी है।

इस वेद की ९ शाखाओंमेंसे दोही शाखाओंकी संहितायें मिलती हैं। जिन्हें पिप्पलाद तथा शौनक कहते हैं। ऋग्वेदी लोग ब्रह्मयज्ञ में 'शन्नो देवीरभिष्टये' यह अथर्ववेद का मंत्र आरम्भ में पढते हैं, जो कि पिप्पलाद शाखाका है। हमारी ओर प्रसिद्ध संहिता शौनक-शाखा की है और उसका प्रारम्भ का मंत्र 'ये त्रिषप्ता परि यन्ति विश्वा' है। बाकी के भेद इस समय पता नहीं। इस संहितामें तत्त्वज्ञान के मन्त्रों के साथ साथ अभिचार, मन्त्रतंत्र, जादूटोना, वशीकरण, गंडे, तावीज आदि के भी मन्त्र पर्याप्त हैं। ये सिद्ध मन्त्र होनेसे कौशिक सूत्रों में उन के अनुष्ठान करनेकी विधि भी सविस्तर बतलाई हुई है। कौशिक सूत्र सटीक अमेरिका से प्रकाशित हुए हैं। व्रात्यस्तोम सूक्त भी इसी वेद में मिलता है (१४ वां काण्ड)।

इस संहिता में २० काण्ड हैं। जिन में ७३१ सूक्त और करीबन ६००० ऋचायें हैं। इसका लगभग सारा का सारा २० वां काण्ड तथा और भी बहुतसे सूक्त ऋग्वेद से अक्षरक्षः मिलते हैं। इस संहिता का १५ वां संपूर्ण काण्ड तथा १६ वें का बहुतसा भाग गद्य में है। बाकी के भाग के बीच बीचमें गद्य भी हो सकता है, तो भी बहुतकरके सबका सब पद्य में ही है। क्वचित् गद्य किंवा पद्य का निर्णय करना बडा मुश्किल पड जाता है। ऋग्वेद में संहितारचना की बाबत में ऐतिहासिक पद्धति स्वीकारी गई है। परन्तु इस में वैसी पद्धति न स्वीकारते हुए समान संख्यक ऋचावाले सूक्त एकत्र लानेका प्रयत्न किया हुआ दीखता है। पहले काण्ड में सामान्यतः ४ ऋचावाले, दूसरे में ५, तीसरे में ६, चौथे में सात ऋचावाले सूक्त आए हुए हैं। इसी पद्धति से सब की सब रचनाव्यवस्था दीखती है। इस वेद का गोपथ नामक ब्राह्मण प्रसिद्ध है। अन्य ब्राह्मणों के साथ तुलना करनेपर इस में अन्य ब्राह्मणग्रंथों में अनुपलब्ध ऐसे बहुतसे विषयों का समावेश पाया जाता है। संहिताके साथ उसका विशेषसा सम्बन्ध नहीं। इसके दो भाग हैं जिनमें से पहले में ५ और दूसरेमें ६ अध्याय हैं। अथर्ववेदका माहात्म्य दिखाना तथा ब्रह्म और ब्राह्मण का माहात्म्य वर्णन करना ही इसका हेतु दीखता है। अथर्ववेद की प्रश्न, माण्डूक्य व मुण्डक इत्यादि २७ उपनिषदें हैं। जिनमेंसे उक्त तीन अत्यन्त लोकप्रिय हैं और अच्छे ढंग से लिखी गई हैं।

मुण्डक इस नामपरसे ही वह संन्यासमार्गी उपनिषद् है यह स्पष्ट हो जाता है। इस में श्लोकबद्ध सुन्दर बृहत् विवेचन किया गया है। इसमें क्रमशः मुमुक्षत्व, ब्रह्म और ब्रह्मप्राप्तिके मार्ग का तीन भागोंमें विवेचन किया गया है।

प्रश्न उपनिषद् गद्यात्मक है। वह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा की है। उसमें पिप्पलाद महर्षि को ६ व्यक्तियों ने तत्त्वज्ञानसम्बन्धी प्रश्न किए हैं। वे प्रश्न इस प्रकार हैं- १- प्रजापतिसे प्रकृति और प्राण की उत्पत्ति; २- प्राण का श्रेष्ठत्व, ३- प्राण का स्वरूप, ४- निद्रा, ५- ॐ पदका चिंतन, ६- मनुष्य के १६ भाग। इन प्रश्नों के जबाब एकदम साफ साफ शब्दों में दिए हुए पढने को मिलते हैं।

माडुक्य- उपनिषद् छोटीसी और गद्यात्मक है। यह अथर्ववेद की उपनिषद् अत्यन्त महत्त्व की है। शंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस उपनिषद् का आधार नहीं लिया। तथापि उनके परात्पर गुरु गौडपादाचार्य ने इसपर कारिका लिखी हैं। उस कारिका को शांकर तत्त्वज्ञान में उपनिषदोंका स्थान प्राप्त है। ये कारिकायें संख्यामें २०० हैं। शंकराचार्यने इन के विचारों का अपने लेखों में वारंवार निर्देश किया है। उन के ४ भाग हैं। पहले में माडूक्य का सारांश दिया है। दूसरे का 'वैतथ्य' नाम है। उस में जगपरसे आत्माकी कल्पना करना कितना भूलभरा है यह बताया गया है। तीसरे भाग का नाम अद्वैत है, जिसमें आकाश का दृष्टांत देकर जीवात्मा व परमात्मा एक हैं, ऐसा सिद्ध किया है। चौथे प्रकरण का नाम अलातशांति है। उसमें जलती बनेटी फिराते हुए दीखती हुई अग्नि की रेखा की तरह जगकी उत्पत्ति और विविधता का मिथ्यात्व प्रतिपादन किया गया है।

इस वेदका 'वैतान' नामका श्रौतसूत्र प्रसिद्ध है। और 'कौशिक' नामक गृह्य-सूत्र भी अमेरिका से छपकर प्रकाशित हुआ है। अथर्ववेद का प्रातिशाख्य भी भाष्य के साथ छपा हुआ मिलता है। उच्चारणशास्त्र के लिए इसकी अथर्व-शिक्षा भी प्रसिद्ध है। इसके अलावा नक्षत्रकल्प, आंगिरसकल्प और शान्तिकल्प सूत्र भी इस वेद के सम्बन्धमें हैं, ऐसा सायणाचार्य की इस वेदकी भाष्य की प्रस्तावना परसे मालूम होता है।

इस वेद के उपवेद ५ हैं। उनके नाम सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद हैं (गो. ब्रा. १।१०)। परन्तु भागवत में स्थापत्य-वेद नामक भी अथर्व का उपवेद दिया है। (भा० ३।१२।३८)

इस वेदके अनुयायी ब्राह्मण लोग प्राय: नहीं मिलते । सातारा जिले के कुछ भागों में इस वेदके पढनेवाले ब्राह्मण घराने अबतक थे। परन्तु अब उन्होंने इस वेदका अध्ययन छोड दिया है और सुगमता के लिए ऋग्वेदी हो गए हैं।

इस वेदका चाहे नाम चौथा आता हो, और इसमें गण्डे तावीज, वशीकरण आदि के प्रयोग भी प्रचुरतया मिलते हों, तो भी यह वेद इतर वेदोंकी अपेक्षा पीछे बना हुआ है, यह बात नहीं । इतना ही नहीं, इसमें ऋग्वेद के पूर्वकालीन समाज के अवशेष जमा किए गये होंगे, ऐसा डॉ० केतकर जैसे लोगों का कहना है । परन्तु तत्सम्बन्धी निश्चित विधान यहां करना कठिन है ।

इस वेदमें राष्ट्रिय भावनासे ओतप्रोत एक अतिशय सुन्दर पृथ्वीसूक्त है। उसपरसे तत्कालीन पृथ्वीविषयक कल्पना स्पष्ट होती है। आजकल भी 'वैदिक राष्ट्रगीत' के नामसे उसकी ओर निःसंशय इशारा किया जा सकता है। उसके सिर्फ एक ही मन्त्र को यहां पर नमूने के तौर पर दिया जाता है—

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितं।
संविदानां दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्यां ॥
(अथर्व० १२-१)

अर्थ- हे मातृभूमि ! मुझे सुखसे रहने दे। हे ज्ञानी लोगो ! मेरा तमाम अच्छी बातोंसे सम्बन्ध हो और मुझे यश तथा धन प्राप्त होवे ।

उपसंहार- उपरोक्त वैदिक वाङ्मय के सिंहावलोकन से संहितादि ग्रन्थों में उपासना, कर्म और ज्ञान का प्रतिपादन किया हुआ है ऐसा जान पडता है । संहितायें उपासना के लिए, ब्राह्मण यज्ञकर्म के लिए और उपनिषदें ज्ञानके लिए प्रवृत्त हुई हुई दिखाई देती हैं । आरण्यकों में वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करके अरण्यों में गए हुए मनुष्यों की मनोवृत्तिका दिग्दर्शन है । वृत्तिका प्रवाह तो ज्ञान की ओर ही है, पर कर्म छूटते नहीं ऐसा इनमें विवेचन मिलता है । उपनिषदों में मात्र उच्च दर्जेका शुद्ध तत्त्वज्ञान बताया हुआ है। यही नहीं उसका प्रतिपादन भी अत्यन्त सीधा व सरल है ।

संहिताओं को छोडकर बाकी के ब्राह्मणादि ग्रन्थों का व्यवस्थित अर्थ करने के लिए जैमिनीनें सूत्र रचे हैं, जो कि १२ अध्यायों में हैं। उन्हें पूर्वमीमांसा कहते हैं। वेदस्थ अनेक चमत्कारिक, विसंगत और विरोधी दीखनेवाले वाक्यों का उसने सूक्ष्म रूपसे विचार करके अर्थ बिठलाया और वाक्यार्थ करने का अबाधित सिद्धान्त प्रस्थित किया । उस शास्त्रका आरम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे होता है । उसी पद्धतिपर कृष्णद्वैपायन व्यासने उपनिषद् वाक्यों का समन्वय करनेके लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रसे उत्तरमीमांसा का प्रारम्भ किया है। इस पूर्व और उत्तर मीमांसा के कारण ब्राह्मण और उपनिषदों के अर्थों की व्यवस्था हो गई है ।

परन्तु संहिताओंका मन्त्रभाग सिर्फ यज्ञमें पढने के लिए ही होनेसे उसका अर्थ समझनेके लिए उपरोक्त ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त स्पष्टीकरण, और यास्क के निरुक्त में अर्थ करनेकी दृष्टिसे ग्रथित भाषाशास्त्रके सामान्य सिद्धांत तथा उनके कुछ उदाहरणों के अलावा और कोई मार्ग नहीं ।

निरुक्तमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक और ऐतिहासिक ऐसी ४ पद्धतियोंका निर्देश किया हुआ है । और उन पद्धतियों के अनुसार एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ भी दिखाए हैं। पूर्वकालमें कदाचित् अर्थ करनेवाले ४ पक्ष भी हों। जैसा कि ब्राह्मण आदि ग्रथोंसे ज्ञात होता है ।

अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवताओंके सूक्त ब्रह्मपरक लगाए हुए उपनिषदों में मिलते हैं। परन्तु सायणाचार्यने श्रौतसूत्र तथा ब्राह्मणग्रन्थों के विनियोगानुसार उन्हीं सूक्तोंका अर्थ उस उस देवताको उद्देश्य करके लगाया है । वास्तव में उसी मन्त्रका आधिभौतिक घटना को सामने रखते हुए भी अर्थ लगाया जा सकता है और ऐतिहासिक घटनाओंका संबंध दिखाया जा सकता है। अस्तु ।

सब वेद और वेदांगों के नाम बतलानेवाला एक कोष्टक नीचे दिया है । उस परसे अबतक के तमाम विवेचन का पता पाठकों को एकत्र दृष्टिगोचर हो सकेगा ।

वैदिक धर्मग्रन्थोंका कोष्टक ।

वेद ।	ऋग्वेद ।	कृष्ण यजुर्वेद ।	शुक्ल यजुर्वेद ।	सामवेद ।	अथर्ववेद ।
मूल शाखा ।	२१	८५	१६	१०००	९
उपलब्ध शाखा ।	(१)- शाकल । इसकी संहिता शुद्ध रूपमें उपलब्ध है । (२) वाष्कल- इसकी संहिता उपलब्ध नहीं । कुछ मंत्र ही उपलब्ध हैं ।	१- तैत्तिरीय २- मैत्रायणी ३- कठ ४- कापिष्ठल ५- श्वेताश्वेतर	१- काण्व २- माध्यंदिन (वाजसनेय)	(१) कौथुम (२) राणायनीय इन दोनों शाखाओं की संहितामें उपलब्ध हैं ।	१- पिप्पलाद २- शौनक
ब्राह्मण ।	(१) ऐतरेय ब्राह्मण । (२) कौषितकी ब्राह्मण (सांख्यायन या खाण्डायन)	(१) तैत्तिरीय संहितान्तर्गत ब्राह्मण । (२) तैत्तिरीय ब्राह्मण ।	(१) शतपथब्राह्मण- यह शाखा भेदानुसार भिन्न भिन्न है । काण्व शाखाका १७ कांडका और माध्यंदिन का १४ काण्डका है ।	(१) पंचविंश- (१) प्रौढ या तांड्य ब्राह्मण । (२) षड्विंश, (३) सामविधान, (४) आर्षेय, (५) मंत्र, (६) दैवताध्याय, (७) वंश, (८) संहितोपनिषद् ब्राह्मण, (९) जैमिनीय ब्राह्मण, (१०) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, (११) आर्षेय ब्राह्मण,	(१) गोपथ ब्राह्मण
आरण्यक ।	(१) ऐतरेय आरण्यक । (२) सांख्यायन आरण्यक ।	(१) तैत्तिरीय आरण्यक ।	(१) बृहदारण्यक- (शतपथका अंतिम भाग)	×	×

वेद।	ऋग्वेद।	कृष्ण यजुर्वेद।	शुक्ल यजुर्वेद।	सामवेद।	अथर्ववेद।
उपनिषद्।	(१) ऐतरेय- (ऐतरेय आरण्यक का २।३।६ भाग) (२) कौषितकी- (सांख्यायन आरण्यकका ३ से ६ भाग) (३) वाष्कल। (बाष्कल शाखा-की उपनिषद्)	(१) तैत्तिरीय (तैत्तिरीय आरण्यक भाग ६ से ९) (२) महानारायण (भाग १-७) (३) मैत्रायणी। (४) काठक। (५) श्वेताश्वेतर।	(१) ईशावास्य- (संहिताका ४० वां अध्याय) (२) बृहदारण्यक।	(१) छांदोग्य। (२) केन- (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण का ४।१८।२१ भाग)	(१) प्रश्न, (२) मांडूक्य, (३) मुंडक आदि।
श्रोतसूत्र।	(१) आश्वलायन। (२) सांख्यायन- (अर्थात् कौषितकी)	(१) आपस्तंब। (२)। बौधायन। (३) हिरण्यकेशी। (सत्याषाठ) (४) भारद्वाज। (५) वैखानस। (६) वाघुल। (७) मानव (मैत्रायणी शाखाका)। (८) वाराह।	(१) कात्यायन। (पारस्कर)	(१) खादिर। (२) लाटयायन। (३) द्राह्यायण।	(१) वैतान।
गृह्यसूत्र।	(१) आश्वलायन। (२) सांख्यायन (कौषितकी)	(१) मानव। (२) आपस्तंब। (३) बौधायन। (४) सत्याषाढ। (५) वैखानस। (६) कठ।	(१) कात्यायन। (पारस्कर)	(१) खादिर (२) गोभिल (३) गौतम	(१) कौशिक- (रोगनिवृत्ति और अभिसारके साथ)
धर्मसूत्र।	(१) वसिष्ठ।	(१) आपस्तंब। (२) बौधायन। (३) हिरण्यकेशी।	×	(१) गौतम	×
उपवेद।	(१) आयुर्वेद।	”	(१) धनुर्वेद।	(१) गांधर्ववेद	(१) सर्पवेद। (२) पिशाचवेद। (३) असुरवेद। (४) इतिहासवेद। (५) पुराणवेद। (६) स्थापत्यवेद।

सूचना— धर्मसूत्रोंपर से स्मृतियां बनीं। वेदोच्चारणपद्धति के लिए शिक्षा-ग्रन्थ बने। व्याकरण के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। शिक्षा की तरह प्रातिशाख्य भी प्रत्येक वेदके अलग अलग हैं।

वैदिक व्याकरण।

(ले०- श्री० पं० **तेजोनारायण पाण्डेय**, वेदतीर्थ, काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य, व्याकरणशास्त्री, शास्त्री ऑनर्स ओरिएन्टल कालेज लाहोर, वैय्याकरणकेसरी, तर्कालंकार, आचार्य संस्कृत-वेदविद्यालय, सोंगरा, यू. पी.)

सृष्टि के आदि से आज तक जितनी भाषायें प्रचलित हैं, प्रायः सभी का व्याकरण पाया जाता है। चाहें वह परिष्कृतरूप में न हो तो भी कुछ न कुछ ऐसे नियम जरूर पाये जाते हैं जिनके आधारपर भाषा की अवस्था निर्धारित की जाती है। यदि हम भाषा और व्याकरण का संबन्ध कोई कायम करें तो न्यायशास्त्र के अनुसार समवाय-संबन्ध कहना अत्युक्ति न होगी।

भाषा क्या वस्तु है? यदि यह जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उसे एक प्रकारका शब्द ही कह सकते हैं। शास्त्रकारोंने शब्द दो प्रकार का माना है, एक ध्वन्यात्मक और दूसरा वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शंख भेरी आदि का शब्द कहलाता है। वर्णात्मक मनुष्यों के व्यवहार-योग्य शब्द का नाम है। यह वर्णात्मक शब्द यद्यपि सभी भाषाओं में हैं तथापि इनके स्थान प्रयत्नों का गवेषणापूर्वक विचार वैदिक व्याकरणमें ही किया गया है। शिक्षा में ६३ वर्ण माने गये हैं।

त्रिःषष्ठिः चतुःषष्ठिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥शिक्षा

शिक्षामें मतभेदपूर्वक ६३ या ६४ वर्ण माने गये हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी भाषामें कोई भी वर्ण नहीं पाया जाता है। वे वर्ण स्वयंभु भगवान् महेश्वरने उपदेश किये हैं।

जब हमारी इन्द्रियां अर्थ को साक्षात् करती हैं चाहें प्रत्यक्ष रूपसे अथवा मानसिक रूपसे तब विवक्षा होती है- मन कायमें रहनेवाली अग्नि को प्रेरित करता है और अग्नि वायुको प्रेरित करती है फिर वह वायु हृदयदेशमें चरता हुआ अस्पष्ट स्वर को उत्पन्न करता है। फिर वही वायु शब्दको कण्ठ में लाता है और कण्ठ से मूर्धामें ले जाकर मुख से प्रकट करता है। वेदों में तीन सवन होते है- प्रातःसवन, माध्यंसवन, सायंसवन। इन सवनों का यथाक्रम हृदय कण्ठ और मूर्धासें संबंध माना गया है इसीलियें शिक्षामें लिखा है कि प्रातःकाल हृदयके स्वरसे पाठ करे, यानी हृद्गत वायुपर जोर देकर वेदमंत्रोच्चारण करे।

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन
स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन॥

जैसे शेर घुर्राता है ऐसे गंभीर हृद्गत वायुको प्रेरित करनेवाले स्वर से प्रातःसवन में मन्त्र पाठ करना चाहिये। और मध्याह्न में माध्यंसवन यानी कण्ठ द्वारा और सायंकाल तृतीय सवन मूर्धास्थित वायुद्वारा। प्रातःकाल हृदयस्थ वायुको प्रेरित करनेसे फेफडा शुद्ध हो जाता है। इधर उदर भी खाली होता है, वायुको पर्याप्त स्थान मिलता है जिसमें कि वह अच्छी तरह घूम सके और अनुकूल समय भी रहता है। मध्याह्नमें गरमीके अधिक होने के कारण और भोजनादि द्वारा उदर में स्थानाभावके कण्ठद्वारा उच्चारण करना माना गया है; क्यों कि यदि मध्याह्न में उरःस्थित वायु को अधिक प्रेरित किया जाय तो रोग की संभावना है। इसी प्रकार उष्मा के अत्यधिक होने आदि कारणोंसे सायंकालको केवल उत्तमांगमें ही शब्दोच्चारणका विधान है। अस्तु। प्रस्तुत विषयपर आना चाहियें।

व्याकरण क्या पदार्थ है, इसका भी संक्षिप्त रूपसे वर्णन करना आवश्यक है। 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्' (महाभाष्य प. आ.) जिसके द्वारा शब्दों की व्याकृति की जाय उसका नाम व्याकरण है अर्थात् प्रकृति प्रत्यय विभागकी कल्पना करके शब्द का वास्तविक रूप दिखलाया जा सके जिस के द्वारा, उसी का नाम व्याकरण है। अब वैदिक व्याकरण क्या है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि वेदसंबन्धी व्याकरण वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है। वेद नित्य होनेके कारण उस का व्याकरण भी नित्यही हो सकता है। वेदका आविर्भावक जैसे ईश्वर है उसी प्रकार वैदिक व्याकरण का रचयिता भी महेश्वर को मानना युक्तियुक्त ही है। इसी लियें यह परंपरा भी व्याकरण की ठीक हो जाती है कि आदिमें माहेश्वर व्याकरण था, फिर यथासमय ऋषियोंने वेदको चार भागों में विभक्त देखकर ऋक्प्रातिशाख्य, यजुःप्रातिशाख्य,

आदि वेदों के व्याकरण बनाये। प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ ही यह है जो कि शाखा के प्रति हो यानी एक शाखा का व्याकरण हो- जैसे यजुर्वेद में माध्यंदिन शाखा हम लोगों की है तो उसमें जो व्याकरण आवश्यक है वह यजुःप्रातिशाख्य में मिल जाता है।

यह वेदोंकी शाखाओंका जो इतिहास मिलता है उससे ज्ञात होता है कि श्री वेदव्यासजीने वेदों को शाखारूपमें परिणत कर दिया था।

चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोल्पमेधसः।

मनुष्यों को अल्पमेधा देखकर वेदोंकी शाखायें बनाई गई उन्हीं के जो व्याकरण हैं वेही प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध हुये। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे पहिले वेद एक था वैसे ही माहेश्वर व्याकरण भी एक था, जिसमें कि समस्त वेदोंका व्याकरण था। उसी व्याकरण की वर्णमाला यह है जो कि पाणिनीय व्याकरण के आदिमें चतुर्दश सूत्ररूपा पाई जाती है। इस वर्णमाला की व्याख्या करते हुयें महर्षि पतञ्जलि महाभाष्य में लिखते हैं-

चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेद्राशिः।

जैसे गगनमण्डलको चन्द्र-तारे सुशोभित करते हैं, वैसेही यह वर्णराशि ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानको अलंकृत करती है। अर्थात् इस वर्णराशिमें ही समस्त वाङ्मय ओतप्रोत हैं। इस चतुर्दशसूत्री वर्णमाला को माहेश्वर सूत्रों के नाम से पाणिनीने कहा है। अस्तु। प्रातिशाख्योंके बाद प्रायः उन्हीं ऋषियोंने कई एक लौकिक व्याकरण भी बनायें- बादको और ऋषियोंने लौकिक व्याकरण बनाये-जिनका पता पाणिनीय व्याकरणके सूत्रों द्वारा चलता है। उनमें से कुछ एक ये हैं- शाकटायन भारद्वाज शाकल्य गार्ग्य गालव इत्यादि। इनके साथ जहां जहां मतभेद रहा है उसके दिखानेके लिये इनके नामसें सूत्रोंका निर्माण पाणिनि मुनिने किया है, जैसें 'ऋतो भारद्वाजस्य' इत्यादि। इसी सें पता चलता है कि माहेश्वर व्याकरण और पाणिनीय व्याकरण के बीचमें और भी व्याकरण थें जिनका निर्देश सूत्रोंमें है। परन्तु पाणिनि मुनि बहुत प्रचण्ड बुद्धिके व्यक्ति थें। इन्होंने अपने व्याकरण में सभी व्याकरणोंके समावेश की चेष्टा ही नहीं की बल्कि सफलता भी प्राप्त की है। जो बातें प्रातिशाख्योंमें हैं, उनको ऐसी सरलता और संक्षेपसें दिखाया है, कि जिसें देखकर बुद्धि चकित रह जाती है। प्रातिशाख्योंमें प्रायः बहुतसें शब्दों के लिये बडें बडे सूत्र बनाकर उनमें स्वरोंका निर्णय किया है, पाणिनिनें उनको बहुत संक्षेपमें दिखा दिया है। उदाहरणार्थ, वेद शब्दको ही ले लीजियें-वेदोंमें 'वेद' शब्दके दो अर्थ हैं एक कुश और दूसरा पुस्तक। दोनोंही लिखे एक से जाते हैं पर स्वर लगानेसे भिन्न भिन्न अर्थ के अभिधायक हो जाते हैं। एक अन्तोदात्त और दूसरा आद्युदात्त वेद शब्द है इसके लियें प्रातिशाख्यकारनें दो सूत्रों में इस का उल्लेख किया है। परन्तु पाणिनि मुनिने 'उञ्छादीनां च' 'वृषादीनां च' इन दोनों सूत्रोंके गणोंमें पाठ करकें उस अभिप्रायको सिद्ध कर लिया है। इसी प्रकार प्रातिशाख्यमें और भी बडें बडे सूत्रों द्वारा शब्दोंका परिगणन करकें स्वर-सिद्धि की गई है, उसे पाणिनि मुनिने एक ही सूत्रद्वारा समझा दिया है।

यद्यपि पाणिनि-व्याकरण बहुत उत्तम और संक्षिप्त-रूपसे समझाने के लिये अत्यपयुक्त है तथापि वैदिक व्याकरणों का स्वाध्याय भी परम आवश्यक है। उनमें मन्त्रों के उच्चारण और विशेष रीतियों का भी उल्लेख है जो कि पाणिनीय व्याकरणमें नहीं किया गया है। जैसें पाणिनीय व्याकरण के तीनही स्वर-उदात्त अनुदात्त स्वरित-माने गयें हैं परन्तु प्रातिशाख्योंमें उनकें आवान्तर भेद भी दिखायें हैं जो कि हाथद्वारा सस्वर पाठ करनें के समय अत्युपयुक्त हैं। जैसें जात्य अभिनिहित क्षैप्र प्रश्लिष्ट पादवृत्त भाष्य तैरोव्यंजन तैरोविराम इत्यादि। इसके अतिरिक्त कहाँ (ष) कार को (ख) कार करना चाहियें, कहां अनुनासिक को (ँ) कहना चाहियें, कहां अंगुलि-मोक्षण करना चाहियें, इन सब बातोंका ज्ञान वैदिक व्याकरण द्वारा ही ठीक हो सकता है। वैदिक व्याकरण कें साथ निरुक्त भी आवश्यक है, क्योंकि वैदिक व्याकरण तो केवल सिद्ध शब्दों के विशेष उच्चारण स्वर आदि को ही बताता है। निरुक्त उन शब्दों की यौगिकता किन किन धातुओंसे यह शब्द बना है, इसकी क्या व्युत्पत्ति है, यह सब स्पष्ट कर देता है; अतएव वैदिक व्याकरण के साथ मिलकर निरुक्त वस्तुतत्त्वका अवगमन करा सकता है। वेद के शब्दों की व्याकृति निरुक्ति जाननेकें लिये दोनोंही ग्रन्थ अत्युपयुक्त हैं।

वेदोंकी अन्य धर्मपुस्तकोंसे विशेषता।

(लेखक- प्र० स्ना० धर्मदेवजी, सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति, वैदिक धर्मप्रचारक, बेंगलौर)

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ है कि वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री. पं. सातवलेकरजीने अपने प्रतिष्ठित मासिकपत्र 'वैदिक धर्म' का विशेष 'वेदाङ्क' निकालने का निश्चय किया है, जिसके लिये मुझे भी एक लेख लिखने को उन्होंने कहा है। जिन विषयोंका निर्देश उन्होंने पत्रमें किया है, उनमेंसे एक उपर्युक्त विषय भी है। गत लगभग २० वर्षोंसे 'वैदिक धर्म' और विविध मतोंके तुलनात्मक अनुशीलन में तत्पर होने के कारण मैंने इस लेखके लिये उपर्युक्त विषय को चुना है जो अत्यन्त विस्तृत है। मैं विस्तारभय से केवल कुछ अंशों को ही विचारशील पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयत्न करूंगा।

मैं प्रारम्भमें ही इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि वैदिक धर्म के अतिरिक्त अन्य सब मतों की सारी बातें झूठी वा निस्सार हैं; उनमें कोई अच्छी शिक्षा नहीं पाई जाती, ऐसा हमारा कथन नहीं है। पारशी मत, जैन और बौद्ध मत, ईसाइयत और इस्लाम इन सब के धर्मग्रन्थों में कई उत्तम शिक्षाएं विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ पारसियों के मूल ग्रन्थ जिन्दावस्तामें जिसकी भाषा तथा विचारोंकी वैदिक भाषा तथा विचारोंके साथ बडी आश्चर्यजनक समानता है, पवित्रतापर बहुत बल दिया गया है; जैन और बौद्ध मत-प्रतिपादक ग्रंथोंमें नैतिक जीवनकी उच्चता और अहिंसापर बहुत जोर दिया गया है; बाइबलके उत्तम भाग विशेषतः न्यू टेस्टेमेंट (New Testament) में पायी जानेवाली ईसामसीहकी शिक्षाओं में ईश्वरको सब मनुष्योंका पिता समझने और सबको भाई समझने व प्रेम करने के सिद्धांत पर (Fatherhood of God and brotherhood of man) बडा बल दिया गया है। मुसल्मान भाइयों के कुराण शरीफ में एकेश्वर-पूजा और ईश्वर-विश्वास का अच्छा उपदेश दिया गया है, इस बात से कोई निष्पक्षपात पाठक इन्कार नहीं कर सकता। हमारा कथन केवल इतना है कि ये सब शिक्षाएं उत्तम होते हुए भी नवीन वा मौलिक नहीं हैं। वेदोंमें इन सब शिक्षाओं को शुद्ध स्वरूप में पाया जाता है।

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः ॥ (ऋ. ९-६७-२२)
सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति
कवयो मनीषिणः ॥ (ऋ. ९-७३-७)
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (यजु. ३४।१-६)
पवमानः पुनातु माक्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व ६।१९)
भद्रं नो अभिवातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (यजु.)

इत्यादि सैंकडों मन्त्रों में शारीरिक वाचिक मानसिक सब प्रकार की पवित्रता के लिये कितनी उत्तम प्रार्थनाएं और उपदेश है ?

यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु० १।१)
मा हिंसीः पुरुषं जगत्। (यजु० १६।३)
मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। (यजु. १२।३२)
पशूंस्त्रायेथाम्। (यजु. ६।२१)
द्विपादव चतुष्पात् पाहि। (१४।८)
स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति
गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। (अथर्व० १।३१।४)

इत्यादि मंत्रोंमें अहिंसा-तत्त्वका कितना उत्तम उपदेश किया गया है, इसके विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ॥ (ऋ. ८।८८।११)
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥ (ऋ. ६।१।५)

इत्यादि मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंद्वारा न केवल ईश्वरको सब प्राणियों का पिता अपितु करुणामयी माता भी बताया गया है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥ (ऋ. ५।६०।५) इत्यादि में सब मनुष्योंके भ्रातृत्वका बडी उत्तमतासे प्रतिपादन है।

य एक इत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ (ऋ. ६।१५।१६)
दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव
नमस्यो विक्ष्वीड्यः॥ (अथर्व० २।२।१)
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं
मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १।१६४।४६)
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते स
एष एक एकवृदेक एव॥ (अथर्व० १३।४।२)

इत्यादि मन्त्रों में एकेश्वर-पूजा का स्पष्ट विधान है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्य मतों की सब उत्तम शिक्षाएं वेदोंके अन्दर पायी जाती हैं।

अब मुख्य प्रश्न यह है कि वेदोंकी अन्य धर्म-पुस्तकों से क्या विशेषता है? क्यों हम वैदिक धर्मके ही सार्वभौम होनेका दावा करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर संक्षेप से देना ही इस लेखका मुख्य उद्देश्य है।

(१) सबसे प्रथम विशेषता वेदोंकी अन्य मतों के धर्मग्रंथोंके मुकाबले में यह है कि वेदों में समविकास (Harmonious development) वा सर्वांगीण उन्नतिके तत्वों का जितना उत्तम उपदेश है, वैसा अन्य किसी मत के मूलग्रन्थों में नहीं पाया जाता। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, सामाजिक सब प्रकार की उन्नति के साधनों का वेदोंमें बहुत ही महत्त्व-पूर्ण उत्तम निरूपण किया गया है।

वाङ्म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोरपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्। जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्माऽनिभृष्टः॥ अथर्व १९।६०।१-२
वर्च आधेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम्।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रतिगृह्णामि शतशारदाय॥

इत्यादि मन्त्रों में वाणी, नासिका, आंख, कान, बाहु, जङ्घा, पैर इत्यादि शरीरके सब अवयवों की शक्ति की वृद्धि के लिये प्रार्थनाद्वारा बोध देते हुए 'आत्मा अनिभृष्टः' 'सहः ओजः' इत्यादि शब्दोंद्वारा आत्मिक शक्ति के विकासका प्रतिपादन है।

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ॥ (यजु० १४।१७)
मनस्त आप्यायतां, वाक्त आप्यायतां, प्राणस्त आप्यायतां, चक्षुस्त आप्यायतां, श्रोत्रं त आप्यायताम्॥ (यजु. ६।१५)

इत्यादि में आयु, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्रादि की रक्षा वा शक्तिविकास के साथ साथ मन आत्माकी शक्तियोंकी वृद्धिके लिये प्रार्थना वा उपदेश है। इसी प्रकार—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥
(अथर्व० ६।४१।१)

इत्यादि सैंकडो मन्त्रों को यहां उद्धृत किया जा सकता है, जहां समविकास का बडी सुन्दरता से प्रतिपादन है। इस वैयक्तिक समविकास के अतिरिक्त ऋग्वेद १०।९५, अथर्व ३।३०, ३।३६, काण्ड १४ इत्यादि में गृहस्थोंके पारिवारिक कर्तव्यों का अत्युत्तम उपदेश है, जिनमें—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः
संमनसस्कृणोमि॥ (अथर्व ३।३०)

इत्यादि अत्युत्तम मन्त्र पाये जाते हैं, जहां परिवार के सब लोगों को परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर व्यवहार करना चाहिये इत्यादि बताया गया है। सामाजिक धर्मों और कर्तव्योंका प्रतिपादन ऋग्वेद १०।१९१ के

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

इत्यादि मन्त्रों में बहुत अच्छी तरह किया गया है। जहां मन हृदय वाणी मिलाकर परस्पर सहयोग का उपदेश

है। राष्ट्रीय कर्तव्यों का अत्युत्तम प्रतिपादन वेदोंके अन्य सूक्तों के अतिरिक्त अथर्व० काण्ड १२ में विशेष रूपसे है जिसे 'पृथिवी-सूक्त' के नाम से कहा जाता है और जिसे 'वैदिक राष्ट्रीय गीत' के नाम से भी पुकारा जा सकता है। इस सूक्त के

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ (मं. १) ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ (मं. ५६) उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ (मं. ६२)

इत्यादि मन्त्रोंमें ग्राम अरण्य सभा समिति कहीं भी रहते और कोई भी कार्य करते हुए मातृभूमि के हितके विचार को मन में रखने और उसके लिये प्राणोंतक की आहुति देनेके लिये तय्यार रहने तथा सत्य, विस्तृत ज्ञान, तप, स्वार्थत्याग, ब्रह्मचर्यादि को जो वस्तुतः राष्ट्रीय उन्नति के मूल साधन हैं, अपने अन्दर धारण करने का उपदेश है। हमारा यह दावा है कि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय कर्तव्यों का इतना उत्तम समन्वयात्मक उपदेश अन्य किसी भी धर्मपुस्तक में नहीं पाया जाता, यद्यपि उनमें भी स्थान स्थानपर कई अच्छे नैतिक उपदेश आवश्यक पाये जाते हैं।

(२) वेदों की दूसरी विशेषता अन्य मतों के धर्मग्रन्थों से यह है कि इस में कोई बात तर्क प्रकृतिनियम और विज्ञान के विरुद्ध नहीं है। यह प्रायः माना जाता है कि श्रद्धा और तर्क परस्परविरोधी हैं। पौराणिक मत, ईसाई मत, इस्लाम आदि में विश्वास (Faith) या इमान पर अत्यधिक बल देते हुए तर्क को ताक में धर दिया जाता है। 'मजहब की बातों में अक्ल का दखल नहीं' यह उक्ति मुसल्मान मौलवियों में सुप्रसिद्ध है, जिसका भाव यह है कि मत वा विश्वास की बातों में तर्क-बुद्धि का प्रवेश न होना चाहिये। यही कारण है कि इन मतों में सैंकडों बुद्धि के विरुद्ध सिद्धान्त (Dogmas) हैं जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। मरियम कुमारी से ईसा की उत्पत्ति, ईसा का चार रोटियों से हजारों का पेटभर देना, मुर्दोंको जिलाना, अन्धों को आंखें देना, ३ दिन बाद कबर में से निकल कर आकाशमें चढ जाना, पवित्र पिता (Holy father, Holy Ghost) वा पवित्रात्मा और पवित्रपुत्र (Holy Son) इस Trinity वा त्रयीका पृथक् होते हुए भी एक होना, स्वर्गप्राप्तिके लिये ईसामें विश्वास की अनिवार्यता आदि सैंकडों बातोंको बाइबल कुरान इत्यादि से प्रस्तुत किया जा सकता है, जो तर्क और प्रकृति-नियमों के सर्वथा विरुद्ध हैं। ईसाइयतके इतिहास पढनेसे पता लगता है कि जिन महानुभावोंने कभी तर्क का उपयोग करके ईसाइयत के सिद्धांतों पर सन्देह प्रकट किया उनपर मताचार्यों की ओर से बडे अत्याचार किये गये जिनका विस्तृत उल्लेख 'The History of the conflict between Science & Religion' नामक ग्रन्थ में मि. विलियम ड्रेपर, M.A.,LL.D. ने किया है। यहां ३-४ स्पष्ट उदाहरणों का उल्लेख ही पर्याप्त है।

(क) एरियस् नामक अलैक्झांड्रियाके दार्शनिक पर इस विचार के प्रकट करनेपर कि ' पिता और पुत्रकी आयु समान नहीं हो सकती' । (जिसका निर्देश ईसामसीह और पवित्र पिता वा Holy Father की ओर था) ईसाइयोंकी कौंसिल (Council of Nicea) की तरफ से बहुत अत्याचार किये गये और उसके इस विचारकी घोर निंदा की गई।

(ख) युनान देशकी अपने समयकी प्रसिद्ध दार्शनिक महिला हिपेशियाको जो आफलातून (Plato) और अरस्तू (Aristotle) के सिद्धान्तों का प्रचार करती थी, बिशप् साइरिल् (Cyril) की आज्ञा से बिल्कुल नंगा कर दिया गया और खुले बाजार में पत्थरों की मार से उसकी जान निकाल दी गई।

(ग) पैलेगियस् नामक एक अन्य युनान देशीय दार्शनिक को इस विचार के प्रकट करने पर कि जगत् में मृत्यु आदमके पाप का फलरूप नहीं हो सकती (जैसे कि Original Sign के सिद्धान्त को मानते हुए ईसाई लोग कहते हैं) सेन्ट ऑगस्टाइन् की प्रेरणासे उस समय के ईसाई सम्राट् ने देश निकाला दे दिया और उसकी सारी सम्पत्ति को जब्त कर लिया।

(ग) नेस्टर् नामक ऐन्टियौक् (Antioch) के बिशप् वा पादरी को यह युक्तियुक्त विचार प्रकट करनेपर कि 'ईश्वरकी कोई माता नहीं हो सकती ' (जिस का निर्देश ईसामसीहको ईश्वर मानते हुए उसकी माता मरियम् को मान ने के ईसाई सिद्धान्तपर था) देश निकाला दे दिया गया !

विस्तारभय से हम अन्य ऐसे ऐतिहासिक दृष्टान्तोंका उल्लेख यहां नहीं कर सकते जिनसे ईसाइयत का तर्क से विरोध और तार्किकोंपर घोर अत्याचार नग्नरूप में हमारे सामने आ जाता है। ऐसे ही उदाहरण इस्लाम-प्रचार के इतिहास से भी दिये जा सकते हैं। ईसाइयतका विज्ञान के साथ भी घोर विरोध रहा है और इसलिये ईसाई मताचार्योंकी ओरसे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक शिरोमणियोंपर अमानुषिक अत्याचार किये जाते रहे हैं जिनका वृत्तान्त पढकर भी सत्यप्रेमियोंकी आंखें लाल हुए बिना नहीं रह सकतीं। केवल २-३ उदाहरण देना ही विस्तारभय से यहां पर्याप्त होगा।

(क) गैलीलियो नामक अपने समय के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक को इस बातका प्रचार करनेपर कि पृथिवी गोल है और वह सूर्य के चारों ओर घूमती है (जिस वैज्ञानिक सिद्धान्तको अब स्कूल में पढनेवाला एक छोटा बच्चा भी जानता है) पोपकी अध्यक्षता में (जिसे निर्भ्रान्त माना जाता है) ईसाइयोंकी धर्मनिर्णायक सभा (वा Inquisition Court) ने १० वर्ष की जेलकी सजा दी और यह निर्णय (Judgment) इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रकाशित किया।

"The first proposition that the Sun is the centre and does not revolve around the earth is foolish, absurd, false theology and heretical because expressly contrary to the 'Holy Scriptures.' And the second proposition that the earth is not the centre, but revolves about the Sun is absurd, false in philosophy and from a theological point of view at least opposed to the true faith."

इस निर्णय का अर्थ यह है कि गैलोलियोद्वारा प्रतिपादित यह विचार कि सूर्य केन्द्र है और पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता केवल मूर्खतापूर्ण, वाहियात, मत-सिद्धान्त की दृष्टिसे बिलकुल झूठा है क्योंकि यह हमारे धर्मग्रन्थ बाइबलकी शिक्षा के सर्वथा स्पष्ट विरुद्ध है। उसका दूसरा विचार कि पृथिवी लोकोंका केन्द्र नहीं बल्कि वह सूर्यके चारों ओर प्रदक्षिणा करती है-वाहियात, तत्त्वविज्ञान में असत्य और कमसे कम सच्चे विश्वास (ईसाई मतके सिद्धान्त) के सर्वथा विरुद्ध है।

कौपर्निकस् नामक वैज्ञानिक ने भी गैलीलियोके समान भूमिके गोल होने और सूर्यकी प्रदक्षिणा करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिस पर उसकी घोर निन्दा करते हुए और गालीगलौच तक का प्रयोग करते हुए सुप्रसिद्ध ईसाई सुधारक मार्टिन् लूथर ने लिखा था-

This fool wishes to reverse the entire science of Astronomy; but Sacred Scriptures tell us that God commanded the Sun to stand still and not the earth.

अर्थात् यह पागल सारी ज्योतिष्‌विद्या में ही परिवर्तन करना चाहता है, किन्तु हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ (बाइबल) में बताया गया है कि ईश्वर ने सूर्यको खडा होनेका आदेश किया न कि पृथिवी को।

वस्तुतः इस से लूथर जैसे ईसाइयोंकी ज्योतिष्‌विद्या से अनभिज्ञता और साथ ही बाइबल की विज्ञानविरुद्धता सिद्ध होती है और कुछ नहीं।

(ख) ब्रूनो नामक एक इटली के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-शिरोमणि को जो पक्का आस्तिक था इस वैज्ञानिक सिद्धान्तका प्रचार करनेपर कि पृथिवी गोल है और वह सूर्य के चारों ओर घूमती है तथा-अनेक लोक हैं (Plurality of the worlds) कईवार जेल में डालने के पश्चात् १६ फर्वरी सन १६०० में ईसाई गुरुओं-की आज्ञा से जला डाला गया।

ऐसे ही अन्य सैंकडों निरपराध वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के रुधिर से ईसाइयतके इतिहासके पृष्ठ रञ्जित हैं जिन

सबका उल्लेख विस्तारभय से यहां करना असंभव है। इस विषयको विस्तारपूर्वक जो जानना चाहते हैं उन्हें विलियम ड्रेपरकृत उपर्युक्त ग्रन्थ (The history of the conflict between Religion and Science) अवश्य पढना चाहिये।

यह हर्ष की बात है कि इस समय के अनेक सुप्रसिद्ध ईसाई-विचारक बाइबलकी इन विज्ञानविरुद्ध बातों को मानने से साफ इन्कार करने लगे हैं। उदाहरणके तौर पर बर्मिंघम के बिशप डा० बार्न्स ने 'Science & Religion-A symposium' इस नाम से प्रकाशित संग्रहग्रन्थ में धर्म और विज्ञान के विरोध के विषयपर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कहा है—

'Now before I speak of such possibility of conflict, I wish to make it quite clear that many beliefs, associated with religious faith in the past, must be abandoned. They have had to meet the direct challenge of science; and I believe it is true to say that in every such direct battle science has been the victor.'

'Let me give definite instances. First, the earth is not the fixed centre of the universe; secondly man was not specially created; thirdly no priest by ritual or formula can attain spiritual properties to inanimate matter. Fourthly, if by miracles we mean large scale breaches in the uniformity of nature, such miracles do not occur in human experience. Here are four typical results of scientific investigation which at length all must accept.'

(Sciene & religion-A symposium p. 57)

अत्यंत महत्वपूर्ण होनेके कारण यह लम्बा उद्धरण यहां दिया गया है, जिसका भावार्थ यह है- 'मैं इस बातको स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि भूतकाल में धर्म के साथ सम्बद्ध कोई विश्वासों को अब अवश्य ही छोड देना चाहिये। उन विश्वासों को विज्ञान की तरफ से खुला चैलेंज मिला और मेरे विचार में यह कहना सर्वथा सत्य है कि ऐसे प्रत्येक युद्धमें विजय विज्ञानको मिली। इसके मैं कुछ स्पष्ट उदाहरण देना उचित समझता हूं। (१) भूमि जगत्का स्थिर केंद्र नहीं है (यह विज्ञानका सिद्धांत है जब कि ईसाई धर्मपुस्तक के अनुसार वह स्थिर केंद्र है और वह सूर्य के चारों ओर नहीं घूमती)।

(२) मनुष्य को विशेष रूपसे ईश्वर ने नहीं बनाया। यह निर्देश विकासवाद की ओर है जिसके अनुसार बंदरोंसे विकास होते होते मनुष्य बना। (३) कोई भी पुरोहित किसी भी विधि से अचेतन प्रकृति के अंदर आत्मिक गुणोंको उत्पन्न नहीं कर सकता। (४) यदि चमत्कारों से मतलब प्रकृति-नियम-भंग से है, जैसे कि ईसाई मानते हैं, तो ऐसे चमत्कार मानवीय अनुभव में नहीं आते अर्थात् वे सत्य नहीं हैं। ये वैज्ञानिक अनुसंधानके चार दृढ परिणाम हैं जिन्हें अन्त में सबको अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये।'

इनमें से दूसरा उदाहरण जो विकासवाद को सर्वथा प्रामाणिक मानकर दिया गया है, स्वयं वैज्ञानिक जगत् के अंदर अब विवादास्पद बना हुआ है और बडे बडे वैज्ञानिकों ने 'Evolution- Fact or Faction' by Major E. C. Wren' इत्यादि पुस्तकें वैज्ञानिक दृष्टि से विकासवाद के खण्डनमें लिखी हैं किंतु बाकी तीन सिद्धांत तो इस समय वैज्ञानिक जगत्में सर्वसंमत हैं जिनकी सत्यता में संदेह का कोई कारण नहीं।

विज्ञान के अनुसार सृष्टि के बनने में लाखों वर्ष लगे जब कि बाइबल के 'Geneis' के अनुसार ईश्वरने ६ दिनोंमें सृष्टि बना कर सातवें दिन आराम किया। इस का निर्देश करते हुए बर्मिंघम के बिशप डा. बार्न्स ने सितम्बर १९३४में की गई 'Modern Churchmen Congress, Birmingham' में व्याख्यान देते हुए कहा—

'The first chapter of Genesis obviously cannot be harmonised with the scientific conclusions which naturally all English children now learn as a part of their education. Our modern outlook has created a back-ground of thought against which we cannot maintain the traditional belief in the infallibility of Scriptures.'

(Quoted here from the 'Hindu' of the 17 th Sep. 1934)

भावार्थ यह कि Genesis अथवा बाइबल के उत्पत्ति-प्रकरण के प्रथम अध्याय की, वैज्ञानिक परिणामों के साथ जो स्वाभाविक तौरपर सब अंग्रेज बालकों को स्कूलों में पढाये जाते हैं, संगति नहीं लगाई जा सकती। हम धर्म-ग्रन्थ बाइबल की निर्भ्रान्तता के सिद्धांत को अब स्वीकार नहीं कर सकते। इसी विचारका समर्थन उस आधुनिक ईसाई पादरी कांग्रेस के सभापति प्रो. बेथून बेकर (Bethune Baker) ने, जो कैंब्रिज में Divinity अथवा दिव्य विद्या वा ईसाइयत के प्रोफेसर हैं, स्पष्ट शब्दों में करते हुए कहा—

'Though in the past, the Church has treated all the New Testament as literally true, we cannot do so to-day. We know, it did not really happen always quite like that.'

जिसका भाव यह है कि यद्यपि भूतकाल में ईसाई गिर्जाघरोंमें सारी न्यूटेस्टेमेंट को शब्दशः सत्य माना जाता रहा है, आज हम वैसा नहीं मान सकते। हम जानते हैं कि वस्तुतः (ईसाकी उत्पत्ति, उसके पुनरुत्थान वा Resurrection का वृत्तांत आदि) ये बातें ठीक उस रूपमें नहीं हुईं जिस रूपमें बाइबल में वर्णित हैं।

यह लेख इतना लम्बा हो गया है कि मुझे इस विषयक अधिक उद्धरण देते हुए बडा ही संकोच होता है, किंतु इस विषयक एक और उद्धरण देनेके प्रलोभन से मैं अपने को नहीं बचा सकता जिससे ज्ञात होगा कि आज कल के अत्युच्च कोटिके प्रसिद्ध विचारक ईसाइयत के विषय में क्या विचार रखते हैं।

सुप्रसिद्ध आयरिश विचारक बर्नार्ड शा ने 'The adventures of the black girl in her search for God नामक नाटककी भूमिका में ईसाइयत इस्लाम आदिपर बडी गम्भीरता से अपने विचार प्रकट किये हैं। बाइबल की सायन्स और शिक्षाओं के विषयमें उन्हों ने बडे मनोरंजक रूप में कहा है—

Its notions of the starry universe are childish; its history is legendary .. It is the Bible-educated human who is now the ignoramus. If you doubt it, try to pass an examination in any practical employment by giving Bible answers to the examiner's question. You will be fortunate if you are merely plucked and not certified as a lunatic. Throughout the whole range of science, which the Bible was formerly supposed to cover with an infallible authority, it is now hopelessly superseded. (p. 68)

अर्थात् बाइबलकी आकाशविषयक कल्पना बिल्कुल बच्चों जैसी मूर्खतापूर्ण है। इस में दिया इतिहास भी यथार्थ नहीं, कल्पोलकल्पित है। अब जो बायबल-शिक्षित व्यक्ति है जिसे अज्ञानी कहा जा सकता है। यदि तुम्हें इस में सन्देह हो तो किसी क्रियात्मक नौकरी के लिये परीक्षा बाइबल के अनुसार उत्तर देकर पास होने का प्रयत्न करो। तुम्हारा बडा सौभाग्य होगा यदि तुम्हें केवल परीक्षा में फेल कर दिया जाए और पागल होने का प्रमाणपत्र न दिया जाय। विज्ञान के सारे क्षेत्रमें, जहां कभी बाइबल को ही निर्भ्रान्त प्रमाण माना जाता था अब यह (बाइबल) सर्वथा अप्रामाणिक तथा असत्य मानी जाती है।

यही बात कुरान आदि के विषयमें भी उदाहरणों सहित सिद्ध की जा सकती है किन्तु विस्तारभय से यहां हम ऐसा नहीं करना चाहते।

इतनी विवेचना के पश्चात् जब हम वेदों की ओर दृष्टि-पात करते हैं तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों की शिक्षाओं का तर्क तथा विज्ञानसे किसी प्रकार का विरोध नहीं। जहां अन्य अनेक मतग्रन्थ धर्म के विषय में तर्क को सर्वथा काम में न लाने की शिक्षा देते हैं वहां वेदों में श्रद्धा के साथ साथ 'मेधा' की प्रार्थना है, जिस का अर्थ शुद्ध तर्कशक्ति वा सत्यासत्य-विवेचनी बुद्धि है।

इस विषयमें-

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥'
'मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसावेशयामहे॥'
'अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु॥'
(अथर्व० १९।६४।१)

इत्यादि मन्त्र विशेष रूपसे द्रष्टव्य हैं जहां 'श्रद्धा और मेधा' अथवा विश्वास और तर्क के समन्वय का उपदेश किया गया है और दोनों को दिनरात बढाने की प्रार्थना की गई है। इस उत्तम तत्त्वका-

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्॥
(अथर्व० २०।२।२६)

इस काव्यमय भाषा में भी वेद उपदेश करते हैं जिस में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष अपने मस्तिष्क और हृदय को सी कर कार्य करता है। मस्तिष्क, तर्क और हृदय श्रद्धा का वासस्थान है, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं। यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वेद-भगवान् श्रद्धा का उपदेश देते हुए अन्ध विश्वास का सर्वथा समर्थन नहीं करते। 'श्रद्धा' के मूल शब्दार्थ का विचार करने से यह बात साफ तौर पर जानी जा सकती है। श्रत्+धा = श्रद्धा; श्रत् का अर्थ सत्य है, अतः श्रद्धा का अर्थ श्रत् अर्थात् सत्यको दृढ रूप से धारण करना है, जिस सत्य के ज्ञान के लिये तर्क का प्रयोग भी आवश्यक है। इस प्रकार श्रद्धा और तर्क का वैदिक धर्म में कोई विरोध नहीं। यही कारण है कि सब दर्शन-शास्त्र-

मन्त्रप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।
(न्यायदर्शन)

शास्त्रयोनित्वात्। (वेदान्त)

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। (वैशे० १।१।३)
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥ (मीमांसा)

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥
(योग० १।१।२६)

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥
(सांख्य ५।५१)

एक स्वर से वेदों को निर्भ्रान्त ज्ञानप्रतिपादक स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं कि वेदों की शिक्षाओं का विज्ञान से कोई विरोध नहीं बल्कि विज्ञान का भी मूल वेद है इस बात को मन्वादि प्राचीन ऋषिमुनियों की साक्षी के अतिरिक्त वर्तमान युग के महर्षि दयानन्द-सरस्वती, श्री प० सत्यव्रत सामाश्रमी, श्रीयुत पावगी, योगिवर श्रीयुत अरविन्द घोष, श्रीयुत परमशिव ऐय्यर इत्यादि सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् ही नहीं बल्कि मि० ब्रॉन, मि० जैकोलियट्, मिसेज व्हीलर् विल्कौक्स, प्रो० मैक्समूलर आदि पाश्चात्य धुरन्धर विद्वान् भी मानते हैं। वेदोंके विज्ञानतत्त्वप्रतिपादक मन्त्रों को लेख-विस्तार-भय से न उद्धृत करते हुए दो तीन पाश्चात्य विद्वानों की इस विषयक साक्षी को यहां उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है, जिनपर कोई भी पक्षपात का दोष नहीं लगा सकता।

इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान् मि० ब्रॉन (W. D. Brown) The superiority of the Vedic Religion नामक ग्रन्थ में वैदिक धर्म के विषयमें लिखा है-

'It recognises but one God. It is thoroughly a scientific religion where

religion and science meet hand in hand. Here theology is based upon science and philosophy.'

जिसका भावार्थ यह है कि वैदिक धर्म एकेश्वरवादी है । यह एक सम्पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहां धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाते हैं । इसके सिद्धांत विज्ञान और तत्वज्ञान पर आश्रित हैं ।

मि० जैकोलियट नामक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान्ने अपने The Bible in India नामक ग्रंथ में अनेक मतों की सृष्ट्युत्पत्तिविषयक कल्पनाओं का उल्लेख कर के वैदिक विचार के बारे में निम्न उद्गार निकाला है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

जिसका भावार्थ यह है कि यह एक बडी ही आश्चर्यजनक बात है । ईश्वरीय धर्मग्रंथों में से केवल वेद है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान के साथ संपूर्णतया संगत हैं; क्योंकि उस (वेद) में भी विज्ञान के अनुसार जगत् की क्रमिक रचना का प्रतिपादन है । मिसेज ह्वीली विलौक्स (Mrs. Wheeler Willox) नाम्नी सुप्रसिद्ध अमेरिकन विदुषीने लिखा–

'We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a pefrect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seemes to be known to the sires who found the Vedas.'

अर्थात् हम सब ने प्राचीन भारतीय धर्म के विषयमें सुना और पढा है । भारत उन अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदों की भूमि है, जिनके अन्दर न केवल पूर्ण आदर्श जीवन के लिये धार्मिक तत्वों का निरूपण है, बल्कि उन सच्चाइयों का भी निर्देश है जिन को सारे विज्ञानशास्त्र ने सत्य-प्रमाणित किया है । वैदिक ऋषियों को विद्युत्, रेडियम्, ऐलक्ट्रान्स, हवाई जहाज इत्यादि सब बातों का ज्ञान था ऐसा प्रतीत होता है ।

लेख बहुत लम्बा हो गया है, इस लिये इस से अधिक लिखना उचित नहीं प्रतीत होता । इतने से ही विचारशील पाठक वेदों की अन्य बाइबल आदि धर्मग्रन्थों से विशेषता को भली भ्रान्ति समझ सकते हैं । शेष फिर कभी ।

क्या वेदोंमें इतिहास है ?

(लेखक- स्व० पं० रघुनन्दन शर्माजी)

(' वैदिक सम्पत्ति ' से उद्धृत)

वेदों में वेदों का वर्णन।

चारों वेदों में ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद का वर्णन आता है, तो क्या इन वेदों के पहले और कोई चार वेद थे ? जिस ऋग्वेद में ऋग्वेद का वर्णन आता है, क्या वह वर्णित ऋक् कोई अन्य था ? यदि कल्पना करें कि हाँ, कोई अन्य ऋग्वेद था, तो इस प्रचलित ऋग्वेद का नाम कुछ और होना चाहिए था, पर वैसा नहीं है। यही ऋग्वेद अपने से पूर्व ऋग्वेद का वर्णन करता है। वह पूर्व ऋग्वेद और कुछ नहीं है, वह यही वर्तमान ऋग्वेद ही है। इस तरह से भूत और वर्तमान दोनों काल में एक ही वेद अव्याहत गति से चले आ रहे हैं। जिस प्रकार वर्तमान ऋग्वेद में ऋग्वेद ही का वर्णन आ जाने से यह वर्तमान ऋग्वेद उस वर्णित ऋग्वेद से नवीन सिद्ध नहीं होता, इसी तरह अब तक कहे हुए समस्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आ जाने से वेद उनके पश्चात् के बने हुए सिद्ध नहीं होते।

वेदों की यह विचित्र शैली है, जो बड़े मार्मिक ढंग से भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थों का वर्णन एक ही रीति से करती है। इसका कारण वेदों की नित्यता है। नित्य पदार्थ, नित्य और अनित्य पदार्थों को एक समान ही अनुभव करता है। तद्वत् नित्यसिद्ध वेद भी नित्य और अनित्य पदार्थों का वर्णन एक ही समान करते हैं।

वेदों में अन्य ऐतिहासिक वर्णन।

वेदों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें इन्द्र और वृत्र के युद्ध, विवाह के नियम यज्ञ के विधान, वर्णाश्रम, सदाचार आदि की शिक्षा का वर्णन है। ये सब मनुष्य-समाज के व्यवहार हैं। इन व्यवहारों से ज्ञात होता है कि वेद तब लिखे गए, जब इस प्रकार के व्यवहार आर्यों में प्रचलित होकर बद्धमूल हो चुके थे। ऐसी दशामें सम्भव नहीं है कि वेदों में ऐतिहासिक वर्णन न हो। व्यक्ति-विशेष का वर्णन भले न हो, पर सामूहिक रीति से समाज के व्यवहारों का वर्णन तो है ही। इस शङ्का के समाधान में निवेदन है कि हम कब इनकार करते हैं कि वेदों में समाज के व्यवहारों का वर्णन नहीं है ? सामाजिक व्यवहारों के लिये तो वेदों का प्रादुर्भाव ही हुआ है। सामाजिक व्यवहारों का वर्णन यदि उनमें न हो- यदि वेदों में समाज को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, न बतलाया गया हो- तो फिर संसार में उनका उपयोग ही क्या? किन्तु इस व्यावहारिक वर्णन से यह नहीं निकल सकता कि वेद व्यवहार के बाद बने अर्थात् जब विवाह हो चुके थे, तब विवाह का ज्ञान हुआ और जब युद्ध हो चुके थे तब युद्ध की शिक्षा आरम्भ हुई। प्रश्न तो यह है कि जब शादी का प्रचार ही नहीं था, तो पहली शादी हुई कैसे ? जब युद्ध जैसी वस्तु का ज्ञान ही नहीं था, तो युद्ध हुआ कैसे ?

कोई भी सामाजिक व्यवहार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जब से यह व्यवहार हुआ तभी से इसका अस्तित्व है, इसके पहले से नहीं। इस विषय को ज़रा खुलासा रीति से समझना चाहिए।

कल्पना करो कि संसार में सबसे प्रथम आज एक विवाह हुआ। किन्तु सवाल यह है कि उसी वक्त विवाह शब्द कहाँ से आ गया, जो इस पहलेपहल आज ही आरम्भ होनेवाले विवाह के लिये प्रकट किया गया? बात तो असल यह है कि विवाह तब से है जब से

विवाह शब्द का अस्तित्व है— युद्ध तब से है जब से युद्ध शब्द का अस्तित्व है, इत्यादि ।

इसके आगे हम वेद में आए हुए ऐसे अनेक शब्दों का विवेचन करनेवाले हैं, जिन शब्दों का व्यवहार लोक में राजाओं, ऋषियों और नदियों आदि के नामों के लिये होता है। पर सोचना चाहिए कि उस राजाओं, ऋषि, नदी, ग्राम तथा देश के पूर्व वे वे शब्द मौजूद थे या नहीं। राजा पुरूरवा और राजा इक्ष्वाकु के नाम रखते समय ये शब्द मौजूद थे । गङ्गा और यमुना के नाम रखते समय ये गङ्गा, यमुना शब्द मौजूद थे । विश्वामित्र, जमदग्नि के नाम रखते समय ये शब्द मौजूद थे। काम्पील, अयोध्या आदि नाम रखते समय ये नाम मौजूद थे और व्रज, अर्व तथा गान्धार आदि नाम रखने के समय भी ये नाम मौजूद थे । यदि मौजूद न होते तो ये नाम न रक्खे जाते। इसलिए हमें अब यह स्वीकार करना चाहिये कि जिस समय नाम रक्खे गये, उस समय के पूर्व ये शब्द उन राजाओं, ऋषियों, नदियों, ग्रामों और देशों को सूचित करनेवाले न थे। न उस समय पुरूरवा शब्द से चन्द्रवंशी पुरूरवा का बोध होता था और न गङ्गा शब्द से इस हरद्वारवाली गङ्गा का ही बोध होता था। उस समय इन शब्दों का कुछ दूसरा ही अर्थ था। इन शब्दों का उस समय जो अर्थ था, वही इनका असली अर्थ है। उसी को धात्वर्थ कहते हैं। पीछे से जहाँ जहाँ उस उस अर्थ के से लक्षण दिखलाई पड़े, उन उन नवीन पदार्थों के भी वही नाम रख दिये गये।

अभी भी तो यही होता है । जब हम अपने लड़के या अपने अन्य किसी पदार्थ का नाम रखना चाहते हैं, तो हमारे पास पहले से ही हज़ारों नाम मौजूद मिलते हैं और उन्हीं में से चुनकर हम कोई नाम रख देते हैं।

इस तरह से किसी शब्द को देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि यह शब्द अमुक व्यवहार के बाद बना। प्रत्युत यह समझना चाहिये कि प्रत्येक शब्द व्यवहार से पहले का है। वह शब्द तब का है जब उस व्यवहार का संसार में पहलेपहल जन्म हुआ था। अर्थात् नाम तब का है जब का पदार्थ है, क्योंकि संज्ञा और पदार्थ की उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

जिस समय मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय भी मनुष्य को छोड़कर शेष समस्त संसार वर्तमान था। पशु, पक्षी, तृण, पल्लव, नदी, पहाड़, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ और आकाश तथा लाखों तारे मौजूद थे। इनके व्यवहार भी मौजूद थे। वृष्टि का समुद्र और समुद्र की वृष्टि का व्यवहार उस समय भी जारी था। उस समय में भी सूर्य की प्रदक्षिणा पृथ्वी करती थी । रात को सूर्य छिप जाता था और दिन को निकल आता था। सरदी में धूप कोमल और गर्मी में धूप तीक्ष्ण होती थी। सूर्य और चन्द्र की किरणें उस समय भी पानी खींचती थीं और वनस्पति को आप्यायित करतीं थीं। कहने का मतलब यह कि लेना, देना, घूमना, बरसना, सूखना और तेज़, नरम आदि सभी कर्म और गुण मौजूद थे। अर्थात् द्रव्य के साथ गुण और कर्मों का नित्य सम्बन्ध होने से जहाँ जहाँ उस प्रकार का लक्षण दृष्टिगोचर आ जाता था, वहाँ वहाँ उन लक्षणों से वह वह संज्ञा आप ही आप उत्पन्न हो जाती थी।

सृष्टि के यही लाखों पदार्थ अपने अपने गुणों और क्रियाओं से अपनी संज्ञा अर्थात् अपना नाम आप ही आप चुनकर पुकारने लगते हैं और आज हम इन्हीं सब पदार्थों के व्यवहारों से उत्पन्न हुये लाखों शब्द बोलते हैं।

यह मनुष्य बड़ा गम्भीर है। इस वाक्य में 'बड़ा' और 'गम्भीर' ये दोनों शब्द कहाँ से आये? 'गम्भीर' नदी, कुवाँ और समुद्र की गहराई से आया और 'बड़ा' पृथिवी अथवा पहाड़ या कम से कम ताड़ के वृक्ष से आया। अच्छा ! 'प्रफुल्लित' शब्द कहाँ से आया ? क्या यह शब्द निस्सन्देह फूलों के ऊपर से ही नहीं लिया गया? यदि हाँ, तो 'मन प्रफुल्लित' वाक्य, क्या बिलकुल ही मनुष्य-समाज के बाहर का नहीं है ? अवश्य है।

उसका स्वभाव बड़ा 'उग्र' है। वह लड़का बड़ा 'तेजस्वी' है। क्या यह 'उग्र' धूप से और 'तेज' सूर्य से नहीं लिया गया ? उसकी बात मन में 'चुभ' गई। यह 'चुभना' क्या काँटों पर से नहीं लिया गया ? मेरे होश 'उड़ गये'। यह 'उड़ना' तो चिड़ियों के ऊपर से ही लिया गया है। कर्म का क्या फल है ? यह 'फल' तो बिलकुल ही वृक्ष से लिया गया है। कहने

का मतलब यह कि आधे से अधिक शब्द हम अब भी बाहरी दुनिया के ही वर्तते हैं, जिनका मनुष्य-समाज से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह हमें सोचना चाहिये कि हमारी भाषा के अन्दर हज़ारों शब्द हमारे पास बाहरी संसार से ही आये हैं। 'उज्ज्वल' शब्द निस्सन्देह धूप, दूध अथवा चाँदनी से आया है। रक्त को तो अब तक लाल रङ्ग का ही वाचक बोलते हैं। जब यह हाल है, तब कैसे कह सकते हैं कि वेदमें जो व्यावहारिक शब्द आते हैं, वे हमारे सामाजिक व्यवहार के बाद के हैं?

हम पहिले लिख आये हैं कि वेद का आकाश भी एक पृथक् संसार है। वहाँ भी राजा, प्रजा, आर्य, दस्यु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ग्राम, नगर, गली, लेना, देना, युद्ध, विग्रह, गाय, घोड़ा, बैल, भैंस, बकरी, कुत्ता, नाव, शकट, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी कुछ हैं। वहाँ स्त्री पुरुष भी हैं। उनका परिणय भी है। इस तरहसे हम जो कुछ सामाजिक व्यवहार यहाँ देखते हैं, वह सब का सब (अपने निराले ढंग का) ऊपरभी मौजूद है।

इसी तरह का एक दूसरा संसार हमारा शरीर है। यहाँ भी उपर्युक्त सब चीज़ें हैं और वेदों में कही गई हैं।

तीसरा संसार पृथिवीस्थ पदार्थों का है। इन तीन प्रकार के संसारों का वर्णन वेदों में है। पहिला संसार सबसे बड़ा, दूसरा सबसे छोटा और तीसरा मध्य में मध्यम श्रेणी का है। पहिले के अनुसार दूसरे को बनाना और तीसरे की मदद लेना यही वैदिक विज्ञान है।

पहिले संसार ने सरदी और गर्मी पैदा की। दूसरे संसार को तकलीफ़ हुई। अतः तीसरे संसार से रजाई और छाता लेकर, दूसरे को पहिले के अनुकूल बना दिया गया। इसी का नाम कर्म है। वेदों में इसी को यज्ञ कहा है। इसी यज्ञ के अन्य भाग औषधिसेवन, वस्त्रधारण आदि भी हैं।

उक्त समग्र वर्णन का निष्कर्ष यह है कि वेदों में बहुत बड़ा भाग पहिले संसार का है। उसमें आये हुए शब्द मनुष्य-समाज के व्यवहार के पहले के हैं। दूसरे संसार के शब्द भी मनुष्य से पहले के हैं और तीसरे संसार के शब्द तो उक्त दोनों से लेकर ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, किरणें और इन्द्रियाँ गो हैं। ये ताप और ज्ञान देती हैं। चलनेवाली भी हैं। उनका मिलान गौ से मिलता है, अतः गौ भी उन्हीं शब्दों से कही जाती है। अश्व, तेज़ चालवाली किरणें हैं, अतः तेज़ चाल चलनेवाला घोड़ा भी अश्व कहलाता है। सूर्य संसार का शासन करता है, अतः वह वेदों में सम्राट् कहा गया है। यहाँ भी पृथ्वी भर का राजा सम्राट् कहलाता है। तात्पर्य यह कि वेद-शब्दों से ही सब संज्ञायें निकलीं हैं। वे समाज के बाद नहीं बनीं, बल्कि समाज के साथ ही उत्पन्न हुई हैं। अतएव इन शब्दोंसे इतिहास निकालना भूल है। वेदों में इतिहास नहीं है।

अति प्राचीन भाष्यकार भी वेदों में इतिहास मानते हैं।

इस समय वेदों को छोड़कर शेष समस्त संस्कृत साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थ और निरुक्त ही प्राचीन हैं। इन दोनों के देखने से विदित होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के मानने और न माननेवाले थे। गोपथ ब्राह्मण २।६।१२ में, अथर्व० २०।१२७ के 'राज्ञो विश्वजनीनस्य' मन्त्र पर लिखा है कि 'अथो खल्वाहुः गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित इति' अर्थात् कोई कहते हैं कि ये कारू शब्दवाली ऋचाएँ गाथा हैं क्योंकि इनमें परिक्षित राजा का वर्णन है। इसी तरह से निरुक्त में भी अनेकों स्थानों में लिखा है कि 'इत्यैतिहासिकाः' अर्थात् यह इतिहासकारों का मत है। इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के माननेवाले थे। किन्तु ऐतिहासिक मत का खण्डन करके सत्य अर्थ के प्रकाशित करनेवालों की भी कमी न थी। जैसा कि गोपथ की इसी कण्डिका के समग्र पाठ से विदित होता है। ×

× अथ पारिक्षितीः शंसति 'राज्ञो विश्वजनीनस्येति' (अथर्व० २०।१२७।७-९) संवत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीदं सर्वं परिक्षियतीति। अथो खल्वाहुः अग्निर्वै परिक्षित्, अग्निर्हीदं सर्वं परिक्षियतीति। अथो खल्वाहुः गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित् इति। सनस्तद्यथा कुर्य्यात्, यथा कुर्य्यात्, गाथा एवैतास्य

प्रोफ़ेसर मैकडोनेल ने लिखा है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से बहुत दिन बाद के हैं। ब्राह्मणों के निर्माण-काल में तो ऋषि-प्रदर्शित बहुत सा अर्थ भी विसरण हो चुका था और ऋषियों के इतिहास का ज्ञान भी लुप्त हो रहा था'। लोकमान्य तिलक भी कहते हैं कि 'तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों के निर्माण-काल में संहिताएँ पुरातन हो चुकी थीं और उनका अर्थ समझना भी कठिन हो गया था'। ठीक यही हाल हम निरुक्तकाल में भी देखते हैं। निरुक्तकाल के विषय में मिश्रबन्धु लिखते हैं कि 'यास्क ने अपने पूर्व के १७ वैदिक टीकाकारों के नाम लिखे हैं। उस काल भी वैदिक टीकाकारों में इतना गड़बड़ था कि 'कौत्स' ने जो इन १७ टीकाकारों में से एक थे, लिखा है कि 'वैदिक अर्थसम्बन्धी विज्ञान वृथा है क्योंकि वैदिक सूक्त एवं ऋचाएँ अर्थहीन, गूढ और एक दूसरे से प्रतिकूल हैं'। यास्क ने इस का उत्तर यही दिया है कि 'यदि अन्धा सूर्य को न देख सके तो भुवनभास्कर का कोई दोष नहीं है।' (भारत० इति० पृष्ठ १७२)

ब्राह्मणकाल और निरुक्तकाल दोनों में वेदों के ज्ञाता सभी लोग नहीं थे। उस समय भी कोई कोई ही वेदों के सत्यार्थ तक पहुँचते थे। सूत्रकाल में तो बहुत ही बुरी दशा थी। 'दधिक्राव्णो' का अर्थ घोड़ा होता है। परन्तु जिस प्रकार 'शन्नो देवी०' मन्त्र को शनिश्चर के लिए लगा दिया गया है, उसी तरह सूत्रों में 'दधिक्राव्णो०' मन्त्र को दही के खाने में लगा दिया गया है।

वेद कहीं चले नहीं गये। वे आज भी सब के सामने हैं। आज भी तो लोग वेदों से इतिहास निकालते हैं और आज भी उनको उसी तरह उत्तर दिया जाता है, जिस तरह पूर्व में दिया जाता था। जितना पुरातन है उतना सभी सनातन नहीं है। वैदिक कालमें भी अवैदिक थे, उस समय भी मूर्ख थे और उस समय भी दुष्टों की कमी न थी। अतएव उन के किये हुए अर्थ, जिनको मूल वेद ही अर्थहीन और गूढ प्रतीत होते थे, विश्वास योग्य नहीं हो सकते। उन के विषय में यास्काचार्य ने सत्य ही कहा है कि यदि उल्लू को दिन में न सूझे तो इस में सूर्य का क्या अपराध है? लाहौर में ओरिएन्टलिस्टों की सभा के प्रधान ने कहा था कि वेदों के अनेक गूढ शब्दों का अर्थ करना नितान्त कठिन है, अतएव अर्थ करने में शीघ्रता न करना चाहिये। वेदों की गूढता स्वीकार कर लेने पर यह आप ही आप स्वीकार करना पड़ता है कि जब पठन पाठन बन्द हो जाता है, तो पाठ्य विषय गूढ हो जाता है। ऐसे समय का अभिप्राय कुछ मूल्य नहीं रखता। इसका उतना ही मूल्य है, जितना उस पुरुष की बात का हो सकता है, जो कहता कि रेखागणित के साध्य बहुत गूढ हैं, इसलिए इन लकीरों का अर्थ हारमोनियम की डबल रीड है।

हमने यहाँ तक वेदों में इतिहास प्रकरण की छानबीन की, और हर तरह से देखा कि वेदों में इतिहास की कुछ भी सामग्री नहीं है। अतः इतिहास के आधार पर निकाला हुआ वेदों का समय अशुद्ध है, भ्रान्त है और बिल्कुल विश्वास योग्य नहीं है।

अब हम क्रम से राजाओं और नदियों आदि के वर्णन देकर दिखलाते हैं कि वेद में आये हुये वे शब्द क्या क्या अलौकिक भाव दिखलाते हैं। किन्तु पहिले वह वर्णन दिखलाना चाहते हैं जिसे श्रीमान् मिश्र-बन्धुओं ने वेदों

रास्ता भवन्ति। यद्यु वै गाथा अग्नेरेव गाथाः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात्, यद्यु वै मन्त्रोरेव मन्त्रः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात् ताः प्रग्राहमित्येव॥ (गोपथ० २।६।१२)- अर्थात् पारिक्षितीः शब्दवाली ऋचाओं के विषय में कोई कहते हैं कि संवत्सर ही परीक्षित है, क्योंकि संवत्सर ही इस सब में सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहते हैं कि अग्नि ही परीक्षित है, क्योंकि अग्नि ही इस सब में सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहते हैं कि यह कारु शब्दवाली ऋचाएँ मनुष्य की गाथा हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, वे मनुष्य की गाथा नहीं है। यदि वे गाथाएँ हैं तो अग्नि वा संवत्सर की ही गाथाएँ हैं और जो मन्त्र हैं वे अग्नि वा संवत्सर के ही मन्त्र हैं। यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि यह गाथा मनुष्य की नहीं प्रस्तुत अग्नि वा संवत्सर की है।

से निकाला है। अपने बड़ा परिश्रम करके सिर्फ इस एक ही युद्धका वर्णन निकाल पाया है। आप लिखते हैं कि–

वेदों में इतिहास-भ्रम ।

'अब वेदों में लिखित राजनैतिक इतिहास को यथासाध्य संक्षिप्त प्रकारेण क्रमबद्ध कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों में ऐतिहासिक घटनाएँ अप्रासङ्गिक रीति से आई हैं। इसलिये उनमें से अधिकांश का वेदों के ही सहारे क्रमबद्ध करना कठिन है। इसलिये हम यहाँ पर मुख्य मुख्य घटनाओं को मोटे प्रकार से सक्रम कहेंगे। आर्यों और अनार्यों के सैकडों नाम वेद में आये हैं। अनार्यों में वृत्र, दनु, पिप्र, सुश्न, सम्बर, बंगृद, बलि, नमुचि, मृगय, अर्बुद प्रधान समझ पडते हैं। दनु के वंशधर दानव थे, जिनका कई स्थानों में वर्णन है। यह दनु वृत्रासुर की माता थी । वृत्र के ९९ किले इन्द्र ने तोडे थे। ९९ और १०० वृत्रों का कई स्थानों पर वर्णन आया है। सम्बर और बंगृद के सौ किले ध्वस्त किये गए। सम्बर के किले पहाडी थे और दिवो–दास के कारण इन्द्र ने उसे मारा था। दिवोदास सुदास के पिता थे। इससे सम्बर का युद्ध छब्बीसवीं शताब्दी संवत् पूर्व का समझ पडता है। सुश्न का चलनेवाला किला ध्वस्त हुआ। चलनेवाले किले से जहाज का प्रयोजन समझ पडता है। पिप्र के ५०००० सहायक मारे गये। बलि के ९९ पहाडी किले थे। ये सब जीते गये। सिवाय सम्बर के और सबका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं है। आर्यों में ऋषियों के अतिरिक्त मनु, नहुष, ययाति, इला, पुरूरवा, दिवोदास, मान्धाता, दधीच, सुदास, त्रसदस्यु, ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्र और पृथुकी प्रधानता है। ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्रों के वर्णन कई स्थानोंपर आये हैं। दिवोदास और सुदास के सबसे अच्छे क्रमबद्ध वर्णन हैं। इस विषय में वशिष्ठ का सातवाँ मण्डल बहुत उपयोगी है। इसके पीछे विश्वामित्र का तीसरा मण्डल भी अच्छी घटनाओं से पूर्ण है। दिवोदास तृत्सु लोगों के स्वामी थे। वैदिक समय में सूर्यवंशियों की संज्ञा तृत्सु थी, ऐसा समझ पडता है। सुदास और उनके पुत्र कल्माषपाद सूर्यवंशी थे और पुराणों के अनुसार भगवान् रामचन्द्र का अवतार इन्हीं के पवित्र वंश में हुआ था। यही लोग वेद में तृत्सु कहे गये हैं। इन्हीं बातों से जान पडता है कि सूर्यवंशी उस काल तृत्सु कहलाते थे।

'राजा दिवोदास बहुत बडे विजयी थे। इन्होंने तुर्वश द्रुह्यु और सम्बर को मारा और गङ्गु लोगों को भी पराजित किया। नहुषवंशी इनको कर देने लगे थे। इन के पुत्र सुदास ने इनके विजयों को और भी बढाया। सुदास का युद्ध वैदिक युद्धों में सबसे बडा है। नहुषवंशी यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु के सन्तानों ने भारतों से मिलकर तथा बहुत से अनार्य राजाओं की सहायता लेकर सुदास को हराना चाहा। नहुषवंशियों की सहायतार्थ, भार्गव लोग, परोदास, पकथ, भलान, अलिन, शिव, विशात, कवम, युध्यामधि, अज, सिगरु और चक्षु आये तथा २१ जाति के वैकर्ण लोग भी पहुँचे। राजा वर्चिन एक बहुत बडी सेना लेकर इनका नेता हुआ। कितने ही सिम्यु लोग भी नाहुषों की सहायतार्थ आए। फिर भी नहुष वंशका मुख्य राजा पुरुवंशी इस युद्ध में सम्मिलित न हुआ। नाहुषों ने रावी नदी के दो टुकडे करके एक नहर निकालकर नदी को पार करना चाहा, किन्तु सुदासने तत्काल धावा बोल दिया। जिस से गडबड में नाहुषों की बहुत सी सेना नदी में डूब मरी। कवष और बहुत से द्रुह्युवंशी डूब गये। महा विकराल युद्ध हुआ जिसमें सुदास ने अपने सारे शत्रुओं को पूर्ण पराजय दी। अनु और द्रुह्यु वंशियों के ६६ वीर पुरुष और ६००० सैनिक मारे गये। और आनवों का सारा सामान लूट लिया गया, जो सुदास ने तृत्सु को दे दिया। सात किले भी सुदास के हाथ लगे और उन्हों ने युध्यामधि को अपने हाथ से मारा। राजा वर्चिन के एक लाख सैनिक इस युद्ध में मारे गये। अज सिगरु और चक्षु ने सुदास को कर दिया। इस प्रकार रावी नदी पर यह विकराल युद्ध समाप्त हुआ। इसके पीछे सुदास ने यमुना नदी के किनारे भेद को पराजित करके उसका देश छीन लिया। इस प्रकार भेद सुदास का प्रजा हो गया। आर्यों का नागों से वेद में कोई युद्ध नहीं लिखा गया है। केवल एक बार इतना लिखा

हुआ है कि पेदु नामक एक वीर पुरुष के घोडे ने बहुत से नागों को मारा। इससे जान पडता है कि आर्यों का नागोंसे कोई छोटा सा युद्ध हुआ था। विश्वामित्र ने अपने मण्डल में भारतों का वर्णन बहुत-सा किया है। इन लोगों की नाहुषों से एकता-सी समझ पडती है। वेदों के आधार पर यह संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास इसी स्थान पर समाप्त होता है। आगे के अध्याय में पुराणों का भी सहारा लेकर वैदिक समय का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जायगा।' (अध्याय ११ का अंतिम भाग पृ० १८१-१८३)

आप वेदों से इतना ही इतिहास निकाल सके। अच्छा! यदि यह इतिहास था तो इसे और भी कभी किसी ने देखा? इसके उत्तर में आप कहते हैं कि 'इस युद्ध का वर्णन तथा उपर्युक्त सब वीरों, राजाओं और जातियों के नाम पुराणों में नहीं मिलते हैं। किन्तु ऋग्वेद के सातवें मण्डल में महर्षि वसिष्ठ ने इसका बडा हृदय-हारी वर्णन किया है'। (पृ० १९७) चलो छुट्टी हुई। वेदों के ऐतिहासिक पुरुषों का अर्थात् नहुष ययाति के स्वर्ग का वर्णन तो पुराणों ने किया, पर इस युद्ध का वर्णन क्यों नहीं किया? बात तो असल यह है कि पुराण तो मिश्रित इतिहास कहते हैं। इसमें तो मिश्रण भी नहीं है। ये तो कोरे वैदिक अलंकार हैं, इन्द्र-वृत्रके वर्णन हैं और तारा तथा ग्रहों के योग हैं। इन योगों को ग्रहयुद्ध भी कहते हैं। +

बारहवें अध्याय में पुराणों को लेकर जो वैदिक इति-हास दिया है, उसमें निम्न बातें मनुष्य के इतिहास की नहीं प्रतीत होतीं, वे आकाशीय हैं। जैसा कि आप कहते हैं-

'दैत्यों आदि के आर्य शत्रु कौन थे सो ज्ञात नहीं। इनके शत्रु बहुत करके इन्द्र ही कहे गये हैं। किन्तु इसका निश्चय नहीं है कि इन्द्र देवता मात्र थे अथवा कोई सम्राट् भी'। (पृ० १८६)। 'कहते हैं कि त्रिशंकु ने वशिष्ठ को छोडकर विश्वामित्र से यज्ञ कराया और विश्वामित्रने त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेज दिया। (पृ० १८८)। 'राजा पुरूरवा का विवाह उर्वशी नाम्नी अप्सरा से हुआ, जिससे छः पुत्र हुये। उनमें आयु प्रधान है।' (पृ० १९१)। 'राजा पुरूरवा के पौत्र नहुष का इतना प्रताप बढा कि इन्द्र पदवी प्राप्त हुई.... इन्होंने इन्द्राणी शची के साथ विवाह करना चाहा और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई। वृत्र नामक किसी ब्राह्मण कुमार के वध करने के कारण इंद्र जातिच्युत हुये थे'। (पृ० १९४)। 'ययाति को शुक्र की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा ब्याही थीं। पुराणों में इनका दौहित्रों द्वारा स्वर्गच्युत होने से बचाने का हाल कहा गया है'। (पृ० १९४)

इन वर्णनों से नहीं ज्ञात होता कि ये सब मनुष्य थे। इंद्र, वृत्र, त्रिशंकु, विश्वामित्र, पुरूरवा, उर्वशी, नहुष, ययाति, शुक्र और देवयानी आदि सब आकाशीय पदार्थ हैं। जिस दिवोदास को आप सम्बर का मारनेवाला कहते हैं, वह पृथ्वी का मनुष्य कैसे हो सकता है? 'सम्बर' तो मेघ का नाम है। इसी तरह चलनेवाला किला भी मेघ ही है। वृत्र भी मेघ ही है। इन्द्र-वृत्र का अलंकार तमाम वेदोंमें भरा है।

इन्द्र और वृत्र के सम्बन्ध रखनेवाला समस्त वर्णन मेघ और विद्युत् का है, जो आकाश ही में चरितार्थ हो सकता है। शेष आयु, नहुष और ययाति आदि के वर्णन हम यहाँ विस्तार से करते हैं, जिससे प्रकट हो जायगा कि वेदों में इन नामों का सम्बन्ध किन पदार्थों से है।

वेदोंमें राजाओं का इतिहास।

क्षत्रियों के सूर्य और चन्द्र दो वंश प्रसिद्ध हैं। सूर्यवंश और चन्द्रवंश दोनों की उत्पत्ति वैवस्वत मनु से है। सूर्यवंश का आदि पुरुष इक्ष्वाकु है और चन्द्र का पुरूरवा! पुरूरवा के पूर्व बुध, चंद्र और अत्रि तीनों आकाशी पदार्थ हैं। इसी तरह सूर्यवंश का मूल स्वयं सूर्य ही आकाशी पदार्थ है। क्या इन सृष्टि के महान् चमत्कारिक पदार्थों से

+ ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धं समागमौ। (सूर्य-सिद्धान्त, अ० ७)

मनुष्य पैदा हो सकते हैं? कभी नहीं। तब समझना चाहिए कि इसका कुछ दुसरा ही भेद होगा।

भेद वही है जो पहले बतलाया गया है कि वेदों का चमत्कारिक वर्णन लोक के राजाओं के वर्णन के साथ जोड दिया गया है- सूर्य, चन्द्र, बुध आदि नाम के राजाओं को वेदों के आकाशस्थित सूर्य चन्द्रादि के वर्णनों के साथ मिला दिया गया है।

वेद के तीन संसार है। एक मनुष्य का शरीर है, दुसरा संसार इस पृथिवी पर स्थित पदार्थों के सहित माना गया है और तीसरा संसार इस अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् और वायु, मेघ तथा प्रकाशादि अनेक पदार्थ हैं।

वेदों में इस आकाशस्थ संसारका वर्णन कम से कम आधा है। इसमें राजा हैं, ब्राह्मण हैं, आर्य हैं, क्षत्री हैं, राक्षस हैं, ग्राम हैं, वीथी हैं, पुर हैं, युद्ध हैं, पशु हैं और अनेक प्रकार के अर्थ-भाव बतानेवाले वर्णन भरे हुये हैं। यहाँ हम नमूने के लिये दो चार वर्णन देते हैं।

वहाँ के युद्धों का वर्णन इस प्रकार है-

इन्द्राविष्णू दंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वरिान्॥ (ऋ० ७।९९।५)

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः। यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै॥ (ऋ० २।१४।६)

अर्थात् विष्णु-सूर्य ने शम्बर-बादलों के ९९ नगर नष्ट कर दिये और सौ सहस्र तेजयुक्त असुर-वीरों को मार दिया। जिस अध्वर्यु-सूर्य ने शम्बर के एक सौ पुराने नगर वज्र से तोड डाले और जिस इन्द्र ने असुर के तेजयुक्त सौ सहस्र वीरों को मार दिया, उसको सोम दो।

इस सेना का वर्णन इस प्रकार है-

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्। (ऋ० १०।१०३।८)

अर्थात् इन्द्र इसका नेता हुआ, बृहस्पति दाहिनी ओर और सोम आगे चला। मरुद्गण, शत्रुओंको कुचलती हुई इस देवसेना के बीचमें चले।

यहाँ के शादी-विवाहों का हाल पढिये।

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्।
(ऋ० १०।८५।९)

अर्थात् सोम वधू चाहनेवाला था, अश्विदेव वधूके साथ थे और सूर्य ने मन से पति की इच्छा करनेवाली सूर्या-वधू को पति के हाथ में समर्पण किया।

अब इनकी खेती किसानी देखिये-

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः। इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः॥(अथ० ६।३०।१)

अर्थात देवताओं ने सरस्वतीमें मधुर यव की खेती की, जिसके सीरपति (मालिक) इन्द्र हुए और किसान मरुद्गण हुए।

इन किसानों के पशु क्या हैं? सो भी देखिए-

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष। त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नियच्छतु। (अथ० २।२६।१)

अर्थात् जिन पशुओं का सहचारी वायु है, त्वष्टा जिनके नामरूप जानता है और जो बहुत दूर हैं, उनको सविता-सूर्य गोष्ठ में पहुँचावे।

वैदिक जानते हैं कि सूर्यकिरणों को गौ और अश्व कहते हैं। वही सब सूर्य के गोष्ठ में रहते हैं। हमने यहाँ केवल नमूना मात्र दिखलाया है। वेदों में आकाशी पदार्थों के द्वारा एक पूरे संसार का वर्णन किया गया है। इन सब वर्णनों के साथ उनके वंशों का भी वर्णन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
(ऋ० १।१०।१)

अर्थात् हे शतक्रतो ! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं। सूर्य पूजा करते हैं और ब्राह्मण लोग शाखोच्चार की तरह तुम्हारे वंशावली का बखान करते हैं।

आकाशीय पदार्थों के वंश-गान का यहाँ वर्णन किया गया है। नक्षत्र-वंश की बात वाल्मीकि रामायण में भी कही गई है कि—

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः ।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत्क्रोधमूर्च्छितः ॥
दाक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥
(बाल० सर्ग ६०।२१-२२)

यहाँ त्रिशंकु नक्षत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि दक्षिण की ओर एक दूसरा नक्षत्रवंश पैदा किया गया। यह ध्यान रखने की बात है कि यहाँ स्पष्ट नक्षत्रवंश कहा गया है। सम्भव है इन वैदिक वंश-वर्णनोंसे ही ऐतिहासिक वर्णनों का मेल मिल गया हो और सूर्य चन्द्र आदि का जो नक्षत्र-वंश है, वह क्षत्रियों के वे वे नाम होने के कारण उसी में समझ लिया गया हो। हमारा तो पूरा विश्वास है कि वेदों के अनेक आलंकारिक भाव गलती से इतिहास में मिला दिए गये हैं। आइये, कुछ नमूने यहाँ दिखावें।

राजा पुरूरवा।

पुरूरवा चन्द्रवंश का मूल पुरुष है। वेदों में पुरूरवा और उर्वशी का वर्णन देकर एक आलङ्कारिक नाटक का नमूना बतलाया गया है। यह पुरूरवा सूर्य है, उर्वशी उसकी एक किरण है और दोनों अग्नि हैं।

यह प्रसिद्ध है कि इन्द्र की अनेकों अप्सराएँ थीं। इन्द्र नाम सूर्य का है और अप्सरा उसकी किरणें हैं। उसकी अनेक किरणों में उर्वशी भी एक किरण है। पहले देखिये कि वेद में पुरूरवा और उर्वशी तथा आयु, तीनों को अग्नियों के नाम से कहा है।

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि, जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि। (यजु० ५।२)

यहाँ अग्निको सम्बोधन करके कहा गया है कि तू उर्वशी ०, तू आयु है, तू पुरूरवा है। तुझे गायत्री त्रिष्टुप् और जगती छन्दों से मथकर निकालता हूँ।

यहाँ आयु शब्द बड़े मार्के का है। यह प्रसिद्ध है कि पुरूरवा और उर्वशी से आयु नामक पुत्र हुआ था। यहाँ उर्वशी और पुरूरवा अग्नि कहे गये हैं। अग्नि से अग्नि की ही उत्पत्ति होती है। इसलिये उन दोनों अग्नियों से पैदा होनेवाली यह आयु नामक तीसरी अग्नि भी, अग्नि ही है। यही दैवी वंश है। अग्नि ही सूर्य है और अग्नि ही उसकी किरणें हैं।

आगे का मन्त्र कैसा साफ कहता है कि—

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः
(यजु० १८।३९)

अर्थात् सूर्य ही गन्धर्व है और उसकी किरणें ही अप्सराएँ हैं।

अग्निही सूर्य और गन्धर्व है। गन्ध को यही फैलाती है। अर्थात् हुत पदार्थ इसी में डाले जाते हैं, जो फैलते हैं। आगे अप्सराओं के नाम बतलाये जाते हैं—

पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ ।
मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ ।
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ ।
विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ ॥
(यजु० १५।१५-१९)

यहाँ अन्य अप्सराओं के साथ मेनका और उर्वशी भी अप्सरा कही गई हैं। ऊपर कहा गया है कि अप्सरा सूर्य की किरणें ही हैं और बताया गया है कि सूर्य ही अग्नि है, अतः ऊपर का वर्णन अन्तरिक्ष के चमत्कारिक तैजस् पदार्थों का ही है। इसे मनुष्य के वर्णन के साथ जोड़ने की क्या आवश्यकता है ?

बहुत दिन की ढूँढ तलाश के बाद योरोपियन विद्वान् भी अब इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। नमूने के लिये उनके कुछ वाक्यों को पढ़िये। Selected Essays, Vol. 1, p. 408 में प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि 'यह

पुरूरवा-उर्वशी की कथा, उषा और सूर्य को आलङ्कारिक भाषा में वर्णन करती है।' जिस सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का वर्णन है, उसी के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः' (ऋ० १०।९५।१७) अर्थात् मैं वसिष्ठ (सूर्य) अन्तरिक्ष में घूमनेवाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूँ। अब बताइये कि क्या अन्तरिक्ष में घूमनेवाली चीज कभी मनुष्य हो सकती है ?

प्रोफेसर गेल्डनर, रैठ, गोल्डस्टकर और म्यूर आदि भी यही कहते हैं। ग्रिफिथ साहब ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ९५ वें सूक्त के नोट में कहते हैं कि 'मैक्समूलर के मत से यह उषा और सूर्य का वर्णन है और डॉक्टर गोल्डस्टकर के मत से प्रातःकाल तथा सूर्य का है'। × एतद्देशीय विद्वान् भी यही कहते हैं। आर० सी० दत्त ऋग्वेद के मण्डल १०, सूक्त ११५ पर कहते हैं कि 'अमरा पूर्वई बलियाछि।' उर्वशीर आदि अर्थ उषा, पुरूरवार आदि अर्थ सूर्य। सूर्य उदय हइले उषा आर थाके ना'। अर्थात् हमने पहले ही कह दिया कि उर्वशी का अर्थ उषा और पुरुरवा का अर्थ सूर्य होता है। सूर्य के उदय होते ही उषा ठहर नहीं सकती।

बस, यहाँ तक हमने वेदों से वेदों का अर्थ करने की परिपाटीके द्वारा पुरूरवा और उर्वशी तथा उनके पुत्र आयुको देखा और देशी विदेशी सभी विद्वानों का मत संग्रह करके जाँचा तो पता लगा कि ये व्यक्ति लौकिक नहीं, मनुष्य नहीं, राजा नहीं, प्रत्युत आकाशीय चमत्कारिक पदार्थ हैं। गलती से पुराणों ने इस नक्षत्रवंश को, मनुष्य-वंश के साथ जोड दिया है। +

राजा आयु।

उपर के वर्णन में आयु का थोडा सा वर्णन आ गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि 'आग्ने आयुरसि' (यजु० ५।२) हे अग्नि ! तू आयु है। यह 'आयु' पुराणों में उर्वशी और पुरूरवा का पुत्र कहा गया है। हमने भी देखा कि उर्वशी और पुरूरवा अग्नि से ही बने हुए सूर्य और रश्मि हैं, तब उनके पुत्र आयु को अग्नि होना ही चाहिये। दूसरी जगह ऋग्वेद १।३१।११ में लिखा है कि 'त्वमग्ने प्रथमं आयुं आयवे देवाः अकृण्वन्' अर्थात् हे अग्नि ! पहिले तूने आयु को बनाया और आयु से देवताओं को किया। वही बात इस से भी सूचित होती है कि आयु नामक अग्नि से ही सूर्य-किरण उषा आदि देवता बनाये गये। इस तरह आयु भी मनुष्य साबित नहीं होता।

राजा नहुष।

पुराणों में आयु का पुत्र नहुष लिखा हुआ है। इसकी कथा का सम्बन्ध भी पुराणों में आकाश के चमत्कारी पदार्थों से जुडा हुआ है। वहाँ लिखा है कि नहुष को इन्द्रकी पदवी मिली थी। यह इन्द्र, जिसकी अप्सराओं का ऊपर वर्णन हो चुका है, सूर्य ही है। नहुष एक बार सूर्य हो चुका है। यहाँ हम नहुष से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हैं और दिखलाते हैं कि उक्त मन्त्रों में नहुष किस किस्म का पदार्थ सिद्ध होता है।

आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात् सुवृक्तिभिः पिबाथो अश्विना मधु। (ऋ० ८।८।३)

अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः ... नभोजुवो यन्निरवस्य राधः। (ऋ० १।१२२।११)

स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः। (ऋ० ७।६।५)

× Max Muller considers the story to be one of the Vedas which express the correlation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstucker, Urvasi is the morning-mist which vanishes away as soon as Pururava, the sun, displays himself.

+ पुरूरवार्द्रवाश्चैव विश्वे देवाः प्रकीर्तिताः। अर्थात् पुरूरवा और आर्द्रवा वैश्वदेव हैं- आकाशीय हैं। (लिखितस्मृति ४८)

सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमी
नहुषी अस्य बोधतम् । (ऋ० १०।९२।१२)
यदिन्द्र नाहुषीष्वा अग्ने विक्षु प्रदीदयत् ।
(ऋ० ८।६।२४)

ऊपर हमने पाँच मन्त्रों के वे भाग लिखे हैं जिनसे 'नहुष' पर काफी प्रकाश पडता है । हम यहाँ इन मन्त्रों का अर्थ करके पाठकों को श्रम में नहीं डालना चाहते । हम तो केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में आया हुआ यह नहुष किस भाव का सूचक है । यहाँ पहिले मन्त्र में कहा गया है कि 'नहुष' के ऊपर अन्तरिक्ष से कोई आते हैं । आगे अश्विन शब्द भी आया है जो आकाशी पदार्थ है । दूसरे में सूर्य से नीचे नहुष को बतलाया है । आगे नभ शब्द भी है जो आकाशवाची है । तीसरे में अग्नि के सहित रुका हुआ कहा गया और बलि का जिक्र भी आया है । चौथे में कहा है कि सूर्यों के मास दिवि में विचरते हैं जिन्हें नाहुषी जानना चाहिये । पाँचवे में कहा गया है कि जो इन्द्र नाहुषों में प्रकाशित होता है ।

इन मन्त्रों में नहुष का सम्बन्ध अन्तरिक्ष, अश्विन, सूर्य, नभ, अग्नि, बलि, इन्द्र और मास के साथ वर्णित हुआ है । उधर पुराणों में उस के इन्द्रपद पाने का वर्णन है । ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि वेद का यह 'नहुष' मनुष्य है– राजा है ?

महाभारत में लिखा है कि—

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः ।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहङ्कारं समाविशत् ।
स ऋषीन् आह्वयामास वरदानमदान्वितः ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो पादेनाभ्यहनच्छिरः ।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् ।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते ।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥
(महा० अनुशा०)

अर्थात् राजर्षि नहुष ने पुण्यकर्म के फल से इन्द्रत्व प्राप्त किया । इन्द्रत्व पाने पर उनको अत्यन्त अहङ्कार हो गया । उन्होंने ऋषियों से अपनी पालकी उठवाना आरम्भ कर दिया । एक बार अगस्त्य ऋषि पालकी उठा रहे थे, नहुष ने उनके शिर पर लात मारी । इस पर भृगु ऋषि ने नहुष को शाप दिया कि सर्प हो जा । नहुष सर्प होकर पृथ्वी पर गिर पडा । महाभारत में नाग के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा ।
निष्ठानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ॥
(महा० १।३५।९)

इस में 'नहुष' शब्द भी आया है और नागों के नामों में कहा गया है । नाग के कई अर्थ हैं, पर यहाँ यह नहुष बादलों के अर्थ में नाग कहा गया है । वेदों में अहि बादल को कहते हैं । इसीलिए महाभारत में भी बादलों को नाग कहा गया है । महाभारत वनपर्व में लिखा है कि 'अगस्त्येन ततोऽभ्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ।' भावार्थ यह है कि अगस्त नक्षत्र के उदय होते ही सर्परूपी पानी का-- बादलों का ध्वंस हो जाता है । 'उदय अगस्त पंथजल सोखा' यह तुलसीदास ने भी लिखा है । सम्भव है नहुष आकाशस्थ पदार्थों में से बादल ही हो । क्योंकि ऋग्वेद १०।४९।८ में वह सप्तहा– सात किरणों का मारनेवाला कहा गया है जो बादल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता । महाभारत की कथा के अनुसार नहुष ने इन्द्र का पद पाया अर्थात् बादलों ने सर्प को घेर लिया । परन्तु अगस्ति ऋषि के तेज से वह जमीन पर गिर गया अर्थात् अगस्ति तारा के उदय होते ही वर्षा ऋतु चली गई । इससे स्पष्ट हो गया कि नहुष बादल है ।

राजा ययाति ।

पुराणों में नहुष का लडका ययाति लिखा हुआ है । इसका वर्णन भी आकाश से सम्बन्ध रखता है । इसकी एक रानी शुक्र की लडकी थी । यह वही शुक्र है जो आकाश में ग्रह है । दूसरी रानी वृषपर्वा की लडकी थी । यह वृषपर्वा बादलों सिवा और कुछ नहीं है । ऋग्वेद में आया है कि—

अग्ने अङ्गिरस्वत् अङ्गिरः ययातिवत् ।
(ऋ० १।३१।१७)

यहाँ कहा है कि हे अग्ने ! तुम आङ्गिरस् की तरह हो और अङ्गिरस् ययाति की तरह है । ऐतरेय ब्राह्मण ३।३४ में लिखा है कि 'ये अंगारा आसन् ते अंगिरसोऽभवन्' अर्थात् अङ्गार ही अङ्गिरस् है । ऋ० १०।६२।५ में भी है कि 'अंगिरसः सूनवस्ते अग्ने०' अर्थात् आङ्गिरस्, अग्नि के लडके अङ्गार ही हैं ।

ऊपर ययाति को अङ्गार की तरह बतलाया है और शुक्र ग्रह की लडकी के साथ उसका विवाह बतलाया गया है । इससे तो स्पष्ट हो गया है कि ययाति भी कोई तारा है अथवा आकाश का कोई चमकीला पदार्थ है × । हमारी समझ में नहीं आता कि इस आग्नेय आकाशस्थ पदार्थ को मनुष्य अथवा राजा कैसे बना दिया गया ।

यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु, और अनु ।

ये पाँचों लडके राजा ययाति के हैं । ऊपर जो ययाति की दो रानियाँ बतलाई गईं हैं, उनमें एक से दो लडके और दूसरी से तीन लडके हुये, यह पुराणों में लिखा है । पर वेदोंमें इस बात का कहीं वर्णन नहीं है कि अमुक अमुक का पुत्र था या पिता । वहाँ तो केवल ये शब्द आते हैं और इन शब्दों के जो वाच्य हैं उनका वर्णन आता है । हम यहाँ भी कुछ ऐसे मन्त्र लिखना चाहते हैं, जिनमें उपरोक्त शब्द आते हैं और उन शब्द-वाच्यों का वर्णन आता है ।

१. यन्नासत्या परावति य द्वा स्थो अधि तुर्वशे । अतो रथेन सुवृता न आ गतं साकं सूर्यस्य रश्मिभिः । (ऋ० १।४७।७)
२. अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे । (ऋ० १।३६।१८)
३. समुद्रं अति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं । (ऋ० १।१७४।९)
४. अन्तरिक्षे पथतः पुरुभुजा । (ऋ० ८।१०।६)
५. यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे । (ऋ० ८।९।१८; अथ० २०।१४२।३)
६. हव्यवाहं पुरुप्रियम् । (ऋ० १।१२।२; अथ० २०।१०१।२)
७. अनु प्रत्नस्यौकसः । (ऋ० ८।६९।१८; अथ० २०।२६।३)
८. पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्वितः । (ऋ० १०।९४।५; अथ० ६।४९।३)
९. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋ० ६।४७।१८)
१०. उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः इन्द्रो विद्वान् अपारयत् । (ऋ० ४।३०।१७)
११. यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः । (ऋ० १।१०८।८)
१२. प्रातरग्निः पुरुप्रियो । (ऋ० ५।१८।१)

इन बारह मन्त्रों में उक्त यदु, तुर्वश आदि पाँचों के नाम और काम आ गये हैं । यहाँ मन्त्रों का भाष्य नहीं करना, प्रत्युत उक्त शब्दों का भाव मात्र खोलना है । अतः क्रमशः संक्षेप से उनका भाव लिखते हैं ।

१. जो विद्युत् तुर्वशमें है, वह सूर्य की रश्मियों से आ गई ।
२. अग्नि से तुर्वश यदु को दूर करते हैं ।
३. प्रकाश से तुर्वश यदु को पार करो ।
४. अन्तरिक्ष का रास्ता पुरु है ।
५. यदु सूर्य के द्वारा जाते हैं ।
६. हुत पदार्थों को ले जानेवाले पुरु ।
७. अनु का घर द्युलोक है ।
८. पुरु सूर्य के आश्रित हैं ।
९. इन्द्र माया करके पुरु बन जाता है ।
१०. तुर्वश यदु को शचीपति इन्द्र पार कर देगा ।
११. जो इन्द्र और अग्नि, यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु में है ।

× सूर्यसिद्धान्त की भूमिका में उदयनारायणसिंह ने लिखा है कि ययाति एक तारा है ।

१२. प्रातःकाल का हवन पुरु को प्रिय है।

क्या ऊपर के भावार्थ से यह समझ पडता है कि ये वर्णन मनुष्यों के हैं ? यदि ऐसा हो तो समझना चाहिये कि हमारी बुद्धि हमको ही धोखा दे रही है। जिन पदार्थों का सम्बन्ध विद्युत्, सूर्य, रश्मि, अग्नि, आकाश, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन्द्र, शची और अनेक आकाशस्थ पदार्थों से है, जो सूर्य की रश्मियों के द्वारा आते और हव्य ले जाते हैं, तथा जिन में विद्युत् रहती है, क्या ऐसे पदार्थ मनुष्य हो सकते हैं ? हमारी समझ में तो ये मनुष्य नहीं हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों में लिखा है कि ' पौरो गुरु रविजा नित्यं शीता शुरा क्रन्दाः ' अर्थात् बुध, गुरु, और शनि ये सदा पौर हैं। पुरु से ही पौर होता है। इससे ज्ञात होता है कि ये कई नक्षत्र मिलकर यदु तुर्वश आदि कहलाते हैं। वेदों में इनका जो युद्ध वर्णित है वह युद्ध भी आकाशी है। सूर्यसिद्धान्त अध्याय ७ में यह ग्रहयुद्ध वर्णित है। वहाँ लिखा है कि " ताराग्रहाणमन्योन्यं स्यातां युद्धं समागमौ " अर्थात् तारा और ग्रहों के परस्पर-योग का नाम युद्ध है।

पुराणोंने इस नक्षत्र-वंशके वर्णन को घसीट कर राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया है। परन्तु प्रो० मैक्डोनल ने अपनी History of Sanskrit Literature में लिखा है कि ' ऋग्वेद में बार बार कहे गये पुरु आदि पाँचों वर्गों का ब्राह्मण ग्रन्थों में नाम तक नहीं है '। यदि ये इतने सरल अर्थवाले ऐतिहासिक व्यक्ति होते तो ब्राह्मण-ग्रन्थों में इनका कुछ भी तो वर्णन होता, पर वहाँ जिक्र तक नहीं है। ऐसी दशामें ये व्यक्ति ऐतिहासिक सिद्ध नहीं होते। वेदों में इतिहास का जो अनुमान किया जाता है, वह मिथ्या है। वेदों में इतिहास का नाम भी नहीं है।

राजा शन्तनु।

राजा शन्तनु दो भाई थे। दूसरे भाई का नाम था बाह्लीक। किन्तु पुराणों ने राजा शन्तनु के तीसरे भाई देवापि की कल्पना करके गडबड-मचा दी है। देवापि को शन्तनु का भाई क्यों बना दिया ? इसका कारण वेदों में आये हुए बडी चमत्कारिक वर्णन हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल में एक सूक्त है जिसमें वर्षा का वर्णन है। वर्षा का प्रयोजन अनेक प्रकार की वनस्पति की रक्षा है। उस सूक्त में शन्तनु, देवापि और आर्ष्टिषेण शब्द आते हैं। इतने मात्र से यह कथा कल्पित कर ली गई है कि एक बार राजा शन्तनु के राज्य में अवर्षण हुआ। राजा शन्तनु ने अपने आर्ष्टिषेण देवापि नामक भाई को (जो विरक्त हो गया था और ऋष्टिषेण नामी ऋषि का शिष्य होने से आर्ष्टिषेण कहलाने लगा था) बुलाकर यज्ञ कराया, जिससे पानी बरसा। दूसरी जगह लिखा है कि शन्तनु राजा की शादी गङ्गा से हुई। उपरोक्त दोनों कथाओं का तात्पर्य इतने दिनों के बाद अब खुल रहा है। यदि गङ्गा नदी का स्त्री होना पहिले से न लिखा होता, तो हमारे इस निम्नलिखित निकाले हुए निष्कर्ष पर विश्वास ही न होता, किन्तु भाग्य से पुराना वैदिक रहस्य रद्दी हालत में पडा रहा तो इससे आज बडा काम निकला।

पूर्व इसके कि हम उक्त कथा पर प्रकाश डालें, आवश्यक जान पडता है कि पहिले ज्ञात कर लें कि देवापि, ऋष्टिषेण, शन्तनु और गंगा आदि शब्दों का वेदों में क्या भावार्थ है। पहिले देवापि शब्द देखिये। ऋग्वेद में ये दो शब्द हैं। बर्लिन के छपे हुए मैक्समुलर के पदपाठवाले ऋग्वेद में देव और आपि अलग अलग छपा है। इसी तरह ऋष्टि और षेण भी अलग अलग हैं। यहाँ देव, आपि, ऋष्टि और षेण का अर्थ विचार कीजिए। देव का अर्थ प्रसिद्ध है। यहाँ आपि के अधि-ष्ठाता को देव कहा गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि-

आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानाम् ॥

(ऋ० १।३१।१६)

अर्थात् सोम्य पदार्थों का ' आपि ' पिता है। आपि से ही सब सोम्य (जलीय) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। दूसरी जगह ऋग्वेद ४।४१।२ में लिखा है कि ' इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी। ' अर्थात् आपी नाम वरुण-चक्र का है। इस तरह से देवापि का अर्थ होता है जल पैदा करनेवाली प्रधान शक्ति अर्थात् वह शक्ति जिससे जल पैदा होता है। इस (ऋ० १०।९८) सूक्त के सिवा देवापि शब्द अन्य किसी भी स्थान में इकट्ठा नहीं आता। इसका कारण स्पष्ट है कि वह एक शब्द नहीं है। इसी-

लिए पदपाठ में दोनों शब्द अलग अलग कहे गये हैं, पर पौराणिकों ने दोनों को एक करके शन्तनु का भाई बना डाला है। इसी तरह ऋष्टिषेण भी चारों वेदों में इस सूक्त के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं आता। अतः हम यहाँ 'ऋष्टि' और 'षेण' शब्दों का भाव भी देखना चाहते हैं। ऋष्टि के लिए कहा है कि—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैं रथेभिर्यात
ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।　　　　　(ऋ० १।८८।१)

को वो अन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति।
　　　　　　　　　　　(ऋ० १।१६८।५)

य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।
　　　　　　　　　　　(ऋ० ५।५२।१३)

विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः।
　　　　　　　　　　　(ऋ० ३।५४।१३)

इन चारों मन्त्रों में ऋष्टि का सम्बन्ध विद्युत् से दिखलाई पडता है और षेण के लिए तो ऋग्वेद में साफ कहा है कि—

षेण उभे युजन्त रोदसी सुमेके।
　　　　　　　　　　　(ऋ० ६।६६।६)

अर्थात् 'षेण' तो पृथ्वी और आकाश दोनों को अकेला ही जोडता है। यहाँ यह षेण, ऋष्टि के साथ मिलकर उस विद्युच्छक्ति का सूचक ज्ञात होता है जो देवापि नामक जलशक्ति का प्रेरक होगा। जो हो पर इनके इन शब्द-भावों से सूचित होता है कि इन शक्तियों का सम्बन्ध जल बरसाने से है।

यह सबको विदित ही है कि गङ्गा की तीन शाखाएँ हैं। एक वह पानी, जो आकाश से जमीन पर बसरता है, दूसरा वह जो जमीन पर बहता है और तीसरा वह जो जमीन के खोदने से निकलता है। आश्विन के महीने में जो पानी ऊपर से बरसता है उसे गाङ्गेय जल कहते हैं ✽।

यहाँ तक उक्त कथा का यह खुलासा हुआ कि हवन से विद्युच्छक्ति की प्रेरणा द्वारा जलचक्र में क्रिया होती है और गंगा नामक देवनदी बरसात के रूप में नीचे आती है। पर देखना चाहिये कि ये शन्तनु कौन हैं, जिनके साथ इस गंगा की शादी होती है।

इस (ऋ० १०।९८) सूक्त के अतिरिक्त, वेदों में शन्तनु शब्द अन्यत्र कहीं नहीं आया, इसलिये वेद से इस शब्द का खुलासा नहीं हो सकता। पर बडे आनन्दकी बात है कि पुराने ऋषियों ने इस शब्द का अर्थ वैद्यकके ग्रन्थों में लिख रक्खा है। अतः हम यहाँ सुश्रुत के वचन उद्धृत करके दिखलाते हैं कि 'शन्तनु' शब्द का क्या मतलब है।

अथ कुधान्यवर्गः– कोर दूषक श्यामाक नीवार 'शान्तनु' वरकोद्दालक प्रियङ्गु मधूलिका नान्दीमुखी कुरुविन्द गवेधुक तोदपर्णी मुकुन्दक वेणु यव प्रभृतयः कुधान्यविशेषाः॥
　　　　　　　　　　　(सुश्रुत ४६।२१)

इसमें अनेक प्रकार के धान्य गिनाए गये हैं जिन में एक शन्तनु भी है ❀। इस शान्तनु नामी धान्य का जीवन वर्षा है। आश्विन के महीने में इस धान्य को वर्षा की आवश्यकता होती है। आश्विन की वर्षा ही गंगा है। वह गंगा जब इस शान्तनु से अपना परिणय करती है तभी इसका तप्त हृदय प्रफुल्लित होता है। उस गंगाको शान्तनु के लिये ऊपर कही हुई आर्ष्टिषेण देवापि नामी विद्युत् और जलशक्तियाँ प्रेरित करके नीचे लाती हैं। इसी को पौराणिकों ने लिख दिया कि आर्ष्टिषेण देवापि ने यज्ञ करके शन्तनु के राज्य में पानी बरसाया और गंगा से शन्तनु की शादी हुई।

पुराण की यह कथा वेदों में आये हुये शन्तनु, आर्ष्टि-

✽ गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथैव चरके वचः। (भावप्रकाश)

❀ इस शान्तनु नामी धान्य के गुण इस प्रकार हैं–

उष्णा काषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः। श्लेष्मघ्ना बद्धनिस्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः।
काषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः। कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च स शान्तनुः। (सुश्रुत ४६।२२।३२)

बेण, देवापि आदि शब्द और उनसे सम्बन्ध रखनेवाला वर्षा का विज्ञान हमें तुरन्त वेदों के इतिहास की ओर बडे जोर से खींचने लगता है, पर जब उन शब्दों को-उन मन्त्रों को खूब गौर से देखा जाता है, तो मालूम होता है कि वहाँ मामला ही कुछ और है।

सोमक साहदेव्य।

इसी प्रकार का दूसरा अलङ्कार ऋग्वेद ४।१५ में आये हुये 'सोमकः साहदेव्यः' के विषय का है। जिस पर यहाँ थोडासा प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है। रावबहादुर चिन्तामणी विनायक वैद्य एम्० ए० लिखते हैं कि ये सोमक सहदेव महाभारत-कालीन व्यक्ति हैं।

महाभारत-मीमांसा पृष्ठ १०७ पर वैद्य महोदय जिन सहदेव सोमक का जिक्र करते हैं वे चन्द्रवंशी ही हैं। किन्तु ऋग्वेद ४।१५ में आये हुये सोमक सहदेव दूसरे ही हैं। इन मन्त्रों के साथ उस घटना का मिलाना उचित नहीं है। वह घटना दूसरी ही है। इन मन्त्रों में तो किरणों का और अश्विनौ देवताओं का सम्बन्ध सोमक सहदेव के साथ लगाया गया है। किरणों और अश्विनौ आकाशीय पदार्थ हैं, इसलिए ये हरिवंश अध्याय ३२ के सहदेव सोमक नहीं हैं। जिन मन्त्रों से वैद्य महोदय को यह भ्रम हुआ है वे मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे जाते हैं।

बोधयन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः।
अच्छा न हूत उदरम्।
उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्।
प्रयता सद्य आ ददे।
एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः।
दीर्घायुरस्तु सोमकः।
तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्।
दीर्घायुषं कृणोतन।　　　　(ऋ० ४।१५।७-१०)

अर्थात् जब सहदेव के पुत्र ने मुझे दो किरणों के साथ कर दिया तब मैं बुलाये की तरह हाजिर हो गया। मैंने उस सहदेव-पुत्र से उन दोनों किरणों को शीघ्र ग्रहण कर लिया। हे अश्विनौ देवताओं! सहदेव का यह सोमक आपके लिए दीर्घजीवी हो। हे अश्विनौ देवताओं! उस युवा सहदेव के सोमक को दीर्घायु कीजिये।

अश्विनौ के द्वारा चंगे होनेवाले सदैव आकाशी ही पदार्थ होते हैं। ये अश्विनौ देवताओं के वैद्य हैं। जिस प्रकार त्वष्टा देवताओं के बढई और इन्द्र देवताओं के राजा है, उसी प्रकार अश्विनौ देवताओं के वैद्य हैं। न इन्द्र आदि राजा ही मनुष्य हैं, न उनकी प्रजा-देवता ही मनुष्य हैं, न उनके वैद्य ही मनुष्य हैं और न उनके सोमक सहदेव रोगी ही मनुष्य हैं। वैद्यक में तो सहदेव सोमक दवा के नाम है *।

कहने को तो कोई भी कह सकता है कि यजुर्वेद में आई हुई अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका भी महाभारत-कालीन रानियाँ हैं। पर वेद में तो औषधियों की ही वाचक हैं। वेदों की ऐसी घटनाएँ समझने के लिये यहाँ हम इस विषय को भी लिखना चाहते हैं।

अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका।

वेद में दवा को अम्ब कहा गया है। यजुर्वेद १२।७६ में लिखा है कि 'शतं वो अम्ब धामानि...इमं मे अगदं कृधि' अर्थात् हे अम्ब! मुझे आरोग्य कीजिये। यहाँ रोगी आरोग्य होने के लिये अम्ब (दवा) से कहता है। दुसरी जगह उक्त तीनों अम्बाओं (दवाओं) का होम करना भी कहा गया है। वहाँ लिखा है कि 'सह स्वस्राऽम्बिकया जुषस्व'। (य० ३।५७) इसमें साफ कह दिया है कि अम्बिका को बहनों के साथ हवन करो। यजु० (३।६०) में भी कहा गया है कि 'त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' अर्थात् तीनों अम्बाओं को मैं सुगन्धि और पुष्टि बढाने के लिए हवन करता हूँ। इन तीनों औषधियों को यजुर्वेद में कहा है कि-

अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्।
　　　　(यजु० २३।१८)

* सहदेवः, देवैः सह, सहदेवी के नाम हैं और 'बहुमूत्रं नाशयति' यह गुण है। इसी से सोमक कही गई हैं। देखो शालिग्राम निघण्टु।

यहाँ उक्त तीनों को एक जगह कह दिया है ✽ । इसके सिवा यह भी बतला दिया कि वे काम्पील में होती हैं । काम्पील से महाभारत की उक्त कन्याओं का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था । वे तो काशीनरेश की कन्यायें थीं और हस्तिनापुर में ब्याह कर आई थीं । अतः यह काम्पील या काम्पिल्य फर्रुखाबाद जिलेवाला कम्पिला नहीं है। काम्पील नाम एक औषधि का है, जिसके साथ ही अम्बिका आदि दवाइयाँ उगती हैं ✽✽ ।

अब देखना चाहिए कि वैद्यक में उक्त औषधियों का जिक्र है या नहीं । भावप्रकाश में लिखा है कि–

माचिका प्रथितास्वष्ठा तथाम्बाऽम्बालिका ।
(भा० हरीतक्यादि पर्व ।)

अब सिद्ध हो गया कि यजुर्वेद में महाभारत–कालीन कन्याओं और रानियों का जिक्र नहीं है, प्रत्युत वहाँ ये औषधियों के नाम हैं ।

जिस प्रकार यह दवाओंका वर्णन है उसी तरह 'सोमकः साहदेव्यः' का भी वर्णन औषधियों के ही लिए हुआ है । अन्यथा सूर्यवंशी अम्बरीष के साथ चन्द्रवंशी सहदेव का नाम क्यों आता ? पर ऋग्वेद १।१००।१७ वाले मन्त्र में कहा गया है कि पानी के विना अम्बरीष--आमडा का वृक्ष और सहदेवः--सहदेई का वृक्ष भयमान होते हैं । इस तरह से हमने यहाँ तक चन्द्रवंश के कतिपय राजाओं के नामों को जो वेदोंमें पाए जाते हैं, उन्हीं मन्त्रों के अन्य शब्दों से जाँचा और पुराणोक्त चमत्कारिक वर्णनों से मिलाया, तो वे राजा नहीं--मनुष्य नहीं, प्रत्युत सृष्टि के कुछ अन्य ही पदार्थ सिद्ध हुए । हमें तो ताज्जुब है कि जो लोग इन शब्दों से राजाओं का अर्थ ग्रहण करते हैं वे उन्हीं मन्त्रों में आए हुए अन्य शब्दों का क्या अर्थ करते होंगे ? सहदेव और सोमक को, पुरु दुह्यु आदि पाँचों भाइयों को तथा अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को एक ही जगह देखकर शायद कोई इतिहासप्रेमी हठ करें कि यह घटना अलौकिक नहीं है । उनसे निवेदन है कि वे जरा संसार की शैली पर ध्यान दें । वेद में कृष्ण और अर्जुन एक ही जगह आये हैं । पर दूसरी ही जगह 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋ० ६।९।१) कहकर वेद में ही बतला दिया है कि दोनों का अर्थ दिन है। यहाँ लोक में दोनों पुरुषों की अटूट मित्रता से ही कृष्ण अर्जुन नाम रख दिए गए हैं । कानपूर में हमारे मित्र पं० बेनीमाधवजी प्रसिद्ध पण्डित हैं । आपके चार पुत्र थे । चारों के नाम आपने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन् रक्खे थे, जिनमें राम और लक्ष्मण अब तक चिरंजीव हैं । प्रयाग जिले के बघेला ताल्लुकेदार कुँवर भरतसिंहजी यू० पी० में सैशन जज थे । वे चार भाई थे । चारों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुहन् थे ।

ये घटनाएँ बतलातीं हैं कि आदर्श शब्दों से ही लोग नामों का अनुकरण करते हैं। रामायण से जिस प्रकार राम–लक्ष्मण नाम रक्खे गए और वेद से जिस तरह कृष्ण अर्जुन नाम रक्खे गए उसी तरह वेदों को ही देखकर सहदेव सोमक और अम्बा अम्बिका तथा पुरु दुह्यु आदि नाम भी रक्खे गये हैं । मनुस्मृति में लिखा है कि 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे' अर्थात् वेदों के शब्द पहले के और मनुष्यों के नाम बाद के हैं ।

इस वर्णन से सहज ही ज्ञात होता है कि जिनको परिश्रम नहीं करना और जिनको पाश्चात्य विद्वानों के कथन पर वेद से अधिक विश्वास है, वे प्रभावित होने के कारण ही वेदों से इतिहास निकालने का श्रम करते हैं ।

✽ 'त्र्यम्बकं यजामहे०' इस मन्त्र का अर्थ यही होता है कि अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका नामी तीनों दवाओं का हवन करना चाहिए । 'त्र्यम्बकं' पद पाणिनि के 'संख्यायां संज्ञा सङ्घ सूत्राध्ययनेषु' इस सूत्र से उसी तरह सिद्ध होता है, जिस प्रकार 'सप्तकं' पञ्चकं' आदि ।

✽✽ काम्पील गुंडारोचन सुनामख्यातगन्धद्रव्ये गन्धद्रव्यविशेषः । अर्थात् काम्पील को वैद्यक शास्त्र में गुंडारोचन नामक गन्धद्रव्य कहते हैं । जहाँ पर यह औषधि होती है वहीं पर उक्त तीनों औषधियाँ भी होतीं हैं और उस जगह को भी काम्पील कहते हैं ।

कृष्ण की व्रजलीला और विभूतियाँ ।

एक दिन हमने भी वेदों से भागवत के दशम स्कन्ध की वे घटनाएँ निकालना शुरू की थीं, जो श्रीकृष्ण-भगवान् को कलङ्कित करतीं हैं। पर हमारे इस लेख का अच्छा परिणाम निकला और भागवत तथा गीता से सम्बन्ध रखनेवाले दो बडी घटनाओं पर बहुत बडा प्रकाश पडा। पहले हम वे मन्त्रांश एकत्रित करते हैं, जिनसे कृष्ण की व्रजलीला दिखलाई पडती है।

१. स्तोत्रं राधानां पते।　　(ऋ० १।३०।५)
२. गवामप व्रजं वृधि।　　(ऋ० १।१०।७)
३. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्। (ऋ० १।३२।११)
४. त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि।　　(अथ० ३।१५।३)
५. तमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु।　　(ऋ० ८।९३।१३)
६. कृष्णा रूपाणि अर्जुना वि वो मदे।　　(ऋ० १०।२१।३)

इनमें राधा, गौ, व्रज, गोप, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन सभी मण्डली एकत्रित हो गई है। इसी मण्डली के आधार पर भागवत की रचना हुई है। पर इन मन्त्रों में आये हुये अन्य शब्दों को जब देखोगे तो पता लगेगा, कि ये सब आकाशीय पदार्थ हैं।

ऋ० ६।९।१ में कहा है कि 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' अर्थात् अर्जुन और कृष्ण दोनों दिन के नाम हैं। इसी तरह राधा, धन और अन्न को कहते हैं। गो, किरणों हैं और व्रज किरणों का स्थान द्यौ है। और भी सब इसी प्रकार के आकाशीय पदार्थ हैं। वेदों के इस कृष्णार्जुन अलंकार से ही भागवत और गीता का वह स्थान बनाया गया है, जिसमें कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है कि वृक्षों में पीपल मैं हूँ इत्यादि। ऋग्वेद में सूर्य, इन्द्र और विद्युत् अर्थात् आकाशस्थ आग्नेय शक्तियाँ कहती हैं कि—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ (ऋ० ४।२६।१)

अर्थात् हम मनु, सूर्य, कक्षीवान्, उशना आदि पदार्थ हैं। शुक्र की टेढी चाल भी हम ही हैं। यहाँ गीता का यह वाक्य भी कि 'कवियों में उशना कवि मैं हूँ' स्पष्ट हो जाता है। वह उशना कोई मनुष्य नहीं है। उशना नाम शुक्र का है। इसकी चाल बडी टेढी बाँकी होती है। वेद में नक्षत्रों की इस चाल को काव्य कहते हैं। 'पश्य देवस्य काव्यं' यह वाक्य नक्षत्र काव्यके लिये कहा गया है। इस लिये जो प्रकाश कृष्ण और अर्जुन है, वही उशना काव्य भी है। महाभारत आदि० ४।७७ में लिखा है कि 'उशनसः दुहिता देवयानी' अर्थात् देवयानी उशना की लडकी है। इससे और भी स्पष्ट हो गया कि उशना शुक्र ही है। इस प्रकार से भागवत की व्रजलीला और गीता की विभूतियाँ सूर्य, किरण, वर्षा, अन्न, प्रकाश, ग्रह, ग्रहगति और विद्युत् आदि ही हैं। इन वैदिक वर्णनों को शब्दसाम्य के कारण कथाओं के रूप में लिखकर पौराणिक कवियों ने व्यर्थ ही बात का बतंगड बना दिया है।

हमने कहा तो था एक खेल पर सुलझ गई यह उलझन कि भागवत और गीता किस प्रकार वेद के अलंकारों से कथाओं की सृष्टि करते हैं। हमारे कहने का मतलब सिर्फ यह है कि पुराणों में असम्भव कथाएँ जो लिखीं हैं, वे वेद के आकाशीय वर्णन हैं, जिनको तत्-नामवाले राजाओं के साथ मिला दिया गया है। यहाँ तक हमने चन्द्रवंश से सम्बन्ध रखनेवाले राजाओं का वर्णन किया। अब सूर्यवंश के राजाओं के भी दो एक नमूने देख लेने चाहिए।

राजा इक्ष्वाकु ।

पुराणों में सूर्यवंश का मूल पुरुष मनु है और उसका आदि पुरुष राजा इक्ष्वाकु है। मनु शब्द भी वेदों में आया है, पर वह 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं' (ऋ० ४।२६।१) के अनुसार आकाशस्थ पदार्थ ही है। इक्ष्वाकु शब्द ऋग्वेद में एक ही जगह आया है। ऋ० १०।६०।४ में है कि 'यस्य इक्ष्वाकुः उपव्रते रेवान् मरायी एधते। दिवि इव पंच कृष्टयः' यहाँ रायी, दिवि और कृष्टय शब्द हैं। इनसे ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु कोई कृषि-सम्बन्धी वस्तु है। अथर्ववेद में साफ कह दिया गया है कि वह औषधि है—

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाकोर्यं वा त्वा कुष्ठकाम्यः।
यं वायसो यं मात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः।
(अथर्व० १९।३९।९)

अर्थात् जिसको (लोग) इक्ष्वाकु जानते हैं, कुष्टकाम्य जानते हैं और खाद्य जानते हैं, ऐसी तू सर्वौषधि है। सुश्रुत ४४।७ में लिखा है कि 'इक्ष्वाकु कटुतुम्बिका' अर्थात् इक्ष्वाकु कटुतुम्बी है। दूसरी जगह है कि–

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववदेव क्षीरेण।
कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषु उपयोगः॥
(सुश्रुत ४४।६)

अमरकोष में भी 'इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्' लिखा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में धन और कृषि से सम्बन्ध रखनेवाली यह अथर्ववेद की भेषज भी औषधि ही है। इसको राजा या मनुष्य बनाने की बिलकुल गुंजाइश नहीं है।

राजा अम्बरीष।

हम ऊपर लिख आए हैं कि अम्बरीष का वर्णन सहदेव के साथ आया है और वहाँ इसका अर्थ आमड़ा वृक्ष ही होता है। दूसरी जगह अमरकोष में अम्बरीष भड़भूंजे के झाड़ को भी कहते हैं। इससे अम्बरीष राजा सिद्ध नहीं होता।

राजा त्रिशंकु।

यह राजा भी सूर्यवंश का है। इसके लिये प्रसिद्ध है कि यह ज़मीन और आसमान के बीच में लटका है। इससे समझ लेना चाहिए कि यह न तो मनुष्य है और न राजा। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ! तेषु ज्योतिषु जाज्वलन्।
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्यमरसंनिभः।
अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तम।
त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः स पुरोहितः।
पितामहः पुरोऽस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
(युद्धकांड सर्ग ४)

दक्षिण दिशा लङ्का में रामचन्द्रजी ने इस तारे को देख-कर कहा कि ये हमारे पूर्वपितामह त्रिशंकु हैं। लङ्का से देखने पर यह मध्य रेखा के नीचे लटका हुआ दिखता है। इसीलिये इसको ज़मीन आसमान के बीच में लटका हुआ कहा गया है।

इस तरह से आकाशीय और औषधादि पदार्थों के वर्णनों को, उसी उसी नामवाले राजाओं के वर्णनों के साथ मिलाकर, पुराणकारों ने सच्चे इतिहास को असम्भव और इतिहास–शून्य वेदों को ऐतिहासिक कर दिया है। किन्तु समय फिरा है– ढूँढ तलाश जारी है। इससे आशा है कि सब झगड़ा तय हो जायगा। यहाँ तक हमने राजाओं का दिग्दर्शन कराया, अब आगे ऋषियों के नामों का अर्थ दिखलाया जायगा।

ऋषियों के नाम।

अभी इसके पूर्व यह दिखला आये हैं कि वेदों में जिन पदार्थों का वर्णन है, वे संसार के राजा नहीं, प्रत्युत वे या तो आकाशीय पदार्थ हैं, या वनौषधि हैं। यहाँ इस प्रकरण में हम उन शब्दों का अर्थ दिखलाना चाहते हैं जिनका अर्थ लोग ऋषि, ब्राह्मण अथवा तपस्वी करते हैं।

हमको जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि ये ऋषिवाचक शब्द या तो नक्षत्र, किरण आदि आकाशीय चमत्कारिक पदार्थों के वाचक हैं अथवा वे मनुष्य-शरीर में स्थित इन्द्रियों के वाचक हैं। यहाँ हम पहिले आकाशस्थ पदार्थवाची शब्दों को लिखते हैं।

अगस्ति ऋषि प्रसिद्ध हैं। पर एक अगस्ति नामक तारा भी प्रसिद्ध है जो वर्षा के अन्त में दिखलाई पडता है। उसके उदय होते ही वर्षा बन्द हो जाती है। इस पर से यह कथा गढी है कि अगस्त ने समुद्र को पी लिया। किन्तु तुलसीदास अपनी रामायण में लिखते हैं कि 'उदय अगस्त पन्थ जल सोखा'। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह अगस्त, तारा ही है, ऋषि नहीं।

महाभारत में लिखा है कि–

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः।
अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम्॥
(महा० आदि० अ० ७१)

अर्थात् ध्रुव की प्रदक्षिणा सप्तर्षि करते हैं। यहाँ लोक में भी उत्तर की ओर घूमनेवाले सातों तारों को सप्तर्षि कहते हैं। उधर ध्रुव एक राजा का पुत्र प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि यह ध्रुव कभी पृथ्वी लोक में मनुष्य था। पर अब नक्षत्र है जिसकी प्रदक्षिणा सात तारे करते हैं। ऋग्वेद में उत्तानपाद का वर्णन है, जो ध्रुव से सम्बन्ध रखता है। पर पुराणों ने उत्तानपाद, ध्रुव और सप्तर्षि को मनुष्य बना डाला है, जिससे वेद में आये हुए इन शब्दों से इतिहास का भ्रम होने लगता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति॥
तत्राष्टाशीति साहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।
सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः॥
(याज्ञ० स्मृ० प्रा०)

हम कहीं पहिले कह आये हैं कि वैदिक साहित्य में आकाश भी एक संसार है। वहाँ गली, ग्राम, नगर, युद्ध, ऋषि आदि सभी कुछ है। उसी के अनुसार ऊपर के श्लोकों का भी अर्थ है कि उत्तर गोलार्ध में नागवीथी के अन्त में सप्तर्षि हैं और दक्षिण गोलार्ध में अगस्त्य तारे के पास जहाँ अजवीथी है, वहाँ ८८००० मुनि हैं। इस वर्णन से प्रकट हो गया कि तारागणों को ऋषि-मुनि कहा गया है।

यह सब जानते हैं कि उत्तरस्थित सप्त ऋषियों में एक नक्षत्र का नाम वसिष्ठ है। अभी हमने कहा है कि त्रिशङ्कु दाक्षिण दिशा में है। इसको स्वर्ग (ऊपर) भेजनेवाले विश्वामित्र ही थे। इसलिये इस त्रिशंकु के नीचे ही, दक्षिण में, विश्वामित्र नामी नक्षत्र होना चाहिये। क्योंकि उत्तरस्थित वसिष्ठ और दक्षिणस्थित विश्वामित्र के दिशा-विरोध से ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का विरोधालङ्कार प्रसिद्ध हुआ है। इन कौशिक अर्थात् विश्वामित्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ८० में है।

यहाँ हम एक प्रमाण इन कौशिक के विषय का वेद से देते हैं, जिससे प्रकट हो जायगा कि वे पृथिवी की वस्तु नहीं हैं।

महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः। विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः। (ऋ० ३।५३।९)

इस मन्त्र में कुशिक-विश्वामित्र का नाम है और ऋषि भी कहा गया है। परन्तु यह भी कहा गया है कि आकाश को रोकता है। इसके आगे कहा गया है कि इन्द्र कुशिक के द्वारा सुदास का नुकसान करता है। सब जानते हैं कि इन्द्र मनुष्य नहीं है। यहाँ इन्द्र सूर्य अर्थ में ही है। इसलिए इस मन्त्र का यही भाव होता है कि सूर्य, कुशिक नामक नक्षत्र के द्वारा सुदास नामक किसी आकाशीय पदार्थ का नुकसान करता है। सुदास को भी लोग राजा कहते हैं। पर यहाँ वह भी कुछ आकाश ही से सम्बन्ध रखनेवाला पदार्थ ज्ञात होता है। इस तरह से विश्वामित्र-कौशिक और वशिष्ठ आदि सब नक्षत्र ही ज्ञात होते हैं, मनुष्य नहीं—देहधारी ऋषि नहीं।

अथर्ववेद में दो मन्त्र इस प्रकार हैं।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः। विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ (अथ० १८।३।१५-१६)

इन दो मन्त्रों में तमाम ऋषियों के नाम गिना दिये गये हैं, पर अन्त में कह दिया गया है कि 'सुसंशासः पितरः' अर्थात् ये प्रशंसा करने योग्य पितर हैं। ये पितर सूर्यचन्द्र की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस विषय पर अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रकाश डालता है—

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववत् जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥
(अथर्व० २।३२।३)

अर्थात् हम अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त आदि की तरह कीडों को मारते हैं। अब देखना है कि ये अत्रि आदि कौन हैं? और क्रिमियों को कौन मारता है? ऋग्वेद ५।४०।८ में लिखा है कि 'अत्रिः सूर्यस्य दिवि

चक्षुराधात्' अर्थात् अत्रि सूर्य से सम्बन्ध रखता है। दूसरी जगह ऋ० ५।५१।८ में कहा है कि 'आयाह्यग्ने अत्रिवत्' अर्थात् हे 'अग्नि! तुम अत्रि की तरह आओ।' सूर्य से सम्बन्ध रखनेवाले और अग्नि की तरह आनेवाले तथा कीडों को मारनेवाले ये अत्रि आदि पितर, किरण नहीं हैं तो और क्या हैं? अथर्व २।३२।१ में तो स्पष्ट ही लिखा हुआ है कि 'आदित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः' अर्थात् सूर्य उदय होकर अपनी रश्मियों से क्रिमियों को मारता है। कितना स्पष्ट वर्णन है? इस वर्णन से अब अच्छी तरह समझ में आ गया कि अत्रि, कण्व और जमदग्नि आदि सब रश्मियाँ ही हैं, जो कीडों को मारतीं हैं। इसलिये ऊपर कहे हुये पितर नामी समस्त ऋषि, मनुष्य नहीं प्रत्युत किरणें ही हैं और रोग-जन्तुओं को नाश करनेवाली हैं। वर्तमानकालीन डॉक्टर भी मानते हैं कि सूर्यरश्मियों से हर प्रकार के रोगजन्तु नष्ट हो जाते हैं ×। वेदोंमें नक्षत्र और किरण-वाची सैकडों प्रमाण हैं जो ऋषियों के नाम से कहे गये हैं। पर यहाँ हम विस्तारभय से बहुत नहीं लिखते।

ये तमाम ऋषि जिस ब्राह्मण-राजा के राज्य में रहते हैं उसका भी वर्णन वेद में सुन्दर रीति से इस प्रकार किया गया है।

विप्रराज्य अर्थात् चन्द्रराज्य।

अयं सहस्रं ऋषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥
(ऋ० ८।३।४)

यहाँ हजारों ऋषियों को विप्रराज्य अर्थात् चन्द्रमा के राज्य में बसनेवाले कहा है। चन्द्रमा को विप्र और द्विज-राज आदि कहते ही हैं। चन्द्रोदय में ही-रात्रि में ही नक्षत्रों का प्रकाश होता है। चमकनेवाले सभी तारों में चन्द्रमा अधिक विशाल और तेजस्वी है। अतः उसे सब का राजा कहा है और शीतल होने से विप्र कहा गया है।

बस, आकाशस्थ ऋषियों का इतना ही वर्णन करना है। इसके आगे अब यह दिखलाना है कि शरीरस्थ इन्द्रियों को भी ऋषि कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
(यजु० ३४।५५)

अर्थात् शरीर में सात ऋषियों का वास है। उनके सोने पर भी दो जागा करते हैं। अथर्ववेद में लिखा है कि-

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥
(अथर्व० १०।८।९)

अर्थात् शिर में सात ऋषियों का निवास है। इन ऋषियों से अभिप्राय आँख, कान और नाक आदि से ही है।

यजुर्वेद के 'अयं पुरोभुवः' आदि मन्त्रों में (जिनके द्वारा पार्थिव पूजनके समय प्राणप्रतिष्ठा की जाती है) कहा गया है कि वशिष्ठ प्राण हैं, प्रजापति मन है, जमदग्नि चक्षु हैं, विश्वामित्र श्रोत्र हैं और विश्वकर्मा वाणी है। अर्थात् वेद में आये हुए ऋषियों के वर्णन, या तो आकाशसम्बन्धी अर्थ रखते हैं या शरीरसम्बन्धी। खींचातान करके लोग उनको मनुष्य बनाने का जो उद्योग करते हैं, वह निरा पोच, निस्सत्व और लचर है।

हम अब मनुष्यसम्बन्धी वर्णनों को यहीं पर समाप्त करते हैं। जिन राजाओं और ऋषियों का वर्णन हमने ऊपर किया है उन्हीं से, अथवा उसी प्रकार के अन्य नामों के आ जाने से, लोग इतिहास का भ्रम करने लगते हैं। किन्तु जिस प्रकार हमने इतने नामों का निराकरण किया

× Light, especially the light of the sun, has a truely wonderful effect on nearly all forms of germs. Almost without exception they are killed by the rays of the sun.-(Medical Science of Today. by Dr. Willmott Evans, M. D.)

है और देखा है कि इनमें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। इसी तरह यदि विचारपूर्वक परिश्रम करके ढूँढा जाय, तो सभी नामों का कुछ-न-कुछ दूसरा ही अर्थ निकलेगा और इतिहास की गन्ध तक न रहेगी। इन राजाओं और ऋषियों के अतिरिक्त भी बहुत से शब्द वेदों में आते हैं, जिनका अर्थ सृष्टि की अनेक शक्तियाँ हैं। पर ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण पौराणिक समय में आलसी लोगों ने उन सबको मनुष्य कल्पित करके सबकी कथाएँ बना ली हैं। इसी प्रकार त्रित और भुज्यु आदि की भी कथाएँ बना ली हैं। पर पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों ने अब मान लिया है कि ये पदार्थ सृष्टि के चमत्कारी पदार्थ हैं- मनुष्य नहीं। लो० तिलक महोदय ने 'आर्यों का उत्तर-ध्रुव-निवास' नामी अपने ग्रन्थ में एक जगह इस विषय को विस्तार से लिखा है। उसी का सारांश हम भी यहाँ लिखते हैं।

च्यवन ऋषिकी जवानी।

'अश्विनों के पराक्रम का वर्णन इस प्रकार है- वृद्ध च्यवन को उन्हों ने फिर जवान कर दिया। पतित विष्णायू को स्वाधीन किया। समुद्र में पडे हुए भुज्यु को सौ पतवारवाली नौका द्वारा बाहर निकाला। दश दिन और नव रात्रि तक पानी में पडे हुए रेभ को अच्छा करके बाहर निकाला। खाई में पडे हुए अत्रि को अन्धकार से बाहर निकाला। एक वर्तिका को वृक की डाढ से छुडाया। ऋजाश्व को नेत्र दिये। विश्पला की टूटी टाँग की जगह लोहे की टाँग लगा दी। वध्रिमती को हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया। शय्यू की वृद्ध गाय को फिर दूध देनेवाली कर दी और यदु को एक घोडा दिया इत्यादि।'

लो० तिलक महोदय आगे कहते हैं कि 'इन घटनाओं को मैक्समूलर आदि पाश्चात्य पण्डितों ने शरद् में बलहीन हुए सूर्य को वसन्त में पुनः बलवान् हो जानेके रूपक में लगाया है। पर इनका असल तात्पर्य तो ध्रुव-प्रदेश की घटनाओं से ही है। जो हो, पर मनुष्य की घटना तो नहीं है। मनुष्य की घटना जिन लोगों ने कही है उन्हों ने तो गजब किया है। उन्हें नहीं सूझा कि 'अश्विनौ' से सम्बन्ध रखनेवाले इन वर्णित व्यक्तियों को हम मनुष्य कैसे बता रहे हैं ? 'अश्विनौ' निस्सन्देह आकाशीय पदार्थ हैं, तब फिर वे इन मनुष्यों की सेवा- परिचर्या करने के लिये कैसे आ सकते हैं ? इन्हीं सब बातों को देखकर मैक्समूलर ने कहा है कि 'वेदों में जो संज्ञाएँ (नाम) मिलती हैं वे ठीक-ठीक नाम हैं ऐसा न समझना चाहिए' ×।

मनुष्य-वर्णनों के बाद, इतिहास निकालनेवाले गङ्गा यमुना आदि नदियों के नामों को इतिहाससिद्धि का बडा प्रमाण समझते हैं और इसी पर बडा जोर देते हैं। अतः हम चाहते हैं कि आगे नदियों के नामों का विवेचन करके देखें कि वेदों में नदियों के नामों से क्या भाव निकलता है और नदियों से क्या तात्पर्य है ?

नदियों के नाम।

जिन शब्दों से यहाँ लोक की नदियाँ पुकारी जाती हैं, वेदों में उन्हीं शब्दों के कई अर्थ होते हैं। उन शब्दोंका जो धात्वर्थ है, वह 'चलनेवाला-बहनेवाला-वेगवाला' आदि होता है। नदियाँ भी इसी प्रकार का गुण रखती हैं। वे भी चलनेवाली, बहनेवाली और वेगवाली होती हैं। इसीलिये लोक में वे शब्द केवल नदियों के ही लिये रूढ हो गये हैं। किन्तु वेद में उन शब्दों से किरण, नदी, वाणी आदि अनेक भावों का वर्णन किया गया है। पर जिन लोगों को वेद में परिश्रम करना मंजूर नहीं है, वे दूसरे भावों को निकालने का कष्ट न करके नदी अर्थ करके ही छुट्टी पा जाते हैं।

वेद में गङ्गा, यमुना और सरस्वती आदि नामों के आ जाने मात्र से संयुक्तप्रांत में बहनेवाली उक्त नदियों

× Names .. are to be found in the Vedas, as it were, in still fluid state. They never appear as appellations, not yet as proper names. They are organic not yet broken or smoothed down.— (Max Muller's History of Ancient Sanskrit Literature.)

का वर्णन बताना, बहुत ही सरल प्रतीत होता है। पर जिन मन्त्रों में नदियों का वर्णन बतलाया जाता है, उन्हीं मंत्रों में नदीवाची शब्दों के अतिरिक्त जो अनेक चमत्कारिक शब्द आते हैं (जिनमें आकाश अथवा मनुष्य--शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं), उन शब्दों का क्या अर्थ लगाया जाता है, समझ में नहीं आता। हमने लोगों के नदीसम्बन्धी ऐतिहासिक वर्णन देखे हैं। वे वर्णन नहीं किन्तु आलस और बेपरवाही का चित्र है। लेखकों ने यह भी ध्यान नहीं रक्खा कि इनको पढकर लोग क्या कहेंगे ?

आगे हम कुछ मन्त्रोंके वे अंश उद्धृत करके दिखलाना चाहते हैं, जिनमें नदीवाची और चमत्कारपूर्ण शब्दों का दिग्दर्शन होता है। हम उचित समझते हैं कि इस विषय में अपने उस सिद्धान्त की फिर याद करा दें जिसमें हमने बतलाया है कि पौराणिक काल में चमत्कारिक वर्णनों के साथ ऐतिहासिक वर्णनों का सम्मिश्रण हुआ है। अतएव उसको लक्ष्य में रख कर के ही समस्त वर्णन पढना चाहिए।

गङ्गा और यमुना के लिये प्रसिद्ध है कि गङ्गा विष्णु के चरण से निकली है और यमुना सूर्य की कन्या है। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' आदि मन्त्रों से सिद्ध हो चुका है कि वेद का विष्णु सूर्य के सिवा और कुछ नहीं है। जब गंगा और यमुना का सम्बन्ध सूर्य से है तो वे संयुक्तप्रांत में बहनेवाली नदियाँ नहीं हो सकतीं। अमरकोश में लिखा है कि-

> गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा।
> भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि॥
> (अमर० १।३१)

अर्थात् गङ्गा का नाम विष्णुपदी है, निम्नगा अर्थात् नीचे जानेवाली है और तीन रास्तों तथा तीन स्रोतोंवाली है। विष्णु सूर्य है। सूर्य के पैर से गंगा निकली है और नीचे जानेवाली है। यमुना के लिए भी लिखा है कि 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' (अमर० १।३२) अर्थात् यमुना और सूर्यतनया एक ही वस्तु है। सूर्य से उत्पन्न होनेवाली ये दोनों क्या सूर्य की किरण ही नहीं हैं ?

असिक्नी नदी के लिए ऋग्वेद ४।१७।१५ में लिखा है कि 'असिक्न्यां यजमानो न होता' अर्थात् असिक्नी का सम्बन्ध यज्ञसे है। दूसरी जगह ऋ० ४।२१।४ में लिखा है कि 'यो वायुना यजति गोमतीषु' अर्थात् जो वायुद्वारा गोमती में होम करता है। तीसरी जगह ऋग्वेद १०।१७।९ में है कि 'सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते' अर्थात् उस सरस्वती को जिसमें पितर हवन करते हैं। यहाँ ये तीनों नदियाँ यज्ञ और हवन से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। इस लिए स्पष्ट ही वे किरण की बोधक हैं।

वेद में सूर्य की दश रश्मियों का वर्णन है। ऋग्वेद ८।७२।८ में 'आ० दशभिः खेदयाः' और ९।९७।२३ में 'रश्मिभिर्दशभिः' आया है। दूसरी जगह ऋग्वेद १०।२७।१६ में है कि 'दशानामेकं कपिलं' अर्थात् इन दश में एक का नाम कपिल है। शेष नव के लिए जो नाम आए हैं वे वही गंगा यमुना आदि हैं, यथा—

> इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं
> सचता परुष्णि आ। असिक्न्या मरुद्वृधे
> वितस्तया आर्जीकीये श्रृणुहि आ सुषोमया॥
> (ऋ० १०।७५।५)

अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता और आर्जिकीया आदि सोम से सम्बन्ध रखती हैं। ये गङ्गा आदि नाम उक्त नव किरणों के हैं। दशवीं किरण कपिल कहलाती है। अन्य स्थान में इनके नव नाम ही गिनाये गये हैं। ×

इन दशों के लिये ऋ० ५।४७।४ में कहा है कि 'दश गर्भं चरसे धापयन्ते' अर्थात् उक्त दशों पृथ्वी में गर्भ धारण करती हैं। सूर्य की दश किरणों पृथ्वी पर आकर गर्भ—भर्ग—प्रकाश को देती हैं। इन्हीं दश किरणों को सूर्य के १० पुत्र भी कहा गया है, जो पृथिवी में पैदा होते हैं। वह प्रसिद्ध मन्त्र यह है।

× इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्यातेऽदिते सरस्वति महि।
विश्रुति एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥ (यजु० ८-४३)

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥
(१०।८५।४५)

यहाँ इन्द्र शब्द सूर्य का ही द्योतक है। वह पृथ्वी में अपनी उक्त दशों किरणों से गर्भ धारण करता है। वही किरणें लौटकर उस के दश पुत्र हो जाती हैं।

ऊपर गङ्गा, यमुना आदि नदियों को जो सूर्यसे उत्पन्न लिखा है उसका भी यही मतलब है कि वे सूर्य की किरणें हैं। दशों दिशाओं में फैली हुई इन दश किरणों में से सात प्रधान हैं। वेदों में उन सात किरणों का भी नदियों के नाम ही से वर्णन आता है। ऋग्वेद ४।१३।३ में लिखा है कि 'तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति।' यहाँ सूर्य, हरित (किरणें) सप्त और वहति क्रिया ये चार पद, सात किरणों के बहने का साफ वर्णन कर रहे हैं। दूसरी जगह ऋ० १।१८१।६ में 'वेषन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः' कहकर नदियों का ऊपर से सम्बन्ध दिखलाया है। तीसरी जगह ऋ० ५।५२।१७ में कहा है कि 'सप्त मे सप्त शाकिन एक-मेका शता ददुः। यमुनायामधि श्रुतम्'। यहाँ सात के साथ यमुना को कहा है। पर ऐतिहासिक लोग जहाँ सप्तसिन्धु में सात नदियाँ बतलाते हैं, वहाँ यमुना नहीं है। यमुना तो संयुक्तप्रान्त से ही निकली है। ऊपर हम यमुना को सूर्यपुत्री लिख आये हैं। इसलिए यमुना से सम्बन्ध रखनेवाली ये सातों नदियाँ सूर्य की पुत्री ही हैं। अर्थात् सातों सूर्य की रश्मियाँ ही हैं। ऋग्वेद ८।६९।१२ में आये हुए 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुरक्षन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरा-मिव' मन्त्र का अर्थ लो० तिलक महोदय ने यह किया है कि 'आकाश में बहनेवाली और अन्त में वरुण के मुख में पडनेवाली सात नदियाँ हैं'। इस से भी वे आका-शीय किरण ही सिद्ध होती हैं। दूसरी जगह है कि-

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा।
(ऋ० १।१२५।५)

अर्थात् सूर्य के पृष्ठभाग में जहाँ देवताओं के साथ जीव जाता है वहाँ सिन्धु-नदियाँ उत्तम जल बहाती हैं। यह भी किरणों का ही वर्णन है।

यह प्रसिद्ध है कि ऋग्वेद के ९ वें मंडल का ११३ वाँ सूक्त मोक्षस्थान का वर्णन करता है और मोक्षधाम सूर्य के पृष्ठभाग को बतलाता है। वहाँ भी बडी बडी सात नदियों का वर्णन है। ये नदियाँ सिवा किरणों के और क्या हो सकती हैं? वह मन्त्र यह है-

यत्र राजा वैवस्वतो यत्र अवरोधनं दिवः।
यत्र अमूः यह्वतीः आपः तत्र मां अमृतं कृधि॥
(ऋ० ९।११३।८)

अर्थात् जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ सूर्य अवरोधन है और जहाँ बडी बडी नदियाँ हैं, वहाँ मुझे अमर कर। यह समग्र सूक्त मोक्षस्थान के विषय का है और नदियों की तरह किरणों का वर्णन करता है। इन सातों किरणों के नाम ये हैं—

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ (ऋ० १०।७५।६)

इस मन्त्र में, तृष्टामा, सुसर्त्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती और मेहत्नु के साथ मिली हुई क्रुमु है। इन सात नदीरूपी किरणों के लिए वेद में (त्रिवृतं सप्ततन्तुम्। ऋ० १०।५२।४ आदि में) 'त्रिवृत' शब्द बहुतायत से आता है। त्रिवृत का अर्थ है तिहरा। तिलडिया सूत की तरह ये किरणें भी तिहरी हैं। इसमें एक भारी विज्ञान की बात कही गई है। ऊपर से जो सात किरणें आती हैं वे तिहरी होतीं हैं।

अर्थात् उनमें तीन चीजें होती हैं। वे तीन चीजें आप, जल और अग्नि हैं। आप, आकाश-तत्त्व है जिसे ईथर कहते हैं। उसीके सहारे सूर्यकी किरणें आती हैं, जो अग्नि है। वे आग्नेय किरणें पृथ्वी अथवा बादलों से जल लेती हैं इसलिए जलीय भी हैं। इस तरह वे त्रिवृत रहती हैं। यहाँ नमूने के लिए ऋ० ९।६६।६ का मन्त्र देखिये- 'तव मे सप्त सिन्धवः प्रसिषं सोम सिस्रते। तुभ्यं धावन्ति

धेनवः ' अर्थात् सोम से भीगे हुये सप्त सिन्धुओं में धेनु दौडती हैं । यह धेनु शब्द किरण का ही वाचक है। ये धेनु– किरणें, सिन्धु–जलों के साथ दौडती हैं । दूसरी जगह ऋ० १।५०।९ में कहा है कि ' अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः। ' यहाँ ' युक्तिभिः ' से सूचित किया है कि तीनों पदार्थ युक्ति से एक दुसरे में लिपटे हुए हैं । अन्त में साफ साफ कह दिया है कि ' अस्मत् नदीभिः उर्वशी वा गृणातु ' (ऋ० ५।४१।१९) । इस मन्त्र में नदी के साथ उर्वशी का सम्बन्ध दिखता है । पुरूरवा प्रकरण में हमने दिखला गया है कि ' उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ ' के अनुसार उर्वशी अप्सरा सूर्य की किरण ही है । यहाँ वेद ने ही स्पष्ट कर दिया कि ये नदियाँ किरणें ही हैं । किरणें सात हैं और दश हैं जो ऊपर बतलाई गई हैं । यहाँ सप्तसिन्धु से जो लोग सिन्ध हैदराबाद और पञ्जाब का इतिहास ढूँढते हैं वे कितनी गलती करते हैं, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है । तिलक महोदयने साफ साफ कह दिया है कि ' सप्त-सिन्धु से पञ्जाब सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पञ्जाब में तो सात नदियाँ नहीं हैं ।'

यजुर्वेद में एक मंत्र है, जिसमें पाँच नदियों का वर्णन है और देश शब्द भी आया है । इसमें भी कुछ लोग पञ्जाब का वर्णन बतलाते हैं, पर मंत्र में कुछ और ही वर्णन है । वह मंत्र यह है–

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥

(यजु० ३४।११)

अर्थात् पाँच नदियाँ अपने अपने स्रोतों से सरस्वती को जाती हैं और वह सरस्वती पाँच प्रकार की होकर उस देश में बहती है । पंजाब की पाँचों नदियाँ न तो सरस्वती को जाती हैं, न पाँच धारा होकर सरस्वती ही बहती है और न सरस्वती पञ्जाब में ही बहती है । वह तो कुरुक्षेत्र ही में है । पंजाब की तो पाँच नदियाँ दूसरी ही हैं । सरस्वती शब्द, निरुक्तकार कहते हैं कि–

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत् । वाक्कस्माद्वचतेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवंति॥

(नि० नै० कां० पाद ७)

अर्थात् वाणीवाचक नामों में से सरस्वती शब्द, वेद में नदी और देवता के लिये आता है । उपर्युक्त मंत्र में चित्त की पाँच पाँच वृत्तियाँ ली गई हैं और वे पाँचों स्मृति में ठहरकर वाणी द्वारा फिर पाँचों प्रकार के इजहार करनेवाली होती हैं । इन इन्द्रियरूपी पाँचों नदियों के नाम ये हैं ।

मा वो रसा अनितभा कुभा क्रुमुः मा वः सिन्धुः नि रीरमत् । मा वः परि ष्ठात् सरयुः पुरीषिणी अस्मे इत् सुम्नं अस्तु वः ॥ (ऋ० ५।५३।९)

अर्थात् हे मरुतो ! हमको आपको रसा कुभा क्रुमु सिन्धु और फैले हुए जलवाली सरयू सुखदायी हो । इस विवरणका तात्पर्य यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का विषय वाणी होकर बहता है और वाणी द्वारा आया हुआ ज्ञान पाँचों इन्द्रियों का विषय होता है । दूसरी जगह ' सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ' (ऋ० ९।७३।७) मंत्र में भी हजारों धाराओं से बहनेवाले ज्ञान और वाणी को विद्वानों ने पवित्र करनेवाला कहा है, जो नदीरूप से वाणी का ही वर्णन है । इसलिए यह सरस्वती नाम वाणी का ही है, जैसा कि यजु० २०।४३ में कहा है कि " सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तिः " अर्थात् सरस्वती, ईडा और भारती वाणी के नाम ही हैं । यहाँ उक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को भी नदी कहा गया है और वाणी को भी नदी ही बताया है । इस पाँच नदीवाली वाणी को ऋ० २।४०।३ में 'पंचरश्मिम्' अर्थात् पाँच रश्मिवाली कहा है। इसी तरह ऋ० १।३।१२ में ' महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति ' आया है । जिसमें बुद्धि को भी सरस्वती कहा है । बुद्धि भी गाम्भीर्य और प्रवाह में नदी की ही भाँति है । इस तरह से वेद में किरणों को, नदी को, इंद्रियों को, वाणी को और बुद्धि को नदीवाले शब्दों से वर्णन किया गया है, तथा गङ्गा आदि नाम इन्हीं पदार्थों के लिये कहे गए हैं।

किंतु लोक में आर्यों ने अपने व्यवहार के लिए वेद के शब्दों से अपनी व्यवहार्य नदियों के भी नाम रख लिए हैं, जो अबतक चल रहे हैं। पारसियों ने इरान में जाकर सरस्वती शब्द से हरह्वती और सरयू से हरयू नाम रक्खा है। हिन्दोस्तान में तो सैंकडों नदियों के गंगा और सरस्वती नाम हैं। इसलिए वेद में आई हुई नदियाँ भारत की नदियाँ नहीं हैं और न वेद में गंगा आदि नाम इन गंगा, यमुना आदि नदियों के लिए आये हैं। ये नाम किरणों और इन्द्रियों के हैं। शरीर में भी गंगा आदि नदियाँ हैं।

> सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतौ अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥
>
> (यजु० ३४।५५)

अर्थात् सात ऋषि इस शरीर की रक्षा करते हैं और 'सप्तापः' अर्थात् सात नदियाँ सोती हैं। शरीर में बहनेवाली ये नदियाँ इन्द्रियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यह थोडासा नदियों के विषय का दिग्दर्शन हुआ। पाठकों को चाहिए कि वे वेदों के वे मन्त्र अवश्य देखें जिनमें ऐतिहासिक नदियों का वर्णन बतलाया जाता है। वहाँ उन्हें तुरन्त ही दूसरे अलौकिक वर्णनवाले शब्द मिल जायँगे और सिद्ध हो जायगा कि यह इस लोक की नदियों का वर्णन नहीं है।

वेद में नदी के नाम से नदी, किरणें, वाणी और इंद्रियों का वर्णन आता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी मंत्र में नदियों का वर्णन संख्या के साथ नहीं किया गया। इसका कारण है और वह अत्यंत सत्य नींव पर स्थित है।

कल्पना करो कि आपने कहा कि यहाँ अमुक अमुक चार नदियाँ हैं। तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमुक अमुक चार नदियाँ किसी सीमा के अंदर हैं। क्योंकि संसार में चार ही नदियाँ नहीं हैं। उदाहरणार्थ पंजाब में पाँच नदियाँ हैं। क्योंकि पाँच नदियोंसे ही वह पंजाब कहलाता है। वे नदियाँ पाँच तभी कहला सकती हैं, जब पंजाब की सीमा स्थिर हो। जब तक सीमा स्थिर न हो तब तक यही कहा जायगा कि पाँच ही क्यों हैं? कलकत्ते तक की सभी नदियाँ क्यों नहीं? परन्तु हम देखते हैं कि वेदों में देशों की सीमा का कहीं पर वर्णन नहीं है। इसलिये वेद में आया हुआ संख्यावाचक वर्णन नदियों के लिये नहीं कहा जा सकता।

यहाँ तक हमने वेदमें आये हुए राजाओं, ऋषियों और नदियों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों को यद्यपि विस्तारसे नहीं, तथापि पूरे विवेचन के साथ नमूना दिखलाने के लिये लिखा और उन मंत्रों में आये हुए अन्य शब्दों के साथ मिला कर देखा तो यही ज्ञान हुआ कि ये पदार्थ, लोक से सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक पदार्थों से कुछ भी संबंध नहीं रखते।

हम मंत्रों का भाष्य नहीं करते। हमें भाष्य करना पसंद भी नहीं है। हम तो यहाँ मंत्र या मंत्रांश लिखकर उन शब्दों को जिनसे इतिहास निकाला जाता है, उसी मंत्र को अन्य शब्दों से मिलाकर केवल यह दिखलाते हैं कि इन ऐतिहासिक शब्दों का साथ दूसरे शब्द नहीं देते। बस इसके सिवा हम और कुछ नहीं करते।

ऐतिहासिक लोग राजाओं, ऋषियों और नदियों के शब्दोंपर ही विशेष जोर देते हैं। पर हम चाहते हैं कि आगे इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले नगर और देशों के नामों का भी कुछ वर्णन कर के नमूना दिखला दें कि वेदमें आये हुये नगर और देशसम्बन्धी शब्द भी कुछ दूसरा ही मतलब रखते हैं।

नगर और देश।

वेदों में नगरसम्बन्धी शब्द नहीं हैं। वेदों में इतिहास बतलाया जाता है। इतिहास मनुष्यों का होता है और मनुष्य किसी ग्राम या नगर में बसते हैं। परन्तु यहाँ की दशा भिन्न है। वेदों में जिन राजा और ऋषियों का इतिहास बतलाया जाता है, उनके निवासस्थानों, ग्रामों और नगरों का वर्णन वेदों में नहीं है। इस से यह बात बिलकुल ही सिद्ध हो जाती है कि वेदों में इतिहास नहीं है। इतिहास निकालनेवालों ने इस प्रश्न को जान बूझकर छोड दिया है।

अभी राजाओंका वर्णन करते हुये हमने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के साथ काम्पील नगर को देखा कि उसका सम्बन्ध उक्त बालिकाओं से नहीं है। काम्पील उस स्थान का नाम है, जिसमें उक्त औषधीयाँ पाई जातीं हों। क्योंकि उक्त अम्बादिकों को काम्पीलवासिनी कहा गया है। यदि उक्त कथाएँ ऐति-हासिक होतीं तो उनका निवास काशी या हास्तिनापुर होता। काम्पील से तो उनका कोई वास्ता ही नहीं है। अतः काम्पील शब्द उस कम्पिल नगर के लिए नहीं आया, जो कन्नौज के पास है। किन्तु उस स्थान का वाचक है जहाँ वे दवाइयाँ पैदा होतीं हैं। इसी तरह अथर्ववेद में अयोध्या नगरी का नाम आता है। पर उसका मतलब उस अयोध्यासे नहीं है, जिसको कि राजा इक्ष्वाकु ने बसाया था। देखो वेद की अयोध्या का कैसा उत्तम वर्णन है-

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तास्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तास्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथर्व० १०।२।३१-३२)

' अर्थात् आठ परिखा और नव द्वारवाली देवनगरी अयोध्या है। इस में हिरण्यकोश है, जो स्वर्गज्योति से आवृत है। यहाँ तिहरा बन्दोबस्त है। और यक्ष आत्माकी भाँति बैठा है जिसको ब्रह्मविद् लोग जानते हैं।' कहिये कैशी अयोध्या है? कैसा उत्तम वर्णन है? और कैसी यह शरीररूपी नगरी है※? वैदिक कालमें महाराजा मनु के वंशजों ने सरयू-तट पर अयोध्या नगरी बसाई थी। और वेद के शब्द से ही उसका नाम रक्खा था। क्योंकि मनुका दावा है कि 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे' अर्थात् वेद-शब्दों से ही सब पदार्थों के नाम रक्खे गये हैं। यह नाम वेदों से लिया गया था। इसमें भी नव दरवाजे थे +। जिस प्रकार आत्मा की रक्षा इस शरीर से होती और वह सुखपूर्वक इसमें रहकर अपने कल्याण का साधन करता है, उसी तरह इस अयोध्या नगरी में महाराजा मनु और इक्ष्वाकु की प्रजा सुख से रहती और अपने कल्याण की साधना करती थी।

वेद में शरीर का नाम अयोध्या है। इसी शरीर परसे इसका नाम अयोध्या रक्खा गया है। वेद के अर्थों का तारतम्य लगाने के लिये यह कितना अच्छा प्रमाण है? बस, नगरसम्बन्धी ये दो ही उदाहरण हैं, जिनको देकर आगे देशका वर्णन करते हैं।

गजब की बात है कि जिस देश में आर्य लोग रहते थे, उस देश का भी नाम वेद में नहीं है। ऋषियों ने हजारों मन्त्र उषा और अश्विनौ के बना डाले, पर एक भी मन्त्र अपने देशके नाम का न रचा! इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपने नगर और गाँव तक का नाम न लिखा, तब उनको देश का नाम रखने की कब परवाह होगी? अथवा यह कह दिया जा सकता है कि वेदकालीन आर्यों में देश का भाव ही पैदा नहीं हुआ था। किन्तु हम देखते हैं कि वेद में व्रज, अर्व, गान्धार, रूम, रूश, अङ्ग, बाह्लीक और मगध आदि नाम पाये जाते हैं, जो इस देश में और पृथ्वी के अन्य खण्डमें स्थित हैं। इतना सब होने पर भी वेद में आर्यावर्त या भारतवर्ष का कुछ भी नाम नहीं है! इसी तरह वेद में पञ्जाब और युक्तप्रान्त का भी नाम नहीं है जहाँ वैदिक आर्य फूले और फले थे। ऋषियोंने भारत और आर्यावर्त नाम तो रक्खा, पर वेद ने इन नामों का जिक्र तक नहीं किया। वेद में इनका वर्णन होना भी नहीं चाहिये था। क्योंकि जब वेद में इतिहास है ही

※ नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्। (गीता)
नव द्वारे को पींजरा तामे पंछी पौन। रहने में आश्चर्य है गये अचंभा कौन।

+ जयपुर नगर भी इसी सिद्धान्त के अनुसार नव द्वारों से युक्त है। इस नगर को प्रसिद्ध ज्योतिषियों की सलाह से सवाई जयसिंह ने विधिपूर्वक बसाया था।

नहीं, तब देश का नाम कैसे हो सकता है ? इसलिये व्रज, अर्व और गान्धार आदि शब्दों से सूचित होता है कि इन शब्दों का अर्थ वर्तमानकालीन व्रज, अरब और गान्धार नहीं है।

हम ऊपर कहीं कह आये हैं कि व्रज नाम उस स्थान का है जहाँ गौवें चरतीं हों और रहतीं हों। हमारे देश का व्रज चौरासी कोस का है। इस चौरासी कोस में कृष्ण भगवान् के समय में गौवें चरा करतीं थीं। वेद में कई जगह व्रज का जिक्र आता है। यथा 'व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो' अर्थात् राजा बहुत से व्रज स्थापित करे। किन्तु वेद के इस व्रज से मथुरा के पास-वाला व्रज न समझ लेना चाहिये। प्रत्युत यह समझना चाहिए कि यह मथुरा-वृन्दावन के पासवाला व्रज नाम भी वेद-शब्द से ही रक्खा गया है। वेद में गौगोष्ठों का ही नाम व्रज है। इसलिये गौगोष्ठ होने से वह भी व्रज कहलाता है। ऋग्वेद में सूर्य और द्यौ को भी व्रज कहा गया है, क्योंकि वहाँ भी किरणरूपी गौवें रहती हैं।

जिस प्रकार गौवों के बडे बडे गोष्ठोंको व्रज कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ बहुत ही अच्छे घोडे पैदा होते हैं, उस देश को अर्व (अरब) कहते हैं। वेद में अर्वन् और अर्व शब्द हजारों बार घोडे के लिये आते हैं। अब मौजूदः अरब देश की ओर दृष्टि कीजिए और देखिये कि वहाँ कैसे अच्छे घोडे पैदा होते हैं ? अच्छे घोडे पैदा होने के कारण ही उस देश का नाम अरब या अर्व रक्खा गया था। द्यौलोक को भी अर्व कहा गया है, क्योंकि वहाँ किरणरूपी अश्व रहते हैं।

जिस प्रकार अच्छी गौवों के बडे चरागाह को व्रज और उत्तम घोडों के पैदा करनेवाले भूभाग को अर्व (अरब) कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ उत्तम भेडें (Sheep) पैदा होती हों, उस देश को गान्धार कहते हैं।

वैधक में गान्धारी कहते हैं जवासा को। जवासा उन दिनों में हराभरा होता है, जब जेठ मासकी लू चलती है और घास जलकर खाक हो जाती है। यह जवासा जहाँ होता है, वहाँ उसकी छाया में घास भी होती है और धूप के दिनों में भी मेष मेषियों के चरनेके लायक कुछ न कुछ बनी रहती है। जिस स्थानमें अधिक जवासा होगा, वहीं पर भेडों की अधिक चराई होगी। अतः वही देश गान्धार कहलायेगा। वर्तमान काबुल के पास-वाले देश का नाम भी इसीलिए गान्धार पडा है। क्योंकि वहाँ की भेडें प्रसिद्ध हैं और बहुत हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र है कि—

उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥
(ऋ० १।१२६।७)

अर्थात् "समीप आओ, मुझे छुओ, मुझमें कम न समझना। अब मैं गान्धारी की भेडों की तरह सब शरीर में रोमवाली हो गई हूँ, अतः मुझे अब योग्य समझो।" यहाँ गान्धारी भूमि अर्थात् जवासा-भूमिमें चरनेवाली भेड के से बालोंका वर्णन किया है। इससे स्पष्ट हो गया कि अच्छी भेडोंवाले देश को गान्धारी या गान्धार कहते हैं और वर्तमान गान्धार इसी कारण से प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ८।४।२ में 'यद्वा रुमे रुशमे' अर्थात् रूम और रूस के नाम भी आये हैं। जिस प्रकार अमुक अमुक उत्कृष्ट कारणोंसे अमुक अमुक भूमिखण्ड को व्रज और अर्व आदि कह सकते हैं, उसी तरह अमुक उत्कृष्ट गुणोंके कारण कुछ देशों के नाम रूम और रूस भी हो सकते हैं। वर्तमान प्रसिद्ध रोम और रूस देशोंके भी नाम वैसे ही उत्कृष्ट कारणों से रक्खे गये होंगे। पर अब उनका अर्थ ज्ञात नहीं है। सम्भव है रूम से पशमीना और रूस से भी कोई ऐसी ही वस्तु प्राप्त होती हो।

मागध।

अथर्ववेद काण्ड १५ में मागध शब्द भी इस प्रकार आता है कि—

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानम् ॥१॥
उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानम् ॥२॥
इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानम् ॥३॥
विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानम् ॥४॥

यहाँ पुंश्चली और मागध विज्ञान बतलाकर उषा और विद्युत् के साथ सम्बन्ध जोडा गया है। आकाशीय पदार्थों के व्यभिचार से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। मनुस्मृति में हम वर्णसङ्कर प्रकरण में देखते हैं कि अमुक अमुक वर्ण के सङ्कर-संयोग से मागध पैदा होते हैं। पुराने जमाने में जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ रहतीं होंगीं, उसी

स्थान का नाम मागध रखते होंगे। मगध देश जिसको 'मग' कहते हैं और जो काशीके उस पार है, उसमें मरने से नरक प्राप्त होना लिखा है। यह इसीलिये कि मध्यम काल में वह मगध था और वहाँ दुश्चरित्रा स्त्रियाँ रहा करतीं होंगी। इसी तरह ऋ० ३।५३।१४ में लिखा है कि 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' अर्थात् कीकट में गौवें क्या करेंगीं? वेद में मना किया गया है कि कीकट में गौवों को नहीं रहना चाहिये। इस से ज्ञात होता है कि जहाँ गौवों को दुःख हो, जहाँ उनके दुःख देनेवाले प्राणी हों, वहाँ गौवें न रहें। गया प्रान्त में किसी समय ऐसे प्राणी थे, जो गौवों को सताते थे। इसीलिए उस स्थान को कीकट कहा गया है। कीकट देश मगध और अङ्ग के पास ही है। अङ्ग देश ज्वर-प्रधान होने से और मगध व्यभिचारप्रधान होने से ज्ञात होता है कि वहाँ अनार्यों का प्राधान्य था। वे गोवध करते होंगे, इसीलिए आर्य लोग उस जगह को कीकट कहने लगे और मानने लगे कि मगध, कीकट, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, आदि देशों में वास करने से मनुष्य पतित हो जाता है। कहीं का श्लोक है कि—

अङ्गवङ्गकलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

अर्थात् विना तीर्थयात्रा के यदि कोई अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र और मगध देश को जायगा, तो फिर से संस्कार करने योग्य समझा जायगा। तीर्थों के लिए लिखा है कि—

कीकटेषु गया पुण्या पुण्या नदी पुनपुना।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम्॥

अर्थात् कीकट में गया, पुनपुना नदी, च्यवनाश्रम और राजगृह पवित्र हैं, शेष पापस्थान हैं। वेद में अङ्ग, मगध, कीकट आदि नाम उन स्थानों के लिए आये हैं, जहाँ बीमारी हो, लोग दुराचारी और गोहत्यारे हों। उपर्युक्त स्थानों में यही सब लक्षण देख कर सर्वश्रेष्ठ आर्यों ने उनके वैसे नाम रक्खे थे और वहाँ जाने से भय करते थे।

वेद में बाह्लीक शब्द भी आता है। भावप्रकाश में लिखा है कि 'सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिंगु रामठम्' अर्थात् बाह्लीक हींग को कहते हैं। इसका मतलब यही है कि हींग केसर आदि पदार्थ जहाँ होते हों, उसे बाह्लीक कहते हैं। आज भी बलख–बाह्लीक से हींग और केसर आती है। पुराने जमाने में उक्त पदार्थों के वहाँ उत्पन्न होने से ही वे नाम पडे होंगे।

यहाँ तक हमने वेद में आये हुये राजाओं, ऋषियों, नदियों, नगरों और देशोंके नामों को विस्तारसे देखा और सबको अलौकिक वर्णनों से युक्त ही पाया। कोई ऐसा नाम न मिला, जिसके आसपास के शब्द चमत्कृत वर्णन-वाले न हों। कहीं इन्द्र मौजूद है, कहीं अश्विनौ बैठे हैं, कहीं सूर्य है, कहीं किरणें हैं और कहीं विद्युत् हाजिर है। इसी तरह कहीं वनस्पति हैं अथवा शरीर की कोई इन्द्री है। ऐसी दशा में उन शब्दों को ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ जोडना हमें तो ठीक नहीं जँचता। हम उन विद्वानों की हिम्मत की प्रशंसा करते हैं, जो हवा में पुल बाँधते हैं।

जिस प्रकार इन थोडे से शब्दों का नमूना दिखलाया गया, उसी तरह सभी ऐतिहासिक शब्दों पर प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु हम वेद–भाष्य करने नहीं बैठे। हमें तो केवल थोडा–सा नमूना दिखलाकर पाठकों से यह निवेदन करना है कि वे थोडी देर के लिए अपने मगज में जमे हुए इस विचार को निकाल दें कि वेदों में ऐतिहासिक सामग्री है। वे प्रत्येक ऐतिहासिक नामों के आसपासवाले शब्दों पर साधारण दृष्टि डालें, तथा उन ऐतिहासिक शब्दों को मन्त्रों के अन्य शब्दों के साथ मिलावें, तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि वेदों में न तो ऐतिहासिक मनुष्यों का वर्णन है और न उनसे सबन्ध रखनेवाले पदार्थों का जिक्र है।

ऋ० ३।१६।२ में 'इमं नरो मरुतः' और ३।७।७ में 'अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः' कहा गया है। यहाँ मरुत को नर–मनुष्य और पाँच अध्वर्यु अर्थात् पाँच ज्ञानइन्द्रियों को सात विप्र कहा गया है। आँख, कान, नाक, मुख और चर्म ये पाँच अध्वर्यु हैं और इनमें दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख, ये सात छिद्र विप्र हैं। जब मनुष्यसम्बन्धी शब्दों से भी अन्य ही पदार्थों का ग्रहण किया गया है, तब भला आकाशीय पदार्थों से इतिहास के लिए कहाँ ठिकाना है?

वेद-भाष्य ।

(लेखक— पं० तडित्कांतजी वेदालङ्कार)

लेखक

महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती महाराजके पश्चात् आधी शताब्दिसे भी ज्यादा आर्यसमाजके सतत प्रचार करते रहनेपर, आज वेदोंके विषयमें जाननेके लिए जनता अभिलाषा प्रकट करने लगी है, यह संतोष की बात है। आर्य-समाजने समय समयपर वैदिक साहित्य की छोटी मोटी पुस्तकें प्रकाशित करके, उपदेशकों, प्रचारकों तथा सालाना जलसों के मारफत वेदों का संदेश पहुंचानेका जो प्रयत्न किया है, उसका फल आज देखनेको मिल रहा है। आम जनताका पुनः वेदोंकी ओर ध्यान आकर्षित होने लगा है। इतनाही नहीं विरोधी लोगभी इस महान् प्रचारसे भयभीत होकर वेदोंमें क्या है, यह जाननेके लिए प्रयत्न-शील हो रहे हैं। अब सिर्फ " वेदोंमें ऐसा लिखा है " इतना कहनेसे काम नहीं चल सकता। जनता केवल दूसरोंके मुखसे ही वेदका उपदेश सुनकर संतुष्ट होना नहीं चाहती। जिस वेदकी इतनी बडीभारी महिमा बताई जा रही है, उसमें क्या लिखा हुआ है, इस बातको स्वयं जाननेके लिये लोग उत्सुक हो रहे हैं। पर इस समय वेद तो बडेबडे विद्वानों के लिए भी समझने पर्याप्त कठिन हो रहे हैं। ऐसी दशामें साधारण जनता की तो बातही अलग रही। अतएव जनताकी ओर से बार बार यह मांग पेश होने लगी है कि उन्हें वेदका प्रचलित भाषामें भाष्य चाहिए। समाजको यह दोष दिया जाने लगा है कि उसने कुछभी नहीं किया। इतने वर्ष बीत गये, पर वह अवतक वेदोंका भाष्यभी प्रकट नहीं कर सकी, इत्यादि।

जहां जनताकी इस मांग को पूरी करनेकी दृष्टि से, या अपने कर्तव्य की दृष्टिसे, अथवा तो दिए गए उपालंभों को न सह सकनेकी वजहसे, कुछभी कहो, आर्यसमाजकी बडी बडी संस्थाओंमें वेद-भाष्य करनेकी वृत्ति अंकुरित हुई। भाष्य होने प्रारंभ हुए। कुछ पूर्ण हुए, कुछ हो रहे हैं और कुछ तैयारीमें हैं। हमें यहां उन भाष्योंके विषयमें कुछभी नहीं कहना। वेदोंके भाष्यों की निःसंदेह आवश्यकता है। परंतु वे भाष्य कैसे होने चाहिए इस बातका विचारना उतनाही जरूरी है जितना कि वेदोंका भाष्य होना जरूरी है। भिन्न भिन्न संस्थाओं द्वारा किए गए भाष्योंमें अगर मतभेद हुआ तो हमारे ख्यालमें इन भाष्योंपर किया गया

परिश्रम तथा धनका अपव्यय ही होगा। एकही उद्देश्य व सिद्धांतवाली संस्थाओंकी ओरसे भिन्न भाष्योंका प्रकट होना भविष्यमें जहां वेदोंके अर्थों को अनिश्चित बना देगा वहां आर्यसमाजमें, यह पक्षविपक्ष बनानेमें भी बडा भारी कारण होगा। जनता वेदोंके भाष्य अवश्य चाहती है,पर वह इस भविष्यमें होनेवाले विपरिणामको बिलकुल नहीं चाहती! भिन्न भाष्योंमें एकही मंत्रके अर्थ और परिणाम अलग अलग हुए तो दोनोंही भाष्य विवादास्पद होनेसे निरर्थक हो जांयगे। कमसे कम साधारण जनताके लिए तो वे बिलकुल ही व्यर्थ होंगे।

हमारे ख्यालमें इस समय भाष्य करने करवानेकी जो प्रबल आकांक्षा भिन्न भिन्न संस्थाओंमें प्रबल रूप धारण कर रही है, उसे अगर संगठित नहीं किया गया तो भविष्यमें किये कराये पर पानी फिर जानेकी नौबत आयगी। जनतामें भी इस विषयक पर्याप्त असंतोष है। इसी लिए जब कोई संस्था अपना अलग अलग भाष्य करानेकी इच्छा प्रकट करती है, तो उसपर पर्याप्त ऊहापोह होती है। इस प्रकारके भिन्न भिन्न स्वतंत्र भाष्योंको विरोध भी खूब जोरोंसे होता दिखाई पडता है। पर यह सब अरण्य-रोदनके समान ही होता है। अस्तु। अब देखना यही ह कि इन सबका परिणाम क्या आता है ?

आजकल हमारे लिए वेद समझने बहुत कठिन हो गए हैं। ऋषि आदि कई ऐसी समस्यायें हैं जिनपर सबका एक मत होना लगभग असंभव है। यह सब क्यों हुआ है, इसपर विचार करनेसे कुछ बातोंका ख्याल आ सकता है। जैसे कि—

(१)वैदिक विचारसरणीसे हमारी विचार-सरणी का, बीचमें कालका बहुत बडा व्यवधान पड जाने से, लगभग बिलकुल बदल जाना एक बडा भारी कारण कहा जा सकता है।

हमारे और वेदोंके जमानेमें कालकी दृष्टिसे इतना ज्यादा अंतर पड गया है कि लगभग हमारे विचार, ध्येय, सिद्धांत, आचार, रीति, नीति, रिवाज आदि सबके सब में अकल्पित परिवर्तन आ गया है। आर्यजातिपर अनेक तरहकी आई हुई आफतोंने आज हमें नामशेष कर रखा है। अतः हम जबतक पुनः वैदिक कालकी बहुतसी बातोंसे अपना साम्य न बना लें तबतक वेदके गूढ रहस्य हमारी समझमें सहसा आने कठिन ही हैं।

(२) देश तथा जातिपर आई हुई विपत्तियोंने जहां हमारे संस्कार आदिमें परिवर्तन कर दिया है,वहां वैदिक भाषा और हमारी भाषामें भी बहुत फरक पड चुका है। यही वजह है कि आज हमें भाष्य करते हुए शब्दोंके अर्थोंका निर्णय करनेमें बेशुमार अडचनें झेलनी पडती हैं। बारबार यौगिक अर्थोंकी सहायता लेकर पहलेसे मान रखे हुए सिद्धांतोंकी पुष्टि करनी पडती है।

(३) वैदिक वर्णनशैली का ठीक ठीक पता न चलना- जिन्होंने यास्कमुनिप्रणीत निघण्टु-निरुक्त पढा है वे अच्छी तरहसे समझते हैं कि वैदिक वर्णनशैली के विषयमें बहुत प्राचीन काल से झगडा चला आता है। भिन्न भिन्न संप्रदायोंके आचार्य भिन्न शैलियां प्रतिपादित करते हैं। कोई कहता है कि वेदोंमें इतिहास है। कोई कहता है कि वेदोंमें सिर्फ यज्ञोंका ही मुख्य रूपसे प्रतिपादन है। कोई कहता है कि नहीं, वेदोंमें आलंकारिक रूपसे अध्यात्मविद्याका ही वर्णन है। कोई कहता है कि यह बात भी ठीक नहीं। वेदोंमें आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक बातोंका वर्णन है। नवीन पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वान् तो इससे भी आगे बढकर कहते हैं कि वेदोंमें छोटे बच्चोंकी तोतली बोलियों तथा गडरियोंके गीतों के सिवाय कुछभी नहीं है। कुछ समझदार विद्वान् जरा अच्छी सम्मति देते हुए इतना कहते हैं कि वेदोंमें आर्यजातिका प्राचीन इतिहास है और उस दृष्टिसे वे उस समयकी आर्यजातिकी संस्कृति का उन से पता करने का प्रयत्न करते हैं।

वेदकी वर्णनशैलीका अभ्यास करके निश्चित सिद्धांतोंको स्थिर किए विना जितने भी भाष्य होंगे वे सबके सब परस्परविरोधी होंगे । और यही वजह हैं कि सायणाचार्य से लेकर आजतक के तमाम उपलब्ध भाष्य परस्पर एकमत नहीं । वेदकी वर्णनशैलीके विषयमें आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे, क्योंकि भाष्यके साथ इसका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है।

आर्षेय-संहिता ।

इस समय हमें जो संहितायें उपलब्ध होती हैं वे आर्ष संहितायें कहलाती हैं । क्योंकि इनमें सूक्तोंका संग्रह ऋषियोंके क्रमानुसार है। अर्थात् जिस जिस ऋषिको जितने जितने सूक्तों या मंत्रोंका साक्षात्कार हुआ, वह एकही स्थानपर दे दिया है । ऋषि-गोत्रक्रमानुसार मंडलोंमें ऋक्-संहिता संग्रहित है । ऋक्संहिता को देखनेसे पता चलता है कि—

प्रथम मण्डल- मधुच्छन्दा ऋषि तथा उसके वंशजोंको साक्षात्कार हुए हुए मंत्रोंका संग्रह है।

द्वितीय मण्डल- गृत्समद ऋषि तथा उसके वंशजोंको साक्षात्कार हुए हुए मंत्रोंका संग्रह है ।

तृतीय मण्डल- विश्वामित्र ऋषि तथा उसके वंशजोंको साक्षात्कार हुए हुए मंत्रोंका संग्रह है ।

चतुर्थ मण्डल- सिर्फ वामदेव ऋषि द्वारा साक्षात्कार किए गए मंत्रोंका संग्रह है ।

पंचम मण्डल- अत्रि ऋषि तथा आत्रेयों द्वारा साक्षात्कार किए गए मंत्रोंका संग्रह है ।

षष्ठ मण्डल- भरद्वाज ऋषि तथा भारद्वाजों द्वारा साक्षात्कार किए गए मंत्रोंका संग्रह है ।

सप्तम मण्डल- वसिष्ठ ऋषि तथा वसिष्ठों द्वारा साक्षात्कार किए गए मंत्रोंका संग्रह है ।

अष्टमसे दशम मण्डलमें अनेक ऋषि हैं, परंतु उनमेंसे कईयोंके गोत्र इन्हीं उपरोक्तमें से हैं ।

ऋषि तथा उनके गोत्रज ऋषि कौन हैं, इसपर आगे चलकर थोडासा विचार करेंगे ।

इस संहिताको देखनेसे यह स्पष्ट है कि ऋषिके अनुसार संहिताका संग्रह होनेसे वही ऋषि पुनः भिन्न भिन्न मंडलोंमें नहीं मिलते । इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऋषिके अनुसार संहिताका संग्रह हुआ । उपरोक्त सूचीसे स्पष्ट है कि एक एक मंडलमें एक एक ऋषि तथा उसके वंशज बांट दिए गए हैं । प्रत्येक ऋषिके सूक्तोंमें देवताक्रम अग्नि, इन्द्र,अश्विनौ, मरुत् आदि क्रमसे आते हैं । देवताओंका यह क्रम किसी खास प्रयोजनसे नहीं रखा गया प्रतीत होता है । इस क्रममें सिर्फ एकही कारण प्रतीत होता है और वह यह कि जिस जिस देवताके सूक्त या मंत्र अधिक हैं,उस उस देवताका प्रथम रखा गया जान पडता है । यही बात सूक्तोंके क्रममें भी प्रतीत होती है। जिन जिन सूक्तोंमें अधिक अधिक मंत्रसंख्या है, उन्हें पहले पहले रखा गया है,तथा उनके बाद संख्याके घटते क्रमसे सूक्त संग्रहीत किए गए हैं । यह क्रम शायद मौखिक पाठमें यादके लिए सुविधाजनक हो । इसके सिवाय इस क्रममें भी कोई खास बात इस समयतक ज्ञात नहीं हुई ।

अष्टमसे दशम मंडल तक छोटे छोटे सूक्तवाले ऋषि होनेसे अनेक ऋषियोंका इनमें संग्रह किया गया है । इस प्रकार इस योजनापर दृष्टिपात करनेसे यह प्रतीत होता है कि संहिता ऋषिक्रमसे संग्रहीत की गई है ।

ऋषिक्रमसे संहिताओंके संग्रह करनेका अर्थकी दृष्टिसे कोई प्रयोजन हो, वह नहीं कहा जा सकता।

भिन्न भिन्न ऋषियोंको मंडलके क्रमसे आगे पीछे रखनेमें भी उपरोक्त कारण ही प्रतीत होता है। अर्थात् जिस ऋषिके वंशजोंसहित अधिक सूक्त थे उन्हें प्रथम रखा गया तथा शेषोंको उतरते क्रमसे रखा गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि पीछेके मंत्र पीछे साक्षात्कार हुए। बहुत संभव है कि पहले मंडलके सूक्त या मंत्रोंका दूसरेसे लेकर अगले मंडलोंके मंत्रोंके बाद साक्षात्कार हुआ हो! अस्तु, कुछ भी हो, परंतु इससे इतना परिणाम निकाला जा सकता है कि ऋषिक्रमानुसार संहिता के संग्रहके समयसे पूर्वतक तमाम मंत्रोंका साक्षात्कार हो चुका था। मंत्रोंके साक्षात्कार करनेवाले भिन्न भिन्न ऋषि होनेसे यह बात तो स्वयं सिद्ध हो जाती है कि मंत्रोंका ज्ञान भिन्न भिन्न समयमें हुआ, चाहे मंत्र पहलेसेही विद्यमान हों।

यहां एक सवाल उपस्थित होता है कि संहिताओंमें जो मण्डल आदि क्रम है, उसी क्रमसे वेद उत्पन्न हुए थे या और किसी क्रमसे ?

हमारे विचारमें वेदोंके उत्पन्न होते हुए और चाहे कोई वेदमंत्रोंका क्रम हो पर यह इस समय की संहिताओंमें उपलब्ध क्रम नहीं था। इसमें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं।

१. भिन्न भिन्न दृष्टिसे चारों संहिताओंकी रचना।

परमात्माने मनुष्यको चारों वेदोंमें (ऋक्, यजुः, साम) ये तीन प्रकारके मंत्र दिए। चारों वेदोंकी संहिताओंका पीछेसे संग्रह किया गया। कुछ ऐसे मंत्र थे जो कि ऋचाओंके रूपमें थे और उनमें प्रधानतया ज्ञानका उपदेश किया हुआ था। ये मंत्र छंदोबद्ध काव्यरूपमें अलंकारादिसे युक्त थे।

दूसरी प्रकारके वे मंत्र थे जो कि पद्यात्मक थे। इनमें प्रायः यज्ञादि कर्मकाण्डकी प्रधानता थी। इनका नाम था यजुः।

तीसरी प्रकारके वे मंत्र थे जिनमें कि उपासना आदिका वर्णन था। परंतु रचनामें ये भी ऋक् ही थे। उनका नाम साम था।

चौथी प्रकारके वे मंत्र थे जिनमें कि मनुष्यको खास व्यवहारोपयोगी ज्ञान- यथा सामाजिक राजनैतिक आदि-दिया गया था, ताकि वह अथर्वा बने। संसारकी तमाम प्रकारकी टक्करें झेलता हुआ भी चलायमान न होवे।

आगे चलकर इसी दृष्टिसे संग्रहकर्ताने ज्ञान-बोधक तमाम ऋचाओंका उपरोक्त ऋषिक्रमसे संग्रह करके उसका नाम ऋग्वेद-संहिता रखा। कर्मकांडकी संहितामें यजुः अर्थात् गद्य-भाग विशेष था अतः उस संहिताका नाम यजुर्वेद रखा। इसी प्रकार यज्ञादिमें सामगान की दृष्टिसे उपासना-प्रधान ऋचाओंका संग्रह करके उसका नाम साम-वेद-संहिता रखा। व्यवहारज्ञान-प्रधान (जैसा कि ऊपर बताया) ऋक् तथा कुछ यजुः का संग्रह करके उस संहिताका नाम अथर्ववेद रखा।

इस स्थापनामें वेदोत्पत्तिसंबंधी जो ऋषि दयानंदके विचार हैं, उनमें कोई बाधा नहीं आती।

२. आर्षेय संहिता का अर्थ भी इसी बातकी पुष्टि करता है। आर्षेयका अर्थ ऋषिसंबंधी संहिताका ऋषियोंसे दो प्रकारका संबंध हो सकता है।

(क) या तो ऋषियोंने संहिताको बनाया हो,

(ख) या ऋषियोंके अनुसार संहिताकी रचना की गई हो।

प्रथम बात सिद्धांतविरुद्ध होनेसे दूसरी बात स्वयंसिद्ध हो जाती है।

३. वेदोंकी पुस्तकें संहिता कहलाती हैं। परमात्मासे वेद प्राप्त हुए, संहितायें नहीं। वेद पीछे संहिताके रूपमें संग्रहीत किए गए।

४. एक ही वेद के चार संहिताके रूपमें भाग मनुष्यकृत हैं, ईश्वरकृत नहीं। ईश्वरने ऋक्, यजुः, साम, अथर्व ये चार वेदोंके विभाग कर दिए परंतु वेहि विभाग ये संहितायें नहीं। क्योंकि

संहिताओंके नाम वही होनेपरभी उनमें चारों प्रकारके मंत्र मिले हुए पाये जाते हैं

५. संहितायें बनानेके प्रयोजन भी इसी बातको सिद्ध करते हैं। संहितायें इसलिए बनीं कि–

(क) वेदमंत्र लुप्त न हो जांय।

(ख) वेदोंको कण्ठस्थ करनेका सबका क्रम एक होनेसे पठनपाठनमें सुविधा होती है। ग्रँथ की भी रक्षा होती है।

(ग) यज्ञादि कर्ममें सब वेदमंत्रोंका एक साथ विनियोग हो नहीं सकता और सब मंत्रभी तत्परक नहीं होते। अतः तत्तत् क्रियाप्रधान मंत्रोंके अनुसार संहितायें बनाई गई, जैसे संध्या आदिकी पुस्तकें।

६. वेदोत्पत्ति–प्रतिपादक मंत्रोंमें यह कहीं नहीं पाया जाता कि परमात्माने वेद भिन्न भिन्न चार संहिताओंके रूपमें दिये।

७. संहिताओंमें उपलब्ध पुनरुक्त मंत्र भी यही बताते हैं कि भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न मंत्रोंका साक्षात्कार कर उन्हें अपनी अपनी दृष्टिसे सूक्तरूपमें बांध दिया। उनका क्रम उन्होंने निश्चित किया। मंत्रों और सूक्तोंको आवश्यकतानुसार दो या दोसे अधिकवार नियोजित किया।

वेदोंमें पुनरुक्तिका दोष का भी इस बातको मान लेनेसे निवारण किया जा सकता है।

८. अबभी प्राचीन जमानेकी तरह आवश्यकता पडनेपर मंत्रक्रम बदल कर उसका आगेपीछे विनियोग किया जाता है, जैसा कि ऋषि दयानंदने हवन आदिमें किया है। इससे स्पष्ट है कि ऋषियोंको मंत्रक्रममें आग्रह नहीं।

९. महर्षि पतञ्जलि मुनिभी ऐसा ही मानते हैं। उन्होंने महाभाष्यमें लिखा है कि—

ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः, यत्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदः चैतद्भवति काठकं, कलापकं, मौदकं, पैप्पलादमिति॥

अर्थात् निश्चयसे वेद नहीं बनाये जाते; क्योंकि वे नित्य हैं। और उनका अर्थभी नित्य है। परंतु वर्णानुपूर्वीयता अनित्य होनेसे शाखाभेद बनते हैं।

संहितायें किसने कब बनाई, इसका विश्वासपात्र इतिहास उपलब्ध नहीं। व्यास का जो नाम लिया जाता है, उसमें प्रमाण तथा युक्ति दोनोंका अभाव है।

उपरोक्त बातोंसे अनुमान किया जा सकता है कि संहितायें तथा मन्त्रक्रम आदि ईश्वरकृत नहीं। उनकी रचना पीछेसे हुई। अस्तु। इस उपरोक्त भूमिकाके पश्चात् अब वेदभाष्य करनेसे पूर्व क्या क्या करना चाहिए, इस पर आते हैं।

(२)

वेदभाष्य की पूर्वतैयारी।

१– दैवत संहिता– अर्थकी दृष्टि से जब इन आर्षेय संहिताओंकी ओर दृष्टिपात करते हैं, तो इन संहिताओंसे कोईभी प्रयोजन नहीं सरता। उदाहरणार्थ हमें—

इन्द्र देवताके विषयमें विशेष अध्ययन करन है। हमें इसके लिए तमाम आद्योपांत मंत्र तथा सूक्त टटोलने चाहिए, उन्हें एकत्र लिखना चाहिए और तब उनपर विचार करनेकी बारी आती है। इसी प्रकार जिस जिस शब्द के विषयमें पता करना हो उस उसके लिए यही क्रिया बारबार करनी नितांत आवश्यक है। इसमें बहुत संभव है कि कभी कहीं कोई प्रकरण ऐसाभी छूट जाय जो कि विशेष महत्त्वका हो। कण्ठस्थ वेदवालोंके लिए यह तंगी अनुभव नहीं होती होगी। परंतु अब तो कण्ठस्थ करनेकी परिपाटी प्रायः लुप्त हो चुकी है। और जो वेदके अनुशीलन करनेवाले हैं, उन्हें तो संहिता सिवाय और कोई चारा ही नहीं। ऐसी दशामें वेदोंकी शोध के लिए, वेदोंके निश्चित अर्थ सिद्धांत तथा भाव समझनेके लिए यह बात

बहुतही जरूरी है कि मंत्रोंका संग्रह देवतानुसार किया जाय। इसका नाम है दैवत संहिता ।

दैवत संहिताकी रचना- संपूर्ण वेदके देवता तीन स्थानोंमें विभक्त हैं । यथा-

१- पृथ्वीस्थानोंमें अग्नि आदि देवता;

२- अन्तरिक्ष-स्थानमें वायु आदि देवता;

३- द्युस्थानमें सूर्य आदि देवता।

निरुक्तमें यास्कमुनिने इस प्रकार देवताओंके स्थानकी दृष्टिसे विभाग किये हैं। अतः दैवत संहिताके लिए मंत्र छांटते हुए यही क्रम ध्यानमें रखना होगा।

दैवत संहिताके प्रथम विभागमें जो पृथ्वी-स्थानीय देवता हैं, जैसे कि अग्नि और अग्निके सहचारी सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु इत्यादि देवताओं के तमाम मंत्र इस विभागमें संग्रह किये जायंगे ।

दवतसंहिताके द्वितीय विभागमें जितनेभी अन्त-रिक्ष-स्थानीय देवता हैं, अर्थात् वायु या इन्द्र के सहचारी देवता हैं यथा अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु। 'मित्र' वरुण के साथ, 'सोम' पूषा और रुद्रके साथ, 'पूषा' अग्निके साथ, तथा 'पर्जन्य' वातके साथ । इन सबके मंत्रोंका संग्रह इस द्वितीय विभागमें होगा ।

उक्त संहिताके तृतीय विभागमें आदित्य तथा उसके सहचारी देवता चन्द्रमा, वायु तथा संव-त्सर आदिके मंत्रोंका संग्रह होगा।

इस प्रकार मंत्रोंका संग्रह तयार करनेपर दैवत संहिता तैयार हो जायगी। इस संग्रहमें कई स्थानों-पर आर्षेय संहिताके कई सूक्तोंको तोडना भी पडेगा, जहां कि विश्वे देव देवता होंगे। जिस जिस देवताका जो जो मंत्र होगा, वहां वहां उसको रखा जायगा । यद्यपि ऐसे स्थल, बहुत नहीं मिलेंगे । इससे एक एक देवताके संपूर्ण मंत्र एकही स्थान पर जमा हो जायंगे ।

दैवत-संहिताकी विशेषता- इस संहिताकी विशेषता यह होगी कि आर्षेय संहितामें जिस प्रकार एक ऋषिके तमाम सूक्त एकत्र हैं, उसी प्रकार इसमें एक देवताके तमाम सूक्त तथा मंत्र एकत्र होंगे । यथा अग्निदेवताके तमाम मंत्र एक ही स्थानपर देखने मिलेंगे । उसी प्रकार इन्द्र आदि अन्य देवताओंके भी तमाम मंत्र एकत्र मिलेंगे । चारों संहिताओंके एक देवतापरक सभी मंत्र एकही प्रकरणमें आसानीसे देखनेको मिल सकेंगे ।

ऐसेही औषधि-प्रकरणमें औषधि-संबंधी तमाम मंत्र इस प्रकरणमें देखने मिल जायंगे। उनको अध्ययन करनेवालेके लिए बडीभारी आसानी हो जायगी । वैद्य लोगोंको तमाम वेद ढूंढनेकी जरूरत नहीं रहेगी ।

दैवत-संहितासे लाभ- आज चारों वेदोंमें कहां क्या है इसका किसीकोभी कुछ पता नहीं। हमें किसी विषयमें कुछ पताभी करना हो तो सिर्फ एक दो मंत्रोंसे संतोष मानकर बैठ जाना पडता है। ये एक दो मंत्रभी अत्यंत कठिनतासे उपलब्ध होते हैं। इन दो एक मंत्रोंसे किसी प्रकारका कोई परिणाम निकालते हुए भी दिल झिझकता है। तमाम वेदकी उस विषय में यही राय है यह कहना कठिनसा हो जाता है। कहने का मतलब यह ह कि खोज करने की दृष्टि से तथा वेदों के विषयमें निश्चित रूप से कुछ भी कहने की दृष्टिसे इस संहिता का बडाभारी महत्त्व होगा। वेदों की किसी के विषय में अन्तःसाक्षी क्या है, यह इस संहिता की सहायता से शीघ्र ही पता लगाया जा सकेगा।

(३) विषयवार मंत्रसंग्रह।

(Concordance)

दैवत संहिता के संग्रह के पश्चात् विषयवार मन्त्रसंग्रह करने की बारी आती है। वस्तुतः विषयवार मन्त्रसंग्रह दैवत संहिता से कोई पृथक संग्रह नहीं। दैवत संहिता में देवतानुसार

मन्त्रों का जो संग्रह है वह वस्तुतः उद्देश्य को सर्वथा पूर्ण नहीं करता। दैवत-संहिता बनाने में हमारा जो उद्देश्य है वह तबतक सर्वांश में पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि उन मन्त्रोंका समन्वय न किया जाय। एक एक देवताके अनेक कार्य होते हैं। और तदनुसार अनेक वर्णन होते हैं। अतः उस उस देवता के जो जो कार्य हों उन उन कार्यों के शीर्षकके नीचे उन कार्यों का वर्णन करनेवाले मन्त्रों का संग्रह करना आवश्यक होगा। इससे उस देवता के 'कार्य, गुण, स्वरूप' तथा इतर वर्णन का स्पष्ट स्पष्ट पता चल जायगा। उदाहरणार्थ अग्नि देवता लेते हैं। अग्नि देवता के अनेक कार्य हैं, यथा हवि भक्षण करना, हविको दूसरों तक पहुंचाना, यज्ञ कराना इत्यादि। अग्नि अनेक के लिए प्रयुक्त होता है यथा परमेश्वर, विद्वान्, सेनानी, राजा इत्यादि।

अब दैवत-संहिता में अग्नि देवता के जो जो मन्त्र संग्रह किए गए हैं, उन्हें उपरोक्त शीर्षकों के अनुसार छाटना होगा। दैवत संहिताके अग्नि देवता के प्रकरण में 'परमेश्वर-अग्नि' ऐसा शीर्षक देकर उसके नीचे तमाम वे मन्त्र रखे जायंगे जिन में कि अग्नि से परमेश्वर के वर्णन का पता चलता होगा। इसी प्रकार 'राजा-अग्नि' इस शीर्षकके नीचे उन तमाम मंत्रोंका संग्रह होगा, जिनमें कि अग्नि शब्दसे राजा का वर्णन किया हुआ होगा। ऐसे ही तमाम 'गुण, कार्य, नाम' आदिके विषय में वर्णन करनेवाले मंत्रोंका संग्रह होगा। इसी प्रकार शेष देवताओंका भी वर्गीकरण किया जाना चाहिए। जब यह कार्य समाप्त हो जायगा, तब दैवत संहिता पूर्ण हुई हुई समझी जायगी। इस प्रकारकी दैवत-संहिता वेदों के देवी देवता तथा विवादास्पद शब्दों और मन्त्रों का निश्चय करनेमें कितनी उपयोगी हो सकेगी इसका ख्याल हरेकको सुगमतासे आ सकता है। वेदके प्रमाणस्वरूप भाष्यके लिए यह संहिता सब से प्रथम तैयार होनी परमावश्यक है। यह संग्रह तथा दैवत-संहिता अलग अलग छापने पडेंगे। क्योंकि दोनों मिलाकर बहुत बडा पोथा हो जायगा। जिन्हें अर्थ की दृष्टि से अध्ययन करना हो उन्हें यह संग्रह उपयोगी होगा। दैवत संहिता मन्त्रादि के पाठमें काम आ सकेगी।

(४) ब्राह्मण ग्रंथ तथा उपनिषद् के वचनोंका संग्रह।

प्रत्येक वेदके अपने अपने ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों में बहुतसे मन्त्रोंकी व्याख्या की गई है। उनका स्पष्टीकरण दिया गया है। बहुतसी अन्य बातोंपर भी प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'उपनिषदों' में भी मन्त्रों की व्याख्या करनेका प्रयत्न किया गया है। अतः प्रत्येक मन्त्रको अलग अलग लिखकर उसपर यदि 'ब्राह्मण-वचन' मिलता हो, तो उसे उसके नीचे लिख लेना चाहिए। इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रोंके लिए उपनिषदोंके वचन मिलते हों उन्हें, उनके नीचे लिखकर संग्रह करना चाहिए। इससे हमारे पास बहुतसे ऐसे मन्त्रोंका का संग्रह हो जायगा जिनका कि स्पष्टीकरण ब्राह्मणों तथा उपनिषदों द्वारा हुआ हुआ होगा। इससे उतने मन्त्रोंके अर्थों का निश्चय करने में पर्याप्त सहायता उपलब्ध हो सकेगी। इस कार्य में समय बचाने के लिए हमें निम्न लिखितों की सहायता मिल सकती है।

(क) सायण भाष्य- सायण ने प्रायः अपने भाष्यों में ब्राह्मण, उपनिषदों के वचन स्थान स्थान पर उद्धृत किए हैं। उससे इस संग्रह में बहुत अच्छी मदद मिल सकती हैं।

(ख) अभीतक ऐसे विद्वान् वेदपाठी मिलते हैं कि जो तमाम वेद तथा ब्राह्मण कण्ठस्थ करते हैं। इन की कण्ठस्थ करने की विधि तथा स्मृति ऐसी अच्छी होती है कि ये उसी समय बता सकते हैं कि अमुक मन्त्र के लिए अमुक ब्राह्मण-वाक्य है। अमुक मन्त्र का ब्राह्मण में अमुक स्थान पर निर्देश या वर्णन है। ऐसे वेदपाठियों की सहायता से यह कार्य अत्यन्त स्वल्प समय में किया जा सकता है। प्रामाणिक वेदभाष्य में इस प्रकारके संग्रह का भी बहुत अधिक महत्त्व है।

(५) शाखा-संग्रह ।

वेदों की जो जो शाखायें उपलब्ध होती हैं उनका संग्रह करके प्रत्येक मन्त्र के नीचे शाखा-भेद में जो पाठ दिया हो वह उद्धृत करना चाहिए। इससे फायदा यह होगा कि कई मन्त्रों के स्पष्टीकरण इस शाखा-भेदके पाठोंसे स्वयं हो जायंगे ।

(६) पुनरुक्त ।

जो जो सूक्त, मन्त्र, मन्त्रार्थ या एक पाद दो वार या दो वार से ज्यादा आए हों उनका संग्रह करके उस उस मन्त्र के नीचे निर्देश करना चाहिए । सूक्त में थोडासा पाठभेद हो तो वह भी उल्लिखित करना चाहिए । पुनरुक्त मन्त्र या सूक्तों के संग्रह उनके प्रकरण-निर्देश-पुरःसर होने चाहिए ताकि उन उन सूक्त व मन्त्रों के भिन्न भिन्न स्थान के प्रकरणों का मिलान करने से के जहां उनके अर्थ-निर्णय में सहायता होगी वहां उनकी पुनरुक्ति का हेतु भी स्पष्ट हो जायगा ।

यह सङ्ग्रह भी पृथक् रूपमें करनेकी अपेक्षा उन उन मन्त्रों के नीचे ही किया जाय तो ज्यादा अच्छा होगा। इससे थोडेबहुत समय का वचाव हो सकता है ।

(७) विशिष्ट पदोंकी विशेषणसूची ।

दैवत-संहितामें देवताओंके मन्त्रसंग्रह में विषयानुसार मन्त्रसंग्रह करनेका ऊपर निर्देश किया जा चुका है। वहांपर प्रायः देवताओंके कार्य, गुण आदि द्योतक मन्त्रोंका संग्रह हो जायगा। परन्तु उनके अलावा भी वेदमें ऐसे कई विशिष्ट पद हैं जिन से कि खास खास बातोंका निर्देश उपलब्ध होता है। यथा ' अरेणवः पन्थाः '- ऐसे मार्ग जिनपर कि रेती के कण अथवा धूल न मिलती हो । जैसे कि आजकल कोलटार की सडकें हैं। या इससे आकाशमार्ग की भी सूचना मिल सकती है ! इसी प्रकार ' अनश्वः रथः '- ऐसा रथ जिसमें कि घोडे नहीं जोते जाते जैसा कि आजकल ट्राम, मोटर, बिजली की रेलगाडियां आदि हैं ।

कहनेका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के वेदों में अनेक खास खास पद मिल सकते हैं जिनका कि पृथक् पृथक् करनेसे किसी भी खास परिणाम पर पहुंचने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है । ऐसे पद विशेषणोंसहित वेदभाष्य करने से पूर्व संग्रहित करने से वेदभाष्य में पर्याप्त सहायता मिल सकती है ।

(८) षडंग ।

शिक्षा, ज्योतिष्, छन्द, निघण्टु-निरुक्त, कल्प और व्याकरण का यथासम्भव संग्रह करना तथा उनके विशेषज्ञों का पता करके वेदभाष्य में उनसे आवश्यक सहायता लेना। वेद के षडंगों का संग्रह नितांत जरूरी है । षडंग वेदों के समझने में अत्यन्त निकट साधन समझे जाते हैं ।

(३)

(९) वैदिक साहित्यका संग्रह ।

वेदमन्त्रों के अर्थों को सुझाने में प्राचीनतम से लेकर अर्वाचीनतम वैदिक साहित्य भी पर्याप्त सहायक रूप है। इस के संग्रह से यह पता चल जाता है कि किस मन्त्र व सूक्त पर क्या क्या विचार हो चुका है और उस में से क्या क्या ग्राह्य है। इस को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। (क) प्राचीनतम साहित्य और (ख) अर्वाचीनतम साहित्य ।

(क) प्राचीन साहित्या- इस में प्रारंभ से लेकर पुराण-महाभारत तक जो कुछ उपलब्ध होता है, उसका संग्रह किया जा सकता है। स्मृति, श्रौतसूत्र, पुराण, महाभारत आदि में वैदिक साहित्य सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञातव्य बातें भरी पडी हैं। उनका संग्रह करके मन्त्रों के साथ समन्वय करने से बहुत कुछ बातें जानने जैसी निकल सकती हैं। पुराणों में तो वैदिक कथाभागों तथा सूक्तके सूक्तोंका वर्णन तथा एक प्रकारका अनुवादसा पाया जाता है। अलंकारिक वर्णन से वेदों में आई कथाओं का पुराणों में अत्यंत रोचक वर्णन पाया जाता है । उदाहरणार्थ, हम यहां

पर सिर्फ निर्देश मात्र के लिये दो अत्यन्त प्रसिद्ध कथायें लेते हैं । (१) ब्रह्मा का अपनी पुत्री से बलात्कार करने की इच्छा से उसका पीछा करना, (२) तथा इन्द्र का अहल्या का सतीत्व नष्ट करना जिस के लिए इन्द्र को अहल्या का जार कहा गया है। ये दो प्रसिद्ध वैदिक कथायें हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि ' प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधात् ' अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा वासना की तृप्त्यर्थ अपनी लडकी के पीछे भागा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका और भी अधिक खुलासा करते हुए लिखा है कि- ब्रह्माने जब अपनी पुत्री का पीछा किया तो वह मारे राग (गुस्से) के लाल हो गई। और लज्जावश आकाशमें भाग खडी हुई । ब्रह्माने मृग बनकर उसका पीछा किया ।

पुराणोंमें इस कथा को और भी रोचक बनाकर लिखा गया है । महिम्नः स्तोत्र के रचयिता पुष्पदन्त ने तो यह भी जोड दिया है कि जब ब्रह्माकी यह अनीति शंकर से देखी न गई, तो उसने शिकारी का रूप धारण कर मृग का पीछा किया ।

भट्टपाल कुमारिलने ब्रह्माके इस कलङ्क के विमोचन का कार्य आश्वलायन सूत्रों की टीका में अत्यन्त सुन्दर ढंगसे युक्तियुक्त किया है । वहां लिखा है कि-

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते । स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत् । सा तदागमनादेवोपजायत इति तद् दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यांचारुण किरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषवदुपचारः ।

यह सूर्यही प्रजापति है । क्योंकि वह प्रजाओंका अपने प्रकाशसे पालन करता है। अरुणोदय के समय वह ठीक उषा के पश्चात् आता है । उसीके आनेसे उषा पैदा होती है, अतः उषा को सूर्यकी दुहिता-लडकी बताया गया है। सूर्य उसीमें अपना किरणरूपी बीज बोता है, अतः इस घटना को औपचारिक रीति से स्त्रीपुरुष के समागम की तरह वर्णन किया गया है ।

इस कथा को इस से भी ज्यादा सुंदर ढंगसे श्री०पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीने अपनी पुस्तक 'पौराणिक गोष्टींचा उलगडा' में खोलनेका प्रयत्न किया है । उन्होंने वेदमंत्रोंके प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि प्रजापति और दूसरा कोई नहीं, परंतु 'राजा' है और प्रजापतिकी दुहिता 'राजसभा' है। राजा जब स्वयं अपनी पुत्री के समान राजसभा का विनाश करने खडा होता है, तो उसका क्या परिणाम होना है ? इत्यादि विस्तारपूर्वक उत्तम रीतिसे उक्त पुस्तकमें बताया गया है। जो पाठक इसमें रस लेते हों वे 'स्वाध्याय-मंडल' से उक्त पुस्तक मंगवाकर एक वार अवश्य पढें।

इसी प्रकार इन्द्र-अहल्या की कथा का भी रहस्य है । ऋग्वेद १०।११।६ में लिखा है कि- 'उदीरय पितरा जार आ भगम्' । इसमें इन्द्रको अहल्याका जार बताया गया है। तैत्तिरीयारण्यक में इन्द्र के लिए कहा है कि- गौरास्कन्दिन्, अहल्यायै जार, कौशिकब्राह्मण, गौतमब्रुवाण, इत्यादि ।

वाल्मीकि ऋषि ने भी इस कथा का सुंदर वर्णन किया है । कुमारिलने इस कथा का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखा है कि-

एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रियशब्दवाच्यः । सवितैव अहनि लीययानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजराया हेतुत्वाज्जीर्यत्यस्यादनेनैवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते । न तु परस्त्रीव्यभिचारात् ॥

अर्थात् अहल्या रात का नाम है । उसका जार सूर्य है । सूर्य को इन्द्र कहते हैं। जो महान् तेजस्वी तथा परमैश्वर्यशाली होता है, उसे इन्द्र कहते हैं। 'अहनि लीयते इति अहल्या' इस निर्वचन के अनुसार रात्रि ही अहल्या है। क्योंकि वह दिन के प्रकाशमें लीन हो जाती है । रात्रि का सूर्यद्वारा जार अर्थात् क्षय होता है, अतः सूर्यरूपी इन्द्र अहल्यारूपी रात्रिका जार- क्षयकर्ता हैं ।

अस्तु । इसी प्रकार की अनेक कथायें पुराणोंमें आती हैं; जो कि वैदिक कथाओं के आधारपर रची गई हैं । इन सब कथाओंका संग्रह करके मंत्रों में विद्यमान वैदिक कथा के साथ तुलना करनेसे वेदोंके आलंकारिक वर्णनपर अच्छा प्रकाश पड सकता है ।

(ख) हिन्दु जातिमें अब भी कितने ही पुराने रीतिरिवाज चले आते हैं । यद्यपि वे बिगडे हुए स्वरूप में कई वार निष्प्रयोजन भी प्रतीत होते हैं, पर उनपर गौर किया जाय तो उनसे संतोषजनक परिणाम निकाला जा सकता है । हिन्दु जातिमें से प्राचीन संस्कृति का सर्वथा विनाश नहीं हो गया ।

अर्वाचीन साहित्य ।

(अ) युरोपियन विद्वान्- वेदोंके संबंधमें प्रो० मोक्षमूलर, प्रो० मूर, म० ग्रीफित आदि अनेक आंग्ल विद्वानोंने खोज करनेके प्रयत्न किए हैं । उन्होंने अपनी अपनी समझके अनुसार कई विवादास्पद विषयोंपरभी प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है । इसके अलावा आंग्ल पंडितोंने वैदिक पदसूचियां, वैदिक शब्दकोष आदि बहुतसा ऐसा अमूल्य साहित्य तैयार किया है कि वेदभाष्यमें उनसे बडी भारी सहायता मिल सकती है ।

(आ) भारतीय विद्वान्- भारतीय विद्वानोंने भी वैदिक साहित्यके संबंध में थोडा बहुत प्रयत्न किया है । इनमें महर्षि स्वामी दयानंद तो नये सिरेसे वेदों के उद्धारक हुए हैं । उन्होंने वेद-संबंधी जो कार्य किया है, उसी का फल है कि आज हम वेदपर कलम उठानेके लायक बने हैं । उनके अतिरिक्त महाराष्ट्रीय, बंगाली, मद्रासी आदि देश के अलग अलग प्रांतों के पंडितों ने जो जो कार्य किए हैं, उन्हें संग्रह करनेसे वेद-भाष्य में पर्याप्त सहायक हो सकते हैं ।

जो लोक वेदों का कण्ठस्थ करते हैं, तथा जिनके यहां वंशपरंपरासे वेदोंको बचानेकी परिपाटी चली आती है, ऐसे वैदिकोंके यहां खोज करनेसे भी कुछ न कुछ ज्ञातव्यसंग्रह उपलब्ध हो सकता है ।

(१०) शब्दार्थ-निर्णय ।

कुछ ऐसे प्रचिलत शब्द हैं, जिन्हें आम लाग बिना समझे बूझे ही वेदके लिए प्रयुक्त करते हैं । यथा आगम, निगम, श्रुति, आम्नाय, ब्रह्म, स्तोत्र, छन्द, ऋग्, यजु, साम, अथर्व प्राणापान इत्यादि । इन शब्दोंके प्रयोगोंका ऐसा झमेला हो गया है कि कौन किस अभिप्राय से प्रयोग करता है, यह समझना कठिन हो गया है । इनमें से कई शब्दोंपर भविष्य में स्वतंत्र विचार करनेका हमारा इरादा है । अतः यहां पर सिर्फ निर्देश करकेही आगे चलते हैं ।

(११) ऋषि तथा देवता-निर्णय ।

ऋषि कौन हैं तथा देवता कौन हैं और इनका परस्पर क्या संबंध है, यह अत्यंत गंभीरतासे विचारणीय विषय है । देवताके विषयमें निरुक्ताचार्य यास्कमुनिने अपने निरुक्तमें पर्याप्त ऊहापोह का है । उन्होंने देवतानिर्णय के लिए एक 'दैवत-कांड' के नामसे स्वतंत्र कांडही लिखा है । देवता-निश्चयके लिए वह अत्यंत सहायक हो सकता है । देवताज्ञान बहुत कठिन है । यास्कमुनिने इस बातको समझानेके लिए एक कथा पेश की है । वह यह है-

> शाकपूर्णिः संकल्पयाञ्चक्रे, सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव, तान्न जज्ञे । तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति । साऽस्मा एतामृचमादिदेश, एषा मद्देवतेति । अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता । सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥
> (ऋ० १।१६४।२९)

शाकपूर्णिने अपने मनमें सोचा कि मैं तो सब देवताओंको जानता हूं । इसपर उसके सामने एक ऐसा देवता आ खडा हुआ जो कि उभय-

ढिगी था। शाकपूर्णि उसे न पहचान सके। तब उसी से पूछने लगे कि मैं तुझे पहचानना चाहता हूं। तू ही बता कि तू कौन है? इस पर उस देवताने उपरोक्त मंत्र की ओर निर्देश करते हुए कहा कि इस मंत्र में मेरा स्वरूप वर्णित है।

कथन का अभिप्राय यह है कि देवतापरिज्ञान वास्तवमें बहुत कठिन है।

मंत्रों के देवता-निर्णय के लिए शौनककृत बृहद्देवता से भी बहुत ज्यादा सहायता मिल सकती है। प्राचीन ग्रंथोंमें यही एक प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध है।

देवतानिर्णय का कार्य असल में तो पूर्वोक्त 'दैवत-संहिता' का ही भाग है। यह कार्य उसीके साथ वहीं पर होना चाहिए।

इसी प्रकार ऋषिनिर्णय में भी बहुतसी अडचणें आती हैं। देवताओंकी तरह ऋषियों के नाम भी मंत्रों में पाये जाते हैं। ऋषि कौन हो सकते हैं, इसके लिए दो वचन हमें मिलते हैं।

(१) सर्वानुक्रमणिकामें कात्यायन लिखते हैं कि– 'यस्य वाक्यं स ऋषिः'। अर्थात् जिस मंत्रमें जिस का वचन हो उस मंत्र का वह ऋषि होता है। यह पहचान देवता पहचानके सदृश है। यास्क भी इससे सहमत हैं। उपरोक्त वचन निरुक्तका ही है।

(२) ऋषयो मंत्रद्रष्टारः। (ऋक्प्रातिशाख्यम्)

अर्थात् मंत्र-द्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। मंत्रसे मंत्रार्थ तथा मंत्र दोनों ही लेने पडते हैं। क्योंकि सभी मंत्रार्थ द्रष्टा वेदोत्पत्तिसे पश्चात् हुए हुए हैं। इसी प्रकार वेद सृष्टिके प्रारंभमें ४ ऋषियोंको मंत्र-रूपमें मिले। अतः ये दोनों अर्थ मानने जरूरी हो जाते हैं। इस विषयमें पर्याप्त पक्षविपक्ष हैं, जिनपर विस्तार से दूसरे स्वतंत्र लेखमें विचार किया गया है।

(४)

(१२) वैदिक स्वर।

वेदमंत्रोंके स्वर खास विशेषता रखते हैं। परंतु उनकी उस विशेषता को सर्वथा भुला दिया गया है। अतएव आज मंत्र अपने कार्यों में निष्फल हो रहे हैं। स्वरकी हेरफेर से मंत्रोंके अर्थों में भी फर्क पड जाता है। स्वर एक प्रकारके अर्थव्यंजक निशान हैं। साधारण भाषा में भी स्वरोंकी अदलाबदली से अर्थ बदल जाता है। स्वर तथा वर्णका वेदोंकी दृष्टि से कितना महत्त्व है, इस को दर्शाते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि लिखते हैं कि–

> मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

स्वर अथवा वर्ण की भूलसे बोला गया मंत्र उस अर्थको सिद्ध नहीं करता, जिस अर्थ (प्रयोजन) के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के तौर पर इन्द्र के शत्रु द्वारा विनाश के लिए किए गए प्रयोगमें उसने इन्द्रशत्रुः यहां पर स्वर की भूल की। जिसका फल यह हुआ कि यजमान स्वयं उस अशुद्ध वाणी-रूपी वज्र से मारा गया।

इतनी स्वर की महिमा होते हुए भी आज हम मंत्रोंको बिना ही स्वर के लिखते पढते हैं। बिना ही स्वरके मंत्रोंका यत्र तत्र छापना तो सर्व-साधारण हो गया है।

वर्ण भी इसी प्रकार ही घातक हैं। वध और बध का ही उदाहरण ले लीजिए। किसी अपराधी के लिए आज्ञा लिखते हुए बध की जगह वध लिखा जाय, तो उसको फांसी चढना पडेगा और अगर वध की जगह बध लिखा जाय तो फांसी के स्थान पर जेल मिलकर जीवनदान मिल जायगा। ऐसे ही 'शंकर' और 'संकर' का हाल है। किसी को शंकर के स्थानपर संकर कह दिया जाय तो वह सिर फोडनेके लिए तैयार हो जायगा।

ये हैं स्वर और वर्ण के हेरफेर से होनेवाले अनर्थ। परंतु इसकी ओर हमारा अद्यापि बिलकुल ध्यान नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि

हम स्वर भी भूल गए और अर्थ भी भूल गए। आज हमारे पास वेदोंका ढांचा बचा है जिसे हम ताजे मरे हुए बच्चे को चिपटाये फिरने-वाली बंदरिया की तरह चिपटाये फिरते हैं और उससे कुछ निकालनेका प्रयत्न किए चले जा रहे हैं। अस्तु।

याज्ञवल्क्य शिक्षामें स्वरज्ञानके विषयमें लिखा है कि-

उच्चैर्निषादगान्धारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

वेदमें तीन प्रकार के स्वर माने जाते हैं। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। पाणिनि मुनिने अष्टाध्यायी में इनके लक्षण इस प्रकार किये हैं।

उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः।
समाहारः स्वरितः।

संगीतमें सात स्वर माने जाते हैं- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

अब उपरोक्त श्लोक के साथ संगति लगाने से हम वेदों के तीनों प्रकारके स्वरोंका कुछ कुछ इस प्रकार पता कर सकते हैं।

१ उदात्त अर्थात् निषाद तथा गांधार; नि, ग-ऊंचे से बोलने चाहिए।

२ अनुदात्त अर्थात् ऋषभ तथा धैवत; रे, ध-नीचे से बोलने चाहिए।

३ स्वरित अर्थात् षड्ज मध्यम तथा पंचम; सा, म, प- ऊपरोक्त दोनों प्रकारों के बीचमें बोलने चाहिए।

स्वरोच्चारण की दृष्टिसे वर्तमान संगीत परम उन्नति पा चुका है।

उन्होंने सातों स्वरों को बोलनेके अनेक भेद निकाले हैं। हम यहां उतनी गहराई में न जाते हुए अपने मतलब तक ही सीमित रहकर उपरोक्त स्वरोंको कैसे बोला जा सकता है, इस पर विचार करेंगे। यह विषय विशेष संशोधन के योग्य है। हमें इस विषयमें जो कल्पना सूझी है वह यहां पेश करते हैं।

(१) प्रचलित संगीतमें सातों सा, रे, ग, म, प, ध, नि स्वर तीव्र तथा कोमल के भेदसे १२ प्रकार के गिने जाते हैं। परंतु सा तथा प स्थिर अर्थात् अविकारी हैं, जिनके तीव्र, कोमल ऐसे भेद न हो सके, ऐसे माने जाते हैं। अतः इन दो स्वरोंको छोडकर शेष ५ के तीव्र तथा कोमल भेद से १० स्वर हुए। इन १० स्वरोंमें सा तथा प स्थिर स्वर मिलानेसे सात स्वरोंके १२ स्वर हुए।

अब तीव्र स्वरका उच्चारण ऊंचे से किया जाता है जिस से कि उसमें स्वर की तीव्रता-ऊंचा-पन रहे। कर्कशता या कठोरता से तीव्रता का अभिप्राय नहीं। इसी प्रकार कोमल स्वर तीव्र की अपेक्षा नीचे से-धीरेसे, बोला जाता है ताकि उसमें कोमलता तथा कर्णप्रियता विशेष रहे। बचे हुए स्वर निश्चित स्थिरता लिए हुए होते हैं। अर्थात् जो स्थान उनका गानेवालेने अपने गायन में स्थिर कर दिया होता है वही उसमें अंत तक रहता है। इन तीनों भेदोंका वैदिक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के लक्षणानुसार मिलाप करने से हमें पता चलता है कि-

१. वैदिक उदात्त स्वर=तीव्र ग और नि। अर्थात् तीव्र ग तथा नि का जैसा उच्चारण किया जाता है तदनुसार उदात्त स्वरवाले वर्णोंका उच्चारण करना चाहिए। या सामगायन में उन्हें गाना चाहिए।

२. वैदिक अनुदात्त स्वर= कोमल रे तथा ध। अर्थात् कोमल रे तथा ध की तरह अनुदात्त स्वरवाला वर्ण गाया जायगा या बोला जायगा।

३. वैदिक स्वरित=सा और प। अर्थात् जिस प्रकार सा और प की उच्चारण स्थिर यानि निश्चित होता है, उसी प्रकार मंत्र में स्वरित स्वरवाले वर्ण का उच्चारण स्थिर, अविकारी होगा।

किस किस मंत्रमें उदात्त स्वरको तीव्र गांधार की तरह से बोला जाय और कहां तीव्र नि की तरह बोला जाय, इसका निश्चय करने के लिए वैदिक स्वरपद्धति (Notation) का अभ्यास करके उपरोक्त कथनानुसार उन्हें योग्य रीति से बिठलाने के बाद किसी निश्चित पर पहुंचा जा सकेगा।

यहां पर एक बातकी ओर पाठकोंका ध्यान खेंचना आवश्यक है। और वह यह कि प्रचलित संगीतशास्त्रमें जो राग गाये जाते हैं उनमें कम से कम ५ स्वर की आवश्यकता रहती है। अभी तक ५ स्वर से कम स्वरमें गाये जानेवाले राग नहीं बने। अर्थात् सा, रे, ग, म, प, ध, नि ये कोमल तीव्र भेद से १२ स्वर होते हैं, ऐसा हम ऊपर बता आए हैं। इनमें से कमसे कम कोई ५ स्वर, कोई भी राग गाने के लिए चाहिए।

परंतु वेदोंमें सिर्फ तीन ही स्वर गाने तथा बोलने के लिए हैं। अतः यदि इसके अनुसार तीन ही स्वरमें साम ऋचायें गायी जा सकीं तो वर्तमान संगीतशास्त्र में बडी भारी हलचल पैदा हो जायगी।

प्रत्येक उदात्त आदि वैदिक स्वरमें वर्तमान संगीतके दो दो स्वरोंका समावेश होता है। कहां पर उन दोमेंसे किसका प्रयोग किया जाय यह आज कहना कठिन है ऐसा हम ऊपर लिख आए हैं। इस विषयमें एक बात सूझती है और वह यह कि जिस प्रकार वर्तमान संगीतमें अमुक रागमें अमुक स्वर वर्जित रहते हैं, उसी प्रकार शायद अमुक प्रकार की वैदिक स्वरपद्धतिमें उन दो दो के जोडों में से एक को छोड देना पडता हो। यह एक ख्याल है। इसका मंत्रोंके साथ मिलान करने से शायद पता लग सके।

अथवा वैदिक मंत्र जिन जिन छंदोंमें लिखे गए हैं उन उन छंदों तथा वैदिक स्वरपद्धतिका मिलान करके इस विषयमें विचारना चाहिए।

(२) वर्तमान संगीतशास्त्रमें उक्त सा, रे, ग, म, प, ध, नि स्वरों के गाने का एक और भी तरीका है। उसमें ये स्वर तीव्र कोमल के साथ साथ ऊंचे नीचे गाये जाते हैं। वह गानेका तरीका तीन विभागों में विभक्त है। इसे मंद्र-मध्यम तथा तीव्र सप्तकों में गाना कहा जाता है। वैदिक उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वर के लक्षणों का इससे अत्यंत साम्य प्रतीत होता है। यथा-

उदात्त = तीव्र सप्तक के स्वरोंमें गाना।
(उच्चैरुदात्तः)
अनुदात्त = मंद्र सप्तकके स्वरों में गाना।
(नीचैरनुदात्तः)
स्वरित = मध्यम सप्तक के स्वरोंमें गाना।
(समाहारः स्वरितः)

जिस प्रकार प्रचलित संगीतशास्त्र के स्वर तीव्र-कोमल के भेद के साथ साथ मंद्र, मध्यम तथा तीव्र सप्तकमें, रागमें जरूरत पडनेपर (मधुर बनाने के लिए) गाये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर भी मंत्रको गाते हुए मंद्र (अनुदात्त), मध्यम (स्वरित) तथा तीव्र (उदात्त) सप्तकों में गाये जा सकते हैं।

इस समय इन वैदिक स्वरों के उच्चारण संबंध में इतनाही कहा जा सकता है। जो सामग्री उपलब्ध है उससे हम इतने नतीजे तक पहुंच सकते हैं। इसके आगे इसके लिए विशेष खोजकी जरूरत है। उस खोजमें निम्न लिखित बातों का पता लगाना जरूरी होगा।

१. वैदिक स्वरपद्धति (Notation) अर्थात् मंत्रोंके वर्णोंपर स्वर लगानेके क्या तरीके हैं ?
२. छंदोबद्ध मंत्र के छंद तथा स्वरोंका परस्पर क्या संबंध है?
३. कौन कौनसा छंद गायनविद्या की दृष्टि से विशेष उपयोगी है ?

स्वरोंका संगीत शास्त्रकी दृष्टि से जहां पता लगाने की आवश्यकता है, वहां वेदमंत्रों के अर्थों की दृष्टि से भी बडा महत्त्व है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उपरोक्त वैदिक स्वरोंको लगानेके तरीके में यह भी ख्याल रखा जाता है कि कौनसा शब्द (पद) उदात्त धातु से बना है और कौनसा अनुदात्त धातु से। तदनुसार उदात्त, अनुदात्त स्वर भी कहीं कहीं लगे हुए प्रतीत होते हैं। स्वरविषयमें इतनाही लिखकर यह लेख समाप्त करनेसे पूर्व अन्तिम बात पर थोडा विचार करते हैं। जिसपर कि वेदभाष्य का पर्याप्त दारमदार है। वह है—

(५)

(१३) वैदिक वर्णनशैली।

इस शैली को लक्ष्यमें रखे बिना जिस जिसने वेदों के भाष्य या अर्थ किए वह वह गोथा खा गया है। इसी शैली को न समझनेकी वजह ही से वेदोंपर अनेक आक्षेप किए गए हैं। अतः इस शैली पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है।

इतिहास और कथा।

प्रायः वेदोंको नवीन पढनेवाले, ऐसे ऐसे स्थलों को देखकर यह कहा करते हैं कि वेदोंमें ऋषियों का तथा प्राचीन आर्योंका इतिहास भी लिखा हुआ मिलता है। भिन्न भिन्न ऋषियोंके विषयमें इसी प्रकारकी और ढंगकी कथायें भी लिखी हुई मिलती हैं।

यह बात सच है कि वेदोंमें इतिहास तथा कथायें पर्याप्त हैं और पुराणोंने उन्हींके आधारपर अपने अपने ढंगसे घटा बढाकर भिन्न भिन्न देवताओं तथा राजाओंके विषयमें कथायें बनाकर पुराणोंको रोचक बनानेका प्रयत्न किया है। और इसी लिए वेदार्थ करते समय इतिहास तथा पुराणोंकी भी सहायता लेनी चाहिए। क्योंकि इतिहास के बहानेसे वेदोंका अर्थ खोलनेका प्रयत्न किया गया है। इस विषयमें श्रीमद्भागवत १।४।२८ में लिखा है कि–

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

अर्थात् भारतीय इतिहासके बहानेसे वेदका अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार महाभारत में भी स्पष्ट लिखा है कि–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

अर्थात् इतिहास व पुराणसे वेदोंका मर्म जाना जाता है। इसका तात्पर्य यही है कि पुराणों में वैदिक अलंकारों को कथाओंद्वारा खोलनेका प्रयत्न किया गया है। इस विषयमें हम पहले 'वैदिक साहित्य' नामक शीर्षकमें विस्तारसे लिख आए हैं। यहांपर हमें इतनाही निर्देश करना है कि वेदोंमें जो इतिहास तथा कथायें पाई जाती हैं, वे वेदोंकी एक प्रकारकी खास वर्णनशैली की वजहसे हैं। अमुक बातों या सिद्धांतोंको रोचक व आलंकारिक भाषामें वर्णन करना यह वेदों की एक खास शैली है।

यह शैली हम साधारण मनुष्योंके व्यवहारों में भी देखते हैं। कई बार माबाप या अध्यापक आदि अपने बच्चोंको अमुक शिक्षा देनेके लिये रोचक कथायें सुनाते हैं और अंतमें उससे शिक्षा निकाल कर बच्चोंको वह समझाते हैं। इसका मतलब यह नहीं होता कि वह कोई सच्ची घटना या किसी वस्तुका सच्चा इतिहास था। कथा का अभिप्राय सिर्फ रोचक बनानेसे ही होता है। फिर भी वेदोंमें तो रातदिन होनेवाली सत्य घटनाओंपरसे ही कथा घडी हुई होती हैं।

गुजराती वर्नाक्युलर की पहिली पुस्तकमें एक कथा आती है कि एक गडरिये को लोगों की फजूल में मखौल करनेकी आदत थी। वह प्रायः भेडें चराते चराते आसपास के किसान आदि- योंको तंग करने के लिये योंही चिल्ला दिया करता था कि- शेर आया। शेर आया।

बचाओ रे बचाओ! मेरी भेडें खा चला। आसपासके लोक बिचारे! सत्य समझकर उसकी आवाज सुनते ही दौडे चले आते थे! यह उन्हें देखकर मुंह मोडकर एक ओर खडा हो जाता था और उनके पूछनेपर हँस देता था। उसने दो तीन बार इस तरह लोगों को बनाया। आखिर एक बार सचमुच शेर आया, अब तो उसके होशहवास उड गये। वह गबराहकर इधर उधर दौडने लगा। उसके शेर! शेर! चिल्लाने पर भी कोई मदद के लिए न आया। वह सबके पास जा जाकर, रो रोकर गिडगिडाने लगा, पर किसीने भी उसकी बात को सत्य न माना। वह सिर पाटता रह गया। शेर उसकी बकरी उठाकर ले गया। उसे उसकी झूठमूठ दिल्लगी का फल मिल गया। इत्यादि।

अब कोई यह कहे कि यह कथा कहीं के पूर्व के इतिहास या घटना को बताती है तो उसे मूर्ख ही समझा जायगा। वेद में और इस में फर्क इतनाही कि वहां नित्यप्रति प्रकृति में होनेवाली सत्य घटनाओं का कथारूप में वर्णन होता है। जैसा कि ब्रह्माका अपनी कन्या के पीछे भागना आदि कथा द्वारा नित्य प्रति उषा के पश्चात् होनेवाले सूर्योदय का वर्णन किया गया है।

इस विषय में स्वर्गीय पण्डित रघुनन्दन शर्माजीने अपने "वैदिक संपत्ति" * नामक ग्रन्थमें बहुत ही विस्तार के साथ रोचक तथा युक्तियुक्त रीतिसे वर्णन किया है। उसके पढने के बाद शायद ही कोई ऐसा बचेगा कि जिसे इस विषय में संदेह रह जाय।

यास्काचार्यने अपने निरुक्त में भी 'वेदों में इतिहास' पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे भी वेदों की इस ऐतिहय विधिको कबुल करते हैं। इस ऐतिहय विधिका एक बार अच्छी तरह से ख्याल आ जानेसे फिर गफलत होने की संभावना नहीं।

इसी प्रकार वेदों में कई बातें भूतकाल की क्रियाओं से वर्णित होती हैं। परन्तु उनका मतलब वर्तमानसे ही होता है। ऐसी बहुतसी छोटी छोटी बातें हैं, जिन का भाष्यकार को विशेष लक्ष्य रखना पडता है। सायणाचार्य भी ऐसी बातों में गोथा खा गये हैं। निरुक्त में यास्क मुनिने इनका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। उन्हों ने वेदों के अर्थ कैसे करने चाहिए, इसका ख्याल बहुत ही उत्तमता से दिया है। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि उन के जमाने में भी वेद भुलाये जा चुके थे और साधारण लोगों में वेद के पठनपाठन की परिपाटी शेष नहीं थी। अतएव उन्हें वेदार्थ-निर्णय के लिए निरुक्त जैसा ग्रन्थ लिखा। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय भी वेदों को समझना इतना दुष्कर माना जाता था, कि यास्काचार्य ने स्वयं वेदभाष्य करने की विधिपर तो इतना सब कुछ लिख मारा, पर भाष्य करने का साहस नहीं किया।

यद्यपि यास्काचार्य आदिने भाष्य करने की जो विधियां बताई हैं, वे माननीय हैं। तथापि इस समय वेदार्थ की अत्यन्त दुर्दशा होने से जहांतक हो सके, उन तरीकों का आश्रय लेते हुए भी शब्दों के तोड-फाडने की विशेष गडबड सडबड न करते हुए यह प्रयत्न करना चाहिए कि हरेक वेदमन्त्र स्वयं क्या कहता है। उस वेद-मन्त्र में जिस बात का वर्णन पाया जाता है, वह अन्यत्र कहां कहां उपलब्ध होता है इत्यादि। इसी के लिए हम पहले दैवत-संहिता आदि का संग्रह करनेपर खास जोर दे आए हैं। इस वख्त जहां तक हो सके खैंचातानी किए बिना मन्त्रों के समन्वय से जो अर्थ किए जायंगे वे सब से जादा आदरके भाजन होंगे। क्रियायें बदलना, पदोंकी विभक्तियां बदलना आदि बखेडों में जहांतक न जाना पडे वहांतक अच्छा है। जहां अनिवार्य आवश्यकता हो वहीं ऐसी छूट लेना अधिक अच्छा होगा।

* "वैदिक संपत्ति" से उद्धृत लेख पृ० ४८ पर देखिये।

यदि कहीं कोई ऐसा सिद्धान्त भी प्रतिपादित होता हो कि जिससे भाष्यकार सहमत न हों तो उसपर अपना रंग चढानेके बजाय उसे वैसाही रख देना ज्यादा अच्छा समझा जायगा। क्योंकि भाष्य वेदों का हो रहा है, हम स्वतंत्र लेख नहीं लिख रहे। ऐसे स्थलों के लिए शब्दों की जोड तोड करके द्राविड प्राणायाम करना भाष्यकार की निष्पक्षपातता जाहिर नहीं करता।

सभी मन्त्रों के तीन तीन प्रकारके अर्थ करने की हठ पकडनी नहीं चाहिए। यास्काचार्यने कितने वेद-मन्त्रों की व्याख्या की है, पर इन्होंने खास ढंग के वर्णन के मन्त्रों के ही दो या तीन अर्थ किए हैं। वेदों के सभी मन्त्र एक ही बातका वर्णन नहीं कहते। अतः यह आग्रह भी छोड देना अच्छा रहेगा।

वेद मनुष्य-जाति के कल्याणार्थ दिये गए हैं। अतः उसमें अभ्युदय तथा निःश्रेयस् मार्गों के दर्शक मन्त्रों का ही बाहुल्येन उपलब्ध होना स्वाभाविक है। अतः आजकल के जमाने के अनुसार उनमें से तोप, बन्दूक, विमान आदि पाश्चात्य लोगों के शोधे हुए यन्त्रोंको निकालनेका ही एकमात्र प्रयत्न बहुत आदरणीय नहीं हो सकता हैं कि इससे वेदोंका महत्त्व बढे। तथापि हमें वेदों में से अध्यात्मविद्या ही विशेष रूप से ढूंढनी होगी। जिस के बिना आज समस्त विश्व अशांत हो रहा है! हमें अध्यात्मविद्या के लिए अभिमान है। वह अगर वेदों में से न निकले तो बेशक हमारे लिए अत्यन्त शर्मनाक अवस्था होगी। अतः जहांतक हो सके ऐसी बातों की ओर तबतक विशेष ध्यान आकर्षित न करना चाहिए जबतक की अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में ऐसी बातों का निर्देश न मिले।

भाष्यकारों को इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित करने की जरूरत है कि बहुत से वैदिक भाषा के शब्द इतर भाषाओं में भी पाये जाते हैं। ऐसे शब्दों को ढूंढ ढूंढकर संग्रह करना चाहिए, तथा उनकी भी भाष्य में सहायता लेनेसे कई वार मन्त्र बहुत ही जल्दी खुल जाते हैं।

प्रायः पारसीयों में अच्छे विद्वान् वेदोंका इसलिए अभ्यास करते हैं, कि क्योंकि उससे 'झन्द-अवस्ता' के मंत्रों के अर्थ सुगमता से लग जाता है। झन्दावस्ता में कई स्थान पर कई शब्द ऐसे अपभ्रंश होकर पडे हुए होते हैं कि उनका अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। उस अवस्था में उस मन्त्र का वेदमन्त्र से मिलान करने से उस अपभ्रंश हुए हुए शब्द का पता लग जाता है। यह बात मेरे से एक बडेभारी पारसी विद्वानने बातचीत में बडे अभिमान के साथ कही थी।

हमने इस लेख में जिन जिन बातों की ओर निर्देश किया है, उस ओर अगर भाष्यकार थोडासा भी लक्ष्य देने का प्रयत्न करेंगे, तो उनका भाष्य पर्याप्त प्रामाणिक हो सकेगा, ऐसा हमारा ख्याल है। भाष्य से पूर्व की तमाम तैयारी भाष्य में बडी भारी सहायक है।

(६)

भाष्य करने करानेवालोंसे निवेदन।

अन्त में हमें सबसे यही निवेदन करना है कि इस समय वेदोंके भाष्य की जितनी जरूरत है उससे भी ज्यादा उस भाष्यपर सबके एकमत होनेकी जरूरत है। भिन्न भिन्न कई प्रकारके भाष्य रचकर, श्रद्धालु जनता को द्विविधा में डालते हुए भाष्यों के प्रामाण्याप्रामाण्य के नये झगडे न खडे किए जांय तो अच्छा है। इस नये झगडे से बचने के लिए सबसे उत्तम मार्ग यही हो सकता है कि भिन्न भिन्न संस्थायें तथा विद्वान् अलग अलग भाष्य करने के आग्रह को छोडकर सब एकत्रित होकर प्रयत्न करें। तत्पश्चात् कुछ मिले हुए विद्वानों की एक सम्मति से तैयार किया गया एक सूक्त या अध्याय का भाष्य अन्य देश के माननीय और प्रतिष्ठित विद्वानों के पास विचारार्थ भेजा जाय। साधारण जनतामें भी उस विषय में

जो रस लेना चाहे वह ले सके, इस के लिए सर्वत्र स्थानीय अखबारों में वह भाष्य प्रसिद्ध किया जाय। इस प्रकार चारों ओर से आई हुई सम्मतियां या स्वतंत्र विचारों पर पुनः विचार करके उन सूक्तों व अध्यायों पर निश्चित भाष्य प्रसिद्ध किया जाय। इसमें समय पर्याप्त लगेगा, परन्तु इससे निम्न लिखित लाभ होने की संभावना है।

(१) भाष्यकी प्रामाणिकता बहुमतिसे हो सकेगी। विद्वानों का बडा भारी भाग उस भाष्य का पृष्ठ पोषक होगा।

(२) वेदपर श्रद्धा रखनेवालों के लिए वेदों को समझनेके लिए एक निश्चित मार्ग हो जायगा।

(३) वेदविषयक वादविवादों की प्रायः समाप्ति हो जायगी।

(४) धनका व्यय न होकर उसका सदुपयोग होगा।

(५) धनसंग्रह में बहुतसी अडचणें दूर हो सकेंगी।

(६) भाष्य खरीदनेवाले ग्राहकोंको ढूंढनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

वेदोंपर भाष्य करने करानेवालों की जवाबदारी कम नहीं है, यह तो प्रायः सब समझते ही हैं। फिर भी ये अलग अलग प्रयत्न हो रहें हैं, यह देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

वेदभाष्यकर्ताओं को तथा संस्थाओं को स्वतंत्र भाष्य करने करवाने हों तो उन्हें चाहिए कि वे यथा-सम्भव तमाम विद्वानों को उनके भाष्य में रस लेता कर दें। जनता को भी उस में रस लेती कर दें। ऐसा किए बिना भाष्यों की प्रियता तथा आकर्षण नहीं बढ सकते।

विद्वानों में प्रायः अधिकांश रूपसे गुरुकुलों के स्नातक, आर्य-प्रतिनिधि तथा सार्वदेशिक सभाओंके विद्वान् महानुभाव तथा ऐसे अन्य विद्वान् पंडित लोगोंकी गिनती की जा सकती है। ये सबके सब तथा साधारण जनता भाष्यों में कैसे रस लेवें, इसका पूर्ण रूपसे विचार करना चाहिए। अन्यथा लाखों रूपये खर्च करके भी किए हुए भाष्यों की वही हालत होगी जो कि कई टीकाओंकी आज है।

यजुर्वेद में यज्ञपद्धति का महत्त्व ।×

(लेखक० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति)

मन्त्रों के तत्त्वपर विचार करनेसे मन्त्रों में एक प्रकारका अनुक्रम वा पद्धति प्रतीत होती है। गूढार्थप्रकाशिनी और विस्तृतार्थद्योतिनी सोपपत्तिक पद्धति के प्रकाशन का श्रेय हमारी दृष्टिमें शतपथब्राह्मण के कर्ता को है। शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञों की सोपपत्तिक पद्धतियां दिखलाई गई हैं। किसी काम करने के ढङ्ग को पद्धति कहते हैं। भिन्न भिन्न कार्यों को करने के लिये भिन्न भिन्न ढङ्ग हुआ करते हैं। देश, काल, स्थिति और साधनों के भेदसे भिन्न भिन्न कार्यों के सम्पादनका एक ढङ्ग भी हो सकता है, तथा एकही कार्य के सम्पादन के भिन्न भिन्न ढङ्गभी हो सकते हैं। इस-लिये पद्धति वा ढङ्ग कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, तथापि ऋषियों ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध दिखलाने के लिये उस सम्बन्ध के द्वारा किसी भी पदार्थ को सम्पादन करने के लिये और सिखाने के लिये एक ऐसी स्थिर पद्धति निकाली है, जिसे यज्ञपद्धति कहते हैं। यज्ञ-पद्धति के द्वारा वा पदार्थों के अधियज्ञभाव के द्वारा पदार्थों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक पदार्थों में सम्बन्ध-प्रदर्शन किया जाता है। इसलिये यज्ञों में वा कार्य-सम्पादन में पद्धति का विशेष महत्त्व हुआ करता है।

दर्शपूर्णमासयज्ञ अन्य यज्ञों की प्रकृति है। इसी में कुछ परिवर्तनविशेष करने से अन्य यज्ञों की पद्धति वा ढङ्ग बन जाता है। दर्शपूर्णमास प्रकृति है तो अन्य यज्ञ इसी की विकृति हैं। कर्म की पद्धति वा उसके करने के ढङ्गपर विचार करता हुआ मीमांसादर्शन कहता है कि प्रकृति में ही थोडा हेरफेर करके विकृति कर लेनी चाहिए।

" प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या। "

जब किसी कारीगर के पास कोई नया काम किये जाने को आता है तब वह कारीगर नया काम देखकर घबराता नहीं, किन्तु पुराने किये हुए काम के ढङ्ग में ही थोडा रद्दो-बदल करके नये काम को घड डालता है। यही बात प्रत्येक काम के वा यज्ञ के विषय में है। अच्छे अनुभवी शिल्पियों को मालिक अपना उद्देश्य समझा देता है कि अमुक उद्देश्य पूरा करने के लिये एक अच्छा खूबसूरत उपकरण चाहिए, वह यह नहीं बतलाता कि अमुक उपकरण चाहिए। शिल्पी स्वयं ही अपने मन से उस उद्देश्य के अनुसार उपकरण की कल्पना करता है तथा उसके बनाने के ढङ्ग की भी ऊहापोह करता है।

वेदमंत्रोंमें उद्देश्योंका कथन अधिक है और साधनोंका कम। दिये गये साधनोंके आधारपर उद्देश्यके अनुसार साधनोंकी कल्पना बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं कर लिया करते हैं। शतपथब्राह्मणमें तथा अन्य ब्राह्मणोंमें भी सामाजिक और वैयक्तिक सम्पूर्ण जीवनकी आरम्भसे अन्ततक एक आदर्श पद्धति बतलाई गई है। भिन्न भिन्न उद्देश्योंकी सिद्धि के लिये जो कर्म निर्धारित किये हैं, उनका नाम यज्ञ रक्खा गया है। यज्ञोंकी वास्तविक पद्धतिको सिखलानेके लिये Model रूपसे वा नमूनेके तौरपर एक आदर्श पद्धति रक्खी गई है। पद्धतिमें प्रयुक्त पात्र और क्रियाएं यज्ञोंकी वास्तविक भावोंको सूचित करनेके लिये हैं। काले हरिणका चर्म जिसमें काला, सफेद और भूरा तीन रङ्ग होते हैं, वह ऋक्, यजुः और साम इस त्रिविद्याका प्रतिनिधि है। राष्ट्रसेवाके लिये जिन मनुष्योंने अपने जीवन अर्पण कर दिये हैं, वे देव हैं। उन देवोंके लिये कररूप हविःसे पुरोडाश रूप सेनाकी तैयारी कृष्णाजिनरूप त्रिविद्याके आधारपरही होती है। इसी प्रकार सर्वत्र हमें पद्धतिसे भावोंको ग्रहण करके पद्धति के अनुकूल उन भावोंकी योजना करके यज्ञका वास्तविक स्वरूप निकालना चाहिए। इसी प्रकार हमें दर्शपूर्ण मासका राष्ट्रिय स्वरूप ज्ञात हो सकता है।

दर्शपूर्णमासका राष्ट्रिय स्वरूप जाननेके लिये आवश्यक है कि प्रति मन्त्र प्रति पदपद्धति किस किस प्रकार किन किन भावोंको सूचित करती है, इसका विस्तारसे वर्णन किया

× लेखक की अप्रकाशित पुस्तक ' दर्शपूर्णमास का राष्ट्रिय स्वरूप ' से उद्धृत।

जाय, परन्तु ऐसा करनेसे लेख अति सुदीर्घ हो जावेगा और विचारशील बुद्धिमानोंके लिये अनावश्यक भी होगा। अतः यज्ञपद्धतिसे राष्ट्रपद्धतिका दिग्दर्शन मात्र कराया जायगा, जिससे कि पद्धतिके सम्बन्धमें अरुचि वा उपेक्षाके भावको दूर करनेमें कुछ सहायता मिल सके।

यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक स्वरूपोंकी दृष्टिसे दर्शपूर्णमासयज्ञकी त्रिविध व्याख्या हो सकती है। ब्राह्मणग्रन्थने जिस पद्धतिका निर्देश किया है, वह पद्धति वेदविज्ञानके आधारपर तीनों प्रकारकी व्याख्याओंमें सहायक हो सकती है। अतएव 'दर्शपूर्णमासका राष्ट्रिय स्वरूप' इस पुस्तकमेंभी मन्त्रगत शब्दोंके भावोंकी योजनाको लक्ष्यमें रखकर तथा पद्धतिसे मन्त्रार्थकी दिशा निश्चित करके मन्त्रोंकी आधिभौतिक अर्थात् राष्ट्रिय व्याख्या की गई है। व्याख्यामें सर्वथा अविकल रूपसे पद्धतिका अनुसरण, अनुचित होनेसे नहीं किया गया है। यह ठीक है कि पद्धतिके लघुतम अंशोंका राष्ट्रिय भावोंके साथ सूक्ष्मतम विचार किया जाय तो वैदिक राष्ट्र निर्माणके कलेवर पर और भी अधिक प्रकाश पड सकता है।

यज्ञपद्धतिसे राष्ट्रपद्धतिका दिग्दर्शन।

अराजक अवस्थासे व्याकुल हुई प्रजा चाहती है, कि उसका कोई राजा हो जिसे प्रजा विशेष नियम बनाकर अपने ऊपर शासन करनेकी शक्ति प्रदान करे। परन्तु कोई भी बुद्धिमान् ऐसे महान् कार्यको अपने हाथमें नहीं ले सकता जबतक उसे शासन कर सकनेके लिये धन और जनके बलोंसे सुसज्जित न कर दिया जाय। यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके प्रथम चार मन्त्रोंमें यही कुछ है और पांचवें मन्त्रमें व्रत धारण कराया है।

प्रथम मंत्रमें 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' कहकर पलाश वृक्षकी एक शाखाको पृथक् करके तथा उसे लचका कर सीधा करना है। इस शाखाके द्वारा दूध चूङ्ते हुए बछडेको गौसे अलग करना है। गौसे बछडेको अलग करना मात्र यदि पलाश शाखा छेदनका उद्देश्य हो तो बछडेको तो, विना पलाशशाखाके अन्यभी अनेक विधियोंसे हटाया जा सकता है। आज कल हम देखते भी हैं कि दूध दोहनेवाला विना इस प्रकारके विशेष साधनके अपना कार्य कर लेता है। अतः ऐसी ऐसी पद्धति बांधना विशेष विशेष भावोंको द्योतन करनेके लियेही समझमें आता है।

वृक्ष विविध अङ्गोंकी यथावत् आयोजनासे एक अङ्गी है। अतः पद्धति बतलाती है कि अङ्गीसे अङ्गको पृथक् करने वा समुदायमेंसे एक व्यक्तिको चुननेका भाव वृक्षसे शाखाको पृथक् करनेकी क्रियासे लेना चाहिए। विशेष चुनावके कारण मनुष्यमें जो एक प्रकार का अभिमान वा कुटिलता का भाव आ सकता है, उसे दूर करके चुने हुए व्यक्तिको सरल बनाना चाहिए। मन्त्र तो केवल उस चुने हुए व्यक्तिका उद्देश्य बतलाता है कि वृष्टि और अन्न तथा बल-पराक्रमके लिये उसका चुनाव हुआ है। इस चुनावमें वृक्षोंमें पलाशवृक्षकी शाखा छेदन करनेसे एक और महत्व की बात सूचित की है — कि '**ब्रह्म वै पलाशम्**' कहकर वृक्षोंमें पलाश (ढाक-खाखरा) वृक्षको ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणजातिका बतलाया है। मनु महाराजने राजशासन करनेका कार्य क्षत्रियका बतलाया है, परंतु उस क्षत्रियमें अन्य क्षत्रियोंकी अपेक्षा कुछ विशेषता भी साथही कही है। वह यह कि क्षत्रिय ब्राह्मसंस्कारको प्राप्त हुआ हुआ हो अर्थात् ऐसे संस्कारोंसे सम्पन्न हो चुका हो जो संस्कार ब्राह्मणके होते हैं। इस प्रकार पलाशवृक्षकी शाखाछेदनसे ऐसे मनुष्यका चुनाव सूचित होता है जो क्षत्रिय हो, परन्तु ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो चुका हो।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥

(मनु० ७, २)

राजाको चुनते हुए जो कहा गया है कि 'तुझे वृष्टि और अन्न तथा बल पराक्रम के लिये इस समुदाय से पृथक् करते हैं,' उससे स्पष्ट है कि वेद की दृष्टिमें राष्ट्रिय सम्पत्तिकी वृद्धि और रक्षा का निर्भर राष्ट्र में होनेवाली वृष्टि और अन्न पर है। वृष्टि और अन्नमेंभी वृष्टि प्रधान है, अन्न गौण; क्योंकि विना वृष्टिके अन्न भी नहीं हो सकता। इस कारण राष्ट्रपति इन्द्र का अपने राष्ट्रमें सुवृष्टि साधन उपस्थित करना प्रधान कर्तव्य है। जिस राष्ट्रमें सुवृष्टि रहती है, उस राष्ट्र में धन, धान्य, विद्या, विज्ञान, शान्ति, धर्म, वनस्पति और

खनिज द्रव्य सभी का विकास होता है। राष्ट्र के लिये उपयोगी जितने यज्ञ हैं, इन्द्र उन सबको करता करवाता रहता है। इन्द्र वृष्टियज्ञ अर्थात् दर्शपूर्णमास करके वृष्टि और अन्न के द्वारा राष्ट्र को समृद्ध करता है। इस प्रकार देशमें सुवृष्टि का प्रबन्ध करना इन्द्रका प्रधान कर्तव्य है, इसीको सूचित करनेके लिये ' इषे त्वा उर्जे त्वा शब्दोंसे इन्द्रका चुनाव होता है.

जबतक प्रजाके लोग सान्नाय्य रूपमें होकर इन्द्रको विश्वास नहीं दिला देते कि जिससे तृप्त होकर इन्द्र राष्ट्रको ग्रहण करनेमें समर्थ हो सके तबतक वह राष्ट्रभारको ग्रहण नहीं करता है अर्थात् व्रतग्रहण नहीं करता है। इस कारण लोगोंका मुखिया अग्नि (नेता = अग्रणि = leader) चुने गये मनुष्यको लोगोंको दिखलाकर कहता है कि तुम 'वायवः स्थ' गतिशील, कर्मशील (active) हो। राष्ट्रकार्य बिना प्रजाके कर्मशील हुए कभी नहीं चल सकता। जब प्रजाने अपने प्रयोजनसे अपने लियेही अपनेमेंसेही एक व्यक्तिको राष्ट्रके लिये चुना हो,तब तो प्रजाका कर्तव्य बहुत ही बढ जाता है कि वह कर्मशील बने, अन्यथा उसके चुननेका कुछ अर्थ नहीं रहता।

गौका बछडा गौको चूङ लेता है, तो उसको शाखाके इशारेसे हटाते हैं, भगाते हैं वा कर्मशील करते हैं। इसी प्रकार प्रजारूपी वत्स गौरूपी पृथ्वीको चूङ लेती है, अर्थात् पृथ्वीसे धन धान्य प्राप्त कर लेती है, तो प्रजाको उसके उपभोगसे हटाते हैं कि जबतक पृथ्वीरूप गौका दोहन नहीं हो जाता तबतक प्रजा पृथिवीके धनधान्यका भोग न कर डाले। भोग कर डालनेसे राष्ट्रकी गाडी नहीं चलेगी, कुछ भी इन्तजाम राष्ट्रका न हो सकेगा। इसलिये गोरूप पृथिवीपर उत्पन्न हुए सामग्रीरूप दुग्धसे सान्नाय्य (दधि) रूप राष्ट्रका आधार तैयार किया जाता है कि जिससे इन्द्र तृप्त होकर राष्ट्रके प्रबन्धके लिये व्रत ग्रहण करता है। प्रजाके लोग पृथ्वीपर अपने अपने पैदा किये हुए को मिलाते हैं, अर्थात् अपना अपनापन छोड देते हैं। बस, इस अपने अपने पनको छोड देनेसेही सान्नाय्यरूप राष्ट्रका आधार तैयार होता है।

अब अनेक गौओंमेंसे एक गौको वत्ससे अलग करके, शाखासे छूता है और कहता है,' देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे,'कि सविता देव तुम्हें श्रेष्ठतम कर्मके लिये अर्पण करे। एक गौको शाखासे छूना यह समूहमेंसे एक को छूनेसे सभीके लिये छूनेका संकेत है क्योंकि मन्त्रमें 'वः' शब्दसे बहुवचन का निर्देश है। वृक्षसे पृथक् की गई शाखा तो प्रजामेंसे चुना गया व्यक्ति है, जिसने राष्ट्रपति इन्द्र बनना है। उस चुने हुए व्यक्तिका (इन्द्रका) सम्बन्ध माताकरूप गौओंसे कराया जाता है। राष्ट्रमें जितनी जमीनें हैं, गौमातायें हैं, जिनसे राष्ट्रके वत्सरूप लोग रसग्रहण किया करते हैं। उन सब जमीनोंका सम्बन्ध राष्ट्रपति इन्द्रके साथ किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रजाएं भी गौएं हैं, जिनसे राष्ट्रके प्रबन्धके लिये रसरूप उत्तम उत्तम पदार्थोंका ग्रहण किया जाता है। प्रजाओंके भी पृथक् पृथक् भावको दूर करके उन सबका स्वामी राष्ट्रपति इन्द्र नियुक्त किया जाता है। जमीनोंके तथा प्रजाओंके एक हो जानेसे सर्वहित अर्थात् राष्ट्रहितको दृष्टिमें रखते हुए उनका अपना अपना प्रयत्न होता है।

जबतक यह सम्बन्ध न हुआ था तबतक उनका प्रयत्न अपनी अपनी दृष्टिसे था (सर्वहित वा राष्ट्रहितकी दृष्टिसे न था) इसीलिये शाखासे स्पर्श करके कहा जाता है, ' देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ' कि सबको प्रेरणा देनेवाला सविता देव जिसकी प्रेरणासे तुम एक राष्ट्रीय संगठन में आना चाहते हो, वही सविता देव तुम्हें राष्ट्रयज्ञरूपी श्रेष्ठतम कर्मके लिये अर्पण कर दे (लगा दे), अर्थात् तुम्हारी कार्य करनेकी अपनी अपनी भावनायें राष्ट्रहितकी दृष्टिसे हो जावें। प्रजा और जमीनें दोनों ' अघ्न्या ' हैं अर्थात् हनन करने वा किसी प्रकारका नुकसान पहुंचानेके लिए नहीं हैं। 'अघ्न्या' हो अतः इन्द्रके लिये भागको खूब बढाओ। 'आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागम्'। पहले प्रजारूप वत्सोंको कहा था कि तुम कर्मशील उद्योगी बनो। उस उद्योगका फल यह है कि गौरूप जमीनसे खूब अर्थ की प्राप्ति होवे। पृथ्वीसे अर्थरूप रसकी प्राप्ति प्रजायें करती हैं तो पृथ्वी गौ और प्रजा वत्स है। प्रजासे अर्थरूप रसकी प्राप्ति इन्द्र करता है, अतः प्रजा (अघ्न्या) गौ और इन्द्र वत्स है। पृथ्वीको भी जो रस मिलता है वह सूर्यकिरणोंसे (गौओंसे) मिलता है। इस सम्बन्धमें सूर्य वा सूर्यकी किरण गौ हैं और पृथ्वी उसका वत्स है। इस प्रकार आदान-प्रदान-भावकी अपेक्षासे गोवत्सव्यवहार पदार्थोंमें

संचरित होता रहता, है स्थिर नहीं है। पद्धतिमें पहले प्रजारूप वत्ससे जमीनों (माताओं) को अलग किया था इसलिये जमीनें गौएं थीं। अब उन्हीं प्रजारूप वत्सोंको अघ्न्या अर्थात् गौ कहा है, क्योंकि प्रजायेंही इन्द्रको देनेके लिये भागको बढायेंगी। प्रजाओंके पाससेही इन्द्रके लिये धनका संग्रह होगा। इन्द्रका भाग इन्द्रके पास पहुंच जानेसे प्रजायें सुशासित हो जावेंगी।

'प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्माः'

वे उत्तम प्रजाओंसे युक्त हो जावेंगी, उनमें किसी प्रकार के क्रिमिजन्य रोग तथा यक्ष्मा आदि संहारक रोग न होने पावेंगे। सुशासनका फल होगा कि चोर डाकू आदि नाशकारी राक्षस प्रजापर प्रभुत्व न दिखला सकेंगे, काबू न पा सकेंगे। इसीलिये कहा है 'माः वः स्तेन ईशत'। इसके अतिरिक्त घरोंमें लुके छिपे वा खुले मैदानमें दुराचार आदि पाप करनेवालोंकी भी पाप करनेके लिये हिम्मत न पडेगी 'माऽघशंस ईशत'। इसलिये प्रजाओंको कहा जाता है कि भूमिके मालिक इस गोपति इन्द्रके आधीन ध्रुव वा स्थिर होकर रहो और खूब बढो। 'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः'।

इतना सब हो जानेके बाद उस शाखाको आहवनीय कुण्डके आगे वा गार्हपत्य कुण्डके आगे संभालकर रख दे। 'आहवनीयागारस्य पुरस्तात् गार्हपत्यागारस्य वा शाखामुपगूहति। शाखाको रखते हुए कह दे कि यजमानके पशुओंकी रक्षा किया कर। 'यजमानस्य पशून् पाहि।' इस प्रकार मन्त्र बोलकर यजमानके पशुओंको रक्षाके लिये उसे सौंप दिया जाता है। 'तद् ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य पशून् परिददाति गुप्त्यै।'

सूर्य आहवनीय कुण्ड है। सूर्य इन्द्र है, जो द्युलोक के गर्भमें रहता है। पृथ्वी गार्हपत्य कुण्ड है। पृथ्वी अग्नि है, जो पृथिवी लोकके गर्भमें रहता है।

यथाऽग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ॥
(यजुर्वेद)

सूर्यसे अग्नि पृथिवीमें और पृथिवीसे अग्नि सूर्यमें जाया करता है। पृथ्वीमें जो अग्नि है वही अग्नि सूर्यमें इन्द्र है। सूर्य इन्द्रप्राणघन होनेसे इन्द्रही है। प्रजामेंसे राष्ट्रपति इन्द्र होनेके लिये चुना हुआ मनुष्य वृक्षकी शाखाके रूपमें इन्द्र है। उस शाखाको आहवनीयके पास वा सूर्यस्थानमें अथवा गार्हपत्यके पास वा अग्निस्थानमें रखनेसे सूचित करते हैं कि राष्ट्रपति इन्द्रकी प्रतिष्ठा कहीं सूर्यसदन के पास वा अग्निसदन के पास करनी चाहिए। इन्द्रका कार्य यजमानके पशु अर्थात् धनदौलत आणि सम्पूर्ण सामग्रीकी रक्षा करना है। राष्ट्रपति इन्द्र यद्यपि राष्ट्रयज्ञका सम्पादन करनेवाला यजमान है तथापि वह इसी दृष्टिसे है कि व्यवस्था करनेके लिये उसके पास प्रजासे विविध प्रकारका अर्थ पहुंचता है, परन्तु इस सबका अन्तिम फल सुखसमृद्धिरूपमें प्रजाको ही मिलता है। अतः राष्ट्रयज्ञका सच्चे अर्थोंमें यजमान प्रजाही है उसीने यह यज्ञ रचा है। इसी लिये शाखारूप इन्द्रसे कहा जाता है कि तू राष्ट्रपति है, प्रजाओंने अपने आपको तुझे सौंपा है। अतः तू यजमान प्रजाके पशुओंका अर्थात् भोग्य सामग्रीका पालन किया कर। इस प्रकार यज्ञपद्धति को विचारनेसे अनेक रहस्यमय अर्थोंके साथ राष्ट्रपद्धति प्रकट होती है। यह दिग्दर्शन मात्र है।

दर्शपूर्णमासके रहस्य पर विचार करनेसे पता लगता है कि अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म पदार्थोंका परस्पर संबन्ध दिखलानेके लिये प्राचीन कालके तत्त्वज्ञ ऋषियोंने एक तरीके (पद्धति) का आविष्कार किया है, जिसका नाम यज्ञ है। पदार्थोंके परस्पर मेलसे अपूर्व पदार्थकी उत्पत्तिका नाम यज्ञ है। यह यज्ञभाव अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म तीनों प्रकारके पदार्थोंमें साधारण रूपसे पाया जाता है। इस यज्ञभावके कारणही तीनों प्रकारके पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है। 'तीनों प्रकारके पदार्थोंमें पारस्परिक सम्बन्धका स्पष्ट ज्ञान होनेसे सम्बन्धसूत्रको एक स्थानमें पकडनेसे अन्य स्थानोंमें विद्यमान तदनुरूप पदार्थोंके साथभी सम्बन्ध प्राप्त हो सकता है।' इस नियम के आधारपर यज्ञविद्याके द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्म और दूरसे दूर पदार्थोंके साथ सम्बन्ध प्राप्त करनेकी परिपाटी समर्थ पुरुषोंमें बहुत देरतक चली।

इसी कारण अधियज्ञ भावका महत्व चिरकालतक उज्ज्वल रहा। समर्थ पुरुषोंकी इस अधियज्ञ भावकी ओर इतनी

अधिक रुचि बढी कि उस वैदिक विज्ञानकी ओरसे सर्वथा दृष्टि हट गई, जिस वैदिक विज्ञानके आधारपर आधियज्ञ-भावका भवन खडा हुआ था। उष्णकालके सन्तापसे सन्तप्त पुरुष कुएं पर जाकर अपनी प्यास बुझा लेता है और बाजारसे घडा खरीद कर उसमें जल भरकर अपने मकानमें रख लेता है कि समय समय पर जल पीकर तृषाको शान्त करता रहे। वह यह नहीं सोचता कि घडा किसने बनाया और कैसे बनाया, घडे की आकृति कहांसे आ गई, यह नित्य है वा अनित्य है, जब यह यहां नहीं था तो कहां था और जब यह यहां नहीं रहेगा तो कहां चला जायगा? इत्यादि। ऐसे प्रश्नोंकी उलझनमें वह नहीं पडता। उसे तो घडेमें पानी भरकर रखने तथा समय समय पर अपनी प्यास बुझानेसे मतलब है।

इसी प्रकार कर्मपरायण मनुष्य यह नहीं देखा करता कि 'ऐसा क्यों होता है?' अर्थात् इसका विज्ञान क्या है? वह तो इतना ही देखा करता है कि 'ऐसा करनेसे ऐसा हो जाता है।' क्यों हो जाता है, इसकी चिन्ता उसको नहीं होती। इसी प्रकार अधिभूतके सम्बन्धसे उठकर अधिदैवके सम्बन्धमें पहुंचनेके लिये समर्थ पुरुषोंको केवल उस पद्धति की ही अपेक्षा रह गई जिस पद्धतिके द्वारा अधिदैवके साथ सम्बन्ध बन जाय और अधिभूतके साथ टूट जाय, किन्तु उस विज्ञानकी उन्हें अपेक्षा न रही जिस विज्ञानके आधार पर ऐसा होता है तथा बुद्धि उसे स्वीकार करती है। ज्वर-ग्रस्त रोगी तो ज्वर उतर जानेके लिये दवाई चाहता है? वह यह जानना नहीं चाहता कि दवाई ज्वरको कैसे उतार देगी। कृषक खेतमें बीज बोकर फल चाहता है, वह यह जानना नहीं चाहता कि जमीनमें डाला हुआ बीज कैसे अंकुरित होता है तथा किस प्रक्रियासे फल लगता है। शनैः शनैः जब प्रमाद-दोषसे फलोन्मुख प्रक्रिया वा पद्धतिमें त्रुटि हो जाती है तथा फल प्राप्त नहीं होता तब मनुष्य विचारमें पड जाता है कि फल क्यों प्राप्त होता है और क्यों प्राप्त नहीं होता? कर्म-वैगुण्य क्या हुआ तथा क्या क्या हो जाया करता है? उसको कैसे दूर किया जाता है और वह क्यों दूर हो जाता है?

इस प्रकार कर्म करते हुए इष्ट फल न प्राप्त होनेसे प्रत्युत अनिष्ट फल प्राप्त होनेसे वा कर्म विफल होनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति कर्मके विज्ञानको जाननेकी ओर होती है। इसीलिये शतपथादि ब्राह्मणोंने कर्मपद्धतिके साथ साथ कर्मके विज्ञान-को भी स्पष्ट किया है। आधिदैविक पदार्थोंका आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंके साथ विद्यमान सम्बन्धके विज्ञानको ब्राह्मणग्रंथोंने अत्यन्त सुन्दरताके साथ निरूपण किया है। इसी सम्बन्ध विज्ञानका नाम वैदिक विज्ञान है। इस विज्ञानके लुप्त हो जानेसे हम भारतीयोंकी दयनीय और शोचनीय दशा शताब्दियोंसे हो रही है। इसी दुःखसे दुःखित होकर स्वामी दयानन्दने भारतीयोंको वेदोंकी ओर प्रबल धक्का दिया और आदेश दिया कि 'वेद सब सत्य-विद्याओंका पुस्तक है, उसका पढना पढाना आर्योंका परम धर्म है।'

वेद विद्यापुस्तक है। विद्या अर्थात् विज्ञानके द्वारा धर्म (कर्तव्याकर्तव्य)का ज्ञान हुआ करता है। विद्यापुस्तकका नाम वेद होनेसे ब्राह्मणग्रंथोंकोभी अनेक विद्वान् वेदही कहते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंकी रचना मन्त्रसंहिताके पश्चात् होते हुएभी उनकी दृष्टिमें ब्राह्मणोंके वेद होनेमें कोई हानि नहीं आती। वेदके नित्यानित्यत्वका निर्णय वे इस प्रकार करते हैं, कि जैसे सृष्टि दो प्रकारकी है, एक कार्यात्मक और दूसरी कारणात्मक; वैसे वेदभी दो प्रकारका है, एक कार्यरूप और दूसरा कारणरूप। कारणात्मक सृष्टि और कारणरूप वेदका एकही स्वरूप है जो ईश्वरमें ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें रहता है। कार्यसृष्टि और कार्य-वेदका स्वरूपभी एकही है। वाङ्मय कारणरूप वेद ईश्वरीय ज्ञानके साथ ईश्वरमें रहता है। वाङ्मयकार्य-रूप वेद कार्यरूप सृष्टिके साथ ऋषियोंके हृदयोंमें प्राण-व्यापारके द्वारा प्रादुर्भूत होता है, जो कार्य सृष्टिके समान अनित्य है। इस प्रकार कार्यसृष्टिवत् वेदको अनित्य स्वीकार करते हुएभी अनेक विद्वान् वेदके नित्यत्व और अपौरुषेयत्व में किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं समझते।

वेद विद्यापुस्तक होनेसे आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंके पारस्परिक सम्बन्धके विज्ञानका निरूपण करता है। तीनोंमें सम्बन्ध देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि आधिदैविक पदार्थोंका विकासही आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंके रूपमें हुआ है। जैसा वहां है वैसा यहां है और जो वहां है सो यहां है। अर्थात् अधिदैव की छाया वा प्रतिबिम्ब अधिभूत और अध्यात्म हैं, इसलिये तीनोंके सम्बन्ध विज्ञानका निरूपण करता हुआ वेद कहीं

अधिदैवका निरूपण प्रधानतासे करता हुआ अधिभूत और अध्यात्मका निरूपण गौण रूपसे कर जाता है, कहीं अध्यात्मका निरूपण प्रधानतासे करता हुआ अधिदैव और अधिभूतका गौण रूपसे कर जाता है, तथा कहीं अधिभूतका निरूपण प्रधानतासे करता हुआ अधिदैव और अध्यात्मका गौण रूपसे कर जाता है। तीनोंमें पारस्परिक सम्बन्ध रहनेसे एकके पदार्थोंका बोध दूसरेके पदार्थोंके द्वारा कर और करा लिया जाता है। जिन पदार्थोंका बोध करना अधिक कठिन होता है, उनका बोध आधिभौतिक पदार्थोंके बोधके आधारपर करानेसेही ठीक होता है, यही उत्तम मार्ग है। अतएव आधिदैविक और आध्यात्मिक कठिन पदार्थोंका निरूपण वेदमें यदि आधिभौतिक वा ऐतिहासिक ढङ्गपर किया जाय तो कुछ आपत्ति नहीं है। नित्य वेद-पुरुषकी दृष्टिमें सब पदार्थ एकही कालमें हैं, वहां कालका भेद नहीं है। कालका भेद अनित्य पदार्थकी दृष्टिसे होता है। वेदके ऐतिहासिक निरूपणोंमें आये हुए नामोंकी अन्वर्थकताको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य अपने व्यावहारिक पदार्थोंके नाम रख लिया करते हैं। पदार्थोंमें पारस्परिक सम्बन्ध नामोंकी अन्वर्थकतासे ठीक अन्वित हो जानेसे उत्तरकालीन मनुष्योंको वेदोंके अन्दर उसी इतिहासका भान होने लगता है, जो इतिहास मनुष्यजीवनमें कभी घट चुका है। आधिभौतिक विज्ञानकी अन्वेषणामें तत्पर अनेक विचारशील पुरुष पदार्थोंके गुणधर्म और उनके परस्पर सम्बन्धोंको जाननेके लिये वैदिक शब्दोंकी अन्वर्थकतासे लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार वैदिक शब्दोंका अनुशीलन करनेवाले अनेक विचारक पदार्थोंके गुणधर्मोंको जानकर अर्थात् आधिभौतिक विज्ञानके आधारपर वैदिक शब्दोंके यथार्थ अर्थका बोध करते और कराते हैं। इस प्रकार वैदिक तत्त्वज्ञानमें इतिहाससेभी सहायता मिल सकती है, ऐसा अनेक विचारकोंका विचार है।

वैदिक विज्ञानकी ओर पाठकोंकी रुचि उत्पन्न करनेके लिये हमने दर्शपूर्ण मासका राष्ट्रिय स्वरूप अर्थात् आधिभौतिक निरूपण किया है। यजुर्वेदके प्रथम दो अध्यायोंमें दर्शपूर्णमासका निरूपण है। मन्त्रोंका अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्दके भाष्य और शतपथ-ब्राह्मणको प्रधानरूपसे आश्रय लिया है। स्वामी दयानन्दकी भाष्यशैलीसे बहुत सहायता मिली है। स्वामीजीकी भाष्यशैली अपूर्व है। स्वामीजी भारतकी गिरी हुई पराधीन अवस्थाके उद्धारक थे। मन्त्रोंकी व्याख्या करते हुए वे प्रयत्न करते हैं कि थोडे कथनमें बहुत बतला जाऊं, अर्थात् अधिदैव तथा अध्यात्मके साथ साथ अधिभूत वा राष्ट्रिय व समाजोन्नतिपर विशेष प्रकाश डाल दूं। थोडे कथनके द्वारा बहुत कुछ बतानेकी दृष्टिसे यदि वे एक मंत्रमें एक शब्दका अर्थ अधिदैवपरक करते हैं, तो दूसरे शब्दका अध्यात्मपरक और तीसरेका अधिभूतपरक ही कर डालते हैं। इस शैलीमें उन लोगोंको कष्ट उठाना पडता है और अरुचि पैदा होती है, जिनमें ऊहा अत्यल्प होती है, तथा जो बना बनाया सीधा तैयार अर्थ चाहते हैं। इसके विपरीत उन लोगोंको यह शैली उत्तम मालूम होती है, जिनमें ऊहा पर्याप्त है, अर्थात् एक शब्दके अर्थको दूसरे शब्दके अर्थके अनुसार ढाल लेनेकी आदत है। ऐसे लोगोंको तो शब्दोंसे नाना प्रकारके भाव खैंचनेके लिये स्वामी दयानन्दकी भाष्यशैलीसे बहुत सहायता मिलती है, क्योंकि उसमें विभिन्न क्षेत्रोंको लेकर संकेतरूपमें किये गये विभिन्न अर्थ ऊहा करनेके लिये सहायक हो जाते हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थोंको मिलानेवाले आधियाज्ञिक अर्थोंके रहस्यको समझनेसे दर्शपूर्णमासके राष्ट्रिय स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान होता है, तथा याज्ञिक पद्धति का महत्व प्रकट होता है।

" वेदार्थ के वास्तविक साधन "

या

" आदर्श वेदार्थशैली । "

(लेखक- पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, आचार्य, गुरुकुलविद्यालय, सोनगढ-काठियावाड)

लेखक

वेदों के ऊपर समय समय पर विद्वानोंने कलम उठाई है। ब्राह्मण-ग्रन्थ-रचयिता ऋषियों के बाद पौराणिक काल में, आचार्य उवट, महीधर तथा सायणादि ने वेदों पर भाष्य किये हैं। इसी प्रकार आधुनिक युग में मेक्समूलर, विटनी, ग्रिफित आदि पाश्चात्य लेखकों ने भी वैदिक साहित्य पर बहुत कुछ लिखा है; परन्तु इन विद्वानों के ग्रन्थों में वेदों की आत्मा का विकास नहीं हुआ है। पौराणिक (पुराणकालीन) भाष्यकार तो याज्ञिक वाद, देवता-वाद, ऐतिहासिक वाद आदि वादों की बाधाओं में जकड गए हैं। वे अपने समय की रूढियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। उन्होंने पूर्वपरिग्रह द्वारा रंगी ऐनकों से वेद को देखा है, यही हालत पाश्चात्य लेखकों की भी है। एक तो इनके भाष्य अक्षरशः अनुवादमात्र हैं, फिर ये अनुवाद लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में भेद करते प्रतीत नहीं होते। इस पर मजे की बात तो यह है कि ये सायणाचार्य के ही पद-चिह्न पर चलते हैं और विकासवाद (अशुद्ध अर्थों में) की रट लगा लगा कर वेदों के असली तात्पर्य से दूर हो गये हैं। इसलिये वैदिक साहित्य को समझने के लिये इनके लेख प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

ब्राह्मणकाल, पौराणिक भाष्यकार और पाश्चात्य भाष्यकारों के अतिरिक्त आधुनिक समय में वेद के ऊपर युगपरिवर्तनकारी कलम उठानेवालों में सबसे प्रमुख नाम महर्षि दयानन्द का है। महर्षि के भाष्यों से वेद जीवित और जागृत प्रतीत होने लगते हैं।

महर्षि के भाष्य का एक एक मन्त्र पूर्व के भाष्य-कारों की त्रुटियों का क्रियात्मक समाधान कर रहा है। इसलिये वेद के सच्चे स्वरूपों को जानने में ऋषि दयानन्द के भाष्य और उनकी भाष्यशैली को समझना आवश्यक है। महर्षि दयानन्दजी के भाष्यों के अध्ययन से आदर्श भाष्यशैली व अर्थ करने की प्रणालीके विषय में निम्न तीन परिणामों पर पहुंचते हैं—

(क) सर्व प्रथम शब्द का प्रकृति और प्रत्यय के आधारपर मूल अर्थ (यौगिक अर्थ) जान कर—

(ख) तदनन्तर वेद में आये विशेषणों और प्रकरण के आधारपर उन का अर्थ निर्धारित करके—

(ग) वैदिक साहित्य के आधारपर उस का

निश्चित रूढ व यौगरूढ अर्थ को जानकर मन्त्र की व्याख्या करना ।

यास्काचार्य ।

महर्षि दयानन्दजी की उपर्युक्त वेदार्थशैली का बीज निरुक्त में भी मिलता है । आचार्य यास्क ने नि० १३।१२ में वेदार्थ के लिये निम्न साधन निर्दिष्ट किये हैं ।

" अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः । अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥"

अर्थात् यह शास्त्र (निरुक्त) मन्त्रों के अर्थों के परिज्ञान के लिए उत्तम साधन है । मन्त्रों के अर्थ करने के लिए श्रुति के प्रमाणों को लेकर और वेदों से अप्रतिकूल तर्क के द्वारा प्रकरण के अनुसार मनन करना चाहिए । मन्त्रों को अलग अलग लेकर उन का स्वतंत्र अर्थ करना अनुचित है । क्योंकि मन्त्रों में विषय गहन होते हैं । अतः जो ऋषि और तपस्वी नहीं हैं वे मन्त्रार्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकते । साधारण लोगों में बहुश्रुत की ही पूछ होती है ।

निरुक्त के उक्त सन्दर्भ से हम निम्न परिणामों पर पहुंचते हैं । वेदार्थ करने के पांच साधन इस प्रकार से हैं-

(१) " श्रुतितः- " (क) आचार्य के मुख से वेद और वैदिक परम्परा का श्रवण । (Oral tradition)

(ख) वेदों के प्रमाण; तथा अन्तःसाक्षी का परिज्ञान ।

(२) "तर्कतः " (Reasoning) (क) वेदाविरोधि तर्काश्रय- वैदिक प्रमाणों के अविरोधी तर्क द्वारा वेदों की संगति लगाना ।

(ख) 'तर्क-ऋषि' (निरुक्त) का आश्रय अर्थात् नैरुक्त यौगिक प्रणाली का आधार ।

(३) " प्रकरणशः "-मन्त्रों की प्रकरणानुसार (Context) व्याख्या करना, स्वच्छन्द नहीं, पृथक् करके नहीं ।

(४) " भूयोविद्यः " वेदों के गुह्य ज्ञान जानने के लिए अनेक विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त करना ।

(५) " तप * " (Meditation) वेदार्थ परिज्ञान के लिए 'ध्यान' लगाना अत्यावश्यक है । साथ ही " ऋषि " (Seer) अर्थात् तत्त्वद्रष्टा हुए बिना भी वेद के रहस्य नहीं खुल सकते और ऋषि बनने के लिए " ध्यान " मुख्य साधन है ।

इस लेख में हम क्रमशः " तर्क, " " प्रकरण " तथा " श्रुति " इन तीन साधनों के आधार पर वेदार्थ करने के विषय में विवेचन करना चाहते हैं ।

(१) " तर्क " (तर्कतः) Reasoning-

(क) तर्क ऋषि कौन है, यह नि० १३।१२ से प्रतीत होता है- "मनुष्याः वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहति आर्षं तद्भवति । " जब इस लोक से ऋषि जाने लगे तब देवों से मनुष्यों ने पूछा कि अब हमारे लिए कौन ऋषि होगा ? उन लोगों के लिये देवों ने मन्त्र के अर्थ करनेके विचार-साधन से युक्त इस तर्करूपी ऋषि को दिया । अतः जो कोई विद्वान् सोच समझकर (मनन करके) अर्थ बताते हैं वह अर्थ ऋषिप्रणीत ही होता है ।

तर्क ऋषि के विषय में वेद में भी लिखा है-

हृदातष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ।
(ऋ. १०।७१।८)

(यत् सखायः ब्राह्मणाः) जब जब समान ज्ञानवाले वेदज्ञ विद्वान् (हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु)

---

* (क) नि. १३।१३ में भी " तस्यास्तपसः पारमिप्सीतव्यम् "
(ख) नि. १३।१२ " अनृषेरतपसो वा "

हृदय से सूक्ष्मीकृत बुद्धि की दौडों में अर्थात् हृदय तथा बुद्धि से गम्य वेदार्थ-परिज्ञान में (संयजन्ते) एकत्र होते हैं, (अह-अत्रत्वं-वेद्याभिः विजहुः) तब निश्चय से वे ज्ञानी लोग वेदार्थचिन्तन में बुद्धिहीन मूढ को अनेक विद्याओं द्वारा पीछे छोड देते हैं। (उत्वे ओह ब्राह्मणः विचरन्ति) और दूसरे तर्क से वेदज्ञान को पानेवाले विद्वान् सात तत्त्वों से पूरा लाभ उठाते हैं। मन्त्र में निम्न मनुष्यों का तर्क आदरणीय कहा है-

(१) उत्तम ज्ञानी। (२) तर्क से ऊहापोह से ब्रह्म का चिन्तन करनेवाले। (३) बुद्धि तथा हृदय से सूक्ष्म तत्त्वों का परिज्ञान करनेवाले। (४) सात तत्त्वों को क्रियात्मक रूप देनेवाले। एवं हमने निरुक्त तथा वेद के प्रमाणों से यह जानने का प्रयत्न किया है कि सामान्य जनों का तर्क, " तर्क ऋषि " शब्दसे अभिप्रेत नहीं, अपितु ❀ वेदाविरोधी विद्वानों का तर्क ही ' तर्क ऋषि ' है।

(ख) यह तर्क ऋषि निरुक्त ❀ शास्त्र भी है। निरुक्तशास्त्र में वेद की यौगिक अर्थ करने की प्रणाली पर विशेष बल दिया गया है। संक्षिप्त रूप में वह इस प्रकार से है- आख्यात या नाम जिन से कि प्रत्यय जोडा जाता है, वैय्याकरण उसे प्रकृति कहा करते हैं। जो शब्द प्रकृति और प्रत्यय की उपेक्षा करके केवल सामुदायिक शक्ति से अपने वाच्य पदार्थ को सूचित करता है, उसे रूढ कहते हैं। तथा जो शब्द प्रकृति और प्रत्यय दोनों की अपेक्षा करता हुआ समुदायशक्ति से वाच्य अर्थ को बताता है उसे योगरूढ कहते हैं। दार्शनिक लोग शब्दका एक स्वभाव बताया करते हैं कि शब्द पहिले पहल अपने वाच्य अर्थ को योग-वृत्ति से कहता है तदनन्तर शनैः शनैः जब उस का अर्थ स्थिरसा हो जाता है, तब दोनों वृत्तियों से योगरूढ कहा जाता है, पुनः चिरकाल के अनन्तर अति प्रसिद्ध होनेपर योगवृत्ति को छोड केवल रूढवृत्ति से वाच्य अर्थ को सूचित करता है। एवं जो शब्द अपने वाच्य अर्थ को योगवृत्ति से कहे वह यौगिक, जो योग तथा रूढ दोनों वृत्तियों से कहे वह योगरूढ और जो केवल रूढ वृत्ति से अपना अर्थ बतावे उसे रूढ समझना चाहिये। तीनों वृत्तियों में रूढ वृत्ति अन्तिम और जघन्य है। योगरूढ मध्यम तथा यौगिक वृत्ति उत्तम और ज्येष्ठ है। अतः यौगिक वृत्ति ही विशेष आदरणीय है। अतः यौगिक प्रणालीसे ही वेद का वास्तविक अर्थ जाना जा सकता है। लौकिक दृष्टि में तो कमजोर को बलदेव, क्रोधी को सोमकीर्ति और अन्धेको नैनसुख कहा जा सकता है।

परन्तु वैदिक दृष्टि में कमल को तब तक पंकज नहीं कहा जा सकता, जब तक (पंक + ज) कि वह कीचड से पैदा न हुआ हो। वैदिक दृष्टि में शब्द अपने वाच्य अर्थ को प्रकृति तथा प्रत्यय के आधार पर बताते हैं। इसलिये वैदिक शब्द यौगिक ही हैं। स्वामीजी महाराज की वैदिक शब्दों को यौगिक समझने की शैली में यास्क, पतंजलि मुनि तथा अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थकारों की भी अनुमति है।

(२) " प्रकरण " (प्रकरणशः) Contxt.

वैदिक शब्दों के यौगिक मान लेने पर एक प्रश्न हो सकता है कि इस तरह से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं और शब्द का कोई भी निश्चित अर्थ प्रतीत नहीं होता है। आचार्य यास्क तथा महर्षि दयानन्दजी की वेदार्थ-प्रणाली में इसका समाधान इस प्रकार से है कि हमें केवल प्रकृति तथा प्रत्यय-लभ्य अर्थ से ही सन्तुष्ट न रहना चाहिये। अपितु ❀ प्रकरण तथा × विशेषणों पर भी ध्यान करना

❀ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिनं। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनु. १२।७६.) ❀ देखो दुर्गवृत्ति

❀ देखो परम-लघु-मंजूषा शब्द-शक्ति-विचार-प्रकरण १४ पृष्ठ पर तदुक्तम् हरिणा (१) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ सैन्धवमानयेत्यादौ प्रकरणेन तत्।

(२) देखो साहित्यदर्पण द्वितीय परिच्छेद व्यंजनाप्रकरण में " सर्वं जानाति देवः " इति देखो भवा(वक्ता तथा श्रोता की बुद्धिस्थता प्रकरण है)

× टिप्पणी अगले पृष्ठपर देखें

चाहिये। किसी विशेष पदार्थ वा देवता का निर्णय यौगिक वृत्ति से कर लेना ही उचित नहीं और रुढि-अर्थों को मान लेना उचित है; परन्तु विशेषणों के आधार पर विशेष्य या देवता का स्वयं निर्णय करना चाहिये। साथ ही आगे पीछे के प्रकरण का भी ध्यान रखना चाहिये। निःसन्देह इस शैलीसे किसी भी काव्य के अर्थ किये जा सकते हैं और किये जाने चाहिये।

प्रकरण के आधार पर अर्थ करने का क्या तात्पर्य है, इसके लिये एक उदाहरण लीजिये।

मैं भोजन कर रहा हूं। बीचमें मुझे भोजन की आवश्यकता पडती है। मैं अपने सहायक से संस्कृत भाषा में कहता हूं कि "सैन्धवमानय"। यदि वह उस समय घोडे को ले आवे तो मैं समझूंगा कि वह शब्द के अर्थ को तो जानता है, परन्तु पूर्णरूप में नहीं- उसको मैं बुद्धिमान् नहीं कह सकता हूं, समय-सूचक तथा प्रकरणवित् नहीं कह सकता। उसके उपर्युक्त व्यवहारसे जहां पर मेरा काम भी नहीं चल सकता वहां पर वह बेवकूफ भी साबित होता है। इसी लिये प्रकरणके अनुसार नमक लाना उचित कहा जा सकता है (सैन्धव शब्द का अर्थ नमक भी होता है)। जो सहायक उस समय मुझे नमक दे देता है, उसको मैं समझदार कहता हूं। ठीक इसी प्रकार वेद के अर्थ करने में भी हमें प्रकरणवित् होना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि "विशेषणों" के आधार पर विशेष्य का निर्णय करना चाहिये, न कि इसके विपरीत विशेष्य को निर्णीत समझ कर जैसे तैसे भी विशेषणोंकी विशेष्यके साथ संगति लगाना। इसको स्पष्ट करने के लिये पूर्वोक्त उदाहरण ही लीजिये। मैं अपने सहायकसे "बलवन्तं नीलं सैन्धवमानय" कहता हूं। यदि वह सैन्धव शब्द का केवल नमक ही अर्थ जानता हो, या घोडा अर्थ जानते हुए भी "सैन्धव" शब्द का नमक अर्थ करने पर तुला हुआ हो तो वह "बलवन्तं" तथा "नीलं" इन दोनों विशेषणों की उपेक्षा कर जाएगा। या किसी न किसी तरह नमक "सैन्धव" के साथ "बलवान्" तथा "नीलं" होने के विशेषणों को घटाने का द्राविड प्राणायाम करेगा। इसके विपरीत बुद्धिमान् सहायक "सैन्धव" शब्द के अर्थ का निर्णय "बलवन्तं" और "नीलं" इन विशेषणों से ही कर लेगा। वह सोचेगा कि नमक न तो बलवान् ही होता है और न नीला, इसलिये सैन्धव का "सैन्धव" के विशेषणों के बल पर घोडा ही अर्थ होना चाहिये। बस, वह यह समझ कर झट नीला घोडा ले आवेगा। इस उदाहरण में जैसे पहिले प्रकार का सहायक जैसे बेसमझ है और दूसरा समझदार, ठीक इसी प्रकार वेद के अर्थ-निर्णय में भी जो कि विशेषण के आधार पर विशेष्य के अर्थ भी निर्णीत करता है वह बुद्धिमान् कहा जा सकता है। इसी प्रकार और भी "हरि❀" "कर +" तथा "अग्नि ✱" "इन्द्र" "वायु" (वैदिक देवता) आदि नानार्थक शब्द लिये जा

× उदाहरणार्थ देखो महर्षिकृत "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के भाष्यकरण शंकासमाधानादि विजयप्रकरण "... ..." तेन अत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निः शब्द इन्द्रादीनां विशेषणानाम् ... ... इत्यादि ...।

❀ यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥

+ कर= हाथ, किरण, तथा Tax (भागधेयः करो बलिः)

✱ (१) पुरोहित "अग्निमीळे पुरोहितम्" (ऋ० १-१-१)
(२) प्रभु "तदेवाग्निस्तदादित्यः ... तद् ब्रह्म" (यजु० ३-२-१)
(३) आग "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (यजु० २-३-१०)

सकते हैं। उनके अर्थ का निर्णय उपरोक्त विधिसे ही करना चाहिये।

(३) 'श्रुति' (श्रुतितः) 'Oral tradition' तथा Vedic Technical Dictionary.

(क) अब हम तीसरी प्रक्रियाकी तरफ आते हैं। वह श्रुति के आधार पर अर्थ करने की प्रक्रिया है। हमें प्रकरण तथा विशेषणोंके आधारपर शब्द के अर्थ निश्चय में सहायता लेनी चाहिए। परन्तु तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम उस अर्थ के विषय में निश्चित हैं जब तक कि उसमें श्रुति अर्थात् प्रथा तथा वैदिक रूढि की प्रबल साक्षी न हो। वेदार्थ को समझने के लिए अनुश्रुति (Tradition) एवं परंपरागत साहित्य के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। वेदोंके विचारोंको समझने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृतियां, तथा सूत्र-ग्रंथ, पुराणकालीन भिन्न भिन्न भाष्यकारों के भाष्य, अनेक कवियों के काव्य आदि परवर्ती साहित्य के ज्ञान की भी अपेक्षा रहती है। इस विषय में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, परन्तु विस्तारभय से इस विषय को यहीं पर छोडते हैं।

(ख) श्रुति शब्द का दूसरा तात्पर्य वैदिक रूढिसे है। वैदिक रूढिसे अर्थ जानने की प्रणाली को (Direct Method) प्रत्यक्ष प्रणाली कहते हैं। आज कलके पाश्चात्य विद्वान् इस पद्धतिके ही हामी हैं। महर्षि दयानन्द, आचार्य यास्क तथा अन्य प्राचीन आचार्यों की वेदार्थशैली में भी इस पद्धति को बहुत महत्त्व दिया गया है। यह भली भांति समझा जा सकता है कि किसी दुरूह ग्रन्थ के अर्थबोध में यदि उसी ग्रन्थ की अन्तःसाक्षियां मिल जायं तो उसका स्थान सबसे बढकर होना चाहिये। वैदिक साहित्य में ऐसी अन्तःसाक्षियां बहुत हैं। लौकिक दृष्टि में अश्वका अर्थ घोडा होता है। परन्तु वीर्य, इन्द्रिय, सूर्य आदि अनेक अर्थ हुआ करते हैं। ये अर्थ यौगिक दृष्टि से ही नहीं होते अपितु इसमें वैदिक साहित्य की रूढि भी प्रमाणस्वरूप होती है। वेद की व्याख्या के लिये वैदिक साहित्य में से एक ऐसे कोष (Vedic Technical Dictionary) का भी निर्माण किया जा सकता है जिससे कि वेदों के निश्चयात्मक अर्थों का अवबोध किया जा सकता है। यह विषय अपने आपमें स्वतन्त्र है तथा अनेक प्रमाणों से पल्लवित किया जा सकता है। इस लेख में संकेतमात्र ही करना उचित समझते हैं।

एवं आचार्य यास्क के वेदार्थ के विषय में निर्दिष्ट " तर्क, " " प्रकरण " तथा " श्रुति " इन तीन साधनों का हमने सामान्यतः निर्देश किया है। इन तीनों साधनों को दृष्टि में रखने से वेदार्थ में किस प्रकार से स्वारस्य, युक्तियुक्तता आ जाती है, एतदर्थ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

" अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः। " (अ० १६।१।१)

अर्थ (विटनी) " Let go the bull of the waters, Let go the heavenly fires. "

(ग्रिफिथ) " The bull of the waters, hath been let go. The heavenly fires have been let go. "

अर्थात् " जलों का बैल छोड दिया जाय और छोड दी जायं आसमान की अग्नियां "।

यौगिक प्रणाली।

अहह ! कैसा सुन्दर अर्थ लगाया गया है ! जलोंके बैल को छोड दो और आसमान की आगों को छोड दो। क्या इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध भी जुडता है? जलों का बैल कौन ? और आकाश की अग्नियां कैसी ? सम्भवतः विटनी महाशयके उपजाऊ दिमाग में कोई सम्बन्ध जुडा हुआ हो ! मन्त्र-द्रष्टा ऋषि की दृष्टि में वैदिक शब्द प्रवाही एवं यौगिक होने से " वृषभ " शब्द का अर्थ वर्षणार्थक " वृष् " धातु से बरसानेवाला होता है। एवं सबसे पूर्व सम्मुगत

" वृषभ " शब्द का यौगिक अर्थ करने से मन्त्र के रहस्य के खुलने में पर्याप्त सङ्केत मिल रहा है। अब तक सामान्य अर्थ यह हुआ कि जलों के बरसानेवालेको छोड दिया और छोड दिया दिव्य अग्नियों को। अब यह विचारना है कि " आपः " क्या हैं और ये दिव्य अग्नियां क्या हैं? इसके लिये वैदिक रूढि को देखना उचित प्रतीत होता है। (अथर्व १०।२।११) में एक मन्त्र है—

वैदिक दृष्टि।

कोऽस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृत: पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनी-स्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥

अर्थ- " किसने इसमें (शरीर) विधिपूर्वक जल रक्खे हैं जो कि नाना रूप हैं, बहुत हैं और सिन्धु (हृदयसमुद्र) में या सिन्धु से बहने के लिये बनाये गये हैं? जो कि तीव्र कुछ लालिमा लिये हुए, अधिक लाल तांबे के धूएं जैसे रंगवाले, ऊपरकी ओर जानेवाले, नीचे की ओर आनेवाले और आडी गतिवाले हैं। " वैज्ञानिक बताते हैं कि हमारे शरीर में गूढे लाल रंगका खून होता है जो कि Red Corpuscles से बनता है। इसी प्रकार Flame test में खूनका रंग तांबे के धूंवे जैसा प्रतीत होता है। खून हृदय में आता है और शुद्ध हो कर शरीर में फैला जाता है। हमारे शरीर में पर्याप्त खून होता है। इसकी गतियां आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, शरीर की भिन्न भिन्न नसनाडियों में होती रहती हैं। अतः मन्त्रगत " आपः " खून प्रतीत होते हैं और " समुद्र " सिन्धु " हृदय " है। जैसे समुद्र में नदियां आती हैं और वहां से जलबाष्प उडकर मेघरूप से बरसा करते हैं और पुनः नदि-योंके द्वारा पानी समुद्र में आ जाता है। इसी प्रकार Arteries व धमनियों द्वारा खून शरीर में हृदय से जाता है और Veins व शिराओं द्वारा पुनः हृदय में आता है। इस उपमा से हृदय " सिन्धु " व " समुद्र " कहा जा सकता है (स्यन्दन्ते ... ... एनमापः, अस्माद्वा इति सिन्धुः) और भी देखिये—

यं देवाः स्मरमसिंचन्नप्स्वन्तः। शोशुचानं सहाध्याः। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा।

(अथर्व० ६-१३२-१)

इस मन्त्र में जल यदि खून या वीर्यरूप नहीं है तो क्या है? खून या वीर्य के अतिरिक्त क्या कुछ ऐसे भी जल हैं, जिनका स्मर अर्थात् काम से कोई सम्बन्ध होवे? इस लिये " आपः " का अर्थ खून या वीर्य करना ही उचित है। मन्त्रगत " आप् " शब्द के रहस्य को समझने के बाद " दिव्य अग्नियों " का भी रहस्य समझा जा सकता है। ये अप्राकृत कामाग्नियां या इन्द्रियसम्बन्धी विषया-ग्नियां ही होनी चाहिये। विषयवासना या काम का अग्निरूपसे वर्णन बहुधा देखा गया है (काम-रूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ गीता॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ मनु०) ' "देव " शब्द का अर्थ वैदिक साहित्य में अच्छा बुरा दोनों ही देखा गया है जैसे (अथर्व ११।८।१९) " स्वप्नो वै तन्द्रा-निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवता " में स्वप्नादि पाप-भावों को भी वेदने ' देव ' शब्द से पुकारा है। पारसीधर्म में ' देव ' बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता है। देव का विरोधी-असुर शब्द अहुर्मज्दा (असुरमेधा) के रूप में परमात्मा का वाचक है। ' देवानां देवः ' का अर्थ " शैतान " किया जाता है। सम्भवतः देव से ही अंग्रेजी का Devil शब्द निष्पन्न हुआ है। पाणिनी सूत्र पर " देवानां प्रिय इति च मूर्खे " इस वार्तिक में देव शब्द बुरे अर्थ में आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कामरूप अग्नियां दिव्य अग्नियां कही जा सकती हैं। अथवा " नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् " के आधार पर देव शब्द को इन्द्रियों का वाचक मानकर इन्द्रियसम्बन्धी अग्नियां भी दिव्य अग्नियां (दिव्या अग्नयः) कही जा सकती हैं। अब मन्त्र का वास्तविक अर्थ और उसकी प्रकरण से सङ्गति भी देखिये—

" वीर्यरूप जलों को बरसानेवाला (व्यभिचारी काम) मैंने छोड दिया। और छोड दी हैं अप्राकृतिक व इन्द्रियसम्बन्धी कामाग्नियां। "

प्रकरण।

अब तो कुछ अर्थ बना। इस अर्थ की पुष्टि के लिये सूक्तान्तर्गत विशेषणों तथा प्रकरण को भी अगले मन्त्रों से देखिये।

" रूजन् परिरुजन् मृणन्, प्रमृणन्। "
(अ० १६।१।२)

भावार्थ- (जलों की वर्षा करनेवाला) शरीर को तोडनेवाला, नाशक, मारक वधकर्ता। वीर्य को बरसानेवाले, गिरानेवाले विकार के बाद कामी का शरीर टूटतासा मालूम पडता है। यह काम मनुष्य को कमजोर करके मृत्यु के द्वार तक ला खडा करता है।

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनुदूषिः।
(अ० १६।१।३)

भावार्थ- " चंचलता को पैदा करनेवाला (म्रोकः) मन को नष्ट करनेवाला, मौत का गढा खोदनेवाला, दाह कर देनेवाला, आत्माको दूषित करनेवाला और शरीर को विकृत करनेवाला है "। कामी का मन चंचल रहा करता है, उसकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है, कामविकार की गर्मीसे दाहक रोग पैदा हो जाया करते हैं। जिससे मनुष्य का शरीर राख बन जाता है और उसकी आत्मा कलङ्कित हो जाती है।

इदं तमतिसृजामि तमाभ्यवनिक्षि।
(अ० १६।१।४)

" लो उसे छोड देता हूं, उसके प्रति मैं नहीं जाता हूं। "

जिस व्यक्ति को कामने बहुत सताया हुआ होता है, वह संतप्त होकर कामाग्नि की निन्दा करने लगता है। वह से अपगा पीडा बुझा ने के लिए तडफता है।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
(अ० १६।१।५)

इसलिए उसे छोड देता हूं जो हमारे साथ द्वेष करता है, जिस के साथ हम द्वेष करते हैं। यह भाव स्पष्ट हैं।

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि॥
(अथर्व० १६।१।६)

जलों में तू श्रेष्ठ है, तुम्हें समुद्र की ओर हम छोडते हैं।

वीर्य खून का मुख्य भाग है। वह हृदयसमुद्र में सुरक्षित रक्खा जाता है, तभी कामविकार से मनुष्य की रक्षा हो सकती है।

योप्स्वग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम्।
(अ० १६।१।७)

जो जलोंके अन्दर अग्नि है, जो कि चंचल बनानेवाली, मौत का गढा खोदनेवाली, शरीर को दूषित करनेवाली है- उसे मै त्यागता हूं।

यो व अपोग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत:।
(अ० १६।१।८)

"हे जलो ! जो अग्नि तुम में प्रविष्ट है वह यह है जो तुम्हारा घोर रूप है वह यह है। " मन्त्र में दो प्रकार की अग्नियों का निर्देश है। एक तनुदूषि, आत्मदूषि, और दूसरी इस के विपरीत उत्तम कामाग्नि।

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि सिंचेत्॥ (अ० १६।१।८)

" तुम्हें (मनुष्य) आत्मा की आत्मिक सामग्री से खींचे। " अब अच्छी आग को प्रज्वलित करना है और बुरी आग को शांत करना है। बुझाने के लिए कहा कि इन्द्र (आत्मा) अपने सामर्थ्य जल से इस आग को खींचे-बुझा दे।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मात्॥ (अ० १६।१।१०)

" जल पाप से रहित हुए हैं, पाप हम से पृथक् हो। " कामाग्नि के बुझने पर कहा गया है कि 'आपः' ' अरिप्र ' निर्मल हुए हैं।

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु। अ०१६।१।११

" हमारे से पाप को वे प्रवाहित कर दें और बुरे स्वप्न के दोषों को दूर कर दें। " मन्त्र स्पष्ट है।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे। (अ० १६।१।१२)

" हे जलो ! मुझे कृपा की निगाह से देखो और कल्याणमयी तनु सहित मेरी त्वचा के साथ स्पर्श करो। "

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आधत्त देवीः। (अ० १६।१।१३)

जलोंमें स्थित कल्याणमयी अग्नियों का आह्वान् करते हैं। वे दिव्य जल मुझ में क्षात्र शक्ति और तेज स्थापित करे। इस मन्त्र में सात्विक या शिव-अग्नि की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है।

सूक्तगत अवशिष्ट सबके सब मन्त्र प्रथम मन्त्र के किये गए हमारे अर्थ के (आध्यात्मिक) साथ पूर्ण रूपसे संगत हो जाते हैं। परन्तु " जलों के बैल" और " आसमानी अग्नियों " के साथ इनकी कैसे संगति हो सकती है ?

उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक शब्द को यौगिक न समझने और लौकिक रूप में ही प्रचलित अर्थों को लेने से तथा वैदिक रूढि और प्रकरण तथा विशेषणों की उपेक्षा करने से विटनी, ग्रिफिथ आदि अनेक भाष्यकार स्थान स्थान पर स्खलित हुए हैं। अतः वेदार्थ के सुस्पष्ट अवबोध के लिये हमें निरुक्त-प्रतिपादित यौगिक प्रणाली, प्रकरण, विशेषण, ज्ञान तथा वैदिक रूढि का आश्रय लेना चाहिये। वेदोंको याज्ञिक वाद, ऐतिहासिक वाद आदि वादोंके आवरणों से दूर कर सरल हृदयंगम बनाने के लिये तथा वेदों के गूढ रहस्य का स्पष्ट परिज्ञान करनेके लिए हमें उपरिलिखित साधनों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। इन साधनों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक साधन हैं। परन्तु इस लेख में मुख्यतः इन तीन साधनों पर ही संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद।

(द्वैत-वाद)

(लेखक- पं. नरदेव शास्त्री, ज्वालापूर)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परि षस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भाग-
मनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः
स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा
निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ॥
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे
तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥
(ऋग्वेद १-२२-१६४, २०, २१, २२)

इन मन्त्रोंका देवता है "विश्वे देवाः।" प्रथम मन्त्रमें 'द्वा सुपर्णा' इस प्रकार द्विवचन देखकर यह सन्देह होने लगता है, कि 'विश्वे देवाः' बहुवाची अथवा बहुवचनद्योतक देवता नहीं हो सकता। किन्तु उपर्युक्त तीन मन्त्रोंमें मुख्य 'देवता' विश्वे देवाः' ही है । द्वितीय मन्त्र इस बातको स्पष्ट करता है। प्रथम और तृतीय मन्त्र एक प्रकारसे द्वितीय मन्त्रके पोषक हैं ।

इसलिए इन तीनों मन्त्रोंमें द्वितीय मन्त्रकी व्याख्या सबसे प्रथम होनी चाहिए। निरुक्तकारने आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थ किये हैं।

'यत्रा' जहाँ 'सुपर्णाः' इन्द्रिएँ 'अमृतस्य' ज्ञानके 'भागम्' भागको 'विदथाभिः' स्वस्वनियत विषय और कर्मके अनुसार 'अनिमेषम्' अनवरत, प्रतिक्षण 'स्वरन्ति' करती रहती हैं ।

वहाँ क्या ?

'विश्वस्य' विश्वका 'इनः' स्वामी 'भुवनस्य' भुवनका 'गोपाः' रक्षक। उसने क्या किया ?

'स' उसने 'मा' मुझमें 'अत्र' इस शरीरमें 'पाकं' विपक्व प्रज्ञानका 'आविवेश' प्रवेश कराया।

निरुक्तकार कहते हैं कि 'इति आत्मगतिमाचष्टे' यह आत्माकी गति कही गई है, अर्थात् इन्द्रियें अपना अपना काम अहर्निश करती रहती हैं, किन्तु यथार्थमें मुझको ज्ञान अथवा विपक्व प्रज्ञान देनेवाला विश्वका इनः अर्थात् स्वामी ही है। इस मन्त्रसे आत्मा और परमात्मा की पृथक्ता स्पष्ट है। प्रथम मन्त्र तो इसीकी पुष्टि करता है-

'द्वा' दो 'सुपर्णा' अच्छे पंखवाले पक्षी। कैसे पक्षी?

'सयुजा' सदैव साथ रहनेवाले 'सखाया' परस्पर मित्र, इनमेंसे एक न रहे तो दूसरे की सत्ता अथवा स्थिति ही नहीं रहती, 'समानं' एकही 'वृक्षं' पेडपर 'परि षस्वजाते' परस्पर आलिङ्गन करते रहते हैं, सट करके बैठते हैं या बैठे हैं।

फिर क्या ?

'तयोः' उन दोनोंमेंसे 'अन्यः' एक 'स्वादु' मीठे मीठे 'पिप्पलं' फल 'अत्ति' खाता रहता है । किन्तु 'अन्यः' दूसरा 'अनश्नन्' कुछ भी नहीं खाता हुआ पहलेसे अधिक 'अभिचाकशीति' तेजस्वी है, अधिक प्रकाशवान् रहता है, उसका प्रकाश चारों ओर है, पहले पक्षीसे अधिक अच्छा सुहाता है।

यह तो हुआ शाब्दिक अर्थ। वस्तुतः यहाँ वृक्षशब्द शरीर अथवा संसाररूपी वृक्ष है, जहाँ दो पक्षी आत्मा और परमात्मा रहते हैं । एक तो अर्थात् आत्मा अपने कर्मानुसार फल खाता है, फल भोगता है और दूसरा परमात्मा है, जो कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' साक्षी मात्र रहकर देखता रहता है। वह संसारके बन्धनोंसे कर्म, कर्मफलोंके बन्धनोंसे अलिप्त है ।

कैसा सुन्दर रूपक है ?

इसी वृक्षमें

'यस्मिन्' जिस 'वृक्षे' वृक्षमें 'मध्वदः' स्वस्व

विषयरसका स्वाद लेनेवाली इन्द्रियाँ, 'निविशन्ते' लगी लिपटी हुई हैं और 'सुवते' और बल पकड़ती रहती हैं, 'आधिविश्वे' और जिनकी उत्पत्ति ही सृष्टिके प्रारम्भसे है, 'तस्य' उस वृक्षके यह 'स्वादु' मीठेमीठे 'पिप्पलं' फल 'आहुः' कहते हैं, पर यह सब नष्ट हो जाते हैं जो इनके 'पितरं' उत्पादक परमात्माको नहीं जानते ।

अर्थात् जिसने मनुष्यजन्ममें आकर अपने 'पितर' परमात्माको नहीं जाना उसके लिए सब प्रकार नाशके ही सामान हैं । इसी अर्थको—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
> न चेदीहावेदीन्महती विनष्टिः ॥
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

'इह' इस संसारमें आकर मनुष्य 'चेत्' यदि 'अवेदीत्' जान लेता है कि 'अथ सत्यमस्ति' सत्य कोई पदार्थ है, सत्यस्वरूप परमात्मा है तो उसका कल्याण है नहीं तो 'न चेदिहावेदीत्' यदि यहाँ आकर यह सत्य तत्त्व न जाना गया तो 'महती विनष्टिः' बडा भारी नाश समझिए । इस लिए 'धीराः' धीर पुरुष 'भूतेषु भुतेषु' संसारके प्राणिमात्र उस सत्य तत्त्वको 'विचित्य' जानकर ढूंढकर, 'प्रेत्य' मरनेके पश्चात् 'अस्मात् लोकात्' इस लोकसे 'अमृता भवन्ति' अमृत हो जाते हैं, दुःखोंसे छुटकारा पाते हैं ।

इस प्रकार इन तीन मन्त्रोंमें आत्मा, परमात्मा, देह, इन्द्रियाँ इत्यादिका सुन्दर वर्णन होनेसे 'विश्वे देवाः' देवता ठीक ही हैं ।

इन मन्त्रोंसे सिद्ध ह कि आत्माको शरीरसे जोडनेवाला,उन उन इन्द्रियोंको बनानेवाला,आत्मा की उपभोगकी सामग्री देनेवाला और साक्षीरूप रहकर कर्मफल भुगतानेवाला वह परमात्माही है। इन मन्त्रोंसे स्पष्ट है कि वेद द्वैतका प्रतिपादक है । वह मोक्षावस्थामें परमात्मामें मिलकर स्वस्वरूपको भूल जाता है सही किन्तु वह एक अवस्थाविशेष है जिसमेंसे निकलते ही फिर द्वैत ही द्वैत है ।

फिर यही कहते बनता है कि-

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।
> आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
> तमेव विदित्वाति मृत्युमेति ।
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

'वेद' जानता हूँ 'अहं' मैं 'एतम्' इस 'पुरुषम्' पुरुषको 'महान्तम्' बडेको, सबसे बडेको 'आदित्यवर्णं' आदित्यकी तरह प्रकाशस्वरूपको ।

कहाँ ?

'तमसः परस्तात्' तमसे परे स्थितको 'तमेव' उसीको 'विदित्वा' जानकर 'मृत्यु' मृत्युको 'अत्येति' पार कर जाता है पुरुष । 'नान्यः' नहीं है और कोई 'पन्थाः' मार्ग 'विद्यतेऽयनाय' मोक्षप्रातिका, संसारसे छुटकारेका, जन्ममरणचक्रसे बचनेका, त्रिविध दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिका ।

निरुक्तकार यास्कने द्वितीय मंत्रका औरभी अर्थ किया है ।

'यत्रा' जहां 'सुपर्णाः' आदित्यकी रश्मियों 'अमृतस्य' जलके 'भागम्' भागको 'अनिमेषं' प्रतिक्षण 'विदथाभिः' स्वनियत कर्मोंसे क्योंकि रसादान, रसानुप्रदान और रश्मियोंसे रसधारण, ये काम सब आदित्य अपनी रश्मियोंसे करता रहता है। "स्वरन्ति"यही मतलब स्वरन्तिका है ।

यह क्यों होता है ?

इसलिए कि वह आदित्य 'विश्वस्य' संसारका 'इनः' स्वामी है । 'भुवनस्य' भुवनका 'गोपाः' रक्षा करनेवाला है । वही 'धीरः' आदित्य 'अत्र' इस संसारमें 'मा' मेरे लिए 'पाकं' पाक 'आविवेश' डालता है, अर्थात् संसारमें ओषधि और वनस्पतियोंको पकाता है, जिससे कि हम भोग भोगते हैं ।

इन तीनों मंत्रोंके तीन तीन प्रकारके अर्थ हो सकते हैं, ऐसा मैं मानता हूं । अन्य आचार्योंने भी इस प्रकार प्रत्येक मंत्रके तीन तीन अर्थ माने हैं; पर मैं समझता हूं कि 'वेदाङ्क'में जिससे पचासों लेखोंका संग्रह होगा, इतनाही विवरण पर्याप्त है ।

अर्चन्ननु स्वराज्यम्

(वेद और स्वराज्य)

[लेखक— ब्र० कपिलदेव शास्त्री, गु० कु० महाविद्यालय, ज्वालापुर]

आधुनिक विज्ञानयुगमें मनुष्य अपने कर्तव्योंके पालनके लिए और अपना वास्तविक ध्येय जाननेके लिए पाश्चात्य विज्ञानकी ओर तृषित नेत्रोंसे देखते हैं, और आशा करते हैं कि हमारा पथ-प्रदर्शन वही करेगा। पर वह अपनी अमूल्य निधि को नहीं जानते, जिसमें समस्त संसारका सार भरा हुआ है, जिसका प्रकाश भूले हुए पथिकका पथप्रदर्शक है। आज भारतवर्ष अपने अधिकारको प्राप्त करनेके लिए उत्साहसे प्रयत्नशील है, पूर्ण स्वराज्य उसका लक्ष्य है; वह किस प्रकारसे प्राप्त हो सकता है, उसके लिए किन किन साधनोंकी आवश्यकता है, इन सब बातोंको वेद विशद रूपसे स्पष्ट करता है; समस्त सत्य सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करना और उसके लिए उपयुक्त साधनोंका बताना यह वेदका सत्य विज्ञान है। अतः वेद प्रथम स्वराज्यप्राप्तिका साधन बताता है—

अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः।
विश्वा अधि श्रियो दधे ॥ (ऋ० २-८-५)

(अत्रिम्) निरन्तर चलनेवाले (अग्निम्) आन्दोलन, हलचल या अत्याचारोंके नष्ट करनेवाली शक्तिके (अनु) पश्चात् (स्वराज्यम्) स्वराज्य प्राप्त होता है, उसको (उक्थानि) प्रजायें (वावृधुः) बढाती हैं, वह (विश्वाः) सम्पूर्ण (श्रियः) सम्पत्ति ऐश्वर्यको (अधि) आधिक्यसे (दधे) धारण करता है।

इस मन्त्रमें स्वराज्यका साधन बताया गया है। इसका प्रत्येक पद विशेषताको बोधित करता है। ' अत्रि ' यह शब्द 'अत सातत्य-गमने' इस धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है, निरन्तर चलनेवाला। 'अग्नि' यह शब्द ' अञ्चुगतिपूजनयोः ' इस धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है, हलचल, आन्दोलन, पूज्य वस्तु तथा पापों (अत्याचारों) को नष्ट करनेवाली शक्ति। " अग्निः सर्वेषां पाप्मनामपहन्ता " (शत० ७, ३, २, १६।) "उक्थ" यह शब्द प्रजाका बोधक है " प्रजा वा उक्थानि" (तै० १,८, ७, २.)" विडुक्थानि " (ताण्ड्य ब्रा० १८,८, ९,६) इस प्रकार ' अत्रि ' ' अग्नि ' और 'उक्थ' ये तीन शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(१) " अत्रि "-किसी कार्यको यदि हम आकस्मिक उत्साहसे करना प्रारम्भ कर दें और कुछ समय बाद उसको छोड दें, तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, लक्ष्यसिद्धिके घातक हैं आलस्य और प्रमाद। परन्तु जो निरन्तर उसी अपने उद्देश्य पर डटा रहेगा वही सफल होगा। योगदर्शनके शब्दोंमें– " दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।"(सू० १४) दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारसे किया हुआ कार्य दृढताके लिये होता है। इसी बातको वेदने "अत्रिः" शब्दसे बताया है कि स्वराज्यप्राप्तिके लिए निरन्तर आन्दोलनकी आवश्यकता है, यदि बीचमें छोड देते हैं तो कार्य शिथिल हो जाता है और लक्ष्य दूर हो जाता है, इसलिए निरन्तर कार्य चलते रहना आवश्यक है।

(२) " अग्नि "-जब कोई मनुष्य कुछ कार्य करना चाहता है, तो उसे कुछ न कुछ हलचलकी आवश्यकता पडती है। इसी प्रकार देशको स्वतंत्र बनानेके लिए हलचल और आन्दोलनकी आवश्यकता है। जबतक मनुष्योंमें आन्दोलन न होगा तबतक उनमें उत्साह और कर्मण्यता नहीं आवेगी कर्मण्यता और उत्साहही किसी कार्यको सि[illegible] कर सकते हैं। इसलिए वेद कहता है कि

स्वराज्य प्राप्त करना है तो हलचल, आन्दोलन करो। तथा जब मनुष्य बहुत सताया जाता है तो वह अत्याचारोंको दूर करनेके लिए यत्न करता है। इस प्रकार पाप (अत्याचार) को भस्मीभूत करनेवाले सुसंगठित संघका नाम 'अग्नि' है, इसीसे स्वराज्य मिल सकता है।

(३) "उक्थानि"- किसी सामूहिक कार्यको सिद्ध करनेके लिए प्रत्येककी सहायता चाहिये, इसी प्रकार आन्दोलनके लिए जनताका साथ देना आवश्यक है। इसके बिना कोई एक मनुष्य स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकता। जब जनता इस बातको जान लेती है कि यह आन्दोलन हमारे सुधार, उपकार और उन्नतिके लिए है तो वह उसका साथ देती है। इसीलिए वेद कहता है कि "उक्थानि" प्रजाएँ उस आन्दोलनको बढाती हैं, उग्र रूप देती हैं। इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिके लिए निरन्तर आन्दोलन और जनताके सहयोगकी आवश्यकता है। यह स्वराज्यही सब मनुष्योंको सुख-शान्तियुक्त बनाता है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्रमें आन्दोलनसे स्वराज्यप्राप्ति बतलाते हैं,-

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे
वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १-८४-१०)

(इत्था) इस प्रकारसे (विषूवतः) आन्दोलन तथा प्रेरणा करनेवालेकी (गौर्यः) वाणियाँ (स्वादोः) मधुर (मध्वः) अन्न, जल (पिबन्ति) पिलाती हैं, प्राप्त कराती हैं। (वृष्णा) शक्तियुक्त या आनन्दकी वृष्टि करनेवाले (इन्द्रेण) राष्ट्रपतिके (सयावरीः) साथ जानेवाली (याः) जो (वस्वीः) प्रजाएं (शोभसे) शोभाके लिए या उत्साह बढानेके लिए चलती हैं, वे (स्वराज्यम् अनु) स्वराज्यके पश्चात् (मदन्ति) परमहर्षको प्राप्त होती हैं।

इस मन्त्रमें राष्ट्रपतिके वचनोंपर चलनेका आदेश वेद देता है, उसके साथ चलनेकी दीक्षा देता है। जो राष्ट्र ऐसा करता है, वही आनन्दको प्राप्त होता है, और धन-धान्यसे समृद्ध होता है। यहाँपर "विषूवतः" यह पद "षू" प्रेरणे इस धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है जागृति, हलचल पैदा करनेवाला। "गौरी" शब्द वाणी अर्थमें है, (निघण्टु १,११,) तथा 'मधु" शब्द जलवाची (निघण्टु १, १२,) "अन्नं वै मधु" (ताण्ड्य ११, १०, ३) "रसो वै मधु" (शत० ६, ४,३, २) धन-धान्य रसादिका नाम मधु है। इस मन्त्रमें "सयावरी' पद ध्यान देने योग्य है। यदि जनता अपना एक प्रतिनिधि राष्ट्रपतिरूपसे न चुन लेगी, और अपना मनमाना करेगी तो कुछ न कर सकेगी। इसलिये वेद इस ओर भी ध्यान दिलाता है कि तुम किसीको "राष्ट्रपति" चुन लो। वह सम्पूर्ण कर्तव्याकर्तव्यको विचारनेवाला होगा। वह जो कहे उसे मानो, सर्वदा उसका साथ दो, तभी आन्दोलन सफल हो सकता है, इसीसे धनधान्य प्राप्त कर सकते हो अन्यथा नहीं।

इसके पश्चात् वेद सुसंगठित होकर शक्तिसञ्चय करनेका आदेश देता है, जिससे कि अपने शत्रुओंके आक्रमणको रोक सकें और नष्ट कर सकें।

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं
वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १, ८४, ११)

(ताः) वे (पृशनायुवः) आपसमें मिलजुलकर अर्थात् सुसंगठित होकर कार्य करनेवाली प्रजाएँ (पृश्नयः) किरणोंके तुल्य परस्पर मिलकर (सोमम्) ऐश्वर्य, यश, तेज और अन्नको (श्रीणन्ति) परिपुष्ट करती हैं। (अस्य) इस (इन्द्रस्य) राष्ट्रपतिकी (धेनवः) शक्तिको धारण और पुष्ट करनेवाली (प्रियाः) निरन्तर अनुकूल (वस्वीः) प्रजाएं (सायकम्) शत्रुओंको नष्ट करनेवाले (वज्रम्) शस्त्रास्त्रयुक्त सैन्यबल,

तेज और शक्तिको (हिन्वन्ति) बढाती हैं। (अनु) उसके पश्चात् (स्वराज्यम्) स्वराज्यको प्राप्त करती हैं। अथवा (धेनवः) वचन, जब राष्ट्रनेता के वचन प्रिय प्रजाओंकी शक्ति, तेज और उत्साहको बढाते हैं, तब स्वराज्य मिलता है।

इस मंत्रमें "पृशनायुवः" यह शब्द "स्पृश" और "यु" धातुको मिलकर बना है, जिसका अर्थ है "एकत्रित, संगठित होना।" "सोम" यह शब्द अन्न, यश, ऐश्वर्य और तेजका बोधक है। "श्रीर्वै-सोमः" (शत०४. १. ३. ९) "वर्चः सोमः" (शत० २, ५, ५, १०) "यशो वै सोमः" (शत० ४.२, ४, ९) अन्नं वै सोमः" (शत० ३, ९, १, ८) "धेनु" शब्द "धा" धातुसे बनता है जिसका अर्थ है धारण और पोषण तथा वाणीभी अर्थ है। "वाग्वै धेनुः" (गो९ पू० २, २१। निघण्टु १, ११) "वज्रम्" यह शब्द तेज, शक्ति और शस्त्रास्त्रका वाची है। "वीर्यं वै वज्रः" (शत० ७,३,१ १९) 'वज्रो वा ओजः' (शत० ८, ४, १, २०)

इस मंत्रमें 'पृशनायुवः' 'धेनवः' और 'वज्रम्' ये तीन पद विशेष अर्थ बोधित करते हैं। 'पृशनायुवः' पदसे वेद आदेश देता है कि स्वराज्यके संगठन करो। "अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग" मत अलापो। आपसमें प्रेमभाव उत्पन्न करो। तभी तुम्हारे अन्दर तेज और शक्ति आवेगी। धन, धान्य उत्तम करोगे नहीं तो कुछ नहीं कर सकते। "धेनवः" शब्द बताता है कि राष्ट्रपति की शक्ति और उत्साहको बढानेवाली जनता है, जनता जब उसकी साथ देगी तब वह "नेता" बनकर कार्यको चला सकता है। जनताका सहयोगही नेताकी कार्यसिद्धिका प्रधान अङ्ग है, इसलिए इस अङ्गका सहयोग प्राप्त करना नेताको आवश्यक है। इसी "धेनवः" शब्द से वेद आदेश देता है कि जनताका कार्य है राष्ट्रपतिके प्रत्येक आन्दोलन और कार्यमें सहयोग देना। उसके उत्साहको द्विगुणित करना, तभी कार्य सिद्ध हो सकता है। "वज्रम्" शब्द यह बताता है कि केवल सहानुभूतिमात्रकी ही आवश्यकता नहीं, अपितु शक्तिसञ्चयकी भी आवश्यकता है। यदि भक्त, शक्त (समर्थ) नहीं तो उस भक्तसे कुछ लाभ नहीं, क्योंकि "किं भक्तेनासमर्थेन" (पञ्चतंत्र।) इसलिए वेद आदेश देता है कि भक्तके साथमें शक्त बनो, सैनिक बनो, शक्ति सञ्चय करो, अत्याचारीको नष्ट करनेकी शक्ति पैदा करो, तभी स्वराज्य मिल सकता है।

इसके पश्चात् वेद आदेश देता है कि राष्ट्रपति का सर्वदा सत्कार करो, उसके निर्धारित नियमोंको यथाविधि पालन करो। यदि उसके बताए हुए मार्गपर चलोगे तभी स्वराज्य मिल सकता है।

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥ (ऋ० १,८४,१२)

(ताः) वे (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान तथा त्साहयुक्त (वस्वीः) प्रजाएं (अस्य) राष्ट्रपतिके (सहः) दुःखोंको निरन्तर सहन करने तथा शत्रुको नष्ट करनेवाले बलकी (नमसा) शत्रुओंको नीचा कर देनेवाली शक्ति तथा अन्नसमृद्धि, सत्कारादिसे (सपर्यन्ति) पूजा करती हैं। (पूर्वचित्तये) पूर्ववत् जागृति प्राप्त करनेके लिए (अस्य) इसके (पुरूणि) बहुतसे (व्रतानि) नियमों तथा शक्तिको (सश्चिरे) धारण करती हैं। (अनु) इसके पश्चात् ही (स्वराज्यम्) स्वराज्य मिलता है॥

इस मन्त्रमें 'नमस्' शब्द "णम्" धातुसे बनता है जिसका अर्थ है 'झुकना' 'सत्कार करना' तथा वज्रका पर्यायवाची है (निघण्टु २) २० अर्थात् शत्रुओंको नष्ट करनेकी शक्ति। 'अन्न'का भी वाची है (नि० २, ७; शत० ६, ३, १, १७) "पुरु" बहुत्ववाचक है। (निघण्टु ३, १) "व्रतानि" व्रत शब्द कर्मवाची है (निघण्टु २. १)। "व्रतं वै वीर्यम्" (शत० १३, ४, १, १५) इस प्रकार इस मन्त्रमें अपने

पूर्व गौरवको प्राप्त करनेके लिए साधन बताया गया है कि राष्ट्रपतिके आदेशोंका। पालन करो। तथा राष्ट्रपतिका सदैव स्वागत करो, इसीसे स्वराज्यप्राप्ति हो सकती है ॥

इसके पश्चात् वेद बताता है कि राष्ट्रपतिको कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होना चाहिए, कितनीही आपत्तियाँ आवें, पर वह अपने मार्गसे विचलित न हो ।

अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम् ।
न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥ (ऋ० ५, ५२, २)

(अस्य) इस (सवितुः) आन्दोलन, जागृति पैदा करनेवालेके (स्वयशस्तरम्) उत्तम यश-स्वरूप (प्रियम्) प्राणप्रिय (स्वराज्यम्) स्वराज्य-को (कच्चन) कोई भी (न) नहीं (मिनन्ति) नष्ट कर सकता है ।

इस मन्त्रमें वेद बताता है कि राष्ट्रपति कैसा होना चाहिए। वह "प्राण जायँ पर वचन न जाई" इस सिद्धान्तका पोषक हो। 'स्वराज्य' उसका प्राणप्रिय धन होना चाहिए। कितनीही आपत्तियाँ आवें पर वह विचलित न हो। "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इसके लिए प्राणोंको लगा दे, वही सच्चा राष्ट्रपति है, उसके इस निश्चयको संसारमें कोईभी शक्ति नहीं जो नष्ट कर सके, ऐसा दृढनिश्चयी पुरुषही सच्चा राष्ट्रपति हो सकता है। आपत्तिमें विचलित होनेवाला राष्ट्रपति नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् राष्ट्रपतिके कर्तव्योंका निश्चय वेद करता है कि राष्ट्रपतिका कर्तव्य है कि वह देशके अत्याचारको दूर कर दे। सुख और शांति देशमें स्थापित करे, जागृतिका सञ्चार करे।

स त्वामदद्वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
(ऋ० १, ८०, ३)

हे (वृषा) शक्तिके धारक तथा सुखोंके वर्षक! (श्येनाभृतः) आन्दोलनको पुष्ट तथा धारण करनेवाले (मदः) उत्साहसे (सुतः) उत्पन्न हुआ (सः) वह (सोमः) ऐश्वर्य यश, और अन्नादि (त्वाम्) तुझको (अमदत्) प्रसन्न करें (येन) जिससे हे (वज्रिन्) शक्तिशाली, तेजस्वी तू (ओजसा) अपने पराक्रमसे (वृत्रम्) पाप, अत्याचारको (स्वराज्यम् अनुअर्चन्) स्वराज्यप्राप्तिके लिए (निर्जघन्थ) नष्ट कर दे।

इस मंत्रमें "श्येनाभृतः" यह शब्द "श्यैङ्" और "भृ" धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है जागृति, हलचल आदि, और उसको धारण या पुष्ट करना। "वृषा" यह शब्द वृष् धातु चुरादि से बनता है जिसका अर्थ है शक्तिसञ्चय करना। "वृत्रम्" यह शब्द पापवाची है "पाप्मा वै वृत्रः" (शत० ११, १, ५, ७) "अप्" शब्द कर्मवाचक है (निघण्टु २, १) "वज्रम्" शब्द तेज और वीर्य, वाचक है। "वीर्यं वै वज्रः" (शत० ७, ३, १९) "वज्रो वा ओजः" (शत० ८, ४, १, २०) इसी प्रकार "ओजस्" शब्द बलवाची है (निघण्टु २, ९) इस मंत्रमें वेद राष्ट्रपतिको आन्दोलन कर्ताके नामसे पुकारता है। उस राष्ट्रपतिके आन्दोलनके फल-स्वरूप जब जनताको सुख, शांति और ऐश्वर्य प्राप्त होता है तब वह अत्यन्त प्रसन्न होता है। उदारचित्त वह संसारको अपना कुटुम्ब समझता है। "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" (पञ्चतन्त्र) वह सबके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी रहता है, इसीलिए प्रत्येकके दुःख दूर करनेके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता है और उसको दूर करकेही शान्ति पाता है। जनताके ऊपर होनेवाले अत्याचारोंको अपने प्रबल प्रतापसे नष्ट करता है, और उसके लिए जनतामें जागृति फैलाता है कि तुम किसी अत्याचारीके अत्याचारको मत सहो, किन्तु उसका प्रतिकार करो। इसी तरहसे स्वराज्य शीघ्र प्राप्त कर सकते हो ॥

+ शक्तिको अपने अन्दर धारण करो, उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन मत करो ।

इसके पश्चात् वेद अपनी मातृभूमिपर अपना ही अधिकार रखनेका आदेश देता है, अत्याचारों के सर्वथा नाशकी आज्ञा देता है और कृषक आदि के भलाई करनेवाले नियम चलाने की आज्ञा देता है, उनको जिस प्रकार सुखादि प्राप्त हों वह करनेका आदेश देता है—

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋ० १।५०।४१)

हे (इन्द्र) राष्ट्रपति ! (भूम्या अधि) अपनी मातृभूमिपर अधिकार प्राप्त करनेके लिए (वृत्रम्) अत्याचार तथा पापमें प्रवृत्ति करानेवाली तमाम मादक वस्तुओंको (निर्जघन्थ) सर्वथा नष्ट कर। (दिवः) ज्ञान, जागृति, धन धान्य, की वृष्टिको (निःसृज) निश्चयसे कर (मरुत्वतीः)अन्नादि तथा सुवर्णादिके देनेवाले (जीवधन्याः) कृषक आदिके दुःख दूर करनेवाले (इमाः) इन (आपः) कर्म नियमों का (स्वराज्यम् अनु अर्चन्) स्वराज्य की प्रतिष्ठाके लिए (अव) प्रचार आन्दोलन करो।

इस मन्त्रमें 'दिव' शब्द, ज्ञान और जागृति का वाची है। 'द्यौर्द्योतनात्' (निरुक्त. २६)किसी अर्थका प्रकाश करना या जागृति पैदा करना। 'तथा वृष्टिका वाची है 'वृष्टिर्वै द्यौः' (तै० ३,२,९,३) जो सुखके साधनोंकी वृष्टि करे । 'मरुत्' शब्द अन्नवाची है 'अन्नं वै मरुतः' (तै०१।७।३।५) तथा हिरण्यका वाची है (नि० १-२) इस प्रकार इस मन्त्रमें अपनी मातृभूमिको अपने आधीन करने का आदेश वेद देता है, राष्ट्रपतिका कर्तव्य है कि वह ऐसा सुन्दर मार्ग ग्रहण करे जिससे जनतापर होनेवाले समस्त अत्याचार नष्ट हों, दीन, दुःखी कृषक सुखी हों, सबमें ज्ञानका प्रचार हो, पापमें ले जानेवाली मादक वस्तु (शराब आदि) का नाश हो, कोई इनका सेवन न करे, जो इनका सेवन करें, वे दण्डके भागी हों, वह नियम बनाए जाएं जिससे प्राणिमात्र सुखी हों, पशु (गौ आदि) निरपराध प्राणियोंकी हिंसा न हो, तभी स्वराज्य प्राप्त होता है, मनुष्य सुखी होते हैं।

इसके अनन्तर वेद अत्याचारियों की कुटिल नीतिका कुशलता से नाश करनेका आदेश देता है और राष्ट्रपतिको अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति और तेज का ग्रहण करना बतलाता है-

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधी-
रर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १।८०।७)

हे इन्द्र ! परम सौभाग्ययुक्त राष्ट्रपति (अद्रिवः) पर्वत के तुल्य अत्यन्त गम्भीर और अनन्त शक्तिधारक (वज्रिन्) तेजस्वी और पराक्रमी, यह (अनुत्तम्) अनुल्लङ्घित, अपराजित (वीर्यम्) तेज शक्ति (तुभ्यम् इत्) तेरीही वृद्धिके लिए हो, जो कि (त्वम्) तू (त्यम्, तम्) उस (मायिनम्) कपटयुक्त (मृगम्) मृगके सदृश इधर उधर भागते हुए अत्याचारीको (मायया) अपनी कुशलतासे (स्वराज्यम् अनु अर्चन्)स्वराज्य की प्रतिष्ठाके लिए (अवधीः) नष्ट कर दे। इस मन्त्र में वेद आज्ञा देता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र की शक्ति और तेज राष्ट्रपतिके अन्दर विद्यमान होना चाहिए, अत्याचार के नाशमें कभी पैर पीछे न रक्खे, अत्याचारोंको सहना पाप समझे, तभी सच्चा स्वराज्य मिल सकता है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार आन्दोलन से जब मनुष्य स्वराज्य के द्वारा सुखसम्पत्तिको प्राप्त कर लेते हैं तब उनकी स्वराज्यके अन्दर अभिलाषा हो जाती है, और वह उसको अपना अधिकार मानने लगते हैं तथा उस राष्ट्रपतिकी निरन्तर स्तुति और उत्साह वर्धन करते हैं। उसी को वेद कहता है कि-

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः ॥ (ऋ० १, ३६, ७)

(इत्था) इस प्रकार (तं ग्र इम्) पूर्वगुणसम्पन्न इस (स्वराजम्) स्वराज्यको (नमस्विनः) शत्रुओंको न-मानेमें समर्थ तथा धनधान्यसे समृद्ध होकर (मनुषः) मनुष्य (उपासते) निरन्तर आश्रय लेते हैं, तथा (अग्निम्) अग्रणी नेता तथा अत्याचारोंके नष्ट करने वालेको (होत्राभिः) स्तुति तथा उत्तम पदार्थ प्रदान कर (समिन्धते) तेजस्वी तथा बलशाली करते हैं। इस प्रकार वे (स्रिधः) अत्याचारोंको (अतितितिर्वांसः) तर जाते हैं, पराजित या नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार सुखसम्पत्ति की नित्य वृष्टि करनेवाले स्वराज्यकी प्राप्ति कर लेने पर वह देश सुसमृद्ध हो जाता है। उस देशकी भूमि उसे पर्याप्त धनादि से पूर्ण कर देती है, तथा उचित समयपर वृष्टि होनेसे देशमें दुर्भिक्ष आदिका अभाव हो जाता है। वेद कहता है कि–

उत स्वराजे अदितिः सोममिन्द्राय जीजनत्।
पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत्॥ (ऋ० ८।१२।१४)

(उत) और (स्वराजे) स्वराज्य प्राप्त होनेपर (इन्द्राय) राष्ट्रपतिके लिए (अदितिः) पृथ्वी (स्तोमम्) अन्न तथा शक्ति को (जीजनत्) पैदा करती है, तथा (अतये) तृप्ति के लिए (ऋतस्य) जल की (पुरुप्रशस्तम्) अधिक और कल्याणकारी वृद्धि होती है।

इस मन्त्रमें 'स्तोम' शब्द अन्न और वीर्य का वाचक है। 'अन्नं वै स्तोमाः' (शत० ९।३।३।६) 'वीर्यं वै स्तोमः' (ताण्डय० २।५।४) 'ऋत' शब्द जलवाची है (नि० १, १२) इस प्रकार इस मन्त्रसे ज्ञात होता है कि जब देश स्वतंत्र होता है तभी सब मनुष्य सुखी रह सकते हैं तथा तेजस्वी और बलशाली हो सकते हैं। पृथ्वी सब सुख और सम्पत्ति प्रदान कर 'रत्नगर्भा और वसुमति' नाम को सार्थक करती है। जल कल्याणकारी और यथासमय बरसता है, कृषकों और कर्मजीवियों के सब दुःख दूर हो जाते हैं।

इसी प्रकार सामवेद में भी स्वराज्य की प्राप्ति का यही उपाय वेद बतलाता है कि तुम अपने कार्य को निरन्तर करते रहो, बाधाओं और विपत्तियों से मत डरो, तभी तुम्हारी शक्ति अजेय होगी और तुम स्वराज्य प्राप्त कर धन, धान्यसे समृद्ध होगे।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हन्ते वृत्रं जया
अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्। (साम० पू० ५।३।५)

हे (इंद्र) राष्ट्रपति! तुम (प्रेहि) आगे चलो। (अभीहि) शत्रुओं का सामना करो। (धृष्णुहि) आनेवाली सब बाधाओंको नष्ट कर दो (ते) तेरा (वज्रः) पराक्रम और तेज (न नियंसते) न रुकता है, (ते) तुझे (नृम्णम्) धन और बल प्राप्त होता है, तू (शवः) आन्दोलन, हलचल तथा शक्ति पैदा कर (वृत्रम्) अत्याचारको को (जय) जीत और (हतः) नष्ट कर दे।(स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य के लिए (अपः अर्चन्) कर्मोंको ही सर्वोत्तम साधन मान।

इस मन्त्रमें 'नृम्णम्' शब्द धनववाची है, (नि० २, १०) तथा बलवाचक है (नि० २।९)। 'शव' शब्द बलवाची है, (नि०२।९) तथा 'शव्' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है हलचल आंदोलन। इस प्रकार इस मन्त्रमें बताया है कि चाहे कितनी ही आपत्तियाँ आवें, बलिदान होना पडे, पर अपने मार्गको न छोडो और उसीपर चलते रहो। ऐसी अवस्था में तुम्हें कोई भी शक्ति नहीं जो रोक सके। उसी शक्ति से सफलता प्राप्त कर धन, धान्य से समृद्ध होगा।

इसके पश्चात् 'अहिंसा'के मूलमन्त्र से स्वराज्य प्राप्ति वेद बताता है और आदेश देता है कि अहिंसात्मक युद्ध करो। अहिंसा से जो स्वराज्य प्राप्त होता है वह क्षणस्थायी न होकर दृढ होगा।

उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये।
महो राजान ईशते॥ (साम० उ० ६, २, ३)

(उत) और (अदब्धस्य) हिंसारहित, सत्याग्रहरूप (व्रतस्य) कर्म, आन्दोलन करने से, जो (अदितिः) अखण्डनीय, अविनाशी (स्वराजः)

स्वराज्य प्राप्त होता है; उससे (महो राजानः) बडे तेजयुक्त हो कर (ईशते) उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करते है ॥

इस मन्त्रमें स्वराज्यकी प्राप्ति के लिए सत्याग्रह आन्दोलन उपयोगी बताया है, इससे जो सफलता प्राप्त होगी वह चिरस्थायी होगी तथा सम्पूर्ण जनसमाज को ऐश्वर्य और शक्ति प्राप्त होगी। जो देश हिंसा से अपना कार्य करते हैं उससे आसुरी वृत्ति अधिक पैदा होती है तथा अधिक राष्ट्रकी घातक सिद्ध होती है। इसलिए 'अहिंसात्मक आन्दोलन' अधिक श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार यजुर्वेद का १८ वां अध्याय बताता है कि सम्पूर्ण वस्तुओं पर हमारा अधिकार हो। देश, वेष, भूषा, संस्कृति, धन, धान्य सब हमारे हों। हम परमुखापेक्षी न हों, किन्तु स्वतन्त्र हों। इसी प्रकार यह भी बतलाया है कि यदि देशको किसी समय देशभक्तों की आवश्यकता हो तो सब मनुष्य इसके लिए सर्वदा अग्रसर रहें। जैसा कि कहा है–

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (यजु० ९।२३)

(वयम्) हम (राष्ट्रे) अपने देशमें (पुरोहिताः) राष्ट्रीय प्रत्येक कार्य में अग्रगन्ता होकर (जागृयाम) जागरूक रहें। कभी भी किसी काम में पीछे न रहें, देश को अपना समझे, उसकी उन्नति और अवनति में अपनी उन्नति और अवनति समझें, तभी देश स्वतंत्र हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार अथर्ववेद बतलाता है कि जहाँ स्वराज्य है वहीं सब सुख और सम्पत्ति हैं, पराधीनता महा पाप है, वह हेय है। जिस प्रकार समस्त नदी, नद समुद्रमें मिल जाते हैं, इसी प्रकार संपूर्ण सद्गुण और वैभव 'स्वराज्य'में निवास करते हैं। वही सबका लक्ष्य होना चाहिए ॥

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः। ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः॥ (अथर्व० ९।१।९)

(ये) जो (वृषभाः) सुखकी वृष्टि करनेवाले (शाक्वराः) शक्तिशाली (आपः) कर्म, आंदोलन (याम्) जिस (आपीनाम्) सर्व सुखरूप रस को धारण करनेवाली महा शक्तिको (उपसीदन्ति) प्राप्त करते हैं, वह (स्वराजः) स्वराज्य है। (ते) वे सुख की वृष्टि करनेवाले कर्म (तद्विदे) उस स्वराज्यको प्राप्त करनेवालेके लिए (कामम्) प्रचुर (ऊर्जम्) शक्ति तथा (आपः) विविध प्रकार के रसों को (वर्षन्ति) देते हैं, और (वर्षयन्ति) अन्योंसे भी प्राप्त कराते हैं।

इस प्रकार जो देश स्वराज्य प्राप्त कर लेता है, उसके सब अनुकूल हो जाते हैं। उस देशमें अत्यधिक शक्ति और तेजका सञ्चय हो जाता है। प्रत्येक प्रकारसे उसको सुखसाधनों की प्राप्ति होने लगती है। सबकी दृष्टिमें वह देश और राष्ट्र उन्नत तथा उत्कृष्ट गिना जाता है।

इसके पश्चात् दूसर मन्त्रमें स्वराज्य की तेज तथा धारणाशक्तिके लिए अत्यन्त आवश्यकता बतलाता है। जबतक 'स्वराज्य' नहीं होगा तबतक मनुष्य ओजस्वी और पराक्रमी नहीं हो सकते। स्वराज्यही अलौकिक आभा और दिव्य शक्तिको देनेवाला है।

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः। (अथर्व० २०।११३।२)

(तम्) उस (वृषभम्) सुखों की वृष्टि करनेवाले (स्वराजम्) स्वराज्यको (धिषणे) सुसंगठित हो कर रहने तथा सद्गुणोंके धारणके लिए और (ओजसे) तेजके लिए (निष्टतक्षतुः) अपने आप तथा अन्य जनोंके सहित ग्रहण करो॥ इन मन्त्रोंसे स्पष्ट हो जाता है कि हमें स्वराज्य की क्या आवश्यकता है। बिना स्वराज्यके प्राप्त किए शान्ति से क्यों न बैठे ? इसके लिए अतिप्रिय प्राणोंको क्यों अर्पण करें ? क्यों बलिदान हों ? क्यों अनेकों प्रकारके कष्ट सहें ? इत्यादि बातोंका कितने सुन्दर रूपसे वर्णन है; किसी प्रकारका कोई छल, छिद्र नहीं है। सत्य, सुन्दर

सुमार्ग का सम्यक्तया प्रतिपादन है। आज देश 'स्वराज्य,' 'स्वराज्य' के नारे लगा रहा है, वह अपने आधारभूत वेदको यदि देखे और अपने कर्तव्यपथ का निश्चय करे तो कोई भी कठिनता न होगी। सबको गले मिलाओ, कृषकों हरिजनोंके दुःख दूर करो, उन्हें सुखी रक्खो. यह वेद आदेश देता है। उसके कथन के विरुद्ध जब चलते हैं तब असफल रहते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्रीय और धार्मिक कृत्यके सन्मार्ग का निश्चय करनेके लिए सर्वप्रथम वेदको ही मान्य देना चाहिए, तभी कोई कार्य सफल हो सकता है। इसलिए आज 'स्वराज्य' के लिए अच्छी प्रकार वैदिक नियमका अनुसन्धान करना चाहिए।

यास्कीय
निरुक्तान्तर्गत निर्वचनोंका वैदिक आधार।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

उक्त शीर्षकका एक लेख इन्डियन कल्चर, कलकत्तामें लेखक ने अंग्रेजीमें सन १९३५ अप्रैल अंकमें, सन १९२६ में वैदिक धर्ममें छपी अपनी वैदिक शब्द-निरुक्तियों के बल पर छपवाया था। उसे प्रेग. जैकोस्लोवेकिया, यूरोपके डा० पेवल पौषा ने उस पत्रमें पढा और एक लेख वैदिक शब्द-निरुक्तियों और निरुक्त विषयपर अपनी ओरियन्टल इन्स्टीटयूट के पत्र आरकाईन ओरियन्टालनीमें छापा और उसका रीप्रिन्ट लेखकको एक, इन्डियन कल्चर को दूसरा भेजा। उस में १० निरुक्तियों के विषयमें वह वेद और निरुक्तका समन्वय नहीं कर पाये और ५० का कर पाये हैं। इस लिए उनमेंसे १०-५ का वैदिक आधार यहां स्थापित किया जाता है। शेषका अगले लेखमें देखा जावेगा।

(१) राजा।

यास्क कहते हैं-

राजा राजतेः॥ (नि० नै०का०अ० २, खं० ३)

अर्थात् राजा शब्द उसी धातुसे सिद्ध होता है जिसका राजति बनता है। इस प्रकार राजा वह होता है जो प्रसिद्ध, प्रकाशमान् होनेके कारण राज्य कर रहा हो।

वेदोंमें भी हमें निम्न पाठ मिलता है-

इन्द्रो विश्वस्य राजति...॥ (यजुर्वेद अ०३६मं०८)

(तथा च)

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम्॥

(ऋ० मं० ७ सू०२७ मं० ३)

जिनका अर्थ होगा कि-

और- (१) इन्द्र संसार पर राज्य कर रहे हैं।

(२) इन्द्र जंगम विश्व तथा मनुष्योंका भी राजा है।

आगे यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उपरोक्त दोनों मन्त्रोंसे वेदके विद्यार्थीके मनमें तनिकभी सन्देह नहीं रह जाता कि यास्कका उपरोक्त व्याख्यान वेदके ही आधारपर आश्रित था।

(२) रक्षस्।

निरुक्त में हमें निम्न पाठ मिलता है-

रक्षो रक्षितव्यमस्माद्॥ (नि०नै०अ० ४ खं०१८)

ऋग्वेदमें भी हमें निम्न मन्त्र मिलते हैं-

१. रक्षा णो अग्ने.. जहि रक्षो॥ (ऋ०४-३।१४)

अर्थात् हमारी रक्षा कर हे अग्नि!... राक्षसों को मार डाल।

२. पाहि नो अग्ने रक्षसः.. (ऋ० १।३६।१५)

(तथा च)

३. पाहि नो अग्ने रक्षसो॥ (ऋ० ७।१।१३)

अर्थात् हे अग्नि! हमारी राक्षसों से रक्षा कीजिए।

४. पाहि विश्वस्माद्रक्षसो...॥ (ऋ० ८।६०।१०)
अर्थात् सभी राक्षसोंसे हमारी रक्षा कीजिए।

इन सबको मिलानेसे हमें पता चलता है कि ऋग्वेदके अनुसार राक्षस वह होता है जिस से किसीकी रक्षा करनी पडे। उपरोक्त यास्कप्रदर्शित निरुक्तिका भी ठीक अर्थ सर्वथा ऐसाही है।

(३) पर्वतः।

प्राचीन भारतीय निरुक्ति-प्रवचन-विशारद यास्क अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्तमें लिखते हैं कि-

पर्वतान्पर्वतः॥ (नि० नै० अ० १, खं० २०)

अथर्ववेदमें भी हमें एक पाठ ऐसा मिलता है कि

त्वं तमिन्द्र पर्वतं... पर्वशश्चकर्तिथ...॥
(अथर्व० का० २०, सू० १५, मं० ६)

जिसका अर्थ यह होगा कि-

हे इन्द्र! आपने उस पहाडको टुकडे टुकडे कर काट डाला है। इस प्रकार इन्द्र पर्वत का प्रत्येक पर्व उसके परे काट फैंकता है, अर्थात् पर्ववान् को फोड कर उसके पर्व पृथक् पृथक् करता है, अर्थात् पूर्ण को तोड उसके भाग पृथक् पृथक् कर डालता है।

क्या यह अथर्वमन्त्र, उपरोक्त यास्कीय व्याख्यान का वैदिक आधार स्फुटतया सिद्ध नहीं होता? क्योंकि उसकाभी अर्थ इससे नहीं अधिक नहीं न्यून है कि पहाडको पर्वत इसलिए कहते हैं कि यह पृथक् पृथक् कई पहाडियोंसे मिलकर बना हुआ है जिन उसके भागोंको पर्व कहा जा सकता है।

(४) धेनुः।

यास्क ने कहा है कि-

धेनुर्धयतेर्वा॥ (नि० दै० का० अ०५, खं० ४२)

ऋग्वेदमें इसका वैदिक आधार हमें निम्न मन्त्र में मिला है- गौर्धयति॥ (ऋ०८।९४।१)

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि यास्क यहां भी वही कह रहे हैं जो ऋग्वेदमें पहिले ही कहा हुआ विद्यमान् है। दोनोंका एकार्थ यही है कि गौः को धेनुः इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह अपने बच्चोंको दूध पिलाती है और इस कारण धेनुः शब्द उसी धातुसे सुगमतया सिद्ध किया जा सकता है जिससे धयति बनता है।

(५) अर्थः।

डा०पेबल पौचा समझते हैं कि निरुक्तका निर्वचन

अर्थोऽर्तेः॥ (नि० नै० अ० १, खं. १८)

ऋग्वेदमें आये—

अर्थमिद्वा उ अर्थिनः॥ (ऋ० १।१०५।२)

से असंगत है, दोनों परस्परविरुद्ध से हैं क्योंकि आधुनिक संस्कृतमें अर्तिके प्रचलित अर्थ दुःख कष्ट आदि हैं, इसीलिए उनको ऐसा भ्रम हुआ है। परन्तु इस विषयको समझनेके लिए ऐसा दृष्टिकोण ठीक नहीं रहता। ठीक जैसे यास्कोक्त-

अक्षम्...अत्ते॥ (नि० नै० का० अ० ३, खं० ९)

का अर्थ हम यह लिया करते हैं कि अक्षम् शब्द उसी धातुसे सिद्ध होता है जिसका वर्तमान काल प्रथम पुरुष एक वचन में अत्ति रूप बनता है, ठीक उसी प्रकार यास्कोक्ति 'अर्थम्...अर्तेः'का अर्थ भी हमें यही लेना चाहिए कि अर्थम् शब्द उसी धातुसे सिद्ध होता है जिसका वर्तमानकाल प्रथम पुरुष एक वचनमें अर्ति रूप बनता है। ऐसी धातु गत्यर्थक ऋ ही है। ऋग्वेदमें ऐसे रूपोंमें इस धातु का प्रयोग किया हुआ विद्यमान है जो निम्न शब्दों से सर्वथा स्फुट रूपेण पहिचान हो जाता है-

१. भानुरर्त त्मना दिवः॥ (ऋ० ५।५२।६)
अर्थात्... स्वयं ही सूर्य आसमानमें चला गया।

२. अर्त त्मना दिवः॥ (ऋ० ५।२५।८)
अर्थात्... स्वयं ही आसमान में चला गया।

३. ...उत्... भानुरर्त॥ (ऋ० ४।१।१७)
अर्थात्... सूर्य बहुत उंचा चला गया।

जब यदि हम यास्क के अनुसार अर्थम् को गत्यर्थक् ऋ धातुसे सिद्ध करें तब उसका अर्थ 'प्राप्तव्य' जहां पहुंचना कोई चाहे, उद्देश्य, आदि होंगे। अर्यते प्राप्यतेऽसावर्थः (निर्वचनके अनुसार) अब विद्वान् लेखक डाक्तर पेबल पौचा इसकी संगति ऋग्वेदीय 'अर्थमिद्वा उ अर्थिनः' के साथ सुगमतया लगा सकेंगे।

ब्राह्मणग्रन्थ वेद-संहिताओंकी व्याख्या हैं।

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, देहरादून)

वेदके स्वरूपके संबंध में मतभेद है। आचार्य दयानन्दने केवल संहिता-भागको ही वेद माना है। हम इसी सिद्धांत को मानकर आप अपने निबंध में उदाहरणोंद्वारा सिद्ध करेंगे, कि ब्राह्मणग्रंथ वेद की व्याख्या हैं। ब्राह्मण शब्दही ब्राह्मणों की अनित्यता सिद्ध करता है। ब्राह्मणों के व्याख्यान को ही ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् शब्दसे निष्पन्न नहीं हो सकता। तब तो ब्राह्म-शब्दही सिद्ध होगा। आपस्तंबसूत्र आदि में भी परिभाषा-प्रकरण में '**मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' कहना ही सिद्ध करता है कि दोनों का नाम मुख्य वेद नहीं। अन्यथा परिभाषा-प्रकरणमें न लिखते। ज्ञानपरक अर्थमें ब्राह्मण ग्रंथोंको वेद कहने में कोई हर्ज नहीं। अपौरुषेय वेद तो चार संहिताएं ही हैं। यह विषय एक पृथक् है। अतः इसपर अधिक नहीं लिखते।

आर्यसंस्कृतिका महत्त्वपूर्ण भाग है वर्णव्यवस्था। अर्थात् आर्योंका सामाजिक और वैयक्तिक जीवन। वर्णव्यवस्था का स्वरूप वेदपुरुषने- '**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत**' में पुरुष--सूक्तमें- स्पष्ट किया है। इसमें उदाहरणरूपसें सेंद्रिय पदार्थ को ही निर्दिष्ट किया गया है। निरिन्द्रिय को नहीं। सेन्द्रिय पदार्थ अखंड होते हैं।

वेद की दृष्टिमें मानवसमाज पुरुष है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उसके अवयव हैं। जिस प्रकार कोई अवयव अपने काममें बडा तथा दूसरे के काम में छोटा है। यही बात समाज में भी है। कोई छोटा बडा नहीं। वर्णव्यवस्था-पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंने बहुत लिखा है। मैं उसपर अधिक नहीं लिखूंगा।

इस प्रकार वेद ने जिस समाजविभाग को अलंकारमयी भाषा में वर्णन किया है, उसे ब्राह्मण स्पष्ट करता है-

ब्राह्मणके धर्म।

ऐतरेय ब्राह्मण ७. ५. ३ में ब्राह्मण के स्वभावादि का वर्णन किया है, जिस में ब्राह्मण के आदायित्व-आदायित्व--अवसायित्व- यथाकाम प्राप्यत्व ये चार मुख्य धर्म कहे हैं।

(१) आदायित्व- दक्षिणादि लेकर अपना जीवन-निर्वाह करना।

(२) आदायित्व- दानादि से विद्याधनादि का त्याग करना।

(३) अवसायित्व- विद्याबल से शास्त्रीय सिद्धांतों का अंतिम निर्णय करने की शक्ति।

(४) यथाकाम प्राप्यत्व- अपनी इच्छा रहनेपर युद्धादि के समय देशरक्षार्थ राजा की सहायता के लिए युद्ध करने में भी उद्यत रहना। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में ब्राह्मणों को भी युद्धादि की आवश्यक शिक्षा दी जाती थी, जिससे समय पर वे देश की रक्षार्थ क्षत्रिय भी हो सकें।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः।
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

इस प्रकार ब्राह्मण ने ब्राह्मण को समाज का मुखरूप होने का उपदेश दिया।

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के गुण कर्मादि का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में ७. ५. ५. ६ में किया गया है—

क्षत्रिय के धर्म।

(क) बलप्रतिष्ठा, (ख) आश्रित-रक्षण, (ग) सर्वोपकारिता, (घ) तेजस्विता, (ङ) यशस्विता आदि। इस प्रकार वेदने क्षत्रिय को जो समाज का बाहु-रूप कहा था, उसी की व्याख्या ब्राह्मण ने इस प्रकार की है।

वैश्य के गुणकर्मादि ।

दूसरों को बलि देना, दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ।

शूद्रके गुणकर्मादि ।

(क) दूसरोंका आज्ञाकारी होना चाहिए। अर्थात् प्रेष्यता। (ख) कामोत्थाप्यता । (ग) यथाकाम वध्यत्व इस प्रकार वेद ने वैश्य को ' मध्यं तदस्य यद्वैश्यः ' और शूद्र को– ' पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ' आदि से समाज का जो मध्यरूप और पादरूप अवयव माना था उसी की ही व्याख्या ब्राह्मण ने कर दी है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब को अपनी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार भोजन का भी इस प्रकार उपदेश किया। क्योंकि शास्त्रों का भी सिद्धांत ह ' आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ' भोजन आदि का निर्णय इस प्रकार किया है–

(१) ब्राह्मणों के लिये ब्राह्म बलवर्धक सोम है ।

(२) क्षत्रियों को क्षात्रबलवर्धक बेल आदि फलों का भक्षण करना चाहिए ।

(३) वैश्यों के लिये दधि तथा (४) शूद्रों के लिये जल। इसके लिखने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन आर्यों का भोजन फल आदि पौष्टिक पदार्थ थे। मांस के भक्षण का प्रचार न था । इस प्रकार अन्यत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो मांसभक्षण का विधान है, वह प्रक्षिप्त है, ऐसा मानना होगा। क्योंकि जिन आर्ष ग्रन्थों में मांस-भक्षण-विधि है उन्हीं में ही अन्यत्र मांस-भक्षण का ही नहीं अपितु वाचिक हिंसा का भी निषेध है। इस लिए मानना होगा कि अन्यत्र उन्हीं ग्रंथों में ही जो मांसभक्षण और मांसयजन आदि का विधान है, वह उन्हीं मुनियों की उक्ति नहीं। अन्यथा उन्मत्त प्रलाप होगा।

(२) ऋग्वेद में कहा है–

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । आयोर्ह स्कम्भः उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

इस में मनुष्य के सात त्याज्य वस्तुओं का आदेश किया है– हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत, असत्य भाषण, इन पापों को करनेवाले का संसर्ग । ब्राह्मण-ग्रंथ इन्हीं की विशद व्याख्या करते है– सब की व्याख्या न लिखता हुआ में ब्राह्मणोक्त वाग्व्यवहार का प्रदर्शन कराऊंगा। ऐतरेय ब्राह्मण—

(१) वाक् तु सरस्वती (३. १. १)

(२) वाग्धि सरस्वती (३. १. २)

(३) वाचो वा व तौ स्तनौ सत्यानृते वावते (४. १. १),

(४) कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुं सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः (१. १. ६)

(५) एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः तस्मादाचक्षाणमाहुः स यद्यदर्शमित्याह अथाऽस्य श्रद्दधति वै स्वयं पश्यति न बहूनां च नाऽन्येषां श्रद्दधति । (१. १. ६)

(६) विदुषा सत्यमेव वदितव्यम् (५-२-८)

(७) अवत्येनं नैनमनृतं हिनस्ति (४-११)

(८) मनसा वा इषिता वाग् वदति यां ह्यन्यमना वाचं वदति असुर्या वै सा वागदेव जुष्टा (२-१-५) (४-४)

(९) यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सः वै राक्षसी वाक् । (२-१-७)

(१०) सोऽब्रवीत् तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवादीरिति तस्मादेवं विदुषा सत्यमेव वदितव्यम् । (५-२-९)

इन्हीं उपर्युक्त स्थलों में ऋग्वेद के निम्न मंत्र की भी व्याख्या की गई है ।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि । (ऋ० १०. ७१. २)

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को आवश्यकता से अधिक तथा अनुचित रूप में न बोलना चाहिए । इसी को वाक्--संयम अथवा मौन कहते हैं ।

(क) मौनं चैवास्मि गुह्यानां ।
(ख) मौनी संतुष्टो येन केनचित् । (गीता)

इसी को ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा है—

स वै न सर्वेणैव संवदेत् देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति । न वै देवा सर्वेणैव संवदन्ते ।

इस का यह अर्थ नहीं कि अभिमान से दूसरों के साथ न बोलना चाहिए । ऊपर के वाक्यों में इसे स्पष्ट कर दिया है ।

अग्निहोत्र ।

ऋग्वेद १०-११०-१ में—

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजति जातवेदः । आ च वहमित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥

प्रभु ने आज्ञा की कि गृहस्थ को अग्निहोत्र करना चाहिए । यास्क ने भी मनुषो दुरोणे का अर्थ (मनुष्यस्य मनुष्यस्य) ऐसा ही किया है ।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण ने भी अग्निहोत्र की अवश्य कर्तव्यता को बतलाते हुये लिखा है कि—

अपत्नीक गृहस्थ को भी अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ।

तदाहुर्चापत्नीकोऽग्निहोत्रम् । (७. २. ८)
कुलायमिव ह्येतद् यज्ञे क्रियते यत् वै तु दारवः यदि धयो गुग्गुलूर्णास्तु का सुगन्धितेजनानि इति । (१-५-२)

इस से पता चलता है कि यज्ञों में ऋतु के अनुसार सुगंधित पदार्थ डाले जाते थे, जैसा कि ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में लिखा है । इससे यह भी ज्ञात होता है । प्राचीन आर्य सुगन्धि के लिये ही अग्निहोत्रादि किया करते थे ।

स्नानाविधि ।

ब्राह्मणग्रंथों में यह भी विशेषता है कि जो बात वेद-मन्त्रों में स्पष्ट नहीं है, उस का भी निर्देश कर देते हैं—वेद ने तो नित्याग्निहोत्र का ही विधान किया है, तथापि इस प्रकरण में स्नान का विधान नहीं किया । इसलिये ब्राह्मणने स्पष्ट कर दिया कि स्नान कर के ही अग्निहोत्र करना चाहिए ।

हिताग्निर्यदि प्रातरस्त्रतो अग्निहोत्रं जुहुयात् का तत्र प्रायश्चित्तिरिति । (७-२-८)

आतिथि-यज्ञ ।

अथर्ववेद १५-१०-१-२ में अतिथियज्ञ का वर्णन है—

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

इसी को अधिक विस्तार से ब्राह्मणग्रंथों में लिखा है । " कोऽनद्धा पुरुषे इति । " झूठा आदर्श कौन है ?

एष ह वा अनद्धा पुरुषो ॥ यो न देवानर्चति न पितॄन् न मनुष्यान् (६-३-१-१४)

तद् गाथा भवति अनेनसमेनसा सोऽभिशस्ता देवस्वतो वापहराः देवः । एकातिथिमपसार्य रुणद्धि विसानिस्तेन जहोरति । (५-५-५)

इसी को गोभिल्यगृह्य सूत्र में भी कहा है—

षडर्घ्या भवन्ति आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाहयः प्रियोऽतिथिरिति । (गो० सू. ४. १०)

राजनीति ।

ऋग्वेद ४. ५०. ७-८-९ तीन मन्त्रों में संक्षेप से इस राजनीति का संकेत किया है कि राजा के राज्य-कार्य का सारा भार पुरोहित पर होता है । (वदन्ते) राजा को उसे नमन करना चाहिए । जो राजा पुरोहित की सम्मतिसे कार्य करता है- (तस्मै विशः स्वयमेव नमन्ते) उस की प्रजा स्वयं उस की आज्ञाकारिणी रहती है । यहां पुरोहित शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालना असंगत न होगा । निरुक्तकार यास्क ने पुरोहित शब्द की इस प्रकार निरुक्ति की है—

पुरोहितः कस्मात् ? पुर एनं दधति इति ।

अर्थात् जिसे (पुरः) आगें (हितः) स्थापित किया जाता है– वही पुरोहित है ।

पुरोहित का पर्यायवाची शब्द वेद ने बृहस्पति लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है।

बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः तमन्वमे मनुष्य राज्ञां पुरोहिताः । बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्तीति यदाह ।

इस प्रकार मन्त्र की प्रतीक देकर ब्राह्मण ने बताया कि बृहस्पति और पुरोहित दोनों शब्द समानार्थक हैं। और बृहस्पति शब्द पर भी विचार करना चाहिए । बृहस्पति पद में दो शब्द हैं– बृहत् और पति शब्द का अर्थ बडा है। यहां बडापन संख्यामें ही अभिप्रेत है, अन्य गुण आदि में नहीं। क्योंकि ' पुर एनं दधति' में बहुवचन है। यदि बहुत अपना प्रतिनिधि बना कर किसीको न भेजे तो पुरोहित संज्ञा कर भी व्यर्थ है तो इस प्रकार बहुत बडी जनसंख्या का जो पति हो (पाति रक्षति) रक्षक हो पुरोहित बृहत् का जो पति उन का प्रतिनिधित्व कर के ही हो सकता है, अन्यथा नहीं । बृहत् के प्रतिनिधित्व रक्षणका अर्थ हुआ उन्होंने जिन स्वत्वों की रक्षार्थ उसे प्रतिनिधि बनाया है । संक्षेपसें पुरोहित उसे कहा जाता है जो बहुत बडी जन–संख्या का प्रतिनिधि हो, बहुतों ने जिसे अपना अधिक संक्षेप ही समझा हो। वह पुरोहित कौन होगा जिसे प्रजा बृहत् अपना प्रतिनिधि बना कर उस स्थान पर भेजे जहां जहां उनके स्वत्वों की रक्षा होती हो, वह कौन स्थान हो सकता है । इस के अतिरिक्त कि जहां धर्म का कानून का निर्माण व्यवस्थापन होता हो इसी लिये विदुरनीतिकार ने लिखा है–

राजा प्रजानां स्वामी स्यात् राज्ञः स्वामी पुरोहितः ।

अर्थात् प्रजा पर आधिपत्य राजा का होता है और राजा पर पुरोहितों का, प्रजा के निर्वाचित किये हुये सदस्यों का । इस पहेली का अर्थ यह हुआ कि राजाप्रजापर जो शासन करता है वह प्रजाद्वारा ही निर्वाचित पुरोहितों की आज्ञानुसार अर्थात् राजा का शासन निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्णित व्यवस्थापन पर निर्भर है । व्यवस्थापन शासन पर निर्भर नहीं । कितना सुन्दर शासन-प्रकार है । इस प्रकार ही शासन होने पर प्राचीन आदर्श प्राणाली कें अनुसार प्रजा राजा को पिता समझ सकती है और राजा अपने को प्रजा का सेवक । तात्पर्य यह है कि राजा और प्रजा का संबंध पुरोहितों द्वारा होता है । ऋग्वेद की इन तीन ऋचाओं की व्याख्या ही ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार की है ।

न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा ऊन्नमदन्ति तस्माद् राजा यक्ष्यमाणं ब्राह्मणं पुरोदधीतं देवा मेऽन्नमदन्निति '

यहां यह बतलाना आवश्यक होगा कि वैदिक काल में सभी को देव समझा जाता था । इसलिए यहां देव शब्द का अर्थ प्रजा है, यही बृहत् और मरुत् का भी अर्थ है।

मरुत् शब्द का वैदिक साहित्य में वही अर्थ है जो उर्दू साहित्य में अवाम का और हिन्दी साहित्य में जन साधारण शब्द का है । बृहस्पति शब्द की पुरोहित शब्दसे समानार्थकता से यह प्रतीत होता है कि पुरोहित किसी वर्णविशेष के नहीं होते थे, अपितु बृहत् जनसमाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णोंसे प्रतिनिधि लिए जाते थें, जिससे कि जन-साधारण के स्वत्वों का पालन-रक्षण वे निर्वाचित सदस्य कर सकें । उपर्युक्त ऋचाओं में भी ' विश्वा जन्यानि ' शब्द इसी भाव को प्रगट करते हैं। मनुमहाराजने भी जिस परिषद् का वर्णन किया है उस में भी सभी वर्णों और आश्रमेंा के प्रतिनिधियों का संकेत किया गया है । परिषद् शब्द भी इसी उपर्युक्त भाव को ही प्रगट करता है । उपर्युक्त तीन मंत्रों में इसी प्रकार की राजनीति और पुरोहित का वर्णन है । इस बात को ब्राह्मण ने कहा—

' तदपि एतदृ ऋषिणोक्तम् ' इत्युपक्रम्य (८-५-३)

जब राज्य का सूत्रधार पुरोहितवर्ग होता है, तब राजा का शासन सुखपूर्वक चलता है, इसका भी संकेत ब्राह्मण ने किया ।

आयुर्मायेस्य राष्ट्रं भवति नैनं पुरायुषः प्राणो जहाति । आजरसं जीवति सर्वमायुरेति न पुनर्म्रियते यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रं गोपः पुरोहितः । (८-५-३)

अर्थात् जिस राजा के राष्ट्र को रक्षक विद्वान् ब्राह्मण होता है, उस राजा को आयु से पूर्व अपनें राजकाल से पूर्व अर्थात् राजा की अपने प्रधान की आयु समय राजकाल प्रभावकाल जबतक निर्णीत है उससे पूर्व उसे रिक्त नहीं किया

जा सकता वह रिक्त नहीं होता। जराकाल तक अंतिम कालतक वह जीवित रहता है। प्रजाएं उसे प्रजाद्रोही समझकर उसका सन्मान नहीं करतीं। वह सारी आयु राजा रहता है। अर्थात् पुरोहितों का कृपापात्र राजा प्रजानुमत होने से पुनः पुनः राजा बनाया जाने पर सारी आयु भी राज्यपर आरूढ रहता है। वह फिर नहीं मरता, अर्थात् मरनेपर भी प्रजाएं उस की स्मृति को बनाए रखती हैं जिससे वह मरने नहीं पाता।

पुरोहित शब्द का वर्तमान समय में जो अर्थ समझा जाता है, अर्थात् संस्कार आदि कर्म का करनेवाला यह अर्थ तब ब्राह्मणकाल में मुख्य रूपसे न लिया जाता था। क्योंकि इस प्रकार का कोई भी वर्णन नहीं मिलता। श्री सत्यव्रत जी ने भी लिखा है—

> अपि तेषामद्यतनपुरोहितानामिव कर्मकारयितृत्वं तत्तकर्म मन्त्रपाठयितृत्वं च न क्वाऽपीह गम्यते। न वा क्वचिदिह ब्राह्मणस्य पुरोहिताऽपेक्षा श्रूयत इति च सुधीभिः।

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण वेदों के व्याख्यानरूप हैं। ऋग्वेद में जो तीन ऋचाएं जिन का कि उदाहरण ऐतरेय-ब्राह्मण ने दिया है उन में बृहस्पति शब्द है। १ ऋचा से ९ ऋचाओं तक का देवता भी बृहस्पति है। यदि ब्राह्मणों में बृहस्पति का अर्थ पुरोहित न किया जाता तो मन्त्र का गूढार्थ वर्तमान समय में न मिलता। प्राचीन काल में जब ब्राह्मणों का निर्माण न हुआ था तब इन्हीं ग्रंथों के निर्माता ब्राह्मण ऋषि उपदेश द्वारा उस का व्याख्यान करते थे।

उसी समय हो लिखनेको मनहूस बुरा समझते थे। क्योंकि ऋषि और ऋषिपुत्र बहुत स्मृतिशाली होते थे। उन्हें लिखने की आवश्यकता ही न पडती थी। और प्राचीन आर्य वचन को ही अधिक महत्त्व देते थे। बडे बडे व्यवहार केवल कह देने से ही चलते थे। पश्चात् जब ऋषियों में आलस्य आने लगा, जनसाधारण में कुछ कुछ वनतिचिह्न अविश्वास छल आदि प्रगट हुए तब ग्रंथों का लिखने का निर्माण हुआ। यही बात निरुक्तकारने भी लिखी है। और अब तो यह समय है कि लिखनेपर भी काम नहीं चलता, साक्षी की आवश्यकता होती है और पुनः भी टिकिट लगाई जाती है और अंगूठा लगाया जाता है। परन्तु प्राचीन काल में यह सब बात नहीं थी। ब्राह्मणों में लिखा है कि लेखन बुरा है, पाप है। पता चलता है कि जनसमाज में कुछ लोग लिखने का भी व्यवहार करते होंगे और ऋषियों ने इसे बुरा कहा होगा। इस का यह अर्थ नहीं कि लिखना न चाहिए, या लेखनकला बुरी चीज है।

कर्मयोग।

चारों वेदों में मनुष्यों को कर्तव्यपरायण रहने और आलस्यादि दुर्गुणों से पृथक् होने का उपदेश किया गया है। उदाहरण के लिए—

अथर्ववेद १९-६३-१ मन्त्र को उद्धृत किया जाता है—

> उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

क्या ही सुकर कर्मयोग का उपदेश है !

इसी का भाष्यरूप ऐतरेय ब्राह्मण में भी आलसी काम करनेसे मन चुरानेवाले पुरुष की निंदाकी गई है (७.३.३)। वहां पांच श्लोक आए हैं, जो बहुत ही सुन्दर और भावपूर्ण हैं-

> नानाश्रांताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।
> पापो नृषद्वरो जनः इंद्र इच्चरतः सखा ॥ १ ॥
> पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फले ग्रहिः।
> शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥ २ ॥
> आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
> शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ ३ ॥
> कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
> उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ ४ ॥
> चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
> सूर्यस्य पश्य श्रेमाणम् यो न तन्द्रयते चरन् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार अश्वादि पशु मनुष्यों की सवारी होनेसे मनुष्यवाह कहे जाते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीरमें भी खून-रक्त ही शरीर की अग्नि- ताप को धारण करता है, उस का वाह है। अतः निघण्टु १. १५. २. में लोहित-रक्त को ही रोहित कहा जाता है। क्योंकि वह रक्त-सूर्यचंद्र-जन्म है अथवा दिनरात्रिजन्म है। अतः उसे वैदिक भाषा

हारिश्चन्द्रिम भी कहा जाता है। सूर्य को रसहरण से हरि कहा जाता है । इसे विज्ञ जानते हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि अग्निवाह, रक्तको धारण करनेवाले जीवित सभी पुरुषों को सम्बोधन कर के ब्राह्मण ने कहा है– हे (रोहित) हे जीवित रक्तधारी पुरुषो ! (इति शुश्रुमः) हम यह सुनते हैं (अनाश्रान्ताय) पूरा परिश्रम न करनेवाले के भाग्य में (श्रीर्नाऽस्ति) लक्ष्मी, शोभा, उन्नति नहीं बंधी । (वरः जनः) श्रेष्ठ पुरुष भी, विद्वान् जन भी यदि (नृषद्) किसी दूसरे प्राणी पर भार-रूप हो कर जीवित हैं, तो वह (पापः) पापी है । (चरतः) परिश्रमी, भ्रमणशील, उद्योगी पुरुष का (इत्) तो (इंद्रः सखा)परम प्रभु सहायक है । अर्थात् उस का रक्षक राम है । (गांधीजी जब डाण्डी मार्च पर चलने लगें थ, उन्हें किसी ने कहा कि आप के साथ काम करनेवाले कितने हैं ? उन्हों ने उत्तर दिया " मेरा साथी राम हैं । " " जाको राखे साइयां मार न सकी है कोय " और दूसरा अर्थ यह भी है कि प्रभु उसी का सहायक होता है, जो अपनी सहायता स्वयं करता है) ॥ १ ॥

(चरतः) परिश्रमी पुरुष की (जंघे) टांगें (पुष्पिण्यौ) पुष्ट होती हैं, सहिष्णु होती हैं।

इस का अनुभव चलनेवालों को होता है । (आत्मा भूष्णुः फले ग्रहिः) उत्साही पुरुष का आत्मा अध्यात्म, मन, बुद्धि, उदीयमान् और सफलता की ओर अग्रसर होते हैं ।

(अस्य सर्वे पाप्मानः शेरते) उद्यमी पुरुष के सब पाप सो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं । वें पाप (श्रमेण) परिश्रम करनें सें (प्रपथे) खुले मैदान में सब के सामनें (हताः) नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

(आसीनस्य भग आस्ते) बैठें रहनेंवाले, हाथपर हाथ धर कर निश्चेष्ट रहनेवाले पुरुष का भाग्य भी बैठा रहता है । (तिष्ठतः ऊर्ध्वः तिष्ठति) उठकर खडें हो जानेवाले, उद्यम का प्रारम्भ करने के इच्छुक पुरुष का भाग्य भी उठ खडा होता है । (निपद्यमानस्य शेते) सोनेवाले का भाग्य भी सो जाता है । (चरतः भगः चरति) चलनेवाले, परिश्रम करनेवाले का भाग्य– ऐश्वर्य भी चल उठता है ॥ ३ ॥

(शयानः कलिः भवति) सोता हुआ आलसी पुरुष ही कलयुग है ।

(सञ्जिहानस्तु द्वापरः) चारपाई छोडता ही पुरुष द्वापर है । अर्थात् जिसने अभी आलस्य को छोडा तो नहीं; परन्तु छोडनेवाला ही है । (उत्तिष्ठन् त्रेता भवति) आलस्य छोडकर खडें होनेवाले पुरुष को ही त्रेता कहा जाता है । (चरन् कृतं सम्पद्यते) उठकर चल पडनेवाले पुरुष को ही कृत अथवा सत्युग कहा जाता है । यहां पुरुष के लिये एक वचन ही आया है, यदि इस एक वचन को समुदायपरक मान लिया जावे तो यह अर्थ होगा ।

जब मनुष्य-समाज गाढ निद्रामें होता है । धर्मादि से नितान्त विमुख होता है, तब कलयुग कहा जाता है। जब मनुष्यसमाज अपनी बुराइयों को जान लेता है और उसको छोडनेकी इच्छा करता है; परन्तु कमजोरियों के कारण छोड नहीं पाता और हतोत्सह हो कर फिर चुप्पी साध लेता है, तभी द्वापरयुग कहलाता है । जब समाज बुराइयों के साथ युद्ध करने कें लिये खडा होता है, सब विघ्नबाधाएं उसे पीछे नहीं हटा सकते, तब त्रेतायुग कहलाता है । और जब आलस्यादि को पीछे हटा कर बुराइयों पर समाज विजय पा लेता है और आगे बढने लगता है तब सत्युग हो जाता है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य-समाज काल का निर्माता है । काल निर्माता नहीं । इसी अर्थ को मनु महाराज नें भी लिखा है—

कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥
(मनु० ८।३०२)

(चरन् वै मधु विन्दति) परिश्रमी पुरुष ही मधुको, सुखको, सुख की सामग्री को पाता है । (चरन् स्वादुमुदुम्बरं) परिश्रमी पुरुष ही स्वादु उदुम्बर फल को पाता है । अर्थात् हाथ पर हाथ धर कर बैठ रहने पर साधारण से साधारण वस्तु भी नहीं प्राप्त हो सकती। जैसा कि किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।
दैवं हि दैवमिति कापुरुषाः वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ २ ॥

ब्राह्मण आलस्य त्याग और सतत परिश्रम का उदाहरण देते हुयें लिखते हैं—

(सूर्यस्य श्रेमाणं पश्य) हे पुरुष ! तू सूर्य की श्रेष्ठता को देख, (यः चरन् न तन्द्रयते) जो चलता हुआ, प्रकाश करता हुआ, अपना कर्तव्य पालन करता हुआ कभी भी आलस्य अथवा प्रमाद नहीं करता ॥ ५ ॥

विज्ञान ।

वेदमन्त्रों में बहुत विज्ञानों का वर्णन है । ब्राह्मणग्रन्थों से भी कुछ का निर्देश कराते हैं—

(१) सूर्यका अस्त नहीं होता ।

ऐतरेय ब्राह्मण में—

स वा एष न कदाचनाऽस्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते । अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रे देवतादन्तमित्वाऽअथात्मानं विपर्यस्यते, अहरेव अवस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् । (३-४-६)

इससे यह प्रतीत होता है कि पृथिवी का भ्रमण होता है सूर्य का नहीं । पृथिवी का एक नाम गो भी है जिस का अर्थ गतिमान् है ।

(ख) गोपथ-ब्राह्मण में—

एतत्सुशस्ततरमिव भवति स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद् यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तं गत्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते। अहरेवावस्तात् कृणुते रात्रीं परस्तात् । स वा एष न कदाचनाऽस्तमयति नोदेति । तद्यदेवं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुते अहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । न ह वै कदाचन निम्लोचति । (गो० २।४।१०)

(ग) छान्दोग्य-ब्राह्मण में भी—

नैवोदेतानाऽस्तमेता एकलण्वमध्ये स्थितः तदेष

श्लोकः—

न वै तत्र निम्लोचति नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेनाऽहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा इति ।
न ह वा अस्मा उदेति निम्लोचति । (५।११।१।३)

यहां (मध्ये स्थाता) यहां स्थाता पद से प्रतीत होता है कि सूर्य की गति नहीं होती । ऊपर जो कहा गया कि सूर्य पृथ्वी का धारण कर रहा है, यही बात यजुर्वेद और ऋग्वेद में भी आई है ।

दाधर्थ पृथ्वीमभितो मयूखैः ।
(ऋग्वेद ७-९९-३) (य० ५-१६)

(२) चन्द्रमा में प्रकाश स्वाभाविक नहीं है ।

ऋग्वेद में मन्त्र आता है—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे । (ऋ० १-८४-१५)

यास्क ने भी लिखा है—

अथाप्यस्मै को रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यते तदेते नोपेक्षितव्यम् । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति ।

इसीलियें चन्द्र का नाम गन्धर्व है-

(गां धारयतीति) अर्थात् सूर्य की सुषुम्ण रश्मि को धारण करता है ।

यही बात तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कही है—

सोमो वै चन्द्रमा एष ह वै साक्षात् सोमं भक्षयतीति । (३-४-१०)

शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है-

सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः ।
(२-३-४७)

(३) भोजनसम्बन्धी विज्ञान ।

भोजन कैसा करना चाहिए, उस के लिये ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है ।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परि स्रुतं
स्वधास्थ तर्पयत मे पितृन् । (ऋग्वेद)

अर्थात् हे (स्वधास्थ) सुखस्थित पितरो ! योग्य विद्वान् और मातापिताओं! घी, दूध, अनारस, परिश्रुत टपकनेवाली वस्तुएं और जल आदि बलवर्धक पदार्थों को खा पीकर के आप लोग तृप्त हों ।

देखिये ऐतरेयब्राह्मण इसी का ही तो भाष्य कर रहा है—

(क) आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणां अयुतं पितृणां, नवनं तं गर्भाणां । (१-१-३)

(ख) इन्द्रियं वा एतदस्मिंल्लोके मदधि । (८-४-६)

(ग) तेजो वा एतत् घृतम् । (८-४-६)

(घ) अमृतं वा एतदस्मिंल्लोके यदापः । (८-४-६)

(ङ) रसो वा एष औषधीवनस्पतिषु यन्मधु । (८-४-६)

(च) यत् घृतं तत्स्त्रियैः पयः ये तण्डुलास्ते पुंसः । (१-१-१)

शतपथ ब्राह्मण में दूध से बननेवाली दश खाद्य वस्तुओं का भी नाम गिनाया गया है—

(क) गोर्वै प्रतिधुक् तस्यै श्रुतं, तस्मै शरः तस्यै दधि, तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चन तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनं । (श० ब्रा० ३-३-३)

इस प्रकार दूध, दधि, घृत, आदि मेध्य पदार्थों के भक्षण का ही विधान किया गया है ।

यही बात गीता में भी कही गई है ।

(क) आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(ख) विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥

(ग) युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ (गीता)

(४) शरीरसम्बन्धी विज्ञान ।

ऋग्वेद में—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चन्तु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ १ ॥
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे ।
(ऋ० १०-१८४-१।३)

इन मन्त्रों में गर्भादि सम्बन्धी सभी शरीरविज्ञान निर्देश किया है। इसी का ब्राह्मण भाष्यरूप है। ऐतरेय ब्राह्मण में—

(क) रेतस्तत् सिक्तं विकरोति सिक्तिर्वाऽग्रे अथ विकृतिः। रेतस्तद्विकृतं प्रजनयति विकृतिर्वाऽग्रेऽथ जातिः ॥ (२-५-७)

(ख) न्यूने वै रेतः सिक्तं मध्यं स्त्रियै प्राप्य स्थविष्ठं भवति । (६-३-१)

(ग) यथा गर्भो योन्यामन्तरेवं सम्भवत् शेते न वै संकृदेवाग्रे सर्वं सम्भवति एकैकं वा अंगं सम्भवतः सम्भवति ॥ (६-५-५)

(घ) चक्षु पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति । (३-१-२)

(ङ) ज्यायान् सन् गर्भः कनीयांसं सन्तं योनिं न हिनस्ति । (५-२-१०)

(च) युक्ता गर्भा जरायोर्जायन्ते—
स ह वोल्बेन कुमारो जायते (१-१-३)

(छ) मुष्टी वै कृत्वा गर्भो अन्तः शेते मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते । (१-१-३)

ऐतरेय ब्राह्मण के आरण्यक में भी—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद् रेतस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद् यदा स्त्रियां जनयत्यथैनं जनयति । (२-५-१)

इसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध में और भी कहा है।
मुखतो वै प्रजा अन्नमदन्ति एकं सच्चक्षु द्वेधा।
(२-४-८)

शरीर पर दो ही प्रभाव पडता है, सर्दी और गर्मी। यजुर्वेद २३-१० में—

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्।

कहा है कि शीत का औषध उष्ण हो और उष्णता का औषध शीत है। यही बात इसका भाष्य शतपथ में इस प्रकार किया है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च।
यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यं।
अग्निषोमयोर्हवैतावती विभूतिः प्रजति। सूर्य एवाऽऽग्नेयः चन्द्रमाः सौम्यः।

(५) स्वावलम्बन।

(क) 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो' इत्यादि ऋग्वेद के एक मन्त्र से प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्य छाननी से अपने घर के धान आदि को तथा सत्तू आदि को छानते थे।

(ख) यजुर्वेद २०-२९ "धानावन्तं करम्भिणम्" से प्रतीत होता है कि वेद आज्ञा देता है कि धान आदिको स्वयं शुद्ध करना चाहिए।

(ग) "अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व" इस वेदवचन से तथा "सीरा युञ्जन्ति कवयः अर्वाची सुभगे भव सीते युनक्तु सीरा शुनं वाहा शुनं फालं" इत्यादि वेदमन्त्रों से प्रतीत होता है कि वेदभगवान् की आज्ञा के अनुसार हल आदि स्वयं चलाने चाहिये और वे मशीन के हल नहीं।

(घ) कारुरहं ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम।
(ऋ० ९-११२-३)

अर्थात् 'मैं बढई हूं, मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है' इससे प्रतीत होता है कि माताएं घरमें चक्की पीसें ऐसी वेद की आज्ञा है।

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी स्वावलम्बन का आदेश और आदर्श मिलता है। यथा ऐतरेय-ब्राह्मण—

(क) सूच्या वासः सन्दधदियात्। (३-२-७)

इससे प्रतीत होता है, ब्राह्मणकाल में सुई से कपडे सिये जाते थे।

(ख) बृहत्पृष्ठं सवीवधतायै। (८-१-१) से पता चलता है कि वहङ्गी लेकर उन से प्राचीन आर्य काम किया करते थे।

(६) तार्क्ष्य और ऐतरेय ब्राह्मण।

ब्राह्मण वेदों के भाष्यरूप हैं इस सम्बन्ध में ऐतरेय-ब्राह्मण की आख्यायिका को प्रस्तुत करते हैं। इससे यह भी ज्ञात हो जायगा कि ब्राह्मणों ने वेदों की सूक्ष्म बातों को आख्यायिका द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है और जहां जहां भी आर्ष-ग्रन्थों में "अत्रेतिहासमाचक्षते" आदि लिखकर जिस इतिहास का निर्देश किया गया है वह नित्य इतिहास है। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहते" आदिका भी यही अर्थ है। सम्भव है कि महामुनि वेदव्यास ने वेदों को समझाने के लिये आख्यायिकारूप में पुराण नामक ग्रन्थ का भी निर्माण किया हो। यह भी सम्भव है कि वर्तमान अष्टादश पुराण उसीका अत्यधिक और इसलिये अवास्तविक विस्तार हों। जिस प्रकार जय नामक ग्रन्थ से भारत और पुनः महाभारत का निर्माण हुआ।

अस्तु। अभिप्राय यही है कि वेद की शिक्षाओं को ऋषियों ने आख्यायिकारूप में ही बना दिया हो। जिस प्रकार गणित के प्रश्नों को समझाने के लिये कल्पित रामलाल आदि की उपाख्यानों से सहायता ली जाती है और जिस प्रकार संस्कारसाहित्य में देवदत्त और यज्ञदत्त शब्द बहुत ही प्रसिद्ध हैं अथवा जिस प्रकार धार्मिक शिक्षा के लिये लोक में कुछ कल्पित कथाएं प्रचलित हैं, इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कल्पित आख्यायिकाओं निर्माण करते समय ऋषियोंने वेदसे ही लिये हों। सम्भव ही क्योंकि ठीक ही है- क्योंकि मनुने कहा है—

सर्वेषां च नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।

अर्थात् नामकरण भी और नाम भी वेद शब्दों से लिये गये हैं। बाद में उसी नाम के ऋषि भी हुये हैं। अथवा उनका नामकरण वेद-शब्दों के आधार पर किया गया हो। बस यही वेद में इतिहास का आधार है। वास्तव में वेद में इतिहास का गन्ध भी नहीं है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का १७८ सूक्त के जिस का देवता अर्थात् विषय तार्क्ष्य है और ऋषि अरिष्टनेमि तार्क्ष्य है, तीन मन्त्र हैं। क्योंकि इसका देवता तार्क्ष्य है अतः तार्क्ष्य शब्द के अर्थ पर विचार करते हुये ब्राह्मण पर दृष्टि डालनी चाहिए। ब्राह्मण ने इस सूक्त को समझाने के लिये एक आख्यायिका लिखी है, जिससे ब्राह्मणकालीन आचारव्यवहार आदि का भी बोध होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण ४-३-६ में कहा है, " तार्क्ष्यं स्वर्गकामस्य रोहेत् " अर्थात् तार्क्ष्य देवताका उपर्युक्त तीन मन्त्रों से स्वर्गकाम के आरोहण का सम्पादन करना चाहिए। भावार्थ यह है कि जो स्वर्गपर आरोहण करने लगे उसे तार्क्ष्य सूक्तका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

आगे चलने से पूर्व स्वर्ग पद पर विचार करना चाहिए। स्वर्ग का मुख्य अर्थ वैदिक साहित्य में सुख है। स्वर्ग के पर्याय शब्द स्वर् का अर्थात् निरुक्तकार ने सूर्य भी किया है। परन्तु यह निश्चित है कि स्वर् अथवा सुख का मुख्य अर्थ सुख है। स्वर्ग के पर्यायशब्दों में एक नाक भी है जिस का अर्थ दुःखाऽभाव है।

यन्न दुःखेन संभिन्नंश्च ग्रस्तमनन्तरं।
तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

परन्तु आगे इस के कई लाक्षणिक अर्थ माने जाने लगे। महाभारत आदि ग्रन्थों में स्वर्गलोक को जीतने/ तथा उस में जाने आने का भी वर्णन मिलता है।

परो वा अस्माल्लोकात् स्वर्गलोकः।

(ऐतरेय ब्राह्मण ६-४-४)

स्वर्गलोक इस लोकसे परे है। उस स्वर्ग का एक विशेषण ब्राह्मणग्रन्थों में ऊर्ध्व अथवा उत्तर भी है। जिसका अर्थ है ऊंचा। इससे मालूम होता है कि प्राचीन आर्य ऊंचे स्थान को नीचे स्थानसे अधिक सुखद तथा शीतप्रधान होने से स्वर्ग और नीचेके स्थान को नरक-मनुष्यों को दुःखद मानते थे। महाभारत में इसका प्रमाण मिलता है।

इसीलिये प्राचीन संस्कृत साहित्य में हिमालय को स्वर्ग माना गया है। प्राचीन आर्य सम्भवतः वानप्रस्थ आश्रम में अथवा तपस्या करने के लिये वहां चले जाते थे, अतः उसे स्वर्ग माना जाता था।

वेदसे तो नहीं क्योंकि वेद में इतिहास का गन्ध भी नहीं है। परन्तु ब्राह्मण से प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्य भारत के निम्न प्रदेश से उत्तर ऊर्ध्व हिमालय पर और उस से पार आते जाते थे। शायद वहां भी आर्योंने निवास जा किया होगा।

इसी तार्क्ष्य के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण आगे कहता है—

तार्क्ष्यो ह वा एतं पूर्वोऽध्वानमैत् यत्रादौ गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाहरत् तद् यथा क्षेत्रज्ञमध्वनः पुर एतं कुर्वीत् तादृक् तत्।

शब्दार्थ इसका इस प्रकार है—

तार्क्ष्य ही इस मार्ग पर प्रथम गया। जब कि गायत्री पक्षी की तरह पहिले सोम लेने चली। तो जिस प्रकार किसी स्थान-देश को जाननेवाले पुरुषों को ही अगुआ बनाया जाता है, उसी प्रकार तार्क्ष्य को अगुआ बनाना चाहिए।

गायत्री का अर्थ मेरे विचार में गानेवाली पथिक मण्डली है। आज भी पर्वतीय प्रदेशों में जानेवाली मण्डलियां गाती हुई चला करती हैं। पूर्वकाल में भी हिमालय पर और सम्भवतः उच्च शिखाओंपर सफर करनेवाली मंडली गाती हुई ही जाती थीं। और किस लिए जाती थी, उस के लिए भी ब्राह्मणने कहा 'सोममाहरन्' सोम के आहरण के लिए। सोम का अर्थ सोमलता, शीतता और यश है। तो इस

प्रकार यह मण्डली सोमलता को लानेके लिये, शीत प्रदेशमें भ्रमण करने के लिए और सब से बढकर यशःप्राप्ति के लिए हिमालय के शिखरोंपर चढने के लिए प्रवास करती थीं। आज भी गौरीशंकर पर चढनेवाली पाश्चात्य साहसी युवकों की मण्डलियां केवल यश के ही तो लिए मौत की उपेक्षा करके गौरीशंकरपर चढने के लिये जाती हैं।

अब तार्क्ष्य शब्द पर विचार करना चाहिए। ब्राह्मणने कहा ' अयं वा तार्क्ष्यो योऽयं पवते ' जो यह बह रहा है इसी को तार्क्ष्य कहते हैं। तो इस प्रकार तार्क्ष्य एक प्रकार की वायुका नाम है। अब उपर्युक्त आख्यायिका का अर्थ समझना कठिन न होगा।

गायत्री पक्षी की तरह सोम लेनेके लिये स्वर्ग पर जा रही है। तार्क्ष्य उस का मार्ग प्रदर्शक है। जिस प्रकार किसी स्थान पर जानेवाले मुसाफिरों का मार्गदर्शक उस स्थान से परिचित व्यक्ति होता है।

हिमालय की उत्तुंग शिखरों पर मार्गदर्शक तार्क्ष्य कौन है? ब्राह्मण ने स्वयं उसकी व्याख्या वायुविशेष की है। अतः तार्क्ष्य का अर्थ हुआ मानसून वायु। मानसून वायु भी अग्रगामी होता है, जब कि स्वर्ग पर हिमालय के सर्वोच्च शिखर गौरीशंकर आदि पर यशोरूप सोम को लाने के लिये गायत्रीमण्डल आरोहण करने लगती है।

इस प्रकार ब्राह्मण नें कहा कि स्वर्गारोहणकामना-वाले को आवश्यक है कि वह तार्क्ष्य सूक्त का अध्ययन कर ले। और उसी के आदेशानुसार आरोहण करे।

पर्वतों पर वैसें भी वर्षा अधिक होती है और उत्तुंग शिखरों पर चढना चाहते हैं, उन्हें प्रतिदिन समुद्री मानसून पवनों को अपना अग्रगामी बनाना चाहिए। उसी के अनुसार यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए, अन्यथा हानि की अधिक आशंका है। इससे यह भी पता चलता है कि प्राचीन आर्य मानसून वायु के सम्बन्ध में भी पूरा पूरा ज्ञान रखते थे।

इस प्रकार ब्राह्मण ने जब आख्यायिका द्वारा इस बात को समझा दिया कि तार्क्ष्य का अर्थ मानसून वायु है और उसका पूरा ज्ञान करनेंके बाद ही शिखरोंपर आरोहण करना चाहिए। तब तार्क्ष्य सूक्त (ऋ० मं० १०, सू० १७८) के तीन मन्त्रों का अर्थ समझाना कठिन न होगा। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र के अन्त में कहा है—

" स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम " अर्थात् कल्याण के लिये हम तार्क्ष्य को यहां बुलाते हैं। अर्थात् यात्रा के समय आवश्यक है कि तार्क्ष्य वायु हानिकर न हो, स्वस्ति-कृत ही हो।

वेद और सूर्य-सिद्धान्त।

(लेखक- पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेर)

लेखक

लगभग डेड वर्ष व्यतीत हुआ है, हमें गुरुकुल कांगडी के ३४ वें वार्षिकोत्सव पर होनेवाले सरस्वती सम्मेलन में एक निबन्ध पढने का अवसर× प्राप्त हुआ था। उस प्रबन्ध में वेद और ज्योतिर्विज्ञान का सम्बन्ध बतलाते हुए ' वैदिक ज्योतिर्विज्ञान' के बहुत साधारणसे नियमों का प्रतिपादन किया था। उसके साथमें हमने यहभी प्रतिपादित किया था कि वेदकी ज्योतिर्विज्ञान के प्रति किस प्रकारकी धारणा है और वह 'ज्योतिर्विज्ञान' की आधारशिला का क्या रूप रखता है। आज हम आपके सामने वेदमें प्रतिपादित ज्योतिर्विज्ञान के साधारण तथा सरल सिद्धान्तों के आगे कुछ गहन तथा विचित्र सिद्धातों पर विचार करेंगे, जो अभी तक (Astronomy) ज्योतिषके क्षेत्रमें सिद्ध नहीं हुए हैं। हो सकता है, आपको सन्देह हो कि उनकी सत्यता में क्या प्रमाण है? उनको हमारा इतना ही कथन है कि जिनको वेदके सम्बन्ध में जरा भी शक नहीं है, जो वेद को परमात्मा की कृति हृदयसे मानते हैं, जिनके हृदय स्वप्नमें भी इस बातकी साक्षी नहीं देते कि वेद शायद परमात्मा का ज्ञान न होकर मनुष्योंकी कृति है, वे सज्जन और वे विद्वान् जब वेदोंका अध्ययन व मनन करते हैं तो उस भावको कभी झूठा अनुभव नहीं करते जो वेदके शब्दोंसे सूर्य के समान भासित होता हो।

इसमें शक नहीं कि एक वक्त था जब इस लेखक के हृदयमें भी वेद के सम्बन्ध में थोडा थोडा शक उत्पन्न होने लगा था, परन्तु भगवान् की कृपा से वह तीन-चार वर्ष से ऐसा काफूर हुआ है कि अब उसका ढूंढने से भी पता नहीं लगता। ऐसी अवस्था में हमने 'वैदिक ज्योतिर्विज्ञान' नामसे एक ग्रन्थ लिखनेका विचार किया और उसे शनैः शनैः पूर्ण विचारके अनन्तर कार्यरूपसे भी परिणत किया जा रहा है और यदि भगवान् की इच्छा हुई, तो शीघ्र ही वह पाठकोंकी सेवा में उपस्थित होगा। प्रस्तुत लेख उसी ग्रन्थ के एक हिस्से के आधारपर लिख कर हम आपके सामने रखने लगे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वेदको समझने के लिये ज्ञान की वह उत्कृष्ट पराकाष्ठा + होनी चाहिये जिसको देख कर हम किसी सज्जनको विद्वान् कह सकते हों। इसलिए हम इस बातका दावा

× वेद और ज्योतिर्विज्ञान-'आर्य' मासिक लाहोर, फाल्गुन १९९२

+ लाहोर 'आर्यमासिक' (पृ. ४६१-४६२)

नहीं करते कि हमने ' वैदिक ज्योतिर्विज्ञान ' के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का पता लगा लिया है ।

आज हम वदका सूर्य के सम्बन्ध में एक अद्भुत विचार आपके सामने रखने लगे हैं। थोडी देरके लिए तो वह आपकोभी अद्भुत लगेगा और वह शायद आपको असत्य भी प्रतीत हो, परंतु क्योंकि वेद ऐसा प्रतिपादन करता है, हमें स्वीकार करना ही होगा।

जो सूर्य एक आग का जलता हुआ पिण्ड है, चारों ओर बडी बडी ज्वालाओं से घिरा हुआ है, जिसकी गर्मी, करोडों मील दूर इस पृथिवी के निवासियों को तपा रही है, उस सूर्य के अंदर क्या है, यह जाननेकी इच्छा आज किसकी नहीं है ? ज्ञानके क्षेत्र में विचरण करनेवाला विद्वान् आज इसके लिए तडप रहा हैं। हर एक ज्योतिर्विज्ञ जिस वक्त रातमें चमकते हुए इन तारों को देखता है, तो वह वहां तक पहुंचने के लिए आतुर हो उठता है । ऐसे विद्वानों के लिए ही हम आज यह बतलायेंगे की सूर्य की आन्तरिक रचना के विषयमें वेद का क्या विचार है ।

यजुर्वेद के तेरहवें अध्यायका मंत्र है।

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥ ×

मंत्रार्थ इस प्रकार है। हे (अग्ने)अग्नितत्त्व! (ते) तेरी (याः रुचः) जो कान्तियें हैं, शोभायें हैं, वे (रश्मिभिः) रश्मियोंके द्वारा (सूर्ये) सूर्यके अन्दर (दिवम्) आकाशमें-प्रकाशको, कान्तिको, शोभा को (आतन्वन्ति) फैलती हैं; अर्थात् सूर्यस्थ आकाशको प्रकाशित करती हैं । उसी(जनाय रुचे) प्रजननशक्तिवाली शोभाके लिए (ताभिः सर्वाभिः) उन्हीं सब रश्मियोंके द्वारा (नः) हमें भी (कृधि) प्राप्त करने के लिए समर्थ बनाओ ।

इस शब्दार्थ की जांच थोडासा भी संस्कृत पढा हुआ बच्चा कर सकता है। इतने स्पष्ट शब्दों में जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, उसकी ओर से उपेक्षा धारण नहीं की जा सकती । यदि वेद-मंत्रकी रचना की ओर ध्यान दिया जायेगा, तो उसमें प्रतिपादित किये गये सिद्धान्त आसानी से समझ में आ सकेंगे।

इस मंत्र का सब से प्रथम भाग है—

सूर्ये दिवम्- सूर्यके अन्दर द्युलोक है, अन्तरिक्ष लोक है । द्यु और अन्तरिक्ष लोक क्या है? यह एक साधारण प्रश्न है। द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक कोई पृथिवी की तरह से ठोस स्थान नहीं हैं । ये ज्ञान-वृद्धि और व्यवहार के लिये की गई परिभाषायें हैं । हमारी पृथिवीके ऊपर जहां तक वायु का संचार हो रहा है, उसको हम 'अन्तरिक्ष' कहते हैं और उससे आगे सम्पूर्ण आग को हम 'द्युलोक' नाम से पुकारते हैं । वेद इन्हीं दोनों स्थानों को 'दिवम्' इस प्रकार से स्थान स्थान+ पर उच्चारण करता है। इससे यह स्पष्ट है कि सूर्य के अन्दर भी 'दिव' द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक विद्यमान है । दूसरे शब्दोंमें सूर्य अन्दर से खाली है, पोला है और वह अन्दर से पृथिवी की तरह ठोस नहीं है । केवल ठोस ही नहीं परन्तु एकदम खोखला है । जैसे यह पृथिवी एक वायु से पूर्ण आवरण से ढंकी हुई है, उसी प्रकार सूर्य अन्दर से खाली है और जिस प्रकार पृथिवी के बाहर चारों और अन्तरिक्ष है, उस प्रकार सूर्य के अन्दर है ।

जब सूर्य अन्दर से खोखला है, तो प्रश्न होता है कि क्या सूर्य के अन्दर अन्धेरा है? और यदि वह प्रकाशमान् है, तो उसको प्रकाश कौन दे रहा है ? क्या कोई इसके अन्दर दूसरा सूर्य है

× यजुर्वेद १३।२२

+ इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ (अथर्व० ११।५।९)

जो इसको अन्दर से प्रकाशित करता है ? इसका उत्तर वेद देता है-

नहीं, उसके अन्दर भी यही सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा प्रकाश फेलाता है।✿ 'अर्थात् जिस प्रकार सूर्य बाहर से चमकता हुआ हमें प्रकाश दे रहा है, उसी प्रकार अन्दरके स्तर द्वारा आन्तरिक हिस्से में प्रकाश फला रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि सूर्य अन्दर और बाहर दोनों स्तरों से एक समान प्रकाश फैंक रहा है।

यहां तीसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सूर्य के आन्तरिक हिस्से में वायु का प्रवाह भी जारी है? इस विषय में प्रस्तुत मंत्र में किसी प्रकार का भी उल्लेख मालूम नहीं होता। परन्तु यदि Indirect रूप से देखें तो मालूम होता है कि सूर्य के अन्दरका हिस्सा बिलकुल रिक्त नहीं है, परन्तु वायु की तरह किसी विशेष प्रकार की वायु से परिपूर्ण है। हो सकता है, यहां की वायु और वहां के वायुरूप पदार्थ के स्वरूपों में अन्तर हो।

उपरोक्त मंत्र से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सूर्य के आन्तरिक भागमें प्रकाश फैल रहा है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहा है। परन्तु जब तक प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये किसी प्रकार का साधन न होगा, तब तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं करता। इसी कारण सूर्य से हमारी पृथिवी तक प्रकाश लाने के लिये भी एक तत्त्व की आवश्यकता है। उसको वेद ने चेतन✾ नाम दिया है। वेद की परिभाषा और वर्णनशैली के अनुसार सूर्य के अन्दर जो प्रकाश को स्थानान्तर ले जानेवाला तत्त्व है, उसको भी हम 'चेतन' कह सकते हैं। यदि यह विचार-सरणी ठीक है, तो कहना होगा कि वेद की दृष्टिमें सूर्यस्थ आकाश में 'चेतन' भरा हुआ है।

अगर ऊपर प्रतिपादित तीनों सिद्धान्त ठीक हैं तो चतुर्थ परिणाम जो अपने आप ही निकलता है वह यह है कि इस सूर्य के अन्दर एक और पिण्ड है और जिसके चारों ओर चमकता हुआ यह एक आवरण है, जिसका प्रकाश हम तक पहुंचता है। इसी को हम एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि सूर्य एक ऐसा पिण्ड है, जहां सर्वदा प्रकाश रहता है, वहां अन्धेरे का काम नहीं है। जिस प्रकार पृथिवी के चारों ओर किसी प्रकार का भी आवरण नहीं है, परन्तु शनि के चारों ओर तीन चमकते हुए छल्ले हैं, जिनके कारण हम कह सकते हैं कि शनि की सतह सम्पूर्ण रात्रिभर प्रकाश में रहती है। सूर्य शनि से भी कुछ आगे बढ गया है, उसने तीन की जगह दस-बारह छल्लों से सन्तोष नहीं किया अपितु एक चमकती हुई साडी से अपना सम्पूर्ण देह ढक लिया है। यह प्रकाश का आन्तरिक फैलाव केवल इस एक मंत्र से ही प्रतिपादित नहीं होता है, परन्तु अन्य भी मंत्र मिलते हैं।

इसी अध्याय के उपरोक्त मंत्र से आगे एक मंत्र छोड कर अगला मंत्र है।

विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयत्।×

मंत्रार्थ- इस सूर्यने (विराड्ज्योतिः) विराट् नामक ज्योति (विविधासु राजते) जो विविध-नाना पृथिवियों, दस पृथिवियों+में चमकती है (अधारयत्) धारण की हुई है। (स्वराड्ज्योतिः) स्वराट् नामक ज्योति (स्वस्मिन् राजते) जो अपने अन्दर चमकती है-(अधारयत्) धारण की हुई है। इससे स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि सूर्य

✿ सूर्ये रुचः आतन्वन्ति। (यजुर्वेद १३।२२)

✾ संस्कृत रत्नाकर-वेदांक (चैत्र १९९३) पृ० १३९ इसी लेखक को लेख देखिये।

× यजुर्वेद १३-२४.

+ 'वैदिक ज्योतिर्विज्ञान' शीर्षक लेख (मेरा ही लिखा हुआ) 'आर्य' लाहौर का मासिक, पृ. ४६५।६६ (फाल्गुन १९९२)

दो प्रकार की ज्योति धारण करता है, एक तो वह जो 'विराड्' है, जो हमें प्राप्त हो रही है और दूसरी वह स्वराट् जो उसी के आन्तरिक भाग को प्रकाशित करती है।

यदि इन दोनों मंत्रों को मिलाकर विचार करें तो यह भी मालूम होता है कि स्वराड् ज्योति विराट् ज्योति से ज्यादा उत्कृष्ट है। उसमें प्रजननशक्ति की मात्रा ज्यादा है। क्योंकि प्रथम मन्त्र में 'विराट् ज्योति' को पानेवाले हम पृथिविस्थ मनुष्य उस सूर्य की स्वराट् ज्योति के लिये प्रार्थना करते हैं। वहां स्पष्ट लिखा है– नः ताभिः सर्वाभिः जनाय रुचे कृधि। हे भगवन् ! तूं हमें भी इस योग्य बना कि हम भी उन रश्मियों के द्वारा उस प्रजननशक्तिवाली रुक् को प्राप्त हो सकें।

और देखिये, वेदने इतने ही वर्णन से संतोष नहीं किया है। वेद इस से भी आगे सूर्यस्थ उस पिण्ड का भी वर्णन करता है, जिसका हमको कुछ भी ज्ञान नहीं है। हमारी दृष्टि में तो सूर्य का स्वरूप वही है, जो करोडों मील दूर से इस पृथिवीपर दिखलाई देता है। उसके अन्दर क्या है? उसकी रचना किस प्रकार की है? उसका स्वरूप कैसा है? इस का हमें केवल उतना ही ज्ञान है जितना उसके बहिर्भाग से ज्ञात हो सकता है।

वेद की दृष्टि में सूर्य में भी प्राणी हैं। हमारा भी ऐसा ही विचार है। आप कहेंगे इतने उष्ण सूर्य में शरीरधारी प्राणी कैसे जिन्दा रहता है? प्रश्न बहुत ही स्वाभाविक है, परन्तु यदि थोडीसी अक्लसे विचार किया जाये तो बडी आसानी से समझ में आ सकता है कि सूर्य में प्राणी कैसे जिन्दा रह सकते हैं।

हमारे वैदिक साहित्य में पांच तत्त्व× माने गये हैं, जिनमेंसे जल और पृथिवी अत्यन्त स्थूल हैं और वायु तथा आकाश अदृश्य एवं सूक्ष्म हैं। परन्तु इसमें दोनों के बीचमें होनेवाला तथा इनको मिलानेवाला अग्नि जैसा कि हमारा विचार है तथा प्रत्यक्ष है, स्थूलभी है और सूक्ष्म भी है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये सब एकही श्रेणी के हैं। हां, इनके गुणोंमें अन्तर जरूर है। जिस प्रकार एक श्रेणीके दस विद्यार्थियों की परीक्षा लेनेके अनन्तर शेष दस विद्यार्थी कितने पानीमें हैं आसानीसे जाना जा सकता है, ठीक इसी प्रकार इन तत्त्वों के सम्बन्ध में भी हम विचार कर सकते हैं।

पृथिवी तथा जल सूक्ष्म न होने के कारण दृष्टिगोचर होते हैं। जलीय तथा पार्थिव प्राणी भी हम देख सकते हैं। उनका निरीक्षण भी कर सकते हैं। इस निरीक्षण से हम निम्न दो परिणाम आसानी से निकाल सकते हैं।

१. जो कृमि जिन परिस्थितियों में रहता है, वह उसके गुण सीख जाता है। वह तद्गुणी हो जाता है। एक कीडा हरी पत्तियोंमें रहता है इसलिए वह हरा हो जाता है, जो कीडा पीले फूलमें रहता है, उसका रंग पीला हो जाता है। एकाएक हम उन कृमियों को उन वस्तुओं में आसानी से देख भी नहीं सकते। यहां तक कि एक कृमि होता है वह दूसरे कृमियोंके अण्डों के सामने अपने शब्दमात्र से उसको अपने जैसा बना लेता है। जलीय कीडे जिनकी लम्बाई आधा-आधा इंच होती है, एकदम दृष्टिगोचर नहीं होते। जब प्रकृति के इतने उदाहरण इस बात के मिलते हैं कि परिस्थितियोंके अनुसार कृमियोंके शरीरोंमें अन्तर होता है, तब सूर्यमें अपने जैसे पार्थिव प्राणियों की कल्पना करना निरी मूर्खता है। पृथिवी और जल अत्यन्त स्थूल होने से हमको इन प्राणियोंमें बहुत कुछ साम्य दिखलाई देता है, परन्तु हमारे और इनमें भी महान् अन्तर है। परन्तु अग्नि और हमारे बीच बहुत बडा अन्तर है। इसलिए हम

× तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १)

उस परिस्थिति में होनेवाली वस्तुविशेष की कल्पना ही नहीं कर सकते।

२. दूसरी बात जो हमारे निरीक्षण में आई है, वह यह कि हम पार्थिव प्राणी जलमें जीवित नहीं रह सकते। और ठीक इसी प्रकारसे जलीय प्राणी मछली आदि भूमिपर जीवित नहीं रह सकते। हां, यदि हम अभ्यास से अपनी जलीय शक्तियों का विकास कर सकें तो हम जल में ज्यादा देरतक जिन्दा रह सकते हैं। यही बात इस विचारकी पोषक है कि हमारी और जलीय प्राणियों की रचना में महान् अन्तर है। वे जलतत्त्वप्रधान हैं और हम पृथिवीतत्त्वप्रधान हैं। परन्तु दोनोंमें स्थूलता होने से हमें परस्पर साम्यता मालूम होती है और हम आपसमें व्यवहार कर सकते हैं। एक बडा अन्तर उनमें और हमारे में यह है कि जलीय प्राणी मछली आदि के मुखके ग्लैण्डस में एक इस प्रकारकी शक्ति होती है कि वे जलको फाड कर उसमें से आक्सीजन (Oxygen) ले सकते हैं। परन्तु हमारे ग्लैण्डस इसमें असमर्थ हैं। यदि ये दोनों बातें ध्यानमें आ गई हैं तो आपको यह समझनेमें कठिनाई नहीं होगी कि सूर्य में किस प्रकारसे प्राणी रह सकते हैं।

उपरोक्त विवेचनसे तो सूर्य के उपरी भागपर प्राणियोंका निवास हो सकता है। परन्तु वेद जो इतने ज्ञानपूर्ण ग्रन्थ हैं कि सदियोंतक गोता लगानेपर भी जिनके थाहको नहीं पा सकते, उनकी समझको हम आसानी से नहीं प्राप्त हो सकते।

सूर्य के अन्दर एक पिण्ड है, यह अद्भुत कल्पना है, परन्तु वेद इसीको स्वीकार करता है। अब हम आपको यह बतलायेंगे कि वेद उस अज्ञात सूर्यस्थ पिण्ड का कैसा वर्णन करता है। उस वर्णन के बाद संक्षेप में सूर्यस्थ प्राणी के स्वरूप का वर्णन कर इस लेखको हम समाप्त कर देंगे।

यजुर्वेद के इसी त्रयोदश अध्याय का मंत्र है, जिसमें सूर्यस्थ पिण्ड की सत्ता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वह मंत्रभाग इस प्रकार है।

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि। ×

मंत्रार्थ— (आदित्यं गर्भम्) सूर्यसम्बन्धी गर्भ को अथवा सूर्य के गर्भ को (पयसा) पयसे (समङ्ग्धि) युक्त करते हैं।

यहांपर हमारा मंत्रके अग्रिम भाग से कोई प्रयोजन न होने से उसको छोड दिया गया है। हमारा प्रयोजन तो मंत्र के इतने ही भाग से पूर्ण हो जाता है। हमने इस मंत्रके द्वारा केवल इतना बतलाना है कि सूर्य के अन्दर एक और पिण्ड विद्यमान है। वह इस मंत्रसे स्पष्ट ज्ञात है। इस पिण्ड की सत्ता वेद के अनेक स्थलों से ज्ञात होती है।

अब विचार यह करना है कि पय क्या चीज है। वैदिक भाषामें 'पय' वे सब पदार्थ हैं जो पान के योग्य हैं। जो पिया जा सकता है+उसको वेदमें पय कहा गया है।। सूर्यस्थ पिण्डमें जो 'पय' उपलब्ध होते हैं उनका क्या स्वरूप है, उनके क्या गुण हैं, यह विस्तार वेदका विषय नहीं है। यह हमारा विषय है, जिसे हमें अपनी बुद्धिके बल से प्राप्त करना चाहिए।

सूर्यस्थ पिण्डके सम्बन्ध में हम एक मंत्र का उल्लेख और करेंगे। उससे आपको और भी स्पष्ट हो जायेगा कि सूर्य में एक पिण्ड है और उसपर भी पृथिवी की तरहसे सृष्टि हो सकती है।

हमें इसके लिए किसी दूसरे वेद ❀ या इस वेदके किसी दूसरे अध्याय में जाने की जरूरत

× यजुर्वेद १३।५१

+ पीयते यत् तत् पयः। आप्यायन्ते वर्धन्ते जनाः येन तत् पयः। (प्रो० चन्द्रमणिकृत 'वेदार्थदीपक–निरुक्तभाष्य' पृ. ११३

❀ तुलना कीजिये– यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः। (अ० १०।७।४१ स्कम्भसूक्त)

नहीं है। यजुर्वेदके इसी त्रयोदश अध्याय का मंत्र है।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेः। ×

इससे पहले कि मैं मंत्र पर अपने विचार प्रकट करूं, यह बतला देना उचित समझता हूं कि इस मंत्र का व उपरोक्त मंत्रभाग (आदित्यं गर्भम्०) का देवता सूर्य है। इसलिये यह स्पष्ट है कि यह वर्णन सूर्य के विषयका है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है-

(अग्नेः) सूर्य के (मध्ये) मध्य में (वेतसः) + वस्त्र पहने हुए या * एक चलता हुआ आभूषण पहने हुए (हिरण्ययः) अग्नि का विकार सूर्यस्थ पिण्ड स्थित है। इस कारण सूर्यमें या उस पिण्डमें (सरितः) नदियें (सम्यक्) अच्छी प्रकार से (स्रवन्ति) बहती हैं।(अन्तर्हृदा) सच्चे हृदयसे और (मनसा) मनसे (पूयमानाः) पवित्र की हुई (धेनाः❀)वाणिमें भी (सम्यक्)शुद्ध रूपमें (स्रवन्ति) बहती हैं बोली जाती हैं। अथवा (न स्रवन्ति-❀ अनुस्रवन्ति) बिलकुल शुद्ध रूपमें बोली जाती हैं। अथवा (न ≡ इति समुच्चयार्थे) और (घृतस्य धाराः) घृतकी धाराओं को (अभिचाकशीमि) उपभोग करते हैं।

आप खुद ही प्रत्यक्ष करेंगे कि इस मंत्र में जो कुछ प्रकट किया गया है, उसको और बुद्धि का दीपक दिखाने की आवश्यकता नहीं।

इस मंत्र में सबसे प्रथम बात यह बतलाई है कि इस सूर्यके अन्दर इसी सूर्य का विकारभूत एक पिण्ड● है, जिसने अपने आपको एक वस्त्रके द्वारा ढक रक्खा है, केवल वस्त्र ही नहीं, परन्तु आभूषणोंसे अलंकृत कर रक्खा है।

दूसरी बात यह बतलाई है कि उस में नदियें बहती हैं, घृतकी धारायें बहती हैं। घृतसे तात्पर्य सम्पूर्ण खानपान के पदार्थ, पोषक पदार्थ, जिनकी शरीर धारण करनेके लिए आवश्यकता होती हैं। वे किस प्रकार के हैं, कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप क्या हैं, यह जानना मनुष्य का कार्य है।

तीसरी बात यहां यह बतलाई है कि वहां के निवासी बिलकुल शुद्ध वाणी का उपयोग करते हैं। "अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः धेनाः सम्यक् न अनु"। इतने विशेषण लगाने की आवश्यक इस बातको स्पष्ट बतलाती है, उनका ज्ञान स्पष्ट व शुद्ध है।

शंका हो सकती है कि इतनी गर्मी में रहनेवाले प्राणियों को सदैव Delirium रहता होगा। इसी शंका के निवारणार्थ भगवान् को इतने विशेषण लगाने पडे। उनका शब्द हृदयसे निकलता है(From the bottom of the heart), वह मनन किया हुआ होता है, फिर वह समय के अनुकूल होता है, अर्थात् उनका उच्चारण बुद्धिपूर्वक व विचारपूर्ण होता है। ऐसे प्राणियों की विद्वत्ता की जरा कल्पना कीजिये।

× यजुर्वेद १३।३८

+ वेञ्-तन्तुसन्ताने+तुत्+असुच्=वस्त्र।

* वेञ्+तसु अलंकरणे+क्विप्, वी गतौ+तसु अलंकरणे+अच्।

❀ प्रो० चन्द्रमणि कृत वेदार्थदीपक निरुक्त भाष्य पृ.

❀ यास्ककृत निरुक्तटीका-नैगम काण्ड ६।३४

≡ प्रो० चन्द्रमणिकृत वेदार्थदीपक निरुक्त भाष्य पृ. २७५

● हम यह फिर स्पष्ट कर देते हैं कि पिण्ड से हमारा तात्पर्य बिल्कुल इस पृथिवी की तरह से एक दम ठोस पिण्ड से नहीं है, परन्तु एक 'पदार्थ' से है।

*

इतने वर्णन के बाद हमारा विचार है कि आप भी वेद के इस सिद्धान्त से सहमत होंगे। और उपरोक्त वेद का सूर्यविषयक सिद्धान्त हमारे साथ साथ आप भी स्वीकार करेंगे।

अन्त में, सूर्यस्थ प्राणि के सम्बन्ध में बिना वेदको उद्धृत किये संक्षेप में, कि वह किस प्रकार का होना चाहिये, वर्णन कर इस लेख को समाप्त कर देंगे।

परमात्मा की इस सृष्टि में मनुष्य इस पार्थिव संसार पर अन्य प्राणियों को देखकर यह अभिमान करता है कि शायद वही संसार में सर्वश्रेष्ठ आत्मा है। और इसी अभिमान के कारण आज हम अनेक बातों से दूर हैं।

आज संसार में कई ऐसी घटनायें हैं जिन पर हम इसलिये विश्वास करते हैं, क्योंकि हम उन्हें प्रत्यक्ष पाते हैं। उदाहरण के लिये यह एकदम कल्पना में नहीं आता कि शरद् ऋतु में बर्फीली पहाडी में भी प्राणी रहते होंगें। यह विचार बडा कठिन है कि इतने नीचे ऋण-तापमान में भी प्राणी जिन्दा रहता है, परन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं, इस लिये हमें उपरोक्त बात मानने में कोई असुविधा नहीं होती। यदि उपरोक्त दोनों निरीक्षणों के साथ यह तीसरी बात भी ख्याल रक्खी जाये तो आपको विश्वास हो जायेगा कि सूर्य में कैसे प्राणी जिन्दा रह सकते हैं।

सूर्यस्थ प्राणियों के देह पार्थिव या जलीय नहीं है, उनके देहों में अग्नितत्त्व है। उनके शरीर आग्नेय हैं, इस कारण से उनके लिये थर्मामीटर की १०८ डिग्री कुछ भी नहीं है। वहां की प्राकृतिक वस्तुओंमें तथा हमारी प्राकृतिक वस्तुओं में महान् अन्तर है। वहां की वस्तुएं उतने ही ऊंचे तापमान में पैदा होती हैं, इसलिये यह तापमान तो उनके लिये साधारण तापमान है।

वास्तव में यह सर्दी गर्मी सापेक्ष है। जिस सर्दी में हम भारतवासी कांपने लगते हैं, अकड जाते हैं, उस सर्दी में साइबेरियानिवासियों को भारतवर्ष में आने पर गर्मी लगती है। इसलिये ऐसे प्रश्नों का तो कहीं आधार ही नहीं है। और यदि यह बात समझ में आ गई तो फिर सूर्य में सृष्टि की उत्पत्ति में और कोई कठिनाई ही नहीं है। वास्तव में हम पार्थिव प्राणी उन बातों को नहीं सोच सकते जो उस परम प्रभु भगवान् की अपूर्व मेधा में है। एक तो हम सोच नहीं सकते, और दूसरे उस परम मेधावीका तिरस्कार करना। इस अभिमान में यदि आप समझते हैं कि आपको सृष्टिकर्ता भगवान् की लीलायें समझ में आ जावें नितान्त असम्भव है। यदि उन लीलाओं को समझना है तो उसका एकही उपाय है और वह यह है कि अभिमानको छोडकर, ऋषियों की तरह से भगवान् के चरणों में अपने आपको अर्पित करना। कालीदास ने ठीक ही कहा है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।

अर्थात् विद्या से विनय प्राप्त होती है। जिसको सच्ची विद्या प्राप्त हो गई है, वह विनयशील होता है, घमण्ड उससे दूर रहता है और उस घमण्ड के दूर होने पर ही, विनय के प्राप्त होने के अनन्तर ही, विद्या की पात्रता उत्पन्न होती है, अर्थात् मनुष्य उस विद्या को जमा करने के लिये पात्र होता है। उत्तम मेधाशक्ति प्राप्त होती है।

इस बीसवीं सदी के विद्वानो! कालीदास की इस पंक्ति को याद कर, अभिमान को दूर कर उस परम प्रभु विद्यावारिधि भगवान् के चरणोंकी सेवा करोगे तो विद्याके अपूर्व फल तुरन्त मिल जायेंगे और संसार का कलह शान्त हो जायेगा। यही एक सांसारिक शान्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं हैं, जिसमें मानव जातिका कल्याण हो सके।

अंक १

वेदमें
भगवान् की भक्ति के विभिन्न प्रकार ।

(लेखिका- श्रीमती सुशीलादेवी त्रिवेदी, विद्यालंकृता । गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगढ़-काठियावाड)

मानव जातिकी अनादि कालसे एकही पुकार है कि यह जीवन क्या है? यह संसार क्या है? इस जीवनका चरम लक्ष्य क्या है ? इस जगत्का अन्तिम ध्येय क्या है? भिन्न भिन्न देश तथा भिन्न भिन्न कालमें मनोभूमिका के भेदसे मानवजातिने अपने चरम लक्ष्यको भिन्न भिन्न नामों तथा रूपोंमें कल्पित किया है। प्रत्येक मनुष्यकी रुचि, भावना, कल्पना तथा शक्तियां विलक्षण हुआ करती हैं। इसलिये अन्तिम लक्ष्य एक होनेपर भी उसके मार्ग भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं। "भिन्नरुचिर्हि लोकः" "रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" इत्यादि सूक्तियाँ इसी तात्त्विक सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रही हैं। मनुष्यको आंख, कान, नाक आदि भौतिक, प्राकृतिक साधनोंसे ही संसारमें व्यवहार करने होते हैं। इसलिये संसारके अमूर्त चरम तत्वके संबन्धमें भी मानव-कल्पनायें लौकिक एवं प्राकृतिक सीमाओंमें सीमित हुआ करती हैं, "जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखि तिन तैसी।" भगवान् कृष्णने गीतामें ठीक ही कहा है, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहं। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" समस्त प्राणी भिन्न भिन्न मार्गोंसे भगवान्की ही उपासना कर रहे हैं। मानवसमाज की चित्त-नदियाँ भिन्न भिन्न मार्गोंसे भगवत् भक्तिके अर्णवमें ही गिरा करती हैं। सामान्य लौकिक व्यवहारमें भी कहा जाता है "अधिकारिभेदात् धर्मभेदः" हर एकके लिये एक ही रास्ता नहीं होता है। यही कारण है कि संसारके अन्तिम प्राप्तव्यस्थान सौन्दर्यनिधान-प्रेमनिधान भगवान्के साथ तादात्म्यको अनुभव करती हुई-प्रियतम प्रभुके विरहानलसे दुःखी होती हुई मानव आत्माओंने भिन्न भिन्न लौकिक स्वरूपोंमें भगवान्को स्मरण किया है। कहीं प्रकृति के भव्य-सुन्दर स्वरूपोंमें, कहीं प्रकृतिकी भीषण शक्तियोंमें, कहीं राजा, गुरु तथा स्वामी के रूपमें, कहीं कहीं पिता-माता-मित्र तथा प्रियतम पतिके रूपमें-क्या क्या कहें-मानवसमाज जिन लौकिक संबन्धोंमें बन्धा हुआ है उन सब सम्बन्धमें भगवान्को पुकारा गया है।

असभ्य, अज्ञानी मनुष्यसमाज, उषा तथा सन्ध्या की लालिमा, चन्द्रमाकी शीतल—धवल चन्द्रिका, समुद्र एवं आकाशकी विशालता आदि प्रकृतिके भव्य दृश्योंको, पक्षियोंके मधुर कलरवको देखकर तथा भूकम्पकी विकरालता, प्रबल आंधीका क्रोध, उल्कापातोंकी प्रचण्डता, जलप्लावनोंकी भीषणता आदि प्रकृतिके रुद्र स्वरूपको निहार कर भगवान्की अतुल शक्तिको शिव-रुद्र स्वरूपोंमें ही सीमित समझा करता है। परन्तु सभ्यताके विकासके समयोंमें जिस समय मनुष्यसमाज कौटुम्बिक भावना, सामाजिक भावना तथा राष्ट्र-भावनाके सूत्रमें बन्धता जाता है, उस समय भिन्न भिन्न विकसित स्वरूपोंमें परमात्म-शक्तिके प्रति अपना तादात्म्य अनुभव करने लगता है। संघटित नियमित समाजकी भावना शासक-शास्य, राजा-प्रजा के द्वन्द्वको मानकर उत्पन्न हुई है। अतः संभवतः सबसे प्रथम राजा और प्रजाके स्वरूपमें ही मानवसमाज भगवान् के साथ

सम्बन्ध अनुभव किया करता है। मानवसमाजके सामने "राजा"के लौकिक स्वरूपसे बढकर कोई अन्य उच्च कल्पना न होनेसे-प्रारम्भमें राजाके ही रूपमें अलौकिक सत्ताको देखा जाता है। कहीं कहीं तो इस स्वरूप पर इतना जोर दिया गया है कि लौकिक राजाको ही प्रभु समझा जाता है। परमात्माको राजा तथा अपनेको परमात्माकी प्रजा माननेसे समाजमें न्यायकी रक्षा स्वार्थ एवं परार्थका समतुलन बना रहता है। यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें परमात्माको इन्द्र, सोम, वरुण, राजा आदि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें स्मरण किया गया है।

(क) राजा (वरुण, इन्द्र, सोम)के रूपमें भगवत्स्मरण।

(१) शतं ते राजन्भिषजः सहस्रम्,
उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः
कृतं चिद् एनः प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥
(ऋ० १।२४।९)

अर्थ- हे राजन्! आपके पास दुःखोंकी निवृत्तिके उपाय सैंकडो और हजारों हैं। आपके पास विस्तृत और गहरी श्रेष्ठ बुद्धि है। पापमें प्रवृत्त करनेवाली दुर्मतिको हमसे परे ले जाकर दूर देशमें फेंक और किया हुआ पाप हमसे छुडाओ।

(२) अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा
नक्तं ददृश्रे कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि
विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥
(ऋ० १।२४।१०)

अर्थ- ये जो नक्षत्र (तारे) ऊंचे द्युलोकमें अपनी अपनी मर्यादाके भीतर रखे हुए रात्रिमें दिखाई देते हैं, वे दिनमें कहां गये? (कहीं नहीं गये)। ये अटूट राजा वरुणके कर्म (नियम) हैं कि रात्रिमें नक्षत्रों सहित चन्द्रमा प्रकाशता हुआ देखनेमें आता है, और दिनमें केवल सूर्य।

(३) नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः॥ (ऋ० १।२५।१०)

अर्थ- वह दृढ नियमोंवाला और अच्छे कर्मोंवाला वरुण अपनी प्रजाओंमें साम्राज्यके लिये (अपने साम्राज्यकी सुव्यवस्थाके लिये) सब ओरसे सावधान हुआ बैठा है।

(४) त्वम् अग्ने राजा वरुणः धृतव्रतः
त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वम् अर्यमा सत्पतिः यस्य सम्भुजं
त्वम् अंशो विदथे देव! भाजयुः॥
(ऋ० २।१।४)

अर्थ— हे अग्नि! तू दृढव्रतों (सृष्टिनियमों) वाला राजा वरुण है। तू दुष्टोंको दण्ड देनेवाला स्तुतिके योग्य मित्र है। तू श्रेष्ठोंका पालक अर्यमा है, जिसका दिया हुआ धन भोगके लिये अच्छा होता है। हे देव! तू यज्ञमें फलका देनेवाला अंश (अन्तर्यामी) है।

(५) त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर।
ये च मर्ताः। शतं नो रास्व शरदो विचक्षे
अश्याम आयूंषि सुधितानि पूर्वा॥
(ऋ. २।२७।१०)

अर्थ- हे वरुण! (दुखोंके निवारक वरणीय ईश्वर!) प्राणदाता! तू उन सबका राजा है जो देवता हैं, और जो मनुष्य हैं। हमको देखनेके लिये [देखने सुनने आदिके लिये] सौ बरस [सौ बरसका जीवन] दें, हम जाति और देशके हितवाली मुख्य (श्रेष्ठ] आयुओंको भोगें।

(६) मो षु वरुण मृन्मयं, गृहं राजन् अहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय (ऋ. ७।८९।१)

अर्थ- हे दुःखोंको निवारण करनेवाले! हे विश्वके राजा! सुंदर होने पर भी तेरे मार्ग पर न

चलनेवाले पार्थिव शरीरको मैं न प्राप्त होऊं । हे उत्तम क्षत्रिय ! मुझपर कृपा कर, और मुझे अपने मार्गपर चलाकर सुखी कर ।

(७) यत् किं च इदं वरुण दैव्ये जने अभिद्रोहं मनुष्याः चरामसि । अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा नः तस्माद् एनसो देव रीरिषः॥
(ऋ० ७।८९।५)

अर्थ- हे वरुण ! तुझ देव सम्बन्धी जन (विद्वान् अथवा अतिथि) के विषयमें जो कुछ भी यह (अपमान आदिरूप) पापकर्म हमने मनुष्य होकर किया है और जो अपनी अज्ञानतासे आज्ञा किये दान आदि कर्मोंका पालन नहीं किया है, हे सर्वत्र अंतर्यामी रूपसे द्योतमान ! उस पापकर्मसे हमको मत नष्ट करना ।

(८) त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशाम् असि ॥
(ऋ. ८।९५।३)

अर्थ- तू ही इन सनातनी प्रजाओंका पालक और राजा है ॥

(९) इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ (यजु० ३६।८)
अर्थ- इन्द्र सबका राजा है ।

(१०) इन्द्रो राजा जगतः चर्षणीनाम् ॥(ऋ.७।२७।३)
अर्थ- इन्द्र जगत्का और सब प्रजाओंका राजा है ।

(११) पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ (ऋ० ६।३६।४)

संसारका अनुपम पति है-भुवनोंका राजा है ।

(१२) त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः । न रिष्येत त्वावतः सखा ॥
(ऋ. १।९१।८)

हे सोम ! हे राजा ! हे असली राजन् ! तूं हमें पाप चाहनेवालोंसे सर्वतः बचा । तेरे जैसे से मित्रता करनेवाला कभी नष्ट नहीं होता ।

(१३) यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि । अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा न तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥
(ऋ० ७।८९।५ ॥ अथर्व० ६. ५१. ३)

अर्थ-(वरुण) हे वरुण ! (मनुष्याः) हम मनुष्य (दैव्ये जने) तुझ दिव्य जनमें (इदं यत्किंच अभिद्रोहं) यह जो कुछ द्रोह (चरामसि) किया करते हैं और (अचित्तीः) अज्ञान और असावधानतासे (यत् तव धर्मा युयोपिम) जो तेरे धर्मोंका लोप किया करते हैं (देव) हे देव ! (तस्मात् एनसः) उस पापके कारण (नः मा रीरिषः) हमारा नाश मत करो ।

(१४) बह्विदं राजन् वरुण अनृतमाह पूरुषः । तस्मात् सहस्रवीर्य मुंच नः पर्यंहसः ॥
(अ. १९।४४।८)

(वरुण) हे पापनिवारक । (राजन्) हे सच्चे राजा ! (पूरुषः) मनुष्य (इदं) यह [तुच्छ तुच्छ] (बहु) बहुत (अनृतं) झूठ (आह) बोलता है, (तस्मात्) उस (अंहसः) पापसे, (सहस्रवीर्य) हे अपरिमित वीर्यवाले ! तू (नः) हमें (परिमुंच) सब तरफसे मुक्त कर दें ।

(१५)अव यत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे । राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥
(ऋ० ८, ७९,९)

(राजन्) सच्चे राजन् सोम! तुम (यत्) जब (स्वे) अपने (सधस्थे) इस सह स्थानमें (देवानां) देवोंकी (दुर्मतीः) दुर्मतियोंको, विपरीत भावोंको (ईक्षे) देखो, तो (मीढ्वः) हे सिंचन करनेवाले ! तुम (द्विषः) द्वेषोंको (अपसेध) दूर कर दो । और (स्रिधः) हिंसावृत्तियोंको (अपसेध) दूर कर दो ।

(१६) उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय । अथा वयमादित्य व्रते तव अनागसो अदितये स्याम । (ऋ०१-२४-१५)

हे पापवारक देव! तूं हमारे उत्तम बन्धनको ऊपरकी तरफ— मध्यम को बीचमें, अधमको नीचेकी तरफ ढीला कर दे, जिससे हे प्रकाशमय

बन्धनरहित देव ! हम तेरे व्रतमें रहते हुए निष्पाप होकर मुक्ति के योग्य हों।

उपरिलिखित वेदमंत्रोंमें वरुण, सोम, इन्द्र तथा राजाके रूपमें परमात्माको संबोधित करके भक्तने पापमोचनके लिये आत्मनिवेदन किया है- अघमर्षण (Confession) पापस्वीकार ही राजारूपी भगवान्‌के दरबार में दण्ड है। "वरुण" राजा 'धृतव्रत" है। जिस समय हम राजाके धृतव्रत स्वरूपका स्मरण करते हैं, उस समय हम व्रतमंत्ररूप पापसे बचने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार नियमको भंग करनेवाली प्रजाको दंड देकर सत्यासत्यमें सत्यका पक्ष लेकर राजा न्याय किया करता है। ठीक परमात्मा (वरुण) दण्डधर होकर नियमोंका पालन करता है तथा न्यायकी रक्षा करता है। मनुष्यसमाज राजाके रूपमें भी परमेश्वरका चिन्तन करके प्राकृतिक नियमों तथा धर्मका पालन करे, तो सचमुच कल्याणमार्ग की ओर अग्रेसर हो सकता है।

राजा अपने न्याय दंड तथा सामर्थ्यके लिये प्रसिद्ध है। विविध-वृत्तिवाले अनेक प्रजाजनों के साथ व्यवहार करनेके कारण "राजा" कठोर दंड तथा उग्र न्यायका ही प्रतिनिधिभूत होता है। व्यापक मानवसमाज को गुणकर्मस्वभावानुसार व्यवस्थित बनाने तथा न्यायकी रक्षाके लिये राजाको निष्करुण न्याय दंड तथा नियमोंका सहारा लेना पडता है, जो सर्वमान्य तथा सबके लिये समान हो। इस अवस्थामें दयार्द्र प्रेमको स्थान नहीं। कठोर नियम और न्यायके सिवाय राजाके पास और कोई साधन नहीं। परन्तु निष्करुण न्याय तथा, नियम अपराधी तथा निरपराधी दोनोंके लिये समान हैं- इस लिये अनेक अवस्थामें जहाँ करुणासे- दयासे- क्षमासे भली भाँति कार्य सिद्ध हो सकता है, वहाँ निष्करुण न्याय मूक रह जाता है। विश्वचक्र में परिभ्रमण करनेवाला मानवी पापपुण्यों की तरंगोंसे अछूता तो रह नहीं सकता है। परंतु साथ ही वह उस न्यायको चाहता है जिस न्यायमें दया और क्षमाका पुट लगा हुवा हो। ऐसा न्याय राजसत्ताकी अपेक्षा सीमित क्षेत्रवाली कुटुम्ब-सत्तामें देखा जाता है। कुटुंबमें पितामाता न्याय तथा दयाके प्रतिनिधि होते हैं। अतः प्रायः सर्वत्र संसारके नियामक को वसुधारूपी कुटुम्बमें पिता तथा माताके रूपमें देखा गया है।

(ख) पितामाताके रूपमें भगवत्-स्मरण तथा भक्तिका "वात्सल्य-रूप"

सांसारिक पिता तथा माता पुत्रोंके लिये न्याय, प्रेम, दया तथा करुणाकी वृष्टि करते हुवे भी भिन्न भिन्न सत्ता रखते हैं। परन्तु भक्त अपने भगवान्‌को एक साथ राजा, पिता, भक्त, मित्र, पतिके रूपमें भी देखा करता है। जहाँ राजाका कठोर दंड भयभीत करता है वहाँ माबाप की प्रेममयी आँखें भक्त—बालक पर दयाकी वृष्टि कर रही होती हैं। वैदिक साहित्यमें इस विषयमें निम्न मंत्र द्रष्टव्य हैं।

(१) त्वं हि नः पिता वसो। त्वं माता शतक्रतो। बभूविथ। अधा ते सुम्नम् ईमहे॥
(ऋ० ८।८७।११)

अर्थ— हे सबके बसानेवाले। तू ही हमारा पिता है। हे अनन्त ज्ञान कर्मवाले। तूही हमारी माता है। अब हम आपका सुख मांगते है।

(२) स नः पिता इव सूनवे अग्ने। सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥
(ऋ. १।१।९)

अर्थ— वह तू हे जगद्गुरु ! पुत्रको पिताकी नाईं हमको अच्छी तरह (प्यारपूर्वक) मिलनेवाला हो और हमारे सुखके लिये हमसे मिल।

(३) त्वम् अग्ने प्रमतिः, त्वं पितासि नः, त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्। सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणं सुवीरं यन्ति व्रतपाम् अदाभ्यः॥ (ऋ.१।३१।१)

अर्थ-हे जगद्गुरु ! तू श्रेष्ठमति (ऊंची शिक्षा) देनेवाला है, तू हमारा सच्चा पिता है, तू हमारा जीवन बनानेवाला है, हम सब तेरे (आपके) बन्धु (पुत्र) हैं। तुझे सैकडों धन प्राप्त हैं। हे किसीसे न दबनेवाले ! तुझ नियमोंके पालक उत्तम वीरको हजारों धन प्राप्त हैं।

(४) इन्द्र ! क्रतुं नः आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवाः
ज्योतिः अशीमहि ॥
(ऋ० ७.३२.२६)

अर्थ-हे इन्द्र हमको ज्ञान दे जैसे पुत्रोंको पित देता है। हे बहुतोंसे बुलाये गये ! हमको इस अन्धकारमय संसारमें श्रेष्ठ बुद्धि दे, जिससे जीवनवाले हुए हम प्रकाशको प्राप्त होवें।

(५) पितेव पुत्रं अविभ्रः उपस्थे ॥
(ऋ.१०.३९.१०)

अर्थ— जैसे पिता पुत्रको, वैसे हमको अपनी गोदमें रख।

पिता इव पुत्रान् अभि सं स्वजस्व ।
(अथर्व० १२।३।१२)

अर्थ— जैसे पिता पुत्रोंको वैसे हमको गले लगा।

(६)अग्निं मन्ये पितरमग्निमापि अग्निं भ्रातरं
सदमित्सखायम् । (ऋ० १०।७।३)

अर्थ-प्रकाशस्वरूप प्रभुको मैं पिता समझता हूं। आप्त संबंधी भाई तथा सदाही मित्र मानता हूं।

गीतामें कहा गया है–

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम् ।
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः ।
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
(गीता ११।४४)

(७) त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता
सदमिन् मानुषाणाम् (ऋ. ६।१।५)

हे दुःख-सागरसे पार तरानेवाले! तू संश्रय-रक्षक हो, तू तो सदाही मनुष्योंका माबाप है।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः । (गी० ११।४३)
वायुर्यमोऽग्निः वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः ।
पुनश्च भूयऽपि नमो नमस्ते॥ (गी० ११-३९)
पिताऽहमस्य जगतो माता माता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रं ओंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥
(गी० ९।१७)

उपर्युक्त मंत्रोंमें तथा गीतोक्त श्लोकोंमें परमात्माको मुख्यतः पिता तथा माता दोनों ही रूपमें कहीं कहीं एक साथ तथा कहीं स्वतंत्र रूपसे भी पुकारा गया है।

उपर्युक्त श्लोकोंके अनुसार गीताके विश्वरूप-दर्शन-योगमें नारायणका स्वरूप पिता-माता-पितामह तथा सखादिके रूपमें भलीभाँति प्रदर्शित किया गया है।

भक्त कवि तुलसीदास एक जगह लिखते हैं कि–
ब्रह्म तूं हौं जीव, तूं ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितू मेरो।
प्रतापहरिने लिखा है–
पितु मातु सहाय्यक स्वामी सखा
तुमही इकनाथ हमारे हौ।
गुरु नानक भक्तिभावमें आकर पुकार उठे हैं–
"तुम मात पिता हम बालक तेरे
तुमरि कृपा ते सुख घनेरे।

प्रायः समस्त धर्मोंके साहित्यमें परमात्माको पितामाताके रूपमें याद किया गया है। प्राचीन यहुदी धर्ममें जिहोवाका स्वरूप निष्करुण न्याय-वाले राजाका है। परन्तु वही परवर्ती ईसाईयतमें

आकर प्रेम, दया तथा करुणाकी मूर्तिके रूपमें प्रकट हुवा है। परमात्माको राजाकी जगह पिता तथा माताके स्वरूपमें स्मरण करनेका अधिकारी भक्त वह है, जिसकी मनोभूमिका आज्ञापालनकी पराधीनता की जगह क्षमा-याचना की सरलता-निर्दोषता तथा निष्कपटताकी कोटिमें पहुँच गई है। माबापकी गोदमें बैठा बालक अपनी सरल मुग्ध भाव-भंगी द्वारा करुणा की दृष्टिमें छिपी क्षमायाचनासे ही पाप स्वीकार कर शुद्ध पवित्र हो जाता है। संसारमें निःस्वार्थ प्रेमकी पराकाष्ठा मातृहृदयमें देखी गई है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च
सखा त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

प्रभु सचमुच हम बालकोंकी माता है- परन्तु वह तभीतक माता है जबतक हम उसके समक्ष पूर्ण निर्दोष-सरल-भावसे उपस्थित होकर क्षमा मांगते निर्निमेष दृष्टिसे बांधे खडे हैं। वेदमें भगवान्को 'अदिति-अदीना देवमाता,' कहा है। ब्राह्म धर्ममें भवानी-पार्वती-जगदम्बा आदि नाना रूपमें उसी मातृशक्तिकी अर्चना की है। वेदमें क्या ही सुन्दर कहा है!

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिं अम्ब!
नः कृधि ॥ (ऋ० २।४१।१६)

अर्थ- हे श्रेष्ठ माता! हे श्रेष्ठ नदी! हे श्रेष्ठ देवि! हे सरस्वति! हम आपके बिना अप्रशस्तों (साधारण मनुष्यों) के समान हैं। हे माता! हमको प्रशस्त कर।

रामकृष्ण परमहंसके चरित्रको देखनेसे प्रतीत होता है कि वे परमात्माको कालीमाताके रूपमें तथा अपनेको उसके सरल मुग्ध वत्सके रूपमें स्मरण करते मातः मातः की धुनमें मस्त होकर भाव-समाधि-मग्न हो जाया करते थे। कभी कभी तो माताके साथ प्रेमकलह को ठान बैठते थे- रूठ जाते थे, परंतु क्षणक्षण रहते तो माताकी गोदमें थे। इस प्रकारकी परमात्मामें तल्लीनता वात्सल्य-भक्तिका उदात्त स्वरूप कही जाती है। भारतीय भक्ति-साहित्यमें नवधा भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। वात्सल्यप्रेमरूपा भक्ति उसका एक अंग ही है। जगन्माताके रूपमें भगवान् की यह कितनी महती कृपा है कि कोटि कोटि खोटोंसे लदे हुवे मानवोंके लिये भी उसका हृदयकपाट हर समय खुला हुआ है। भक्त जब सन्मार्गको पकडना चाहे वह पकडकर माताके हृदयमें स्थान पा सकता है। मातापिताके रूपमें भगवान्का स्मरण मनुष्योंको निर्दोष, निर्मल, सरल बना सकता है। परन्तु न माबाप न बालक ही एक दूसरेके साथ हरएक विषयमें अपने हृदयको खोल सकते हैं। एक तो माबाप की आयु अधिक होनेसे उमरकी दूरी तथा उनका सदा ही हमारी सहायतामें प्रस्तुत न रह सकना, साथ ही क्षमा-याचनाके रूपसेही जीवात्मा को प्रभु-माता के सामने प्रकट होना ये दोनों विचार तादात्म्य की उच्चतम भूमिकाके चिह्न नहीं हैं। अतः मित्र सखाके रूपमें भगवान्का स्मरण साधकको भक्तिकी उच्चतर सीढी पर चढाता है।

वह प्रभु हमारा उत्पादक पिता और वह बन्धु है। वह सहस्र नाम, स्थान तथा लोकोंको जानता है—

(८) स नः पिता जनिता स उत बन्धुः धामानि
वेद भुवनानि विश्वा। (अ० २।१।३)

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखीभ्यः ईड्यः ॥ (ऋ० १।७५।४)

हे तेजोमय प्रभो! तू लोकोंका बन्धु, प्रिय मित्र प्रशस्त तथा प्रीतिकारियोंके लिये हितकारी है।

(९) सखा सख्या समिध्यसे। (ऋ० ८।४३।१४)
मित्र मित्रसे शोभता है।

(१०) य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वां आगांसि
कृणवत् सखा ते। मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्। (ऋ० ७।८८।

हे वरुण ! जो तेरा सनातन बन्धु है, वह तेरा साथी, तेरा प्यारा होता हुवा भी तेरे प्रति पाप किया करता है। हे यक्षदेव ! पापी होते हुवे हम तेरे दिये भोजन भोगें। एवं तुम सर्वज्ञ मुझ उपासकको अपनी शरण दे दो।

इन मन्त्रोंमें प्रभु को मित्ररूपमें याद करके जीव अपने दुर्गुणों से विमुक्त हो प्रभुके गुणों की उपासना से समकक्ष बनना चाहता है। आहा ! प्रभुका मित्र बनना कितना मधुर है ?

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।

वैष्णव सम्प्रदायमें कृष्ण तथा अर्जुनके नर एवं नारायण के रूपमें प्रेम के सख्य भक्तिका उदात्त स्वरूप कहा गया है। कृष्ण सुदामा तथा कृष्ण-उद्धव की भक्ति में भी यही सख्य-भाव चित्रित हुवा है। जिस समय भक्त की आध्यात्मिक भूमिका इतनी उच्च हो जाती है कि उसे अपने पापों के लिये क्षमा-याचना की जगह अपने भक्त-वात्सल्य से संकेत सलाह लेने की ही आवश्यकता रह जाती है- आसुरी सम्पत्ति का लोप तथा दैवी संपत्‌का दिव्य उदय हुवा होता है, उस समय सख्य-भाव प्रकट हुवा करता है। गीता के विश्वरूपदर्शनयोगमें भगवान् कृष्णको अर्जुनने-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ (गीता)
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ (गीता)

मित्रके रूपमें स्मरण करके आध्यात्मिक तादात्म्यके उच्च शिखर को प्रदर्शित किया है। इसी अवस्थामें भक्त की भक्ति-नदी इतनी वेगवती होती है, भक्त की वाणीमें इतनी समर्थ पुकार होती है कि भक्तवत्सलको विपत्ति के ही समय में आह्वान करनेपर भी आगे आगे आना पड़ता है। 'पाछे लागा हरि फिरे कहत कबीर कबीर' गंगा के निर्मल जल के समान मनके पवित्र-शुद्ध होनेपर अध्यात्म-प्रसाद किसी अपूर्व आह्लाद को पैदा करता है। वेदादि सच्छास्त्रोंमें जीव और शिव को अनादि प्रतिपादित किया है। अनेक अंशों में समकक्ष बताया गया है। एक उत्तर है तो द्वितीय उत्तम। 'उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमं' मंत्र में उत् उत्तर तथा उत्तम ये तीनों प्रकृति जीव तथा परमात्मा के स्वरूप ज्योतिके सत्, सत् चित् तथा सत् चित् आनन्दमय गुणोंके न्यूनाधिक्य के कारण नाम रक्खे गये हैं। वेद में मंत्र है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं
परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(ऋ० १।१६४।२०)

दो पक्षी (ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्तिके दांये बाँये पंखवाले जीवात्मा तथा परमात्मा) जो साथ बसनेवाले तथा मित्र हैं। एक वृक्ष (प्रकृति तथा शरीर) को आलिंगन किये हुवे हैं (स्वाभिभाव से पकडे हुवे) हैं। उनमें से एक (जीव) स्वादु (स्वादु अस्वादु) कर्मफलको खाता है और दूसरा (परमात्मा) न खाता हुवा प्रकाशित होता है- देखता है- मंत्र से स्पष्ट है कि जीव तथा शिवमें सख्य-सम्बन्ध है। शिव आनन्दघन है तो जीव सुखदुःख के भंवर में उलझा हुआ है। इस जाल से बचने के लिये जब जीव करुण पुकार दीन चीत्कार कर उठता है, तब 'जब भर सूंड रही जल उपर तब हरिनाम पुकार्यो' में प्रतिपादित रीति से भगवान् विपन्नावस्थ जीव का शरण रूप बन जाते हैं। अंग्रेजीमें उक्ति है- 'When pains are highest, Gods are highest Man's extremity is God's opportunity. संसारिक सम्बन्धोंमें भी देखा जाता है कि विपत्तियोंके समयोंमें जो सच्ची सहायता पहुंचता है, वह मित्र, बन्धु तथा सखा

*

कहा जाता है। A friend in need is a friend indeed ' एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्' के अनुसार प्रभुका ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन-शरण समझना-उसी उच्च कोटिके जीवके लिये उपयुक्त है जिसने सतत भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करके भगवान् के प्रेम तथा सहायता को प्राप्त करनेकी पात्रता प्राप्त की है। हम सब सांसारिक जीव प्रभुको मित्ररूपमें तब अनुभव कर सकते हैं, जब हम परमात्माके न्याय-दया-पवित्रता-निष्पापतादि गुणोंका अपने में इतना समावेश कर लें कि उसकी सहज कृपारूपी सहायता को पाकर तादात्म्य के अधिकारी बन सकें।

(घ) स्वामी के रूपमें भगवत्स्मरण तथा भक्ति का दासरूप ।

मित्र मित्र के सम्बन्ध में कभी कभी परस्पर उपेक्षा- अवहेलना-असत्कार का अर्थ दिखाई पड सकता है। मित्र रूपमें कृष्णका स्मरण करने के अनन्तर अर्जुनने इसी वास्ते क्षमा मांगी है।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत् समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
(गीता ११)

प्रायः संसार के समस्त धर्मोंने प्रभुको स्वामी-मालिक Lord-Masterके रूपमें स्मरण कर अपने को उसका दास-सेवक समझा है। भक्ति के इस स्वरूपको दास्य-भक्ति कह सकते हैं। प्रभुकी आज्ञा की छत्रछाया में रहते हुवे उनकी दैवी-प्रकृति की सर्वार्पणबुद्धि से सेवा-अर्चना करना, उत्कट वैराग्य, आदर्श-ब्रह्मचर्य तथा नित्यानित्य-वस्तुविवेक के आधार पर सदासर्वदा वैष्णवी महामाया के पक्ष के विजय के लिये ही सर्वतो भावेन प्रस्तुत रहना दास्य-भक्ति का उदात्त स्वरूप है। इसमें मानो अपना व्यक्तित्व भगवान् के महान् व्यक्तित्वमें समा जाता है-उनकी आज्ञा तथा इच्छा का पालन ही कर्तव्य बन जाता है-तब भगवान् की उपेक्षा तथा अवहेलनाका अवकाश ही कहां? हनुमान् सीता माता द्वारा दी गई माला के मणियों में रामका ही प्रतिबिम्ब, रामकी ही मूर्ति, राम की ही छाप देखना चाहते हैं। जहां रामकी छाप नहीं, वहीं हनुमान नहीं हैं। भक्ति के इस स्वरूपका अधिकारी जन्ममरण के अनादि विश्वचक्रको आह्लाद से स्वीकारता है। 'राजी हैं हम उसीमें तेरी सजा है।' मारकस ओरिलियस की विश्वात्माके प्रतिभावना का सादृश्य कुछ अंशोंमें दास्य-भक्तिके साथ किया जा सकता है। दास्य-भक्ति के उद्रेकमें 'दासोऽहम्' 'सो-हम्' के अभेद में परिणत हुवा देखा गया है। स्वस्वामी-भाव सम्बन्ध में भगवान् के चिन्तनसे भक्त जीव चिन्ताओंसे पूर्ण निश्चित हो जाता है। अपनी इच्छा, अपनी अभिलाषा एवं आकांक्षा, अपना व्यक्तित्व, अपनी मैं, सारांश में अपना सब कुछ स्वामी के चरणों में समर्पण करके भक्त दुःख विनिर्मुक्त हो जाता है। विश्व के भक्तिसाहित्यमें भगवान् को स्वामी के रूपमें स्मरण किया गया है। वेदमें भी लिखा है- 'दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः'। (अ० २।२।१)

वह प्रभु हमारा नमस्कारयोग्य स्वामी है।

गीतामें भी कहा है-

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(गीता)

योगदर्शन में लिखा है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' प्रभु सबका गुरु है, शासक मालिक है, हम उसके शिष्य हैं, सेवक हैं। गीतामें भी 'पितासि लोकस्य चराचरस्य। त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्' भगवान् को गुरु के रूपमें संबोधित किया गया है। गुरु-शिष्य-स्वामी-सेवक सम्बन्ध आत्मभाव भूल करके श्रेष्ठ की आज्ञा के पालन करनेमें है। भक्त गुरु नानक ने भगवान् को इस रूपमें याद किया है-

सकल समग्री तुमरे सूतरधारी तुमसे होय सो आज्ञाकारी। तुमरी गति मति तुम ही जानों नानक दास सदा कुरबानों ॥

भक्तिसाहित्य में इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं।

(ङ) भगवान् का पतिके रूपमें स्मरण तथा भक्तिका माधुर्य स्वरूप।

भिन्न भिन्न स्वामीसेवक के सम्बन्धों में पारस्परिक सहायताकी अपेक्षा हुआ करती है। भक्ति के सख्य तथा दास्य स्वरूपमें भक्त का भक्तवत्सल के प्रति आकर्षण सर्वथा निर्लिप्सित नहीं होता है। परन्तु संसार में ऐसे भी अनेक प्रेमविह्वल जीव हैं, जो केवल प्रेम और शुद्ध प्रेमके ही दिवाने होते हैं। जिसके अंग अंग से प्रेमरस छलक रहा होता है- न वे आत्मकल्याण ही चाहते हैं न उन्हें प्रभुकी दैवी आज्ञा के पालनकी ही इच्छा है। वे तो प्रेम के भूखें हैं। प्रेमी और प्रेमपात्र के रूपमें संसार को रंगा हुआ देखते हैं।

लाली मेरे लालकी जित देखो तितलाल।
लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल ॥

भक्ति का यह माधुर्य स्वरूप है। संसारका माधुर्य-मधुर रस प्रेम है, प्रेमकी पराकाष्ठा दाम्पत्य-धर्म है। पतिपत्नी तथा प्रिय-प्रिया का प्रेम इस लोक में भगवान् की दिव्य आभा है। भक्त अपने भक्तवत्सलको पति, नाथ, प्रिय, अंग के रूपमें अनुभव करता है। उस समय 'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमा व्याकुलता' प्रियके प्रति समस्त क्रियाकलापको समर्पण करनेके लिये उत्सुक होता है। प्रियतम पतिके स्मृतिमें भक्तका रोमरोम पुलकित हो उठता है। विरह भी-थोडासा विस्मरण भी भक्तको आकुलव्याकुल बना देता है। भक्ति का यही स्वरूप परम प्रेमरूप तथा अमृतस्वरूप है। इस अवस्थामें समस्त बाह्य शृंगार आध्यात्मिक सौन्दर्य में परिणत हुवा करता है। भक्त बिल्वमंगलके 'हस्तावुत्क्षिप्य निर्यासि बलात् कृष्ण किमद्भुतं हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते' के भक्त प्रणयवचन में भक्ति का माधुर्य भर रहा है। जगन्नाथ की भक्ति में पागल हुवे चैतन्य देव जिस समय केशोंको बिखेरकर प्रेमाश्रु से नाह रहे हैं, प्रेमविह्वल हुवे नाचते हैं और भावसमाधिमें मग्न हो जाते हैं। कभी प्रेमकलह, कभी रूठना कभी मनाना-भक्तिका यह स्वरूप कैसा अद्भुत है! इस अवस्था का भक्त भगवान् के साथ तादात्म्यको अनुभव करके प्रेमरसका आस्वादन किया करता है। इस आध्यात्मिक स्थितिके भक्तमें इतना गुणोत्कर्ष है कि अपने प्रेमाकर्षणसे प्रेमपात्र भगवान् को भी आकृष्ट किया करता है। पति तथा पत्नी के दो शरीर होते हुवे भी इतना अभेद होता है कि मानों दोनों की आत्मा एक ही हो। अर्जुनने कृष्ण के प्रति कहा है 'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्' पिता जैसे पुत्रकी, सखा जैसे सखा की भूलचूक सहारता है, हे देव! तू मेरा प्यारा मुझ प्यारेके लिये सहारनेयोग्य हैं। इसी प्रकार वेदमें भी भगवान् की अंग अंगिर, पति आदि अनेक रूपों में याद किया गया है।

(१) यद् अङ्ग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि।
तव एतत् सत्यम् अङ्गिरः॥ (ऋ० १।१।६)

अर्थ- हे प्यारे! हे जगद्गुरु! तू जो दान देनेवाले का कल्याण करता (लोकपरलोक सुधारता) है। हे सब के प्राण! वह तेरा ही सच्चा व्रत है।

(२) किम् अंग! त्वा मघवन्! भोजं आहुः, शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि। अप्नस्वती मम धीः अस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः॥
(ऋ० १०।४२।३)

अर्थ- हे प्यारे! क्या तुझे ही अन्नदाता कहते हैं? हे धनवान्! मुझे दे। मैं तुझे देनेवाला सुनता हूं। हे शक्तिवाले! मेरी बुद्धि कर्मवाली (कर्म-सिद्धान्त के माननेवाली) हो। हे इन्द्र! हमारे लिये अनेक धनों के लाभोंवाला ऐश्वर्य (राज्यैश्वर्य) का (हमें दे)।

(३) त्वम् राजा इन्द्र ! ये च देवा रक्षा नॄन् पाहि असुर त्वम् अस्मान्। त्वं सत्पतिः मघवा नः तरुत्रः त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।
(ऋ० १।१७४।१)

अर्थ- हे इन्द्र! तू राजा है उनका, जो मनुष्य हैं और जो देवता हैं। हे प्राणदाता! तूं स्त्री-पुरुषों की रक्षा कर, तूं हम सब की रक्षा कर। तूं सच्चा पति है, धनवान् है। हम सबको संसार-यात्रा-सागर से तारनेवाला (पार करनेवाला) है। तूं तीनों कालोंमें रहनेवाला, अपने सेवकोंको अपने देशमें स्वतंत्रतापूर्वक बसानेवाला और बलका देनेवाला है।

(४) अद्या अद्या श्वः श्वः, इन्द्र। त्रास्व परेचनः विश्वा च नो जरितॄन् सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः॥ (ऋ० ८।६१।१७)

अर्थ- हे इन्द्र! आजके दिन कलके दिन और अगले दिन हमारी रक्षा कर। और हे सज्जनों (श्रेष्ठ मनुष्यों) के पालक! हम स्तुति करनेवालों की सब दिन रक्षा कर, दिन और रात रक्षा कर।

उपर्युक्त वेदमंत्रोंमें प्रभुकी प्रियतम के रूपमें अंगोंके रस तथा आत्मस्वरूप तथा पति के रूपमें स्मरण करके भक्त उसके प्रेमको प्राप्त करना चाहता हैं। भक्त मीराने भगवान् को इसी रूपमें स्मरण किया है। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' 'प्रेम आंसु डारि डारि अमर बेलिबाई' 'मीरांके प्रभु गिरिधर नागर'। भक्त मीरां इसी माधुर्य-भक्तिका पुनीत सुरभित पुष्प हैं। मीराका पति हृदयवासी-घटघटवासी भगवान् है। भगवान् की अमर भक्तिवल्लरी को मीरां ने क्षणक्षण प्रेमामृत से सींचा है। पत्नी व प्रिया अपने प्रियतम पतिको अपने हृदयसिंहासन पर जिस प्रेम से बिठाती है, वह महान् अपूर्व है। चम्पूरामायण के लेखक भोजने किष्किन्धा काण्ड में तारा के विलाप का कैसा अद्भुत चित्र खींचा हैं।

संत्रस्य पूर्वममुतस्तव बन्धुरेष।
भेजे यथाद्रिमकुतोभयमृष्यमूक॥
भर्ता ममायमपि रामशरैरभेद्यः।
प्राप्तो मदीयहृदयच्छलमद्रिदुर्गम् ॥१७॥
मम हृदि निरपाये वर्तमाने कपीन्द्रे
रघुवर यदमुष्मै तिष्ठसे चापपाणि ॥१९॥

पतिव्रता नारी के हृदयमें प्रियतम पति सर्वदा प्रेममूर्ति के रूपमें कैसे विराजमान होते हैं, इसका चित्र ताराविलाप में खूप सुन्दर चित्रित हुवा है। इसी प्रकारकी अपूर्व माधुर्यभक्तिका स्वरूप भक्त उपमन्युने 'विरहीव प्रभो प्रियामयं परिपश्यामि भवन्मयं जगत्' में बताया है। पतिके विरहानलमें जलती हुई पतिव्रता प्रिया नारी जडचेतन हर एक वस्तु में अपने प्रियतम का ही स्वरूप देखा करती है। संभवतः सांसारिक सम्बन्धों में प्रिय-प्रिया, पति-पत्नी के सम्बन्धों से बढकर उच्चतम कोई सम्बन्ध नहीं है। गोपीयों का कृष्ण प्रतिप्रेम इसी सम्बन्धका द्योतक है। सांसारिक संबन्ध के रूपमें परमात्माके प्रति संबन्ध का वर्णन प्रिय-प्रियाके संबन्धमें पर्यवसानको प्राप्त होता है। इस अवस्था से उच्चतर तादात्म्य के वर्णन में वाणी मूक हो जाती है। 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयंतदन्तः करणेन गृह्यते' इस अवस्थामें प्रभुकी भक्ति-नदीमें भक्त गोते लगाने लगते हैं। वेदमें लिखा है 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्यां अहम्। स्युः ते सत्या इह आशिषः' हे ज्योतिःस्वरूप प्रभो! जब मैं तूं हो जाऊंगा अथवा तूं ही मैं हो जायगा, तब यहां आपके दिये आशीर्वाद सत्य होंगे। एक भक्तने ठीक ही लिखा है 'प्रेमगली अति सांकरीतामें दोऊ न समाय।' सुफी भक्त की वाणी में कहें तो-

मन् तू शुदम् तू मन् शुदी
मन् तन् शुदम् तू जां शुदी
ताकस् न गोयद् बाद अज ईं
मन् दीगरम् तू दीगरी

प्रभु भक्त जिस समय सविकल्प समाधिमें विद्यमान ध्याता-ध्येय के मानको विस्मरण करके निर्विकल्प समाधिमें अखण्डाकार सोऽहंस्वरूप अभेद के अमृत रसमें हिलोरे मारने लगता है। सुषुप्ति समाधि मुक्ति की यही एकरूपता है

है। इस अवस्थामें ही उपनिषद के ऋषिने ' रसो वै सः रसं ह्येतं लब्ध्वा नदी भवति' की पुकार की है। यही भक्ति की पराकाष्ठा है। यही अन्तिम गन्तव्य स्थान है।

हमने संक्षेप से यह देखा कि जीव अपनी आध्यात्मिक उन्नति की सीढी पर चढते हुवे राजा, पिता, माता, सखा, स्वामी, पति आदि रूपमें भगवान् का स्मरण करता हुवा अन्तमें भक्त-वत्सल भगवान् के साथ भावनामें तादात्म्य अनुभव करने लगता है। रससागर भगवान् की रसतरंग बनकर हिलोरे लिया करता है। यही मानव-जीवकी उन्नति की चरम सीमा है।

स्त्रीपुरुष-संबन्ध केवल प्रजनन के लिये ही है,

इसमें वेदका एक प्रमाण।

(लेखक- श्री० अभयदेव शर्मा।)

पहिला मंत्र

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥१॥
(अथर्व० ६-८१)

(यन्ता असि) तू यमन करनेवाला अर्थात् संयमी है, (हस्तौ यच्छसे) तू पत्नी को अपने हाथ देता है। (रक्षांसि अप सेधसि) एवं राक्षसों को दूर करता है। (प्रजां धनं च गृह्णानः) प्रजा और धन को ग्रहण करनेवाला होता हुआ (अयं) आज यह (परिहस्तः) परिहस्त (जिसने हाथ को दिया हैं ऐसा) (अभूत्) हो गया है।"

इस मंत्र में पाणिग्रहण किए (विवाहित हुए) पुरुष को 'परिहस्त' नाम से पुकारा गया है। कहा है यह 'परिहस्त' हो गया है, परिदत्तौ (परियच्छितौ ?) हस्तौ येन स परिहस्तः। परिहस्त शब्द का यही अर्थ है, यह बात इस मंत्र के 'हस्तौ यच्छसे,' इस वाक्य से स्पष्ट है। हाथ देनेका अर्थ कन्याको अपनी रक्षा में ले लेनेसे है। पत्नी को अपने हाथ देकर उसने यह जिम्मेवारी ली है कि वह पत्नी की सब राक्षसों से रक्षा करेगा। हाथ देता है अर्थात् सब राक्षसों को भगाता है। उसकी पत्नी पर या उनके घर पर राक्षसों का आक्रमण न होने पावे, यह परिहस्त हुए पुरुष का कर्तव्य है। 'रक्षः, का अर्थ है वह सब वस्तु जिससे अपनी रक्षा करनी चाहिए (रक्षितव्यं यस्मात् स रक्षः, जिनसे रक्षा करनी चाहिए)। वे प्रलोभन हैं या भय हैं, ये प्रलोभन या भय ही हैं जो असली राक्षस हैं। शेष सब राक्षस इन्हीं में आ जाते हैं। इसी लिए उसे कहा कि तू यन्ता है, संयमी है। यम् उपरमे धातु से 'यन्ता' बना है। तू संयमी है अत एव तेरे हाथ देने का अर्थ है कि तू राक्षसों को दूर कर देगा। यन्ता (संयमी) ही राक्षसों को भगा सकता है। यद्यपि तू अभी तक ब्रह्मचारी रहा है और वहां पूरा संयम करता रहा है। अब गृहस्थी होनेपर तुझे संयम छोड देने की जरूरत है, ऐसा न समझ लिया जाय। अतः प्रारम्भ में ही कह दिया है कि 'तू यन्ता' है। संयम तो गृहस्थीमें भी जारी रखना है, केवल संयम के प्रकार में कुछ भेद हो जायेगा। तो फिर ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-अवस्थामें भेद क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि यह मनुष्य प्रजा और धनको ग्रहण करनेवाला होता हुआ परिहस्त हुआ है। ब्रह्मचारी प्रजा नहीं उत्पन्न करता और न धन रखता है। गृहस्थ होकर तूने प्रजा और धन दोनोंको प्राप्त करना है।

ध्यान रहे कि आश्रमव्यवस्थाके अनुसार केवल गृहस्थमें ही धन-उपार्जन किया जा सकता है, जैसे गृहस्थमें ही सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। पर प्रजा और धनको ग्रहण करते हुए यन्ता रहना है। एवं यहां यन्ता गृहस्थी का जो उद्देश्य प्रकट

किया है, वह किसी प्रकार इन्द्रियोंका दास बनना नहीं, किन्तु समाज के लिए सन्तान और धन को उत्पन्न करना है । दूसरे मंत्र में यह बात और भी स्पष्ट कर दी है।

दूसरा—मंत्र।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥

"(परिहस्त) हे परिहस्त विवाहित पुरुष! तू (योनिं) स्त्रीयोनि को (विधारय) अवलंबन कर, स्पर्श कर (गर्भाय धातवे) गर्भ के धारण करने के लिए। (मर्यादे !) हे मर्यादारूपिणि पत्नि ! तू (पुत्रं आधेहि) पुत्रको (गर्भस्थ रूप से) धारण कर (तं) और उस (गर्भ) को (त्वं) तू (आगमे) ठीक आगमन कालमें (आगमय) आन उपस्थित कर, जनित कर।"

मंत्र के पूर्वार्द्ध में पति (वर) को संबोधन कर के कहा गया है, उसे आज्ञा दी गई है, (कितना स्पष्ट कहा है) कि तू स्त्री-संबन्ध गर्भधारण करने के प्रयोजन से कर, कभी भोगवासना की तृप्ति के लिए नहीं। उत्तरार्ध में पत्नी (कन्या) को संबोधन करके कहा है कि 'हे मर्यादे'। पहले मन्त्र में पुरुष के 'यन्ता, कहा है तो कहीं यह न समझा जावे कि संयम पुरुष को ही करना है, स्त्री को नहीं। अतः स्त्री को 'मर्यादा' इस सुन्दर नाम से दूसरे मन्त्रमें संबोधित किया गया है। पूर्ण मर्यादा में रहनेवाली पत्नी को 'मर्यादा' कह दिया गया है । स्त्री को शरीरधारिणी मर्यादा होना चाहिए, मर्यादा-स्वरूपिणी होना चाहिए। स्त्री संयम से रहने वाली प्राकृतिक मर्यादाओं का कभी उल्लंघन न करनेवाली होगी तो वह स्वस्थ और नीरोग होगी और अपने सब प्राकृतिक कार्यों को ठीक प्रकार करनेवाली होगी, तो वह अपने गर्भ को ठीक प्रकार धारण और पालन का काम तथा सन्तान को जनित करने का काम भी यथोचित रूप से ही करेगी। गर्भ और प्रसूति के रोगों का वहां क्या काम होगा ? तू मर्यादा है इस लिए बच्चे को ठीक प्रकार जनित कर।

तीसरा-मंत्र

यं परिहस्तमबिभः अदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या अबध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति॥

"(पुत्रकाम्या) पुत्र की कामना करनेवाली (अदितिः) स्त्री ने (यं) जिस (परिहस्तं) विवाहित पुरुष [पति] को (अबिभः) [पति तौर पर) धारण किया है (तं) उसे (अस्याः) इस स्त्री के साथ (त्वष्टा) त्वष्टा-जगद् रचयिता ने (अबध्नात्) बांधा है । (यथा) जिससे (पुत्रं जनाद् इति) पुत्रके जनित किया जावे इसलिए।"

स्त्री का जो 'पुत्रकाम्या विशेषण है, उससे यह स्पष्ट है कि उस उमर में विवाह होना चाहिए जब कि स्वभावतः पुत्र-कामना (पुत्र की इच्छा) होती है। वेद के अनुसार पुत्रकाम्या होने पर ही स्त्री पति को स्वीकार करती है ।

स्त्री को यहां 'अदितिः' नाम दिया गया है। अदिति प्रकृतिका नाम है और यह देवताओं की माता का नाम है, असुरों (दैत्यों) की माता का नाम दिति है। देव आदित्य होते हैं । आदिति का शब्दार्थ अखण्डिता, पूर्णा, अदीना ऐसा होता है। अदिति प्रकृति माता है तो अदिति नामसे स्त्रीको पुकारनेसे पुरुष-प्रकृति के पवित्र ऊंचे सम्बन्धका स्मरण आनेसे पवित्रता व उच्चता आती है। देव-माता स्मरण आनेसेभी दैत्य-आसुर भाव दूर होते हैं। सब प्रकार विकारोंकाके स्थान खण्डित, अपूर्ण, दिति की अवस्थामें मिलता है, अदितिमें नहीं।

उस पति को इस पत्नी से परमेश्वर ने, जगत् रचयिताने, कलापूर्ण सृजनहार (त्वष्टा) ने बांध दिया है, यह वैदिक (व हिन्दू) विचार सुप्रसिद्ध है । पतिपत्नी मृत्यु तक के लिए बल्कि परलोकान्तरके लिए बांधे जाते हैं और परमेश्वरद्वारा बांधे जाते हैं। अतः यह संबन्ध तोडा नहीं जा सकता।

और यह बन्धन (ग्रन्थि-बन्धन, विवाह) इसी लिए है कि पुत्र उत्पन्न किया जाय, भोग के लिए या किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं। यह बात 'इति' लगाकर सुस्पष्ट और निर्णीत कर दी गई है । विवाह का उद्देश्य इससे ज्यादा स्पष्ट और किन शब्दों में कहा जा सकता है ?

स्वाध्याय-मण्डल औंध, (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

पुस्तक	मूल्य	डा० व्य०
(१) यजुर्वेद। विनाजिल्द मू. १॥)		डा०व्य०॥)
कागजी जिल्द	२)	,,
कापडी जिल्द	२॥)	,,
(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू. ।=)		-)
१२ अंकोंका मूल्य	४)	॥)
२४ अंकोंका मूल्य	६॥)	॥।=)
(३) वै. यज्ञसंस्था भाग १ मू.	१)	।)
(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	।=)
१३ चतुर्दश कांड ,,	१)	।)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
(५) छूत और अछूत।		
१-२ भाग दोनोंका मू०	१॥।)	॥)
(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)		
अध्याय १ से १७ प्रत्येकका मू० ॥)		डा. व्य. =)
(७) महाभारतकी समालोचना।		
भाग १-२ प्रत्येकका मू.	॥)	=)
(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२		
प्रत्येकका मू.	१॥)	।=)
(९) योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,,	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
(१०) यजु.अ.३६ शांतिका उपाय	॥=)	)
(११) शतपथबोधामृत।	।)	-)
(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार।	≡)	-)
४ अग्निविद्या।	१॥)	।-)
(१३) बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
(१४) आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा।	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता।	॥)	=)
१० तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१३ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१४ वैदिक जलविद्या।	=)	-)
१५ आत्मशक्तिका विकास	।-)	-)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
(१६) अन्य ग्रंथ।		
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=
२ गीता-समीक्षा	=)	-)
३ गीता-लेखमाला १-२-३ भाग	॥)	=)
४ गीताश्लोकार्धसूची	।=)	=)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
6 Sun Adoration	१)	।=)

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दें सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा हमारे व्ययसे भेजेंगें, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डसे भेजें दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
" ६ " १० " ३) " " ॥=)
" ११ " १८ " ४) " " ॥।)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससें अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡)रु. भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध.

वैदिक धर्म।

माघ १८५९, फर्वरी १९३८

वर्ष १९, अङ्क २

ॐ

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वर्ष १९] माघ १८५९, फर्वरी १९३८ [अङ्क २

वार्षिक मूल्य म. आ. से. ५) रु.
,, ,, वी. पी. से. ५।।) रु.
,, ,, विदेशके लिये ६।।) रु.

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वैदिक धर्म

वर्ष १९] [अंक २

विषयानुक्रमणिका

वर्ष १९
अंक २
क्रमांक २१८

धर्म

माघ
संवत् १९९४
फर्वरी
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकरजी । सहसंपादक-पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

श्रीकी प्राप्ती।

—:§:—

भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे ।
ता नश्चोदयत श्रिये ।

(ऋग्वेद १।१८८।८)

"हे (भारती) मातृभाषे, (इळे) हे मातृभूमि, (सरस्वति) हे मातृसंस्कृति ! (वः) आप (याः सर्वाः) सबकी हम (उपब्रुवे) प्रशंसा करते हैं, स्तुति करते हैं, (ताः) वे आप (नः) हम सबको (श्रिये) संपत्ति के लिये (चोदयत) प्रेरणा करिये ।"

मातृभाषा, मातृभूमि और मातृसभ्यता की प्रशंसा होनी चाहिये । इनका संमान बढानेके लिये सुपूतोंको उचित है कि वे अपनी शक्तिकी पराकाष्टा करें और इनका यश बढावें । इनका यश बढानेके प्रयत्नसे हि मनुष्योंको विशेष महत्त्व के कार्य करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है और वे अधिक यशके कार्य करनेके लिये प्रेरित होते हैं।

———

वेदभाष्यका उत्तरदायित्व

(द्वितीय लेख)

वेदभाष्यके उत्तरदायित्वके विषयमें हमने इससे पूर्व थोडासा लिखा है । इस विषयमें जितना इस समय लिखा जाय, उतना थोडा ही है। पाठक भी इस विषयके संबंधमें अपने विचार प्रकट करें। अर्थात् जिन पाठकोंने वेदोंका अभ्यास किया है, वेदोंके विषयमें सोचा और विचारा है, वे ही इस संबंधमें अपना मत दे सकते हैं। जो पाठक स्वयं वेद नहीं पढ सकते और वेद की प्रक्रिया नहीं जानते, वे कुछभी नहीं लिख सकेंगे। अतः जिन पाठकोंने वेदविषयका विचार किया है, वे इस लेखमालाके संबंधमें खुले अन्तःकरणसे अनुकूल अथवा विरोधी लेख लिखें । उनके लेख इस मासिकमें अवश्य प्रकाशित किये जायंगे ।

वेदभाष्यके साधन ।

वेदभाष्य करनेके पूर्व हमारे पास जो साधन चाहियें, उनका विचार हमने इससे पूर्व एक लेखमें विचार किया है । इन साधनोंके न होने तक वेदभाष्य बने या बन रहे हैं । वे इन साधनों की उपस्थितिमें दुबारा लिखने योग्य हो जायंगे । हम इन विद्वानों का निषेध नहीं करना चाहते, परंतु इतनाही कहना चाहते हैं कि वे भाष्य केवल सामयिक महत्त्वके होंगे । जब हमने लिखे साधन निर्माण हो जांयगे, तब वेदविषयक सांगोपाङ्ग विचार होनेके कारण उसके पश्चात् हि स्थायी प्रामाणिक वेदभाष्य बन सकेंगे । अतः सबसे पहिले वेदभाष्यके साधन निर्माण करनेमें सब शक्ति लगानी चाहिये।

जो शास्त्रीय विधिके अनुकूल ग्रंथ बनता है, वही योग्य और स्थायी महत्त्वका होता है। जो शास्त्रीय पद्धतीको छोडकर केवळ पंथाभिमानसे अथवा सांप्रदायिक अभिमानसे बनाया जाता है, वह केवल संप्रदायके अभिमानी मानेंगे तो मानेंगे । परंतु जिस समय योग्य प्रमाणग्रंथ उपस्थित होंगे, उसी समय केवल दुराग्रह या पंथाभिमान रह ही नहीं सकता । हम सबको इस कारण वेदके विषयमें ऐसे साधनग्रंथ निर्माण करने चाहिये कि, जो साधनग्रंथ देखकर दुराग्रही पक्षपातीकोभि सिर झुकाकर इस सप्रमाण अर्थका स्वीकार अवश्यहि करना होगा ।

पक्षाभिमान ।

आज पक्षाभिमान यहांतक बढ गया है कि सच्चाईका महत्त्व बिलकुल रहा नहीं । दुरभिमानी शास्त्रार्थी विद्वान् सभाओंमें शास्त्रविरुद्ध मनमानी बातें ऊंचे स्वरसे बोलनेमें डरते नहीं । यह अधःपातकी परम सीमा है । भारतवर्षमें कभी इतना दुरभिमान बढा नहीं था । शास्त्रप्रमाण सब माननेको तैयार थे । आज अपने पक्षाभिमानके कारण वेदशास्त्रोंको ठोकर देनेको भी लोग तैयार हुए हैं । वेदका अर्थ स्वीकार करनेके स्थानपर शास्त्रार्थी विद्वान् भरी सभामें मनमाना वेदमंत्रका अर्थ दर्शानेको तैयार हो रहे हैं । इनको पूछनेवाला कोई नहीं रहा कि "पंडितजी ! आपने आद्योपान्त वेदका अध्ययन किया है वा नहीं ? सब मंत्रोंका निःसन्देह अर्थ आपके ध्यानमें आ गया है वा नहीं ?"

जब तक वेदके मामूली सिद्धांतों का भी ज्ञान नहीं होगा, तब तक सर्वज्ञता की घमेंड करनेवाले उपदेशकों की हि प्रतिष्ठा होगी और वहां विद्याका नामनिशान भी रह नहीं सकेगा । अतः वहां विद्या बढ भी नहीं सकेगी। यह तो कहते की आवश्यकता ही नहीं है ।

वेदकी गंभीरता ।

वेदका विषय इतना गंभीर है कि हमारे ४८ वर्षोंके सपरिश्रम अध्ययन के पश्चात् भी हमारे लिये वेद की गंभीरता

दिनोंदिन बढ ही रही है। अध्ययन के प्रारंभ में हमें कोई कठीनता प्रतीत नहीं होती थी; परंतु आज हमारे सामने कठिनता के पहाड खडे हुए हैं। जिम्मेवारीके साथ वेदके विषयमें निःसन्देह विधान करना आज हमारे लिये कठिन हुआ है, जो १५-२० वर्षोंके पूर्व सुगम था। आज इतने निरंतर अध्ययन के पश्चात् हमें ऐसा प्रतीत होता है,कि इस समय सौ निःपक्षपाती विद्वान् विना किसी गृहचिंताके एकान्त स्थानमें बैठकर वेदान्वेष करने के लिये बैठ जांय और जैसा कि हमने पूर्व लेख में बतलाया है, वैसे सब साधन निर्माण करके वेद का आन्दोलन करते रहे और उनके सिरपर धनव्ययादिकी कोई चिन्ता न रहे, तो सौ वर्षोंके पाश्चात् वेदके विषयमें निःसंदेह और निश्चयसे बोलने के लिये उनमेंसे कोई विद्वान् तैयार हो सकेंगे। जो आज बोल रहे हैं, वे वेदमंत्रों का मनन किये विनाहि बोल रहे हैं, इसलिये यह विना अध्ययन बोलना बडा भयानक है।

मंत्रोंका मनन।

'मननान्मन्त्रः' मनन करनेकी बात इसमें है, इस लिये वेदके श्लोक को मंत्र कहते हैं। अतः प्रारंभमें वेदका अध्ययन हो और पश्चात् उसका मनन हो। पर्याप्त मनन होनेके पश्चात्‌हि उपदेश करनेका समय आ सकता है, उससे पूर्व नहीं। इस कारण प्राचीन कालमें गुरुकुलके आचार्य जब ब्रह्मचारीको जानेकी आज्ञा देते थे तब वह समावर्तनसंस्कार करके घरमें आकर गृहस्थी बनता था अथवा गुरुकी आज्ञासे धर्मप्रचारक उपदेशक होता था। इससे पूर्व नहीं। परंतु आजकल वेतनके लिये उपदेशक होते हैं और योग्यता देखकर उपदेशक बननेकी आज्ञा देनेवाले गुरुकुल के योग्य आचार्य आज कल नहीं हैं। सर्वत्र वेतनधारियों का खेल है। आचार्यों के स्थान में बाबूलोग उपदेशक बनानेवाले हुए हैं। जो वेतन देगा, वही उपदेशकों का निर्माता है।

वेदोंका मनन होना चाहिये, इतना कहने मात्रसे वेदोंका मनन होना असंभव है। वैदिक धर्मानुयायी जनता वेदोंका मनन कर सके, ऐसी विशेष प्रकार की आयोजना होनी चाहिये। इसलिये जो वदीपर खडे होकर उपदेश देते हैं, उनको बडी जिम्मेवारीके साथ उपदेश देना चाहिये। व्याख्यान से अज्ञ जनता का मार्ग दूषित करना सर्वथा आयोग्य है, वह पाप है। कोई व्याख्याता चाहे अधिक न भी बोले, परंतु जो बोले वह शास्त्रशुद्ध बोले, सुननेवाले शास्त्रीय मार्गपर रहें।

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु।

श्री० पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का व्याख्यान मेरट के वेदसंमेलन में हुआ। उस व्याख्यानमें जिज्ञासु जीने कहा कि वेदमंत्रोंके देवता निश्चित नहीं हैं। जो देवता निश्चित हैं, ऐसा कहते हैं वे गलती करते हैं। आपने इस विधान की पुष्टिके लिये यह प्रमाण दिया-

> यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।
> (निरुक्त दै. १)

" जिस कामनाका धारण करनेवाला ऋषि अपनी विशेष इच्छा की पूर्तिके लिये जिस देवताकी स्तुति करता है, उस देवता का वह मंत्र होता है।" इतना प्रमाणदेकर पं० ब्रह्मदत्तजीने कहा 'जिस कामना से मन्त्रका उपयोग कोई करना चाहे, उस कामनाके अनुसार देवता बदलता है। अतः मंत्रका देवता निश्चित नहीं।"

पं० ब्रह्मदत्तजी का भरी सभामें यह कहना कितना अनर्थकारी है, इस का विचार विद्वान्‌ही कर सकते हैं। जो जनता मंत्रके देवता का विचार भी कर नहीं सकती, उनके अन्दर ऐसे अनर्थकारी विचार फूंक देना भयानक धृष्टता ही नहीं, अपितु भयंकर पाप है। देवताका विचार ऐसा क्षणभंगुर होता तो प्राचीन कालमें देवताका निश्चय करनेके लिये इतने ग्रंथ न बनते। अस्तु। हम इस विषयका शान्तिसे विचार करेंगे। पहिले पूर्वोक्त निरुक्तकार श्री यास्काचार्यजी के कथन का अर्थ देखिये—

"(यत्काम ऋषिः) जिस की कामना करता हुआ ऋषि, (यस्यां देवतायां) जिस देवतामें (आर्थपत्यं इच्छन्) अर्थके स्वामित्व की इच्छा करता हुआ (स्तुतिं प्रयुंक्ते) स्तुति का प्रयोग करता है, (स मंत्रः तद्दैवतः भवति) वह मंत्र उस देवताका होता है। अर्थात् ईप्सित कामना करनेवाले मधुच्छन्दा आदि ऋषि, अग्नि आदि देवताओंकी

स्तुति करके विशेष अर्थकी प्राप्ति की इच्छा धारण करते थे। जिस देवता की उन्होंने स्तुति की उस मंत्रका वह देवता हुआ। उदाहरणके लिये एक सूक्त कीजिये-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥२॥
अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥
अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥४॥
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत् ॥५॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥६॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरंत एमसि ॥७॥
राजन्तमध्वराणां गोपां ऋतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

यह नौ मंत्रोंका सूक्त है। इसके देवताका निश्चय करना हो तो इस सूक्तमें मुख्य देवतावाचक शब्द कौनसा है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। इसका विचार इस तरह हो सकता है।

इस सूक्तके ९ मंत्रोंमें से आठवे मंत्रको छोडकर शेष आठों मंत्रोंमें प्रधानरूपसे 'अग्नि' का वर्णन आ गया है। प्रत्येक मंत्रमें अग्नि का ही वर्णन है, अतः इस सूक्तका देवता 'अग्नि' है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या 'पुरोहित होता' आदि शब्द देवतावाचक नहीं हो सकते ? ये शब्द किसी अन्य सूक्तमें देवता होंगे तो होंगे, परंतु यहां नहीं हैं। क्योंकि सब मंत्रोंमें जिस तरह अग्निका वर्णन है वैसा पुरोहित होता आदिका नहीं है, इसी कारण बहुधा प्रत्येक मंत्रमें 'अग्नि' शब्द आया है। दूसरा कोई शब्द इतनी वार पुनः पुनः नहीं आया है।

देखिये पुरोहित, ऋत्विज, होता, देवः, गोपा, ये शब्द केवल एक एक वार हि आ गये हैं, केवल होता शब्द दोवार आया है। परंतु अग्नि शब्द आठ वार आया है। और सब मंत्र अग्निका वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं। इसीलिये इस सूक्तका देवता 'अग्नि' ही है।

जिस सूक्तका जो देवता होता है उसका संबोधन उस सूक्तमें प्रायः होता है। इस नियमके अनुसार इस सूक्तमें 'अग्नि' शब्दके संबोधनका रूप 'अग्ने' चार वार आ गया है। हे अग्ने ! ऐसा अग्नि देवताको आवाहन होनेसे इस सूक्तमें अग्निकाही वर्णन है, यह बात सिद्ध होती है।

इस तरह देवता निश्चय के कई नियम हैं, कई नियम अपवादसहित हैं और कई निरपवाद हैं। उनके विचार से किस सूक्त का कौनसा देवता है, यह आज भी देखा जा सकता है। सूक्तमें किसकी स्तुति है, इसका निश्चय देवतावाचक शब्दके संबोधन के रूपको देखकर हो सकता है। कई सूक्तोंमें संबोधन नहीं भी होता है जैसा कि यहां के ५ मंत्रोंमें नहीं है। तथापि अन्य मंत्रोंमें है, उसके अनुसंधानसे सूक्तका देवता निश्चित होता है।

इस सूक्तका मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषि है, देवता अग्नि है और छन्द गायत्री है। छन्द तो अक्षरसंख्या देख कर निश्चित हो सकता है। छन्दके निर्णयमें कोई विशेष कठिनता नहीं होती, क्योंकि मंत्रकी अक्षरसंख्या और पादोंकी अक्षरसंख्या देखनेसे छन्दका निर्णय हो सकता है। अजमेरके वेद छपे हैं, उनमें छन्दोंकी भी अशुद्धियां हैं। क्या छन्दोंकी अशुद्धियां भी पहचानी नहीं जायंगी? और जहां अशुद्धियां होंगी, वहां वैसी ही रखनी चाहिये, क्योंकि अजमेरके वैदिक प्रेसमें वे पुस्तक छपे हैं ? इतनी परतंत्रता और इतनी अविद्या कोई स्वीकारनेवाला हो, तो वह स्वीकारे, चाहे पं० ब्रह्मदत्तजी वैसा मानना चाहें तो वे मानें, परंतु हम माननेको तैयार नहीं हैं। जो अशुद्धि होगी, उसको हम अशुद्धि हि कहेंगे। यदि आजके हठी लोग उसे न मानेंगे, तो वे न मानें, उनके पीछे कोई विद्वान् नहीं आवेगा, ऐसी बात नहीं है। पीछेसे आनेवाले विद्वान् सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग अवश्य करेंगे।

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु अजमेरके छपे छन्दोंको यदि शुद्ध कर सकेंगे तो हम उनके सामने अशुद्ध छन्दोंकी

गिनती रखनेको तैयार हैं। यदि वे अशुद्ध छन्दोंको भी शुद्ध सिद्ध करने का यत्न करेंगे, तो उनको नया छंदःशास्त्र बनाना पडेगा। इस विषयकी अशुद्धियोंका कोष्टकही हम आगे चलकर देंगे।

देवताओंका निश्चय करनेका नियम निरुक्तमें जो दिया है, वह हमने ऊपर दिया ही है। इस वचनका अर्थ पं० ब्रह्मदत्तजी ऐसा करते हैं कि- 'जो मंत्रार्थ करनेवाला जिस मंत्रका जिस प्रकारका अर्थ करता है, उस प्रकार से उस मंत्रका देवता बदलता रहता है।' पहिले यह कि पूर्वोक्त निरुक्त के वचन का वैसा अर्थ नहीं होता। उसका सत्य अर्थ यह है कि, 'जिस (मधुच्छन्दा आदि) ऋषियों ने जिस कामनासे (अग्नि आदि) देवताओं में स्तुति का प्रयोग किया, उस मंत्र का वह देवता है।'

मधुच्छन्दा आदि ऋषि मन्त्रके द्रष्टा हैं, अग्नि आदि देवता हैं। कामना करनेवाले मधुछन्दा आदि ऋषि हैं, जिन देवताओंमें स्तुतिका प्रयोग होता है, वे देवता अग्नि आदि निश्चित हैं। मनमाने देवता नहीं हो सकते। इस विषयमें यहां तक वैदिक निर्बंध है कि 'अग्नि' देवताके स्थानपर वह्नि जातवेदा पावक आदि अग्निके पर्याय भी नहीं रखे जायंगे। अर्थात् 'अग्निमीळे पुरोहितं' आदि प्रथम सूक्तका देवता 'अग्नि' हि है और 'वह्नि, जातवेदा, पावक' आदि नहीं है। जिस सूक्तका 'जातवेदा' देवता होगा, वहां भी उसके पर्याय शब्द रखे नहीं जाते। 'जातवेदा' देवता होनेके लिये मंत्रोंमें उस 'जातवेदा' शब्दका प्रयोग होना चाहिये। यहांतक व्यवस्था वैदिक देवताके संबंधमें है। यह तो बडा सावधानी से बोलने का विषय है। परंतु इतना होते हुए और पर्यायशब्द का भी जहां प्रयोग करनेके लिये वैदिक लोग हिचकते हैं, वहां पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु भरी सभामें कह सकते हैं कि, 'सूक्तका या मंत्रका देवता निश्चित नहीं, वह अर्थ करनेवाले की रुचि के अनुसार बदल सकता है।' धन्यवाद है इस धृष्टता के लिये !!

इससे और अधिक घोर अनर्थकारक अज्ञानकी कोई संभावना ही नहीं है। इस अग्निसूक्त के अग्नि शब्दका कोई भाष्यकार मर्जी चाहे अर्थ करे, भौतिक अग्नि, आत्मा, परमात्मा या कोई अन्य अर्थ अपनी कल्पना के अनुसार करे, कोई राजा या ब्राह्मण ऐसा भी अर्थ माने, वह तो उसकी योजकता की तथा कवि-कल्पना की बात है। वह अर्थ 'अग्नि' पदका होगा। अर्थात् देवता अग्नि हि रहेगा और अग्निका अर्थ बदलेगा और अर्थ बदलनेकी अवस्थामें सूक्तका भी आशय उसके अनुसार बदलेगा। परंतु अर्थ चाहे सो होनेपर भी देवता नहीं बदलेगा। देवता वही रहेगा और देवतावाचक पदका अर्थ बदलेगा। यह बात पाठकों के ध्यान में आ गई होगी।

'अग्नि' यह देवता का नाम है। इस नामके अर्थ 'आग, जीवात्मा, परमात्मा, ब्राह्मण, राजा' आदि होनेपर भी इस सूक्तके देवता 'आग, जीवात्मा, परमात्मा' आदि नहीं माने जायंगे, केवल 'अग्नि' ही देवता माना जायगा। इस देवतावाचक पदका जो चाहे अर्थ भाष्य-कार करे। वह उसकी कल्पना है। कल्पनासे देवता बदले नहीं जायंगे।

'देवता' (subject matter) व्याख्येय विषय है। इस लिये देवता अनिश्चित है, ऐसा पं० ब्रह्मदत्तजीने कहा वह अज्ञानका दर्शक है। (subject matter) व्याख्येय विषय देवता है, परंतु उस विषयका वर्णन जिस विशेष शब्दद्वारा ऋषिने किया है, वह विशेष शब्दही देवताका दर्शक होता है, न कि वह उसका अर्थ देवता है। जैसा कि प्रथम सूक्त में जिस देवता का वर्णन ऋषिने किया उस देवताका वाचक शब्द 'अग्नि' हि रखा है। अतः वही ऋषि प्रयुक्त, ऋषिमान्य, ऋषिसंमत नाम देवताका उस सूक्त में है। न कि देवता के नामका 'अर्थ' देवता है। अतः पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने जो कहा वह सर्वथा अनुचित कहा, अशास्त्रीय कहा और जैसा नहीं कहना चाहिये, वैसाहि कहा। अतः वह विद्वानों के लिये चिन्त्य ही रहेगा।

ऋषि-देवता-छन्दोंके निर्णय के लिये कात्यायनकी सर्वानुक्रमणि और शौनकाचार्य की बृहद्देवता ये प्रमाण-ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त कई ब्राह्मणों में भी क्वचित् कोई निर्देश रहते हैं। भाष्यकारभी क्वचित् अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं। सर्वानुक्रमणिका में और बृहद्देवता में

क्वचित् मतभेद देखते हि पं० ब्रह्मदत्तजी बोल उठे कि ये दोनों ग्रंथ अप्रमाण हैं, क्योंकि उनमें परस्परविरोध है। यहां प्रश्न पूछा जा सकता है ऋग्वेदके सहस्र सूक्तोंमें कितने सूक्तोंके देवताके विषयमें विरोध है? दसपंदरह सूक्तोंमें भी देवताविषयक भिन्नता नहीं है। जो जहां भिन्नता लिखी है, वह केवल शाब्दिक भिन्नता है। यह बात हम आगे सब देवताओंके कोष्टक देकर बतायेंगे।

कई सूक्तोंमें दो देवतावाचक पद समबल आते हैं, वहां एकके मतसे एक देवता, दूसरेके मतसे दूसरा देवता, और तीसरेके मतसे दोनों देवता माने जाते हैं। इसको विरोध नहीं कहते। ये आचार्य परस्पर खंडन नहीं करते। जो शब्द सूक्तोंमें आये हैं वेही देवतावाचक होने हैं। ऐसे स्थानों में एकने एक शब्द देवतावाचक माना और दूसरेने दूसरा माना, अथवा ब्राह्मणग्रंथोंने तिसरा माना, तो परस्पर खंडन नहीं हुआ। हमें उचित है कि हम पूर्वाचार्यसंमत इन सब संमतियोंको स्वीकार करें और स्वयं अधिक खोज करें।

जैसा कि पं० ब्रह्मदत्तजीने कहा ये सर्वाणुक्रमणी और बृहद्देवताकार परस्पर का खण्डन करते हैं, वह अशुद्ध कथन है। एक भी स्थान ऐसा नहीं है, कि जहां किसी एकने दूसरेका खण्डन किया हो। वे परस्पर आदरभाव रखते थे। पं० ब्रह्मदत्तजी जैसे वे हठी नहीं थे, और नाही उनको किसी संप्रदायका पक्षपात करना था।

सर्वानुक्रमी, बृहद्देवता, ब्राह्मणग्रंथ, निरुक्त आदिमें किसी किसी स्थानपर भिन्न देवता का ग्रहण होनेपर भी वे किसीका खण्डण कहीं करते। वैसे सूक्त सैंकडा एक भी नहीं है और ऐसे सूक्तोंमें एकसे अधिक देवताके चिह्न स्पष्ट दीखते हैं, अतः वह विकल्प संभवनीय है। उससे पं० ब्रह्मदत्तजीका हठधर्म सिद्ध नहीं होगा।

ऋषियोंके विषयमें हमें स्वतंत्र लेखसे विशेष प्रतिपादन करना है। इसलिये इस लेखको हम यहां ही देवताविषय बताकर समाप्त करते हैं।

वेदमें स्वरोदय-विज्ञान

(ले०- पं० तडित्कांतजी वेदालङ्कार।)

आजकल प्रायः लोगोंकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति बन गई है, कि जबतक किसी भी विज्ञान या सिद्धांत का आधार वेदोंमेंसे प्रत्यक्ष रूपसे न दिखा जाय, तबतक चाहे वह कितना भी सत्य, अनुभवसिद्ध और लाभकारी हो, उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। स्वरोदय-विज्ञान के विषयमें भी यही हुआ। कई बार लोगोंके साथ स्वरोदयविज्ञानके संबंधमें बातचीत करनेपर मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ, कि यदि मैं वेद में स्वरोदय-विज्ञानका आधार दिखा दूं, तो उनकी दृष्टिमें उक्त विज्ञानका महत्त्व बढ सकता है। मैं स्वयं भी बहुत समयसे इस बातका स्पष्टीकरण करनेका विचार कर रहा था। परंतु इसके लिए जो जो मसाला मैं वेदोंमें से ढूंढ पाया हूं, उसपर पूर्णतया विचार करनेका समय न मिलनेसे तथा सभी मंत्रोंका यथायोग्य समन्वय न कर सकनेसे चुप रहना पडा था। अब क्योंकि स्वरोदय-विज्ञानकी लेखमाला समाप्त हो चुकी है तथा पाठकोंके दिमागोंमें यह विषयभी तरोताजा है, अतः थोडासा इस विषयक दिग्दर्शन कराना जरूरी हो जानेसे, नीचेकी कुछ पंक्तियां लिखनी पड रही हैं। इस विषयमें विशेष विस्तार से फिर भी पूर्ण तैयारीके साथ लिखनेका प्रयत्न करूंगा।

इंद्रियां-देव।

वेदोंमें देव शब्द बहुतसे अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है। वेदोंमें अनेक पदार्थों को देव नामसे कहा गया है। हमारे शरीरकी इन्द्रियों को भी देव कहा गया है। उदाहरणार्थ दो एक स्थलोंका निर्देश काफी होगा।

नैनद्देवा आप्नुवन्... ॥ वा० यजुः- ४०।४
उस परमात्माको इन्द्रियां पा नहीं सकतीं।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥
(अथर्व० ११।५।१९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे इन्द्रियरूपी देव मृत्यु को मार भगाते हैं।

ऐसे ही बहुत से और भी स्थल हैं, जहांपर देव शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है।

देवोंके वैद्य अश्विनौ।

वेदों में 'अश्विनौ' को देवों का वैद्य बताया गया है, यह सबको भली भांति ज्ञात है। इसके लिए अथर्ववेदका निम्न मंत्र प्रमाणरूपमें पेश किया जा सकता है-

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने
भिषजा शचीभिः॥ (अथर्व० ७।५३।१)

हे देवताओंके वैद्य अश्विनौ! तुम अपनी शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर भगा दो। यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें 'अश्विनौ' को 'देवोंके वैद्य' (भिषक्) कहा गया है।

हम ऊपर देख आए हैं कि देव शरीरस्थ इंद्रियां हैं। इंद्रियोंको रोग, जरा, मृत्यु आदि सताते हैं। अतः उनसे बचनेके लिए उन्हें वैद्यकी आवश्यकता है। वेदने बताया कि इन्द्रियोंके कष्टों को 'अश्विनौ' दूर करते हैं। इसका स्पष्ट मतलब हुआ कि इन्द्रियरूपी देवोंके अश्विनौ भिषक् (वैद्य) हुए।

इन्द्रियरूपी देव शरीरमें निवास करते हैं। इसवास्ते 'अश्विनौ' भी इस शरीरमें कहींपर निवास करते हुए होने चाहिए। क्योंकि वे उनके वैद्य हैं, तथा वहीं निवास करते हुए होने चाहिए जहां कि इन्द्रियरूपी देव। शरीरमें 'अश्विनौ' का कहांपर निवासस्थान है, यह बात उस समय बिलकुल स्पष्ट हो जाती है, जब कि हम 'अश्विनौ' का वेदोंमें आए हुए दूसरे नाम 'नासत्यौ' पर दृष्टिपात करते हैं। यास्काचार्य नैगम काण्ड ६।३।१३।५१ में 'श्रुष्टी' शब्दका व्याख्यान करते हुए निम्न मंत्रखंड पेश करते हैं-

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या
पुरंधिम्॥ (ऋ० ७।३९।४)

इसपर वे लिखते हैं कि-

तानध्वरे यज्ञे उशतः कामयमानान् यजाग्ने
श्रुष्टी भगं नासत्यौ चाश्विनौ।

यहांपर स्पष्टतया 'अश्विनौ' को 'नासत्यौ' कहा है। आगे चलकर इस 'नासत्यौ' की व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं कि 'नासिकाप्रभवौ' अर्थात् नासिकामें निवास करनेवाले, नासिका में ठहरनेवाले, नासिकामें सामर्थ्यशील। हमारे शरीर में नासिकामें निवास करनेवाले प्राणापान हैं, यह बिलकुल स्पष्ट है। यही नहीं, ये प्राणापान बडे शक्तिशाली होते हुए तमाम इंद्रियों को और शरीरको किस प्रकारसे बल व शक्ति देते हैं यह भी सर्व विदित ही है।

स्वरोदर-विज्ञानमें भी हमने यह प्रतिपादन किया है, कि किस प्रकारसे प्राणापानद्वारा इंद्रियों की चिकित्सा हो सकती है। प्राणापानकी मददसे हम किस प्रकारसे रोग, मृत्यु, आपत्ति आदिका पूर्वसेही ज्ञान प्राप्त कर उनको प्राणापान की ही मददसे बिना किसी औषध आदिकी सहायता के ही दूर भगा सकते हैं। स्वरोदय-विज्ञान यह बात स्पष्ट रूपसे हम बतलाता है कि प्राणापान किस प्रकारसे देवों के (इंद्रियोंके) वैद्य हैं।

'अश्विनौ' देवोंके वैद्य हैं तथा 'अश्विनौ' का दूसरा नाम 'नासत्यौ' है और ये अश्विनौ और नासत्यौ प्राणापान ही हैं, इस स्थापना को ऊपर दिया हुआ अथर्ववेदका मंत्र (७-५३-१) जिस में कि अश्विनौ को देवोंका भिषक् बताया हुआ है, उससे ठीक अगला मंत्र स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। मंत्र इस प्रकार है-

संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते
सयुजाविह स्ताम्। शतंजीव शरदो वर्धमानोऽ-
ग्निष्टे गोपा अधिपावसिष्ठः॥ (अथर्व०७।५३।२)

हे प्राण और अपान! (सं क्रामतां) शरीर में उत्तमतया संचार करो। (शरीरं मा जहीतं) शरीरका त्याग मत करो। (ते इह सयुजौ स्याताम्) वे प्राणापान इस तेरे शरीरमें सहचारी बने रहें। (वर्धमानः) इस प्रकार तू बढता हुआ (शरदः शतं जीव) सौ वर्ष जीता रह। (ते

अधिपाः वसिष्ठः) तेरा अधिपति वसिष्ठ है। और (गोपाः अग्निः) रक्षक अग्नि है।

इस मंत्रका देवता 'अश्विनौ' है। इसमें अश्विनौ को अत्यंत स्पष्ट शब्दोंमें प्राणापानके नामसे कहा गया है। प्राणापान शरीरके विशेष रूपसे रक्षक हैं। उनके द्वारा शरीरकी उत्तम रूप से चिकित्सा की जा सकती है। इस सिद्धांतके आधारपर प्राणायाम-विज्ञानकी रचना की गई है। प्राणायामके अभ्यासी इस बातका स्वयमेव अनुभव करते हैं, कि प्राणापानद्वारा क्या क्या लाभ उठाए जा सकते हैं, प्राणापानमें क्या क्या चमत्कारिक शक्ति भरी पडी है-

प्राणापानद्वारा की जानेवाली चिकित्सा के हम दो विभाग कर सकते हैं।

(१) प्राणायाम-विज्ञान। (२) स्वरोदय-विज्ञान।

(१) प्राणायाम-विज्ञानमें प्राणापानका आयाम (विस्तार), उनकी गतिपर अंकुश प्राप्त करनेका उपाय, प्राणापानको लेनेछोडनेके भिन्न भिन्न तरीके, उनकी मददसे आयुवृद्धि कैसे हो सकती है, शरीरस्वास्थ्य, बल, वीर्यका बढाना, ऊर्ध्वरेता होना, इत्यादि तमाम बातों का निर्देश होता है।

(२) स्वरोदय-विज्ञानमें प्राणापानकी तरह तरह की स्वाभाविक गतियों हमें समय समयपर क्या क्या भविष्यसंबंधी खास सूचनायें देती हैं, उन गतियोंसे हम कैसे लाभ उठा सकते हैं,असावधानी या बेदरकारीके कारण आई हुई विपत्तियोंको, रोगों को, कष्टोंको, तथा अन्य सांसारिक विपत्तियोंको कैसे दूर कर सकते इत्यादि तमाम छोटीसे लेकर बडी बातोंका जिनसे कि हमारे जीवनका रातदिन संबंध रहता है, निर्देश होता है।

स्वरोदय-विज्ञानकी लेखमालाको ध्यानसे पढनेवाले पाठकोंको विदित ही होगा कि उस लेखमालामें किस प्रकार विस्तारसे हमने उपर्युक्त तमाम बातोंका निर्देश किया है। स्वरोदय-विज्ञान निःसंदेह एक प्रकारकी प्राणविद्या है, जिससे कि प्रत्येक मनुष्य पद पद पर लाभ उठा सकता है। स्वरोदय-विज्ञान पढनेके बाद वेदोंके इस वाक्य का कि 'अश्विनौ देवानां भिषजौ' (अश्विनौ देवोंके वैद्य हैं), रहस्य पूर्ण रूपसे खुल जाता है। उनकी निःसंदेह अलौकिक चिकित्सापद्धतिका रहस्य भी खुल जाता है। सबसे अधिक मझेदार बात तो यह है कि चिकित्सापद्धति जहां अत्यंत सुगम व तात्कालिक फलदायक है, वहां उसके लिए एक पाई भी खर्चनी नहीं पडती।

कुदरती नियमोंकी जान बूझकर लापरवाही के कारण अवहेलना करनेसे अथवा तो भूलसे उनके प्रति दुर्लक्ष्य हो जानेसे हमारेपर संकट, आपत्तियां, शारीरिक तथा मानसिक कष्टोंकी जडियां लग जाती हैं। 'स्वरोदय-विज्ञान' बतलाता है कि उन कुदरती नियमोंकी अवहेलना को ध्यानमें लेकर जो भूलें हुई हैं, उनको फौरन सुधार लो। सब मामला ठीक हो जायगा। कष्टोंकी दशामें प्राणापान की जो विपरीत हालत हो गई है, उसे बदल दो। बडे ही आश्चर्य के साथ देखोगे कि तुम्हारेसे कष्ट सैंकडों कोस दूर भाग गए हैं। बस, यही देवोंके वैद्योंकी चिकित्सापद्धतिका असली रहस्य है। स्वरोदय-विज्ञान की खोजभी इसी सिद्धांतपर विशेष रूपसे आश्रित है।

इतने विवेचन के बाद मुझे पूर्ण आशा है कि प्रेमी पाठकगण इस दृष्टिसे स्वरोदय-विज्ञानके महत्त्वपर अधिक से अधिक विचार करेंगे। यही नहीं इससे पूर्ण लाभ भी उठाएंगे।

वेदोंमें इस प्रकार संकेतरूपसे नाना तरहकी सत्य विद्यायें मूलरूपसे भरी पडी हैं। उनका विस्तारसे स्पष्टीकरण करना आज हमारे लिए लगभग असंभवसा हो गया है। हम सब वेदानुयायियोंका परम कर्तव्य है कि हम वेदाध्ययन करते हुए वैदिक रहस्योंका ऐसे ढंगसे प्रतिपादन करें कि दुनिया स्वयमेव उनकी ओर आकर्षित होती हुई चली आवे। मैं समझता हूं कि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की आज्ञाका वास्तविक अर्थोंमें पालन करनेका यही ठोस मार्ग है। वेदोंके असली रहस्य जनताके सामने खोल कर रखनेसे सब स्वयमेव आर्य होते चले जायेंगे।

वेद और स्त्रियां।

(लेखक- पं. तडित्कान्तजी, वेदालङ्कार)

इस लेख में हम मन्त्रों के आधारपर निम्न लिखित विषयोंपर संक्षेपसे विचार करेंगे।

(क) स्त्रीशिक्षा तथा ब्रह्मवादिनी स्त्रियां, (ख) स्त्री के ४ पति अर्थात् युवावस्थामें विवाह, (ग) गृहस्थाश्रममें स्त्रीका स्थान, (घ) धार्मिक कृत्य व स्त्री, (ङ) समाज में स्त्रीकी आर्थिक स्थिति, (च) एक पत्नी व अनेक पत्नी, (छ) एक स्त्रीके अनेक पति, (ज) विधवाविवाह, (झ) स्त्रीस्वातंत्र्य।

इससे पहले कि उपरोक्त शीर्षकोंपर विचार किया जाय, हम अपने विद्वान् पाठकों से यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, हो सकता है कि हमने जिन जिन मन्त्रों से जो जो परिणाम निकाले हैं, उनसे आप मतभेद रखते हों। परन्तु यह सब होते हुए भी इस बातका विशेष ख्याल रखा गया है कि परिणाम निकालने में तथा मन्त्रके शब्दार्थ करने में जहांतक हो सका है, खींचातानी से बचने का प्रयत्न किया गया है। यही नहीं, बल्कि परिणाम निकालने में भी एक ही सरणीका अवलंबन किया गया है। अस्तु।

(क) स्त्रीशिक्षा तथा ब्रह्मवादिनी स्त्रियां।

स्त्रियोंकी शिक्षाके विषयमें वेदों में बहुत अच्छी तरहसे प्रतिपादन किया हुआ पाया जाता है। वेदमें पुत्रोंकी तरह पुत्रियों को भी उच्च श्रेणीकी शिक्षा देनेका विधान है। वैदिक कालमें भी ऐसा ही होता था। उपनिषदादि के पढने से तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन करने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्' आदि वैदिक आदर्श को कलंकित करनेवाले वाक्य पीछेसे किन्हीं कारणों से जोड दिए गए हैं।

प्राचीन कालकी स्त्रियों को इस दृष्टि से समाजमें बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त था। वे आध्यात्मिक विद्यामें अप्रतिम प्रतिभा रखतीं थीं। ऋग्वेद में तो ऐसी बहुतसी ब्रह्मवादिनी स्त्री ऋषियोंका उल्लेख है कि जिन्होंने मन्त्रों का साक्षात्कार किया था, जो मंत्रद्रष्टा थीं। उन्होंने यज्ञादि कर्मों द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया और उनका साक्षात्कारभी किया। वास्तवमें देखा जाय तो वैदिक कालमें यह समस्या कभी भी उपस्थित हुई हुई दिखाई नहीं देती कि स्त्रियों को शास्त्रादि पढाने चाहिए या नहीं। या अन्य शिक्षण देना चाहिए या नहीं। यह सब पीछेसे घुसेडने का प्रयत्न किया गया है। उन स्त्री ऋषियों के नाम आदि निम्न लिखित हैं-

ऋग्वेदमें स्त्री-ऋषियों की सूची।

गोधा घोषा विश्ववाराऽपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नामाऽगस्त्यस्य स्वसाऽदितिः ॥१॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती ॥२॥
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः ॥३॥

अर्थात् निम्न लिखित स्त्रियां ब्रह्मवादिनी हो गई हैं। जिनको कि मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ था। उन के नाम इस प्रकार हैं-

(१) गोधा, (२) घोषा काक्षिवती, (३) विश्ववारा, आत्रेयी, (४) अपाला [आत्रेयी], (५) उपनिषद्, (६) ब्रह्मजाया जुहूः, (७) अगस्त्य की स्वसा अदिति, (८) इन्द्राणी (शची पौलोमी), (९) इन्द्रमाता, (१०) सरमा [देवशुनी], (११) रोमशा, (१२) उर्वशी, (१३) लोपामुद्रा (अगस्त्यकी पत्नी), (१४) नदियां, (१५) यमी [वैवस्वती], (१६) नारी शश्वती, (१७) श्रीः, (१८) लाक्षा, (१९) सार्पराज्ञी, (२०) वाक्, (२१) श्रद्धा [कामायनी], (२२) मेधा, (२३) दक्षिणा, (२४) रात्री [भारद्वाजी], (२५) सूर्या [सावित्री], (२६) ममता।

ममता उपरोक्त श्लोक में नहीं है, पर ऋग्वेद में उसका उल्लेख है। अतः हमने यहां उसका भी नाम गिना दिया है। इन स्त्री-ऋषियोंके मन्त्र-सूक्तादिके पते निम्न लिखित हैं।

संख्या	स्त्री ऋषि का नाम ।	मण्डल ।	सूक्त ।	मंत्र ।	अष्टक ।	अध्याय ।	वर्ग ।
१	रोमशा	१	१२६	७	२	१	११
२	लोपामुद्रा	१	१७९	१-६	२	४	२१
३	नद्य:	३	३३	४, ६, ८, १०	३	२	१२
४	विश्ववारा (आत्रेयी)	५	२८	१-६	४	१	२२
५	ममता	६	१०	२	४	५	१२
६	नारी शश्वती (आङ्गिरस आसङ्गकी पत्नी)	८	१	३४	५	७	१०
७	अपाला (आत्रेयी)	८	९१	१-७	६	६	१४
८	यमी (वैवस्वती)	१०	१०	१, ३, ५, ७, ११, १३	७	६	६
९	घोषा (काक्षीवती)	१०	३९	१-१४	७	८	१५
			४०	१-१४	७	८	१८
१०	अदितिः (अगस्त्य की बहिन, दक्षकी दुहिता)	१०	६०	६	८	१	२३
		,,	७२	१-९	८	३	१
११	सूर्या (सावित्री)	१०	८५	१-४७	८	३	२०
१२	इंद्राणी	१०	८६		८	४	१
	शची (पौलोमी)	१०	१४५	१-६	८	८	३
		,,	१५९	१-६	८	८	१७
१३	उर्वशी	१०	९५	४-१८	८	५	१
१४	दाक्षिणा	१०	१०७	१-११	८	६	३
१५	सरमा (देवशुनी)	१०	१०८		८	६	५
१६	ब्रह्मजाया जुहूः	१०	१०९	१-७	८	६	७
१७	वाक्	१०	१२५	१-८	८	७	१०
१८	रात्रि (भारद्वाजी)	१०	१२७	१-८	८	७	१४
१९	गोधा	१०	१३४	६;७	८	७	२२
२०	श्रद्धा (कामायनी)	१०	१५१	१-५	८	८	९
२१	इन्द्रमाता	१०	१५३	१-५	८	८	११
२२	सार्पराज्ञी	१०	१८९	१-३	८	८	४७
२३	यमी	१०	१५४	१-५	८	८	१२

उपरोक्त स्त्री-ऋषियों में से उपनिषत्, श्री, लाक्षा और मेधा ऋषियों के मन्त्र उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण समझमें नहीं आता ।

विश्ववारा ऋषिने न सिर्फ मन्त्रसाक्षात्कार ही किया अपितु वह यज्ञों में ऋत्विज् भी बनी। अपाला ने उक्त सूक्त द्वारा इन्द्रकी स्तुति करके अपने चर्मरोग अच्छे किए। जिनके कि वजहसे उस के पतिने उसको त्याग दिया था। उसके पिताका सिर गंजा हो गया था। उसने इन्द्रको प्रसन्न कर पिताके गंजे सिर को अच्छा किया। इसी प्रकार का उक्त सूक्तमें वर्णन मिलता है।

स्त्रियोंकी वीरता।

स्त्रियां कभी कभी अपने पतियों के साथ युद्धों में भी जाया करतीं थीं। खेल राजाकी रानी विश्पला जिसकी कि लडाई में एक टांग उड गई थी, उसने अश्विनिकुमारों की मददसे उस के स्थानपर लोहे की टांग लगवाई थी। ऋग्वेद, मण्डल १, सू० ११२, मं० १० तथा सू० ११६, मं० १५; सू० ११७, मं० ११; सू० ११८, मं० ८ और मं० १०; सू० ३९, मन्त्र ८ में यह वर्णन पाया जाता है।

इसी प्रकार मुद्गलानी या इन्द्रसेना जो कि मुद्गलकी पत्नी थी, उसने अपने पति की डाकुओं से रक्षा की थी। डाकु लोग उनकी गायें चुराकर ले गये थे और उसके पति को बांधकर एक ओर डाल दिया था। वह रथ लेकर गई। उसने अपने पतिके धनुष्यबाण लेकर डाकुओंसे युद्ध किया तथा उन्हें हराकर अपनी गायें तथा पतिको छुडा लाई। (ऋ० मं० १०। सूक्त १०२)

इन उपरोक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि स्त्रियों को मानसिक शिक्षणके साथ साथ शारीरिक शिक्षण, शस्त्रास्त्र चलाना आदिभी सिखाना चाहिए। ताकि वे भी वीर बनकर समय समय पर न सिर्फ अपनाही रक्षण कर सकें अपितु अपने पतिकी भी रक्षामें समर्थ हो सकें। और जरूरत पडनेपर राष्ट्र का भी रक्षण कर सकती हैं।

उपरोक्त वर्णन से ऐसा न समझना चाहिए कि यह कोई ऐतिहासिक घटना है। जिन्होंने वेदोंका अनुशीलन किया है वे अच्छी तरहसे जानते हैं कि वेदोंमें उपदेश करने की भिन्न भिन्न शैलियां हैं। और उनमें से एक ऐतिह्य भी है। अर्थात् पढनेवाले को ऐसा मालूम पडे कि मानो किसी इतिहासका वर्णन हो रहा है। ऐतिह्य शैली में जब किसी बात का उपदेश करना होता है, तब वेद उसे इतिहास के रूपमें रोचक बनाकर उसका वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिये हम उपरोक्त कथाओं में से दूसरी को लेते हैं।

वेदोंको यह उपदेश करना था कि—

(१) स्त्रियों को वीर बनना चाहिए।

(२) जरूरत पडनेपर युद्ध में पतिका साथ भी देना चाहिये।

(३) लडाई में कोई अंग क्षत हो जाय तो वैद्यों की सहायता से लोहे आदि का नवीन अंग निर्माण कर लेना चाहिए।

(४) वैद्यों को इतना उन्नत होना चाहिये कि वे लोहे आदि धातुका कृत्रिम अंग मनुष्य के शरीर में जोड सकें।

(५) लडाई आदि में जानेके लिये अपनी, अपने पतिकी व राष्ट्र की रक्षा के लिये स्त्रियों को भी शस्त्रास्त्रकी शिक्षा देनी अनिवार्य है, इत्यादि।

उपरोक्त सूक्तों द्वारा यही बताना था और वह उन सूक्तों में ऐतिह्य शैली द्वारा बताया गया है। इस ऐतिह्य शैली का ख्याल एकवार बराबर आ जानेसे पुनः इतिहास-सम्बन्धी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती।

अस्तु। स्त्रियोंको युद्धविद्यासम्बन्धी शिक्षण (Military training) देना चाहिये, इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मं० ५, सू० ३०, मं० ९ में भी वर्णन पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार है।

> **स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः। अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोपप्रैद्युधये दस्युमिन्द्रः॥ (ऋ० ५।३०।९)**

अर्थात् दासने इन्द्र के साथ लडने के लिये स्त्रियों को अपना हथियार बनाया। इन्द्रने स्त्रियों की सेना देखकर सोचा कि ये मेरा क्या बिगाड सकती हैं? उसने उसमें से दो को रख लिया और तब दस्युके साथ लडने के लिये चल पडा।

इस सूक्तमें आलंकारिक रूपसे वर्षाका वर्णन मालूम देता है। तथापि इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि स्त्रियों को युद्धविद्यासंबंधी शिक्षा दी जाती होगी, पर आर्य लोक उनका सैन्य के रूप में उपयोग करते नहीं होंगे। उनका अनिवार्य दशा में ही उपयोग किया जाता होगा। परन्तु शिक्षण देनेकी जरूरत इस वास्ते थी ताकि वे अपना रक्षण कर सकें व जरूरत पडनेपर राष्ट्र की भी मदद कर सकें। ऊपर दिए गए विश्पला आदिके वर्णन भी इसी बातके सूचक हैं।

नीच लोग स्त्रियोंको हथियार बनाकर ऊंचों को जीतने

का प्रयत्न करते हैं, यह भी इस मंत्रसे ध्वनित होता है। इन्द्र को फंसानेके लिए दासने स्त्रियों की सेना इन्द्रपर भेजी, जिससे वह मोहित होकर उन्हीं में फंस जाय, और इस प्रकार इन्द्रका काम तमाम करनेमें उसको कोई कठिनता न हो, ऐसा भी इस मंत्रका भाव ध्वनित होता है। अस्तु। इस प्रकार इस सबसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि वैदिक काल में स्त्रियों को तमाम प्रकार की शिक्षा बिना विरोध दी जाती थी। इस विषयमें मतभेदको स्थान न था।

(ख) स्त्रीके ४ पति अर्थात् युवावस्थामें विवाह।

पुरुष की तरह स्त्री भी ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करके युवा पतिसे शादी करती थी। उसे बाल्यावस्था में ही विवाहित नहीं किया जाता था। जहां बाल्यकाल में विवाह करनेवाला पुरुषही उपलब्ध न होता हो, वहां बालवधूका होना कैसे संभव हो सकता था? अथर्व ११।५।१८ में लिखा है कि ' ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य पालन करके युवा पति को प्राप्त होती है। युवा पतिकी बालपत्नी कैसे संभव हो सकती है? और बालपत्नी के साथ ब्रह्मचर्य का संबंध कैसे जुड सकता है? कन्याएं ब्रह्मचर्यपूर्वक युवती होकर ही शादी करती थीं, इसका निम्न लिखित दो मंत्र सबल प्रमाण हैं। मंत्रों का अर्थ अत्यंत गूढ तथा रहस्य को खोलनेवाला है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि युवती कन्या की ही शादी होती थी। मंत्र इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
(ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४०)

शब्दार्थ— हे स्त्री! तुझे (सोमः प्रथमः विविदे) सोमने सबसे पहले जाना। (उत्तरः) उसके पश्चात् (गन्धर्वः विविदे) गन्धर्वने जाना। उन दोनोंके बाद (ते तृतीयः अग्निः पतिः) तेरा तीसरा पति अग्नि बना। और (मनुष्यजाः) यह जो विवाहकालमें मनुष्य है, वह (तुरीयः) चौथा (पतिः) पति हुआ है। अर्थात् चौथे मनुष्य पतिसे विवाह करनेसे पूर्व स्त्रीके तीन पति सोम, गन्धर्व तथा अग्नि बन चुकते हैं। यद्यपि ये चारों ही स्त्रीके पति हैं, पर प्रत्येक का पतित्व अलग अलग है। इसका रहस्य हम अगला मंत्र देकर खोलेंगे। अगले मंत्रमें कहते हैं कि—

सोमो ददद्गंधर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥
(ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४१)

अर्थ— हे स्त्री! तुझे (सोमः) सोमने (गन्धर्वाय ददत्) गन्धर्व को सुपुर्द किया। (गन्धर्वः) और गन्धर्वने अपनी अवधि समाप्त होनेपर (अग्नये) अग्नि को (ददत्) सौंप दिया। (अथ) उसके बाद (अग्निः) अग्निने (इमाम्) इस स्त्रीको, (रयिं च) धनको (पुत्रान् च) और संतानों को (मह्यं) मुझ अन्तिम चौथे मनुष्य पति को (अदात्) दिया— मेरे हवाले किया।

पहले मंत्र में बताया कि स्त्रीके चार पति होते हैं। जिनमें सबसे पहिला 'सोम' होता है। सबसे पहले सोम स्त्रीका पता लगाता है। उसके बाद दूसरा पति गन्धर्व होता है। क्योंकि सोम के बाद गन्धर्व को उसका पता चलता है। वह सोम की अवधि समाप्त होनेपर दूसरा पति बनता है। तीसरा पति अग्नि है। गन्धर्व से अग्नि स्त्रीको ले लेता है और इस प्रकार अग्नि स्वयं उसका तीसरा पति बनता है। अग्नि अपनी अवधि समाप्त होनेपर स्त्रीको इस चौथे मनुष्य पतिके सुपुर्द करता है ताकि स्त्री अपने चौथे पतिके साथ मिलकर धनसम्पत्तिवैभव तथा पुत्रों को प्राप्त कर सके। इससे निम्न परिणामोंपर हम पहुंचते हैं—

(१) इन उपरोक्त दो मंत्रों को देखनेसे सबसे पहली बात यह स्पष्ट होती है कि पहले तीन पति ऐसे पति हैं कि जिनसे स्त्रीको संतान पैदा नहीं हो सकती और अतएव चौथे मनुष्य पतिकी जरूरत पडती है। इसका मतलब यह हुआ कि—

(क) पहले तीन पति संतानोत्पादक शक्ति न रखते हों, या

(ख) स्त्री संतान उत्पन्न करने लायक न हुई हो अथवा

(ग) पति शब्द यह किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ हुआ हो और अतएव सोम, गन्धर्व तथा अग्नि से स्त्रीकी किसी खास अवस्थाका वर्णन हो और उस प्रत्येक अवस्था के रक्षकों को आलङ्कारिक रूपसे पति बताया गया हो।

(२) दूसरी बात इससे यह स्पष्ट होती है, कि चारों पति क्रमशः होते हैं। एकके बाद दूसरे की बारी आती है। चारों एकही समय में पति नहीं बनते। इतनाही नहीं प्रत्येक पति बिना किसी वादविवाद के खुशी से दूसरे को सौंप देता है ताकि स्त्री उत्तरोत्तर वृद्धि करती जाय। इससे उपरोक्त परिणामों के सदृश ही पता चला कि–

(क) सोम आदि पति मनुष्य पति के समान स्त्रीके उपभोक्ता नहीं।

(ख) सोम आदि स्त्रीकी अवस्थाविशेष का वर्णन होना चाहिए।

(ग) संतान पैदा करना मनुष्य पतिका कार्य होनेसे स्त्रीमें मातृशक्ति आनेसे पूर्वके ही सोम आदि तीन पति होने चाहिए। अर्थात् स्त्रीके कुमारी अवस्था के ही ये तीन पति हैं।

(घ) कुमारी कन्या के विवाह योग्य होनेसे पूर्व अर्थात् संतति उत्पन्न करनेकी अवस्था तक पहुंचनेसे पूर्व उसकी तीन अवस्थायें होती हैं, जिनका कि नाम क्रमशः सोम, गन्धर्व तथा अग्नि है।

सोम, गन्धर्व तथा अग्नि।

सोम, गन्धर्व तथा अग्नि पर विचार करनेसे उपरोक्त परिणामों का रहस्य खुदब खुद खुल जाता है। और साथ में यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि कन्या का विवाहकाल युवावस्था ही है। वेदों में बालिका के विवाह का निर्देश नहीं।

सायणाचार्यने इन मंत्रों पर भाष्य करते हुए सोमादि का रहस्य खोलने का प्रयत्न किया है। वे अपने भाष्य में लिखते हैं, कि– जब तक स्त्रीको विषयभोगकी लालसा उत्पन्न नहीं होती, तब तक उसका सोम पति रहता है। अर्थात् कन्या अवस्था में सोम रक्षण करता है। जब वह कन्या थोडी बडी हो जाती है, अर्थात् जब उसके अङ्गोंका विकास होने लगता है, तब वह गन्धर्व की रक्षा में होती है। और रजस्वला होकर संतानोत्पत्ति के लायक होती है, तब तक अग्नि के संरक्षण में रहती है। और उसके बाद धन व संतति के लिए मनुष्य पतिको प्राप्त होती है।

स्मृति ने इसकी और भी सुन्दर तथा स्पष्ट व्याख्या की है। उस से सोम आदिका रहस्य सर्वथा खुल जाता है। अत्रि लिखते हैं कि– स्त्रियों को मनुष्यों से पहिले देवता–गण भोगते हैं। पर इससे स्त्रियां पतित नहीं हो जातीं। क्योंकि स्त्रीके अङ्गोंपर (गुप्ताङ्गोंपर) बाल उगते हैं, तब उसका सोम उपभोग करता है। और जब उनके अंग विकास (स्तनादि) होते हैं, तब गन्धर्व उनका उपभोग करता है। और जब वे मासिक धर्मसंयुक्त होती हैं तथा जवानी खिल निकलती है और शरीर पर युवावस्थाका रूप चमकने लगता है, तब अग्नि उनका उपभोग करता है।

इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की ये वृद्धि की भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं, जिनमें उनकी शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि होती है। उसी का यह आलंकारिक वर्णन है। इन तीन प्रकार की अवस्थाओंसे उन उन देवताओं का क्या संबंध है, अब उसपर थोडासा विचार करते हैं।

सोम– यह तो प्रसिद्ध ही है कि सोम 'शस्याधिपति' है। अर्थात् सोम वनस्पतियों का राजा है। इसके साथही साथ सोम मनका भी अधिपति है। कन्या की शारीरिक वृद्धि जिसमें कि केश आदि की वृद्धि भी समा जाती है, सोमके आधीन है। इसी प्रकार मानसिक वृद्धि भी सोम के निरीक्षण में ही होती है। अन्न परही शरीर व मानसिक वृद्धि निर्भर है। अतएव शारीरिक व मानसिक वृद्धि की अवस्था सोमके आधीन होनेसे उसे स्त्रीका प्रथम पति (पालक) कहा गया है।

गन्धर्व– गन्धर्व लावण्य का स्वामी है। अर्थात् स्त्रीके शरीर में अङ्गों की योग्य वृद्धि से जो उसमें आकर्षण–शक्ति आती है, वह गन्धर्व की वजह से है। गंधर्व की संरक्षकता में स्त्रीके स्तनादि गुप्त अङ्गों की आवश्यक वृद्धि

होती है। आंखोंका विकास होकर उनमें आकर्षण-शक्ति आती है। हाथ, छाती, कमर आदि विकसित होकर शरीर की शोभा बढाते हैं। एक तरह से सम्पूर्ण शरीर रूप-लावण्य का घर बन जाता है। इस कार्य का स्वामी गन्धर्व होनेसें उसे स्त्रीका दूसरा पति बताया है।

अग्नि— जब इससे भी आगे स्त्री की अवस्था बढ जाती है, तब वह अग्नि के स्वाधीन होती है। स्त्री के शरीर में नियमित मासिक धर्म आना तथा उसे गर्भधारण के लायक बनाना अग्नि का कार्य है। प्रायः पाठकों को ज्ञात ही होगा कि सर्द देशोंकी अपेक्षा गर्म देशों की स्त्रियां शीघ्र अर्थात् अपेक्षाकृत छोटी अवस्था में ही ऋतुमती होती हैं। अस्तु। इस प्रकार स्त्रीका तीसरा पति अग्नि बनता है। जब इस अवस्था को स्त्री प्राप्त होती है तब अग्नि उसे चतुर्थ मनुष्यपतिके स्वाधीन करता है। अर्थात् यही अवस्था स्त्री की विवाहावस्था है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि उपरोक्त परिणामों में क्या रहस्य है। वैदिक धर्मानुसार स्त्रियां युवावस्था में ही ब्याही जाती हैं, यह इस से पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है।

(ग) गृहस्थाश्रममें स्त्रीका स्थान।

वेदकी दृष्टिमें गृहस्थाश्रम में स्त्रियोंकी क्या स्थिति होनी चाहिए, इस बात का पूर्ण ख्याल आनेके लिए हम निम्न वेदमंत्रों पर विचार करेंगे—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
(अथर्व० १४।१।४३)

(यथा) जिस प्रकार (वृषा सिन्धुः) बलवान् समुद्रने (नदीनां साम्राज्यं) नदियोंका साम्राज्य (सुषुवे) उत्पन्न किया है, (एव) उसी प्रकार हे स्त्री! (त्वं) तूभी (पत्युः अस्तं) पतिके घरको (परेत्य) जाकर (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी बनी हुई हुई (एधि) दिनों दिन वृद्धिको प्राप्त होती रह। इतनाही नहीं तेरा घरमें घरके तमाम व्यक्तियों पर साम्राज्य हो। तू सबकी सम्राज्ञी है।

अगला मंत्र इस बातको स्पष्ट करता हुआ कहता है कि—

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥
(अथर्व० १४।१।४४)

हे स्त्री! तू (श्वशुरेषु) श्वसुरवर्गमें, (उत) और (देवृषु) देवरों में, (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी हुई हुई (एधि) वृद्धिको प्राप्त होती रह। इसी प्रकार (ननान्दुः) ननंदकी (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी हुई हुई (उत) और (श्वश्र्वाः) सासकी भी (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी हुई हुई (एधि) नित्य वृद्धिको प्राप्त होती रह।

यह कितना बडा अधिकार है! इतना बडा अधिकार तथा आदर सिवाय वैदिक धर्मके अन्य किसी भी धर्म में स्त्रीको प्राप्त नहीं। स्त्रीको इतना अधिकार देनेके पश्चात् वह इस अधिकार का विशेष दुरुपयोग न करे, अतः निम्न लिखित मंत्रमें उसे सबके प्रति कल्याण की दृष्टि से देखने व व्यवहार करने के लिए कहा है। वेदों की प्रायः यह शैली है कि प्रथमतः प्रत्येक को उसके अधिकार तथा शक्ति का ज्ञान कराया जाता है, ताकि उसे वह प्राप्त करे और तब अपने ऊपर संयम रख सके। अतः उसे दूसरा उपदेश उन अधिकार व शक्तियोंका यथावत् जनकल्याणार्थ किंवा अपने कल्याणार्थ कैसे करना चाहिए, इस बातका उपदेश किया जाता है। उसी प्रकार यहां भी स्त्री को उपदेश देते हैं कि—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

अर्थात् हे स्त्री! तू (अघोरचक्षुः) क्रूर दृष्टिवाली न होती हुई (अपतिघ्नी) पतिकी हिंसा न करनेवाली होती हुई, (सुमनाः) उत्तम मनवाली होकर तथा (सुवर्चाः) उत्तम तेजबल से संपन्न हुई हुई, (पशुभ्यः शिवा) पशुमात्रके लिए कल्याणकारी होती हुई (एधि) वृद्धि को प्राप्त हो। (वीरसूः) वीर संतानों की जन्म-दात्री, (देवृकामा) देवरको चाहनेवाली (स्योना) सुखदायक तू (नः) हमारे (द्विपदे शं चतुष्पदे शं भव) दो पैरवाले मनुष्य आदि तथा चार पैरवाले गाय आदि पशुओं को सुख देनेवाली हो।

स्त्री की क्रूर दृष्टि होनेसे घर तो क्या, बडे बडे साम्राज्य भी नष्ट हो जाते हैं। इतिहास इसमें साक्षी है। अतः स्त्रीसे कहा गया है कि तू तेजस्वी तथा उत्तम विचारवाली होती हुई सबपर कृपादृष्टि रख। घरमें रहने-

वाले देवर आदि बन्धुबांधव तथा दूधादि देनेवाले चौपायों पर भी तेरी सर्वदा कृपादृष्टि बनी रहे। तेरे साम्राज्य में पतिसे लेकर पशुतक सबके सब सुखी रहें। उन्हें सुखसें रखना तेरेही स्वाधीन है। क्योंकि तू गृहस्थरूपी साम्राज्य की सम्राज्ञी है।

(घ) धार्मिक कृत्योंमें स्त्रीको पूर्ण स्वतंत्रता।

पुरुषकी तरह स्त्री भी धार्मिक कृत्योंसें पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है। भारत में पैदा हुईं हुईं गार्गी मैत्रेयी आदि विदुषी नारियां इसमें प्रमाण हैं। प्रत्येक स्त्रीको वेद पढनेका पूर्ण अधिकार है। यज्ञादि करनेकी पूर्ण छूट है। धार्मिक कृत्यों में किसी भी प्रकार प्रतिबंध नहीं। पत्नी शब्दकी व्युत्पत्ति स्वयं बताती है कि यज्ञाधिकारके बिना पत्नी शब्द बनही नहीं सकता। यज्ञकर्मसें भाग लेनेसेही वह पत्नी कहला सकती है, अन्यथा नहीं। इसमें निम्न लिखित वेदमंत्रभी प्रमाण है-

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्ताऽमृताय कम्।
समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः॥
(ऋ० ८।३१।९)

(वीतिहोत्रा) जिन दोनों स्त्रीपुरुषोंको अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म प्रिय हैं और जो (कृतद्वसू) धर्म-धनसे सम्पन्न हैं और जो (दशस्यन्ता) दानशील हैं, ऐसे दंपती (अमृताय कम्) अमृत-मोक्षके योग्य होते हैं। ऐसा दम्पती (ऊधः रोमशं) ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करता हुआ (संहतेः) परस्पर सदा मिले रहते हैं- उनमें कभी कभी वियोग नहीं होता। (देवेषु) वे देवोंकी (दुवः कृणुतः) सदा सेवा करते रहते हैं।

इस प्रकार और भी बहुतसे मंत्र पेश किए जा सकते हैं, जिनके कि द्वारा स्त्रियों के यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के अधिकार सिद्ध हो सकते हैं।

वस्तुतः स्त्रियोंके लिए वेद पढनेके अधिकार का प्रश्न उपस्थित करना ही फजूल है। यज्ञादिमें स्त्रीका मंत्र पढने का विधान तभी चरितार्थ हो सकता है जब कि वह वेद पढी हुई हो। विवाह आदिमें प्रतिज्ञा के मंत्र स्त्री तभी पढ सकती है व समझ सकती है, जब कि उसने वेदादि शास्त्रोंका पुरुषकी तरह अध्ययन किया हो। श्रौत सूत्रादि में लिखा है कि-

इयं मंत्रं पत्नी पठेत्। अर्थात् इस मंत्रको पत्नी पढे। पर यह तभी संभव हो सकता है, जब कि पत्नी मंत्र पढी हुई हो। अस्तु। अतः उपरोक्त सवाल उठानाही व्यर्थ है। स्त्रीभी पुरुषकी तरह वेदादि शास्त्र यथावत् पढ सकती है। उसके लिए किसीभी प्रकार का शास्त्रप्रतिषेध नहीं है।

इसमें और भी प्रमाण ऋग्वेद १।२८।३; ५।४३।१५; ८।३१।५-८; १०।४०।१०१ हैं। विस्तारभय से यहांपर सिर्फ निर्देश मात्र किया है।

आजकल यह भी एक बडे भारी विवाद का विषय हुआ हुआ है कि स्त्री को यज्ञोपवीत पहनना चाहिए या नहीं? अर्थात् स्त्री को यज्ञोपवीत पहननेका हक हैं या नहीं? इसी प्रसंग में यह भी एक वाद का विषय है कि यज्ञोपवीत धारण करना वैदिक है या स्मार्त? अर्थात् यज्ञोपवीतका विधान वेदोंमें भी है या सिर्फ स्मृतियोंमें ही? हमें यहां इन दोनों प्रकार के वादविवाद में नहीं उतरना। हम तो इतना ही मानकर आगे चलेंगे कि वेदारम्भ-संस्कार से पूर्व यज्ञोपवीत-संस्कार होना लाजमी है। जिसने विधिवत् यज्ञोपवीत धारण नहीं किया, उसे वेदाध्ययन करनेका अधिकार नहीं। उसे वेदमंत्रोंसे धार्मिक कृत्य करनेका हक नहीं।

जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं, वेदमें स्त्रीको धार्मिक कृत्य करनेकी पूर्ण स्वतंत्रता है। यही नहीं उसकी गैर-हाजरीमें गृहस्थी यज्ञयागादि भी नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में स्त्री को यज्ञोपवीत धारण करनेका अधिकार न हो, यह बात किसी भी तरह समझ में नहीं आ सकती। स्त्रीको वेद पढनेका अधिकार न हो, तो वह यज्ञयागादि में पतिके साथ शामिल ही कैसे हो सकती है?

यज्ञोपवीतके विधान की दृष्टि से भी ख्याल किया जाय, तो भी यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, कि स्त्रीको यज्ञोपवीत धारण करना ही चाहिए। पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण चुकानेका प्रतिक्षण ध्यान रखनेके लिए यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। ये तीनों ऋण जिस तरह पुरुषको चुकाने जरूरी हैं, उसी प्रकार स्त्री को भी। अतः पुरुष की तरह स्त्री को भी यज्ञोपवीत धारण करना ही चाहिए।

गृह्य सूत्र में लिखा है कि–

'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत्–
सोमोऽददद् गन्धर्वायेति।' (२।६।१९)

इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि गृह्यसूत्रकार को भी स्त्री का यज्ञोपवीत धारण करना सम्मत था।

वास्तव में देखा जाय तो गृह्य सूत्रकार या अन्य प्राचीन शास्त्रकारों को इस बातका स्वप्न में भी ख्याल नहीं था, कि उनके पीछे आनेवाले अनुयायी गण इन फजूल की बातों में झगडा करेंगे। उन्हें इस बात की जरा भी आशंका होती, तो वे अवश्य ही कुछ न कुछ निर्देश किए बिना न रहते। बडे दुःख की बात तो यह है कि हम इन्हीं बातों के झगडों में पडे रहते हैं और वास्तविक मार्ग की ओर ख्याल भी नहीं जाता। हमारा बहुतसा अमूल्य समय यूं ही नष्ट होता चला जा रहा है।

(ङ) समाजमें स्त्रीकी आर्थिक स्थिति।

निरुक्तकार यास्कमुनिने इस संबंधी पर्याप्त चर्चा की है। उन्होंने पुत्रकी तरह कन्या का भी पैत्रिक सम्पत्ति में हक है या नहीं, इस पर काफी लंबी चौडी चर्चा की है। उनकी चर्चामें प्रथम पक्ष उनका है, जो कि यह कहते हैं कि कन्या दायभागकी अधिकारिणी है। इस पक्षवालों की युक्तियों का सारांश तथा प्रमाणभूत वेदमंत्र निम्न लिखित है।

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (ऋ० ३।३१।१)

युक्तियां इस प्रकार से हैं–

(१) गर्भाधानयज्ञ के मंत्र तथा गर्भाधानविधि, पुत्र और पुत्री दोनोंके पैदा करनेके लिए समान हैं।

(२) वीर्य–प्रक्षेप भी समानही होता है।

(३) जब कन्या व पुत्रकी उत्पत्ति एक समान है, तो कोई कारण समझ में नहीं आता कि कन्या के साथ क्यों न पुत्रभाव से वर्ता जाय?

(४) उपरोक्त मंत्रमें भी कन्या (पुत्री) को पुत्रवत् कहा गया है।

अतः पुत्र–पुत्री दोनों ही दायभागके समान अधिकारी ही होने चाहिए।

इसका उत्तरपक्ष कहता है, कि नहीं, कन्या दायभाग की अधिकारिणी नहीं हो सकती। वे अपने कथन की पुष्टिमें निम्न एकही मुख्य युक्ति पेश करते हैं–

(१) क्योंकि कन्याओंका दान, विक्रय तथा परित्याग किया जाता है, पुत्रका नहीं। अतः कन्या दायभाग की अधिकारिणी नहीं।

परन्तु पूर्वपक्षवाले कहते हैं, कि यह युक्ति ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा तो पुत्रके साथ भी किया जाता है। उदाहरणार्थ स्मृतिग्रंथों में दत्तक, क्रीतक पुत्र प्रसिद्ध ही हैं। और किसी विशेष हेतुसे कन्या की तरह पुत्रको भी घरसे निकाल दिया जाता है। सगर का पुत्र असमंजस तथा विजयसिंह का पुत्र सिंहबाहु आदि घरसे निकाले ही गये थे। इसी प्रकार शुनःशेप के आख्यान में शुनःशेपका विक्रय पाया जाता है। अजीगर्त के शुनःशेप, शुनःपुच्छ और शुनोलाङ्गूला नामके तीन पुत्र थे। एक समय अजीगर्त अत्यंत भूख से पीडित हुआ हुआ जंगल में इधर उधर विचर रहा था। उस समय हरिश्चन्द्र से १००) लेकर उसको शुनःशेप बेच दिया। अतः दान, विक्रय तथा अतिसर्ग की युक्ति से कुछ परिणाम नहीं निकल सकता।

यास्काचार्य वेदमंत्रों की सहायता से सिद्धांत पक्ष स्थापित करते हैं कि– "जिस कन्याके भाई न हों, उसी कन्याको दायभागका अधिकार है।" इसके लिए वे अथर्ववेद (१।१७।१) का मंत्र पेश करते हैं कि–

अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥
(अथर्व० १।१७।१)

(अमूः याः लोहितवाससः सर्वाः जामयः यन्ति) ये जो वस्त्रों को लोहुलोहान करनेवाली सारी नाडियां बह रही हैं, (अभ्रातरः योषाः इव) वे भाईरहित स्त्रियों की तरह (हतवर्त्मनः तिष्ठन्ति) रास्ता रोककर पडी रहती हैं।

इस मंत्रका भावार्थ यह कि जिस प्रकार भाईरहित कन्या

मातापिता की वृद्धावस्थामें सेवा करने के लिए रहने की वजहसे विवाह आदि से रुक जाती है, उसी प्रकार ये नाडियां गर्भपोषण के लिए रक्तस्राव से रुक जाती हैं। गर्भवती स्त्रीका ऋतुस्राव बंद हो जाता है।

यहांपर उपमारूपसे भाईशून्य कन्या का विवाह नहीं होता, ऐसा बताया है। और उसमें हेतु यह दिया गया है, कि पुत्र की तरह माबापकी सेवा के लिए कन्या को पुत्रका कार्य करना पडता है। अतः ऐसी हालत में वह कन्या पति के घर को नहीं संभाल सकती। इसी बात का मनु भी अनुमोदन करते हुए लिखते हैं कि–

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशंकया॥
(मनुः ३।११)

यहांपर एक बात और भी है कि अगर ऐसी कन्यासे विवाह कर भी लिया जाय, तो प्रथम सन्तान को उसका नाना उसे दत्तक ले लेता है। ऐसी अवस्थामें जिसे यह बात स्वीकृत हो, वही उस कन्यासे शादी करेगा।

उपरोक्त विवेचनसे स्पष्ट है, कि कन्याको दोनों ओर से अर्थात् पिता व पति की ओर से योग्य दायभाग मिलने का विधान है। अगर वह कुमारी रही, तो उसे पिता की ओर से मिलेगा और अगर विवाह हुआ, तो पति की ओर से प्राप्त होगा।

इस विषय में एक और भी पक्ष है कि अगर पुत्र होने से पूर्व पिता कन्या को बतौर पुत्र के स्वीकार कर ले और पीछेसे पुत्र उत्पन्न हो, तो ऐसी कन्या को व पुत्र को दायभाग समान रूपसे बांट दिया जाय।

इस पक्षको मनुने भी स्वीकृत किया है। वे लिखते हैं कि–

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियः॥
(९।१३४)

इस मतका पोषक मन्त्र इस प्रकार से है–

न जायते तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ (३।३१।१)

अर्थात् आत्मज पुत्रकी उपस्थिति में कन्या को दायभाग नहीं मिलता। परंतु यदि मातापिता के पुत्रिका बनाने के पश्चात् पुत्र उत्पन्न हो, तो कन्या और पुत्रमें दायभाग आधा आधा बांट दिया जाता है।

दायभागकी इस व्यवस्था पर विचार करनेसे हम निम्न परिणामों पर पहुंचते हैं–

(१) भाईवाली कन्याको पिताकी संपत्तिमें हक नहीं।

(२) विना भाई की कन्या पिताकी संपत्तिकी अधिकारिणी है।

(३) पिता कन्याको पुत्रकी अनुपस्थितिमें पुत्र स्वीकार कर ले तो कन्या का पैत्रिक संपत्तिपर हक हो जाता है। चाहे पीछेसे पुत्र उत्पन्न भी हो जाय।

(४) कन्या का विवाह अवश्यही करना चाहिएं। बशर्ते कि वह भाईरहित न हो।

इन परिणामों में से हमें पहले व चौथेपर ही थोडासा विचार करना है। शेष पर विचार करने की आवश्यकता नहीं।

भाईवाली कन्या का पैत्रिक संपत्तिमें हक क्यों नहीं रखा गया, इसपर थोडासा विचार करनेसे स्वयं खुलासा हो जाता है। पिता के वंशको चलानेके लिए तथा अपने तमाम आबालवृद्ध कुटुंब को पालने–पोषने की जबाबदारी पुत्रपर है। कन्या विवाहित होकर दूसरे घर में जाती है और इस प्रकार पितृकुलके लिए वह सर्वथा निरुपयोगी हो जाती है। ऐसी दशामें उसे अगर दायभाग दिया जाय तो शेष कुटुंब तकलीफ में आ पडता है। अतः पितृकुलके संरक्षण के लिए परमावश्यक है कि कन्या के लिए पैत्रिक संपत्तिमें हक न हो। विवाहित हो जानेपर कन्या का भार पतिकुल पर आ पडता है, अतः यह भी सवाल उपस्थित नहीं हो सकता कि कन्या का भरण-पोषण कैसे हो।

उपरोक्त कथन जिनके ख्यालमें आ गया होगा, उनके लिए चौथे परिणाम पर सोचना कुछ कठिन नहीं। जब भाईवाली कन्याको पिताकी संपत्तिमें कुछ अधिकार ही नहीं, तो उसके भरणपोषण के प्रश्न को हल करने के लिए

उसका विवाह कर देना अनिवार्य ही है। सिवाय पतिकुल में जाकर उसे जो उच्च अधिकार तथा सुख प्राप्त होते हैं, वे पितृकुलमें मिलने असंभव हैं। पतिकुलमें स्त्रीकी स्थितिके विषयमें हम ऊपर लिख आये हैं। उससे पाठक भली भांति समझ सकेंगे कि स्त्री को पतिकुलमें कितना अधिक सुख है, कितना अधिक मान है और कितने बडे अधिकार हैं।

(च) एक पत्नी व अनेक पत्नी।

वेदोंमें स्थान स्थान पर एक से अधिक विवाह की निन्दा की है। जहां कहीं किसी वस्तु की विशेष निंदा करनी होती है, तो वहां बहुपत्नीवाले की उपमा देकर उसके प्रति घृणा पैदा की जाती है, ताकि बहुविवाहका मनुष्य स्वप्न में भी ख्याल न करे। इन्द्रादि देवताओंकी एकसे अधिक पत्नीयों का वर्णन आता है, पर साथ ही ऐसा भी वर्णन मिलता है कि जिसमें एक पत्नी अपनी सपत्नी के विनाश की प्रार्थना करती रहती है। इस अलंकारिक वर्णन से भी यही सिद्ध किया गया है कि एकसे ज्यादा दो भी पत्नियां नहीं करनी चाहिए। इसके लिए ऋग्वेद मं० १०, सूक्त १४५ तथा १५९ देखने लायक हैं। इन सूक्तों के ऋषि, इन्द्राणी तथा शची पौलोमी हैं। ये दोनों एक ही के नाम हैं। पहले हम १४५ वां सूक्त पाठकों के सामने रखते हैं। इस सूक्तका ऋषि इन्द्राणी है तथा 'सपत्नी–विनाश' देवता (विषय) है। कुल ६ मंत्र हैं।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविंदते पतिम् ॥१॥

इन्द्राणी कहती है कि इस औषधिभूत बलवान् बेलको खोदती हूं। क्योंकि इससे सपत्नीका विनाश होता है व पतिकी प्राप्ति होती है।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु ॥२॥

हे ऊपरको मुख किए हुए पत्तोंवाली, सौभाग्य देनेवाली, देवोंकी प्रिय तथा पराजय करनेवाली औषधि! तू मेरी सपत्नी को दूर भगा दे। मेरे पतिको सिर्फ मेरा ही बना दे।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अथा सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥३॥

मैं श्रेष्ठोंसे श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतरोंमें भी श्रेष्ठतम बनूं। और मेरी जो सपत्नी है वह निकृष्टोंमें निकृष्टतर तथा निकृष्टतरोंमें भी निकृष्टतम बने। अर्थात् मैं सबसे श्रेष्ठ बनूं और मेरी सपत्नी सबसे निकृष्ट बने।

न ह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥४॥

इतना ही नहीं, मैं तो उस सपत्नीका नामतक भी नहीं लेती। और उस सपत्नीके साथ कोई क्रीडा भी नहीं करता। हम तो उस सपत्नीको दूरसे दूर भगा देते हैं।

अहमस्मि सहमानाथ त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै ॥५॥

हे औषधि! मैं तो उस सपत्नीका विनाश करनेवाली हूं और तू भी उसका विनाश करनेवाली है, इसलिए हम दोनों ही अभिभव करनेवाली हुई हुई मेरी सपत्नीका पराभव करें।

उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु
पथा वारिव धावतु ॥६॥

अंतमें इन्द्राणी अपने पतिसे कहती है कि हे पति! इस सपत्नी–विनाशक औषधिको तेरे सिरपर बांधती हूं! इस सपत्नीका पराभव करनेवाली इस औषधि से तेरे सारे शरीर को बांधती हूं। जिससे कि तेरा मन मेरे प्रति ऐसा दौडता रहे, (खिंचा रहे) जैसा कि बछडे के पीछे गाय तथा नीचे रस्तेकी ओर पानी।

इस सूक्त में सपत्नी के प्रति कितना सख्त रोष दर्शाया गया है, यह उपरोक्त वर्णनसे हर कोई देख सकता है। यह सूक्त हमें बताता है कि–

(१) पुरुष अगर एक स्त्रीकी दशामें दूसरी करना भी चाहे तो नवीन स्त्री को इतना डर रहना चाहिए कि पुरानी स्त्री मानो उसे खा जायगी। अतः स्त्रीको चाहिए कि जिसके एक स्त्री हो, उसके साथ कभी भी विवाह न करे।

(२) जो पुरुष दूसरी स्त्री करे, उसे पहिली स्त्री ओषधि आदि देकर उसका दिमाग ठीक करे। उसपर अपनी मोहकता का जाल फैलाये, तथा दोनों पतिपत्नी मिलकर उस सपत्नी को दूर भागा दें।

यह सूक्त जहां दूसरी पत्नी करने का विरोध करता है, वहां स्त्रियों को भी शिक्षा देता है कि वे उसका सख्त विरोध करें और तदर्थ सब प्रकारके उपाय लें। तिसपरभी यदि पति न माने और कोई मूर्ख स्त्री उस से शादी कर भी ले, तो पुरानी स्त्री उस सपत्नी को हर प्रकार से कष्ट देकर भगा दे। अतः स्त्रियों को भी चाहिए कि वे सपत्नी न बनें तथा सपत्नियों से घृणा करें।

बहुविवाहके दोषवर्णन द्वारा एक विवाहका एकही पत्नी के होने का यहां कितना जोर से प्रतिपादन किया गया है, यह सूक्त के वर्णन से स्पष्ट है। अब हम १५९ वें सूक्तपर विचार करते हैं। उसका ऋषि शची, पौलोमी (इन्द्राणी) ही है। इसमें भी छः ही मंत्र हैं। इस सूक्त में सपत्नी का विनाश कर देनेसे स्त्री आनन्द प्रकट कर रही है। वह कह रही है कि—

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥१॥

आज मेरा सूर्य उदय हुआ। आज मेरा भाग्य खुला। क्योंकि आज मुझे अपना पति प्राप्त हुआ। आज मैं वस्तुतः सपत्नी का पराभव करनेवाली हुई। क्योंकि मैंने सपत्नी का पराभव किया।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ २ ॥

आज मैं सबका पथप्रदर्शक हुई। आज मैं सब में मुख्य हुई। इतनाही नहीं मैं आज पति को सपत्नी से बचानेवालियों में उग्र हुई। अब मेरा पति मुझ, सपत्नी का पराभव करनेवाली के ही कार्य का अनुसरण करता है।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥३॥

मेरे पुत्र शत्रुओं का विनाश करनेवाले हैं। मेरी लडकी भी उसी तरह से विराट् है। और मैं भी सपत्नी को अच्छी तरह से जीतनेवाली हूं। पतिको भी अपने दिलमें मेरे प्रति अत्यंत मान है।

येनेंद्रो हविषा कृत्व्यभवद्द्युम्न्युत्तमः ।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥ ४ ॥

जिस हविसे इन्द्र कृत्वी अर्थात् उत्तम कार्यों का करनेवाला, तथा धनधान्यसे भरपूर तथा सबमें उत्तम हो गया था, देवों ने मेरे पतिके साथ भी वैसा ही किया जिससे मैं निश्चय से सपत्नी आदि शत्रुओंसे रहित हो गई हूं।

असपत्ना सपत्नघ्नी जयंत्यभिभूवरी ।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥५॥

आज मैं शत्रुरहित हो गई; सपत्नी का विनाश करनेवाली हो गई। सबको जीतनेवाली बन गई। इतनाही नहीं मैंने अन्य सपत्नीयों का तेज, धन, संपत्ति आदि सबका विनाश कर दिया। जिस प्रकार कि अस्थिरों का धन, तेज विनष्ट हो जाता है।

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी ।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥६॥

अभिभव करनेवाली मैंने इन तमाम सपत्नीयों को जीत लिया है। इस से मैं आज इस मेरे वीर पति के पास में शोभायमान हो रही हूं। और जनसमाजमें भी मेरी मान- प्रतिष्ठा हो गई है।

उपरोक्त दोनोंही सूक्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। सपत्नी के साथ स्वप्न में भी समाधानकी कल्पना नहीं है। इससे पता चलता है कि सपत्नी के प्रति वेदों को कितनी चिढ है। सपत्नी के प्रति दयाभावका नाम निशान नहीं। सपत्नीका नाम निशान न मिट जाय तबतक चैन नहीं। ये सूक्त विशेषकर स्त्रियों को तथा पुरुष दोनों ही को बताते हैं कि एक समय में एक पुरुषके एकही जीवित पत्नी होनी चाहिये। अब हम कुछ ऐसे वेदमंत्रों का प्रमाण पेश करते हैं, जिनमें कि उपमाद्वारा बहुपत्नी का सख्त विरोध किया गया है। निम्न स्थलोंमें उपरोक्त निर्देश मिलते हैं।

(१) सं मां तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
(ऋ० १।१०५।८)

अर्थात् जैसे पास रहनेवाली सपत्नी स्त्रियां पतिको अच्छी तरह सताती हैं, उसी प्रकार... यहांपर बहुतसी पत्नीवाले पतिकी क्या दुर्दशा होती है, उसका निर्देश किगा गया है ।

(२) कुयवस्य योषे हते ते स्यातां ... ॥
(ऋ. १।१०४।३)

अर्थात् जिस प्रकार कुत्सित अन्नवाले अर्थात् दरिद्रकी दो पत्नियां लडकर मर जाती हैं ।

इसी प्रकार औरभी स्थल हैं, जहां कि इस प्रकार का निर्देश पाया जाता है । पर यह सब होते हुए भी निम्न लिखित कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनमें से कि बहुविवाहकी भी गंध आती है । उपस्थानों में जो शब्दरचना है वह विशेष विलक्षण होने से बहुविवाहका परिणाम निकाला जा सकता है । इन सब स्थानोंमें पति एकवचनांत है तथा पत्नी बहुवचनांत है । अतः उपरोक्त परिणाम निकाला जा सकता है । पतिकी तरह पत्नी भी एक-वचनांत या पत्नीकी तरह पतिभी बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ हुआ होता, तो यह समस्या हल हो जाती थी। वे स्थल निम्न लिखित हैं ।

(१) पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशान्ति...।
(ऋ० १।६२।११)

कामना करते हुए पतिको जिस प्रकार पत्नियां आलिङ्गन करती हैं...।

(२) ... पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः ।
(ऋ० १।७१।१)

अर्थात् समान घर में निवास करती हुई स्त्रियां जिस प्रकार पतिको...।

(३) राजेव हि जनिभिः क्षेषि..। (ऋ०७।१८।२)
अर्थात् जिस प्रकार राजा अपनी स्त्रियों के साथ रहता है, उस प्रकार तू रहता है । यहांपर राजाकी बहु-पत्नियाँ बताई गई हैं ।

(४) जनीरिव पतिरेकः नि मार्मृजे ...।
(ऋ० ७।२६।३)

अर्थात् जिस प्रकार अकेला पति अपनी पत्नियों को ढूंढता है उसी प्रकार... ।

(५) परिष्वजंते जनयो यथा पतिं ...।
(ऋ० १०।४३।१)

अर्थात् जिस प्रकार पत्नियें पतिका आलिङ्गन करती हैं।

यद्यपि इन स्थलों में ऐसा निर्देश पाया जाता है कि जिनसे बहुविवाह का परिणाम निकाला जा सकता है, तथापि उपरोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि वेद एकसे ज्यादा पत्नियों का होना किसी भी तरह से अच्छा नहीं समझता । जो मनुष्य बहुपत्नी करता है, उसकी क्या दुर्दशा होती है, तथा जो स्त्री एक पत्नीवाले के साथ विवाह करती है, उसकी क्या हालत होती है, यह स्पष्ट शब्दोंमें बताकर अर्थापत्तिद्वारा बताया गया कि एक पतिके एक पत्नी का होना ही सुखकर-श्रेयस्कर है । वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से वे मनुष्यका स्वभाव जानते ही हैं कि नियम की कितनी भी पा बंदी हो, तो भी मनुष्य स्वच्छंद होने से बुराई की ओर झुकता ही है । अतः उसे उस बुराईके फलका वर्णन व परिणाम बता दिया जाय, तो संभव है कि वह बहुत अंशमें बच सके। एकपत्नी होना आदर्श व सुखकर है, तथा बहु पत्नी करना निन्द्य तथा दुखकर है । इतना होते हुए भी दुःख के गढे में कोई पडना चाहे तो कोई क्या कर सकता है ?

(छ) एक स्त्रीके अनेक पति ।

जिस प्रकार एक पुरुषके एकही पत्नी होना आदर्श है, उसी प्रकार एक स्त्रीके एक पति ही होना आदर्श है। वेदों में इस संबंधी जिन स्थलों से परिणाम निकाला जाता है वे वेदों के निम्न स्थल हैं । (क) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६७ सूक्त के ४–५–६ मंत्र हैं। जिनपर बहुपति का वेदों में पाया जाना बताते हैं । पर इन मंत्रोंसे यह बात बिलकुल सिद्ध नहीं होती । उनमें आलंकारिक वर्णन है । उनसे यह साबित करना मूर्खता की परिसीमा है । इस सूक्त के 'मरुतः' देवता हैं, जिसका यहांपर अर्थ मनुष्य नहीं है, बल्कि वायु है। सूक्त में वर्षा के समय के विद्युत् व वायुका वर्णन है। मंत्र इस प्रकार है-

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः । न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ॥ (ऋ. १।१६७।४)

बादलों का जोडतोड करनेवाली अपनी साधारण गतिसे ही मानो गतिशील शुभ्र वायुगण दूर दूर तक की जमीनको सींच देते हैं। और इस प्रकार द्यावापृथीवीका अपमान नहीं करते। या वायु मेघ तथा विद्युत को उडा कर नहीं ले जाते।

उल्टा घोर शब्द करते हुए मित्रों को बढाते हैं। अर्थात् जलसिंचनद्वारा सबकी वृद्धि करते हैं।

जोषयदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः। आ सूर्येव विधतो रथं गात्त्वेषप्रतीका नमसो नेत्या॥ (ऋ० १।१६७।५)

जब बादलों में उत्पन्न होनेवाली यह विद्युत् अपनी जातजात की विशिष्ट किरणों के साथ जलों का संचय करने के लिए प्राप्त होती है, तब द्यावापृथिवी को इस प्रकार व्याप्त कर देती है, जिस प्रकार कि सूर्य के रथ को सूर्या (मध्याह्नकालीन सूर्यतेज) और सूर्यकी गति।

आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्। अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान् गायद्गाथं सुतसोमो दुवस्यन्॥ (ऋ० १।१६७।६)

जोडतोड करनेवाले वायु उस पदार्थोंमें छिपी हुई, जलोंमें व्याप्त रहनेवाली बिजली को जलवृष्ट्यर्थ स्थापित करते हैं- प्रकट करते हैं। कब ? जब कि सुतसोम, हविष्मान् स्तोता वायुओं का स्तुति गान करता है।

यहांपर यज्ञद्वारा वृष्टि प्राप्त करने का वर्णन है। परंतु पाश्चात्य विद्वान् तथा उनकाही अनुकरण करनेवाले हमारे विद्वान् 'युवतिं युवानः' इस पदको देखते ही बस, अपना मतलब निकालने के लिए खैंचातानी करने लग जाते हैं। वे उसके रहस्य को जराभी जाननेका प्रयत्न नहीं करते।

निम्न लिखित मंत्रमें दो पुरुषों की एक स्त्री का सा वर्णन पाया जाता है।

विभिद्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः॥
(ऋ० ८।२९।८)

जिस प्रकार प्रवासी दो पुरुष एकही स्त्री के साथ रहते हैं, उसी प्रकार हे अश्विनौ ! तुम दोनों अपनी एक ही पत्नी सूर्या के साथ अश्वोंसे जाते हो।

इस प्रकार के ऐसे मंत्र क्वचित् उपलब्ध होने से पता चलता है कि ये अलंकारिक रूपसे किसी और बातका वर्णन करते हैं। इनमें स्त्रीपुरुषका स्पष्ट वर्णन नहीं है। अतः इन मंत्रों से एक स्त्रीके अनेक पतियों का अनुमान निकालना किसी भी हालत में उचित नहीं हो सकता।

(ज) विधवा-विवाह।

वैदिक धर्म में पुरुषकी तरह स्त्री को भी विधवा होनेपर पुनः विवाह करने की छूट है। पर यह होते हुए भी एक अत्यंत विचारणीय बात है और वह यह कि विधवाविवाह या पुनर्विवाह की आवश्यकता बहुत करके उसी जाति या देश को पडती है जहां कि छोटी अवस्थामें शादियां होती हों। जहां पर बालविधवाओंकी संख्या विशेष हो, वहां इसके प्रचार की विशेष जरूरत रहती है। प्राचीन जमानेमें विधवाविवाह की छूट होनेपर भी ऐसे पुनर्विवाह बहुतही थोडे अपवादरूपमें होते थे। इस के सिवाय बडी अवस्थाकी स्त्री जो कि पतिके साथ कुछ वर्ष गुजार चुकी है या जिसे एक दो संतान हो चुकी हैं और जिसके पास अपने भरणपोषण की व्यवस्था यथायोग्य है, ऐसी स्त्री पुनर्विवाह के लिए क्वचित् ही तैयार हो सकती है। जो स्त्रियां कन्यावस्थामें ही विधवा हो जांय उनके लिए पुनर्विवाह करनेकी इच्छा रहना नितांत स्वाभाविक है। वेदमें विधवा के लिए पुनर्विवाह का विधान है, पर उसका उपयोग प्राचीन समयमें बहुत ही थोडा होता था।

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥
(अथर्व० ९।५।२७)

अर्थात् (या पूर्वं पतिं वित्त्वा) जो स्त्री प्रथम पतिको प्राप्त करके अर्थात् जिसका एकवार विवाह हो चुका है, ऐसी स्त्री (अथ) उसके पतिके मर जानेपर (अपरं विन्दते) दूसरे को प्राप्त होती है, यानि दूसरे से शादी करती है, तो (तौ) वे नवीन पुनर्विवाहित स्त्रीपुरुष (पञ्चौदनं अजं ददतः) पंचभोजनवाले अजन्मा आत्मा को परस्पर समर्पण करके (न वियोषतः) फिर इस जन्ममें वियुक्त नहीं होते।

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति ॥
(अथर्व ९।५।२८)

अर्थात् (यः पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं अजं ददाति) जो पंच भोजनवाले दक्षिणाके तेज से युक्त अजन्मा आत्मा का समर्पण करता है, ऐसा वह (अपरः पतिः) दूसरा पति (पुनर्भुवा समानलोकः भवति) पुनर्विवाहित स्त्री के साथ समान स्थानवाला होता है ।

भावार्थ– जो पंचभोजनी आत्मा का समर्पण करता है, वह दूसरा पति पुनर्विवाहित पतिके समान ही होता है ।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें 'पुनर्विवाहित पतिपत्नी पञ्चौदन अजका दान करेंगे तो वियुक्त नहीं होंगे' ऐसा कहा है। पतिका पंच भोजनी आत्मा पत्नी को समर्पित होवे और पत्नी का आत्मा पतिके लिए समर्पित होवे। पुनर्विवाहित पति अथवा पत्नी को उसे अपने पूर्व पत्नी या पतिका चिंतन नहीं करना चाहिए, व बिना किसी भेदभाव के परस्पर एक दूसरे की आत्मा को समर्पित कर देना चाहिए, ताकि परस्पर अखण्ड सुख–स्नेह बना रहे। उन्हें पुनः वियोगदुःख भोगना न पडे।

(झ) स्त्रीस्वातंत्र्य।

आजकल स्त्रीस्वातंत्र्य की एक विचित्र आंधी चली हुई है। परंतु वेदोंमें या वैदिक धर्म में जिसे स्त्रीस्वातंत्र्य से पहचाना गया है, वह और इस समय जिसे स्त्रीस्वातंत्र्य कहा जा रहा है, उनमें जमीनआसमान का अंतर है। आजकल बहुत से लोक तो बिना विचारे और समझे ही बोलने लग जाते हैं। स्त्रियां भी स्वतंत्रता की कल्पना की धुनमें, स्त्रीस्वातंत्र्यसे वे क्या चाहती हैं, इस को बिना सोचे समझे, इस आंधीमें आंख बीच बहती चली जा रही हैं। उन्हें पुरुषके मुकाबले में सब तरह की स्वतंत्रता चाहिए और वेद कहते हैं कि उन्हें देनी भी चाहिए। परंतु यह सब तरह की स्वतंत्रता क्या हो सकती है, इस पर हमें यहां थोडासा विचार करना है।

यह तो निर्विवाद बात है कि स्त्री और पुरुष के बहुत से कार्यक्षेत्र सर्वथा भिन्न हैं। जिनका कि कारण कुदरती मानसिक व शारीरिक रचनामें भेद है। उदाहरणार्थ प्रकृति में स्त्री जाति मात्र का एक मुख्य तथा आवश्यक कार्य, संतति उत्पन्न करना तथा उन्हें आवश्यक समय तक पालना पोषना है। दुनिया की कोई भी स्त्री इस बात से इनकार नहीं कर सकती। दुसरी बात यह है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रीशरीर स्वाभाविक रीतिसे निर्बल होता है। पुरुष प्रकृति की कठोरता तथा कुरूपता लिए हुए है, जब स्त्री प्रकृति की कोमलता तथा सौन्दर्य लिए हुए है।

वेदने इन्हीं मुख्य सत्य सिद्धांतोंपर स्त्री तथा पुरुष के कार्यों का विभाग कर प्रत्येक को अपने कार्योंमें पूर्ण स्वतंत्रता दी है। स्त्रीपुरुष दोनों में से कोई भी दूसरे के कार्य में दखल देना भी चाहे तो नहीं दे सकता। यहां पर एक और भी अत्यंत महत्त्व की बात पर विचार किए बिना नहीं रह सकते और वह यह कि दुनियाकी किसी भी स्त्री से पूछा जाय कि वह अपना पुरुष साथी जिसे कि वह पति बनाना चाहती है, वह उससे अपेक्षाकृत ज्यादा योग्य (शारीरिक तथा मानसिक) चाहती है या कम? एक भी प्रामाणिक स्त्री ऐसी नहीं मिलेगी, कि जो यह कहेगी कि उसका साथी पति उससे किसी भी दर्जे कम या समान होना चाहिए।

तब इस का मतलब यह हुआ कि स्त्रियोंका पुरुषों से मुकाबला करनेका या समानाधिकार प्राप्त करनेका कुछ और ही अभिप्राय है। किसी भी दो भिन्न वस्तुओंका पारस्परिक मुकाबला होही नहीं सकता। स्त्री व पुरुष रचना कि दृष्टिसे भिन्न भिन्न हैं और अतएव उनके कार्यक्षेत्र भी भिन्न होने स्वाभाविक हैं।

मनुष्यजाति के स्त्री व पुरुष दो अङ्ग हैं। जातिकी दृष्टिसे दोनों समान महत्त्व के हैं। सृष्टिमें स्त्री व पुरुष की संख्या प्रायः समान ही रहती है। मनुष्यगणनाके आंकडे इसके साक्षी हैं। अगर कभी किसी देशमें लडाई आदि की वजह से स्त्री या पुरुष में से किसी की संख्या विशेष कम हो जाय तो प्रकृति को फिकर पडती है और इसका परिणाम यह होता है कि उस देशमें जिस की कमी होती है, उसकी एकदम उत्पत्ति बढने लगती है और तब तक बढती रहती है, जब तक कि दोनों की संख्या

समाप्त न हो जाय। देशोंकी तथा जातियों की जनसंख्या में बढती व घटती रहती हैं, पर ऐसा संसार के इतिहास में कभी नहीं पाया गया कि किसी देश या जातिमें दोनों स्त्रीपुरुषों में से कोई एक सर्वथा घटता चला गया हो, और आखिरको एक ही स्त्री या पुरुष अवशेष रह गये हों। अतः मनुष्यजातिको जीवित रखने के लिए दोनों का का महत्व समान है।

वेदोंने पुरुषको कठिन सहनशील झगडालु आदि बनाकर घरके बाहर के तमाम कठोर परिश्रमके कार्यों को संभालनेका भार सौंपा है। स्त्रीको कोमल, सुंदर तथा माता बनाकर घरके अंदरके कार्यों का भार सौंपा है। मुख्य रूपसे स्त्री व पुरुष के यही दो कार्यक्षेत्र हैं।

अब प्रश्न यह है कि इन कार्यक्षेत्रोंको बदल दिया जाय, तो क्या परिणाम होगा? इनमेंसे संतति उत्पन्न करने का कार्य तो ऐसा है कि जो बदला नहीं जा सकता। स्त्री को माता तो बननाही पडेगा। और माता बनेगी तो उसे पर्याप्त समय घरके अंदरही आराम करना पडेगा। अतः इस दृष्टि से तो स्त्री पुरुषकासा स्वातंत्र्य नहीं भोग सकती। संसार की तमाम स्त्रियोंकी तो अलग बात रही, उनमें से अधिकांश भी ऐसा नहीं निकलेगा कि जो माता बननेसे इनकार कर दे। स्त्री व पुरुष का पारस्परिक आकर्षण स्वाभाविक है। और प्रत्येक विवाहित स्त्री की संतान की अभिलाषा भी उतनी ही स्वाभाविक है। वेदोंमें स्त्रीसंबंधी सब जगह यही प्रार्थना है कि हे स्त्री! तू उत्तम संतान पैदा करनेवाली हो। मैं (पुरुष) तेरा उत्तम संतान पैदा करनके लिए हाथ पकडता हूं इत्यादि।

संतानोत्पत्तिके सवाल को एक ओर छोडकर शेष कार्यों का अदला बदला किया जाय तो क्या होगा? इसका जवाब भी संसारके इस समय के माने जाते सुशिक्षित देशों से मिल रहा है। वहां की स्त्रियों की स्थिति अत्यंत असंतोषजनक हो गई है। स्त्री व पुरुष एक दूसरेके उलटे दुश्मन से बनते रहे हैं। स्त्रीपुरुष कुछ समय मित्रता करके जीवन के साथी बननेका प्रयत्न करते हैं। पर कुछ समय बाद आपसमें झगडकर सदा के लिए एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। इसका वास्तविक कारण स्त्री व पुरुष की अनुचित स्वतंत्रता है। एक दूसरेके कार्यक्षेत्रमें अनुचित हस्ताक्षेप है। स्त्री-पुरुष जबतक यह नहीं समझ लेंगे कि वे दोनों पारस्परिक कमी के पूर्ण करनेवाले हैं, तथा दोनोंको एक दुसरेकी अनिवार्य जरूरत है, तबतक यह ऐसा झगडा सदा बना रहेगा। मर्यादा टूटनेसे ही दुनियामें तमाम वस्तुओंमें विक्षेप आता है।

ब्रह्मा में स्त्री पूर्ण रूपसे स्वतंत्र होते हुए भी इतनी अधिक मर्यादा में रहती है कि आश्चर्य होता है। वहां की स्त्रियों को गृहप्रबंध के साथ साथ बाहर के व्यवसाय का कार्य भी करना होता है। घर की आयव्ययका सारा प्रबंध उन्हीं के हाथों में होता है।

वहां विवाह एक नैतिक बंधन है और विवाहका अर्थ गृहस्थ बनना है। विवाह होनेके अनंतर स्त्री घरका पूर्ण शासन करने लग जाती है। पति का काम स्त्रीके तमाम कामों में शान्तिपूर्वक हां में हां मिलाना मात्र होता है। ब्रह्माकी एक ग्रामीण स्त्री चावलों की सारी फसल के बेचने का प्रबंध स्वयं कर लेती है। रंगून के चावल के व्यापारियों के एजेन्टों से वे स्वयं ही बातचीत करती हैं और बडा अच्छा सौदा तय कर लेती हैं। परंतु इन बातोंसे ऐसा अनुमान लगाना नितांत भूल होगी कि ब्रह्मी पति अपनी स्त्रीके दास होते हैं और वहां की नारियां स्वच्छन्द होती हैं।

ब्रह्मी स्त्री का विश्वास है कि धार्मिक और सामाजिक नियमों का उल्लंघन करनेसे उसके लिये निर्वाण (मुक्ति) असंभव हो जायगा। पति के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करने से उसकी मुक्ति का द्वार सदाके लिये बंद हो जायगा। वह जानती है कि धर्मशास्त्र में उस नारी को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जो अपने पति के लिये मित्र के समान होती है। वह अपने पति की संपूर्ण आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है। पति से उस का संभाषण, प्रेम व मानपूर्ण होता है। वह अपने हाथों से पति के चरण धोती है। दम्मथत अर्थात् नागरिक नियमों के अनुसार एक पति अपनी स्त्री को केवल इस कारण परित्याग नहीं कर सकता कि उसे अपनी वाणीपर संयम नहीं।

शासन अधिकार को प्राप्त करने से पूर्व ब्रह्मी नारियों को इसकी क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त करनी होती हैं।

नदविन मिंगल अर्थात् कर्ण छेदन संस्कारके कुछ काल बाद ही उनका यह शिक्षाकाल आरंभ हो जाता है। बहुधा तेरह वर्ष की आयु में संस्कार होता है। अपने गांव के बाजारमें वह दुकानकी स्वामिनी बनकर बैठती है। प्रायः एक वर्ष में वह व्यवसाय में पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर लेती है।

यह सब होनेपर भी ब्रह्मी स्त्रीको अपने इस अधिकारका जराभी घमंड नहीं होता। वह उलटा इसे एक प्रकारका उत्तरदायित्वका भार ही समझती है। वह उसे सफल बनाने का यावज्जीवन प्रयत्न करती है। अपने घरकी पूर्ण शासिका होते हुये भी एक आश्चर्य की बात यह है कि वह प्रत्येक सप्ताह के धार्मिक दिन के अवसरपर अगले जन्म में मनुष्ययोनि प्राप्त करने की प्रार्थना करती है।

एक तरफ पाश्चात्य देशकी स्त्रियों का उदाहरण है और दूसरी ओर ब्रह्मदेशकी स्त्रियों का। ब्रह्मदेशकी स्त्रियों के मुकाबलेमें पाश्चात्य देशकी स्त्रियां बहुत ही पराधीन हैं। परंतु फिरभी ब्रह्मदेशकी स्त्रियां सीमाका अतिक्रमण नहीं करतीं। पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ समझती हैं। वे अपनी जवाबदारी को अनुभव करती हैं।

इस समस्या को सुलझाने के लिए जो वेदोंने मार्ग बताए हैं उनका अगर अनुसरण किया जाय, तो स्त्री व पुरुष दोनों वास्तविक पूर्ण स्वतंत्रता हासिल कर सकते हैं। पूर्ण स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि अपने क्षेत्रमें पूर्ण स्वातंत्र्य। स्त्री व पुरुष के कुदरतन भिन्न भिन्न क्षेत्र हैं, यह हम ऊपर बता चुके हैं।

वेदों की दृष्टि से स्त्री स्वातंत्र्य का यह अभिप्राय है कि-

(१) स्त्रियों को सब प्रकारकी शारीरिक उन्नति के लिए आवश्यक शिक्षा दी जाय। ताकि वह तंदुरुस्त होकर जरूरत पडनेपर न सिर्फ आत्म संरक्षण ही कर सकें अपितु पतिकी भी रक्षा कर सकें। इस विषयमें 'स्त्रियों की वीरता' शीर्षक में हम सप्रमाण लिख आए हैं।

(२) स्त्रियोंको सब प्रकार के मानसिक शिक्षण देकर विदुषियां बनाना चाहिए। विषयको भी सप्रमाण प्रतिपादन कर आए हैं।

(३) स्त्रियां घरके काम काज में, व्यवस्था में तथा संतति आदि के पालनमें पूर्ण स्वतंत्र हैं। वे घरकी सम्राज्ञी हैं। सास, ननंद, श्वसुर देवर सबकी सम्राज्ञी हैं। घरकी पूर्ण मालकिन हैं। उनके इन कार्योंमें हस्ताक्षेपका किसी को अधिकार नहीं।

(४) धार्मिक कृत्यों में भी पूर्ण हक है।

(५) पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी युवावस्थामें ही विवाह होना चाहिए।

(६) पुरुषकी तरह स्त्री भी पुनर्विवाह (विधवा-विवाह) करनेका अधिकार रखती है। परंतु यह किसी के भी आदर्श नहीं।

(७) पुरुष की तरह स्त्री को भी एकही पति करनेका अधिकार है।

वेदोंकी दृष्टिमें पुरुषकी तरह स्त्री को कमाने आदि के झगडेमें पडने की जरूरत नहीं। क्यों कि ऐसे झगडोंमें फंसनेपर गृहस्थ सुख नष्ट हो जाता है। स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक आनंद नष्ट हो जाता है। अतएव वेदोंमें स्त्री के आर्थिक प्रश्न को हल करनेके लिए कुमारी रहे तो पिता की तरफसे तथा विवाहित होनेपर पतिकी ओर से संपत्ति देनेका विधान है।

हम समझते हैं कि इन उपरोक्त बातों के प्राप्त हो जानेपर परतंत्रता जैसी कोई भी वस्तु नहीं रहती। और नहीं समानाधिकार काही कोई झगडा रह जाता है। वैदिक धर्म जितनी व जैसी स्वतंत्रता किसी भी अन्य मत संप्रदाय या धर्ममें नहीं पाई जाती, यह निर्विवाद सिद्ध है। वैदिक धर्मानुसार चलनेवालोंके लिए स्त्री पुरुष स्वातंत्र्य का झगडा ही उत्पन्न नहीं हो सकता। क्यों कि स्त्री-पुरुष जो चाहते हैं, वह उनके स्वभावानुसार उन्हें प्राप्त ही है। उनके अनुसार कोई समाज न वर्ते तो उसमें समाज का दोष है। धर्म क्या करे?

वेद-मन्त्रोंकी संख्याके विषयमें शंकाएं ।

(लेखक-श्री० प्रागजी डोसजी, कानावार, लोलाडे और वाराहीवाले)

गौरवशालिनी श्रीमान् आर्यजातिका महान् धर्म-ग्रन्थ कहें, या आदिभूत धर्मपुस्तक कहें, या ब्रह्मज्ञान का भंडार कहें, या सृष्टिव्यवहार का संपूर्ण उपदेशक कहें, या ब्रह्मतत्त्व कहें, या ब्रह्मविद्या का सर्वांग कहें, वह श्रीमान् वेद ही है। सम्पूर्ण लोग मानते हैं कि ऋषिओंने उन को परमात्मासे प्राप्त किये हैं। जो मन्त्र, जिस ऋषिको परमात्मासे मिले वह उन मन्त्र के ऋषि ठहरे, यह सबको विदित है।

वैदिक विद्वानोंने अनेक आफतों से बचाकर, अनेक यत्नों से जिस वेद की रक्षा की, अफसोस है कि अब आर्यों की सन्तानों में उसी वेदविद्या का अनादर हो रहा है। किसी को वेदों के स्वाध्याय की परवाह नहीं है, इस में प्रबल हेतु हम को इस प्रकार ज्ञात होते हैं—

(१) वेदपाठीओं को राजा महाराजाओं से मिलते वर्षासन बंद हो गये। इसलिये ब्राह्मणकुमारोंने वेदाध्ययन छोड दिया और निर्वाहके लिये "गवर्नमैंट" (इंग्लिश) विद्या पढनी शुरु कर दी।

(२) "अश्वमेधं गवालंबं संन्यासं पलपैत्रकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्जिताः॥" ऐसी कारिकाओं ने क्षात्र व वैश्य जनों को संबोधित करके कहा कि इस कलियुग में वैदिक यज्ञादि कर्म करना और करवाना निषिद्ध है। इसलिये क्षत्रिय और वैश्योंने वेदों का अध्ययन छोड दिया।

(३) जब वेदों का अध्ययन क्षत्रिय और वैश्योंने छोड दिया, तब वेद के ज्ञान के साथ साथ उन्हें वेदों के महत्त्व का भी ज्ञान नहीं रहा। तब वेदावलम्बियों की भी परवाह वे क्यों करते!

(४) अब ब्राह्मणकुमारोंने सोचा कि वेदाध्ययन में अपनी गलती क्षत्रिय और वैश्य न निकालें या अपना मुकाबला न करें, इस वास्ते उन दोनों को वेद पढाना बंद कर दिया। कुछ विप्रोंने तो ऐसाहि समझा दिया कि ब्राह्मण सिवाय दूसरों को वेद पढने का अधिकार ही नहीं। अधिकार के बारे में यदि कोई उत्तम मीमांसा वा शंकराचार्य की छांदोग्य-उपनिषद् के भाष्यके वचनों से द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इस त्रिवर्ण) को वेद पढने का अधिकार है, ऐसा बतावें तो द्विज शब्द का "ब्राह्मण" ऐसा अर्थ करनेका जबरदस्ती प्रयास करते हैं। अतः वेदों का अध्ययन नष्ट हो तो इस में आश्चर्य ही क्या?

(५) वेदाध्ययन के अभाव में वेद की पुस्तकों के प्रति भी लापरवाही हुई। अतः वेदग्रन्थ मिलने मुश्किल हो गये। हमारी बेपरवाही से वेदग्रंथ विदेशमें भी चले गये। (अधिकार की बात कहां चल गई?) इसवास्ते महर्षि दयानन्दजी को वेदों के ग्रंथ जर्मनी (योरोप) आदि से मंगवाने पडे थे।

(६) कुछ वेद और वेदविभाग के हस्तलिखित भाग ब्राह्मणों के घरमें रहे। जो कि लेखकने लिखते लिखते गलतीयां करके अशुद्ध कर दिया। ऐसे अशुद्ध ग्रन्थों से छपे वेद भी अशुद्ध हि रहे। शुद्ध करने की किसी को परवाह भी नहीं, क्योंकि पढना पढाना ही किस को है?

वेदाध्ययन नष्ट होनेके ऐसे बहुत कारणों को देख महर्षिने उनका उद्धार करना आवश्यक देखा और देश का भावी सोचकर आर्यसमाज की स्थापना की और वैदिक धर्मका प्रचार किया। परन्तु उन्होंने अपने मन्तव्यों को अच्छी तरह से जमाया-नहीं जमाया, इतने में महर्षि का घात हो गया और उनका अपूर्ण कार्य आर्यसमाजी बन्धुओं ने अपनाया।

वे वेदप्रचार का कार्य छोडकर अपना समाज बढानेमें लगे। इस हेतु से महर्षि का मूल मन्तव्य वेदप्रचार का कार्य ढीला हो गया। यह देखकर श्रीमान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीने यह वेदप्रचार का कार्य अपनाया और स्वाध्याय-मण्डल की स्थापना करके 'वैदिक धर्म' नाम का मासिक निकाला। जिसमें अब अथर्ववेद सभाष्य पूर्ण होने को तैयार है। इतने में आपने देखा कि सब वेद अशुद्ध हैं, पहले पहल वह शुद्ध छपवाना आवश्यक है। इस लिये अब इस शुद्ध ग्रंथ छपवानेका तनतोड परिश्रम कर रहे हैं। आदिभूत ऋग्वेद अब छप गया है।

वेदों को १ मंत्रसंख्या, २ पद, ३ अक्षर, ४ स्वर, ५ ऋषि, ६ देवता, ७ छंद इन सातों स्थानों में शुद्ध करना परमावश्यक है और सामवेद में १ सरेगम आदि सप्त स्वर, २ रागरागिनी और ३ ८९ साम का निर्णय इन तीन स्थानों का विशेष संशोधन करना आवश्यक है। इनमें से पदादि ६ स्थानों की शुद्धि का कार्य चल रहा है। मात्र मन्त्र-संख्या की ओर दुर्लक्ष्य है, इस लिये संख्या के बारेमें मेरी शंकाओं को मैं यथाशक्ति विद्वान् बन्धुओं के सामने रखता हूं।

कहते हैं कि पहले पहल एकही "ऋग्वेद" था और उस के ४ विभाग करके श्रीमान् वेदव्यासजीने अपने चार शिष्यों को पढाया। हम पहले पहल ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या को हाथ में लेते हैं।

(१) ऋग्वेदका विचार।

१ ऋग्वेद के सम्बन्ध में एक महानुभावने लिखा है कि 'ऋग्वेद की शाकल संहिता है, इस में ६४ अध्याय के ८ अष्टक हैं और दुसरी प्रकारसे १० मण्डल हैं। मण्डलों में १०१७ सूक्त * और अध्यायों में २००६ वर्ग की गणना है और उन में १०४११ ऋचा, १५०८२६ पद और ४३२००० अक्षर हैं।

२ ऋग्वेद का ऐतरेय-ब्राह्मण है। इस में ८ पंचाशिका के ४० अध्याय हैं। १ कौषीतकी, ४ ऋग्ब्राह्मण मूल इतने ब्राह्मण हैं।

३ ऐतरेय आरण्यक में ५ पंचिका के २५ अध्याय हैं।

४ आश्वलायनसूत्र इस में श्रौत और गृह्य ऐसे दो विभाग हैं। श्रौत सूत्र के १२ अध्यायों में योग की क्रियाओं का वर्णन और गृह्य सूत्र के ४ अध्यायों में संस्कारविधि है।

५ ऋग्वेद की १ मांडूक्य, २ सांख्यायन, ३ बाष्कल, ४ आश्वलायन आदि ८ शाखाओं और नादु बिंदु ऐतरेय और आत्मबोध ये उपनिषद् हैं।

बिलखा (काठियावाड) के स्व० महात्मा नथुराम शर्मा लिखते हैं-ऋग्वेदमें १०५८० ऋचा, १० मण्डल, १०० कितनेक के मतसे ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त, १०४०२ ऋचा, १५३५२७ (मतांतरसे १५३५२६) पद और ४३२००० अक्षर हैं। दूसरे प्रकारसे वह ८ अष्टक, ६४ अध्याय और २००६ वर्ग में विभक्त है। इनकी १ शाकल, २ कौषीतकी, ३ आश्वलायन, ४ सांख्यायन, ५ मांडूक, ६ ऐतरेय, ७ बाष्कल, ८ शैशरी और पैंगी आदि २१ शाखायें हैं। इनमें पहली, सातवीं और तीसरीसे पांचवी पर्यन्त की पांच मुख्य और दूसरी उपशाखायें मानी जाती हैं। इनमें से वर्तमान कालमें मात्र शाकल शाखा मिलती है। इतर शाखाओंका लोप हो गया है।

सांख्यायन, कौषीतकी और ऐतरेय यह तीन ऋग्वेद के ब्राह्मण हैं। यज्ञकार्य में देवताओं की स्तुति करके उन का आह्वान करनेवाले ऋग्वेदीय ऋत्विज को होता कहते हैं।

स्वर्गस्थ स्वामी श्रद्धानंदजी महाराजने ऋग्वेद के हाल लिखते, छंद:प्रमाण से ऋग्वेद की मन्त्रसं-

* नवम मण्डल में सूक्त ४९ से ५९ पर्यंतके ११ सूक्तोंको वालखिल्य कहते हैं। इसलियें सूक्त १०२८ मेंसे वह छोडनेसे १०१७ सूक्त होते हैं और इस हिसाब से वर्गसंख्या २०२४ मेंसे १८ छोड देनेपर २००६ मानी जाती है।

१०५२२ का मेल मिलाया है। वह

छन्दक्रम।	छन्दनाम।	मन्त्रसंख्या।
१	गायत्री	२५०१
२	त्रिष्टुप्	४३०३
३	जगती	१३५३
४	अनुष्टुप्	८५५
५	उष्णिक्	३४१
६	पंक्ति	३१२
७	महावाहित	२५१
८	प्रगाथबाहित	१८४
९	बृहती	१८१
१०	अत्यष्टि	८४
११	प्रगाथ ककुभ्	५५
१२	शक्वरी	२६
१३	अतिजगती	१७
१४	द्विपदा	१७
१५	अतिधृति	८
१६	अतिशक्वरी	८
१७	एकपदा	६
१८	अष्टी	६
१९	अति	२
२०	अतिधृति	२
		१०५२२ ☙

मण्डल और अष्टक प्रमाणोंसे स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी और महर्षि दयानन्दजी की ऋग्वेद की भूमिकासे यह परिमाण मिलता है-

मण्डल-परिमाण।

मं०।	अनु०।	सूक्त।	मन्त्रसंख्या। श्रद्धानंदोक्त।	स्व. महर्षिकथित।
१	२४	१९१	१९६६	१९७६
२	४	४३	४२९	४२९
३	५	६२	६१७	६१७
४	५	५८	५८९	५८९
५	६	८७	७२६	७२७
६	६	७१	७६५	७६५
७	६	१०४	८४१	८४१
८	१०	१०३	१७२३	१७१६
९	७	११४	११०८	११०८
१०	१२	१९१	१७५४	१७५४
	८५	१०२८	१०५१८	१०५२२

अष्टक-प्रमाण संख्या।

अष्टक।	अध्याय।	सूक्त।	मंत्रसंख्या। श्रद्धानंदोक्त।	महर्षिकथित।
१	८	२६५	१३०५	१३४०
२	८	२२१	११७२	११४७
३	८	२२५	१२०९	१२०९
४	८	२५०	१२८८	१२८९
५	८	२३८	१२६३	१२६३
६	८	३३१	१७४४	१७३०
७	८	२४८	१२५६	१२६३
८	८	२४६	१२८१	१२८१
	६४	२०२४	१०५१८	१०५२२

यहां देखनेसे जब मालूम होता है कि स्वा० श्रद्धानन्दजी की मन्त्रसंख्या में ४ मन्त्रों की गलती है। इसलिये यहां संकलन १०५२२ होना संभव है जो उन की छंदानुसार मन्त्रसंख्या से स्पष्ट हो जाता है। यह सुधार लेना चाहिए।

श्री चतुर्वेदभाष्यकार पण्डित जयदेवजी अपने भाष्य के प्रथम भाग में ऋग्वेद की भूमिका में लिखते हैं कि—

अध्यायाश्चतुःषष्टिः स्यात् मण्डलानि दशैव तु ॥
ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च ॥
ऋचामशीति पादश्चेत्तत्पारायणमुच्यते ॥ १ ॥

ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं, परन्तु मण्डल १० हैं।

☙ इसका सर्व योग (टोटल) करनेसे १० की गलत मालूम होती है, यह टाईपदोष होगा।

दश सहस्र पांच सो असी १०५८० और एक-चरण ऋचाएं हैं। महर्षि दयानन्द की गणनासें ऋग्वेद की १०५८९ मन्त्रसंख्या है। मन्त्रसंख्या के विषयपर और अधिक अनुशीलन करना है। अत: इस विषय को आगे के लिये रख छोडते हैं। '

सचमुच महर्षिजीने इस कारिकाके आधार पर भूमिका में १०५८९ संख्या दर्शाकर आगे मण्डल और सूक्त प्रत्येक के मंत्रों का १०५२१ का * मेल मिलाया है। वहां देखने से जान पडता है कि इन्होंने भी १०५८९ की संख्या नहीं मिलाई। वह मण्डल और सूक्तानुसार मन्त्रसंख्या इस प्रकार है।

सूक्त।	मण्डल १ अनु.	मन्त्र	मं. २ अ.	मन्त्र	मं. ३ अ.	मंत्र	मं. ४ अ.	मंत्र	मं. ५ अ.	मंत्र	मं. ६ अ.	मंत्र	मं. ७ अ.	मंत्र	मं. ८ अ.	मंत्र	मं. ९ अ.	मंत्र	मं. १० अ.	मंत्र
१	१	९	१	१६	१	२३	१	२०	१	१२	१	१३	१	२५	१	३४	१	१०	१	७
२		९		१३		१५		२०		१२		११		११		४२		१०		७
३		१२		११		११		१६		१२		८		१०		२४		१०		७
४		१०		९		११		१५		११		८		१०		२१		१०		७
५		१०		८		११		१५		११		७		९		३९		११		७
६	२	१०		८		११		११		१०		७		७	२	४८		९		७
७		१०		६		११		११		१०		७		७		३६		९		७
८	३	१०		६		११		८		७		७		७		२३		९		९
९		१०		६		९		८		७		७		६		२१		९		९
१०		१२		६		९		८		७		७		५		६		९		१४
११		८		२१		९	२	६		६		६		५		१०		९		९
१२		१२		१५		९		६		६		६		३		३३		९		९
१३		१२		१३	२	७		५		६		६		३	३	३३		९		५
१४		१२		१२		७		५		६		६		३		१५		८		१६
१५		१२		१०		७		१०	२	५		१९		१५		१३		८		१४
१६		९		९		६		२१		५	२	४८		१२		१२		८	२	१४
१७		९		९		५		२१		५		१५		७		१५		८		१४
१८	४	९		९		५		१३		५		१५	२	२५		२२		७		८
१९		९		९		५		११		५		१३		११		३७		७		१०
२०		८		९		५		११		४		१३		१०		२६		७		
		२०२		२०५		१८७		२४१		१५२		२२९		१९१		५१०		१७६		१९४

* यद्यपि महर्षिजीने संकलनसंख्या १०५२१ लिखी हैं, तथापि वास्तविक में वह १०५२२ है। कारण ऐसा है कि मण्डल ८, सूक्त २० में मन्त्रसख्या ३६ लिखी है, वह गलत है। ग्रंथ में यहां मन्त्रसंख्या २६ है। इस लियें इस मण्डल की मन्त्रसंख्या १७२६ नहीं है, वह १७१६ है और मण्डल ९ की मन्त्रसंख्या का संकलन १०९७ नहीं होता। वहां ११ की गलती है। इसलियें वहां ११०८ संख्या सत्य है।

सूक्त	मं० १		मं० २		मं० ३		मं० ४		मं० ५		मं० ६		मं० ७		मं० ८		मं० ९		मं० १०	
	अनु०	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र	अ.	मंत्र
		२०२		२०५		१८७		२४१		१५२		२२९		१९१		५१०		१७६		११४
२१		६		६		५		११		४		१२		१०	४	१८		७		८
२२		२१		४		५		११		४		११		९		१८		७		१५
२३		२४	३	१९		५	३	११		४		१०		६		३०		७		७
२४	६	१५		१६		५		११		४	३	१०		६		३०		७		६
२५		२१		५		५		८		९		९		६		२४	२	६		११
२६		१०		४		९		७		९		८		५		२५		६		९
२७		१३		१७		१५		५		६		८		५		२२		६		२४
२८		९		११		६		५		६		८		५		५		६		१२
२९		७		७		१६		५		१५		६		५		१०		६		८
३०		२२		११	३	२२		२४		१५		५		५		४		६	३	१५
३१	७	१८		७		२२		१५		१३		५		१२	५	१८		६		११
३२		१५		८		१७		२४		१२		५		२७		३०		६		९
३३		१५	४	१५		१३	४	११	३	१०		५		१४		१९		६		९
३४		१२		१५		११		११		९		५	३	२५		१८		६		१४
३५		११		१५		११		९		८		५		१५		२४		६		१४
३६	८	२०		६		११		९		६		५		९		७		६		१४
३७		१५		६		११		८		५		५		८		७		६		१२
३८		१५		११		१०		१०		५		५		८		१०		६		५
३९		१०		८	४	९		६		५		५		७		१०		६		१४
४०		८		६		९		५		९		५		७		१२		६		१४
४१		९		२१		९		११		२०		५		७		१०		६		३
४२		१०		३		९		१०		१८		४		६		६		६		११
४३		९		३		८		७		१७		४		५	६	३३		६	४	११
४४		१४				५		७		१५	४	२४		५		३०		६		११
४५		१०				५		७	४	११		३३		४		४२		६		१२
४६	९	१५				५	५	७		८		१४		४		३३		६		१०
४७		१०				५		४		७		३१		४		१८		५		८
४८		१६				५		५		५		२२		४		१५		५		११
४९		४				५		६		५		१५		४	७	१०		५		११
५०		१३				५		११		५	५	१५		४		१०		५		७
५१	१०	१५				१२		११		१५		१६		३		१०		५		९
५२		१५				८		७		१७		१७		३		१०		५		६
		१२९		४२९		४८५		५४०		४५३		५६६		४३८		१०७८		३६६		५३५

सूक्त	मं० १ अनु०	मंत्र	मं० २ अ.	मंत्र	मं० ३ अ.	मंत्र	मं० ४ अ.	मंत्र	मं० ५ अ.	मंत्र	मं० ६ अ.	मंत्र	मं० ७ अ.	मंत्र	मं० ८ अ.	मंत्र	मं० ९ अ.	मंत्र	मं० १० अ.	मंत्र
		६२९		४२९		४८५		५४०		४५३		५६६		४३८		१०७८		३६६		५३५
५३		११				२४		७		१६		१०		३		८		४		११
५४		११	५			२२		६		१५		१०		३		८		४		१
५५		८				२२		१०		१०		६		८		५		४		८
५६		९				८		७		९		६	४	२५		५		४		७
५७		६				६		८	५	८		६		७		४		४		१
५८	११	९				९		११		८		४		६		३		४		१२
५९		७				९				८		१०		१२		७		४		१०
६०		५				७				८		१५		१२		२०		४		१२
६१		१६				७				१९		१४		७		१८	३	३०	५	२०
६२		१३				१८				९	६	११		६		१२		३०		११
६३		९								७		११		६		१२		३०		१०
६४		१५								७		६		५		१२		३०		१०
६५	१२	५								६		६		५		१२		३०		१५
६६		५								६		११		१९		१५		३०		१५
६७		५								५		११		१०		२१		३२		१३
६८		५								५		११		९		१९		१०		१२
६९		५								४		८		८		१८		१०	६	१२
७०		६								४		६		७	८	१५		१०		११
७१		१०								३		६		६		१५		९		११
७२		१०								६		५		५		१८		९		१
७३		१०							६	१०		३		५		१८		९		११
७४	१३	९								१०		४		६		१५		९		१
७५		५								९		१९		८		१६		५		[illegible]
७६		५								५				७		१२		५		[illegible]
७७		५								५				६		११		५		[illegible]
७८		५								९				५		१०		५		[illegible]
७९		१२								१०				५		९		५		[illegible]
८०		१३								६				३		१०		५		[illegible]
८१		९								५				६	९	९		५		[illegible]
८२		६								९				१०		९		५		[illegible]
८३		६								१०				१०		९		५		[illegible]
८४		२०								३				५		९		५		[illegible]
८५	१४	१२								८				५		९		१३	७	[illegible]
८६		१०								६				८		५	५	४८		[illegible]
		९५६		४२९		६१७		५८९		७१८		७६५		६९६		१४७६		७८९		[illegible]

सूक्त	मं० १ अनु.	मंत्र	मं० २ अ.	मंत्र	मं० ३ अ.	मंत्र	मं० ४ अ.	मंत्र	मं० ५ अ.	मंत्र	मं० ६ अ.	मंत्र	मं० ७ अ.	मंत्र	मं० ८ अ.	मंत्र	मं० ९ अ.	मंत्र	मं० १० अ.	मंत्र
		९५६		४२९		६१७		५८९		७१८		७६५		६९६		१४७६		७८६		९३८
८७		६								९				७		६		९		२५
८८		६												७		६		८		१९
८९		१०											६	५		७		७		१८
९०		९												७		६		६		१६
९१		२३												७		७		६	८	१५
९२		१८												५		३३		६		१५
९३		१२												८		३४		५		१५
९४	१५	१६												१२	१०	१२		५		१४
९५		११												६		९		५		१८
९६		९												६		२१		२४		१३
९७		८												१०		१५	६	५८		२३
९८		३												७		१२		१२		१२
९९		१												७		८		८		१२
१००		१९												७		१२		९	९	१२
१०१		११												६		१६		१६		१२
१०२		११												३		२२		८		१२
१०३		८												१०		१४		६		१३
१०४		९												२५			७	६		११
१०५		१९																६		११
१०६	१६	७																१४		११
१०७		३																२६		११
१०८		१३																१६		११
१०९		८																२२		७
११०		९																१२		११
१११		५																३		१०
११२		२५																४		१०
११३		२०																११	१०	१०
११४		११																४		१०
११५		६																		९
११६	१७	२५																		९
११७		२५																		९
११८		११																		९
		१३३३		४२९		६१७		५८९		७२७		७६५		८४१		१७१६		११०८		१३५१

सूक्त	मं० १ अनु.	मंत्र	मं० २ अ.	मंत्र	मं० ३ अ.	मंत्र	मं० ४ अ.	मंत्र	मं० ५ अ.	मंत्र	मं० ६ अ.	मंत्र	मं० ७ अ.	मंत्र	मं० ८ अ.	मंत्र	मं० ९ अ.	मंत्र	मं० १० अ.	मंत्र
		१६१६		४२९		६१७		५८९		७२७		७६५		८४१		१७१६		११०८		१५८५
१५२		७																१२		५
१५३		४																		५
१५४		६																		५
१५५		६																		५
१५६		५																		५
१५७	२२	६																		५
१५८		६																		५
१५९		५																		६
१६०		५																		५
१६१		१४																		५
१६२		२२																		६
१६३		१३																		६
१६४		५२																		५
१६५	२३	१५																		५
१६६		१५																		५
१६७		११																		४
१६८		१०																		४
१६९		८																		४
१७०		५																		४
१७१		६																		४
१७२		३																		४
१७३		१३																		६
१७४		१०																		५
१७५		६																		४
१७६		६																		४
१७७		५																		३
१७८		५																		३
१७९		६																		३
१८०		१०																		३
१८१		९																		३
१८२		८																		३
१८३		६																		३
४		१९२४		४२९		६१७		५८९		७२७		७६५		८४१		१७१६		११०८		१७२७

सूक्त	मं० १ अनु०	मंत्र	मं० २ अ.	मंत्र	मं० ३ अ.	मंत्र	मं० ४ अ.	मंत्र	मं० ५ अ.	मंत्र	मं० ६ अ.	मंत्र	मं० ७ अ.	मंत्र	मं० ८ अ.	मंत्र	मं० ९ अ.	मंत्र	मं० १० अ.	मंत्र
		१९२४		४२९		६१७		५८९		७२७		७६५		८४१		१७१६		११०८		१७२
१८४		६																		३
१८५		११																		३
१८६		११																		३
१८७		११																		५
१८८		११																		३
१८९		८																		३
१९०		८																		३
१९१		१६																		४
	२४	२००६	४	४२९	५	६१७	५	५८९	६	७२७	६	७६५	६	८४१	१०	१७१६	७	११०८	१२	१७५४

सूक्त	१९१	४३	६२	५८	८७	७५	१०४	१०३	११४	१९१	समग्र १०२८
अनु	२४	४	५	५	६	६	६	१०	७	१२	,, ८५
मन्त्र	२००६	४२९	६१७	५८९	७२७	७६५	८४१	१७१६	११०८	१७५४	,, १०५२२

१ इस तरह भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न लेखों को देखकर ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या अनिश्चित प्रतीत होती है। इस में भी १०४१७ के लेखक ने लिख दिया वह बडा शंकास्पद है। साम्प्रतमें १०५२२ मन्त्र मिलते हैं, उनमेंसे वालखिल्यके ८० मन्त्र कम किए जायें तोभी १०४७२ मिलते हैं।

कारिका में 'ऋचामशीति पादः " है, इस में पादः शब्द शंकास्पद है। यहां पादः का अर्थ दशम का एकपादः अर्थात् १ लिया जाय, तब ग्रंथमान १०५८१ होता है और पादः शब्द छोड दिया जाय, तब ग्रंथमान १०५८० प्रतीत होता है और " ऋचामशीति पादः " के स्थान में " ऋचामशीत्यपादः " पाठ लिया जाय, तब दस के दस पाद में से १ पाद कम होने से ग्रंथमान १०५८९ वा १०५७९ का मिलता है। इसलिये यह भी अनिश्चित है। जैसे कारिकासे यजुर्मन्त्रसंख्यादिका निर्णय साफ साफ हो जाता है, वैसे इस कारिका से ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या का निर्णय नहीं होता। तब ऋग्वेद में मन्त्र हैं कितने ?

२ ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ कितने हैं ? उनमें प्रत्येक में अध्यायादि विभाग कितने हैं ? और प्रत्येक विभागों में मन्त्रसंख्या कितनी है ? यह नाम वार निर्णित होना आवश्यक है।

३ ऋग्वेद के सब मिलकर उपनिषद् पूर्वोक्त ही हैं या विशेष ? यदि विशेष हों तो उन के नाम और मन्त्रसंख्या कितनी है ?

४ ऋक्शाखाओं का सम्पूर्ण नाम निर्णय होना आवश्यक है।

(२) यजुर्वेद का विचार।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में उक्त महानुभावने लिखा है- यजुर्वेद कृष्ण:- इस वेद का परिशिष्ट चरणव्यूह है। इस में १०२ शाखा हैं, इस के खांडिक्य और औरव्य ऐसे दो भाग हैं।

खाण्डिक्य में- आपस्तंब १, बोधायनी २, सत्याषाढ ३, हिरण्यकेशी ४ और औधेयी इसके ये ५ भेद हैं। चरक के चरक १, मैत्राहणी २, श्वेततर

श्वेताश्वतर ४, वार्तांतर ५, वार्तालव ६, रायणीय ७, कपिष्ठल ८, प्राच्यकठ ९, कठ १०, आह्वरक ११, औपमन्यव १२। कठ के १३ भेद हैं। मैत्रायणी के मानव १, दुंदुभ ऐक्य २, वाराह ३, हरिद्रव्य ४, स्याम ५, स्यामा ६, यनीय ७, ये सात भेद हैं। जाबाल १, बोधेय २, काण्द ३, माध्यंदिनी ४, गालव ५, व्यात्यायन ६, कायर ७, इत्यादि वाजसनीयके १७ भेद हैं। जाबाल के २४ भेद हैं और गालव के २२ मिलकर १०२ शाखा हैं। इन में तैतरीय में ८६ और वाजसनीय में १६ मिलके १०२ होता है।

इन के शाखा सूत्र के विस्तार।

१, (१) आपस्तंब शाखा अर्थात् आपस्तंब-संहिता, (२) तैतरीय ब्राह्मण-आरण्य इन के २० अध्याय हैं। (३) आपस्तंबसूत्र इसमें श्रौत १, गृह्य २ और धर्म ३ ऐसे ३ भाग हैं।

२, हिरण्यकेशी शाखा- इस शाखा के कोकणस्थ ब्राह्मण हैं। (२) हिरण्यकेशी सूत्र- इन में श्रौत १ और गृहय २ ऐसे दो भाग हैं।

३, सत्याषाढ शाखा- यह तैलंग में है।

४, बोधायन शाखा- इन के जो सूत्र हैं, उन का विस्तार ३०००० ग्रंथ हैं।

५, (१) मैत्राणी शाखा- इन में मानव और वाराही शाखा है।

इन के ७ काण्ड हैं। समग्र ४४ अध्याय हैं।

ब्राह्मण के ३ अष्टक हैं। इन के २५ अध्याय हैं।

संहिता के ६५१ अनुवाक्, २१९८ पन्नाशा, १,१२,०९० पद और २,५३,८६८ अक्षर हैं।

इस के मुख्य उपनिषद्- ब्रह्म १, गर्भ २, योगतत्व ३, कठवद्त्री ४, कैवल्य ५, अमृतबिन्दु ६, नारायण ७, तैत्तरीय ८, क्षुरिक ९, स्कन्द १०, मृतनाद ११, दक्षिणामूर्ति १२, काक्ष १३, कलाग्निरुद्र १४, शारीरक १५, शुकरहस्य १६, इत्यादि हैं।

(२) शुक्ल यजुर्वेद-वाजसनेय।

१ संहिता और ४० अध्याय हैं।

२, ब्राह्मणग्रन्थ- शतपथ ब्राह्मण इसके १०० अध्याय, ६८ प्रपाठक, १४ प्रपाठक और १४ काण्ड हैं। इस के नाम हव्यान १, एकवै २, अध्वर ३, ग्रह ४, सर्व ५, उखासंभरण ६, हरीतखा ७, चो ८, साची ९, अग्निरहस्य १०, मध्यम ११, अष्टायार्या १२, अश्वमेध १३, बृहदारण्यक १४, इनको उपनिषद् गिनते हैं।

३, काण्वपाठ- इसके १७ काण्ड हैं। माध्यंदिनके १४ काण्ड हैं। इन की ऋचा २०२१, अनुवाक् ३११, पद ३१,५९१ हैं, इन की १५ शाखा रही, इन में से २ शेष हैं।

४, इनके मुख्य उपनिषद्- जाबाल १, परमहंस २, हंस ३, ईशावास्य ४, पिंगल ५, भिक्षु ६, तुरीया ७, तार सार ८, सुबाल ९, बृहदारण्यक १०, निरालंब ११, त्रिशिखी १२, याज्ञवल्क्यमुक्तिकाना १३, ब्राह्मण १४, मण्डल १५, तीताध्मात्य १६, शाटयायनी १७, पिंगल १८, इत्यादि हैं।

५, महात्मा नथुराम शर्मा लिखते हैं- यजुर्वेद प्रायश गद्यरूप है। इन में मुख्य करके यज्ञादि सम्बन्धी वर्णन है। इनकी संहिता दो प्रकार की है। १ कृष्ण और २ शुक्ल अथवा तैत्तरीय और वाजसनेयी ब्राह्मण। कृष्ण यजुर्वेद की संख्या १९००० और शुक्ल यजुर्वेद की १९००। (यह संख्या चरणव्यूह में समान संख्यारूप कही है। यजुर्वेदकल्पतरु में मन्त्र की संख्या १९७५, अक्षर की संख्या ९०५२५ और अर्ध अनुस्वार की संख्या १२३० बताई है। इस वेद में १४ काण्ड, ४० अध्याय और ३०३ अनुवाक् हैं। आगे के ३९ अध्याय में मुख्य करके यज्ञादि कर्मकाण्ड की समज और उनके उपयोगी मन्त्र हैं और अंतिम ४० अध्याय में ज्ञानोपदेश है। इस अध्याय को ईशोपनिषद् कहते हैं।) और इन का ब्राह्मण का परिमाण १६०० हैं।

शाखा- कृष्ण-यजुर्वेद की ८६ शाखाएं हैं। उनमें से बहुत नाश हो गई हैं। ग्रन्थों से कुछ नाम मिलते हैं। वह यह है- चरक १, आह्वरक कठ २, प्राच्यकठ ३, कापिष्टल कठ ४, नारायणीय ५, वारंतवीय ६, श्वेताश्वतर ७, औपमन्यव ८, माता ९, ऐडिनिय १०, मानव ११, वाराह १२, दुन्दुभ १३, छागलेय १४,

हारिद्रवीय १५, स्याम १६, स्यामायणीय १७, तैत्तरीय १८, ऐखीय १९, खांडिक्य २०, कालेय २१, शात्यायनी २२, हिरण्यकेशी २३, भारद्वाजित् २४, आपस्तंबित् २५, औढेय २६, मौनेय २७ और मैत्रायणीय २८।

शुक्ल- यजुर्वेद की १५ शाखा इस प्रकार हैं। काण्व १, मध्यंदिन २, जाबाल ३, बुधेय ४, शापेय ५, स्थापायनीय ६, कपोल ७, पौड्रवत्स ८, आवरिक ९, परमावरिक १०, पाराशरीय ११, वैणेय १२, वैनतेय १३, वैधेय १४ और वैजव १५।

ब्राह्मणग्रन्थ-कृष्ण-यजुर्वेद को तैत्तरीय ब्राह्मण है और शुक्ल-यजुर्वेद को शतपथ-ब्राह्मण है।

यज्ञ में आहुति आदि अर्पण करनेवाला यजुर्वेदका ऋत्विज होता है। इस को अध्वर्यु कहते हैं।

स्वर्गस्थ श्रद्धानंदजी महाराज कृष्ण-यजुर्वेद के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखते हैं। शुक्ल-यजुर्वेद कोहि यजुर्वेद मानकर उसका वर्णन उनकी कारिकामें इस तरह लिखते हैं-

सन्मूलो यजुराख्यवेदविटपी जीयात्स माध्यंदिनिः। शाखा यत्र युगेंदु (१४) काण्डसहिता यत्रास्ति सा संहिता॥

यत्राब्धि (४०) लता विभान्ति शरशैलांकेन्दुभिः (१९७५) ऋग्दलैः। पंचद्वीषु नभोङ्क (९०५२५) मधुपैः खाग्न्यर्क (१२३०) गुङ्गुञ्जितैः॥१॥

(टीप- इसका अर्थ प० नथुराम शर्मा के वर्णन में खुल जाता है)

यजुर्वेदके अध्यायजन्य मंत्रांक।

अध्याय १ से १० पर्यंतके ३१ ३४ ६३
३७ ४३ ३७ ४८ ६३ ४० ३४ ४३०

" ११ से २० " ८३ ११७ ५८ ३१ ६५
६६ ९९ ७७ ९५ ९० = ७८१

" २१ से ३० " ६१ ३४ ६५ ४० ४७
२६ ४५ ४६ ६० २२ = ४४६

अ ३१ से तक २२ १६ ९७ ५८ २२
२४ २१ २८ १३ १७ = ३१८
१९७५

यजुर्वेद के लिये बहुशः सब विद्वानों ने शुक्ल-यजुर्वेद को हि यजुर्वेद माना है और उन की मन्त्र-संख्या जितनी की तितनी साम्प्रत कालपर्यंत जैसी की तैसी बनी रही है। इसलिये संख्या के बारे में कुछ भी शंका नहीं है और दूसरी शंकाओं को निम्न प्रकाश होता है।

कृष्ण-यजुर्वेद के बारेमें शंकाएं।

५, कृष्ण-यजुर्वेद को चारों वेद की संख्या में क्यों नहीं लेते? क्या इसके मन्त्र काण्वसंहिता के अनुसार पाठांतरभेद से हैं न्यारे नहीं है?

६, कृष्ण-यजुर्वेद की हालदर्शक कारिका क्यों नहीं है?

७, कृष्ण-यजुर्वेद के मन्त्र पद अक्षर की संख्या क्यों नहीं बताते?

८, शाखाएं ८६ बताते हैं और सब मिलकर १०१ बताते हैं। जब शुक्ल-यजुः की १५ क्यों १६ होनी चाहिए।

९, शाखाओं के नाम और भेद दोनों पंडितोंने अपूर्ण बताये हैं।

१०, उपनिषद् १६ लिखकर इत्यादि लिख दिया है, जब और उपनिषद् कितने हैं और कौनसे?

११, कृष्ण-यजुर्वेद की गणना शुद्ध मुद्रण में क्यों नहीं?

शुक्ल के बारे में।

१२, अनुवाक् ३०३ हैं या ३११ हैं? दोनोंमें सत्य क्या है?

१३, उपनिषद् १८ लिखे हैं। विशेष कितने और उनके नाम क्या हैं?

३ सामवेदका विचार।

सामवेदके सम्बन्धमें भी उक्त महानुभावने इस प्रकार लिखा है। मन्त्रकी संख्या स्पष्ट नहीं लिखी।

सामवेदकी १००० एक हजार शाखाएं हैं। वह कोथुमी १, राणायणी २, गौतमा ३, खल्वला ४, महाखल्वला ५, जैमिनीय ६, लांगला ७, सोरायण सात्थ मुद्गल ८, शाट्यायनी ९, ऋग्वर्णभेद १०, प्रांकल ११, खलल १२, महाखलल १३, नैगमेय १४, प्राचिनयोग्य १५, ज्ञान १६, तलवकार इत्यादि। इन में दो शाखाएं मुख्य हैं।

१, कौथुमी शाखा- यह गुजरात में चलती है। इस में प्राचीन योग नेगमनीय, आशुरायण, वातायण और प्रांजली द्वैतामृत ऐसे तीन भेद हैं। २ संहिता इस में दशती और प्रपाठ ऐसे भेद हैं। १ छंदसीक, ६ प्रपाठक हैं। २ बृहत्साम, वैरुण्यसाम, रैवतसाम, दीर्घसाम, वामदेव्यसाम, पंचनिधान, आयएक, वह-उह्म, ३ उत्तर। इस में ९ प्रपाठक हैं। ४ आरणी इसमें विषय प्रपाठ गान, इस के ८ ब्राह्मण हैं। (१) पंचविंश ताड्य। षड्विंश। साम विधाना संहितोपनिषद्। ब्राह्मण। आर्षेय। देवदत्ताध्याय। वंशब्राह्मण। मन्त्रब्राह्मण। इन का लाटयायन और गोभिल ऐसे दो सूत्र हैं।

२, (१) रायायणी शाखा- महाराष्ट्र देश में चलती है। इस में शाट्यायनी। शात्यमुदराल। लांगल। गौतमं और जैमिनिय मुख्य हैं। १५५० ऋचा, ८ वा ९ मण्डल हैं। इसमें गायनके ३६ प्रकार हैं। इस के नाम प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, ऋग्व्यूह इत्यादि। चरणव्यूह की शाखा हैं। इन में सत्यमुर्जिय, सत्य मुर्द, सत्य मुन्दल, काश्यप, महा काश्यप, लांगलायन, शार्दुल। इस में १४००० मंथ की संख्या है।

मुख्योपनिषद्- जाबाली १, केन २, रुद्रान ३, छांदोग्य ४, जाबालदर्शन ५, अरुणी ६, महत् ७, वासुदेव ८, संन्यास ९, योगचूडामणी १०, आव्यक्त ११, वज्रसूचिक १२, कुण्डिका १३, मैत्रेय सावित्रि १४, मैत्रायणी १५।

महात्मा नथुराम शर्मा लिखते हैं- सामवेद पूर्व और उत्तर ऐसे दो भाग में विभक्त है। इनका परिमाण उपनिषद् सह ८०१४ हैं। इस वेदकी १००० शाखाएं हैं। इन में से सांप्रत कालमें जो उपलब्ध हो शकती हैं, वह इस प्रमाण है- राणायनीय १, सात्यमुग्रय २, कालाप ३, महाकालाप ४, लांगलीक ५, शार्दूलीय ६ और कैथुम ७। कैथुम शाखाके आसुरायण १, वातायन २, प्रांजलीय ३, वैनधृत ४, प्राचीन योग ५, और नेगेय ६, ये ६ भेद हैं।

इस वेदके प्रौढ १, षड्विंश २, सामविधान ३, मंत्र ब्राह्मण ४, आर्षेय ५, देवताध्याय ६, वंश ७ और संहितोपनिषद्-ब्राह्मण ८, यह आठ ब्राह्मण मिलते हैं।

सामवेद प्रायः ऋग्वेद के नवम मण्डलके मन्त्रोंसे रचा गया है और गानमय है। इसमें १५४९ ऋचा हैं। इस में से कुछ पाठ साम्प्रत के ऋग्वेद के पाठ से भिन्न हैं। यज्ञ में आवाहन किये देवताओं को संतोष होने को जो काम सामवेदीय ऋत्विज करते हैं, उन को उद्गाता कहते हैं।

स्वर्गस्थ श्रद्धानंदजी महाराज इस सामवेद की कारिका लिखके इस प्रकार मन्त्रकोष्टक से इस का हाल बताते हैं।

कारिका- (वसंततिलका वृत्तम्।)

पूर्वोत्तरौ विभजतेऽखिलसामभागौ।
　सामानि यत्र नवनाग (८९) मितानि सन्ति॥

अध्यापको नवकराः (२९) श्रति गायकरित।
　गायन्ति वेदरसयंक (?) मिताश्च मंत्रात्॥१॥

	अध्याय	साम	मंत्र
पूर्वार्चिमें ६४ दशति होनेसे	६	६४	६४०
मध्यार्चिमें १ दशति होनेसे	१	१	१०
उत्तरार्चिमें २२ अध्याय होनेसे	२२	२२	४१४
उनके सूक्त	२९	८७	१०६४

टीप- यहां २२ अध्याय जो उत्तरार्चिमें दिये हैं, उनको सूक्तों की गणना की है वह अनुचित है। मन्त्रा यहां १२२३ हैं और साम्प्रत में सूक्त भी ४०० हैं। वह गलती की है। सांप्रतमें उत्तरार्चि के २२ अध्याय में इस प्रकार १२२३ मन्त्र हैं।

पूर्वार्चि		
अध्याय	मन्त्र	साम
१	११४	१२
२	११८	१२
३	११९	१२
४	११५	१२
५	११९	११
६	५५	५
	६४०	६४

मन्त्रसंख्यावाले सूक्त ।

अ०	१ मं०	२ मं०	३ मं	४ मं०	५ मं०	६ मं०	७ मं०	८ मं०	९ मं०	१० मं०	११ मं०	सू०	मंत्र	प्रपाठकक्रम
१	०	७	१६	०	०	०	०	०	०	०	०	२३	६२	१ ला
२	०	४	१८	०	०	०	०	०	०	०	०	२२	६२	
३	०	३	१५	१	०	०	०	०	०	०	०	१९	५५	२ रा
४	०	३	१५	०	१	०	०	०	०	०	०	१९	५६	
५	०	३	१७	०	०	२	०	०	०	०	०	२२	६९	३ रा
६	०	२	१८	१	०	०	२	०	०	०	०	२३	७६	
७	१	२	१८	१	०	०	०	०	०	२	०	२४	८३	४ था
८	०	१	११	०	०	०	०	०	०	०	२	१४	५९	
९	०	१	१४	०	१	०	०	०	३	०	०	२०	७८	५ वा
१०	०	२	१४	०	०	५	०	१	०	१	०	२३	९४	
११	०	२	८	१	०	०	०	०	०	०	०	११	३२	६ वा
१२	०	५	१४	१	०	०	०	०	०	०	०	२०	५६	
१३	२	२	११	१	१	१	०	०	०	०	०	१८	५४	
१४	१	२	१२	०	१	०	०	०	०	०	०	१६	४६	७ वा
१५	०	४	१०	०	०	०	०	०	०	०	०	१४	३८	
१६	६	८	६	१	०	०	०	०	०	०	०	२१	४४	
१७	०	२	१२	०	०	०	०	०	०	०	०	१४	४०	८ वा
१८	०	६	१२	०	०	१	०	०	०	०	०	१९	५४	
१९	०	२	१४	२	०	०	०	०	०	०	०	१८	५४	
२०	०	३	१५	०	०	०	०	०	०	०	०	१८	५१	९ वा
२१	४	१	७	०	०	१	०	०	०	०	०	१३	३३	
२२	०	०	९	०	०	०	०	०	०	०	०	९	२७	
समूह	१४	६६	२८६	९	४	१०	२	१	३	३	२	४००	१२२३	
मध्या-	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०	१०	१०	
पूर्वा												६४०	६४०	
												१०५०	१८७३	

सामवेद के बारेमें शंकाएं।

सामवेद की मन्त्रसंख्या एक पण्डितने १५५० और दूसरेने १५४९ मान ली है। किसीने कुछ आधार नहीं दिया। स्व० म० श्रद्धानन्दजीने कारिका देकर १०६४ लिखा दिया वह सर्वथा अमान्य है। कारिकामें "वेदरस यंक" शब्दका अर्थ श्रीमान् ने १०६४ लिया, परन्तु यहां यंक के अर्थ के बारे में इन्हों ने शंकात्मक प्रश्नचिह्न लगाया है, इस लिए स्पष्ट होता है कि आप भी इन के लिये शंका लेते हैं। यहां श्रीमान् श्रद्धानन्दजीने इस प्रकार १०६४ का अंक स्पष्ट किया है। पूर्वार्चिकी ६४ दशति के ६४० मन्त्र, मध्यार्चिके १० दश मन्त्र और उत्तरार्चि के ४१४ सूक्त मिलकर १०६४ माने हैं, वह भी गलत है। सूक्त को मन्त्रांक मानना बडी भारी गलती है। और सूक्त भी ४१४ नहीं बलके ४०० हैं, इसलियें मन्त्रसंख्यामें बडी गलती दिख पडती है।

सांम्प्रत काल में छपी हुई सामवेदसंहिता में ८९ साम कहांसे कहांपर्यंत माने जाते हैं और उन का नाम क्या वह निशान नहीं दिये जाते। कलकत्ते में एक सामप्रकाश नामका ग्रन्थ छपा रहा वह अब मिलता नहीं।

सामवेदकी शाखाका निर्णय होना योग्य है।

सामवेद के समग्र उपनिषद् के नाम व संख्या प्रकाश होना जरूरी का है। इन के ब्राह्मणग्रंथ, उनके विभाग और मन्त्र प्रकाशनीय है।

(४) अथर्ववेदके बारेमें विचार।

अथर्ववेद के सम्बन्ध में उक्त महानुभावने लिखा है- इन की शाखा शौनकी १, पिप्पलाद २, दान्त ३, प्रदांत ४, स्तोता ५, औता ६, ब्रह्म ७, दायशा ८, कुञ्जक ९, देववर्शी १०, चरणविध ११, इत्यादि।

इनका कल्प- नक्षत्र १. विधान २, विधिविधान ३, संहिता ४, शांतिकल्प ५ ऐसे पांच हैं।

१, शौनकी शाखा- शौनकी संहिता इसमें २० काण्ड हैं। (२) गोपथब्राह्मण- पूर्वार्ध अध्याय ५ उत्तरार्ध अध्याय ६ हैं। इनमें ऋकार पृच्छास १ इसके प्रणवोपनिषद् और अद्त्रा सूक्त हैं। (२) आरण्यक इनमें ५२ उपनिषद् और सूत्र में शौनकी है।

२, पिप्पलाद शाखा- इनका संहिता १, ब्राह्मण २, आरण्यक ३, शौनक ४ इत्यादि प्रमाण हैं। तदनुसार सूत्र १, पितृमेध २, कौशिक ३, सांख्यायन गृह्यसूत्र ४, सांख्यायन श्रोत्रसूत्र ५ ये हैं।

उपनिषद्- अथर्वशिखा १, प्रश्न २, मुंडक ३, मांण्डूक्य ४, बृहज्जाबाल ५, महानारायण ६, गणपति ७, महावाक्य ८, अथर्वशिर ९, नृसिंह तापनीय १०, नारद परिव्राजक ११, देवी भावना १२, भस्म १३, जाबाल १४, सीताशरभ १५, रामरहस्य १६, रामतापनी १७, गोपालतपन १८, शांडिल्य १९, परमहंस २०, परिव्राजकानपूर्णा २१, कृष्ण २२, सूर्म्यात्म २३, हयग्रिव २४, पाशुपत २५, दत्तात्रेय २६, परब्रह्म २७, गरुडा २८, त्रिपुरातपन २९, ये हैं।

महात्मा नथुराम शर्मा लिखते हैं- अथर्ववेद के २० अध्याय (काण्ड), १०० प्रपाठक, १२३०० मन्त्र और नव शाखा हैं। वह पिप्पलाद १, शौनकीय २, दामोद ३, तोत्तायन ४, जायल ५, ब्रह्मपालाश ६, कुनख ७, देवदर्शी ८ और चाराक ९ हैं। अथर्ववेदका गोपथ नाम ब्राह्मण है।

३, स्वर्गस्थ श्रद्धानन्दजी महाराज अथर्ववेद के मन्त्रों की संख्यादि बतावते वख्त निम्न लिखित कारिका लिखते हैं।

(मालिनी वृत्तम्)

अथ नखमित काण्डैः (२०) राजतेऽथर्वसंसद्।
युगगुण (३४) विततः प्रपाठकाश्चानुवाकाः॥
अवनिविधुधरण्यो (१११) भुगुणागास्तु (७३१) वर्गाः।
नवयुगवसुबाणा (५८४१) स्तत्र मन्त्राम्भजन्ते॥१॥

इस कारकाके पीछे मन्त्रसंख्या की तालिका स्व० श्रद्धानन्दजीने दी, उस तालिकामें अजमेरके छापखानेमें छपा हुआ अथर्ववेदके मन्त्रोंकी और औंध भारतमुद्रालयमें छपा हुआ वेदके मन्त्रोंकी तालिका भी जोड दी है। उन तीनोंको देखने से सत्यासत्य का ज्ञान होना सम्भव है, इस लिये यहां लिखते हैं।

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक्	वर्ग	मन्त्राः		
				श्रद्धानंदोक्त	अजमेरके ग्रंथमें	औंध भारतमुद्रालयके ग्रंथमें
१	२	६	३५	१५३	१५३	१५३
२	२	६	३६	२०७	२०७	२०७
३	२	६	३१	२३१	२३०	२३०
४	२	८	४०	३२२	३२४	३२४
५	३	६	३१	३७१	३७६	३७६
६	३	१३	१४२	४५४	४५४	४५४
७	२	१०	११८	२८३	२८६	२८६
८	२	५	१०	२५९	२९३	२५९
९	१	५	१०	३००	३१३	३०२
१०	१	५	१०	३५०	३५०	३५०
११	२	५	१०	३१३	३१३	३१३
१२	२	५	५	३०४	३०४	३०४
१३	१	४	४	१८८	१८८	१८८
१४	१	२	२	१३९	१३९	१३९
१५	१	२	१८	१४१	२२०	२२०
१६	१	२	९	१०३	१०३	१०३
१७	०	१	१	३०	३०	३०
१८	२	४	४	२८३	२८३	२८३
१९	०	७	७२	४५६	४५३	
२०	०	२	१४३	९६०	९५८	
	३०	१०४	७३१	५८४१	५९७७	

अथर्ववेदके बारेमें शंकाए।

अजमेर में छपा हुआ ग्रन्थ, भारतमुद्रणालय में छपा हुआ ग्रन्थ को स्व० श्रद्धानन्दोक्त मन्त्र-संख्या से मिलाते हैं जब ३, ४, ५, ७, ८, ९ और १५ यह ७ काण्ड की मन्त्रसंख्या में गलती दिख पडती है। काण्ड ९ में तीनों का मतभेद है। शेष काण्ड अजमेर और भारतमुद्रणालय दोनों के समान हैं। स्व० श्रद्धानन्दोक्त में अन्तर है। कारिकासे अजमेर और भारतमुद्रणालय की संख्या नहीं मिलती, वह मिलानी योग्य है।

अनुवाक् में ७ का अन्तर है।

शाखा के बारेमें सम्पूर्ण देखना है।

उपनिषद्की संख्या शुद्ध बनवाना परमावश्यक है।

समग्र वेदोंकी मन्त्रसंख्या।

चारों वेदकी मन्त्रसंख्या के बारेमें भारत में लिखा है।

लक्षं वेदास्तु चत्वारो लक्षं भारतमेव च ॥
लक्षं व्याकरणं प्रोक्तं चतुर्लक्षं तु ज्योतिषम् ॥१॥

इस हेतुसें समग्र चारों वेदों की मन्त्रसंख्या १,००,००० होना सम्भव है। तथापि साम्प्रत में ऋग्वेद १०,५२२, यजु० १९७५, साम० १८७३ और अथर्व (अजमेरके ग्रन्थसे) ५९७७ मिलकर २०३४७ संख्या होती है। तब भारतमें एक लक्ष का मान क्यों बताया ?

उपरोक्त सब शंकाओं का समाधान प्रमाणबद्ध होकर मुद्रण हो ऐसी मेरी सब वेदज्ञ विद्वानोंसे नम्र प्रार्थना है ॥ इत्यलम् ॥

वेदोंके मुद्रणका कार्य।

स्वाध्यायमंडल में वेदोंके शुद्ध मुद्रण का कार्य प्रारंभ हुआ और इस समयतक ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं। ऋग्वेदग्राहकों के पास अगले महिने में रवाना हो जायगा। ऋग्वेद और यजुर्वेद में जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके एक भी अशुद्धि नहीं रहेगी, ऐसा प्रबन्ध किया है। छपने पर जिन अशुद्धियों का पता लगा उनको भी शुद्ध किया है और ग्राहकों के पास शुद्ध ही पुस्तक जायंगे, ऐसी व्यवस्था बडा प्रयत्न करके की है। पुस्तक में एक भी अशुद्धि न रहे ऐसा करनेके लिये-

१ प्राचीन और कुलकी पठनपाठनपरंपरा से शुद्ध की हुई पोथियोंकी सहायता,

२ छपे ग्रन्थोंकी सहायता,

३ वेदोंको कण्ठस्थ रखनेवाले धुरंधर दस पण्डितोंकी सहायता तथा

४ ब्राह्मणों, आरण्यकों, वेदानुक्रमणीसूत्रों, बृहद्देवता और अन्यान्य भाष्योंकी सहायता

ले लेकर यह ऋग्वेद और यजुर्वेद मुद्रण किया है। इसलिए इन ग्रंथोंमें अशुद्धियां रहीं नहीं हैं, ऐसा हमारा विश्वास है। तथापि मनुष्य स्खलनशील है, इस कारण यदि किसी स्थानपर कोई गलती रह गयी हो अथवा हो चुकी हो, तो वह भी हम शुद्ध करनेको तैयार हैं। इसलिए अशुद्धियोंको ढूंढ ढूंढकर निकालने के लिए पारितोषिक रखा है।

प्रत्येक अशुद्धि के लिये १) रु० पारितोषिक।

प्रत्येक अशुद्धि के लिए १) रु. पारितोषिक रखा गया है। इस पारितोषिक के नियम ये हैं, कि जो ग्राहक अशुद्धि निकालेंगे उनको उनकी अशुद्धियों की संख्यानुसार पारितोषिक भेजा जायगा। एक ही अशुद्धि दोसे अधिक विद्वानोंकी ओर से आ गयी, तो उनमें जिससे प्रथम अशुद्धिका पत्र आवेगा उसको पारितोषिक मिलेगा और इसका परिणाम प्रतिमास 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित होता रहेगा।

यह पारितोषिक वेदोंके मन्त्रोंकी अशुद्धियों के लिए ही है।

यदि इस तरह की स्पर्धासे कुछ अशुद्धियां निकल आवेंगी, तो उनकी शुद्धि की जायगी। और इस स्पर्धा से यदि कोई अशुद्धि न निकली तो ये ग्रन्थ शुद्ध हैं, ऐसा सिद्ध हो जायगा। इस तरह पूर्ण शुद्ध होनेका निश्चय होनेपर आगेकी छपाई फोटोग्राफिक प्रोसेस से ही की जायगी। जिससे आगे अशुद्धि होने की संभावनाही नहीं रहेगी।

पोषक वर्ग।

स्वाध्यायमंडल के पोषक वर्गका चन्दा १००) रु० है। एकवार यह चन्दा स्वा० मंडल में दाखल

हुआ, तो उस दिन के पश्चात् जो जो ग्रन्थ स्वा० मंडलद्वारा छापे जायंगे वे सब ग्रन्थ और सब मासिक उन पोषक वर्गके स्थिर सदस्योंको विना-मूल्य मिलते रहेंगे।

कई लोगोंने पूछा है कि यह स्वा० मंडल स्थिर रूपसे चलानेका किस तरह प्रबन्ध किया है। इस विषय में निवेदन है, कि संस्कृत के तरुण विद्वान् स्वा० मंडलमें लेकर उनको वेदसंशोधन के कार्य की शिक्षा ५ वर्ष दी जाती है और जब वह पूर्ण रीतिसे योग्य सिद्ध हो जाय तब वह स्वा० मंडलका कार्यकर्ता होता है। इसी तरह पं० तडित्कांतजी वेदालंकार ५ वर्ष कार्य करनेके पश्चात् स्वाध्याय-मण्डलके कार्यकर्ता बनाए गए हैं। वे वैदिक धर्म मासिक के इस समय सहसंपादक हैं और इसी कार्य के लिए वे आफ्रिका में प्रचारकार्य के लिए गए हैं। इसी तरह योग्य विद्वान् चुन चुन कर लेने का कार्य चल रहा है, इस कारण स्वाध्यायमंडलका कार्य स्थायी रूपसे चलता रहेगा, इस विषयमें किसीको सन्देह नहीं होना चाहिए।

गत वीस वर्षों में स्वाध्याय-मंडलद्वारा करीब पावनेदो सौ रु० की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और आगे इससे भी अधिक कार्य होना है। इसलिए जो पोषक वर्गके सदस्य होना चाहते हैं, वे शीघ्र होंगे, तो उनको वेदके पुस्तक प्राप्त हो सकेंगे।

ऋग्वेदका प्रकाशन होनेके पश्चात् अथर्ववेद छपवा जायगा और तत्पश्चात् सामवेद मुद्रित होगा। सामवेद मुद्रित करनेके समय हम हरएक जाति का साम नोटेशन देकर छापेंगे। ऐसा इस समय तक किसीने नहीं किया है। इस नोटेशन की पद्धति से गायक ताल सुर के साथ साम गायन कर सकेंगे।

अथर्ववेद मुखोद्गत रखनेवाले विद्वान् भी परमात्माकी कृपासे मिल गए हैं और अच्छे शुद्ध हस्तलिखित पुस्तक भी प्राप्त हुए हैं।

दैवत-संहिता।

दैवत-संहिता निर्माण करनेका विचार इस मासिक में पहिले प्रकाशित किया था। तदनुसार श्री० पं० नाथुलालजी, अजमेर ने इस दैवत-संहिता के निर्माण करने के लिए २०००) का दान देनेका वादा किया है और तदनुसार एक सहस्र रु० उनसे स्वा० मंडल के कार्यालयमें आ चुका है। तदनुसार दैवत-संहिता लिखी जा रही है। इस समयतक ११००० मन्त्र लिखे गए हैं। शेष इतने ही मन्त्र लिखने हैं। इस ग्रंथमें अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके मन्त्र एक स्थानपर मिलेंगे और एकएक विद्वान् एकएक देवताके मन्त्र लेकर उनका पूर्ण अभ्यास कर सकेगा। इसी अभ्याससे वेदकी गूढ विद्या प्रकाशित होना संभव है।

दैवत-संहिता के पृष्ठ करीब करीब २००० होंगे और उनकी २००० पुस्तकोंकी छपाई करनेके लिए कमसे कम १००००) रु० दस हजार लगेंगे। जो वेदप्रेमी विद्वान् खास इसी कार्य के लिए दान देंगे, उनके दानकी रकम इसी कार्य के लिए अलग रखी जायगी और उसका व्यय दैवत-संहिता की छपाई में हि होगा।

दानी सज्जन इस समय अपने दानद्वारा अपना वेदप्रेम प्रकट करें।

आफ्रीकाकी ओर।

(लेखक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार, आफ्रीका.)

पं० तडित्कान्तजी   पं० सातवलेकरजी

आफ्रीकाका प्रवास करनेकी मेरी बहुत समयसे इच्छा थी। आखिरको वह समयभी आ ही गया। इसके लिए परम प्रभु परमात्माका जितनाभी उपकार मानूं थोडाही होगा। परंतु इसके साथही साथ स्वाध्याय-मण्डलके स्थापक तथा संचालक श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीका अनुग्रहभी मैं किसीभी सूरतमें भूल नहीं सकता। उन्होंने मुझे यह अमूल्य तक देकर सदाके लिए ऋणी बना लिया है। मैं उन आफ्रीकावासी भाईयोंकाभी हार्दिक धन्यवाद किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने कि स्वाध्यायमण्डलको अपनाकर उसे विशेष रूपसे आर्थिक सहायता पहुंचानेका वचन दिया है।

मैं आफ्रीकाका प्रवास करनेके लिए क्यों जा रहा हूं, इस बातको पुनः दौरानेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'वैदिक धर्म' के पाठकोंको भली भांति विदित होही चुका है, कि स्वाध्यायमण्डलने वेदादि तमाम धर्मग्रंथोंको शुद्ध व सस्ते छापनेका पूर्ण निश्चय किया है। इस कार्यको पूर्ण करनेके लिए दो से तीन लाख रुपयोंकी जरूरत होगी। इतनी बडी धनराशि स्वाध्यायमण्डलको कब और कहांसे उपलब्ध हो सकेगी, यह आज कहना कठिन है। तथापि स्वाध्याय-मण्डलने अपना कार्य प्रारंभ तो करही दिया है। सबसे प्रथम चारों वेद-संहिताएं शुद्ध छापनेका कार्य शुरू किया है। इस कार्यके लिए ५० हजार रुपये लगेंगे। इस धनराशिको प्राप्त करनेके लिएही मुख्य रूपसे मेरी यात्राका उद्देश्य है। इसमें पूर्ण रूपसे सफलता मिल जायगी, ऐसा हमें दृढ विश्वास है।

अनेक लोग, अनेक समय, अनेक कार्योंके लिए आफ्रीका जाते आते रहते हैं। बहुतोंने तो अपने प्रवासके आनंददायक वर्णनभी प्रकाशित करवाए हैं। ऐसे लोगोंके लिए मेरे इस प्रवासका वर्णन

शायद उतना अधिक मनोरंजक न हो, तथापि जो लोग आफ्रीका नहीं जा सके हैं, या जो लोग भविष्यमें जाना चाहते हैं, अथवा तो जो लोग आफ्रीकाके संबंधमें कुछ न कुछ जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिए यह वर्णन थोडाबहुत तो जरूरही मनोरंजक होगा ही। हरेक व्यक्तिके अपने अपने अनुभव जुदा जुदा हुआ करते हैं। प्रत्येककी वर्णनशैली अपनी अपनी विशिष्टता रखती है। यही नहीं प्रत्येकको अपनी अपनी यात्रामें कुछ न कुछ नवीन अनुभवभी अवश्यमेव आया करते हैं, अतः मुझे पूर्ण आशा है कि जो लोग एक दो वार आफ्रिका हो आये हैं अथवा जो उसके विषयमें थोडी बहुत जानकारी रखते हैं, उन्हें भी इसमेंसे कुछ न कुछ मनोरंजक सामग्री अवश्यही उपलब्ध होगी, इस ख्यालसे तथा कुछ बडोंके विशेष आग्रहसे मैंनेभी अपनी यात्राका वर्णन लिखनेका प्रयत्न किया है। अस्तु।

आफ्रीका का प्रवास करनेके लिए सबसे प्रथम तीन बातोंकी तैयारी करनी होती है।

(१) सरकारकी परवानगी (Passport)
(२) चेचकका टीका लगवाना (Vaccination)
(३) इमीग्रेशन पॅक्ट।

सरकारकी परवानगी। (Passport)

सरकारकी परवानगी लेनेके लिए स्थानीय सरकारकी सबसे प्रथम आज्ञा लेनी आवश्यक होती है। जो लोग ब्रिटिश सरकारकी प्रजा हैं, उन्हें यह परवानगी कहींसे भी मिल सकती है। परंतु जो लोग रियासतोंकी प्रजा हैं, उन्हें तो अपनी अपनी रियासतसेही परवानगी प्रथमतः लेनी पडती है। ब्रिटिश सरकारी प्रजाको अंतिम स्वीकृति लेनेसे पूर्व अपने पासपोर्ट फोटोपर जे. पी. (Justice of peace) के हस्ताक्षर करवाने आवश्यक होते हैं। यह कार्य किसी परिचित या प्रभावशाली व्यक्तिके मार्फत करवाना पडता है। प्रायः प्रत्येक जातिमें कुछ जे. पी. रहते हैं। जे.पी. के हस्ताक्षर करवानेका मतलब यह होता है, कि आज्ञा लेनेवाला पुरुष सज्जन है, वह परवानगी प्राप्त करनेके योग्य है। उसकी तरफसे सरकारको किसीभी प्रकारका खतरा नहीं।

परवानगीकी प्रथा।

ई. सन १९१४ के महायुद्धसे पूर्व परवानगीकी प्रथा नहीं के बराबर थी। उस समय सिर्फ एक छोटीसी चिठ्ठीपर लिखकर परवानगी मिल जाती थी। आज कल जो तकलीफें उठानी पडती हैं और जिन झगडोंमेंसे पसार होना पडता है वह सब उस समय बिलकुल न था। परंतु महायुद्धके पश्चात् अंग्रेज सरकारने यह बाकायद आज्ञा निकलवानेकी प्रथा प्रारंभ की। अंग्रेज सरकारकी देखादेखी अन्य देशोंकी सरकारोंने भी इसी प्रथाको अपना लिया। आज दुनियामें कहीं भी जाना हो, सबसे पहले अपनी सरकारकी आज्ञा लेनी पडती है और फिर जहां जाना हो वहांकी सरकारकी। दोनोंकी परवानगी हासिल होनेपर ही जाना मिलता है।

चेचक का टीका (Vaccination)

विदेश जानेके लिए दूसरा आवश्यक कार्य चेचकका टीका लगवाना है। यात्रा प्रारंभ करनेसे १२।१३ दिन पहले तथा तीन वर्षके अंदर यह टीका लगवाना आवश्यक होता है। १२-१३ दिनके अंदरका तथा तीन वर्षके बादका टीका लगवाया हुआ काम नहीं आता। अतः जानेसे पूर्व कमसे कम १२-१३ दिन पहले टीका लगवाही लेना चाहिए। यदि तीन वर्षके अंदर टीका लगवाया हुआ हो, तो फिर दुबारा टीका लगवानेकी आवश्यकता नहीं। परंतु हर हालतमें टीका लगवाया हुआ है इस बातका प्रमाणपत्र (Certificate) दिखलाना पडता है। यदि प्रमाणपत्र न हो तो पुनः टीका लगवाकर प्राप्त कर लेना चाहिए। जो लोग बंबईसे प्रस्थान करना चाहते हों, उनके तो चाहिए कि वे १५-२० रोज पहिलेही बंबई आकर टीका लगवा लें। परंतु यदि उनका स्थान बंबईसे बहुत दूर हो, तो फिर जहां वे रहते हों, वहीं लगवा लें।

वेचकके टीकेके लिए बंबईमें कुछ देना नहीं पडता। प्रमाणपत्र निम्न लिखित डॉक्टरोंकाही मान्य समझा जाता है—

सिविल सर्जन, डिस्ट्रिक्ट अथवा म्युनिसिपल हेल्थ ओफिसर, चीफ मेडिकल ओफिसर, एसिस्टेंट डायरेक्टर, ऑफ पबलिक हेल्थ। सरकारी वेक्सीनेटर, या प्राइवेट रजिस्टर्ड डोक्टरकी सर्टीफिकेट हो, तो उसपर उपरोक्त अधिकारियोंके हस्ताक्षर आवश्यक हैं।

सरकारकी ओरसे सब बडे बडे शहरोंमें टीका लगवानेकी व्यवस्था रहती है। टीका लगवानेके लिए कुछ देना नहीं पडता। टीका मुफ्तही लगाया जाता है। परंतु फिरभी बहुतसे स्थानोंपर सरकारी टीका लगानेवाले अज्ञानी लोगों से रुपया दोरुपया या इससेभी ज्यादा ऐंठते हैं। वस्तुतः उन्हें लेनेका कोई हक नहीं और नहीं लोगोंको देनाही चाहिए।

कुछ लोग जिन्हें कई वार टीका लगवाना पडता है वे, अथवा तो जो लोग अपने शरीरपर टीकेका विशेष प्रभाव होने देना नहीं चाहते, वे प्रायः ऐसा करते हैं कि टीका लगवाते ही फौरन गरम पानी तथा साबुनसे उसे धो डालते हैं। कोई कोई तो दबादबाकर थोडासा खूनभी निकाल डालते हैं। इससे यह होता है कि टीकेका प्रभाव शरीर पर बहुत ही थोडा होता है और ज्वरभी नहीं आता, तथा बिलकुल साधारणसे निशान पडते हैं जो कि ४-६ मासमें मिट जाते हैं।

परंतु तज्ञोंका कहना है कि ऐसा नहीं करना चाहिए। टीकेका पूर्ण प्रभाव शरीर पर होने देना ही अच्छा है। कुछ दिनोंकी साधारण तकलीफ सह लेनेसे इस दुष्ट बिमारीसे पर्याप्त समयके लिए पीछा छूट जाता है। कई स्थानोंपर तो टीका लगवानेके बाद कुछ समयतक लोगोंको वहींपर ठहराए रखते हैं कि टीकेकी असर पूर्ण रूपसे हो जाय। ऐसी अवस्थामें उपर्युक्त तरकीब का उपयोग नहीं हो सकता।

इमीग्रेशन तथा अमानत का कानून।

जो लोग किसी निश्चित वेतनका करारनामा (Agreement) करके जाते हैं अथवा जिन्हें नौकरी दिलवानेकी आशासे उनके कोई मित्र या सगेसंबंधी बुलवाते हैं, वे दोनोंही प्रकारके आदमी इमीग्रेन्ट समझे जाते हैं। ऐसे लोगोंके पाससे विदेश जानेसे पूर्व बंबईमें १५०) अमानतके तौरपर रखवाए जाते हैं। इसके अलावा एग्रीमेन्टभी रजिस्टर्ड करवाना पडता है, जिसमें १३) रुपयेका और खर्च आता है। इसी प्रकार आफ्रीकाके भिन्न बंदरगाहोंपर उतरते हुए भी इसी प्रकार अनामत रखवाई जाती है। नौकरीपर लग जानेपर एक वर्षके बाद ये अनामतकी रकमें वापस मिल जाती हैं। जो लोग अपनेही व्यापारधंदेके लिए जाते हैं तथा जिनके पास पर्याप्त मात्रामें धन होता है उन्हें अनामत की रकम नहीं भरनी पडती। या जो पहले ५ बरसतक वहां रह आए हों और वहांसे लौटकर भारतमें दो वर्षसे ज्यादा न रहे हों और इसके लिए आफ्रीकामें वसूल किए जाते पोलटेक्षकी रसीदें तथा अन्य प्रमाण पेश करनेसे भी अनामत नहीं भरनी पडती। अथवा जिसके पिता भाई चाचा आदि आफ्रीकामें व्यापार करते हों, और उसमें सहयोगके लिए जाता हो या उनके पास रहकर विद्याभ्यास करनेके लिए जाता हो, उसे भी अनामत नहीं देनी पडती। वैसे तो किसके पाससे अनामत ली जाय और किससे नहीं यह बहुत कुछ उक्त महकमेके अधिकारियोंपर आश्रित रहता है। उनके मनमें आया कि अमुकके पाससे अनामत लेनी है तो देनी ही पडेगी।

इमीग्रेशन तथा अनामतके कानूनके बननेका कारण यह बताया जाता है, कि कईवार ऐसे लोग अन्य स्थानोंसे आ जाते हैं, कि जिन्हें यहां आकर न तो नौकरी ही मिलती है और नहीं और कोई रोजगार। ऐसे लोग जब भूखे मरने लगते हैं, तब सरकारको मजबूरन अपने खर्चेसे उन्हें उनके देश भेजना पडता है। इस आफतसे बचनेके लिए

सरकारने उपर्युक्त कानून बनाया है। पिछले कुछ वर्षोंसे इस कानूनका विशेष कडाईसे अमल किया जाता है।

एजेन्ट।

उपर्युक्त तीनों बातोंके लिए स्वयं इन्तजाम करनेके बजाय, जो लोग प्रथमतः मुसाफरी करना चाहते हों, उन्हें एजेन्टोंकी मदद लेनेसे विशेष सुविधा हो सकती है। प्रत्येक कंपनीके बहुतसे एजेन्ट होते हैं। उन्हें कंपनीकी ओरसे अमुक प्रतिशतक कमीशन मिलता है। वे यात्रियोंसे बिना कुछ लिए ही अपनी ओरसे रहने, उतरने तथा नहानेका प्रबंध करते हैं। इन एजेन्टोंमेंसे खास करके हिन्दुओंके लिए मुंबईमें जीवाभाई बी. पटेल ८ मी खेतवाडी-मुंबई नं. ४ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके यहां उतरनेवाले यात्रियोंको पर्याप्त संतोष मिलता है। अतः प्रायः स्टीमर जानेके आसपासके दिनोंमें विशेष भीड बनी रहती है। उपर्युक्त तीनों बातोंके लिए योग्य प्रबंधमें मदद तथा सलाह इन एजेन्टोंसे लेनेसे बहुतसा कार्य हलका हो जाता है। इनका यह रातदिनका कार्य होनेसे वे कई वार अपने थोडे प्रभावसे तथा अनुभवसे पेचीदे मामले भी सुलझवा देते हैं। पासपोर्ट, टिकीट आदिमें एजेन्टकी मदद लिए बिना भी उतनाही खर्च आता है, जितना कि एजेन्टके द्वारा लेनेपर। परंतु एजेन्टके द्वारा यह सब करवानेसे बंबई जैसे स्थानमें रहने आदिका खर्च बच जाता है, अतः यह लाभ भी यात्रियोंको जरूर उठाना चाहिए। साधारणतया निम्न लिखित लाभ एजेन्टोंसे उठाए जा सकते हैं—

(१) पासपोर्ट एजेन्ट यात्रियोंके लिए बंबईमें रहने, उतरने तथा नहानेधोने आदिकी मुफ्त व्यवस्था करते हैं।

(२) पासपोर्ट सुगमतासे निकलवा देते हैं।

(३) स्टीमरपर पासपोर्ट एजेन्ट द्वारा सामान भिजवानेसे बहुतसी तकलीफें कम हो जाती हैं।

(४) चेचकका टीका लगवानेके स्थल, भोजन आदिके स्थलको दिखानेके लिए वे अपना आदमी साथमें भेजते हैं।

(५) इमीग्रेशन ऐक्टमें बहुत मदद करते हैं।

स्टीमरपर चढनेसे पूर्व।

जिस दिन स्टीमरपर चढना होता है, उस दिन हरेक विदेश जानेवाले यात्रीकी डोक्टरी परीक्षा होती है। जो तीसरे दरजेके यात्री होते हैं, उन्हें उस दिन सबेरे ८ बजे तथा दूसरे दर्जेके यात्रियोंको सिर्फ १ घण्टा पहले परीक्षाके लिए निश्चित स्थान पर जाना पडता है। वहांपर निम्न बातोंका पता किया जाता है—

(१) चेचकका टीका लगवाया है या नहीं। अगर लगवाया है तो कब और कहां? चेचकका टीका लगवानेका योग्य प्रमाणपत्र है वा नहीं?

(२) छोटी अवस्थामें लगवाए हुए टीकेका निशान मौजूद है वा नहीं?

(३) शरीरमें बुखार या और किसी प्रकार स्पर्शजन्य बीमारी, फोडे फुन्सी आदि तो नहीं हैं?

(४) आंखोंमें कुकरे या और किसी प्रकारकी बीमारी तो नहीं है?

इतनी बातें खास तौरपर देख लेनेके बाद यात्रीको प्रमाणपत्र दिया जाता है। जिसका अभिप्राय यह होता है, कि वह डोक्टर की दृष्टिमें विदेश जानेके योग्य है।

तीसरे दर्जेसे यात्रा करनेवालोंको डोक्टरी परीक्षामें विशेष कष्ट उठाना पडता है। इसके दो मुख्य कारण हैं- (१) एक तो यह कि हम भारतवासी सर्वत्र दूसरेसे पहले होनेके लिए पडापडी, धक्काधक्की किए बिना कभी भी बाज नहीं आते। हरेक चाहता है कि मैं किसी भी तरहसे आगे

होकर पहले निबट जाऊं। परंतु हम यह ख्याल नहीं करते कि हम दूसरोंकी अपेक्षा पहले आए हैं या पीछे? जो हमसे पहले आए हैं तथा खडे हैं, उन्हें हमसे पहले निवृत्त होनेका हक है। तिसपर जहांपर ५ का स्थान हो वहांपर १५ एक साथ घुसनेका प्रयत्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि हम परस्पर तो धक्कामुक्की करते ही हैं पर दूसरोंके भी सामनेसे और धक्के खाने पडते हैं। आखिरको इतना हेरान होनेपर भी हम जितना जलदी छूटनेका प्रयत्न करते हैं, उससे उल्टा और ज्यादा देरी हो जाती है।

(२) हम लोग परतंत्र हैं। तीसरा दर्जा हमारे लिए ही खास तौरसे बना होता है। अतः कुछ हम अपनी बेवकूफीसे अपनी दुर्दशा कर लेते हैं और कुछ उससे भी ज्यादा हमें गुलाम-परतंत्र समझकर हमारे साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। हमें लगभग पशु समझकर वैसाही व्यवहार किया जाता है। तीसरे दर्जेके लिए कहीं भी किसी भी प्रकारकी योग्य व्यवस्था नहीं होती। रेल-गाडीसे भी स्टीमर की अवस्था तथा व्यवहार ज्यादा खराब है। तीसरे दर्जेके यात्रियोंको इस दुर्दशाके लिए शिकायत करनी चाहिए और कंपनीका इस ओर ध्यान खैंचना चाहिए।

वैसे तो इंग्लीश स्टीमरों तथा कंपनीयोंका भारतवासीमात्रसे व्यवहार अच्छा नहीं होता। दूसरे दर्जेके यात्रीके साथभी उतनी अच्छी तरहसे पेश नहीं आया जाता, जितना कि एक दूसरे दर्जेके युरोपियन यात्रीके प्रति। तथापि तीसरे दर्जेसे काफी अच्छी हालत होती है। हरेक कार्यमें हम लोगोंकी चला लेनेकी आदतसे भी हमें थोडा बहुत नुकसान उठाना पडता है। उदाहरणार्थ ११ बजे भोजन आनेका समय है और १२ बजे आया, तो भी हम चुपचाप सिर झुकाए हुए खा लेंगे। अथवा दालशाकरोटी ठंडी पड गई है, तो भी हम चुपचाप खा लेंगे। हम अपने अधिकार का उपयोग करते हुए डरेंगे या लापरवाहीसे छोड देंगे। इसका परिणाम यह होता है, कि नौकरचाकर आदि दूसरोंका विशेष ख्याल रखते हैं। उन्हें ठीक समयपर खाना पहोंच जाता है। उनके लिए सब काम ठीक ठीक समयपर होते रहते हैं। जब कि हमारे लिए समयका कोई विशेष ख्याल नहीं।

ब्रिटीश कंपनियोंकी स्टीमरोंको छोडकर अन्य कंपनियां भारतवासियोंके साथभी बिना किसी भेदभावके पेश आती हैं। मैं चाहता हूं कि कोंग्रेस को चाहिए, कि वह इस ओर भी खास ध्यान दे। और सुधारोंके साथ साथ यह सुधार भी कुछ कम महत्त्वका नहीं है। ब्रिटीश सरकारको भी अब यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिए, कि २५ वर्षके पहलेके भारतियोंमें तथा इस समयके भारतियोंमें जमीनआसमानका अंतर हो गया है। अब भारतीय भी अपना महत्त्व समझने लग गए हैं। वेभी दुनियां में अपना मानपूर्वक अस्तित्व रखना चाहते हैं।

जहाज (स्टीमर)

आफ्रीका जानेके लिए British India Steam Navigation Co. Ltd. की ४ स्टीमरें चलती हैं। उक्त कंपनीकी इस मार्गमें 'मोनोपली' होनेसे दूसरी किसी कंपनीकी स्टीमरें नहीं चल सकतीं। 'मोनोपली' की वजहसे कंपनी यात्रियों की तरफ काफी बेदरकार रहती है। और कम्पनीयोंकी स्टीमरोंमें जितनी सुविधा होती है, तथा मुसाफिरोंके प्रति जितना ध्यान दिया जाता है, उतना इसमें नहीं दिया जाता। डेकके (तीसरे दर्जेके) यात्रियोंकी तो बहुत ही दुर्दशा होती है। इसमें कुछ हमारा भी दोष जरूर है। कई वार तो हम खुद अपनी दुर्दशाके कारण बन जाते हैं। तथापि इसके साथ साथ ब्रिटीशोंका हिन्दुस्थानियोंके प्रति वैसे भी व्यवहार अच्छा नहीं होता। भारतवासियोंको किसीभी विदेशमें जाना हो, तो उन्हें चाहिए कि वे भूलकर भी इंग्लीश कंपनीकी स्टीमरसे यात्रा न करें। लाचारीकी अवस्थाको छोड करके सर्वदा अन्य कंपनियोंके

जहाजमें ही मुसाफरी करनी चाहिए। उन स्टीमरोंमें भारतियोंके प्रतिभी बडा सन्मान दिखाया जाता है। वहांपर किसी भी प्रकारका भेदभाव या ऊंचनीचताका प्रदर्शन नहीं किया जाता। वहांपर सभीसे एकसा व्यवहार किया जाता है। अस्तु।

B. I. S. N. Co. की चार स्टीमरें जो कि आफ्रीकाकी ओर जाती हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं। (१) तैरिया (२) करंजा (३) तकलीवा (४) केनिया। इनमेंसे दूसरी और चौथी दो बडी हैं, तथा पहली व तीसरी दो छोटी हैं। छोटी ७ से ८ हजार टनकी हैं, जब कि बडी १०-१२ हजार टनकी हैं।

प्रत्येक १५ दिनके पश्चात् बुधवारके दिन एक स्टीमर बंबईसे आफ्रीकाके लिए रवाना होती है। इनमेंसे दो स्टीमरें पोरबंदर (काठीआवाड) होती हुई जाती हैं, तथा दो गोआ होती हुई जाती हैं। जो स्टीमरें पोरबंदर होती हुई जाती हैं, वे रास्तेमें और कहीं भी न ठहरती हुई दसवें दिन सीधी आफ्रीकाके प्रथम बंदर मोंबासा(Mombasa) जाकर ठहरती हैं। परंतु जो स्टीमरें गोआ होती हुई जाती हैं, वे आफ्रीकाके समीपस्थ द्वीप सीसल ठहरती हैं। सीसलसे मोंबासा करीब करीब ४-५ दिन लगते हैं। सीसल द्वीप सुंदर है। उसका वर्णन आगे चलकर दिया जायगा। आफ्रीका जानेवाली स्टीमरें 'डरबन' से वापस लौट आती हैं। डरबन और बंबई 'टरमिनस' हैं। उक्त ४ स्टीमरों के किराये दर्जोंके अनुसार भिन्न भिन्न स्थानोंके इस प्रकार हैं-

बंबई, गोआ तथा पोरबंदरसे	शीशल्स	मोम्बासा	झंझीबार	दारे सलाम	मोझाम्बीक	बेरा	डेलागो आवे	डरब
	रु०	रु०	रु०	रु०	रु०	रु०	रु०	रु०
प्रथम दर्जा-सिंगल	२००	२७५	२९०	३१०	४६५	४९५	५९५	५२५
" " रिटर्न	३६०	४९५	५२२	५५८	८३७	८९१	८९१	९४५
दूसरा दर्जा-सिंगल	१३६	१७५	१८५	२०२	३००	३००	३३०	३६०
" " रिटर्न	२४५	३१५	३३३	३६४	५४०	५४०	५४४	६४८
तीसरा दर्जा-	५९	६८	७३	७८	९८	१२६	१२६	१२६
हिंदुभोजन (साधारण)	८=)	१४॥)	१७≡)	१९	२१॥≡)	२४।-)	२६≡)	२८॥=)
हिन्दुभोजन (विशेष)	२७=)	३६=)	३६=)	३६=)	४५=)	४९॥=)	५४=)	५८॥=)

प्रथम व द्वितीय दर्जेके यात्रियोंको रिटर्न टिकीट मिल सकती हैं। रिटर्न टिकीटमें १०) फी सदी कम किराया लगता है। जिन यात्रियोंको दो वर्ष के अंदर लौट आना हो, उन्हें रिटर्न टिकीट (वापसी टिकीट) लेनेसे बहुत काफी किरायेमें किफायत हो जाती है। यदि दो वर्ष से ज्यादा ठहरना हुआ तो भी कोई नुकसान नहीं। हिसाबसे कंपनी पैसे लेकर बाकीके लौटा देती है। उस अवस्थामें वापसी टिकीटकी रियायतें नहीं मिलतीं। अर्थात् १०फी सदी जो रियायत मिली थी, वह नहीं मिलती। अतः दो वर्षतक लौट आनेवाले पहिले व दुसरे दर्जेके यात्रियोंको तो वापसी टिकीट ही लेना चाहिए।

प्रस्थान।

जिस स्टीमरसे मैं आफ्रीका जाना चाहता था वह स्टीमर ८-१२-३७ बुधवारको बंबईसे ३ मध्याह्नको रवाना होनेवाली थी। उस स्टीमर कानाम तकलीवा(Takliwa) था। मैं दूसरे

यात्री था, अतः मुझे स्टीमर चलनेसे पूर्व सिर्फ एक घण्टा पहले यानी दो बजे एलेक्झाण्ड्रा डोक नं०१४ जहां कि तकलीवा स्टीमर खडी थी, हाजर होना था। तदनुसार मैं वहां हाजर हो गया। फौरन उसी समय डोक्टरी तपास हुई। इमीग्रेशनवाले भी वहां हाजर थे। उन सबसे ५-१० मिनिटमें छुट्टी पाकर हमें स्टीमरपर चढनेकी आज्ञा प्राप्त हो गई।

यात्रियों के अलावा जिन्हें अपने स्नेहीसंबंधियों को स्टीमर के ऊपर पहोंचाने जाना हो, उन्हें तीन रुपये देकर पास खरीदना पडता है। परंतु प्रथम व दूसरे दर्जेमें यात्रा करनेवाले यात्रीको प्रत्येक टीकीटपर एक पास मुफ्त दिया जाता है।

मुझे स्टीमरपर ऊपर तक पहोंचानेके लिए श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातलेकरजी स्वयं आए थे। वे अपने साथ श्रीयुत वीरकर नामके फोटोग्राफर भी साथमें लाए थे, जिन्होंने मेरे तथा पंडितजीके कुछ 'स्नेपशोट' स्टीमरपर लिए। स्टीमर चलनेसे पूर्व १०-१५ मिनिट पहले यात्रियोंको अन्य छोडने आए हुए सज्जनों को उतर जानेके लिए घण्टा बजाया गया। उन लोगों के उतरते ही जहाजपर चढनेकी सीढी भी उतार ली गई और ठीक ३ बजे हमारे जहाजने सीटी देकर बंबईका किनारा छोड दिया। बंबई के बंदरगाहमेंसे जहाजको निकलते निकलते करीब १ घण्टा लग जाता है। छोडने आए हुए स्त्रीपुरुष तथा स्टीमर में जाते हुए उनके स्नेहीसंबन्धियोंका उस समय का नजारा देखते ही बनता है जब कि जहाज धीरे धीरे किनारा छोड रहा होता है। बहुत से लोग तो तब तक जहाजके साथ साथ चलते रहते हैं और अपने स्नेहियोंको हाथ तथा रुमाल आदिसे इशारे करते रहते हैं, जबतक कि जहाज किनारेसे पर्याप्त दूर नहीं चला जाता। करीब ५बजे बंबई तथा बंबईका किनारा हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया। अब हमारे चारों ओर जल ही जल था। अगाध सागर में एक छोटीसी नैया तैरती चली जा रही थी। बंबई से निकलते हुए पर्याप्त ठंडी थी। अतः रातको ८ बजे भोजन आदिसे निवृत्त होकर प्रायः सभी लोक शीघ्रही सो गए। शीघ्रही सो जानेकी एक और भी वजह थी और वह यह कि प्रथम दिन हम सभी प्रायः एक दूसरेके लिए अजनवी थे। अतः विशेष परिचयके विना एकदम विशेष रूपसे मेलजोल होना कठिन था। परंतु यह कठिनता प्रायः एक ही रातमें विलुप्त हो चुकी थी।

पोरबंदर के दर्शन।

जैसा कि मैं पहले लिख आया हूं, हमारा जहाज पोरबंदर होता हुआ जानेवाला था। ९ तारीखको सबेरे १० बजे हमारा जहाज पोरबंदर पहोंचनेवाला था, अतः हम सब सबेरे जल्दीजल्दी उठकर नहाधोकर पोरबंदरकी प्रतीक्षामें लग गए। कोई ९ बजेसे पूर्वही काठिआवाडका किनारा दृष्टिगोचर होने लगा। धीरे धीरे पोरबंदरका किनारा तथा आलीशान मकानात भी दीखने लगे। ठीक १० बजे पोरबंदर से कोई डीड या दो मील परे ठीक उसके सामने हमारे जहाजने लंगर डाला। पोरबंदरका किनारा बंधा हुआ न होनेसे बडे बडे जहाज बिलकुल किनारेतक आ नहीं सकते। क्योंकि किनारेपर पानी उथला होता है, तथा ज्वारभाटेकी वजहसे कम ज्यादा होता रहता है। अतः जहाजके रेतीमें गड जानेका भय रहता है। इसवास्ते खूब गहरे पानीमें ही उसे खडा किया जाता है। किनारेसे छोटे छोटे पालवाले जहाज सामान तथा मुसाफिरोंको ले आते हैं। हमारा जहाज पहोंचतेही सामनेसे मुसाफिर तथा सामान आने लगा। पोरबंदरसे घी विशेष रूपसे बाहर जाता है। पोरबंदरसे यात्रियोंकी संख्या तथा सामान विशेष प्रमाणमें होनेके कारण हमारा जहाज दुपहरके ४ बजेके बादही वहांसे प्रस्थान कर सका।

अनायास पोरबंदर रास्तेमें पडता था। अतः मैंने तथा और कई यात्रियोंने मिलकर विचार

किया कि जब जहाज कमसे कम ५-६ घण्टे खडा रहनेवाला है, तो यदि उतरनेकी आज्ञा मिले तो हम पोरबंदर खडे खडे देख आवें। पोरबंदर देखनेकी इसलिए भी विशेष उत्सुकता हो गई थी, कि ५।१२।३७ को वहांपर श्री० शेठ नानजी कालिदास महेता के दान व परिश्रमसे नवीन कन्या-गुरुकुलका उद्घाटन हुआ था। परंतु वहांपर उतरनेकी आज्ञा न मिलनेसे हमारी इच्छा क्रियारूपमें परिणत न हो सकी।

फिर अगाध सागरमें।

४ बजेके करीब जहाजने लंगर उठा लिया और आफ्रिकाके लिए चल पडा। देखते ही देखते पोरबंदरका किनारा भी दृष्टिसे बाहर हो गया। अब पुनः चारों ओर नीलवर्ण समुद्र तथा ऊपर नीलवर्ण आकाश के सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता था। पोरबंदर तक तो बहुत काफी सरदी थी। गरम कपडे पहनने आवश्यक हो गए थे। परंतु वहांसे थोडासाही आगे चलकर इतनी गरमी हो गई, कि रातको सोना भी कठिन हो गया। हम लोगोंके केबिनोंमें पंखे थे तथा ऊपर डेकमें खुली थी तो भी हम गरमी के मारे परेशान थे। रातको नींद नहीं आती थी। जब हमारा ही यह हाल था, तो तीसरे दर्जेवालोंकी क्या हालत होगी, यह पाठक स्वयमेव ख्याल कर सकते हैं।

जहाजमें।

धीरे धीरे हम लोग आपसमें परिचित होने लगें और घनिष्ठता बढने लगी। दो एक दिन गुजरते ही हमारी आपसे में खूब छनने लगी। सब सबके बहुत ही जल्दी परिचित हो गए। तीसरे दर्जेके यात्रियोंको दूसरे दर्जेमें आने नहीं दिया जाता, अतः मैं तथा हममेंसे कई जिनके कि तीसरे दर्जेमें भी कुछ लोग परिचित थे, कभी कभी मिलने चले जाया करते थे। हमारी साधारण तया जहाजकी दिनचर्या इस प्रकार थी।

हम लोग विशेष गर्मी की वजहसे रातको १० बजेसे पहले सो नहीं सकते थे। लेटनेपर कमसे कम भी घण्टाभर नींद आनेमें लग जाता था। अतः सबेरे ६ बजेसे पहले उठ न पाते थे। सबेरे जल्दी उठ करभी क्या करें ? इसलिए भी जल्दी न उठते थे। ६ बजेके आसपास उठकर शौच, स्नान, प्रातराश आदिसे निवृत्त होते होते आठ बज जाते थे।

इस प्रकार प्रातःकालीन आवश्यक कार्योंसे निवृत्त होकर हममें से कोई चिठ्ठिपत्री लिखने के कार्यमें लग जाता था। तो कोई पुस्तकें पढनेमें अपना समय बिता था। जिन्हें संगीत से का शौख होता था, वे गानेबजानेमें लग जाते थे। कुछ लोग तरह तरहकी ताशकी खेलोंमें लग जाते थे, जब कि खेलने के विशेष शौखीन रस्सेके बने हुए छल्लोंके खेल खेलमें लग जाते थे और कुछ लोग कैरम खेलते थे। वास्तवमें जहाजपर जितने भी खेल खेले जा सकते हैं, उन सबमें ज्यादा निर्दोष तथा आनंददायक खेल यदि कोई हो तो वह छल्लोंका खेल था। इसको आबालवृद्ध, स्त्रीपुरुष खेल सकते हैं। व्यायामभी ठीक ठीक हो जाती है।

मैं प्रातःकालीन कार्योंसे निवृत्त हो कर ध्यानो बजाता था। तत्पश्चात् कुछ लिखनेपढनेका कार्य करता था और तब छल्लों (Rings) की खेल खेलने चला जाता था। दुपहर को १२ से १ के दरम्यान हम लोग भोजन करते थे। तब घण्टा दो घण्टा आराम (निद्रा) लेते थे। तत्पश्चात् पुनः प्रातःकालकी तरह समय बिताते थे। शामको ८ बजे तक भोजनादि से निवृत्त होकर गप्पें मारकर १० बजाते थे और तब सोनेके लिए अपने अपने केबिनमें चले जाते थे।

तीसरे दर्जे के लोगोंके लिए सिवाय ताशके और कोई समय बितानेके लिए साधन नहीं होता। उन्हें तो अपने स्थानपर पडे पडे ही समय बिताना होता है। कंपनीकी ओर से उनके

लिए किसी भी प्रकारका दिल लगानेका प्रबंध नहीं।

हम लोगोंको रोज सबेरे बेतारकी तार द्वारा रूटरके समाचार जानने मिलते थे। रूटरके द्वारा जो जो समाचार सर्वत्र पहुंचाए जाते हैं, वेही हमारे जहाजपर भी आते थे। जहाजमें हमें जो मुख्य रूपसे दो विशेष समाचार जानने मिले थे, उनमेंसे एक था जापानका 'नानकिंग'पर विजय प्राप्त करना, तथा दूसरा था लोर्ड टेनीसनकी टीमका unofficial test के दूसरे सान्मुख्यमें भी बुरी तरहसे (६ विकिटसे) भारतीय दलको हराना। इसके अलावा चीनजापानके छोटे मोटे समाचार तथा तमाम देशोंकी हलचलके समाचार अत्यंत संक्षेपसे जानने मिलते थे। भाग्यवश जिन लोगोंके साथ मैं यात्रा कर रहा था, वे प्रायः सबके सब बहुत अच्छे घरानेके धनी तथा खुशमिजाज थे। इसलिए हम सबको मुसाफरीके ९ रोज किस प्रकार कट गए यह मालूम भी नहीं हुआ!

समुद्रमें तूफान (cyclon)

समुद्रमें तूफान किस प्रकारसे आया करता है तथा वह कितना भयानक होता है, इस बातका पूरेपूरा ख्याल तो उसीको आ सकता है जिसे स्वयं यह नजारा देखनेको मिले। तथापि साधारण ख्याल आनेके लिए हमें जो कुछ देखनेका मौका मिला, उसका दिग्दर्शन करा देता हूं।

ता. १२-१२-३७ रविवारके रोज सबेरे आठ साडे आठके करीब हमारे जहाज से कोई १००-१२५ गजके फासलेपर हम देखते हैं कि पानी बडे वेगसे चक्कर लगाता हुआ आकाशमें ऊंचा बादलौतक उड रहा है। हम सब भिन्न भिन्न कल्पनायें करने लगे। कोई कहने लगा कि सूर्यके तापसे पानी ऊपरकी ओर खिंच रहा है और उसके बादल बन रहे हैं। कोई कहने लगा कि उस स्थानपर समुद्रके गर्भमें ज्वालामुखी है, जिसकी गरमीसे पानीकी भाप (बाष्प) बनकर ऊपर उड रही है। वस्तुतः ऊपर्युक्त दोनोंही कल्पनायें गलत थीं। जहाजके अधिकारियोंसे दर्याफ्त करनेपर ज्ञात हुआ कि यह समुद्रमें पवनका तुफान है। जिस प्रकार जमीनपर जोरोंकी आंधी आती है और उस आंधीमें जो कोई वस्तु आती है, वह सब पवन उडाकर ले जाता है, उसी प्रकार समुद्रमें भी आंधी आती है। कईवार यह आंधी ५ से १० मीलतक फैली हुई रहती है। उतने तमाम भागमें पानी चक्कर मारता हुआ ऊपर आकाशमें उड रहा होता है। यदि भूलसे उसमें कोई जहाज फंस गया, तो उसका पता नहीं चलता। वह नष्टभ्रष्ट होकर अनंत सागरके गर्भमें समा जाता है। बडेसे बडा जहाज भी उससे बच नहीं सकता। पंजाब तथा यू.पी. में जो लोग रहते हैं उन्हें इस प्रकारकी आंधी देखनेका कई वार अवसर प्राप्त हुआ होगा। कई वार हम सुनते हैं तथा अखबारोंमें पढते हैं कि अमुक स्थानपर खूब जोरकी आंधी आई और वहांपर बहुतसे घरोंकी छतें, पेड तथा खाटोंपर सोते हुए आदमी उडकर बहुत दूर जा गिरे। ठीक उसी प्रकारकी आंधी समुद्रमें आती हैं। समुद्रमें और कुछ उडानेको नहीं होता है। अतः पवन पानीको ही उडाता है। मीलोंतक पानी बडे वेगसे चक्कर मारता हुआ उडता रहता है। उसका वेग इतना ज्यादा होता है कि बडेसे बडा वजनदार जहाज भी उसमें चक्कर खाकर तहसनहस हो जाता है।

हमें जो आंधी देखनेको मिली, वह बहुतही छोटीसी थी। वह १५-२० मिनिट रहकर ही समाप्त हो गई थी। परंतु उसके देखनेसे उसकी रचना, भयंकरता तथा उसकी शक्तिके विषयमें हमें थोडाबहुत ख्याल जरूर आ गया। प्रायः समुद्रमें इस प्रकारके दृश्य कमही देखनेको मिला करते हैं। क्योंकि इस प्रकारका तूफान जब आनेवाला होता है, तब स्टीमरके यंत्र ८-१० घण्टे पूर्वही सूचना दे देते हैं और तदनुसार स्टीमरको उस स्थानसे सुरक्षित स्थानमें हटा लिया जाता है। कितनेही लोगोंने अनेकवार समुद्रयात्रा की होगी, परंतु ऐसे दृश्य देखने किसी किसीकोही मिलते हैं। कमसे कम हम सब लोगोंको यह दृश्य देखनेमें बडाही सुहावना तथा चित्ताकर्षक मालूम हुआ।

*

यह ठीक है, कि हमें जब उसकी भयानकता ख्याल आया, तब हमें थोडासा भय अवश्य मालूम दिया, परंतु इसके साथही साथ हम यह भी भली भांति जानते थे, कि हम पूर्ण रूपसे सुरक्षित हैं।

समुद्रकी बिमारी (Sea-sickness)।

इन दिनोंमें समुद्र खूबही शांत था। हमारा जहाज इतना कम हिलता था कि हमें उसके हिलनेका भान बहुतही कम होता था। जिन्होंने कभी भी समुद्रयात्रा की होगी, उन्हें मालूम होगा कि बहुतसे लोगोंको समुद्रयात्रा करते हुए उलटी होनी शुरु हो जाती हैं तथा जीव मचलाता रहता है और खानेको बिलकुल दिल नहीं करता। इस प्रकारकी हालतको sea-sickness कहते हैं। यह बिमारी उन लोगोंको बहुत ज्यादा होती है जो कि दिलके कमजोर या शरीरके कमजोर होते हैं। ऐसे लोगोंको मोटरमें बैठनेपर शिमला जैसे पहाडपर चक्कर लगाती हुई रेलगाडीमें चढकर जानेपर भी उलटी होती है, उनका जीव मचलाता है। समुद्रकी मुसाफरी करते हुए sea-sickness उस समय विशेष बढ जाती है जब कि समुद्रमें लहरें खूब जोरसे उठ रही हों समुद्र शांत न हो। जून और जुलाईमें समुद्र बहुतही अशांत होता है और उस समय स्टीमर खूब झूला खाती है। उस सयम प्रायः सभी यात्री sea-sickness के शिकार हो जाते हैं। जब समुद्र शांत होता है तब जहाज दांये बांये झूलता है अर्थात् चौडाईके बल झोले खाता है। इस प्रकारसे जहाजके झूलनेपर यात्रियोंको उनके झोलोंका विशेष अनुभव नहीं होता और अतएव sea-sickness का प्रभाव नहीं होता। परंतु जब समुद्र अशांत होता है तब जहाज लंबाईके बल आगेपीछे झूलता है। अर्थात् कभी अगला भाग ऊपरको उठ जाता है और पिछला नीचे हो जाता है तो कभी पिछला भाग ऊपर उठ जाता है तो अगला भाग नीचेको हो जाता है। जहाजका इस प्रकारका झूलना विशेष कष्टप्रद होता है। ऐसा होते ही sea-sickness शुरु हो जाती है और यात्रियोंका जी मचलना प्रारंभ हो जाता है और उल्टीयां होने लगती हैं। जब जहाज इस प्रकारसे झोले खा रहा होता है, तब जो लोग जहाजके अगले भागमें बैठे होते हैं, उन्हें बहुतही ज्यादा कष्ट होता है। उनका तो उलटी करते करते दम निकल जाता है। पेटकी आंतें खिचने लगती हैं।

Sea-sickness से बचनेके उपाय।

(१) जिन्हें Sea-sickness विशेष सताती हो, उन्हें चाहिए कि वे समुद्रकी यात्रा करते हुए जहाजमें पीछेकी ओर बैठें। इस प्रकार करनेसे उन्हें झूले बहुत कम लगेंगे और विशेष तकलीफ न होगी। इस विषयमें एक कहावतभी है कि अनुभवी आदमी सदा 'गाडी (बैलगाडी) के अगाडी और जहाजके पिछाडी' बैठता है। बैलगाडीमें आगे बैठनेवालेको धक्के आदि विशेष नहीं लगते, जब कि जहाजमें पीछे बैठनेवालेको बहुत झूले नहीं खाने पडते।

(२) जिन्हें Sea-sickness विशेष सताती हो, उन्हें चाहिए कि वे अपने साथ नींबू आदि खट्टे पदार्थ रखें। ज्योंही जी मचलने लगे कि एक नींबू काटकर चूस जाय। इससे जी मचलना बंद हो जाता है।

(३) जिन्हें sea-sickness की बिमारी होती हो वे यदि समुद्रका पानी दोचार चुल्लू पी जांय तो फिर उन्हें उलटी आदि बंद हो जाते हैं।

जहाजकी प्रति घण्टा चाल।

जहाज जितना बडा होगा, उसकी प्रतिघण्टा चालभी उतनी ज्यादा होगी। इसका कारण यह है कि छोटे जहाजको तेज चलानेसे वह विशेष झूलने लगेगा। जहाजके विशेष झूलनेसे यात्रियोंको जहां Sea-sickness से विशेष तकलीफ होती, वहां आदमी जहाजमें न तो स्थिर होकर बैठ सकें

और नहीं चल फिर सकेंगे । जहां उठकर चलने लगे या असावधानीसे बैठे कि फौरन गिर जानेका भय रहेगा । आफ्रीका जानेवाली स्टीमरें छोटी हैं, अतः प्रायः उनकी दिनमें प्रतिघण्टा चाल १० से १२ मील होती है और रातमें १२ से १५ मील प्रतिघण्टा रहती है । परंतु विलायत या अन्य देशोंमें जो बडे बडे जहाज जाते हैं, वे दिनमें २० मील प्रतिघण्टा तथा रातमें २५ मील प्रतिघण्टा चलते हैं । प्रायः इस चालसे विशेष चाल प्रतिघण्टा नहीं रखी जाती । रोज जहाज २४ घण्टेमें कितना चला है तथा कहांतक पहोंचा है, यह बतलानेके लिए प्रतिदिन एक कागजपर लिखकर टांग दिया जाता है, ताकि यात्री लोग जान सकें । हमारा जहाज रोज २४ घण्टेमें ३०० मीलकी औसतसे चलता था । बंबईसे ८-१२-३७ को दुपहरको ३ बजे हमारा जहाज चला था । बंबईसे वह पोरबंदर (काठिआवाड) पहले गया । वहां ५-६ घण्टे ठहरकर मोंबासाके लिए चला पडा, फिर रास्तेमें कहीं नहीं ठहरा । बंबईसे सीधा मोंबासा जांय तो २४०० मील है । बंबईसे पोरबंदर १७५ मीलसे कुछ ज्यादा है । हम १७-१२-३७ की सबेरे ७ बजे मोंबासा पहुंच गए थे । इस प्रकार हमारे जहाजकी औसत चाल ३०० मील प्रतिदिन (दिनरात) थी । हमें पोरबंदरके बाद रास्तेमें कहीं भी जमीन, पहाड आदि कुछ नहीं दीखा । सिर्फ एक दिन रास्तेमें एक स्टीमरके दर्शन हुए थे, सो भी बहुत दूरसे । हमने ८ दिन बाद पहलेंपहल आफ्रीकाका किनारा देखा । किनारा देखनेसे हमें जो आनंद हुआ वह हमारा दिलही जानता है ।

हमने जिस समुद्रमेंसे यात्रा की थी, वह अरब महासागर कहलाता है । यह सागर अधिकसे अधिक २॥ मील गहरा है । इसमेंसे अर्बस्तानके समीपसे मोती भी निकाले जाते हैं । अरब लोग मोती लेकर उनके व्यापारके लिए बंबई प्रायः आते रहते हैं । अरब लोग छोटेसे पालवाले जहाजमें खजूर, मछलियां आदि भरकर हिन्दुस्थान तथा आफ्रिका आदि देशोंमें इतने बडे महासागरको बिना किसी भयके पार करते हुए आते हैं । वास्तव में उनका यह साहस सराहनीय है । ये जहाज पवनसे चलते हैं । कभी कभी पवन न होनेसे या अनुकूल न होनेसे इन्हें महीनों समुद्रमें पडे भी रहना पडता है । परंतु फिर भी ये लोग हिम्मत नहीं हारते और आखिरको यथास्थान पहोंच जाते हैं ।

बंबईसे आफ्रीका जानेके लिए जो दो मार्ग ऊपर लिख आए हैं, अर्थात् एक पोरबंदर होकर, तथा दूसरा गोआ और शिशल होकर, वे पृथ्वीका नकशा देखनेसे समझमें आ सकते हैं ।

मोंबासाके दर्शन ।

हमें ता. १७-१२-३७ शुक्रवारके दिन सवेरे ४ बजे दूरसे दो प्रकाशस्तंभ (Light-house) दीखने लगे । थोडी ही देरमें हलकी हलकी पहाडोंकी भी रूपरेखा नजर आने लगी । शुक्लपक्ष होनेसे तथा चतुर्दशीका चंद्रमा होनेसे हमें रातमें भी दूरके पदार्थ देखनेमें विशेष कष्ट न हुआ । चांदनी के कारण समुद्रका जल चांदीकी तरह चमक रहा था । मोंबासाके ये पूर्वचिह्न देखकर हम सबको खूब खुशी हुई । धीरे धीरे रात समाप्त होती गई और उषाका प्रकाश फैलने लगा । जहाजभी धीरेधीरे नजदीक आता गया । आखिर को मोंबासा स्पष्ट दिखाई देने लगा । हमारा जहाज मोंबासाके पासमें ही समुद्रमें खडा हो गया । इसका कारण पूछनेपर मालूम हुआ कि अब आगे किनारेतक पहोंचनेके लिए 'पायोलेट' आएगा । हमारी स्टीमरके केप्टनका अब आगे काम नहीं । मोंबासा बंदरगाहके किनारेतक पहोंचनेके लिए बीचमें खाडी (Bay) पडती है । इस खाडीमेंसे स्टीमर बहुतही संभालकर ले जानी पडती है । जरासी गफलत होनेपर जहाजका रेतीमें घंस जानेका खतरा रहता है । पहले एकवार जब कि 'पायोलेट' द्वारा स्टीमर लेजानेका इन्तजाम

नहीं था, तब एक बडी भारी जर्मन स्टीमर गलत रास्तेपर चढ जानेसे रेतीमें घंस गई थी, जोकि हजारों प्रयत्न करनेपर बाहर न निकल सकी। उस स्टीमरके अवशेष आज भी उसी तरह समुद्रमें घंसे हुए अपनी पुरानी कथाका स्मरण दिलाते हैं। कहते हैं कि उस स्टीमरका केप्टन कोई युरोपियन था और उसने द्वेषवश जानबूझकर स्टीमरको रेतीमें घंसा दिया था और तबसे अब पायोलेट द्वारा ही जहाज बंदरगाहमें ले जाया जाता है।

थोडी देरमें 'पायोलेट बोट' आई और उसमेंसे पायोलेट हमारी स्टीमपर चढ गया। उसने जहाजका सुकान अपने हाथमें लिया और कोई १ घण्टेमें उसने सुरक्षित तौरपर जहाजको किनारे लगा दिया। यहांपर भी बंबईकी तरह पुनः डोक्टरी परीक्षा तथा इमीग्रेशनकी विधियां होकर नीचे उतरनेकी आज्ञा मिली। कस्टम आदिके झगडेसे निबट कर हम ११ बजेके करीब यथास्थान पहोंच गये।

(क्रमशः)

प्रारम्भिक दो शब्द

('स्वरोदय-विज्ञान' पुस्तककी भूमिका।)

(ले०- श्री० पं० तडित्कांतजी वेदालंकार)

प्रायः ऐसा देखा गया है कि किसी भी पुस्तक का पढना प्रारंभ करते हुए बहुतसे लोग पुस्तक की भूमिका या प्रारंभिक वक्तव्यकी ओर जरासा भी दृष्टिपात किए विनाही पुस्तक पढना आरंभ कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे लेखकके आशयको समझनेमें असफल रहते हैं और पुस्तकके बारे में मनमानी सम्मति बना लेते हैं। इससे कईबार लेखकके साथ अन्याय हो जाता है। उनकी ठीक या गलत रायसे जहां लेखकको हानि लाभ पहुंचते हैं, वहां पाठक भी उनसे बच नहीं सकते।

वस्तुतः प्रारंभिक प्रस्तावनाका पढना बहुतही ज्यादा आवश्यक है। वह पुस्तकका ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग होता है। उसमें लेखकके आशय का निचोड (निष्कर्ष) होता है। उसमें लेखकका प्रस्तुत पुस्तक लिखनेका मुख्य दृष्टिकोण मौजूद होता है। उसमें बहुतसी पुस्तकगत समस्याओं का स्पष्टीकरण होता है। भूमिका लिखनेका यही वास्तविक उद्देश्य होता है। अतः पाठकोंको सानुरोध निवेदन है कि वे हमारे इन 'दो शब्दों' पर दृष्टिपात किए बिना आगे न बढें। उससे उन्हें बडाभारी लाभ यह होगा कि वे पुस्तकको अच्छी तरहसे समझ सकेंगे, उनकी तमाम शंकाओं का स्वयमेव निवारण हो जायगा।

बहुतसे लोगोंको पहले पहल यह सुनकर कि 'स्वरोदय-विज्ञान' का भी मूल वेदही हैं, बडा आश्चर्य होता है। कई बार लोगोंसे बातचीत करनेपर मुझे यह बात स्पष्ट रूपसे अनुभव हुई। वैसे तो मैं स्वयं भी बहुत समयसे इस प्रयत्न

था कि इस बातका स्पष्टीकरण शीघ्रातिशीघ्र कर दूं । परंतु इसके लिए जो जो मसाला मैं वेदोंमेंसे इकट्ठा कर पाया हूं, उसपर पूर्णतया विचार करनेका समय न मिलने से तथा कुछ भागका बोध स्पष्टीकरण न हो सकनेकी वजहसे अबतक चुप रहना पडा है । यद्यपि इसविषयक बहुतसी खोजें अभी शेष हैं, तथापि मूल अत्यंत स्पष्टतया पाया जाता है । यहांपर तद्विषयक थोडासा दिग्दर्शन करानेसे पाठकोंको भली भांति ज्ञात हो जायगा कि 'स्वरोदय-विज्ञान' का मूल वेदोंमें से किस प्रकार उपलब्ध है ।

इंद्रियां-देव ।

वेदोंमें देव शब्द बहुतसे अर्थों में प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है । वेदोंमें हमारे शरीरकी इंद्रियों को भी देव कहा गया है । इसके लिए एक दो स्थलों का निर्देश काफी होगा ।

नैनद्देवा आप्नुवन्... । (यजुः ४०।४)

अर्थात् उस परमात्माको हमारी शरीरस्थ इंद्रियां पा नहीं सकतीं ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
(अथर्व० ११।५।७)

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे इंद्रियां मृत्युको दूर भगा देती हैं ।

इसी तरह औरभी बहुतसे स्थल हैं, जहांपर देव शब्दसे इंद्रियों का निर्देश है ।

देवोंके वैद्य अश्विनौ ।

वेदमें 'अश्विनौ' को देवोंके वैद्य बताया गया है, यहभी सबको अच्छी तरहसे विदित है । इसके लिए अथर्व वेदका निम्न मंत्र प्रमाणरूपमें पर्याप्त होगा ।

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् ।
देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ अथर्व० १।५३।१

हे देवताओंके वैद्य अश्विनौ ! तुम अपनी शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर भगा दो ।

यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें 'अश्विनौ' को 'देवोंके वैद्य (भिषक्)' कहा गया है ।

हमने अभी ऊपर देखा कि देव शरीरस्थ इन्द्रियां हैं । इन्द्रियोंको रोग, जरा, मृत्यु आदि सताते हैं । अतः उनसे बचनेके लिए उन्हें वैद्यकी आवश्यकता है । वेदने बताया कि इन्द्रियोंको इन कष्टों से 'अश्विनौ' छुडाते हैं । जिसका स्पष्ट मतलब हुआ कि इन्द्रियरूपी देवोंके रोगनिवारण का कार्य अश्विनौ करते हैं, अतः वे उनके वैद्य हैं ।

इन्द्रियरूपी देवोंका निवासस्थान शरीर है । इसलिए उनके वैद्य अश्विनौ भी इसी शरीरमें कहींपर निवास करते हुए होने चाहिए । शरीरमें 'अश्विनौ' का कहांपर निवासस्थान है, यह बात उस समय बिलकुल स्पष्ट हो जाती है, जब कि हम 'अश्विनौ' का वेदोंमें आए हुए दूसरे नाम 'नासत्यौ' पर दृष्टिपात करते हैं ।

निरुक्तकार यास्काचार्य नैगमकाण्ड ६।३।१३।५१ में 'श्रुष्टी' शब्दका व्याख्यान करते हुए निम्न मंत्रखण्ड पेश करते हैं ।

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टीभगं नासत्या पुरंधिम् ॥ (ऋ० ७।३९।४)

इसपर वे लिखते हैं कि-

तानध्वरे उशतः कामयमानान् यजाग्ने श्रुष्टी भगं नासत्यौ चाश्विनौ ॥

इससे स्पष्ट है कि यहांपर 'नासत्यौ' 'अश्विनौ' के लिए प्रयुक्त है । इसी प्रसंगमें आगे चलकर वे 'नासत्यौ' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं कि- नासिकाप्रभवौ । अर्थात् नासिकामें सामर्थ्यशील, नासिकामें ठहरनेवाले, नासिका में निवास करनेवाले ।

हमारे शरीर में नासिकामें निवास करनेवाले प्राणापान हैं, यह बिलकुल स्पष्ट है । यही नहीं, ये प्राणापान बडे शक्तिशाली होते हुए तमाम इन्द्रियों

को और शरीरको किस प्रकारसे बल व शक्ति देते हैं यहभी सर्वविदित ही है। यह बात और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाती है, जबकी हम ' स्वरोदय-विज्ञान 'का विशेष सूक्ष्म रूपसे अध्ययन करते हैं। इस शास्त्रके अध्ययनसे हमें इस बातका रहस्य खुल जाता है कि किस प्रकारसे हमारी शरीरस्थ तमाम इन्द्रियोंको रोगादि का इस प्राणापान के द्वारा बडेहि आरामसे व जल्दी ही आश्चर्यपूर्ण रीतिसे निवारण हो जाता है। यही नहीं बल्कि शरीरपर आनेवाली अनपेक्षित तमाम प्रकारकी आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक विपत्तियां, कष्ट, दुःख आदि की बहुत पहिलेसे ही सूचना मिल जाती है। ये प्राणापान प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन निर्देश करते रहते हैं कि अगले दिन किस प्रकारके आनेवाले हैं। इन आनेवाले दुःखों या बिकट परिस्थितियोंका बडेहि आरामसे मुकाबला करनेके उपाय भी साथही बतलाते रहते हैं। हम आगे चलकर इन तमाम बातोंका जो निर्देश करेंगे, उनके अनुसार आचरण करनेवाला हरकोई इस सत्यका अनुभव कर सकेगा। हमारे ख्यालमें ' अश्विनौ ' के वेदोक्त आलंकारिक वर्णनका यही अभिप्राय है।

' अश्विनौ ' देवोंके (इन्द्रियोंके) वैद्य हैं, तथा 'अश्विनौ' का दूसरा नाम 'नासत्यौ' है। और ये अश्विनौ तथा 'नासत्यौ' प्राणापान हैं, इस स्थापना को, ऊपर दिया हुआ अथर्ववेदका मंत्र (७।५३।१) जिसमें 'अश्विनौ' को देवोंका भिषक् बताया हुआ है, उससे अगला मंत्र पुष्ट कर रहा है। मंत्र इस प्रकार है-

> संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
> शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ (अथर्व० ७।५३।२)

"हे प्राण और अपान ! (सं क्रामतं) शरीरमें उत्तमतया संचार करो। (शरीरं मा जहीतं) शरीरका त्याग मत करो। (ते इह सयुजौ स्याताम्) वे प्राणापान इस तेरे शरीरमें सहचारी बने रहें। (वर्धमानः) इस प्रकार तू बढता हुआ (शरदः शतं जीव) सौ वर्ष जीता रह। (ते अधिपाः वसिष्ठः) तेरा अधिपति वसिष्ठ है और (गोपाः अग्निः) रक्षक अग्नि है।"

इस मंत्रका देवता ' अश्विनौ ' है। इसमें 'अश्विनौ' कोही प्राणापानके नामसे कहा गया है। यह मंत्र वस्तुतः प्रथम मंत्रकाही स्पष्टीकरण है। प्रथम मंत्रमें आए हुए ' अश्विनौ ' से प्राणापानका ही अभिप्राय है, यह स्पष्ट कर दिया गया है।

इसके अलावा हमें वेदोंमें बहुतसे ऐसे मंत्र भी मिलते हैं, जिनमें प्राणापानद्वारा चिकित्साका वर्णन किया हुआ है। प्राणापान शरीरके विशेष रूपसे रक्षक हैं। उनके द्वारा शरीरकी उत्तम रूपसे चिकित्सा की जा सकती है। इस सिद्धांतके आधारपर प्राणायामविज्ञान की रचना की गई है। प्राणायाम के अभ्यासी इस बातका स्वयमेव अनुभव करते हैं कि प्राणापानद्वारा क्या क्या लाभ उठाया जा सकता है।

प्राणापानद्वारा चिकित्सा के हम दो विभाग कर सकते हैं-(१) प्राणायाम-विज्ञान, (२) स्वरोदय-विज्ञान।

(१) प्राणायाम-विज्ञानमें प्राणापानका आयाम (विस्तार), उनकी गतिपर अंकुश प्राप्त करनेके उपाय, प्राणापानको लेने तथा छोडनेके भिन्न भिन्न तरीके, उनसे आयुवृद्धि कैसे की जा सकती है, शरीरस्वास्थ, बल, वीर्य बढाना, ऊर्ध्वरेता होना इत्यादि तमाम बातोंका निर्देश होता है।

(२) स्वरोदय-विज्ञानमें प्राणापान की भिन्न भिन्न स्वाभाविक गतियां हमें समय समय पर क्या भविष्यसंबंधी सूचनायें देती हैं? उन गतियोंसे हम कैसे लाभ उठा सकते हैं ? असावधानीके कारण आई हुई विपत्तियों को, रोगोंको, कष्टोंको तथा अन्य सांसारिक विपत्तियोंको कैसे दूर कर सकते

हैं, इत्यादि तमाम छोटीसे लेकर बडी बातोंका जिनसे कि हमारे जीवनका रातदिन संबंध रहता है, निर्देश होता है। स्वरोदयविज्ञानकी लेखमाला-को ध्यानसे पढनेवाले पाठकोंको विदित होगा, कि इस पुस्तकमें किस प्रकार विस्तारसे हमने इन सब बातोंका निर्देश किया है।

कुदरती नियमोंकी जानबूझकर लापरवाही की वजहसे अवहेलना करनेसे अथवा तो भूलसे उनके प्रति दुर्लक्ष करनेसे हमारेपर संकट, आपत्तियां, शारीरिक तथा मानसिक कष्टोंकी जडियां लग जाती हैं। 'स्वरोदय-विज्ञान' बताता है कि उन कुदरती नियमोंकी अवहेलना ध्यानमें रखते हुए जो भूलें हो गई हैं, उनको फौरन सुधार लो, सब मामला ठीक हो जायगा। कष्टकी हालतमें प्राणापानकी जो विपरीत दशा हो गई है, उसे बदल दो। बडे आश्चर्यसे देखोगे कि तुम अपनी वास्तविक अवस्थाको प्राप्त कर लिया है। बस, यही देवोंके वैद्योंकी चिकित्सापद्धतिका असली रहस्य है। स्वरोदय-विज्ञानविषयक तमाम खोज भी इसी सिद्धांतपर निर्भर है।

स्वरोदयविज्ञानका मुख्य विषय मनुष्यकी तमाम प्रकारकी क्रियायें (कर्म) हैं। प्राणापानका हमारी तमाम छोटी, बडी क्रियाओंपर नित्य शासन रहता है। प्राणापानकी गति नित्यप्रति प्रत्येक शुभाशुभ क्रियाकी ओर निर्देश करती हुई चलती रहती है। विज्ञ लोग उस निर्देशको ध्यानमें रखते हुए सुखपूर्वक संसारसागरको पार कर जाते हैं। जब कि अज्ञानी लोग अंधेकी तरह सूर्यप्रकाश मौजूद होते हुए भी इधर उधर भटकते फिरते हैं।

स्वरोदय-शास्त्रमें जहां अन्य बहुतसी उपयोगी बातें बतलाई गई हैं, वहां यहभी बताया गया है, कि मनुष्य बिनाही औषधोपचारके रोग कैसे दूर कर सकता है। बिना ही किसी औषधादि विशेष उपचारके वंध्याको भी संतान कैसे हो सकती है। जिन्हें बहुत संतान होती हैं, उन्हें क्या करना चाहिए कि जिससे और संतान पैदा होनी बंद हो जांय ? इच्छानुसार लडका या लडकी कैसे पैदा की जा सकती है ? ऐसे बहुतसे विषयोंकी इसमें चर्चा है। इसमें आश्चर्यकी बात तो यह है, कि इन तमाम क्रियाओंके साधन अत्यंत सुगम है। हरएक व्यक्ति उनसे आसानीसे लाभ उठा सकती है।

शायद बहुतसे पाठक इसमें दी गई कई बातोंसे सहमत न हों। बहुतसे यहभी चाहेंगे कि इन सब की सब बातोंकी वैज्ञानिक व्याख्या की जानी चाहिए। ऐसे पाठकोंसे हमारा यही निवेदन है, कि हम भी यही चाहते थे। परन्तु आज हम ऐसा करनेमें विवश हैं। हम उन तमाम बातोंका युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दे सकते। जब हमें इनका योग्य खुलासा ज्ञात हो जायगा, उस समय शीघ्रही पाठकोंके सामने रख देंगे। परन्तु यह सब होते हुएभी हम पाठकोंको इस बातका विश्वास दिलाते हैं, कि ये सब बातें सत्य हैं, अनुभवसे उनकी सत्यता मालूम की जा सकती है। जो चाहे अजमाकर देख सकता है। आज तो हमने सिर्फ इतनाही बतानेका प्रयत्न किया है, जो कि होता है। वह क्यों होता है, यह अभी विचारणीय है। परन्तु इसका मतलब यहभी समझना भूलभरा होगा कि इनमेंसे किसीकाभी स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी बहुतसी बातें हैं, जिनकी युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है। अस्तु।

इतने छोटेसे निवेदनके अंतमें हमें पाठकोंसे फिरभी यही कहना है कि वे बिना किसी वितण्डावादके इस छोटीसी पुस्तकमें दी गई बातोंका स्वयमेव अनुभव लें, तथा उससे उचित लाभ उठाते हुए, इस शास्त्रके सत्यासत्यका भी निश्चय करें।

शौव उद्गीथ पर विचार ।

(लेखक- श्री० रामचन्द्रजी, रि० हेडमास्टर, अम्बाला)

छन्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक १ । खण्ड १२ ॥

अथात: शौव उद्गीथ: तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेय: स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥ तस्मै श्वा श्वेत: प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

तान् होवाच- " इहैव मा प्रातरुपसमीयातेति " तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेय: प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥ ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा: संरब्धा: सर्पन्तीत्येव माससृपुः ते ह समुपविश्य हिंचक्रु: ॥ ४ ॥ ओ३मदा३मों३पिबा३मो३देवो वरुण: प्रजापतिः । सविता३न्नमिहा२हरदन्नपते३न्नमिहा-हरा२हरो३मिति ॥ ५ ॥

इसका अक्षरार्थ यह है- अब शौव उद्गीथ कहते हैं ।

बक दाल्भ्य, ग्लाव मैत्रेय स्वाध्याय के लिये बाहर (एकान्त) स्थानमें गया ॥ १ ॥ उसके लिये श्वा श्वेत प्रकट हुआ और अन्य श्वा उसके गिर्द इकट्ठे हुए और कहने लगे, भगवन् ! हमारे लिये अन्न गाओ, (गाकर लाभ करो) हम भूके हैं ॥२॥ श्वेत श्वाने उनको कहा-यहां ही कल सवेरे मेरे पास आओ। बक दाल्भ्य, ग्लाव मैत्रेयने इस बातको पूरे ध्यानसे देखा, (अर्थात् वह) इस समय का इन्तजार करता रहा और समय पर वहां ही पहुंच गया ॥ ३ ॥

अब जैसे बहिष्पवमान स्तोत्रसे स्तुति करने लगते हैं, तो (सारे ऋत्विज) एक दूसरे को पकडे हुए (आगे पिछे) चलते हैं, ठीक इसी तरह वे (एक दूसरे के पीछे होकर) चले। फिर वे मिलकर बैठ गए और हिंकार किया। (अर्थात् सामवेदियोंकी तरह हिंकार के आलापसे गाना आरम्भ किया) ॥४॥ ' ओम् ' हम खाएं, ' ओम् ' हम पीवें, और ओम् देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिए अन्न लाए। हे अन्न के मालिक ! अन्न लाओ, ओम् ॥ ५ ॥

इन साधारण अर्थोंसे तो यही प्राप्त होता है, कि उपनिषदों में भी पौराणिक कथाएं या अर्थवाद की कल्पनाएं हैं और इस कल्पनासे यही प्रतीत होता है, कि " ओमदामोम् पिबा " इत्यादि मन्त्र अन्न बरसाने में समर्थ हैं; परन्तु यह कल्पना मनको सन्तुष्टि नहीं देती और नहीं यह मन्त्र अन्न बरसाने में समर्थ है ।

यदि ऐसा होता तो आज बेकारी के समयमें तो यह नुसखा (अन्न बरसाने का) बहुमूल्य वस्तु समझा जाता, पर ऐसा नहीं है। पुन: हम को सोचना चाहिये, कि इसका आशय और क्या है! जो विचार इसके सम्बन्ध में हमारे हृदय में उत्पन्न हुए हैं, वे सकल स्वाध्यायशील ब्रह्मनिष्ठ सज्जनों के चरणों में हम रखते हैं, ताकि वे सज्जन उन विचारों पर कुछ अधिक प्रकाश डाल सकें।

प्रथम विचारास्पद बात यही है, कि उपनिषदों का ध्येय क्या है ? जहांतक हमारी छोटी बुद्धि में आता है, हम तो यही ध्येय समझते हैं, कि नानात्व-भाव या अल्प और क्षुद्र को कृत्स्नवद् जाननेवाले राजस या तामसिक ज्ञान के जालसे निकालकर अधिकारी को एकत्वभावज्ञान के शान्तिमय भवनमें पहुंचा देना। या सीधे शब्दों में यह कि अधिकारी को ब्रह्मका साक्षात्कार करा देना। मुख्यत: यही विषय सब ही उपनिषदों में नाना रूप दर्शाया गया है। हाँ, तरीके नाना प्रकार के

गये हैं। क्योंकि अधिकारभेदसे एक ही तरीका सबके वास्ते पर्याप्त नहीं हो सकता। कहीं प्रश्नोत्तर के स्वरूप में, कहीं कथा या आख्यायिका के रूपमें, कहीं दृष्टान्त के रूपमें, इत्यादि अनेक प्रकारसे इसी एक बातको दर्शाया गया है, ताकि अधिकारी जन उनसे अपनी अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार उनमें से किसी न किसीसे लाभ उठा सकें। हाँ यदि कहीं कहीं किसी अन्य विषयपर भी कोई समालोचना की गई है, तो वह विषय किसी न किसी रूपमें इस मुख्य विषय का सहाय्यक समझकर या किसी एतद्विषयद्योतक प्रकरण को स्पष्ट करने के वास्ते हि लिया गया है।

यह भी ध्यानमें रहे कि उपनिषदोंकी बोली या भाषा बहुधा सांकेतिक (Symbolic) है। जैसे शिशु-ब्राह्मणादि स्थलों में साफ दीख पडती है। इन दो बातों को ध्यानमें रखते हुए, हमें अब इस स्थलका विचार करना चाहिए। हमारा विचार ऐसा है कि उपनिषत्कार का भाव यह है कि वह स्वाध्याय को भी ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करने का एक अबाध्य उपाय दिखाते हैं। और उसको सांकेतिक रूप से वर्णन करते हैं।

यहां निम्न लिखित शब्दों के अर्थोंपर विचार करनेसे स्पष्ट इस बात का पता लग जावेगा, वे शब्द ये हैं-

१- शौव, उद्गीथ,

२- बकः दाल्भ्यः, ग्लावः मैत्रेयः

३- स्वाध्याय,

४- श्वेतः श्वा,

५- अन्ये श्वानः,

६- अन्नं,

७- श्वेत श्वाके पीछे पीछे चलना,

८ प्रातःकाल,

९ हिंकार,

१० ओम् अदाम ओम् पिबाम इत्यादि।

अब इनपर विचार किया जाता है।

" शौव " विशेषण (Adj. form) है। श्वासे, श्वा निकला है- श्वि धातु से कनिन् प्रत्यय लगानेसे। श्विका अर्थ है to approve, to go, to pursue अर्थात् किसी वस्तु के सीधे पास जाना, या उसको पा लेना। श्वानमें यही स्वभाव प्रधानतासे विद्यमान है, और उसीसे उसको श्वान कहा गया। यह भी बडे मजेकी बात है, कि अंग्रेजी शब्द (Dog) डॉगकेभी यही अर्थ हैं। अतः श्वाके अर्थ हुए वह शक्ति जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को सीधे तौरपर जान लेते हैं। हमारा ज्ञान या जानना, दो प्रकार से उपलब्ध होता है। एक इन्द्रियद्वारा अर्थात् इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और दूसरा इन्द्रियों के सहारे बिना सीधे तौर से (Directly) जो ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को योगदर्शन में ' ऋतम्भरा प्रज्ञा ' कहा है। देखो योगदर्शन (१ पाद ४८ सूत्र) और उसका लक्षण भी सूत्र ४९ में यों किया है-

ऋजुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्।

अर्थात् वह प्रज्ञा श्रुतिजन्य या अनुमानादि प्रमाण-जन्य ज्ञानसे अलग ही है, क्योंकि इस का विषय वे गुण नहीं हैं जो वस्तु में प्रतीत होते हैं, अपितु वह वस्तु ही है। अर्थात् इस प्रज्ञा की सहायतासे मनुष्य सीधा उस वस्तु को ही विषय कर सकता है, साधारण मनुष्यों की तरह वस्तु के गुणों द्वारा नहीं। अंग्रेजी भाषा में इस ज्ञान को Intution या Inspiration or revelation अर्थात् दिव्य दृष्टि कहते हैं।

' उद्गीथ ' का अक्षरार्थ- उद् = ऊपर + गीथ या गीथा या गीति गान या आलाप है, अर्थात् Elevating songs, divine music or divine harmony हो सकता है। उद्गीथ साम-वेदका एक भाग है, जो ओम्से आरम्भ होता है। उद्गाता उसको सोमयज्ञमें गाता है। यह कर्म-काण्डका अर्थ है, परन्तु औपनिषदिक भाव में वह दिव्य दृष्टि या दिव्य ज्ञान है, जिसके द्वारा साधक

का आत्मा इतना उच्च हो जाता है कि वह साक्षात् ब्रह्मको अनुभव कर लेता है। अतः शौव उद्गीथ वह दिव्य आलाप है, जो ऋतम्भरा प्रज्ञा-द्वारा स्वाध्यायशील मनुष्य के चित्त में प्रादुर्भूत हो जाता है। उद्गीथ के अर्थ के लिए छांदोग्य-उपनिषद् से प्रथम प्रपाठक के १-१० खण्डों को देखो। विस्तार-भय से यहांपर उद्धृत नहीं किए गये।

२ बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः 'वा' यहां 'च' के अर्थमें है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे 'बकः' किसी स्वाध्यायशील मनुष्यका नाम है, दाल्भ्य और ग्लाव गोत्र नाम है, मैत्रेय से मित्राका पुत्र लिया गया है, परन्तु सांकेतिक शिक्षाके अनुसार ये चारों स्वाध्याय-शीलता के गुण या नियम हैं। 'बकः' एक पक्षीका नाम है, जिसका ध्यान अर्थात् एकाग्रता (One-pointedness) जगत्विख्यात ही है, जैसे कि 'श्वानिद्रा बकध्यानम्,' इत्यादि श्लोक में बताया गया है। दाल्भ्य शब्द 'दल्भः' से बनता है- 'दल्भः' के अर्थ हैं (Wheel) अर्थात् लगातार चलते रहना, अतः दाल्भ्य के अर्थ हुए वह मनुष्य जिसका स्वाध्याय चक्रवत् चलता रहता है, अर्थात् कभी नागा नहीं करता।

'ग्लावः' ग्लै धातुसे बनता है। ग्लै = to be fatigued, to be disgusted or tired of तो ग्लावः वह मनुष्य हुआ, जो संसारचक्रसे उकता कर स्वाध्यायद्वारा शान्ति पाना चाहता है।

'मैत्रेयः' मित्रा अर्थात् सूर्या (सूर्यपत्नी) का पुत्र। अर्थात् वह मनुष्य जिसके भीतर प्रकाश की शक्ति मौजूद है, अतः इन चारोंका अर्थ यह हुआ, कि ये स्वाध्यायशीलता के चार गुण होने चाहिये।

१- one-pointedness या एकाग्रता बकवत्।

२- Constancy अटूटता चक्रवत्।

३- सांसारिक पदार्थों की ओर से उपरामता और पारमार्थिक भावों (Indifference to world) और संयमोंसे प्रेम।

४- प्रकाश ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (recepreny or unbiased-mindedess) अर्थात् जो कोई इन चारों गुणोंसे सम्पन्न होकर स्वाध्यायशील बनेगा, वह अवश्य श्वाशक्ति अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञाको अपने भीतर जगा लेगा। (पौराणिक शैली से देवपत्नी से देवशक्ति ही होती है।)

(३) स्वाध्याय के दो अर्थ हैं- स्वयम् अध्ययनम्। आप किसी अन्य की सहायता के विनाही अध्ययन या मनन करना। दूसरा अर्थ यह है- स्वात्मानम् अध्ययनम्। अपने आपका अध्ययन अर्थात् जांच पडताल करते रहना। जिसको अङ्ग्रेजी में (Introspectation) कहते हैं।

यहा ये दोनों ही अर्थ मन्तव्य हैं, क्योंकि केवल पुस्तकों को पढते रहना और अपनी जीवनीपर विचार न करना, कुछ बहुत लाभदायक नहीं। स्वाध्याय शब्द में ये दोनों ही भाव अभिप्रेत हैं।

(४) श्वेत श्वा- शुद्ध (Purified wisdom or Intuiton) ऋतम्भरा प्रज्ञा।

(५) अन्ये श्वा- इन्द्रियजन्य ज्ञानसे उपलब्ध मनोवृत्तियां (Intellectual faculties) ये स्थूल-भुक् हैं।

अर्थात् स्थूल पदार्थों को ही अपना विषय करते हैं। स्थूल पदार्थ परिणामशील होनेके कारण स्थायी तृप्ति नहीं दे सकते। अतः भूकके मारे व्याकुल होना स्वभावसिद्ध ही है। इसवास्ते किसी ऐसे पदार्थ की तलाश में रहना जरूरी बात हुई, जिससे उनको सदैव के वास्ते तृप्ति हो जावे।

(६) अन्न- से अभिप्राय वह पदार्थ जिससे उप-भोगसे सदाके लिये तृप्ति हो जावे। उपनिषदों में यह शब्द बहुत स्थलों में दधि अर्थ में आया है अर्थात् अन्नसे मतलब (Spiritual food) आत्मिक भोजन।

(७) श्वेत श्वाके पीछे पीछे चलना- उन स्थूलभुक् मनोवृत्तियों ने स्थूल पदार्थोंसे तृप्ति न पाकर उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से किसी ऐसे पदार्थ की उपलब्धि की इच्छा की जिसके उपभोग से सदा के लिये सन्तुष्टि

हो सके। उसने कहा कि उषावेला में मेरे पास आओ और अपनी स्थूल भुक्ति को छोडकर मेरे पीछे पीछे चलो, तब तुमको वह पदार्थ मिल जावेगा।

(८) प्रातःकाल– उषावेला अर्थात् मनुष्यजीवन में वह जागृति जिससे वह वास्तव में मनुष्य बनता है- "मनसि उषा यस्य स मनुष्यः" उसको अङ्ग्रेजी में (Spiritual awakening) कहते हैं।

(९) हिंकार– सामवेदीय उद्गीथ के गीतारम्भ में यह एक प्रकारका आलाप है। अर्थात् जब मनोवृत्ति दैवी वृत्ति के अनुकूल हो गई, तब साधक के भीतर स्वतःसिद्ध भावोद्गार उत्पन्न हुआ, जिसका ध्वन्यात्मक विकार (ओमदाम इत्यादि) है।

यह मन्त्र है, जिसका अर्थ ऊपर दिया गया है। अर्थात् इस ऋतम्भरा प्रज्ञाने साधक को यह बता दिया कि यदि हम यह चाहें कि संसार में रहते हुए, सांसारिक व्यवहार करते हुए, शान्ति, तृप्ति, सन्तुष्टि, पावें, तो हमारे लिये यह आवश्यक है, कि प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह खानेका हो, पीनेका हो, देखनेका हो इत्यादि उसमें ओम् की दृष्टि को स्थिर रक्खें। फिर उसका व्यहार साधारण मनुष्यों के व्यवहार से बिलकुल अनोखाही हो जावेगा।

वह नाटक के नटवत् सांसारिक व्यवहारों को करता हुआ भी सांसारिक दृश्यके परदेके पीछे अपने प्रतिम की मनोरंजक झांकी को देख देख कर उल्लसित होता हुआ, अपने पार्ट को खेलता हुआ, निम्न लिखित भावों के उद्गार भर भर कर आनन्द लूटेगा।

सब, सारांश यह हुआ कि उपनिषत्कार ऋषि हम को यह दर्शाना चाहते हैं, कि आत्मदर्शन या ब्रह्म– प्राप्ति का उपाय स्वाध्याय भी है। अर्थात् जो मनुष्य बकवत् एकाग्रता के साथ लगातार स्वाध्याय करेंगे और संसार से उपरामता भी प्राप्त करेंगे, और स्वाध्याय के समय में जो दैवी प्रकाश की झलक प्रादुर्भाव होगी, उसको आग्रह छोडकर ग्रहण करने के वास्ते तत्पर रहेंगे, उनके हृदय में उषा अर्थात् जागृति आ जावेगी, और तत्पश्चात् ऋतम्भरा प्रज्ञा भी अपना दर्शन देगी। उनकी सारी मनोवृत्तियां उस प्रज्ञाके आधीन होकर अपने सब मनो– विकारों को हटा देगी, जिससे उनको आत्मदर्शन हो कर ब्रह्मनिष्ठता का आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

संक्षेपरूपसे यह उपनिषद् हमको यह दीक्षा देती है–

१-स्वाध्यायभी ब्रह्मनिष्ठाकी उपलब्धिका उपाय है।

२- परन्तु स्वाध्याय के ये चार नियम होने चाहिए-

एकाग्रता।

एकाग्रता से ग्रन्थ को पढना, यों ही बडबड करके पुस्तक समाप्त नहीं करना, जैसा कि लोग बहुधा करते हैं। परन्तु पाठ्य को मनन करना और उसको अपने जीवन में धारण करना, प्रतिदिन अपने जीवन की पडताल करना।

तारतम्यता।

कभी स्वाध्याय में नागा न करना। यदि किसी विशेषकारण से समय थोडा मिले तो थोडा हि करे, पर नियम न तोडे। इसके लिए शतपथ में अनेक प्रमाण हैं, स्थानाभाव के कारण यहां नहीं दिए गए।

उपरामता।

सांसारिक पदार्थों में सन्तुष्टि नहीं, यह भाव मन में रखना। जिसके चित्तमें अभी सांसारिक सुखकी रुचि प्रबल है, वह स्वाध्याय में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।

प्रकाशग्राहकता।

बहुधा मनुष्य ग्रन्थोंको इस वास्ते पढते हैं, कि वे अपने मनमाने सिद्धांतों की पुष्टि ढूंढे या उनका खण्डन करें। ऐसा करने से वे प्रकाशको नहीं पा सकेंगे। प्रकाश को तो वे ही पाएंगे, जो अपनी मनोवृत्तियों को दैवी वृत्ति के आधीन करके जो

प्रकाश मिलेगा, उसको स्वीकार करेंगे ।

प्रकाश केवल पक्षपातरहित हृदय में ही चमक सकता है । पक्षपातका परित्याग करनेपर ही प्रकाश प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

३- स्वाध्याय करते करते उनका अन्तःकरण शुद्ध हो कर एक प्रकार की जागृति उनके अन्दर पैदा होगी ।

४- जागृति के साथ ही उनके अन्दर दैवी प्रकाश आने लगेगा ।

५- सारी मनोवृत्तियां अपनी ढीठताको छोडकर उस प्रकाश के पीछे ही चलेंगी ।

६- और फिर साधक का तीसरा नेत्र (शिवनेत्र) खुल जावेगा । और वह इस संसार को (जो साधारण मनुष्यों की दृष्टि में दुःखसागर बना हुआ है) सुखसागर के रूप में देख कर उसमें आनन्द के गोते लगा लगाकर यों आलापने लगेगा—

प्रभुजी, मैं अमृतरस है पाना ।
नाथ, मैं अमृतरस है पाना ॥

ओम् ही रोटी, ओम् ही पानी, ओम् ही भो[ग] लगाना ॥ ओम् ही खाना ओम् ही पीना, छत्ती[स] व्यंजन नाना ॥ १ ॥ ओम् (राम) ही चलन[ा] ओम् ही फिरना, ओम् ही दौड लगाना ॥ ओम् ही खेलन, ओम् ही माल्हन, ओम् ही धोना न्हान[ा] ॥ २ ॥ ओम् ही खटिया, ओम् ही तकिया, ओम् ही है सरहाना ॥ ओम् ही सोना, ओम् ही जगना, ओ[म्] ही है मुसकाना ॥ ३ ॥ ओम् ही अन्दर, ओम् ही बाहर, ऊपर नीचै दर्म्यानो ॥ बागबगीचे फूल फुला[ये] अल्पन एहो तराना ॥ ४ ॥ जित देखूं वित ओ[म्] (राम) लूटत है, धटि हूं रूपं नाना ॥ ओम् [है] झिलमिल जग मग सारे क्या रोना क्या गाना ॥ [५ ॥] रोम रोम में रम रहो रामा (शोभा), किल आ[य] किल जाना ॥ कहत राम सुनो भई साधो, एह वि[ध] है उसे खाना ॥ ६ ॥ ओम् अदाम ओम् पिब[ाम] पश्येम ओम् शृणुयाम ॥ देवो वरुणः प्रजाप[ति] सविता ह्रत ओम् ओम् ओम् ॥ इस रस [को] भला कौन जवावे, है गूंगे का गुड खाना ॥ खट[्] मिठरस सब रस इस में, यों " शौव " बद[ा] बखाना ॥ ७ ॥

यज्ञोपवीत-रहस्य

अथवा

मानव-जीवन-आदर्श ।

(लेखक- श्री० धर्मराज वेदालङ्कार, दर्शनोपाध्याय, गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगड, काठियावाड)

(१)

शास्त्र में यज्ञोपवीत का विधान है, इस से कोई इनकार नहीं कर सकता । बौधायन स्मृति में लिखा है-

सदोपवीतिना भाव्यं सदाबद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतिश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

इसका अभिप्राय यह है, कि शिखा और यज्ञोपवीत सदा धारण करने चाहिये, इनके धारण किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह न किये हुए समान होता है ।

यज्ञोपवीत का शास्त्र में इस प्रकार विधान होते हुए भी प्रश्न उत्पन्न होता है, कि आखिर इन तीन धागोंका प्रयोजन है क्या ? केवलमात्र शास्त्र में लिखे होने से किसी विधान की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती ।शास्त्र का भी तर्कसे चिन्तन करना आवश्यक है । कहा भी है-

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।

इस लिये यज्ञोपवीत के विधान को भी तर्क की कसौटीपर परखना चाहिये । हमारी सम्मति में यदि 'यज्ञोपवीत', इस शब्दपर तथा इस के पर्यायवाची 'ब्रह्मसूत्र' शब्द पर थोडा ध्यान दिया जाए, तो इस विधानका मर्म और प्रयोजन समझमें आ सकता है । 'यज्ञोपवीत' शब्द का अर्थ है "यज्ञाय यज्ञकर्मणे वोपवीतम्," अर्थात् यज्ञ अथवा यज्ञकर्मके लिये धारण किया हुआ सूत्र । छन्दोग परिशिष्ट में कात्यायन महर्षिका वचन है—

" अनेन हीदधिखदिरादि वदुपवीतित्वस्य बद्धशिखित्वस्य च क्रतुपुरुषोभयार्थत्वमवगम्येत । तेन विशिखेन व्युपवीतिना च कर्मणि क्रियमाणे कर्मणोपि वैगुण्यं भवति ।"

संक्षेप में इसका आशय यह है कि जिस प्रकार यज्ञ में दधि, खदिर आदि पदार्थों की उपयोगिता है, इसी प्रकार शिखा और यज्ञोपवीत भी यज्ञ में उपयोगी हैं, इन के अभाव में यज्ञ का निर्वाह नहीं हो सकता । शिखासूत्र के बिना जो यज्ञ किया जाता है, उसमें वैगुण्य उत्पन्न हो जाता है । वैगुण्य अथवा खराबी के हो जाने से वह कर्म निष्फल होता है ।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत धारण करने का प्रयोजन जैसा कि इस शब्द से सूचित होता है, यज्ञकर्म है । अब इस लेख में आगे हम इसी बात की व्याख्या करेंगे कि यह यज्ञ क्या है और इसमें यज्ञोपवीत किस प्रकार सहायक होता है ।

(२)

उपनयनसंस्कार में यज्ञोपवीत का विधान है । मनुष्य का असली जीवन उपनयनसंस्कार से ही आरम्भ होता है । उपनयनसंस्कार द्वारा आचार्य शिष्यको विद्या में दीक्षित करता है । विद्याग्रहणके कारण ब्रह्मचारीमें जो परिवर्तन होता है, वह एक नये जन्म के समान है, यहां तक कि वास्तविक जन्म यही है । माता पिता तो सिर्फ शरीर को ही जन्म देते हैं, परन्तु आचार्य मन, प्राण और आत्मा को जन्म देनेवाला है, इन तीनों में स्फूर्ति और जागृति पैदा करनेवाला है । इसी बात को आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में इस प्रकार कहा है-

स हि विद्यातस्तं जनयति ।
शरीरमेव तु मातापितरौ जनयतः ।

उपनयनसंस्कार द्वारा मनुष्य किन्हीं उद्देश्यों और सङ्कल्पों को पूरा करनेके लिए अपने आप को सन्नद्ध करता है । और " सङ्कल्पप्रभवा यज्ञाः "

संकल्प से यज्ञ की उत्पत्ति होती है, किसी उच्च सङ्कल्प अथवा महत्त्वाकांक्षाको पूर्ण करने के लिये जो कर्म किया जाता है, वह यज्ञ है। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिये किया गया सङ्ग्राम भी एक यज्ञ है। ब्रह्मचारी भी किन्हीं सङ्कल्पों के आधारपर यज्ञ करता है, इस महान् यज्ञकार्यके लिये वह यज्ञोपवीत का धारण करता है। यह यज्ञोपवीतयज्ञकर्म के लिये धारण किया हुआ यज्ञचिह्न है।

(३)

अब प्रश्न है कि ब्रह्मचारी का सङ्कल्प क्या है ? और इस सङ्कल्प के लिये किये जानेवाले कर्म को यज्ञोपवीत कैसे सूचित करता है ?

यज्ञोपवीत का धारण ब्रह्मचारी करता है। वैय्याकरणोंके " ब्रह्मचारी " शब्दका अर्थ प्रचलित है—

"ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं यद् व्रतं तदपि ब्रह्म,
तच्चरतीति ब्रह्मचारी।" ✻

अर्थात् वेदाध्ययन के लिये जो व्रत करता है, वह ब्रह्मचारी है। वेदाध्ययन ही ब्रह्मचारी का सङ्कल्प है। ऊपर ' ब्रह्म ' वेदको कहा है, इसलिये ' ब्रह्मसूत्र ' शब्दका भी अर्थ हुआ वेदाध्ययन के लिये धारण किया हुआ सूत्र ।

वेदाध्ययन से अभिप्राय चारों वेदों को याद कर लेगा नहीं है। वेद चार पोथियां नहीं हैं। वेद तो मनुष्य के विज्ञानमय कोश में रहता है, वहीं से इसकी अभिव्यक्ति होती है और वहीं से इसका व्यवहार में और क्रिया में प्रयोग होता है ❀। विज्ञानमय कोश का यह वेद ही अन्तर्ज्योति है, यही अन्तरात्मा है और यही परमात्मा है। वेद और परमात्मा अभिन्न हैं। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा करो या वेद, एक ही बात है। जो वेदको जानता है, वह परमात्मा को जानता है, इसी प्रकार जो परमात्मा को जानता है वह वेद को जानता है। सृष्टि परमात्मा से होती है या वेदसे, इसमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है। उपनिषद् में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्तिको कहकर आगे ही यह भी कह दिया गया है कि यह सब सृष्टि प्रणव या वेद से ही होती है, सम्पूर्ण संसार ओंकार की व्याख्यामात्र है। इसी अर्थ को सूचित करने के लिये ' शब्दब्रह्म ' शब्द प्रयुक्त होता है। ❁

एवं ' वेदाध्ययन ' ' आत्मज्ञान ' या ' ब्रह्मज्ञान ' ये सब शब्द एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। संक्षेप में आत्मज्ञान के स्वरूप के प्रतिपादक निम्न महावाक्य हैं।

१ अहं ब्रह्मास्मि
अयमात्मा ब्रह्म
प्रज्ञानं ब्रह्म
२ अहमेतद् बहु स्याम्
३ नेह नानास्ति

उक्त वाक्य संसार की प्रक्रिया की भी व्याख्या करते हैं। संसार क्या है ? उपनिषद् और वेदान्त कहते हैं, कि संसार मिथ्या है, मिथ्यात्व ही संसार है। मिथ्यात्व के विवेक करने से ही संसार का बन्धन छूटता है। उल्लिखित वाक्यों में से प्रथम

✻ देखो काशिका।

❀ ' यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तर्निदधाम एनम् '। (अथर्ववेद)

❁ तुलना करो- " कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् " (गीता)
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। (उपनिषद्)
विधातुश्च लोकानाम्। (वाक्यप्रदीप)

महावाक्य जीव और ब्रह्म अथवा आत्मा और परमात्मा में अभेद का प्रतिपादन करता है। द्वितीय महावाक्य 'अहमेतद्बहु स्याम्' यह दर्शाता है कि अद्वैत ब्रह्म ही विविध रूप से विराजमान है। तृतीय महावाक्य 'नेह नानास्ति किंचन' में कहा है कि दृश्यमान प्रकृति मिथ्या है- असत् है; वास्तविक सत् पदार्थ निर्गुण, अद्वितीय ब्रह्म है। नानात्व केवल भ्रम प्रतीति और माया है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध होनेपर ससार अर्थात् वैयक्तिक आत्माओं तथा प्राकृतिक जगत् का आविर्भाव होता है। लेकिन ये आविर्भूत पदार्थ वास्तव में ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं, क्योंकि इनकी सत्ता मायिक है, केवल प्रतीयमान है; तात्त्विक नहीं।

महावाक्यों का सार हम दो सूत्रों में प्रगट कर सकते हैं।

१ अहमेतन्न (अहम्- अ, एतत्- उ, न- म्= ओम्)

२ सोहम्।

प्रथम सूत्रका अर्थ है- 'मैं यह नहीं हूं.' अर्थात् आत्मा दृश्यमान जगत् नहीं है। द्वितीय सूत्रका अर्थ है, 'मैं वही हूं' अर्थात् आत्मा वह ब्रह्म ही है। इन दो महामन्त्रों का जाप करने से, इनके अर्थ को हृदयङ्गम करते रहने से आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान सम्पन्न होता है। ये सूत्र वस्तुतः प्रणव के वाच्यार्थ हैं, दूसरे शब्दों में सकल वेदार्थ को प्रगट करते हैं *। यह आत्मज्ञान ही ब्रह्मचारी के उद्देश्य या सङ्कल्प का विषय है। ब्रह्मचारी आत्मा या ब्रह्मको पाने के लिये ही सब लोकलोकान्तरों को खोजना फिरना है। ॐ

लेकिन इस निर्गुण आत्मज्ञान को यज्ञोपवीत किस प्रकार सूचित करता है, यह तो उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट नहीं होता। अब हम परमात्मा के सगुण रूपकी ओर दृष्टिपात करते हैं। मोक्षप्राप्ति के पूर्वकालतक मनुष्य अनिवार्य रूप से सगुण उपासना के क्षेत्र में सीमित रहता है। वस्तुतः मनुष्य के सामने से सब प्रकार के सागुण्य का हमेशा के लिये हट जाना ही मोक्षप्राप्ति है। सगुण रूप से यज्ञोपवीत के तीन धागों का सरल और सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता है।

(४)

प्रसिद्ध उक्ति है- "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" जैसा कुछ मनुष्य के इस शरीरपिण्ड में है, वैसा ही ब्रह्माण्ड में भी है। इससे विपरीत यह भी कहा जा सकता है, "यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे" अर्थात् जैसा ब्रह्माण्ड में है वैसा ही मनुष्य के इस शरीररूपी पिण्ड में भी हैं।

अथर्व १८।८।३२ में कहा है

"तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते"

अभिप्राय यह है, कि विद्वान् व्यक्ति मनुष्य को 'यह ब्रह्म ही है,' ऐसा समझता है। मन्त्रके द्वितीय पाद में इसका कारण बताया है—

"सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।"

अर्थात् ब्रह्माण्ड के जितने देवता हैं, वे सबके सब इस पुरुष में भी विराजमान है। उक्त सूक्तके ३० वें और ३१ वें मन्त्र में इसी बातको विस्तार से प्रतिपादित किया है-

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥

भावार्थ यह है कि ब्रह्माण्ड का ब्रह्म तथा उसके सब अनुगामी देवता मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हुए हैं, ब्रह्माण्ड का स्वामी प्रजापति भी इस शरीर में विद्यमान है। ब्रह्माण्ड के तीन मुख्य देवता मनुष्य में इस क्रमसे हैं। द्युलोकका सूर्यदेवता मनुष्य की आंख है, अन्तरिक्ष का वायुदेवता मनुष्य का प्राण है, मनुष्य के शेष भाग में पृथ्वीलोक का अग्निदेवता समाया हुआ है। ब्रह्माण्ड के समस्त देवता

* देखो महर्षि गार्ग्यायण कृत 'प्रणववाद'
ॐ 'ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे' (अथर्व)
८

क्योंकि मनुष्य को शोभित कर रहे हैं, इसलिये मनुष्य का शरीर भी वास्तव में एक ब्रह्माण्ड ही है।

देवलोग तो वहीं अपना शुभागमन कर सकते हैं, जहां किसी प्रकार का यज्ञ हो रहा है। २९ वें मन्त्र में मनुष्य में वर्तमान इस यज्ञका वर्णन है।

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेत: कृत्वाज्यं देवा: पुरुषमाविशन् ॥

मनुष्य में जो यज्ञ हो रहा है, उसकी समिधाएं मनुष्यशरीर की हड्डियां हैं, यज्ञिय जल मनुष्य में स्थित आठ प्रकार के जल हैं और यज्ञार्थ घृत मनुष्य का वीर्य है।

कहने का मतलब यह है कि ब्रह्माण्ड की जितनी विशेषताएं हैं, वे सब मनुष्य में अथवा ब्रह्मचारी में भी हैं। ब्रह्मचारी यदि अपने अन्दर विद्यमान लोकों-का धारण करता हुआ तथा देवों को यज्ञहवि द्वारा तृप्त करता हुआ आचरण करे, तो वह आसानी से बाह्य ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि लोकोंको धारण करके जगत् के अग्नि, वायु, आदित्य आदि सम्पूर्ण देवताओं को तृप्त करता हुआ परम कल्याण की सिद्धि कर सकता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में आये हुए इन मन्त्रांशों में यही बात कही है।

'तस्मिन्देवा सम्मनसो भवन्ति'
'स दाधार पृथिवीं दिवं च'
'स देवांस्तपसा पिपर्ति'

इसी प्रकार मनुष्य की जितनी विशेषताएं हैं, वे भी ब्रह्म में हैं। मनुष्य के समान ब्रह्म के भी सिर, पैर, पेट, आंख आदि हैं। अथर्ववेद के स्तम्भ सूक्त के निम्न मन्त्र इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है।

'यस्य भूमि: प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्'
'दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानम्'
'यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव:'
'अग्निं यश्चक्र आस्यम्'
'यस्य वात: प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्'
'दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी:'

इनसे मिलते जुलते अनेक वेदवाक्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म और पुरुष, परमात्मा और आत्मा एक समान हैं। *

---

* पाठकको यह शङ्का हो सकती है, कि भला मनुष्य के इस छोटेसे शरीर में ब्रह्माण्ड के तीनों लोक और समस्त देवता किस प्रकार से समाविष्ट हो सकते हैं? देवताओं के बारे में यह समझकर भी सन्तोष किया जा सकता है, कि जिस प्रकार आंख सूर्य का अंशमात्र होनेसे शरीर में सूर्यदेवता की प्रतिनिधि है, इसी प्रकार अन्य देवताओं के भी प्रतिनिधि विद्यमान हैं। लेकिन इस परिमित शरीर में द्युलोक जैसे महान् पदार्थ कहां है? अन्नमय, वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन पांच कोशों से परिचय रखनेवाले आसानी से समझ सकते हैं, कि ये ही पांच कोश वस्तुत: तीन लोक हैं। बीचके तीन कोशों से मिलकर अन्तरिक्ष बनता है, अन्नमय कोशसे पृथिवी तथा विज्ञानमय से द्युलोक। जिस प्रकार द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथिवी को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार विज्ञानमय कोश के विज्ञान से मन, प्राण, वाणी और स्थूल शरीर प्रकाशित होता है। जो मनुष्य अपने पृथिवी लोक अर्थात् स्थूल अन्नमय शरीर की ही इच्छाओं को तृप्त करने में तत्पर रहता है, वह विज्ञानमय कोशतक कभी नहीं पहुंच सकता, विज्ञानतक पहुंचने के लिये वाणी, प्राण और मनसे भी ऊपर उठना पडता है। तीनों लोकों के धारण करने का एक मात्र अभिप्राय यही है, कि तीनों में उचित व्यवस्था कायम रखना, किसी में आसक्त न होकर उच्चतर लोक की प्राप्ति के लिये आकाङ्क्षा करना। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों मनुष्य की सांसारिक अवस्थाएं हैं, जाग्रत् अवस्था में अन्नमय कोश प्रधान रूपसे कार्य करता है। स्वप्नावस्था में मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय कोश विशेष रूपसे काम करते हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में विज्ञानमय कोश का कार्य मुख्य है। इन तीनों अवस्थाओं और पांचों कोशोंसे ऊपर उठनेपर मनुष्य की पारमार्थिक अवस्था होती है। इस हालत में मनुष्य का संसार से मोक्ष होता है, वह अपना पृथक् अस्तित्व जो कि बन्धनरूपमें होता है, उसे भुलाकर परमात्मा के साथ एक हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद् में इसी अवस्था का दिग्दर्शन 'प्रज्ञान घन' आदि शब्दों से किया है।

(५)

अभीतक हमने जो कुछ प्रतिपादित किया है, उसका संक्षेप में सार यह है कि ' यज्ञोपवीत ' शब्द में ' यज्ञ ' पदवाच्य अर्थ ' ब्रह्म-यज्ञ ' अथवा ' आत्मज्ञान ' है। परमात्मा के साथ मनुष्य ऐकात्म्य अनुभव करे, उस के साथ अपने आपको एक (Identified) समझे, यही आत्मज्ञान है। इस ऐकात्म्य का बाह्य स्वरूप यह है, कि सर्वत्र चेतन अथवा अचेतन जगत् में अपने ही आत्माका साक्षात्कार करे, व्यक्तित्वकी तुच्छ भूमिका (सतह) से ऊपर उठकर अपने आपको विश्वव्यापक सार्वत्रिक रूप में अनुभव करे। यज्ञोपवीत धारण करते समय जो सङ्कल्प करना होता है वह यही आत्मज्ञान है।

इस विषय के थोडे अधिक विस्तार में जाएं तो यह भी विचार करना होगा कि यज्ञोपवीत में त्रिगुणित किए हुए तीन तन्तु किस अभिप्राय की ओर सङ्केत करते हैं। शास्त्र में कहा है—

ततः प्रदक्षिणावर्तं समस्य त्रिवसूत्रकम् ।
त्रिरावेष्टय दृढं बध्वा ब्रह्मविष्णवीश्वरान्नमेत् ॥

भावार्थ यह है कि यज्ञोपवीत के ९ तारोंको तीन तीन करके अलग अलग बट लेना चाहिये। बादमें तीनोंको इकट्ठा करके उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कर्ता परमेश्वर का स्मरण करते हुए एक दृढ जोड जिसे ' ब्रह्मग्रन्थि ' कहते हैं, बांधनी चाहिये।

इन तीन और नौ का क्या सम्बन्ध है, अब इसकी विवेचना आरम्भ करते हैं।

संसार सामान्यतः तीन तीन में बटा हुआ है। वैदिक दृष्टि से जिस किसी भी क्षेत्र का पर्यालोचन करें, वह तीन तीन में विभक्त होता दृष्टिगोचर होगा, एवं व्यावहारिक या व्यक्त जगत् का आकार ही त्रैतात्मक है। इस त्रित्व को भिन्न भिन्न दृष्टिकोण के आधारपर निचले कोष्टक में दिखलाया है, कहीं कहीं त्रित्व का समाहार करनेवाले चतुर्थ पदार्थ का भी दिग्दर्शन है–

	दृष्टिकोण ।
जगत्की अवस्थाएं-	सृष्टि, स्थिति, संहार
त्रिदेव-	ब्रह्मा, विष्णु, महेश-शिव

मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति है, यह विचार पाश्चात्य जगत् में भी प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में Microcosm और Macrocosm शब्द इसी भावको सूचित करते हैं। टॉमस कार्लाइल (Thomas Carlyle) ने अपनी पुस्तक 'Heroes and Hero-Worship' में " True Shekinah is man " इस वाक्यको बडे आदर के साथ उद्धृत करते हुए बतलाया है कि वास्तविक परमात्मा मनुष्य ही है।

परमात्मा को यदि कहीं चित्र या मूर्तरूप देखना हो, तो वह हम आदर्श पुरुष में ही देख सकते हैं। परमात्मा के अधीश्वरत्व और शासन कर्तृत्व का मूर्तरूप हम रामायणकालीन संसार के चक्रवर्ति राजा श्रीरामचन्द्र में पा सकते हैं। परमात्मा के नैर्गुण्य और निःसङ्गत्व को हम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तथा महात्मा बुद्ध में उपलब्ध कर सकते हैं। परमात्मा में सब सीमाओं का, सम्पूर्ण उत्कृष्टताओं का अन्त होता है (सा काष्ठा सा परागतिः)। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातूनने उसे Highest Idea कह कर प्रमाणित किया है। दुनिया के सब परिमित पदार्थों में एक परमात्मा की ही विभूति समाई हुई है। जिस किसी स्थलमें कुछ श्रेष्ठता है, वह परमात्मा का अंश है। गीताके दशम अध्याय में ' आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् । ' इत्यादि श्लोकों से इसी बातका प्रतिपादन किया है। प्रभु परमात्मा के अभाव में किसी भी पदार्थ में अस्तित्व, सत्य और प्रकाश का होना सर्वथा असम्भव है। " तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् " इत्यादि शब्दोंद्वारा उपनिषद् बार बार इसी सचाई को उद्घोषित करती है।

अन्त में हम राल्फ वाल्डो इमर्सन नामक प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता के इन शब्दों के साथ इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं—

" If a man is at heart just, then in so far is he God; the safety of God, the immortality of God, the majesty of God, do enter into that man with justice. " (From the address to the graduating class at Divinity College in 1838)

देवियां–	लक्ष्मी, सरस्वती, सती
त्रिविध लक्ष्मी–	रमा, लक्ष्मी, शारदा
त्रिविध सरस्वती–	ऐन्द्री, ब्राह्मी, सरस्वती
त्रिविध सती–	सती, गौरी, पार्वती
वाहन–	हंस गरुड वृषभ
,,	देश, काल, गति
,,	ज्ञान, इच्छा, क्रिया
त्रिविध क्षिति–	पृथिवी, मेदिनी, मही
त्रिविध तेज–	अग्नि, तेज, वह्नि
त्रिविध वायु–	मारुत, पवन, वात
,,	आकाश, चिदाकाश, महाकाश
अन्तःकरण–	मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त
ज्ञान–	सङ्कल्प, विकल्प, अनुकल्प
इच्छा–	आशा, आकाङ्क्षा, कामना
क्रिया–	क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया
संसारप्रक्रिया–	आत्मा, अनात्मा, निषेध, समन्वय
नीति–	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
वैशेषिक–	द्रव्य, गुण, कर्म
,,	सामान्य, विशेष, समवाय
न्याय–	प्रमाण, प्रमेय, संशय, मोक्षसमाहारा
,,	कर्ता, कारण, क्रिया, प्रयोजन
योग–	ज्ञान, वृत्ति, निरोध
सांख्य–	प्रकृति, पुरुष, असङ्ख्येय ब्रह्म
वेदान्त–	जीव, माया, ब्रह्म
काव्यरस–	शृङ्गार, रौद्र, शान्त
आध्यात्मिक–	राग, द्वेष, प्रशम
साहित्य–	उपमान, उपमेय, अनन्य, अतिशयोक्ति
संगीत–	शब्द, प्रतिशब्द, अनुशब्द
,,	ध्वनि, प्रतिध्वनि, अनुध्वनि
कर्मयोग–	प्रवृत्ति, निवृत्ति, अनुवृत्ति
पुराण–	सृष्टि, लय, स्थिति
,,	विकास, सङ्कोच, स्थैर्य
,,	स्पन्द, स्फुरण, स्फुलन
व्याकरण–	स्वर, व्यंजन, विसर्ग-अनुनासिक
,,	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
,,	संज्ञा, धातु, कारक, समास

व्याकरण–	कर्त्ता, कर्म, कारण
,,	प्रथम, मध्यम, उत्तम, पुरुष
,,	भूत, भविष्यत्, वर्तमान
,,	पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसक लिङ्ग
आयुर्वेद–	वात, पित्त, कफ
त्रिगुण–	सत्त्व, रज, तम
,,	रोहित, शुक्ल, कृष्ण
,,	अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा
तीन देवता–	अग्नि, इन्द्र, सूर्य
शारीरिक–	अन्न, अप्, तेज
,,	वाक्, प्राण, मन
धातु–	सुवर्ण, रजत, अयस्
लोक–	पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु
व्याहृति–	भूः, भुवः, स्वः
,,	सत्, चित्, आनन्द
वेद–	ऋग्, यजुः, साम, अथर्व
,,	ज्ञान, कर्म, उपासना
प्रणव–	अ, उ, म्,
नाडी–	इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना
,,	प्राण, अपान, हरस
अवस्था–	जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति
शरीर–	स्थूल, सूक्ष्म, कारण
युग–	सत्, द्वापर, त्रेता
,,	आयु, वर्चस्, ओज
,,	इन्द्रिय, वाक्-प्राण-मन, आत्मा, परमा[illegible]
गुरु–	माता, पिता, आचार्य
ऋण–	मातृऋण, पितृऋण, आचार्यऋण
आश्रम–	ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ
वर्ण–	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र
महावाक्य–	अहब्रह्मास्मि, अहमतद्ब्रह्म स्याम्, नेह नानास्ति किञ्चन

इसी रीतिसे यदि हम त्रिकोंपर ध्यान देते तो हमें प्रत्येक क्षेत्र में, संसार के प्रत्येक विभाग त्रित्व ही त्रित्व दिखाई देगा। साथ में यह भी होगा कि इस त्रित्व के अतिरिक्त एक चतुर्थ भी उपलब्ध होती है। ऊपर हमने जहां जहां

शब्द मिल सके, इस चतुर्थ वस्तु का निर्देश किया है। यज्ञोपवीत के तीन तारों को मिलाने के लिये 'ब्रह्म-ग्रन्थि' नामक जो गांठ लगाई जाती है, वह त्रित्वात्मक संसार के, ब्रह्म में एकात्मभाव को द्योतित करती है। त्रित्व की तीन अवस्थाओं का समन्वय चतुर्थ किंवा तुरीय अवस्था में ब्रह्मग्रन्थि में जाकर होता है। यह तुरीय अवस्था ही पारमार्थिक स्थिति है। व्यावहारिक जगत् में विद्यमान त्रैत इसी की अभिव्यक्ति का फल है। व्यवहार के त्रित्व का विवेकपूर्वक समन्वय करके तुरीय पदार्थ में ऐकात्म्य का साक्षात्कार करना परमार्थ, मोक्ष, निःश्रेयस् या चरम उद्देश्य है। तुरीय की तरफ प्रगति करना ही साधना है।

एक बात और। तीन तीन का यह विभाग स्थूल विभाग है। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेपर ज्ञात होगा कि त्रिकका कोई एक पदार्थ शुद्ध- खालिस- रूपमें नहीं मिलता। उदाहरण के लिये केवल सत्त्व या केवल रज अथवा केवल तम नहीं मिल सकता। सत्त्व, रज और तम जहां भी होंगे, तीनों होंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि केवल सत्त्व ही हो और उसके साथ रज और तमका लेशमात्र भी न हो। हां, इतना तो अवश्य सम्भव है, कि तीनों के एक साथ होते हुए किसी समय सत्त्वका प्राधान्य हो, किसी समय रजका और किसी समय तम का। इस प्रकार त्रिक-का प्रत्येक पदार्थ त्रिविध रूप में प्राप्त होगा। जैसे सत्त्व, रज और तम, इनमें से सत्त्व का—

१. पहला प्रकार वह है जिसमें सत्य स्वयंप्रधान हो, रज तम गौण हों।

२. दूसरा प्रकार वह है जिसमें तम प्रधान हो, सत्त्व, रज गौण हों।

३. तीसरा प्रकार वह है, जिसमें तम प्रधान हो, सत्त्व, रज गौण हों।

इस पद्धति को किसी भी त्रिकके बारेमें लागू किया जा सकता है।

इस विवेचन का परिणाम यह हुआ कि संसार त्रित्वमय है और यह त्रित्व स्वयं भी त्रैतात्मक है— अर्थात् दूसरे शब्दों में संसार नवात्मक है, सब चीजें नौ नौ विभागों में विभक्त हैं। यह नौ ही संक्षेप में तीन कहा जाता है। इन तीन और नौका सम्बन्ध यज्ञोपवीत के तीन और नौ तारोंसे है।

इस प्रसङ्ग में प्रमाण उपस्थित करने के लिये अथर्ववेद के १८ वें काण्डका २७ वां सूक्त विचारणीय है। सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त का देवता लिखा है- "त्रिवृद्देवत्वमुत चान्द्रमसम्"। ऊपर जैसा कहा गया है, इसी भान्ति यहां भी तीन देवताओं को मिलानेवाले तुरीय तत्त्वको 'चन्द्रमा' कहा है। अस्तु। इस सूक्त के पदबन्ध को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लक्ष्य यज्ञोपवीत की ओर है। इसके दो मन्त्र हम यहां उद्धृत करते हैं—

"त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान्। त्रीन्मातरिश्वनस्त्रीन् सूर्यान् गोप्तॄन्कल्पयामि ते।

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः।
त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुः।
तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः।

अर्थ- तीन स्वर्ग, तीन समुद्र, तीन ब्रध्न अर्थात् सूर्यमण्डल, त्रिविध वैष्टप अर्थात् जगत् के पदार्थ, तीन वायु, तीन आदित्य, इन सबको मैं तेरा रक्षक नियत करता हूं।

तीन द्युलोक, तीन पृथिवीलोक, तीन अन्तरिक्ष-लोक, चौथे (तीनों लोकों को मिलानेवाले) तीन समुद्र, तीन प्रकार का स्तोम अर्थात् स्तवन (ज्ञान, कर्म, उपासना), त्रिविध अप् अर्थात् मूलप्रकृति (सत्त्व, रज, तम), ये सब त्रिवृतों से हो कर (नौ नौ हो कर) तेरी रक्षा करें।

यज्ञोपवीत धारण करने की रीतिका विधान करते हुए स्मृति में भी इसी से मिलता जुलता वचन है—

" अलिङ्गकश्च मन्त्रैस्तत्प्रक्षाल्योर्ध्ववृतंत्रिवृत्
ततः प्रदक्षिणमावर्त्य सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् । "

' अप् ' शब्द जिसमें आया है, (आपो हिष्ठा-मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन) ऐसे मन्त्र का उच्चारण करके उस सूत्रका प्रक्षालन करे और फिर सावित्री पढकर उसे तीन गुणा करे ।

यज्ञोपवीत का रचनाप्रकार बतलाते हुए देवलने कहा है—

" सावित्र्या त्रिवृतं कुर्यान्नवसूत्रं तु तद्भवेत् । "

कर्मप्रदीप छन्दोगपरिशिष्ट में लिखा है—

" त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतं ।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते । "

गोभिल गृह्यसूत्र का वचन है—

" यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् । "

स्मृति तथा सूत्रग्रन्थों के उद्धरण देनेका एक मात्र प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है कि इन सब अर्वाचीन वचनों का उल्लिखित सूक्त से ही सम्बन्ध है, ' त्रिवृत् ' ' नवसूत्र ' आदि शब्दों का सादृश्य इस बातका प्रमाण है कि यज्ञोपवीत के त्रिगुणात्मक त्रित्व का मूल साक्षात् वेद में है। वेद में यह त्रिगुणित त्रित्व (३×३) न केवल यज्ञोपवीत को ही लक्ष्य कर के कहा गया है, प्रत्युत इसका विनियोग संसार के समस्त क्षेत्रों में किया गया है । परिणामतः ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञोपवीत के तारों का तीन गुणा तीन होना, त्रिगुणित त्रित्वात्मक संसार का प्रतीक मात्र है । वस्तुतः जगत् का अगर कोई सामासिक रूप है, यदि जगत् की क्रिया को अन्य शब्दों में समझा जा सकता है, तो वह इसी रूप में कि जगत् त्रिवृत् होकर फिर त्रिवृत् है- यानी ३×३ तीन गुणा तीन है । इस के अतिरिक्त इस त्रिगुणित त्रित्वात्मक प्रपञ्चका समाहार करनेवाली एक तुरीय ब्रह्मग्रंथि भी है, जो त्रैगुण्य को अपने अन्दर अन्तर्भूत कर लेती है ।

(६)

इस त्रिगुणित त्रित्वप्रपञ्च को तथा इस समन्वय को अपने अन्दर देखना अनुभव-करना-धारण करना- हो यज्ञोपवीत का प्रयोजन है। यज्ञोपवीत के त्रिगुणित तीन तार त्रिगुणित त्रित्वात्मक प्रपञ्च का उपलक्षण हैं और ब्रह्मग्रन्थि इस प्रपञ्च के समन्वय को बतलानेवाली है। समन्वयात्मक त्रित्वसम्पन्न विश्व को अपने अन्दर कैसे धारण किया जा सकता, यह सब ऊपर पिण्ड-ब्रह्माण्डके प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। मनुष्य अपने अन्दर ही संसार की समस्त प्रक्रिया उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, समाहार को देखने लग जाय, बस। यही धारण करना है । साधारणतया हम समझते हैं कि सृष्टि हमारी अपेक्षा न करके स्वतन्त्र है तथा हमारे से बाहर है और जहांतक हो सके, हमें अपने को संसार की परिस्थितियों के अनुकूल बना लेना चाहिये । अथवा संसार को अपनेसे प्रतिकूल न रहने देना चाहिये । परन्तु यदि इस प्रकार बाह्य जगत् का आश्रय लिया जाय तो यह मार्ग अत्यन्त दीर्घ और कष्टसाध्य मालूम होगा । संसारावस्था ही दुःख-बाहुल्यका कारण है ।

इससे विपरीत सच्चा वैदिक मार्ग यह है, कि हम बाहरसे अन्दर प्रगति न करके उलटा अन्दर से बाहर प्रगति करें। यदि हम अपने अन्तर को खोजेंगे, तो वहीं सब कुछ सिद्ध हो जायगा, बाह्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा। आत्मापर जय होगा तो संसार और माया स्वयं हार खाकर भाग जाएंगा * ।

बाहर जितना त्रिगुणित त्रित्व दृष्टिगोचर होता

* पाश्चात्य और भारतीय पद्धतीयोंका भेद बतलाते हुए प्रसिद्ध विद्वान् P. V. पाठक ने अपनी पुस्तक ' The Heyapaksha of yoga' की भूमिका में लिखा है- ' The Western mind has already tried to approach things externally. Indian mind tries to approach and realise his innermost self, "

है, उसे धारण करनेवाला आत्मा ही है, आत्मा ही उसका मूल स्रोत है, आत्माके जाननेपर शेष सब कुछ आनुषङ्गिक रूपसे जाना जाता है। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, उसका मूलाधार बाहर न होकर आत्मा में ही है। *

इस असली आत्माको पहिचानना, सङ्कीर्ण वैयक्तिक आत्मा से ऊपर उठकर सर्वव्यापक सर्वाधार तथा नित्य एवं उच्चतर परम आत्मा (Higher self or the supremental in shri Aurobindo's words) का अनुभव करना ही मनुष्य का परम ध्येय है। यज्ञोपवीत इसी ध्येय का एक प्रतीक है। यज्ञोपवीत मनुष्य के अन्दर निगूढ विश्वात्मा अथवा पिण्ड ब्रह्माण्ड के एक आत्मा की तरफ इशारा करता है। इस एक-अद्वितीय-अज-अमर-स्वयंभू- आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना ही परम कल्याण और मोक्षसम्पद् है। *

---

* अहं सर्वस्य प्रभवो मत: सर्वं प्रवर्तते। —गीता

तस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

यं वात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति
सर्वांश्च कामानिति। —उपनिषद्

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति। —यजुर्वेद

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्।
सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः।
सर्वमात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः। —मनु

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं
मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड
आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।' —उपनिषद्

* 'यज्ञोपवीत' के लिये हिन्दी में 'जनेऊ' और गुजराती में 'जनोई' शब्द प्रचलित है। ये दोनों शब्द वस्तुतः मूल संस्कृत के ही अपभ्रंश हैं। प्राकृतमें 'यज्ञोपवीत' का बिगडकर 'जण्णोवईअ' रह गया। इस 'जण्णोवईअ' से 'जन्नोवई' और इससे बादमें 'जनोई' और 'जनेऊ' शब्द बन गए।

वेद चार हैं अथवा तीन ?

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

प्रारम्भ सृष्टिसे ईश्वरने चारों वेद, चार ऋषियों द्वारा मनुष्योंको दिए हैं । इसपर कुछ विद्वानोंका कथन है, कि असली वेद तीन ही हैं । अथर्ववेद प्राचीन वेद नहीं । इसका निर्माता बहुत पीछे हुआ है । इस विचारका खण्डन प्रायः सभी विचारके वेदभाष्यकर्ताओंने किया है । तथापि जो लोग वेदका स्वाध्याय कुछ कुछही करते हैं और ऐसोंकीही अधिकता है, इस प्रकारके कुछ लोगोंको भी यह सन्देहसा रहता है कि अथर्ववेद नवीन निर्मिति है । इस प्रकारके विचारकोंको ऐसा भ्रम निम्न हेत्वाभासों अथवा युक्त्याभासोंसे होता है-

(१) सबसे प्रथम कारण वे अथर्ववेद के नवीन होनेमें यह उपस्थित करते हैं, कि अथर्ववेदकी भाषा, और तीनों वेदोंकी भाषासे सरल और वर्तमान संस्कृत से मिलती जुलती है । अतः उनका विचार है कि भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे अथर्ववेद अर्वाचीन प्रतीत होता है ।

भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे अथर्ववेदकी अर्वाचीनता सम्बन्धी विचार केवल अथर्ववेदतक ही सीमित नहीं । पाश्चात्य विचारक सभी वेदों के सम्बन्ध में इस प्रकारके विचार रखते हैं । अतः इस प्रश्नका उत्तर हम पृथक् ही देंगे ।

(२) वेदोंके लिए त्रयी शब्दका प्रयोग होता है और वेद तीन हैं, ऐसा उल्लेख भी आर्षग्रन्थोंमें प्राप्त होता है- यथा

(क) छान्दोग्य ब्राह्मण (६।१७)

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ।
स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् ।

अर्थ- त्रयी विद्याकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई- अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद, आदित्यसे सामवेद ।

(ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।२।२६)

अहे बुध्नियं मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदाः विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि॥ इति

यहां भी तीन वेदोंके जाननेवाले ऋषि, ऐसा कह कर ऋक्, यजु, साम, इस प्रकार इन तीनोंका नाम भी ले लिया है ।

(ग) महाभारत-

(१) अग्निहोत्रं त्रयी विद्या । (१।१००।६६)
(२) न सामऋग्यजुर्वर्णाः । (३।१५०।१३)
(३) कश्चिद्धर्मे त्रयीमूले । (२।५।९२)

इस प्रकार यहां भारतमें भी त्रयी अथवा तीन वेदोंका नाम लिखा गया है ।

(घ) मनुस्मृतिमें भी-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।

वेदको 'त्रयी कहा है और तीनही वेदोंका नाम लिखा है । इससे प्रतीत होता है, कि प्राचीन वेद तीन ही हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद । अथर्ववेद अर्वाचीनही है ।

अथर्ववेद के अर्वाचीन होने में एक और भी युक्ति कही जाती है । और वह यह कि अथर्ववेद में ही कहा गया है कि अथर्ववेद भी वेद है, अन्य किसी वेदमें इस बातका प्रमाण नहीं मिलता । यथा —

यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
(अथर्व० १०-७-२०)

संक्षेपसे इन्हीं युक्तियोंके आधारपर कहा जाता है, कि पुरातन वेद तीनही हैं, चार नहीं। अब इसपर थोडा विचार करेंगे ।

यह ठीक है, कि वेदके लिये त्रयी शब्दका प्रयोग हुआ है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वेद तीन हैं - वेदके मन्त्रोंको और अर्थोंको तीन भागोंमें बांटने के लिये ही वेदको त्रयी कहा गया है। चारों वेदोंके मन्त्र गद्यात्मक, पद्यात्मक और गानात्मक ही हैं। पद्यात्मक भागकाही दूसरा नाम ऋक् है। इस प्रकार का भाग जिसमें अधिक है, उसे ही ऋग्वेद कहा जाता है। गद्यकाही दूसरा नाम यजु है। गद्यात्मक भागके बाहुल्य से यजुर्वेद यह नाम पडा है । गान ही का दूसरा नाम साम है, इसी की अधिकता से सामवेद यह नाम हुआ। क्योंकि चारों वेदोंको स्वरनमतः इन तीन भागोंमें ही विभक्त किया जा सकता है, अतः चारों वेदोंको ऋग्-यजु-सम लक्षण अथवा त्रयी कहा जानेमें कोई हर्ज नहीं। इसलिये जहां त्रयी अथवा त्रय एवं ऋग्-यजु-सामलक्षण इत्यादि शब्द आए हैं वहां उपर्युक्त ही तात्पर्य है। ऋक्-यजु-सामका जो लक्षण हमने उनपर किया है, वह मनमाना नहीं। मीमांसादर्शनमें इनका ऐसाहि अर्थ किया गया है।

(क) तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।
(मी०द० २।१।३२)

अर्थात् जिन मन्त्रोंमें पादव्यवस्था है, जो मन्त्र छन्दोबद्ध हैं, उन्हें ही ऋग् मन्त्र कहा जाता है।

(ख) गीतिषु सामाख्या। (मी०द० २।१।३३)
अर्थात् जो मन्त्र गानात्मक हैं, उन्हें ही साम-मन्त्र कहा जाता है।

(ग) शेषे यजुः शब्दः॥ (मी० द० २।१।३४)
शेष गद्यात्मक भागको हि यजु कहा जाता है।

ऋग्यजुसामलक्षण अथवा त्रयी कहनेका यही तात्पर्य है, ऐसा सर्वानुक्रमणीवृत्तिसे भी ज्ञात होता है-वहां कहा है-

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविध स प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥१॥
अहे बुध्नियमन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ॥२॥

अर्थात् यद्यपि वेद चार हैं तथापि पद्य, गान, और गद्य रूपमें वेदमन्त्रोंका त्रिधा भेद किया जाता है। अतः वेद को त्रयी कहने से यह अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता कि वेद तीन ही हैं।

दूसरी बात जो यह कही जाती है, ब्राह्मणादि ग्रंथों में तीनही वेदों का नाम मिलता है। अथर्ववेद का नहीं यह भी ठीक नहीं। छान्दोग्यादि ब्राह्मणों, महाभारत, मनु इत्यादि प्राचीन ग्रंथोंमें यदि एक स्थानपर यही मिलता है कि वेद तीन हैं तो दूसरे स्थानपर उन्हीं ग्रंथोंमें ही चार वेद हैं, ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

अब क्रमशः हम उन्हें उद्धृत करेंगे—

(क) छान्दोग्य ७।७

ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेद-माथर्वणं चतुर्थम् ॥२॥

इस प्रकार छान्दोग्यमें ही चारों वेदों का उल्लेख है।

(ख) इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी चार वेद हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है।

(ग) ऐसे महाभारतमें भी चारों वेदों का उल्लेख बहुत स्थानोंपर प्राप्त होता है। यथा—

(अ) एकतश्चतुरो वेदान् भारतश्चैतदेकतः।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥१
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा।
तदाप्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
(२।१।२६८।२६९)

अर्थ-प्रथम सब देवोंने मिलकर एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर महाभारतको रखकर तोला और जब चारों वेदों से महाभारत अधिक भारी हुआ तब महाभारत यह नाम पडा। हमें यहां इस अर्थ पर कुछ नहीं लिखना। तात्पर्य इतना ही है कि महाभारत में भी चार वेदों का उल्लेख है।

(आ) यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चाऽऽख्यानमिदं विद्यात् नैव स्यात् सविचक्षणः ॥१॥
(म० भा० १ प० १६८)

इसमें भी चारों वेदोंके नाम हैं।

(इ) त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः। ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा॥२॥
(म० भा० शान्तिपर्व १३५)

इस १ श्लोक में त्रयी शब्द भी है और साथ ही चारों वेदों का नाम भी है। इस से प्रतीत होता है, कि त्रयी का उपर्युक्त विभाजन ही मुख्य अर्थ है।

(घ) इसी प्रकार मनुसंहिता ९।२९में भी अभिचारेषु और कृत्यासु, ये दो शब्द पाए जाते हैं, जिस से मनु को भी अथर्ववेद मान्य है, ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार जहां जहां भी तीन वेदोंका अथवा त्रयी का उल्लेख है, वहां वहां ही अथर्ववेद को वेद कहा गया है। अतः इन दोनों का समन्वय उपर्युक्त प्रकार से ही सम्भव है। ऐसी सङ्गति ही मीमांसा की रीति के अनुसार है।

संगति का और एक प्रकार।

नवीन विचार के पण्डित इस की इस प्रकार से सङ्गति करते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख मिलता है और ब्राह्मण के ग्रन्थों में चार का, अतः इसकी सङ्गति इस प्रकार कालभेद से ही होगी। इसी एक ही पुस्तक में जो तीन और चार वेदों का उल्लेख है, वह भी काल-भेद से है। अर्थात् जिस प्रकरण में ३ वेदों का निर्देश है, वह प्रकरण प्रथम बना है और जिस में चार का निर्देश है, वह पश्चात्। जिस प्रकार छान्दोग्य ब्राह्मण के ६।१७ में तीन वेदों का उल्लेख है और आगे ७।७ में चार वेदों का। और इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों छान्दोग्यादिकों में तीन तीन वेदों का उल्लेख है और उनसे अर्वाचीन बृहदारण्यकादि में चार वेदों का। इस प्रकार के विचारक इस बात को भी प्रमाणत्वेन उपस्थित करते हैं, कि इस अथर्ववेद का निर्माण पाणिनि मुनि के भी पश्चात् हुआ है, क्योंकि पाणिनि ने ऋग्, यजुः, साम का गृहतो किया है परन्तु अथर्ववेद का नहीं। यदि तब तक अथर्ववेद का निर्माण भी हो चुका होता तो पाणिनि उस का भी स्मरण अवश्य करते।

समीक्षा।

परन्तु विचार करने से प्रतीत होगा, कि यह विचार युक्तियुक्त नहीं।

ऊपर सप्रमाण यह स्पष्ट किया गया है कि प्राचीन, अर्वाचीन जिन भी ग्रन्थोंमें तीन वेदोंका उल्लेख है, वहीं अन्यत्र चार का भी है। ऐसे भी कालभेदसे है, यह कथन तो आशामोदक ही है।

'सैषा महतो वंशस्तम्भाल्लाट्वाऽनुकृश्यते'

और जो यह कहा जाता है कि पाणिनिने अथर्ववेद का स्मरण अपने अमर ग्रन्थमें नहीं किया अतः अथर्ववेद उस से भी अर्वाचीन है, यह भी ठीक नहीं। पाणिनि मुनिने 'अथर्वणिकस्यैकलोपश्च।' ४।३।१३३ सूत्र बनाकर यह साक्षात् सूचित किया है कि अथर्ववेद से भी वे परिचित हैं। इसी प्रकार 'छन्दोगौक्थ्य याज्ञवल्क्यनटाञ्ज्य। ४।३।१२९ सूत्र के छन्दोग शब्द से भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

इसी प्रकार 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि।' अ० ४।३।१०६

'तथा शाकलाद्वा।' ४।३।१२८

तथा 'काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां पाणिनिः।' (४।३।१०३)

सूत्रों से परम्परया यह प्रतीत होता है कि पाणिनि मुनि अथर्ववेद से परिचित थे। यतः शौनकादि अथर्ववेदके शाखाकारादिक ही तो हैं।

एक और भी बात है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह माना जाता है कि निरुक्तकार यास्क पाणिनि मुनि से प्राचीन हैं। क्योंकि यास्काचार्यने अथर्ववेद के बहुत मन्त्रों को अपने ग्रन्थ में निगम कह कर उद्धृत किया है। उदाहरण के लिये यथा-

(क) तथाऽपि निगमो भवति यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति। (नि० ५।२।६)

(ख) एकं पादं नोत्खिदेतीत्यदि निगमो भवति (नि० १२।३।१०)

अन्तिम उदाहरण से तो यह भी प्रतीत होता है, कि निघण्टु की रचना से भी पूर्व अथर्ववेद था। यतः यास्काचार्य ने लिखा है कि निघण्टुस्थित 'एकपात्' की मुख्य ऋचा उपर्युक्त अथर्ववेद की ऋचा ही है। और प्रमाणों से यह सिद्ध है, कि निघण्टु के पश्चात् ही ब्राह्मणादि ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। निरुक्त में स्वयं यास्कने इस क्रम का निर्देश किया है-

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च।

(नि० १।६।५)

इस में यास्क ने बताया है,वेदों को स्वपर करने के लिये शाखाप्रवर्तक के पश्चात् निघण्टु का निर्माण हुआ, पश्चात् ब्राह्मणादि ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसी बात को श्री० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन पुस्तक में लिखा है-

'एतस्माच्च श्रुतेः इमानि पञ्च ज्ञायन्ते।'

(१) पुरा कल्पेऽपि मंत्राणामुत्पत्तिरनिर्णीतैवेति प्रथमम्। (२) पूर्वं मन्त्रा विकीर्णा एव स्थिताः ततो ग्रन्थीभूतानामेव तेषामध्ययनाऽध्यापनतः शाखाः समुद्भूताः ततः सर्वशाखागतानां नैघण्टुकादिपदानां सुखं बोधाऽर्थं निघण्टुनामको ग्रथः समाम्नातः ततः तन्मात्रेण मन्त्रार्थज्ञानेऽकृतकृत्यतां संलक्ष्य मन्त्रभागीयदुरवबोधादीनां तात्पर्यादि वेदनाय ब्राह्मणग्रन्थाः समाम्नाताः तत उत्तरं ब्राह्मणग्रन्थैरपि मन्त्रार्थबोधो न पर्याप्त इति निरुक्तादीनि अङ्गानि समाम्नातानीति द्वितीयम् इत्यादि। (नि० अ० प०।२४।२५)

(ष) एवंचैतस्माच्छ्रुतेर्निघंण्टोः खलु ब्राह्मणग्रन्थेभ्योऽपि प्रागाम्नातत्वं सुव्यक्तम्। तादृशसमाम्नायमूलकमतिपुराकालिकत्वं च सुव्यक्तमेव। (नि० आ० पृष्ठ २६)

अर्थ- श्री सामश्रमीजी लिखते हैं कि उपर्युक्त निरुक्त वचनसे निम्न बातोंपर प्रकाश पडता है-

(१) प्रथम- प्राचीन कालमें भी वेदों को अपौरुषेय माना जाता था। (२) द्वितीय- प्रथम मन्त्र बिखरे हुए थे, तब एकत्र करनेपर उनके अध्ययनाऽध्यापन से शाखाएं उत्पन्न हुईं। तब सब शाखाओं के कठिन पदों को सुखपूर्वक जाननेके लिये निघण्टु नामक ग्रन्थ का निर्माण हुआ। परन्तु जब यह प्रतीत होने लगा कि इतने से ही अर्थज्ञान न होगा, तब वैदिक कठिन पदोंके तात्पर्यादि ज्ञानके लिए ब्राह्मणग्रन्थोंका निर्माण किया गया। तत्पश्चात् जब ब्राह्मणोंसे भी अर्थबोध पर्याप्त रूप से न हुआ तब निरुक्तादि वेदाङ्गोंका निर्माण हुआ। इ०

(ख) इस प्रकार इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि निघण्टुका निर्माण ब्राह्मणग्रथों से भी प्राचीन है। और बहुत प्राचीन है। इति

अथर्ववेद और वेद।

अथर्ववेदके अर्वाचीन होनेमें यह भी एक युक्ति बताई जाती है, कि अथर्ववेदके अतिरिक्त अन्य वेदोंमें उसका कोई जिक्र नहीं, परंतु यह भी ठीक नहीं। पुरुषसूक्त चारों वेदोंमें आया है, और उसमें एक मन्त्र है।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचःसामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।

इस मन्त्रमें बताया गया है कि उस ईश्वरसे ही चारों वेदोंकी उत्पत्ति हुई है। इनमें अथर्ववेदका-छन्दोवेदका भी नाम है।

वेद चार ही हैं।

इस प्रकार पूर्वपक्षका उत्तर दे कर हम कुछ स्वपक्ष स्थापन के लिए भी प्रमाण उपस्थित करते हैं-

(१) यज्ञमें चार ऋत्विज होते हैं। होता, उद्गाता ब्रह्मा और अध्वर्यु। इन चारोंके कारण चारों वेदोंका भी नाम इस प्रकार हो गया है।

होतृवेद=ऋग्वेद। उद्गातृवेद=सामवेद। ब्रह्मवेद= अथर्ववेद। अध्वर्युवेद= यजुर्वेद।

इसीलिए गोपथब्राह्मणमें अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा गया है-

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।

इसी प्रकार अन्यत्र भी ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है-

ऋग्वेदेन होता करोति यजुर्वेदनाऽध्वर्यु-सामवेदेनोद्गाता अथर्वैर्वा ब्रह्मा।

इसी प्रकार गोपथमें लिखा है। 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' इत्यादि।

इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञमें ब्रह्माकी भी आवश्यकता है और उसके वेद अथर्व की भी। प्रत्युत यज्ञमें अथर्ववेदकी सबसे अधिक आवश्यकता है। उसमें निम्न प्रमाण हैं-

छान्दोग्य ब्राह्मण में कहा है-

एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाता चाऽन्यतराम्॥

इसपर सायण ने लिखा है—

कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसन्धेयः वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति ब्रह्मा त्वेक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

अर्थ- सारे यज्ञको प्रमादरहित बनाने के लिए उसका मन से मनन करना आवश्यक है और साथ ही वाणी से वेदोंके मंत्रोंको पढना भी। इन दोनों मार्गोंमेंसे वाग्रूप मार्ग को तो होता आदि तीनों मिलकर शुद्ध करते हैं, दूसरे मन-रूप-मार्ग को अकेला ब्रह्मा शुद्ध करता है। अतः ब्रह्मा की और ऋत्विजों से विशेषता है और उसके कारण उस के वेद की भी अधिक उपयोगिता है।

(क) ब्रह्मा की विशेषता गोपथब्राह्मण १-२-२५ में कही है-

'ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्योऽन्यूनाऽतिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति तस्य प्रमादाद् यदि वाऽप्यसान्निध्यात् यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत् इत्यादि। तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरो विदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात् स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्।'

(ख) छान्दोग्य ब्रा० ५।१७।८ में भी-

भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवं विद् ब्रह्मा भवति॥

अर्थात् यज्ञ रोगादि निवृत्तिके लिए ही किया जाता है, अतः अथर्ववेदी ब्रह्माकी यज्ञमें प्रधानता है। अतः आयुर्वेदका अधिक वर्णन, अथर्ववेदमें ही है।

(२) ऋग्वेद और अथर्ववेदके निम्न मन्त्रों से प्रतीत होता है कि यज्ञ में अथर्ववेद का प्राधान्य है-

(क) यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते। (ऋ० १।८३।५)

(ख) अग्निर्जातो अथर्वणा॥ (ऋ० ७।७।४)

(ग) त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। (ऋ० ४।५।२३।)

(घ) अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं
पितुरसुं युवानम् । स इमं यज्ञं मनसा
चिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥
(अथर्व० ७।१।२)

इस से भी प्रतीत होता है कि यज्ञ में अथर्ववेद का प्राधान्य है। अतः अथर्ववेद अर्वाचीन नहीं।

(३) प्राचीन ग्रन्थों में- सभी में- अथर्ववेदका भी नाम मिलता है- कुछ ऊपर उदाहरण दिए गए हैं। संक्षेपसे कुछ के और भी देते हैं।

(क) मुण्डकोपनिषत्—
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वण इति ।

(ख) तापनीयोपनिषत्-
ऋग्यजुःसामाऽथर्वाणश्चत्वारो वेदाः।
साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति। इति ।

(ग) बृहदारण्यकोपनिषत्-
अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाऽङ्गिरसः।

इनपर मीमांसादर्शन के सूत्र उद्धृत करते हुए बताया गया है कि त्रयी शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। वहां मीमांसादर्शन में भी जहां ऋग् यजुः साम का लक्षण किया है, वहां चतुर्थ वेद अथर्ववेदका लक्षण भी इस प्रकार किया है।

'निगदो वा चतुर्थं स्याद् धर्मविशेषात् ॥

इस से प्रतीत होता है कि अथर्ववेद भी वेद है ऐसा जैमिनि ऋषिका मत है।

सायण।

त्रयी शब्द का अर्थ अवान्तर भेदही है। वेदोंकी तीन संख्या नहीं. इसको सायण ने भी ऋग्भाष्य-भूमिका में इस प्रकार लिखा है-

एतमेव मन्त्राऽवान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानां
ऋग्वदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं
सम्पन्नमिति ॥

अर्थात् इसी गद्य-पद्य-गानात्मक विशेषता से ही वदों के तीन भेद हो गए हैं।

अर्थगत त्रैविध्य।

इस प्रकार अर्थगत त्रैविध्य से भी वेदों को त्रयी विद्या कहा जाता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। वे तीन अर्थ हैं।

(१) ज्ञान। (२) कर्म। (३) उपासना।

वस्तुतः वेद चार ही हैं। और चारों ही अनादि कालसे चले आते हैं।

इति शम्।

वेदोत्पत्ति-मीमांसा ।

(लेखक- चौ० रामपालसिंह तेवतिया, बी. ए., एल. टी., विशारद,
अध्यापक जाट कालेज, लखावटी, बुलन्दशहर, यू० पी०)

आरम्भ में ही स्वाभाविक रूपेण यह प्रश्न होता है, कि ' वेद ' क्या है ? उत्तर में निवेदन है कि देशकालस्थिति के अनुसार वेद शब्द के अनेक अर्थ हैं और सब के सब सत्य अर्थ हैं । वेद शब्द का मुख्यार्थ है ज्ञान, विज्ञान, अर्थात् साइंस । जिस अर्थ को आजकल हम साइंस (Science) अथवा विज्ञान शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं, ठीक उसी अर्थ को वैदिक काल में साइंस के पर्यायवाची शब्द 'वेद' से व्यक्त करते थे, अर्थात् मैं साइंस (Science) शब्द का सही पर्यायवाची शब्द संस्कृत भाषा में ' वेद ' शब्द को मानता हूं । जिस को हम आजकल (Natural Sciences) कहते हैं, उसी को ईश्वरीय ज्ञान अथवा वेद कहते थे । ईश्वरीय का तात्पर्य केवल ' Natural ' है ।

अब जिस प्रकार Science शब्दसे Natural Science, mental, moral, physical, medical, agricultural, economical, metaphysical, etc. Sciences व्यक्त होती हैं, इसी प्रकार वैदिक काल में भी ये सब विज्ञान ' वेद ' शब्द द्वारा व्यक्त होते थे । इसी लिये तो सब प्रकार के विज्ञानों तथा कलाकौशलों के बीजरूपेण मन्त्र (Ideas) जिन ऋग्, यजुः, साम, अथर्व संज्ञक चार संहिताओं में हैं, उन मन्त्रभाग संहिताओंका इतना मान है, कि उन्हें लोग नित्य और ईश्वरकृत कहते और मानते हैं । जैसे आजकल लोग साइंस के दृढ विश्वासी हैं, वैसे ही पहले वेद के दृढ विश्वासी थे । जो दृष्टिकोण हमारी आजकल साइंस के प्रति है, सो ही वेद के प्रति थी।

वेद शब्द की सिद्धि विद्- ज्ञाने, विचारणे, सत्तायाम्, चेतनाख्याननिवासेषु, तथा विद्लृ-लाभे, इ[न] पांच धातुओं से करण और अधिकरण कारक [में] घञ् प्रत्यय करने से होती है । वेद शब्द के अन्[दर] सागर गागर में भरा हुआ है । वेदरूपी यथार्थ ज्ञा[न] अर्थात् विज्ञान का भी प्रारम्भ उसी समय से हो[ने] लगा था, जब से मानवसृष्टि होने लगी थी। पह[ले] पहल वेद शब्द उस रहस्यज्ञान के लिये प्रवृत्त हुआ जो धर्म के सम्बन्ध में दिव्य ऋषियों पर प्रकाशि[त] हुआ । और वह रहस्यज्ञान (साइंस Science) जिन चार संहिताओं में है, उन्हें भी वेद कहते हैं यद्यपि आयुर्वेद (medical Science), धनुर्वे[द] (military Science) इत्यादि रूप से वेद श[ब्द] अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है, तो भी वेद शब्द [का] रूढार्थ ऋग् आदि चार संहिता (Volumes) [ही] होता है । अकेला वेद शब्द इन्हीं चारों प्राचीनत[म] विज्ञान पुस्तकों के लिये बोला जाता है । इसी लि[ये] गणित में वेद शब्द चार की संख्या का वाचक हो[ता] है ।

जिस प्रकार हम आजकल Science [और] Sciences शब्दों को एकवचन तथा बहुवचन [में] प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार पहले ज्ञान वा विज्ञा[न] अर्थ में वेद शब्द को एकवचन में तथा बहुवचन [में] प्रयोग किया करते थे और पुस्तक तथा विशे[ष] संहिताओंके अर्थ में प्रयोग किया करते थे और ऋग्, यजुः, साम, अथर्व विभागरूपी मन्त्रसंहि[ताएं] ही विज्ञानपुस्तक मानी जाती थीं । इन्हीं के आ[धार] पर अन्य व्याख्यानरूपी ब्राह्मण, आरण्यक, उपनि[षद्] दर्शन आदि पुस्तकें प्रणीत हुई हैं । वेदोंकी गद्यप[द्य]रूपात्मक रचना मन्त्र कहलाती है ।

मन्त्र का तात्पर्यार्थ है विचारात्मक वाक्य।
(Judgement)

मैं यह मानता हूं, कि ज्ञान और भाषा दोनों का आधार कोई दैवी शक्ति नहीं है, किन्तु दोनों के भौतिक और मानसिक आधार हैं। मानसिक आधार को जीवात्मा की शक्तियां कह सकते हैं और भौतिक आधार को ईश्वरप्रदत्त शक्तियां मान सकते हैं। ज्ञान तथा भाषा दोनों में ही सौर मण्डल की भान्ति तथा जंगम्, स्थावर प्राणियों की तरह से क्रमिक विकास हुआ है। वेदमन्त्रों पर लिखे ऋषि ही वे देव्य ऋषि हैं, जिन्होंने धर्म को साक्षात् करके मन्त्र बनाये।

अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा केवल चार ही देव्य ऋषि नहीं हैं, यह तो केवल चार जातिवाचक नाम उन चार प्रकारके ऋषियोंके लिये प्रयुक्त हुये हैं, जो चार वेदों के चार मुख्य विषयों के अन्वेषक थे। यूं तो मुख्य वैदिक देवता तीन ही हैं, अग्नि, वायु, आदित्य, जिनके विज्ञान से, क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद रचे गये। चौथी देवता जल अथवा चन्द्रमा माना गया है, जिस के ओषधिरूप विज्ञान से अथर्ववेद रचा गया है। अग्नि, वायु, आदित्य के विज्ञानों को जाननेसे ऋषि लोग भी अग्नि वायु आदित्य नाम से पुकारे जा सकते हैं। चाहे वे मुख्यतया प्रथम के तीन हों वा तीन से अधिक। आंगिरस वा ओषधि को जाननेवाले ऋषि वा ऋषियों को अंगिरा कह सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चार देवता अर्थात विषयों को प्रथम अन्वेषण करनेवाले ऋषियों को उन्हीं नामों से पुकारा जा सकता है और वे चार से कहीं अधिक थे, किन्तु वैसे चार ही प्रकारके कह जा सकते हैं। गोपा, अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा चार प्रकार उपाधियां थीं। जिन ऋषियोंने अग्निसम्बन्धी विज्ञानों का अन्वेषण किया, उन को अग्नि ऋषि कहा जाता है, जिन्होंने प्रायः ऋग्वेद के मन्त्र रचे। इसी प्रकार जिन्होंने वायु, आदित्य और जल वा ओषधि सम्बन्धी विज्ञानों का अन्वेषण कर के क्रम से यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद रचे, वे इन इन उपाधियोंको प्राप्त हुए। ये ऋषिलोग सृष्टि की आदि में नहीं हुये, किन्तु लाखों वर्ष बाद हुये। इस में किसी प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं, ये तो साधारण की बातें हैं। न शब्द नित्य हैं, न मन्त्र-नित्य हैं, ये सब प्रवाह से तो नित्य हो सकते हैं, किन्तु स्वरूपसे नहीं। मन्त्रोपरि लिखित ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा तथा मन्त्रों के कर्ता हैं।

आज के दिन वैज्ञानिक युग में यह मानना, कि मन्त्र ज्यों के त्यों हृदयों में उतरे तथा नित्य हैं, महज हिमाकत है और प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। शब्द अर्थसम्बन्ध नित्य नहीं, हां, इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है, सांकेतिक तथा स्थायी हैं। वेदों में इतिहास भी खूब है। हठधर्मी से चाहे कोई मानो ना। वेद ऐतिहासिक वस्तु हैं। मैं वेदों को Encyclopaedia Universalia अर्थात् विश्वकोष कहा करता हूं, तथा बीजरूपेण विभिन्न विज्ञानों तथा कलाकौशलोंका भंडार वेदोंको मानता हूं। किन्तु यह सब कुछ मानवकृति ही हैं और ऋषियों के अन्वेषण तथा आविष्कार हैं, किसी दैवी शक्ति का चमत्कार नहीं। ईश्वर-जीवप्रकृति की नित्यता पर इस में कुछ हरफ नहीं आता। कोई धार्मिक पुस्तक भी आस्मानी नहीं सिद्ध हो सकती। सब मनुष्यों की रचना यें है।

स्वामी दयानन्दने जो कुछ कहा है वा लिखा है, वह उनके समयके अनुकूल था, तथा वैदिक साहित्य से अनुमोदित था और उनकी बुद्धि के अनुसार था, किन्तु अब हम और जगह हैं। हमारी विद्या, बुद्धि, समय, स्थिति सब कुछ उन्नत दशामें है। लकीर के फकीर होने को तो स्वामीजीने भी मना किया है। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है, इसके समर्थन में इतने प्रमाण मेरे पास हैं कि मैंने उकता कर तथा समय-अभाव के कारण एक भी प्रमाण लिखा नहीं। बुद्धिमान स्वयं समझ सकते हैं। इत्योमलम् ॥

[इस लेखको पूर्वपक्ष मान कर यदि कोई विद्वान् उत्तरपक्ष लिखकर भेजेंगे तो उनका लेख भी प्रकाशित किया जायगा।

—सम्पादक]

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय औंध,

वैदिक धर्म।

फाल्गुन १८५९, मार्च १९३८
वर्ष १९, अङ्क ३

ॐ

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वर्ष १९] फाल्गुन १८५९, मार्च १९३८ [अङ्क ३

वार्षिक मूल्य म. आ. से. ५) रु.
,, ,, वी. पी. से. ५।।) रु.
,, ,, विदेशके लिये ६।।) रु.

क्रमांक २१९

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है।]

वैदिक धर्म ।

वर्ष १९] [अंक ३ वा

विषयानुक्रमणिका

वर्ष १९
अंक ३
क्रमांक २१९

धर्म

फाल्गुन
संवत् १९९४
मार्च
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

शुद्ध भाषण।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

(ऋ० १० । ७१ । २)

"जहां (धीराः) बुद्धिमान् लोग छननीसे सत्तु शुद्ध करनेके समान मनसे पवित्र किया हुआ (वाचं अक्रत) भाषण करते हैं, वहांही मित्र मित्रोंको पहचान सकते हैं। इनही लोगोंके (अधि वाचि) वाणी के अन्दर (भद्रा लक्ष्मीः) कल्याणकारक लक्ष्मी (निहिता) निवास करती है।"

मनुष्योंको उचित है कि वे मनसे शुद्ध भाषण करें। कभी किसीभी प्रलोभनमें आकर अशुद्ध भाषण न करें। क्यों कि एक समय प्रलोभन से गिरकर अशुद्ध भाषण करनेका अभ्यास हुआ तो फिर मित्र मित्रकी भी पर्वाह नहीं करेगा और लोग स्वार्थसे अंधे बनेंगे। जो निर्दोष भाषण करते हैं उनके ही भाषण में कल्याणमयी लक्ष्मी सदा निवास करती है।

वैदिक सूक्तोंके ऋषि।

जो लोग वैदिक सूक्तों के ऋषि, देवता और छन्दोंका ज्ञान किये विनाही वेद-मंत्रोंका विचार करने लगते हैं और अपने मनके अनुकूलहि मनमाना अर्थ करते जाते हैं वे 'वेद-कंटक' हैं अर्थात् वे वेद-मंत्रोंको कांटोंके समान चुभते रहते हैं। पाठक इस बातका विचार करें और सोचें कि आजकल क्या चल रहा है। कात्यायन मुनि कहते हैं—

०ऋषिदैवतछन्दांस्यनुक्रमिष्यामो यथोपदेशं।
न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः।

(ऋग्वेद–सर्वानुक्रमणी १)

" जैसा कि प्राचीन ऋषियोंका उपदेश होता आया है तदनुसार हम मंत्रोंके ऋषि देवता और छन्द दर्शाते हैं, क्यों कि इस ज्ञानके विना श्रुति और स्मृति के द्वारा बतायें कर्मोंकी सिद्धि नहीं हो सकती।" इसलिये मंत्रोंके ऋषिदेवताछन्द जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है। यदि ऋषि, देवता और छंद निश्चित नहीं हैं तो उनको जानना कैसे? पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कहते हैं कि मंत्रोंके ऋषि और देवता निश्चित नहीं होते। यह एक नयीहि बात है। श्री शौनकाचार्य, कात्यायन, यास्काचार्य आदि सब ही मानते थे कि वेदोंके ऋषि, देवता, छंद निश्चित हैं। इसीलिये इन श्रेष्ठ पुरुषोंने ऋषि देवता दर्शानेवाले ग्रंथ लिखे। यदि ऋषि देवता निश्चित ही नहीं हैं तो उनके विषयमें लिखनेवाला क्या लिखे? परंतु इस समयतक ऋषियोंके अनेक ग्रंथ हैं जिनसे वेद–मंत्रोंके फलाने ऋषि देवता हैं, ऐसा जाना जाता है। परंतु पं० ब्रह्मदत्तजीका नया ही आविष्कार है कि वेदमंत्रोंके ऋषि देवता भाष्यकारके मतके अनुसार बदले जाते हैं। आजतक ऐसा बोलनेका साहस किसीनेभी नहीं किया। इसलिये हमें इस वियषमें कुछ लेख लिखनेकी आवश्यकता उत्पन्न हुई है।

श्री शौनकाचार्य की बृहद्देवता है और उसके शिष्य कात्यायन की ऋग्वेद–सर्वानुक्रमणी है। दोनों ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक हैं। उसका वचन ऊपर उद्धृत किया है। इसकी टीकामें जो कि षड्गुरुशिष्यने वेदार्थदीपिका नामक लिखी है, उसमें इसी विषयके और भी प्रमाणवचन दिये हैं—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्याजयेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥
ऋषिछन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥
स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्राविनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥
मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणानृषीन्।
कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्तो यागकण्टकाः॥

(षड्गुरु-टीकामें प्राचीन ग्रंथोंसे उद्धृत)

" वेद–मंत्रोंके ऋषि, देवता, छन्द, मंत्रोंका विनियोग, निरुक्त, पदोंका व्याकरण, स्वर (उदात्तादि), वर्ण अक्षर मात्रा का महत्त्व, आदि जानकर जो विद्वान् वैदिक कर्म करते हैं वे योग्य करते हैं। परंतु जो लोग इनको यथावत् न जानकर मंत्रोंको बोलकर यजनादिक किया करते हैं, वे 'मन्त्र-कण्टक' हैं।"

ऋषि देवता छन्द आदि न जाननेसे मनुष्य मंत्रकण्टक होता है, इसलिये मंत्रोंके ऋषि देवता छन्द वेदोंके पुस्तकोंमें शुद्ध छापने चाहिये। जिन पुस्तकों में इनके विषयमें अशुद्धियां हैं उनका निषेध होना चाहिये और अत्यंत शुद्ध वेदके पुस्तक छापनेके विषयमें जितना चाहे उतना व्यय करें ऐसे पुस्तक छापने चाहियें कि जिनमें एक भी अशुद्धि न हो।

स्वाध्यायमंडल में जो वेदोंका मुद्रण हो रहा है वह ऐसाही हो रहा है। इनमें एकभी अशुद्धि न रहे ऐसा प्रबंध किया जा रहा है। जिस पृष्ठपर कोई अशुद्धि मिलती है वह विना रोकटोकके फौरन शुद्ध की जाती है। स्वा० मं० ने ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं। इनमें जो विद्वान् अशुद्धि निकालेंगे उनको फी अशुद्धि एक रु. ईनाम दिया जायगा। इस तरह किसीने अशुद्धियां दर्शायीं तो उनको पारितोषिक प्राप्त होगा और ग्रंथ शुद्ध होगा। इस तरह शुद्ध करके पत्थरके इसके ब्लाक बनायेंगे जिससे फिर कभी अशुद्ध छापनेका भय रहेगा ही नहीं।

जब हमने वेदोंका संशोधन करना आरंभ किया, तब हमें पता लगा कि अजमेर-मुद्रित वेदोंमें ऋषि, देवता, छंद, पद, पदच्छेद, स्वर, ह्रस्वदीर्घ, मंत्रोंकी गिनती की अनेकानेक अशुद्धियां हैं। हमने यह बात अजमेरके वैदिक यंत्रालयके प्रबंधकर्ताको पत्रद्वारा सूचित की और हमारे प्रूफ भी उनके पास भेजे और लिख दिया कि यदि आप सब व्यय देंगे तो हम आपको- अर्थात् वैदिक यन्त्रालयको शुद्ध वेदोंके ब्लाक बनाकर देंगे, जिससे वेहि शुद्ध वेद छापें और बेचते रहें क्योंकि उनके पासका धन इसी कार्यके लिये है।

हमारे पत्रके उत्तरमें वैदिक यंत्रालयके प्रबंधकर्ताजीने लिखा कि यह कार्य 'परोपकारिणी सभा अजमेर'के आधीन है। इस कारण हमने रा. ब. हरविलास शारदा, परोपकारिणी सभाके प्रधान प्रबंधकर्ताजीको लिखा, प्रूफ भेजे और हम आपको सब ब्लाक देनेको तैयार हैं, क्योंकि आपकी परोपकारिणी सभा का धन इसी कार्यके लिये है। हम मेहेनत करेंगे, व्यय आप करें और ब्लाक तैयार होनेपर वे वैदिक यंत्रालयको देकर वे छापते रहें। इस तरह शुद्ध वेद सर्वत्र सबको प्राप्त होंगे और सस्तेभी दिये जांयगे।'

परोपकारिणी सभाका उत्तर आया कि 'हमारी सभा सालभरमें नवंबरमें एक समय लगती है उस समय आपका यह शुद्ध वेदोंका विषय रखेंगे।' हमने फिर पूछा कि 'हम आपको एक पृष्ठका नमूनेके लिये एक ब्लाक भेजते हैं और शुद्ध वेदके नमूना-पृष्ठभी भेजते हैं, जिनको आप परोपकारिणी सभाके अधिवेशनमें रखिये और जो निश्चय होगा सूचित करिये'। आपने नमूनेका ब्लाक और नमूना पृष्ठ भेजनेका भी विरोध किया और वे मंगवाये नहीं। उनकी इसमें कोई हानि नहीं थी।

गत नवंबर मासमें उनका अधिवेशन हुआ ही होगा, और उसमें शुद्ध वेदका प्रस्ताव आया ही होगा, परंतु हमें कोई वृत्तांत उनसे मालूम नहीं हुआ। आगे जाकर हमें मेरट में विदित हुआ कि पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुजी महाराज की इस विषयमें सलाह श्रीमती परोपकारिणी सभामें ली गयी और पं० ब्रह्मदत्तजीने वहां कहा कि जो वेद वैदिक यंत्रालयमें छपे हैं वेही शुद्ध हैं और उनको छोडकर नयी रीतिसे शुद्ध वेद छापनेका कोई प्रयोजन नहीं है। धन्य है पं० ब्रह्मदत्तजी की जो इतनी अशुद्धियां होते हुए उस अशुद्ध पुस्तकको शुद्ध कह देनेका साहस कर रहे हैं और जो शुद्ध ग्रंथ तैयार हो रहा है उसका विरोध कर रहे हैं। सच्चा विद्वान ऐसा कभी नहीं करेगा।

इतना पक्षपात होनेके कारण हमें अब बताना पडा है कि अजमेरके वेदोंमें ऋषि- देवता- छंद- पद- पदच्छेद, स्वर आदिकी कितनी अशुद्धियां हैं और इन अशुद्धियोंको रखनेसे और शुद्ध वेदोंका मुद्रण न करनेसे कितना अनर्थ होनेका संभव है।

इस लेखमें हम बतायेंगे कि अजमेरके ऋग्वेदमें ऋषियों की अशुद्धियां कितनी हैं-

ऋग्वेद प्रथम मण्डल।

अजमेर वैदिक यन्त्रालयके ऋग्वेदके पहिले दस सूक्तोंका ऋषि '**मधुच्छन्दा**' लिखा है जहां '**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**' ऐसा चाहिये। दसों सूक्तोंमें यह अशुद्धि हुई है। मधुच्छन्दा अनेक होंगे, उनमें कौनसे मधुच्छन्दाका संबंध इन दस सूक्तोंके साथ है, यह गोत्र या पितृनामसेहि निश्चित होता है। जैसा म० शोभानन्द कहनेसे अनेक शोभानन्दोंका ज्ञान होता है, परंतु शोभानन्द लालचन्द-पुत्र इतना कहनेसे एकही निश्चित व्यक्तिका बोध होता है। अतः यहां '**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**' ऐसाही कहना चाहिये। इसकी अनुक्रमणिका ऐसी है—

अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ॥१३॥

यहां मधुच्छन्दाको विश्वामित्र-पुत्र बताया है। परंतु यह स्पष्ट होते हुएभी अजमेरमें गोत्रनाम हटाया गया है।

ग्यारहवें सूक्तका ऋषि '**जेता माधुच्छन्दसः**' और १२ सूक्तसे २३ वें सूक्तकके १२ सूक्तोंका '**मेधातिथिः काण्वः**' ऐसा लिखा है। आगे २४ से ३० तकके ७ सूक्तोंका '**शुनःशेप आजीगर्तिः स कृत्रिमो देवरातो वैश्वामित्रः**' लिखा है, उसके आगे सूक्त ३१ से ३५ तकके ५ सूक्तोंका '**हिरण्यस्तूप आंगिरसः**' लिखा है। यहां तक ३५ सूक्तोंके चार ऋषि उनके गोत्र नामोंके साथ दिये हैं। फिर पहिले १० ही मंत्रोंके ऋषिका गोत्रनाम क्यों नहीं दिया? यदि गोत्रनाम नहीं देना है, तो सर्वत्र नहीं देना। यदि देना है तो सर्वत्र देना चाहिये। एक स्थानपर एक और दूसरे स्थानपर दूसरा लिखनेसे विचारकोंको संदेह होता है।

आगे ३६ वें सूक्तमें केवल '**घौरः**' ऐसाही गोत्र-नम

लिखा है और ऋषिका नाम दियाहि नहीं !! यहां ' **कण्वो घौरः** ' ऐसा होना चाहिये, क्योंकि इसका ऋषि ' **कण्व** ' है और ' **घौर** ' उसका वंशनाम है । एक स्थानपर ऋषिका नाम देना और उसका गोत्र न देना, दूसरे स्थानपर ऋषि-नामही न देते हुए केवल गोत्रही देना, यह अनर्थ है । क्या इसको पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ठीक और शुद्ध समझते हैं? और यदि यह शुद्ध है, तो अशुद्धि किस बलाका नाम होता है ?

आगे सू० ३७ से ४३ तक ' **कण्वो घौरः** ' ऐसा शुद्ध-ही छापा है । परंतु ४५ वें सूक्तका ऋषि '**प्रस्कण्वः**' लिखा है । यहां फिर इसका वंशनाम छोड दिया है । यहां '**प्रस्कण्वः काण्वः**' ऐसा चाहिये, जो आगे लिखाभी है । फिर वही ४५ वें सूक्तमें क्यों नहीं लिखा ?

आगे ६५ वें सूक्तमें केवल ' **पराशरः** ' ऐसा लिखा है। यहां '**पराशरः शाक्त्यः**' ऐसा लिखना चाहिये । यहां सूक्त ६६ से ६९ तक ठीक लिखकर फिर सूक्त ७० से ७३ तकके ४ सूक्तोंमें गोत्रहीन '**पराशरः**' लिखा है । जहां ' **पराशरः शाक्त्यः** ' ऐसा होना आवश्यक है। पराशर शाक्त्यके देखे सूक्त ९ हैं, इनमें ४ सूक्तोंमें ठीक नाम लिखना और शेष ५ सूक्तोंमें न लिखना, यह किस तरह ठीक सिद्ध हो सकता है ?

आगे ८७ वें सूक्तमें '**गोतमो राहूगणपुत्रः**' ऐसा लिखा है । शेष १९ सूक्तोंमें '**गोतमो राहूगणः**' ऐसा ठीक लिखा है । २० सूक्तोंमेंसे १९ सूक्तोंमें एक ठीक पद्धतिसे नाम लिखना और बीचहीमें कोई कारण न होते हुए एकही सूक्तमें दूसराही नाम लिखना क्या यह योग्य है ? क्या इससे विचारकोंमें संदेह उत्पन्न नहीं हो सकता ? क्या ८७ वें सूक्तकाही गोतम राहूगणपुत्र है और अन्य सूक्तोंके कौन हैं ? इसी तरह ९९ वें सूक्तमें '**कश्यपो मरीचिपुत्रः**' लिखा है, वहां '**कश्यपो मारीचः**' ऐसा चाहिये ।

आगे ११६ वें सूक्तमें '**कक्षीवान्**' इतनाही लिखा है, वहां '**कक्षीवान् औशिजो दैर्घतमसः**' ऐसा चाहिये । यहां पाठक विचारपूर्वक देखें कि यहां जानबूझकर दो गोत्र-नाम दिये हैं, क्योंकि अनेक कक्षीवान् ऋषि हैं उनमेंसे निश्चित ऋषिका ज्ञान होनेके लिये यहां एक गोत्रसे कार्य नहीं होता, अतः दो गोत्र यहां लिखे हैं। ऋषि तो ऋषि-निश्चयके लिये इतना परिश्रम करते हैं, परंतु वैदिक यंत्रालय वाले उसकी कोई पर्वाह नहीं करते । यही अशुद्धियोंका सिलसिला १२६ सूक्ततक ऐसाही चल रहा है । किसी स्थान केवल '**कक्षीवान्**' किसी सूक्तपर '**औशिजः कक्षीवान्**' किसी जगह '**औशिक्पुत्रः कक्षीवान्**' किसी सूक्त 'कक्षीवान् दैर्घतमसः, दीर्घतमसपुत्रः कक्षीवान्' ऐसा जिस समय मनमें आया वह वहां छापा है । इन ११ सूक्तों सर्वत्र '**कक्षीवान् औशिजो दैर्घतमसः**' ऐसाही है चाहिये । परंतु यहां एकभी सूक्तमें ठीक लिखा नहीं है ।

आगे सूक्त १४० से १६४ तकके २५ सूक्तोंका ऋ '**दीर्घतमाः**' ऐसा लिखा है, वहां '**दीर्घतमा औचथ्यः**' ऐसा होना चाहिये । आगे सूक्त १६५ से १९१ तकके सूक्तोंका '**अगस्त्य**' ऋषि लिखा है, जहां '**अगस्त्यो मैत्रावरुणः**' ऐसा होना चाहिये । केवल १६६ वे सूक्त '**मैत्रावरुणोऽगस्त्यः**' ऐसा एकही जगह ठीक है । शेष एकभी सूक्तमें अगस्त्यका गोत्र नहीं लिखा । इससे विचारको यह आशंका हो सकती है कि यह १६६ वें सूक्त अगस्त्य भिन्न है और शेष सूक्तोंका भिन्न है । इस शंका निवृत्ति करनेका साधन यहां कोई न देना यह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है ।

सूक्त १६५ में '**इन्द्र**' और '**मरुतः**' ये दो ऋषि हैं, उनके नामतक दिये नहीं है । १, २, ४, ६, ८, १० इन मंत्रोंका ऋषि '**इन्द्र**' है, ३, ५, ७, ९ इन मंत्रोंका '**मरुतः**' ऋषि हैं और केवल १३-१५ इन तीन मंत्रोंका '**अगस्त्यो मैत्रावरुणः**' है । परंतु वै० यंत्रालयके छापे '**अगस्त्यः**' ही लिखा है । केवल अगस्त्य ऋषि मान और इन्द्र और मरुत् ऋषियोंका विचार न करनेसे सूक्तका अर्थभी नहीं हो सकता है । परंतु ऐसाही यहां किया गया है ।

इस प्रथम मंडलमें कुल सूक्त १९१ हैं, इनमें ८२ सू ऋषिनाम देनेमें अशुद्धियां जो हुई हैं उनका निर्देश किया है, और केवल १६५ वें सूक्तके दो ऋषियोंका नाम न देना यह तो एक विलक्षणही बात है । इसलिये मंडलमें ८४ अशुद्धियां हैं ।

द्वितीय मंडल ।

अजमेरके ऋग्वेदसे द्वितीय मंडल के अन्दर द्वितीय

तृतीय सूक्तका ऋषि **'गृत्समद'** है, वहां **'गृत्समदः शौनकः'** ऐसा चाहिये। प्रथम सूक्त के ऋषिनाम में भी **'आंगिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः'** इतना लिखा है, उसमें **'शौनकः'** इतना अधिक होना चाहिये। अर्थात् यहां **'गृत्समदः शौनक आंगिरसः शौनहोत्रो भार्गवः'** इतना चाहिये। प्राचीन ऋषि ऋषिनामोंके निश्चित होने के लिये वार वार गोत्रनाम समय समय पर लगाते थे, क्यों कि कई गृत्समद होंगे, उनमेंसे इस सूक्तका फलाणाहि ऋषि है इसका निश्चय गोत्रनामसेहि हो सकता है। परंतु इस बातकी ओर वैदिक यंत्रालयवालोंका ध्यान नहीं गया यह शोक की बात है।

आगे ८ वें सूक्तसे २६ वें सूक्ततक, तथा ३० वें सूक्तसे ४३ वें सूक्त तक अर्थात् ३३ सूक्तोंका ऋषि **'गृत्समद'** ही केवल लिखा है, वहां **'गृत्समदः शौनकः'** ऐसा चाहिये।

२८ वें सूक्तमें **'कूर्मो गार्त्समदो वा'** ऐसा लिखा है। वहा 'वा' होने से **'कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा'** ऐसा चाहिये, नहीं तो **'वा'** का कोई प्रयोजन ही नहीं सिद्ध होता।

इस मंडलमें कुल सूक्त ४३ हैं और इनमें से ३७ सूक्तोंके ऋषिनामों में अशुद्धि है।

तृतीय मंडल।

तृतीय मंडलके दूसरे सूक्तसे १२ वें सूक्त तक के ११ सूक्तमें **'विश्वामित्रः'** ऋषि छापा है वहां **'विश्वामित्रो गाथिनः'** ऐसा चाहिये।

१७ वें सूक्तका ऋषि **'उत्किलः कात्यः'** लिखा है वहां **'कतो वैश्वामित्रः'** यह दूसरा ही चाहिये। जो इस सूक्तका ऋषि नहीं है वही यहां लिखा है। यह अशुद्धि होनेका कारण ध्यानमें नहीं आता।

२० और २२ सूक्तोंका ऋषि **'गाथी'** लिखा है, वहां **'गाथी कौशिकः'** चाहिये। सूक्त १९ में **"कुशिकपुत्रो गाथी'** ऐसा लिखा है और सूक्त २१ में **'कौशिको गाथी'** लिखा है। इन चार सूक्तोंमें यही एक ठीक है। चारों सूक्तोंमें यही लिखा होना चाहिये था। एक सूक्तमें एक नाम और उसीके दूसरे सूक्तों में उसका दूसराही नाम लिखनेसे खोज करनेवालोंको कितना भ्रम होगा, इसका आवश्य विचार होना चाहिये।

सूक्त २४ से ३० तकके ७ सूक्तोंका **'विश्वामित्रः'** ऋषि लिखा है, वहां **'विश्वामित्रो गाथिनः'** ऐसा होना चाहिये।

३१ वें सूक्तका **'विश्वामित्रः कुशिको वा'** ऐसा लिखा है वहां **'कुशिक ऐषीरथिः, विश्वामित्रो गाथिनो वा'** ऐसा होना आवश्यक है।

३३ वें सूक्तमें केवल **'विश्वामित्रः'** ऋषि लिखा है, वहां **'विश्वामित्रो गाथिनः, नद्यः च'** ऐसा चाहिये, क्यों कि इस सूक्तमें १-३, ५, ७, ९, ११-१३ का **'विश्वामित्रो गाथिनः'** ऋषि है और ४, ६, ८, १० इन मंत्रोंकी **नदी** ऋषिका है।

३२ और ३४, ३५ का भी **'विश्वामित्रः'** लिखा है। वहां **'विश्वामित्रो गाथिनः'** चाहिये। इसी तरह सूक्त ३७ से ५३ तक और ५७ से ६२ तक के सब सूक्तोंपर ऋषिका नाम ऐसाहि होना चाहिये। सूक्त ३६ में **'विश्वामित्रः, घोर आंगिरसः'** ऐसा लिखा है। घोर ऋषिका गोत्र लिखा है, फिर विश्वामित्रका क्यों नहीं लिखा? यहां भी **'विश्वामित्रो गाथिनः, १० घोर आंगिरसः'** ऐसा होना आवश्यक है। एक ही सूक्तमें एकका नाम गोत्र-सहित और दूसरेका नाम गोत्ररहित लिखनेका कारण क्या है?

सूक्त ३८ में केवल **'प्रजापतिः'** ऋषि लिखा है। यहां **'प्रजापतिर्वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा, विश्वामित्रो वा गाथिनः।'** ऐसा चाहिये। यहां पाठक गोत्र लिखनेका महत्त्व जान सकते हैं। प्रजापति विश्वामित्र-गोत्रमें है और वाच्यगोत्रमें भी है। अतः केवल प्रजापति लिखनेसे भ्रम होता है। इस सूक्तमें ऋषियोंका विकल्प है। तीनोंमेंसे कोई एक होगा अथवा अधिक होंगे। जिन ऋषियोंके संबंधमें प्राचीन मुनियोंको इस तरह संदेह होता था, वहां वे इस सूक्तके ऋषि इतने माने जाते हैं, ऐसा स्पष्ट लिखते रहते हैं। ऋषियोंकी महान् आत्मामें कोई हठ नहीं होता। परंतु आज क्या देखा जाता है कि अशुद्धको भी शुद्ध मान कर और शुद्धकी मिट्टी पलीत कर अपना आडंबर चलाना। अस्तु। जो सत्य होगा वही सत्य सिद्ध होगा। कदापि असत्य ठहर नहीं सकेगा। यह पं० ब्रह्मदत्तजी अच्छी तरह समझें।

आगे सूक्त ५४ से ५६ तक ३ सूक्तोंमें '**प्रजापति-वैश्वामित्रः वाच्यो वा**' ऐसा लिखा है वहां '**प्रजापति-वैश्वामित्रः, प्रजापतिर्वाच्यो वा**' ऐसा होनेसे किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता।

इस तृतीय मंडलमें ६२ सूक्त हैं। इनमें ६० सूक्तोंके ऋषि-नामोंमें अशुद्धियां और संदिग्ध लेख हैं।

चतुर्थ मंडल।

चतुर्थ मण्डलमें सूक्त ४२-४४ ये तीन सूक्त छोडकर शेष ५५ सूक्तोंमें '**वामदेवः**' ऋषि लिखा है। यहां सर्वत्र '**वामदेवो गौतमः**' ऐसा उसके गोत्रसहित ऋषिका नाम लिखना चाहिये, क्योंकि वामदेव अनेक हैं। यहां उनमेंसे कौनसा लेवें, इस शंकाका निरास गोत्रके उच्चारसेहि हो सकता है।

४२, ४३ और ४४ इन सूक्तोंके ऋषियोंके गोत्र दिये हैं, फिर आगे पीछे क्यों नहीं दिये?

इस मंडलमें ५८ सूक्त हैं, उनमें ५५ में गोत्रका उल्लेख नहीं है, यह ठीक नहीं है।

पञ्चम मण्डल।

पंचम मंडलमें बहुत सूक्तोंपर गोत्रसहित नाम दिये हैं। तथापि कई स्थानोंमें अशुद्धियां रह गयीं हैं। २३ वें सूक्तमें '**द्युम्नो विश्वचर्षणिः**' इतनाही नाम दिया है, वहां '**द्युम्नो विश्वचर्षणिरात्रेयः**' ऐसा होना चाहिये। सूक्त २७ वें में अनेक ऋषियोंके नाम गोत्रसहित देकर बेचारे अत्रिकोही गोत्ररहित छोड दिया है। वहां '**अत्रिर्भौम इति केचित्**' ऐसा चाहिये, क्योंकि यहां '**भौम आत्रि**' ऋषि है ऐसा अल्प विद्वानोंका मत है। शेष जो तीन हैं वे भी वैकल्पिकही हैं। फिर सूक्त ३७ से ४३ तकके ७ सूक्तोंमें केवल '**अत्रिः**' लिखा है, वहां गोत्रसहित '**अत्रिर्भौमः**' ऐसा होना चाहिये।

आगे ४४ वें सूक्तमें '**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिंगा ऋषयः**' ऐसा लिखा है। इसका अर्थ 'इस सूक्तका ऋषि कश्यप वंशमें उत्पन्न अवत्सार ऋषि है और दूसरे अनेक ऋषि हैं कि जिनका चिह्न इसी सूक्तमें पाया जाता है।' इस तरह लिखनेसे किस पाठकको क्या बोध हो सकता है? ऐसा संदिग्ध लिखनेसे लाभ भी क्या है? यह कोई अशुद्धि नहीं है, परंतु साधारण लोग इससे कुछ जान नहीं सकते। अतः इसको खोलना चाहिये। इसी सूक्ते १२ वाँ मंत्र यह है—

> **सदापृणो (१) यजतो (२) वि द्विषो व**
> **द्बाहुवृक्तः (३) श्रुतवि (४) त्तर्यो (५) वः स**
> ॥ १२ ॥

तथा तेरहवें मंत्रमें—

> **सुतंभरो (६) यजमानस्य सत्पतिः०** ॥ १३

इन दो मंत्रोंमें जिन ऋषियोंके नामोंके चिह्न पाये जाते हैं वे ऋषि भी इन मन्त्रोंके हैं। अर्थात् १२ वें मंत्रके '**सदा-पृण- यजत- बाहुवृक्त- श्रुतवित्- तर्यः**' ये पांच ऋषि हैं और तेरहवें मंत्रका '**सुतंभर**' यह एक है। इसके साथ इस सूक्तका ऊपर दिया ऋषि '**अवत्सारः काश्यपः**' यह भी है। इतना स्पष्ट लिखा जाय तो किसीके समझमें आ सकता है। केवल '**अन्ये च दृष्टलिंगाः**' इतना संकेत करनेसे पाठक क्या समझे? परंतु यहाँ अशुद्धि कोई नहीं है। स्पष्टता नहीं इतना ही दोष है।

आगे ६४ वें सूक्तका '**अर्चनाना**' ऋषि गोत्ररहित लिखा है। यहां '**अर्चनाना आत्रेयः**' ऐसा चाहिये। अन्य गोत्र देनेपर यहांही इसका क्यों नहीं दिया? सूक्त ७४ में '**आत्रेयः**' ऐसा दिया है। यह तो गोत्रका नाम है, पर ऋषिका नाम क्यों नहीं दिया? यहां '**पौर आत्रेयः**' ऐसा चाहिये। क्योंकि इस सूक्तका ऋषि पौर है और उसका गोत्रनाम आत्रेय है।

आगे ७६ और ७७, तथा ८३ से ८६ तक के सूक्तोंमें '**अत्रि**' ऋषि लिखा है, वहा '**अत्रिर्भौमः**' ऐसा चाहिये।

इस पंचम मण्डलमें ८७ सूक्त हैं, १७ अशुद्धियां हैं। अन्य मंडलों की अपेक्षा यह मण्डल किसी अंशमें अधिक शुद्ध है।

षष्ठ मण्डल।

षष्ठ मण्डलमें १५ वें सूक्त का ऋषि '**भरद्वाजो बार्ह-स्पत्यः, वीतहव्यो वा**' ऐसा लिखा है, यहा '**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः वीतहव्य आंगिरसः**' ऐसा चाहिये। भला भरद्वाज का गोत्र लिखा गया और वीतहव्यका क्यों छोड दिया? कोई तो एक पद्धति रखनी चाहिये या नहीं?

सूक्त ३१-३२ में '**सुहोत्रः**' के स्थानपर '**सुहोत्रो भारद्वाजः**' सूक्त ३३-३४ में '**शुनहोत्र**' के स्थान

'शुनहोत्रो भारद्वाजः' सूक्त ३५-३६ में 'नरः' के स्थानपर 'नरो भारद्वाजः' सूक्त ४७ में 'गर्गः' के स्थानपर 'गर्गो भारद्वाजः' और सूक्त ४९-५२ में 'ऋजिश्वा' के स्थानपर 'ऋजिश्वा भारद्वाजः' ऐसा चाहिये। अन्य सब सूक्तों में गोत्रसहित ऋषिनाम लिखे हैं, परंतु इनपर-हि गोत्रों को त्याग दिया है।

इस मंडलमें ७५ सूक्त हैं। उनमें केवल १२ सूक्तोंमें हि गोत्रविषयक अशुद्धि है, शेष सूक्तोंके ऋषि ठीक है। यह भी मंडल अधिक शुद्ध है।

सप्तम मण्डल।

सप्तम मण्डलमें सब कसर निकाल दी है। यहां १ से ३१ ३५ से १०० और १०३ से १०४ तक के सब सूक्तोंमें 'वसिष्ठ' ऋषि लिखा है, परंतु गोत्र नहीं लिखा। यहां 'वसिष्ठो मैत्रावरुणिः' ऐसा सर्वत्र चाहिये। देखिये पिछले दो मंडलोंमें गोत्र लिखे हैं और इस मंडलमें वेही नहीं लिखे। कोई एक रीति रखी जाती तो अच्छा होता।

सूक्त ३३ में 'संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्य इन्द्रेण सह' ऐसा लिखा है। पाठक क्या समझें कि इसमें इस सूक्त का कौन ऋषि है। इसका अर्थ 'इन्द्रके साथ, पुत्रोंके साथ वसिष्ठका यह संभाषण है।' क्या यही ऋषि है? यह अशुद्ध नहीं है तथापि अस्पष्ट है। इस स्थानपर ऐसा होना चाहिये '१-९ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः, १०—१४ वसिष्ठपुत्राः' इससे हर कोई जान सकता है कि किन मंत्रोंका कौन ऋषि है।

इस मण्डल में १०४ सूक्त हैं और एक भी ऋषिनाम की दृष्टिसे शुद्ध नहीं है।

अष्टम मण्डल।

अष्टम मण्डलमें कई सूक्तोंमें गोत्रके साथ शुद्ध ऋषि-नाम दिया है, तथापि उनमें निम्नलिखित दोषस्थल हैं।

प्रथम सूक्तमें ३४ वें मंत्रकी 'शश्वती' ऋषिका लिखी है वहां 'शश्वती आंगिरसी' होना आवश्यक है। १० वें सूक्तमें 'प्रगाथः काण्वः' है, वहां 'प्रगाथो घौरः काण्वः' ऐसा अवश्य चाहिये। सूक्त १५ में केवल 'गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ' रखा है, उस स्थानपर 'गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ' इतना होना चाहिये। सूक्त २६ में 'विश्वमना वैयश्वो वाङ्गिरसः' ऐसा लिखा है, वहां 'विश्वमना वैयश्वः, व्यश्वो वाङ्गिरसः' ऐसा चाहिये। क्योंकि इस सूक्तके दो ऋषि हैं, एक विश्वमना और दूसरा व्यश्व। इनमेंसे यहां वैदिक यंत्रालयवालोंने 'व्यश्व' को उडा दिया है और उसका केवल गोत्रही रखा है, जिससे विश्वमना ऋषिके ही ये दो गोत्र हैं ऐसा पाठकों को भ्रम होना संभव है। सूक्त ३३ में 'मेधातिथिः काण्वः' लिखा है, इस सूक्तका यह ऋषि नहीं है, इसका ऋषि है 'मेध्यातिथिः काण्वः'। सूक्त ३५ से ३८ तक के ४ सूक्तोंका ऋषि 'श्यावाश्व' लिखा है, वहां 'श्यावाश्व आत्रेयः' होना चाहिये। सूक्त ४२ में '०अर्चनाना वा' लिखा है इसके स्थानपर '०अर्चनाना आत्रेयो वा' इस तरह होना आवश्यक है। सूक्त ४८ में 'प्रगाथः काण्वः' लिखा है वहां 'प्रगाथो घौरः काण्वः' होना आवश्यक है। यही बात सूक्त ६२ से ६५ तकके ४ सूक्तोंकी है।

सूक्त ६८ से ६९ दो सूक्तोंका ऋषि 'प्रियमेधः' लिखा है, वहां 'प्रियमेध आंगिरसः' चाहिये। ७० वें सूक्तके 'पुरुहन्मा आंगिरसः' चाहिये, उस बेचारेका गोत्रही उडा दिया है। ७१ वें सूक्तके 'सुदीति पुरुमीळ्हौ' इनका 'आंगिरसौ' यह गोत्र दिया नहीं है। ७५ वें सूक्तके 'विरूप' ऋषिकाभी 'आंगिरस' गोत्र दिया नहीं है।

सूक्त ८५-८७ तकके तीनों सूक्तमें 'कृष्ण' ऋषिका गोत्र 'आंगिरस' देना आवश्यक था वह दिया नहीं है। ८८ सूक्तके 'नोधा' ऋषिका गोत्र 'गौतम' है, वह दिया नहीं। आगे पीछे आंगिरस गोत्रके ऋषि होनेसे कई लोग इसकोभी आंगिरसही मान बैठेंगे, इसलिये यहां इसका गौतम गोत्र तो अवश्यही देना चाहिये। ८९-९० इन दो सूक्तके 'नृमेधपुरुमेधौ' इनका गोत्र उसी कारण 'आंगिरस' देना चाहिये। वह क्यों नहीं दिया? इसी तरह ९२ से ९६ तकके सूक्तोंके ऋषियोंके नाम गोत्ररहित दिये हैं, वे आंगिरस गोत्रसहित देने उचित हैं। वही बात ९८-९९ इन दो सूक्तोंके विषयमें है। १०० वें सूक्तमें मंत्र ४-५ इन दो मंत्रोंका ऋषि 'इन्द्र' है, परंतु वह दियाही नहीं।

इस मंडलमें १०३ सूक्त हैं, इनमें ३५ सूक्तोंमें ऋषियोंके नामोंमें अशुद्धियां हैं, शेष सूक्तोंके ऋषि जैसे चाहिये वैसे हैं।

नवम मण्डल।

नवम मण्डलके प्रथम चार सूक्तोंके ऋषियोंके गोत्र नहीं दिये हैं। प्रथम सूक्तके 'मधुच्छन्दा' के स्थानपर

'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः,' द्वितीय सूक्तके 'मेधातिथिः' के स्थानपर 'मेधातिथिः काण्वः', तृतीय सूक्तके 'शुनःशेप' के स्थानपर 'शुनःशेप आजीगर्तिः स देवरातः कृत्रिमो वैश्वामित्रः,' और चतुर्थ सूक्तके 'हिरण्यस्तूप' के स्थानपर 'हिरण्यस्तूप आंगिरसः' चाहिये।

आगे २६ वें सूक्त तक सब ऋषियोंके नाम गोत्रसहित जैसे चाहिये वैसे ठीक दिये हैं। और ४७-४९, ६३, ६६, ६८, ७०-७१, ८०-८२, ८४,८५, ९६, ९९-१००, १०३, १०९, १११ इन सूक्तोंके ऋषियोंके गोत्र ठीक प्रकार दिये हैं। शेष सूक्तके गोत्र उडा दिये हैं। एक ही मंडलमें इस तरह कईयोंके गोत्र देने और अन्योंके न देनेका कारण क्या है, इसका पता लगना कठिन है। आगे इसका कोष्टकही दिया जाता है—

सूक्त	अजमेरके पुस्तकमें ऋषि	कैसे चाहिये
२७	नृमेधः	नृमेध आंगिरसः
२८	प्रियमेधः	प्रियमेध ,,
२९	नृमेधः	नृमेध ,,
३०	बिन्दुः	बिन्दुः ,,
३१	गोतमः	गोतमो राहूगणः
३२	श्यावाश्वः	श्यावाश्व आत्रेयः
३३-३४	त्रितः	त्रित आप्त्यः
३५-३६	प्रभूवसुः	प्रभूवसुरांगिरसः
३७-३८	रहूगणः	रहूगण आंगिरसः
३९-४०	बृहन्मणिः	बृहन्मणिरांगिरसः
४१-४३	मेध्यातिथिः	मेध्यातिथिः काण्वः
४४-४६	अयास्यः	अयास्य आंगिरसः
५०-५२	उचथ्यः	उचथ्य ,,
५३-६०	अवत्सारः	अवत्सारः काश्यपः
६१	अमहीयुः	अमहीयुरांगिरसः
६२	जमदग्निः	जमदग्निर्भार्गवः
६४	कश्यपः	कश्यपो मारीचः
६५	भृगुर्वारुणिः जमदग्निर्वा	भृगुर्वारुणिः जमदग्निर्वा भार्गवः
६९	हिरण्यस्तूपः	हिरण्यस्तूप आंगिरसः
७२	हरिमन्तः	हरिमन्त ,,
७३	पवित्रः	पवित्र ,,
७४	कक्षीवान्	कक्षीवान् दैर्घतमसः
७५-७९	कविः	कविर्भार्गवः
८३	पवित्रः	पवित्र आंगिरसः
८७-८९	उशना	उशना काव्यः
९०	वसिष्ठः	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः
९१-९२	कश्यपः	कश्यपो मारीचः
९३	नोधा	नोधा गौतमः
९४	कण्वः	कण्वो घौरः
९५	प्रस्कण्वः	प्रस्कण्वः काण्वः
१०२	त्रितः	त्रित आप्त्यः
१०५	पर्वतनारदौ	पर्वतनारदौ काण्वौ
११०	त्र्यरुणत्रसदस्यू	त्र्यरुणस्त्रैवृष्णः त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः
११२	शिशुः	शिशुरांगिरसः
११३-११४	कश्यपः	कश्यपो मारीचः
६७	भरद्वाजः	भरद्वाजो बार्हस्पत्यः
	कश्यपः	कश्यपो मारीचः
	गोतमः	गोतमो राहूगणः
	अत्रिः	अत्रिर्भौमः
	विश्वामित्रः	विश्वामित्रो गाथिनः
	जमदग्निः	जमदग्निर्भार्गवः
	वसिष्ठः	वसिष्ठो मैत्रावरुणिः
	पवित्रो वसिष्ठो वा उभौ वा	पवित्र आंगिरसः वसिष्ठो वा उभौ वा
८६	त्रय ऋषिगणाः	आकृष्टामाषादयस्त्रयः
	अत्रिः	अत्रिर्भौमः
	गृत्समदः	गृत्समदः शौनकः
९८	अम्बरीष ऋजिश्वा च	अम्बरीषो वार्षागिरः ऋजिश्वा भारद्वाजश्च
१०४-१०५	पर्वतनारदौ	पर्वतनारदौ काण्वौ
१०८	गौरिवीतिः	गौरिवीति शाक्त्यः
	शक्तिः	शक्तिर्वासिष्ठः
	ऊरुः	ऊरुरांगिरसः
	ऋजिश्वा	ऋजिश्वा भारद्वाजः
	ऊर्ध्वसद्मा	ऊर्ध्वसद्मा आंगिरसः
	कृतयशाः	कृतयशा ,,
	ऋणञ्चयः	ऋणञ्चयः (राजर्षिः)

इस मंडलमें कुल सूक्त ११४ हैं, इनमें ४२ सूक्तों के ऋषियों को छोडकर शेष ऋषि गोत्ररहित हैं।

दशम मण्डल।

इस दशम मंडलमें १ से ७ सूक्तोंतक का ऋषि **'त्रितः'** है, वहां **'त्रित आप्त्यः'** चाहिये। १३ वें सूक्तका **'विवस्वानादित्यः'** लिखा है, वहां **'हविर्धान आङ्गिः, विवस्वानादित्यो वा,** ऐसे चाहिये। १४ वें सूक्तमें **'यमः'** है वहां **'यमो वैवस्वतः'** चाहिये। सूक्त २८ में **'इन्द्र-वसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः'** ऐसा लिखा है वहां **'१ इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी ऋषिका; २, ६, ८, ११, १२ इन्द्रऋषिः; ३, ४, ५, ७, ९, १० वसुक्रऋषिः'** ऐसा चाहिये। २९ वें सूक्तका **'वसुक्रः'** ऋषि लिखा है वहां **'वसुक्र ऐन्द्रः'** होना चाहिये।

४३-४४	कृष्णः	कृष्ण आंगिरसः
४५-४६	वत्सप्रिः	वत्सप्रिर्भालन्दनः
४७	सप्तगुः	सप्तगुरांगिरसः
६७-६८	अयास्यः	अयास्य आंगिरसः
७१	बृहस्पतिः	बृहस्पतिरांगिरसः
७३-७४	गौरवीतिः	गौरवीतिः शाक्त्यः
८७	पायुः	पायुर्भारद्वाजः
८९	रेणुः	रेणुर्वैश्वामित्रः
९६	बरुः	बरुरांगिरसः
११७	भिक्षुः	भिक्षुरांगिरसः
१२३	वेनः	वेनो भार्गवः
१२८	विहव्यः	विहव्य आंगिरसः
१५४	यमी	यमी वैवस्वती
१६४	प्रचेता	आंगिरसः
१७०	विभ्राट्	विभ्राट् सौर्यः
१७२	संवर्तः	संवर्त आंगिरसः
१७३	ध्रुवः	ध्रुव ,,
१७४	अभीवर्तः	अभीवर्त ,,
१८०	जयः	जय ऐन्द्रः
१९१	संवननः	संवनन आंगिरसः

शेष सूक्तोंकी बारीकीमें हम नहीं जाते, परंतु इनको छोडकर शेष सूक्तोंके ऋषियोंके गोत्र ठीक दिये हैं फिर इनके ही क्यों छोडे हैं? इस मंडलमें कुल १९१ सूक्त हैं इनमें करीब ४० सूक्तोंके ऋषि-नामों में उक्त प्रकार की अशुद्धि है।

मंडल	कुलसूक्त	ऋषिनामकी अशुद्धि संख्या
१	१९१	८२
२	४३	१७
३	६२	६०
४	५८	५५
५	८७	१७
६	७५	१२
७	१०४	१०४
८	१०३	३५
९	११४	४२
१०	१९१	४०
	कुलसूक्त १०२८	अशुद्ध ४८४ (शुद्ध ५४४)

सब मंडलों में पञ्चम और षष्ठ मंडल अधिक शुद्ध हैं। सप्तम मंडल सबसे अधिक अशुद्ध है। शेष मण्डलों में आधी के करीब अशुद्धियां हैं।

यहां कई पूछेंगे कि पितृनाम, वंशनाम या गोत्रनाम क्यों देने चाहिये? उत्तर में निवेदन है कि इसके विना एक ही नामके दो चार ऋषियोंमें इस सूक्त का कौनसा ऋषि है यह समझही नहीं सकता। कई स्थानपर चार चार गोत्र दिये हैं, इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि इसका महत्त्व क्यों है और कितना है।

दूसरी बात यह है कि जब हजार सूक्तोंमें से पांच सौ सूक्तों के नाम गोत्र सहित दिये हैं, तो शेष पांचसौ के छोड-कर संदेह उत्पन्न करनेका प्रयोजन क्या था?

गोत्र के निर्देश को छोड दिया जाय तो थोडे से सूक्तों के ऋषि बिलकुल दूसरे भी लिखे हैं, जो इस लेखमें जहां के वहां बताये हैं।

वेदके अर्थ करनेमें ऋषि-नामोंका भी बडा महत्त्व है, जिसका विवेचन आगे हम करेंगे। इस लेख में पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु जिसको बडा शुद्ध मानते हैं उसमें केवल ऋषिनामों का हाल क्या है, यह यहां बताया है।

गत लेखका उत्तर पं० ब्रह्मदत्तजीसे अभीतक नहीं आया। यदि आया तो हम उसको प्रकाशित करेंगे और उस विषयमें जो कहना आवश्यक होगा वह कह देंगे। अब पं० ब्रह्मदत्तजी चुप न बैठें। जो संस्कृत नहीं जानते वैसे लोगोंको भडकानेसे कोई शास्त्रीय प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा। इतना ही वे स्मरणमें रखें।

स्वाध्याय-मण्डलकी नयी पुस्तकें ।

यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य ।

(ले०- कर्मयोगी गणेशानंदजी गीतार्थी ।)

यज्ञोपवीत वा उपनयन सोलह संस्कारोंमें दसवा संस्कार है और सनातन धर्मका मेरुदण्ड है। इस पुस्तकमें विद्वान् लेखकने अपनी विशिष्ट लेखन-शैलीसे इस विषयकी राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे अत्यंत महत्वपूर्ण विवेचना की है। वैदिक और सनातनधर्मी पाठकोंद्वारा इसका पठन होना अत्यंत अवश्यक है। पृष्ठसंख्या १७५ मूल्य केवल १॥) रु० डा० व्यय ॥) म० आ० से २) रु० भेज दीजिये ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(प्रथम भाग)

(लेखक-कर्मयोगी श्रीगणेशानंदजी गीतार्थी, प्रयाग ।)

इस पुस्तकमें विद्वान् लेखकने प्रसिद्ध कर्मयोगी श्रीमायानंदजी महाराजकी पद्धतिसे भगवद्गीताका विवरण किया है। इस अर्थके देखनेसे पाठक विज्ञान के नवीन क्षेत्रमें अवतीर्ण होंगे । अर्थकी अपूर्वता प्रत्येक पृष्ठ पर दिखाई देगी। इसके अध्ययनसे पाठकोंकी समझमें आ जायगा कि गीता समाज सेवाधर्मका उपदेश करती है, न कि समाजसेवानिरपेक्ष ज्ञान, कर्म और भक्तिका। पृष्ठसंख्या १४० मू० १) डा०व्य० ।=)

भक्तके भगवान्

(लेखक-श्री० हलियारामजी कश्यप, M. Sc.)

इस पुस्तकमें ईश्वरीय चमत्कारोंका ही वैज्ञानिक सत्यतासे विस्तृत वर्णन किया है। इस पुस्तकके पाठसे भगवान् की प्राप्ति की उमंग भक्तके हृदयोंमें उमड पडेगी । मूल्य ॥) डा० व्ययसहित ॥=) रु० भेज दें ।

वेदोक्त प्रजननशास्त्र

(लेखक- श्री० हलियारामजी कश्यप M.Sc.,लाहौर.)

प्रजनन-विज्ञान उस विद्याका नाम है, जिसके द्वारा जितनी उत्तम सन्तति उत्पन्न करना संभव है, उतनी उत्तम संतति उत्पन्न की जा सके । इस विषयसंबंधी सब सत्योंको क्रमबद्ध एकत्र करके रखनेसेही इस विज्ञानकी सिद्धि होती है ।

इस विषयपर वेद प्रचण्ड ज्योतिच्छटा छोडता है। इस पुस्तिकामें इस विषयका विवेचन वेदमंत्रोंके आधार देकर किया है। मूल्य =) डा० व्य० -) चार आनेकी टिकट भेजिए ।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

दुनियां की उमर।

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्राणि चत्वारि कृण्मः।
(अथर्ववेद कांड ८, अनुवाक १, मन्त्र २१)

इस मन्त्रका भाव यह है कि १० लाख तक बिन्दु रखनेपर उनसे पूर्व २, ३, ४ क्रमशः रखने से सृष्टिकी आयु (४३२०००००००० वर्ष) निकल आती है। जिसका विस्पष्टतया सुविस्तारपूर्वक सूर्यसिद्धांतादि ज्योतिष् के सर्वमान्य ग्रन्थों में वर्णन किया गया है । आज पाठकों के सम्मुख इसका परिपूर्ण वर्णन किया जाता है । प्यारे सज्जन पुरुषो !

गणितशास्त्र के नियम से सृष्टि तथा वेदोंको प्रकट (उत्पन्न) हुए अब तक १९७२९४९०३२ वर्ष व्यतीत हो गए हैं और जिन मतमतांतरोंने ६००० या इससे न्यूनाधिक उपरोक्त संख्या से विरुद्ध लिखा है, वह सर्वथा ही मिथ्या है; क्यों- कि वेद सृष्टि की आदि में हुए हैं और सृष्टिकी व्यतीत आयुपर वर्तमान विज्ञान (साइंस) ने भी बहुत कुछ अनुभवात्मिक अनुसंधान करके मतवादियों की बताई हुई सृष्टि-उत्पत्तिकी संख्या को रद्द करके संसार को बता दिया है कि संसार की उत्पत्ति को करोड़ों वर्ष ही मानना उचित है, अतः इस विषय में थोड़ेसे विद्वानों के विचार आपको बतलाता हूं। कृपया इनको ध्यान से विचारिये।

वर्तमान विज्ञानवेत्ताओं के अनुभव में सृष्टि की आयु।

एक करोड़ वर्ष (१००००००००)

प्रोफेसर एस० न्यू० कोम्ब साहिबने लिखा है कि जबसे पृथिवी ठण्डी होकर वनस्पति के उगने योग्य हुई है, तबसे अब तक कमसे कम १०००००००० वर्ष हुए होंगे। देखो पाप्युलर आष्ट्रीनोमी, पृष्ट ५०९ पर।

२ करोड़ वर्ष।

प्रोफेसर हिलनार साहिब कहते हैं कि जबसे भूमि ठण्डी होकर वनस्पति के उगने योग्य हुई है, तबसे अब तक न्यून से न्यून २००००००० वर्ष हुए होंगे। देखो सीक्रिट डाक्टरिन जि० २ पृष्ठ ६९४।

७ करोड़ वर्ष।

प्रोफेसर काल साहिब कहते हैं कि धरती के शीतल होने से इस दशा को पहुंचने के लिए ७०००००००० वर्ष अवश्य चाहियें। देखो क्लाइमेट इन टाइम, पृष्ठ ३३५।

९६००२४२३ वर्ष।

चीनी लोग अनुमान करते हैं कि संसार की प्रथम राजसत्ता से कनफ्यूशस उनके व्यवस्थापक तक जो कि मसीह से ५०० वर्ष पूर्व हुआ है। ९६००२४२३ वर्ष हुए होंगे। देखो बदी अहिन्दुस्तान पृष्ठ ७ से १२ तक।

८८८४००९३ वर्ष।

तारीख खताई से सृष्टिकी प्रथमोत्पत्ति ऐति- हासिकों के प्रमाणानुसार अब तक ८८८४००९३ वर्ष मालूम हैं। देखो १८६७ कलकत्ते के छपे हुए आइने अकबरी के पृष्ठ २२७ पर।

१० करोड़ वर्ष।

"सर विलीयम टामसन" साहिब ने कहा है कि पृथिवी के शीतल होकर वनस्पति के उगने योग्य होने और उस समय से इस समय तक अनुमान १०००००००० वर्ष बीते होंगे। देखो सीक्रेट डाक्टरिन, जि० २, पृष्ठ ६९४।

३० करोड वर्ष।

एक और ऐतिहासिक महाशय कहते हैं कि आरम्भ से जब तक वनस्पति आदि बनती रही और उस समय से मनुष्यों के उत्पन्न होने तक ३०००००००० वर्ष चाहियें। देखो सीक्रेट डाक्टरिन, जि० २ पृष्ठ ६९ लण्डन छापा।

३५ करोड वर्ष।

प्रोफेसर 'निशाचाफ' महोदय कहते हैं कि २००० डिगरी की गर्मी से २०० डिगरी की गर्मी तक पहुंचने के लिए ३५०००००००० वर्ष बीते होंगे इससे कम नहीं। (देखो सीक्रेट डाक्टरिन, छापा लण्डन, पृष्ठ ६९४ पंक्ति २२।)

५० करोड।

प्रोफेसर रेड महाशय कथन करते हैं कि जबसे यूरोप में वनस्पति आदि की उत्पत्ति आरंभ हुई, तबसे अबतक ५०००००००० वर्ष बीते होंगे। (देखो उनका व्याख्यान जो उन्होंने सन् १८७६ ई० में भूतत्त्व-परिषद् में दिया था।)

एक अरब वर्ष।

सुप्रसिद्ध भूतत्त्वविद्याविशारद प्रोफेसर हकसलेने यह बात पूर्ण अनुसन्धान के पश्चात् निश्चित प्रमाण तक पहुंचा दी है कि जब से सृष्टिमें वनस्पति की उत्पत्ति आरम्भ हुई है तब से अब तक १०००००००००० वर्ष बीते होंगे। (देखो वर्ल्ड लाईफ पृष्ठ १८७ पर।)

१ अरब ६० करोड वर्ष।

अब सुना है कि एक किसी विज्ञानी महोदय ने कहा है कि पृथिवी की बहुतसी वस्तुएं ऐसी हैं कि जिनकी ऐसी कठोर बनावट के लिए कम से कम १६०००००००० वर्ष अवश्य ही बीते होंगे। इस प्रकार मतवादियों की बताई सृष्टि-उत्पत्तिकी ७००० हजार आदि संख्याको तो विज्ञानवेत्ताओं ने ही गलत कर दिखाया है। उपरोक्त जितने भी मतमतान्तर हैं किसी में भी यह साहस नहीं है, कि विज्ञान के सामने यह कह सके कि संसार की उत्पत्ति को अधिक न होकर केवल ७००० वर्ष ही हुए हैं।

प्रश्न- वर्तमान विज्ञान की सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में अब तक जो विचार (सिद्धांत) प्रकट किया गया है, वह अनिश्चित और निराधार है। लोग अटकल पच्ची से यूं ही अंड बंड कह देते हैं, कि दुनियां को बने हुए इतना इतना समय हुआ है। साईंसवालोंकी ऐसी बातें केवल मन के लड्डू खाने के सदृश हैं। उनके पास क्या सबूत है कि सृष्टिको उत्पन्न हुए १ अरब तथा ६० करोड वर्ष ही हो गये हैं और हमारे माने हुए ७ हजार या १० हजार वर्ष गलत हैं? इस लिये जब तक कोई पक्की बात (दृढतर प्रमाण) सामने न आवे, तब तक सृष्टि की उत्पत्ति के ७ या १० हजार को गलत और १ अरब ६० करोड वर्ष को सही कहना सर्वथा ही अनुचित है।

उत्तर- प्यारे भाई साहिब! विज्ञान-वेत्ताओं ने सृष्टि की आयु को यूं ही आपके सामने नहीं रख दिया है, बल्कि उन्होंने वर्षों तक इस विषय में बडा अन्वेषण किया है। उन्होंने जो समय निर्धारित किया है, उसे सिद्ध करने के लिए उनके पास पुष्कल युक्ति-तर्क और पदार्थ मात्र की रचना विद्यमान है। विज्ञानियों ने कहा है कि इतने वर्षों से कम नहीं हुए हैं। हां, यह ठीक है कि (साईंस-दां) विज्ञानवेत्ता अब धीरे धीरे संस्कृत साहित्य और वेद की ओर आ रहे हैं। और एक दिन वह आवेगा जब कि वेद और सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में वे लोग भी हमारे साथ मिलकर तथा गद्गद् होके यह कह उठेंगे कि सृष्टि की कुल आयु ४३२००००००० वर्ष की और उसमें से अबतक १९७२९४९० ३२ वर्ष बीत भी चुके हैं। महाशय! यदि आप विज्ञानकी इस बात को प्रामाणिक न भी मानें तब भी आपके ७ या १० हजार वर्ष तो कपूरवत् (मानिन्द काफूर

के विज्ञानके वायुमण्डल में उडकर सदा के लिये छिन्नभिन्न हो ही जाते हैं ।

यदि थोडी सी देर के लिए हम आपकी यह बातें मान भी लें कि वर्तमान विज्ञानियों ने सृष्टि-उत्पत्ति के काल को अटकल पच्चू ही बता दिया है और इसलिए वह असत्य है तब भी संसारके प्रसिद्ध प्रचलित सम्वतों की वर्षसंख्या से ही आप अपने जीर्ण, वृद्ध, टूटे-फूटे ७ या १० हजार वर्षके खयाली खटोले सहित उड ही तो जाते हैं ।

संसार के प्रचलित प्रसिद्ध सम्वत् × ।

देखिये संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्रचलित सम्वत् और इन की वर्ष-संख्या । इनकी संख्या तो मन-घडन्त नहीं है?

१ सृष्टिसम्वत् १९७२९४९०३२ वर्ष; यह सम्वत् सृष्टि की आदि से चला है ।

२ आर्य या वैदिक १९७२९४९०३२ वर्ष; यह सम्वत् सृष्टि की आदि से चला है ।

३ चीनी सम्वत् ९६००२४३१ वर्ष; यह सम्वत् चीन के प्रथम सम्राट् से चला है ।

४ पारसी सम्वत् १८९९०१ वर्ष; यह सम्वत् ईरान के प्रथम सम्राट् से चला है ।

५ खताई सम्वत् ८८८४०३०४ वर्ष; यह सम्वत् खता नगर के प्रथम बसानेवालेसे चला है ।

६ कालडिया सं० १५१९३१ वर्ष; यह स० प्रधान पुरुषों से ।

७ मिसरी स० १७५८५ ,, ,, मिसर के प्रथम सम्राट् से ।

८ इबरानी सम्वत् ५९३५ वर्ष; आदम एवं संसार की उत्पत्ति से ।

९ कलियुग सम्वत् ५०३२ वर्ष; कलियुग के आरम्भ से ।

१० युधिष्ठिरी सम्वत् ५०३२ वर्ष; राजा युधिष्ठिर के राज्याभिषेकोत्सव से ।

११ नूंहका सम्वत् ५०३१ साल; नूंहके समयसे ।

१२ इब्राहीमी सम्वत् ३८५२ वर्ष इब्राहीम से ।

१३ स्पार्टा सम्वत् ३६२५ ,, स्पार्टा नगरकी नींवसे ।

१४ मूसवी ,, ३५०४ ,, ह० मूसा के समयसे ।

१५ दाऊदी ,, २९६६ ,, हजरत दाऊत के समय से ।

१६ यूनानी ,, २७०७ ,, ओलम्बिया के अखाडेसे ।

१७ रूमी ,, २६८५ ,, रूम नगरकी नींव के दिन से ।

१८ नाबूसारी संवत् २६७८ ,, बाबुल प्रथम सम्राट के राज्योभिषेकोत्सव से ।

१९ बौद्ध संवत् २५०५ वर्ष ! बुद्धकी ५०-वीं जन्म गांठसे ।

२० सिकन्दरी ,, २२८५ ,, सिकंदरसम्राट के जन्मसे ।

२१ विक्रमी ,, १९८८ ,, विक्रमके राज्याभिषेकोत्सव से ।

२२ ईस्वी ,, १९३२ ,, ईसा के जन्म के ४ वर्ष बादसे ।

२३ शालिवाहन ,, १८५३ ,, राजा शालिवाहन से ।

२४ मुहम्मदी ,, १३४९ ,, हजरतमुहम्मद साहिब जब मक्का से मदीना को गये तब से चला है ।

×यह सब सम्वत् आज से ५ वर्ष पहिले की गणना के हैं ।

इस प्रकार के सम्वतों को देखने से ज्ञात होता है कि वर्तमान विज्ञानवेत्ताओं ने सृष्टि-उत्पत्ति के समय का जो अनुमान लगाया है, उस में बहुत कुछ सच्चाई है। और इन सम्वतों से ज्ञात होता है, कि सृष्टिकी आयु ५-७या १० हजार वर्ष आदि बतानेवाले भाइयों ने सर्वथा पक्षपात और अंधविश्वास से ही काम लिया है।

वर्तमान।

विज्ञानवेत्ताओं के १ अरब ६० करोड वर्ष के अनुमान को तो आप इसलिये भी छोड सकते हैं, कि यह केवल अनुमानमात्र है और कोई वास्तविक निर्णीत गणितादि शास्त्र के अनुकूल नहीं है; परंतु हमारे प्राचीन विज्ञानवेत्ताओं-ऋषिमुनियों ने जो सृष्ट्युत्पत्ति और वेदों के प्रकट होने का समय (१९७२९४९०३२) वर्ष बताया है, उसका साथ में हिसाब भी दिया है। अन्धाधुन्धी तथा पक्षपात को छोडकर शांति से सुनिये और मनन कीजिये।

१९७२९४९०३२ वर्ष का हिसाब।

४ युग

(१) सत्ययुग	१७२८०००	वर्ष का
(२) त्रेतायुग	१२९६०००	,, ,,
(३) द्वापर	०८६४०००	,, ,,
(४) कलियुग	०४३२०००	,, ,,

कुलयोग= ४३२०००० वर्ष का एक चतुर्युग होता है। और इस प्रकार के ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है, जिसके कि ३०६७२०००० वर्ष होते हैं। यथा =

युगानां सप्ततिः सैकामन्वन्तरमिहोच्यते । कृताब्द- संख्यया तस्यान्ते, सन्धि, प्रोक्तो जल-प्लवः ॥ (सूर्य- सि० अ० १, श्लोक १८॥)

अर्थ = ७१ युग का एक मन्वन्तर होता है, जिसके अन्त में कृतयुग (सत्ययुग) के बराबर एक सन्धिकाल होता है, इसी सन्धिकालमें जल-प्लव (बाढ) होता है।

ससन्धयस्ते मनवाः । कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश कृत-प्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥१९॥
(सू० सि० अ० १, श्लोक १९)

अर्थ =कल्प में सन्धि के साथ १४ मनु होते हैं। कल्प की आदि में कृतयुग प्रमाण की एक सन्धि होती है, अर्थात् एक कल्प में १४ मनु और १५ सन्धियां होती हैं।

१४ मन्वंतरोंके नाम।

(१) स्वायम्भव मनु	३०६७२००००	वर्ष
(२) स्वारोचिष	,,	,,
(३) औत्तमि	,,	,,
(४) तामस	,,	,,
(५) रैवत	,,	,,
(६) चाक्षुष	,,	,,
(७) वैवस्वत	,,	,,
(८) सावर्णि	,,	,,
(९) दक्षसावर्णि	,,	,,
(१०) ब्रह्मसावर्णि	,,	,,
(११) धर्मसावर्णि	,,	,,
(१२) रुद्रपुत्र	,,	,,
(१३) रौच्य	,,	,,
(१४) भौत्यक	,,	,,

इन १४ मन्वन्तरों को मिलाकर कुल योग= ४२९४०८०००० वर्ष होते हैं और १५ संधियों २५९२०००० वर्षों को मिलाने से कुल४३२०००००० वर्ष होते हैं, जिसका कल्प है। इतनी सृष्टि की आयु है और इतनी ही प्रलयकाल की संज्ञा है। इसको ब्रह्मा का दिन और रात भी कहते हैं।

कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः। वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनोगतः ॥२२॥
(सू० सि० १।२२)

अर्थ=कल्प के आदि से लेकर वैवस्वत से पहिले दो संधियों सहित ६ मन्वन्तर (जिनके नाम ऊपर लिख चुके हैं) बीत चुके हैं।

७ वें इस वैवस्वत मनु के भी २७ युग बीत चुके हैं ॥२२॥

इस श्लोक से ज्ञात होता है, कि यह ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त त्रेता-युग के आदि में ही लिखा गया है और इस प्रकार से इस ग्रन्थ को बने हुये कम से कम २१६५०३२ वर्ष अवश्य ही हो गये हैं। इतने पुराने ग्रन्थके आधार पर (जो कि ज्योतिष्-शास्त्र का सर्वोपरि माननीय ग्रन्थ है) यह भली भांति प्रकट हो रहा है, कि संसार की उत्पत्ति को १९७२९४९०३२ वर्ष हो गये हैं । अब तक ६ मन्वन्तर और ७ संधियां तथा ७ वें मन्वन्तर के २७ चतुर्युग और २८ वें चतुर्युग के सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कुछ काल कलियुग का बीत गया है । यथा—१७२८००० वर्ष की एक संधि होती है । अतः—१२०९६००० वर्ष सात संधियोंके हुए और एक मन्वंतरके ३०६७२०००० वर्ष होते हैं, इस लिये ६ मन्वन्तरों के १८४०३२०००० वर्ष हुए।

और २७ चतुर्युगों के ११६६४००० वर्ष होते हैं। सबके जोडने पर ।

६ मन्वन्तरों के	१८४०३२००००	वर्ष
७ सन्धियों के	००१२०९६०००	,,
२७ चतुर्युगों के	०११६६४००००	,,
सत्ययुग	०००१७२८०००	,,
त्रेता	०००१२९६०००	,,
द्वापर	००००८६४०००	,,
कलियुग	००००००५०३२	,,
कुल योग	१९७२९४९०३२	,,

इतने वर्ष सृष्टि के उत्पन्न और वेदोंके प्रकट हुए को हुए हैं । और इस सृष्टि के प्रलय होने के अभी २३४७०५०९६८ वर्ष भोग के शेष हैं। जब इतने वर्ष भी बीत जायेंगे तब इस सृष्टि का संहार (प्रलय) हो जावेगा और ४ अरब ३२ करोड वर्ष तक प्रलय अवस्था में रह कर फिर उत्पत्ति की दशा में आयेगी।

इसी प्रकार सृष्टि की आयु का मनुस्मृति अ० १ में श्लोक सं० ६९ से ८० तक में भली भांति विचार किया गया है ।

सारांश में यह सिद्ध हुआ कि इस सौर मण्डल की सृष्टि को उत्पन्न हुए १९७२९४९०३२ वर्ष व्यतीत हो गये हैं और आदि सृष्टि में ही ईश्वरीय ज्ञानका प्रकट होना अत्यावश्यक है। अतः "वेदों को" (ईश्वरीय ज्ञानको) प्रकट हुए भी इतने वर्ष व्यतीत हो गये हैं।

इस विस्तृत विश्व में इस प्रकार के जितने भी सौर मण्डल हैं उन सब की आयु का यही हिसाब है अर्थात् प्रत्येक और मण्डल (जिसमें अनेक पृथिवी और चन्द्र सम्मिलित हैं) की ४३२००००००० वर्ष की ही उत्पत्ति और इतने ही वर्षों की प्रलयावस्था है।

विशुद्ध, विस्तृत, विकासवान, पवित्र मस्तिष्क-वाले महा पुरुषों ने (ऋषि-मुनियों ने) अपने निर्भ्रान्त विज्ञान के प्रकाश में ज्ञाननेत्रों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जिसमें अनेकशः सौर मण्डल भरे पडे हैं) भली भांति देख तथा इसके वास्तविक स्वरूपको जान संसारको यह भी बता दिया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कितनी आयु है और उसमें से अब तक कितनी व्यतीत हो गई है। सूर्यसिद्धांत अ० १, श्लोकसंख्या २१ को देखकर विचारिये फिर आपको पता लगेगा कि इस विश्व-के स्वरूप को जानने के लिये तपस्वी वेद एवं ईश्वर-भक्त ऋषिमुनियों ने कितना बडा प्रयत्न किया है । यथा—

'परमायु-शतं तस्य तथाऽहोरात्र संख्यया ।
आयुषोऽर्धमितं तस्य शेषकल्पोऽयमादिमः ॥
(सू० अ० १ श्लोक २१)

अर्थ— ब्राह्म अहोरात्र की संख्या से ब्रह्मा की परम आयु (सम्पूर्ण आयु) शत वर्ष की है, जिसमें से आधी आयु बीत गई है और यह कल्प द्वितीयार्धका पहिला दिन है। इसका भावार्थ यह

है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आयु ब्रह्मा के १ सौ वर्ष की है।

'ब्रह्माण्ड की आयु'।

८ अरब ६४ करोड वर्ष की ब्रह्मा का एक दिनरात। ऐसे ३० दिन का एक महिना और ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष। इस प्रकार के सौ वर्ष जब होंगे तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आयु होगी।

१ दिन रात	-	८६४०००००००	वर्ष
१ मास	-	२५९२००००००००	,,
१ वर्ष	-	३११०४०००००००००	वर्ष
सौ वर्ष	-	३११०४००००००००००	,,

इसी संख्या का नाम १ परान्त काल भी है। इतने वर्षोंमें से अबतक १५५५२०१२५३३०३२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यह उत्पत्ति प्रकरणवश ब्रह्माण्ड की आयु और भुक्त आयुका संकेत आपके सम्मुख आ गया है। वास्तव में मेरा तो इतना ही प्रयोजन है, कि सृष्टि और वेद को प्रकट हुए १९७२९४९०३२ वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है और २३४७०५०९६८ वर्ष इस सृष्टि के प्रलय होने में अभी शेष हैं। जब २३४७०५०९६८ वर्ष बीत जायेंगे तब इसकी प्रलय हो जायगी।

(उद्धृत)

योगमार्ग ।

[लेखांक १ ला.]

(लेखक- श्री० पं० प्रियरत्नजी आर्ष)

बहुत समय से योग में मेरी रुची थी। इसके लिए योगसंबंधी अनेक पुस्तकोंका स्वाध्याय करता रहा। आबु जैसे पर्वतों में भी एतदर्थ भ्रमता रहा। अनेक संन्यासी महात्माओंसे योग-विषयक वार्तालाप किया। कुछ एक राजयोगी, वेदान्तयोगी और हठयोगी साधुओं से थोडा बहुत लाभ भी प्राप्त किया, प्रत्युत मेरी रुचि विशेष रूप से पातंजल योग की पद्धति में थी। उसके संदिग्ध वादों और मार्गों के संबंधमें अनेक योगी महानुभावों से पूछा, परंतु इस विषयमें पूरी सहायता न मिल सकी। हाँ! उनकी निजी पद्धतियों का श्रवण अवश्य किया। आसन, प्राणायाम आदि की कईएक क्रियायें हठयोगी साधुओं से सीखीं। किन्तु हठयोगमें रुचि न होनेसे धोती और मुद्रा आदि क्रियायें मैंने जान बूझकर नहीं कीं। प्रत्युत अच्छे अछे हठयोगियोंके मुख से भी यही सुना कि योग के विषय में पातञ्जल योग से अधिक उत्तम मार्ग अन्य कोई नहीं। अतएव मैंने पातंजल योग-पद्धति का क्रियात्मक अनुसंधान करना निश्चय किया। एवं दृष्टिबंध (Sightism) अंतरावेश (Spiritualism), सम्मोहन (Mesmerism), वशीकरण (Hypnotism) को भी योग की शाखा समझकर क्रियात्मक रूपमें सीखा।

परंतु पता लगा कि उक्त चारों बातें भी पातंजल योग के साथ संबंध नहीं रखतीं; और नहीं योगकी क्रियायें कही जा सकती हैं। प्रत्युत मनकी भ्रान्तिमें, स्थितिमें इनके प्रयोग किए जाते हैं। किन्तु योग शान्त स्थितिमें होता है। अतएव योग के अभ्यास में उक्त बातें त्याज्य ही हैं। किसी अन्य प्रकार से भी मानसिक शक्तिका ऱ्हास करके शून्यता का अवलंबन कर मनोमूढ बनना उचित नहीं। किन्तु योग के सिद्धान्त में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, इन तीन अवस्थाओंमें योग नहीं माना जाता। एकाग्रता और निरोध (सर्व निरोध) इन दो अवस्थाओंको ही योगकी भूमियां कही हैं। जो कि 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ' (योगदर्शन १।२०) यानि श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति, समाधि (एकाग्र समाधि) और प्रज्ञा (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के साथ साथ अनुभवमें आती हैं।

एकाग्रता के सभी अनुभव योगमें उपादेय नहीं हैं। क्योंकि एकाग्रता के अन्दर चार प्रकार के अनुभव होते हैं। ये प्राभाविक, काल्पनिक, सांस्कारिक और भौमिक नाम से कहे जाते हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है-

प्राभाविक।

दृष्टिबंध (Sightism), अन्तरावेश (Spiritualism), सम्मोहन (mesmerism) और वशीकरण (Hypnotism) के अनुभव प्राभाविक हैं। क्योंकि इनमें प्रयोजक का प्रभाव काम करता है। उदाहरण के लिए 'दृष्टिबंध में किसी एक १०-१२ वर्ष के बच्चे के अंगूठे के नाखून पर स्याही वा तेल लगाकर उसको कहें कि तुम लगातार टकटकी लगाकर उसमें देखते रहो, कुछ देर पश्चात् तुम्हें इसके अंदर एक बगीचा दिखलाई पडेगा तभी तुम मुझसे कह देना। इतना

कहने पर लडकेका मन देखते देखते जब एकाग्र हो जाता है, तब आपके बगीचा देखनेके कहे हुए शब्दों का प्रभाव उस पर पडेगा और वह लडका कहेगा कि मुझे बगीचा दिखलाई पडने लगा।

तब आप कहें कि 'देखो इसके अंदर कोई मैदान है?' लडका कहेगा- 'हाँ, दीखता है।' फिर उसको कहो कि 'इस मैदान के साफ करने के लिए कोई भंगी आवे।' लडका कहेगा कि 'आ रहा है, वह आ गया। साफ कर रहा है।' इसी प्रकार कहो कि कोई 'दरी बिछानेवाला आवे और दरी बिछा जावे। कुर्सी, टेबल लगा जावे।' फिर कहो कि 'यहां ऋषि दयानन्द पधारें।' लडकेसे उनकी नमस्ते कराओ। इधर उधर के जो चाहे प्रश्न पुछवाओ। उनके उत्तर बोर्डपर लिखवाने आदिके द्वारा लो। इस प्रकार न केवल ऋषि दयानन्द ही किन्तु हनुमान्, राम, कृष्ण या कल्पित भूत, पिशाच आदि किसी को भी दिखला सकते हो। यह सब एकाग्रता का अनुभव है। परंतु है प्राभाविक। प्रयोजकके प्रभावसे लडके ने अनुभव किया। केवल एकाग्रताके कारण यह उपादेय नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यह दृष्टिबंध काले नगवाली अंगूठी जो कि बाजार में भूतोंकी अंगूठी के नामसे बारह आनेमें मिलती है, तथा काले दर्पणसे भी प्रयोग किए जाते हैं। यह दर्पण २॥) का मिलता है। इसका नाम त्रिकाल-दर्शक दर्पण है। यह तो दृष्टिबंदका अनुभव है। एवं टेबल और प्लेंचेट आदि साधनोंके द्वारा अन्तरावेश तथा सम्मोहन और वशीकरण के प्रयोग भी एकाग्रतामें प्राभाविक हैं।

काल्पनिक।

एकाग्रतामें कल्पनाद्वारा जो अनुभव होता है, वह काल्पनिक है। मनकी एकाग्रता हो जानेपर हृदय आदि स्थानोंमें बांसरी बजाते हुए कृष्ण, मुद्गर उठाये हुये हनुमान, सीताके साथ राम, काले भयंकर भैरव तथा कमल आदि पुष्पकी कल्पना करते रहनेसे उनका काल्पनिक अनुभव हो जाता है। वास्तवमें हृदयके अंदर इन वस्तुओंकी विद्यमानता नहीं है। परंतु उनका कल्पना से भान होने लगता है।

सांस्कारिक।

एकाग्र मनमें किसी संस्कारके उदित हो जाने से जो अनुभव होने लगता है, वह सांस्कारिक है। एकाग्रचित्त व्यक्तिके सम्मुख किसी बाहर या भीतर की क्रिया या वस्तुसे उसके मनमें संस्कार उत्पन्न हो जाता है। अनुपस्थित या मृत किसी प्रियजन के संबंधमें संस्कार आकर उसकी विविध लम्बी गाथाओंका अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार अन्य सांसारिक विषयोंकाभी किसी निमित्त से सांस्कारिक अनुभव हो जाया करता है।

भौतिक।

एक भूमिसे दूसरी भूमि और दूसरीसे तीसरी, तीसरीसे चौथी इत्यादि क्रम करके योग के ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ मार्ग द्वारा प्राप्त हुआ हुआ अनुभव भौमिक है। इसमें मन स्वयंही कार्य-कारण के अनुक्रमसे आगे चलता हुआ, अंतिम अधिष्ठान तक पहुंच जाता है और पुनः अपनी वृत्तिको समाप्त कर देता है। एवं आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मसमाधिका चरम फल प्राप्त होता है। यही वास्तवमें योगमें उपादेय है।

कुछ एक मनुष्य स्थानिक अभ्यास ही करते हैं। भ्रुकुटी आदि स्थलपर मनको रखकर ध्यान किया करते हैं। वे यह नहीं जानते कि मन का स्वभाव है कि जिधर उसको लगाया जाय, वह उस अभ्यासमें परिचय करके आगे भूमियोंमें बढना चाहता है। परन्तु स्थानिक अभ्यासमें भूमियां न मिलने से प्रथम थकावट पैदा कर देता है। फिरभी यदि मनको वहांसे न हटाया जाय, तो वह मूढ बनकर निद्राको उत्पन्न करता है। फिरभी न हटाया जाय तो अण्डबण्ड

स्मृतियोंमें चला जाता है। इस प्रकार योग नहीं होता है, किन्तु निद्रा और स्मृति वृत्तियोंके प्रभाव में आ जाता है। स्थानिक अभ्यासकी उतनीही आवश्यकता है, जितनीमें मन दस पंद्रह मिनिट तक स्थिरता प्राप्त कर सके। पुनः 'तस्य भूमिषु विनियोगः' उस संयमित मनको ग्राह्य आदि भूमियोंमें ले जाना चाहिये। अस्तु। इत्यादि कारणोंसे ही उक्त मार्गों का आगे चलकर स्पष्टीकरण करेंगे। आशा है स्वाध्यायी तथा अभ्यासी महानुभाव स्वयं अभ्यासद्वारा इस पातंजल योगमार्ग का अधिकाधिक क्रियात्मक अनुसंधान करेंगे।

प्रवेश।

सांसारिक सुखभोगके लिये मनुष्य जब विविध प्रयास करके श्रांत हो जाता है, या उक्त सुखभोगमें जब थोडाबहुत उसका मनभी तृप्त हो जाता है, तब वह किसी एक विरामरूप विश्राम का आश्रय लेना चाहता है। भव्य जीवन और भक्तजनमें मानसिक धारा आभ्युदयिक कर्मों के साथही साथ प्रकट हो जाया करती है।

शास्त्रोंके अध्ययन और महात्माओंके उपदेश से यह निश्चय हो सकता है कि उक्त निवृत्तिमय आराम तथा शांत सुखका आधार विश्वात्मा सर्वांतर्यामी आनंदघन जगदीश देव हैं। तब उस प्रभु परमात्मदेवके संबंधमें जहां तहां सत्संगद्वारा श्रवण करता है, श्रवण के अनन्तर मनन अर्थात् विचारसे स्वात्मामें उसका पूर्ण विश्वास हो कर आस्तिक बुद्धिका विकास हो जाता है। तत्पश्चात् निदिध्यासन अर्थात् अपने आंतरिक या आत्मिक प्रयत्नसे उस आनन्दमूर्ति या शांतिप्रद सर्वज्ञ जगदीश देवके साथ समागम करता है। 'आत्मनात्मानमभि संविवेश' यही वेदका सिद्धांत है। इस आत्मत्वसंपादनरूप निदिध्यासनका नाम योगाभ्यास है। ब्रह्मोपासना का एकमात्र साधन योगाभ्यास ही है। यह सिद्धांत सर्वतंत्र सम्मत है। अतएव सभी महात्मा हमको प्रभुसत्संगके लिये योगाभ्यास का ही उपदेश देते हैं।

चित्तकी वृत्तियोंको रोकने या वश करनेका नाम योग है। सभी वृत्तियोंको रोककर सर्वनिरोध संपादन करना या कुछ वृत्तियोंको रोक कर एकाग्रता प्राप्त करना, दोनोंही योग हैं। प्रथम एकाग्रयोग और पश्चात् सर्वनिरोधयोग किया जाता है। इन दोनों ही के संपादनार्थ निरन्तर यत्न करनेका नाम अभ्यास या योगाभ्यास है। उक्त योगसिद्धिके लिए (१) 'ग्राह्य मार्ग' (बाह्य वस्तुओंके द्वारा समाधि-भूमियोंपर चलना); (२) 'ग्रहणमार्ग' (आन्तरिक पदार्थों के द्वारा समाधि-भूमियोंका प्राप्त करना); (३) 'ग्रहीतृमार्ग' (ॐकारोपासना से स्वात्मलंबनके द्वारा समाधि-भूमियोंका अनुभव करना) ये तीन मार्ग हैं।

मनोविज्ञान और आत्मविज्ञानके भेदसे योग के दो क्षेत्र हैं। एकाग्र या सालंबन भूमियोंका अनुभव तथा विभूतियों अर्थात् सिद्धियों की प्राप्ति मनपर निर्भर है। क्योंकि उक्त सभी योगभूमियों या सिद्धियोंमें मनकी एकाग्रता आवश्यक है। इस एकाग्र समाधिमें मनके सन्मुख किसी भी एक वस्तुका आलंबन होना अनिवार्य है, चाहे वह वस्तु स्थूल हो या सूक्ष्म। तब वह एकाग्र समाधि, सालंबन समाधि, सवस्तुक समाधि, संप्रज्ञात समाधि, सबीज समाधि कही जाती है। यही मनोविज्ञानका क्षेत्र है। इसके उपरान्त निरोधसमाधि, निरालंबन समाधि, निर्वस्तुक समाधि, असंप्रज्ञात समाधि और निर्बीज समाधि के नामसे कही जाती है। जो कि आत्मविज्ञानका क्षेत्र है। इसीमें परम शान्ति प्राप्त होती है। क्योंकि मनकी ५ भूमियां हैं। 'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।' (योग १।१। पर व्यास) (१) चंचलता, (२) मूढता, प्रमत्तके समान मोहग्रस्तता, अज्ञानता, (३) बाधितावस्था, (४) एकाग्रता,

(५) निरोध। एकाग्रता और निरोध योग की भूमियां हैं। किंतु विक्षिप्त अर्थात् भय या दुःखसे बाधित हो सब कुछ छोडकर बाधामें ही संलग्न रहना योगकी समाधि नहीं है। क्योंकि वह प्रयत्न से सिद्ध नहीं की गई। परन्तु विक्षेपके कारण गौण है। अस्तु।

जिस प्रकार सांसारिक कार्योंकी सफलता, उचित तथा नियमित दिनचर्या पर निर्भर है, एवं प्रत्येक योगभूमिका सेवन करने के लिए यम और नियमका आचरण करना अत्यावश्यक है। योग तथा अन्य शास्त्रोंमें इनका विस्तृत वर्णन किया गया है

स्मर्तव्य।

(१) अध्यात्मविद्याको सर्वोपरि विद्या तथा मानवजन्मका मुख्य लक्ष्य मानना चाहिए। अतः अध्यात्मविद्यासे अपने आपको कृतकृत्य करनेका निश्चय कर लेना चाहिए।

(२) यदि संसारके भोगविलासोंमें कुछ सुख हो, तो वह सब इस संसारके आधाररूप विश्वात्मा जगदीश देव के प्रताप से ही है। वस्तुतः सुखपुञ्ज या आनंदघन परमात्मदेवही है। उसही के प्रभावसे संसारकी वस्तुओंमें सुखका लेश है। अतः उस ब्रह्मदेवके सत्संगको पूर्ण शान्ति और सुखोंका हेतु समझना चाहिए। इसलिए उसके साथ पूर्ण अनुराग आवश्यक है।

(३) निःसन्देह अभ्यासके समय अभ्यास-कार्यको सब कार्योंसे मुख्य समझकर इसका निरंतर और पर्याप्त समय तक सेवन करना उचित है।

(४) परमात्म-सत्संग के हेतुओंका मान और विपरीत बातोंका सदा अपमान करते हुए अन्य मान और अपमान को भुला देना अभ्यासीका कर्तव्य है।

(५) यथासंभव कामक्रोध आदिसे अलग रहना चाहिए। अवसर अवसर पर महात्माओंकी शिक्षा और संकेतोंसे अपनेको कमलपत्र की न्याईं सम्पर्करहित बनानेका सदा यत्न करते रहना चाहिए।

(६) सबसे यथायोग्य प्रेमपूर्वक और निष्पक्ष वर्तना तथा साधुमहानुभावोंकी सेवासत्संग करते हुए अन्यथा आचरण से बचना चाहिए।

(७) निःसंदेह अपनी उन्नतिके साथ दूसरोंकी उन्नति करनेमें प्रसन्नता तथा दूसरोंकी उन्नतिमें भी अपनी उन्नति समझना श्रेयस्कर है।

(८) पूजनीय महानुभावोंके सन्मुख नम्र रहना आवश्यक है। क्योंकि विना नम्रताके परमात्मदेवकी ओर झुकना तथा निज समर्पण होना असंभव है।

(९) किसी दुर्व्यसनके ज्ञात होते ही निःशंक उससे दूर जाना चाहिए, क्योंकि जान बूझकर उसमें फंसे रहना आत्महत्या है। आत्महत्यासे प्रभुदेवके साथ सहयोग होना कठिन नहीं, किंतु असंभव है।

(१०) अभ्यासका आरंभ स्वस्थावस्थामें प्रसन्नताके साथ करना चाहिए।

प्राचीन कालमें योगविद्याका प्रचार विशेष था। पर अब अनेक संसारप्रवाहोंके कारण इसका लोपसा ही नहीं किन्तु इसके बहानेसे अनेक नवीन अण्डबण्ड क्रियायें और ढोंग चल पडे हैं। जिनसे लोगोंको बडी हानि पहुंची है। परंतु यहां अध्यात्मविद्याकी उस प्राचीन पद्धतिको जो कि वेद, उपनिषद् और पातंजल योग में वर्णित है और जिसका आचरण ऋषिमुनि किया करते थे तथा वर्तमानमें भी उच्च साधुसंत महात्मा करते हैं, उसीका स्वरूप उपस्थित किया जाता है।

(१) ग्राह्य मार्गका अभ्यास।

शौचस्नान आदिसे निवृत्त होकर शुद्ध एकान्त स्थानमें अनुकूल आसन से बैठ जांय, चाहे वह आसन सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन या स्थिर सुखासन हो। प्रत्येक आसनमें केवल इस

बातका ध्यान रखना कि शरीरांग अकडे हुए न हों, किन्तु आसन के आधारपर सीधे बैठकर बाहर-भीतर के अङ्गोंमें शिथिलता बनानी चाहिए। मेरुमण्ड अर्थात् कमर न झुकाना, किन्तु सारे शरीरका भार गुदास्थलपर रखा हो। इस प्रकार आसन लगाकर मनको निर्विचार बनानेका अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् मनके अंदर जोभी आवें, तत्क्षण उस विचारको हटाना अथवा मनको उससे अलग करना। इसी प्रकार जब दूसरा विचार आवे तो फिर उसको धकेलना और मनको उससे अलग करना । एवं जैसे जैसे विचार आते जांय, वैसे वैसे उनसे मनको हटाते रहना। ऐसा करनेसे मनके संकल्पविकल्पोंपर अधिकार होकर मन स्वाधीन और स्थिर होने लगेगा। अथवा इस निमित्त ॐ की जपध्वनि करनी चाहिए। या मनमें १५ मिनिट तक लगातार ऐसे उपाय करने चाहिए कि मनको क्षणभरकाभी अवसर इधरउधर जानेका न मिले। अथवा दोनों कानोंको अंगुलियोंसे बंद करके अन्तर्ध्वनि जो प्रतीत होती है, उसके ऊपर मनको छोड देना अर्थात् उस ध्वनिपर लगाए रखना । इस प्रकार इन तीनोंमेंसे किसी एकको १० मिनिट तक करके ३ प्राणायाम करना। प्राणायामकी विधिमें ज्ञातव्य यही कि प्राणायाम ४ प्रकारका होता है। परंतु प्रथम तो केवल बाह्य प्राणायामका ही सेवन करना है। अतएव उसीका प्रकार लिखता हूं।

पूर्वोक्त आसन लगाकर भीतरके श्वासको नासिकाके दोनों छिद्रों द्वारा वेग और बलके साथ इस प्रकार फैंको, जैसे कि अतिवेग और बल से वमन (उलटी-कय) हुआ करती है। अर्थात् साधारण श्वासकी अपेक्षा प्राणायामके समय भीतरके श्वासको इस प्रकार बाहर फैंकनेका यत्न करना कि मानो भीतरका श्वास नीचे भूमि आदि स्थल को टक्कर मारे या स्पर्श करे। जैसे अधिक आगे कूदनेके लिए कूदनेवालेको कुछ पीछे दौडकर आना होता है, एवं भीतरके श्वासको बाहर बल और वेगसे फैंकनेके लिए मूलेन्द्रिय (गुदास्थान) का ऊपरको संकोच इस प्रकार करे, जैसे कि किसी सभा आदिमें बने हुए एकाएक शौचप्रवृत्ति (हाजत) को रोकनेके लिए गुदाका ऊपरको संकोच किया जाता है। ऐसा करनेसे भीतरका पूर्ण श्वास बाहर वेग और बल के साथ निकल सकेगा। पुनः निकले हुए श्वासको गुदाके संकोच के साथ बाहर ही रोके रखें। जब घबराहट प्रतीत हो तब धीरे धीरे पूर्ण-श्वास अन्दर ले लेवे। यह एक प्राणायाम हुआ। पुनः उस लिए हुए श्वासको अन्दर बिना ही रोके तत्कालही बाहर फैंककर बाहर ही रोक दें। इस प्रकार ३ प्राणायाम करने चाहिए।

गन्ध तन्मात्राको वशमें करना ।

उक्त प्राणायाम आदि विधिको दोनों समय यदि किया जाय तो ३ दिन पर्याप्त हैं। यदि एक समय करना हो तो एक सप्ताह तक यह विधि करनी चाहिए। किन्तु दोनों समयही करना अधिक उपयोगी है। पुनः ४थे दिन उपरोक्तानुसार नित्यकर्मसे निवृत्त होकर आसनप्राणायाम करके देशी कपूरको आधे मिनिटके लिए इस प्रकार सूंघे, कि मन से नासिका इन्द्रियमें उस गंधका निश्चय करे कि यह कैसी गंध है ? नासिकाकी आन्तरिक त्वचा (भीतरकी खाल) में किस प्रकारका स्पर्श करती है ? लगभग आधा मिनिट सूंघकर उस कपूर को दूर हटा दे । और दो मिनिट तक मनको नासिकामें रखते हुए उस गंधका स्मरण करे । आध पौन मिनिट तक उसकी कुछकुछ स्मृति आयगी। फिर उसी प्रकार आधे मिनिट के लिए कपूर सूंघे और हटाकर दो मिनिटतक याद करे । इस प्रकार ४ बार यही क्रिया करे। सबसे पीछे ४ थी बार सूंघ दो मिनिट के स्थानपर ५ मिनिट तक याद करता रहे। पश्चात् उठ जाए और उठनेके साथ ही कपूरको जरा सूंघकर इधरउधर कुछ शांति से टहले। टहलते हुए मनको कपूर-गंधके संस्कार में

लगाए रखे। यह क्रिया दोनों समय करनी चाहिए। दूसरे दिन कपूर को ३ वार सूंघना और तीन तीन मिनिटके अंतरसे याद करना। अंतमें १० मिनिट तक याद करते रहना। तीसरे दिन दो बार सूंघना और ५ मिनिटके अंतर से याद करना और अंतमें १५ मिनिट तक याद करना। चौथे दिन केवल एक बार सूंघना और २० मिनिट तक याद करना। पांच वें दिन अभ्याससे घण्टा या डेढ घण्टा पहले सूंघना और २५ मिनिट याद करना। पांच वें दिनभी सायंकाल ४ या ५ घण्टे पहले सूंघना और आध घण्टे तक याद करनेका अभ्यास करना। अब आगे कपूर सूंघने की जरूरत नहीं। छठे दिन प्रातःसमय बिना गंधाश्रयके ही ३५ मिनिट तक अभ्यास करना। अभ्याससे उठते समय गंध केवल ५ दिनतकही सूंघनी चाहिये, पश्चात् नहीं।

अभ्यासके समय मन कहां लगावे ?

प्रथम दिन सारी नासिकामें मनको रखते हुए अभ्यास करे। दूसरे दिन नासिकाके जिस भागके अंदर विशेष गंध प्रतीत हो अर्थात् नासिकाकी नोक से लेकर जड तक की ओर जो कि ऊपरकी प्रणाली है, उसपर मनको रखते हुए सुगंधका अनुभव करे। तीसरे दिन उस प्रणाली के द्वारा गंधकी अन्तिम टक्कर ऊपर मस्तिष्क-स्थानमें जहां लगे, वहांपर मनको रखते हुए गंध का अभ्यास करे। साथमें नासिका के ग्रहणद्वार से गन्धानुभव कर पुनः नासिकाके सीधा ऊपरकी और भीतरके अन्तिम केंद्रपर मनको रखते हुए अभ्यास करना चाहिए। चतुर्थ दिन केवल केंद्रमें ही मनको गन्ध सूंघनेसे दो मिनिट पहले रख, गन्ध सूंघकर वहीं केन्द्रपर अभ्यास करता रहे।

इस प्रकार गंधके अभ्यास के दूसरे दिन कपूर की गंध में और अभ्यासकी गंधमें कुछ भेद प्रतीत होने लगेगा। यह गंध कपूर की गंधकी अपेक्षा रोचक और मनको भानेवाली प्रतीत होगी। यह अभ्यास में प्रवेश हो जानेका स्वरूप है। पुनः इस अभ्यासकी गंधमें रोचकता बढती चली जायगी और जिस दिनसे कपूर सर्वथा छोड दिया जायगा, उसी दिनसे यह रोचकता अत्यधिक होती जायगी। गंध भी दिव्य बनती चली जायगी। स्वाभाविक मधुरता (मीठापन) इसमें अनुभव होगा और कपूर से घृणा हो जायगी। यही नहीं, सभी गंधोंसे वैराग्य हो जायगा।

इस गन्धका अभ्यास ऐसा रुचिकर और प्रबल होगा कि अभ्याससे उठनेका मनही न करेगा और उठनेपर भी घूमते फिरते तथा वार्तालाप करते हुए भी घण्टोंतक इसका संस्कार बना रहेगा।

गंधाभ्यास परिपक्व हो जानेपर अभ्यासके अतिरिक्त समयमें भी कभी कहीं व्याख्यान आदि सुनते हुए मन स्थिर हो जाय, तो उसी गंधका काम स्वयं चालू हो जायगा।

इस अभ्यस्त गंधके ऊपर इतना अधिकार हो जाता है, कि जिस समय यह अभ्यासमें आ रही हो तो इसी समय नासिकाश्वास को किसी दूसरे के वस्त्र आदिपर फैंक कर उसको इस गंध का अनुभव करा सकते हैं। किन्तु यह बात विशेष अभ्यासपर निर्भर है। इधर जाना ठीक नहीं। यह सिद्धिका क्षेत्र है। इससे अभिमान होकर अभ्यासमें बाधा होना संभव है।

इस गंधाभ्यासके स्थिर हो जानेपर लगभग एक सप्ताह पश्चात् जिह्वाग्रपर कुछ मीठा मीठा रस प्रतीत होगा। किन्तु उस तरफ मनको नहीं ले जाना, प्रत्युत नासिकाके केंद्रमेंही मनको रखना

क्यों कि जिह्वाग्ररस नासिका के आगे की भूमि है। अपक्वावस्थामें भूमि बदलना ठीक नहीं।

यह कार्य गंधका अभ्यास है। इसके अन्दर किसी निश्चित दिव्य गंधकी दिव्यरूपमें प्रतीति रहती है।

दोनों समयही गंधाभ्यास करनके पश्चात् उठने से कुछ पहले लगभग ५ मिनिटतक 'ओ३म्' का मानसिक जाप करना चाहिए। क्योंकि मनुष्यका अन्तिम ध्येय यही है।

इस अभ्यास में न केवल कपूरकी गंधका ही अपितु अन्य गंधका आश्रयभी ले सकते हैं। पर शुरूसे अंततक अभ्यासमें एक गंध हो। दूसरे गंधोंमें फूलोंकी गंध तथा इतर आदि त्याज्य हैं। पत्तोंमें युकलिप्टिस और तुलसी जैसे रोगनाशक तथा रोगजन्तुनाशक सुन्दर गंधवाले वृक्षों के पत्ते ले सकते हैं। ग्रीष्म कालमें कपूर, पिसी हुई इलायची आदि तथा ठण्डे दिनोंमें युक-लिप्टिस तुलसी, पिसी जायफल आदिसे अभ्यास करना चाहिए।

जिसका मन अत्यन्त चंचल हो और पूर्वोक्त ३ दिन शांत बैठने या ओंकार का जप करने अथवा अन्तर्ध्वनिके सुननेसे अभ्यासमें प्रवेश होनेकी योग्यता उत्पन्न होनेकी संभावना न हो, तो उस व्यक्तिको निम्नप्रकार अभ्यास करना चाहिए।

तीन दिन के स्थानपर एक सप्ताह या दस दिन अथवा इससे भी अधिक समयतक पूर्वोक्त अन्तर्ध्वनि आदिका सेवन करे। अथवा प्रातः ७ बजेके लगभग आसन लगाकर बैठ जाय और १ फुटकी दूरीपर नाभिकी ऊंचाईके बराबर किसी मेज़, चौकी आदिपर सफेद कागज या वस्त्र बिछा एक इंचकी लंबी चौडी ताजी हरी पत्ती उसपर रख प्रथम दिन दो तीन मिनिट त्राटक (बिना पलक झपके देखते रहना) करे। इसी प्रकार प्रतिदिन दो दो तीनतीन मिनिट बढाता हुआ सप्ताह या दस दिनमें आध घण्टा त्राटक का अभ्यास कर ले। किसी दिन त्राटक को छोडे नहीं, किन्तु करता ही रहे। तदनंतर उक्त कपूर आदिका अभ्यास आरंभ करे।

जिस दिन कपूरका आश्रय छोड दिया हो, उस दिनसे लेकर कमसे कम एक सप्ताह और अधिकसे अधिक दो सप्ताह गंधका अभ्यास करना चाहिए। आगे बढनेवाले अभ्यासियों को दो सप्ताह से अधिक गंधाभ्यास न करना चाहिए। किन्तु इससे आगे की भूमियों पर जाना चाहिए। अधिक कालतक गंधाभ्यास ही करते रहनेसे आगे की भूमिपर चलनेमें कठि-नाई होगी। क्योंकि गंधके साथ राग अधिक हो जानेसे उसके अंदर फिर गंध वशीकार की सिद्धियां बाधक बन जाती हैं। अस्तु। उपस्थित गंधाभ्याससे आगे करनेका अभ्यास यह है कि उपस्थित गंधाभ्यास कार्यरूप है। क्योंकि इस को कपूरके आश्रयसे स्थिर किया है। इससे आगे कारण गन्धका अभ्यास करना चाहिए। उसकी विधि यह है, कि अभ्यासके समय मनको नासिका-केंद्रपर रखते हुए जो कपूरके आश्रयसे अभ्यास की गंध प्रतीत हो रही है, उसकी तरह से मनको हटाना अथवा उस गन्धको नासिका के सूक्ष्म श्वासके द्वारा धकेलते रहना, मनसे हटाते रहना और उस गन्धको भुलाते रहना चाहिए। किन्तु मन उसी नासिका के केंद्रपर स्थिर रहे। एवं गन्धको भुलाते हुए उसके स्थान पर भिन्न भिन्न गंध प्रतीत होंगी, उन सब को हटाना चाहिए। पुनः जब दो तीन दिन भुलाते हुए सबके हट जानेपर कारण गन्ध पृथिवी की अपनी वास्तविक गंध (कोरी मिट्टी या प्रथम वर्षा से उत्पन्न भूमिकी गंध) प्रतीत होने लगे, तो उस गन्ध का अभ्यास मनको नासिका के केंद्रमें रखते हुए करना चाहिए। उत्तरोत्तर अभ्यास करने से यह गन्ध भी प्रतिदिन सूक्ष्म और रुचिकर होती

चली जायगी। और कपूरके आश्रयवाली गन्ध भी प्रतिदिन सूक्ष्म और रुचिकर होती चली जायगी। इतनाही नहीं कपूरके आश्रयवाली अभ्यस्त गन्ध से बढकर अत्यंत रोचक और प्रिय मालूम होगी। इसका अभ्यास कुल दो सप्ताह तक करे। कपूरके आश्रय से गन्धाभ्यास-समाधिको सविचार-समाधि कहते है। क्योंकि इसमें कपूरचिन्तनका दिव्य स्वरूप है। कारण गन्धके अभ्यास की समाधिको निर्विचार समाधि कहते हैं। क्योंकि इसमें गन्धमात्र को नेति नेति (नहीं नहीं) स्वरूप है। इस प्रकार से दोनों समाधियां पातञ्जल योगसिद्धांत के अनुसार समझनी चाहिए।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।
(योग- १।४५ सूत्रपर व्यास-भाष्य है कि-
पार्थिवस्याणोर्गंधतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः।

विज्ञप्ति।

उक्त दोनों प्रकारके गंधाभ्यासके दिनों में जानबूझकर किसी तीक्ष्ण गंधको सूंघना नहीं चाहिए। क्योंकि अभ्यास के वास्तविक गन्ध में यह बाधक बनती है।

विशेष।

(क) संसारके सुखोंमें एक गन्ध सुख भी है। जिसको नासिकाइंद्रियसे उपलब्ध करते हैं। उसकी अपेक्षा अभ्यासकी अवस्थामें गन्धका दिव्य सुख अनुभव होता है। जो सांसारिक गन्धसुखसे सैकडों गुणा उत्तम सुखमय है तथा जिसका संस्कार भी देरतक ठहरता है।

(ख) संसार की सभी गन्धोंसे विराग हो जाता है। मन उनमें चलित नहीं होता।

(ग) नासिकाशक्तिका विकास हो जाता है।

(घ) मनकी स्थिरता और बुद्धि की वृद्धि होती है।

(ङ) ग्राह्य मार्गद्वारा निर्बीज (निर्वस्तुक) समाधितक पहुंनेके लिए अभ्यास-भूमिपर आरूढ होने और आगे बढने का साधन है।

(अपूर्ण)

गायत्री कामधेनु है।

(लेखक- पं० तडित्कान्तजी वेदालङ्कार, आफ्रीका)

(लेखाङ्क १)

इस संसार में पैदा हुए हुए मनुष्यमात्रकी यही अभिलाषा रहती है, कि वह सर्वदा सुखी रहे। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की तमाम हलचलों का यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो उन सबकी तहमें एकमात्र सुखकी ही अभिलाषा मिलेगी। संसार में गरीबसे धनी, छोटेसे बडा सभी सुख चाहते हैं और उसीके लिए दिनरात अविरत परिश्रम करते रहते हैं। सुखप्राप्ति के लिए मनुष्यजाति अपने जन्मकालसे ही अनेक उपाययोजना करती आई है और करती चली जा रही है। कौनसा सुख वास्तविक है, इस पर तमाम शास्त्रों ने, बडे बडे विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है, पर फिर भी इस पर मनुष्यजाति के बडे बडे दिमाग अभीतक एकमत नहीं हो सके। यही वजह है कि तमाम प्रकार के क्षेत्रों में मनुष्य सुख प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है। जिन्होंने आध्यात्मिक उन्नतिको ही सुख का एक मात्र साधन समझा उन्होंने उसमें उन्नति कर सुख पाया। जो प्रकृतिवादी हैं उन्होंने उसमें उन्नति कर नानाविध सुखसाधन उपलब्ध कर सुख का मजा चक्खा।

परन्तु यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि संसार के सबके सब मनुष्य आध्यात्मिक सुख प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कर भी सकते हों तो भी वे सांसारिक सुख की अभिलाषा किसी भी हालत में छोड नहीं सकते। इसी बातका ख्याल रखते हुए हमारे यहां चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है। सांसारिक सुख से तृप्त होकर अथवा उस सुख के अनुभवसे असन्तुष्ट होकर ही मनुष्य अध्यात्म की ओर प्रवृत्त हो सकता है, यह अनुभव-सिद्ध बात है। इसलिए सांसारिक सुख के लिए प्रयत्न करना अनिवार्य हो जाता है। अब सवाल यह पैदा होता है कि तो फिर सांसारिक सुख कैसें प्राप्त किया जाय?

हम इसी प्रश्न को हल करने का एक मात्र साधन 'गायत्री' पर आज विचार करेंगे। हमारे ख्याल में तमाम प्रकार के सुख अनायास प्राप्त करने के लिए 'गायत्री' के सिवाय और कोई उत्तम उपाय नहीं। साधारणतया संसार में वह मनुष्य सुखी समझा जाता है, जो कि धनवान हो। हरेक मनुष्य स्वयं भी सदा यही इच्छा रखता है कि उसके पास काफी धन हो। तदनन्तर उसकी शरीरसंपत्ति अच्छी हो। तब उसके मनपसन्द पत्नी तथा संतान हों। उसका चार आदमियों में नाम हो। वह लोकों में सन्मान की दृष्टि से देखा जाता हो। उसके कीर्ति व यश स्थान स्थान पर लोक गाया करें। यही सब ख्यालात सुख के माने जाते हैं।

यहांपर प्रश्न उपस्थित होता है, कि क्या ये सब 'गायत्री' से मिल सकते हैं? हां, मिल सकते हैं। मिल सकने की बात तो अलग रही, आज भी 'गायत्री' से लोग सब सुख प्राप्त कर रहे हैं। प्राचीन जमाने में ऋषिमुनियों ने तो प्राप्त किये ही थे। उन्हों ने अपने अनुभवोंसे मन्त्र, योगादि शास्त्रों को रचकर मनुष्यजाति के परम कल्याण करने में कोई भी बाकी नहीं रखी।

मनुष्यजाति को सांसारिक सुख भी पूर्ण रूपसे मिल सकें इसके लिए नाना तरह की खोज करके वे अपने जो जो अमूल्य अनुभव संसार के सामने

रखते गये हैं, उनमें से एक ' गायत्री ' की खोज भी है । इस ' गायत्री ' मन्त्र का साक्षात्कार सबसे पहले विश्वामित्र ऋषिने किया । अतएव उनके नामसे यह मन्त्र चला आता है । विश्वामित्र का अर्थ है तमाम संसार का मित्र । उनके द्वारा साक्षात्कार किया हुआ ' गायत्री ' मन्त्र भी उसी प्रकार विश्वामित्र है । ' गायत्री ' मन्त्र तथा ' विश्वामित्र ' ऋषिके बारे में अनेक दंतकथायें प्रचलित हैं । वे सब अत्यन्त रोचक तथा शिक्षाप्रदभी हैं । परन्तु उन सबका इस छोटेसे लेख में समावेश करना कठिन है । जिनसे यहां हमारा विशेष मतलब हासिल होता होगा उन्हीं का संक्षेप से निर्देश करेंगे ।

' गायत्री ' मन्त्र की रचना के विषय में पौराणिकों का ऐसा ख्याल है, कि जब विश्वामित्र ऋषिने त्रिशंकु को स्वर्ग भेजा तो ' इन्द्र ' ने उसे स्वर्ग से वापिस कर दिया । इस पर विश्वामित्रने क्रुद्ध होकर त्रिशंकु को वहीं आकाशमें ही ठहराकर उसी समय नवीन सृष्टि निर्माण करनी प्रारम्भ कर दी । उसी समय पृथिवी पर केला, नारियल आदि वनस्पतियां तथा ' गायत्री ' की रचना हुई । आगे चलकर विश्वामित्र से संधि हो जाने से यह रचना अधुरी रही । यह कथानक बडा रोचक तथा लंबा चौडा है । यह सब नक्षत्रों के सम्बन्ध में आलंकारिक वर्णन है । खैर । कुछ भी हो किसी भी तरह से यह अमूल्य मन्त्र ' गायत्री ' संसार को मिला अवश्य । वस्तुतः परमात्मकृत वेद का ही यह मन्त्र है, जिसका कि पूर्ण रूपसे ' विश्वामित्र ' ऋषिने साक्षात्कार किया और उसमें विद्यमान संसार का कल्याण करनेवाली शक्ति के रहस्य का उद्घाटन किया ।

यहां पर एक और भी सवाल उपस्थित हो सकता है कि यदि गायत्री में इतनी ज्यादा शक्ति भरी पडी है, तो फिर वह हमारे हाथ से निकल कैसे गई ? लोक उसका नित्य नियमपूर्वक अनुष्ठान करना भूल कैसे गये ?

इसके मुख्यतया दो तीन कारण हैं । एक तो यह क ज्यों ज्यों परिस्थितिवश भारतवर्ष की दुर्दशा बढती गई, त्यों त्यों वेदों की पठपाठन तथा क्रिया-काण्ड की परिपाटी विलुप्त होती गई । इससे वेदों के अर्थ विलुप्त हो गये । यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है, जब कि हम वेदों की मूल संहिताओंपर दृष्टिपात करते हैं ।

वेदमन्त्र, उनके ऋषि तथा देवता तो किसी तरह बहुत कुछ निश्चयात्मक रूप में मिलते हैं, पर उनके अर्थों का कुछ ठिकाना नहीं । यह सब कैसे हुआ होगा, इसके लिए सिवाय अनुमान के और कोई हमारे पास आज निश्चित आधार नहीं । किन परिस्थितियों की वजह से यह हुआ होगा, कौनसी देश पर ऐसी आफतें आईं होंगी, इत्यादि का कुछ इतिहास आज हमें उपलब्ध नहीं ।

इसके बाद आगे चलकर जहां कहीं कुछ परिपाटी आदि बचे थे, उन्होंने इसे अपनी खुद की वस्तु समझकर ऐसा गोप्य बनाये रखा कि उसका उनके साथ ही अन्त होता गया । गुरुशिष्यपरंपरा से कम होते होते आखिर को नामावशेष रह गया ।

यह सब होते हुए एक जमाना ऐसा आया कि जब ब्राह्मणोंने वेदों को सिर्फ अपनी ही मिल्कत समझते हुए न सिर्फ गुप्त ही रखा, बल्कि उसे अन्य कोई न पढ सके एतदर्थ सख्त नियम भी बना दिए। ब्राह्मणों के इस प्रकार वेदाध्ययन में अडंगे अडा देनेसे ऐसा अनिष्ट परिणाम हुआ कि बचाखुचा वेदों का अध्ययन, अध्यापन भी सर्वथा विलुप्त हो गया । उसका भयङ्कर परिणाम आज हम उन की संतति भोग रहे हैं ।

यही हाल ' गायत्री ' का भी है । आज हमें जो जो पुरश्चरण की विधियां उपलब्ध होती हैं, उन्होंने ऐसे ऐसे बखेडे खडे कर रखे हैं, कि सर्वसाधारण द्विजवर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) चाहता हुआ भी उन से लाभ नहीं उठा सकता । श्रीस्वामी शंकराचार्यजी जैसे की भी जब हम गायत्री-पुरश्चरण विधि देखते हैं, तो हैरान रह जाना पडता है । कहां वह उपनिषदादि की सारगर्भित सरल विधि और कहां ये फजूल के बखेडे ! मनुष्यमात्र के लि

उपदिष्ट गायत्री के पुरश्चरण को ऐसा जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया है, कि उससे शायद ही कोई लाभ उठा सके। यही ऋषिकृत और मनुष्यकृत में वास्तविक फर्क है। वस्तुतः गायत्री का पुरश्चरण इतना जटिल या झमेले में डालनेवाला नहीं। अनुभव भी यही बताता है। फलप्राप्ति में विलंब क्रिया पर इतना अधिक निर्भर नहीं, जितना कि साधक की अपनी योग्यतापर निर्भर रहता है। एक ही क्रिया या अनुष्ठान से दो साधक कार्य करेंगे, तो भी एक को जल्दी लाभ होगा जब कि दूसरे को विलंबसे। इसपर विशेष प्रकाश जपविधि में डालनेका प्रयत्न करेंगे। इतनी आवश्यक भूमिका के बाद अब प्रस्तुत विषयपर विचार करते हैं।

नाम।

'गायत्री' के निम्नलिखित भिन्न भिन्न कई नाम हैं, जिनका कि व्यवहार में समय समयपर प्रयोग किया जाता है।

(१) गायत्री- 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री।' अर्थात् जो इसका जप करता है, उस की यह रक्षा करती है।

(२) गुरुमन्त्र- जब बालक ब्रह्मचारी पहले पहल गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए गुरुके पास जाता है, तब सब से प्रथम वेदारंभसंस्कार में 'गायत्री' का उपदेश किया जाता है। इसलिए इसे गुरुमन्त्र कहते हैं।

इसे 'गुरुमन्त्र' इस लिए भी कहते हैं कि क्योंकि यह सब कार्यों के लिए अमोघ मन्त्र है। जिस प्रकार 'रामबाण' यह शब्द आजकल अमोघ फलदायी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, ठीक उन्हीं अर्थों में इसे 'गुरुमन्त्र' कहा जाता है।

(३) मन्त्रराज- तमाम फलदायी मन्त्रों में इसे ही उच्चतम शीघ्र फलदायी व अवश्य फलदायी पाया गया। इतना ही नहीं इसे सर्व मन्त्रों में सब तरह से श्रेष्ठ भी पाया गया, अतः इसे मन्त्रराज का नाम दिया गया है। इस के सिद्ध कर लेने पर अन्य मन्त्रों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं।

(४) कामधेनु- गायत्रीमन्त्र सिद्ध कर लेने पर जो चाहिए, वह मिल जाता है, अतः इसका नाम कामधेनु है। इसको सिद्ध करनेवाले का संकल्प सिद्ध हो जाता है। वह जैसी इच्छा करता है वही होता है। कहते हैं कि वसिष्ठ ऋषि के पास जो 'कामधेनु' थी, वह यही थी। वसिष्ठ ऋषिने इसको सिद्ध कर रखा था। उन के पास 'गाय' नाम से प्रसिद्ध पशु जाति की 'कामधेनु' नहीं थी। क्योंकि वे सब के सब चमत्कार जो कि वसिष्ठ ऋषिकी 'कामधेनु' ने दिखलाए थे, वे इसी 'गायत्रीरूपी कामधेनु' द्वारा ही संभव हैं। इस गायसे वे चमत्कार होने संभव नहीं।

(५) वेदमाता, छन्दोंकी माता- उपनिषदादिके जमाने में गायत्री का माहात्म्य इतना अधिक बढ गया था, कि लोग 'गायत्री' को वेदोंकी माता या छन्दों की माता कहने लग गये थे। इतना ही नहीं इसे तमाम वेदों का सार-निचोड बतलाने लगे। यह बात यहीं तक न रही। अन्ध भक्तों ने तो अकल को दखल को एक ओर रखकर यहांतक भी कह डाला कि—

> अष्टादशसु विद्यासु मीमांसाऽतिगरीयसी।
> ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च॥
> ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्द्विज।
> ततोऽप्युपनिषच्छ्रेष्टा गायत्री च ततोऽधिका॥
> (बृहत्संध्याभाष्य)

अठारह विद्याओं में मीमांसा सर्वश्रेष्ठ है। मीमांसा से तर्कशास्त्र, तर्कशास्त्र से पुराण, उससे धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्र से वेद, तथा वेद से उपनिषद् और उपनिषद् से गायत्री श्रेष्ठ है।

लिखनेवाले ने आगे देखा और न पीछे। जो मन में आया वह लिख डाला। उसे तो गायत्री का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करना था। उसे अन्य सत्यासत्य से कुछ पडी न थी। अस्तु, कहने का मतलब यह है कि बहुत संभव है, उस समय इस गायत्री का इतना अधिक प्रचार होगा कि जिस के मुंह से सुनो यही गायत्री का ही संवाद सुनाई देता था। उस समय के

बहुत पूर्व ही वेदों का अध्ययन, अध्यापन विलुप्त प्रायः हो चुका था। लोगोंके पास यही एक गायत्री शेष रह गई प्रतीत होती थी। अतः उसके विषय में इतने अतिशयोक्तिपूर्ण गुणानुवाद मिलने स्वाभाविक हैं।

(६) सावित्री- 'गायत्री' की तरह ही 'सावित्री' भी बहुत प्रसिद्ध नाम है। क्योंकि इस मन्त्र में सविता से प्रार्थना की गई है, अतः इसे 'सावित्री' कहते हैं। इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। यह 'सविता' की पुत्री होने से 'सावित्री' कहलाती है। 'सविता' के शब्दार्थ पर विशेष प्रकाश आगे चलकर मन्त्रार्थ कहते हुए डालेंगे।

गायत्री का माहात्म्य।

ब्राह्मणउपनिषदादि से लेकर तमाम संस्कृत साहित्य में गायत्री के विषय में जो कुछ उपलब्ध होता है, उसे देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि 'गायत्री मन्त्र' अन्य मन्त्रों से अवश्य ही कुछ कुछ विशेषता रखता है। समय समय पर लोगों ने इस की महत्ता का अनुभव किया। यही कारण है कि इस के विषय में इतने ज्यादा गुणगान मिलते हैं। जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं, किसी किसीने तो इसे सर्वश्रेष्ठ भी बताया है।

गायत्री मन्त्र के विषयमें उसका माहात्म्य दर्शानेवाले बहुत से भिन्न भिन्न कथानक उपलब्ध हैं। आज भी कहीं कहींपर इससे विशेष लाभ उठानेवाले सज्जन मिल आते हैं। हिन्दुमात्र की गायत्री पर असीम श्रद्धा है। यह सब होते हुए भी वे इससे लाभ उठाना नहीं जानते।

एक वार की बात है कि मैं गुजरात में एक स्थान पर कुछ धार्मिक चर्चा कर रहा था। वहांपर एक लगभग ६५ वर्ष के सनातनी वृद्ध सज्जन बैठे हुए थे। उन्हों ने पुराण आदि खूब सुन रखा था। धर्म-कर्म में पर्याप्त श्रद्धा थी। उन्हें मालूम था कि मैं आर्यसमाजी हूं। उनका ऐसा ख्याल था कि प्रायः आर्यसमाजी धर्मकर्म के विरोधी होते हैं। उन्होंने मुझे जब धार्मिक चर्चा करते सुना, तो पहले जरा चकराये। परन्तु बहुत देर सुनने के बाद उन्हें विश्वास हुआ कि वे अबतक भ्रममें थे। जैसा उन्हें आर्यसमाजियों के विषय में बताया गया था, वह गलत था। उन्हें मेरे प्रति सद्भावना उत्पन्न हुई। चर्चा के अनन्तर और तो सब चले गये पर वे मेरे पास और भी नजदीक आकर बैठ गये और सवाल जवाब करने लगे। बातचीत में उन्होंने मेरे से पूछा कि क्या आप 'गायत्री' मन्त्र को मानते हैं? मैंने कहा हाँ, अवश्य मानता हूं। वह तो हमारा गुरुमन्त्र है। इस पर उन्हों ने प्रसन्न होकर कहा कि मैं उसे सिखना चाहता हूं।

मैंने उत्सुकतासे उन्हें पूछा कि आप अब इस वृद्धावस्था में उसे क्यों सीखने के लिए उत्सुक हो रहे हैं? इसपर वे बोले कि पंडितजी! गायत्री मन्त्र की बडी महिमा है। मरते मरते भी अगर मैं इसका उच्चारण कर पाया, तो दूसरा जन्म नहीं पाऊंगा। वे कहने लगे कि सुनिए मैं आपको गायत्री मन्त्र का माहात्म्य सुनाता हूं। मैंने उसे सीखने के लिए बहुत यत्न किया। परन्तु पहले तो उसे जानने-वाले ही कम मिलते हैं। किसी ब्राह्मण को कहो तो वह सिखाने से इसलिए डरता है कि कहीं उसके मुखसे अशुद्ध उच्चारण न हो जाय। अर्थ तो वे भी जानते ही नहीं और भूल हो जानेके डरसे वे भी उसे बोलते नहीं। यह कहते हुए वे गायत्री की महीमा इस प्रकार सुनाने लगे-

एक वार एक ब्राह्मण को जिसने कि 'गायत्री' मन्त्र की दीक्षा ली हुई थी, किसी ने कहा कि अमुक स्थानपर एक ऐसा भङ्गी रहता है कि जो अमुक मन्त्र साधना जानता है और उसके कहनेके अनुसार साधना करने से कोई भूतपिशाच सिद्ध होकर मनुष्य की तमाम कामनायें पूरी कर देता है। वह ब्राह्मण ढूंढते ढूंढते उस भङ्गी के पास पहुंचा। उसे अपना गुरु बनाया। उस भङ्गी के कथनानुसार नरकपाल आदि लेकर रात्रि में श्मशान में जा मुडदे की छातीपर बैठकर आराधना प्रारंभ कर दी। निश्चित समय बीत जाने पर जिस पिशाच की आराधना की जा रही थी, वह प्रकट हुआ।

परन्तु वह ब्राह्मण के सन्मुख न जाकर पीठ की तरफ, पीछे की ओर खडा होकर कहने लगा, कि हे ब्राह्मण ! तू जिसकी आराधना कर रहा है, वह मैं आ उपस्थित हुआ हूं। तुझे जो कुछ वर मांगना हो मांग ले। इसपर उस ब्राह्मण ने कहा कि पहले तू मुझे अपने दर्शन देनेके लिए मेरे सन्मुख आ। इस पर उसने कहा कि हे ब्राह्मण ! मैं तेरे सामने नहीं आ सकता, क्योंकि तेरे पास तो 'गायत्री मंत्र' है। वह मुझे जलाकर भस्म कर डालेगा। जिस के पास गायत्री मन्त्र होता है, उसके सामने मैं नहीं जाता। तू वर मांग। मैं वर देकर यहीं से चला जाऊंगा। यह सुनकर ब्राह्मण चौक पडा। उसको पश्चात्ताप होने लगा। वह उससे कहने लगा कि तब मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरे पास ही खजाना जब भरा पडा है, तो मैं काहेको किसी ओर से कुछ मांगूं ? तू खुशीसे जा सकता है। फिर ब्राह्मण ने शुद्ध पवित्र हो, गायत्री का यथावत् पुरश्चरण करके सब सिद्धियां प्राप्त कीं।

इसी प्रकार 'पंचदशी' के भाष्यकर्ता मध्वाचार्यजीके विषय में भी ऐसा प्रसिद्ध है, कि वे अत्यन्त निर्धन थे उन्होंने धनप्राप्ति के लिए 'गायत्री' का पुरश्चरण किया। पुरश्चरण की समाप्तिपर 'गायत्री' देवी प्रसन्न हुई। उसने दर्शन देकर वर मांगने को कहा। मध्वाचार्य ने धन मांगा। इसपर देवीने कहा कि धन तुम्हारे नसीब में नहीं है। वह यह कह कर अन्तर्धान हो गई। इसपर मध्वाचार्यने यह सोचकर कि जब मेरे नसीब में धन नहीं है, संन्यास ले लिया। संन्यास लेकर जैसे ही गृहत्याग करने के लिए बाहर पैर रखा, स्वर्ण मोहरों का वर्षा होने लगी। परन्तु उन्होंने कहा कि अब मैं क्या करूं ? अब तो समय निकल गया।

इन दन्तकथाओं का सारांश यह है, कि 'गायत्री' में कोई ऐसी विशिष्ट शक्ति है, कि उससे समय समय पर लोग प्रभावित होते रहे हैं। और अतएव उसके विषयमें ऐसी ऐसी चमत्कारपूर्ण दंतकथायें जरूर पाई जाती हैं। इसी प्रकार की एक दंतकथा स्वामी दयानन्दजी के गुरुमहाराज श्रीस्वामी विरजानन्दजी के विषय में भी मिलती है। वह इस प्रकार है।

कहते हैं कि श्रीस्वामी विरजानन्दजी सरस्वतीने गायत्री की महिमासे आकर्षित होकर तीन वर्षतक नित्य नियमित गंगानदी के जल में खडे होकर 'गायत्री' का पुरश्चरण किया था। और उसके परिणामस्वरूप उन्हें अलौकिक आत्मबल और विद्या प्राप्त हुई। जिसका लाभ आगे चलकर स्वामी दयानन्द सरस्वती को मिला।

इसी प्रकार मनुसंहिता २।७७ में लिखा है कि—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ॥

अर्थात् मानो ऋग्, यजुः और साम इन तीनों वेदों के निचोड से गायत्री के तीन पादमें से एक एक को बनाया गया है। यानि गायत्री तीनों वेदों का सारभूत है। इसी तरह बृहद् योगी याज्ञवल्क्य० ४। १६ में लिखा हुआ है कि—

यथा च मधु पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसात्पयः।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते ॥

अर्थात् जैसे फूलों का सारभूत मधु है, दूध का घी है, और रस का दूध सार है, उसी प्रकार सब वेदों का सार 'गायत्री' मन्त्र है। इसी प्रकार उसीमें यह भी लिखा हुआ है कि–

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

गायत्री वेदों की माता है। गायत्री पाप का नाश करनेवाली है। इतनाही नहीं, अपितु गायत्री से बढकर पवित्र करनेवाला कोई भी इस लोक और परलोक में कहीं भी नहीं है।

ऐसे ही उपनिषदों में भी स्थान स्थान पर गायत्री की महिमा दर्शाई गई है।

महानारायणोपनिषद् में गायत्री को वेदों की माता बतलाया गया है। तथा–

गायत्री छन्दसां माता। (१५।१)

इसी प्रकार नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् ४।२ में लिखा है कि- 'गायत्री वा इदं सर्वम्' । छान्दोग्योपनिषद् में भी ऐसा ही लिखा है- 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च... (३।१२।१) बृहदारण्यकोपनिषद् (५-१४) में गायत्री के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि-

'भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥'

अर्थात् गायत्री के प्रथम एक पद में जो आठ अक्षर हैं, उनसे भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ इन आठ अक्षरों का अभिप्राय है । यानि गायत्री के प्रथम पद से इन तीनों का अभिप्राय है । जो इस रहस्य को जानता है, वह इन तीनों लोकों का विजय कर लेता है । इन तीनों लोकों तक उस की पहुंच हो जाती है ।

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै परमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥

इसी प्रकार ऋचः यजूंषि और सामानि ये अष्टाक्षरवाले तीनों वेद गायत्री के द्वितीय पाद में आ जाते हैं । जो यह बात जानता है, वह इन तीनों विद्या को जीत लेता है । इन तीनों विद्याओं में उसकी अव्याहत गति हो जाती है ।

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ।

अर्थात् प्राण, अपान और व्यान (विज्ञान) ये गायत्री का तृतीय चरण हैं । इस बात को जानता है, वह तमाम प्राणिमात्र पर जय प्राप्त करता है ।

अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परो रजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

और जो इस गायत्री के इस चतुर्थ पाद को जो कि रजतमसे परे दर्शनीय पद है, उसे जानता है वह यश और श्री से तपता है ।

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ४ ॥

सो यह गायत्री इस चतुर्थ पदमें प्रतिष्ठित है ।

इसी प्रकरण में आगे चलकर गायत्री की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि—

गायत्री के विषय में मनुस्मृति में लिखा है-

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान् ॥
(मनुः २।८१।८२)

अर्थात् ओंकार के साथ 'भूः भुवः स्वः' ये तीन महाव्याहृतियोंवाली त्रिपदा गायत्री ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग समझना चाहिए । जो बिना आलस्य और प्रमाद के रोज बाकायदा तीन वर्षतक लगातार गायत्री पढता है (जप करता है,) वह प्राणस्वरूप हुआ हुआ परम ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार मनु का कथन है कि-

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ॥
(मनुसंहिता- २-७७)

अर्थात् प्रजापतिने तीनों वेदों का दोहन करके गायत्री का एक एक पाद बनाया है ।

गायत्री के विषय में महाभारत भीष्मपर्व अ. १४, श्लोक १६ में लिखा हुआ है कि—

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ॥

अर्थात् जो इस सर्व गुणों से युक्त पुण्यवाली गायत्री को तत्त्वपूर्वक यानि यथार्थ विधि से जानता है, हे भरतश्रेष्ठ ! वह इस संसार में कभी नाश को प्राप्त नहीं होता- उसे सांसारिक कष्ट नहीं सताते ।

इसी प्रकार भिन्नभिन्न स्थलों में भिन्नभिन्न तरह

से गायत्री की महिमा का वर्णन पाया जाता है। महर्षि स्वामी दयानन्दजी महाराजने भी ऋग्वेदादी भाष्य भूमिका पृष्ठ ३१६ में लिखा है, कि "क्योंकि परमेश्वर प्राणका भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करने-वाला गायत्री मन्त्र है, जिसको कि गया इसलिए कहते हैं कि क्योंकि उस का अर्थ जानकर श्रद्धा सहित परमेश्वर की भक्ति करनेसे जीव सब दुःखोंसे छुटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।"

इसी तरह उसी ग्रन्थ में पृष्ठ २६६ स्वामीजी लिखते हैं कि–'अधिक होम करने की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्त में पढकर गायत्री मन्त्र से करे।"

सुज्ञ पाठकों का गायत्री की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए इस सम्बन्ध में इतना लिखना हमारी समझ में पर्याप्त होगा।

श्रद्धा।

किसी भी कार्य को करनेके लिए पहले पहले उस के प्रति श्रद्धा का होना परमावश्यक है। जबतक मनुष्य में श्रद्धा नहीं होती, तबतक वह उसके सत्य स्वरूप को नहीं पा सकता। खास करके ईश्वरभक्ति, धर्म तथा तमाम अपरोक्ष कार्योंमें विना श्रद्धा कभी भी सफलता हासिल नहीं हो सकती। इस श्रद्धा में इतनी शक्ति है कि श्रद्धावान् कभी भी निराश नहीं होता। कार्य की आधी सफलता श्रद्धापर निर्भर है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में एक 'आप्तवचन' नामक प्रमाण है।

इस प्रमाण का आधार वास्तवमें देखा जाय तो श्रद्धा ही है। श्रद्धा और तर्क संसार के मार्गदर्शक हैं। परन्तु जो तर्क को श्रद्धाके ऊपर रखकर व्यवहार करता है, वह दुनिया में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी दुनिया में स्थिति 'धोबी के कुत्ते' जैसी हो जाती है। इसके विरुद्ध जो तर्क को श्रद्धा के स्वाधीन रखकर व्यवहार करता है, वह सदैव ठीक रास्तेपर चल चलता हुआ अभिलषित फल पाता है। तर्क का सर्वथा त्याग भी हानिकर है। तर्क श्रद्धा का रास्ता साफ करता है। तर्क से श्रद्धापर आवश्यक अङ्कुश रहता है। दोनों ही अकेली अवस्था में अच्छे नहीं।

फिर भी अकेली श्रद्धा उतनी हानिकारक नहीं, जितना कि तर्क। अकेला तर्क महा भयङ्कर है। श्रद्धावान् कभी भी अभिलषित फल प्राप्त कर सकेगा, पर अकेला तर्कवाला 'इतो नष्टः, ततो भ्रष्टः' हो जायगा। इसलिए तर्क और श्रद्धा का योग्य समन्वय करते हुए तर्क को श्रद्धा के स्वाधीन रखकर कार्य करना चाहिए। श्रद्धा और तर्क दोनों ही ऋषि (मार्गदर्शक) हैं। परन्तु उनमें से ज्येष्ठ पद श्रद्धा का ही है।

आजकल हम देखते हैं कि हिन्दू लोक प्रायः अंधश्रद्धालु हैं। उन्हों ने तर्क ऋषि का सर्वथा त्याग कर रखा है। इसका फल वे प्रत्यक्ष भोग रहे हैं। कट्टर पंथी हिन्दुओं को कितना भी समझाकर कहा जाय कि वेदों में हिंसा का नामतक नहीं। वेद हिंसा के सख्त विरोधी हैं। पर वे इस बात को इस तरह से कभी भी मानने को तैयार नहीं होंगे। वे हिंसाके तो विरोधी हैं, पर वे सीधे तौर पर नहीं। उन्हें उलटे कान पकडना इस मजबूतीसे ठसा दिया गया है, कि वे उसे छोडने को किसी भी सूरत में तैयार नहीं। वेदों में हिंसा दिखाकर फिर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर बचाव करने के लिए वे तैयार हैं, पर वेदों में हिंसा नहीं, इस को माननेके लिए तैयार नहीं। उनके दिलों में जबतक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस लंगडे जवाबने घर कर रखा है, तबतक वे अपनी अंधश्रद्धाको छोडने के लिए तैयार नहीं। बिना तर्कऋषिके श्रद्धा अंध बन जाती है। यही हाल तर्क का भी है। बिना श्रद्धाके तर्क भी अंधा हो जाता है।

अब तर्क का प्राधान्य होनेसे क्या होता है, यह भी जरा देख लें। ऋषि दयानन्द ने हिन्दू जाति के मार्गदर्शक तर्क और श्रद्धामेंसे तर्क को सर्वथा विलुप्त हुआ हुआ देखकर उसका पुनरुद्धार करनेकी ठानी। विलुप्त वस्तु का पुनरुद्धार करनेके लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि उस का विशेष रूपसे

समर्थन और प्रदर्शन किया जाय। इसी दृष्टि से उन्हों ने तर्क का विशेष रूप से आश्रय लिया। परन्तु उस पर श्रद्धा का अङ्कुश बराबर वैसा का वैसा ही रखे रखा।

स्वामीजीके जीवन की घटनाओं को देखने से यह बात विशेष रूपसे स्पष्ट होती है। उन की इस अखण्ड अपरिमित श्रद्धाने ही गुरुदत्तजी विद्यार्थी, M. A. के जीवन को बदल डाला। वेदों में और ईश्वर में अखण्ड श्रद्धा के लिए उन्होंने सर्वस्व का त्याग किया। उन के जीवन में ऐसे कितने ही मौके आए, पर वे अपनी बातपर डटे रहे। यह सब अन्ध श्रद्धा का परिणाम नहीं था। उन्हों ने श्रद्धा और तर्क के आश्रय से अपने विचार स्थिर किये थे। यही वजह है कि उस समय के तमाम बडे बडे विद्वानोंने उनका सिक्का माना। जहां जहां जाते थे वहां वहां बडेसे बडे धुरंधर पंडितको भी अपने दृढविश्वास व तर्क से सत्य बात मनवा देते थे। उनके जीवन की सफलता का वास्तविक आधार श्रद्धा और तर्क ऋषि का साथ ही था। औरों के पास एक ही ऋषि का आधार था जब कि स्वामीजी के पास दोनों ऋषि मौजूद थे।

स्वामीजीने अपने अनुयायियों को वारसे में ये दोनों ऋषि दिये। परन्तु शोकसे कहना पडता है, कि उनके अनुयायीगण भी उक्त दोनों ऋषियों को सम्भाल न सके। तर्कऋषि की चंचलता और चपलताने श्रद्धा को दबा दिया। श्रद्धा का स्वभाव शांत और कालांतर में परिणाम दिखानेवाला है, जब की तर्क चपल व तात्कालिक प्रभाव दिखाता है। किसी बात का चाहे व सत्य हो या असत्य तर्क शीघ्र ही उसका खण्डनमण्डन करके अपने तेजी दिखा सकता है। वक्ता इस तर्क के प्रभावसे श्रोताओंको चक्कर में डाल सकता है। तर्क की इस ओजस्विता के चक्कर में आर्यसमाज भी फंस गया। प्रारंभ प्रारम्भ में तर्क ने जो रंग दिखाया, उस से ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो यही ठीक है। पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया और तर्क का कार्य व तात्कालिक परिणाम ठंडा होता गया त्यों त्यों सब को अनुभव होने लगा, कि अबतक जो जो कार्य हुआ है वह ठोस नहीं है, जैसा कि होना चाहिए।

तर्क ने आर्यसमाजके लिए रास्ता साफ अवश्य कर दिया, पर उस मार्ग पर दृढविश्वासपूर्वक चलने के लिए जिस चीज की आवश्यकता थी, वह तो वहां थी ही नहीं। श्रद्धा का वहां पता ही न था! इस का वही फल हुआ जो होना था। कोई गुरुकुलों के स्नातकों को दोष देने लगा तो कोई गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली में खामी दिखाने लगा। हरेक अपने अपने दिमाग से इसके कारण सोचने लगा। वस्तुतः इन सब में श्रद्धा का ही अभाव है। यह जो आज अनिच्छित परिणाम देखने को मिल रहा है, वह इस तर्क-ऋषि का एक मात्र आश्रय है। श्रद्धा कहां है? ढूंढनेपर भी दिखाई नहीं देती। जब तक श्रद्धा उत्पन्न करने के तरीके अख्त्यार नहीं किये जायंगे, तबतक यही हाल बना रहेगा।

तर्क के प्रभाव से विनष्ट श्रद्धा लाना बडा ही कठिन होता है। श्रद्धालुपर तर्क अपना कार्य कर सकता है, पर तार्किक पर श्रद्धा की असर बहुत ही विलंब से होती है। इसके लिए श्रद्धा जबतक चमत्कार दिखाकर तार्किक को चक्कर में न डाल दे तबतक तर्क अपनी हठ नहीं छोडता। इसलिए तर्क के इस दुष्परिणाम से बचने के लिए यह परमावश्यक है कि छोटी ही अवस्था से बालक पर श्रद्धा का प्रभुत्व जमाया जाय। उसे तर्क का आश्रय लेना सिखाने से पूर्व पूर्ण श्रद्धावान् बनाया जाय। एक वार तर्क का आश्रय जिसने ले लिया उसमें फिर श्रद्धा पैदा करना सामान्य मनुष्य के लिए लगभग असम्भव है।

'आर्यसमाज' हिंदु-धर्म का ही एक सुधारक अङ्ग समझा जाता था। उसके संस्थापक ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं यह कोई नवीन धर्म का स्थापन नहीं कर रहा हूं। आज भी उसके अनुयायी यही कहते हैं। परन्तु कहने और करने में फर्क पडता चला जा रहा है। आर्यसमाज आज क्रमशः

एक सम्प्रदाय, पन्थ या मतका स्वरूप धारण करता चला जा रहा है। इसका कारण ढूंढा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहां आर्यसमाज में कुछ लोगोंपर सिर्फ तर्कने प्रभाव जमाया है, वहां कुछ लोगोंमें उनका पुराना अन्ध श्रद्धा (तर्कविहीन श्रद्धा) का वारसा वैसा का वैसाही मौजूद है। फर्क इतनाही है कि वे जहां पहले कट्टर पंथी हिंदू कहलाते हुए मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि पौराणिक ढंग के क्रिया-कलाप करते थे, वहां अब वे अपनेको आर्यसमाजी कहलवाते हैं और जो कुछ एक वार समझपूर्वक या बेसमझपूर्वक पकड लिया है, उसे छोडनेको कतई राजी नहीं। संप्रदाय बनानेमें अन्धश्रद्धा जितना कोई सहायक नहीं।

ऋषि दयानन्द तो श्रद्धा और तर्क दोनों का मेल करके रखते थे और इसका वारसा भी देना चाहते थे और दे भी गए। परंतु हमारा कमनसीब कि हम उस वारसे को आज संभालनेमें असमर्थ हो रहे हैं। हम तबतक उन्नत नहीं हो सकेंगे जबतक कि श्रद्धाका नये सिरेसे पुनरुद्धार कर उस का व तर्क का समन्वय करते हुए हिंदु जाति के पुनरुद्धार के पवित्र कार्य में अग्रेसर न होंगे।

प्रायः लोग दान, पुण्य आदि धार्मिक कृत्योंसे बचने के लिए ऐसे किसी भी कार्य को अन्धश्रद्धा कहकर तर्क के हथियार से काटकर फैंक देते हैं। वे सिद्धान्त में श्रद्धा रखकर सिद्धान्त की रक्षाके खातर ऐसा नहीं करते। अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए शुष्क तर्क का आश्रय लेकर अपना तात्कालिक बचाव करते हैं। दान-पुण्य के कार्य से बचने के लिए या ऐसे ही अन्य कार्यों से बचने के लिए उनके पास एक निश्चितसा जवाब रहता है। कोई भी आया कि उसे जटसे टकासा जबाब सुना देते हैं कि- हम तो आर्यसमाजी हैं। यह है शुष्क तर्क का बिना सोचे समझे सबके हाथ में हथियार दे देने का फल। इस प्रकार के सैंकडों अनुभव प्रायः उन सब लोगोंको आए होंगे जिन्हें कि सामाजिक कार्य करनेके मौके अक्सर आते रहते हैं।

दोनों समय नित्यप्रति नियमपूर्वक प्रत्येक आर्य-समाजी को संध्या और हवन करने चाहिए। परन्तु हममें से इस नियम पर श्रद्धा रखनेवाले कितने हैं ? कितना भी प्रयत्न किया जाय तो भी एकवार तर्क से बंजर हुई हुई मानसिक भूमि में श्रद्धा के अङ्कुर फूटते ही नहीं। मनमें बार बार विचार उत्पन्न होने पर भी तर्क उसका समाधान करने के लिए तत्पर रहता है। वह कहता है, क्या हुआ आज संध्या न की तो। कल कर लेंगे। जब कल आती है, तो फिर वही समस्या उपस्थित होती है। उसीसे मिलता जुलता पुनः तर्क उत्तर देकर समाधान कर देता है। इसी प्रकार से जब बहुतसी कल बीत जाती हैं, तब तर्कका और भी साहस बढ जाता है। वह कहता है कि ईश्वर तो निरीह है। उसे स्तुतिप्रार्थना की कहां जरूरत है ? हमने संध्या हवन न भी किये और नित्य नियमपूर्वक अपने कर्तव्यकर्म करते गये तो वही सन्ध्या है। संन्यासी को भी तो सन्ध्याहवन माफ ही हैं। इसी तरह सन्ध्याहवन के लिए बचीखुची आशा भी समाप्त हो जाती है। यह है शुष्क तर्कका इनाम।

यही हालत हमारे चोटी और जनेऊ की भी है। चोटी और जनेऊ न रखने का बचाव करने के लिए भी तर्क तैयार है ? चोटी और यज्ञोपवीत न रखे तो क्या नुकसान है। ये तो स्मार्तधर्म हैं। श्रौत तो हैं ही नहीं। और इनके बिना भी इनका प्रयोजन और कार्य सिद्ध हो जाते हों तो फिर फजूल में उनका क्यों धारण किया जाय ? बस बहुतसे आर्य-समाजियोंने धडाधड जनेऊ उतार कर ताकमें रख दिये। चोटी बिचारी की क्या मजाल की वह रहने पाय। जहां यज्ञोपवीत पर ही हल्ला बोल दिया गया, तो उसकी बारी तो उससे भी पहले आनी स्वाभाविक थी। आखिर को यह वाद छिडा की वेदों में यज्ञोपवीत के धारण करने का कहीं विधान भी है या नहीं ? लोगोंने भिन्न प्रकार के प्रयत्न कर के उसे अपने अपने ढंगसे वेदोंमें से ढूंढने का प्रयत्न किया। परन्तु तर्क को वेदसे भी क्या पडी है। वह तो सभी पर समानरूपसे प्रहार करने को तैयार

है। उसने जटसे निकाल दे दिया कि यह सब खींचातानी है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्रद्धा की संरक्षकता से तर्क को निकालकर फेंक देनेका ही यह सब फल है।

इसी प्रकार बहुतसी बातें हमारे नित्यप्रति अनुभव में आ रही हैं, जिनमें कि तर्क ने श्रद्धा को दूर भाग रखा है। यही हाल गायत्री आदि वेदमन्त्रों के साथ भी है। ऋग्वेद १० वें मण्डल का १५१ सूक्त ५ मन्त्रों का श्रद्धा के सम्बन्ध में है। उसमें श्रद्धाकी कितनी बडीभारी महिमा बताई गई है। देवता और ऋषि दोनों ही श्रद्धा हैं। वह सूक्त इस प्रकार है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

(अग्निः श्रद्धया समिध्यते) श्रद्धासे अग्नि जलाई जाती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धासे ही यज्ञ-यागादि में हवि डाला जाता है। (श्रद्धां) श्रद्धाको (भगस्य मूर्धनि) धनादि तमाम प्रकार के ऐश्वर्य से भी ऊपर (वचसा वेदयामसि) हम सब हमारी वाणियों से बतलाते हैं।

श्रद्धा ही से दोनों प्रकार की अग्नियां (भौतिक अग्नि तथा परमात्मा) प्रदीप्त हो सकती हैं। तमाम प्रकार के होम और दानादि त्याग भी श्रद्धासे होते हैं। वास्तव में श्रद्धा ही तमाम प्रकार के ऐश्वर्यों में श्रेष्ठ है, उसके आगे तमाम ऐश्वर्य तुच्छ हैं। उसी की बदौलत सब प्रकार के ऐश्वर्य मिलते हैं। यह है इस मन्त्र का स्पष्टीकरण।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

(श्रद्धे) हे श्रद्धा ! तू (ददतः प्रियं) दान देनेवाले का प्रिय कर। उसे अभिलषित फल दे। (श्रद्धे दिदासतः प्रियं) और हे श्रद्धा ! जो दान देनेकी इच्छा रखता है, उसका भी तू कल्याण कर। (भोजेषु यज्वसु प्रियं) जो दुनियाको भोज्य पदार्थ देनेवाले हैं उनमें और यज्ञकर्ताओं में (इदं मे उदितं प्रियं कृधि) यह मेरा कथन प्रिय कर। अथवा उनमें मेरा उदय प्रियकर।

श्रद्धा दान देनेवाले का तो कल्याण करती ही है, पर जो दान देनेकी इच्छा रखता है, उसका भी वह कल्याण करती है। क्योंकि श्रद्धावान् के दिलमें देने की इच्छा पैदा होनेसे वह दान किए बिना नहीं रह सकता। श्रद्धा से तमाम दानियों में अग्रेसर होता है, भोजनीय पदार्थ मिलते हैं और श्रद्धा ही की वजहसे सब याज्ञिकों में सम्मान पाता है। अगले मन्त्र में इसी बातको उदाहरण देते हुए समझाते हैं।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

(यथा) जैसे (देवाः) देवोंने (उग्रेषु असुरेषु) उग्र असुरों में (श्रद्धां चक्रिरे) श्रद्धा करके श्रद्धा के बलसे विजय पाई, (एवं) वैसे ही (भोजेषु यज्वसु) भोजन देनेवाले तथा यज्ञकर्ताओं में हे श्रद्धा तू (अस्माकं उदितं कृधि) हमारा उदय कर। हमें उनमें श्रेष्ठ विजयी बना।

अर्थात् जिस प्रकार श्रद्धा के बलसे दैवी सम्पत्ति आसुरीपर विजय पाती है, उसी प्रकार हम पूर्ण श्रद्धा के बलसे तमाम दानियों और याज्ञिकों में यशस्वी सबके प्रिय व सम्मान के योग्य बनें।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

(देवाः यजमानाः वायुगोपाः) देव, यजमान और योगीगण (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं। (श्रद्धां) श्रद्धा को (हृदय्यया आकूत्या) हृदयगत दृढ संकल्प से प्राप्त किया जाता है। (श्रद्धया) श्रद्धासे (वसु विन्दते) धन प्राप्त होता है।

तमाम प्रकार के मनुष्य श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह श्रद्धा हृदयके दृढनिश्चयसे ही मनुष्य में आती है। हृदयगत दृढनिश्चय ही मनुष्य को श्रद्धावान् बनाता है। इसी श्रद्धासे ही मनुष्य धनको प्राप्त करता है।

श्रद्धा ही धनको दिलाती है। इसलिए-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

उपरोक्त तमाम गुणोंवाली (श्रद्धां) श्रद्धा को हम (प्रातः) प्रातःकाल के समय (हवामहे) बुलाते हैं। (श्रद्धा मध्यं दिनं परि) और उसी तरह श्रद्धा को मध्याह्न के समय भी हम बुलाते हैं और ऐसे ही (श्रद्धां) श्रद्धा को (सूर्यस्य निम्रुचि) सूर्य के अस्तसमय में अर्थात् सन्ध्याकाल में भी बुलाते हैं। इसवास्ते हे (श्रद्धे) श्रद्धा ! तू (इह) इस संसार में (नः श्रद्धापय) हमें श्रद्धावान् बना।

इस मन्त्र में उपसंहार करते हुए कहा है कि हम सबेरे दुपहर और शाम अर्थात् हर समय श्रद्धा का चिन्तन करते रहें। ताकि कभी भी श्रद्धा से विमुख न होते हुए सदा श्रद्धावान् बने रहें।

यह है संक्षेपसे श्रद्धा की वेदों में महिमा। यह है संक्षेप से वेदों का श्रद्धा के सम्बन्ध में आदेश। इसी प्रकार और भी स्थलों पर श्रद्धा की महिमा बतलाई गई है। ब्राह्मण, उपनिषद् तथा गीता में भी श्रद्धा के माहात्म्य की पर्याप्त चर्चा पाई जाती है।

किस प्रकार की श्रद्धा शीघ्र फल देनेवाली है इस बात का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण निम्न लिखित आख्यायिका से बहुत अच्छी तरह हो जाता है।

कोई एक ब्राह्मण नित्यप्रति नदी के किनारे बैठकर प्राणायाम आदि नित्य नैमित्तिक क्रिया करता था। एकबार एक गडरिया अपनी भेडबकरियां चराता हुआ अचानक उस तरफ आ निकला। उसने देखा कि कोई मनुष्य नदी के किनारे शान्त भाव से बैठकर कुछ कर रहा है। उसके दिल में उसे देखकर श्रद्धा पैदा हुई। वह चुपके से उसके सामने कुछ दूरपर आकर बैठ गया। जब ब्राह्मण की सन्ध्या समाप्त हुई तो उसने उससे पूछा कि हे महाराज ! यह आप क्या कर रहे थे ? कभी यह नाक बन्द करते तो कभी वह। यह बात क्या थी ? ऐसा करनेसे क्या मिलता है ? उस ब्राह्मणने उसे समझाते हुए कहा कि भाई, ! इसे प्राणायाम कहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम का अनुष्ठान करने से ईश्वर मिलता है। इस पर गडरियेने चौंक कर कहा- हैं ! नाकबन्द करने से ईश्वर मिलता है ? ब्राह्मणने थोडीसी आवश्यक बात करके चल दिया। ब्राह्मण के चले जानेपर गडरिया मनमें सोचने लगा कि ब्राह्मण कहता भी है और वैसा खुद करता भी है। इसमें जरूर कोई रहस्य है। ब्राह्मण झूठ नहीं बोल सकता। यह सोचकर उसने भी नाक बन्द करके बैठने की मनमें ठानी। उसने दिल में इस बात का दृढ निश्चय कर लिया कि ब्राह्मण को जरूर ऐसा करने से ईश्वर के दर्शन होते हैं और आज तो मैं भी बिना ईश्वरदर्शन किए नाक नहीं खोलूंगा। बस ! ऐसा दृढ निश्चय करते ही- आसन जमाकर छाती में जितनी सांस- भरी जा सकती है उतनी सांस भरकर नाक जोर से बन्द करके आंखें मूंदकर बैठ गया। थोडी ही देर में सांस रुंधने से जीव घबराने लगा। दम घुटने लगा। पर इसने तो दृढ निश्चय कर रखा था कि चाहे कुछ भी हो जाय, ईश्वर के दर्शन हुए बिना नाक नहीं खोलूंगा।

भगवान् ने सोचा कि यह तो मर चला। इस मूर्खने श्रद्धा का आश्रय लिया है, इसे दर्शन देने ही पडेंगे। आखिर को भगवान् ने प्रकट होकर कहा कि देख मैं आया हूं, मेरे दर्शन कर ले। नाहक बेसमझी से अपने प्राणों को मत गंवा। यह सुनकर उस गडरियेने आंखें खोलीं। परन्तु अब यह सवाल उपस्थित हुआ कि यह वही ईश्वर है कि जो नित्य ब्राह्मण को दर्शन देता है या दूसरा कोई मुझे बनाने को आया है ? गडरियेने भगवान् से कहा कि ठहर जा, मुझे इस बातका निश्चय करने दे कि तू वही ईश्वर है जो कि रोज ब्राह्मण को दर्शन देता है। यह कह कर उसने भगवान् को एक पेड के साथ बांध दिया और कहा कि तेरी सनाखत करवाने के लिए मैं उस ब्राह्मण को बुला लाता हूं।

वह दौडता दौडता गांव में ब्राह्मण के घर पहुंचा। जाते ही ब्राह्मण का हाथ पकडकर उसे

खींचते हुए कहने लगा कि जल्दी चलो जल्दी। मैं ईश्वर को पेड के साथ बांध आया हूं। मुझे इस बात का निश्चय करना है कि वह वही ईश्वर है जो तुम्हें दिखाई देता है या दूसरा कोई। यह कहकर उसने सब किस्सा सुना दिया। ब्राह्मण समझ गया कि इसने जरूर ईश्वर के दर्शन पाये। इसके पास वह चीज है जो मेरे पास नहीं। निश्चय श्रद्धा के बल से इसने ईश्वर के दर्शन किए होंगे। दोनों दौडे दौडे वहां पहुंचे। श्रद्धावान् की बदौलत उसे भी भगवद्दर्शन हुए। कहने का सारांश यह है कि इसका नाम है श्रद्धा। यह है श्रद्धा जो जरूर फल देती है। हमें इस कथा से इतना ही अभिप्रेत है।

वेदमन्त्रों में जब तक इतनी श्रद्धा हम अपने अन्दर पैदा नहीं कर लेंगे तब तक वेदों का प्रचार हमारे मुश्किल वस्तु है। जिस बात का तर्कद्वारा निश्चय हो चुका है और जिसे हम सत्य वस्तु मान बैठे हैं उसमें इतनी श्रद्धा पैदा करने की प्रथमतः आवश्यकता है। मुसलमानों की तरह हमें अन्ध श्रद्धा पैदा नहीं करनी, हमें धर्म के नाम पर जनून पैदा नहीं करना। हमारे पास अन्ध श्रद्धा से बचने का हथियार तर्क मौजूद है। हमें तो हकीकत राय की तरह अपने धर्मपर स्वयं बलि चढनेवाले श्रद्धालु वीर पैदा करने हैं। हम अपने ही श्रद्धापूर्ण खून से अपने धर्मका मूल सिंचित करते हुए उसकी महत्ता दुनिया के सामने रखना चाहते हैं। अपने धर्म में अन्धश्रद्धा रखकर अपने धर्म के नामपर दूसरे का खून करनेवाला धर्म कभी भी फूलते फलते नहीं देखा गया। दुनिया में उसी धर्म का प्रभाव विशेष रूप से बढते देखा गया है, जिसको कि अनुयायियों ने अपने रुधिररूपी वारि से सींचा है।

(क्रमशः)

—भक्ति का प्रसाद—

एक पुरातन पुरुष निरंजन का जब से ध्यान किया।
तृषित चित्त की क्षुधा मिटी आनन्द सुधा का पान किया ॥ १ ॥

शिव सुन्दर चैतन्य प्रभु में जब से हृदय मग्न हुआ।
आदि सत्य जगदादि कारण में ही मनचित्त रमण हुआ ॥ २ ॥

हृदयदेश में अपने प्रभु का जब से रहना ज्ञात हुआ।
तेजोमय जीवन में अपने प्रभुदर्शन दिन रात हुआ ॥ ३ ॥

उस आनन्द-प्रभा की किरणों से जब ज्ञान प्रकाश हुआ।
ह्रास हुआ निज की इच्छा का प्रभु इच्छा का वास हुआ ॥ ४ ॥

विश्वप्रेम और ईशप्रेम का भेद रहा नहीं निज मन में।
भेद भाव सब दूर हुआ मिलन भाव बढा मन में ॥ ५ ॥

शिमला २६-५-३७ —लालचन्द

ब्रह्मचर्य का राजनैतिक महत्त्व।

(लेखक-पंडित श्रीपाद दामोदर सातवळेकर)

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य का महत्त्व कहते हुए ये मन्त्र कहे हैं-

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इंद्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥
(अथर्ववेद ११।५।१७, १६, १९)

"ब्रह्मचर्यरूपी तप से राजा राष्ट्रका विशेष उत्तम रीति से संरक्षण कर सकता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्य के साथ ही ब्रह्मचारियों की इच्छा करता है। आचार्य ब्रह्मचारी हो और प्रजा का पालन करनेवाला राजा भी ब्रह्मचारी हो। ऐसा ब्रह्मचारी राजा जब विशेष प्रकार से संयमी होकर प्रजाका उत्तम पालन करता है, तब वह इन्द्रपदवी के योग्य होता है। इस तरह ब्रह्मचर्यरूपी तप से देवों ने मृत्यु को दूर किया है और इन्द्र भी ब्रह्मचर्यपालन करने से ही अन्य देवों को तेज देने में समर्थ हुआ।"

यह उपदेश अथर्ववेद का है और राज्य-शासन की दृष्टि से विचार करने योग्य है। राज्य-शासन और उस राज्य के शासक कैसे हों, इस बात का निर्देश इन मंत्रों में किया है।

आचार्य।

यहां 'आचार्य' शब्द से आचार्य, उपाध्याय, अध्यापक, शिक्षक, उपदेशक, प्रवचनकार, कीर्तनकार, कवि, व्याख्याता आदि सब प्रकार के लोग, जोकि प्रजा के मन पर शिक्षा के संस्कार करते हैं, वे सब लेने चाहिए। आजकल की भाषा की दृष्टि से कहा जाय तो वृत्तपत्रों, मासिकों और ग्रंथों के संपादक भी इसी विभाग में सम्मिलित हो सकते हैं।

जो जो विद्वान् प्रजा को उपदेश देते हैं, ज्ञान देते हैं, सन्मार्ग बतानेका यत्न करते हैं, वे सब आचार्य कहने योग्य हैं। यद्यपि आज के वृत्तपत्रों और मासिकों के संपादकों को कोई 'आचार्य' नहीं कहते, तथापि वे आचार्य ही हैं। पाठशाला के आचार्य अपने सम्मुख अपने शिष्यों को रखते हैं और उनको ज्ञान देते हैं और ये संपादक दूर दूर के प्रदेशों में रहनेवालों को ज्ञान देते हैं। गुरुओं-द्वारा दिया हुआ ज्ञान शिष्य अपने कानों से ग्रहण करते हैं और संपादकोंद्वारा दिया हुआ ज्ञान उनके पाठक आंखों से ग्रहण करते हैं। परंतु दोनों ज्ञानदाता हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस तरह राष्ट्र के ये 'आचार्य' विद्या-ज्ञान-द्वारा जनता को सज्ञान करते हैं और अज्ञानरूपी राष्ट्रीय शत्रु का नाश करके प्रजाका पालन करते हैं।

प्रजा-पालन-कर्ता।

उक्त मंत्रों में दूसरे शासकों का निर्देश 'राजा, प्रजापति, विराट्, इन्द्र' आदि नामों से किया गया है। राजा प्रजा का पालन करनेवाला है, इसमें किसीको संदेह ही नहीं है, परंतु राजाका कर्तव्य यहां 'प्रजा-पति' तथा 'इन्द्र' इन दोनों शब्दों से बताया है, अतः इन शब्दों के अर्थ यहां देखने योग्य हैं।

१. प्रजापति-प्रजा का पालन, संरक्षण करनेवाला।

२. इन्द्र (इन्-द्रः)-शत्रुओं का नाश करने, शत्रुओं को काटने और विदारण करनेवाला।

राजा के अन्दर ये दोनों अर्थ संघटित होते हैं अथवा होने चाहिए। पूर्वोक्त 'आचार्य' संज्ञक गुरुजनों

से ये शासक भिन्न हैं; क्योंकि आचार्य का अर्थ ऐसा है।

३ आचार्य (आचारं ग्राहयति) प्रजाजनों को अपने आचार की शिक्षा देकर सदाचारसंपन्न करनेवाला आचार्य होता है।

इस तरह 'आचार्य' शब्द सब प्रकार के अध्यापकों का निर्देश करता है और उक्त मंत्र का 'राजा' अथवा 'प्रजापति' शब्द सब प्रकार के प्रत्यक्ष शासकों का वाचक है।

प्रजापति कौन है ?

आचार्य शब्द से किनका बोध होता है, यह हमने इससे पूर्व बताया, अब 'राजा' अथवा 'प्रजापति' शब्द से किनका बोध होता है, इसका विचार करना है। प्रजा-पालन के कार्य में जो ओहदेदार नियुक्त होते हैं वे सब प्रजापालक होने के कारण 'प्रजापति' हैं, अर्थात् वे ही 'राजा' हैं। राजा अकेला कदापि किसी राज्य का शासन कर ही नहीं सकता, अपने साथ सब ओहदेदारों और सैनिकों को लेकर ही वह राज्य का पालन कर सकता है।

इसलिए सब सैनिक, सब कार्य करनेवाले, ओहदेदार, राज्य-शासन करनेवाले होने से राजा के शरीर के अवयव ही हैं। राजा, प्रधानमंत्री, उपमंत्री, न्याय-दान देनेवाले जज, प्रांताधिकारी, तहसीलदार, ग्रामाधिकारी, सेनापति, सैनिक तथा और छोटेमोटे कार्यकर्ता सब 'प्रजापति' हैं, सब राजा के अंशमात्र हैं। किसी देश का राज्य-शासन वैसाही होगा जैसे ये कर्मचारी होंगे।

कर्मचारियों का ब्रह्मचर्य।

वेद कहता है कि ये सब कर्मचारी 'ब्रह्मचारी' हों। राष्ट्र में विद्या देनेवाले सब आचार्य और अध्यापक संयमी ब्रह्मचारी हों। तथा राजा, मंत्री, सेनापति आदि प्रत्यक्ष शासनाधिकारी भी संयमी और ब्रह्मचारी हों। वेद के आदेशानुसार ये सब ब्रह्मचारी ही होने चाहिए।

वेद का आदर्श राज्य-शासन वह होगा कि जिसमें ये सब ओहदेदार शिक्षा-विभाग तथा शासन-विभाग के कर्मचारी ब्रह्मचारी और संयमी होंगे। पाठक आजकल के राज्य-शासनों को किसी भी देश में देखेंगे, तो शोक से कहना पडेगा कि उन देशों में यह कल्पना भी नहीं है। शिक्षा और शासन-विभाग के सब कर्मचारी उत्तम संयमी ब्रह्मचारी होने चाहिए, यह किसी देश के इस समय के अनुशासन का नियम नहीं है। यह वेद के ही आदर्श राज्य-शासन का नियम है और यह नियम आज भी मननीय तथा आदरणीय है।

आजकल के आचार्य तथा अध्यापक संयमी, व्रती तथा ब्रह्मचारी हों, ऐसा कभी कभी माना भी जाता है। संस्कृत अध्यापकों के लिए तो यह अवश्य आवश्यक ही समझा जाता है, परंतु कालेजों के प्रोफेसरों को संयमी होना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता, जितना कि संस्कृत-शास्त्रज्ञों के लिए आवश्यक समझा जाता है। परंतु यह भूल है। जितने भी उपदेशक, व्याख्याता और शिक्षक हैं, उन सबको संयमी होना आवश्यक ही है, यह थोडेसे विचार से समझ में आनेवाली बात है।

परन्तु राज्य-शासन-विभाग के जो मुख्य घटक हैं, जो राजा, मंत्री, सेनापति तथा अन्य ओहदेदारों के नाम से कहे जाते हैं, उनको भी वेदानुसार ब्रह्मचारी होना अत्यन्त आवश्यक है, इस बात की ओर किसी का भी ध्यान अब तक जैसा जाना चाहिए वैसा गया नहीं, यह शोक की बात है।

राजपुरुषों का ब्रह्मचर्य।

राज्य-शासन का कार्य करनेवाले राजा, मंत्री, सेनापति तथा अन्यान्य कर्मचारी यदि ब्रह्मचारी होंगे तभी आदर्श राज्य-शासन हो सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ संयमी होना, व्रती होना, इंद्रियदमन करना है। वास्तविक रीति से देखा जाय तो निश्चित रीति से विदित होगा कि ब्रह्मचर्य में संपूर्ण इंद्रियों का संयम आवश्यक है। बिना संपूर्ण इंद्रियों के संयम से कोई भी साधक ब्रह्मचर्य का साधन पूर्णतया कर ही नहीं सकता। यदि कोई एक इंद्रिय अपने वश में न रही तो निश्चय समझो कि अ

इंद्रियां भी स्वैराचार में मग्न हो जायंगी और ब्रह्मचर्य टूट जायगा। इस तरह ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध संपूर्ण इंद्रियों के संयम के साथ है। तथापि लोग समझते हैं कि ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध केवल प्रजनन की इन्द्रिय के साथ ही है। यद्यपि यह भ्रम है, तथापि हम वही मानते हैं और देखते हैं कि इसी एक इन्द्रिय के असंयम से कितनी हानि होनी संभव है।

किसी राज्य के शासनमें नियुक्त हुये ओहदेदार ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, प्रत्युत व्यभिचार में रत होनेवाले हैं, तो ऐसे राज्य में क्षण-मात्र भी कोई सभ्य दम्पति रह नहीं सकते। स्वैराचार का जहां संचार हुआ, वहां प्रबंध की शिथिलता निःसंदेह आ जाती है और अन्त में राज्य का नाश ही हो जाता है।

आयुष्य का नाश।

व्यभिचार से पहिली हानि आयुष्य का नाश होना है। व्यभिचारी मनुष्य निर्वीर्य होने से कभी दीर्घायु हो नहीं सकता। हमने कई व्यक्ति ऐसे देखे हैं कि यदि वे संयम से रहते तो सौ वर्ष तक आसानी से जीवित रह सकते थे। उनके शरीर और बल ऐसे विशाल थे, कि साधारण पचास मनुष्यों के बराबर उनकी शक्ति थी। परंतु १६, १७ वें वर्ष से व्यभिचार में रत होने से उनका देहान्त ४० वर्ष की आयु के पूर्व ही हुआ! मृत्यु के समय देखा गया तो देखने में उनका शरीर हाथी जैसा था, परंतु निर्वीर्यता के कारण अन्दर से सब खोखला हो चुका था। व्यभिचार से जो यह आयुष्य का नाश होता है, वह राष्ट्र की बड़ी भारी हानि है। एक व्यक्ति के विद्याभ्यास तथा पालन-पोषण पर जो व्यय होता है, वह राष्ट्र का व्यय है, यदि वह व्यक्ति ८० या ९० वर्ष जीवित रहा, तो राष्ट्र को उससे लाभ पहुंचता है, किंतु यदि ऐसा व्यक्ति ३५ या ४० वर्ष की अवस्था में ही मर गया, तो यह राष्ट्र की अपरिमित हानि है।

इस कारण वेद कहता है कि राष्ट्र में शिक्षणालयों और शासनालयों के द्वारा ब्रह्मचर्य का वायु-मंडल फैलाना चाहिए और सब ओहदेदारों को अपने आचरण द्वारा ब्रह्मचर्य का उपदेश राष्ट्र के सब लोगों को करना चाहिए। वेद का यह कथन कितना अर्थ-पूर्ण है!

स्वयं शत्रुको निर्माण करना।

व्यभिचार से दूसरी एक भयानक बात होती है, वह विशेष हानिकारक है। कल्पना करिए कि किसी एक राष्ट्र का राजा व्यभिचार करता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपने वीर्य से अनेक क्षेत्रों में-अनेक घरों की स्त्रियों में संतान उत्पन्न करता है। वीर्य पुरुष के संपूर्ण शरीर के नसनस से और मज्जामज्जा से बनता है और मनके संस्कार भी वीर्य-द्वारा संतान में उतरते हैं। इस तरह राजा के वीर्य के हरएक परमाणुमें "मैं राजा हूं" यह भाव भरा होता है। इस भाव के साथ अनेक स्त्रियों में अनेक संतानें अपने राज्य में तथा राज्य के बाहर उत्पन्न हो गयीं, तो पाठक कल्पना करें कि कितनी हानि संभव है।

राजा के वीर्य से उत्पन्न हुए हरएक बालक में स्वभाव से ही 'मैं राजा हूं' यह भाव रहना स्वाभाविक है। व्यभिचार चोरीसे होने के कारण उसमें 'चोरी का भाव' भी बचपन से रहता है। जो स्त्री पातिव्रत्य का त्याग करके उस राजासे रत होती है, उसकी संतानमें जन्मसे 'शीलभ्रष्टता' का दुर्गुण रहता ही है। इस तरह ऐसे संतान में—

राजापन+चौर्य का भाव+शीलभ्रष्टता इन तीनों भयानक दुर्गुणों का मिलाप रहना स्वाभाविक है। और यदि ऐसे दो-चारसौ संतान राष्ट्र में उत्पन्न हो जाय, तो उतने राष्ट्र में 'शक्तिवाले शीलभ्रष्ट' मनुष्य उत्पन्न होंगे अथवा जितना व्यभिचार होगा उतने अधिक होंगे। ओहदेदारों के व्यभिचार से वैसे ही परंतु उससे कम सामर्थ्यवान् परंतु वैसे ही शीलभ्रष्ट संतान उत्पन्न होंगे।

ये संतान जब तरुण बनेंगे तब इनके माता-पिताओं के असली संतानों से इनका विरोध होता रहेगा और वह विरोध राष्ट्र की अशान्ति का कारण होगा। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त राजा के व्यभिचार का ही विचार करिए। राजा ने अपनी स्वकीय रानी में जो संतान पैदा किया है वह संतान जन्म से 'मैं राजा हूं' ऐसा कहेगा और साथ साथ उसमें धर्मभाव भी रहेगा। इसी राजा ने व्यभिचारसे सौ दो सौ सन्तान अपने राज्यमें

उत्पन्न किये होंगे तो वे संतान जन्म से ही राजापन+चौर्य+शीलभ्रष्टता के गुण धारण करेंगे और राजा के सुपुत्र के साथ इन कुपुत्रों का जो संघर्ष पैदा होगा, उससे राज्य का कदापि हित होना संभव नहीं है।

व्यभिचारी राजा न जानते हुए अपने ही प्रयत्न से अपने शत्रु इस तरह के व्यभिचार से उत्पन्न करता है। और ये शत्रु किसी न किसी मिष से इसके पुत्र के साथ इसकी गद्दी को अपनी हिस्सेदारी मानते हुए द्वेष शुरू करते हैं। इस द्वेष का कार्य-कारण-भाव इनके ध्यान में नहीं आता, परंतु अज्ञात रीति से बराबरी का भाव मन में धारण करने के कारण ये परस्पर तुच्छता बढाते हैं और कभी परस्परसहाय्यक बन ही नहीं सकते।

यदि इस तरहके व्यभिचारी लोग सरदारों, ओहदेदारों और शिक्षकों तथा प्रोफेसरों में बढ गये, तो उनके व्यभिचार से उत्पन्न संमिश्र संतानों की संख्या अत्यधिक बढने के कारण उस राष्ट्र में विविध प्रकार के संघर्ष बढते ही जायंगे और एक विचार से जो उन्नति होना संभवनीय है, वह कदापि साध्य नहीं होगी।

व्यभिचार राष्ट्रीय आपत्ति है।

इस राष्ट्रीय आपत्ति का कारण एक-मात्र व्यभिचार ही है। इस आपत्ति से राष्ट्र की रक्षा करने के उद्देश्य से ही वेद ने कहा है कि—

"प्रजापालन करनेवाले राजा और राजपुरुष तथा अध्यापन करनेवाले शिक्षक और अध्यापक पूर्ण रीति से ब्रह्मचारी हों, इनमें कोई व्यभिचारी न हो, जिससे ऐसे संयमी शासकों का राष्ट्र इन्द्र के स्वर्गीय साम्राज्य के समान सबका सुख बढानेवाला होगा।

परमेश्वर करे ऐसा स्वर्गीय राज्य इस भू-मंडल पर अति शीघ्र निर्मित हो जाय और सब लोग सुख के भागी बन जांय। सबका कल्याण हो, प्रजा का सुख बढे और राजा का कल्याण होता रहे। राजा और प्रजा परस्पर का कल्याण करने में तत्पर हों और यह भूमि धार्मिक प्रशासन-द्वारा स्वर्गभूमि बने।

ईश्वर सबका कल्याण करे।

(जयाजी प्रताप)

अनार्ष ग्रंथ क्यों पढने चाहिए ?

(ले०- पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, M. R. A. S., अजमेर)

वेद भारतीय साहित्यरूपी रत्नों में हीरों के समान चमकनेवाले हैं। यद्यपि आज इनका प्रकाश पर्याप्तरूप में हम तक पहुँच रहा है, किन्तु आज से कुछ सदी पूर्व ये ही अज्ञान-मृत्तिका में दबे हुए पड़े थे। इनको कोई देख भी न सकता था। यही कारण था कि भारतवर्ष में इनका अध्ययन लुप्तप्राय सा हो गया था। इतना होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय विद्वान् वेदों की ओर से बिलकुल उदासीन थे। वे वेदों के विषय में थोडाबहुत जरूर जानते थे। संस्कारों के होने से विद्वान् लोग न जानते हुए भी वेदों की पूजा करते थे। अज्ञानी होने से चाहे उनका वेदों में प्रवेश न हो, पर उनके हृदय 'वेद' इन दो अक्षरों तक तो बढ ही सकते थे। वे लोग इनको अपना सर्वस्व समझते थे। यद्यपि तत्कालीन अज्ञान और भारत की राजनैतिक अवस्था ने उनको वेदों की ओर से पराङ्मुख तो अवश्य कर दिया था,

किन्तु अन्ध-विश्वास ने उतनी ही ज़ोर से उनके हृदयों को वेदों पर तन-मन और धनको न्यौछावर करनेके लिए तैय्यार कर रक्खा था। यही कारण था कि उनकी वेदों के प्रति हमारे से कुछ ज़्यादा ही श्रद्धा थी।

जिस समय स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ था, उस समय वेदोंकी वही अवस्था थी, जो बांबी में दबे हुए ऋषि वाल्मीकि की थी। सारा शरीर जर्जर हो चुका था, मूर्ख ब्राह्मणों ने अपने को जन्म-द्विज कह कर, वेद-शरीर को विकृत कर, अनेक धर्म-विरुद्ध सिद्धान्तों और अ-प्राकृतिक नियमों का उनमें घर बना दिया था। चारों ओर से देखने पर भी वेद-शरीर पर थोड़ा सा भी सचाई का अंश दिखलाई न देता था। सर्वत्र अज्ञान-रोग के कृमि ही विचरते दिखलाई देते थे। केवल वाम और दक्षिण (वेद) दो चक्षुओं की तरह 'वेद' इन दो अक्षरों का नाश न हुआ था। इन्हीं दो अक्षरों ने स्वामी दयानन्द की आंखोंमें वेद-ज्ञान का प्रकाश किया। तदनन्तर स्वामी दयानन्द ने अपने निरन्तर प्रयत्न से उस विकृत शरीर में से एक-एक कृमि को दूर कर योग्य प्रमाण-रूपी भोजनद्वारा उचित पुष्टि को उत्पन्न कर इस नष्टप्राय देह की गत सुन्दरता को पुनः स्थापित किया। उसी महर्षि के दिव्य ज्ञान की कृपा से आज वेदका यह भव्य शरीर फिर से हमारे सामने आविर्भूत हुआ है। इसका सब श्रेय उसी एक प्रज्ञाचक्षुके दिव्य शिष्य को है। इसलिये वेद की सतह पर विचरण करते समय हम सबको एक बार उसके चरणों में श्रद्धा से अञ्जलि अर्पित करनी चाहिये।

जहां ऋषि ने हमें दीपक दिखा कर हमारा पथ-प्रदर्शन किया है; वहां हमें सायण जैसे उद्भट विद्वानों को बिल्कुल भूल न जाना चाहिये। जिसने अपना अमूल्य भाष्य लिख कर हमें इस योग्य बनाया, कि हम वेद-मार्ग के पथिक बन सकें। जिन विद्वानों ने निष्पक्षपात होकर इसके भाष्य को थोड़ाबहुत भी देखा है, वह सायण के चाहे कितना भी विरोध में हो, यह कहे बिना नहीं रह सकते कि "सायण" ने संसार में वेदभाष्य लिखकर वह अपूर्व कार्य किया है, जिसका मूल्य आंकना, कम से कम आधुनिक युग में असम्भव प्रतीत होता है। जिन्हें वेदोंमें रुचि है और जो वेदों का विशाल हृदय से अध्ययन करने के इच्छुक हैं, वे लोग जब संकुचित दायरे से बाहर होकर आर्ष और अनार्ष की परवाह न कर, किस ग्रन्थ का कौन लेखक है, इस बात को बिना जाने, जब सायण-भाष्य का अध्ययन करते हैं, तो एक बार तो अपने दिल में अवश्य कहते हैं कि आज यदि सायण न होता तो वेदों को उतना भी, जितना हम समझते हैं, इतनी आसानी से न समझ पाते। इसी लिये हमारे हृदय में तो सायण के प्रति भी अनुपमेय श्रद्धा है। इसलिये हमें उसके आगे भी अपना मस्तक झुकाना चाहिये।

वेदों के प्रति स्वामी दयानन्द और सायण ने ही अपनी सेवायें अर्पित नहीं की किन्तु हर एक व्यक्ति जो वेदमन्त्र का उच्चारण करता है, जो वेदों के प्रति अपनी अमूल्य लेखनी का उपयोग करता है और जो किसी भी प्रकार से किसी भी अंश में वेद का मुद्रण और प्रकाशन करते हैं—वे भी उसी की सेवा करते हैं। हमारी दृष्टि से तो जो केवल 'वेद' इन दो अक्षरों का उच्चारण करता है, वह भी वेद की उपासना करता है। वेद की सतह पर क्या है? इस प्रश्न को हल करने में उपरोक्त सब महानुभाव प्रयत्नशील हैं। इस लिये हमें हर एक से मिलना चाहिये और इस बात की जिज्ञासा रखनी चाहिये कि उनसे वेद की सतह पर कौनसा रत्न पाया है। हमें इस बात की जिज्ञासा तो कदापि नहीं रखनी चाहिये कि अमुक साहब कौनसा भाषा-भाषी है, उसका लिखा हुआ ग्रन्थ आर्ष है या अनार्ष, उसने वेद की निन्दा तो नहीं की है। क्योंकि

यदि हम इन्हीं प्रश्नों के झमेले में फंस गए तो याद रखिये कि यह भूल-भूलैय्या ऐसी है कि जिस में से सही सलामत बाहर निकल आना मुश्किल हो जायगा। हम अपने असली मार्ग से विचलित होकर इधर उधर गोते खाने लग जायगे और हमारे वेद-धर्मका कुछ पता भी न चलेगा। जिस मार्ग पर चलने से वेद की रक्षा ही कठिन हो जायगी, उस मार्गपर चलनेसे वेदकी सतहपर बिखरे हुए रत्नों का मिलना नितान्त कठिन है।

वेद की सतह पर घूमने का हर एक को अधिकार है। हर एक मनुष्य उस पर बिखरे हुए रत्नों को उठा-उठा कर उसकी परीक्षा भी कर सकता है। इस प्रकार परीक्षा करते करते उसको किसी तरहका अमूल्य रत्न भी प्राप्त हो सकता है। और वह रत्न उसीके पास रहेगा जब तक कि वह खुद दूसरे को न बताये और न देवे अथवा हम ही श्रद्धासे उसके पास न जाय। ऐसी अवस्था में हो सकता है आप कई रत्नों से अनभिज्ञ रह जायें। हां, यदि वेद की सतह पर घूमने का अधिकार हर एक को न हो, और दरवाजेकी चाबी आप ही के हाथ में हो तब तो हम यह मान सकते हैं कि आप किसी ज्ञान से अनभिज्ञ न रहेंगे। किन्तु यह बात आप के हाथमें नहीं है। वह दरवाजा हर एकके लिए खुला हुवा है। इस लिए हमारा आप लोगों से कहना है कि जो वेद की सतह पर विचरना चाहते हैं, उनको व्यर्थ की बातें अपने दिल दिमाग से निकल देनी होंगी। और हमेशा के इस बात के लिये तयार रहना होगा कि जो भी विद्वान् सम्मुख मिले उससेही कुछ न कुछ जाननेकी जिज्ञासा रखें।

हमारे इस विचार को पढकर सम्भवतः आप कहेंगे कि क्या महीधर जैसे पण्डित भी वेद की सेवा करते हैं? क्या पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर और उस के अनुयायी जो वेदों को गडरियों के गीत बतलाते हैं वे भी क्या वेद की सतह पर घूमते हुए वेद की सचाई को पा रहे हैं? क्या ग्रिफिथ और विलसन जिन्होंने वेदमंत्रों के अर्थों का पक्षपात के कारण अनर्थ कर दिया है, वे भी क्या वेद के उपासक और उन की महिमा को बढनेवाले कहला सकते हैं? हमारा तो एक ही उत्तर है, हां, वे भी वेदकी सेवा कर रहे हैं, वेदमंत्रों के शुद्ध अर्थ जानने में हमारे सहायक हो रहे हैं। प्रश्न होगा- कैसे?

प्रत्येक मनुष्य अल्पज्ञ है, उसकी बुद्धिका विकास सीमित है। हजार प्रयत्न करने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि अमुक मनुष्य ने सब कुछ जान लिया है ठीक इसके विपरीत हम यह भी नहीं कह सकते कि सिवाय हमारे संसार में मूर्ख हैं। परमात्मा को छोडकर प्रत्येक मनुष्य ज्ञान-समुद्र के किनारे खडा हुआ उसके जलसे स्पर्श कर रहा है। न तो कोई उस सम्पूर्ण समुद्र को तैर चुका है और नाहीं उनमें से कोई बिलकुल अछूता है। इस लिये किसी मनुष्य को निरा मूर्ख समझना अपनी ही अज्ञानता को प्रदर्शित करना है। ठीक इसी प्रकार से किसी आत्मा को निर्मुक्ति मान लेना उससे भी ज्यादा हंसी का विषय है। कम से कम आर्य-समाजियों के लिये तो उनके गुरुका सर्वप्रथम यही आदेश है कि इस संसारमें सिवाय उस एक प्रभुके कोई सर्वज्ञ नहीं है। उसके कथन को छोडकर प्रत्येक मनुष्य के कथन को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस, पुनः उस पर आचरण करना न कि केवल क्यों कि एक विद्वान् ने कह दिया है इस लिये। अब हम आपको अपने प्रश्न का उत्तर देंगे कि क्यों हमें सबसे मिलना चाहिये!

अनुभव ही संसार में ज्ञानवृद्धि का कारण होता है इस बात को सब स्वीकार करेंगे। दर्शन-कारों की 'व्याप्ति' का विचार भी इसी का एक संस्कृत रूप है। वैज्ञानिकों का परीक्षणालयों में खडा रहना यह भी अनुभव प्राप्त करने का एक ढंग है। संक्षेप में जैसे जैसे अनुभव बढता जाता है वैसे वैसे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। इसी को

यदि वैज्ञानिक भाषा में कहें तो कहना होगा कि Observation की शक्ति बढानी चाहिये। ज्यों ज्यों Observation बढेगा, अनुभव बढेगा और ज्ञान में वृद्धि होगी।

इस लिये दूसरा प्रश्न होगा कि अनुभवप्राप्ति का आधार क्या है? इसका उत्तर होगा परिस्थितियों का observation करना। एक मनुष्य विद्वानों में रहता है तो वह बिना लिखाये पढाये ही आधा विद्वान् हो जायेगा। दूसरा एक मनुष्य यदि चोरों में छोड दिया गया है तो वह चौर कर्म में दक्ष हो जायेगा। यदि एक बच्चा युद्ध में ही पला है तो उसे लडने के बहुत से दाव बिना सिखाये ही आ जायेंगे। इसी का नाम गर्भ में विद्या सीखना है। अभिमन्युने माताके गर्भ में सब कुछ सीख लिया था, इसका तात्पर्य केवल यही है कि अर्जुन के साथ रहने के कारण उसको वे विद्यायें बिना सिखाये केवल देखने मात्र से आगईं। कहने का मतलब है कि प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर की परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ सीख जाता है, जो कि दूसरे मनुष्यों को नहीं आता। यदि कोई अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को डरपोक समझेगा तो क्या आप उसको अकलमंद कहेंगे? नहीं! ठीक इसी प्रकार से मनुष्य का ज्ञान है। ज्ञान के महान् समुद्र के चारों ओर मनुष्यसमाज खडा हुआ है और अपने अज्ञान-मैल को धो रहा है। मेरा आपसे सवाल है कि क्या एक स्थान का मनुष्य ज्ञानसमुद्र के एक विशेष स्थान से जिस विद्या का सिंचन कर रहा है, क्या वहीं से कोई दूसरा मनुष्य उसकी मौजूदगी में अपने अज्ञानमैल को वहां धो सकता है? नहीं। ठीक इसी प्रकार भिन्न भिन्न परिस्थितियों में रहनेवाले भिन्न भिन्न मनुष्यों के तरह तरह के Observation से उत्पन्न होनेवाले अनुभव भी भिन्न भिन्न होंगे और इस लिये उनके ज्ञान में भी अन्तर होगा। दूसरे शब्दों में एक मनुष्य का ज्ञान और उसकी बुद्धि दूसरे से भिन्न हैं। अर्थात् जिस मनुष्य को जैसी परिस्थितियें प्राप्त हैं उसको केवल वही ज्ञान जो उन परिस्थितियों से उत्पन्न होनेवाला है प्राप्त होगा, दूसरा नहीं, जो कि उससे भिन्न परिस्थितियों में पैदा होनेवाला है। और क्योंकि आत्मा सर्वशक्तिमान् नहीं है इसी लिये उसको अल्पज्ञ मानना पडता है। और यदि एक अल्पज्ञ अपने को सर्वज्ञ समझ ले तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा। इसी आधार पर हमारा यह कहना है कि हमें सबसे मिलना चाहिये और इस बात को अपने हृदयपटल से निकाल देना चाहिये कि हमें अनार्ष व्यक्तियों से नहीं मिलना है।

क्या त्रेतायुग में रावण से बढ कर भी कोई विद्वान् था? यदि नहीं, तो दूसरा प्रश्न है कि क्या वह ऋषि था? इसका उत्तर भी यदि नहीं है तो तीसरा प्रश्न होता है कि क्या उस समय कोई ऋषि न था? क्योंकि उस समय रावण ही सबसे ज्यादा विद्वान् था और उससे, आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानचर्चा करना भी निषिद्ध था, तो यह एक बडा पेचीदा प्रश्न हो जाता है कि इस समय की जटिल समस्यायें जो रावण के सिवाय दूसरा नहीं सुलझा सकता था उसका क्या होता होता? पर बात यह नहीं थी। रावण से ज्ञानचर्चा करने बडे बडे ऋषि आते थे, उसकी सभा में इन्द्रादि बडे बडे देवता मौजूद रहते थे जो इसको ज्ञानगुरु मान कर उसकी सेवा करते थे।

क्या यास्कने अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढे? क्या स्वामी दयानन्द ने अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढे? क्या आप संसार के किसी भी ऐसे एक भी विद्वान् का नाम ले सकते हैं जिसने किसी ग्रन्थ को पढनेसे इस लिये इनकार कर दिया हो कि उसका लेखक उसके विचारों से सहमत नहीं है? यास्क ने गार्ग्य और कौत्स को समझनेका प्रयत्न किया, महीधर को दयानन्द ने पढा और उसके विचारों का खण्डन किया। वास्तव में ज्ञानवृद्धि का तो यही

एक उपाय है कि जो भी रास्ते में मिले उसीसे भेट करें।

आज वह समय नहीं है जब कि किसी विशेष विचार को न मानने के कारण आग में जला दिया जाता था, जेलों की सडी हवा में रहना पडता था और अन्त में फांसी पर लटका दिया जाता था। आज वह भी समय नहीं रहा जब वेद-मंत्रों को सुननेवाले शूद्रों के कानों में सीसा पिघाल-पिघाल कर डाला जाता था। हो सकता है आपका यह विचार आर्ष को पढना और अनार्ष को न पढना उस समय ठीक होगा जब वेदों के द्वार पर ताला पडा रहता था। परन्तु आज यह विद्या का भवन सबके लिये खुला है। इसमें सब को विचरने का अधिकार है। इस लिये आज इस विचार को पुष्ट करना सिवाय अपनी मूर्खता का विचार प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आज के समय में तो जो गोता लगायेगा उसको रत्न मिलेगा, न कि उसको जो दुरबीन लगा कर केवल उनको देख रहा होगा। जो पानी पीने को उठेगा और पानी पीनेका कष्ट करेगा उसी की प्यास बुझेगी न कि जो जलपूर्ण कलश का स्वामी बन कर बैठेगा। इस लिये अभी चेतनेका समय है। जिज्ञासु लोग वेदसमुद्र में गोता लगा रहे हैं इस लिये यदि उनके रत्नों को देखना है तो बिना उनसे परिचिति प्राप्त किये आपके लिये नितान्त असंभव है कि आप उनसे प्राप्त किये हुए रत्नों को देख सकें। और यह विचार कर सन्तोष कर लेना कि उनका सम्पूर्ण भ्रमण निरर्थक है तो इस प्रकार कहने से अंगूर खट्टे नहीं हो सकते। और हमसे पीछे आनेवाला परिश्रम कर उनको तोड कर उनको खायेगा और आनन्द उठायेगा और हम योंही पछताते रहेंगे। इसलिये हमें दूसरों की शक्तियों पर विश्वास करना चाहिये और उनका आदर करना चाहिये। इसी में हमारा और मनुष्यसमाज का कल्याण है। इसी में वेद का भी गौरव है।

और देखिये। एक मशहूर कहावत है 'Good always cometh out of evil' इसकाभी सीधा सा अर्थ है और इसको हर एक मनुष्य समझ सकता है। 'अच्छाई बुराई से आती है!' यदि यह ठीक है तो हमें बुराई से घबराने में कोई हेतु दिखलाई नहीं देता। ईसासे पूर्व और उसके बाद भी संसार के एक बडे हिस्से में यह विचार माना जाता था कि पृथिवी ही संसार का केन्द्र है, और यह सम्पूर्ण संसार केवल इस पृथिवी के निमित्त बनाया गया है। परन्तु आज हमारा विचार इससे बिलकुल एकदम उलटा है। परन्तु जिस सचाई पर आज हम पहुंचे हैं उसका कारण क्या है? वही एक असत्य सिद्धान्त। आज परी-क्षणालयों में एक सिद्धान्त माना जाता है, कल उसी का खण्ड कर दिया जाता है। परन्तु यह खण्डन और मण्डन चल ही नहीं सकता यदि हम किसी एक प्रकार के ज्ञान को आर्ष और सच्चा मान कर बैठ जायें। क्योंकि इस बात की सम्भा-वना है कि शायद कल इस बात का खण्डन कर दिया जाय कि आक्सिजन एक तत्त्व है इसलिये आज उसका ज्ञान प्राप्त करना नहीं चाहिये उसके गुण को और उसकी शक्तियों को नहीं जानना चाहिये, यह युक्ति और यह विचारधारा सत्य की ओर नहीं ले जा रही। इस लिये हमें इससे दूर ही रहना चाहिये। इसी विचारधारा के आधार पर यदि कभी समय मीला तो आपको विस्तार से यह बतलाने का प्रयत्न करूँगे कि पुराणों की क्या खूबी है। पुराण हमें वहां तक सचाई की ओर ले जाते हैं और क्या आर्यसमाज या वैदिक धर्म के सिद्धान्तों केअनुसार हमें उनका अध्ययन करना चाहिये या नहीं? मेरा तो पुराणों के सम्बन्ध में बहुत ही ऊँचा विचार है और इस बात का सौभाग्य समझता हूं कि हमारे पूर्वज पुराण जैसे ग्रन्थों को लिख गये। परन्तु दुःख

और आज आर्यसमाज का दुर्भाग्य है कि हम उन पुराणों को नष्ट भ्रष्ट करने का व जलाने का प्रचार करते हैं। उनका संसार से बहिष्कार करवाना चाहते हैं। ऋषि का पुराणों के सम्बन्ध में क्या ख्याल था यह एक स्वतंत्र विषय है। इसपर हम फिर कभी विचार करेंगे।

संसार में ऐसा कौन विद्या का पिपासु मौजूद होगा जो मुसलमानों के इतिहास को पढकर इस बात पर आंसू नहीं बहायेगा कि उन्होंने अपनी विजयों में मध्यकालीन सैकडों पुस्तकालयों को जला दिया? हम आज इस बीसवीं सदी में उन मुसलमानों को जाहिल कहने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु हम आप से पूछते हैं कि आज तो यह ८वीं, दसवीं या चौदवीं सदी नहीं है। आज तो यह बीसवीं सदी है। क्या इस सदी में पुस्तकोंको अनार्षत्वके नामपर दयानन्द, आर्यसमाज, सत्यार्थप्रकाश और वेद के नाम पर जला देने का इस तरह प्रचार करना क्या जाहिलपन से कुछ कम है? और इस सदीका जाहिलपन चौदहवीं सदी के जाहिलपनसे कुछ उच्च ही कोटिका गिना जायगा, निम्न कोटिका नहीं।

आइये और आगे चलिए। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति ने कोई ग्रन्थ केवल इसी लिए और जान बूझ कर निर्माण किया हो कि वह वेद के रत्नों को निकम्मा बताये, उस वक्त भी हमारा तो यही विचार है कि उसका भी परिचय प्राप्त कीजिये, आदि से अन्त तक गम्भीरतापूर्वक उसका भी ज्ञान प्राप्त कीजिये। हमारे ख्याल में तो विरोधी लोग, हमारे पक्ष-पोषकों की अपेक्षा और भी ज्यादा सहायक होते हैं। कोई भी प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने विरोध के द्वारा अनजाने हमें कई अमूल्य रत्नों को प्रदान कर जाता है। उसके सम्पर्क में जितना भी आप आयेंगे उतना ही वह अपका विरोध करते हुए भी आपको, आपके ही मार्ग पर, आगे और आगे ले जा रहा होता है। जिस समय वह अपनी अकाट्य युक्तियें हमारे सामने रखता है, जिनका हम पक्षपोषक ख्याल भी नहीं कर सकते, उस ओर वह शख्स हमारे सोचने का क्षेत्र और आगे बढा जाता है। जिसने हमारे विचारक्षेत्र को ही बढा दिया, उससे अधिक वह हमारा और क्या उपकार कर सकता है? कल्पना कीजिये हम किसी उद्देश्य विशेष को सम्मुख रखकर किसी मार्ग विशेष पर जा रहे हैं और एक जगह जाकर सामने पर्वत के आ जाने से हमारा रास्ता रुक जाता है, उस समय कहीं दूसरी ओर से अचानक ही हमारे शत्रु भी आ उपस्थित होते हैं। किन्तु हम उनको अपना विरोधी समझकर उनसे बात करना ही पसन्द नहीं करते तो हमें क्या मालूम कि उनके पास कैसे कैसे ज्ञानी हैं, किस प्रकारके गुण और विद्याओं के वे भण्डार हैं। सम्भव है उनमें से कोई पर्वत गिराने या पर्वत की चोटियों को तोडने की विद्या जानता हो। ऐसी अवस्था में यदि हम उनको विरोधी समझकर उनके सम्पर्क में न आयेंगे तो हम उनके रत्नों से उपयोग नहीं उठा सकते।

यदि हम उस समय उनसे बातचीत करते तो क्या मालूम वे अपनी विद्या से पहाड को तोड गिराते-इसलिये नहीं कि वे हमारा उपकार करना चाहते हैं, बल्कि इसलिये कि वह हमें अपना विरोधी जानकर शर्मिन्दा करना चाहते हैं। उन्होंने तो पर्वत को गिराने का कार्य हमें शर्मिन्दा करने के लिये किया, किन्तु उससे हो गया हमारा उपकार। ठीक इसी प्रकार से विरोधी युक्तियों को सुन सुनकर अपने पक्ष को बलवान् बनाने के लिये ऐसी ऐसी युक्तियों की सूझ पैदा होती है, जो शायद बिना विरोधियों के सम्पर्क के कभी पैदा न होतीं। इस दृष्टिकोण से विरोधियों का सम्पर्क नास्तिकों

से सम्मिलन और उनके ग्रन्थों का पठन हमारे लिये हितकर ही है, अहितकर नहीं।

इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर, हमने भी कुछ अर्से से कुछ रत्नों की आशा से वेद की सतह पर भ्रमण किया है, और कई अमूल्य रत्नों का भी संग्रह किया है। इस बीच में अनेक विरोधियों और नास्तिकों से भी भेंट हुई। उनके अनेकों रत्नों को भी देखा, उसके प्रकाश को भी प्राप्त किया। उन्हीं में से एक को आज यहां आप सज्जनों के सामने प्रकट करने का प्रयत्न करेंगे ताकी उसका प्रकाश आप तक भी पहुँच सके। (क्रमशः)

निराकार साकार ब्रह्म।

(लेखक- स्व० रामदास गौड)

जिस वस्तुको ना देखा हो उसके विषय में लिखना और कहना विश्वासपूर्वक नहीं हो सकता। पंडित लोग अपने अपने ख्याल के मुतबिक ईश्वर को वेद-शास्त्रोंसे साकार वा निराकार साबित करनेकी सरतोड कोशिश करते हैं। बडे वादविवाद होते हैं, मगर सुननेवाले कोई खास परिणाम नहीं निकाल सकते। अतः गोल मोल विचारमें डूब जाते हैं। श्रद्धापूर्वक ईश्वरमें मन भी लगा नहीं सकते। क्योंकि ना देखी वस्तुका सही हाल मालूम न हो तो उस की असलियत कैसे मानी जा सकती है?

ईश्वरको किसीने अपनी आंखोंसे नहीं देखा। वेदशास्त्रों का विचार पंडितोंके पास है। एक पंडित कुछ कहता है और दूसरा कुछ। किसको ठीक मानें? यह स्वयम् ईश्वर कृपा करके बता दें, तभी शांति प्राप्त हो सकती है। स्वार्थी पंडितोंसे यह बात हल होनी नामुमकिन है।

यह ठीक मालूम होता है कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि कालसे हैं और रहेंगे। ब्रह्म और जीव का अपना कोई रूप नहीं है। प्रकृति अपने स्थूल तत्त्वोंमें रूपवाली है और सूक्ष्म तत्त्वों में रूपरहित है। ब्रह्म और जीव के मेलसे प्रकृति में रूप आजाता है। यही कारण है कि हम कई जीवोंको कई रूपोंमें देखते हैं। किसी को हम मनुष्य, किसी को पशु, किसी को कीट-पतंग इत्यादि नाम देते हैं और कई हमारे सामने वृक्ष, घास और जडी बूटी के रूपमें हैं। हरएक स्वभाव प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रज और तम की कमी बेशीपर अवलंबित हैं। इसीका असर मनुष्यकी बुद्धिपर काम करता है।

ईश्वर सब संसारके अंदर बाहर एकरस व्यापक है और उसकी व्यापकता के कारण यह विश्व रूपवान् है। यही विश्वरूप ईश्वरका विराट् रूप है। इसीको हम साकार कह सकते हैं।

जीव ईश्वरकी तरह निराकार है। परंतु भेद इतना मालूम पडता है कि जीव एकदेशी है और ईश्वर सर्वदेशी। एकदेशी जीव सर्वदेशी ब्रह्म नहीं हो सकता। हां उसके रूपमें लीन हो कर एकरस हो जाता है, जैसे हिम पिघल कर पानीरूप से नदी या सागर रूप में आजाता है। परन्तु जीव एक भिन्न अनादि पदार्थ होनेसे बिलकुल ब्रह्म नहीं हो सकता। ईश्वर से अलग होकर अपने रूपमें आ सकता है।

जीव प्रकृतिमें आकर अपने तेज को घटा बढा सकता है और बहुतहि बलवान् बुद्धिमत्ता होने के कारण अपने आप को ईश्वर नहीं कह सकता। यदि कहे तो यह उसकी भूल है। और ऐसा आदमी दण्डनीय है। देखिए, जब एक शाही नोकर अपने आपको बडा ताकतवर पाकर अपने आपको शाह कहलाने लगता है तो उसे बागी कह कर दंड देते हैं। जब एक मनुष्य को हम कलासंपन्न पाकर उसे ईश्वर मानते हैं तो हम ईश्वर की सत्ता को दूषित करते हैं। यहीं से भिन्न भिन्न विचार फैलते हैं और मूर्तिपूजा वगैरा शुरू होती है।

ज्ञानी गुरु ।

(श्री गोपाल चैतन्यदेवजी महाराजद्वारा प्राप्त)

प्रथम खण्ड ।

धर्म क्या है ?

धर्मतत्त्व को जानने से पहिले "धर्म क्या है ?" इसे विशेष रूप से जान लेना आवश्यक है । ऐसी दशामें प्रश्न होता है, कि धर्म किसे कहा जाय ?

ध्रियते धर्म इत्याहुः स एव परमः प्रभुः ।

अर्थात् जो धारण किया जाय, उसीका नाम धर्म है । लोकत्रय अथवा जगत्-त्रय जिससे धृत वा निहित (स्थापित) है, उसी को ही धर्म कहते हैं । अथवा सब लोग जिसे धारण किये हुए हैं, वही धर्म है । केवल समस्त लोक ही नहीं, महदादि अणुपर्यन्त भुवनत्रय (तीनों लोक) में जिस किसी की भी संभावना हो सकती है, वह सब ही धर्म-द्वारा धृत-धारण किया हुआ-रक्षित और परिचालित है । धर्म ही जगत्-यंत्र का यंत्री (चलानेवाला) है, धर्म ही सुख का स्वरूप है ।

देवता, मनुष्य, कीट, पतङ्ग, उद्भिद और जडपिण्ड प्रभृति त्रिलोक के यावन्मात्र पदार्थ हैं, उनके लिए धर्म तथा साधना की आवश्यकता है । इसी कारण मनुष्य के लिए धर्म है और धर्म-ज्ञान भी है– किन्तु पशुपक्षी कीट-पतङ्ग अथवा उद्भिदादि का धर्म होने पर भी उन्हें धर्मज्ञान नहीं है ।

धर्मज्ञान होने के कारण ही मनुष्य अन्यान्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ है । और भी एक बात यह है, कि मनुष्यप्राणी जीवसृष्टि का चरमोन्नत रूप है ।

मनुष्यदेह ही धर्मसाधनाके लिए उपयुक्त क्षेत्र है, इसी कारण वह जन्मजन्मान्तर के अनुशीलन-द्वारा धर्मज्ञान में समुन्नत होकर साधन-पथ में अग्रसर हो सकता है ।

इसी लिए इच्छा करने पर मनुष्य प्रयत्नद्वारा सहज ही धर्म-साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है, किंतु अन्यान्य जीव ऐसा नहीं कर सकते । फिर भी वे धर्म के द्वारा ही परिचालित और रक्षित हैं । मनुष्य इस विषय में अनेक अंशों में स्वाधीन है, इतर जीव प्रकृति के आधीन हैं ।

हर्बर्ट-स्पेन्सर प्रभृति पाश्चात्य वैज्ञानिक गण कहते हैं, कि " क्रमविवर्तन-वाद के अनुसार बालू का एक कण महामहीरुह (पर्वत) में परिणत हो सकता है, या मनुष्य बनकर ज्ञान की अनन्त ज्योति को विकीर्ण कर सकता है ।"

बात बिलकुल ठीक है । बालू (रेती) के कण का जो धर्म है, वही उसे उन्नति के पथपर आकर्षण कर ले जाता है और क्रमविवर्तनवाद के कारण कहिये या जन्मान्तरीय उन्नति-पथ के कारण समझिये-उसे क्रमशः अनेक जन्मों के मार्गसे मनुष्य में परिणत कर देता है । इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? किंतु इस रेती के कण की क्रमोन्नति प्रकृति के धर्म-द्वारा सम्पादित होती है । और मनुष्य को धर्मज्ञान होनेके कारण, इच्छा करने पर वह उन्नति की चरम सीमापर पहुँच सकता है ।

तथापि इसीके साथ साथ केवल मनुष्य होने से ही उसे धर्म-ज्ञान प्राप्त हो जाने की बात सर्वत्र स्वीकार नहीं की जा सकती । क्योंकि पहाड-पर्वतों और वनों-जंगलोंमें तथा अनेक असभ्य देशमें रहनेवाले ऐसे अनेक असभ्य और जंगली मनुष्य आजभी मौजूद हैं, जो धर्म क्या है, इसे नहीं जानते और न किसी प्रकार से धर्म का अनुशीलन या उसकी कोई साधना ही करते हैं । वहाँ

तक कि सभ्य समाज में जन्म लेकर भी अनेक मनुष्य धर्म की ओर नहीं देखते।

शिथिलचर्म, पञ्चकेशधारी वृद्ध भी आत्मसुख में निमग्न होकर जीवनके शेष दिन बिता देता है। किंतु इतने पर भी उसका धर्म तो होता ही है, हाँ उसे धर्मज्ञान नहीं होता। धर्मज्ञान हो या न हो, किंतु इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि तुच्छ रेती के कण से लेकर पशु-पक्षी ही नहीं देवताओं तक का धर्म अवश्य है। और वह धर्म ही सब को धारण किये हुए हैं, तथा क्रमविवर्तन-वाद के अनुसार सब को उन्नति के पथपर खींच ले जाता है।

अब हमें यह देखना चाहिए कि पशु आदि अन्य सब जीवोंसे मनुष्य श्रेष्ठ क्यों है? पशु की भाँति आहार, निद्रा और मैथुन प्रभृति आत्मसुखमें निमग्न रहकर भी क्या हम सृष्टिके श्रेष्ठ जीवके नाते स्पर्धा कर सकते हैं? नहीं, क्योंकि यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यत्व और पशुत्व में भेद ही क्या रह जाता? मनुष्य के धर्मज्ञान है और स्वाधीन-भावसे उसकी परिचालन-शक्ति भी विद्यमान है, इसी कारण जगत्-पिता (परमात्मा) द्वारा एकमात्र मनुष्य को ही उस शक्ति से संपन्न किये जाने के कारण हमने जीवसृष्टि में श्रेष्ठासन प्राप्त किया है।

जो लोग धर्म का अनुशीलन या उस की साधना करते हैं, वेही प्रकृत (यथार्थ) मनुष्य हैं; और जो आहार, निद्रा एवं मैथुन में लयलीन होकर जीवन अतिवाहित करते हैं, वे मनुष्य-देहधारी पशुमात्र हैं। अतएव मनुष्य-जीवन धारण करके धर्मज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। कोई कोई यह भी सोचते हैं, कि जब स्वाभाविक धर्म के कारण सभी क्रमोन्नति के पथपर चले जाते हैं, तब हम भी किसी दिन अपने आप उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जायेंगे; फिर इसके लिए अलग प्रयत्न क्यों करें? एक दिन हम उन्नति की चरम-सीमा पर पहुंच अवश्य जायेंगे। किन्तु वह कितने दिनों के बाद? कितने युग, कितने कल्प बिताने पर? मनुष्य की वह क्षमता अपने हाथमें है। इच्छा करने पर मनुष्य इसी जन्म में उन्नति की चरम-सीमा पर पहुंच सकता है। भगवान् ने मनुष्य पर दया करके उसे यह शक्ति दी है और इसीकी साधनासे उसे सृष्टि का श्रेष्ठ जीव बनाया है। वह शक्ति है- धर्मज्ञान।

मनुष्यकुलमें जन्म लेकर भी जबतक धर्मज्ञान नहीं होता, तबतक वह पशु के समान है। यदि प्राप्तवयस्क व्यक्ति को भी धर्मज्ञान न हो तो, उसे भी पशु कहा जा सकता है। अतएव मनुष्यदेह धारण कर धर्म की आलोचना-द्वारा पशुत्व से मुक्त होना तथा मनुष्यत्व प्राप्त करना प्रत्येकका कर्तव्य है। साथ ही केवल मनुष्यत्व-लाभ ही उन्नति की चरम-सीमा नहीं है। पशुत्वपरिहार करते हुए धर्मानुशीलन-द्वारा मनुष्यत्वलाभ करनेपर देवत्व की चेष्टा करनी चाहिए। देवत्वलाभ होने पर ब्रह्मोपासना-द्वारा ब्रह्मसायुज्य प्राप्त किया जाता है। मनुष्य में वह शक्ति है। उसी शक्ति के कारण वह सृष्टिके मनुष्येतर जीवों से श्रेष्ठ है। जिसके अनुशीलन से मनुष्य पशुत्व से मुक्त होकर क्रमशः ब्रह्म-सायुज्यलाभ कर सकता है, उसीका नाम धर्म है और उसीके अनुशीलन का नाम धर्मसाधना।

धर्मका प्रयोजन।

धर्म क्या है? इस बातके समझ लेने पर धर्मसाधना की आवश्यकता स्वयमेव ही मनमें उत्पन्न होती है, किंतु फिरभी इस सम्बन्ध में कुछ विचार करना उचित होगा।

इस परिदृश्यमान जगत् के उच्च श्रेणीके जीव-मनुष्य से लेकर अत्यंत निम्न श्रेणि के जीव, अर्थात् कीट-पतङ्गादि तक सभी अहोरात्र सुखप्राप्ति के लिए लालायित हैं और सुखके लिए प्रतिक्षण व्यस्त रहते हैं। उनके स्वभाव, गति, और व्यवहार को देखते ही पता लग जाता है कि सुखकी आशा तो सभी कर रहे हैं, परंतु सुखी है कौन? अनुसन्धान करने पर पता लगता है कि पृथ्वी के एक छत्राधिपति सम्राट् से लेकर ठेठ कुटि-निवासी भिखारी तक सभी आशाआकांक्षा के तीव्र दंशन से अस्थिर हो रहे हैं। धन, जन, बल, ऐश्वर्यादि, ख्याति, मानसम्मानादि किसी भी बात से मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकता है। आकांक्षारूपिणी राक्षसी से कोई भी नहीं बच सका है। रजत-चंद्रिकामयी बसन्त-यामिनी के मध्यभाग में

यूथिका (सुगंध पुष्प) शय्यापर शयन करके भी दिल्लीके प्रबल प्रतापी सम्राट्गण सुखी नहीं हो सके। संसारमें किसी की भी आशा पूर्ण नहीं होती– किसी की भी साध नहीं मिटती। कोई यदि एक विषय में सुखी है तो अन्य पांच विषयों में निरन्तर मनःकष्टपूर्वक कालयापन करता है। तब प्रश्न होता है कि सुख कहां है ? सुखी कौन है ?

सुखका अर्थ है (सु=उत्तम +ख [ज्ञानका] =इंद्रिय) इन्द्रियज्ञानका स्वभाव, नियमित स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य। इंद्रिय आत्माकी शक्ति-विशेष का नाम है। इसी लिए कहा जा सकता है कि आत्मशक्ति-ज्ञान की स्फूर्ति तृप्ति और सामञ्जस्य ही सुख है। धर्म उस सुखप्राप्ति का उपाय है। धर्म के द्वारा ही इंद्रियशक्ति की पूर्ण स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्यकी सिद्धि हो सकती है।

सुखं वाञ्छति सर्वो हि तच्च धर्मसमुद्भवम्।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥
(दक्ष–संहिता ३।२३)

सभी लोग सुख की इच्छा करते हैं, किंतु सुखका उद्भव धर्मके द्वारा होता है। अतएव सबको यत्नपूर्वक सर्वदा धर्माचरण करना चाहिए; धर्माचरण के द्वारा ही इंद्रियशक्ति की सम्यक् स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य की साधना करने के बाद सब प्रकार से जगत्के (बाह्य, आभ्यन्तर, बौद्ध और अध्यात्म) यथार्थ-तत्त्वको आत्मा में उपलब्ध करने से ही सुखकी प्राप्ति होती है। वही सुख स्थायी होता है और उसीमें आनन्दोच्छ्वास की सुमधुर लहरी-लीला विद्यमान है। तथा वहां लाला–यित आकांक्षा की लपलपाती हुई जिह्वाका प्रसार और लालसामयी आंधी नहीं।

एक बात और भी है, संसारमें सब प्रकार से सुखी होनेपर भी वह सुख चिरस्थायी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शरीर के छूटनेपर परलोक के मार्ग में धन-जन-स्त्री-पुत्र-बन्धुबांधव कोई भी साथ नहीं देता। उस समय तो केवल धर्म ही साथ जाता है।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वाधीन है और धर्मप्रवृत्ति उसकी स्वाधीन–वृत्ति है। अविद्या या माया उसे माया के गर्त में गिरा देती है; अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि जिस उपाय–द्वारा माया के पाश से उद्धार पाकर आत्मोन्नति हो सकती हो– आत्मप्रसाद की प्राप्ति हो, कामना, वासना के विकार दूर हो सकें, वही करे। आत्मा सुख या दुःख कुछ भी नहीं चाहती, आत्मोन्नति ही दुर्लभ मनुष्यजन्म का ध्येय है और इस आत्मोन्नति का मूल कारण (साधन) धर्म है– इस बात का संसार के सभी ज्ञानियों ने अनुमोदन किया है। इसी कारण पाश्चात्य धर्मगुरु ने कहा है–

Not enjoyment and not sorrow,
Is our destined end or way;
But to act, that each to-morrow
May find further than to-day.

केवल आत्मोन्नति ही नहीं अर्थनीति और समाजनीति के मूल में भी धर्म निहित है। अतएव धर्म के समान बन्धु दूसरा और कौन हो सकता है ? इस लोक की चर्चा को छोड़ देने पर भी उस परलोक में– उस अज्ञात अपरिचित देश में, उस पापपुण्य-वासना-शांतिके देश में, उस नर्कस्वर्ग–साधनाके देश में जो अनुगामी होता है उसके समान आदरणीय और स्नेहीबन्धु और कौन हो सकता है ? अब धर्मसाधनाकी आवश्यकता शायद सभी समझ गये होंगे। धर्म की स्नेहयुक्त भुजाओं में–उसकी सुरभि सुवास के भीतर आत्माको सुखपूर्वक रखने के उद्देश्यसे ही धर्मसाधना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

एक और विशेष बात यह भी है कि आत्मा परमात्मा का अंश (द्वैत मतानुसार पार्षद या दास) सुतरां ब्रह्मानन्द वा पूर्ण सुखका उसने भोग किया है। उसके स्वाद को वह जानता है। संसार के जीव उसी सुख की खोजमें व्यस्त हैं। किंतु जीव अविद्या के बन्धन के कारण आत्मविस्मृत होने से न कुछ जानता है, न कुछ समझता ही है – किंतु फिर भी सुख के लिए लालायित है। जीवमात्रही सुख की स्पृहा करता रहता है। ब्रह्मानन्द की अनुभूति से जीव छूट रहे हैं। सुखकी आशा से ही

दाता लोग दान करते हैं, याचक लोग हाथ नीचा करते हैं। सुखकी आशासे ही राजराजेश्वरी मस्तकपर मुकुट धारण करती है और भिखारिणी तृणगुच्छ (घास-पात) से कुटिया सजाती है। सुख-पिपासाकी अनिवार्य आशा से- ज्वाला से- मद्यपान करनेवाला 'डाल, डाल और भी डाल,' कहते हुए बोतलमें स्थित द्रव-वह्नि की ओर दृष्टिपात करता है। सुख के लिए ही चोर चोरी करता है। कोई रूप, रस या रुपये पैसे की कामना करता है, कोई अनुपयुक्त इंद्रिय-चालन करता है। इसी प्रकार सब जनहितैषी साधुगण सुखतृप्ति के ही अज्ञात अनुशासनके कारक दीनदुःखियोंको दुःखमुक्त करनेकी चिंता में निमग्न रहते हैं। सुखतृप्ति की लालसासे ही राजाधिराज धनैश्वर्य परित्याग करके भिखारी बन जाते हैं और दरिद्री लोग दस पांच रुपये के लिए दूसरों के प्राण ले लेते हैं। तृषार्त मृग जिस प्रकार मरीचिका में जल के भ्रम से दौडता है, इसी प्रकार सुखका आभास पाते ही जीव भी उस ओर दौड लगाने लगता है। किन्तु फिरभी संसारमें सभी अतृप्त हैं। किसी की भी सुखकी आशा निवृत्त नहीं हुई है; हो भी कैसे ? संसार के सब प्रकारके सुखही अंशमात्र हैं। और जीव है पूर्ण सुखका भिखारी। ब्रह्मानन्द की तुलनामें राजैश्वर्य तुच्छ है, यही कारण राजराजेश्वर मणिमय मयूरसिंहासन पर विराजमान होकर भी तृप्तिलाभ नहीं कर पाता है। केवल धर्माचरण से ही उस सुखका उपभोग किया जा सकता है, इसी कारण सर्वत्र ही धर्मसाधनाकी प्रयोजनीयता स्वीकार की गई है। (क्रमशः)

अथर्ववेद और मांसभक्षण-निषेध।

(ले०- श्री० पं० मुक्तिरामजी उपाध्याय)

अर्थापत्ति।

साक्षात् विधान न मिलने पर भी कई सज्जन अर्थापत्ति से अथर्व में मांस का विधान सिद्ध करते हैं। उनके निर्दिष्ट प्रसङ्गोंका समाधान आगे सुनिये।

आमं मांसमदन्ति ये पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
(८।६।२३)

जो लोग कच्चा मांस, पुरुष का मांस और गर्भों को खाते हैं उन्हें यहां से नष्ट कर दो।

प्रतिपक्षी विचारकों का कहना है कि इस मन्त्र में कच्चा मांस खानेवालों के लिए दण्डव्यवस्था है। इससे सिद्ध होता है कि पका हुआ मांस खाने में कोई हानि नहीं।

इसके उत्तर में निवेदन है कि पक्के और कच्चे दोनों ही प्रकार के मांस के खाने का अत्यन्त निषेध किया गया है। और केवल कच्चे का निषेध यहां आगया, फिर विधान कैसा? अर्थापत्ति तो तब ही उपयुक्त हुआ करती है जब दूसरा पक्ष निश्चित न हो। जब तक देवदत्त की मृत्यु का निश्चय नहीं है तभी तक घर पर न मिलने पर, उसके बाहर होनेकी कल्पना की जा सकती है, मृत्यु के निश्चय होने पर नहीं। ठीक इसी प्रकार यहां भी जब कि अन्य प्रमाणों से मांस के निषेध का निश्चय किया जा चुका है तो उसके विधान की अर्थापत्तिसे कल्पना सर्वथा अयुक्त है।

दूसरा निवेदन यह है कि यह तो प्रसङ्ग ही रक्त के कीडों का है, जो कि खाते ही कच्चा मांस हैं। गर्भों को भी वे खा जाते हैं। इसी प्रकरण में इससे पैरोंवाले और बेल के गुच्छों पर चलनेवाले कई प्रकार के कीडों का वर्णन है। इस मंत्र में भी रक्त के कीडों का वर्णन है और

उन्हींके नाश का विधान है। मांस के निषेधका यह प्रसंग ही नहीं है। और निषेध का प्रसंग न होने से अर्थापत्ति-मूलक विधान भी अब शशशृंग और आकाश के फूल के समान है।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि॥
(४।१७।४)

जिस कृत्या को तेरे कच्चे पात्र में, [अथवा पककर नीले अथवा लाल हुए मिट्टी के पात्र में और तेरे कच्चे मांस में किया गया है उससे कृत्या करनेवाले को मार।

इस मन्त्र में भी मांस का विधान बताया जाता है। कहा जाता है कि जिस मांस को किसी ने [दूषित कर दिया है वह और हण्डी, दोनों मांस पकाने के लिये ही रखे हुए थे। इससे सिद्ध है कि इस मन्त्र में मांस का विधान है। उत्तर सुनिए।

खेद की बात है कि 'वेदोंमें प्रकरण का क्रम नहीं है।' इस व्यापक धारणासे हम कई अनुचित हानियें उठा रहे हैं। यह ठीक है कि वेदोंमें कितने ही स्थलों पर प्रकरण का क्रम नहीं है। परंतु बहुत से स्थल ऐसे भी हैं जो प्रकरण की शृङ्खला से बंधे हुए हैं। मंत्रोंका अर्थ करते हुए ऐसे प्रसंगोंमें भी हम, प्रकरण की उपेक्षा कर देते हैं। इच्छा तो थी कि इस सारे सूक्त का शृङ्खलाबद्ध भाव आपकी सेवा में उपस्थित करता। परंतु समय की अल्पता से विवश हूं। तथापि इससे पहिले तीन मन्त्रों-का और इस मन्त्र का भाव तो आपको सुनाऊंगा ही।

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥ (४।१७।१)

वैद्य कहता है कि, हे औषधि! तुझे सब ओषधियों की स्वामिनी विजयशील बनाता हूं। सब औषधियोंमें तेरे अन्दर सहस्र गुनी शक्ति उत्पन्न करता हूं।

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनः सराम्।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥२॥

सत्य से जीतनेवाली, निन्दित कर्मोंको दूर करनेवाली, सहनशक्ति से संपन्न, सब अच्छे नामवाली औषधियों से बढनेवाली, तू हमें यहां से पार कर।

या शशाप शपनेन याऽघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥

जो दुर्वासनाओं से दुर्वासित करती है, जो मारक पाप को धारण किए हुए है और जो प्रेम का नाश करने के लिए अनेक वृत्तियोंकी सन्तान को पैदा करती है, वह अन्तःकरण की वृत्ति तेरा थोडासा सेवन कर ले। अर्थात् तेरे थोडेसे सेवन से वह वृत्ति शुद्ध हो जावेगी।

यह प्रकरण अपामार्ग औषधि का है। काशी में अबतक भी यह व्यवहार प्रचलित है कि जब वेद पढाना आरम्भ करते हैं तब पहिले दो तीन दिन अपामार्ग की दन्तधावन कराते हैं। याज्ञवल्क्य-शिक्षा में भी इस दन्तधावन का विधान है।

अपामार्ग को हण्डी में डालकर औषधि बनानेसे पहिले वैद्य कहता है

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥

हे ओषधि! तेरे लिए तैयार किए मिट्टी के पात्र में, तेरे लाल नीले पत्तों और हुण्डी में (पकने पर अपामार्गके पत्तों का तथा डाली का रङ्ग लाल नीला बैंजनी हो जाता है।) तेरे कच्चे मांस में = अन्दर के गुद्दे में, कीडों ने जो विकार पैदा कर दिया है, उस विकारके सहित विकार पैदा करनेवाले कीडों को भी अलग कर दे।

तात्पर्य यह है कि वैद्य औषधि को तैयार करने के समय हण्डी का भली भांति शुद्ध कर ले, ऊपर से अपामार्ग को अच्छी तरह धो लें और यदि हण्डी में अन्दर कीडा लग गया हो तो कीडासहित उस काले गुद्दे को भी निकालकर फेंक दे। इस सूक्त में अन्त तक यह ही प्रसङ्ग है। इसमें मांस के विधान की कहीं गन्ध भी नहीं है।

यां ते चक्रुरामे यां ते यां चक्रुर्मिश्रधान्ये।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्। (५-३१-१)

जो कृत्या तेरे मिट्टी के पात्र में मिले हुए अन्नमें और कच्चे मांस में की गई है, उसे फिर हटाता हूं।

इस मंत्रमें भी कच्चे मांस और कृत्या का वर्णन आने से मांस के विधान की कल्पना की जाती है। खेद की बात है, मांस का विधान निकालनेवाले सज्जनों ने यहां भी प्रकरण की उपेक्षा की है। यह इकतीसवें सूक्त का पहिला मन्त्र है। इससे पहिले तीसवें सूक्त में आरम्भ से लेकर अन्त तक यक्ष्मा (तपेदिक) की चिकित्सा का वर्णन है। तीसवें और इकतीसवें सारे ही सूक्त में यक्ष्माके रोगीके साथ चिकित्सक को कैसा व्यवहार करना चाहिए, उसे रोगी के ऊपर अपना आध्यात्मिक प्रभाव डाल कर उसे किस प्रकार प्रोत्साहित करना चाहिये, यह ही उपदेश है। इस प्रसङ्ग का दिग्दर्शन करानें के लिए मैं तीसवें सूक्त के दो मन्त्र आपकी सेवा में उपस्थित करता हूं।

यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
(५-३०-५)

जिस औषधि को तेरे माता पिता स्त्री और भाई बना रहे हैं, उसे एक वार पी ले। तुझे दीर्घायु किये देता हूं।

मा बिभेर्न मरिष्यति जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥
(५।३०।८)

मत डर, तु मरेगा नहीं। जो तेरे शरीर के ज्वर का कारण था वह यक्ष्म (कीटाणुओं का समूह) मैंने निकाल बाहर किया है।

यह तीसवें सूक्त का प्रसंग है। अब आम मांसवाले मन्त्र का भाव सुनिए। औषधि को रोगी के माता पिता और बन्धुओं को बनानें के लिये देता हुआ वैद्य कहता है।

हे औषधि ! तेरे सिद्ध करने के साधन इस मिट्टी के बर्तन में, तेरे अन्दर मिलाई हुई धान्यरूप औषधियों में, तेरे कच्चे मांस में = गूदे में जो विकार किसी अन्य प्रकार से अथवा कीडों द्वारा पैदा हो गये हों, उन्हें मैं फिर दूर करता हूं।

इस मन्त्र में 'पुनः' शब्द का प्रयोजन यह है कि वैद्य जंगलमें से लाते समय कच्ची औषधि को तो भली भांति देख ही ले, औषधि को बनाते समय भी पात्र को, उस में मिलाने योग्य अन्य औषधियों को और उस औषधि को भी फिर शुद्ध कर ले। औषधि देने के बाद रोगी का उत्साह बढानें के लिए चिकित्सक ने फिर अपनी शक्तियों का वर्णन आगेके मन्त्रों में आरम्भ कर दिया है। संक्षिप्त में उस वर्णनका भाव इस प्रकार है- आयुष्मन्! मैं तो तेरे घर के पक्षियों, पशुओं यहां तक कि मकानों और खेतों में भी यक्ष्मा का बीज न छोडूंगा, तेरे शरीर की तो बात ही क्या है !

मैं अपने इस निबन्ध को समाप्त करता हुआ निवेदन करूंगा कि जो प्रसंग मैंने आपकी सेवामें उपस्थित किये हैं, मेरी दृष्टिमें अथर्व में इनके अतिरिक्त और कोई प्रसंग नहीं, जिसमें मांसभक्षण के विधान की झलक हो। और मुझे तो इन प्रसंगों में भी उस झलकके मिथ्याभास का ही भान हुआ है।

यथाशक्ति मैंने प्रकरणों और व्यावहारिक अर्थों का अनुसरण किया है। त्रुटियों को आप ठीक कर लीजियेगा। अन्तमें मैं यह ही नम्र निवेदन करूंगा कि अथर्ववेद सर्वथा निरामिष आहार का उपदेशक है।

मानव-जाति ।

(लेखक- श्री० पं० वसिष्ठजी)

सृष्टि-उत्पत्ति के ' समुद्र-मथन ' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जब लक्ष्मी (पृथिवी) के भूतल का जल भूगर्भ में पहुंचा तो शनैः शनैः रासायनिक परिवर्तन हुआ और वह पृथिवी की पूर्ण शक्ति के विस्फोटन से फूट पडा । वह विस्फोटन एक भयंकर भूकम्प था । इतना भयंकर व शक्तिशाली कि वैसा भूकम्प अब तक नहीं हुआ, क्योंकि पृथिवी विस्फोटक रासायनिक, लवण, अम्लज तथा दहनीय (Combustible) पिण्डों को अधिकतम मात्रा में गर्भस्थ किए हुए थी । जलीय परमाणु, जो पृथिवी-सीमा में आकर्षित होकर सामूहिक हो गये थे, मेघ बन कर निरन्तर बरसते रहते थे । न जाने कितनी शताब्दियों तक उस आदिम कालमें लक्ष्मी (वसुन्धरा) पर बारहों महीने श्रावण की झडी लगी रहीं होंगी । उस समय लक्ष्मी (पृथिवी) जलमग्न हो गई ।

आरम्भ में जल-सिन्धु अंगुल भर फिर सतत वर्षा से पर्याप्त गहरा हो गया । लक्ष्मी उस समय गर्भस्थ थी, गर्भपिंड के समान सुडोल गोलाकार थी; न ऊंची, न नीची और न गहरी । और वह भी गर्भपिंड के समान तरल जल में डूबी हुई । समस्त भूतल जल से आवृत था । इस प्रकार अखिल भूतल पर समुद्र ही समुद्र था और वह भी केवल एक । आकाश-गंगा के जल ने इस जलधि को रचा था । इस जलमें भूगर्भ का कोई रासायनिक लवण, अम्लज घोल नहीं मिला था । अतः इसका जल आकाशगंगा के समान निर्मल तथा मधुर था । जिस प्रकार चूने में जल के मिश्रण से विस्फोटन होता है ऐसा ही महाभयंकर विस्फोटन उस जल के भूगर्भ में पहुंचने से हुआ और उस महाभयंकर विस्फोटन (भूकम्प) से हलाहल (ज्वालामुखी) उत्पन्न हुआ । सतत वर्षाओं से ठंडा होकर वह हलाहल (ज्वालामुखी) एक पर्वत के रूप में हो गया और उसके साथ विस्फोटित होकर बाहर आए हुए रासायनिक, अम्लज, लवण पदार्थ जलमें घुले जिनकी सडन से जलजन्तुओं की उत्पत्ति हुई ।

वह पर्वत उन आदि पाञ्चजन्यों (मनुष्यों) की भाषा में त्रिकूट के नाम से प्रसिद्ध हुआ और भूतल का वह एक मात्र महासमुद्र क्षीरसागर के नाम से । क्योंकि उसका जल आकाशगंगा के समान निर्मल व मधुर था । उस समयतक उस जल में भूगर्भ से विस्फोटित होकर न रासायनिक लवण, अम्लज पदार्थ मिले थे और ना ही जंगम, स्थावर शरीरों से उत्पन्न कोई रासायनिक द्रव्य उसमें घुला था ।

आज जो अनेक समुद्र हैं, वे उस एक मात्र क्षीरसागर के अनेक टुकडे हैं, जो भूकम्पों द्वारा निकले हुए अनेक भूभागों (द्वीप, देशादि) के कारण पृथक् पृथक् हो गये हैं । आज समुद्र कहीं कम और कहीं १० मीलतक गहरा है और थल कहीं १० मीलतक ऊंचा है, इसका कारण केवल भूकम्प हैं और उन भूकम्पोंसे उत्पन्न ज्वालामुखी ही ठंडे होकर १० मील तक ऊंचे पर्वत बन गये हैं। जब पृथिवी का एक भाग ऊंचा हो गया है तो कहीं दूसरें स्थान में उतनी ही गहराई होनी चाहिये । क्योंकि जो ऊंचाई बनी है, वह भूभाग के द्रव्य से ही बनी है । जब एक स्थान का भूभाग ऊंचा निकल आया तो कहीं न कहीं उतना ही नीचा भी होना चाहिये ।

त्रिकूट पर्वत पर वनस्पति पशुपक्षी आदि के उत्पन्न हो जाने तथा पाञ्चजन्य (मनुष्य) के प्रकट हो जाने पर भी उन वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्यादि के स्थावर जंगम शरीरों का आम्ल तथा लवण इतना अल्प था कि वह यदि कुछ मात्रा में बह कर उस महा क्षीरसागर में आया भी तो वह उस सागर के क्षीरत्व (मधुरता) में कुछ भी विकार उत्पन्न न कर सका। इसी लिए वह आदिम काल का एक मात्र महासमुद्र क्षीरसागर के नाम से विख्यात रहा।

किन्तु सतत विस्फोटनों (भूकम्पों) के कारण अनेक भूभाग तथा ज्वालामुखी प्रकट होकर आम्ल व लवणादि रासायनिक घोल क्षीरसागर में घोलने लगे। उन नवजात भूभागा (स्थलों) पर उत्पन्न हुए स्थावर जंगम प्राणियों के कायिक आम्ल व लवण वर्षा की नदियों के द्वारा समुद्र में घुलने लगे और निरन्तर आगे भी घुलते जा रहे हैं। इस सतत घुलन-प्रक्रिया ने क्षीरसागर के विभाजित समुद्रों के जल को लवणयुक्त बना दिया और उत्तरोत्तर अधिक खारा बना रही है।

उस त्रिकूट का हिमालय नाम बहुत पीछे पडा। उस समय पडा जब अनेक देश, चारों ओर भूभाग अर्थात् समुद्र की पेंदी से निकले और उनके निकलने से वायु में आर्द्रता का अभाव तथा उष्मा की विषमता होने के कारण त्रिकूट पर हिम पडने लगा। उस आदिम काल में इस त्रिकूट के मधुमाधव (वसन्त ऋतु) ठीक वैसे ही थे जैसे चैत्र-वैसाख आज मसूरी पहाड के निकट उत्तम प्रदेश में होते हैं।

वैदिक वाङ्मय।

उन पाञ्चजन्यों को बहुत कुछ गत जीवनों का ज्ञान था। ज्ञान की आधारभूत भाषा भी उन्हें याद थी। वह भाषा अक्षर-ध्वनि के उच्चारण-स्थान के वैज्ञानिक संकेत के आधार पर थी। अक्षरों के योग से ही शब्द बन सकता है, इस लिए उस भाषा की प्रत्येक शब्द अक्षर (स्वर तथा व्यञ्जन) के ध्वनि-स्थानक संकेतों के समूह को प्रकट करता था। इस प्रकार उस भाषा का प्रत्येक शब्द युक्तियुक्त यौगिक था, कृत्रिम तथा कल्पित नहीं। कल्पित शब्द तो तब बन सकते हैं जब अक्षरों का स्वतः तथा यौगिक उच्चारण ठीक ठीक आ जाय।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो और बातें तो क्या, भाषा भी बिना सिखाये नहीं सीख सकता। वहां उनसे पूर्व सिखानेवाला कोई मनुष्य नहीं था। इस लिए आरम्भ में वे प्रखर आत्माएं ही पाञ्चजन्य के रूप में उत्पन्न हुईं जिन्हें अपने जन्मान्तरों की स्मृति ठीक ठीक थी। उनको उस वैज्ञानिक प्राकृत भाषा का नाम "वैदिक वाङ्मय" था। "वैदिक" और "वाङ्मय" शब्द भी "वैदिक" भाषा के ही हैं जिनका अर्थ है "ज्ञानयुक्त भाषा"।

ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं- (१) स्वाभाविक, (२) नैमित्तिक, (३) कृत्रिम। तीनों ही निर्भ्रान्त होते हैं क्योंकि जिसमें भ्रान्ति हो वह अज्ञान कहलाता है।

स्वाभाविक ज्ञान पशुपक्षियों को होता है जिसके अनुसार वे अपने अपने कार्यों में गति करते हैं। मनुष्य का नवजात शिशु भी मुख में स्तन आते ही बिना सिखाये ही स्वाभाविक ज्ञान के आधार पर दूध पीने लगता है।

नैमित्तिक ज्ञान ज्ञान का आरम्भिक अनुष्ठान है करता है; उसके पश्चात् तो प्रखर-बुद्धि पुरुष परीक्षण, विश्लेषणोंद्वारा विस्तार करते हैं। उदाहरणार्थ गणित की आधारभूत योग, व्यकलन, गुणा तथा भाग क्रियायें गणितज्ञान की आरम्भिक अनुष्ठान हैं। इसलिए जोडना, घटाना, गुणण करना तथा भाग देना नैमित्तिक ज्ञान है और इससे आगे गणित का समस्त भण्डार, जो प्रखरबुद्धिवाले गणितज्ञों द्वारा विवेचित किया गया है तथा किया जावेगा, वह कृत्रिम ज्ञान है। उन पाञ्चजन्यों में जो सर्वोच्च प्रखर आत्माएं थीं उनको परम्परा के अनुसार वे "विधान" याद थे। उन "विधानों" का

"विधानों" में "वेद" था। वेद वैदिक वाङ्मय का शब्द था जिसका अर्थ वैदिक वाङ्मय में "ज्ञान" है। आजपर्यन्त आर्यों का कहना है कि अब जो चार संहिताएं उपलब्ध हैं वे आदिमकालीन नैमित्तिक-ज्ञान के विधानों का संग्रह हैं। आर्येतर विद्वान् भी मानते हैं कि "वेद" के नाम से प्रख्यात संहिताएं प्राचीनतम पुस्तकें हैं। आर्यों का यह भी कहना है कि जब तक इस संहिताओं से पुरानी पुस्तक प्रकट करके प्राचीनतम प्रमाणित न कर दी जाय तथा उसके विधानों को निर्भ्रान्त तथा उपलब्ध वेद-संहिताओं के विधानों को भ्रान्त प्रमाणित न कर दिया जाय तब तक इन संहिताओं को आदिम नैमित्तिक ज्ञान मानने में किसी को भी आपत्ति न होनी चाहिये। क्योंकि कृत्रिम अज्ञान हो सकता है, नैमित्तिक अज्ञान नहीं। क्योंकि कृत्रिम बातों में भ्रान्ति हो जाती है, नैमित्तिक में तो भ्रान्ति हो ही नहीं सकती, जिसमें भ्रान्ति है वह निमित्त नहीं। इसीलिए नैमित्तिक ज्ञान निःशङ्क पालनीय होता है। आर्यों के इस दावे में पूर्ण बल है और इसी लिए आर्यलोग आजपर्यन्त वेद (नैमित्तिक ज्ञान) को परम प्रमाण मानते आये हैं।

वे पाञ्चजन्य (मनुष्य) तथा रम्भा (स्त्रियें) ईश्वर की सन्तान थीं। कोई मृत्य (पुरुष तथा नारी) उनके जनक जननी नहीं थे। लक्ष्मी (पृथिवी) उनकी माता तथा विष्णु (ईश्वर) उनका पिता था। वे सब ईश्वरपुत्र थे। अतः वे अपने को आर्य (ईश्वरपुत्र) कहते थे। यह "आर्य" शब्द वैदिक वाङ्मय का था जिसका अर्थ ईश्वरपुत्र था। आगे चल कर वही आर्य शब्द भारतवर्ष में आकर विशिष्ट गुणवाले पुरुषों के लिए उपयुक्त होने लगा और अन्त में रूढ होकर एक समुदाय के लिए।

उन आर्यों की स्थिति निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है-

भारतवर्ष के कुछ ऐसे विद्वानों को, जिनको संस्कृत बोलना अच्छे प्रकार आता हो तथा जिनमें से कुछ आयुर्वेद ग्रन्थों को, कुछ यम नियमसम्बन्धी सूत्रों को, कुछ स्मृतियों के निर्भ्रांत नैतिक नियमों को तथा शेष निर्वाहपूर्तिके निमित्त-साधनोंके नियमों को कंठ किए हुए तथा उनका क्रियात्मक अनुभव प्राप्त किए हुए भी हों; किसी ऐसे द्वीप में जहां मनुष्य का अस्तित्व न हो छोड दिया जावे, उन विद्वानों में विदुषियें भी हों, वे एक दूसरे से प्रायः अपरिचित हों तो वे सब शनैः अपने पूर्व ज्ञान (भारतीय ज्ञान) के आधार पर सब कार्य करेंगे। साधन (मकान, वस्त्र, भोजन आदि) उपलब्ध न होने पर भी उनका अपना प्रबन्ध-विधान नैतिक व नागरिक होगा। वे अपने भोजन के लिए खाद्य ढूंढेंगे। यदि उनकी पूर्व परिचित (जो जो फल, धान वे भारत में खाते थे) कोई वस्तु उन्हें मिल गई तो वे उसे तत्क्षण हस्तगत कर लेंगे और उसका वही नामकरण करेंगे जो उन्होंने भारतवर्ष में कर रखा था। दूसरी अपरिचित वस्तुओं (खाद्य फल तथा अन्य वस्तुओं) को वे अवकाश में परीक्षण व विश्लेषण करके सतर्कता से विलम्ब से ग्रहण करेंगे, चाहे वे अपरिचित वस्तुएं उनकी परिचित वस्तुओं से श्रेष्ठ ही क्यों न हों।

ठीक ऐसी ही अवस्था उन आदिम युवक आर्य (स्त्री-पुरुषों) की थी जो पाञ्चजन्य तथा रम्भा के रूप में भूतल पर उत्पन्न हुए।

बालक के साथ उसके पूर्वसंस्कार होते हैं जिसके कारण उसमें राग, द्वेष, काम क्रोधादि की विषमता रहती है। यदि उसे पूर्वस्मृति भी हो तो उसके अनुभव-ज्ञान में पूर्ण प्रौढता हो सकती है। इसका उदाहरण अभी देहली की एक कायस्थ कन्या शांति देवी प्रत्यक्ष है। वह बालिका अपूर्ण व अशक्त-शरीर तथा मस्तिष्क से भले ही कुछ योग्य कार्य न कर सकती हो किन्तु पूर्वस्मृति के बल पर उसे एक माता के प्रेम, कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व और एक गृहिणी के अभिनय तथा जीवन का सर्व ज्ञान है मानों वह अपने पूर्व-जीवन का स्वयं कोश है।

जाजरू (Laterine) शब्द का ज्ञान, जिसको

उसके इस जन्म के माता पिता, देहली-निवासी पास-पडोसी तक नहीं जानते, उसके गत-जीवन की भाषा का परिचय देता है । यदि शान्तिदेवी को बोलना सिखाने से पूर्व ही उस के अतिरिक्त देहली के समस्त नर नारी प्रलय को प्राप्त हो जाते तो शान्ति-देवी की वही भाषा होती जो उसने गत-जीवन में मथुरा नगर में लुगदी बाई की स्थिति में सीखी व बोली थी। शान्ति देवी गत-जीवन में कोई जापानी महिला अथवा पुरुष होती तो वह जापानी भाषा को एक हिन्दु के घर में न सीख व सुन कर भी बोलती। ठीक इसी प्रकार उन पाञ्चजन्यों की स्मृति का अनुमान किया जा सकता है।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि आर्यों की भाषा " वैदिक " तथा नैमित्तिक ज्ञान " वेद " था। नैमित्तिक ज्ञान सदा निर्भ्रान्त होता है । उसी नैमित्तिक ज्ञान के बल पर उन की जीवनचर्या ठीक उसी प्रकार व्यतीत होनी लगी जिस प्रकार जन-शून्य द्वीप में गये हुए भारतीय विद्वानों की। उस नैमित्तिक ज्ञान वेद में आत्मविज्ञान, भूतविज्ञान, नीति, राष्ट्रीयता आदि का क्या विधान था? हम इस विस्तार में जाना नहीं चाहते। हमें तो उन आर्यों के प्रगति-क्रम इतिहासपर प्रकाश डालना है, जिससे यह पता लगे कि यह मानव-जाति किस प्रकार और कहांतक विकसित हुई।

उन आर्यों की संतान ने लक्ष्मी (पृथिवी) तथा विष्णु (ईश्वर) की संतान, अपने माता-पिताओं को, उनके निधन हो जानेपर वैदिक वाङ्मय के " देव " विशेषण से अलंकृत किया। आगे चलकर यह " देव " शब्द रूढ होकर " देवता " के रूप में प्रत्येक परलोकवासी माता-पिता के लिए उपयोग में आने लगा।

आरम्भमें प्रकृति-प्रदत्त फल व कन्द-मूल, पश्चात् गो आदि पशुओं का दूध उन आर्यों का भोजन था। मान सरोवर के आसपास उनकी संतान तृण अथवा पर्ण कुटीर बनाकर रहती थी। भिन्न प्रकृति होते हुए भी उन पाञ्चजन्यों की संतान में कोई वर्णभेद न था, क्योंकि सब जिज्ञासु थे। प्रकृतिप्रदत्त प्रचुर फल कन्द मूल व दूध विना प्रयास उपलब्ध था। मन्द बुद्धिवाले भी इतस्ततः होकर अनाचाररत नहीं हो पाते थे, क्योंकि दुराचरण को मूर्त करनेवाला कोई प्राकृत अथवा कृत्रिम आकर्षण उपलब्ध न था। शत्रु न होने के कारण किसी रक्षण की आवश्यकता अनुभव न हुई थी।

शताब्दियों तक आर्यों के वंशज त्रिकूट पर्वत पर फलते फूलते रहे। जो मननशील एकान्तसेवी स्वभावके थे, वे दूर दूर नीरव प्राकृत वनस्थलियों में जाकर आश्रम बना कर रहने लगे। बालकों का शिक्षण, गो-पालन, अध्यात्म-चिन्तन उनके जीवन के कार्यक्रम थे। कितने बिल्कुल ही एकाकी रहते थे।

मनुष्य स्वभावतः जिज्ञासु है, किन्तु बिना भाषा के जिज्ञासा पूरी हो नहीं सकती। क्योंकि विचार का ही दूसरा नाम जिज्ञासा है और विचार भाषा की अपेक्षा रखता है और भाषा तब तक जिज्ञासा (विचार) को विकसित नहीं कर सकती, जब तक उस भाषा द्वारा जिज्ञासु को जिज्ञासा का निमित्त न मिल जाय। भाषा और निमित्त आर्यों को पाञ्चजन्यों से पहले ही प्राप्त हो चुकीं थीं। अतः जिज्ञासु एकाकी मुनि नैमित्तिक वेद की भित्ति पर अनेक दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक गुत्थियों को सरल विकसित तथा विस्तृत करते रहते थे।

इधर भूकम्प हुए और दो बडे ज्वालामुखी फूट निकले। एक उत्तर ध्रुव में, दूसरा त्रिकूट से दक्षिण में। सतत वर्षाओं से शीतल होकर वे दोनों ज्वाला-मुखी भी पर्वत बन गये। इस विस्फोटन से त्रिकूट व दक्षिण पर्वत के बीच की भूमि ऊपर उठ आई। कुछ क्षीरसागर के अन्यत्र तल के सुकड जाने से इस स्थान का जल उस ओर खींच गया।

इस प्रकार कुछ ही शताब्दियों में यह भाग बिल्कुल जल से बाहर आ गया। वायु, कीट, पतंग और पक्षियों की स्वाभाविक प्रगतियों से अनेक

प्रकार के वनस्पतिबीज इस मैदान में आकर वृक्षाकार हो गये और यह स्थान एक बृहद् सुन्दर अरण्य बन गया। आर्यों के वंशजों में अब जिज्ञासा के साथ साथ रजस् गुण भी आने लग गया था जिससे उनमें ममत्व तथा अहंभाव का उद्रेक होने लग गया था।

अनेक जिज्ञासु उत्साही आर्य त्रिकूट पर्वत को छोडकर मैदान की ओर आए। त्रिकूट के चरण स्थानपर पहुंच कर इन आर्यों ने उस अद्भुत समतल हरेभरे मैदान का दर्शन किया और जिस स्थान पर ये पर्वत से उतर कर मैदान पर पहुंचे थे उस स्थान को इन्होंने अपने वैदिक वाङ्मय के 'हरिद्वार' शब्द से अलंकृत किया, जो आजपर्यंत उसी नाम से विख्यात है। यहां के अधोप्रदेशीय जल वायु के कारण ये आर्य शीघ्र ही त्रिकूट पर्वत को लौट गए, परन्तु साहसी व उत्साही होने के कारण शीघ्र ही फिर लौट आए। कुछ ही शताब्दियों में वे यहां सर्वत्र फैल गये। उन्होंने इस प्रदेश को 'आर्यवर्त' शब्द से अलंकृत किया।

सुदूर दक्षिण में एक पर्वत था। अनेक एकाकी मुनि, आश्रमवासी गृहस्थ वहां तक पहुंच गए। इन्होंने इस पर्वत को 'वंध्या' के नाम से पुकारा। क्योंकि यह पर्वत उस समय वनस्पति-हीन था और त्रिकूट से छोटा था इसलिए स्त्रीलिंग में 'वन्ध्या' नाम से इसे पुकारा। यह नाम उपहासजनक था, किन्तु उनकी दृष्टि में यह पर्वत त्रिकूट पर्वत के तुलना में एक छोटा स्त्रीपर्वत ही मालूम होता था और वनस्पति उत्पन्न करने में अयोग्य वन्ध्या (बांझ)।

उन आर्यों को अपने देव पितरों (पूर्व-पुरुषों) का त्रिकूट इतना मान्य था कि वे त्रिकूट को देवलोक के नाम से पुकारने लग गए थे। और उन्हें अपने आदिम प्रपितामहों (पाञ्चजन्यों) की जन्मभूमि मान सरोवर इतनी मान्य थी कि वे इसकी जो कथा परम्परा से सुनते आ रहे थे उस अनुश्रुति को अलंकारिक रूप दे दिया था। वे अपने प्रपितामहों (पाञ्चजन्यों) की जन्मभूमि को शेषसैया के रूप में वर्णन करने लग गए थे, जहाँ उनके पूर्वजों के पिता विष्णु (ईश्वर) व माता लक्ष्मी (पृथिवी) थे। और वह मानसरोवर की भूमि शेषसैया के रूप में क्षीरसागर में तैर रही थी।

असत्य, हिंसा, चोरी और दुराचार इन प्राकृत जीवन व्यतीत करनेवाले आर्योंके लिए एक कल्पनातीत बात थी। किन्तु इन सदाचाररत आर्यों में ही ऐसे मनुष्य उत्पन्न होने लगे जो असत्य आदि कर्मों को यदा कदा कर बैठते थे। आर्योंने ऐसे कुकर्मियों को दण्ड दिया और उन्हें "अनार्य" उद्घोषित करके बहिष्कृत कर दिया। अनेक प्रायश्चित्त करके पुनः आर्यों में मिल गये, कुछ प्रमादवश "अनार्य" बन कर ही अपना समाज बना बैठे। किन्तु कुछ चिड कर अधिक दुष्टता करने लग गये। दक्षिण भारत में आज जो नैय्यर जाति है, वह उन "अनार्यों" के वंशज ही हैं और अय्यर आर्यों के वंशज।

अधिक दुष्टता करनेवाले लोगों को आर्यों ने अधिक बहिष्कृत किया और वे वैदिक वाङ्मय के दस्यु नाम से पुकारे जाने लगे।

जिन्हों ने चोरी की उनको "चोर" कह कर बहिष्कृत किया गया और वे वन्ध्या (विन्ध्याचल) के दक्षिण में पहुंच कर "चोल" कहलाने लगे।

सुदूर उत्तर में ज्वालामुखी फूटा था वह भी सतत वर्षाओं से पर्वत बन गया और सहस्रों वर्षबाद वहां भी आर्य पहुंचे। उन्हों ने इस पर्वत को वैदिक वाङ्मय का मेरु नाम दिया। किन्तु आर्य मेरु-प्रदेश को मनुष्य के निवासयोग्य न समझ कर लौट आये। इस ज्वालामुखी के उत्पन्न होने पर शनैः शनैः त्रिकूट के उत्तर का भूभाग क्षीरसागर से बाहर निकलता आ रहा था। एक दो शताब्दी बाद यह भाग एक महत् हराभरा मैदान हो गया। देवलोक के आर्यों के अनेक कुल (वंश) इस सुन्दर देश में आ बसे। उन्होंने देवलोकरूपी उन्नत

वक्षःस्थल से उतर कर चीना (नाभि) के समान इस गहरे प्रदेश का नाम अपने वैदिक वाङ्मय में चीना रखा जो आगे चल कर " चीन " देशके नाम से प्रसिद्ध हुआ।

देवलोक तथा आर्यवर्त से आर्यलोग निम्न परि-स्थितियों के कारण आगे के भूभागों की ओर बढते थे—

(१) कुछ बहिष्कृत होकर।

(२) कुछ स्वच्छन्द प्रकृति के कारण; संयम में बद्ध रह कर आर्यों में रहना पसन्द न करने के कारण। इस वर्ग में वे व्यक्ति होते थे जो मनोनीत तथा अपरिमित रूप में स्त्रीपुरुषों से कामकेलिका विषयानन्द लेने के लिए अत्यन्त अनुरागी रहते थे और जिनकी इस निरंकुश इन्द्रियासक्ति में आर्यों का संयत जीवन भयानक रूप से बाधक था।

(३) एकान्तसेवी एकाकी मुनि।

(४) आश्रमनिवासी कुलपति।

(५) नई सम्पत्ति (कृष्य तथा गोचर भूमि) के लोभी।

(६) एक पुरुष की अनेक सन्तान होने पर, स्वभावतः बडा पुत्र, बालिग होने कर, पिता की गौ आदि के रक्षण का भार अपने ऊपर ले लेता था। तत्पश्चात् कुछ वर्षों बाद उस के छोटे भाई बालिग होकर अन्यत्र भूभागों पर अधिकार करके अपना गृहस्थ-सुख भोगने की इच्छा से भूमियों की तलाश में निकल पडते थे।

(७) सर्वत्र घूमते रहनेवाले साधु यात्री।

(८) अद्भुत दुःसाहसी (adventurers)।

आर्यों में बहिष्कार के दण्ड का प्रचलन बहुत अधिक था। देवलोक में बहिष्कार की प्रथा उतनी प्रबल नहीं थी जितनी आर्यवर्त में। बहिष्कृत पुरुषों के लिए वे उनके अपराधों के मानदण्ड पर अनार्य, चोर, दस्यु, पणिक आदि दुःशब्दों से पुकारते थे और यही नाम उनको दे देते थे।

आरम्भ में कोई राजा न था, क्योंकि न तो राजा की आवश्यकता थी और न उन दूर दूर बसे हुए आश्रमवासियों के लिए किसी राज्य-व्यवस्था की सम्भावना थी।

शनैः शनैः ग्राम बस गये और कई ग्रामों का आपस का सम्बन्ध ठीक ठीक रखने व विनिमय को चलाने के लिए ग्रामसभायें बनीं। अदले बदले के साधन पर आपस का व्यापार भी चलने लगा। इसी परिस्थिति में काम के बटवारे के चार वर्ण पृथक् कर लिए गये। पहले स्वभाव से ४ वर्ण थे, अब उन के कामों को भी बाँट कर स्थिति बिल्कुल स्पष्ट कर ली गई।

व्यापार के कार्य को चलानेवाले वैश्यसमुदाय को वैदिक वाङ्मय के वणिक् शब्द से पुकारा जाता था। किन्तु इस वणिक्‌समुदाय में जो व्यक्ति अति लालची तथा छद्मी कपटी होता था, उसे वैदिक वाङ्मय के " पणिक " नाम से दण्डित कर बहिष्कृत कर देते थे, क्योंकि उनके वैदिक वाङ्मय में "पणिक" शब्द के अर्थ भी लालची, कम तोलनेवाला थे।

अनेक व्यक्ति " पणिक " दण्डित करके निकाल दिये गये। वे वन्ध्या (विन्ध्याचल) पर्वत के दक्षिण में " पण्य " नाम से तथा उनके वशंज सुदूर दक्षिण में " पण्डया " नाम से विख्यात हुए।

इसी प्रकार जिन्होंने क्रोधादिके आवेश में घृणित कर्म किये उन्हें " आन्ध्र " घोषित करके बहिष्कृत कर दिया। ये बहिष्कृत पतित आर्य उत्तर-दक्षिण की ओर दूर दूर स्थानों में जा बसे। देवलोक से उत्तर की ओर तथा आर्यवर्त से दक्षिण की ओर उन्हों ने प्रस्थान किया।

संस्कृत भाषा।

पाञ्चजन्यों तथा उन के वंशजों ने अपनी संतति, ग्राम, नगरों, अनेक वस्तुओं के वे ही नाम रखे

जो नाम उनके वैदिक वाङ्मय के नैमित्तिक ज्ञान में अनेक आकाशीय पदार्थों के थे, जैसे—

विश्वामित्र, मैनका, इन्द्र (सूर्य), शान्तनु, गंगा, वृत्र, दनु, प्रिय, सुश्न, सम्बर, बंगृद, अर्बुद, बलि, नमुचि, मृगय, तृत्सु, दिवोदास, द्रुह्यु, तुर्वश, नहुष, यदु, अलिन, शिव, चक्षु, सिगरू, अज, युध्यामधि, कवम, विशात, आयु, ग्राम, वीथि, पुर, युद्ध, पशु, सोम, अध्वर्यु, मरुत्, सरस्वती, वायु, त्वष्टा, शतक्रतु, पुरूरवा, उर्वशी, अप्सरा, गन्धर्व, उषा, वसिष्ठ, ययाति, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, राधा, व्रज, गोपा, वृषभानु, कृष्ण, अर्जुन, रोहिणी, मनु, उशना, इक्ष्वाकु, अम्बरीश, त्रिशंकु, कुशिक, कण्व, अगस्त्य, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, भरद्वाज, गोतम, यमुना, भागीरथी, भीष्म, कालिन्दी, जह्नु तनया, अयोध्या, अर्व, रूम, रूश, अंग, मगध, गांधार, आदि अनेक शब्द आर्यों के प्राचीनतम वाङ्मय में ऐसे थे जो आकाशी पदार्थों नक्षत्रों, ज्योतिष (खगोल), औषधियों तथा मनुष्य-शरीर के अंगों के वर्णन व नामकरण में उपयोग होते थे। आर्यों के पास केवल एक वैदिक वाङ्मय था इसलिए उन्होंने उसी की उपरोक्त नामसंज्ञाओं को लेकर अपनी संतान, ग्राम, नगर, नदियों तथा देशादि के नाम रक्खे। यथा- जहां गौ चरें वह भूमि व्रज। अतः उन्होंने वर्तमान मथुरा-प्रान्त के चारों ओर की भूमि को वैदिक वाङ्मय के " व्रज " शब्द से पुकारा।

जहां अर्व (घोडा) खूब उत्पन्न व वृद्धि को प्राप्त हो सके वह स्थान अर्व। अतः घोडे के लिए सर्वोत्तम उपयोगी स्थान का नाम उन्होंने अर्व (अरब) रक्खा। भेड बकरियों के अनुकूल देश को उन्हों ने वैदिक वाङ्मय के गान्धार नाम से पुकारा।

इन सहस्रों वर्षों में देवलोक तथा आर्यवर्त के आर्य तथा पतित आर्य उत्तर में चीन, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अर्व देश तक बस गये थे। पतित आर्यों ने प्राकृत जीवन को छोडकर असंयमित जीवन बना लिया था। अनेक जंगली होकर अपभ्रष्ट वैदिक वाङ्मय बोलने लग गये थे। दूर देशों के जलवायुने भी उनकी उच्चारशैली में विकार उत्पन्न कर दिया था। इस समय आर्यों तथा पतित आर्योंके आश्रमवासी, जंगली, ग्रामीण तथा नागरिक विभाग थे। आश्रमवासियों में वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी। अनेक ब्राह्मण गृहस्थ पण्डितवर्ग, मुनि, तपस्वी थे। वे सुदूर वनों में रहते थे।

इनकी भाषा विशुद्ध वैदिक वाङ्मय थी। इनके पास ही दस्युवृत्तिवाले क्रूरप्रकृति तामसिक जंगली पतित आर्य थे। इनकी भाषा अपभ्रष्ट वैदिक वाङ्मय थी।

आर्यों में रहनेवाले ग्रामीणों में पण्डितों को छोडकर शेष की भाषा अर्ध-अपभ्रष्ट वैदिक वाङ्मय हो गई थी।

नगरों के रहनेवालों ने पण्डितों, कवियों की सहायता से वैदिक भाषा के अनेक वैदिक शब्दों को अपभ्रष्ट करके विशेष कर्णमधुर बना लिया था, तथा नवीन व्याकरण के आविष्कार से अनेक धातु-शब्द बनाकर कृत्रिम शब्द बना डाले थे। इन नागरिकों की संघशक्ति के साथ राज-बल का भी योग था। शिल्प, कला, विज्ञान, आदि द्वारा अनेक वस्तु बनकर नये नये कृत्रिम नाम पा चुकीं थीं। इसी समुदाय ने अपनी नागरिक भाषा को संस्कृत नाम से पुकारा, किंतु वनवासी आश्रमों में फिर भी बहुत कुछ वैदिक वाङ्मय का ही बोलबाला था।

(क्रमशः)

डरें क्यों ?

(लेखक- श्री० पं० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, जि० बिजनौर)

भयानक अवस्था संसार में कोई भी नहीं है। फिर भी अपने मन में भयानक अवस्था की कल्पना कर लेना ही 'भय' है। भय के रहने का स्थान मन है। मन से बाहर संसार में भय कहीं भी नहीं रहता। 'दुःख-भय' और 'मृत्यु-भय' नाम के दो रूपों में भय की झूठी प्रतीति हुआ करती है। मनुष्य की छोटी सी दृष्टि में इन दोनों भयों के दो कारण माने जाते हैं-एक प्राकृतिक घटनायें, दूसरा दुष्ट लोगों की प्रवृत्ति। परन्तु इन दोनों आधारों में भय की कल्पना कर बैठना भ्रान्ति है।

प्रकृति में विचारशील मनुष्यको डरानेवाली शक्ति नहीं है। जिस प्रकृति में से मनुष्यदेह का जन्म होता है उसी प्रकृती में, मनुष्य से देह का अभिमान छुडाकर उसको निर्भय बना देने की स्वाभाविक शक्ति भी विद्यमान है। प्रकृति पहले मनुष्यदेह को बनाकर फिर उसको निर्भय रहने का जिवित-पाठ पढाती रहती है। देख लें कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय अर्थात् पहले बनाना, कुछ काल उसे रखना और उसे बिगाड देना ये प्रकृति के नियम हैं। यह प्रकृति आज जिसको अपने गर्भ से बाहर निकालती है, कल उसी को अपने में विलीन कर लेती है, या छिपा लेती है। अर्थात् प्रत्येक सृष्ट पदार्थ को फिर अपने स्वरूप में ले आना, उसको अपने जैसा कर लेना या उसको मार लेना, प्रकृतिका स्वभाविक नियम है। जब हम अज्ञानवश होकर प्रकृति के उस स्वाभाविक नियम को तोड देनेकी इच्छा करते हैं, इस नियम से बचना चाहते हैं, इस नियम को अपने ऊपर लागू होने देना नहीं चाहते हैं, अर्थात् लीन होना किंवा मरना नहीं चाहते, तब इस का यही अभिप्राय होता है कि हम अपनी वास्तविक स्थिति को भूल गये हैं- प्राकृतिक नियमों के अनुसार हमारे शरीरों का कैसा कैसा परिणाम होना है ? यह हमारे ध्यानमें नहीं रहा है। हम अपनी छोटी सी दृष्टि में प्राकृतिक नियम हम पर लागू न हो सके, केवल इसी को विपत्ति से रहित अवस्था समझते हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इस भ्रांति से छूट जाने का अवसर जब आता है, तब हम उसको भयानक अवसर समझ बैठते हैं और भयव्यग्र रहने के कारण प्रकृति माता के दिए पाठ को समझने में असमर्थ रह जाते हैं। प्राकृतिक नियम भ्रान्ति से छुडवाने के लिए होते हैं। हम शरीर को अपनाते हैं और प्राकृतिक नियम इस शरीर को तोडते हैं। वे कहते हैं कि इस शरीर को मत अपनाओ। इसकी मोहममता मत करो। परन्तु हम भ्रान्ति में रहने को निरापद समझते हैं। भ्रान्ति के हट जाने से घबराते हैं, और अभ्रान्त होने को ही भयंकर अवस्था समझते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भ्रान्ति ही भय है और अभ्रांत होना ही निडरता है।

प्रकृति के साथ हमारा सम्बन्ध माता और बालक जैसा है। माता की तरह प्रकृति अपनी गोद में से हमें और सारी सृष्टि को, कभी बाहर निकालती है और कभी फिर गोद में छिपा लेती है। जब हम उसकी गोद में लौट जाना नहीं चाहते तब हमारी इस असंभव इच्छा को 'भय' कहा जाता है। तब हम माता के विद्रोही और प्राकृतिक नियमों का भंग करनेवाले हो जाते हैं। तब हम शक्ति के विद्रोही अशक्त बन जाते हैं। प्रकृतिमें लीन हो जाने के इस न टलनेवाले नियम को टाल देने की इच्छाही भय के रूप में हमारे सामने आती है। ऐसी इछा पूरी पूरी भ्रान्ति है। यही वह इच्छा है जो हमें निर्भयता के द्वारा विदेहपने को नहीं पाने देती।

इसी प्रकार जब हम दुष्ट पुरुषों में एक ऐसी शक्ति की कल्पना कर लेते हैं कि जो हमें सता सकती है,

तब इसका यह अभिप्राय होता है, कि हम हमारे लिये सब प्रकार को प्रबंध करते रहनेवाली अपनी आत्मशक्ति को भूल जाते हैं, और असत्य किंवा काल्पनिक पदार्थों को ही एक शक्ति समझ बैठते हैं और कहने लगते हैं कि वे दुष्ट हम को सता रहे हैं। यह भी एक भ्रांति है।

हमें यह प्रतीत हो जाना चाहिए कि हमारे सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि का प्रबंध दुष्टों या सत्पुरुषों के हाथों में नहीं है। वह सब हमारी आत्मशक्ति से होता रहता है। जब किसी प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने की कंल्पंना मन में उठती है, तब मनुष्य का चित्त उससे वियुक्त हो जाने की शंका से व्याकुल हो उठता है। इसी प्रकार यह मनुष्य, देह या देह के सम्बन्धी किसी भी पदार्थ पर आपत्ति आने देना नहीं चाहता। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य ने अपने अविनाशी स्वरूप को नहीं पहिचाना और भौतिक पदार्थों को नष्ट करनेवाले उन प्राकृतिक नियमों के अनिवार्यपने को नहीं समझा, तथा अपने हानि-लाभ के साथ कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाले प्रकृति के इन नियमों को अपने ऊपर आई हुई काल्पनिक आपत्तियां मान लिया। मनुष्य ने उनको ऐसी शक्ति मान लिया कि उनकी उपेक्षा करने में अर्थात् इनसे अप्रभावित रहने में अपने को शक्तिहीन समझ लिया। इन सबही प्रकार की मनोवृत्तियों का कारण अज्ञान से प्रेम करना है। अर्थात् अपने भ्रम को न छोडने के आग्रह में से ऐसी दुर्बल मनोवृत्तियां उत्पन्न हुआ करती हैं।

'मैं यह शरीर नहीं हूँ' इसलिये सृष्टि के किसी भी देहधारी, किसी भी पदार्थ, या किसी भी घटना के साथ मेरा कोई भी सम्बन्ध न है, और न हो सकता है। मैं मरने कटने या विलीन हो जानेवाला पदार्थ नहीं हूँ। यही हमारी सत्य अवस्था है। मनुष्य जबतक इस सत्य अवस्था को प्राप्त करने से बचता है, तब तक भयातुर रहता है। सचमुच देखा जाय तो भयानक समझी जानेवाली वस्तुसे कोई भी नहीं डरता। किन्तु सब ही भयभीत लोग, सत्य से, अवश्यंभावी से, अथवा होनहार से डरते हैं। वे प्राकृतिक नियमों को होने देना नहीं चाहते। वे भ्रान्तिमें रहना चाहते हैं। भ्रान्ति के नाश हो जाने का भय ही भय का वास्तविक स्वरूप है। हमारा शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, यह जो एक भ्रम है, इस भ्रम को तोडने का प्रबन्ध प्रकृति करती है, तब प्राणी भयभीत हो जाते हैं। और प्रकृति-माता का दिया हुआ पाठ पढने को उद्यत नहीं होते। इस भ्रान्ति के नाश हो जाने का अवसर तब आता है जब हम यह समझ लेते हैं कि हमारे प्रिय समझे हुए देह आदि कोई भी पदार्थ सचमुच देखा जाय तो हमारे प्रिय नहीं हैं। हमें इनके वियोग हो जाने से डरना नहीं चाहिये। परन्तु हम इस अवसर को अपने सामने आने देना नहीं चाहते। हमने अपनी अपनी झूठी सुखेच्छायें बना रखी हैं, फिर उनकी काल्पनिक तृप्ति मान ली है और इस तृप्ति के अनुकूल कल्पना की एक निर्विघ्न अवस्था गढ डाली है और अपने को उस निर्विघ्न अवस्था में सुखी मान रखा है। हमारी सुखेच्छा, हमारी तृप्ति, हमारी निर्विघ्न अवस्था और उसमें हमारा रहना सबही कुछ काल्पनिक पदार्थ हैं। वास्तविकता किंवा सचाई के साथ इन सबका थोडासा भी सम्बन्ध नहीं है। कल्पना के राज्य में रहना ही भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का दूसरा नाम 'स्वार्थ' है। इस भ्रान्ति से छुटकारा पा जाने का नाम 'परमार्थ' है। हमारे स्वार्थ-साधन में कभी विघ्न नहीं आयेंगे ऐसा समझते रहना 'असत्य अवस्था' है। असत्य अवस्था प्रत्येक समय चलायमान होती है। इसी चलायमान अवस्था में अपने को निर्विघ्न मान लिया जाय और जब उसका विरोध करने वाली सत्य अवस्था आये तब उससे डर कर रहा जाय यही 'भय' है। जो सत्य अवश्य होना है उसको देखने की अनिच्छा ही 'भय' है। उस अवश्यंभावी सत्य अवस्था को अपनी कल्पना में एक भयानक अवस्था मान लिया जाय और उसकी प्रतीक्षा में भयभीत रहा जाय यह सब अज्ञान है।

जिसको ऊपर 'भ्रान्ति' या 'स्वार्थ' बताया है वह स्वार्थ-बुद्धि जब नष्ट हो जायगी तब की अवस्था ही सच्ची निरापद (भयशून्य) अवस्था होगी। भयानक समझी जानेवाली वस्तुएं आयें और हममें भयशून्य रहने की

शक्ति जाग चुकी हो, यही निर्भय होना है, इसी को विदेहपना भी कहते हैं। कहीं स्वार्थ के बन्धन में बन्धे रहना ही भय का एक मात्र कारण है। जहां नहीं डरना चाहिये वहां भी स्वार्थी को डर लगता है।

मनुष्य को निर्भीक बनानेवाली वस्तु परमार्थ-चिन्तन, सत्य का चिन्तन, किंवा अवश्यंभावी का स्वागत करने की प्रवृत्ति है। निर्भीक मनुष्य की दृष्टि में भयानक समझी जानेवाली वस्तुएँ और दुष्ट पुरुष अवश्यंभावी प्राकृतिक नियमों के दूतमात्र होते हैं। वह इनसे भयभीत होकर कर्तव्यमूढ नहीं हो बैठता। किन्तु इनका उचित विरोध और उपेक्षा करता रहता है। वह जानता है कि मुझे डरा सकने वाली शक्ति इस संसार में नहीं है। इस भावना को लेकर वह निर्भय रहता है और भय समझी जानेवाली घटना का विरोध स्वस्थ चित्त से करता है। प्राण छोडने का प्रसंग आ पडे तो प्रसन्नचित्त से निर्भयतारूपी यज्ञ में डाली हुई आहुति समझ कर, प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। वह यह समझ लेता है कि वह विराट्-देही इस शरीर को अब अपने कर्म का यन्त्र रखना नहीं चाहते। यह समझकर वह स्वस्थचित्त से प्राणकी आहुति दे देता है। निर्भय पुरुष प्राण छोडने के प्रसंग से भी ईश्वरदर्शनरूपी महा लाभ उठा लेता है। वह यह जानता है कि विपत्ति ईश्वरीय रचना की महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य को दुःखी करने या रुलाने के लिये नहीं है। विपत्ति मनुष्य को विपज्जय करने का कौशल सिखाने को आती है। विपत्ति मनुष्य को अप्रभावित रहने की कला का अभ्यास करने के सुअवसर का महादान करने के लिये आती है। यों विपत्ति वर्धिष्णु मनुष्य का सच्चा मित्र है। विपत्ति ईश्वर की सावधान वाणी है। यह दैवी संकेत है। मानव-मन के साथ ईश्वर का जब ज्ञान का आदान-प्रदान चलता है तब की संकेतमयी अनुभवपूर्ण भाषा विपत्ति आदि घटनाओंकी लेखनी से सावधान हृदयपटल पर ईश्वर के हाथों से लिखी जाती है। विपत्ति नाम के ऐसे महामित्र से भी घबराने की मूर्ख रीति संसार में चल पडी है। इस रीति से संसार ने अपने को कितने बडे कल्याण से वंचित कर लिया है यह बात इस विचार-दरिद्र संसार को ज्ञात नहीं है। विपज्जय की कला के पूर्णाभ्यासी स्वस्थ मनुष्य, निर्भय और विपाद्विहीन राजमार्ग पर, जीवन-यात्रा करते हुए अपने जीवन के लक्ष्य पर [illegible] बने रहते हैं।

ऐसे निर्भीक मनुष्य के घर में यदि शस्त्रधारी डाकू [illegible] घुसे और मृत्यु-भय दिखा कर उसके घर का सब धन उसको विवश करके ले लेना चाहें, तो वह मार के या मृत्यु के भय से घर का धन नहीं दे बैठता। वह प्राणों के रहने तक उस डाकू के साथ जूझता है। निर्भीक मनुष्य के सामने इस स्थूल भौतिक धनकी रक्षाका प्रश्न कदापि नहीं आता। उसके मन में सत्य की रक्षा के उत्तरदायित्व का प्रश्न चक्कर काटने लगता है।

वह इस बात की अपेक्षा (परवा) कहां करता है कि इस झगडे में ये प्राण रहेंगे या नहीं? या यह धन बचेगा या नहीं? उसके मनमें धन का झगडा नहीं है। उसके मन में असत्य और सत्य का झगडा है। उसके मन में डाकू को धन देना ठीक है या न देना ठीक है? इस बात का झगडा है। विचारहीन लोग धनादि पदार्थों पर झगडा करते हैं। विचारक के मन में भावना का झगडा चलता है। उस डाकूने आने से उसके मन में यह जो असत्य और सत्यका झगडा खडा हो गया है, वह अपने मन के इसी झगडे को सुलझा लेना चाहता है। वह बाहरी झगडे की ओर देखना नहीं चाहता। वह अपने मन में सत्य को नीचे और असत्य को ऊपर देखना कदापि नहीं चाहता। वह अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपने मन में सत्य को ऊपर रखना चाहता है और असत्य को अपमानित पददलित कर लेना चाहता है। उसके मन में डाकू के आने और धन को उठा ले जाने की घटना का थोडासा भी महत्त्व नहीं है। वह जानता है कि यह धन सत्य का है और ये प्राण भी सत्य के हैं। वह (सत्य) इस धन को और इन प्राणों को जहां चाहेगा ले जायगा या यहीं रख छोडेगा। उसके मन में अपने मनको असत्य से प्रभावित न होने देकर सत्य पर प्रतिष्ठित रहने का प्रश्न रहता है। वह इस कर्तव्य के नशे में चूर होकर अपने 'मैं' को थोडा सा भी न [illegible]

कर, अपने ऊपर आक्रमण करने वाले असत्य पर शक्ति भर चोट करता जाता है। वह मानता है कि मैं सत्यका हूं। समय पडने पर सत्य का हथियार बन जाने में ही मेरा आत्मकल्याण और गौरव है। सत्य का हथियार बन जाने, सत्य के लिये जीने और मरनेवाला बन जाने तथा सत्य की इच्छा पर प्राणों को वार देने वाला बन जाने की निर्भय और निरहंकार स्थिति को विदेहावस्था कहा जाता है।

सत्य की रक्षा सत्य ही करते हैं। सत्य लंगडे या लूले नहीं हैं कि वे हम से अपनी रक्षा कराते हों। वे अपनी रक्षा स्वयं कर लेते हैं। केवल उस सत्य के हृदयके साथ अपनी हृत्तन्त्री के तार मिलाकर रख लेने से सत्य की रक्षा का हमारा उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। इसी को 'सत्य की रक्षा' के नाम से कहा जाता है। वह डाकू उसका धन और प्राण दोनों ले ले तो भी उसके सत्य की यह रक्षा हो जाती है और सत्य का पुजारी जीत जाता है।

मत समझो कि सत्यके सेवकके प्राण निकल देने से डाकू जीत गया है। विचार कर देखेंगे तो पायेंगे कि उससे हार मान चुकने के पश्चात् ही डाकू ने उसे मारा है। वह डाकू उसके मनको प्रभावित कर लेना चाहता था। जब वह किसी भी प्रकार बाह्य मोह से प्रभावित नहीं हुआ और उसका विरोध करता रहा, तब अपने प्रयत्न में असफल हुए डाकूने उसे मार डाला। यों मारने से पहले वह उससे हार मान चुका था। वह उसके आत्मा को दबा नहीं सका था। उस सत्य के पुजारी की मनोवृत्ति में पहुँच कर देखेंगे तो पायेंगे कि उसने मर कर भी विजय पाई है। मौत भी उसकी विजयाभिलाषा को आकार रोक नहीं सकी है। उसने मौत को भी अपनी विजय का अस्त्र बना डाला है। डाकू का और उसका दबाने और न दबाने का झगडा था। डाकू अपने उद्देश्य में हारा है और वह अपने उद्देश्य में जीता है। इस दृष्टि से विचार किया करेंगे तो निर्भय रहने में ही और अवसर आ पडे तो प्राणों को सत्य की रक्षा में होम देने में ही आनन्द आने लगेगा।

डाकू ने डाकूपन करके जो धन उठा लिया है वह धन उसने किसका उठाया है? इस बात का विचार करने पर देखेंगे कि जब तक उस धन को अपनानेवाला मनुष्य, डाकू का विरोध कर रहा था, तब तक वह धन डाकू के अधिकार में नहीं आया था। जब वह विरोध करनेवाला अपने कर्तव्य को पूरा करके, शरीर को छोड कर चला गया है, अर्थात् डाकू का विरोध करनेवाला वह, जब अपना कर्तव्य पूरा करने में अपनी संपूर्ण शारीरिक शक्ति को व्यय कर चुका है, या यों कहें कि जब वह अपनी पूरी शक्ति से डाकू के डाकूपन का विरोध करने में विजयी बन जाने के पश्चात् सत्य की अनिर्वचनीय इच्छा से अपने भौतिक अस्तित्व को मिटा चुका है, और जब कि उस धन को अपनाने वाला वीर पृथ्वी पर नहीं रह गया है, तब वह डाकू उस धन को अपने अधिकार में कर पाया है। इससे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि डाकूपन का विरोध करनेवाले वीर का धन डाकू के हाथ में नहीं गया। किन्तु यह हुआ कि जब विरोध करने वाला शेष नहीं रहा तब डाकू के हाथ में ऐसा धन गया, जिसको अपनाने वाला कोई भी नहीं रहा था। यदि उस धन का कोई स्वामी था तो केवल वहां पडा हुआ एक मृत शरीर था।

जो मनुष्य प्राण के मोह में आकर डाकू का विरोध न करके धन देकर प्राण बचा लेता है, वह जीवित न रहकर मुरदा हो जाता है। जब मनुष्य दृढ होकर किसी दुष्ट का विरोध करता है, तब यदि ईश्वर की अनिर्वचनीय इच्छा से दुष्ट की भौतिक विजय देखने में आती हो तो भी उस को विजय मानने की भूल कदापि मत करो। उस में दुष्ट का ही पराजय होता है और निडर की ही विजय होती है।

धन को अपनानेवाले लोगही डरनेवाले होते हैं। जिसने इस संसार में व्यक्तिगत धन जन कुछ भी अपना नहीं बना रक्खा, उसके मन में दुष्ट या दस्यु का भय उत्पन्न कैसे हो सकता है? उसके मनमें डर उत्पन्न कर सकनेवाला शत्रु कहां से आ सकता है? उसकी दृष्टि में संसार में उसका अपना कह सकने

योग्य कुछ भी नहीं है। उसके लिए उसका शरीर भी अपना नहीं है। यदि उसके पास अपनाने योग्य कोई वस्तु है तो केवल एक निर्विकार निर्वैर मानसिक स्थिति है। उसी धन की रक्षा करने का उत्तरदायित्व लेकर वह शरीर धारण करता है और सुअवसर आने पर शरीरको बलिदान करके उस सत्यस्वरूप धन की रक्षा कर लेता है। वह सत्य को अपनाये हुए रहता है। उसके पास सत्यनारायणरूपी निर्विकार मानसिक स्थिति कर्तव्य में अदम्य उत्साह तथा दृढ निष्ठा के रूप में वर्तमान रहती है। वह उससे कभी भी छीनी नहीं जा सकती। जो इस प्रकार के सत्यवीर के डरसे दस्यु लम्पट आदि सदा भयभीत और कम्पित रहते हैं।

विचार की सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो पायेंगे कि दस्युओं, लम्पटों, डाकुओं और लालचियों का कलेजा ही भयके बसने का स्थान है। ऐसी निर्वैर और निर्भय स्थिति को प्राप्त कर लेनेवाला मनुष्य किसी से पराजित हो सकने की शंका को भी मनमें स्थान नहीं देता। उसकी व्यक्तिगत धनासक्ति से रहित स्थिति या मनोवृत्ति लोभी, पापी, दस्यु और अत्याचारी के लिये पराजयरूप होती है।

प्रकृत बात यही है कि जो वस्तु हमें सत्य ने सौंपी है, अर्थात् जिस वस्तु को हमने कर्तव्यबुद्धि से स्वीकार कर रखा है, किसी भी भय से हम अपनी शक्तिभर उस पर दूसरे का आधिपत्य नहीं जमने देंगे, इस विचार के अनुसार कार्य करने से हमारा सत्य का उत्तर-दायित्व पूरा हो जाता है। हमारे इस विरोध का बाह्य (भौतिक) परिणाम चाहे कुछ भी निकल सकता है, परन्तु हमारे घटवासी अजर अमर सत्य की रक्षा इससे हो जाती है। ऐसा करनेसे हमारे सत्यपर चोट नहीं लगती। इससे हमारे आत्मबलकी रक्षा हो जाती है। इस प्रकार सत्य की रक्षा करने से हममें विदेह-पना आ जाता है।

एक सत्य का रक्षक– एक सत्य के पीछे पागल बडाईमें आकर डाकू के हाथ से मार डाला गया। यदि वह पागल धन दे देता तो उसके प्राण बच गये होते, इस ढंग से विचार करेंगे तो हम सचाई के रहस्य से दूर और दूर होते चले जायगे तथा जब जब अवसर आया करेगा, तब शहद की मक्खियों की कमाई की तरह अपने धनको या यों कहें कि सत्यकी धरोहर को डाकुओं के चरणों पर चढा दिया करेंगे और धनसे अपने प्राणों को मोल लेनेवाले असत्य के क्रीत दास (गुलाम) बन जायंगे। तब हम डाकुओं को हमें लूटते रहने का प्रोत्साहन देनेवाले बन जायगे। जब ऐसी निर्बल भावना सारे समाज और देश में फैलेगी तब उस समाज की और देश की कितनी बुरी अवस्था हो जायगी यह बात भले प्रकार सोच लेनी चाहिये।

जब किसी सत्य के रक्षक को सत्य की रक्षा करते हुए प्राण त्यागने पड़ जांय, तब उस घटना पर इस रीति से विचार किया जाना चाहिये कि इस सत्य-रक्षक के प्राण आज या कल नष्ट होनेवाले ही थे और इसका यह धन भी आज या कल उसे छोड कर भाग जानेवाला ही था। देखो, कि इस सत्य के रक्षक ने नष्ट होने के लिये उद्यत हुई इन दोनों नाशवान् वस्तुओं का कितना उत्तम उपयोग कर लिया है? उसने नाश के लिए बैठी हुईं वस्तुओं से अविनाशी सत्य का उपार्जन कर डाला है। यदि वह अपने सत्य का पददलित होने देकर दो चार वर्ष और अधिक श्वास लेता रहता तो भी क्या हो जाता? सत्य के रक्षक की मनोदशा को समझने के लिये और उससे लाभ उठाने ने के लिये निम्न रीति से विचार किया जाना चाहिए–

सत्य का वह रक्षक मनमें यह जानता है कि यदि यह धन डाकू की मांग पर डाकू को नहीं दे दिया गया तो बहुत सम्भव है कि यह डाकू धन भी ले ले और प्राणों को भी न छोडे। उसके तेजस्वी मन में यही विचार स्वभाव से आता है कि मेरे जैसे अनन्तशक्तिमान् वीर के पास रक्खी हुई धन और प्राण नाम की सत्य की धरोहर को डाकू के पशुबल के अधिकार में आया हुआ समझ लेना मेरे प्राणों से भी प्यारे सत्य को डाकू के चरणों में लुटा देना हो जायगा। अब क्या मुझे इस भूल में पडकर धन देकर इससे अपने प्राण

मोल लेने चाहिये ? क्या मुझे इस डाकू से धन के बदलेमें प्राणों की भीख मांग लेनी चाहिये ? इस विचार के आते ही उसका स्वाभिमानी आत्मा तत्काल उत्तर देता है कि यह धन भी सत्य का है और ये प्राण भी सत्य के हैं। इन दोनों में से किसी के साथ भी मोह ममता का नाता जोडने का और उस नाते को जोडकर निर्बल होने का, तथा सत्य के साथ स्वभाव से जुडे हुए नाते को तोडने का, मुझे थोडासा भी अधिकार नहीं है। यह धन और ये प्राण दोनों ही सत्य की धरोहर हैं। सत्य का दर्शन करके उसी पर डटे रहने के लिये ये साधन के रूप में मेरे पास हैं। असत्य से डर कर बैठ जाने से इन दोनों साधनों का दुरुपयोग हो जायगा और मेरा सत्य का रक्षकपना धूल में मिल जायगा।

यह शस्त्रधारी डाकू साक्षात् असत्य का रूप धारण करके मेरे सामने खडा है। अब सच्चा प्रश्न इसको धन दे देने का और इससे अपने प्राणों को बचा लेने का नहीं है। इस समय सच्चा प्रश्न यह है कि क्या इस असत्य से अपने घटवासी सत्य को पददलित और अपमानित हो लेने दूं? और जिस प्रकार भी हो सके उसी प्रकार अपने शरीर को बचा लूं? यह धन भी और ये प्राण भी सत्यनिष्ठा के साधन के रूप में मेरे पास हैं। मुझे अपनी शक्ति के रहते रहते सत्य की धरोहर इन प्राणों को भी बचाना है और धन को भी बचाना है। सत्य की इन दोनों वस्तुओं में से एक को प्यारा मान लेने का या अपना बना लेने का मेरा क्या अधिकार है? फिर मैं धन देकर प्राणों को या शरीर को क्यों मोल ले लूं? इन प्रश्नों से जब उसका सत्य प्रज्वलित हो उठता है, तब वह डाकू का ही नहीं, संसार की भयानक समझी जानेवाली वस्तु का भी अपनी शक्ति भर विरोध करने को उद्यत हो जाता है। वह शरीर पर पडनेवाले प्रहारों को और शरीर की मृत्यु तक को सत्य में निष्ठित हो जाने का परम पावन द्वार मानकर शान्ति की उस गोद में जा बैठता है, जहां भौतिक चोटों की पहुंच नहीं है।

सत्य का पुजारी मरकर भी अमर हो जाता है। वह यदि अपने विरोधी असत्य को पछाड कर जीता रह जाय तो भी अमर हो जाता है। सत्य के पुजारी की दृष्टि में मरने का प्रश्न नहीं है। उसके सामने केवल अमर हो जाने का प्रश्न रहता है। वह मौत के पंजे को बचाने में हर समय सावधान बना रहता है। अपने स्वरूप को भूल जाना, भौतिक पदार्थों के मोह में उलझ बैठना, और इस उलझाव को स्थिर रख लेने के लिए कोई इच्छा या उद्योग कर बैठना उसके मन में मौत होती है। वह इस भयावनी स्थिति से, अर्थात् सारे भयों की जननी इस स्थिति से हर समय बचता रहता है। वह सारे संसार को और यहां तक कि प्राणों तक को फूल की नाईं उठाये फिरता है कि जहां सत्य नारायण चाहें वहाँ उन की सेवा में इनको लगा दूं और कृतार्थ हो लूं। ऐसा सत्य का पुजारी डाकू को डाकू नहीं मानता। इसी से वह उसे देखकर विचलित नहीं होता। वह मानता है कि मुझे अमरपन का अवसर देने के लिए, मुझे सत्य का सेवक और दर्शक बने रहने का अवसर देने के लिए, मेरी सत्यनिष्ठा की जीवित परीक्षा लेने के लिए, यह देवदूत बनकर आया है। इसका यहां आना और मेरा इस शरीर में अब तक रहना तबही सफल होगा जब कि मैं सत्य की इस धरोहर को सत्य के माँगने पर निर्मल हृदय ये लौटा सकूँगा। यदि मैं इस समय इस शरीरका और इस धन का थोडा सा भी मोह करूंगा तो मैं असत्य का पुजारी या मौत का दास किंवा अनहोनी बात को चाहनेवाला बन जाऊंगा और यों तब इस शरीर को धारण करने का भोजन आदि करते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा। वह सत्य का पुजारी सबही भयानक समझे जानेवाले अवसरों को अमरपने की प्राप्तिका अवसर समझता है। वह उसे मारने को आया हुआ नहीं मान सकता और यों वह कभी भी उससे नहीं डर सकता।

दूसरे लोग सत्यनिष्ठ को जिन बडे कष्टों में समझा करते हैं और उसकी कष्टगाथा को चढा कर कहा करते हैं, वे उसकी आनन्द को मूसलाधार बरसानेवाली स्थिति को नहीं जानते। ऐसे सत्यनिष्ठ पुरुषों की दृष्टि में परमार्थ से अलग हो जाना, किंवा सत्य से च्युत हो जाना, सच्ची विपत्ति और अप्राकृत अवस्था मानी जाती है। ऐसे मनुष्य

इस अवस्था से अपने आप को सब समय बचाते रहते हैं।

स्वार्थी पुरुष अपने स्वार्थ में विघ्न पड जाने की आशंका से प्रत्येक पद में विपत्ति का स्वप्न देखता है और अपने स्वार्थसाधन में विघ्न डालनेवाले असत्य के सामने सिर झुकाने को प्रत्येक समय उद्यत रहता है। विपत्ति की आशंका उसके लिये सबसे बडी विपत्ति होती है। वह निर्भीकपने का आनन्द लेना नहीं जानता। इसी से वह दुश्चिन्ताओं में डूबा रहता है। उसके भय का स्वरूप उसकी दुश्चिन्ता है। वह किसी व्यक्ति में, किसी समाज में, या किसी अवस्था में अपने को हानि पहुंचाने की शक्ति मानकर, उसी को भयानक समझ बैठता है। फिर उसका विरोध करने को उसका साहस नहीं पडता। वह अपने आपको चूहे जैसा निर्बल बना लेता है। देह को या देह के उपयोग में आनेवाले पदार्थों को अपना मान लेने से ऐसी उत्साहहीनता या निर्बलता आ जाती है। हमें यह मालूम हो जाना चाहिये कि यह शरीर भी हमारा नहीं है और इस शरीर के उपयोग में आनेवाले पदार्थ भी हमारे नहीं हैं। ये सब ही कुछ सत्य के हैं। ये हमारे पास सत्य की धरोहर के रूप में हैं। हमारे जीवन में सत्य को प्रकट कर रखने के लिये ये साधनरूप में हमारे पास हैं।

देखते हैं, कि जब कोई घटना हम को असत्य प्रतीत होती है, जिस घटना को होने देना हम को अस्वाभाविक प्रतीत होता है, जिस घटना के विषय में हम निश्चय कर लेते हैं कि 'यह घटना नहीं होनी चाहिये' इस घटना के होने से हमारा सत्य अपमानित हो जायगा, तब उस असत्य घटना का विरोध हम अपने शरीरकी आहुती देकर भी करते हैं। अनेकों सत्य वीरोंने ऐसा किया है। इससे यही बात समझमें आती है, कि यह देह हमारा नहीं है। इस देहका सच्चा स्वामी सत्य है। सत्यकी भेंट चढानेके लिए यह एक प्रकारका फूल है। वह सत्य चाहे भी जिस उपयोग में इस को लाता है, उसको इसे सदुपयोग में लाने का पूर्णाधिकार है। हमारे सत्य पर जब चोट लगती है तब वह असत्य का विरोध करनेमें अपनी आवश्यकताके अनुसार इसका सदुपयोग कर लेता है। तब हम को भी देह की उपेक्षा करके, हर्षपूर्वक सत्य का साथी बन जाना पडता है। वह प्रज्वलित सत्य इस देह के नाशकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।

इस शरीर के उपयोग में आनेवाले पदार्थ भी हमारे कहां हैं? ये भी सत्यके हैं। देख ले की जब किसी धन को व्यय करनेका प्रश्न हमारे सामने आता है तब बिना सोचे समझे हम उसको व्यय कहां कर देते हैं? सब से पहले हमें सोच लेना पडता है कि इस काम में इस धन का व्यय किया जाना ठीक है या नहीं? अर्थात् इस धन का व्यय किया जाना ठीक है या नहीं? अर्थात् इस धन का व्यय किया जाना सत्य है या नहीं? यह व्यय हमारे सत्य को स्वीकार है या नहीं? यदि उस पर सत्य की स्वीकारी मिल जाती है तब हम अपना सर्वस्व होम कर डालने को भी उद्यत हो जाते हैं। तब हम अपने पास एक कौडी भी न बचा कर होमने को उद्यत हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि यह धन भी हमारा नहीं है। यह भी सत्य का ही है। जिसका यह धन है उसी की सेवा में या उसी की रक्षा में यदि यह व्यय होता है– तो हो जाये।

यों जब कि यह देह और पदार्थ हमारे नहीं हैं तब असत्य से डर कर उत्साहहीन और निर्बल हो बैठने का कोई भी उचित कारण हमारे पास नहीं रह जाता। यह देह और यह पदार्थ आज या कल नष्ट हो जाने वाले हैं। फिर सत्य की सेवा करने में ही इनको क्यों न नष्ट होने दिया जाय? और निर्भयता में जो अनन्त आनन्द आया करता है उसे क्यों न लिया जाय? असत्य का विरोध करते हुये इस देह को और इन पदार्थों को नष्ट होता हुआ देखकर विदेहपने और निर्भयपने का लोकोत्तर आनन्द क्यों न लूट लिया जाय? परमार्थ–चिन्तन में मग्न रहनेवाला मनुष्य असत्य आचरण करनेवाले किसी व्यक्ति में या समाज में या किसी भी अवस्था में शक्ति नहीं मानता। वह इन सब को मूर्तिमान् असत्य समझता है और इनकी

उपेक्षा करता रहता है। वह इनसे भयभीत होना नहीं जानता।

जब कोई मनुष्य किसी भी असत्याचारी को या अपने से शत्रुता करने वाले को अपने से अधिक शक्तिमान् समझने की भूल कर बैठता है, तब वह स्वयं ही अपने को सत्य से च्युत कर लेता है। अत्याचारी दुष्ट व्यक्तियों की या दुष्ट समाज की बुरी प्रवृत्ति को जब भय का कारण माना जाता है तब उन दुष्ट व्यक्तियों के या समाज के मन को बदलने की जो भावना उठाती है- उन्हें समझाने का उनका हृदय-परिवर्तन करने का जो प्रयत्न किया जाता है- वह भी भयकारी रूपान्तर है। दूसरों के हृदय परिवर्तन करने की इच्छाको मन में बैठा हुआ उनका भय ही समझो। भय जिन अनेक रूपों में आता है यह भी उनमें से एक है। दूसरों का मन बदलनेका अभिप्राय यह है कि उनके भय का प्रभाव मन पर पड रहा है। तबही तो उनको समझाने बुझाने का प्रयत्न चल रहा है। यदि तुम सत्यनिष्ठ हो, तुम अपने अधिकारपर दृढ हो और दूसरा असत्यनिष्ठ है पाधिकारभोगी है, पापी है, तो तुम उसकी पूर्ण उपेक्षा क्यों नहीं करते हो? वह संसार में ही नहीं है इस प्रकार की उपेक्षा के थप्पडों की मार से उसे क्यों नहीं मार देते हो? तुम असत्य को समझाने का असंभव प्रयास क्यों करते हो? तुम असत्य के आगे पीछे क्यों फिरते हो? तुम असत्य से सन्धि करने का सत्यघातक प्रयत्न क्यों करते हो? ऐसा करने वाले तुम अपने मन को टटोल कर देखोगे तो पाओगे कि तुम स्वयं ही सत्य पर नहीं हो। तुम में कुछ निर्बलतायें हैं। तुम कुछ भौतिक लाभ उठाना चाहते हो। तुम्हारी निर्बलताओं को प्रयुक्त करने का अवसर तुम्हें मिल सके, इस भावना से लडाई का अभिनय करके काम बनाया जा सके तो बना लेना चाहते हो। तुम सबल होकर असत्य से लडने को उद्यत नहीं हो। तुम लडने का अभिनय ही अभिनय करना चाहते हो। तुमने असत्य को पागल समझा है। समझ लो कि असत्य पागल नहीं है। वह सत्य के हाथों मर कर सद्गति पाना चाहता है। वह सत्य के ही हाथों से अपना अन्त चाहता है। वह चाहता है कि यदि किसी में सत्य जीवित हो तो मैं उसके हाथों मर कर सद्गति पा लूं। जब सच्चे सत्य से उसका विरोध होगा तब तुम देखोगे कि वह आत्मसमर्पण करके अदृश्य हो गया है और सत्य को विजयावसर देकर चला गया है।

जब तुम दूसरों का मन बदलने की इच्छा प्रकट करते हो, तब दूसरों को शक्तिमान् और अपने को अशक्त मान लेते हो। यदि तुम सत्यपर हो तो तुमसे अधिक शक्तिमान् इस संसार में कोई भी नहीं है। यदि दूसरा असत्य पर हैं- फिर वह चाहे भी जितना पशुबल रखता हो उस पर सच्ची शक्ति कहां है? सत्यारूढ तुमसे उसे हारना ही पडेगा। वह तुम को मार कर खा जायगा तो भी उसे तुमसे हारना ही पडेगा। इतना अखंड विश्वास तुमको सत्य पर होना चाहिये। यदि तुम्हारे सत्य की और उसके असत्य की सच्ची लडाई छिडेगी तो तुम्हारा सत्य अवश्य विजयी होकर रहेगा। वह प्राणों को खोना भी सहर्ष स्वीकार कर लेगा, परन्तु उसके असत्य से अपने आपको पददलित नहीं होने देगा। तुम्हारे सत्य में इतना उल्लास होना चाहिये कि वह असत्य का विरोध करने में प्राप्त हुई मरणवेदना को भी तृण के समान तुच्छातितुच्छ समझे। वह तुम्हारे प्राणत्याग को भी अपनी विजय की सूचना देने वाला बाजा समझ कर अन्तिम श्वास तक सत्य पर डटा रहकर विदेह-अवस्था में जा बैठे।

दूसरों का मन बदलने की इच्छा क्यों होती है? दूसरों का मन बदलनेवाले तुम कौन हैं? दूसरों के मन बदलने का अधिकार तुमको किसने दिया है? दूसरों के मन के अधिकारी और उत्तरदाता दूसरे ही है। तुम केवल अपने ही मन के अधिकारी और उत्तरदाता हो। यदि दूसरा अपने मन में अन्याय की भावना पाल रहा है, तो वह स्वयं ही हानि उठा रहा है और उठाता रहेगा। दूसरे की अन्याय की भावना से तुम्हारी कुछ भी हानि नहीं होगी। दूसरे की अन्याय भावना से तुम्हारी हानि होने का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है, कि तुम उनसे डर कर, उनको शक्तिमान् मानकर, उसकी अन्याययुक्त भावना को अपने पर प्रयोग करने का अवसर अपनी ओर से दो। अर्थात् उनकी अन्याय-भावनामें उनको सहायता पहुंचाते जाओ।

दूसरा तुम्हारी सहायता और अनुमान के बिना तुम्हें कदापि हानि नहीं पहुंचा सकता। यदि तुम उसकी अन्याय भावना से हानि उठा रहे हो तब तो तुम्हें यह मानना पडेगा कि तुमको हानि पहुंचाने की शक्ति दूसरों में है। इसका दूसरा अभिप्राय यह हुआ कि अपना कल्याण करने की शक्ति तुममें नहीं है। इससे यह भाव भी निकलता है कि तुम दूसरों के सहारे के बिना अपना कुछ भी कल्याण नहीं कर सकते हो। इन सब मनोभावों को स्पष्ट और संक्षिप्त भाषा में कहें तो यही कहना पडेगा कि तुम उनके दास हो, और तुम आगे भी दास ही रहना चाहते हो।

यदि तुम दूसरों का मन बदलकर ही अपने अभिप्रेत जीवन को पाने में समर्थ हो, और यदि दूसरों का मन न बदल सकें तो अपने अभिप्रेत जीवन को नहीं पा सकोगे, तुम्हारी ऐसी धारणा हो तो समझ लेना कि तुम जिस जीवन को चाह रहे हैं, वह जीवन दासता ही होगा –वह जीवन दासता का ही एक नया संस्करण होगा। इस दृष्टि से दूसरे के मन को बदलने की इच्छा त्याग दी जानी चाहिये।

दूसरों का मन बदलना तुम्हारे कर्तव्यकी सीमाके बाहर है। इसीलिये वह तुम्हारे लिये अकर्तव्य है। तुम्हें केवल अपना ही मन बदल लेना है। तुम्हारी दास–मनोवृत्ति के बदलते ही तुम स्वतन्त्र हो जाते हो।

स्वतन्त्र मनोवृत्ति सब में रहती है। उसकी जब हम रक्षा नहीं करते तब ही हम दास हो जाते हैं। स्वतन्त्रता, पाने योग्य अवस्था नहीं है। किन्तु रक्षा कर लेने योग्य एक मनोवृत्ति है। स्वतन्त्रता या निर्भयता एक ही वृत्ति है। उसका कर्म-क्षेत्र अपने मन तक सीमित है। अपने मन की स्वतन्त्रता की या निर्भयता की रक्षा हुई कि हम स्वतन्त्र या निर्भर हुए। फिर संसार की कोई भी शक्ति किसी को भी पराधीन रखने का उद्धृत उत्साह नहीं कर सकती। वास्तविक बात यह है कि पापाचारी शक्ति के पास चाहे भी जितना पशुबल हो सकता है। उसका वह पशुबल उससे ही पापाचार करवा सकता है। परन्तु हमारे सत्य-निश्चय से हमको हटा लेने की और हमसे अकर्तव्य करा लेने की शक्ति किसी में भी नहीं है। यों हम से अधिक शक्तिमान् इस संसार में कोई भी नहीं है। ऐसी आत्मशक्ति के ऊपर हा प्रह्लाद जैसे वीरों ने सहस्रों बार प्राणांतक को वार वार कर फेंका है। ऐसी आत्मशक्तिवाले मनुष्य प्राणों को अपना नहीं मानते। वे प्राणों को सत्य की सेवा का साधन समझते हैं। ऐसी शक्ति को अपने में जगाये रखनेवाला मनुष्य कभी भी सत्य से च्युत नहीं हो सकता अर्थात् कभी किसी से नहीं डर सकता।

जब मनुष्य सत्य से च्युत हो जाता है, तब ही औरों को भी सताने की इच्छा करता है। जो मनुष्य दूसरों के डर का कारण होना चाहते हैं, उनको स्वयं भी दूसरों से भयभीत रहना पडता है। पशुबल ऐसी वस्तु है, जिससे औरों को डराया भी जा सकता है और स्वयं डरना भी पडता है। क्योंकि पशुबल में न्यूनाधिक भाव रहता है। आत्मशक्ति एक ऐसी वस्तु है जो शरीर से निर्बल और सबल सब में एकसमान रहती है और रह सकती है। सहस्रों, लाखों की सशस्त्र सेना के सामने भी एक दुर्बल शरीरवाला मनुष्य अपनी आत्मशक्ति के सहारे खडा रह सकता है और शरीर में प्राणों के रहने तक प्रसन्नचित्त से तथा खिले हुए मुख से उसका विरोध या उनकी पशुशक्ति का अस्वीकार करता रह सकता है।

औरों को भयभीत करके रखने का एक ही अभिप्राय है, कि अपनी निर्बलता को ढक कर रखा जाय–अपनी निर्बलता को संसार विदित न होने दिया जाय। औरों को भयभीत करने में सच्ची शक्ति को प्रकट करने की प्रवृत्ति नहीं है। जो औरों को तोप तमंचे और फौज फरसे डराता है उसने अपनी कायरता को ढकने के लिए यह सब पशुबल जुटा रक्खा है। ऐसे डरपोक कायर से भी जो डर जाता है, वह विचारना नहीं जानता। वह कायरों का भी दासानुदास है। ऐसे डरपोक से कभी डरना नहीं चाहिए। हथियारबन्द सेना को लेकर दूसरों को डराने की या दूसरों पर अपने पशुबल का प्रभाव डालने की भावना को लेकर घूमनेवाले के मन में जो

घुसा बैठा है, जिसके मारे वह बिना हथियार बांधे बाहर नहीं निकल सकता, उसके इस भय को जानकर विचारक को हंसना चाहिए। डरने का प्रश्न विचारशील मन में उठना नहीं चाहिए। उसे यह समझ कर निर्भय-पने में आना चाहिए कि जो डरपोक और कायर है, वही हथियार बांध कर चलता है। अपने को सुरक्षित रखने की दृष्टि से जो हथियार रखता है, उसके वे हथियार चाहे न्यून हों या अधिक हों वह डरपोक ही माना जाता है। जो हथियारों की अनिवार्य आवश्यकता समझता है, वही कायर है। वह अपनी दुष्ट मनोवृत्ति के द्वारा अपने चारों ओर भयंकर असत्य का जाल बिछा रखता है। उसे सब जगह शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं। यदि उसमें शक्ति होती तो वह सब हथियारों को खोलकर फेंक देता और निर्भय चित्त से संसार में भ्रमण करता।

भय का अभिप्राय असत्य से प्रेम करना, असत्य को छोड़ने को तथा असत्य का विरोध करने को उद्यत न होना है। दूसरों के अधिकार पर आधिपत्य जमाना असत्य अवस्था है। उस दुष्ट अवस्था से भी जब कोई प्रेम करता है तब वह दूसरों के अधिकार को दूसरों की इच्छा के विरुद्ध दबाकर रखना चाहता है। उसका पापी मन यह कहता है कि जिनका अधिकार मैंने दबा रक्खा है, वे भी तो अपने अधिकार को चाहते ही होंगे। वह अपनी दुर्बल मनोवृत्ति के कारण दूसरों का अधिकार बिना विवश हुए दूसरों को देना नहीं चाहते। दूसरे लोग अपना अधिकार मांगने का साहस भी न कर सकें, इस दुर्भावना से उनके स्वार्थोंपर चोट पहुँचा पहुँचाकर या चोट पहुँचाने की धमकी दे दे कर उनको पशुबल से दबा डरा कर रखना चाहता है। यों दूसरों को डराने के चार अभिप्राय हैं—(१) अपनी निर्बलता को ढक रखना, (२) सच्ची शक्ति को कभी प्रकट न करना, (३)असत्य से प्रेम करते रहना, (४) तथा सत्य से भय मानते रहना। इसी को बुरी नियत भी कहते हैं।

अपने मन में बुरी नियत रखना ही भीरुता का एक मात्र कारण है। याद रखने की बात है कि डराना भी भीरुता है, और डरना भी भीरुता है। बुरी नियत से ही डराया जाता है, और बुरी नियत से ही डरा जाता है। जो स्वयं डर के मारे कांपता है, वही अपने डर को छिपा कर दूसरे को डराकर उसकी निर्बलता से अपना काम बना लेना चाहता है। जो स्वयं डरता है, वही दूसरों को डराता है। जो मनुष्य सत्य पर आरूढ है, उससे सताये जाने का डर किसी को भी नहीं होता। वह न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भयभीत करके अपना काम बनाना चाहता है। वही सच्चा निर्भीक है।

निर्भीक को डरानेवाली शक्ति पृथ्वी पर तो क्या संसार भर में भी नहीं है। सच्ची निर्भीकता जब आती है, तब किसी को दबने भी नहीं देती और दबाने भी नहीं देती। तब कोई दबने और दबानेवाला नहीं रहता। तब दबाने और दबने की भावना नहीं बचती। स्वार्थ ही दबाने को कहता है और स्वार्थ ही दबने को कहा करता है। उस स्वार्थ के नष्ट हो जाने से दबानेवाला दबनेवाले में अपने नारायण को देख कर दबाना भूल जाता है। और दबनेवाला दबानेवाले में अपने नारायण के पवित्र दर्शन करके दबने की बात भूल कर निर्भीक हो जाता है। दोनों को परस्पर मिल कर न बैठने देनेवाला स्वार्थ जब मर जाता है, तब दोनों को दोनों में ऐक्य के महा सुखदायी दर्शन मिल जाते हैं। जब दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् जब दोनों ही आत्मदर्शन से बलवान् हो जाते हैं तब कोन किसको दबाये? और कौन किससे दबे? दबाना और दबना ये दोनों स्वार्थ की परिभाषाएँ हैं। ये जब नहीं रहतीं तब दबाने और दबने का प्रश्न कैसे उठे? यों स्वार्थ के न रह जाने से मनुष्य में निर्भीकता आ जाती है।

निर्भीक पुरुष सत्यारूढ रहकर असत्य को पैरों के नीचे कुचलता रहता है। असत्य का विरोध करने में कोई भी सत्यारूढ मरता नहीं है, ऐसा सत्यविजय का तात्पर्य नहीं है। असत्य का विरोध करते हुये सत्यारूढों का देहपात हो भी जाता है, परन्तु वे मन से कभी हार नहीं मानते और प्रसन्नमुख से मृत्यु का स्वागत

किया करते हैं। उनकी मृत्युगाथा से दूसरे सत्य-मार्गियों का पथप्रदर्शन होता है। और इनको उत्साह मिला करता है। उनकी मृत्युगाथा की पवित्र स्मृति से भी असत्य का मानमर्दन हो जाता है। सत्यारूढ पुरुष असत्य को कभी ऐसा अवसर नहीं देता कि वह उसे सता सके या डरा सके। वह किससे डरे? और क्यों डरे?

ठीक ठीक देखने पर पायेंगे कि सत्य को प्राप्त कर लेना ही डर से पार चला जाना है। डराया जानेवाला भी डरपोक है और डरानेवाला भी डरपोक है। जो डरपोक के डरपोकपन से लाभ उठानेवाला है, उसे ही 'डरानेवाला' 'डाकू' 'लुटेरा' 'गुण्डा' या 'अत्याचारी' आदि नामों से कहा जाता है। ये सब के सब डरपोक हैं। इनमें वीर कोई भी नहीं है। विचार कर देख लो कि ये सब के सब डरपोक लोग हथियार बांध कर, हथियारोंवाले डरपोकों का अपना शिकार बनाने की चिंता में जहां तहां भटकते फिरा करते हैं। इनके शस्त्रधारी होने का मूल्य बकरी के बच्चे के यमराज किसी गीदड के पैने पंजोंवाले और तीखे कीलोंवाले होने के बराबर होता है। जहां भी कहीं दूसरे अस्त्रधारियों के विरोध करने की सम्भावना होती है, वहां से सिंह को देख कर अपने भाट में भग जानेवाले गीदड की तरह, सब शस्त्रधारी लुटेरों की सेवा, पीठ दिखाने को सदा उद्यत रहती है। क्योंकि ऐसे लोगों में यही मनोवृत्ति होती है कि हथियार के सहारे से निर्विरोध बन जाय और अपना शिकार खेल लें। इस कारण जो भी कोई इनका विरोध करने का साहस करेगा वही उनके डरपोक कलेजे से अधिक शक्तिमान् हो जायगा। समझ ले कि ऐसे लोग अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देने के लिये शस्त्र धारण नहीं किया करते। ये अपने से निर्बल अर्थात् कम अस्त्र शस्त्र वाले का अर्थात जो दुष्ट का विरोध करने में अपने हाथ के अस्त्र को अस्त्र ही न समझ कर या अपर्याप्त मानकर अपने को निरस्त्र मान बैठे हैं उनको शिकार बनाने के लिए अस्त्र धारण किया करते हैं। यही कारण है कि ऐसों के हृदय में शक्तिमत्ता का अस्तित्व नहीं होता। जब इनके सामने इन से अधिक अस्त्रधारी आ जाता है तब इनके हाथ के अस्त्र का अपर्याप्तपन इनको अस्त्रहीन या शक्तिहीन बना देता है। जब कि अस्त्रहीन पुरुष, अस्त्र को ही शक्ति मानता हो, तब समझ देखो कि वह अस्त्रहीन हो जाने पर अपने को शक्तिहीन हो जाने से कैसे रोक लेगा? ऐसों के सामने जब कोई अधिक शक्तिमान् आ जाता है तब ये शक्तिहीन हो जाते हैं। तब हाथ में अस्त्र होते हुए भी इनको निरस्त्र हो जाना पडता है।

इनकी ऐसी मनोवृत्ति, किसी विरोधी प्रतिद्वन्द्वी का सामना होनेके अवसर पर इनको भाग खडे होनेकी प्रेरणा दे देती है। इन लोगों के शस्त्र-धारण का अभिप्राय यही होता है, और इन लोगों के शस्त्रधारण में इतना ही धैर्य होता है कि जो इनका विरोध न करके भाग खडा हो, ये उसके पीछे दौडने लगते हैं तथा जो इनका विरोध करे उसको ये पीठ दिखाकर भाग पडते हैं। ऐसे लोग विरोधी के सामने पडने के अवसर को ही भयंकर समझा करते हैं। इनकी कल्पना ही कुछ ऐसी होती है कि वह इनको भयातुर बना लेती है और विरोधी से दूर रखने के लिए ही इनसे अस्त्र पकडवाती है। ऐसे लोग केवल यह चाहा करते हैं कि कोई हमारा विरोध न करे तो हम निर्विरोध होकर निरस्त्र भागते हुए की पीठ पर पंजे मारते रहें। ऐसे लोगों के अस्त्रधारण का उद्देश्य यही होता है कि इनके हाथ में अस्त्र को देखते ही भाग खडा होनेवाला कोई डरपोक इनके भाग्य से इनको मिल जाय तो उसके पीछे पीछे अस्त्र लेकर दौडने लगें।

ऐसे अस्त्रधारी डरपोक लोग, अस्त्रों के द्वारा अपने डरपोकपन को ढका करते हैं और अस्त्रहीन डरपोकों के पीछे भागा करते हैं।

ऐसों का सामना करनेवाला जो कोई भी विरोधी हृदयबल में इनकी अपेक्षा अधिक बलवान् होता है, उसके सामने से ये निश्चित ही भाग खडे होते हैं। जिन लोगों के पास विरोधी का सामना करनेवाली सच्ची शक्तिका हृदयबल नहीं है उनका विरोध करनेको जो कोई खडा हो जायगा उसके हृदय में रहनेवाला दुष्ट दमन का सत्साहस ही, उसका अजेय और अमोघ अस्त्र बन जायगा।

(क्रमशः)

गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगढ।

(लेखक- श्री० नवीनचन्द्र)

घर का झरोखा आगे बढा हुआ वायु में झूलता हो, इस प्रकार भारतभूमि की गोद में काठीआवाड अरबी-समुद्र पर झूल रहा है। काठिआवाड भक्तों और वीरों की भूमि है। ग्रीस देश की तरह काठीआवाड का इतिहास भी वीररस भरा है। एक विदेशी विद्वान् के शब्दों में 'The history of Kathiawar is the history of India in miniature-' काठिआवाड की कीर्ति-कथा आर्यावर्त की गुण-गाथा है। इसी भूमि के 'पालीताणा' 'वळा' (वल्लभीपूर) और 'वढवाण' जैसे पवित्र तीर्थों में भगवान् बुद्ध और महावीर प्रभुने धर्मध्वजा स्थापित की थी और 'द्वारका' की पुण्य-नगरी में स्वामी शंकराचार्यने शारदापीठकी स्थापना की थी। गिरनार के उत्तुङ्ग शिखर पर देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोकदेवने धर्म-शिला रक्खी और 'धोलका' (विराट्नगर) के बन में पाण्डवोंने गुप्तवास किया था। राणकदेवी जैसी वीरांगनायें 'भोगावा' के तट पर सती हुई थीं।

यहांकी भूमि सिंहजननी है। प्रभास, गिरनार, द्वारका, सिद्धाचल जैसे प्राचीन तीर्थों की वह तीर्थ-भूमि है। प्रभासपाटण के इतिहासप्रसिद्ध गगनचुम्बी प्राचीन मन्दिरों के खंडहरों को आज भी समुद्र अभिषिक्त कर जाता है। पश्चिम-सागर के तट पर श्रीकृष्ण और सुदामा के सनातन-स्नेह को याद दिलाती हुई 'पोर-बन्दर' और 'द्वारिका' की पुरियाँ आज भी स्थित हैं। इसी भूमि ने मेघाणी, कान्त, कलापी, बोटादकर, दलपतराम और 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाणे रे' की धून मचानेवाले नरसिंह म्हेता जैसे कवियों को पैदा किए। और अन्त में- वेदव्रतधारी महर्षि दयानन्द और विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी को इसी भूमिने जगत् के चरणों में धरा।

आर्यावर्त के पश्चिम किनारे, काठीआवाड में, सागर के साथ झूलता हुवा, सौराष्ट्र-देश विद्यमान है। प्राचीन संस्कृति के कौस्तुभमणिस्वरूप गीता की मृदु मधुर मुरली के बजानेवाले भगवान् कृष्ण तथा प्रणव-धनुष्य की टंकार करनेवाले मोरवी-टंकारावाले महर्षि दयानन्द सरस्वती की विहारस्थली और संसार को सच्ची शान्ति का पेगाम देनेवाले जगद्वन्द्य महात्मा गांधीजी की जन्मभूमि, वीरभक्त-प्रसविनी सौराष्ट्र की पुनीत भूमिमें धर्म, जातीयता तथा भारतीय संस्कृति के निर्मल जल से सिंचित 'गुरुकुल-सोनगढ' की ज्ञानवाटिका अपने गायत्री गर्भ-प्रसूत तपोधन ब्रह्मचारियों से सुवासित है। सोनगढ की चारों दिशाओं को चार भिन्न भिन्न स्टेटों ने घेर रक्खा है।

एक ओर सर प्रभाशङ्कर पट्टणी जैसे मुत्सद्दीका भावनगर राज्य है, दूसरी ओर गूर्जरी साहित्यकानन में जिसका मधुर केकारव आज भी गूँज रहा है, ऐसे कवि 'कलापी' का 'लाठी' राज्य विद्यमान है। तीसरी ओर सनातन सिद्धाचल (शत्रुंजय) के जैन मन्दिरों से शोभित पालीताणा का राज्य है। चौथी ओर, जिस स्थान के लिये चीनी यात्रीने 'वहाँ दूध और शहद की नदियाँ बहती थीं,' [Overflowing with milk and honey] कहा था ऐसा प्राचीन वल्लभीपुर विश्वविद्यालय के खण्डहरों से वेष्टित, वळा-राज्य है। बीचमें सोनगढ एजन्सी है।

प्रकृति की गोदमें खेलना किसे अच्छा नहीं लगता? सोनगढ का गुरुकुल भी प्रकृति-माता की स्नेहमयी गोद में हँसता-खेलता बालक है। इसके

चारों ओर छोटी-छोटी गिरि-मालाओं की झालरें झूल रही हैं। मानो, परमात्मा का बनाया हुआ दुर्ग न हो। कुछ अंश में यह है भी सच, सोनगढ दयानन्द का दुर्ग है और यहाँ का गुरुकुल आर्य-संस्कृति का स्तम्भ है। यहाँ की ऋतुयें सौन्दर्य-भरपूर हैं। वर्षा में सम्मुख के विशाल मैदानों और गिरिशृंगोंपर हरे घास का हरा गालीचा बिछा हो, ऐसा प्रतीत होता है। सामने के मैदानों में जब मृगशावक और शश-वृन्द खेल रहे हों, कि फिर कुलभूमि के पवित्र आंगन में छोटे-छोटे ब्रह्मचारी-बटु कल-रव कर रहे हों- दर्शक को क्षणभर मुग्ध कर देते हैं। और ऐसे वख्त उतावली [द्रुतगामिनी] सरिता के तटपर बसा हुआ सोनगढ प्राचीन ऋष्याश्रम की झांकी कराता है। सतत बहती अनिल-लहरियाँ जब जब गात्र को स्पर्श करती हैं, तब तब अन्तःस्थल में कोई अभिनव आनन्द का संचार करती हैं। ऐसी है यहाँ की रमणीयता और ऐसा है यहाँ का वैभव। यहाँ की भव्यता को देखकर गुर्जर कविसम्राट् न्हानालाल दलपराम M. A. कहते हैं-

' मैंने दो मास इस कुल में बिताये। गुजरात में तीन गुरुकुल हैं, उन में छोटी-छोटी पहाडियों के मनोरम दृश्य के कारण यह स्थान सबसे अधिक भव्य है। एक तरफ वल्लभीपुर के, दूसरी तरफ शिहोर के और तीसरी ओर शत्रुंजय के इतिहास-भंडार भरे हैं। परिस्थितियाँ इस कुल के अनुकूल हैं, वैसी गुजरातमें किसी कुल की प्रतीत नहीं होतीं। गुरुकुल अर्थात् सान्दीपनि का आश्रम, वह ज्ञान, वह तप, वह आर्ष वातावरण। मेरी सिफारिश तो यही है कि एक ग्रन्थ व कुछ पाठ चाहे न पढ सकें; परन्तु ऋष्याश्रम की भावना अगर थोडी भी साध सकें, तो वही लक्ष्य और आदर्श करने योग्य है। मुख्याधिष्ठाता कुल को उस मार्ग से ले जाने का प्रयत्न करते हैं, सब को उनका साथ देना चाहिए। अवसर आने पर इस गुरुकुल का सौरभ सारे सौराष्ट्र में फैलेगा। '

ऐसी गुण-गरिमायुक्त भूमि में भावी के अनजान संकेत से प्रेरित होकर स्वनामधन्य स्वर्गीय सेठ श्री० मनसुखलाल ने, सोनगढ थाने की सौ बीघे जमीन और मकान खरीद कर, आर्यकुमार महासभा-बडौदा द्वारा इस गुरुकुल की, आज से नौ वर्षपूर्व, स्थापना की। और इस कुल-वाटिका को महा-गुजरात में हिन्दू धर्म तथा अबलाओं के लाज की रक्षा करनेवाली आर्यकुमार-महासभा के कर्मवीरों ने अपने पसीने से सींची है। राजा नारायण पित्ती, दरबार श्री० मनुभापाताभाई चेर, श्री० चतुरभाई और पं० आनन्दप्रियजीने इसके लिए तन, मन, धन अर्पण किया है। और आज भी इस तपोवनभूमि में आदर्श ब्रह्मवर्चस् तथा उज्ज्वल क्षात्रतेज प्रदीप्त करने के लिए कई साधक साधना कर रहे हैं।

अन्तिम दशक में, गुजरात के आंगन में बडौदा की आर्यकुमार-महासभाने भी सुन्दर फूल खिलाये हैं। इस की कीर्ति-कथा गूर्जरी इतिहासकानन में लिखी जायेगी, तब भविष्य की प्रजा उसका सच्चा मूल्य आंकेगी।

बडौदा में एक ' आर्य-विश्वविद्यालय ' [Aryan University] की स्थापना की गई है। जिसकी ' गुरुकुल महाविद्यालय-सोनगढ ' और ' आर्यकन्या महाविद्यालय बडौदा ' ये दो प्रसिद्ध संस्थायें हैं। बडौदा के आर्यकन्या महाविद्यालय में सम्प्रति देश-विदेश की ३५० ब्रह्मचारिणी-बहिनें विद्याध्ययन करती हैं और जहाँ की वीर-बालाओं ने केवल भारत में ही नहीं बल्कि विदेश में भी माता भारती का मुख उज्ज्वल किया है वहाँ आज स्नातिकाओं का प्रथम दल प्रगट हो चुका है। सोनगढ में सम्प्रति १५० ब्रह्मचारी अध्ययन कर रहे हैं। ब्रह्मचारी कच्छ, काठियावाड, गुजरात, सिन्ध, हैद्राबाद, महाराष्ट्र के हैं। लगभग पैंतीस प्रवासी अफ्रिका-वासी बन्धुओं के हैं। मासिक फीस तीन श्रेणी तक १२ रुपये और उसके बाद १५ रुपये ली जाती है। ४० ब्रह्मचारी कम फीस का लाभ लेते हैं। मासिक भोजनखर्च दस रुपये पडता है, अतः मासिक फीस

उसी में खर्च हो जाती है। वस्त्र, पुस्तक, शिक्षा-आदि चीजें ब्रह्मचारियों को संस्थातरफ से पूरी की जाती हैं। गुरुकुल की गौशाला का ताजा दूध प्रातः सायं ब्रह्मचारियों को दिया जाता है। गुरुकुल के बगीचे से प्राप्त ताजे फलों और सब्जियों का उपयोग किया जाता है। प्राथमिक, माध्यमिक और महाविद्यालय इन तीन विभागों में ब्रह्मचारियों को शिक्षा दी जाती है। तीनों विभागों की इतनी सुन्दर और कम खर्च में शिक्षा शायद ही कहीं और दी जाती हो।

संस्था के पास मकान जमीनादि की एक लाख की स्थिर सम्पत्ति है। वार्षिक खर्च लगभग ४५-५० हजार है। उसमें १२ हजार प्रति साल बाहर से श्रीमन्त महानुभावों से प्राप्त करना पडता है। संस्थाको तात्कालिक दो लाख रुपये की आवश्यकता है। एक लाख स्थिर कोष के लिये तथा व्यायाम-मन्दिर, उद्योगमंदिर, चिकित्सालय, गौशाला, प्रार्थना-मन्दिर, व्याख्यान-भवन, विद्यालय-भवन, विज्ञान और रसायनशास्त्र के परीक्षण के साधनों के लिये Laboratory और पुस्तकों के लिये लगभग १ लाख रुपये की जरूरत है।

फिलहाल महात्मा गान्धीजी ने कहा है- 'शिक्षा अर्थात् बालक व मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में जो उत्तम अंश हों, उनका सम्पूर्ण विकास करके उन्हें बाहर प्रगट करने का साधन।' शिक्षा केवल देहको स्पर्श करनेवाली नहीं है, आत्मा को भी स्पर्श करती है। यह एक सनातन सत्य है कि जिस देश की शिक्षा जितनी उच्च होगी उतना ही वह देश आत्म-विकास साधने में अग्रेसर होगा।

संगीत प्रभु की सुवास है। संगीत आत्मा को स्पर्श करता है। अनुभूत होता हुवा अननुभूत में ले जाता है। संगीत अर्थात् Harmony- समता। सोनगढ में शास्त्रीय पद्धति से संगीत की तालिम दी जाती है। जिस किसीने यहाँ के बालकों के मीठे-सुरीले गीत सुने हैं, उसने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। पिछले एक वर्ष से योग्य संगीत-शास्त्री के अभाव में संगीत-क्लास बन्द है। व्यायाम शरीर-विकास का उत्तम साधन है। यहाँ सायं प्रातः दोनों समय ब्रह्मचारी व्यायाम करते हैं। लाठी, लेजिम, मुद्गर, तलवार, भाला, मलखम्भ, फरीगदका, बनेटी आदि के खेल भी जानते हैं। जुजुत्सु और स्तूप-निर्माण-कला (Pyramids) जानते हैं।

दुन्दुभि-सन्देश, ध्वज-सन्देश और करपल्लव-सन्देश देते हैं। संघव्यायाम भी अपना पृथक् आकर्षण रखता है। अखिल काठिआवाड व्यायाम-साम्मुख्य में वर्षों तक यहाँ के ब्रह्मचारियों ने प्रथम नम्बर के इनाम प्राप्त किये हैं। इसके सिवाय पहले यहां 'उद्योग-मन्दिर' भी चलता था। कतिपय ब्रह्मचारी इस कला में प्रवीण हो गये थे, लेकिन धन के अभाव से संचालकों को यह कार्य अन्तिम तीन वर्षों से बन्द कर देना पडा। यहां चारों भाषाओं-संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती-की शिक्षा दी जाती है। पुस्तकालय शिक्षा (Education) के कार्यमें प्राण भरता है। पुस्त-कालय प्रकाशधाम है। पुस्तक बिनाका घर आत्मा बिनाके देह के सदृश है। सम्भवतः कांगडीको छोडकर दूसरे किसी गुरुकुलमें, सोनगढके वैदिक-पुस्तकालय जितना पुस्तकालय नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। ब्रह्मचारी-गण उससे भली-भांति लाभ उठाते हैं। वाचनालय अर्थात् ज्योतिःमन्दिर। शिक्षा और साहित्यविषयक ५० दैनिक, साप्ताहिक और मासिक-पत्र-पत्रिकायें गुरुकुल में आती हैं।

गुरुकुल की कतिपय सेवावृत्तियां भी हैं। गुरुकुल का एक स्वतंत्र औषधालय है। बाहर गांव के और स्थानीय दर्दी इस का हमेशा लाभ लेते हैं। यही नहीं, गुरुकुल में शरीरशास्त्र के निष्णात, हाडवैद्य श्री० जोरावरसिंहजी रहते हैं। आसपास के दस-दस, बीस-बीस मील दूर के ग्रामीण हाडदर्दी उनके उपचार का फायदा उठाकर आशीर्वाद दे जाते हैं।

ब्रह्मचारी छुट्टी के दिनों में आसपास के गांवों

में कुछ सीखने और कुछ देने के लिये जाते हैं। वहां जाकर अज्ञान प्रजा में अपने ज्ञान का प्रचार करते हैं और वहां के सरल एवं सादे जीवन के विविध अनुभवों को चुनकर वापिस आते हैं। कई बार दूर-दूर की पहाडियों में और सरिता के सुरम्य तट-प्रदेश में ब्रह्मचारी स्वयंपाक और वनभोजन के निमित्त जाते हैं। वर्षों के संचय और मनन के पश्चात् यहां के ब्रह्मचारियों ने ज्ञान-राशि भी ठीक-ठीक उपलब्ध की है। उनकी वक्तृत्व-कला और लेखन-शैली का सुन्दर विकास हुवा है। वार्षिक-उत्सवों पर ब्रह्मचारियों के विद्वत्तापूर्ण, गम्भीर निबन्धों को सुनकर आर्य-जनता ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

गुरुकुल के बाल्यकाल से आज तकके संचालन-कार्य में सब से मुख्य हाथ आर्यकुमार-महासभा बडौदा के प्रमुख सेठ श्री० राजा नारायणलाल बंशीलाल पित्ती का है। राजासाहब खुद गुजराती नहीं है, परन्तु एक मारवाडी नवयुवक हैं। फिर भी गुजरातभर में चलती हुई हिन्दुत्वरक्षण-प्रवृत्तियों के पोषक ये ही श्रीमन्त महानुभाव हैं। विशेषतः इस संस्था क पास जब एक पाई की भी पूंजी न थी तब उन की ही विशाल सहायता से गुरुकुल विकसित हुआ था। दूसरे शब्दोंमें कहें तो उन्हीं की प्रेरणा और उन्हीं के धन से कुल का प्रारम्भ हुवा था। आज भी उन्हीं की उदार मदद से दिन प्रतिदिन गुरुकुल विकसित हो रहा है।

आर्यकुमार महासभा के मानद मंत्री श्री० पं० आनन्दप्रियजी B.A.,LL.B. [मास्टर आत्माराम-जी अमृतसरी, के सुपुत्र] एक प्राणवान्, उत्साही और वीर आत्मा हैं। आचार्य दयानन्द के मिशनको संसारव्यापी बनानेके उनके स्वप्न हैं।

गुरुकुलके सद्भाग्य से, उसे श्री० चतुरभाईजी B. Com. जैसे सत्यनिष्ठ महानुभाव प्राप्त हैं। हजारों संकट झेलकर उन्होंने आज तक अपने निर्मल स्नेह से कुल-वाटिका में जल-सेचन किया है। उन का सागर गभीर जीवन ही उनकी मूक सेवाओं को स्वयं कह रहा है। उनके त्याग और तपस्या के लिये सारा गुजरात गर्व कर सकता है।

अदृश्य के कोई महान् संकेत से गुरुकुल को श्री० पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति [गु० वि० कांगडी] जैसे सुयोग्य, सरल और विद्वान् आचार्य प्राप्त हुवे हैं। आप एक उच्च वैदिक-स्कोलर हैं। वर्षों से, ब्रह्मचारियों में अपने ज्ञान का सतत प्रवाह डाल रहे हैं। आपके आचार्यत्व में इस गुरुकुल की काफी उन्नति हुई है। एक समय आयेगा जब कि ऐसे मनीषी आचार्य के विद्याविनीत स्नातक संसार में संस्कृति का नया सन्देश सुनायेंगे।

भारत-विख्यात विद्यावाचस्पति श्री० पं० मधुसूदनजी ओझा के पट्टशिष्य मुनि श्री० देवराजजी विद्यावाचस्पति [गु० वि० कांगडी] जैसे त्यागी और तपस्वी आत्मा इस कुल को परमात्मा ने प्रदान किये हैं। आप आजीवन सरस्वती को वरे हुए, एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वेदों के आप प्रकाण्ड पण्डित हैं।

इस समय गुरुकुल के स्टाफ में २० महानुभाव अध्यापन और अधिष्ठाता आदि का कार्य बडी लगन और योग्यता के साथ कर रहे हैं; जिनमें चार गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगडी (हरिद्वार) के स्नातक हैं। बम्बई और बनारस यूनीवर्सिटीके दो फर्स्ट क्लास बी. ए., एलएल. बी. हैं, तीन अन्डर-ग्रेजुएट हैं, चार सज्जन अहमदाबाद-ट्रेनिंग-कालेज से शिक्षा प्राप्त और शिक्षण-कलाप्रवीण हैं। इसी प्रकार व्यायाम आदि विषयों के लिये अन्य कई अध्यापक हैं।

सोनगढ-महाविद्यालय ऋषि दयानन्दकी जन्म-भूमि में ज्ञानतीर्थ है। काठिआवाड की उपेक्षित भूमि में यही एक 'दयानन्द-विद्यापीठ' है। महा-गूजरात की यह लोकप्रिय संस्था है, इसी कारण नौ वर्ष के छोटे से अरसे में इसने इतनी सफलता प्राप्त की है। गुरुकुल विश्वविद्यालय-कांगडी (हरिद्वार) के प्रतिष्ठित आचार्य श्री० देवशर्माजी सोनगढ के विषय में लिखते हैं—

'मुझे तीन दिनतक गुरुकुल सोनगढ में रहने और देखने-भालने का सुअवसर मिला। इस कुल में रहकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है। यहां ब्रह्मचारी बडे सभ्य और सुशील प्रतीत हुए। यह स्पष्ट अनुभव हुवा कि उन को उत्तम, उच्च भारतीय संस्कार डालने का यत्न किया गया है। उन में अपने प्रति हार्दिक प्रेम निस्संकोच भाव देखकर इस गुरुकुल के प्रति मेरा स्वाभाविक आकर्षण पैदा हो गया है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की सफलता के विषय में जो कुछ मेरे स्वप्न हैं, उनकी पूर्ति की सम्भावना इस गुरुकुलमें है, ऐसा संकेत यहां के आचार्य पं० देवराज मुनिजी से और वर्तमान आचार्य श्री० पं० चन्द्रकान्तजी से मिला था, उसे मैंने यहां आकर प्रायः ठीक पाया है। परमेश्वर इस गुरुकुल के संचालकों, गुरुओं को शक्ति देवे कि वे अपने ऊंचे वैदिक आदर्श को पवित्र भाव से अनुसरण कर सकें।'

आर्यप्रतिनिधिसभा-पंजाब के प्रधान और गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगडी के भूतपूर्व आचार्य प्रो० रामदेवजी गुरुकुल के विषय में लिखते हैं—

'मैंने आज गुरुकुल सोनगढ देखा। प्राकृतिक दृश्य अतीव सुन्दर है। विद्यालय तथा आश्रम की स्वच्छता अनुकरणीय है। ब्रह्मचारी भाषण-कला में भी प्रवीण हैं और बुद्धि के स्वतंत्र विकास होने के कारण उनकी ज्ञानराशि भी पर्याप्त है। ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य अतीव उत्तम प्रतीत होता है और उनके मुखोंपर आभा भी है। मैं पं० चन्द्रकान्तजी तथा उनके साथ कार्य करनेवालों को बधाई देता हूं, कि वे इस संस्था का संचालन सर्वोत्तम रीति से कर रहे हैं। गुजरातमें जहां जहां गया, वहां मैंने संस्था की उज्ज्वल ख्याति का अनुभव किया था। भगवान् से मैं प्रार्थना करता हूं, कि वह इस संस्था की दिन-ब-दिन उन्नति करे और इस में से निकले हुए स्नातक गुजरात काठीआवाडको वैदिक-धर्म की गूंज से गूंजा दें।'

सोनगढ में पिछले ढाई साल से महाविद्यालय-विभाग प्रारम्भ हो चुका है। दो वर्षके बाद संस्था के सर्व प्रथम उज्ज्वल स्नातक प्रकट होंगे। यहां हरेक विषयका तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञान दिया जाता है। धर्मों का तुलनात्मक ज्ञान (Comparative Study of Religions), तुलनात्मक दर्शनशास्त्र (Comparative Study of philosophy), अर्थशास्त्र, वैदिक साहित्य (Vedic Literature), राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र(Logic) मनोविज्ञान (psychology), शरीरविज्ञान, इतिहास, अंग्रेजी, संस्कृत-साहित्य-इत्यादि विषय महाविद्यालय (College Class) में पढाये जाते हैं। यहां की शिक्षा देखकर कतिपय विद्वानों ने आत्मसन्तोष प्रकट किया है। प्रभु की इच्छा होगी तो जनता के प्रेम, औदार्य और सौजन्य के द्वारा आर्यसंस्कृति, आर्यशिक्षा और आर्य जीवन की अमरवेल किसी दिन भी विकसित होगी और गुरुकुलरूपी विद्यावल्लरी के मीठे फल जनता के चरणों में अर्पित किए जायेंगे।

प्रिय पाठक! आज मैंने 'दयानन्दविद्यापीठ' का संक्षिप्त परिचय आप को दिया है। सम्भव है उस में अनेक त्रुटियां होंगीं, परन्तु उन्हें अपने व्योम-विशाल अन्तःस्थल में छिपा लेना यही विनय है। संसार जीतना सरल नहीं है। संसार में आज अज्ञान और अशान्ति का साम्राज्य फैला हुवा है। संसार आज शान्ति के लिये तरस रहा है। जगत्को शान्तिके पेगाम देनेवाले आत्माओंकी अभिलाषा है। समय आनेपर, आर्य-संस्कृति सच्ची शान्ति का दिव्य सन्देश सुनायेगी। एक विदेशी ज्योतिषी का कथन है—'The glories of India now lie far in the past; but an equally glorious future awaits her. For she will regain her old position among the leading nations of the world

and will once more become the sourse of spiritual inspiration."

भावी जगत्-प्रेरणा के झरने भारत से बहेंगे। परमात्मा ने सब धर्मों में कुछ सत्य अवश्य रक्खा है। यहां के भावी स्नातक इन्हीं सनातन सत्यों (Eternal truths) को चुन-चुन कर जीवन में चित्रित करेंगे। समय आवेगा जब 'आर्यविश्व-विद्यालय' की स्नातिकायें और स्नातक जगत्-प्राचीन आर्य-संस्कृति के प्रचार के लिये अपने सफरी जहाजों को संसार-सागर में ले जायेंगे। संसार के उस पार-यूरोप और अमेरिका में-आर्यत्व का फिर से नाद गूंज उठेगा। यहां के स्नातक-स्नातिकायें अपने चरित्र, विचार और जीवन से संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करेंगे। यहां के विद्याविनीत स्नातक और विद्याव्रतिनी स्नातिकायें Classes (विद्वत्-जगत्) और Masses (ग्रामीण जनता) में लेखनी, वाणी और विद्याव्रती जीवन द्वारा प्रचार करेंगे। उनके प्रचार का ढंग आग्नेय नहीं होगा, परन्तु सौम्य ही रहेगा, परन्तु मातृभूमि की आजादी के निमित्त, केसरिया बाना पहिनेंगे। समाज, धर्म, राष्ट्र और मानवजाति के कल्याण के लिये इस नश्वर देह की कभी परवाह नहीं करेंगे। इस प्रकार के स्वप्न हैं और इसीके निमित्त वे भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं।

गुरुकुल का ध्येय वैदिक-संस्कृति में रंगे हुवे आदर्श नागरिक पैदा करना है। चरित्र-निर्माण इस की जान है, ब्रह्मचर्य इसका जीवन है, वैदिक आदर्श उसकी देह है और राष्ट्रीयता उसका सौन्दर्य है।

मानवसेवा तो प्रभु की सेवा है। आवश्यकता होनेपर, आर्यविश्वविद्यालय की स्नातिकायें और स्नातक दुःखी बान्धवों के दर्द में आंसू बहायेंगे; और आंसू की जगह अपना खून भी बहायेंगे। घायलों के घाव में स्नेहशीली मरहमपट्टियां बांधेंगे। मानव-मात्र में कल्याणमय नव-जीवन-स्रोत बहायेंगे, जब कि उनके अन्तस्तलकी किसी गहनतम गुफा में से अहर्निश यही सनातन अन्तर्नाद बहता होगा- 'न याचे योगिनां योगं परं याचे दयासिन्धो। प्राणिनां आर्तिनाशनम्...

\+ \+ \+

वेदमूर्ति, पवित्रात्मा श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी सोनगढ-गुरुकुल देखकर कहते हैं- 'यहां का सुन्दर दृश्य देखकर मेरे मन पर विलक्षण अपूर्व दैवी प्रभाव हुआ। इस स्थान का वैभव, आरोग्य, स्वच्छता और व्यवस्था देखकर मैं मुग्ध हूं। यहां बहुत पवित्र कार्य हो रहा है। मैं धनी पुरुषों के चित्त को इस गुरुकुल की ओर आकर्षित करना चाहता हूं, कि वे इस पवित्र कार्य को देखें और इस की उन्नति के लिये आवश्यक धनराशि कार्यकर्ताओं को दे दें। जिस से यह गुरुकुल फूले, फले और आदर्श विद्यापीठ बने।' तथास्तु।

आर्यसंस्कृति के अनन्य उपासक, आफ्रिका के प्रसिद्ध सौदागर सेठ श्री० नानजीभाई कालिदास सोनगढ के पोषक हैं। उन्होंने गुरुकुल के छात्रालय के लिये १० हजार रुपये दान में दिये हैं और आजतक गुरुकुल को मासिक सौ रुपये देते रहे हैं। सोनगढ से उन का घनिष्ठ प्रेम है। वे लिखते हैं-

'भविष्य में यह गुरुकुल काठीआवाड का तीर्थ बनेगा। अगर हिन्दुस्तान को स्वतंत्र करना हो तो स्थान-स्थान पर ऐसे गुरुकुलों के खोलने की जरूरत है। धनपतियों को मेरी खास प्रार्थना है, कि देश के उद्धार के लिये ऐसी संस्थाओं का पोषण करें। उसी में उनका धर्म अवस्थित है।'

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ४) ,, ,, ॥।)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡) रु. भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

चैत्र १८६०, अप्रैल १९३८
वर्ष १९, अंक ४

श्री शिवाजी महाराज

वैदिक धर्म।

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से.५)रु. वी.पी. से.५॥)रु. विदेशके लिये ६॥)रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है।]

वर्ष १९]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क ४

वर्ष १९
अंक ४
क्रमांक २२०

धर्म

चैत्र
संवत् १९९४
अप्रैल
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

देवताज्ञान।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ० १।१६४।३९)

"(ऋचः) वेदमंत्र के द्वारा प्रतिपादित अविनाशी परमश्रेष्ठ व्योमतत्त्व-ब्रह्ममें (विश्वे देवाः) सब देव निवास करते हैं। (यः तत् न वेद) जो इस ज्ञान को जानता नहीं, वह मंत्र लेकर क्या करेगा? परंतु जो इस बातको जानते हैं वे आनंद से रहते हैं।"

वेदमन्त्रद्वारा जिसका प्रतिपादन हुआ है, उस सर्वव्यापक ब्रह्मके आश्रय में सब देवतागण रहते हैं। वेदमंत्रद्वारा हि उनका स्वरूप जाना जा सकता है। इस लिये जो वेदमंत्रोंसे यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उनको वेदमंत्रोंसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अतः वेदमंत्रोंसे इस ज्ञानको प्राप्त करके कृतकृत्य होना हरएक साधक को उचित है।

शुद्ध वेद।

चारों वेद अत्यंत शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमंडल में शुरू है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं। ग्राहकोंके पास भेजे जा रहे हैं। ग्राहकोंसे पुस्तकें शीघ्र भेजनेके लिये पत्र वारंवार आ रहे हैं, परंतु हम जैसे आर्डर आये, उसी क्रमसे पुस्तकें भेज रहे हैं। इस लिये पाठक अगले मासतक प्रतीक्षा करनेके पश्चात् पत्र लिखेंगे तो अच्छा होगा। विनाकारण पत्रव्यवहार बढेगा नहीं। हम सब पुस्तक डाक (रजिस्ट्री) द्वारा अथवा अधिक संख्यामें हों तो वे रेलद्वारा भेज रहे हैं। इसलिये पहुंचनेमें संदेह ही नहीं है।

डा० व्य० और रेल किराया इस तरह होता है। ऋग्वेद के प्रत्येक पुस्तकपर १) एक रु०डा०व्य०और लाहौर देहली तक का रेलकिराया ॥) आठ आने होता है। इससे पूर्व जिनसे धन आ गया है, उनको हमने अपने व्ययसे पुस्तकें भेज दीं हैं। आगे डा०व्य० अथवा रेल-किराया ग्राहकों के जिम्मे होगा।

वेद	मूल्य	डा०व्य०	अथवा रेलकिराया
ऋग्वेद	३)	१)	॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)
सामवेद	२)	॥)	।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)
	१०)	३)	१॥)

एक दो प्रतियां जो मंगवायेंगे, उनको डाकसे भेज देंगे, परंतु ५ अथवा ५ से अधिक संख्यामें जो मंगवायेंगे उनको रेलसे मंगवाना चाहिये। कई लोग मालगाडीसे मंगवाते हैं, परंतु यहां मालगाडीसे रवाना हुआ बण्डल लाहौरमें ४० दिनके बाद और कलकत्ते ५० दिनोंके बाद मिलेगा। देहलीमें पहुंचनेके लिये मालगाडीसे ३० या ३५ दिन लगेंगे। इसका विचार करके पुस्तकें रेल या पैसेंजर गाडी-से मंगावें। पैसेंजर के किरायासे आधे किरायामें माल-गाडीसे माल जाता है, क्योंकि पुस्तकों के लिये मालगाडीका किराया अधिक है।

डाकव्यय, रेलकिराया आदि जो होगा, वह इसके पश्चात् ग्राहकों के जिम्मे होगा। जिसका अंदाजा हमने ऊपर दिया है। इसका हिसाब देखकर ग्राहक पुस्तकें मंगावें।

हम सब हिस्तकें २।३ बार देखकर भेजते हैं। शुद्धताके लिये हम विशेष सावधानी रखते हैं। जो पाठक अशुद्धियां दर्शायेंगे उनको फी अशुद्धि १)एक रु० पारितो-षिक मिलेगा। इस विषयका नियम यह है, कि एकही अशुद्धि के विषयमें यदि दो या अधिक सज्जनोंसे पत्र आये तो जिसका पत्र सबसे प्रथम मिलेगा उसको पारितोषिक दिया जायगा। उस संबंध के आनेवाले पत्रों की फाइल में सब पत्र तिथिवार रखेंगे और जिनसे जो जो अशुद्धियां आ जायगीं उनको उसी नियमानुसार पारितोषिक मिलेगा।

जो पुस्तकें हम ग्राहकोंके पास भेज रहे हैं वे विविध रीतिसे वारंवार देखकर शुद्ध होनेके पश्चात् हि भेज रहे हैं। इतना होनेपर भी यदि किसी स्थानपर कोई अशुद्धि रह गई हो, तो वह इस पारितोषिक के द्वारा पता लगनेपर निकल आवेगी। प्रतिमास हम किसे किस अशुद्धिका पता लगा, इसका विवरण देते रहेंगे।

गतमासमें हमने १० वैदिक पाठशालाओंमें ये पुस्तक पारितोषिक लगाकर रक्खे। अभीतक एकसे भी अशुद्धि नहीं आयी। प्रतिमास इस तरह कुछ पुस्तक वेदाभ्या-सियोंके पास भेजे जांयगे। सब लोग इसकी अशुद्धि दर्शाकर सहायता करेंगे, तो हम उनके कृतज्ञ होंगे। आगे यह पुस्तक कंपोज करनेके विनाही फोटोद्वारा ही छापी जायगी। इसलिये सबसे इस विषयकी ऐसी सहायता मिलेगी तो अच्छा है।

-संपादक

अजमेरके वैदिक यंत्रालयमें मुद्रित

ऋग्वेदकी देवताएँ ।

हमने गत दो अंकों में अजमेर के वैदिक यंत्रालय में मुद्रित ऋग्वेद के ऋषियों और सामान्यतया देवताओं के विषयमें किस तरह अशुद्धियां हैं इसका विचार किया । इस समय तक हमने किसी भी विशेष व्यक्ति या विशेष संस्थाके किसी पुस्तकपर इस तरह अनुकूल या प्रतिकूल टीकाटिप्पणी नहीं की थी। परंतु जब हमें पता लगा और मेरट में स्पष्ट अनुभव आया, कि पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु आदि कईयोंने एक गुप्त संघ बनाया है और उनका व्रत यह निश्चित हुआ है, कि जो भी वेद वैदिक यन्त्रालय में छप चुका है, उसका समर्थनही करना और किसी दूसरे यन्त्रालयमें कितना भी शुद्ध और अच्छा कोई वैदिक ग्रन्थ छपा हो, उसका निषेध करना। जब हमें यह मेरट की ...सभा के समय विदित हुआ तब हमें वडा आश्चर्य हुआ, कि क्या यही सत्यप्रीति है और क्या इसीसे वैदिक-धर्म की उन्नति होनेंवाली है?

आगे स्थान स्थानपर गुरुकुल, आचार्यकुल, महा-विद्यालयों में जो विद्यार्थी पढनेवाले हैं, जब वे विद्वान् होकर बाहर आवेंगे और पं० ब्रह्मदत्तजी की यह प्रतिज्ञा देखेंगे, तब वे क्या कहेंगे? और ये पं० ब्रह्मदत्तजी आदि लोग जो सब विद्वान् लोगों के मार्गों में कांटे बिछा रहे हैं, उनको किसीने साफ करना चाहिये या नहीं?

इस विचार से प्रेरित होकर हम सत्यनिर्णयार्थ हि केवल अजमेर के वैदिक यन्त्रालय के ऋग्वेद की समा-लोचना कर रहे हैं। गत दो अंकों में हमने जो लेख लिखे, उसका पं० ब्रह्मदत्तजी से अभीतक कोई उत्तर नहीं आया। जो पं० ब्रह्मदत्तजी मेरट में इतनी तत्परता दिखा रहे थे, वैदिक यन्त्रालय के छपे पुस्तक के ऋषिदेवता-... ठीक हैं, ऐसा भरी सभा में कहने का साहस कर रहे थे, वे अब दो मास चुप क्यों बैठे हैं? हम उनका उत्तर छापनेको तैयार हैं और उसका विचार अधिक विस्तार से भी करनेको तैयार हैं। एक बार हम देखना चाहते हैं, कि इन अशुद्धियोंका मण्डन किस तरह वे कर सकते हैं।

गत लेखमें हमने दर्शाया, कि वैदिक यन्त्रालय के छपे ऋग्वेद के ऋषि आधेके करीब अशुद्ध हैं, अर्थात् जैसे छापने चाहिये वैसे नहीं हैं, वहां कोई एक पद्धति नहीं स्वीकारी गयी है और जो जिसका ऋषि नहीं है वह भी वहां (अर्थात् कई सूक्तों में) छापा गया है।

अब इस लेख में हम देखेंगे, कि वैदिक यन्त्रालय के ऋग्वेद में देवताओं की कितनी अशुद्धियां हैं। इस लेख में हम छोटी छोटी अशुद्धियां छोड देंगे और जितनी विशेष अक्षम्य अशुद्धियां होंगी, उनका ही उल्लेख यहां इस लेख में करेंगे, जिससे पाठक जान सकेंगे, कि देवता की भी अशुद्धि वहां कितनी है।

प्रथम मण्डल ।

प्रथम मण्डल के १२ वें सूक्त के छठे मन्त्रका देवता 'निर्मथ्य-आहवनीय-अग्नि' है, वह दिया ही नहीं। २३ वें सूक्त के २३ वें मन्त्रका देवता 'आपः अग्निश्च' ऐसा है, परन्तु केवल अकेला 'आपः' ही दिया है, 'अग्नि' को क्यों उडा दिया? इस मन्त्रमें 'आपः' और 'अग्नि' ये दोनों देवतावाचक शब्द स्पष्ट आये हैं। देखिये-

> आपो अद्यान्वचारिषं०
> पयस्वानग्न आगहि० ॥ (ऋ० १।२३।२३)

इसमें देवतावाचक दोनों नाम पाठक अवश्य देखें। अगले २४ वें सूक्त के '३-५ सविता भगो वा' ऐसा लिखा है, वह अशुद्ध है। इससे इन तीन मंत्रोंका देवता 'सविता अथवा भग' है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु

यह अशुद्ध है। ३-५ का देवता 'सविता' है और ५ वे मन्त्रका हि सविता अथवा भग है।

२७ वें सूक्तके १३ वे मन्त्रका देवता 'विश्वेदेवाः' दिया है, वह अशुद्ध है। यहां केवल 'देवाः' चाहिये। विश्वेदेवाः अलग चीज है और देवाः अलग है। २८ वे सूक्त का देवता 'इन्द्रयज्ञसोमाः' दिया है, यह सब अशुद्ध है। यहां '१-४ इन्द्रः, ५-६ उलूखलं, ७-८ उलूखल-मुसले, ९ प्रजापतिः हरिश्चन्द्रश्चर्म सोमो वा' ऐसा चाहिये। इन देवताओं के चिह्न मन्त्र के अन्दर स्पष्ट दीखते भी हैं। ३५ वें सूक्तमें 'सविता च' ऐसा चकार और मिलाना आवश्यक है। ३६ वें सूक्तका 'अग्नि' देवता दिया है, परन्तु इस सूक्त के १३ और १४ इन दोनों मन्त्रों का देवता 'यूप' है। वह इसमें दिया नहीं है। मन्त्रों के वर्णन से स्पष्टतासे प्रतीत होगा, कि ये मंत्र यूप के वर्णनपरक हैं।

४० वें सूक्त का देवता 'बृहस्पति' लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है, इसका देवता 'ब्रह्मणस्पति' है। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति ये दो भिन्न देवताएं हैं। अतः इस तरह गोलमाल लिखना भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। इसके अतिरिक्त इस सूक्त में देवतावाचक 'ब्रह्मणस्पति' शब्द तीन वार आया है और बृहस्पति का नाम तक नहीं है। इतनी अशुद्धि कैसे हुई पता नहीं चलता।

४४ वें सूक्त का देवता 'अग्नि' दिया है, परन्तु इसके पहिले दो मन्त्रों के 'अग्नि, अश्विनौ, उषा' ऐसे तीन देवता हैं। वे तो अवश्यहि देने चाहिये थे। ४५ वें सूक्त का केवल 'अग्नि' देवता दिया है, परन्तु दशम मंत्रका 'देवः' यह देवता और है। ६४ वें सूक्तका देवता 'इन्द्रः' दिया है। परन्तु पाठक देखें कि इस सूक्त का सच्चा देवता 'मरुतः' है। इस सूक्त में इन्द्रका नामनिशान भी नहीं और प्रत्येक मन्त्रमें मरुतों का ही वर्णन है। यदि पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु में सचमुच सत्यज्ञान की जिज्ञासा है, तो वे इस मं० १, सू० ६४ की इन्द्रदेवता सिद्ध करें। वैदिक यंत्रालय की ऋग्वेद की पुस्तक में इन्द्रदेवता दी है। वह अशुद्ध है और हमारा कहना है, कि वहां 'मरुत्' देवता है। सब वर्णन मरुतोंका है। यदि इतने असत्य को पं० ब्रह्मदत्तजी सत्य सिद्ध कर सकेंगे, तो फिर जगत् में असत्य किसी जगह रह नहीं सकेगा।

सूक्त ९२ का देवता 'उषा' लिखा है। इस सूक्त में १८ मन्त्र हैं, इनमें से मन्त्र १६-१८ इन तीन मन्त्रों का देवता 'अश्विनौ' है, शेष मन्त्रोंका 'उषा' है। १६ वां मन्त्र 'अश्विनौ' पद से ही शुरू होता है, १७ वें मंत्र में भी वही पद देवतादर्शक है। क्या जिनका देवता अश्विनौ है, उसकी 'उषा' लिख मारना यह अशुद्धि नहीं है? क्या पं० ब्रह्मदत्तजी इन मन्त्रों की भी 'उषा' ही देवता मानेंगे, इसलिये कि अजमेरके वैदिक यंत्रालय में अवैदिक देवता लिख दी है।

सूक्त ९४ सूक्त का देवता 'अग्नि' लिखा है। परन्तु ८ वें मंत्र का देवता 'देवः' है और १३ वें मन्त्र के देवता 'मित्र-वरुण-अदिति-सिन्धु-पृथिवि-द्यौः' इतने हैं। इसी तरह आगे भी कई मन्त्रों में यही अन्तिम मन्त्र आता है, उसके इतने देवता हैं। कमसे कम एक स्थानपर तो इस मन्त्रके इतने देवता हैं, यह दर्शाना चाहिये था, जिससे आगे पाठक जहां यह मन्त्र आ जायगा वहां इसके अनुसंधानसे इसकी इतनी देवताएं हैं, ऐसा समझेंगे।

सूक्त १२१ की देवता 'विश्वेदेवा इन्द्रश्च' ऐसी लिखा है। परन्तु यहां देवता वैकल्पिक होनेसे 'विश्वे-देवा इन्द्रो वा' ऐसा होना चाहिये। 'च' और 'वा' में अर्थका भेद है। १२५ वें सूक्तका देवता 'दम्पती' दिया है, परन्तु यह अशुद्ध है। इस सूक्त में 'दानस्तुति' है। दम्पति देवता होनेपर मन्त्रमें द्विवचनी प्रयोग होना आवश्यक है, परन्तु वैसा प्रयोग इस सूक्त में नहीं है। इससे अधिक अनर्थकारी अशुद्धि हो नहीं सकती।

सूक्त १२६ की देवता 'विद्वांसः' लिखी है। यह अशुद्ध है। इस सूक्त के देवता '१-५ भावयव्यः, ६ रोमशा, ७ भावयव्यः' हैं। हां ये सब विद्वान् होनेसे इनको 'विद्वांसः' कहा, ऐसा कोई कह सकते हैं, परन्तु वैसा देखा जाय तो अग्नि इन्द्र भी विद्वान् हैं। सब देवताएं विद्वान् हैं 'विद्वांसो हि देवाः' इस कारण किसी देवताका नाम 'विद्वांसः' नहीं हो सकता और होगा ऐसा माननेपर भी देवताका पर्याय कभी देना नहीं चाहिए। संस्कृत में 'अग्नि' और 'वह्नि' ये परस्पर वाचक हैं, परन्तु वेदमें इनके अर्थ विभिन्न हैं।

सूक्त १३२ में केवल ' इन्द्रः ' देवता दिया है, परन्तु छठे मंत्र का देवता ' इन्द्रापर्वतौ ' चाहिये, इस देवता का दर्शक शब्द इस मन्त्र के प्रथम चरण में हि पडा है। सूक्त १३५ में ९ मन्त्र हैं, सबका देवता ' वायुः ' दिया है, परन्तु मन्त्र ४-८ इन छः मन्त्रोंका देवता ' इन्द्रवायू ' है, इसका पता इन मन्त्रों को देखनेसे स्वयं लग सकता है। इन मन्त्रों में दो देवताएं हैं, इसका सूचक शब्द ' इन्द्रवायू ' ५ वें मन्त्र में पडा है और प्रत्येक मन्त्र में द्विवचनी प्रयोग की क्रिया है।

यदि एक ही देवता है, तो द्विवचनी क्रिया की आवश्यकता कैसे और यदि द्विवचन की क्रिया है, तो एक देवता कैसे? पं० ब्रह्मदत्तजी इस विघटना को देखें तो सही। पं० ब्रह्मदत्तजीने मेरटकी सभा में जो घोषणा की, वह जोशमें आकर की, और अब असत्य को सत्य सिद्ध करने का भार उनपर आकर पडा है। पं० ब्रह्मदत्तजीने अपने आपको घोर विपत्ति में कारण के विना ही डाल दिया है।

सूक्त १४२ के १३ वें मंत्र में 'इन्द्रश्च' ऐसा लिखा है। यहां के ' च ' से इसकी देवता और एक है, ऐसा होता है, परन्तु इस मंत्रका देवता केवल ' इंद्रः ' ही है, अतः यहां ' च ' नहीं चाहिये।

सूक्त १५१ में ' मित्रावरुणौ ' देवता लिखा है, परन्तु इस सूक्त के प्रथम मंत्रका देवता केवल ' मित्र ' है और शेष सब मन्त्रों का ' मित्रावरुणौ ' है। यह बात मन्त्रों से स्वयं प्रकट हो सकती है। सूक्त १५५ का देवता ' विष्णुः ' लिखा है। परन्तु इस सूक्त के पहिले तीन मन्त्रों का देवता ' इन्द्राविष्णू ' हैं। शेष मंत्रोंका केवल ' विष्णुः ' है। पहिले तीन मन्त्रोंमें इंद्र और विष्णु का मिलकर वर्णन स्पष्ट है।

सूक्त १६२ का देवता ' मित्रादयो लिंगोक्ताः ' लिखा है, परन्तु इस सूक्तका और अगले सूक्तका ' अश्व ' देवता है। इस वै० यन्त्रालय मुद्रित ऋग्वेद में सूक्त १६३ का 'अश्व' देवता लिखा है, परन्तु १६२ सूक्त का भिन्न लिखा है। इस सूक्तका प्रथम मन्त्र ही इस प्रकार है-

वाजिनो......प्रवक्ष्यामो......वीर्याणि ॥

' हम घोडे के पराक्रमों का वर्णन करते हैं ' इस वर्णन से सिद्ध है, कि इसका देवता ' अश्व ' है। सब वर्णन इसी अश्वदेवता का है।

सूक्त १६५ में ' इन्द्रः ' लिखा है, वहां ' मरुत्वानिन्द्रः ' ऐसा होना आवश्यक है। सूक्त १६७ का ' इन्द्रो मरुश्च ' ऐसा देवता दिया है, इससे प्रतीत होता है सब सूक्त के ये देवता हैं। परन्तु वैसा नहीं। प्रथम मंत्रका केवल ' इन्द्रः ' देवता है और अन्य मंत्रोंका ' मरुतः ' देवता है। ऐसा स्पष्ट लिखना चाहिये। गोलमाल लिखनेसे कार्य नहीं चलेगा।

सूक्त १७१ का देवता ' मरुतः ' लिखा है, परन्तु यह देवता केवल प्रथम दो मंत्रोंका है, शेष मंत्रोंका देवता ' इन्द्रो मरुत्वान् ' है। यह बात मंत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। सूक्त १७९ का देवता ' दम्पती ' दिया है, परन्तु इसका देवता ' रति ' अथवा 'काम' है। सूक्त १८७ का देवता ' ओषधयः ' दिया है, परन्तु इसका देवता ' अन्न ' है। इसका सूचक ' पितुः ' शब्द प्राय प्रत्येक मंत्रमें है। सूक्त १८८ का ' आप्रियः देवता दिया है, परन्तु इसका स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। वह यह है-१ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, २ तनूनपात्, ३ इळः, ४ बर्हिः, ५ देवीर्द्वारः, ६ उषासानक्ता, ७ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ८ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, ९ त्वष्टा, १० वनस्पतिः, ११ स्वाहाकृतयः।

इतनी देवताओंके संघको ' आप्रिय ' कहते हैं। परन्तु कई सूक्तोंमें एकाध देवता कम होती है और कई सूक्तों में एकदो देवताएं अधिक भी होती हैं, इसलिये केवल ' आप्रिय ' कहनेसे काम नहीं हो सकता। इस अजमेरमुद्रित ऋग्वेद में कई स्थानोंपर ' आप्रं ' कहा है, कई स्थानोंपर ' आप्रियः ' कहा है, कई सूक्तों में ' आप्रि ' इतना ही लिखा है। परन्तु इन आप्रीसूक्तों में सर्वत्र समान मंत्र नहीं होते, कई सूक्तों में न्यूनाधिक भी मंत्र होते हैं, इसलिये प्रतिमन्त्र का देवता अलग अलग देना चाहिये। इस पुस्तक में एक दो स्थानोंपर समग्र देवगण दिया भी है, परन्तु अन्यत्र केवल ' आप्रं ' लिखा है। परन्तु पूर्वोक्त कारण से इतना पर्याप्त नहीं है।

इस प्रथम मण्डल में १९१ सूक्त हैं, इनमें २९ सूक्तों के देवता अशुद्ध हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता देखी जाय, तो और दसपंदरह अशुद्धियां मिल सकती हैं, परन्तु इतना

देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब द्वितीय मण्डल के देवता देखिये।

द्वितीय मण्डल ।

द्वितीय मण्डलके तीसरे सूक्त में 'अग्नि' देवता लिखा है, यह अशुद्ध है, यह आप्रीसूक्त है और इसके ११ मंत्रों के क्रमशः पूर्वोक्त आप्रीगण के ग्यारह देवता हैं। प्रत्येक मन्त्रका देवता भिन्नभिन्न है, ऐसा होते हुए भी सबका देवता 'अग्नि' लिखा है। यहां तो अशुद्धता की परम सीमा हो गयी है। यदि पं० ब्रह्मदत्तजी में धैर्य है, तो इस सूक्तका अग्निदेवता शुद्ध है, ऐसा सिद्ध करने का साहस करें।

प्रत्येक मन्त्रकी भिन्नभिन्न देवता है, यह हर कोई जान सकते हैं, क्योंकि यहां संदेह ही नहीं हो सकता। प्रत्येक मन्त्र में देवतावाचक शब्द है। इसलिये सबका अग्नि-देवता नहीं है। अब पं० ब्रह्मदत्तजी की सत्यप्रियता देखें, कि वे इस विषय में क्या लिखते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है, कि उनसे इस सूक्त का देवता अग्नि है, यह सिद्ध होना असंभव है।

सूक्त ३७ के देवता '१-४ द्रविणोदा, ५ अश्विनौ, ६ अग्निश्च' ऐसे लिखे हैं, इसके स्थानपर '१-४ द्रविणोदा ऋतवश्च, ५ अश्विनौ, ६ अग्निः ऋतुश्च' ऐसा चाहिये, अर्थात् दो स्थानोंपर ऋतु शब्द होना चाहिये था। यदि ऋतु शब्द की अपेक्षा नहीं, तो अन्त में चकार क्यों रखा है? परन्तु इतना देखनेवाला वैदिक यंत्रालय में कौन है? अब पं० ब्रह्मदत्तजी असत्य को सत्य साबित करनेके लिये कटिबद्ध हैं, अतः देखेंगे कि वे कितना साहस इस विषय में कर सकते हैं और वेद को कितना तोडना और मरोडना इनको पसंद है। सूक्त ४० का देवता 'सोमापूषणावदितिश्च' ऐसा लिखा है। इस स्थानपर १-५ 'सोमापूषणौ, ६ (अन्त्योऽर्धर्चः) अदितिः' ऐसा चाहिये। सोम, पूषा और अदिति ये तीनों देवताएं सब मन्त्रों की नहीं है, अन्य अर्ध ऋचाका ही अदिति देवता है, शेष मंत्रोंका सोम और पूषा।

इस द्वितीय मंडल में ४३ सूक्त हैं। इनमें केवल तीन सूक्तों में अशुद्धियां हैं। इस में अशुद्धियां बहुत नहीं हैं, परन्तु जो हैं, वह मार्के की हैं।

तृतीय मण्डल।

तृतीय मण्डल के चतुर्थ सूक्तमें केवल 'आप्रिय' देवता लिखी है, इसके ११ मंत्रोंके देवता प्रत्येक में भिन्न भिन्न हैं, वे अवश्य देने चाहिये। आप्रिय गण में १०, ११, १२, १३ इतने तक मंत्रसंख्या होती है और प्रत्येक मन्त्र की देवता अलग होती है। इसलिये केवल 'आप्रिय' कहनेसे इस सूक्त में मंत्र कितने हैं और न्यून वा अधिक देवता कौनसे हैं, इसका पता नहीं लग सकता। इसलिये ऐसे सूक्तोंके प्रतिमन्त्र देवता दर्शाना योग्य है।

आठवें सूक्तका 'विश्वेः देवा' देवता दिया है, परंतु इस में 'यूपः, विश्वे देवाः, व्रश्चन' इतने देवता हैं। वस्तुतः 'विश्वेदेवः' यह कोई देवता नहीं है। इस सूक्तके ८ वें मंत्रका देवता 'विश्वे देवाः' है। अन्य मंत्रोंका नहीं। परंतु इस स्थान पर सब मन्त्रोंका देवता ही विश्वे देवाः दिया है। विश्वे देवाः नामक कोई स्वतंत्र देवता नहीं है, अनेक देवतासमूहका यह नाम है। इस सूक्त में ८ वें मंत्रका देवता विश्वेदेवा है और इस मंत्रमें 'विश्वेदेवाः' शब्द 'आदित्याः, रुद्राः, वसवः, द्यौः, पृथ्वी, अन्तरिक्ष,' इन देवताओं के लिये आया है। प्रत्येक स्थान में 'विश्वे देवाः' से येही देव लिये जाते हैं, ऐसा नहीं। जो जिस मंत्र में नाम होंगे वे देव वहाँ लिये जायंगे। (विश्वे) सब (देवाः) देवता जो मंत्रोंमें कहे गये हैं, वे वहां लेने होते हैं। अतः जहां 'विश्वेदेवाः, लिंगोक्ताः' ऐसा लिखा होता है, वहां मंत्र में आये देवतावाचक शब्द लेकर उस स्थानपर देवता कौनसे हैं, इसका निर्णय करना होता है। वेदके पुस्तकों में यदि ऐसे स्थानपर ये सब देवता नहीं दिये, तो अलग सूची में भी देने चाहिये, जिससे सब को निश्चय हो जाय, कि इस मन्त्र में इतने देवता हैं।

२० वें सूक्तका देवता 'विश्वे देवाः' दिया है, परन्तु इस सूक्त के २-४ तक के तीन मंत्रोंका देवता 'अग्नि' है और प्रथम और पंचम मंत्रोंका विश्वदेवा देवता है। यहां विश्वेदेवा पदसे प्रथम मंत्रमें 'अग्नि, उषा, अश्विनौ, दधिक्रा, वह्निः,' इतने देवता हैं और पंचम मंत्रमें-- 'दधिका, अग्निः, उषा, बृहस्पतिः, सविता, अश्विनौ, मित्रावरुणौ, भगः, वसवः, रुद्राः, आदित्याः' इतने

देवता है। पाठक यहाँ देखें कि ' विश्वे देवाः ' इस पदसे कोई निश्चित देवता का बोध नहीं होता है। इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ४१५ देवताओंका बोध हुआ, तो पंचम मंत्रमें ११ देवताओंका बोध हुआ। अतः हर एक स्थानपर विश्वे-देवाका स्पष्टीकरण चाहिये, अथवा पाठक मंत्रसें उक्त देवता-नामोंसे स्वयं जानें। यह जानना सुगम है, क्योंकि मंत्रसें देवता के नाम हो आते हैं।

सूक्त २५ वें में ५ वें मंत्रका देवता ' इन्द्राग्नी ' लिखी है, वह ठीक नहीं। चतुर्थ मन्त्र का देवता 'इंद्राग्नी' है और शेष मंत्रों का देवता अग्नि है। सूक्त ३३ का देवता ' नद्यः ' लिखा है, परन्तु ४,८,१० इन तीन मन्त्रों का देवता ' विश्वामित्र ' और ६,७ इन दो मन्त्रोंका देवता ' इन्द्र ' है। ये देवता यहां दिये ही नहीं हैं। शेष मंत्रों का देवता ' नद्यः ' ठीक है। परन्तु पूर्वोक्त ५ मन्त्रोंका देवता जो भिन्न है वह क्यों नहीं दिया ?

सूक्त ६० का देवता ' ऋभवः ' लिखा है, परन्तु इस सूक्त के ५-७ इन तीन मंत्रों का देवता ' इन्द्र ऋभवश्च' ऐसा है, वह दिया नहीं है।

इस तृतीय मण्डल में ६२ सूक्त हैं, जिनमें ६ सूक्तों के देवता देनेसें इस तरह की अशुद्धि हुई है।

चतुर्थ मण्डल।

चतुर्थ मण्डल के प्रथम सूक्त के २-४ इन तीन मन्त्रों का देवता ' अग्निर्वा वरुणश्च ' ऐसा लिखा है। यहां ' वा ' और ' च ' का अर्थ क्या है ? वस्तुतः यहां ' वा ' नहीं चाहिये। ' अग्निः वरुणश्च ' ऐसा अथवा ' अग्नि-वरुणौ ' ऐसा होना चाहिये। ' वा च ' ये दोनों इकठे होनेसे कुछ भी अर्थ नहीं बनता है। ३ तीसरे सूक्त का देवता ' अग्नि ' लिखा है, परन्तु प्रथम मंत्र में ' रुद्र ' और होना चाहिये। प्रथमार्ध ही देखिये, वहां रुद्रपद देवतावाचक पडा है।

१३ वें और १४ वें सूक्तमें अग्निके साथ अनेक देवताएँ हैं, अतः उसका निर्देश होना चाहिये, जो १४ वें सूक्तमें तो किया है, परंतु १३ वें में किया नहीं हैं। दोनों स्थानोंपर अग्निः (लिंगोक्ता वा) ऐसा होना चाहिये। जो एक स्थानपर है और दूसरे सूक्तमें नहीं है।

१८ वें सूक्तका देवता ' इन्द्रादिती ' लिखा है, परन्तु इस का देवता- ' १ वामदेवः, २-४, ८-१३ इन्द्रः ' ४ (उत्तरार्धर्चः) वामदेवः ' है। इस सूक्त में किसी भी मंत्रका देवता ' अदिति ' नहीं है। हां ४ से ७ तक के मंत्रोंकी ऋषिका ' अदिती ' है, देवता नहीं। परन्तु यहां ऋषि ' वामदेव ' लिखा है और देवता ' अदिति ' लिख दिया है। ऋषिदेवताओं को उलटपुलट करने का क्या किसको अधिकार है ?

सूक्त २६ का देवता ' इन्द्रः ' लिखा है, वहां- ' १-३ इन्द्रः, आत्मा वा, ४-७ श्येनः' चाहिये। यही बात २७ वें सूक्तकी है। इसका भी देवता केवल ' इन्द्र ' लिखा है, परंतु- ' १—४ श्येनः, ५ इन्द्रो वा ' ऐसा चाहिये। देवताका सूचक श्येन शब्द प्रथम मंत्रमें स्पष्ट है तथा ३ और ४ मंत्रोंमें भी है।

सूक्त ४० में ' १—४ दधिक्रावा, ५ सूर्यश्च ' ऐसा देवता लिखा है। यहां ५ वें मंत्रका देवता ' सूर्यः ' है, इस कारण ' च ' नहीं चाहिये। चकार यहां रखनेसे दधिक्रा के साथ सूर्य ये दोनों देवताएँ इस एक मंत्र की हैं, ऐसा प्रतीत होता है। परंतु इस मंत्रका एक ही देवता है, दो नहीं।

४६ वें सूक्तका देवता ' इन्द्रवायू ' लिखा है। परंतु पहिले मंत्रका देवता केवल ' वायुः ' है। इसप्रथम मंत्रमें इन्द्रदेवता का कोई संबंध नहीं है। २ से ७ तक के ६ मंत्रोंका देवता ' इन्द्रवायू ' है।

इस चतुर्थ मण्डल में ५८ सूक्त हैं, जिन में ९ सूक्तों के देवता अशुद्ध हैं।

पञ्चम मण्डल।

पंचम मंडलके तीसरे सूक्तका देवता ' अग्निः ' लिखा है। परन्तु इस सूक्तके तीसरे मंत्रका देवता ' मरुत्-रुद्र-विष्णवः ' है। इन देवताओं के सूचक ये पद इस तृतीय मंत्रमें हैं। शेष मन्त्रोंका अग्नि देवता है। पांचवें मंत्र का ' आप्रं ' देवता लिखा है। एक स्थानपर ' आप्रिय, ' दूसरे स्थानपर ' आप्रं ' ऐसा लिखना अनुचित है और ऐसे सूक्तके प्रत्येक मंत्रका देवता अलग अलग दर्शाना चाहिये,

यह बात इससे पूर्व दर्शायी है । इसका हेतु वहां पाठक देखें ।

सूक्त २६ का देवता 'अग्नि' लिखा है। परन्तु ९ नवम मंत्रका देवता 'विश्वे देवाः' है। इस मंत्रमें– 'मरुतः, अश्विनौ, मित्रः, वरुणः' ये देवतावाचक शब्द पडे हैं और अग्नि तो इस मन्त्रमें है हि नहीं।

सूक्त ३० में 'इन्द्र ऋणंचयश्च' यह देवता लिखा है। इससे प्रतीत होगा कि इस सूक्त के सब १५ ही मंत्रों के ये दोनों देवता हैं। परन्तु– '१-११ इन्द्र, १२-१५ ऋणंचयइन्द्रौ' ऐसे देवता हैं। प्रथम के ११ मंत्रों में ऋणंचय का कोई संबंध नहीं है। १२-१३-१४ मन्त्रों में इन्द्र के साथ ऋणंचय का नाम स्पष्ट है।

सूक्त ४२ का देवता 'विश्वे देवा' लिखा है, परन्तु इस सूक्तके ११ वें मंत्रका देवता 'रुद्रः' है। शेष मंत्रों का देवता विश्वे देवा ठीक है। वास्तव में 'विश्वे देवा' देवता के प्रत्येक मंत्रके देवता अलग अलग दर्शाने चाहियें, जिसका हेतु हमने ऊपर दिया ही है। ५१ वें सूक्तका भी 'विश्वे देवा' देवता लिखा है, परंतु '५ वायुः, ४, ६-७ इन्द्रवायू' ये देवता इन मंत्रोंके हैं।

सूक्त ८३ में 'पृथ्वी' देवता लिखा है। परंतु इसका देवता 'पर्जन्यः' है। पर्जन्यदेवताका सूचक 'पर्जन्य' शब्द इस सूक्त के ७ मंत्रोंमें है और शेष मंत्रों में 'स्तन-यित्नु, वृष्टि' आदि शब्द भी पडे हैं। सूक्त में वृष्टि होनेका वर्णन है। सूक्त देखनेसे स्पष्ट प्रतीत हो सकता है, कि पर्जन्य ही इसका देवता होना चाहिये। परंतु वैदिक यन्त्रालय के ऋग्वेद में इसका पृथ्वीदेवता लिखा है। हम देखना चाहते है, कि पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु इस असत्यको सत्य किस तरह सिद्ध करते हैं।

पञ्चम मण्डल में ८७ सूक्त हैं, इन में ७ सूक्तों के देवता अशुद्ध हैं।

षष्ठ मण्डल ।

षष्ठ मण्डलके ७-८-९ इन तीन सूक्तों का 'वैश्वानर' देवता लिखा है, वहां 'वैश्वानरोऽग्निः' ऐसा होना आवश्यक है। २१ वें सूक्तका देवता केवल 'इन्द्र' लिखा है, परंतु इस सूक्तके ९ और ११ इन दो मंत्रों का देवता 'विश्वे देवाः' है। ९ वें मंत्रमें 'वरुणः, मित्रः, इन्द्रः, मरुतः, पूषा, विष्णुः, अग्निः, पुरंधिः, सविता, ओषधीः, पर्वतः' ये ११ देवता हैं।

सूक्त ४६ में 'इन्द्रः प्रगाथं वा' ऐसा लिखा है। यहां पाठक देखें कि 'प्रगाथ' यह देवता नहीं छन्द का यह नाम है। वही अशुद्धिसे देवता के साथ पडा है। और उस में अधिक अशुद्धि करने के लिये 'प्रगाथं वा' छापा है। इसका अर्थ यह होगा, कि इस सूक्त के सब मंत्रों का इन्द्रदेवता है अथवा प्रगाथदेवता है। परंतु यह भयानक प्रमाद है। इस सूक्त का देवता 'इन्द्र' ही है। प्रगाथ न इस सूक्त का देवता है और न किसी अन्य वैदिक सूक्तका प्रगाथ देवता होना संभव है, क्योंकि यह दो छंदों का मिलकर संयुक्त नाम है। पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु इस प्रगाथ को इस सूक्तका देवता सिद्ध करके बता दें। यदि इस अशुद्धि को ये शुद्ध सिद्ध करेंगे, तो वे अग्नि को जल भी सिद्ध कर सकते हैं। पं० ब्रह्मदत्तजी इस सूक्तको एक वार देखें और प्रगाथ के विषय में अपनी राय दें।

इस षष्ठ मण्डल में कुल सूक्त ७५ हैं, इन में ५ सूक्तोंके देवता देने में अशुद्धि हुई है।

सप्तम मण्डल ।

सातवें मण्डल के द्वितीय सूक्तका 'आप्रं' देवता है। इस के मंत्रों के अलग अलग देवता देने चाहिये। इसका हेतु पूर्व स्थलमें दिया है। सूक्त ४१ और ४४ में 'लिंगोक्ताः' देवता लिखा है। लिंगोक्ताः का अर्थ यह है, कि मन्त्र में जिस देवता का चिह्न दीखे, वह देवता वहां समझना चाहिये। इस तरह सूक्त ४१ के प्रथम मंत्रके देवता– 'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनौ, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्र' इतने देवता हैं। लिंगोक्त कहनेसे इतने देवता इस मंत्र में लेने हैं। इनको स्पष्ट रीतिसे लिखा होता, तो अच्छा होता। ४४ वें सूक्त की भी ऐसी हि व्यवस्था है। 'लिंगोक्त' शब्द ऐसा है, कि यह शब्द सभी सूक्तोंपर लिखा जा सकता है। इसका आशय मंत्रमें जिस देवतावाचक पदका दर्शन हो, वह देवता उसका समझना चाहिये। इस पदको जहां लिखा होगा वहां देवताविषयक अशुद्धि नहीं हो सकती। किसी किसी

सूक्त में 'विश्वे देवाः' भी पद ऐसाही सामान्य अर्थ सूचित करता है। इन सामान्यार्थक पदोंके कारण इस मंडलमें कोई अशुद्धि नहीं हुई है। परंतु स्पष्टता का विचार किया जाय तो इस मंडलमें भी अस्पष्टता की कई अशुद्धियां दिखाई देंगी।

सप्तममण्डलमें ऋषियों की भी अशुद्धि नहीं थी और देवताओंकी भी नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि जिस समय यह मण्डल छापा गया उस समय ठीक प्रकार शुद्ध करनेवाले पण्डित वैदिक यन्त्रालयमें थे। केवल इसी मण्डलमें ऋषि देवता की कोई अशुद्धि नहीं है। आगे नवम मण्डलमें भी देवताकी कोई अशुद्धि नहीं है क्योंकि संपूर्ण मण्डलमें एकही (पवमानः सोमः) देवता है, दूसरा कोई देवता नहीं है।

अष्टम मण्डल।

अष्टम मण्डलके छठे सूक्तमें देवतामें 'पारशव्य' लिखा है वहां पार्शव्य चाहिये। १७ वें सूक्त का देवता 'इन्द्र' लिखा है, परंतु इस सूक्तके १४ वें मंत्रका देवता 'वास्तोष्पति' है। इसी पदसे यह मंत्र शुरु होता है। १८ वें सूक्त के 'आदित्याः' ८ 'अश्विनौ' ९ अग्निसूर्यानिलाः' देवता लिखे हैं, इनमें ४,६,७ इन तीन मंत्रोंका देवता 'अदिति' और लिखना चाहिये था जो लिखा नहीं है।

सूक्त ५५ में प्रस्कण्वके साथ 'इन्द्र' भी एक और देवता लिखना चाहिये। इसी तरह ५६ वें सूक्तमें इन्द्र देवता और लिखना चाहिये। ६७ वें सूक्तमें 'आदित्याः' देवता है, इस में और १०-१२इन तीन मंत्रोंका 'अदिति' देवता देना चाहिये।

अष्टम मण्डलमें कुल सूक्त १०३ हैं, इनमें केवल छः ही अशुद्धियां हैं। नवम मण्डलमें देवताकी अशुद्धि होना असंभव ही है।

दशम मण्डल।

दशम मण्डलके २८ वें सूक्तका देवता 'इंद्र' लिखा है। परंतु इस सूक्तके २,६,८,१०,१२ इन पांच मंत्रोंका देवता 'वसुक्रः' है शेष मन्त्रोंका देवता 'इन्द्र' है। इसका ऋषि देनेके समय 'इन्द्रवसुक्रयोः संवादः' ऐसा लिखा है। इसका अर्थ यह है कि यह सूक्त 'इन्द्र और वसुक्र के संवादरूप है।' यदि ऋषि लिखते हुए यह माना है, तो इस सूक्तके कई मंत्र 'इन्द्र' देवताके और कई मंत्र 'वसुक्र' देवताके होना स्वाभाविक है। जिन मंत्रोंका ऋषि 'इन्द्र' है, उनका देवता 'वसुक्र' है और जिन मंत्रोंका ऋषि 'वसुक्र' है, उनका देवता 'इन्द्र' है। इन्द्रवसुक्रका संवाद माननेपर इसके देवता स्पष्ट होही जाते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी यहां वैदिक यन्त्रालयवालोंकी बडी असावधानी हुई है। वस्तुतः इस सूक्तके ऋषि देवता इस तरह लिखने चाहिये-

ऋषि- १ इन्द्रस्नुषा ऋषिका; २,६,८,१०,१२ इन्द्र ऋषिः ; ३,४,५,७,९,११ वसुक्र ऋषिः।

देवता- २,६,८,१०,१२,वसुक्रो देवता; १,३,४,५,७ ९,११ इन्द्रो दवता।

'इन्द्रवसुक्रयोः संवादः' का यह आशय है। मंत्र देखनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कौनसा मंत्र किस ऋषिका है और उसका देवता कौन है। संवाद हमेशा दो व्यक्तियोंमें हाता है, संवाद काल्पनिक हो वा सत्य हो, परंतु उसमें दो व्यक्ति होना आवश्यक है। एक व्यक्ति दूसरेसे बोलती है और दूसरी पहिलेसे। यहां इन्द्र और वसुक्र का संवाद है। इन्द्र वसुक्रके साथ बोलता है और वसुक्र इन्द्रके साथ। जिन मंत्रोंमें इन्द्र वक्ता है उनका ऋषि इन्द्र है और देवता वसुक्र है। जो मन्त्र वसुक्रके भाषणके हैं उनका ऋषि वसुक और देवता इन्द्र। इस तरहके संवाद वेदमें अनेक हैं और जहां ऐसे संवाद हैं वहां की व्यवस्था ऐसी ही है।

सूक्त ३२ का देवता 'विश्वे देवाः' लिखा है, परंतु यहां देवता है 'इन्द्र'। यहां 'विश्वे देवाः' का कोई लिंग नहीं है। विश्वे देवा गण स्वतंत्र है। किसी समय विश्वे देवाः का व्याख्यान करेंगे और बतायेंगे कि विश्वे देवमें किनकी गणना होती है। यहां 'इन्द्र' देवता स्पष्ट है क्योंकि पहिले दो मंत्रोंमें इन्द्र पद पडा है और शेष मंत्रोंमें इन्द्रकाही वर्णन है। अतः इसमें संदेह होना भी असंभव है।

८६ वें सूक्तका देवता 'वरुण' लिखा है, परंतु इसका देवता 'इन्द्र' है। इस सूक्तके हरएक मंत्रके अन्तमें 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' सब विश्वसे इन्द्र श्रेष्ठ है।

इतना होते हुए भी वैदिक यन्त्रालयवालोंने इसका देवता 'इन्द्र' न देते हुए 'वरुण' छापा है। क्या पं० ब्रह्मदत्तजी इसको भी सत्य सिद्ध कर सकेंगे?

१८३ वें सूक्तमें यजमानपत्नी–'होत्राशिषः' ऐसा देवता लिखा है, यहां 'यजमान-यजमानपत्नी-होत्राशिषः' ऐसा होना चाहिये। १८५ वें सूक्तका देवता 'अदिति' छापा है वहां 'आदित्याः' होना चाहिये। मंत्रमें 'अदितेः पुत्रासः' यह पद स्पष्ट है।

इस दशम मण्डलमें १९१ सूक्त हैं और इनमें छः अशुद्धियां हैं। यदि आप्री आदिके स्पष्टीकरण की अशुद्धियां गिनी जाय तो बहुत होंगी। छोटी छोटी अशुद्धियोंकी हमने यहां पर्वा नहीं की है, क्योंकी यहां केवल नमुना ही दर्शाना है।

ऋषिविषयक अशुद्धियां एकवार सही जा सकती हैं क्यों कि अर्थके मननके साथ उनका बहुत घनिष्ठ संबंध नहीं होता। परंतु देवता का संबंध तो अर्थ के साथ अत्यंत घनिष्ठ है, अतः देवता के संकेतमें कोई अशुद्धि होनी ही नहीं चाहिये। यदि इन्द्र के स्थानपर वरुण, वरुण के स्थानपर रुद्र देवता लिखा जाय तो अर्थ का अनर्थ होनेमें देरी नहीं लगेगी। ऋषिका निर्देश मंत्रोंमें क्वचित् होता है, परंतु बहुत ही सूक्तोंमें ऋषि–निर्देश नहीं होता। देवताका निर्देश तो प्रायः सभी सूक्तों में स्पष्ट होता है, कचित् कोई ऐसे सूक्त होंगे जहां देवताविषयक संदेह हो सकता है। देवता एक हो वा अनेक, उनका निर्देश मंत्रमें अवश्य होता ही है। क्वचित् अपवाद है, परंतु वे इस नियम की पुष्टिहि कर सकते हैं।

हम आगे किसी समयमें कौनसे ऋषि देवताओंके संकेत मंत्रोंमें हैं और कौनसे नहीं हैं, इसकी तालिका ही मुद्रित करेंगे। जिससे सुस्पष्ट रीतिसे अभ्यासकों को पता लग जायगा कि ऋषि देवता निश्चित हैं और उनमें अदलबदल करना अयोग्य है।

जब वेद मंत्र ही देवताओंको स्वयं दर्शाते हैं तो उसके विषय में किसको कैसा संदेह हो सकता है? वेदकी स्वतः-प्रमाणता देवताके निश्चित होनेमें ही है। वेद स्वतःप्रमाण इस लिये हैं कि उसमें निःसंदेह उपदेश है। 'अग्निमीळे पुरोहितं' इस मंत्रके देवताके विषयमें हि किसीको संदेह होगा, तो उसके लिये इस मंत्रकी स्वतःप्रमाणता किस काम की हो सकती है?

जो कहते हैं कि मंत्रों के देवता निश्चित नहीं, वे वेद को स्वतःप्रमाण होनेसे नीचे गिरा रहे हैं। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि 'अग्निमीळे पुरोहितं' इस मंत्रका देवता 'अग्नि' न होते हुए अग्नि से भिन्न दूसरा कोई माना जा सकता है? पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का यह कहना कि देवता अनिश्चित हैं और वे अर्थ करनेवाले की इच्छा से बदल सकते हैं, नितान्त अवैदिक, अनार्ष और अशास्त्रीय है।

'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः'

इस मंत्रका अर्थ यास्काचार्य यज्ञपरक करते हैं, महाभाष्यकार पतंजली वाक्परक करते हैं, आरण्यककार आत्मापरक करते हैं, परंतु इतना अर्थ भिन्न करनेपर भी इसकी देवताओं के संबंधमें किसी ने भी संदेह व्यक्त नहीं किया। इस सूक्त में 'अग्नि, सूर्य, आप्, गौ, घृत,' इन पांच देवताओं का निर्देश है। अतः जिस मंत्र में जिसका निर्देश है, उसकी वही देवता सब मानते हैं। इस सूक्त का ऋषि वामदेव गौतम और उक्त देवता, इतना सब के मतसे निश्चित है। आज तक किसी वेद–विचारकने जिस विषयमें संदेह किया नहीं उसी देवता–निर्णय के संबंध में पं० ब्रह्मदत्तजी ऐसा झगडा उत्पन्न कर रहे हैं कि जिससे कभी निर्णय हो ही नहीं सकेगा। और अन्त में वेदका अर्थ अनिश्चित हो कर वेद की स्वतःप्रमाणता नष्ट होगी। ऐसा न हो इसलिए प्राचीन ऋषि महर्षि मुनि और आचार्यों ने मंत्रों के ऋषि देवता और छन्दों का निश्चय किया है, मंत्रों के पदों का निश्चय किया है और वेद-मंत्रों का अक्षर भी आगे पीछे न हो इसलिये सब व्यवस्था उत्तम की है।

आज कल वेदकी छपाई में यदि कोई अशुद्धि होगी तो उसके सत्यासत्यका निर्णय प्राचीन व्यवस्था को देख कर हो सकता है। हरएक वैदिक धर्मी को उचित है

कि वह वेदको इस तरह अपने पास अति शुद्ध-रूपमें संग्रह करनेका यत्न करें।

अजमेरके वैदिक यंत्रालय में मुद्रित ऋग्वेद की ऋषि-विषयक अशुद्धियां हमने गतांक में दर्शाईं. देवताविषयक मुख्य मुख्य अशुद्धियां इस लेख में बतायीं, और अगले अंक में दर्शायेंगे कि छंदविषयक अशुद्धियां भी कैसी अनर्थकारी हैं और उसके आगे मंत्रोंकी अशुद्धियां भी बतायेंगे।

ऐसे लेख लिखनेकी हमें बिलकुल इच्छा नहीं है, परंतु पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु अवैदिक, अशास्त्रीय और अनार्ष हठ ठीक बता रहे हैं, इसलिए यह कार्य करना पडा है।

(क्रमशः)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) यजुर्वेद । विनाजिल्द .१॥) डा०व्य० ॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला । १ अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० एकादश काण्ड ,, २) ॥)
११ द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
१३ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १७ प्रत्येकका मू०॥) डा. व्य. =)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक । भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी। ॥।) ।)

(१०) यजु.अ.३६ शांतिका उपाय ॥=) =)

(११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला।
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ देवताविचार। ≡) -)
४ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक =) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) -)
३ वैदिक सभ्यता। ॥।) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा। ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
८ वेदमें चर्खा। ॥) ॥)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र। ≡) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)

(१५) उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद१) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
२ गीता-समीक्षा =) -)
३ गीता-लेखमाला १-२-३ भाग ॥) =)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) -)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र =) ।=)
6 Sun Adoration १)

श्रीवाल्मीकि रामायणमें आग्नेयास्त्र।

(लेखांक २)

[ले०- श्री० विष्णु दामोदरशास्त्री पंडित, ग्वालियर आर्मी ऑर्डिनेन्स (रिटायर्ड)]

हम पिछले लेखांक १ में दिखा आए हैं, कि रामायणमें आग्नेयास्त्रोंका उल्लेख कहां कहांपर पाया जाता है। अब हमें आगे इस बातपर विचार करना है कि इन आग्नेयास्त्रोंको प्रयोगमें लानेके साधन कौनकौनसे थे। अया आजकालकी तरह गाडियोंपर लादी हुई तोपें तथा हाथोंमें बर्ती जानेवाली बंदूकें थीं, या धनुष्यादि अन्य कोई साधन थे? इनमेंसे बंदूक जैसे शस्त्र उस समय हों ऐसा कमसे कम रामायणमें तो कहीं नहीं पाया जाता। अलबत्त, तोपें किलोंकी दीवारोंपर रखी जातीं थीं और वे निःसंदेह बडी होतीं थीं। परंतु इसके अलावा और भी बहुतसे यांत्रिक साधन मौजूद थे, जिनके द्वारा बडे बडे वजनदार बाण और पत्थर दूरीपर फैंके जाया करते थे, ऐसा स्पष्ट रूपसे जान पडता है। मारुति जब सीताका पता करके लंकासे वापस आया, तब उससे श्रीरामने जब पूछा तो उत्तरमें उसने लंकामें घूमघूमकर जो जो कुछ मालूम किया था, वह सब कुछ कह सुनाया। इसीको आजकल 'रिकनोइझन्स रिपोर्ट' कहते हैं। वहांपर मारुतिने लंकाके बंदोबस्तका वर्णन इस प्रकार किया है—

तत्रेषूपलयन्त्राणि बलवन्ति महान्ति च।
आगतं प्रतिसैन्यं तैः तत्र प्रतिनिवार्यते ॥१२॥
द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाः शिताः।
शतशो रचिता वीरैः शतघ्न्यो रक्षसां गणैः॥१६॥

अर्थात् लंकाके चार दिवारोंपर बडे बडे भारी पत्थर तथा बडे बडे वजनदार बाणोंको दूरतक फैंका जा सके, ऐसे ऐसे सैंकडों यंत्र रखे हुए थे। प्रत्येक दरवाजेपर बहुत बडी बडी भयंकर लोहेकी तोपें साफ करके रखी हुई थीं।

इस वर्णनसे उस समय तोपें तो थीं ही, परंतु उनके अलावा बडे भारी वजनदार पत्थर तथा भारी भारी बाणोंको दूरतक फैंकनेके लिए यांत्रिक साधन भी मौजूद थे, यह सिद्ध होता है। ये यांत्रिक साधन किस प्रकार के थ, इसपर अब विचार करना योग्य होगा।

इस संबंधमें विचार करनेपर ऐसा जान पडता है, कि किसी भी दशामें ये यांत्रिक साधन दो प्रकारकेही होने संभव हैं। एक प्रकार चाप (Liver) और दूसरा प्रकार बंदूकें तथा तोपें। इनमेंसे चापको हम धनुःशक्ति (Bow-force) ऐसा नाम देंगे, तथा बंदूक साधनको 'नलिकाशक्ति' (Barrel force)। रामायणके जमानेमें इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंका उपयोग किया जाता था, ऐसा ग्रंथमें आए हुए वर्णनसे दिखाई पडता है। इसवास्ते दोनों साधनोंमेंसे कौनसा साधन विशेष उपयुक्त है, इसका भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। हम इनमेंसे पहले 'नलिकाशक्ति' पर विवेचन करके तब 'धनुःशक्ति'के संबंधमें विचार करेंगे।

नलिकाओंके प्रकार।

पाश्चात्य शिल्पशास्त्रके नियमानुसार ये नलिकायें (Barrels) दो प्रकारकी होती हैं। एक वे, जो मुखसे भरी जाती हैं। अर्थात् जिनमें गोला सामनेसे भरा जाता है। + इस प्रकारकी तोपको

+ जो नियम तोपको लागू होता है वही नियम बंदूकको भी। इस वास्ते जो वर्णन तोपके संबंधमें दिया जा रहा है, वही बंदूकके संबंधमें भी समझना चाहिए। विशेष स्थानोंमें अधिक खुलासा किया जायगा।

' मझल लोडर ' (Muzzle Loader) कहते हैं। दूसरी तरह अर्थात् जिस तोपमें कार्तूस नलीकी जडके समीपसे भरा जाता है, वह है। उसे अंग्रेजीमें 'ब्रीच लोडर' (Breech Loader) कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी नलिकाओंके और भी दो प्रकार होते हैं। एक वह जिसमें नलिका के अंदर का भाग चिकना होता है। उसे ' स्मूथ बोअर ' (Smooth Bore) कहते हैं। दूसरा वह जिसमें नलीके अंदरके भागमें खास प्रकारकी कुण्डलिनी जैसी रेखायें होती हैं। उसे ' रायफल्ड बोअर ' (Rifled Bore) कहा जाता है। इन कुण्डलिनी के आकारवाली रेखाओंको ' ग्रूव ' (Groove) कहते हैं। इन ग्रूवका उपयोग यह है कि इनसे गोला विशेष सीधा व अभिप्रेत दिशामें जाता है। मझल लोडरका गोला जितना दूर जाता है, उसकी अपेक्षा ब्रीच लोडरका ज्यादा दूर जाता है और स्मूथ बोअरकी अपेक्षा रायफल्ड बोअरका गोला टारगेटपर भी अधिक ठीक (शुद्ध) लगता है।

मझल लोडर का गोला कम दूर जानेमें और ब्रीच लोडरका गोला अधिक दूर जानेमें तथा उसके अधिक शुद्ध लगनेमें कारण यह है कि—

मझल लोडरमें गोला मुंहकी ओरसे भरा जाता है। अर्थात् वह गोला नलीकी अपेक्षा आकारमें छोटा होना चाहिए। यानी नलिकाके अंदरके व्याससे गोलेका व्यास कम होना चाहिए। अन्यथा गोला नलीमें जा नहीं सकता। अर्थात् गोलेके बाहरके भागमें तथा नलीके अंदरके भागमें अत्यंत सूक्ष्म थोडासा अंतर रहता ही है। अतः उतनी जगह खाली रहती है। इसीको अंग्रेजीमें 'विन्डेज्' (Windage) कहते हैं। जब तोपको बत्ती लगाई जाती है,तब चेंबर (कोठी) की बारूद जलती है। उस समय उस बारूदकी एकदम गैस बनकर वह चेंबरमें चारों ओर जोरसे पसरती है। परंतु चेंबरमें गोलेके पीछेकी जगह बंद होनेसे उस ओर उस गैसको पसरनेके लिए स्थान नहीं मिलता। अतः वह स्वाभाविकतया उस रिक्त स्थानसे निकलने लग जाती है।

नलिकामें फैली हुई गैसकी गति गोलेकी अत्यंत अधिक होनेकी वजहसे बहुतसी गैस मार्गसे बाहर छटक जाती है और गोलेके भागपर दबाव डालकर उसे आगे धकेलनेके काफी कम गैस बाकी रह जाती है। इस गोलेको आगेकी ओर गति देनेके लिए जितनी शक्ति लगनी चाहिए उतनी नहीं इस कारणसे मझल लोडरका गोला ज्यादा दूर नहीं सकता। ब्रीच लोडरमें नलीके अं आकारकी अपेक्षा गोलेका आकार किंचित् होनेसे (गैसको विन्डेज न मिलनेसे) लोडरकी तरह ब्रीच लोडरमेंसे गैस गोलेसे छटक नहीं सकती। इस कारण गोलेके भागपर चेंबरकी गैसका पूरेपूरा दबाव प और इस वजहसे वह गोला अधिक दूर जा है। यही नहीं फिरसे मुंहकी ओरसे गोला नेकी अपेक्षा पीछेकी ओरसे गोला डालनेसे ही समय दरम्यान अधिक गोले चलाये जा हैं। यह लाभ तोपकी अपेक्षा बंदूकसे प्रमाणमें उठाया जा सकता है। क्योंकि बं पिछले हिस्सेमें नीचेकी ओर 'मेगे (Magazine) नामकी एक चपटी डिब्बी हुई होती है, उसमें एकही साथ ५-१० भरे जा सकते हैं और वे पूरे होनेतक बं दागना कायम रखा जा सकता है। परंतु प्रकार तोपमें नहीं किया जा सकता, तोपका गोला अत्यधिक बडा तथा भारी इसवास्ते उसमें एक साथ एकही गोला भ सकता है।

गोलेका तोपकी नलीके अंदरूनी भागपर परिणाम।

बत्ती लगानेपर चेंबरका बारूद जल और उसकी गैस बन जाती है। उस

आगेको धकेला जाता है। गोला बाहर निकलते हुए नलीके अंदरके भागसे रगड खाता हुआ बाहर आता है। इसवास्ते कुछ गोले चलनेके बाद अंदरके ग्रूव्ज मिट जाते हैं और वह नली स्मूथ बोअर जैसी हो जाती है। परिणाम यह होता है कि गोलेकी परिधिमें और नलीके अंदरके भागमें विंडेज् उत्पन्न हो जाता है और उसमेंसे बहुतसी गैस पहलेही निकल जानेके कारण गोला पहलेकी तरह उतकी दूर नहीं जाता। इसके अलावा ग्रूव्जके मिट जानेके कारण निशान भी उतना शुद्ध नहीं लगता। इनके अलावा नलीमें एक और भी दोष आ जाता है और वह यह कि प्रत्येक गोला छूटनेके बाद नलीकाके अंदर थोडा थोडा करके बारूद जमा होती रहती है। उसकी वजहसे गोलेको आगे जानेमें रुकावट पैदा होती है। इससे गोला वहीं रुका रहता है और गैसको बाहर जानेके लिए स्थान नहीं मिलता। ऐसी अवस्थामें कभी कभी नली फूट जाती है और उससे उलटा तोप या बंदूक चलानेवाले सिपाहीकोही मार लगनेकी संभावना बन जाती है। यद्यपि ऐसे प्रसंग अत्यंत थोडे ही आते हैं, तो भी तोपमें और बंदूकमें यह बडा भारी दोष है, यह माननाही पडेगा। ब्रीच लोडरमें कार्तूस बहुत जल्दी भरे जानेका लाभ अवश्य है, तथापि कुछ गोले या गोलियां चलाए जानेपर नली इतनी ज्यादा तप जाती है कि कार्तूस जल्दी जल्दी भरे जानेपर उन्हें जल्दी जल्दी चलाया नहीं जा सकता। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र भरे जानेका लाभ जितना मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता।

मझल लोडरमें पहला गोला चलाये जानेपर दूसरा भरा जाता है और वह चलाया जा कर तीसरा भरा जाता है। इस कारण यद्यपि ब्रीच लोडरकी तरह उसमें गोले जल्दी भरे नहीं जा सकते, तथापि प्रत्येक गोला नालीमेंसे छूट जानेपर दूसरेको उसमें भरने तक जो बीचमें समय लगता है, उतनेमें उस नलीको ठंडा होनेका अवकाश मिल जाता है। यही कारण है कि उसमें सहसा फायर बंद करनेकी नौबत नहीं आती। इसलिए कुल निश्चित समयके अंदर दोनों प्रकारकी नलिकाओंसे चलाए गए गोलोंका प्रमाण करीब करीब एकसाही पडता है। फिरभी नली गरम होनेतक 'रेपिड फायर' होनेसे ब्रीच लोडर द्वारा ही गोले या गोलियां अधिक मात्रामें चलाई जा सकती हैं। ब्रीच लोडरका यह फायदा कम महत्त्वका नहीं है। इसके सिवा ब्रीच लोडरका गोला अधिक दूर जाता है तथा उसका निशानभी ठीक बैठता है। इन बातोंमें ब्रीच लोडरका श्रेष्ठत्व स्वीकारनाही पडेगा।

मझल लोडरके गोलेका निशान ठीक ठीक न लगनेके कारण।

ब्रीच लोडरके गोलोंका आकार केलिबर (calibre) की अपेक्षा यानी नलीके अंदरके आयतन की अपेक्षा थोडासा बडा होनेके कारण, उसे नलीसे बाहर निकलनेतक नलीके अंदरके भागके साथ रगड खाते हुए आना पडता है। वह इधर उधर हिल नहीं सकता। इस वजहसे गोला तोपके मुखसे ठीक सीधा बाहर छूटता है। इसी वजहसे उसका निशानाभी ठीक शुद्ध लगता है। परंतु मझल लोडरका गोला केलिबरसे थोडासा छोटा होनेसे बाहर आनेतक वह नलीमें इधर उधर टकराता हुआ आता है। अर्थात् बाहर छूटते हुए उस नलीमें अंतमें जिस भागसे टकरा रहा होता है, उससे प्रतिकूल दिशामें वह बाहर जाता है। इससे मझल लोडरके गोले बराबर निशानेपर नहीं लगते। कभी बांई ओर जाता है, तो कभी दांई ओर। कभी जमीनपर टप्पा खाता है, तो कभी ऊपरसेही निकल जाता है।

बहुत बडे भारी गोले चलानेके लिए उसी प्रमाणसे तोपेंभी बडी बडी जबरदस्त बनानी चाहिए। गोलोंके भारके हिसाबसे बारूदभी उनमें अधिक भरनी चाहिए। परंतु इसका परिणाम यह होता है कि गैसके दबावके कारण तथा गोलेसे

घर्षणके कारण वे तोपें जल्दीही निकम्मी हो जाती हैं। सुनते हैं कि गत महायुद्धमें जर्मनीने अँट-वर्षके किलेपर जिस तोपद्वारा ३१ मनका गोला चलाया था वह तोप दोही गोले चलानेपर निकम्मी हो गई। उससे तीसरा गोला चलाही न सका। कहनेका तात्पर्य यह है, कि बहुत बडी तोपें ढालनेमें व उन्हें तयार करनेमें जितना खर्च लगता है, तथा जितना कष्ट पडता है और उनके लिए बडे बडे वजनदार गोले बनानेमें जो श्रम व खर्च होता है, उसके मुका-बलेमें उन तोपोंसे जितने प्रमाणमें कार्य होना चाहिए उतना बिलकुल हो नहीं पाता। यही नहीं, अत्यंत बडी तोपें फील्ड आर्टिलरी के भी बिलकुल उपयुक्त नहीं साबित होतीं। इस तरह अबतक नलिकाशक्तिके गुणदोषके संबंधमें सामान्य तया विचार हुआ।

धनुःशक्तिके संबंधमें विचार।

नलिकाशक्तिके संबंधमें हमने ऊपर थोडासा सामान्य विचार किया। अब धनुःशक्ति (Liver-force के संबंधमें विचार करेंगे। धनुषके लिए बारुद की जराभी जरुरत नहीं होती, इसलिए नलिकामें उससे होनेवाले दोषोंकी इसमें बिल-कुल संभावना नहीं। अर्थात् नलीका ज्यादा तप जाना, उसमें गोलीके अटक जानेसे गैस के लिए रुकावट का पैदा होना, नलीके फूट जानेसे उसको चलानेवाले सिपाहीके जीव जानेकी संभावनाका भय जैसा कि बंदूक या तोपसे बना रहता है, धनुषमें होनेकी बिलकुल संभावना नहीं। यह सच है कि कभी कभी हाथमेंही धनुष टूटनेकी संभा-वना बनी रहती है। परंतु इससे चालकको जराभी नुकसान नहीं हो सकता। परंतु बंदूककी गोली गैसकी शक्तिसे जितनी दूर जा सकती है, उतनी दूर बाण जा नहीं सकता। बंदूककी गोलीकी शक्ति बारूदकी गैसकी शक्तिपर अवलंबित रहती है-जब कि बाणकी गति धनुष व उसको चलानेवाले की शारीरिक शक्तिपर अवलंबित होती है। अर्थात् धनुष जितना अधिक शक्तिमान् होगा व उसे चलाने वालाभी जितना अधिक शक्तिमान् होगा, बाण भी उसी प्रमाणसे उतना अधिक दूर जा सकेगा। परंतु बंदूकमें ऐसा नहीं होता। उसे चाहे कोई शक्तिशाली पहेलवान चलावे अथवा कोई छोटीसी लडकी चलावे। उसकी गोली उसी वेगसे उतनेही अंतर पर जा पडेगी। बाणको दूरसे दूर फैंकना धनुष्य और उसको चलानेवाले की शारीरीक शक्तिपर अवलम्बित होनेसे कभी बंदूककी गोलीसेभी अधिक दूर बाण का जाना संभव हो सकता है। परंतु धनुष व उसको चलानेवालेकी शक्ति सर्वत्र समान होनी संभव नहीं, अतः बंदूककी गोलीकीसी बाणकी गति भी सर्वत्र समान नहीं हो सकती।

सौ बंदूकवाले सिपाही एक पंक्तिमें खडे करके उनसे एकही पटर्नकी बंदूकोंद्वारा एकसमान एलि-वेशन दिलवाकर गोलियां चलवाई जांय, तो वे समान गतिसेही जायंगी और एकसी दूरीपरही जाकर पडेंगी। परंतु यदि उन्हीं सिपाहियोंको एक-समान शक्तिके धनुष देकर उनसे एकसे वजनके बाण चलवाए जावें तो उन बाणोंकी न तो समान गतिही होगी और नहीं वे एकजितनी दूरीपरही जाकर गिरेंगे। क्योंकि चाहे धनुष एक शक्तिके हों तोभी प्रत्येक सिपाहीकी अपनी शारीरिक शक्ति एकसी नहीं हो सकती। यही नहीं प्रत्येक सिपाही प्रत्येक बाणको समान वेगसे चलाभी नहीं सकता। अर्थात् सामूहिक दृष्टिसे धनुषकी अपेक्षा समरां-गणमें बंदूक-शस्त्र विशेष उपयोगी साबित होता है।

वीरकी शक्ति।

भारतीय युद्धके समयतक बहुत करके प्रत्येक धनुर्धर साधारणतया अच्छा शक्तिसंपन्न-घोडे जितनी ताकतवाला और कोई कोई तो हाथीके समान बली होता था। इसवास्ते वह अत्यंत शक्ति-शाली धनुषभी चला सकता था और आजकलके

रायफलसे भी ज्यादा दूर बाणको फैंक सकता था। साधारण प्यादा सिपाही धनुष हाथमें पकडे हुए ही बाण चलाता था। वह रथीके समान भारी भारी बाण फैंक नहीं सकता था। तो भी वह सिपाही उपरोक्त वर्णनानुसार बलिष्ठ होनेसे वह आजकालके "वन पौंडर' गोलियों जितने भारी बाण बडी आसानीसे अभिलषित दूरीपर फैंक सकता था।

रथी अर्थात् रथमें बैठकर युद्ध करनेवाले योद्धाके हाथके धनुषका तो उपयोग करते ही थे पर उससे भी ज्यादा ताकतवाले धनुषका भी उपयोग करनेकी शक्ति रखते थे। बडी बडी शक्तिवाले धनुष रथके खंभोंसे बंधे रहते थे। रथी अपने दोनों हाथोंसे उनकी प्रत्यंचा खींचकर बडे बडे तोपके गोलोंके सदृश वजनदार बाण अत्यंत दूरीपर फैंक सकते थे।

धनुष का दोष।

तथापि धनुषमें एक दोष है और वह यह कि प्रतिपक्षीके बाणकी मारसे धनुषके टूटनेकी संभावना सदा बनी रहती है। इस प्रकारके अनेक धनुषोंके बीचही में टूटनेका उल्लेख भी अनेक स्थानोंपर देखनेको मिलता है। उसी तरह शत्रुकी ओरसे छोडा हुआ गोला तोपकी नलीपर अथवा गाडीपर गिरनेसे तोप भी निकम्मी हो सकती है। उसमें भी यदि वह तोप ढलवें लोहेकी (Cast iron) बनी हुई हो, तो तो बुरी हालत ही हो जाती है। बात यह है कि तोपकी गाडी ढलवें लोहेकी बनी हुई होनेसे उसपर गोला गिरते ही वह टुकडे टुकडे हो जाती है और वे टुकडे चारों ओर जोरसे उडते हुए उलटा शत्रुके गोलेके कार्यमें मददरूप हो जाते हैं। अर्थात् उस तोपके समीप खडे हुए अपनेही सिपाहियोंके विनाशका कार्य करते हैं। परंतु यदि तोपकी गाडी लकडीकी बनी हो, तो इस प्रकारकी दुर्घटना नहीं घट सकती। क्योंकि उस गाडीके जिस जिस भागपर शत्रुके गोलेका प्रहार होता है, वह वह भाग लकडीका होनेसे या तो पिचक जाता है, या उतना हिस्सा टूटकर अलग हो जाता है। उसके टूकडे चारों ओर नहीं उडते। इसवास्ते चारों ओरके आदमियोंको भी उससे आघात नहीं पहोंचता। सिर्फ उतनी वह तोपही निकम्मी होकर रह जाती है।

तोपोंका दोष।

तोप और बंदूकके लिए बारूद चाहिए। बारिशकी वजहसे या और किसी कारणसे यदि कहीं बारूद गीली हो गई तो फिर उसका जलना ही कठिन हो जाता है। इस वजहसे तोप और बंदूक व्यर्थ हो जाती हैं। इसके अलावा तोप और बंदूकसे उसी केलिबरकी गोलियां चलाई जा सकती हैं। उनमें थोडासा भी अदलबदल हुआ तो वे तोपें तथा बंदूकें व्यर्थ साबित होती हैं। परंतु धनुषमें बाणके छोटे मोटे फर्कसे कुछ नहीं बिगडता। तोपों और बंदूकोंका तैयार करना और उनके लिए बारूद तथा गोले बनाना, यह सब कार्य अत्यंत कष्ट व खर्चेके होनेके साथ साथ उनमें बहुत समय लगता है और जानके खतरेका अंदेशा बना रहता है। इस दृष्टिसे बाण आदिका निर्माण अत्यंत थोडे कष्टका, कम खर्चका और थोडेसे समयमें होनेवाला, तथा बनानेवालेकी जिन्दगीके लिए किसी भी प्रकारके खतरेका अंदेशा नहीं। इन ऊपरोक्त अनेक कारणोंकी वजहसे प्राचीनकालमें युद्धमें धनुष्यको ही मुख्यता दी गई थी, ऐसा जान पडता है।

तोप और बंदूकके पीछे रह जानेमें एक और भी कारण मालूम पडता है और वह यह कि उस जमानेमें आग्नेयास्त्रोंके सर्व प्रयोग धनुषकी मददसे सुगमतया बिना किसी खतरेके हो सकते थे। साथही साथ उस समय आधिदैविक अर्थात् मंत्रदेवता के अस्त्रविद्यापरभी पूर्ण प्रभुत्व होता था। इस कारण उस समय तोप व बंदूककी विशेष आवश्यकता अनुभव न की गई। परंतु आगे चलकर भीष्म पितामहके शिक्षणसंबंधी किए गए परिवर्तनके कारण अन्य विद्याओं और कलाओंकी तरह शस्त्रास्त्रविद्या भी ब्राह्मणोंके हाथसे निकल गई और उससे मंत्रदेवतात्मक अस्त्रविद्या

तो नष्ट हो ही गई, पर ब्राह्मणोंके साथका संबंध भी टूट जानेसे शास्त्रपराङ्मुखता बढ गई और भौतिक अस्त्रविद्यामें भी क्षत्रिय प्रगति न करने पाए। प्राचीन कालमें यद्यपि तोप व बंदूकें थीं, पर उक्त कारणोंसे वह प्रगति न हो पाई थी, जो कि आज पाश्चात्य जगत् ने कर दिखलाई है।

भीष्मपितामह के इस शिक्षणविषयक परिवर्तन का दुष्परिणाम आगे आनेवाली जनताके लिए बडा भारी हानिकर सिद्ध हुआ। उससे गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्यपालन को पद्धति नष्ट हो गई। जिससे भरतखंड की प्रजा हीनवीर्य होती चली गई। उसकी शारीरिक शक्ति दिनोदिन घटती गई। ज्यों ज्यों शारीरिक शक्तिका ह्रास होता गया, त्यों त्यों केवल शारीरिक शक्तिपर अवलम्बित धनुषभी पीछे पडता चला गया और तोप तथा बंदूक आगे आने लगीं। तिसपर पाश्चात्य सुधारणा के कारण बंदूक और कार्तूसकी पेटी अंगपर बांधना, धनुष और बाण के भारे को पीठकर उठाए उठाए फिरने की अपेक्षा अधिक सीमित व हलका होनेसे धनुष का व्यवहार सर्वदाके लिए बन्द पड गया।

इस प्रकार नलिका और धनुष के गुणदोषों के सम्बन्ध में संक्षेपसे विचार हुआ। उसपरसे प्राचीन काल में धनुष को ही मुख्यता क्यों दी गई थी और तोप व बंदूक में विशेष सुधार क्यों नहीं हो सका था, उसी तरह अर्वाचीन कालमें धनुष का व्यवहार सर्वथा क्यों बंद हो गया और तोप तथा बंदूक को आगे चलकर कैसे मुख्यता दी गई, इत्यादि सब कुछ ध्यान में आ गया होगा।

अब हमें आगे यह विचारना है कि धनुष के पीछे रह जानेपर तथा सिर्फ तोप व बंदूक के आगे आ जानेपर युद्धपद्धति में क्या क्या क्रान्ति हुई और उस क्रान्तिसे दुनियापर क्या क्या बुरे या अच्छे परिणाम हुए ?

आग्नेयास्त्रोंसे हानि ।

आग्नेयास्त्रों का धनुष की मदद से किंवा तोप या बंदूक की मदद से किया जानेवाला प्रयोग पर्याप्त नुक्सान करनेवाला है। तो भी जब से बंदूक व तोपें आगे आई हैं, तबसे युद्ध में बहुत करके आग्नेयास्त्रों का ही प्रयोग सर्वसामान्य हो गया है। धनुष के जमाने में ऐसा हो न सकता था। इसमें दो कारण हैं। एक तो यह कि जिस प्रकार धनुष से आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया जा सकता है, ठीक उसी तरह उससे सामान्य बाण भी छोडा जा सकता है। इस वजह से प्राचीन कालमें युद्ध में आजकल की तरह सिर्फ आग्नेयास्त्रों की भरमार न रहती थी। पुनः जो कुछ आग्नेयास्त्रों का प्रयोग होता भी था, तो उसपर खूब अच्छा नियंत्रण (Control) होता था। अर्थात् यदि अमुक संख्या में शत्रुसैन्य हो, तोही अमुक शस्त्र का प्रयोग किए जाने की आज्ञा होती थी। उससे कम संख्या में सैन्य होनेपर यदि उस शस्त्र का प्रयोग किया, तो ब्रह्माण्ड दग्ध हो जायगा, या उसका प्रयोगकर्ता मारा जायगा। इस प्रकार के निमंत्रण रखने का हेतु स्पष्ट दीखता है। जिस अस्त्र की शक्ति जितना सैन्य संहार करनेकी होगी, उससे कम सैन्य पर वह छोडा जानेपर उसकी अवशिष्ट शक्ति में विद्यमान विषारी रासायनिक पदार्थ वायुमण्डल में मिलकर रोगादिक फैलाकर, वे अन्य जनता के नाश का कारण बनेंगे। अतः यह सब कुछ न हो, तदर्थ अस्त्रों का संचालन सिर्फ वेदविद्याव्रतस्नात यानी जिन्होंने गुरु के गृह में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए विद्या संपादन की है, ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रिय कुमारों को ही सिखाया जाता था। क्योंकि सेनापति यानि ऑफीसर इन्हीं ब्राह्मण और क्षत्रिय कुमारों में ही होते थे। वे अच्छे सुशिक्षित और विचारवान् होने की वजहसे अस्त्रों का दुरुपयोग न हो, इस विषय में पूर्ण ख्याल रखते थे। वे अपनी जबाबदारी को अच्छी तरह समझते हुए ऊटपटांग स्थानोंपर अस्त्रप्रयोग करते न थे।

बाकी के सामान्य सिपाहियों के पास आजकलकी तरह आग्नेयास्त्र (बंदूक और पिस्तौल) नहीं होते थे। उनके पास सादे धनुषबाण, ढालतलवार, भाला-बरछी, इत्यादि सामान्य शस्त्र ही होते थे। राक्षस

भी इस नियम का पालन करते थे। श्रीराम के साथ राक्षसों के जो युद्ध हुए हैं, उन सबमें राक्षस रथी (ऑफिसर्स) के पास ही धनुष्यबाण और आग्नेयास्त्र थे। यह बात दण्डकारण्य के युद्धों में खर-दूषण व त्रिशिरा के पास ही विद्यमान धनुषबाण से और आग्नेयास्त्रों से तथा राम-रावण-युद्ध में भी सिर्फ राक्षस रथी तथा महारथीयों के पास ही धनुषबाण तथा आग्नेयास्त्र होने के वर्णन पर से सिद्ध है।

ये नियंत्रण धार्मिक स्वरूप के थे। उन का धर्म-शास्त्रों में भी समावेश कर दिया जानेसे सब उन का अत्यन्त आस्था के साथ पालन किया करते थे। परन्तु रणक्षेत्र में अस्त्रप्रयोग के सम्बन्ध में कितना भी नियंत्रण क्यों न रखा जाय, तो भी उनके द्वारा संसार में होनेवाले अनर्थ सर्वथा टालने संभव नहीं। क्योंकि अस्त्रप्रयोग का मुख्य हेतु "दूरनिपातन" यानी (Long-range Fire) लॉंग रेंज फायर और थोडे से प्रयास से शत्रु का यथासंभव अधिक संहार करना ही है। ये दोनों बातें तभी साध्य हो सकती हैं, जब कि युद्धपद्धति को रसायनशास्त्र का सहयोग दिया जाय। यही एकमात्र साधन है।

रणक्षेत्र में रसायनशास्त्र का प्रवेश।

रणक्षेत्र में रसायनशास्त्र का मुख्य रूप से प्रवेश पहले पहल बंदूक की बारूद से प्रारम्भ हुआ, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। आगे चलकर जैसे जैसे अधिकाधिक खोज होती गई और अधिकाधिक सुधार होता चला गया, त्यों त्यों लॉंग रेंज फायर (Long-range Fire) को विशेष महत्त्व मिलता गया। बहुत दूरीपर स्थित शत्रु का भी नाश कैसे किया जाय, इस बात की खोज की ओर रसायन-शास्त्रज्ञों का जोर से प्रयत्न होने लगा। परन्तु इस प्रयत्न ने संसार को विशेष विपत्तिमें डाल दिया। यदि ये प्रयत्न समय पर ही रोक नहीं दिए गए, तो इस से भी अधिक भयंकर विपत्तिका सामना करना होगा। जिस जिस प्रमाण में अधिकाधिक दूरीपर गोले फैंकनेकी कला उत्तरोत्तर हस्तगत होती जायगी, उस उस प्रमाण में युद्धकी मुद्दत और युद्ध का क्षेत्र भी बढता चला जायगा। क्योंकि लडती हुई फौजें सदा इस प्रयत्न में रहेंगी कि वे किसी भी तरह प्रतिपक्षी के गोलों की पहुंच से बहार (out of the range) रहें। इस प्रकार उत्तरोत्तर दोनों सैनाओं में अन्तर बढता जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि दोनों ओर से किए गए अस्त्रप्रहार से उनके बीच के प्रदेश की निरपराध जनता, उसके घरदार, पशुपक्षी, खेतीवाडी, आदि तमाम का निष्कारण विनाश होगा। व्यापार बन्द पड जायगा। दुनिया के नित्य व्यवहारों में खलल पहुंचेगा। अकाल, रोग, महामारी के फैलावे के साथ साथ तमाम दुनियाके विनाश की कारणीभूत यह शोध बनेगी। यही नहीं वह स्वयंभी इसीके साथ नष्ट हो जायगी।

लॉंग रेंज फायर (Long-range Fire) जबसे अस्तित्व में आई है, तबसे युद्ध में भाग लेनेवाले योद्धाओंकी अपेक्षा उस युद्ध से जिन का कोई वास्ता नहीं, ऐसे गरीब निरपराध प्रजाजनों का तथा उनकी मालमत्ता का नाश होने की संभावना बढ रही है। यह बात, गत महायुद्धके समयमें तथा उसके बाद फैले हुए इन्फ्ल्युएन्झा आदि महारोगों की उत्पत्ति से हुई हुई बडी भारी जनहानि ने प्रत्यक्ष सिद्ध कर दी है। भयंकर अस्त्रों के प्रयोग से हितकी अपेक्षा राष्ट्र का सब तरह से अहित ही अधिक होता है. यह देखकर हमारे पूर्ण दूरदर्शी, प्रजाहितैकदक्ष व दयालु ऋषि-महर्षियोंने ऐसे ऐसे भयंकर अस्त्रों के प्रयोग का निषेध करनेके लिए कडक नियम बनाकर उन्हें धर्म-शास्त्र में प्रविष्ट कर रखा है। इस का कारण स्पष्ट ही है कि व्यापार तथा खेती करनेवाले व्यापारी और कृषक वर्ग, उनके पशुजनावर, घरदार तथा अन्य निरपराध प्रजाजन को किसी भी तरह से उनसे नुकसान न पहुंचे।

युद्ध में प्रत्यक्ष भाग लेनेवाले तो उस में खप ही जायंगे, परन्तु पीछे बचे हुए उनके सगेसम्बन्धी तथा अन्य प्रजाजन तो बचने ही चाहिए। युद्ध का मुख्य हेतु प्रजाजनों का सर्वनाश करना नहीं, प्रत्युत

जितनाभी कमसे कम संहार हो सके और अनेक प्रजाजनों को सुखशांति का लाभ मिल सके, यही है। किंबहुना राष्ट्र के सुखके लिए व शांति के लिए ही युद्ध में प्रवृत्ति है, ऐसा कहना अयोग्य न होगा। इसवास्ते यदि थोडेसे लोगों की बलि देनेसे बहुतोंका निश्चित रूपसे हित सधता हो, तो ही कुशल मन्त्री युद्ध का उपक्रम करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। अस्तु।

रणक्षेत्र में अस्त्रद्वारा रासायनिक द्रव्यों का प्रयोग करने के कारण विषैले पदार्थ वायु में जा मिलते हैं। उनसे वायु दूषित होनेसे ज्वरादि उत्पन्न होकर सर्वत्र फैलते हैं। उनके कारण जिन विचारोंका युद्ध से सीधे तौर पर कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे लोगों को किस तरह से कैसी कैसी यातनायें भोगनी पडती हैं, इस विषयक थोडासा यहांपर उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इस विषयक यह इतिहास पुरानी पीढीके लोगों के कण्ठस्थ 'प्रातः स्मरामि' के एक श्लोकमें इस प्रकार बताया गया है-

रणप्रवरदानवव्रजविमुक्तशस्त्रास्त्रज
व्रणप्रजनितव्यथाविधुरवासवाराधितौ।
स्फुरद्गुरुतरज्वरप्रचुरतिग्मतापार्दित-
प्रजाश्रित-पदांबुजौ सततमश्विनौ संस्तुमः ॥१॥

इस का भावार्थ यह है कि- बडे बडे रणधुरंधर दानववीरोंद्वारा फैंके गए शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से हुए हुए जख्मोंकी बडी भारी पीडा से मुक्त करने-वाले और उन अस्त्रप्रयोगों के कारण उद्भूत बडे बडे भयंकर ज्वरोंके असह्य दाहोंसे मृत्युके मुखमें पडती हुई प्रजाने जिनके पदांबुजोंका आश्रय लिया है, अर्थात् रोगमुक्त होनेके लिए प्रजा जिनके शरणमें गइ हुई है ऐसे; और इस प्रकार दुःखित प्रजाको उक्त शस्त्रास्त्रजन्य व्यथासे मुक्त करने के कारण इन्द्रने जिनका सन्मान किया है, ऐसे उन अश्विनीकुमारों की हम स्तुति करते हैं।

इस श्लोक के वर्णनपरसे अत्यन्त प्राचीन कालमें हमारे भरतखण्डमें भी देवदानवोंके युद्धमें दानवों की ओर से किस प्रकार से सायंसका उपयोग किया जाता था और उसकी वजह से जिन्हें युद्धसे कोई मतलब नहीं, ऐसे प्रजाजनों को भी कैसी पीडा भोगनी पडती थी, यह स्पष्टतया ज्ञात होता है।

दानवोंकी ओरसे ही देवोंके सैन्यपर ऐसे प्रयोग किए जाते थे, ऐसी बात नहीं है। देवोंकी ओर से भी किसी प्रकार की कसर बाकी नहीं रखी जाती थी। इस बातका नीचे दिए हुए इतिहास से खुलासा हो जायगा।

यह इतिहास पालकाप्य ऋषिप्रणीत उन्हींके नाम से प्रसिद्ध हस्तिआयुर्वेद ग्रंथमें महारोगस्थान नामक आठवें अध्यायमें दिया हुआ है। वह इस प्रकार है।

देवानां दानवानां च युद्धमासीत् सुदारुणम्।
तत्र देवा न तिष्ठन्ति दानवानां समाहवे ॥ १॥

देव और दानवों का भयंकर युद्ध शुरू हुआ। उस में देव दानवों के सामने ठहर न सके।

ततो विश्वेश्वरं देवं नीलकण्ठं वृषध्वजम्।
ईशानं सर्वदेवानां वरदं शरणं गताः ॥ २॥

प्रभवं सर्वभूतानां विष्णुं च पुरुषोत्तमम्।

तब सब देव मिलकर देवोंके स्वामी शरणागत को वर देनेवाले वृषभध्वज नीलकण्ठ की तथा सर्व भूतोंके उत्पादक पुरुषोत्तम विष्णु की शरण में गए। तब—

तौ देवौ सूर्यसंकाशौ क्रुद्धौ परमदारुणौ ॥ ३॥

दानवानां विनाशाय रुद्रः स्म सृजति ज्वरम्।
द्वितीयं सृष्टवान् विष्णुः प्रज्वरं घोरदर्शनम् ॥ ४॥

सूर्यतुल्य तेजस्वी वे दोनों देव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने दानवोंके विनाशके लिए रुद्रने ज्वरको उत्पन्न किया तथा विष्णुने प्रज्वर को।

तौ सृष्टौ अग्निसंकाशौ दैत्यानीकं विचेरतुः।
ज्वरश्च प्रज्वरश्चोभौ कालांतकयमोपमौ ॥ ५॥

रुद्रनारायणमयौ दिव्याग्निरिव दारुणौ।
अग्न्यशनिसमस्पर्शौ ब्रह्मलोकेप्यनुत्तमौ ॥ ६ ॥

वे उत्पन्न किए हुए अग्निके सदृश्य जलनेवाले, साक्षात् काल व यमके समान, रुद्र और नारायण

के जैसे तेजस्वी, अग्नि और वज्र के समान स्पर्श-वाले ज्वर और प्रज्वर दैत्यसेनामें विचरण करने लगे।

न शक्यं असुरैः स्थातुं मुहूर्तमपि संयुगे ॥ ७ ॥

उस समय वे असुर देवोंके सामने युद्धमें क्षणभर भी ठहरनेके लिए समर्थ न हो सके।

कृशा विवर्णाः शिथिला मुक्तायुधरथध्वजाः।
वेपमाना विमनसो निरुत्साहाः सुदुःखिताः॥
भयार्ता मरणत्रस्ताः ब्रह्माणं समुपस्थिताः॥

उन ज्वरोंसे पीडित हुए हुए, अस्थिचर्मशेष, तेजोहीन, हाथमें से शस्त्र और ध्वजायें गिर रही हैं, रथमेंभी बैठने में असमर्थ, थरथर कांपते हुए, उद्विग्न हुए हुए, हिम्मत हारे हुए, अत्यन्त दुःखी और मरनेके भयसे घबराए हुए दानव ब्रह्मदेवकी शरण में गए। और-

प्रसीद भगवन् देव त्रातुमर्हसि सुव्रत।
रुद्रनारायणावेतौ संहरन्तौ तु दानवान् ॥ १६ ॥

कहने लगे कि हे भगवन्! ये रुद्र और नारायण के समान ज्वर और प्रज्वर हम दानवों का संहार किए डालते हैं। आप उनसे हमारी रक्षा कीजिए।

क्रुद्धौ परमदुर्धर्षौ तेजसा महतो भृशम्।
भगवन् गतिरस्माकं गतिरन्या न विद्यते ॥ ३७ ॥

ये दोनों महान् तेजस्वी और अतिशय क्रोधी होनेसे दुःसह हैं। उनसे आपही बचा सकते हैं। आपके सिवाय हमारी और कोई गति नहीं।

स एवमुक्तो भगवान् सर्वलोकपितामहः।
दानवानाह सुप्रीतः स्वस्थीभवत विज्वराः ॥ १८ ॥
ज्वरमुक्तास्तु ते सर्वे प्रणेमुः शिरसा प्रभुम् ॥

इस प्रकार प्रार्थना करनेपर उस सर्वलोकपितामह ब्रह्मदेवने प्रसन्न होकर दानवोंको 'स्वस्थ होओ!' ऐसा आशीर्वाद दिया। तब वे सब दानव ज्वर-मुक्त हो गए और उन्होंने प्रभुको नमस्कार किया।

तौ तु कालांतकसमौ ज्वरौ संहरतः प्रजाः ॥१९॥
प्रसृतौ व्यसृजन्नाशु जंगमस्थावरेषु च।
रुद्रनारायणमयौ कोपाग्निरिव दारुणौ ॥ २० ॥

वे रुद्रनारायणस्वरूप, कालांतकसमान और भडके हुए अग्निके समान भयंकर दोनों प्रकारके ज्वर प्रजाओंका संहार करने लगे। तब ब्रह्मदेवने उनका स्थावरजंगम पदार्थोंमें सत्वर ही विसर्जन कर दिया।

उपर्युक्त लेखपरसे अति प्राचीन कालमें भारतीय आर्य शत्रुओंका नाश करनेके लिए रणक्षेत्रमें रसायन-शास्त्रका उपयोग किस तरह से करते थे और उससे युद्धमें जिनका वास्तविक संबन्ध नहीं, ऐसी निरपराध व निरुपद्रवी प्रजा किस तरह संकट सहन करती थी, उनकी संपत्तिका किस तरह विनाश होता था, उसकी अच्छी तरह कल्पना आ सकती है।

तात्पर्य यह है कि युद्धपद्धति को रसायनशास्त्र की मदद हमारे भरतखण्ड में बहुत प्रचीन काल से दी गई है। इस बातकी सत्यता रामरावणके युद्धमें प्रत्यक्ष है। तथापि रणक्षेत्र में रसायनशास्त्रका उपयोग करने से राष्ट्रकों लाभ की अपेक्षा नुक्सान ही अधिक है, यह निर्विवाद सिद्ध है। यह बात ध्यानमें आनेपर हमारे परमपूज्य दयालु ऋषियोंने उसके लिए निषेधात्मक नियम बनाकर उसपर पूर्ण नियंत्रण रखा है।

पाश्चात्य राष्ट्रों के ध्यान में भी अब यह बात आ रही है। युद्धों में सायन्स के उपयोग पर नियंत्रण डालनेके सम्बन्ध में भी विचार उनके दिलों में उठने लगे हैं।

इस प्रकार रामायणस्थ आग्नेयास्त्रों के निमित्तसे प्राचीन भारतीय आर्यों का रसायनशास्त्रसम्बन्धी ज्ञान कितनी उच्च कोटितक जा पहुंचा था और उस ज्ञान का उपयोग रणक्षेत्र में अस्त्रों के द्वारा कुशलतापूर्वक करते थे, यह ख्याल में आता है। उसी प्रकार रणक्षेत्र में रसायनशास्त्र के प्रयोग में कितनी भी सावधानता क्या न की जाय, तो भी उस से अन्त में राष्ट्रपर होनेवाले दुष्परिणामों से बचा जाना संभव नहीं, यह भी स्पष्टतया दिखाया।

इन दुष्परिणामों से बचने का एकमात्र साधन

अगर हो तो वह यह कि युद्धक्षेत्र में रसायनशास्त्र का प्रयोग सर्वथा बन्द कर दिया जाय। इस के सिवाय और कोई उपाय नहीं। यह सब ध्यान में आनेपर ही हमारे यहां प्राचीन कालमें इसके प्रतिकूल धार्मिक नियंत्रण डाले गए थे। भारतीय युद्धके समय 'कूटास्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, सिर्फ सामान्य बाणोंसे ही युद्ध किया जाय!' इस प्रकार नियम उभय पक्षद्वारा शुरु में ही बना दिया गया था। जबतक पाश्चात्य राष्ट्र भी इस प्रकार के नियंत्रण नहीं बनाएंगे, तबतक इस आपत्तिसे राष्ट्रका बचाव भी नहीं हो सकेगा। यही नहीं, बल्कि उनसे संबंधित अन्य राष्ट्रों के भी नाश में कारणीभूत बनेंगे। यह हम ऊपर कह आए हैं। श्रीराम उन्हें बुद्धि दें।

इस से अगले लेखमें रामायण के जमाने में अस्त्रों के अलावा अन्यत्र भी रसायनशास्त्र का प्रयोग किस तरह से करते थे, यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे।

इति शम्।

गायत्री कामधेनु है।

(लेखक- पं० तडित्कान्तजी वेदालङ्कार, आफ्रिका)

(लेखांक २)

पुरश्चरण--विधि।

मन्त्रतन्त्रशास्त्र में मन्त्रसिद्धिके लिए पुरश्चरण, मन्त्रसिद्धि, आदि अनेक प्रकार बताए गए हैं। मन्त्रसिद्धि क्या चीज है, इसकी वैज्ञानिक ढंगसे आगे चलकर व्याख्या की जायगी। मन्त्रसिद्धि के नाम से भडकने की जरूरत नहीं।

जो कुछ तांत्रिक-मांत्रिक ग्रन्थों में तन्त्रमंत्रके संबध में लिखा हुआ मिलता है, उस का हमारे इस लेख से कोई सम्बन्ध नहीं। उन के विषय में कुछ लिखना या कहना हमारे ज्ञानसे बाहर है। हमारा यहां मन्त्र-सिद्धि से गायत्रीमन्त्रसिद्धि से हि अभिप्राय है। फिर भी हम साधारणतया मन्त्रसिद्धि से जो कुछ अभिप्राय समझ सके हैं, उसका विस्तृत खुलासा आगे चल कर किया गया है। आशा है पाठक उससे सहमत हो सकेंगे।

यही बात हमें 'पुरश्चरण' के विषय में भी कहनी है। मांत्रिकों ने 'अभिषेक, मन्त्र जगाना' आदि अनेक छोटीमोटी क्रियाओं को 'पुरश्चरण' में शामिल किया है। स्वामी शंकराचार्यने भी 'गायत्री-पुरश्चरणपद्धति' में इसी प्रकार का बहुत कुछ लिखा है। वह ठीक है, या गलत है, उसके विना गायत्री सिद्ध हो सकती है या नहीं, इत्यादि विवादग्रस्त बातों में हमें उतरने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। कोई कहते हैं कि गायत्री विना पुरश्चरण के भी सिद्धिप्रदा है, तो कोई कहते हैं, कि उसका शापोद्धार पाठ किए बिना तथा अंत में गायत्री कवच-पाठ किए विना सिद्धि नहीं होती। अस्तु। हम 'पुरश्चरणविधि' अर्थात् गायत्रीमन्त्र का जप करने से पूर्व करने की, निम्न लिखित ८ विधियां आवश्यक समझते हैं। यही 'गायत्री' का वास्तविक 'पुरश्चरण' है।

(१) ब्राह्म मुहूर्त में उठना। (२) स्नान। (३) निश्चित स्थान। (४) निश्चित समय। (५) आसन। (६) प्राणायाम। (७) गायत्रीमन्त्र का शुद्ध उच्चारण। (८) अर्थ।

(१) ब्राह्म मुहूर्त में उठना- गायत्रीमन्त्र के जप करनेवाले के लिए तो यह खास आवश्यक है।

वह सूर्योदय से पूर्व कमसे कम १ घण्टा पहले उठे। वैसे तो दीर्घायुष्य चाहनेवाले तथा सुन्दर स्वास्थ्य के अभिलाषक मनुष्यमात्र को ब्राह्म मुहूर्त में ही शय्या-त्याग करना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् उठनेवालों के शरीर में आलस्य कितना अधिक ठूंस ठूंसके भरा रहता है, इस का भी प्रायः सभी को अनुभव मिलही चुका होगा। ब्राह्म मुहूर्त का समय इस प्रकार से समझना चाहिए।

रात्रेश्च पश्चिमे भागे मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विख्यातो विहितः संप्रबोधते॥

(२) स्नान- स्नान की आवश्यकता के विषय में लिखना फजूल है। स्नानकी जरूरतको हरकोई समझता है। स्नान से शरीरशुद्धि के साथ साथ चित्त को शांति मिलती है। शरीर की अशुद्धता तथा आलस्य दूर हो जाते हैं, जिससे चित्त को एक खास प्रकार उमंग व शांति मिलती है, जिसका कि हरेक को रात-दिन अनुभव मिलता रहता है। शुद्ध देह और साफ वस्त्रों का प्रभाव मन पर बहुत अधिक अच्छा पडता है। अतः शौचादि नित्य कर्म से निबटकर स्नान कर लेना चाहिए।

(३) निश्चित स्थान- गायत्रीमन्त्रका ध्यान करनेवालेके लिए यह परम आवश्यक है, कि वह मन्त्रजप और ध्यान आरम्भ करनेसे पूर्व एक ऐसा निश्चित स्थान ढूंढ ले कि जहां किसी प्रकार की गड-बड, शोरशराबा या किसी प्रकार की अशांति जिससे कि चित्त के विक्षिप्त होनेका अन्देशा हो, दुर्गंध, अपवित्रता, मलिनता न हों। रोज इसी निश्चित स्थानपर ही गायत्री का ध्यान करना चाहिए।

निश्चित स्थानका बडा भारी महत्त्व है। जो मनुष्य नित्यप्रति समाजमन्दिर या ऐसे ही अन्यत्र धार्मिक स्थलों में इच्छा या अनिच्छासे आता-जाता है, उसपर उस स्थलका प्रभाव पडे विना नहीं रह सकता। स्मशान को देखकर जो कल्पना पैदा होती है, वह मन्दिर को देखकर नहीं। पाठशाला या खेलने के मैदान को देखकर विद्यार्थी या खिलाडी के दिलमें जो भावना पैदा होती है, वह उन स्थानोंका ही प्रभाव है। एकांत स्थल में मनमें जो भाव आते हैं, वह वस्तीवाले गिचमिच स्थानमें नहीं आते। एक विदेश या दूर देश से लौटे हुए आदमी को जो अपने स्थान पर पहुंचकर आनन्द व शांति अनुभव होते हैं, उसे कौन नहीं जानता? यह है स्थान का प्रत्यक्ष महत्त्व।

किसी सदाचारी सज्जन को शहर के उस भागमें रोज १५-२० मिनिट चक्कर लगा आनेके लिए कहिए, जहां कि वेश्यायें अपना उदर-निर्वाह करने के लिए चरित्र को बेचती हुई तरह तरह की चेष्टायें करती हैं। कुछ दिनों बाद उस सज्जन से पूछिए कि उस स्थानका आपके मनपर क्या प्रभाव पडा? आप को स्पष्ट पता चल जायगा, कि स्थानका कितना अधिक प्रभाव होता है। यही सब कुछ सोच विचार कर हमारे प्राचीन ऋषिमुनियोंने गुरुकुल जैसी संस्थाओंको जंगलों में एकांत शांत स्थानोंपर निर्माण करनेका आदेश किया था।

वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय, तो पता चल सकता है, कि इस स्थान के प्रभाव की जडमें भी वही विचारशक्ति कार्य कर रही है। उपरोक्त स्थानोंमें नित्यप्रति जानेवाले अनेक मनुष्योंके मनों में से उसी तरह के नाना प्रकार के विचार पैदा होकर उस वायु-मण्डल को वैसा ही बनाए रखते हैं। वहांके मकान, उनकी दिवारें तथा तमाम सामान पर और सब तरह के पदार्थोंपर वे विचार आच्छादित हुए हुए से रहते हैं। और जब कभी कोई नया मनुष्य वहां पहुंचता है तो वह भी उन विचारों का फौरन शिकार बन जाता है। उन विचारों के समूह के सामने इस की कुछ वश नहीं चलती। वहां के विचार उसके विचारों को धीरे धीरे अपने स्वाधीन कर लेते हैं और अन्तमें वह भी वैसा ही बन जाता है। ये सब बातें ऐसी स्पष्ट और अनुभवगम्य हैं, कि हम अगर ध्यानपूर्वक इनका निरीक्षण करते रहें तो हमारे रोज के जीवन में पदपद पर यह सब होता हुआ दिखाई देगा।

समाजशास्त्र में सदाचार, धर्म, नीति, सत्संग, अहिंसा, सत्याचरण, संस्कार आदि जो जो नियम व बन्धन बनाए गए हैं, उन सबका उद्देश्य भी मनुष्य की इस विचारधारा पर विशेष नियन्त्रण रखना ही है। यह विचारधारा ही मनुष्य को देव और राक्षस बनाती है।

किसी भी खास कार्य की सिद्धि के लिए निश्चित स्थान रखने से उस स्थानपर पहुंचते ही हमें उक्त कार्य का विशेष रूपसे ख्याल आ जाता है। हमारे पहले दिन के विचार जो कि उस स्थान की दीवारों तथा अन्य वस्तुओंपर जमे हुए होते हैं, वे हमारे मनके नवीन उत्पन्न होनेवाले विचारों से मिलकर दिन प्रतिदिन मनको दृढ-संकल्प बनाते रहते हैं। अन्त में जाकर यह दृढ संकल्प कार्य को आसान कर देता है। कार्य सफल सिद्ध हो जाता है। यह है स्थानका माहात्म्य जो विचारों का नित्यप्रति संग्रह करता रहता है।

(४) निश्चित समय- निश्चित समय रखनेका यह फायदा है, कि ऐसा करनेसे आदत पड जाती है। वह समय आते ही उस कार्यका ख्याल हो आता है और तत्संबंधी तमाम प्रकार के विचारों का वायुमण्डल बनने लगता है। इस स्थितिसे हमें चित्त एकाग्र करने में पर्याप्त सहायता हासिल होती है। उस समय के गुजरते ही कुछ समय बाद वे विचार चले जाते हैं। यहांतक कि फिर उस दिन उस बात का ख्याल भी नहीं आता। अतः समय की पाबंदी से इस असाधारण लाभ को उठाने में जरा भी विलंब करना अपने हाथों आया हुआ अवसर खो देना है।

इसका यूं अनुभव लिया जा सकता है। आप रोज रोज समय बदल बदल कर ध्यान का अभ्यास करिये। तत्पश्चात् १५ दिन एक ही नियत समयपर अभ्यास करिए। आपको स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि समय समय बदल बदल कर अभ्यास करते हुए चित्त की विक्षिप्तता बहुत अधिक बढ गई थी। यहां तक कि प्रयत्न करनेपर भी मन मुश्किल से काबू में आता था। जब कि नियत समयके दिनोंमें अपेक्षाकृत पर्याप्त कम शक्ति खर्च करनी पडती थी। अब आप सोचिए, कि सिर्फ समय की पाबंदी से आपकी कितनी ज्यादा शक्ति का क्षय होता हुआ बच गया? समय का दुनियामें बडा महत्त्व है। थोडेसे विलंब से दुनिया के राजसिंहासन उलट गये हैं, ऐसा हमें इतिहास बता रहा है। फ्रांस का प्रसिद्ध नेपोलियन बोनापार्ट उसके एक सेनापति के सिर्फ ५ मिनिट की देरी से जन्मभर की कमाई खो बैठा। अंग्रेज जाति का हमारे पर प्रभुत्व भोगनेमें एक कारण 'समय-पालन' भी है। हमारे प्राचीन ऋषिमुनियों ने इस समय की कीमत को पहचाना था।

(५) आसन- आसन से दो प्रकार के आसन का अभिप्राय है। (१) नीचे बिछानेका, (२) लगानेका।

(अ) नीचे बिछाने के लिए ऐसा आसन प्रयुक्त करना चाहिए, कि जो न बहुत नर्म हो और न बहुत सख्त हो। इस के लिए मृगचर्म, व्याघ्रचर्म या कुशासन का प्रयोग किया जा सकता है। नीचे की सर्द जमीन से बचना चाहिए। आसन दुर्वाहक होना चाहिए। आसन को दुर्वाहक बनाने के लिए लकडी के तख्तेका उपयोग करना अच्छा है। आसन साफ और सुथरा होना चाहिए। स्थान खूब ही स्वच्छ हो।

(आ) उपरोक्त आसन पर सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन या कोई भी सुखकर आसन लगाकर बैठना चाहिए। आसन लगाकर बैठने में दो बातें विशेष रूप से ध्यान में रखनेलायक हैं। सबसे पहले यह ख्याल रखना चाहिए कि कोई भी सुखकर आसन लगाकर बैठते हुए शरीर सीधा रहे। रीड की हड्डी झुकी हुई न हो। शरीर बहुत तना हुआ न रहे। शरीर को शरीर ढीला रहे, पर झुकना नहीं चाहिए। शरीर को अगर बैठने में किसी भी प्रकार की असुविधा मालूम हुई तो फौरन चित्त उस ओर लग जायगा। सिद्धासन और पद्मासन लगाकर बैठनेका यही अभिप्राय

होता है, कि इनसे शरीर की स्थिति खुदबखुद वैसी हो जाती है, जैसी कि होनी चाहिए। सिद्धासन और पद्मासन के और भी बहुत से फायदे हैं, जिनका यहां वर्णन करना अभिप्रेत नहीं। अतः सिद्धासन या पद्मासन से बैठने का अभ्यास कर लेना ज्यादा अच्छा है। पद्मासनसे भी सिद्धासन ज्यादा अच्छा है। इस प्रकार असन लगाकर अनायास बैठने का अभ्यास चित्तनिरोध में अत्यधिक सहायक है।

(६) प्राणायाम– रीतसर आसन लगाकर बैठने पर सबसे प्रथम प्राणायाम करना चाहिए। कमसे कम तीन प्राणायाम तो जरूर करने चाहिए। प्राणायाम करने से श्वास की गति धीरी पड जाती है, जिससे मन शांत होता है। प्राणायाम ध्यान के लिए अच्छेसे अच्छा साधन है। श्वास की गति कम करने के लिए यही अबतक निश्चित साधन उपलब्ध हुआ है। मनुस्मृति में लिखा है कि–

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थात् जैसे अग्निमें तपाने से धातुओंके मल जल कर भस्म हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से शरीरस्थ धातुओंके मल नष्ट होकर शरीर निर्मल हो जाता है।

शरीर निर्मल होनेसे चित्तवृत्तियां स्वयं ही कछुए की अंगोंकी तरह संकुचित होने लग जाते हैं और इस प्रकार चित्त निर्व्यापार होकर शांत हो जाता है। प्राणायाम का विस्तृत वर्णन, उसके सिद्धांत आदि बहुतसी बातें प्राणायामके स्वतन्त्र लेखही में लिखने का प्रयत्न किया जायगा। यहांपर इतनाही निर्देश पर्याप्त है। गायत्री के साधक के लिए कमसे कम ३ प्राणायाम नितांत जरूरी हैं। इससे अधिक जितने भी किए जायंगे, उतना विशेष और शीघ्र लाभ होगा। 'अधिकस्याधिकं फलम्'।

(७) गायत्रीमन्त्रका शुद्ध उच्चारण– गायत्री–मन्त्र को शुद्ध रूपसे बोलना किसी भी विद्वान् से सीख लेना चाहिए। मन्त्रोच्चारण करते हुए उसके वर्ण तथा शब्द स्पष्ट स्पष्ट मुखसे निकलने चाहिए। मनमें जपते हुए भी प्रत्येक वर्ण व शब्द स्पष्ट रूपसे भासमान होने चाहिए। यह कार्य विशेष कठिन नहीं है। बिलकुल थोडेसे प्रयत्न से किया जा सकता है।

(८) गायत्रीमन्त्र का अर्थ– गायत्रीमन्त्र का ध्यान करते हुए उसके अर्थपर गंभीरतासे विचार किया जाता है। वस्तुतः बिना अर्थज्ञानके कोई विशेष लाभ नहीं। अर्थज्ञान का कितना महत्त्व है, इसको दर्शाते हुए निरुक्त १।१८ में लिखा हुआ है कि–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

अर्थात् जो वेद पढ कर के भी उसके अर्थ को नहीं जानता, वह वास्तव में उस पेडकी तरह वेदका बोझा उठा रहा है, जिसे अपने फल फूल आदिके महत्त्व का कुछ भान नहीं। इसके विरुद्ध जो अर्थों का जाननेवाला है, वह कल्याण को प्राप्त होता है। वेदके ज्ञानसे सर्व पाप नष्ट होकर वह स्वर्ग को प्राप्त होता है। ऐसे ही ऋ० मं० १० सू० ७१ मन्त्र ४ में लिखा है कि–

उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

अर्थात् जो अर्थोंको नहीं जानता, वह देखता हुआ भी न देखते के बराबर है। सुनता हुआ भी न सुनते के बराबर है। परन्तु जो वेदार्थोंका ज्ञाता विद्वान् है, उसके आगे यह वेदवाणी अपने को ऐसा खोल देती है, जैसा कि पति की इच्छा करती हुई पत्नी अपने शरीर को पतिके सामने खोल देती है।

अर्थ का महत्त्व स्पष्ट है। अतः जैसा कि हम ऊपर विस्तार से दे आए हैं, उस प्रकार पहले पहल गायत्रीमन्त्र के शब्दार्थ तथा भावार्थ को खूब अच्छी तरह से समझ ले, ताकि ध्यान करते हुए शब्दार्थ स्वयं स्पष्ट होते जांय। शब्द का उच्चारण

होते ही उसका अर्थ सामने आ खडा होना चाहिए, ऐसी तैयारी हो जानेपर समझना चाहिए कि अब अर्थ आ गया ।

यह है संक्षिप्त पुरश्चरणविधि या मन्त्र जगाना । मूर्तिपूजक लोग और मांत्रिकों में ऐसी पद्धति और विश्वास है, कि जबतक मूर्ति या मन्त्र को जीवित न कर लिया जाय, तबतक वे फलप्रद नहीं होते। अर्थात् वे जड वस्तु को इन क्रियाओं द्वारा चेतन बनानेका प्रयत्न करते हैं। मूर्तिपूजक उस विधिको प्राणप्रतिष्ठा करना कहते हैं और मांत्रिक उसे ' पुरश्चरणविधि ' कहते हैं। दोनों ही की विधियां अलग अलग हैं, पर अभिप्राय एक ही है।

इसी प्रकार तन्त्रों में मन्त्रशुद्धि के लिए ' भ्रामण, रेचन, वश्य, पीडन, शोषण, पोषण, दहन ' ये सात उपाय तथा छिन्नादि दोषशान्ति, सेतुनिर्णय, भूत-शुद्धि आदि अनेक उपाय लिखें हैं, जिन सब का अभिप्राय चित्तपर एक ऐसा प्रभाव संस्कार डालना है, कि जिससे वह शीघ्र एकाग्र हो सके। क्योंकि चित्त की एकाग्रतापर ही सफलता विशेष निर्भर है।

गायत्रीमन्त्र या वेदमन्त्रोंके ध्यानकर्ता के लिए इन सब गहराईयों में उतर कर झंझटों में पडने की जरूरत नहीं। हम जो ऊपर पुरश्चरणविधि लिख आए हैं, मन्त्रचैतन्य के लिए वही पर्याप्त है।

जपसंख्या व जपप्रकार।

गायत्री के जप करनेवाले कि लिए आवश्यक है कि वह—

मनः संहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानसः ।
न द्रुतं न विलंबं च जपेन्मौक्तिकपङ्क्तिवत् ॥

अर्थात् मन को तमाम विषयों से हटाकर शांत चित्त से एकाग्र हुआ गायत्रीमन्त्र के अर्थ में चित्त पिरोता हुआ मोतियों के दानों की तरह शुद्ध पृथक् पृथक् परन्तु एकसर होकर मन्त्र को न जल्दी और नहीं धीरे, जप करे।

इसके साथही साथ यह भी ख्याल रखना उतनाही जरूरी है, कि नियमित रूपसे संख्या के साथ जप करना चाहिए। यह जप की संख्या दो तरह से ख्याल में रखनी होती है। एक तो यह, कि नित्यप्रति एक हजार जप कमसे कम करने चाहिए। इसके लिए एक घण्टे से सवा घंटा समय लगता है। रोज जपकी संख्या एक सी ही करनी चाहिए। किसी दिन एक हजार तो किसी दिन पांच सौ या पंद्रह सौ करना ठीक नहीं। ऐसी अनियमितासे चित्त विक्षिप्त हो जाता है। दिनमें दो वार सुबह शाम भी जप किया जा सकता है।

दूसरी बात रोजकी जपसंख्या को जोडते हुए याद रखना चाहिए। संख्या रखने से यह लाभ होता है, कि गायत्रीमन्त्रका जाप प्रारंभ करनेके बाद कितनी संख्यापर जाकर क्या फल हुआ, इसका निश्चित पता चल सकता है। जपकी निश्चित संख्या समाप्त होनेपर उसके दशांश से हवन करने का विधान है, अतः हवन करनेकी संख्या का ख्याल रहता है। संख्या ख्यालमें रहनेसे मनको उत्साह भी दिनोंदिन बढता रहता है। ऐसी ही बहुतसी बातोंकी दृष्टि से जपसंख्या स्मरण रखना नितांत जरूरी है।

गायत्रीमन्त्र के जपकी निश्चित संख्या २४ लाख बताई गई है। कुछ लोगोंने उसे बढाकर कलियुगके लिए ४ गुणा अधिक अर्थात् ९६ लाख ठहराई है। उससे उतरकर एक लाख। उससे उतरकर १८ हजार। और सबसे कम १०८ वार।

इन संख्याओंके बारे में कुछ निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। यह सब साधक की अपनी तैयारी पर विशेष रूपसे निर्भर है। किसीको बहुत शीघ्र परिणाम नजर आता है, तो किसी को पर्याप्त विलंबसे। परन्तु आता अवश्य है। इस जाप-विधि को हम योग के ४ मार्गों में से चौथे व सबसे उत्तम परन्तु अत्यन्त धीमे ' पिपीलिकामार्ग ' में शामिल कर सकते हैं। पिपीलिका अर्थात् कीडी (चिऊंटी) की तरह इस मार्ग के साधक की अत्यन्त

धीमी गति होती है, परन्तु वह स्थिर और आवश्य फलप्रद होती है। नित्य नियमपूर्वक एक हजार जाप प्रतिदिनके हिसाबसे यथाविधि करते हुए २४ लाखका एक पुरश्चरण पूर्ण करने के लिए ६ वर्ष ७ मास कमसे कम चाहिए। इतना समय जो धैर्यपूर्वक निश्चित समयानुसार जप करता रहे, उस का चित्त एकाग्र होकर संकल्प सिद्ध हो जाय तो इस में कौनसा आश्चर्य है? इससे आधे समयमें भी कार्यसिद्धि हो सकती है। परन्तु यह सब व्यक्तिगत है।

गायत्री के मन्त्रका जप करने का यह तरीका है, कि मन्त्र में तीन स्थानोंपर ओंकार जोडा जाता है। अर्थात् एक व्याहृतिसहित मन्त्रके पहले; दूसरा व्याहृतियोंके पश्चात् और गायत्रीमन्त्रसे पहले तथा तीसरा अन्तमें। इस प्रकार मन्त्रके जापका स्वरूप निम्नलिखित हो जायगा–

ओं भूर्भुवः स्वः। ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ओं॥

इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तमें ओंकारसे बांधकर गायत्रीका जप करनेसे अवश्य लाभ होता है। ओंकार गायत्री का कवच माना गया है। गायत्री के साथ ओंकार मिलकर अद्भुत फल दिखाता है। गायत्री के जप के अन्त में कवच पाठ करने का विधान है। वह कवच भी ओंकार से ही बनाया जाता है। प्रत्येक गायत्रीमन्त्र के अक्षर के आगेपीछे भिन्न भिन्न संख्याओं में ॐको जोडकर पाठ किया जाता है। इस सबका भी यही मतलब है कि ओंकार की सहायतासे गायत्री शीघ्र फलप्रदायिनी हो। इससे ओंकार का भी विशेष रूपसे जप हो जाता है और इस प्रकार मीठे में और मीठा पडकर विशेष मधुर हो जाता है।

इस प्रकार तीन ओंकारपूर्वक गायत्रीमन्त्रका तीन प्रकार से जप किया जाता है–

(१) वाचिक, (२) उपांशु, (३) मानसिक।

(१) वाचिक जप में वाणी द्वारा दूसरे को सुनाई दे, ऐसा ऊंचेसे बोलते हुए जप करना होता है। यह जप का प्रकार कनिष्ठ समझा जाता है।

(२) उपांशु जप में आवाज ओंठोंतक ही रहे ताकि समीपस्थ व्यक्ति के सिवाय अन्य कोई सुन न सके। इस प्रकार का जप 'मध्यम' समझा जाता है।

(३) मानसिक जप में मन्त्रार्थ का ध्यान करते हुए मन में ही जप करना होता है। इस में आवाज, ओष्ठ, जिह्वा, दंत आदि कुछ भी हिलाने नहीं होते। अन्दरसे ही आवाज खुदबखुद उठनी चाहिए, जो अपने को स्पष्ट रूपसे सुनाई दे, यह जाप उत्तम-सर्वोत्तम समझा जाता है। यही शीघ्रफलदायी है। साधक को यथाशक्ति इसी का अभ्यास और अवलंबन करना चाहिए।

इस प्रकार अबतक के विवेचन का सार यह हुआ कि—

(१) रोज निश्चित संख्यामें जप करना चाहिए, कम ज्यादा संख्यामें नहीं। साथ ही कुल जपसंख्या कितनी हुई, इसका भी ख्याल रखना चाहिए।

(२) गायत्रीमंत्र के जापकी कुछ निश्चित संख्या ठहराकर उतनी होनेपर मंत्र जाप बंद न करके, बजाय किसी निश्चित संख्याके ठहराए, इसे अपने नित्य नियमकाही एक अङ्ग बना लेना चाहिये और आजीवन उसका पालन करते रहना चाहिए।

(३) गायत्रीमंत्र का जाप, उपरोक्त प्रकारसे ३ प्रणव लगाकर करना चाहिए।

(४) मंत्रजाप न बहुत धीरे और न बहुतही जल्दी, अपितु साधारण जल्दी करना चाहिए।

(५) गायत्रीमंत्रका जाप वाचिक, उपांश तथा मानसिक किया जाता है। परन्तु मानसिक जापही सर्वश्रेष्ठ होनेसे वही करना चाहिए। यदि किसी खास कारणसे शेष दोनोंकी जरूरत पडे तो उनका भी आश्रय लिया जा सकता है।

जप करते हुए ध्यान- जप करते हुए यथासंभव ध्यान मन्त्रार्थचिंतन में ही रखना चाहिए। जब जब चित्त दूसरी ओर जाय तब तब उस ओर

हटाकर पुनः मन्त्रार्थ में लगाते रहना चाहिए। इस प्रकार नित्य अभ्यास करते रहनेसे मन अपने आप जपमें रस लेने लग जायगा। पहले पहल यद्यपि मन बार बार जल्दी जल्दी इधर उधर भागता रहेगा, पर इसे घबराना नहीं चाहिए। उसका सतत पीछा करते रहना चाहिए। इसी प्रकार मन्त्रजापसे यदि प्रारम्भ प्रारम्भ में जी उकताने लगे तो भी बलपूर्वक रोज निश्चित की हुई संख्या पूर्ण अवश्य करनी चाहिए। ऐसा करनेसे कुछ कालबाद ही इस प्रकार के तमाम विघ्न शांत हो जायंगे और धीरे धीरे जपमें आनंद आने लगेगा। जब जपमें अनायास आनन्द आता हुआ प्रतीत हो, तब समझना चाहिए कि अब हम वास्तविक मार्गपर आ गये हैं, अब और किसी भी प्रकार का विघ्न हमारे मार्ग में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार जप का अभ्यास बढते बढते श्वासोच्छ्वास की गति भी क्रमशः धीमी होती जायगी, वह चित्त एकाग्र स्वयं होता चला जायगा।

गायत्रीमंत्र तथा उसका अर्थ।

(विश्वामित्र ऋषिः। सविता देवता)

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

शब्दार्थ—

ओं यह सर्वरक्षक परमात्माका खास नाम है। इस से अग्नि आदि नामों की तरह दूसरे किसी का बोध नहीं होता। इस की व्युत्पत्ति है- अवति रक्षति इति ओम्। अ + उ + म् से यह बना है। इस एक नाममें परमात्मा के बहुत नाम-गुणोंका समावेश हो जाता है. जैसा कि स्वामिजीने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि- अकार से विराट्, अग्नि, विश्व आदि (व्यष्टि-समष्टि); उकारसे हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि; मकारसे ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि का ग्रहण होता है।

यह प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में बोलना चाहिए। ओंकार के विना उच्चारण किए हुए मन्त्र का उच्चारण नहीं करना चाहिए। इस ओंकार की महिमा का वर्णन उपनिषदों में खूब विस्तार से सर्वत्र मिलता है। कठोपनिषद् में लिखा है कि-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ (१।२।१५)

मृत्यु नचिकेता से कहता है, कि हे नचिकेता! सब वेद जिस पद का अच्छी तरह से व्याख्यान करते हैं, सारे के सारे तप जिस पद को कह रहे हैं और जिस पद की प्राप्ति की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का साधन किया जाता है, उस पद को मैं तुझे संक्षेप से बतलाता हूं। वह है 'ओम्'।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (१।२।१६)

यही 'ओं' पद अविनाशी ब्रह्म है। यही सर्वोत्कृष्ट अक्षर है। इसीको जाननेसे संकल्पसिद्धि होता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (१।२।१७)

इसी का आश्रय श्रेष्ठ है। इसी का आश्रय सर्वोत्कृष्ट है। इसी के आश्रय से मुक्त हो जाता है। प्रश्नोपनिषद् में तो यहां तक लिखा है, कि जो इस 'पर अक्षर' को जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।

पिप्पलाद सौर्यायणी गार्ग्य से कहते हैं कि-

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वतः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ चतुर्थ प्रश्न १०

हे सोम्य! इस छायारहित अतएव अशरीरी रजसादि त्रिगुणात्मक प्रकृति से भी रहित शुभ्र-तेजस्वी-निर्मल अक्षर को वास्तव में जान लेता है, वह उस परं अक्षर को प्राप्त होता है। तब वह सर्वज्ञ हो जाता है। उस की सर्वत्र गति हो जाती है। इसमें यह वचन है—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवा विवेशेति ॥ ११ ॥

हे सोम्य ! जिसमें यज्ञविज्ञानस्वरूप आत्मा, ये ५ महाभूत, इन्द्रियों के साथ सब प्राण प्रतिष्ठित हैं, उस अक्षर को जो जानता है, वह निश्चय से सर्वज्ञ हो जाता है । वह वस्तुओं में प्रविष्ट हो जाता है। सब में प्रवेश करके उसको जान सकता है ।

आगे ५ वां प्रश्न करते हुए सत्यकाम पिप्पलादजीसे पूछता है कि-

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन् । मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत ॥ कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१॥

हे भगवन् ! मनुष्योंमें जो मरणपर्यन्त इस ओंकार का ध्यान करता है, वह कौनसे लोक को जीत लेता है ?

तस्मै स होवाच ॥ एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

सत्यकाम को पिप्पलाद कहेने लगे कि- हे सत्यकाम ! जो पर और अपर ब्रह्म के नाम से कहा जाता है, वह सब यही ओंकार है। इसलिए इस बातको अच्छी तरह जानता हुआ मनुष्य इसीके आश्रय से पर और अपर में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है ।

इसी तरह छान्दोग्योपनिषद् में भी ओंकार की महिमा का वर्णन विस्तृत रूपसे पाया जाता है। इस सारे विवेचन का अभिप्राय यही है, कि अभिलषित फलप्राप्त्यर्थ सब प्रकारके उत्तम कार्यों का अनुष्ठान करते हुए ओंकार से ही कार्य प्रारम्भ करना चाहिए ।

भूः- इसका स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाश में अर्थ लिखा है कि- 'भूरिति वै प्राणः । यः प्राणयति चराचरं जगत् स भूः स्वयं भूरीश्वरः ।' जो सब जगत्के जीवन का आधार प्राणसे भी प्रिय और स्वयंभू है, उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है । भूः = प्राणः ।

स्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि- 'भूरिति सन्मात्रमन्त्र उच्यते ।' अर्थात् 'भूः' से परमात्मा के 'सत् स्वरूप' का ग्रहण होता है । भूः = सत् ।

यहांपर गायत्रीमन्त्र के साथ 'भूः' के ये दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं। 'भूः' के अन्य अर्थों से यहां हमारा मतलब नहीं। अतः उन का लिखना व्यर्थ है ।

भुवः- इस का स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाश में अर्थ लिखा है कि- 'भुवरित्यपानः' । यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः ।' जो सब दुःखोंसे रहित, जिस के संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है । भुवः = अपानः ।

श्रीस्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ करते हैं कि- 'भुवरिति सर्वं भावयति प्रकाशयतीति व्युत्पत्त्या चिद्रूपमुच्यते ' । अर्थात् परमात्मा सब को प्रकाशित करता है, इस व्युत्पत्तिसे उसके चित्स्वरूप को कहा गया है । भुवः = चित् ।

स्वः- " स्वरिति व्यानः " । यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः ।' जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है । इसलिए परमेश्वरका नाम " स्वः " है । (सत्यार्थप्रकाश) स्वः = व्यानः ।

स्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं, कि- 'सुवरिति सुष्ठु सर्वेषु प्रीयमाणं सुखरूपं परमानन्दब्रह्मपदम् ।' स्वः = आनन्द ।

'भूर्भुवः स्वः' ये तीन महाव्याहृतियां हैं। ये तीनों तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपा० ७ अनु० ५) में हैं। व्याहृतिका अर्थ है- जो चारों ओर से इकट्ठा करके ले आए। ओंकार के साथ गायत्रीमन्त्र के प्रारम्भ में इन व्याहृतियों को जोडकर मन्त्र को उच्चारण किया जाता है। इन व्याहृतियोंका गायत्रीमन्त्र के साथ जोडने का जो विशेष प्रयोजन है, वह उपरोक्त व्याहृतियों के अर्थ देखने से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इन व्याहृतियों की विशेषता निम्नलिखित

छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ४ खण्ड १७) में और भी अधिक स्पष्ट कर रहा है। इस में इन महाव्याहृतियोंकी उत्पत्ति दर्शाई गई है-

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादीत्यं दिवः(१)

अर्थात् प्रजापतिने लोकों को तपाया। उनके तपानेपर पृथिवीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोक से आदित्य साररूप प्राप्त हुए।

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्, तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्, अग्नेऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

अर्थात् प्रजापतिने इस सारभूत उपलब्ध तीनों देवताओंको पुनः तपाया। इनके तपाने से फिर रस बहने लगा और अग्निसे ऋचायें, वायुसे यजुः और आदित्यसे साम सार निकला।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्, तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत, भूरित्यृग्भ्यो, भुवरिति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

उस प्रजापतिने फिर इस सारभूत त्रयी विद्याको तपाया। उसके तपनेसे जो रस निकला, उसमेंसे ऋचाओंसे 'भूः' यजुसे 'भुवः' और सामसे 'स्वः' सार निकला।

मनुनेभी लिखा है, कि- वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च (मनु २ । ७७)

अर्थात् एक एक वेदसे एक करके भूर्भुवः स्वः ये तीन व्याहृतियां दोहनकर निकाली गईं।

इस सबका अभिप्राय यह हुआ कि 'भूः भुवः स्वः' ये तीनों इन सबके सारभूत हैं। अर्थात् पृथिवी लोक का सार= अग्निः। अग्निका सार = ऋग्वेद। ऋग्वेदका सार = भूः। भूः = प्राण = सत्। अन्तरिक्ष लोक का सार = वायु। वायुका सार = यजुर्वेद। यजुर्वेदका सार = भुवः। भुवः = अपान = चित्। द्युलोकका सार= आदित्य। आदित्यका सार = सामवेद सामवेद का सार = स्वः। स्वः = व्यान = आनंद।

इन व्याहृतियों की इस विवेचनसे महिमा स्पष्ट है। इससे यहभी पता चल जाता है, कि ये गायत्रीकी साधनामें कितनी ज्यादा मददरूप हैं।

तत् = उसको। तद् शब्दका द्वितीयान्त है। आगे आनेवाले भर्ग की ओर निर्देश कर रहा है। सवितुः= सविताका। सविता शब्द 'षुञ् अभिषवे और षू प्राणिगर्भविमोचने = प्राणिप्रसवे इस धातुसे बनता है। 'यः चराचरं जगत् सुनोति सूते वा उत्पादयति स सविता।' जो तमाम चराचर जगत् का उत्पादन करनेवाला है, उस परमात्माका नाम सविता है।

सविता सूर्यकोभी कहते हैं। जगत् में वही परमात्माका प्रतिनिधि है। इस सूर्य की वजह से ही प्राणिजगत् वृद्धिको प्राप्त होता है। वनस्पति आदि उत्पन्न होते हैं। वरेण्यं = वरणीयम् = चाहनेलायक, पसंद करने योग्य, आनन्द देनेवाला, श्रेष्ठ, कमनीय इत्यादि। भर्गः=तेजको, शुद्ध स्वरूप और पवित्र करनेवाला चेतन ब्रह्मस्वरूपको। पापविनाश करनेवाले को। यह शब्द 'भ्रस्जो आमर्दने' भृजि भर्जने' इन दो धातुओंसे बनता है।

देवस्य = देवका। देवके बहुतसे अर्थ होते हैं। यह शब्द 'दिवु क्रीडाविजीगिषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमदमोदस्वप्नकान्तिगतिषु' इस धातुसे बनता है। स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लासमें इसकी इस प्रकार व्याख्या की है-

'(क्रीडा) जो शुद्ध जगत्को क्रीडा कराने, (विजिगीषा) धार्मिकों को जितानेकी इच्छायुक्त, (व्यवहार) सबको चेष्टाके साधनोपसाधनोंका दाता, (द्युति) स्वप्रकाशस्वरूप, सबका प्रकाशक, (स्तुति) प्रशंसाके योग्य, (मोद) आप आनन्दस्वरूप और दूसरोंको आनन्द देनेहारा, (मद) मदोन्मत्तोंका ताडनेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलयका करनेहारा, (कांति) कामनाके योग्य और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उस परमेश्वरका नाम 'देव' है। अथवा 'यो दिव्यति = क्रीडति स देवः' जो अपने स्वरूपमें आनन्दसे आपही क्रीडा करे अथवा किसीके सहायके विना क्रीडावत् सहज स्वभावसे जब जगत्

…को बनाता है वा सब क्रीडाओंका आधार हैं। 'विजिगीषते स देवः' जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी जीत न सके। 'व्यवहारयति स देवः' जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारोंका जनानेहारा और उपदेष्टा। 'यश्चराचरं जगत् द्योतयति' जो सबका प्रकाशक। 'यः स्तूयते स देवः' जो सब मनुष्योंको प्रशंसाके योग्य और निन्दाके योग्य न हो। 'यो मोदयति स देवः' जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरोंको आनन्द कराता, जिसको दुःखका लेशभी न हो। 'यो माद्यति स देवः' जो सदा हर्षित, शोकरहित और दूसरोंको हर्षित करने और दुखोंसे पृथक् रखनेवाला। 'यः स्वापयति स देवः' जो प्रलयके समय अव्यक्त में सब जीवोंको सुलाता। 'यः कामयते काम्यते वा स देवः' जिसके सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं तथा जो 'यो गच्छति गम्यते वा स देवः' जो सबमें व्याप्त और जाननेयोग्य है। इससे उस परमेश्वरका नाम 'देव' है।

उपनिषद् में परमात्म 'देव' के बारेमें लिखा है कि—

'एको देवः सर्व भूतेषु गढः' सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

इसी प्रकार अन्यत्रभी 'देव' शब्दसे परमात्माका स्थान स्थानपर वर्णन है।

धीमहि = धारण करें। चिंतन करें। (ध्यै चिन्तायाम्)

धियः = बुद्धियोंको (द्वितीयाका बहुवचन)।

यः = जो (सविता देव)।

नः = हमारी।

प्रचोदयात् = प्रेरयेत्। प्रेरणा करे। (श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्ति करे)।

स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लासमें गायत्रीमंत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—

'…… हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यद् ओं भूर्भुवः स्ववरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि दधीमहि धरेमहि ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनाय? इत्यत्राह– हे भगवन्! यः सविता देवः परमेश्वरो भवान् अस्माकं धियः प्रचोदयात् स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु, नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कश्चित् कदाचित् मन्यामहे'।

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानंद, अनन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्ययुक्त स्वभाववाला, कृपासागर, ठीकठीक न्यायका करनेहारा, जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकाररहित सबके घटका जाननेवाला, सबका धर्ता, पिता उत्पादक, अन्नादिसे विश्वका पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत्का निर्माता, शुद्ध स्वरूप और प्राप्तिकी कामना करनेयोग्य है, उस परमात्माका जो शुद्ध चेतनस्वरूप है उसीको हम धारण करें। इस प्रयोजनके लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा–बुद्धियोंका अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्गसे हटाके श्रेष्ठाचार सत्यमार्गमें चलावे। उसको छोडकर दूसरी किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि उसके तुल्य और उससे अधिक कोई नहीं। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखोंका देनेहारा है।

इस गायत्री की व्याख्या भिन्न भिन्न भक्तोंने खूब विस्तारपूर्वक की है। उपनिषद् आदि में गायत्री पर पर्याप्त विवेचन पाया जाता है। कोई कोई गायत्री में निम्न रहस्य भी प्रतिपादन किया हुआ है, ऐसा बताते हैं।

'गायत्रीमन्त्रान्तर्गत संसारकी सब अवस्थाओंका वर्णन है– 'तत्' (तनु विस्तारे)। सबसे पहले परमेश्वरको विस्तारविषयक इच्छा होती है। 'बहु स्याम्, प्रजायेयमिति' यहां विस्तारवाचक 'तत्' पदकी विस्तारविषयक इच्छामें लक्षणा है। 'सवितुः' (षुञ् प्राणिगर्भविमोचने) अर्थात् परमेश्वर इच्छा करनेके पश्चात् जगत् को पैदा करता है। तदनन्तर काल पाकर 'वरेण्यं' (वृञ् वरणे) प्रार्थनीय अर्थात् श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानको जीव प्राप्त करता है। ज्ञानके पश्चात् 'भर्गो देवस्य' अज्ञान का

भर्जन-नाश होता है। इसके बाद 'धीमहि' जीवन-मुक्तिकालमें अप्रयत्नसाध्य ध्यानादि होते हैं। तत्पश्चात् 'धियः' आत्मतत्त्वविषयक चरम साक्षात्काररूप बुद्धि होती है। और इसके बाद परमेश्वरप्राप्तिरूप मोक्ष होता है। वह परमेश्वर कौन है? 'यो नः प्रचोदयात्' जो हमारा सबका अन्तर्यामी प्रेरक है।

इसी प्रकार न्यायदर्शनानुसार प्रकृतिधातुमात्र को लेकर अन्तसे आरम्भ करके संसारक्रमका वर्णन भी सूचित होता है।

'प्रचोदयात्'- प्रथम सृष्टिकालमें प्रचोदना, अदृष्ट-वशात् परमाणु में आद्यक्रिया होती है। तदनन्तर 'योनः' ('यु मिश्रणे) अर्थात् परमाणुद्वय आदि का मिश्रण (संयोग) होता है। एवं आरम्भवादकी रीतिसे संयोगपूर्वक सृष्टि होती है। तदनन्तर 'धियः' आत्ममनःसंयोगपूर्वक सांसारिक बुद्धि बुद्धि होती है। सांसारिक भोगादि होता है। तदनन्तर 'धीमहि' अर्थात् ईश्वरध्यानादिसे तत्त्वविषयक धी (ज्ञान) की प्राप्ति होती है। तदनन्तर (अदेवस्य भर्गः) अज्ञान का नाश होता है और मिथ्या ज्ञानके नाशके अनन्तर 'वरेण्यम्' वरणीय अपवर्ग की प्राप्ति होती है। वह अपवर्ग क्या है? 'सवितुः' कर्तास्वरूप आत्मा की 'तत्' एकविंशति दुःख का अत्यन्त ध्वंसरूप अकर्तृत्व अवस्था है।

योगशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार भी गायत्री-मन्त्र का अर्थ समझना चाहिए। 'प्रचोदयात्'- कुण्डलिनी-समुत्थानक्रिया से लेकर षट्चक्रभेदन-पूर्वक सहस्रारकमलविकासपर्यन्त जो जो क्रियायें होती हैं, वे सम्पूर्ण क्रियायें प्रपूर्वक चुद् धातुका अर्थ है, लिङर्थ प्रार्थना है। अर्थात् सविता- क्लेशादिसे अपरामृष्ट परमेश्वर हमारी बुद्धिको शुभ योग-क्रिया की ओर प्रेरित करे। अन्य सांसारिक प्रवृत्ति हमारी न हो। इसी प्रकार अन्य पदार्थोंका व्याख्यान भी यथायोग्य समझना चाहिये। अन्य दर्शनोंकी रीतिसे भी गायत्रीमंत्रका व्याख्यान हो सकता है।'

इसी प्रकार और भी तरहतरह के अर्थ और भाव गायत्री के निकालनेका प्रयत्न किया जा सकता है और कियाभी गया है। पर गायत्रीमंत्रके साधकको इतने जादा बखेडे में पडनेकी जरूरत नहीं। उसे तो ऊपर बताए अनुसार शब्दार्थोंका चिंतन करते हुए निम्नलिखित भावार्थ का ख्याल करना पर्याप्त है-

'वह सच्चिदानन्द परमात्मा जो कि सवितादेव है, उसके सर्वश्रेष्ठ तेजस्वरूप का हम ध्यान करते हुए धारण करते हैं। हम अपने आपको उसको समर्पण करते हुए तन्मय हो जाते हैं। ताकि वह सवितादेव हमारी बुद्धियोंको ठीक ठीक मार्ग की ओर दौरें।'

इस प्रकार ध्यान करते हुए अपने आपको परमात्म-समर्पण कर देना होता है। परमात्माको अपने आपको समर्पण कर देने पर वह अपना कर्तव्य खुदबखुद करने लग जाता है। साधकको फिर इच्छा दर्शानेकी जरूरत नहीं। वह स्वयंही साधक की बुद्धि को मार्ग बताता रहता है। उसके तेजमें साधक को सब कुछ पता होता जाता है। साधक के सब कार्य स्वयमेव होने लगते हैं।

परमात्मा हमारी बुद्धियोंको तभी रास्ता दिखा सकता है, 'जब कि हम अपना हक्क हमारी बुद्धियों पर से हटा कर उसे परमात्मा के स्वाधीन कर दें। जब तक हमारा उस में हस्ताक्षेप है, तब तक तमाम शुभाशुभ की जबाबदारी हमारे सिर है। जिस दिन से हमने आत्मसमर्पण कर दिया, उस दिनसे हमारे परसे जबाबदारी दूर हो गई। उस दिनसे होनेवाले तमाम कार्यों की जवाबदारी परमात्माके हाथमें चली गई। बुद्धि को प्रेरणा भी परमात्माकी ओर से स्वयं होने लगेगी। तब जो कार्य होंगे वे फलकामनासे रहित होते हुए भी सफल होंगे। यही कर्ममुक्ति दिलाने में सहायक होते हैं। इसीका नाम निष्काम कर्म है। इन्हीं कर्मों के करनेका तरीका प्रार्थनारूपसे गायत्री में बताया गया है, जिस का कि यहां संक्षेपसे निर्देश मात्र किया है। इसपर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। इसी विचारमें उनका चित्त बडी आसानीसे एकाग्रभी हो सकता है।

(क्रमशः)

वेदोंका समय।

(ले०– स्व० पं० रघुनन्दन शर्माजी)

प्राचीन कालमें वर्षाके आरम्भ और अन्त दोनों से वर्ष का आरम्भ होता था। जिस तरह वेद में लिखा है कि संवत्सर के अन्त में ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं, उसी प्रकार लिखा है कि वर्षारूपी संवत्सर के आदि को मण्डूक सूचित करते हैं। ऋग्वेद में है कि–

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥
(ऋ० ७।१०३।१)

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णम-
भितो वदन्तः। संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ
यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव॥ (ऋ० ७।१०३।७)

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि संवत्सर भर सोये हुए मण्डूक पर्जन्य पड़ते ही बोलने लगे, क्योंकि 'संवत्सरस्य तदहः' अर्थात् संवत्सर का वही दिन है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार संवत्सर के आदि में वर्षा को मण्डूक जगाते हैं, उसी तरह संवत् के अन्त में वर्षा ऋतु के समाप्त हो जाने पर ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं। एक वर्ष वर्षा के आरम्भ से शुरू होता है और दूसरा वर्षा के अन्त से शुरू होता है। इस तरह से इन दो आर्तव वर्षों की पहिचान मण्डूकों और कुत्तों से बतलाई गई है।

शहरों में तो नहीं पर जिनको देहात में रहने का मौक़ा मिला है, वे जानते हैं कि चातुर्मास समाप्त होते ही–आश्विन-कार्तिक का आरम्भ होते ही कुत्तों के ऋतुदान का समय होता है। वे गर्भाधान करते हैं और रातके समय चिल्लाते हैं। उनकी वह चिल्लाहट विचित्र प्रकार की होती है। यही ऋतुदान, ऋतुओं का जगाना है और वर्षाकालका अन्त है। इस वर्णन में न कहीं मृगशीर्ष के सम्पात का नाम है और न कहीं आकाशमण्डल का। यहाँ वेद के दोनों स्थलों को मिलाने से यह सिद्धान्त बनता है, कि वर्षा का आरम्भ मेढकों से ज्ञात होता है और वर्षाका अन्त कुत्तों से। ये दोनों घटनाएँ वर्षा के आदि और अन्त में होती हैं।

और एक प्रमाण है 'वृषाकपि' का। ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८६ में इस वृषाकपि का वर्णन आया है। तिलक महोदय लिखते हैं कि 'सूर्य–सम्पात का एक दूसरा प्रमाण और भी है, पर वह जिस सूक्त में आया है, उसका मतलब आज तक किसी की समझ में नहीं आया'।

इसके आगे आप उस सूक्त का प्रकार वर्णन करते हैं कि–

'वृषाकपि' मृगरूप से इन्द्र का मित्र है। जहाँ वह उन्मत्त होता है, वहाँ यज्ञ बन्द हो जाते हैं। एक बार इस मृग ने इन्द्राणी की बहुत सी चीज़ें नष्ट कर दीं। इन्द्र इसका बड़ा दुलार करते थे, इसलिए इन्द्राणी इन्द्र पर बहुत नाराज़ हुईं, पर इन्द्र तो उसको कुछ सज़ा दिये बिना ही उसके पीछे पीछे दौड़ने लगे। इस से और अधिक नाराज़ होकर, वे उस मृग का मस्तक छेदन करने के लिए उठीं और उसके पीछे एक कुत्ता लगा दिया। इतने में इन्द्र ने बीच में पड़कर उनका समाधान कर दिया। इस लिये उस मृग का शिरच्छेदन तो न हुआ, पर एक दूसरे ही मृग का शिर कट गया। इसके बाद वृषाकपि नीचे अपने घर जाने लगा। यज्ञ पुनः जारी हों, इस लिये इन्द्र ने उसे आज्ञा देकर अपने घर बुलाया और जब वह इन्द्र के घर ऊपर आया तब उसके साथ वह प्रमादी मृग न था। अतः इंद्र, इंद्राणी और वृषाकपि परस्पर मिले भेटे।'

इस अलङ्कार को आप शरत् सम्पात की घटना बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'यह मृग, मृगशीर्ष ही है। श्वान का वर्णन उस मौक़े को और भी पुष्ट करता है। दक्षिणायन में यज्ञ बन्द हो ही जाते हैं और जब सूर्य वसन्त–सम्पात

में अर्थात् देवयान (उत्तरायण) में ऊपर आता है, तब फिर यज्ञयाग होने लगते हैं। इस तरहसे यह शरत् सम्पात का ही वर्णन है।'

हम कई बार कह चुके हैं कि उस मौके के दो श्वान हैं, एक नहीं। उनका वर्णन जहाँ कहीं आता है, द्विवचन में ही आता है। इस सूक्त का भी श्वान कोई दूसरा ही पदार्थ है। इसी तरह मृग भी मृगशिर नहीं, किन्तु बादल ही है और इन्द्र भी सूर्य ही है। अब वृषाकपि का अर्थ खुलने से ही सारा भेद खुल जायगा। वृषाकपि ऋग्वेद और अथर्ववेद में सिर्फ़ एक ही सूक्त में इसी रूप से आता है। इसलिये वृषा और कपि दोनों शब्दों को अलग अलग ही देखना पड़ेगा। 'वृषा' इन्द्र को कहते हैं, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। अमरकोश में 'सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा' कहा गया है। इन सब इन्द्र के नामों में 'वृषा' शब्द स्पष्ट रूप से आया है। और इन्द्र शब्द सदैव सूर्य या विद्युत् के लिये आता है। इसलिये यहाँ वृषा का अर्थ या तो सूर्य है या विद्युत्। अब कपि का अर्थ देखना है। कपि शब्द ऋग्वेद भर में अन्यत्र कहीं नहीं आता। वह इसी सूक्त में वृषा के साथ आता है और एक बार इसी सूक्त में अकेला भी आया है। पाँचवें मन्त्र में है कि–

> प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
> शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं+ ॥
> (ऋ० १०।८६।५)

यहाँ मृग के ही लिये कपि शब्द आया है। लोक में भी हम कपि को 'शाखामृग' नाम से पाते हैं। इससे अच्छी प्रकार बोध होता है कि यह कपि मृग ही है। अब मृग का अर्थ खुलते ही सारा वर्णन स्पष्ट हो जायगा। हम कहते हैं कि मृग बादल ही है। हम ही नहीं प्रत्युत तिलक महोदय स्वयं कहते हैं कि 'ऋग्वेद में एक दूसरी जगह ऐसा वर्णन है कि इन्द्र ने वृत्र का शिरच्छेदन किया और वृत्र मृगरूप होकर दिखाई पड़ने लगा'। वह मन्त्र यह है–

> निरीन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः।
> निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः ॥
> (ऋ० ८।३।१९)

यहाँ इन्द्र, वृत्र और मृग का ही वर्णन है। यहाँ मृग को 'मायिनः' माया करनेवाला कहा है। मारीच मायारूप मृग हुआ ही था। वृत्र भी माया करनेवाला है। निरुक्त २।१६ में लिखा है कि 'तत्को वृत्र। मेघ इति नैरुक्ताः' अर्थात् वृत्र किसे कहते हैं? निरुक्तवाले मेघ को वृत्र कहते हैं। अब साफ़ हो गया कि वृत्र मेघ ही है और वृत्ररूपी मृग भी मेघ ही है। इस लिए शाखामृगरूपधारी कपि भी मेघ ही है। इस तरह से ज्ञात हुआ कि वृषा अर्थात् इन्द्र और कपि अर्थात् बादल ये दोनों जहाँ एक साथ हों, उस अवस्था को वृषाकपि कहते हैं।

वेदों में बादल के लिए जितने नाम आये हैं, उनमें वृषभ, महिष, मृग और कपि शब्द भी बादल के लिये प्रयुक्त हुए हैं×। ऋग्वेद १०।१२३।४ में आया है कि- 'मृगस्य घोषं' अर्थात् मृग का घोष। पृथिवी पर विचरनेवाले मृगों की आवाज़ ऐसी नहीं होती, जिसको घोष कहा जाय। मृग बहुत ही धीमी आवाज़ से बोलते हैं। परंतु यहाँ मृग का घोष कहा गया है, इससे प्रकट होता है कि 'मृग' मेघ ही है। तिलक महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'वेद में वृत्र को मृग कहा गया है।' वृत्र निश्चय ही मेघ है, अतः 'मृगस्य घोषं' का अर्थ

+ इसी मन्त्र का अर्थ होता है कि उस मृग ने इन्द्राणी की चीज़ें नष्ट कर दीं। ग्रिफिथ महोदय अपने 'हिम्स ऑफ दि ऋग्वेद' में पृष्ठ ५०७ पर लिखते हैं कि, 'Kapi hath marred the beauteous things all deftly wrought, that were my joy.'

×वेदों में जो शब्द बादलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, वही असुरों के लिए भी कहे गये हैं। और सूर्य आदि जो शब्द देवतों के लिये आये हैं, वही आर्यों–ब्राह्मणादिकों के लिए भी कहे गये हैं। तदनुसार वेद के महिष, मृग और कपि आदि नाम बादलों के हैं तथा महिषासुर, मारीचमृग और सुग्रीव कपि आदि नाम अनार्य जातियों के रक्खे गये हैं। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'कपि' और 'मृग' शब्द भी मेघ के ही वाचक हैं।

बादल की गर्जना ही है। दूसरी जगह ऋग्वेद १।८०।७ में 'मायिनं मृगं' कहा गया है। यह भी बादलों के ही लिए आया है, क्योंकि पृथिवी के मृग कोई माया नहीं करते। पर बादल क्षण क्षण में बदल बदल कर नाना प्रकार की माया करते हैं और अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं। इस तरह के विवेचन से निश्चित होता है कि मृग बादल है और वृषाकपि, बादलसंयुक्त सूर्य है, अतः उपर्युक्त वृषाकपि सूक्त की घटना मेघाच्छन्न सन्ध्याकालीन सूर्य की ही प्रतीत होती है।

तिलक महोदय ने भी वृषाकपि को एक विशेष प्रकार का सूर्य ही माना है। परंतु हम यहाँ देखना चाहते हैं कि प्राचीन वैदिकों ने 'वृषाकपि' का क्या अर्थ किया है। गोपथ ब्राह्मण २।६।१२ में लिखा है कि 'सूर्य' ही वृषाकपि है, क्योंकि वह काँपता हुआ जल बरसाता है। यही वृषाकपि का वृषाकपित्व है। कपि के समान ही वह सब लोकों में चमकता है। वृषाकपि का वर्षा ही रूप है×। बृहद्देवता में इस सूक्त का विषय बतलाते हुए कहा गया है कि इन मंत्रों में वर्षा ऋतु के सन्ध्याकालीन सूर्य का वर्णन है +। इन वैदिक अर्थों के सहारे अब देखना चाहिये कि उक्त सूक्त का क्या अर्थ होता है।

सूर्य सम्मिलित बादल, इन्द्र (विद्युत्) के मित्र हैं। सन्ध्यासमय तीनों एकत्र हुए। जब मृगरूप बादल उन्मत्त हुआ और चमक चमक कर सन्ध्याकालीन उषा (इन्द्राणी) की शोभा बिगाड़ने लगा, तो इन्द्राणी ने श्वाननामी आग्नेय किरण, (जिसका ज़िक्र हम सरमा नामी शुनी के वर्णन में कर आये हैं); इस मृग के पीछे लगा दी। वर्षाऋतु में सायंकाल के समय कभी कभी सूर्य नहीं दिखता, परन्तु एक विशेष प्रकार का प्रकाश दिखलाई पड़ता है। यह प्रकाश ही श्वाननामी किरण है। इंद्रने बादलों को ताड़ित किया। पर बादल का वह टुकड़ा जिसमें सूर्य छिपा था, न टूटा, प्रत्युत दूसरा टूट गया। इसी को कहा गया है कि वह मृग न मरा। इतने में सूर्यास्त हो गया। अर्थात् सूर्य, चमकते गरजते उस बादल के टुकड़े के साथ नीचे चला गया। रात हो गई और यज्ञयाग कामकाज बन्द हो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल जब सूर्य निकला तो उस समय मृग नहीं था। अर्थात् आकाश निरभ्र था। उस समय सूर्य, विद्युत् और उसकी आभा आपस में मिलीं अर्थात् एक हो गईं।

यह वृषाकपि का अलङ्कार वर्षाऋतु की सन्ध्या के समय का है। वर्षाऋतु में कभी कभी यह अनोखा और काव्यमय दृश्य दिखलाई पड़ता है। सन्ध्यासमय काली छटा छाई हो, विद्युत् चमकती हो, सूर्य की प्रखरता का लोप हो और एकाध किरण दूर देश में अपना प्रकाश किए हो, उस समय इस दैवी घटना का अपूर्व दृश्य दिखलाई पड़ता है। इसी दशा में रात हो जाती है और लोगों के कामकाज पड़े रह जाते हैं। दूसरे दिन जब सूर्य निकलता है, तब कामकाज आरम्भ होते हैं। देवयान अर्थात् दिन में कामकाज होते हैं और पितृयान अर्थात् रात में बन्द हो जाते हैं। दिन और रात भी देवयान और पितृयान कहलाते हैं *।

बादलयुक्त सूर्य का प्रातः और सायं दृश्य, इस देश में अनेकों प्रकार से वर्णित हो चुका है। वृषाकपि का

×आदित्यो वै वृषाकपिः तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्मात् वृषाकपिः। तद् वृषाकपेर्वृषाकपित्वं। कपिरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद। वार्षरूपं हि वृषाकपेस्स्तन्यमित्येव।

+सूर्यैव कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति। वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः। सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति च। वृषाकपिरितो वा स्यादिति मंत्रेषु दृश्यते। वृषाकपायी सूर्यास्तकाल आहुः।

*वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतवः। शरद्धेमंतः शिशिरस्ते पितरो य एवा पूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते सपितरोऽऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवः अपराह्णः पितरः।

(शतपथ पृ० २४)

अलङ्कार पुराणों में हनूमान् की उत्पत्ति के साथ जोड़ दिया गया है। यह प्रसिद्ध है कि हनूमान् ने सूर्य को निगल लिया था। वृषा सूर्य और कपि हनूमान् ही हैं। आज तक ब्राह्मण लोग सुबह शाम सन्ध्या के समय सूर्याञ्जलि देते हैं और कहते हैं कि बाल सूर्य को राक्षस घेरते हैं। अतः इस अञ्जलि का जल बाण होकर उनको मार देता है। तुलसीदास ने भी लिखा है कि 'बाल रवि हि घेरत दनुज'। ये दनुज, कपि, मृग आदि बादल ही हैं, जो सायं प्रातः सूर्य के आस पास रहते हैं।

इस सूक्त में वेदों ने इस प्रकार के मनोहर अलङ्कार का वर्णन करके प्राकृतिक काव्य का अन्त कर दिया है। ग्रिफिथ साहब ने भी इस अलङ्कार को सन्ध्याकाल के सूर्य ही में घटित किया है।

हम हैरान हैं कि लोकमान्य तिलक ने इस सूक्त में शरत् सम्पात की कल्पना कैसे कर ली? अभी तक तो वे वसन्त-सम्पात के ही लिए परिश्रम कर रहे थे, पर अब शरत् सम्पात को भी सिद्ध करने लगे। जो हो, हमने स्पष्ट रीति से उनके दिये हुए उन प्रमाणों की आलोचना कर दी है, जिनका सम्बन्ध वेदों से था। लो० तिलकने कुछ प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों से भी दिये हैं, जो हमें मान्य हैं। किन्तु उन प्रमाणों में उन्होंने दो जबरदस्तियाँ की हैं, जो हमें मान्य नहीं हैं। एक तो अर्थ करने में अभिप्राय को उलट दिया है। दूसरे उनसे निकलनेवाले समय की इयत्ता निश्चित कर दी है। आगे हम इस विषय का खुलासा वर्णन करते हैं।

ब्राह्मणग्रंथों से जो काल ठीक ठीक निकलता है, वह तिलक महोदय के वेद के निकाले हुए काल से बहुत आगे बढ़ जाता है। इसलिए उनको अर्थ की काट छाँट करने की आवश्यकता हुई। ब्राह्मणों से सिद्ध होनेवाले ज्योतिष-सम्बधी तीन प्रमाणों को, हम नीचे लिखते हैं और देखते हैं कि उनका ठीक ठीक कितना समय निकलता है। स्वर्गवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का ज्योतिषविषयक ज्ञान बहुत ऊँचा समझा जाता है। उन्होंने शतपथब्राह्मण का यह वाक्य उद्धृत किया है कि-

कृत्तिका स्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते ।(शत० २।१।२।३)

अर्थात् कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिये, क्योंकि कृत्तिका ही पूर्व दिशासे नहीं हटती, दूसरे सब नक्षत्र हट जाते हैं। उक्त दीक्षित महोदय का मत है कि च्यवन्ते और न च्यवन्ते आदि वर्तमानकालिक क्रिया से स्पष्ट ज्ञान होता है कि जिस समय उक्त वाक्य लिखा गया, उस समय कृत्तिका-सम्बन्धिनी यह घटना मौजूद थी। इस घटनासे अभिप्राय यह है कि जिस समय की यह घटना है, उस समय कृत्तिका ठीक विपुववृत्त पर दिखलाई पड़ती थी। किन्तु सन् ईस्वी १९०० में जब दीक्षित ने कृत्तिका का वर्तमान स्थान देखा, तो वह विपुववृत्त के ऊपर ६८ अंश पर स्थित दिखाई दी। एक अंश को तय करनेमें ७२ वर्ष लगते हैं। इस लिए आज तक इस घटना को हुए (६८×७२=४८९६+२९ =) ४९२५ वर्ष होते हैं +। अर्थात् आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व शतपथब्राह्मण का उक्त वाक्य लिखा गया सिद्ध होता है।

एक दूसरा प्रमाण है, जिसको ज्योतिःशास्त्रविशारद वी०बी० केतकर महोदय ने ढूँढ़ा है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रकार है-

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रमभि संबभूव। (तैत्ति० ३।१।१५)

इस वचन से प्रकट होता है कि बृहस्पति को तिष्य अर्थात् पुष्य नक्षत्र का अधिक्रमण किए, ईस्वी सन् पूर्व ४६५० वर्ष हो गये थे। आजतक इसका समय (४६५०+१९२९=) ६५७९ वर्ष होता है। तिलक महोदय ने वेदों की रचना का समय ईस्वी सन् पूर्व अधिक से अधिक चार ही हज़ार वर्ष माना है, जिसमें १९२९ जोड़ने से ५९२९ ही वर्ष होते हैं। पर ऊपर लिखा हुआ तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रमाण इस अवधि से ६५० वर्ष और आगे जाता है। तिलक महोदय के निकाले हुए समय से जब तैत्तिरीय ब्राह्मण ही (जो

+ इस संख्या में अभी १०५ वर्ष की कमी है।

सबसे नवीन है), छे सात सौ वर्ष पुराना सिद्ध होता है, तब दूसरे ब्राह्मणों की तो कथा ही क्या? आइये, शतपथ ब्राह्मण का एक और प्रमाण दिखलावें ।

एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी । (शत० ६।२।२।१८)

इसमें कहा गया है कि फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर की प्रथम रात्रि है। इसके अनुसार वसन्तसम्पात फाल्गुनी पौर्णिमा के दिन होता था। गणित करने से इसका समय आज तक लगभग २२००० वर्ष होता है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा में २६००० वर्ष लगते हैं। किन्तु क्रान्तिवृत्त की विरुद्ध दिशा की एक विशेष चाल के कारण, यह काल २१०००वर्ष का ही रह जाता है। इस समय वसन्तसम्पात पूर्वाभाद्रपद में है। पर जब वसन्तसम्पात फाल्गुनी पौर्णमासी में होता था, उस समय वसन्तसम्पात उत्तरा-भाद्रपदमें था। अब तक सम्पात की एक पूर्ण प्रदक्षिणा हो गई और दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ हुये भी एक हजार वर्ष से अधिक हो गये। इस तरह से इस घटना को हुए आज तक २२००० वर्ष बीत चुके। परन्तु तिलक महोदय यह सब कुछ लिखकर भी कहते हैं कि, इन बातों में क्या रक्खा है ?×

भला इस अन्धेर का कुछ ठिकाना है ? बिना किसी प्रमाण के, बिना किसी दलील के और बिना किसी अधिकार के केवल इतना कह देने से ही हो गया कि 'इन बातों में क्या रक्खा है ?' क्या यह बाईस हज़ार वर्ष का समय ही इसकी अप्रामाणिकता का हेतु हो गया ?ऐसा तो न होना चाहिये। आप इस फाल्गुनी पौर्णिमासीका मतलब उदगयन से वर्ष का आरम्भ मानते हैं। मानिये, पर यह तो बताइये, कि क्या कभी उदगयन में भी वर्ष का आरम्भ होता था ? आपने तो स्वयं कहा है कि 'इन सब कारणों को देखते हुए, जब तक इसके विरुद्ध कोई सबल प्रमाण न मिले, तब तक इस सिद्धान्त के मानने में ज़रा भी शक नहीं है, कि प्राचीन वैदिक काल में जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था, तभी वर्ष का आरम्भ होता था' । जब सदैव प्राचीन काल में वसन्तसम्पात से ही वर्ष का आरम्भ होता था, तो उस समय जब वर्ष का आरम्भ फाल्गुनी पूर्णिमा में कहा गया है, वर्षारम्भ वसन्त सम्पात में क्यों नहीं था ? उस समय के लिए क्या प्राचीन क़ायदा बदल गया ? कभी नहीं। उस समय भी वसन्तसम्पात से ही वर्षारम्भ होता था। जब प्राचीन इतिहास उच्च स्वर से घोषणा कर रहा है, कि 'मुखं वा एतत् ऋतूनां यद्वसन्तः' अर्थात् वसन्त ही ऋतुओं का मुख है, तब यह घोषणा त्रिकाल में मिथ्या नहीं हो सकती और न उक्त वाक्य का कोई दूसरा अर्थ ही हो सकता है। इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं, कि निःसन्देह यह वाक्य कम से कम २२००० वर्ष का प्राचीन है। यहाँ तक तो हमने तिलक महोदय के उस नुक्स का वर्णन किया, जिसमें भाव बदलने की बात थी। अब समय निर्धारण की बात का खुलासा करते हैं।

हमको, आपको, तिलक महाराजको और अन्य किसी को भी क्या अधिकार है कि वह इन समयों को पहिली ही आवृत्ति का समझे ? अर्थात् वह यह क्यों समझ ले कि यह अवस्था केवल अभी हाल ही की आवृत्ति की है ? हम ऊपर लिख चुके हैं, कि किसी ज़माने में वसन्तसम्पात फाल्गुनी पौर्णिमा के दिन होता था। उसको बीते हुए पूरा एक चक्कर होगया, और दूसरे चक्कर में भी सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं। किन्तु प्रश्न तो यहीं पर होता है कि यह पहिला ही चक्कर पूरा हुआ है या ऐसे कई एक चक्कर हो चुके हैं ? किसी को कुछ भी अधिकार नहीं है, कि वह इसमें बिना किसी प्रमाण के कुछ भी कह सके। यही हाल और भी वचनों का है, जो इसके पूर्व तैत्तिरीय और शतपथ के नाम से लिखे जा चुके हैं। प्रमाण चाहे पहिले के हों या दूसरे के, बात तो असल यह है कि तिलक महाराज ने वेदों का जो समय निश्चित किया है, उससे हज़ारों वर्ष पूर्व तक तो ब्राह्मणों का ही समय जाता है, जो वेदों के बहुत काल बाद बने हैं। ऐसी दशा में 'ओरायन' प्रतिपादित वेदों का काल जो

× ऋग्वेद ४।५०।४ में भी एक इसी प्रकार का वाक्य है, पर उसमें तिष्य का नाम नहीं है। वह वाक्य यह है। 'बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महोज्योतिषः परमे व्योमन् ।'

ज्योतिषद्वारा निकाला गया है, सर्वथा त्याज्य है +।

तिलक महोदय ने वसन्तसम्पात के बदलने का क्रम लेकर, तीन काल क़ायम किये हैं। उनमें कृत्तिकाकाल तो यों ही गया, क्योंकि वह वैदिक काल के बाद का है। ऊपर विवेचन किया हुआ मृगशीर्षकाल ही प्रधान समय है। इसी पर लोकमान्य ने ज़ोर भी दिया है। इसी के लिए प्रमाण भी दिये हैं और इसी के नाम से पुस्तक का नाम भी 'ओरायन' रक्खा है। पर हमने उनके दिये हुये समस्त प्रमाणों को देख डाला, उनमें एक भी ऐसा प्रमाण न मिला, जो मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात सिद्ध करे। इसके आगे मृगपूर्वकाल है। जिसके लिए आप लिखते हैं कि 'इस काल तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। मृगशीर्ष से यह काल दो हज़ार वर्ष और पहिले जाता है। उस समय वसन्तसम्पात पुनर्वसु में था'। इसके लिये आपने जो वेदों से प्रमाण उद्धृत किये हैं, उनकी भी आलोचना कर लेनी चाहिए। आप कहते हैं कि 'यजु० ४।१९ में अदिति को 'उभयतः शीर्ष्णी' कहा है, और ऋ० १०।७२।५ में अदिति को देवों की माता कहा है। तथा ऋ० १०।७२।८ में उससे आदित्यों की उत्पत्ति कही है। इधर ऐतरेय ब्राह्मण १।७ में लिखा है, कि यज्ञ अदिति से शुरू हों और अदिति की समाप्ति पर समाप्त हो जायँ। इसके अतिरिक्त यज्ञवाले ग्रन्थों में लिखा है कि अदिति पुनर्वसु की अधिष्ठात्री है।'

पुनर्वसु में वसन्तसम्पात कभी था, इस पर ध्यान देने के लिए इतने ही प्रमाण आप बताते हैं और 'अदिति' तथा 'पुनर्वसु' दो ही शब्दों पर सारी इमारत खड़ी करते हैं। परन्तु वेदों में पुनर्वसु का ज़िक्र ही नहीं है, जिसे आप भी स्वीकार करते हैं। अतः हमें भी बाक़ी प्रमाणों से सरोकार नहीं है। क्योंकि हम तो केवल संहिताओं के ही समय की आलोचना कर रहे हैं। ऊपर अदिति का ज़िक्र यजुर्वेद में बतलाया गया है और ऋग्वेद में वह देवताओं और आदित्यों की जननी कही गई है। इससे खुल गया कि वह प्रकृति है। दो शीर्ष्णी का भी मतलब यही है कि वह मारने और पैदा करने-वाली है। उस अदिति अर्थात् मूल प्रकृति से और इस पुनर्वसुवाली अदिति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ज्योतिष का कोई पारिभाषिक शब्द होगा, अतः हमारे प्रकरण से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ तक हमने तिलक महाराज के समस्त प्रमाणों की पड़ताल की और देखा कि उनमें वेदों का कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जो वसन्तसम्पात का दर्शानेवाला हो। प्रत्युत देखा गया कि वे प्रमाण कुछ दूसरे ही अर्थ के सूचक हैं। जो लोग लो० तिलक की उक्त पुस्तक के कोटिक्रम को निर्भ्रान्त समझते हों, वे ध्यानपूर्वक लोकमान्य की भूमिका पढ़ें। उसमें उन्होंने स्पष्टतया कह दिया है कि 'यद्यपि मैंने इस विषय का वर्णन किया है, परन्तु मैं नहीं कह सकता कि मैंने उक्त विषय को हर प्रकार से जैसा चाहिये, वैसा प्रतिपादित किया है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उक्त विषय का खण्डन करनेवाला एक दूसरा ग्रन्थ आपने लिखा है। जिसका नाम 'आर्यों का उत्तरध्रुव-निवास' (Arctic Home in the Vedas) है। इस ग्रन्थ के पूर्व 'मृगशीर्ष' लिखने के कारण लोकमान्य तिलक को ऐसी अड़चन उपस्थित हुई, कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। यहाँ हम थोड़ा सा उसका इतिहास देकर उसके विषय प्रतिपादन की ओर आना चाहते हैं। तिलक महोदय ने ओरायन (मृगशीर्ष) ग्रन्थ लिखने के पाँच वर्ष बाद सन् १८९८ में 'उत्तरध्रुव-निवास' लिखा और उसका सारांश एक पत्रद्वारा मैक्समूलर के पास भेजा। पत्र के उत्तर में मैक्समूलर ने लिखा कि कितने ही वेदवाक्यों का अर्थ जैसा आप लिखते हैं,

---

+ हमने ज्योतिष के आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों से तीन प्रमाण दिए हैं, परन्तु तीनों का समय भिन्न भिन्न है। इससे यह शङ्का हो सकती है कि एक ही प्रकार के ग्रन्थों से भिन्नभिन्न समय कैसे निकलते हैं? इस आपत्ति का सरल उत्तर यही है कि ब्राह्मणग्रन्थ समय समय पर— वैवस्वत मनु से लेकर कलि के आरम्भ तक बनते रहे हैं। जिस प्रकार १७ पुराणों में भूत इतिहास लिखकर अन्तिम भविष्य पुराण को भविष्य घटनाओं के लिए रक्खा गया है, उसी तरह ब्राह्मणकाल में भी तीनों कालों की घटनाएं ब्राह्मणों में ही लिखी जाती थीं।

वैसा हो सकता है, तथापि मुझे शङ्का है कि आपका सिद्धान्त भूगर्भशास्त्र के साथ न मिल सकेगा । इसका मतलब यह है कि भूगर्भशास्त्र के अनुसार हिमप्रपात को हुए हुए बहुत अधिक काल हो चुका है और आप वेदों को छे हज़ार वर्ष के ही पुराने मानते हैं । ऐसी दशा में हज़ारों-लाखों वर्ष की पुरानी हिमप्रपात और उत्तरध्रुव की बात का वर्णन वेदों में कैसे आ सकता है ? मैक्समूलर के ऐसा लिखने का कारण यह था कि उस समय तक भूगर्भशास्त्र ने हिमप्रपात का समय ८० हज़ार वर्ष से ऊपर का माना था । तिलक महोदय इस बात से सचेत हुए और उस ग्रन्थ को पाँच वर्ष तक छपने से रोक रक्खा । इतने में ' इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटानिका' की दशवीं आवृत्ति छप कर बाहर निकली । उस में कुछ अमेरिकन भूशास्त्रियों ने हिमप्रपात का समय आठ दश हज़ार वर्ष ही पूर्व माना । बस इसको देखते ही तिलक महोदय ने सन् १९०३ में इस ग्रन्थ को छपाकर प्रकाशित कर दिया । तब भी छे हज़ार और दश हज़ार के बीच का चार हज़ार वर्ष का समय बढ़ गया । पर इस चार हज़ार वर्ष की बीती हुई बातें वेदों में कैसे आईं, इस प्रश्न का उत्तर आपने यह देकर टाल दिया कि आज चार हज़ार वर्ष से तो हम ब्राह्मण लोग ही वेदों को कण्ठ किये हुये हैं । जिस प्रकार इतने दिन से हम इस काव्य को याद किए हुये हैं, उसी तरह हमारे पूर्वज भी वेदों में वर्णित घटनाओं को चार हज़ार वर्ष तक याद किये रहे और जब भारत में आकर सुख से रहने लगे, तब उन्हीं याद की हुई बातों के आधार पर वेदों को छन्दोबद्ध काव्य में कर लिया । इस विषय में एक जगह आप कहते हैं कि ' एशिया में बसनेवाले आर्यों की जैसी उन्नति देखने में आती है, वैसी उन्नति नव-पाषाण-युग से उत्तर-योरप में बसे हुए आर्यों में नहीं पाई जाती । इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी प्राचीन सभ्यता भुला दी और जङ्गली हो गये । इसके विरुद्ध इस हिमपूर्व-कालीन धर्म और सभ्यता को भारती और ईरानी आर्यों ने ज्यों की त्यों क़ायम रक्खी यही एक आश्चर्य है ' ।

क्यों भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता क़ायम रक्खी और क्यों योरोपीय आर्यों ने भुला दी ? इस प्रश्न पर आपने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला । हम कहते हैं कि इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है । सीधी बात यह है कि काव्यरूप में ग्रथित होने से और उसको याद रखने से हमारी सभ्यता हमें याद रही और उस काव्य को छोड़ देने से पाश्चात्य आर्यों ने उसे भुला दी । यही बात आगे घुमा फिराकर आप कहते हैं कि ' ऋग्वेद में कहे प्राचीन सूक्त, ऋषि और देवता सभी हिम-पूर्व-काल के हैं, हिमोत्तर-काल के नहीं ' । यहाँ साफ़ शब्दों में लोकमान्य ने स्वीकार कर लिया कि ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त , ऋषि और देवता हिमपात के पूर्व के हैं, पश्चात् के नहीं । हिमपात कम से कम, तिलक महोदय की स्वीकृति के अनुसार आज से दश हज़ार वर्ष पूर्व हुआ और प्राचीन सूक्त उसके भी पूर्व के हैं । ऐसी दशा में ओरायन की छे हज़ार वर्षवाली बात और मृगशीर्ष में वसन्तसम्पातवाली कारणमाला कहाँ उड़ जाती है, जिसका कुछ भी ठिकाना नहीं । एक तरफ़ तो ओरायन में आप लिखते हैं, कि पुनर्वसुकाल तक (जो आज से सात हज़ार वर्ष पूर्व था) वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी, दूसरी तरफ़ ' उत्तरध्रुवनिवास ' में पुराने सूक्तों का अस्तित्व दश हज़ार वर्ष पूर्व का स्वीकार करते हैं । यही आश्वर्य है । हमने आरम्भ में उनके दिये हुए ज्योतिषसम्बन्धी वैदिक प्रमाणों की जो आलोचना की है. वह यथार्थ ही है । वेदों में ज्योतिषसम्बन्धी एक भी घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का काल निर्धारित किया जा सके ।

तिलक महोदय ने एक प्रकार से अपनी पहिली पुस्तक के ज्योतिषसम्बन्धी विचारों को इस दूसरी पुस्तक में रद्द कर दिया है । इस पुस्तक की विचारपरम्परा निराली है । इसका मूल विषय है आर्यों का उत्तरध्रुव में निवास और हिमवर्षा के कारण वहाँ से भागकर भारत में आकर बसना । प्रधानतया उत्तरध्रुव के निवास ही का इसमें वर्णन है और हिमवर्षा के कारणों तथा उसके पड़ने का काल निश्चित किया गया है । बर्फ़वर्षा का काल यदि निश्चित हो जाय, तो आर्यों के वहाँ से निकल भागने का समय निश्चित हो सकता है । पर

वहाँ के रहने मात्र के वर्णन से वेदोंके समय का कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता।

तिलक महोदय का यह ग्रन्थ वारन नामी एक पाश्चात्य विद्वान् के Paradise Found in the North Pole नामी ग्रन्थ के बाद लिखा गया है। उस ग्रन्थ में वारन महोदय ने दिखलाया है, कि मनुष्यजाति उत्तरध्रुव में ही उत्पन्न हुई। परन्तु उत्तरध्रुवनिवास नामी पुस्तक में लोकमान्य तिलक ने यह सिद्ध करना चाहा है कि किसी समय आर्य लोग वहाँ रहते थे और आज से क़रीब दस हज़ार वर्ष पूर्व उत्तरध्रुव में बर्फ़ की महान् वर्षा हुई। जिससे वे वहाँ से निकल भागे और भारत, ईरान, योरप आदि में बस गये। वेदों से आपने इस बात को इस प्रकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ' उत्तरध्रुव में छे महीने की रात होती है, अतः वेदोंमें भी छे महीने की रात का वर्णन है। और यह भी वर्णन है कि उस दीर्घ रात्रि से घबरा घबरा कर आर्य लोग प्रार्थना करते थे, कि हे परमेश्वर ! शीघ्र सबेरा हो। उत्तर ध्रुव में सप्तर्षि-नक्षत्र शिर के ऊपर फिरते हैं, अत: वेदों में भी इस घटना का वर्णन है। उत्तरध्रुव में महीनों तक सुहावनी ऊषा होती है, अतः वेदों में भी इस सुन्दर ऊषा का वर्णन है। उत्तरध्रुव में सूर्य दक्षिण की ओर से उदित होता हुआ दीखता है, अतः वेदों में भी सूर्य को दक्षिणा-पुत्र कहा गया है। इनके अतिरिक्त दो एक छोटी अन्य भी घटनाएँ हैं और उनका भी वेदों में वर्णन है। इन तमाम घटनाओं के वर्णन से तिलक महोदय यह अर्थ निकालते हैं कि किसी समय आर्य लोग वहाँ अवश्य रहते थे। इसीलिए आँखों देखे वर्णन वेदों में लिखे जा सके। उनकी इस उक्तिपर कई विद्वानों ने अपने अपने तर्क चलाये हैं। पूनानिवासी नारायण भवानराव पावगी ने ' आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि ' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि आर्यलोग भारत देश से उत्तरध्रुव को गये, वहाँ यह सब दृश्य देखा और लौटकर फिर इस पर रचना की। बाबू अविनाशचन्द्र दास एम्० ए० ने अपने ' ऋग्वेदिक इण्डिया ' नामी ग्रन्थ में उक्त वर्णनों का अर्थ बदल कर यह दिखलाने की कोशिश की है कि यह सब घटना पञ्जाब प्रान्त की है। इसी तरह बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने ' मानवेर आदि जन्मभूमि ' में लिखा है कि तिलक महोदय ने वेदों का अर्थ पाश्चात्यों के अनुसार किया है। उनको वेदार्थ करना ज्ञात नहीं था इत्यादि।

हम कहते हैं कि जिन मन्त्रों का अर्थ तिलक महोदय ने किया है, वे मन्त्र कहीं चले तो नहीं गये ? वे अब भी मौजूद हैं। अतः जिसकी इच्छा हो, वह देख ले और अर्थ कर ले। हमने भी उक्त मन्त्रों को देखा है। हमारी समझ में तो वेदों के उन मन्त्रों में उत्तरध्रुव का ही वर्णन है। चक्राकार उषा, सप्तर्षि, ध्रुव और दीर्घ रात्रि सम्बन्धी ऐसे वचन हैं, जिनका दूसरा कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। सायणाचार्य ने भी दीर्घरात्रिवाले मन्त्रों का अर्थ किया है, पर उनको उत्तरध्रुवका अर्थ नहीं सूझा। इस लिए दीर्घ रात्रि को उन्होंने हेमन्त ऋतु की रात समझ लिया। किन्तु हेमन्त ऋतु की रात ऐसी नहीं होती, जिसके लिए रोया चिल्लाया जाय। उससे बचने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की जाय और प्राणों पर आ पड़े। यह रात निस्सन्देह उत्तरध्रुव की ही है। किन्तु प्रश्न यह है कि वेदों में उत्तरध्रुव की घटनाओं का वर्णन कहाँ से आया ? हमारा तो विश्वास है कि यह वर्णन वहाँ जाने से नहीं सूझा, प्रत्युत उच्च कोटि के ज्योतिष-ज्ञान का फल है। वहाँ की ऐसी स्थिति जानकर कभी भी कोई वहाँ बसने की इच्छा से नहीं गया। यह हमारी ही कल्पना नहीं है। इस विषय का एक अच्छा प्रमाण वाल्मीकि रामायण में मिलता है। सुग्रीव वानरों से कहते हैं कि सीता को ढूँढ़ने के लिए उत्तर कुरु की ओर जाओ परन्तु—

न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्।

(वा० रा० कि० ४३।५७)

ख़बरदार तुम लोग उत्तर कुरु के उत्तर हरगिज़ मत जाना। वहाँ असीम अन्धकार होता है और उसके आगे का हाल कुछ भी मालूम नहीं है। यह वर्णन हमको दो बातें बतलाता है। एक तो यह कि यहाँवाले वहाँ की अन्धकार आदि सब ज्योतिषसम्बन्धी घटनाओं को

जानते थे। दूसरे यह कि वहाँ कोई जाता नहीं था। तब सवाल होता है कि बिना गये वहाँ का हाल कैसे ज्ञात हुआ ? हम फिर कहते हैं कि वहाँ का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र और भूगोलशास्त्र की अपार विद्या से ही जाना गया।

आज कल छोटे-छोटे बच्चों को स्कूलों में उत्तरध्रुव की छे महीने की रात और छे महीने का दिन और उत्तरायण, दक्षिणायन आदि की शिक्षा किस प्रकार दी जाती है ? क्या यह सब वहाँ जाकर दिखलाया जाता है ? कभी नहीं। तब जिस प्रकार सब शिक्षक ग्लोब, नक़्शा, लैम्प और अन्य साधनों से छोटे बच्चों को वहाँ का ज्ञान करा देते हैं, उसी तरह वेदों का भी वह ज्ञान परमात्मा की गुरुपरम्परा से आया। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। बांहर से जाकर उत्तरध्रुव में बसनेवाला, वहाँ की दीर्घ रात्रि से घबराकर, उससे छूटने की प्रार्थना कभी नहीं कर सकता।

परन्तु ऋग्वेद २।२७।१४का यह मन्त्र कि 'मा नो दीर्घा अभि नशन्तामिस्राः' अर्थात् दीर्घ अन्धकार हम पर न आवे और ऋग्वेद १।४६।६ का यह मन्त्र कि 'या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्' अर्थात् ऐसी शक्ति हमको दे कि जो इस अन्धकार से पार करे। और भी ऋग्वेद का यह मन्त्र कि—

न यस्याः पारं ददृशे न यो युवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति। अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि।

(अ०१९।४७।२)

अर्थात् जिसका तीर दिखलाई नहीं पड़ता और सब गतिमान् पदार्थ जिसमें विश्राम पाते हैं, ऐसी हे प्रशस्त तमोमय रात्रि ! हमको निर्विघ्निता से अपने पार पहुँचा। इत्यादि मंत्र यह मानने के लिये विवश करते हैं कि बाहर का कोई मुसाफिर ऐसी आफत की जगह नहीं जा सकता। वहाँ जाने में तो हर तरफ से क्रम क्रम अन्धकार के मुक़ाम आते हैं। दो ही चार दिनवाली रात जहाँ से आरंभ होगी, वहीं से किसी को आगे जाने की हिम्मत न पड़ेगी। शोध करनेवाले भी प्रायः वहाँ दिन के ही समय में जाते हैं। जो ढूँढ तलाश के लिये दिन के समय में वहाँ जायगा, वह छे महीने का दिन और छे महीने की रात जानता होगा। ऐसा जानकार इस तरह न रोवेगा। अतएव जिन लोगों का वर्णन उक्त वेद-मंत्रों में है, वे राजी खुशी से मुसाफ़िरी कर के बाहर से वहाँ नहीं गये। कौन ऐसा बेवक़ूफ़ होगा, जो ऐसी आफ़त में जान बूझ कर पड़े और रोये चिल्लाये ? हम रामायण के प्रमाण से भी कह चुके हैं कि वहाँ कोई आर्य बाहर से नहीं जाता था और न पूर्व समय में वह स्थान जाने के लायक़ समझा जाता था। तो क्या आर्यों की वहाँ उत्पत्ति हुई ? यदि वहाँ उत्पत्ति मानी जाय, तो बेशक कहा जा सकता है कि वे वहाँ पैदा हुये और अन्धकार की तकलीफ को किसी तरह काटते रहे। पर जब बर्फका तूफान आया तो भाग निकले। यह सब कुछ हो सकता है, पर बर्फ की वर्षा कब हुई, यह बात भी बड़े गौर से देखनेलायक है।

तिलक महोदय ने अपने ग्रंथ में विस्तार से लिखा है कि हिमपात का समय ज्योतिष और भूगर्भशास्त्र के आधारों से निकाला जाता है। आप लिखते हैं कि 'कितने ही भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार गत हिमकाल की समाप्ति बीस हजार अथवा अस्सी हजार वर्ष के पूर्व हुई। किन्तु सर रॉबर्ट बाल के मत से हिमकाल के कारणों का भूगर्भशास्त्र की अपेक्षा, यदि ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ढूंढे, तो समस्त दिक्कतें दूर हो सकती हैं। डाक्टर क्रॉल ने गणितद्वारा बतलाया है कि गत ३० लाख वर्ष में पृथ्वी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है। पहिली बार एक लाख सत्तर हजार वर्ष की, दूसरी बार दो लाख साठ हजार वर्ष की, और तीसरी बार एक लाख साठ हजार वर्ष की। इस अन्तिम केन्द्रच्युति को बीते अस्सी हजार वर्ष गुजर चुके। डॉक्टर क्रॉल के इस विवेचन से ज्ञात होता है कि यह अन्तिम हिमकाल आज से दो लाख चालीस हजार वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था और अस्सी हजार वर्ष पूर्व समाप्त हुआ।' इसके आगे आप फिर कहते हैं कि 'अमेरिकन भूशास्त्रवेत्ताओं ने जो दस हजार पूर्व हिमपात माना है, वह वर्तमान ज्ञान के अनुसार मानने लायक है'। अन्त में आप कहते हैं कि 'हिमकाल की अन्तिम आवृत्ति के विषय में अनेकों अनुमान हैं। किन्तु अपने वर्तमान ज्ञान की स्थिति के

अनुसार हमें ज्योतिष शास्त्र की अपेक्षा भूगर्भशास्त्र पर ही विश्वास रखना चाहिये । यद्यपि हिमोत्पत्ति के कारणों के सम्बन्ध में तो ज्योतिष शास्त्र का ही मत अधिक विश्वस्त है'।

यह है तिलक महोदय की हिमोत्पत्तिविषयक अन्तिम निष्पत्ति। यहाँ आप साफ़ शब्दों में कहते हैं कि हिमपात के कारण तो ज्योतिषशास्त्र ही ठीक ठीक बतलाता है । पर अपने वर्तमान ज्ञान की स्थिति के अनुसार अमेरिकन भूशास्त्रवेत्ताओं का ही मत ग्राह्य है। सच है, जो ज्योतिषशास्त्र कारण बतलावे उसके अनुसार तो कार्य न माना जाय किन्तु भूगर्भशास्त्र के ऐसे कथानक पर विश्वास किया जाय, जिसके कार्य-कारण का कोई ठिकाना न हो।

यहाँ यदि बारीकी से देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने ज्योतिषप्रतिपादित काल ही सत्य माना है । पर चूँकि ओरायन ग्रन्थमें आप वेदों की उमर छे हजार वर्ष बतला चुके हैं, ऐसी दशा में अब लाखों वर्ष की बात कैसे स्वीकार करें? 'वर्तमान ज्ञान' लिखकर आपने अमेरिकन विद्वानों की बात मान ली। क्योंकि ओरायन और इनकी कल्पना में थोडा ही फरक पडता है। इस फरक़ के लिये आपने लिखा है कि दश हजार वर्ष पूर्व बर्फ पडा, तथा चार हजार वर्ष तक सुन सुना कर ध्रुवप्रदेश की घटनाएं याद रक्खीं। और इसके बाद अर्थात् आजसे छे हजार वर्ष पूर्व वेदरूप कविता में लिख लीं। इस प्रकार गोलमाल करके तिलक महोदयने अपनी बात आगे बढा दी है ।

हम अभी थोडी देर पहिले लिख आये हैं, कि उत्तर ध्रुव में आर्य लोग बाहर से नहीं गये । तिलक महाराज के दिये हुए विवेचन से भी यही बात पाई जाती है । ऐसी दशामें ऐसी ध्वनि निकलती है कि आर्यों की उत्पत्ति उत्तर ध्रुव में हुई। यदि ऐसा है तो आर्य लोग वहाँ से तभी निकल भागे होंगे, जब कि सबसे पहली बार वहाँ बर्फ का तूफान आया होगा। एक स्थान पर तिलक महोदय लिखते हैं कि- 'सारांश यह कि दोनों गोलार्धोंमें हिमकाल और हिमान्तरकाल, एक के बाद दूसरा क्रमसे प्रति १०५०० वर्ष में होता ही रहता है ।' यदि यह बात सत्य है तो यहाँ ज्योतिष के सिद्धान्त से यह एक जबरदस्त सृष्टिनियम निकल आया कि प्रति १० हजार ५ सौ वर्ष के बाद हिमपात होता ही रहता है। भले हिमपात कम या ज्यादा हो, पर मनुष्यों को भगा देने भर को तो थोडा ही बर्फ काफी होता है। इसलिए अब यहाँ इन तीन कल्पनाओंमें से एक कल्पना सत्य होनी चाहिए।

(१) उत्तर ध्रुवमें आर्यलोग बाहर से रहने गये।

(२) या तो २० हज़ार वर्ष पूर्व आर्य लोग उत्तर ध्रुव में पैदा हुए, १० हज़ार वर्ष तक सुख से वहां रहे और इसके बाद बर्फ पड़नेके कारण भागकर यहाँ चले आये।

(३) या वे वहाँ लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व आदि सृष्टि में पैदा हुए और अधिक से अधिक १० हजार वर्ष वहां रहकर तब सबसे पहिले ही हिमपात में निकल आये।

प्रथम कल्पना का हम पहिले ही खण्डन कर चुके हैं, कि वहाँ रहने के लिए कोई भी बाहर से नहीं जा सकता। द्वितीय कल्पना भी मानने योग्य नहीं है, क्योंकि मनुष्यों को पैदा हुए बीस हजार वर्ष से अधिक हो चुके। अब केवल तृतीय कल्पना ही रह जाती है, कि लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य उत्तर ध्रुव में पैदा हुए और पैदा होनेके पश्चात् क़ायदे के अनुसार साढ़े दश हज़ार वर्ष पर होनेवाला हिमपात जब हुआ, तब उससे घबराकर यहाँ भाग आए। तिलक महोदय के मतानुसार ऋग्वेदके प्राचीन सूक्त हिमपात के पहिले के हैं। अतः उनके मत से ही सिद्ध हुआ कि वेद भी उन पैदा होनेवालों ने हि वहाँ बनाये, जो अब तक प्राप्त हैं। ओरायन नामी ग्रन्थ में वेदों की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए, आप लिखते हैं, कि 'आर्यलोग और उनका धर्म ये दोनों हिमपूर्वकालीन हैं। उनका सत्य मूल तो अतिप्राचीन भूस्तरकाल में घुसा हुआ है। अर्थात् वेद इतने प्राचीन समय से प्रचलित हैं कि जैमिनि, पाणिनि और प्राचीन ब्रह्मवादियों ने जो उनका अस्तित्व जगत् के आरंभ से माना है और उन्हें अनादि कहा है, वह स्वाभाविक ही है।' लौट फिर कर, चक्कर लगाकर, वेद-भगवान् तिलक महाराज के मतानुसार, उस समय के साबित होते हैं, जब मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव हुआ था। यह बात जुदी है, कि तिलक

महोदय के मत से आर्यों कि उत्पत्ति उत्तरध्रुव में सिद्ध हो और हम उसे अन्यत्र मानें। पर तिलक महोदय के मत से वेदों की उत्पत्ति तो मनुष्यों कि उत्पत्ति के साथ ही साथ सिद्ध होती है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।

यहाँ हम अपने प्रकरण में आकर यह याद दिलवाते हैं, कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने ज्योतिष के प्रमाणों से वेदों को छे हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाने दिया, वही विद्वान् अपनी दूसरी रचना में ऐसा फँस गया, कि वेद लाखों, करोड़ों वर्ष के—मनुष्योत्पत्ति के समय के—आदि सृष्टि के आप से आप सिद्ध हो गये। अब हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं, कि ज्योतिष संबंधी कोई ऐसी घटना नहीं है, जिससे उनका समय निकाला जा सके। वेदों में ज्योतिषसम्बन्धी जो वर्णन हैं, उनका फल अभी ऊपर दिखलाई पड़ चुका है। वेदों में उत्तरध्रुवसम्बन्धिनी घटनाएँ हैं, जो घोषणापूर्वक कहती है, कि या तो मनुष्यजाति ने उत्तरध्रुव में पैदा होकर वेदों में वहाँ का वर्णन किया, या उसे यह उत्तरध्रुव का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान गुरुपरम्परा से गुरुओं के भी गुरु उस परमात्मा की ओर से दिया गया। जिसको पतञ्जलि मुनि ने 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' कहा है। अब जमाना पलट गया है। उत्तरध्रुवोत्पत्ति का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो चुका है। अतः हम विश्वासपूर्वक कहते हैं, कि वेदों में जो उत्तरध्रुवसम्बन्धी वर्णन है, उसके कारणों को ढूँढ निकालने पर हम किसी अलौकिक परिणाम पर ही पहुँचेंगे, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। तिलक महोदय के निकाले हुए समय के आधार पर अर्थात् छे हज़ार वर्ष के आधार पर जो विद्वान् वंशावली के समय की पुष्टि करना चाहते हैं और वेदों से ऐतिहासिक राजाओं का वर्णन निकाल कर सिद्ध करना चाहते हैं, कि भारतवर्ष का इतिहास छे हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाता, उनसे हम नम्रतापूर्वक पूछना चाहते हैं, कि आदि सृष्टि में बने हुए, इन वेदों में वर्णित राजा, ऋषि, नगर, देश कौन से हैं और इनकी स्थिति उत्तरध्रुव में थी या और कहीं? साथ ही हम उन विद्वानों से भी जो इजिप्ट और बेबिलन की सभ्यता को सबसे पुरानी बताना चाहते हैं, पूछते हैं, कि क्यों साहब! आप इन वेदों से पहिले इजिप्ट की सभ्यता को किस प्रकार आगे बढाने की हिम्मत करते हैं, जब कि तिलक महोदय खुद ही अपनी बात का खण्डन कर गये?

तिलक महोदय ने जिस प्रकार अपनी प्रथम पुस्तक 'मृगशीर्ष' में वेदों से ज्योतिष सम्बन्धी घटनाएं निकालने में भूलें की हैं, उसी प्रकार दूसरी पुस्तक 'उत्तरध्रुव-निवास' में भी उन्होंने दो बड़ी ग़लतियां कर डाली हैं। एक ग़लती तो यह है कि उन्होंने आर्यों का उत्तरध्रुव से यहां आना सिद्ध किया। और दूसरी ग़लती यह है, कि उन्होंने युगों की लम्बी लम्बी संख्याओं को पौराणिक कह दिया और युगों के द्वारा जो सृष्टिसंवत् क़ायम होता है, उसकी परवाह नहीं की। प्रत्युत सृष्टिउत्पत्तिकाल को भी ध्रुव के हिमपातकाल के साथ ही जोड़ दिया है। किन्तु आपका 'उत्तरध्रुवनिवास' अब अमान्य हो गया है। इस सिद्धान्त के खण्डन में अब तक तीन विद्वानों ने तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। जिनसे स्पष्ट हो जाता है, कि आर्यों का आगमन उत्तरध्रुव से नहीं हुआ। जब उत्तरध्रुवनिवास का मूल सिद्धान्तही ग़लत हो गया, तो युगगणना और १२००० देववर्षों की बात पर अब उनका कुछ भी असर नहीं रहा।

उत्तरध्रुवनिवास की अमान्यता।

तिलक महोदय के लिखे हुए 'उत्तरध्रुवनिवास' ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' और बाबू अविनाशचन्द्र दास एम्० ए०, बी० एल० ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' और नारायण भवानराव पावगी ने 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' बड़ी योग्यता से लिखा है। तीनों ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिलक महोदय ने भूल की हैं। यहाँ हम तीनों ग्रन्थों से एक एक वाक्य लिखकर दिखलाना चाहते हैं, कि वे किस प्रकार लो० तिलक की पुस्तक का खण्डन करते हैं। 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' में पावगी महोदय कहते हैं, कि 'तिलक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि—

It is clear that this Soma juice was extracted and purified at night during

the Atiratra sacrifice, (in the Arctic) and Indra was the only deity to whom the libations were offered in order to help in his fight with the Asuras, who had taken shelter with the darkness of the night.

अर्थात् उत्तरध्रुव में अतिरात्रयज्ञ के समय रात्रि में सोमरस निकाल कर साफ़ किया जाता था और असुरों का पराभव करने के लिये इन्द्रको समर्पित किया जाता था। परन्तु उत्तरध्रुव में तो सोमलता होती ही नहीं। वह तो हिमालय में होनेवाली चीज़ है, क्योंकि अनेक जगह लिखा है, कि वह मुञ्जवान् पर्वत पर होती है। यह मुञ्जवान् पर्वत हिमालय का ही भाग है। इसलिए उत्तरध्रुवनिवास का सिद्धांत सच्चा नहीं है।' यह एक ऐसा प्रमाण है, जिसने उस थियरी का खंडन कर दिया है, जिसके कि द्वारा तिलक महोदय उत्तरध्रुव में आर्यों का निवास सिद्ध करते हैं। ऊपर के प्रमाण से तो यह नतीजा निकलता है, कि आर्य वहाँ हुए जहाँ सोमलता होती थी।

अविनाश बाबू अपने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में लिखते हैं, कि 'वेद उस समय बने, जब सरस्वती नदी हिमालयसे बहकर सीधी समुद्र को जाती थी। उस समय राजपूताने का मरुस्थल समुद्र हो रहा था'। इस समय सरस्वती नदी का पता भी नहीं है। वह जब बहती थी, उस समय इस ऋचा के कहनेवाले उस नदी को देखते थे। समुद्र कितने दिन तक रहा, सरस्वती उसमें बहकर गिरती थी, उसको कितना समय हुआ और समुद्र तथा सरस्वती को सूखे हुये कितने दिन हुए? यदि समुद्र और सरस्वती एक ही समय में सूखे हों तो अविनाश बाबू की राय में उक्त घटना को हुए कम से कम हजारो लाखों वर्ष हो गये। अविनाश बाबू के कथनानुसार लाखों वर्ष पूर्व आर्यलोग उस जगह पर थे, जहाँ सरस्वती नदी और राजपूताने का समुद्र लहरा रहा था। इस तरह अविनाश बाबू ने भी उत्तरध्रुवोत्पत्ति के सिद्धांत का खण्डन कर दिया और सिद्ध कर दिया, कि आर्यलोग लाखों वर्ष पूर्व आर्यावर्त में ही रहते थे।

बाबू उमेशचंद्र विद्यारत्न कहते हैं, कि 'तिलक महोदय का मत संशोधन करने के लिए हम गत वर्ष उनके घर गये और उनके साथ पाँच दिन तक इस विषय में बहस करते रहे। उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया कि 'हमने मूल वेद नहीं पढ़े—हमने तो केवल साहब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं'। इस एक ही वाक्य में उन्होंने यह कह डाला कि वेदों के द्वारा तिलक महोदय का निकाला हुआ, यह सिद्धांत कि आर्यलोक उत्तरध्रुव के निवासी हैं, विश्वासयोग्य नहीं है। क्योंकि जो आदमी जिस पुस्तक को समझ ही नहीं सकता, वह उस के अंदर की बात कैसी जान सकता है? और कैसे उसके आधार पर अनुसंधान कर सकता है? इन तीनों विद्वानों ने इतना ही नहीं लिखा, किंतु अपने ग्रंथों में पचास से दो सौ पृष्ठों तक का सारा स्थान लो० तिलक के सिद्धांत के खंडन में रोक दिया है।

योगमार्ग।

(लेखाङ्क २)

(लेखक- पं० प्रियरत्न आर्ष)

रसतन्मात्रा का अभ्यास।

(१) कारणगंधके पीछे रसका अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि कारणगंधाभ्यास के अनन्तर ही कारणरसका अभ्यास किया जा सकता है; क्योंकि कारणगंधाभ्यासकी पक्वावस्थामें जिह्वाग्रपर रसकी भावनायें आरंभ होने लगती हैं। उसी समय मनको जिह्वाग्रपर रखकर कारणरसका अभ्यास कर सकते हैं। तथापि कार्यरसका अभ्यास भी किया जाए तो अच्छा है। क्योंकि ऐसा करनेसे मन तृप्त और सांसारिक रसोंसे निर्विण्ण 'विरागी' हो जाता है। तदनंतर कारणरस का अभ्यास करना चाहिए। प्रथम कार्यरस के अभ्यास का प्रकार यह है कि जो वस्तु आपको खानेमें रुचिकर मधुर और प्रिय लगती हो उसे लीजिये। (स्वयं उत्पन्न कोई फल आदि, न कि बनाई हुई मिठाई)जैसे कि अत्यंत मीठा चिनिया आदि, केला, कलमी मधुर आम या काशमिरी मीठा सेव इत्यादि। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आपने केलेको पसंद किया। अभ्यासके समय केलेको साथ ले जांय। छिलकेके अन्दर ५ टुकडे काटकर रख लें। फिर अभ्यासकालमें ३ प्राणायामके पश्चात् केलेके एक टुकडेको उठाकर जिह्वा के अग्रभाग पर आधे मिनिट तक स्पर्श करें। यहां स्पर्श का तात्पर्य दबाव या रगडसे है। फिर मनसे उसके रसका निश्चय करें, कि यह किस प्रकारका है। फिर टुकडे को फैंक कर दो मिनिट तक जिह्वाग्रपर ही मनको रखते हुए, उस रसको याद करें। पुनः दूसरी वार दूसरा टुकडा उठाकर वैसाही स्पर्श करके उसको फैंक देवें। और दो मिनिट तक मनसे याद करें। इसी प्रकार ४ वार टुकडों के द्वारा अभ्यास करें। अंतमें ४ थी वार ५ मिनिट तक याद करके उठ जावें और ५ वें टुकडे को उठाकर खा लेवें। दो-तीन मिनिट तक घूमते हुए उसके रसपर मन लगावें।

(२) इसका अभ्यासक्रमभी कपूरके समान समझना चाहिए। अथात् पहिले दिन ४ वार, दूसरे दिन ३ वार, तीसरे दिन २ वार, ४ थे दिन एक वार इत्यादि। यह रस-अभ्यास पहले कपूरगंधाभ्यास की अपेक्षा शीघ्र सिद्ध होनेवाला है। इसलिए यदि चाहें तो समयानुसार हेर फेर कर सकते हैं। अर्थात् प्रातःकाल ४ वार, सायं ३ वार, दूसरे दिन प्रातः दो वार और सायं एक वार। तीसरे दिन प्रातःकाल दो घण्टा पहिले केले के टुकडे का कुछ स्पर्श करके अभ्यास करें। सायंकाल ४ घण्टा पहले चक्खें। फिर केलेके आश्रय की आवश्यकता नहीं है। पहले समय दो मिनिट तक अंतर और अंत में ५ मिनिट बैठना। दूसरे समय ३ मिनिटका अंतर पीछे १० मिनिट बैठना। तीसरे समय ५ मिनिटका अंतर और अंतमें १५ मिनिट बैठना। चतुर्थ समय २० मिनिट तक अभ्यास करना इत्यादि कपूरके समान सब क्रम समझना चाहिए।

(३) इस अभ्यासमें दूसरे दिन से ही कुछ परिवर्तन शुरु होने लगेगा। अर्थात केलेका रस रोचक होता चला जायगा। जिस दिन से केलेका आश्रय छोड दिया जायगा उसी दिन से इसके अंदर दिव्यता अधिक आने लगेगी।

(४) अभ्यास करते समय प्रतिदिन या प्रतिसमय मनको धीरे धीरे जिह्वाग्र की ओर विशेष रूपसे लाते रहना चाहिए । अंतमें जिह्वाग्रकी नोक अर्थात् तिलबिन्दु पर ५ वें दिन मन को ले आना चाहिए और उसी पर अभ्यास करते रहना चाहिए ।

(५) दूसरे दिनके अभ्यासमें जिह्वाग्रपर रस का पानी आने लगेगा । इसको वारंवार निगलनेकी चेष्टा न करना । यदि वह स्वयं अंदर चला जाय तो जाने दो । किन्तु अपने मनको जिह्वाग्रपर ही रखना । धीरे धीरे रसका आना सूक्ष्म होता जायगा । जिस दिन केले का आश्रय छोड दिया जायगा, उसी दिनसे वह केलेका अभ्यस्त रस जलके रूपको छोडकर जिह्वाग्रसे किरणोंकी अवस्थामें निकलेगा और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जायगा । जैसे जैसे वह सूक्ष्म होता जायगा, वैसे वैसे ही उसके अंदर रोचकता और आनंद अधिक बढता जायगा । यह कर्मरस का अभ्यासक्रम है ।

विशेष ।

(क) इस अभ्यासके अंदर भी कपूर अभ्यासके समान सिद्धियां होने लगती हैं । दूसरे मनुष्यको भी यह रस चखाया जा सकता है । अभ्यासके समय उपलब्ध जिह्वारस का पवन वस्त्र या कागज आदिपर डालकर दूसरों को चखा सकते हैं । किन्तु यह सब त्याज्य मार्ग है । इससे आगेके अभ्यासमें बाधा पडती है ।

(ख) जब कार्यरस सिद्ध हो जाय और लगभग दो सप्ताह उस अभ्यास को करते हुए हो जांय तब कार्यरससे मनको हटाते जांय । अर्थात् जिह्वाग्र (जिह्वाकी नोक) पर मन रहे, किन्तु कार्यरसको भुलाते जांय । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कार्यगंधको भुलाया था । यद्यपि भुलाते समय अन्य रस भी उपस्थित होंगे, तथापि सभी रसोंसे मनको हटाते रहना । जब दोतीन दिन में कार्यरस भूल जायगा, तब कारणरस अर्थात् स्वाभाविक जलका रस जिह्वाग्रपर उपस्थित होगा । फिर उसीका अभ्यास निरंतर करते रहना । उत्तरोत्तर उसमें सूक्ष्मता आती चली जायगी । कार्यरसकी अपेक्षा रोचकता भी बढती जायगी । इस अभ्यास को भी लगभग दो सप्ताह तक करते रहना ।

(ग) रसनाशक्ति भी गंधशक्ति के समान तीव्र हो जायगी और भिन्न भिन्न प्रकारके रसों के आकर्षण की सिद्धि भी हो सकेगी । दूसरेको भी रसास्वादन कराया जा सकेगा ।

रूपतन्मात्रा का अभ्यास ।

(१) जलीय रसाभ्यासके पश्चात् आग्नेय रूपका अभ्यास करना चाहिए । क्योंकि–

"तैजसस्याणोरूपतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः" ।

(योग- १।४५)

इसका प्रकार यह है, कि यदि कारणरसाभ्यास के आगे कारणरूपतन्मात्रा का भान होने लगे, तो भले ही सीधे उसपर जा सकते हैं । नहीं तो प्रथम कार्यरूप तन्मात्रा का अभ्यास कर लेवें । अर्थात् किसी सुंदर हरी ताजी पत्ती या गुलाब के फूल को सामने रखकर अभ्यास के समय कपूर आदि के समान आधे मिनिट तक आंखोंसे देखें और फिर आंखोंको बंद करके २ मिनिट तक याद करें; इत्यादि सब क्रम गंधाभ्यास और रस अभ्यास के समान समझना चाहिए । इसका कारणरूप बनाने के लिए भी कारणगंध और कारणरस के समान ही क्रम समझना चाहिए ।

(२) मुखके अंदर तालु (जहां अंगुलि जैसा काकुवा लटक रहा है, या जिस को कोमल तालु भी कहते हैं) में मनको रखकर रूप का अभ्यास करना चाहिए । क्योंकि–

"तालुनि रूपसंवित्" (योग० १।३५ पर व्यास)

(३) कारणरूपाभ्यास आरंभमें अग्नि से भी सूक्ष्म विद्युत् जैसा प्रतीत होगा । किन्तु उत्तरोत्तर अभ्यास से विद्युत् से भी अधिक सूक्ष्म रोचक

और शुभ्र दिखलाई देगा । जिसकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती ।

कारणरूपाभ्यास की परिपक्वावस्था ही भुवन-विज्ञानार्थ सूर्यसंयम करनेकी भूमि है ।

स्पर्शतन्मात्रा का अभ्यास ।

(१) अग्निके रूपाभ्यासके आगे अच्छा तो यह है, कि मनको तालुसे हटाकर उसके (तालुके) नीचे जिह्वा के मध्यमें (जो कि त्वगिन्द्रिय का केन्द्र है) मनको रखकर वायुके स्पर्शका अभ्यास करें। यह कारणस्पर्शाभ्यास है । यदि कार्यस्पर्शाभ्यास भी परीक्षण के लिए करना हो तब भी मन को तालुसे हटाकर उसे जिह्वा के मध्यमें रखते हुए किसी अनुकूल अंग से कपूर आदिके समान अभ्यासद्वारा स्पर्श का अभ्यास दृढ करें। परांगस्पर्श का अभ्यास सर्वथा त्याज्य है ।

(२) कार्यस्पर्श का अभ्यास यदि किया हो तो उसको भी अधिकसे अधिक दो सप्ताह रखकर फिर भुलाते हुए कारणस्पर्शकी ओर चला जाना चाहिए। मन को जिह्वाके मध्यमें रखते हुए कारणस्पर्शाभ्यास करना चाहिए । इसमें पहले वायु जैसा स्पर्श होगा। फिर रोचकता बढती चली जायगी और स्पर्श की विचित्र सूक्ष्म गति अनुभव होगी ।

विशेष ।

संपूर्ण शरीर त्वचामय है। अर्थात् शरीरके अंदर और बाहर सर्वत्र त्वचा का राज्य है । अतएव निज शरीर में किसी प्रकार का बल, पुष्टि, स्वस्थता सौंदर्य आदि यदि लाना हो तो उक्त जिह्वा के मध्य (त्वचा के केन्द्र) में मन रखते हुए उस उस वस्तुके प्रवेशके चिन्तनका अभ्यास करना चाहिए। अधिक समयतक इस प्रकार शरीरमें प्रवेशाभ्यास करने से प्रवेश की सफलता अधिक होती है। यह सिद्धि का मार्ग है । आगे बढने-वाले अभ्यासी को इधर अधिक नहीं चलना चाहिए। यदि थोडे बल या पुष्टि के लाभ उठाने की इच्छा हो, तो कारणस्पर्शाभ्यास करते हुए समाप्ति से दोचार मिनिट पहले अर्थात् उठते समय उसके प्रवेश का भी अभ्यास कर लेना चाहिए ।

शब्दतन्मात्रा का अभ्यास ।

इस प्रकार वायु के कारणस्पर्शाभ्यास के पश्चात् प्रथम कार्यशब्द का अभ्यास करें । किसी भी वाद्यकी एक रसध्वनि जैसे हर्मोनियम के किसी सुरीले पर्दे की अथवा घण्टी आदि की लगातार ध्वनि को कानोंसे, कपूर आदिकी प्रक्रिया के अनुसार संख्या और अंतर के साथ सुन सुन कर अभ्यास करें । किंतु इस प्रकार साधनों की अनुपलब्धिमें अथवा परिस्थिति के कारण बिना बाजे आदिके भी किसी ध्वनि का चिन्तन करके कार्य शब्द का अभ्यास कर सकते हैं। उससे आगे कारणशब्दका अभ्यास करना चाहिए । अर्थात् कार्यशब्दको भुलाते हुए मनको जिह्वाके मूलमें रखने से सूक्ष्म ध्वनि जो आंतरिक अवस्था से प्रतीत हो और जो ध्वनिमात्र का मूल है, उसका अनुभव होगा।

अहंकार आदि की अभ्यासविधि ।

अबतक का यह अभ्यास ज्ञानेंद्रियों के द्वारा पंचभूततन्मात्राओं का था। इसके आगे—

"तेषामहङ्कारः सूक्ष्मो विषयः"।

तन्मात्राओं से आगे अहंकार सूक्ष्म विषय है। अहंकार प्रकृतिका द्वितीय विकार है। "प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः। अहंकारात् पंचतन्मात्राः।" सृष्टि बनाने के लिए जगत् के कारणरूप प्रकृति का महत्तत्व नामका पहला विकार हुआ। पुनः दूसरा विकार अहंकारके नामसे है। इससे आगे आकाश आदि की तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। अतएव शब्दतन्मात्रा के अभ्यास के पश्चात् अहंकार का अभ्यास करना चाहिए। इसकी विधि यह है, कि कानों के द्वारा शब्दतन्मात्रा का अभ्यास पक्व हो जानेपर मन को जिह्वामूलसे हटाकर उससे भी नीचे स्वरयंत्र (श्वासप्रणाली) की

तरफ रखकर बिलकुल चुपचाप बैठ रहना चाहिए। उस समय मानसवृत्तिसे जो भी प्रतीत हो, उसी को अहंकार समझना चाहिए। कदाचित् किसी ज्ञानेन्द्रिय का विषय गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द अनुभव में आ जावे, तो उसको हटाते रहना और मनको किसी भी इंद्रिय के केन्द्र की तरफ न जाने देना। इस प्रकार तन्मात्राके विज्ञान से पृथक् अहंकार अर्थात् प्रकृति की विकृति-रूप द्वितीयावस्था का अभ्यास करना चाहिये। जब इस अभ्यास में लगभग एक सप्ताह हो जाय अथवा मन स्वयं ही उस अहंकार से भी बढकर किसी और अवस्था को अनुभव करने के लिये उससे भी आगे स्वरयंत्र के अंदर को जाना चाहे, तो फिर उसी अवस्था में जो अनुभव प्रतीत हो, कुछ दिन उसी का अभ्यास करता रहे। इस अवस्था में महत्तत्त्वका अनुभव होगा जो कि प्रकृति का प्रथम विकार है। एवं महत् तत्त्व के अभ्यास के अनंतर प्रकृति का अभ्यास करना होता है। जब महत्तत्त्व का अभ्यास करते हुए लगभग एक सप्ताह हो जाय अथवा मन स्वयं स्वरमंत्र के अंदर की ओर आगे बढकर महत्तत्त्व से भी उच्च अवस्था अनुभव करने लगे, तो फिर उसी का अभ्यास करते रहना चाहिये। यह प्रकृति के स्वरूप का अभ्यास है, जो स्वरयंत्र में कुछ कुछ हृदय के समीप अनुभव होता है। योग के ग्राह्य मार्गका यह अन्तिम स्थान है। जो सूक्ष्मता में पराकाष्ठा रखता है।

ग्राह्य मार्ग अथवा ग्राह्य वस्तुओंका अति सूक्ष्म स्थान प्रकृति ही है। उससे आगे और कोई सूक्ष्म स्थान या सूक्ष्म वस्तु नहीं है। ईश्वर की सूक्ष्मता यद्यपि प्रकृति से अधिक है। किन्तु वह ग्राह्य दृष्टि से नहीं अपितु चेतना दृष्टि से है। प्रकृति तक के अभ्यास में मन (चित्त) काम करता है, अतएव यहां तक का विषय मनोविज्ञान का हुआ और यहां तक की समाधियों को एकाग्र समाधि, संप्रज्ञात समाधि, सालंबन समाधि, सवस्तुक समाधि और सबीज समाधि के नाम से कहते हैं। इससे आगे-

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (योग १।५१)

इस प्रकृति के अभ्यास से भी आगे बढना अर्थात् अभ्यास के समय प्रकृति के अवलंबन तक को भी त्याग देना, सर्वथा निर्विचार हो जाना, निरालंबन या निर्वस्तुक अभ्यास की परिस्थिति में हो जाना है। इसी को निर्बीज समाधि, असंप्रज्ञात समाधि, निरालंबन समाधि, निर्वस्तुक समाधि कहते हैं। इसी निर्बीज समाधि में निज आत्मतत्त्वका आश्रय विश्वात्मदेव ईश्वर में हो जाता है। इस को ब्रह्मसमाधि समझना चाहिए। यह आत्मविज्ञान की भूमि है। इससे आगे आत्म-विज्ञान की भूमियां योग के ग्रहीतृ मार्ग से संबंध रखती है। उनका परिचय ग्रहीतृ मार्गके प्रकरण में दिया जायगा।

ग्रहणमार्ग का अभ्यास।

ग्रहणमार्ग में सुषुम्ना, ज्ञानेन्द्रियों और अंतःकरण की भूमियां आती हैं। प्रथम सुषुम्ना की भूमियों का अभ्यास किया जाता है। सुषुम्ना के अभ्यास की ७ भूमियां हैं। इन्हीं को सुषुम्ना के सप्त केन्द्र या चक्र कहते हैं; जो कि मूलाधार (गुदाचक्र), स्वाधिष्ठान (उपस्थचक्र), मणिपूरक (नाभिचक्र), अनाहत (हृदयचक्र), विशुद्ध (कण्ठचक्र), आज्ञा (त्रिकुटीचक्र या भ्रुकुटीचक्र), ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धाचक्र) नामसे कहे जाते हैं। प्राणों के मुख्य केन्द्र यही सप्त चक्र हैं।

"सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः"।
(मुण्डकोपनिषद २।१।८)

वैदिक शब्दों में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्' के नामसे व्यवहृत होते हैं। सुषुम्णा मेरुदण्ड में प्रधानरूपसे रहती है। मेरुदण्ड के नीचे त्रिकास्थि से ऊपर आरंभ होकर और मेरुदण्ड के अंत में ऊपर बृहन्मस्तिष्क और लघुमस्तिष्क के सङ्गम तथा ब्रह्मरंध्र तक पहुंचती है। यद्यपि इसके सूक्ष्म तंतु संपूर्ण शरीर में व्याप्त हैं, जो ज्ञानवाहक हैं तथापि कुछ तंतु समूह या तन्तुग्रंथियां प्राणशक्ति और संवेदन

शक्ति का अधिक स्थान होने से उनको चक्रोंके नामसे कहा है। जो कि मूलाधार आदि उपरोक्त सप्त चक्र हैं। योग में सुषुम्णा का प्रवेशद्वार मूलाधार (गुदाचक्र) है। प्रथम इस में प्रवेश करना चाहिये। पुनः मन क्रमशः स्वयं आगे बढता चला जाता है।

ग्रहणमार्ग के अभ्यासार्थं प्रथम ३ आभ्यन्तर प्राणायाम करें। पूर्ण श्वास धीरे धीरे अंदर लेकर अंदर ही रोक लें। जब घबराहट हो तब यथासंभव श्वासको बाहर जाने दें, किन्तु बाहर रोकें नहीं। पुनः पूर्ण श्वास अंदर लेकर अंदर ही पूर्वके समान रोककर प्राणायाम करें। फिर-

सुषुम्णा का अभ्यास।

सुषुम्णा का प्रथम चक्र मूलाधार है। वह गुदाके अंदर धमनीरूपसे कुछ गतिसा करता हुआ प्रतीत होगा। उसपर मनको रखना चाहिए। अर्थात् उसकी गति को लगातार अनुभव करते रहना चाहिये। जब १५ मिनिट के लगभग हो जांय तब वही पर मन रखते हुए कुछ देर ओ३म् का जापभी करना आवश्यक है। इसी प्रकार दूसरे समय मूलाधारकी गतिपर मनको २० मिनिट रखकर अभ्यास किया जाय। तीसरे समय २५ मिनिट, चौथे समय ३० मिनिट। एवं कोई ३-४ दिनमें ही मनका पूरा आकर्षण मूलाधार के साथ हो जायगा। पुनः उपराम हो कर उपस्थ-चक्र की ओर उत्क्रान्ति करेगा। परंतु प्रथम और द्वितीय समय तक विशेष रूपसे उपस्थ-चक्र की ओर ध्यान न दिया जाय। पुनः तीसरे समय से उपस्थचक्र की ओर उत्क्रान्ति के साथ ही गुदाचक्र छोडकर उपस्थचक्र पर मन लगा कर अभ्यास करना एवं प्रतिदिन आध घण्टा तक अभ्यास करते रहने से लगभग ५ दिन या एक सप्ताह में ही उपस्थचक्राभ्यास पक्व हो जायगा। फिर मन को फिर नाभिके समसूत्र में अंदर की तरफ नाभिचक्र पर रखकर अभ्यास करना चाहिए।

जिसने ग्राह्यमार्ग का अभ्यास किया हो वह यदि ग्रहणमार्ग पर चलना चाहे, तो उसको ग्राह्यमार्ग के पूर्व बताए हुए तीन दिन अंतर्ध्वनि का अभ्यास करके ग्रहणमार्ग शुरु कर देना चाहिए। भेद यही है, कि प्रथम दिन से ही दोनों के अभ्यास होंगे।

नाभिचक्रपर एक सप्ताह अभ्यास करना और जब मन ऊपर हृदयचक्र की तरफ गति करे, तो मन को हृदय पर रखकर अभ्यास करना। अर्थात् हृदय की गति के अनुभव में मनको लगाए रखना चाहिए।

एवं हृदयचक्र के पश्चात् कण्ठचक्र (कण्ठ-कूप), पुनः भ्रूकुटी (भ्रूमध्य), पश्चात् ब्रह्मरंध्र (कपालमध्य) तक ५-५ दिन के अभ्यास से आगे बढते रहना चाहिए। सुषुम्णा की भूमियां केवल ब्रह्मरंध्र तक ही हैं। इसके आगे ज्ञानेन्द्रियों की भूमियां हैं।

विज्ञप्ति।

(१) यद्यपि सुषुम्णा का अभ्यास साधुलोग करते हैं, किन्तु किसी व्यक्ति को इस अभ्यास से अंदर वात प्रकुपित हो जाने से आन्तरिक वातरोग हो जाता है। जिससे शरीर की वात-नाडियां और स्रोतों में विकार हो जाने से हानि पहुंचती है। अतः मैं इस सुषुम्णा के अभ्यासमार्ग से अधिक सहमत नहीं हूं। कम से कम जिन व्यक्तियों को नाभिचक्र में पहुंचते ही अभ्यास से उदर में उदावर्त आध्मान आदि पीडा प्रतीत होने लगे तो यह अभ्यास छोड देना चाहिये। जिनको कोई पीडा मालूम न दे वे भी हृदयचक्रतकही अभ्यास करें। आगे करनेकी ऐसी विशेष आवश्यकता नहीं। ऐसा न हो कि ऊर्ध्वजत्रु (कण्ठ से ऊपर) वात-प्रकोप होकर हानि पहुंचे। हृदयचक्र से

ही ज्ञानेन्द्रियों के अभ्यास की तरफ जा सकते हैं। अथवा नाभिचक्र से ही जा सकते हैं।

(२) वीर्यनाशक दुर्व्यसन के अभ्यासियों को तो गुदाचक्र और उपस्थचक्र का अभ्यास अवश्य कर लेना चाहिए। ये दोनों स्थानों के अभ्यास उनके वीर्यस्तंभन के निमित्त दुर्वासना के शान्त करनेवाले हैं। अस्तु।

नासिका-शक्ति, जिह्वा-शक्ति, नेत्र-शक्ति, त्वक्-शक्ति, श्रोत्र-शक्ति के भेद से ज्ञानेन्द्रियों के अभ्यासकी ५ भूमियां हैं। प्रथम तो नासिका-शक्ति के अभ्यास के लिए मन को नासिकामें कम से कम २५ मिनिट स्थिर करना चाहिए। दोतीन दिन के पश्चात् कुछ मौलिक गंधके साथ नासिका प्रणालीयों का अनुभव होगा। एवं प्रतिदिन कम से कम आधा घण्टा दोनों समय अभ्यास करना चाहिए। मन नासिकाकी जिन जिन नालियों में जाना चाहे, जाने देना। इस प्रकार क्रम से कम एक सप्ताह और अधिक से अधिक दो सप्ताह तक अभ्यास करना चाहिए। पुनः जब आन्तरिक भावना स्वयं ही जिह्वा की तरफ होने लगे तब नासिका-शक्ति का अभ्यास छोडकर जिह्वा-शक्ति का अभ्यास आरंभ कर लेना चाहिए। और उसे धीरेधीरे जिह्वा के केन्द्र (जिह्वा की नोक) पर पहुंचाना चाहिए। एवं जिह्वाशक्ति के अभ्यास के पश्चात् नेत्रशक्ति का अभ्यास करना होता है। अर्थात् जिह्वाशक्तिका अभ्यास करते करते सप्ताह या दो सप्ताह में जब नेत्रों की तरफ आन्तरिक भावना मन की होने लगे तब जिह्वा का अभ्यास छोडकर नेत्रशक्ति का अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् नेत्रों की ओर मन को ले जाकर धीरे धीरे उनके केन्द्र (तालु) में मस्तिष्क के मध्य में अवलम्बक-काकुवा की तरफ मनको रखकर अभ्यास करे। ऐसा करने से नेत्रों की सूक्ष्म शिराओं के साथ मूल ज्योतिः का भान होगा।

पुनः कुछ समय व्यतीत होने पर मन स्वतः ही शरीर के अङ्गप्रत्यङ्ग में कुछ स्पर्शसा आन्तरिक भाव से अनुभव करने लगे तब त्वचा के केन्द्ररूप जिह्वा के मध्य में मन को रखकर अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से प्रेममय मौलिक स्पर्श प्रतीत होगा। फिर जब मन को कानों की तरफ आकर्षित सा होने लगे, तब त्वचा के अभ्यास को छोडकर कानों में नाडियों की सहायता से जो कि जिह्वा के मूल में संबंध रखती हैं, एवं जिह्वा मूल को केन्द्र बनाकर अभ्यास करना चाहिए। यहां सूक्ष्म मौलिक शब्द और शब्दग्राहक सूक्ष्म तन्तुओं की तान अनुभव होगी। बस यहां तक ही ज्ञानेन्द्रियों का अभ्यास है। इससे आगे अन्तः करण का अभ्यास है।

(१) मनका अभ्यास।

श्रोत्रेन्द्रियका अभ्यास पूर्ण हो जाने पर, अर्थात सूक्ष्म ध्वनियां तन्तुओं की तान जब लीन होने लगे और मन के संकल्पविकल्प ('अस्तुकामः संकल्पः'=प्राप्ति की इच्छा संकल्प है, 'नास्तुकामो विकल्पः' = अप्राप्ति की इच्छा विकल्प है।)की धारायें उठने लगें तब मनकी उन धाराओं का निरीक्षण करना चाहिए। अनुचित (व्यभिचार आदि पापमय) धाराको बंद करके उचित धारा जहांतक जावे, वहां तक जाने देना चाहिए। दो दिन तक मन की इन्हीं धाराओंका निरीक्षण करे। पुनः सर्वथा धाराओं को बंद करनेका अभ्यास करे। एवं संकल्पविकल्प की धाराओं के बंद हो जाने से मन केन्द्रित और वशमें हो जायगा। स्वस्थ तथा वास्तविक स्थिति में उसका अनुभव होगा। जिसके अनुभव से इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक आनंद होगा। एवं दो सप्ताह तक या जैसी आवश्यकता हो, इस अभ्यास को करना चाहिए।

विज्ञप्ति- संकल्पविकल्प से रहित मन की अवस्था में किसी दोष को अपने अन्दर से हटाना चाहो, तो मनके केन्द्रित अवस्था में दोष को वारंवार आन्तरिक तिरस्कार घृणा-दृष्टि से पृथक्करण-भावनाएं करते रहो, कि अमुक दोष बहुत खराब है, मेरे अन्दर न रहना चाहिए, दूर हो जाना चाहिए, यह बडा हानिकारक है। मैं इसको हटा दूंगा और बलसे हटा रहा हूं, अवश्य दूर हो जायगा, दूर होता जा रहा है, इत्यादि विकल्पधाराको उपजा कर लाभ उठाना चाहिए। इसी प्रकार जिन गुणों को अपने अन्दर लाना हो, पूर्वोक्त मन की केन्द्रित अवस्था में उनके प्रवेश की गहरी इच्छा करो, कि अमुक गुण मेरे अन्दर आना चाहिए। आवेगा, अवश्य आवेगा और आ रहा है। एवं संकल्पवृत्ति को वारंवार उठाकर लाभ प्राप्त करना चाहिए। यह एक मानसिक विकास के द्वारा दुर्गुणों को दूर करने और उत्तम गुणों को प्राप्त करने का प्रकार है। इस अभ्यास से कोई समय ऐसा अवश्य आ जाता है, जब कि वह दोष दूर हो जाता है तथा आमंत्रित गुण प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न- दूसरे व्यक्ति के दुर्गुण हटाने और उस के अन्दर उत्तम गुणों के लानेका भी कोई उपाय है?

उत्तर- हां! अवश्य। पूर्वोक्त मनोविकास का अभ्यासी जिस व्यक्ति के दुर्गुण निकलना चाहे, उसको सावधान बना, प्रातःकाल आदि शांत समय में स्वयं अभ्यास से निवृत्त हो अपने सामने बिठलाकर वर्तमान दुर्गुण की हानियों और बुराइयों का परिचय देते हुए प्रेममय शब्दों में उसके त्याग देने का उपदेश नये जोसे दोचार दिन तक देता रहे। ऐसा करने से अवश्यमेव वह व्यक्ति उस दुर्गुण को त्याग देगी, कभी कभी केवल एकही दिन के उपदेश से भी ऐसा प्रभाव हो जाया करता है। परंतु साधारण मनुष्यों को भी चाहिए, कि जिस व्यक्ति के दोष दूर करने हों, उस व्यक्तिको अर्ध निद्रा में मैस्मेरिझम या हिप्नोटिझम से सुलाकर या जब स्वाभाविक नींद आनी शुरु हुई हो, तो उसके कान के पास मुख करके धीमे-धीमे शब्दों में उक्त दुर्गुण के छुडानेका उपदेश वारंवार दे। इसी प्रकार उत्तम उत्तम गुणोंके प्रवेश के लिये भी यही उपदेश का प्रकार है। माताएं अपने बच्चों के अंदर अच्छा भाव तथा उत्तम गुण डालनेके लिए सोते समय उपदेश-भरी लोरियां दें, तो संतान उत्तम गुणसे युक्त हो सकती हैं।

(२) बुद्धि का अभ्यास।

जब मनकी संकल्पविकल्पधारायें बंद हो जाय और मन केन्द्रमें निश्चेष्ट होकर दोचार दिन बीत जांय या बुद्धिके संदेह और निश्चय करनेकी धारायें उपस्थित होने लगें, तो उसमें से अनिष्ट धाराओंको बंद रखते हुए शुद्ध धाराओं पर बुद्धिको यथेष्ट गमन करते दे। पुनः धीरे धीरे दोनों धाराओं को बंद करके केन्द्र में उपस्थित बुद्धि के स्वरूप पर अभ्यास करता रहे। जो मनसे भी सूक्ष्म वस्तु है। अतएव इसके अभ्यास में मनसे अधिक आनंद प्रतीत होता है। पुनः निर्मल बुद्धिसे संदेहस्थलोंमें शीघ्र संदेह तथा निर्णय कर सकेगा। यह बुद्धिशक्तिका परिचय तथा विकास है।

(३) चित्त का अभ्यास।

जब बुद्धि के केन्द्रित अभ्यास की पक्वावस्था हो जाय या चित्तकी भूत-स्मृति और भावी लक्ष्यकी वृत्तियां उठने लगें, तो उसी प्रकार अग्राह्य वृत्तियों को भी बंद करके चित्त को केन्द्र में लाकर अभ्यास करे। इसका स्वरूप बुद्धिकी अपेक्षा गूढ है। अतएव इसके दर्शन से भी विशेष सुखका अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त स्मरणशक्ति बढाई जा सकती है। अर्थात् प्रथम ३ घण्टे पूर्वका स्मरण करना, पुनः ६ घण्टे पूर्वका, एवं द्विगुणित काल के स्मरण-

क्रमका अभ्यास करते करते अपने अत्यंत शैशव-कालको स्मृतिपथपर ला सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे के प्रति भी इसका अभ्यास किया जा सकता है। एवं भावी उद्देश्यविषयक स्मरण का भी यही क्रम है। यह चित्तकी शक्ति के परिज्ञान और विकासका स्वरूप है।

(४) अहंकार का अभ्यास।

चित्तका अभ्यास परिपक्व हो जानेपर अहंकार का अभ्यास करना होता है। अर्थात् जब अहंकार की 'ममेदं= पुत्र मेरा है, स्त्री मेरी है, घर मेरा है, अमुक व्यक्ति मेरी है, यह मेरा है, वह मेरा है' की वृत्ति जागे तो उसको उचित रूप से जहां जाना चाहती है जाने दे। पुनः उस वृत्ति को सूक्ष्म कर दें और परिणाम निकालें कि कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। यह शरीर भी वास्तवमें अपना नहीं है। कुछ कालके बाद मुझे छोड देना ही पडेगा। एवं 'ममेदं' की वृत्तिको बंद करके "अहमिदं= मैं ऐसा हूं, मैं पुष्ट हूं, मैं कृश हूं, मैं सुनेत्र हूं, मैं पवित्र हूं आदि आदि शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण के धर्मोंको उचित रूपमें अपने अन्दर अनुभव करके पुनः उनका भी विराम कर दे और अहंकार को केवल "अहमस्मि= मैं हूं, " बस इसका ही अनुभव और अभ्यास करे। मैं ऐसा हूं, वैसा हूं इस प्रकार का भाव बिलकुल हटा दिया जाय। लगभग एक सप्ताह ऐसा अभ्यास करें। एवं अभ्यास से अहंशक्तिमें इतना बल आ जाता है, कि जिसका ममत्व करता है, वह उसकी हो जाती है। तथा जिस आन्तरिक धर्मसे युक्त अपने आपको बनाना चाहता है, वह वैसा बन जाता है।

बस यही ग्रहणमार्गकी अन्तिम भूमि का स्वरूप है। क्योंकि यहांतक अवलंबनके साथ समाधियां होती रही हैं। पुनः 'अहमस्मि= मैं हूं' मैंसे 'अहं= मैं' को निकाल दिया जाय, तो 'अस्मि=हूं' का बोध होतेही सर्व निरोधमें परमेश्वरके 'अस्ति= है" का अनुभव होकर विश्वात्मा जगदीश देव के अस्तित्वका निश्चय होगा। यही उपनिषदोंका ध्येय है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः। अस्तीत्येवेपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति। (कठोपनिषद्)

इसका अभ्यास कुछ कालतक करते रहना चाहिए। एवं ग्रहणमार्ग द्वारा ब्रह्मसमाधि का स्वरूप यही है।

(क्रमशः)

ज्ञानी गुरु।

(गतांकसे आगे)

(लेखक—श्री गोपाल चैतन्यदेवजी)

धर्म्मकी सार्वभौमिकता।

भगवान् एक है, अतएव धर्मभी एक के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। महदादि अणुपर्यन्त जिसके द्वारा क्रम-विवर्तनवादके कारण उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं, उसीका नाम धर्म्म हैं। सुतरां जितनेभी मानव हैं, सब एकही धर्म्मके अधीन हैं। तब क्यों समस्त जगत् एकत्र होकर सम्प्रदायिकता एवं विद्वेष की पुकारसे हो-हल्ला मचाता रहता है ?

सब देशोंके समस्त मानवों और सब सम्प्रदायोंका धर्म एक है; किन्तु साधन-पथ विभिन्न हैं। जीवमात्र के लिए ही शरीरपोषणार्थ भूमि-आकाश आदि पाञ्च-भौतिक पदार्थोंकी आवश्यकता होती है। सभी इन सब पदार्थों को शरीर-रक्षार्थ प्रतिदिन ग्रहण करते हैं। अर्थात् हिंसक पशु रक्त-मांसमय जीवदेह भक्षण करके तथा अन्य पशुगण तृण-गुल्मादि खाकर और मानव-समाज में कोई घी-मैदा कोई मत्स्य-मांस एवं कोई फलमूल, कोई मिश्रित आहार करके अपने उपयोगमें इन पाञ्च-भौतिक पदार्थोंको लेकर शरीर-पोषण कर रहे हैं। इनका मुख्य उद्देश्य क्षुधा-शांति और गौण उद्देश्य शरीरपोषण है। किन्तु उद्देश्य एक होनेपरभी जिस प्रकार उसकी पूर्तिके मार्ग भिन्न हैं, उसी प्रकार धर्म्म और उसकी साधनाका उद्देश्य एक होते हुए भी साधन-प्रणालियाँ विभिन्न होनेके कारण जितनेभी मनुष्य हैं, उन्होंने विविध धर्म्म-सम्प्रदायों की सृष्टि कर डाली हैं। किन्तु यथार्थ में धर्मका मूल उद्देश्य एक ही है।

मनुष्यके अतिरिक्त पशु-पक्षीसे लेकर जड-पिण्डादि सबका क्रमोन्नति-धर्म प्रकृतिके हाथमें है, इसी कारण उनका धर्म इन सबको समान रूपसे समान गतिमें उन्नतिके पथ-पर अग्रसर कर रहा है। किन्तु मनुष्य स्वाधीन जीव है, अतएव धर्मकी परिचालना-द्वारा आत्मोन्नति करना उसकी इच्छाके वशकी बात है। यही कारण है, कि विभिन्न देशोंके भिन्न-भिन्न समाजोंके मनीषियोंकी बनाई हुई धर्म-साधना-प्रणालियाँ विभिन्न होनेसे कई सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। जिनका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिभा एवं जिस रूपमें साधना है, उन्होंने आत्माकी उतनीही उन्नत अवस्थाको समझ पाया है और उसी अवस्थाकी प्राप्तिके लिये उपाय-योजना करके अपने-अपने समाजके आचारव्यवहारके प्रति ध्यान रखते हुए उन्होंने धर्मशास्त्रोंकी रचना की है। सुतरां समाज अनुयायी धर्म-साधनाके लिए उपाय निर्धारित किये जानेसे नाना धर्मसंप्रदायोंकी स्थापना हुई है। इसी कारण आज मानवधर्म, नाना मत और नाना सम्प्रदायोंके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है और इसी लिए आज संसारके समस्त सम्प्रदाय, समस्त विद्वान् और सभी धर्माचार्य अपने अपने मत और अपनी अपनी धर्मकथाओंकी शान्त-मधुर व्याख्या करके मानव-हृदयको परितृप्त कर रहे हैं। वे संसारमें मनुष्यके प्राण और उसकी अनन्त तृष्णा-मयी हृदयवृत्तिको समझकर धर्म-व्याख्याका परम पवित्र भाव रखते हुए दिनरात व्यस्त रहते हैं और उसे विभिन्न भावोंमें समझाते रहते हैं।

साथही जिस धर्म्म-सम्प्रदायने जितनी सजीवता प्राप्त कर ली है, उसमें उतनेही शाखा-सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। मुसलमानोंमें शीया-सुन्नी, ईसाइयोंमें प्रोटेस्टंट और रोमन केथोलिक है; तथा हिन्दुओंमें अगणित संप्रदाय। इस प्रकार चारों ओर अनन्त सम्प्रदाय अपने अपने धर्म्मभावों में विभोर हो रहे हैं। वर्तमान कालके एक दृष्टान्तद्वारा इस बातको विशेष रूपसे समझा जा सकता है।

बंगाल में जिन दिनोंमें राजनीतिकी चर्चा नहीं थी और यदि होती भी थी, तो निर्जीव रूपमें दोचार स्वदेशहितैषी व्यक्तियोंके हृदयमें। उस समय कोई कुछ कहता, तो सब लोग चुपचाप सुन लेते थे, और कोई मतभेद नहीं था। किन्तु वङ्ग-विच्छेद होनेके बादसे सर्व-साधारणके मनमें स्वदेशी आन्दोलन और राजासे प्रजाके न्याय्य अधिकार प्राप्त करनेकी आकांक्षा जागृत हो चली है। अर्थात् जो राजनैतिक- चर्चा इतने दिनोंतक निर्जीव अवस्थामें थी उसने इस समय सजीवता प्राप्त कर ली है। इसी कारण आज सुरेन्द्रबाबू और विपिन बाबूके मतभेद ने राजनैतिक क्षेत्रमें दोनोंके दो विभिन्न दलोंकी सृष्टि कर डाली थी। किंतु दोनोंके उद्देश्यमें भिन्नता नहीं थी। दोनोंकी इच्छा बंगाल को विच्छेदरहित कर स्वराज्य प्राप्त करने की थी। अर्थात् मूल उद्देश्य एक होते हुए भी उसकी साधना-प्रणालियोंमें मतभेद होनेके कारण दोनों विभिन्न दलोंके रूपमें परिणत हो गये।

भारतवर्षके स्वर्णयुगमें ऋषिमुनियोंने पर्वतकन्दराओंमें अथवा भीषण अरण्योंमें आजीवन धर्मानुशीलन करके, धर्मके स्थूलसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंका आविष्कार किया था। कितनेही अतीत कालसे उसीकी आलोचना, आन्दोलन और साधनरहस्यों की चर्चा हो रही है। कितनेही वैज्ञानिक तथा कितने ही दार्शनिक उसके सम्बन्ध में वाद-विवाद और तर्क-वितर्क कर चुके हैं। उसीके फल--स्वरूप कितने ही स्थूल-- सूक्ष्म, द्वैताद्वैत, साकार--निराकार, सगुण-निर्गुण, प्रकृति- पुरुष, कितने ज्ञान-भक्ति-कर्म, कितने योग- जप-तप व पूजा-अर्चनादिकी सृष्टि हुई है और उन्हींमेंसे एक- एक मत को लेकर हिंदूधर्ममें अनेक शाखासंप्रदायों की सृष्टि हुई है। ये सब शाखासंप्रदाय आज हिन्दू धर्म की सजीवता को प्रमाणित कर रहे हैं। इसी परसे समझा जा सकता है, कि हिन्दू धर्म किस रूपमें मार्जित हुआ था।

किंतु इन सब संप्रदायोंके साधन-पथ की गति एक-मुखी है और उस गतिपथमें ऐसा भी एक स्थान है, जहाँ पहुंचकर शाक्त, वैष्णव ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन सिक्ख, पारसी, ब्राह्म प्रभृति सभी एकत्र मिल सकते हैं। धर्मके ऐसे उच्च स्थान पर पहुंकर हम सांप्रदायिकता से दूर रहते हुए मुसलमान- ईसाई आदिसे आचरित धर्मों को भी अग्राह्य न बतला सकेंगे और पाखंड या धर्मान्धता के नष्ट हो जायगी। तब मुसलमान को नमाज पढते या ईसाईको गिर्जामें जाते, देखकर मनमें अपार आनन्द होगा। हृदय भक्ति-रस से आप्लुत हो जायगा। महात्मा रामकृष्ण परमहंसने हिंदू धर्मके अनेक संप्रदायोंकी साधनामें सिद्ध हो जानेके बाद, महम्मदीय और खिष्टीय (ईसाई) धर्म की साधनामें भी सिद्धि-लाभ किया था ×। अतएव धर्म की साधनाप्रणाली के भिन्न होनेपर भी धर्म सबका एक ही है। हम आशा करते हैं, कि इसके बाद धर्मकी सार्वभौमिकताके विषयमें किसीको अविश्वास न होगा। उसी सार्वभौम धर्म और उसका साधना- रहस्य ही हमने इस लेखमें लिखनेकी चेष्टा की है।

\+ + +

हिंदू धर्म।

जन--समाजमें जितने प्रकारकी धर्मप्रणालियाँ इस समय प्रचलित हैं, उनमे हिन्दू धर्मके समान अन्य किसी धर्मकी परिणति या परिपुष्टि नहीं हुई है। किन्तु जब किसी धर्मवालेसे पूछा जाता है, कि " कौनसा धर्म श्रेष्ठ है?" तो वह तत्काल उत्तर देता है, कि " हमारा धर्म श्रेष्ठ है।" पाखंड करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि धर्मके नामपर पाखंड करना महापातक है। धर्मकी निंदा करना भी नरक का कारण होता है। इसीलिए कहना पडता है, कि सबकी विचार-शक्ति, ज्ञान-भक्ति और अनुभवशक्ति। अतएव अनुभव करिए, विचार करके देखिए और साधना करिए। इससे आपही आप मार्ग परिष्कृत होगा। जिस धर्मका आचरण करनेसे मनुष्य अपनी अभिज्ञता द्वारा सब बातोंका प्रत्यक्षानुभव या प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। इसी कारण हमने हिन्दू धर्मको श्रेष्ठ धर्म कहा है।

हिन्दुओंने धर्मको चतुष्पाद वृषभ (बैल) की उपमा दी है। यथा—

× सेवक रामचन्द्र कृत रामकृष्ण परमहंसका जीवन देखिये।

वृषोऽसि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वदा॥
(वृषोत्सर्गपद्धति)

और देखिए। भगवान् मनुने भी कहा है कि—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलं।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्।
(मनुसंहिता)

धर्मको चतुष्पाद वृषभ कहनेका उद्देश्य क्या होना चाहिए? यही कि धर्मके चारों पाद (चरण) को साधक को समझाया जा सके। क्योंकि चतुष्पाद का अर्थ है, चार भागोंमें पूर्ण। एक-एक पाद (भाग) के धर्माचरणसे एक-एक जगत् का ज्ञान होता है और उसके विषयमें इन्द्रिय-शक्तिकी स्फूर्ति, परिणति और सामंजस्य प्राप्ति होती है। जगत् भी चार हैं। चक्षु, कर्ण प्रभृति बहिरिन्द्रिय द्वारा जिस जगत्को हम जान सकते हैं, उसीका नाम बहिर्जगत् है। धर्मके प्रथम पादके आचरण और साधनद्वारा बहिर्जगत् वशीभूत होता है और उसपर हम अपनी क्षमता का विस्तार कर सकते हैं। मन अन्तरिन्द्रिय है– मनका विषय जो जगत् है, उसीका नाम अन्तर्जगत् है। अन्तर्जगत् वृत्तिमय है और वृत्ति मानसका विकार है। धर्मके द्वितीय पादके साधन-द्वारा यह जगत् वशीभूत होता है। बुद्धीन्द्रियग्राह्य जगत्को बौद्ध जगत् कहते हैं। बुद्धिही ज्ञानेन्द्रिय मानी गई है। धर्मके तृतीय पादकी साधना-द्वारा एक अद्वितीय एवं सत्यस्वरूप भगवान् हमें बुद्धि-ग्राह्य होते हैं। इससे उनको जान लेनेपर अर्थात् उनमें निश्चयात्मक बुद्धि आरोपित होनेपर, उनका स्वरूप-दर्शन होता है। इसी प्रकार विवेक-ग्राह्य जगत् आध्यात्म जगत् कहलाता है। विवेक ही धर्मज्ञानका साधन है। विवेक जब एक ब्रह्मके अतिरिक्त सकल जगत्को तुच्छ सिद्ध कर देता है, तभी भगवान्के प्रति गाढ़ प्रेमका संचार होता है। धर्मके चतुर्थ पादके साधन-द्वारा ही इस भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। जिस सम्प्रदाय की धर्म-पद्धति के साधन-द्वारा इसकी प्राप्ति होती है, वही श्रेष्ठ धर्म है। हिन्दू धर्मकी विधानपद्धतिद्वारा इन चार प्रकारसे इन्द्रिय-शक्ति की स्फूर्ति, सामञ्जस्य और परिणति होनेपर ही चारों जगत्के तत्त्व-निर्णयका सामर्थ्य और सब विषयोंमें सिद्धि-लाभ किया जा सकता है। इसी कारण हिन्दू धर्मको श्रेष्ठ कहा गया है।

इस समय संसारमें जितने भी प्रसिद्ध धर्म प्रचलित हैं, उनमें हिन्दु धर्म के समान प्राचीन धर्म-प्रणाली दूसरी नहीं है। केवल प्राचीनही नहीं, वरन् इस धर्मके आदि-कालको ढूंढ सकना भी दुःसाध्य है। हिन्दू धर्म वेदमूलक है, किन्तु उन वेदोंका अविर्भाव कब हुआ, यह अभीतक निश्चित नहीं हो सका है, क्योंकि वे श्रुति (सुननेकी) परम्पराद्वारा अति प्राचीन कालसे क्रमबद्ध चले आ रहे हैं; इसी कारण वेदोंका दूसरा नाम श्रुति भी है। हिन्दू शास्त्रके मतानुसार ये श्रुतिपरम्परागत वेद प्रत्येक सृष्टिकालमें आविर्भूत होते और प्रलयमें विलीन हो जाते हैं। सुतरां प्रत्येक कल्पान्तमें जब वेदोंका पुनराविर्भाव होता है, तब जिस प्रकार इस विश्वसंसारकी अनादि और नित्यरूपमें चिरकालसे सृष्टि होती आई है, उसी प्रकार वेदोंकी भी सृष्टि होती है। वेद यदि सनातन और नित्य हैं, तो वेद-मूलक धर्म भी उसी प्रकार सनातन और नित्य होना चाहिए। इसी कारण हिन्दू धर्मका दूसरा नाम सनातन-धर्म है। इस सनातन-धर्मकी प्राचीनता का विवेचन करनेपर बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख, पारसी, महम्मदीय आदि धर्म-प्रणालियाँ आधुनिक सिद्ध होती हैं। और जो आधुनिक है, वह उत्पन्न धर्म है। इन समस्त उत्पन्न और आधुनिक धर्म-प्रणालियोंसे इस रूपमें हिन्दु धर्म विभिन्न हो गया है।

केवल प्राचीन होनेसे ही हिंदुधर्म इनसे भिन्न नहीं हुआ है, बल्कि इन समस्त उत्पन्न धर्मोंसे हिन्दु धर्मकी प्रकृतिगतही विभिन्नता है। गंगाने जिस प्रकार स्वर्गसे उतर कर शतधाराओंसे पातालमें प्रवेश किया है, उसी प्रकार हिन्दु-धर्मने भी निवृत्ति-प्रधान स्वर्गलोकसे उतर कर, प्रवृत्ति-प्रधान शत सम्प्रदायोंमें विभक्त हो जन-समाजमें प्रवेश किया है। किंतु उन सब सम्प्रदायोंके साधनापथकी गति एकमुखी है। इसी गति-पथके एक या अन्य स्तरमें समस्त सम्प्रदाय और धर्मप्रणालियाँ पहुँची हुई हैं। हिन्दुओंमें काम्य और निष्काम दो पथ हैं। देवी-देवताओंकी स्थूल एवं सूक्ष्म उपासनाएँ हैं, तथा शाक्त, वैष्णव, ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, सिक्ख, ब्राह्म सम्प्रदाय-भेदसे सबका समावेश हो रहा है। इस प्रकारका सार्वभौमिक

धर्म दूसरा नहीं है । यह धर्म सब प्रकारके अधिकारियों के लिए प्रचारित हुआ है। इसी कारण इस धर्ममें सब प्रकारके अधिकारी और सम्प्रदायके लोग दिखाई देते हैं। घोर विषयी से लेकर ब्रह्मवित् तत्वज्ञानी तक सभी इस धर्मके आश्रित हैं। इसी कारण हिंदू धर्म की साधन-प्रणाली सर्वाङ्ग-सम्पन्न मानी जाती है। हिंदुधर्मावलंबी समाजमें कोई किसीभी रूपकी पूजा-पद्धतिका अवलंबन क्यों न करे, किन्तु वह सब पूजा एकही अदृश्य ब्रह्मकी उपासना कही जायगी। क्या स्थूल-साकार और क्या निस्त्रैगुण्य निराकार ब्रह्मोपासनासब प्रकारकी उपासना एकमुखी हो रही हैं। भगवान् ने कहा है कि—

"ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"
(भगवद्गीता ४।११)

(अर्थात्)'जो जिस भावसे मेरा स्मरण करते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकारसे फल देता हूं'। क्या इस प्रकारकी उच्च और उदार शिक्षा अन्य किसी धर्म में मिल सकती है? हिन्दू धर्मके उदार गर्भ में सर्वाधिकारी मनुष्योंको ग्रहण किया जाने और सब प्रकारके भक्तोंको आश्रय दिया जानेके कारण ही हिंदू धर्ममें इस प्रकार उदारताकी शिक्षा दी गई है। इसमें स्थूल देवी-देवताके उपासक, स्वर्ग या वैकुण्ठसुखकी इच्छा रखनेवाले, निष्काम धर्मज्ञानी, सूक्ष्म ईश्वरोपासक आदि सबका समावेश है। क्योंकि सभी धर्मके तपस्या-पथके पथिक हैं और सभी एक दिशामें जा रहे हैं, सभी क्रमशः ईश्वरके निकटवर्ती हो रहे हैं। हिंदुओंका धर्म--पथ इतना प्रशस्त और महान् है। हिन्दू-धर्मके इस प्रशस्त मार्गमें सब प्रकारके हिन्दू-- सम्प्रदाय भक्त और तत्वज्ञानी, एवं ईसाई मुसलमान, जैन, सिक्ख, बौद्ध, ब्राह्म आदि सब अनुगामी होकर अनन्त ब्रह्मपदकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस धर्मप्रणालीमें अद्वैत ज्ञानके सहित ईश्वर--भक्तिके मिला जानेसे हिन्दू धर्मको सर्वाङ्ग-सम्पन्न एवं सर्वविध मानवसमाजकी आश्रयभूमिका पद प्राप्त हुआ है। यह विश्व-व्यापी धर्म-प्रणाली है।

साधकके अधिकारानुसार विभक्त हो जानेसे इसका कलेवर अतिशय बृहत् हो गया है। संसारत्यागी साधुसंन्यासियोंके धर्मसे लेकर साधारण जन-समाजकी धर्माचरण-पद्धति तक सभी हिन्दू धर्मके देहमें समाविष्ट हुआ है। अतएव जो लोग हिन्दू-समाजके साधारण मनुष्योंकी धर्म-प्रणालीको देखकर कहने लगते हैं, कि "हिंदू धर्मको हमने समझ लिया," वे एकदेशदर्शी हैं। उस जनसाधारण द्वारा आचरित धर्म-प्रणालीके द्वारा यह धर्म क्रमशः कितने उच्चाति उच्च स्तर पर पहुँच गया है, इसका विचार करनेसे इस धर्मके सर्व निम्न स्तर अत्यंत साधारण अंशके रूपमें प्रतीत होते हैं। यद्यपि इन स्तरोंकी लोक-संख्या सबसे अधिक है, तथापि वे मूलदेश(आरंभ) में ही हैं। जिस प्रकार पर्वतका मूल देश अतिशय विशाल एवं प्रकाण्ड होता है, उसी प्रकार हिंदू धर्मका भी है। उच्च-उच्च देशोंकी लोकसंख्या क्रमशः कम होती गई है। किन्तु कम होनेपर भी सब हिन्दुधर्ममें ही समाविष्ट होते हैं। वरन् उच्च देशके धर्मावलंबी-गण कर्मकी पवित्रता और प्रकृतमूर्तिको और भी विशद करके दिखलाते हैं। पर्वतके उच्च-उच्च देशोंमें पहुँचनेसे जिस प्रकार नये नये प्रदेश दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार इस धर्मकी उच्च भूमिकाओंमें पहुँचनेसे नये नये अध्यात्म-तत्त्वोंके सुन्दर प्रदेश प्रत्यक्षीभूत होते हैं, तथा अंतमें शिखरपर अनन्त आकाशमें केवल "एकमेवाद्वितीयम्"का अनुभव होता है। हिन्दुधर्मके सब महान् तत्वोंको न समझनेके कारण, वर्तमान युगके अन्य धर्मावलम्बी-गण, सभ्य-शिक्षित पाश्चात्यदेशी गण तथा पाश्चात्य शिक्षासे विकृत मस्तिष्क पथभ्रष्ट भारतवासियोंमेंसे अनेक व्यक्ति हिन्दुओंको पौत्तलिक, जडोपासक और कुसंस्काराच्छन्न कहकर अपमानित करते हैं। हिन्दू लोग अनेक दिनोंसे पराधीनताकी श्रृंखला पहनकर जड हो गये हैं। इसी कारण हिन्दुओंको "जडोपासक" आदि जो मनमें आता है— कह दिया जाता है, नहीं तो अन्य-वादियोंके अनुष्ठित धर्मकी अस्थि-मज्जातक पौत्तलिकता एवं वासनापूर्ति की इच्छासे कलुषित हो रही है, वे किस मुँहसे हिन्दुओंको पौत्तलिक कहते हैं? जिनका धर्म अभी तक पंगु बालककी तरह उठकर खडे होनेकी भी क्षमता नहीं रखता, वेही यदि हिन्दू धर्म की निन्दा करें, तो अवश्य यह कम आश्चर्यजनक नहीं है। यदि वे "हिन्दु"को समझनेकी चेष्टा करें, तो उन्हें पता लगेगा, कि हिन्दुओंकी कृतियोंमें कुसंस्कार या मिथ्या-भाव नहीं है। हिन्दू जो कुछ जानते हैं, आज भी उसकी सीमाओंतक पहुँचना अन्य-धर्मावलम्बियोंके लिए विशेष कठिन है। हिन्दू धर्म गंभीर और सूक्ष्म आध्यात्मिक विज्ञानसे पूर्ण है। इसे समझनेकी

चेष्टा करनेपर ज्ञात होगा, कि जड-वैज्ञानिक अथवा अन्यान्यदेशवासी या हमारे देशके शिक्षित और सज्जन कहलानेवाले हिन्दूधर्म-निन्दक गण जडके अतिरिक्त कुछ नहीं जानते, इसी कारणही वे हिन्दुओंको जडोपासक कहते हैं। जिसे खोजा गया, वह तो नहीं मिल सका, किन्तु खोजनेवालेकी इच्छा समाप्त हो गई है, फिर भी खोजका अंत नहीं मिला। पाश्चात्य जड-विज्ञान के विख्यात विद्वान् हर्बर्ट-स्पेन्सरने आक्षेप करके और भी स्पष्ट-रूपमें कहा है कि—

"The ultimate mystery continues as great as ever. The problem of existence is not solved, it is simply removed further back. The Nebuler hypothesis throws no light on the origin of diffused matter and diffused matter as much needs accounting far as the concrete matter. The genesis of an atom is not easier to conceive than the genesis of a planet. Nay, indeed so far from making the Universe a less mystery than before it makes it a greater mystery."

यह है जडवादियोंके अनुसन्धानका अंतिम परिणाम। इसका कारण यही है, कि जिस वस्तुको खोजा जाता है, उसीके योग्य दर्शन-शक्तिकी भी आवश्यकता होती है। ब्रह्म-वस्तु-तत्त्वके अवगत होनेपर ब्रह्म-तत्त्वकी सत्ता सम्भावित होनी चाहिए। योगीकी समाधिके बिना उसका हो सकना अशक्य है। उस योगका आविष्कार हिन्दुओंने किया है और वह सिद्धान्त केवल हिंदू धर्मकी प्रणालीमें ही लिपिबद्ध हुआ है। उसी तत्त्वको इस लेखमें प्रकाशित करनेकी हमारी इच्छा है।

हिन्दू-दर्शनशास्त्रकी पर्यालोचनसे प्रतीत होता है, कि हमारे शास्त्रीय मतामत अनेकानेक वादानुवादके पश्चात् स्थिर हुए हैं। जब कभी कोई मत प्रकट हुआ, कि तत्काल पंडितोंने पुकार मचा दी-"इसके लिए प्रमाण बतलाओ!" अतएव हिन्दू दार्शनिक गण प्रमाणरहित एवं पूर्वपक्षका खण्डन किये विना किसी विषयकी मीमांसा नहीं करते। धर्मका इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं स्पष्ट विचार अन्य किसी भी समाजके धर्मशास्त्रमें देखनेको नहीं मिलता।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते॥

(योगवाशिष्ठ)

"केवल शास्त्र-वाक्यका आश्रय लेकर धर्मका निरूपण करना उचित नहीं है। क्योंकि युक्तिहीन विचार-द्वारा धर्म-हानि होती है।" इसी कारण हिन्दू शास्त्रके क्या लौकिक और क्या अलौकिक, सब प्रकारके सिद्धान्तोंमें विशेष उपयुक्त प्रमाण दिये गये हैं। हिन्दू धर्मकी निन्दा करनेसे पहले हम एक वार इन तत्त्वोंका विचार करने तथा अपनी धर्मप्रणालीके प्रति दृष्टिपात करनेका अनुरोध करते हैं।

अदूरदर्शी व्यक्तिगण हिंदू समाज के साधारण जन-समाजकी धर्म-प्रणालीको देखकर उसके वास्तविक तथा एवं महान् भावको न समझते हुए जो लोग निंदावादके द्वारा अपनी जिह्वाको कलुषित करते हैं, उस जनसाधारण के धर्मसे लेकर निस्त्रैगुण्य साधक की निराकार ब्रह्मकी उपासना तककी हम इस लेखमें आलोचना करेंगे। किन्तु महापुरुषों की परम्परासे प्रकाशित सिद्धान्त इस लेखमें प्रकाशित करना असंभव है। केवल संक्षेपमें मुख्य मुख्य बातोंको समझनेकी चेष्टा करेंगे। आशा है पाठकगण उसीसे हिन्दूधर्मकी-व्यापकता और गंभीरताका परिमाण उपलब्ध कर सकेंगे। अस्तु। अब हम प्रथमतः अधिकारी भेद आदि समाज-धर्म की अलोचना आरंभ करते हैं।

(क्रमशः)

मानव-जाति।

(लेखक- पं० वसिष्ठजी।)

(गताङ्क से आगे)

देवलोक।

देवलोक (त्रिकूट, वर्तमान हिमालय) प्रदेश के देव आर्य हरिद्वार (हिमालयद्वार) से ही आकर खुले प्रदेश में बसे और उन्होंने आरम्भ में इस प्रदेश का नाम वैदिक वाङ्मय में ब्रह्मवर्त रक्खा। शताब्दियों पश्चात्, जनसंख्याके बढ जाने पर ये आर्य पूर्व व पश्चिमकी ओर बढे, ऐसा हम पहले लिख आये हैं। पूर्व की ओर की भूमि विशेष उपजाऊ थी और वहां वर्षाभी खूब होती थी, अतः आर्य पहले पूर्व की ओर ही अग्रसर हुए। यह स्थान जनशून्य था ही, इसलिए आर्यों ने इस प्रदेश का नाम विदेह रक्खा और वहां बस गये। देवों का एक दल त्रिकूट के मेरु (वर्तमान पामीर) प्रदेश के मार्ग से होता हुआ पश्चिम के प्रदेश में आ बसा, इधर ब्रह्मवर्त से गये हुए आर्य भी पश्चिम के प्रदेश की ओर जा जाकर बसने लगें। उन्हों ने इस पश्चिमी प्रदेश का नाम अपने पूर्वजों के आदि नाम पाञ्चजन्य से सुशोभित किया। बाद में यह देश पाञ्चालके नाम से पुकारा जाने लगा।

देवों ने त्रिकूट (देवलोक-हिमालय) प्रदेश में एक चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया। यह राज्य किसी प्रदेशविशेष के निवासियों को युद्ध में परास्त करके नहीं स्थापित किया गया था, प्रत्युत देवलोक के समस्त देवों ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय हितों को ठीक ठीक रखने लिए इस चक्रवर्ती राज्य (League of Nations) की स्थापना की। त्रिविष्टप (वर्तमान तिब्बत) प्रदेश को उच्च स्थान दिया गया। वहां के अधिपति को "इन्द्र" की उपाधि दी गई। अनेक मांडलीक राजाओं में से, जो उक्त देवलोक के राष्ट्र के स्तम्भ थे, कुबेर, शिव, ब्रह्मा, विष्णु, अरुण, वायु, अग्नि आदि मुख्य थे। इनके उत्तराधिकारी सदा इन्हीं नामों से पुकारे जाते थे।

पाञ्चजन्यों की जन्मभूमि मानस-सरोवर प्रदेश स्वर्गके नामसे विख्यात हुआ और वह चक्रवर्ती राजा इन्द्र के त्रिविष्टप प्रदेश में मिला लिया गया।

देवलोक के आर्यों में भी अनेक कुल अनाचार के कारण पतित हुए। ये पतित हुए कुल क्रूर व उद्धत होकर देवलोक के आर्यों से द्वेष रखने लगे। इनको आर्यों ने बहिष्कृत कर दिया और इन्हें यक्ष, गन्धर्व आदि नामों से पुकारा। ये यक्ष और गन्धर्व वैर भावसे संगठित होकर देवलोक के आर्यों को सताने, मारने और उनसे युद्ध करने लगे। यक्ष और गन्धर्व देवलोक, स्वर्ग तथा त्रिविष्टप देशकी अनेक सुन्दर युवती कन्याओं तथा स्त्रियों को बलात् चुरा ले जाते थे और अपने पूर्वीय प्रदेश में ले जाकर उन्हें सामूहिक पत्नी बनाते थे। अर्थात् ये अपहरण की हुई स्त्रियें किसी एक की पत्नी न होकर तमाम सेना शिबिर की वेश्याएं बनाई जातीं थीं। इनको ये यक्ष, गधर्व अप्सरा नाम से पुकारते थे और इनकी संतान को गंधर्व क्योंकि इस संतान के पिता का कुछ पता न होता था। इन्हीं के सामूहिक उपद्रव को सामूहिक रूपसे रोकनेके लिए देवायौंने इन्द्रासन (इन्द्र-चक्रवर्ती राज्य) की स्थापना की थी।

इस प्रकार देवायौंने देवलोक में अपनी यथोचित रक्षा का प्रबन्ध कर लिया। अब अपने उपद्रवों में कृतकार्य होने के कारण यक्ष व गन्धर्वों को अपने प्रदेश को उन्नत व राष्ट्र को संगठित करने की सूझी। उन्होंने पूर्वी प्रदेश में भूतलोक नाम से अपने

देशको विख्यात किया और राष्ट्रपति को भूतनाथ की उपाधि दी । प्रत्येक उत्तराधिकारी भूतनाथ के नाम से राष्ट्र का संचालन करने लगा ।

आगे चलकर गन्धर्वों का अपना अलग राष्ट्र बन गया और उन्होंने 'महादेव' नाम के एक प्रतिभाशाली देव को अपना राष्ट्रपति बनाया। अब गन्धर्व और यक्ष दो सुसंगठित राष्ट्र होकर देवलोक में उपद्रव करने लगे। इसी बीच किसी प्रकार देवलोक के मांडलीक राजा ब्रह्मा व विष्णु की महादेव से मित्रता हो गई और ये युद्ध कुछ काल के लिए शांत हो गए । मित्रता इतनी बढी, कि गन्धर्वों के राष्ट्रपति महादेव विष्णु की साधुता, सज्जनता तथा आध्यात्मिक ज्ञानसे वशीभूत होकर उनके परम भक्त बन गए ।

अब देवों, गन्धर्व तथा यक्षों में गहरी मित्रता हो गई। देवार्यों के संसर्ग से गन्धर्वों तथा यक्षों के जहां चरित्र निर्मल व संयमी बने, वहां गन्धर्व तथा यक्षों के संसर्ग से देवार्यों में भी सुकुमारता, भोगलालसा तथा रूपलिप्सा उत्पन्न हो गई। यक्षों तथा गंधर्वों की कामुक मनोरंजन करनेवाली सेना-शिबिर, अप्सराएं देवलोक, इन्द्रसभा आदि में वांच्छनीय होने लगीं। बलात् अपहरण की हुई देवों की स्त्रियों की पुत्रियें अप्सराएं बनकर अब स्वतन्त्र रूपसे अपनी मातृभूमि में विचरण करके देवों को चरित्र-भ्रष्ट करने लगीं ।

देवार्यों ने देवों के इस पतन को ताड लिया, किन्तु अप्सराओं के रूप, नृत्य कलादि गुणों की पैठ देवों में इतनी घर कर गई थी, कि वे इनको सामूहिक रूपसे निर्वासित न कर सके, क्योंकि (१) उन्हें यक्षों, गन्धर्वों की मित्रता नष्ट होने का भय था। (२) ये अप्सराएं उन्हीं की गत पीढी की स्त्रियों की कन्याएं थीं, जो बलात् ले जाई जाने के कारण निरपराध थीं और उन निराश्रयों को आश्रय देना, उन्हें न्यायोचित प्रतीत होता था। इन अप्सराओं का जीवन इतना स्वच्छन्द हो गया था, कि वे एक की होकर रहना एक बन्धन समझने लग गई थीं।

फिर भी देवोंने अपने सदाचार व संस्कृति के लिये इनको कडे दण्ड दिये, अनेकों को निर्वासित किया, जिनमें से मैनका, रम्भा, गंगा आदि इतिहास-प्रसिद्ध अप्सराएं हैं, जो देवलोक से निर्वासित होकर ब्रह्मवर्त तथा अन्य भूभागों में जाकर वसीं। यह बात इतिहासप्रसिद्ध है, कि देवलोक से जो जो अप्सराएं पतित (निर्वासित, उस काल में निर्वासित को पतित कहकर ही पुकारते थे) होकर ब्रह्मवर्तादि भूभागों में आईं वे जीवन भर इन देशों के मृत्यों (मनुष्यों) की गृहणी बनकर भी नहीं रहीं। प्रायः वे कुछ प्रकार की शर्तें लगा कर ही विवाह करती थीं और शर्त भंग होते ही चल देती थीं ।

पर्वतीय जिन जातियों में अबतक कन्याओं से वेश्यावृत्ति कराने की प्रथा है, वास्तव में ये तत्कालीन गन्धर्व ही हैं। अन्तर इतना हो गया है, कि उस काल में अप्सराओं के अज्ञातवीर्य लडके गन्धर्व तथा कन्याएं अप्सराएं होती थीं। किन्तु अब उन जातियों की कन्याएं वेश्या होती हैं और लडके किसी दूसरी जाति की कन्याओं से विवाह कर लेते हैं।

निर्वासित किए हुए देवलोक के पतित आर्यों (यक्ष, गन्धर्व) उत्तर की ओर नए भूभागों में जा बसे, जिनका नाम उन्होंने चीना (वर्तमान चीन) सुमेरु (वर्तमान साइबेरिया) रक्खा। प्रायः वे इस प्रदेश को उत्तर सुमेरु कहते थे, क्योंकि उनके त्रिकूट (हिमालयप्रदेश) में भी एक सुमेरु प्रदेश था, उसी के नाम पर उन्होंने इसे उत्तर सुमेरु पुकारा। इन्द्रप्रदेश के अनेक पतित आर्य निर्वासित होकर तथा अनेक आर्य नई भूसम्पत्ति के लोभ से उत्तर पश्चिम की ओर जा बसे, उन्होंने इस स्थान का नाम इलावृत रक्खा, जो अब अलताई के नाम से विख्यात है। इलावृत के उत्तर के प्रदेश का नाम उन्होंने रम्यकवर्ष रक्खा, जो अब रूस के नाम से प्रसिद्ध है।

जो पतित आर्य आचार, विद्या हीन होकर बिलकुल जंगली नरपशु हो गए थे, वे प्रायः अज्ञात

प्रदेशों, जंगलों में रहते थे और अनेक नवीन भू-भागों में जा बसे थे, जिनका आर्यों को भी पता न था और जिनका कोई नामकरण तक न किया गया था ।

शताब्दियों पश्चात् ब्रह्मवर्त, पाञ्चजन्य (वर्तमान पाञ्चाल-पंजाब) तथा विदेह (वर्तमान विहार) प्रदेश मिलकर आर्यवर्त कहलाने लगे। आर्योंने ब्रह्मवर्त के पश्चिम भागका नाम कुरुक्षेत्र रक्खा। आर्योंके एक नरिष्यन्तके ९ पुत्र थे। बडे का नाम शक था, किंतु वे सब शक कहलाते थे। किसी अत्याचारी षड्यन्त्रके कारण जनताने उन्हें बन्दी बना लिया और सगर को अपना राजा बनाया । सगरने शकों को निर्वासित कर दिया । शक अपने सम्बन्धियों, इष्टमित्रों तथा अनुयायियों सहित उत्तर, पश्चिम प्रदेश को गए। सूदूर जनशून्य भूभाग में ये सब कुल जाकर बस गए और उस प्रदेशका नाम इन्होंने शक देश रक्खा। जो आगे अपभ्रष्ट होकर सिथिया तथा शक सिथियन कहलाने लगे। प्राय: स्वास्थ्यकर उपजाऊ सुन्दर प्रदेशों में जा जा कर देवलोक व आर्यवर्त के आर्यलोग उपनिवेश वसाते थे और बहिष्कृत पतित आर्य निर्वासित होकर दलदले भू-भागों, बिकट वनों में रहने को विवश होते थे अथवा अल्पसंख्यक होने के कारण आर्यों से द्वेष-वश बदला लेने के लिए पतित आर्यलोग ऐसे ही गुप्त, बीहड बिकट स्थानों में जहां वे छिप सकें जाकर बसते थे। कुछ अपनी कुप्रवृत्तियों के कारण तथा कुछ अस्वास्थ्यकर प्रदेश के कारण दलदली भूमिके योग्य तामसिक खानपानको अपना लेते थे ।

देवलोक के प्रतिभाशाली आर्योंने अपनी एक परिषद् में यह निश्चय किया, कि उत्तर में अनेक पतित आर्य गए हैं और अनेक देशों में देवलोक के आर्यों ने भी उपनिवेश बसाए हैं । बहिष्कार से हमारे पतित देशस्थों ने प्रायश्चित्त न करके उत्तरोत्तर उग्रता, दुष्टता व हीनता धारण कर ली है और वे सुमार्ग पर आने के बजाये नीच बनकर हमारे आर्य उपनिवेशों में भी उपद्रव करने लग गए हैं। अतः आर्य उपनिवेशों के आर्यों के जान, माल, चरित्र व सदाचार की रक्षा तथा इन निर्वासितों में शुद्धि, सदाचार व धर्म की स्थापना के लिए हमें सूदूर उत्तर में देवलोक उपनिवेश बनाना चाहिए तथा सब आर्य उपनिवेशों को संगठित करके और अनार्यों के उपनिवेशों को मिलाकर एक चक्रवर्ती राज्य बनाना चाहिए।

दैवयोग से उसी अवसर पर इसी प्रकार का एक ऐसा ही परिषद् आर्यवर्त में मनु के राजत्व में हो रहा था। मनुमहाराज देवलोक तथा आर्यवर्त दोनों प्रदेशों के परिषद् में सम्मानित हुए। मनु के प्रस्तावसे उत्तरध्रुव में जाने के लिए निषेध रहा। और देवों ने सूदूर उत्तर सुमेरु में आर्य उपनिवेश बसाया और उसका नाम उत्तर कुरुवर्ष रक्खा। देवलोक, नैपाल (वर्तमान नैपाल,) भूतलोक (वर्तमान भूतान), रम्यक वर्ष (वर्तमान रूस), इलावृत (अलताई), चीना (चीन), उत्तर कुरुवर्ष (वर्तमान साइबेरिया) को मिला कर एक चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया।

इधर आर्यवर्त की परिषद् में मनुने व्यवस्था कर दी कि-

" इस देश के विद्वानों से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपने चरित्र सीखें।

हम पहले लिख आये हैं, कि जो आर्य बहिष्कृत होने के बाद प्रायश्चित्त कर लेते थे, वे आर्योंमें मिला लिये जाते थे और जिस वर्ण के गुणकर्म उनमें होते थे, उनमें ले लिए जाते थे; किन्तु जो अपने कुकृत्यों को न छोडकर उत्तरोत्तर कुकर्मी हो जाते थे, उनको निर्वासित तक कर दिया जाता था।

पतित आर्यों का यह बहिष्कृत-समुदाय जाति-अपमान से क्रुद्ध होकर आर्यों से लडता रहा। अतः कभी पराजित होकर, कभी अपनी इच्छा से, कभी निर्वासित किया जाकर अन्य देशों में बस गया, यह हम ऊपर लिख आये हैं। हम यह भी लिख चुके हैं कि ब्रह्मवर्त तथा देवलोक से पतित आर्य ही नहीं

प्रत्युत आर्य भी भिन्न भिन्न भूभागों में उपनिवेश बसा चुके थे।

आर्यवर्तसे पश्चिमकी ओर शुद्ध आर्योंका ही गमन हुआ। ब्रह्मवर्त तथा पाञ्चजन्य (पांचाल) देश के आर्यों ने देवलोकके पश्चिमदक्षिण कोने पर एक उपनिवेश बसाया। यह प्रदेश भेड बकरियोंकी उत्तम चर भूमि थी। अत: उन्होंने इस प्रदेशका नाम गान्धार रक्खा। वैदिक वाङ्मयमें गान्धार बकरियों योग्य चर-भूमिकोही कहते हैं ! आर्योंके कई कुल, कुछ शताब्दियों बाद, जनसंख्या बढ जाने पर आगे बढे, और आगेके देशमें उपनिवेश बनाकर रहने लगे। उन्होंने इस देशका नाम आर्यन् (वतेमान ईरान) रक्खा !

उस वैदिक काल में प्राय: भूकम्पों का प्रावल्य था। प्रत्येक भूकम्प किसी न किसी ज्वालामुखी को समुद्रके गर्भ से उत्पन्न करता और कहीं न कहीं समुद्र में द्वीप निकल आते, या खुश्की का कोई भाग समुद्र से बाहर बढ आता। दोचार शताब्दियों में नव उत्पन्न भूभाग सुखकर वनस्पति, वृक्ष, पशु, पक्षी आदिसे भर जाता तो निकट के आर्य अथवा निर्वासित पतित आर्य उसमें अपना उपनिवेश बना लेते, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार ज्यों ज्यों निवासस्थान व खाद्य वस्तु बढती जाती है, त्यों त्यों प्राणियों की भी उत्पत्ति बढती जाती है !

आर्यन् (वर्तमान ईरान) देशसे कुछ पतित आर्य निर्वासित किये गये। वे इस नये जनशून्य प्रदेश में आ बसे, यह देश घोडोंके लिए बहुत उत्तम था अत: उन्होंने इस देशका नाम अर्व रक्खा। वैदिक वाङ्मय में अर्वत् घोडे को ही कहते हैं, तथा घोडे के रहने के स्थान को अर्व। आर्यन् देशके कुछ ब्राह्मणों के इतर वर्णों की स्त्रियों के संसर्गसे जो संकर सतान हुई वह शैख नामसे विख्यात हुई। क्योंकि उस समय सर्व देशोंमें मनुकी व्यवस्था मान्य हो रही थी और मनुने ही इस वर्णसंकर संतान को शैख संज्ञा दी थी। किन्तु यह शैख कुल कुलीन ब्राह्मणों जैसा मानप्रतिष्ठा न पा सका, इसलिए यह अर्व देशमें बसे हुए पतित आर्यों का पूज्य बन गया। बाद में ये ही वर्णसंकर शैख शेख नाम से विख्यात हुए।

ब्रह्मवर्त से निर्वासित किए जाकर अधिकांश पतित आर्य दक्षिण की ओर ही गए। इन निर्वासित लोकों को दस्यु, अनार्य, चोर, असुर, आंध्र, राक्षस, नाग, सर्प, कपि, वानर, किरात, कोल, भालू, निशाचर, पिशाच, भूत, यातुधान, प्रेत, दैत्य, दानव, द्रविद (द्रविड) आदि भ्रष्ट शब्दों से पुकारा जाता था।

वन्ध्या (वर्तमान विन्ध्याचल) से दक्षिण की प्रदेश जनशून्य वन उपवन से घन छत हो रहा था। यहां आकर ही उपरोक्त नामधारी पतित आर्य बसे। हम पीछे लिख आए हैं, कि सब से नम्र दण्ड ' अनार्य ' कहकर पुकारना था, उसके बाद पणिक, दस्यु, वानर, कपि, हरि, भालु, चोर, आंध्र, द्राविद, असुर, राक्षस, दैत्य, दानव आदि भ्रष्ट शब्दों से पुकारना। इस प्रकार उपरोक्त नामधारी पतित आर्य विन्ध्याचल के दक्षिण में बस गए। उनमेंसे अनेकों ने अपने चरित्रों को आर्यों के समान शुद्ध बना लिया, किन्तु उसके नाम रूढ हो चुके थे। इस लिए वे वानर, कपि, हरि, पणिक, आंध्र कहलाते रहे। नाग, सर्प, दैत्य, असुर, दानवों में से भी अनेक पूर्ण साधु व सज्जन हो गए थे, किन्तु उन्होंने अपने पैत्रिक पतित नाम को छोड श्रेष्ठ आर्य नामको धारण करने की कोई अभिलाषा प्रकट नहीं की। दूसरे ये नाम उनके पूर्व पुरुषाओं के द्योतक थे, इस लिए अनेकोंने ममता वश भी- इन नामों को त्याग कर श्रेष्ठ आर्य नाम को ग्रहण करने की विशेष कोशिश नहीं की। दक्षिणमें आंध्रोंने आंध्रदेश बसाया। चोर चोल हो गए, पणिक पण्डया नामसे पुकारे जाने लगे।

इस प्रकार दक्षिणमें समुद्रतटतक उक्त पतित आर्यों के छोटे छोटे प्रान्त बस गये। ये दु:साहसी लोग सुमद्रमार्ग से अन्यत्र भी जानेका प्रयास करने लगे। पणिक (पण्डयों) के एक दलने पश्चिमी समुद्र से यात्रा करके अर्व देश के उत्तर में एक जन-

शून्य भूभाग को ढूंढ लिया। आर्यलोग उस दलदली भूमि को तबतक अपना उपनिवेश बनाने के लिए तैयार नहीं हुए थे। इन पणियों ने इस देश का नाम पणिशि (वर्तमान फिनिशिया) रक्खा। इसकी देखा देख चोर (चोल) भी एक बडा दल लेकर इधर आये और पासके प्रदेशमें बस गये और उसका नाम चौलय (वर्तमान चाल्डिया) रक्खा।

असुर तथा राक्षसों ने मिलकर अपना एक राष्ट्र बना लिया। सब से पहले उन्होंने दक्षिणी महाद्वीप के उत्तरी भाग को बसाया। पश्चात् इनमें आन्ध्र भी मिल गये और वे दुःसाहसी असुर, राक्षस तथा आन्ध्र दक्षिण की ओर अपना उपनिवेश बसाते चले गये।

(ब) आर्योंकी दिग्विजय।

अपनी महत्त्वपूर्ण परिषद् के निश्चय अनुसार आर्यों ने दिग्विजय करके चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की। उस सुदूर दक्षिण में एक महाद्वीप भूगर्भ से बाहर निकल कर उपनिवेशयोग्य हो गया था। उस के उत्तरपूर्व के भूभागों में राक्षस, असुर तथा आन्ध्र बस गये थे। आर्योंने पश्चिममें पणिश, चौलय तथा दक्षिणमें इन असुरों, राक्षसों तथा आन्ध्रों के उपनिवेश तक दिग्विजय की और इस प्रकार एक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना मनुके राजत्व में हुई। दक्षिण असुर लोकका राजा तृणबिन्दु बनाया गया। यह एक धर्मात्मा असुर था। इसने राक्षसों, असुरों, आन्ध्रों को लेकर आर्यों की दिग्विजय कराई और आर्योंसे सहमत दक्षिण महाद्वीप इसके आधीन कर दिया। उस दक्षिण महाद्वीप के पूर्वी प्रदेशों का नाम जावा, सुमात्रा, मलय, लंका रक्खा। दक्षिण प्रदेश आन्ध्रों को दे कर उसका नाम आन्ध्रालय (वर्तमान अस्ट्रेलिया) रक्खा। पश्चिम के प्रदेश का नाम मगसर (वर्तमान मेडागास्कर) रक्खा और उत्तरी प्रदेश (वर्तमान सीलोन) द्रविडों तथा आर्यों के आधीन रहा। वर्तमान जावा, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया, मेडागास्कर तथा सीलोन के बीच जो विशाल हिन्द महासागर है, उस काल में यह सब भूभाग था और इस प्रकार अफ्रीकाके समान एक महाद्वीप था।

आन्ध्र लोग असुर, राक्षसोंसे बहुत नीचे बुद्धिहीन नरपशु ही थे। असुर तथा राक्षस उन्हें अपने समाज में प्रतिष्ठित करना उतना ही आपत्तिजनक समझते थे, जितना आर्य असुरों को आर्यसमाजमें प्रतिष्ठित करना। अतः आर्यों, द्रविडों, असुरों तथा राक्षसों के निश्चयानुसार सदूर दक्षिण का प्रदेश आन्ध्रों को दे दिया गया, जो आन्ध्रालय के नामसे विख्यात हुआ। आर्यों ने तृणबिन्दु की सहायता से अंग, भव, शंख, लंकत्, सोनीलंका आदि जनशून्य द्वीप को उपनिवेश बनाया। अनेक ब्राह्मण, ऋषि, मुनि, संन्यासी आश्रम बना कर इन प्रदेशोंमें रहकर धर्म, सदाचार, शिक्षण आदि का प्रसार करने लगे। ऋषि पुलस्त्य इस ब्राह्मणसमाज के अग्रणी थे। प्रतिभाशाली युवक ऋषि पुलस्त्य की धर्मनिष्ठा, सदाचार तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर राजा तृणबिन्दु ने अपनी कन्या का विवाह इस ऋषि से कर दिया।

ऋषि पुलस्त्य का पुत्र विश्रवा अपने नाना के विशाल राज्य का उत्तराधिकारी बना। इसी विश्रवाका पुत्र दशानन था, जो आर्यसंस्कृति से पतित हो गया। इस दशानन ने रावण नाम से सिंहासन ग्रहण किया और अपने राज्य के उत्तर प्रदेश में लंका नाम का नगर बसाया। उस लंकामें हमने सोनी लंका प्रदेश से अतुल स्वर्ण लाकर उसे ऐश्वर्यशालिनी बनाया।

इस प्रकार उत्तर खण्ड में देवलोक के आर्य चीना से लेकर उत्तर कुरु तथा रम्यकवर्ष तक के पतित आर्यों की शुद्धि करने लगे। इस शुद्धि में इन देशस्थ पतित आर्यों के संसर्ग से अनेक दोष आने लगे, जिन का कुछ कुछ वर्णन पुराणोंमें मिलता है।

दक्षिणके असुरोंने जावा सुमात्राकी ओर से उत्तरके जनशून्य प्रदेशों में उपनिवेश बसाया। और इन दुःसाहसी क्रूर असुरों ने चीना में उपद्रव करना शुरू कर दिया, दुर्गम स्थानोंमें जाकर रहना इनके लिए स्वाभाविक हो गया था। आर्य लोग ग्राम नगर बसा कर रहते थे, तथा ऋषिमुनि वनों में अटवी

(आश्रम) बनाकर । किन्तु ये असुर लोग वीहड बनों में अस्थायी रूप से भ्रमण करते रहते थे । चीना से उपद्रव करते हुए इनके कुछ समूह त्रिविष्टप (वर्तमान तिब्बत) में आ बसे । इन्होंने देवलोक में ऐसा भयंकर उपद्रव मचाया कि देवलोक के अनेक आर्य, यक्ष आदि भूतलोक (वर्तमान भूतान) के मार्ग से उतर कर एक नवीन जनशून्य प्रदेश में आ बसे, जिसका नाम इन्होंने ब्रह्मा रक्खा ।

इन असुरों की विजय के कारण थे–

(१) छल कपट से अनायास रात्रि आदि में आक्रमण करके पुरुषों की हत्या तथा स्त्रीबालकों का अपहरण ।

(२) देवलोक के बहिष्कृत पतित आर्यों से सहयोग। क्योंकि पतित आर्य द्वेषवश आर्यों से बदला लेने के लिए अपने हिताहिततक को भूलकर आर्यों के शत्रुओं की सब प्रकार से सहायता करते थे।

(३) आर्यों की विजय होनेपर ये असुर ग्राम बनों, पतित आर्यों के घरों में छिप जाते थे। इसलिए आर्यलोग इन्हें यथोचित दण्ड न दे सकते थे, किन्तु आर्यों की पराजय पर पुरुषों की हत्या तथा स्त्रीबालकों के अपहरण से आर्यों के ग्राम, नगर तथा आश्रम जनशून्य हो जाते थे ।

(४) असुरों के दल में पिशाच ऐसे भयानक नरपशु थे, कि वे विजित आर्यों तक को मारकर खा जाते थे।

पतित आर्यों के जो अनेक नाम हुए, उनके अनेक कारण थे। कुछ नाम तो उनके स्वभाव के अनुसार थे और कुछ रूढ उपाधियें थीं। उदाहरणार्थ अनेक कुमार्गगामी आर्य पतित होकर 'आंध्र' कहलाए, किन्तु महाराज विश्वामित्र ने अपने अवज्ञाकारी पुत्रों को उनके अनुयायियों सहित 'आंध्र' कहकर निर्वासित कर दिया। यह विश्वामित्र द्रविडों के आर्य मांडलीक राजा थे। विश्वामित्र के ये निर्वासित पुत्रों की यह आंध्रशाखा ही आंध्रालय की अग्रणी बनी। इस प्रकार प्रायः समस्त आर्य देशों तथा उपनिवेशों के बहिष्कृत पतित आर्य एकही अथवा भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। अर्थात् यदि दक्षिण के पतितों की असुर संज्ञा हुई, तो देवलोक के पतितों में से कितनों को यही संज्ञा मिली।

*

उन दिनों आंध्रालय (वर्तमान आस्ट्रेलिया) से दक्षिण में कोई भूभाग समुद्र से बाहर नहीं उत्पन्न हुआ था और न अबतक ही हुआ है। वहां केवल समुद्र ही समुद्र था। उससे सुदूर दक्षिण में दक्षिण ध्रुव था। उत्तर ध्रुवके समान ही यहां जाने का भी निषेध था।

पणिशि (वर्तमान फिनिशिया) देश के पणिक (पण्य) आर्यों के चक्रवर्ती राज्य की छत्रछायामें धार्मिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक उन्नति करने लग गए थे। उनके वंशज उस देश में खूब फलफूल रहे थे। आर्यों के अनेक ऋषि, मुनि, वानप्रस्थी तथा वनवासी ब्राह्मण उन्हें अनेक विद्याओं के साथ साथ सदाचार तथा नैतिक जीवन की शिक्षा देने लग गए थे। निकट पश्चिम में एक भूभाग वनस्पति से हराभरा उपनिवेशयोग्य हो रहा था ।

भारतीय पण्य (पणिक) समुद्र मार्ग से आर्यन् (ईरान) में जा बसे कुछ। शताब्दियों बाद ये आर्यों में मिल गए, अर्थात् उनका जीवन 'आर्य' हो गया । इनकी जनसंख्यावृद्धि, संगठन के कारण इनको उस देश के, राष्ट्रके संचालन में सत्ता मिल गई। इन्होंने इस देश का नाम ही आर्यन् से पारश्य (वर्तमान फारिस) रख लिया। इसी पण्य शाखा ने पश्चिम के नवीन जनशून्य भूभाग को उपनिवेश बनाया। ये पारश्य आर्यन् देश से ही गये थे। इन्होंने इस देश का नाम कुमृत रक्खा और इस देश की विशाल गहरी नदी का नाम नील रक्खा, क्योंकि उसका जल गहराईके कारण नीला दिखाई देता था। ये पारश्य इस नदी के आसपास उपजाऊ भूभाग में बस गये। काली मिट्टी के कारण ही इसका नाम कुमृत कु (काली) + मृत (मिट्टी) रक्खा । बाद में यह कुमृत शब्द अपभ्रष्ट होकर कमित (वर्तमान इजिप्त) हो गया। इसके पश्चात् शताब्दियों तक

इस में समुद्रमार्ग द्वारा अर्व, पारश्य, पणिशि, चोलय (चाल्डया) आदि देशों के पतित आर्य आकर बसने लगे। जब यह प्रदेश आर्यवर्त के चक्रवर्ती राज्य में आया, तो आर्यों ने इस देश का नाम अनेक उपनिवेशों से आकर बसे हुए मिश्रित जनों के कारण मिश्र रक्खा। आगे यह मिश्र नाम से विख्यात हुआ। कमित नाम केवल साहित्य का रह गया।

इस मिश्र देश से दक्षिण में जो प्रदेश था, उस में हाथी व सोना बहुत उत्पन्न होता था। दिग्विजयी आर्यों ने इस देश को अपना उपनिवेश बना लिया और इस का नाम मण्णार रक्खा। दक्षिण भारत से अनेक दानव असुर आर्यों की अधीनता स्वीकार करके यहां बस गये। आर्यों ने क्षत्रियों की जिस पतित शाखा को इस मण्णार देश में बसाकर अपने आधीन रक्खा, वह भारत में झल्ल नाम से पुकारी जाती थी, जो यहां बादमें जूलू नामसे विख्यात हो गई।

ज्यों ज्यों दक्षिण पश्चिम की ओर भूभाग समुद्रसे निकलकर बसने योग्य होता जाता था, त्यों त्यों इस उपनिवेश के वंशजों की शाखाएं अपने अपने गण-राज्य स्थापित करती जाती थीं। यहां तक की सुदूर उत्तरपूर्व में यह देश पुराने भूभागसे (वर्तमान नहर स्वेज के पास) मिल गया। वर्तमान अफरीका मण्णार और भिन्न उपनिवेशोंका शनैः शनैः बढा हुआ प्रदेश है।

पतित आर्यों का धर्म और संस्कृति।

पतित आर्योंका धर्म भी वैदिक ही था, किन्तु वे स्वभाव तथा संसर्गदोष के कारण मिथ्याहार-व्यवहार, स्तेय, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट आदि क्रूर कर्म करने लग गये थे, धार्मिक विश्वास सर्वथा वैदिक ही था। आरम्भ में असुर, पिशाच तथा राक्षसों को छोड आर्यों की कोई भी पतित शाखा मद्यमांस सेवन न करती थी, किन्तु आगे संसर्ग-दोष से सम्पूर्ण पतित शाखायें और अन्त में आर्य भी मद्यमांसाहार करने लगे, जिस का विशद वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

उपनिवेशों में आर्यों के पतन तथा पतित आर्यों के उत्तरोत्तर भ्रष्ट होने का कारण ब्राह्मणों का उनके पास न पहुंचना ही था। क्योंकि आर्यवर्त से उपनिवेशों में क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ही जाते थे।

शताब्दियों पश्चात् आर्यों की परिषद् ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करके उपनिवेशों में संस्कृति की शिक्षा दीक्षा तथा सदाचार के प्रचार के लिए ऋषि-मुनियों तथा ब्राह्मणों को भेजा। आर्यवर्त के समान ही उन उपनिवेशों में यत्र तत्र आश्रमों (अटवियों) की स्थापना की गई। आर्य लोग इन आश्रमों की रक्षा का महत्त्व खूब समझते थे। वे अपने नगरों तथा राजधानियों की रक्षा से अधिक इन आश्रमों की रक्षा को आवश्यक समझते थे। क्योंकि इन्हीं आश्रमोंमें अनेक तत्त्ववेत्ता ऋषिमुनि रहते थे, जो उनके राष्ट्र की शिक्षा, दीक्षा, संस्कृति तथा सदाचारके आधार-भूत स्तम्भ थे।

देवलोक के कुछ पतित आर्य (यक्षादि) छिप कर छापा मारने लगे गये थे। उनकी इस सर्पणशील मनोवृत्ति के कारण उनको सर्पसंज्ञा मिली। बाद में वे सर्पाङ्कित करके निर्वासित कर दिये गये। निर्वासित होकर वे विदेश और ब्रह्म प्रदेश की भूमि में बसे। इधर आर्यवर्त के भी अनेक क्रोधी और गुप्त रूप से वैर भाव रखनेवाले मनुष्य नागसंज्ञा पा चुके थे। नागों की एक बडी संख्या विदेह देशके पूर्व वंग प्रदेश में बस गई थी। अनेक नाग और सर्प कुरुक्षेत्रसे दक्षिण पश्चिम (वर्तमान राजपूताना) में बस गये थे। आर्यों के इन नागसर्पों के साथ अनेकवार युद्ध हुए। उन युद्धोंमें सर्प पराजित होकर विन्ध्याचल के दक्षिणमें तथा नाग, ब्रह्म, चीन के मार्गसे पाताल (वर्तमान अमेरिका) में जा बसे। क्योंकि पाताल उस समय तक जनशून्य प्रदेश था।

पाताल में जाकर नागों ने गणराज्य स्थापित किया। इन नागों का अग्रणी, जिसकी उपाधि वासुकि थी, अपनी पराजय व निर्वासन के कारण

आर्यों पर अत्यन्त कुपित था। इस वासुकि ने, आर्यों से बदला लेनेके लिए अपनी बहन नर्मदा को नियुक्त किया। नर्मदा अत्यन्त सुन्दरी थी। वह आर्यों के तत्कालीन राजा के उत्तराधिकारी पुरुकुत्स को पाताल ले गई और उसे नागों में मिला कर अपना पति बनाया। ये नागलोग ओ३म् के उपासक थे। बंगदेशीय नागों ने ओ३म् के एक सुन्दर चित्र (मोनोग्राम) की कल्पना की थी और उस कल्पना में नागजन्तु की रूपरेखा भी सम्मिलित करती थी। ग्रामीणों तथा अर्धशिक्षितों में उसकी रूपरेखा ॐ तथा शिक्षितों व नागरिकों में ॐ थी। आगे यज्ञशालाओं तथा महलों के चित्रों में पहली आकृति तथा दूसरी आकृति बना ली गई। आगे चल कर ओ३म् के पहले मोनोग्राम का नाम स्वस्तिक तथा दूसरे का गजानन प्रचलित हो गया। इन्हीं "गजानन" व स्वस्तिक ओंकारों की पूजा नागलोग नागलोक में करने लगे। आर्यों ने दिग्विजय करके इस लोक के नाम पाताल व रसातल रक्खे।

आर्यों ने अपने समाज को स्वच्छ, सदाचारी रखनेके दो उपाय निश्चित किये थे। पहला उपाय था, कि समाज में एक भी व्यक्ति ऐसा न रहने पावे जिसने गुरु के पास रहकर विद्या, सदाचार और सभ्यता न सीखी हो। इसकी पूर्ति के लिए गुरुकुल-आश्रम वनों में स्थापित कर दिये थे, जहां ऋषि, मुनियों के अतिरिक्त विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थ तथा वानप्रस्थ गुरु होते थे. उनकी सहायता के लिए क्षत्रिय और कभी कभी वैश्य भी वानप्रस्थ हो कर आ बसते थे। उन्होंने निश्चित कर दिया था, कि अमुक आयु तक यज्ञोपवीत करा कर यदि आर्यों का कोई बालक आचार्यकुल में ब्रह्मचारी न बन जाय, तो वह समाजसे पृथक् कर दिया जावे। यदि कारणवश विद्या, सदाचार और सभ्यता सिखलाने पर भी कोई बदमाश, व्यभिचारी, अत्याचारी, हत्यारा हो जावे, तो उसे जातिसे निकाल देना चाहिये। आर्यों के इन नियमों से समाज में न कोई मूर्ख ही रह सकता था और न अत्याचारी ही। आर्यों में जातिबहिष्कार के अतिरिक्त प्रायश्चित्त, जेल, जुर्माने की सजा भी थी, किन्तु प्राणदण्ड आर्यों के समय प्रचलित नहीं हुआ था।

आर्यों तथा पतित आर्यों का रूप-रंग।

पाञ्चजन्य तथा उनके वंशजा का वर्ण गौर तथा आकृति अत्यन्त सुन्दर थी। पाञ्चजन्य तो मानवी रूप के उच्चतम प्राणी थे, किन्तु उनके उष्ण, अनूप, जांगल तथा मरु प्रदेशों में जानेसे उनके वर्ण में कुछ कुछ लाली व श्यामलता आती चली गई। पतित आर्योंके अनाचार, दिनरात्रिचर्याके दुरुपयोग, व्यभिचार, भक्ष्याभक्ष्य तथा मानसिक उद्वेगों के कारण उनके रसरक्तादि में भी विकार आने लग गया, जिससे उनके वंशजों के रंग और विशेष कर आकृति में आश्चर्यजनक विकार उत्पन्न होने लग गये। सहस्रों वर्षों के इस जल, वायु, भूमि, उष्णता, आचारविचार ने उनके रंगरूपरेखा को कुछ से कुछ बना दिया। आरम्भ में हिमालय के पतित आर्य (उस गन्धर्व) परम स्वरूपवान् रहे, परन्तु जब उन में विन्ध्याचल के मार्ग से निर्वासित किये गये असुर, आन्ध्र, आन्ध्रालय, जावा-सुमात्रा, चीनीके मार्ग से अनेक रंग, रूप के परिवर्तनों से निकल कर आ मिले और इन यक्षोंसे उनका विवाहसम्बन्ध स्वेच्छा से वा बलात् होने लगा तो ये यक्ष भी तावेके वर्ण के हो गये। यह तावें का वर्ण विशेष आकर्षक निकला। वर्तमान भारत में भी जब किसी सांवले भारतीय का किसी भूरी मेम से विवाह हो जाता है, तो उनकी संतान मातापिता दोनों से सुन्दर होती है। दक्षिण (वर्तमान मद्रास) तथा आन्ध्रालय का अत्यन्त उष्ण जलवायु तथा असुरराक्षसों का पैशाचिक जीवन इतना विकृत था, कि इस ओर के पतित आर्य बिल्कुल काले हो गये। उनकी वर्ण कृष्णतामें जो न्यूनाधिक्य है, आगे पीछे जानेवाली पतित शाखाओं के कारण है। गौरवर्ण आर्य ब्रह्मवर्त में आकर कुछ पीतवर्ण होकर विशेष चित्ताकर्षक हो गये थे, क्योंकि

पीत वर्ण मनोहर होता है। दूसरे हरदी आदि औषधियें वर्ण के लिए उजावल तथा हितकारी सिद्ध हुईं इसलिए आर्यों को स्वस्थ पीतवर्ण, जिस में हरदी तथा स्वर्ण की लाली भी हो बहुत प्रिय हो गया था। श्यामवर्ण भी आर्यों को बहुत प्रिय था। श्याम व पीतवर्ण के मिश्रता संतान का जो रंग बनता था, वही रंग कृष्ण तथा गोरे रंग के स्त्रीपुरुषों की संतान का होता था और यही वर्ण (तांबे से कहीं हल्का लाल) पाञ्चजन्यों का था। सावले व पीले रंग के मिश्रण से भूरे रंग की संतान हुईं। इस प्रकार भिन्न भिन्न जलवायुवाले देशों के पतित आर्यों (भिन्न भिन्न प्रकार की आकृति रंगरूप के मनुष्य जिनकी शाखाएं असुर, राक्षस, वानर, कपि, नाग, द्राविड, चोल आदि थी,) के देशदेशांतर के भिन्न रंगरूपवाले शूद्र आर्यों के साथ विवाहसम्बन्ध होनेसे अनेक रंग व आकृति बन गईं और बनती जा रही हैं।

मिश्र देशके श्यामवर्ण आर्यों तथा पणिश (फिनीशिया) इलावत (अलताई) आदि प्रदेशों के निवासियोंने एक नए जनशून्य भूभाग को उपनिवेश बनाया और उस प्रदेश का नाम शर्मन् (वर्तमान जर्मन) रक्खा। आर्यों की इन्हीं दो शाखाओं के मिश्रण से भूरी सन्तान उत्पन्न हुई, जो सारे शर्मन् देश में बस गई। ज्यों ज्यों नए भूभाग समुद्रसे निकलते गए यह जाति अपना उपनिवेश बढाती गई। भारत के कतिपय आर्य भी यहां पहुंचे। इनमें कितने संस्कृत भाषाको अपनी राष्ट्रीय भाषा बना कर 'आर्यमणि' कहलाए। और यह आर्यमणि शाखा जिस प्रदेशमें रहने लगी, उसका नाम भी इन्होंने आर्यमणि (वर्तमान आरमेनिया) रक्खा। इसी आर्यमणि शाखा ने आर्यनन्द (वर्तमान आयरलैण्ड) शर्मदेश (वर्तमान सरमेशिया), रुशमे (रोम) नाम के उपनिवेश बसाए। बाद में ये ही शाखाएं समस्त नये भूभागों (वर्तमान योरोप) में फैल गईं।

हम पीछे लिख आए हैं, कि आंध्रालय के असुर राजा तृणबिन्दु के दौहित्र दशानन रावण के नामसे सिंहासन पर बैठा। इसने द्रविड देश (दक्षिण भारत) को विजय करने की इच्छा से अपने राज्य के उत्तरीय नाके पर लंका नाम की नगरी बनाई और अपने समस्त राज्य को लंका नामसे विख्यात किया।

दक्षिण के द्रविडादि निर्वासित आर्य आर्यवर्त के आर्यों से द्वेष रखते थे। इसी प्रांत से अनेक अनार्य लंका महाद्वीप में जा बसे थे। रावण संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, वह चतुर भी था और चालाक भी। वह खूब समझता था, कि समस्त द्रविड प्रदेश आर्योंसे द्वेष करता है, इसलिए उसने कूट नीति, बल प्रयोग, युद्ध तथा अत्याचार से द्रविड प्रदेश में अपने पैर जमा दिए। आर्यों से द्वेष होनेपर भी उन दिनों आर्य शब्द असुरादि में भी इतना प्रतिष्ठित था, जितना आजकल " राजा " " कुलीन " "ब्राह्मण" शब्द हैं। इसलिए पहले के पतित आर्य अपने को आर्य और बाद में आनेवाले नवीनों को अनार्य कहा करते थे जो अबतक अय्यर और नय्यर के रूप में प्रचलित हैं। मद्रास में तो अब भी महाशय या श्रीमान् के लिए अय्या शब्द प्रचलित है।

द्रविडों के एक विद्वान् प्रतिभाशाली राजा विश्वामित्र को आर्यों से इतना द्वेष था, कि उसने आर्यों की भाषा संस्कृत को विकृत रूपसे अपभ्रंश करके एक द्रविड भाषा बना ली। यह भाषा द्रविडों असुरों राक्षसों तथा आन्ध्रों के साथ दक्षिण भारत (आन्ध्रालय) तक गई और वहां प्रान्तीय भेदों के कारण अनेक विकृत रूपों में बट गई। किन्तु दशानन (रावण) अपने दादा पुलस्त्य की भांति संस्कृत का एक विद्वान् पण्डित था, उसे भी आर्यों की तरह अपना राक्षस-राज्यविस्तार करने की सूझी। असुर लोग चीना देश के मार्ग से स्वर्ग व त्रिविष्टप में उपद्रव कर रहे थे, जिसके कारण अनेक गन्धर्व व यक्ष त्रस्त होकर ब्रह्मप्रदेश में जा बसे थे। रावण को इन असुरों पर पूरा विश्वास था। उसने असुरों का एक दल सोनीलंका मार्गसे चीन देश होता हुआ समस्त असुरों का संगठन करने हुआ स्वर्ग व त्रिविष्टप की ओर गुप्त रूपसे भेजा एक दल द्रविडदेश होता हुआ अयोध्या तक पहुंचे

तीसरा दल विमान के द्वारा आकाशमार्ग से पहुंचा। दूसरा दल यद्यपि अयोध्या तक पहुंच गया, परन्तु उसकी क्षति बहुत हुई। स्वयं दशानन इस दल के साथ एक वार वानरराज वालि का बन्दी हो गया था। किन्तु पहले व तीसरे दल ने त्रिविष्टप में देवों को परास्त करके इन्द्र की भार्या शचि का भी अपहरण कर लिया।

देव आर्य इस पराजय से बहुत क्षुब्ध हुए। उन्हें एक योजना की आवश्यकता हुई जो पतित आर्यों के कौशल व असुरों की आपस की फूट से राक्षसराष्ट्र रावण का ध्वंस कर सके।

दैवयोग से इसी अवसर पर अयोध्याके राजकुमार रामचन्द्र व लक्षण की सहायता से दक्षिण के एक ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र ने युद्ध में उपद्रवी असुर व राक्षसों का वध करके एक शान्ति-संस्थापक असुरमेध यज्ञकी उत्सव मनाया था। उसकी विज्ञाप्ति विदेह के राजा जनक की पुत्री सीता के स्वयम्वर में गये हुए अनेक देवों द्वारा स्वर्ग और त्रिविष्टप में हो गई। देवों ने राम के विषय में जो महत्त्वपूर्ण बात कही थी, वह थी राम की दूसरो को अपनी ओर प्रभावित करने की आकर्षणशक्ति। देवों ने परिषद् में निश्चय किया, कि देवलोक व आर्यवर्त के चक्रवर्ती राष्ट्रों के सदाचार व संस्कृति की रक्षा का एक ही उपाय है, कि रामचन्द्र अपनी सत्तात्मक राजनैतिक आकर्षणशक्ति से दक्षिण के द्रविड वानर कपि आदि राष्ट्रों को मिलावें और असुरों को फोडकर रावणराष्ट्र का विध्वन्स करें। किन्तु दशरथ को सन्तानमोह अत्यधिक था। उसने विश्वमित्र की सहायता के लिए भी राम-लक्ष्मण को वसिष्ठ के बहुत आग्रहपर भेजा था।

देवों को दशरथ से आशा न थी, कि वह इस महायुद्धके संचालन के लिए अपने पुत्र रामचन्द्र को देंगे। अन्त में रामचन्द्र को प्राप्त करने का भार गन्धर्वों ने अपने ऊपर लिया। गन्धर्वों ने एक-षडयन्त्र की रचना की और कुछ गुप्तचरों की एक टोली आयोध्या में नियुक्त कर दी। इस टोली में सरस्वती नाम की एक स्त्री भी थी। सब से पहले इस टोली ने भरत व शत्रुघ्न को गान्धार प्रदेश केकेय प्रान्त (अपने नाना के देश) को जाने की मन्त्रणा देकर उन्हें उस ओर रवाना किया। पश्चात् एक महत्त्वपूर्ण पर्व से दो दिन पहले कोशल्या, दशरथ, वसिष्ठ आदि मन्त्रिमण्डल को ऐसे युक्ति-जाल में फँसाया कि वे सब अकस्मात् राम को युवराज बनाने के लिए उद्यत हो गये। ठीक उसी अवसर पर सरस्वती गुप्तचरी ने मंथरा सेविका की सहायतासे केकई से राम को १४ वर्ष के लिए दक्षिण के वनों में निर्वासित करवा दिया।

यद्यपि असुर आश्रमवासी ऋषिमुनियों की हत्या किया करते, थे किन्तु इन गन्धर्वोंने एक ओर असुरों में घुसकर ऐसी व्यवस्था की कि जहां जहां राम निवास करें, उनके आसपासके ऋषि-आश्रमोंमें जरूर उपद्रव और हत्याएं हों। दूसरी ओर वे ऋषि आश्रमों मे जाकर ऋषिमुनियों द्वारा राम को असुरों के नाश के लिए उत्तेजित करते थे। रामचन्द्र एक अत्यन्त प्रतिभाशाली यज्ञपुरुष थे। उनके सहवास से अनेक द्रविड मांडलीक गण उनकी ओर अनुरक्त होकर असुरों का संहार करते। राम स्वयं यत्र तत्र जा जाकर ऋषि-आश्रमों में उपद्रव करनेवाले असुरों का वध करते।

जिस समय राम के वनवास का षड्यन्त्र अयोध्या में जल रहा था, उसी अवसर पर स्वर्ग व त्रिविष्टप की दिग्विजय के बटवारे के लिए दशानन का अपने बहनोई से झगडा हो गया। दशानन ने अपने बहनोई की हत्या कर डाली। इसपर रावण की बहन सूर्पणखा बहुत दुखी हुई। उसको सन्तुष्ट करने के लिए रावणने चौदह सहस्त्र असुरों, द्रविडों, आन्ध्रों तथा राक्षसों की सेना खर सेनापति की सरदारी में देकर अपनी बहन को द्रविडप्रदेश की स्वामिनी बना दिया। सूर्पणखा सांवले रंग की एक अत्यन्त सुन्दरी वीर स्त्री थी। इसी की कई टुकडियां (रिसाले) रामद्वारा नष्ट कर दी थी। अतः यह स्वयं खर के साथ एक बडी सेना लेकर रामसे युद्ध

करने गई। राम के निवासस्थान के पास शिविर डाल कर यह वीर युवती सुन्दरी विख्यात वीर पुरुष राम को गुप्त रूप से देखने के लिए एक सुशीला नारी के रूप में राम के पास गई।

राम के रूप व वीरता के कारण यह उन पर आसक्त हो गई। रामने उसकी इस कुचेष्टाके कारण उसकी नाक कटवा ली। दशानन को इस घटनासे पता लगा, कि राम अकेले सपत्नीक वन में रहते हैं। वह सीताके स्वयंवर में ही उस के रूपलावण्य पर मोहित हो गया था, किन्तु विदेह राजा जनक की शर्त को पूरा करके सीता को प्राप्त न कर सका था। दशानन ने इस अवसर से लाभ उठाया और असुरों की नीच प्रथाके अनुसार रामकी अनुपस्थिति में सीता का अपहरण कर लिया। इसके पश्चात् किस प्रकार राम ने समस्त द्रविडप्रदेश के कपि वानर मांडलिक राजाओं को लेकर और लंका महाद्वीप के असुर बिभीषण को अपने पक्ष में करके असुरोंका विध्वंस किया, यह इतिहास प्रसिद्ध ही है।

सीताहरण के निमित्त से देवोच्छित यह देवासुर-महासंग्राम एक आन्तर-राष्ट्रीय क्रांति का जन्मदाता हुआ। लंका महाद्वीप में बिभीषण के तथा द्रविड देश में सुग्रीव के राजत्वद्वारा विद्या, संस्कृति, सदाचार व सभ्यता के प्रचार से आर्यत्व का प्रसार होने लगा। (क्रमशः)

वेदप्रचारमें सहयोग।

श्रीयुत वेदमूर्ति पंडितजी !

मैं सानन्द हूँ, वेद एवं वेदोक्त साहित्यके प्रचारार्थ प्रतापगढ प्रस्थान कर चूका हूँ और धर्मप्रेमी सज्जनोंके प्रेमभरे सहयोगसे प्रचार भी अच्छा हो रहा है। मेरा तो दृढ विश्वास है कि देशमें जितना अधिक वेद एवं वैदिक साहित्यका प्रचार होगा उतनाही अधिक मानव-समाज कल्याणके निकट पहुंचकर वास्तविक शान्ति प्राप्त करेगा। मेरे प्रचारकार्य में जिन प्रेमी कर्तव्यवान् सज्जनोंने हाथ बटाया है और वैदिक साहित्य खरीद कर जो वेदप्रेम प्रकट किया है उनका नाम सधन्यवाद 'वैदिक धर्म'में प्रकाशित करवाना कर्तव्य हो जाता है, अतः उनके नाम भेज रहा हूँ।

प्रतापगढके श्री राघोजी मन्दिरके श्रद्धेय महन्त मोहनदासजी महाराज, श्रीयुत ठाकुर भवानीसिंहजी, श्री ठाकुर साहब बख्तावरसिंहजी, श्रीयुत हेडमास्तर साहब वामन गोपालजी काळे, श्रीयुत वैद्यभूषण पंडित ब्रह्मदत्तजी शर्मा इन महानुभावोंने स्वयं वेदोक्त साहित्य खरीद और प्रचारकार्य में पूर्णरूपेण भाग लिया है।

मन्दसौरके हेडमास्तर साहब पन्तोजी तथा डांगे साहबने की स्कूलमें व्याख्यानकी व्यवस्था एवं प्रचारकार्य में भाग लिया है। साथही खादी-भण्डारके मैनेजर रामगोपालजी तथा बैंक एका-उन्टेण्ट भालचन्द्रजी शर्माको भी नहीं भूल सकते। इनका नामभी विशेष उल्लेखनीय है।

सैलानाके श्रीयुत मास्टर ताराचन्द्रजी कालिकाजी के पुजारी तथा श्रीयुत हेडमास्टर साहब हाईस्कूल सैलाना, श्रीयुत डाक्टर जवेरी शंकरजी दीक्षित इन तीनों सज्जनोंने भी पूर्ण सहयोग दिया। सरवनके श्रीयुत एकाउन्टेन्ट दानमलजी तथा श्रीसमर्थमलजी, श्रीयुत पंडित शिवनारायणजी शर्माने भी प्रचारकार्यमें सहयोग दिया। बडनगरके स्वनामधन्य डाक्टर लूम्बे साहबने भी प्रचारकार्यमें पूर्णरूपेण तत्परता दिखाई। अस्तु।

इन सब उपरोक्त सज्जनोंके नाम सधन्यवाद प्रकाशित करनेका कर्तव्यप्रेम दर्शावें।

ॐ आनन्दम्। मंगलाकांक्षी
श्रद्धानन्द

ता० १।४।३८

वेदमें एकेश्वरवाद ।

(लेखक– पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालङ्कार, अजमेर)

हमने, अभी कुछ ही दिन हुए मोनियर विलियम्स (Monier Williams) का अध्ययन किया था। मोनियर साहब ने वेदों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनकी दृष्टि में वेद मूर्तिपूजा के पोषक हैं। उनमें परमात्मा के एकत्व की कुछ हलकी सी झांकी दिखाई देती है। उन्होंने इसी प्रसंग में एक स्थान पर लिखा है-

"In the Vedas this unity soon diverged into various ramifications. Only a few of the Hymns appear to contain the simple conception Of one Divine, Self-existent Omnipresent Being and even in these the idea of one God present in all nature is somewhat nebulous and undefined."

'वेदों में परमात्मा का एकत्व भिन्न-भिन्न शाखाओं में भटकता फिरता है। एक थोड़े से ही ऐसे मंत्र हैं, जिनमें दिव्य स्वयंभू सर्वव्यापक एक परमात्मा की सत्ता का वर्णन है और उनमें भी वह एक निर्विकल्पक झांकी से अधिक नहीं है।'

जिस समय हमने विलियम्स साहब का यह लेख पढ़ा, हमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि क्या वास्तव में विलियम्स साहब ठीक लिखते हैं ? हमने तुरन्त वेदों को उठा कर देखना शुरु किया। पहले ही जो पृष्ठ खुला तो उनमें ही एक परमात्मा का स्पष्ट वर्णन दिखलाई दिया। फिर वेदसंहिता बन्द की और पुनः उसको खोला तो एक नवीन ही मंत्र का आदर्श हुआ, जिस में और भी ज्यादा स्पष्ट रूप से एक परमात्मा का वर्णन था। हमने इसी प्रकार से लगभग दस ग्यारह बार वेद को खोला और बन्द किया, जिसमें हमें सात आठ इस प्रकारके मंत्रों का दर्शन हुआ जिसमें परमात्मा के एकत्व का वर्णन है। जिनमें से कुछ का उल्लेख तो हम आगे करेंगे ही।

संस्कृत भाषा में वचनों की बहुत महत्ता है। जो एक है, उसके लिये हमेशा ही एकवचनांत प्रयोग आता है। जो दो हैं, उनके लिये द्विवचनान्त शब्दों का ही हमेशा प्रयोग मिलता है और जिनकी संख्या तीन या तीन से अधिक है उनके लिये बहुवचनान्त शब्दका प्रयोग होता है। इस नियम के अनुसार यदि परमात्मा एक नहीं अनेक हैं, तो वेदों में हमें परमात्मा-वाचक शब्दों का प्रयोग द्विवचनान्त और बहुवचनान्त ही मिलना चाहिये, एकवचनान्त नहीं। इसके विपरीत यदि सौ प्रयोगों में से दस, पन्द्रह या बीस शब्द बहुवचनान्त हैं और शेष एकवचनान्त, तब तो यही स्वीकार करना होगा, कि एकता की प्रधानता है। इसके साथ जो थोड़े बहुत कहीं बहुवचनान्त क्रियायें या अन्य प्रयोग दिखलाई देते हैं, तो उन्हें आदर की दृष्टि से समझना चाहिये। जिस प्रकार भाषा में एक ही व्यक्ति के लिये आदर के भाव को सम्मुख रख कर, हम बहुवचनान्त प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार वेद में भी समझना चाहिये। उदाहरण के लिये भाषा में देखिए– 'क्या आप जायेंगे?' 'क्या आप पुस्तक पढ़ चुके हैं?' इसी प्रकार आंग्लभाषा (English) में 'Are you going?' यह नियम तो प्रत्येक भाषा में एक सा है, तो फिर वैदिक भाषा में इसको क्यों न स्वीकार किया जायेगा? इस दृष्टि को सम्मुख रख कर यह समझ लेना चाहिये, कि यत्र-तत्र बिखरे हुए थोड़े से बहुवचनान्त शब्द परमात्माकी एकता का लोप

नहीं कर सकते। यदि हम अस्सी पिचासी प्रयोगों को एक तरफ रख कर केवल पन्द्रह-बीस प्रयोगों का इसलिए आश्रय लेते हैं, कि उससे परमात्मा की अनेकता सिद्ध हो जाये तो निश्चय जानिये, हम जान बूझ कर सत्य से परे जाते हैं। हमने तो अभी तक जितना भी वेद का अध्ययन किया है, सर्वत्र ही परमात्मा के लिये एकवचनान्त प्रयोग देखा है। इस प्रकार के प्रयोगों में उसकी एकता को इतना बढा दिया गया है, कि उसके हाथ, पैर, सिर मुख तो हजारों की संख्या में कर दिये हैं, किन्तु उसकी सत्ता को एकवचनान्त ही रक्खा है। उदाहरण के लिये हम निम्न मन्त्रों को ले सकते हैं-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥+
(यजु० १७।१९)

और लीजिए—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥×
(ऋ० १०।९०।१)

इनमें से प्रथम मन्त्र में तो स्पष्ट ही कहा हैं, कि उस देव के चारों ओर आंखें हैं, चारों ओर मुख हैं, चारों ओर हाथ और चारों ओर ही पैर हैं- इतना होते हुए भी वह देव स्वयं 'एकः एक' है।

इसी प्रकार से दूसरे मंत्र में 'पुरुषः' इस प्रकार एकवचनान्त प्रयोग कर यह बतलाता है, कि हजारों सिर, आंख और पैरों के होते हुए भी वह पुरुष एक है, अनेक नहीं, इस बात को अच्छी तरह समझ लेना।

इसके अलावा 'हिरण्यगर्भ' आदि प्रार्थनामंत्रों में 'सः' 'कस्मै' 'यः' 'येन' इत्यादि एकवचनान्त प्रयोगों से ही सब जगह परमात्मा का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम अग्नि की स्तुति करते हुए भी 'अग्निमीळे' इस प्रकार एकवचनान्त प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सब वेदोंमें 'इन्द्रः' 'मघवा' 'वातः' आदि एकवचनान्त ही प्रयोग हैं। एक मंत्र और लीजिये-

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पति-
र्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधरां अवातिरन्
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ (ऋ० १।१०१।५)*

इस मंत्र में यदि 'अवातिरन्' इस क्रियापद को बहुवचनान्त स्वीकार करें तब भी विशेष्यरूप से आये हुए प्रयोग 'यः' 'इन्द्रः' दोनों स्पष्ट एकवचनान्त हैं। वैसे तो पदच्छेद होनेपर 'अवातिरन्' क्रियापद भी एकवचनान्त अवातिरत् ही रहता है। किन्तु यदि बहुवचनान्त भी हो फिर भी कोई नुकसान नहीं, इस वक्त वह प्रयोग आदर की दृष्टि से किया गया है।

+ अर्थ- (देवः) उस दिव्य शक्तियोंवाले परमात्माने जो (विश्वतश्चक्षुः विश्वतो बाहुः विश्वतोमुखो उत विश्वतस्पात्) चारों ओर से चक्षुरूप है, बाहुरूप है, मुखरूप है और पैररूप है। वह (द्यावाभूमिं जनयन्) द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता हुआ (पतत्रैः) पैरों से (बाहुभ्यां) हाथोंसे (संधमति) अच्छी प्रकार से धमन करता है। वह देव (एकः) एक है।

× अर्थ- (स) वह (सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्) हजारो सिरोवाला, हजारो आंखोंवाला और हजारो पैरोंवाला है। वह (विश्वतो भूमिं वृत्वा) चारों ओर भूमि को घेरता हुआ भी (दशाङ्गुलम्) दस अंगुल परिमाणवाला होकर (अत्यतिष्ठत्) सबको अतिक्रमण करता हुआ ठहरता है।

* अर्थ- (यः) जो परमात्मा (विश्वस्य जगतः प्राणतः) सम्पूर्ण गतिशील पदार्थों व प्राणियों का (पतिः) स्वामी है और जिसने सब से पूर्व (ब्रह्मणे) ब्रह्माके लिये (गाः) वेदवाणी को (अविन्दत्) प्राप्त किया। (यः इन्द्रः) जिस इन्द्रने (दस्यून्) अपने शत्रुओं को (अधरात् अवातिरत्) भूमिपर गिरा दिया है। ऐसे उस (मिरुत्वन्तं) वेगवान् परमात्मा को, हम (सख्याय) मैत्रीके लिये (हवामहे) बुलाते हैं।

यहां पर दूसरा सवाल यह उठता है, कि हम वेदों में इन्द्र, वायु, अग्नि, देव नाम से अनेक सर्वव्यापक, स्वयंभू, सर्वज्ञ देवताओं का वर्णन देखते हैं और यह भी स्पष्ट है, कि अग्नि, वायु, इन्द्र आदि अलग-अलग नाम हैं। इन सब की अलग-अलग स्तुति भी की गई है। विशेष विशेष प्रकार के गुणों की प्रार्थना विशेष विशेष देवताओं से ही की गई है। जैसे इन्द्र नाम से शत्रुओं का हनन, अग्नि नाम से ज्ञान का साधन, वायु से रक्षा का आह्वान और देव से दिव्य गुण नाम-वाला ही पुकारा गया है। इतना स्पष्ट होते हुए भी वेदों में परमात्मा का अनेकत्व नहीं तो और क्या है? इन प्रयोगों से तो स्पष्ट ध्वनि निकलती है, कि गुणों के भेद की दृष्टि से अनेक परमात्मा हैं और इस प्रकार मानने से किसी प्रकार का नुकसान भी नहीं कि अनेक परमात्मा हैं और उनके भिन्न-भिन्न गुण हैं।

इस प्रकार स्वीकार करने में नुकसान है या नहीं, यह एक बात है और वेदों में परमात्माका एकत्व स्वीकार किया गया है या अनेकत्व, यह दूसरी बात है। हमने तो यहां केवल यह विचार करना है, कि वेद ने क्या माना है– परमात्मा एक है या अनेक?

संसार में ऐसा देखा जाता है कि जब किसी व्यक्ति को किसी वस्तु की विशेष आवश्यकता होती है तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से उसे प्राप्त करने की कोशिश करता है। उसको दिनभर सिवाय उस एक चीज के और किसी का ध्यान नहीं रहता। खाते-पिते, उठते-बैठते हमेशा ही उसको केवल एक चीज का ध्यान रहता है और वह वही एक। दूसरे शब्दों में उसका सम्पूर्ण जीवन एक उसी वस्तु में रंग जाता है। वह जहां भी जाता है और कुछ पूछता है, बातचीत करता है, तो भी केवल उसी एक वस्तु के लिये। कोई दूसरा भी बात करने आयेगा तो भी यही ख्याल करता है, कि शायद वह व्यक्ति उसकी अभीष्ट वस्तु देने आया है। अर्थात् उसे अपने से अतिरिक्त सारा संसार उसी एक वस्तु के लिये भागता–फिरता नजर आता है। वह दुनिया की आवश्यकता, दुनिया का स्वरूप केवल उसी एक वस्तु के लिये समझता है। तब फिर भगवान् को वह क्यों न उसी रूप में देखेगा? अर्थात् सब मनुष्य अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुसार एक ही भगवान् के नाना रूपों में दर्शन करते हैं। इसी बातको हम एक और प्रकार से भी कह सकते हैं।

कल्पना कीजिये कि एक ही व्यक्ति प्रातःकाल रोगियों की चिकित्सा करता है, दुपहर में स्कूल में लडकों को पढाने जाता है और फिर सायंकाल फोटोग्राफी का काम करता है। ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति जब स्कूल में जाता है और विद्यार्थियों की ज्ञानपिपासा को शान्त करता है, तब वह अध्यापक, पंडित व मास्टर के नाम से पुकारा जाता है। वही जब किसी रोगी को देखता है और उसे दवाई देता है, तो डाक्टर नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि रोगी को उसके डाक्टररूपी शरीर की ही आवश्यकता है। वह जब फोटोग्राफर के वेश में दुकान पर आकर बैठता है, तो लोग उसे फोटोग्राफर कहने लगते हैं, क्योंकि फोटो खिंचानेवालों का उससे यही प्रयोजन सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार से, जब एक मूर्ख, जिसे ज्ञान की प्यास लगी हुई है, परमात्मा का स्मरण करता है, तो वह 'सरस्वति,' 'बृहस्पति,' 'सर्वज्ञ' इत्यादि नामों से उसकी स्तुति करता है, वह उसके ज्ञानी होने की प्रशंसा करता है और खुद के लिये भी ज्ञान की भिक्षा मांगता है। जिसको तीक्ष्ण मेधा की जरूरत है, वह उसी एक परमात्मा की मेधा-शक्तिका गुणगान करता है, वह अपने उपास्य देवको 'मेधः' 'वेनः' इस प्रकार के नाम देता है। जिसको अपने शत्रुओं से भय लगता है, वह जब परमात्मा की स्तुति करता है, तो उसके बल की कीर्ति गाता है। उसको सर्वदा ही 'विजयी सेनापति' के रूप में देखता है। उसके लिये वही परमात्मा 'इन्द्र' और 'वधकर्मा' बन जाता है। जिसको प्रेम चाहिये, वह उसके मधु रूप की उपासना करता है। सब तरफ से आंखें मींच कर 'मधुमान्' इसका ही जप करने लगता है। इसी दृष्टिकोण से उसको 'गणपति', 'कवि' 'मघवानः' 'तुथ' इत्यादि नाम दिये गये हैं। इसी दृष्टिकोण को और विशाल कर दिया जाये तो यों कह सकते हैं, कि 'जब जिस मनुष्य की जो इच्छा होती है, वह अपने भगवान् को उसी इच्छा

का नाम दे देता है । ' इस कारण से क्यों कि मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं, अतः परमात्मा के नामों का भी कोई अन्त नहीं । इसलिये भिन्न-भिन्न नामों के होते हुए भी वेदों में एक ही परमात्मा का वर्णन है । इसी सिद्धान्तको वेद में निम्न प्रकारसे कहा गया है-

एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति !!

अर्थात् ज्योति-परमात्मा तो एक है, परंतु वह नाना रूपों में चमकती है। किसी को इन्द्ररूप में, किसी को अग्निरूप में । जिसको जिस रूप की आवश्यकता होती है, उसको वैसा ही रूप प्राप्त होता है। इसलिये अनेक प्रकार की स्तुतियों के होते हुए भी परमात्माका एकत्व नष्ट नहीं होता है ।

× × ×

संस्कृत भाषा में नामों की कोई प्रधानता नहीं है । एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हो सकते हैं। जिस प्रकार कृष्ण के अच्युत, मधुसूदन, केशव, जनार्दन आदि और अर्जुन के भारत, पार्थ और धनंजय आदि। किन्तु इन नामों के बाहुल्य से हम कृष्ण और अर्जुन की एकता को अनेकता में नहीं बदल सकते । हो सकता है, कि कृष्ण और अर्जुन नाम उन दोनों में चरितार्थ भी होते हों, परन्तु संस्कृत भाषा में तो ऐसे भी नाम मिल जायंगे जो बिल्कुल भी चरितार्थ नहीं होते । इतना ही नहीं, मान लीजिये एक व्यक्ति का नाम ' राजेंद्र ' है । अब यदि कोई कवि अपनी रचना में राजेंद्र के स्थानपर भूपेंद्र आदि शब्दों का प्रयोग कर दे, तो वे अशुद्ध की कोटि में नहीं आवेंगे । वे प्रयोग ठीक हैं । जब एक लौकिक भाषा में एक साधारण कवि एक ही मनुष्य को अनेक नाम दे सकता है, चाहे वे उसमें चरितार्थ भी न होते हों, तब वैदिक भाषामें यदि परमात्मा को उसमें चरितार्थ होनेवाले अनेक नाम दे दिये गये हैं, तो क्यों आक्षेप होता है ? वास्तव में यह सब विलियम्स के उथले ज्ञान का परिचय देता है ।

यहां एक शंका और उठती है और वह यह कि ठीक है, संस्कृत भाषा में नामों की प्रधानता नहीं है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि भिन्न भिन्न नामों से एक ही मनुष्य का कई मनुष्यों की तरह से वर्णन किया गया हो । इसमें कोई संदेह नहीं, कि गीता आदि ग्रन्थों में अर्जुन व कृष्ण का नाना नामोंसे चरित्र-चित्रण किया गया है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये, कि ग्रंथ को पढते हुए स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि वहां अर्जुन, पार्थ, धनंजय आदि एक ही व्यक्ति के नाम हैं, परन्तु वेदोंमें ऐसा मालूम नहीं पडता ।

वेदों में जहां अग्निकी स्तुति की गई है, वहां 'इन्द्र' का बिल्कुल उल्लेख भी नहीं है । जहां 'इन्द्र' देवता का वर्णन है, वहां 'अग्नि' का ध्यान भी नहीं आता-अर्थात् यदि गीता आदि की तरह से भिन्न भिन्न नामों से एक ही परमात्मा की स्तुति की गई है, तो जिस प्रकार गीता आदि पढने से यह मालूम हो जाता है, कि वे सब नाम एक ही अर्जुन वा कृष्ण के हैं, उसी प्रकार वेदों में भी होना चाहिये ? यह सवाल किसी भी प्रकार से असंगत प्रतीत नहीं होता । परन्तु यदि हम इस बात का ध्यान रक्खें, कि वेद किस की कृति है, तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता । इसी प्रकार की शंकायें ही तो यह पुष्ट करती हैं कि वेद किसी मनुष्य की कृति नहीं है, परन्तु एक सर्वज्ञ परमात्मशक्ति की कृति है। नहीं तो फिर एक अल्पज्ञ और सर्वज्ञ की कृति में फरक ही क्या हो सकता है ?

इससे पूर्व कि हम उपरोक्त शंका का समाधान करें एक बात और बतला देना आवश्यक समझते हैं ।

भाषा में शब्दोंका चुनाव बडा कठिन है। एक मनुष्य की भाषा को पढते हुए ठीक आशय और ठीक प्रवाह मालूम होता है । दूसरे की भाषा को पढते हुए कुछ अप्रासंगिक वर्णन मालूम पडता है । किसी व्यक्ति की भाषामें ललितपन और किसी की भाषा सूखी मालूम होती है । इसी प्रकार के एक मनुष्य की भाषा वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं, तो दूसरे की गंवारू। ये सब विशेषण एक ही भाषा में लग सकते हैं। तो प्रश्न स्वाभाविक होगा, कि इसका क्या कारण है? इसका कारण है शब्दोंका चुनाव ।

किस स्थानपर कौनसा शब्दप्रयोग करना चाहिये, इस के लिये शब्दों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। कौनसा शब्द किस धातु से, किस प्रत्यय से, किस अर्थमें बना है। इस विना इस ज्ञानके शब्दविन्यास अति कठिन है। इस कारण हम अल्पज्ञ व अज्ञानी जीव वेद के शब्दविन्यास को आसानी से समझने में असमर्थ हैं। यदि इस बात

को आपने समझ लिया है, तो अपको उपरोक्त सवाल का उत्तर शीघ्र ही मिल जायेगा।

कल्पना कीजिये, एक व्यक्ति के सुखीराम, कचौडीलाल व प्रतापसिंह नाम हैं। एक अल्पज्ञानी जो शब्द विन्यास नहीं जानता तथा एक दूसरा विद्वान् जो शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह से जानता है, वे दोनों जब उस एक व्यक्तिकी किसी एक घटना का वर्णन करेंगे तो आप को उसमें महान् अन्तर अनुभव होगा। उदाहरण के लिये यदि वह व्यक्ति किसी वक्त महान् दुख से दुःखी है, उस वक्त वह अज्ञानी तो उस को सुखीराम, प्रतापसिंह आदि किसी नाम से पुकार लेगा; परन्तु एक शब्दविज्ञान-व्याकरणका वेत्ता उस अवस्था में उसको 'सुखी राम' इस शब्दसे कभी आह्वान न करेगा। प्रथम व्यक्ति 'कहो, सुखीराम! आज तुम इतने दुःखी क्यों हो?' इस वाक्य का प्रयोग कर देगा, परन्तु दूसरा विद्वान् पुरुष चाहे और कोई नाम ले लेगा, परन्तु सुखीराम अथवा इसी का पर्यायवाची किसी भी शब्द से उसका आह्वान न करेगा। इसी प्रकार यदि वह महा डरपोक है, कमजोर है, तो उसको अज्ञानी लोग प्रतापसिंह, वीरसिंह आदि नाम से पुकार लेंगे, परन्तु वह ज्ञानी मनुष्य इस नाम से कभी न पुकारेगा। कहने का तात्पर्य है, कि जो मनुष्य विद्वान् है और जो अल्पज्ञ है, उनके शब्द-चुनाव में महान् अन्तर होता है। इसी प्रकार से सम्पूर्ण शब्दों का चुनाव है। विद्वान् मनुष्य प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विशेषण और प्रत्येक शब्द के साथ इस बात का ख्याल रखेगा। यदि पानी उबल रहा है तो मूर्ख आदमी यह भी कह सकता है, कि पानी गरम है। परन्तु विद्वान् बिना किसी विशेष प्रयोजन के उबले हुए पानी को कभी गरम पानी नहीं कहेगा। यदि एक मनुष्य युद्ध में लडने जा रहा है, तो विद्वान् मनुष्य उसको हे वीर, हे सिंह, हे शत्रुकम्पा आदि शब्दों से ही सम्बोधन करेगा, परन्तु कभी भी खिलाडी, हे सम्पत्तिशाली आदि शब्दों से सम्बोधन न करेगा, चाहे वह कितनाही पैसेवाला क्यों न हो, और चाहे कितना ही बडा खिलाडी क्यों न हो। वही मनुष्य जब युद्धभूमि से किसी क्रीडाभूमि में उतरेगा तो उसको खिलाडी के नाम से पुकारेगा और उस वक्त की सम्पूर्ण इतिहास इन्हीं वा ऐसे ही शब्दों से भरा होगा। वहां उसके वीर होने की, धनवान् होनेकी ध्वनि भी नहीं उठती होगी। आखिर मनुष्य तो अल्पज्ञ है, इसलिये हजार प्रयत्न करते हुए भी उसका शब्दविन्यास कहीं न कहीं अशुद्ध हो ही सकता है। वह वीर, प्रतापी इस प्रकारके नाना शब्दोंका उच्चारण एकही समय कर सकता है, परन्तु परमात्मा जो सम्पूर्ण शब्दज्ञान का पण्डित है, उसके शब्दविन्यास में इस प्रकार की किसी भी तरह से सम्भावना नहीं है। इसी कारण से जिस सूक्त में उस परमात्मा के ऐश्वर्य की स्तुति की गई है, वहां उस सूक्तमें उसको हे 'अग्ने,' हे अग्रणी, हे सेनापति, इस प्रकार सम्बोधित करना शब्दविज्ञान-व्याकरण के पण्डित अथवा सर्वज्ञ परमात्मा के ग्रन्थ में, उसके लेख में, ज्ञान में, अशुद्धि व असर्वज्ञता का द्योतक है। इस कारण जहां उसके ऐश्वर्य की स्तुति है, वहां उसको इंद्र ही पुकारना, जहां उसके नायकत्व की स्तुति है वहां अग्नि ही पुकारना, जहां उसकी विद्वत्ताकी सूचना है, वहां वेन इस प्रकार का ही सम्बोधन करना महान् पाण्डित्य का सूचक है। यह सिवाय उस परमात्मा के दूसरा कोई अल्पज्ञ जीव नहीं कर सकता।

यही कारण है कि उसको वेद में "तदेवाग्निः" और "इंद्रं मित्रं" आदि मंत्रों के द्वारा अपना भी नामकरणसंस्कार करना पडा। नहीं तो इन मंत्रों की जरूरत ही क्या थी ? जैसे गीता में यह किसीको नहीं बतलाना पडता कि भारत, पार्थ आदि नाम उसी अर्जुन के और केशव, मधुसूदन आदि नाम उसी एक कृष्ण के हैं; उसी प्रकार वेदों में भी बतलाने की जरूरत न होती। परन्तु यह आवश्यकता हुई, इसी कारणसे कि इस प्रकार के शुद्ध प्रयोगों को देखकर कहीं वेदपाठियों को अनेक देवताओं का भान न हो जाये और संसार में एक देवता के जगह अनेक देवताओं का कीर्तन व गान होने लग जाये, भगवान् ने इन दो मंत्रों का ज्ञान देना अवश्यक समझा।

इतने विवेचन के अनन्तर हम समझते हैं, कि अब आपको उपरोक्त प्रश्न के विषय में जरा भी संदेह न रहा होगा, कि वेदों में इस प्रकार नाना देवताओं का वर्णन क्यों मिलता प्रतीत होता है।

इतना ही नहीं- संस्कृत भाषा की परम्परा के अनुसार हम परमात्मा की उन नामों से भी स्तुति कर सकते हैं, जिनका वेद में उल्लेख तक नहीं है। जैसे लौकिक भाषा में एक व्यक्ति का नाम 'दिवाकर' है, तो उस व्यक्ति के लिये हम उन सब नामों का प्रयोग कर सकते हैं, जो दिवाकरके पर्यायवाची हैं चाहे उस नामवाला व्यक्ति कितना ही कमजोर और तेजहीन क्यों न हो। इसी प्रकार से यदि वेद में परमात्मा को 'वृषभ' नाम से संबोधन किया गया है, तो हमारी समझमें यदि उसका 'बलिवर्द' शब्द से आह्वान किया जाये तो भी किसी प्रकार का आक्षेप नहीं होना चाहिये। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सब व्यक्ति उस परमात्मा को 'बलिवर्द' कहने लग जायें। हां, उनको कहने का अधिकार है, जिनको 'बलिवर्द' शब्द से प्रभु का स्मरण करने पर अपार आन्तरिक व वास्तविक आनन्द (हंसी का नहीं) प्राप्त होता है, कोई शक्तिविशेष उमड आती हो।

बहुत से मातापिता अपने बच्चों के ऐसे नाम रख लेते हैं, जो उनके असली नामों से बिल्कुल भी नहीं मिलते। जैसे एक बच्चे का असली नाम तो यशवन्तमल है, परन्तु उसके मातापिता और सब सज्जन उस को 'गट्टु' इस नाम से पुकारते हैं। वास्तव में उन के हृदयों में 'गट्टु' यह शब्द उच्चारण कर ज्यादा प्रेम और आनन्द उमडता है अपेक्षा यशवन्तमल कहने के। इसलिये केवल नामों की अनेकता से व्यक्तियों की अनेकता नहीं हो जाती। किंतु परमात्मा के विषय में तो वेद की अन्तः-साक्षी से बढ कर और क्या प्रमाण होगा? वेद में स्पष्ट लिखा है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥×
(यजु० ३२।१)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥+
(ऋ० १।१६४।४६)

अर्थात् अग्नि, आदित्य, वायु आदि सब नाम उसी एक ब्रह्म के वाची हैं। विद्वान् लोग उस एकको ही इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। यहां किसी प्रकार का प्रश्न ही नहीं उठता। इन दो वेदमंत्रों के द्वारा मानों परमात्मा का नामकरणसंस्कार कर दिया गया है। इसलिये वेद में आये हुए सब शब्दों को मानना पडेगा कि वे सब एक ही ब्रह्म के वाची हैं।

अब थोडासा यदि विपरीत न्याय से विचार करें तो हमारा पूछना है, कि क्या वेद में कहीं एक भी स्थल पर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा को अनेक भी कहा है? यदि ऐसा एक भी स्थल नहीं जहां से परमात्मा के अनेक होनेका विचार उठता हो तब तो हमारा यह कहने का अधिकार ही नहीं, कि वेदों में परमात्मा के एकत्व का वर्णन नहीं, किन्तु अनेकत्व का वर्णन है। इस के विपरीत यदि एकत्व का वर्णन है, तब तो यही कहना चाहिये, कि वेद एक परमात्मा का उपासक है। और यदि वेद में परमात्मा के एकत्व या अनेकत्व किसी का वर्णन नहीं, तो हमें वेद के नाम से उपेक्षा धारण करनी चाहिए। बजाय इसके कि एक असत्य सिद्धान्त को जबरदस्ती से उनके मत्थे मढ दिया जाये।

आइये, अब हम यह देखेंगे कि क्या वेद में परमात्मा का एकत्व रूप से वर्णन किया भी गया है या नहीं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल का मंत्र है।

× अर्थ-(तद् ब्रह्म) वह ब्रह्म परमात्मा ही (अग्निः) अग्नि है, (आदित्यः) वही सूर्य है, (तद् वायुः) वही वायु है, (तद् उ चन्द्रमाः) वह ही चन्द्रमा है। (तदेव शुक्रं) वही शुक्र है। (ता आपः) वेही आप हैं (स प्रजापतिः) वही प्रजापति है।

+ अर्थ- (स दिव्यः) वहि दिव्य गुणवाला देव (सुपर्णः) सुपर्ण है, (गुरुत्मान्) गुरुत्मान् है। उसी को विद्वान् (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं, अग्निं) इंद्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। (एकं सत्) यद्यपि वह एक है, परन्तु विप्र लोग उसी को (बहुधा) नाना रूपों से उसी अग्निको (यमं मातरिश्वानं आहुः) यम और मातरिश्वा कहते हैं।

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत,
एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् । +
(ऋ० १।५२।१४)

अर्थात् द्युलोक से पृथिवीलोक तक का विस्तार जिस परमात्मा की समानता नहीं कर सकता । जिस परमात्मा के विस्तार को सम्पूर्ण लोकलोकान्तर भी नहीं पा सके । प्रार्थना में (मदति अर्चतिकर्मा-निरुक्त) उस प्रभु के धन की इच्छावाले आदमियों ने भी उसके अन्त को न पाया, अर्थात् मांगते-मांगते (याचना-युद्ध में) हार गये, परन्तु भगवान् के धन का अन्त, उसके वर्षण का अन्त न पा सके । उस के अन्त को पावे भी कैसे? क्योंकी वह एक होता हुआ नाना रूपों-वाला है और निरंतर सृष्टि का कर्ता है । जो हमेशा ही सृजन करता रहता है, उसका पार मरणधर्मा वस्तुओं के हाथ में कैसे हो सकता है ?

इस मंत्र में कितना स्पष्ट कहा है कि नाना रूपों-वाला होता हुआ भी वह एक है और एक होते हुए भी उसका अन्त कोई नहीं पा सकता । और देखिये -

तमूतयो रणयञ्छूरसातौ,
त क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम् ।
स विश्वस्य करुणस्येश एको
मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ×
(ऋ० १।१००।७)

अर्थात् हे शोभायमान मनुष्यो ! युद्ध में लडते हुए यदि क्षेम के -कल्याण के इच्छुक हों, तो उसी त्राता परमात्मा को अपना रक्षक बनाओ । क्योंकि करुणा से पूर्ण (युद्धजनित करुणा) इस संसार का स्वामी वही एक परमात्मा है । हे इन्द्र! हे मरुत्वान् ! तुम हमारे रक्षक बनो । इस मंत्रमें भी स्पष्ट कहा है, कि वही एक परमात्मा युद्ध में भी रक्षा करता है । और देखिये -

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया
धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति
यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥ ॐ
(ऋ० १०।८२।२)

+ अर्थ-(यस्य व्यचः) जिस परमात्मा के विस्तार का (द्यावापृथिवी) द्युलोग और पृथिवी लोग भी (न अनु) समानता नहीं कर सके-अनुकूल न हो सके, जिसके (अन्तम्) अन्त को (रजसः सिन्धवः) द्युपृथिवी व अन्तरिक्ष लोक भी (न आनशुः) नहीं प्राप्त कर सके। (मदे युध्यते) प्रार्थना में व याचनायुद्ध में भी (अस्य स्ववृष्टिं अन्तम्) इस ऐश्वर्य के वर्षण का अन्त (न आनशुः)नहीं प्राप्त कर सके । (एकः) वह एक है, पंतु (विश्वम्) सम्पूर्ण रूपोंको विविध रूपों को (अनुषक्) व्याप्त करता है, (अन्यत्) और (चकृषे) उन नाना रूपों का निर्माण भी करता है ।

× अर्थ- (ऊतयः क्षितयः) हे शोभायमान मनुष्यो ! (शूरसातौ) युद्ध में (रणयन्) युद्ध करते हुए यदि (क्षेमस्य)कल्याण के इच्छुक हो तो (तम्) उसी परमात्मा को बने (त्राम्) त्राता, रक्षक (कृण्वत) बनाओ । (करुणस्य विश्वस्य) युद्धजनित करुणापूर्ण विश्वका (स) वही (एकः ईशः) एक स्वामी है । हे इन्द्र! हे मरुत्वान्! तुम हमारे युद्ध में (ऊती) रक्षण-ढाल-कवच (भवतु) बनो ।

ॐ अर्थ-(विश्वकर्मा) सम्पूर्ण संसार को बनानेवाला है और तदनंतर (धाता) उसका धारण करनेवाला है । (विमना) सम्पूर्ण विद्याओं को जाननेवाला है, तदनंतर (विधाता) उनके अनुकूल क्रिया करनेवाला है । (आद् विहाया) और संपूर्ण संसार में जाति करनेवाला है, तदनंतर (परम संदृक्) विश्व की क्रियाओं को देखने-वाला है । (तेषां इष्टानि) उस परमात्मा की स्तुति गानेवाले योगी जन (इषा संमदन्ति) सूक्ष्म शरीर के द्वारा उसमें आनन्द करते हैं । (यत्र अ सप्तऋषीन्) जहां सातों इन्द्रियों की भी पहुंच नहीं है । उस (परः) परमात्मा को (एकमाहुः) विद्वान् लोग एक ही बतलाते हैं ।

अर्थात् वह सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करनेवाला है, सब प्रकार की विद्याओं को जाननेवाला है और सम्पूर्ण सृष्टि में गति करनेवाला है। सम्पूर्ण संसार का निर्माण करने के अनन्तर उस को धारण करनेवाला है, सब विद्याओं को जानता हुआ उनके अनुकूल क्रियाशील है, सम्पूर्ण विश्व में गति करता हुआ प्रत्येक मनुष्य की क्रियाओं का देखनेवाला है। उस परमात्मा की स्तुति करनेवाले योगीजन अपने सूक्ष्म शरीर से उसी में आनन्द करते हैं। वह सातों इन्द्रियों से परे है, अगम्य है। इसको योगीजन एक ही बतलाते हैं। अर्थात् ऐसी महान् व्यक्तियोंवाला होनेपर वह परमात्मा एक है। इसी प्रकार से यजुर्वेद में देखिये।

> यो नः पिता जनिता यो विधाता,
> धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
> यो देवानां नामधा एक एव
> तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥+
> (यजु० १७।२७)

अर्थात् जो परमात्मा हमारा पालन करनेवाला है, उत्पन्न करनेवाला है और जो सम्पूर्ण भुवनों और स्थानों को जाननेवाला है। वही सम्पूर्ण देवताओं के नामों को धारण करनेवाला है। परन्तु है "एक एव" एक ही। उस एक को ही पूछते हुए ये सम्पूर्ण लोक गति कर रहे हैं। इस वेदमंत्र में तो बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, कि सम्पूर्ण देवताओं के नाम उस एक परमात्मा के भी हैं। इस से ज्यादा स्पष्ट प्रमाण विलियम्स को और कौनसा चाहिये?

हम लोग रोज प्रार्थना में 'हिरण्यगर्भः...पतिरेक आसीत्'' मंत्र का उच्चारण करते हैं। यदि विलियम्स केवल प्रार्थना के ही मंत्र देख लेते, तो उनको मालूम हो जाता, कि वेदों की सम्मति में परमात्मा एक है या अनेक। वहां लिखा है--

इस संसार का उत्पन्न करनेवाला, जो इस से भी पहले मौजूद था और जो इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है, वह एक अकेला ही था। उसीने द्युलोक और पृथिवी-लोक को धारण किया है। उसी आनन्दस्वरूप देवता के लिये हम त्याग की हवि भेंट करते हैं।

विलियम्सको इस बातका पता होना चाहिये, कि इन्हीं वेदमंत्रों में एक परमात्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण विद्याओं का भी उल्लेख है। यदि चारों वेदों में केवल इतना ही होता कि परमात्मा एक ही है 'स एक एव,' तब तो न जाने इस वाक्य की कितनी बार पुनरावृत्ति होती। यहां तो यदि कोई वेदमंत्र केवल दो बार ही पढ़ दिया जाये, तो भी उस को 'वेद के अन्दर पुनरुक्ति दोष है' कह कर निन्दनीय ठहराने की कोशिश की जाती है। इस दृष्टिकोण से तो यही कहना होगा, कि केवल एक ही मंत्र में परमात्मा के एक होने का उल्लेख होता तो भी विलियम्स उसे Nebulous Conception नहीं कह सकते थे-- फिर यहां तो उसका अनेक बार उल्लेख है। इसीलिये वेद पर तो परमात्मा की अनेकता का दोष ठहराया ही नहीं जा सकता।

वेद में परमात्मा की जितनी उत्कृष्ट कल्पना की गई है उसको तो हम सोच भी नहीं सकते। अन्य धर्मों में परमात्मा का जो रूप स्वीकार किया गया है वह वैदिक स्वरूप की अपेक्षा कितना निकृष्ट है यह तो मूर्ख भी समझ सकता है। वैसे तो वेद का हर एक मंत्र एक से एक बढ कर है, इसलिये हम किसी को भी वेद मंत्र की दृष्टि से उत्कृष्ट या कम उत्कृष्ट कोटि का नहीं कह सकते। और इसी कारण आप सब

+ अर्थ-(यः) जो परमात्मा (नः) हमारा (पिता) पालन करनेवाला है। (जनिता) उत्पन्न करनेवाला है। (विधाता) धारण करनेवाला है, वही (विश्वा भुवनानि धामानी) सम्पूर्ण भुवनों व स्थानों को (वेद) जानता है। (यः) जो (देवानां) सब देवताओं के (नामधा) नामों को धारण करनेवाला है। (एक एव) परन्तु है एक ही (अन्या भुवनाः) ये सब भुवन (तं सम्प्रश्नम्) उसी परमात्मा के विषय में प्रश्न करते हुए (यन्ति) गति करते हैं।

विद्वान् एक से एक बढ़िया मंत्र परमात्मा के स्वरूप का प्रदर्शन करानेवाला जानते होंगे। उन सब का तो यहां उल्लेख करना असम्भव है। इसलिये केवल एक मंत्र का ही यहां उल्लेख किया जायेगा। वह मंत्र इस प्रकार है—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः
स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसो-
ऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥+
(ऋ० १।५२।१२)

"हे भगवन् तू इस पृथिवी लोक और सूर्यलोक के ही नहीं, परन्तु विश्व में गति करनेवाले प्रत्येक लोक लोकान्तर के भी पार है। केवल लोक लोकान्तर के ही नहीं, किन्तु उससे भी आगे फैले हुए सर्वगत आकाश के भी तू परे है। तेरा ओर-छोर कहां है, यह सब मनुष्य-मात्र की कल्पना से बाहर है। हम दूर से दूर लोक-लोकान्तर की कल्पना कर सकते हैं। उससे भी आगे यदि और जा सकते हैं, तो आकाश तक, आकाश के आगे क्या है, इसको हम सोच भी नहीं सकते।" तू भगवन्! उस सब से परे है, उन सब को व्याप्त करता हुआ उनसे भी आगे बढ गया है। हमारी कल्पना ज्यादा से ज्यादा पन्द्रहबीस मील, सौ मील, हजार मील या और आगे बढे तो कुछ लाख मील तक जा सकती है। परन्तु तू प्रभु! जहां तक गया हुआ है, उसमें तो हमारी संख्या अनन्त बार समाप्त हो जाये, पर तेरा फिर भी पता नहीं चलता कि तू कहां तक गया हुआ है। तेरे विस्तार की दृष्टि से तो हम चाहे कितनी भी दूर चले जायें, रहते वहीं के वहीं हैं। इतने महान् होते हुए भी तुम अपनी प्रजा के प्रत्येक मन की, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विभूतियोंद्वारा रक्षा करते हो। हम सब के मनों में उत्पन्न होनेवाले दुष्ट विचारों का तुम घर्षण करते हो और निरन्तर सब के ऊपर अपने ओज की वर्षा कर रहे हो।

हे प्रभु! तुम्हारे पास ओज का कितना बडा खजाना है, कि छोटे से बडे तक सबको तुम अपना ओज निरन्तर दे रहे हो, परन्तु तुम्हारे असीमित ओज की मात्रा कम नहीं होती। वह उतनी की उतनी ही बनी हुई है। भगवन् तुम्हारा ओज हमारी धारणा से बाहर है। हमारी विचारशक्ति का मान तो केवल इस पृथिवी तक सीमित है। हम अधिक से अधिक इतना ही सोच सकते हैं कि तुमने अपने ओज से इस पृथिवी का निर्माण किया, क्योंकि हमारा ज्ञान इस पृथिवी तक ही सीमित है, फिर हम इस पृथिवीसे आगे कैसे जान सकते हैं? यदि इससे आगे हम तुम्हारे ओज का निर्विकल्पक रूप से विचार कर सकते हैं, तो वह भी केवल 'आदिवम्' द्युलोकपर्यंत। इससे आगे नहीं। हमारा स्वर्ग, हमारा अन्तरिक्ष और हमारी भूमि सब इसी द्युलोक में समाविष्ट हो जाते हैं।

यह है वैदिक परमात्मा की स्तुति जो वेद-मंत्रों में गाई गई है। यह तो केवल एक मंत्र है। सम्पूर्ण मंत्रों में उसको कैसा बखाना गया है, यह तो मानवीय समझ से परे है। वह कौनसा धर्मग्रन्थ है, जिसमें उसकी एक आयत नहीं, परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में —इस एक मंत्र में आये हुए स्वरूप से भी ज्यादा सुन्दर स्वरूप का उल्लेख हो।

× × ×

अन्त में हमें आज यह सब कुछ प्रतिपादित करनेकी आवश्यकता इसलिए पडी क्योंकि वेद की सतह पर घूमते हुए ऐसे विद्वान् से भेट हो गई, जो वेद के रत्नोंको मिट्टी बताता है और इस बात का प्रचार करता है, कि

+ अर्थ—हे प्रभो! (त्वं) तूंही (अस्य रजसः) इस द्युलोक और पृथिवीलोकके और (व्योमनः) आकाश के (पारे) पार हो। तुमने ही (स्वभूत्योजा) अपनी विभूतियों व ओज के द्वारा (मनः) प्रत्येक मन का (धृषन्) घर्षण करते हुए (अवसे) रक्षा कर रहे हो। तुम ही (ओजसः) ओजसे (भूमिं प्रतिमानं चकृषे) भूमिको बनाते हो (अपः) अन्तरिक्ष लोकको और (स्वः) द्युलोकको बनाते हो। और (परिभूः एषि) सबको व्याप्त कर रहे हो। (आ दिवम्) द्युलोक से भी आगे तक तुम्हारा विस्तार है।

वेद सिवाय अज्ञानी व्यक्तियों के गीतों के और कुछ नहीं।

पाठको ! हमारा यह कहना है, कि वेद की सतह पर भ्रमण करनेवालों को आर्ष और अनार्ष का ख्याल अपने से परे रखना चाहिये। यदि आज हम भी आर्ष और अनार्ष के फेरफार में पड कर मोनियर विलियम्स से भेंट न करते, तो शायद आज हमें इस प्रकार के विचार का मौका न मिलता। इसलिए हमारा तो यही कहना है, कि वेद की सतह पर घूमनेवालों को प्रत्येक से भेंट करनी चाहिये। हमारा विचार यहां पर इस बात से सहमत नहीं कि 'विषसंपृक्तमन्नं त्याज्यम्' का सिद्धान्त वेद के लिए हितकर है। किन्तु इसके विपरीत "अन्नसंपृक्तमपि गरलं स्वीकार्यमेव" यह सिद्धान्त वेद की सतह पर भ्रमण करनेवालों के लिए ज्यादह श्रेयस्कर है।

अन्त में नम्र प्रार्थना है, कि अन्य विद्वान् भी हमारी इस विचारसरणी पर एकान्त में बैठ कर, निःस्पक्षपात होकर गम्भीरतापूर्वक कुछ विचार अवश्य करेंगे। ताकि हम वेदों के लिए ज्ञान के लिए "विषसंपृक्तमन्नं त्याज्यम्" से "अन्नसंपृक्तमपि गरलं स्वीकार्यमेव" इस मार्ग की ओर झुक सकें।

धर्मग्रन्थोंका प्रचार

वेदही अपने धर्मके पवित्र ग्रंथ हैं और वैदिक धर्मकी सर्वत्र जाग्रति होनेसेहि संपूर्ण मानवजातिका परम कल्याण होनेवाला है। इसलिये वैदिक धर्मके ग्रंथोंका जितना प्रचार हो सके, उतना करना हरएक सज्जन धर्मात्माका तथा साधुसंतोंका पवित्र कर्तव्य है।

स्वाध्याय-मंडलने वैदिक धर्मके छोटे मोटे अनेक सुबोध ग्रंथ लिखे हैं और इस संस्थाद्वारा अनेक ग्रंथ मुद्रित होनेवाले हैं। इन ग्रंथोंके प्रचार होनेसे धर्मका ज्ञान सुगमतासे हो सकता है।

स्वाध्यायमंडलद्वारा योगसाधनके सुबोध ग्रंथोंका मुद्रण हुआ है, जिनके प्रचारसे इस समय तक हजारों मनुष्योंने योगकेआसनों द्वारा अपूर्व स्वास्थ्यका लाभ प्राप्त किया है। ये पुस्तक इतने सुगम सुबोध और अच्छे हैं, कि हरएक पाठक इनसे थोडासा अनुष्ठान करके लाभ उठा सकता है। अपने घरमें बैठे बैठे थोडेसे प्रयत्नसे इन पुस्तकोंके द्वारा स्वास्थ्य और आरोग्य का लाभ हर कोई प्राप्त कर सकता है।

आगमनिबंधमालाके कई पुस्तक हैं, जिनसे वैदिक सभ्यताका ज्ञान सुगमताके साथ हो सकता है। अनेक विषयोंके पुस्तक छप चुके हैं और कई पुस्तक छपनेवाले हैं।

स्वाध्यायमंडलके पुस्तकोंकी इस विशेषताको देखकर ही मानवसमाजके कल्याणार्थ वैदिक धर्मके ग्रंथोंका धर्मभावसे प्रचार करनेके कार्यका भार श्री० स्वामी श्रद्धानन्दजी कर्मयोगी महाराज (संस्थापक गीतास्वाध्याय-मंदिर, प्रतापगढ) ने अपने ऊपर लिया है और वे भारतवर्षमें उसी उद्देश्यसे संचार कर रहे हैं। इनका यह कार्य निःस्वार्थ भावसे है और ईश्वरसेवा समझकरही आप इसको कर रहे हैं। अतः सब सज्जनोंसे प्रार्थना है, कि वे श्रीस्वामिजी महाराजको योग्य सहयोग देवें और वैदिक धर्मके प्रचारमें हाथ बटावें।

वैदिक धर्मके ग्रंथोंके प्रचारमें सहायता करना बडा पवित्र कार्य है और यही परमेश्वरकी ज्ञानरूप सेवा है। इस ईश्वरसेवाको करनेसे हरएक को पुण्य लाभ हो सकता है।

प्रबंधकर्ता- स्वाध्यायमंडल

औंध, जि० सातारा.

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौसिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पत्ता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा.)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) यजुर्वेद। विनाजिल्द .१॥) डा०व्य० ॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० एकादश काण्ड ,, २) ॥)
११ द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
१३ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १७ प्रत्येकका मू०॥) डा. व्य. =)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी। ।॥) ।)

(१०) यजु.अ.३६ शांतिका उपाय ॥=) =)

(११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला।
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ देवताविचार। ≡) -)
४ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा।द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) -)
३ वैदिक सभ्यता। ।॥) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा। ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
८ वेदमें चर्खा। ॥) ॥)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र। ≡) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)

(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
२ गीता-समीक्षा =) -)
३ गीता-लेखमाला १-२-३ भाग ॥) =)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) =)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र ≡) -)
6 Sun Adoration १) ।=)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातबळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

वैशाख १८६०, मई १९३८

वर्ष १९, अंक ५

बाबू सुभाषचन्द्र बोस

वैदिक धर्म।

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से.५)रु. वी.पी. से.५॥)रु. विदेशके लिये ६॥ रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है।]

वर्ष १९] [अङ्क ५

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) यजुर्वेद । विनाजिल्द .१॥) डा०व्य० ॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला । १ अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० एकादश काण्ड ,, २) ॥)
११ द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
१३ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १७ प्रत्येकका मू०॥) डा.व्य. =)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक । भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन । (सचित्र) २) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य । १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम । ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी । ॥।) ।)

(१०) यजु.अ.३६ शांतिका उपाय ॥ =) =)

(११) शतपथबोधामृत । ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ देवताविचार । ≡) -)
४ अग्निविद्या । १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा।द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति । ।-) -)
२ मानवी आयुष्य । ।) -)
३ वैदिक सभ्यता । ॥।) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र । ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा । ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय । ॥) =)
८ वेदमें चर्खा । ॥) ॥)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ । ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र । ≡) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या । ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या । =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)

(१५) उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद् । १) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
२ गीता-समीक्षा =) -)
३ गीता-लेखमाला १-२-३ भाग ॥) =)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) -)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र ≡) ।=)
6 Sun Adoration १)

वर्ष १९
अंक ५
क्रमांक २२१

धर्म

वैशाख
संवत् १९९५
मई
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मन।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० ३४।४)

" (येन अमृतेन) जिस अमर मनने भूत, वर्तमान और भविष्यत् का सब कुछ ग्रहण किया हुआ है, तथा (येन) जिस मनके द्वारा (सप्तहोता यज्ञः तायते) सात होता-गणों द्वारा चलाया जानेवाला यज्ञ चलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्प-वाला होवे।''

मनुष्य का मन भूत वर्तमान और भविष्य काल में होनेवाली सब घटनाओं का ग्रहण करता है, तीनों कालों का संमेलन उस मन में होता है। तथा सातों इंद्रियों-द्वारा दो कान, दो नेत्र, दोन नाक और एक मुख इन सातों द्वारा-जो यह जीवन-यज्ञ चलाया जा रहा है, उसका सब अनुसंधान मनसे ही होता है। अतः यह मन शुभ संकल्प करनेवाला होना चाहिये।

शुद्ध वेद।

स्वाध्याय-मण्डल द्वारा चारों वेद शुद्ध छापनेका कार्य चल रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपकर तैयार हैं। और अथर्ववेद छपनेका प्रारम्भ हुआ है। अथर्ववेद छापने के पश्चात् सामवेद छपेगा।

इस समय हमें अथर्ववेद के हस्तलिखित पुस्तकों की बडी भारी आवश्यकता है। हमारे पास मुद्रित अथर्ववेद की सब पुस्तकें हैं, तथा पूना, काशी, मथुरा, आदि स्थानों से कई हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुए हैं तथापि लुनावाडा, राजपुताना, महाराष्ट्र का माण्डदेश, आदि स्थानों में अथर्ववेद के बहुत पुस्तक हैं। वैदिक धर्म के ग्राहकों में किसी के पास अथर्ववेद के हस्तलिखित पुस्तक हों, तो वे हमारे पास वे पुस्तक भेज दें। तथा उनके नगरों में अथवा ग्रामों में किसी अन्य सज्जनों के पास अथर्व वेद के पुस्तक हों तो वे प्राप्त करके हमारे पास भेज दें।

वेद शुद्ध छापने के लिये जितनी पुस्तकें प्राप्त होंगी उतनी थोडी हैं। तथा अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी हस्त लिखित किसी के पास हो अथवा किसी के द्वारा मिलना संभव हो तो वह भी प्राप्त करके भेज दें, क्यों कि जो छपी हुई अथर्व-सर्वानुक्रमणी है वह बहुत ही स्थानों में अशुद्ध है। इस लिए इसके और अधिक पुस्तक मिल जांय तो अच्छा है।

इस तरह जो पुस्तक जिसके पाससे यहां आजायगा वह उसी के नाम पर यहां रखा जायगा। पूर्णतया सुरक्षित रखा जायगा। और अथर्ववेद की छपाई होने के पश्चात् वह पुस्तक उनको सुरक्षित रीतिसे वापस किया जायगा। दोनों समय का प्रेषण व्यय हमारे जिम्मे रहेगा।

जिनके द्वारा पुस्तक मिलेंगे उनके नाम भूमिका में लिखे जांयगे और पुस्तक छपने पर छपे पुस्तक की एक एक प्रति उनको भेजी जायगी। इसके अतिरिक्त और जो सेवा करनी आवश्यक होगी वह जितनी शक्य होगी, की जायगी। परंतु पाठक इस विषय की सहायता अवश्य करें। जिनके नगरों में उक्त पुस्तक होंगे वे हमारे साथ पत्रव्यवहार करें। और उनको प्राप्त करने के उपाय हमें लिख दें।

अथर्ववेद के पद-पाठके भी पुस्तक हमें चाहिये, अतः पाठक इन पुस्तकों के विषय में जितनी हो सके उतनी खोज करें।

अन्य वेदोंमें पाठभेद नहीं हैं, परंतु अथर्ववेद के वेदपाठी बहुसंख्यामें न होने के कारण इस वेदमें थोडे पाठभेद हुए हैं। इन पाठभेदों का निश्चय करनेके लिये हम इस समय जो वेदपाठी हैं उनकी सहायता ले रहे हैं। वैसी ही पुस्तकों कीभी सहायता लेंगे।

ऋग्वेद और यजुर्वेद में एकभी पाठभेद नहीं है, वैसी अथर्ववेद की स्थिति नहीं है। अथर्ववेद के वेदपाठी भी जानते हैं कि अथर्ववेद में थोडे थोडे पाठभेद हैं। अतः हम अथर्ववेद के अन्तमें पाठभेद सूची-देना चाहते हैं और वह पाठभेद किस पुस्तकके आधार से दिया है इसका भी निर्देश करना चाहते हैं।

अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे वेद शुद्ध छापनेमें हमें हर प्रकारकी सहायता दें। इस समय अथर्ववेद के ग्रंथ जितने भी मिलेंगे उतने चाहिये। इस की सहायता जिनसे हो सकती हैं वे अवश्य करें। यह कार्य सबका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं है। सब पाठक इसकी ओर विशेष ध्यान दें।

—संपादक

आफ्रिकामें

ग्रामोंके संस्कृत नाम।

मि. पार्क के मिशन ने जो प्रवास अफ्रिकामें किया, उस ने अपने प्रवास के मार्ग में मिले ग्रामों के नामों का उल्लेख अपने प्रवासवृत्त में किया है। यह प्रवास अफ्रिका के मध्य जंगलों में हुआ था, जहां ये नाम गावों के हैं—

	अफ्रिका नाम।	संस्कृत नाम।
Jonka Konda	जोनका कोंडा	जनक कुंड
Tendi Konda	तेंडी कोंडा	ताण्ड्य कुंड
Koota Konda	कूट कोंडा	कूट कुंड
Tatti Konda	तट्टी कोंडा	
Barra conda	बारा कोंडा	वराह कुंड
Seese Kund	सीस्कुंड	शशि कुंड
Tamba Kunda	ताम्बा कुण्ड	ताम्रकुण्ड
Marian Kunda	मरियन कुंड	मर्य कुंड
Tanda Cunda	तंड कुंड	ताण्ड्य कुंड
Fatte Conda	फत्तेकुंड	
Maura Conda	मौर कुंड	मयूर कुंड

यहाँ इंग्लीश में Konda (कोंडा), Cunda (कुण्ड), Conda (कोण्ड), Kunda (कुण्ड) ऐसे एक ही शब्द अनेक प्रकार से लिखने की पद्धति होनेसे अंग्रेजी अक्षरों में लिखे शब्दों से ठीक ठीक निर्वाचन करना कठीन है, तथापि जबतक इस अफ्रिकाके प्रदेश में संस्कृतज्ञ भारतीय विद्वान् नहीं पहुंचते तब तक हमें इन शब्दों से ही कार्य चलाना आवश्यक है।

भारतवर्ष में 'गोवलकोंडा (Golconda) दक्षिण भारत में यह प्रसिद्ध जगह है। इसमें कोंडा (Conda) है वही शब्द अफ्रिका में कैसा गया? इसके अतिरिक्त 'गणेश कुंड, गुरुमुख कुंड, नार गुंड, नवलगुंद' इत्यादि गांव भारतवर्षमें थे और आज भी हैं। इनके अन्त में जो 'कुंड' या 'कोंड' शब्द है, वही अफ्रिकामें कैसा गया?

'कोंडापल्ली, कोंडाचेटी, कुंडपूर, इन भारतीय ग्रामनामों के पूर्व में वही कुंड, कोंडा शब्द हैं, यह भी विचारने योग्य है। यही 'कोंडा' अफ्रिका में पहुंचा है, अतः भारतीयों की बसती अफ्रिका में हुई होगी, ऐसा अनुमान करना अशुद्ध न होगा।

मि० पार्कसाहेब ने आगे अपने प्रवास के ग्रामों की नामावली दी है, वह भी देखिये--

	अफ्रिकन	संस्कृत
Samee	सामी	शमी
Kutijar	कुटिजार	कुटिज
Wallia	वल्लिया	बलद्विप (दिय, इया)
Samakara	समकर	शंकर
Sambakala	सांबकाल	सांब-काल
Serimana	सेरीमन	श्रीमान्
Neelkalla	नीलकाल	नील-काल
Kullalie	कुल्लाली	कुलाली
Gangaran	गंगारण	गंगारण्य
Secoba	सेकोबा	शकवान्
Sankaree	शंकरी	शांकरी
Sabooseera	संबूसीर	सर्वसिरस्
Jeena	जीन	जिन
Wangara	वांगर	वनगर
Nemansana	नेमनसन	नाम-नशन
Kooli	कूली	कूली
Chekora	चेकोर	चकोर
Koonteela	कुंतील	कुंतल

Doomba	डुंबा	दुंबा
Tancrawally	तंक्रावल्ली	तक्रवल्ली
Yanimarou	यनिमराऊ	जनिमराव
Talimangally	तालिमंगोली	
Mousala	मौसल	मुसल
Samicouta	समिकूट	शमिकूट
Chicowray	चिकोराय	चिकवराय
Jyallacoro	ज्याल्लाकोरो	जय–सार
Soobacara	सूबाकारा	शुभकार
Bancomalla	बनकोमल्ला	वनसुमाली

म० पार्क की पुस्तक के साथ जो नकशा दिया है, उस में जो नाम दीखते हैं, वे ये हैं—

Kakundy	ककुंडी	काकुण्डी
Kolar	कोलार	कोलार
Jeogary	जेओगरी	द्यु–गरी
Bady	बडी	वेदी
Kaniakery	कानियाकरी	कन्याकरी
Malla	मल्ल	मल्ल
Colar	कोलार	कोलार
Koolar	कूलर	,,
Tallika	ताल्लिका	तालिका
Koikarany	कोइकरणी	कविकरणी
Samakoo	समकू (नदी)	सामकी
Mauri	मौरी	मयूरी
Tambaura	तंबौरा	तम्बूरा
Sarala	सरला	सरल
Lingicotta	लिंगीकोट्टा	लिंगकोष्ठ
Mallacotta	मालाकोट्टा	माले(र)कोट(ला)
Korankalla	कोरणकल्ला	कुरणकल्ला
Manickoroo	मनिककोरू	मणिकारू
Sanjeecotta	संजीकोट्टा	संजीवकट्टा
Kandy	कंडी	कंदी
Sampaka	संपक	चंपक
Sami	समी	शमी
Jarra	जर्रा	जरा
Toorda	तूर्द	

Satile	सतिले	नटिल
Seco	सेको	शक
Comba	कोंबा	सांब
Dama	दामा	दाम
Nyamo	न्यामो	नियम
Ghungerolla	घुंगेरोल्ला	

क्या ये नाम भारतीय नाम जैसे नहीं दीखते हैं? कई इन में तो भारतीय स्थानों के नाम इस समय भी हैं। कई नाम खोज करके भारतीय स्थाननामों के साथ मिलाये जा सकते हैं । यदि इस अफ्रिकाके मध्य अरण्यमें कई शताब्दियों में भारतीय प्रवासी पहुंचेही नहीं होंगे। फिर ये नाम संस्कृत नामों तथा भारतीय स्थाननामों के साथ कैसे मिलते जुलते हैं ?

निम्नलिखित नाम Proceedings of the African Institution [Vol.2. 8vo] से लिये हैं-

Bishnu	बिश्न	विष्णु
Woolli	वुल्ली	वल्ली
Kirisnani	किरिस्नानि	कृष्ण
Conoiakari	कोनियकारी	कन्याकारी
Sooma	सूमा	सोम
Comoroo	कोमोरू	सुमेरू
Coomba	कूम्बा	कुम्भ
Karaleejango	करालीजंगो	कराळजंघा
Talica	तालिका	तालिका
Gunggadi	गुंगगडी	गंगागढी
Semegonda	सेमेगोंडा	शमीकुंड
Wangara	वंगरा	वंगरा
Walli	वल्ली	वल्ली
Koorabarri	कूराबारी	कूटवरी
Demba	देंबा	दंभ
Siralik	सिरालिक	श्रियालिक

निम्नलिखित नाम म. हार्निमन साहेब आफ्रिका में गये थे, उनके नकशे से लिये हैं—

Siwah	सिवाः	शिव
Terane	तेराने	तरणि (सूर्य)
Rhamanic	र्हामनी	रमणीय

Sakra	सक्र	शक्र (इंद्र)
Sidibishir	सिदिबिशिर	सिद्ध-वि-शिर
Tripoli	त्रिपोली	त्रिपुरी
Temissa	तेमिसा	तमसा
Downie	डौनी	द्यौ
Jinbala	जिनबाला	जिनबल
Kamalia	कमालिया	कमला
Ganga	गंगा	गंगा
Yamina	यामिना	यमुना
Calimana	कालिमन	काली-मन
Fooliconda	फूलिकुंड	फुलकुण्ड
Massakonda	मस्साकुंडा	महाकुंड
Worada	वोरद	वर-द
Bali	बाली	बली
Sitaloola	सितालूला	सितालोल
Koamakarry	कूमाकरी	कूर्मकारी
Sididooloo	सिदीदूलू	सिद्धिदल

इन नामोंको देखनेसे पता चलता है, कि इन नामों का संबंध भारतीय नामों के साथ अवश्य है। यदि इन नामोंका संबंध भारतीय ग्रामनामोंके साथ सिद्ध हुआ, तो भारतीय संस्कृतभाषाभाषी लोग इस आफ्रिकाके मध्य भागमें प्राचीन काल में जा बसे थे, इसमें संदेह नहीं हो सकता और वे हिंदूहि थे। अथवा उस समय उनका नाम आर्य होना संभव है।

इन प्रदेशोंकी भूमिमें कुछ अवशेष अवश्य मिलेंगे, तथा उन ग्रामोंकी जातियोंके रीतिरिवाज, उनकी भाषाके शब्द, उनकी धर्मकथाएं तथा घरों, मंदिरों और उपास्य देवताओं के अवशेष ढूंढनेपर ऐसे मिलेंगे जो आर्य होनेमें कोई संदेह नहीं हो सकता।

एशियाटिक जर्नल के मेजर रेनेल (Major Rennel) साहेबने इन मध्यअफ्रिकानिवासियों के आदरातिथ्य के विषयमें लिखा है कि– "विशेषतः मध्य-अफ्रिकाके (Mandingo tribe) मन्दिंगों जाति-[मातंगजाति]– ने जो हमारा अपूर्ण आतिथ्य किया। उसको देखनेसे हमें निश्चय होता है कि यह जाति अवश्यमेव हिंदू जातीहि होनी चाहिये, क्योंकि किसी दूसरी जातीमें इतना आतिथ्यभाव नहीं है।" इस आतिथ्य का बदला युरोपीयनोंने उनको गुलाम बनाकर अच्छाही दिया !!

(Denham and Clapperton's discoveries) डेनहॉम और क्लाप्पेरटन महाशयोंकी खोज की पुस्तकसे निम्न लिखित नाम लिये हैं, ये नाम भी भारतीय ही हैं—

Angala	अंगल	अंग (देश)
Loggun	लोगून	लोक
Mandara	मंदर	मान्दार (पर्वत)
Merly	मिर्ली	

(देखो Voi, page 143)

आफ्रिका के मध्य में मांदारपर्वत का होना क्या सिद्ध करता है? इसी पृष्ठपर आगेके नाम हैं–

Sankar	संकर	शंकर (शिव)
Deoga	देओग	देवगृह
Soguma	सोगुम	सगुण
Dogwamba	दग्वम्बा	दुर्गा–अम्बा
Mora	मोर	मयूर
Conally	सोनाली	सोनावली
Karowa	करोवा	कारुवा (नृ)
Kora	कोरा	कर
Makkery	माकेरी	मकर
Adamowa	अदमोवा	आत्मवा (नृ)
Mana, Manona	मोना, मनोना,	मन
Raka	राका	राका
Gambarou	गंबरौ	गंभीर
Munga	मुंग	मुद्ग
Begharmi	बेधर्मी	विधर्मी
Gourie	गौरी	गौरी
Wara	वर	वर,वड
Mesurata	मेसुरत	मयसुरत
Kaka	काका	काक
Katta	कत्ता	कथा
Wajah	वाजः	वाज

(उक्त पुस्तक Vol. II से आगे के शब्द लिये हैं—)

Jaggabah	जग्गबाह	यज्ञवाह
Kala	काल	काल

Gambalaram	गंबालरम्	गं-बल-राम
Gurdya	गुर्ध	गुरुदेव
Maou	माओ	माया
Mendoo	मेन्दू	मन्दू
Molee	मोली	माली
Katunga	कातुंग	क-तुंग
Bilma	बिल्म	बिल्व
Kaleeluwha	कालीलुह	काली-लव
Omhaha	ओमूहह	ओं महः
Digoo	दिग्	दिक्
Ongoroo	ओन्गारू	ओंकार
Godanea	गदानीय	गदनीय
Katania	कतनीय	कथनीय
Duncamee	दुन्कामी	दीनकामी
Rutah	रातह	रात
Barta	बर्त	व्रत
Kutri	कुत्री	
Burderawa	बर्देरावा	वृद्ध देववर
Gondamee	गोंडामी	कुण्ड-मी
Togra	तोग्र	तुग्र
Kalawawa	कालवावा	काल-वाह
Kulee	कुली	काली
Eatowa	इतोवा	
Takroor	तकूर	त-क्रूर
Ghoowary	गोवरी	गौरी
Ghoonder	घुण्दर	कुण्डवर
Alagara	अलगर	
Kabi	कबि	कवि
Ghorma	घुर्म	कूर्म
Banbara	बनबर	वन-वर
Soormi	सूरमी	सरमा
Malee	माली	माली
Sanghee	संघी	संघीय
Bhargo	भार्गो	भार्गव

Anamaboo	अनामबू	अनाम-भू
Budagry	बदग्री	भद्रगृह
Accra	अक्र	आकर
Asinara	असिनर	असि-नर (खड्गधारी)
Gwendiki	ग्वेंडिकी	गण्डकी
Maloo	मालू	माली
Jaguta	जगुत	जगत्
Bahoo	बाहू	बाहू
Eetcholee	एत्चूली	अष्ट-चोलीय
Katunga	कातुंग	
Maussa	मौसा	महिष
Kakafungi	काकाफुंगी	काक-पुंगी
Engarsaki	एन्गर्सकी	अंगिरसकीय
Yaoorie	याऊरी	जवरीय
Koolsu	कुलसु	कलश
Guarie	गौरी	गौरी
Warrie	वारी	वारि
Korako	कोरकू	
Sandero	संदेरो	संदेश
Kingka	किंग्का	
Pundi	पुण्डी	पुण्डी, पण्डी
Hausa	हौसा	हंस
Gonja	गोंजा	गंज
Comassie	कोमासी	गोमासीय
Dacanie	डाकनी	डाकिनी
Coodania	कूदनीय	कूदनीय
Kakunda	काकुण्ड	का-कुण्ड
Calebar	कालबार	काल-भार
Settra Krou	सेत्रक्रौ	क्षेत्र-कुरु(कुरुक्षेत्र)
Kessa	केश	केश
Kessy	केसी	केशी
Caleroon	कालेरून्	काली
Pervedi	पेर्वेदी	पार्वती

Nigerion Lander इसके प्रवासवृत्तमें निम्न लिखित नाम मिलते हैं—

'Caillie's Travels to Timbuctoo' इस पुस्तक में निम्नलिखित नाम दिये हैं।

Kakondy	काकुण्डी	का-कुण्डी
Kunkan	कुंकन्	कोंकण
Sambatikala	संबतिकाल	संवत-काल
Cambaya	सम्बय	समय
Golungo	गोलुंगो	गोलिंग
Kisama	किसम	किसान
Ambriz	अम्ब्रीझ	अमृत

M. Bawdich की पुस्तकसे निम्नलिखित आफ्रिकाके नाम लिये हैं—

Gangaddi	गंगादी	गंगा
Busampra	बुसंप्रा	वसुप्र
Paraso	परसो	परशु
Fohmani	फोमनि	सु-मणि
Dampasi	दम्पसि	दम्पति
Dadawasi	ददवासि	दद-वासी
Moodajwi	मूदजवी	मुद-जवी
Dankaram	दन्करम	दानकर्म
Mankaram	मन्करम	मनःकर्म
Birrim	बिरिम्	वीर्यम्
Korraman	कोरामन्	कर्मन्
Saubiree	सोबिरी	सौविर
Sekoree	सेकोरी	शक्री
Anijabirrum	अनिजबिरं	अनिज-वीर्यम्
Abikarm	अबिकरम्	अभिकर्म
Sesee	सेसी	शशी
Kiradi	किरदी	कीर्ति
Bonasoo	बोनसू	वनसु
Yami	यमी	यमी
Bhupi	भूपी	भूपी
Kawaree	कावरी	कावेरी
Doowara	दूवार	द्वार
Gange	गंगे	गंगा
Yumyum	यम् यम्	यम
Shuewa	शुवा	शिव
Matchaguadic	मच्छकडी	मत्स्य-कूटी
Gooroma	गूरम	कूर्म
Gamhadi	गंहदी	गणपति
Koomba	कूंब	कुम्भ
Goodooberee	गुडूबेरी	गोदावरी
Moohunda	मूहन्द	महानद
Kalay	काले	काल
Shaibee	शैबी	शैबी
Sappalah	सप्पाला	सर्पालय
Deeta	दीता	दत्त
Boma	बोमा	भूमा
Binda	बिंद	वृंद, बिंदु
Mayumba	मायुम्बा	माय-अंबा
Dinkara	दिंकर	दिनकर
Laka	लका	लंका
Kanji	कंजी	कहानजी(कृष्ण)
Abikarampa	अबिकरम्प	अभि-कर्म-प
Chamah	चमह	शमः
Asharaman	अशरमन्	अ-शर्मन्
Ansa	अन्स	अंश
Adinkara	अदिन्कर	अ-दिन-कर
Surem	सूरेम्	सूर्यम्
Shrondo	श्रोंदो	श्राद्ध
Koodongooree	कुडोंगरी	कु-डोंगरी
Birrensoo	बीरेन्सु	वीर-सु
Dagumba	दागुम्बा	दुर्गा-अम्बा
Cayree	कायरी	कावेरी
Koomada	कुमद	कुमुदा
Kaweree	कावेरी	कावेरी
Kumsallahoo	कुम्शालाहू	कुम्भशाला
Koonkori	कुन्कोरी	काकोरी
Beseeree	बेसेरी	विषारी
Mabalaba	महालभ	महालाभ
Goobirree	गूबीरी	कावेरी
Daworra	दवोरा	द्वार
Succondee	सूचकोंडी	सत्कुण्ड
Ahanta	अहंता	अ-हन्ता
Asankarie	असंकरी	अशांकरी
Garoo	गरू	
Jaura	जौरा	

Mallaia	मलैया	
Mala	माला	
Doorooma	दुरुम	द्रुम
Kalaha	कलह	
Goorwasie	गुरवासी	गुरुवासी
Apacca	अपच	
Katanga	कातंग	
Goodoobirree	गोदूबिरी	गोदावरी
Mahee	मही	
Bramas	ब्रमस्	ब्रह्म
Medra	मेद्र	मद्र
Calabar	कालबर	कालवर, काल-वार

ये सब नाम "Oriental Fragments" नामक पुस्तक लन्दनके Smith Elder & Co. द्वारा सन१८३४ में मुद्रित हुआ है, उस में से पृ० ३६७ से ३८८ तक के वृत्त में से लिये हैं। इसका शीर्षक यह है- " Sanskrit names in Africa."

पाठक चाहे यह पुस्तक देखें। हमने करीब आधे नाम जो स्पष्ट संस्कृत नामोंके साथ संबंध दिखाते हैं, ऐसे लिये हैं। शेष नाम भी संस्कृत के साथ संबंध दिखाते हैं, परंतु इतना स्पष्ट नहीं। इसलिये वे लिये नहीं।

जब कोई नाम अंग्रेजी या रोमन लिपीमें लिखा जाता है, तो उसके उच्चारणमें बडा परिवर्तन आ जाता है, इसलिये अंग्रेजी लिपीसे ये नाम लेनेके कारण इनका जो उच्चारण हमने इस लेखमें दिया है, वह ठीक ठीक आफ्रिकानिवासियोंकी भाषाका उच्चारण नहीं होगा।

वस्तुतः देखा जाय तो अफ्रिकन भाषाका उच्चारण ही इस सदृश शब्द ढूंढनेके लिये चाहिये। परंतु यह हमें मिल नहीं सकता। जो भारतीय लोग अफ्रिकामें स्थानस्थानपर जाकर रहे हैं, यदि वे वहांके निवासियोंसे मेलमिलाप करके उनके ग्रामनामोंका ठीक ठीक उच्चारण लिखेंगे तो ही ठीक हो सकता है। हमारे पास जो साधन मिला, उसका उययोग हमने किया। हमने अफ्रिकासे आये एक परिचित विद्वान्से 'कोंडा' के विषयमें पूछा, उन्होंने कहा कि इसका अफ्रिकन उच्चारण 'केन्डा' है। यही शब्द अंग्रेजीमें Konda, Conda, Cunda, Kunda, Coonda, Koonda इस तरह अनेक रीतिसे लिखा मिलता है। इसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं कि जिसँ का उच्चारण (केन्डा) हो जाय। Cuenda ऐसा लिखा होनेपर भी हम केंडा उच्चारण नहीं कर सकेंगे। इस तरह अंग्रेजी में लिखे शब्दोंसे कोई ठीक ठीक परिणाम नहीं निकाला जा सकता। हमारे सामने ये बडी भारी अडचनें हैं।

अतः यह लेख अफ्रिकानिवासियोंके सामने हम रखते हैं। वे इस विषयकी खोज करें, ठीक ठीक उच्चारण लिख कर भेज दें। इनमें कई ग्रामों के नाम हैं, कई पर्वत हैं, कई नदियां हैं। मिश्नरियोंने इनके नकशे भी दिये हैं। पारकर आदिकों के नाम हमने ऊपर लिखे ही हैं। उनको देखनेसे पाठक जान सकते हैं, कि ये स्थान कहां हैं।

अफ्रिकन जनसंघोंकी भाषा, धर्म, देवतोपासना, संस्कार आदिकोंका इस दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है। कश्यपादि ऋषि अफ्रिकामें गये और वहां हजारों लोगोंको आर्यधर्मकी दीक्षा दी, इत्यादि वृत्तांत हम पुराणोंमें देखते हैं। इस कथाका संबंध इसके साथ बहुत है।

वस्तुतः अफ्रिकानिवासियोंकी सभ्यता दो सहस्र वर्षके पूर्व अच्छी थी। युरोपीयन मिश्नरी जब गये उस समयभी उनकी सभ्यता अच्छी थी। रहनसहन, आदरातिथ्य, शुचिता, ब्रह्मचर्य, सादीदगी आदि उच्चगुण उनमें थे। बीमारी कम थी। साफसफाईका विचार बडा उच्च कोटीतक पहुंचा था। युरोपीनोंने अपने यंत्र, बंदूकें तोफे रखकर उन अफ्रिकानिवासियों की अमानुष कतल करके उनका नाश किया। अफ्रिकानिवासी नरमांसभक्षक थे। इस प्रथा को छोडा जाय और शेष आचारविचार देखे जांय, तो बहुत अद्भुत और उच्च बातों का पता उनके अन्दर लग सकता है।

आशा है भारतीय विद्वान् जो अफ्रिकामें रहते हैं, इस प्राचीन इतिहास की खोज करनेमें उचित सहायता करेंगे।

डरें क्यों ?

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी शास्त्री)

('वैदिक धर्म' के मार्च अंक से समाप्त)

हृदयबल ही सच्चा बल है। वह जिसके पास है, वह किसी भी और कैसे भी डाकू लुटेरे या अत्याचारी की अपेक्षा, श्रेष्ठ अस्त्रधारी होने का स्वाभिमान रख सकता है। वह हाथ में सूईका तिनका न होने पर भी श्रेष्ठ अस्त्रधारी होनेके स्वाभिमान में रह सकता है। ऐसा स्वाभिमान रख सकने के लिए लोहे के टुकडे की या बारूद की धूल की आवश्यकता नहीं होती। समझ कर देख लो कि अत्याचारी लुटेरों के पास भरोसा कर सकने योग्य अपनी कोई भी शक्ति नहीं होती। वे अपनी शक्ति की कमाई खाना नहीं चाहते वे अपनी और दूसरोंकी अशक्तिसे लाभ उठाना चाहते हैं।

उनको कभी भी भरोसा न करने देनेवाली, उन्हें कभी भी सत्साहस न करने देनेवाली, अपनी अशक्ति ही उनके पास होती है। उनकी अशक्ति का रूप परवंचन, दुर्बलपीडन आदि क्षुद्र तामसिक वृत्तियों के रूप में ही प्रकट हुआ करता है। ऐसे लोग अपनी शक्ति के ऊपर खडा होना नहीं जानते। उनके सारे महल अपनी और दूसरों की अशक्ति पर चिने हुये होते हैं। ऐसे लोग बेजान लोहे या लकडी के टुकडे को ही शक्ति समझ कर हाथों में पकड कर खडे हो जाते हैं। वे लकडी लोहे की उधारी शक्ति से डरपोक कलेजों को डराकर, अपना काम बना लेना चाहते हैं। जब उनके लोहे या लकडी दूसरों के लोहे या लकडी से हार मान बैठते हैं, तब उनके घुटने धीरज से खडे रहने के बदले कांपने लगते हैं। उनके हाथ के लोहे या लकडी के टूट जाने पर उनके पैर लडखडाने लगते हैं। इस सबका कारण यही होता है कि ऐसे लोग किसी शक्ति के आधारसे खडे नहीं होते। ऐसे लोग अपने मन की लोभ मोह आदि निर्बल वृत्तियों के या यों कहें कि अपनी अशक्तियों के बहकावे में आकर उठ खडे होते हैं। ऐसे लोग निश्चय ही शक्तिहीन होते हैं। इस कारण शक्तिहीनता या दुर्बलता से जहां तक इनका काम बन सके वहां तक अपनी या दूसरों की शक्तिहीनता किंवा दुर्बलता से भौतिक लाभ उठा लेना चाहते हैं। शक्ति से लाभ उठाना ये लोग नहीं जानते। ये लोग शक्ति को ही नहीं जानते कि शक्ति क्या वस्तु है ? फिर किसी भी शक्तिमान् विरोधी के सामने डट जाने के लिए उनकी टांगों में सामर्थ्य कहां से आ जायगा ? उनके हृदय में वह चूहा घुसा रहता है कि जो शस्त्र के विना उनको शक्तिहीन बना देता है।

जब कोई अत्याचारी लुटेरा डाकू या गुण्डा अपने डरपोक नाम के शिकार को सताता है, तब मत समझो कि वह अपने में रहनेवाली पशुबल नाम की किसी बडी शक्ति के सहारे से ऐसा करता है। क्योंकि ये डाकू आदि स्वयं भी डरपोक होते हैं इस कारण ये डरके मन को डरपोक बनानेवाले मोहसे लाभ उठाना चाहते हैं। अपने जीवन के लिए डरपोकपने के रूप में मोह से अपने जिवन का मोह न रखनेवाले सत्यनिष्ठसे लाभ उठाना चाहनेवाले को प्रलयोत्पातों का सामना करना पडता है और भाग जाना पडता है। यदि डरपोक का शिकार बना हुआ

वह डरपोक अपने सौभाग्य से इस सत्य को समझ जाय कि शक्तिमान् होने के लिए अस्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जो शक्तिमान् होता है वह शस्त्र के बिना ही होता है। शस्त्र के होने या न होने से शक्तिमत्ता का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। शक्तिमान् हो कर शस्त्र पकडनेमें और शस्त्र पकड कर शक्तिमान् बनना चाहनेमें बडा भारी अन्तर है। शक्तिमान हो जाने पर शस्त्र हाथ लग जाय तो उस शस्त्र के द्वारा अन्यथा अपने नंगे हाथोंको ही इंद्र का पर्वतभेदी वज्र मान कर चोर डाकू का अन्त तक विरोध किया जा सकता है। ऐसा समझ कर वह यदि अपने डर को छोड दे, अपनी आत्मशक्ति पर डटकर खडा हो जाय, दुष्ट का विरोध करने में दृढ हो जाय और उसे पीठ न दिखा कर, असत्य का विरोध करनेवाली अपनी तेजोदृप्त आंखें दिखा दे, तो लुटेरे और गुण्डों के मन में से, केवल अस्त्र दिखाकर हो काम बना लेने के लालच को भागजाना पडेगा! हृदयबल नाम का अधिक शक्तिशाली अस्त्र जिस महापुरुष के हाथ में है, उस अधिक शक्तिवाले विरोधी का सामना करने का प्रश्न उठ खडा हो तो लुटेरे डाकू आदि अपने मन में छिपे हुये डरपोकपन का शिकार अपने आप को हो बना हुआ पाकर पराजय मान कर निश्चय ही भाग खडे हों।

डाकू और लुटेरे आदि का शिकार बननेवाला डरपोक यदि अपने डरपोकपन को छोड दे और अपनी आत्मशक्ति के ऊपर खडा होकर स्थिर बुद्धि से विचार करने लगे कि सत्यस्वरूप ईश्वर ने मेरे हाथ में जिस धन को धरोहर रूप में रख दिया है, उस धन को एक अस्त्रधारी डरपोक के हाथ में हथियार देखते ही सौंप देने की और उसके बदले में अपनी प्राणरक्षा करने की कौनसी आवश्यकता आ गयी है?

यदि सत्य के कर्तृत्व से अथवा सत्य उपायों से हमारे हाथ में आये हुये धन पर डाकू का अधिकार होने देना ठीक होता तो सत्यनारायणरूपी हमारे महाप्रभु इस धन को डाकू के हाथ में ही सीधा न भेज कर हमारे अधिकार में क्यों भेजते? यदि सत्यनारायणरूपी महाप्रभु ने यह धन हमारे पास भेजा है, तो क्या वे इतने बेसमझ हैं कि इसकी रक्षा करने के लिए उन्होंने इसके साथ हमारे पास शक्ति नहीं भेजी? उन्होंने इसकी रक्षा की शक्ति दी है या नहीं? इसकी परीक्षा हमें कर लेनी चाहिये। लुटेरों के हाथ में केवल अस्त्र देखते ही धन त्याग करने की कौनसी विवशता आ गई है?

जब कि परमात्मा की इच्छा से यह धन हमारे पास आया है, तब इसे परमात्मा की इच्छा से ही अपने से अलग होने देना चाहिये, या परमात्मा की इच्छा से ही हमें इससे अलग होना स्वीकारना चाहिये। भला यह कैसे सहा जा सकता है कि डाकू या लुटेरों की इच्छा से यह धन हमसे अलग हो जाय? क्या ये डाकू लुटेरे हमारे घटवासी परमात्मा से भी अधिक शक्तिमान् हैं? हमारे पास जो धन है वह सत्यनारायणरूपी परमात्मा का है, यह धन सत्य की रक्षा के ही काममें आना चाहिये। परमात्माके इस धनकी रक्षा करनेमें यदि हमें प्राण छोडने पडेंगे तो यह धन सत्य की रक्षा के उपयोग में आकर हमें धन्य बना देगा, तब हम कर्तव्यपालन की अनन्त शान्ति को लेकर प्राण विसर्जन करेंगे।

किसी धन को अपना व्यक्तिगत धन मान कर, प्राणों को सत्य से अधिक महत्त्व देनेवाला कायर बन कर उस धन से एक कायर के प्राण डाकू से मोल लेने का हमारा कौनसा अधिकार है? इस प्रकार के लजानेवाले कामों में धन का उपयोग करने की प्रवृत्ति को ही व्यक्तिगत धनलालसा कहा जाता है। मनुष्य-समाज को रोगी बनाये रखनेवाले जो कि चोर लुटेरे डाकू और अत्याचारी जैसे रोगजन्तु समाज में उत्पन्न हो जाते हैं, वे मनुष्यों को निर्बल बना देनेवाली इस व्यक्तिगत धनलालसा से ही लाभ उठानेवाले होते हैं। जो धन हमारा नहीं है, जो धन सत्यका है,

उसको अपने काम क्रोधादि नाम के शत्रुओं की इच्छा पूर्ण करते रहने का साधन बना लेना ही व्यक्तिगत धन का मोह करना कहलाता है। इसी को कापुरुषता या कायरता भी कहते हैं। धन परसे जब ममत्वबुद्धि को हटा लिया जाता है अर्थात् जब यह मान लिया जाता है कि यह धन हमारा नहीं है, यह सत्य का है, तब डाकू या लुटेरों का विरोध करने के अतिरिक्त, दूसरा कोई मार्ग नहीं रह जाता।

जब डाकू और लुटेरों के साथ इस प्रकार निःशंक होकर अवश्यंभावी संग्राम में जुट पडने की भावना, मनुष्य-समाज में जाग्रत हो जायगी, तब डरपोक-पन का और डाकूपन का अन्त अवश्यंभावी हो जायगा। असत्य का विरोध करनेके संग्राम और उत्साहसे जो बात मनुष्यको रोकती है, जो बात मनुष्य-समाज को कायर और नपुंसक बनाती है, जो बात सामाजिक जीवन को तैस नैस करके व्यक्तिगत जीवन को भी कलंक बना देती है, जो बात मनुष्यके मन में से मनुष्यतापूर्ण सम्मानित जीवन का प्रश्न नष्ट कर देती है, वह व्यक्तिगत धन का दुष्ट मोह ही है। व्यक्तिगत धन का मोह कर्तव्यबुद्धि को खो देता है, अधिकारत्याग कराता है, चोरी और डाके डलवाता है, तथा दूसरों की चोरी और डाकों को दूरदर्शिता की बात समझा कर सहाता है।

अनधिकार चर्चा करना चोरी है। कर्तव्यबुद्धि को न रहना चोरी है। समाज के धन को अपना बनाकर उसे भोगों के काम में लाना चोरी है। चोरी करने वाले को डरपोक बनना पडता है। डरपोक नाम के इन चोरों की चोरी का नाम डरपोकपन है। डरपोक होना चोर होने की पहचान है। जो डर रहा है वह चोरी कर रहा है, इसीलिए डर रहा है कि नहीं तो डरने का क्या काम है? डरपोक नाम के चोर ही डाकू और लुटेरे नामके परोपार्जित-भोजी दूसरे डरपोक चोरों का शिकार बना करते हैं। चोर ही चोर से दबता है। चोर चोर को ही दबाता है। जो चोर नहीं है, उसको लूटना तो दूर की बात है, उसकी ओर आँख उठाने का भी साहस कोई नहीं कर सकता। चोर और डाकू के शिकार बन जाने का स्पष्ट भाव यही है कि सत्यके धन को अपना धन मान बैठने की जो चोरी इन्होंने की है इनका वह चोरी (नाम की निर्बलता) असत्य का विरोध करने के किंवा असत्य के विरुद्ध उठकर खडा हो जाने के, साहस को हर लेती है। सत्य के धन को चुराने (या अपना लेने) वाला व्यक्ति व्यक्तिगत धन का स्वामी बनना चाहने की भूल करके पहले अपने को अनधिकारी चोर और डरपोक बना लेता है और फिर दूसरे अनधिकारी डाकू और लुटेरों का शिकार बन जाता है। डाकू और लुटेरे कोई हमारा विरोध न करे, इसी लिए शस्त्रधारी बनकर सदा विरोध न करने वाले डर-पोक की, विरोध न करने की दुर्बल मनोदशा को पहचान कर उसी दुर्बलता पर अपना शस्त्र चलाते हैं। जो डाकू का विरोध करने के लिए अन्तिम श्वास तक डटे रहने के भाव से शस्त्र पकड़ लेता हैं और डाकू के अधिक हथियारों से डर कर अपने थोड़े हथियारों को डंडों को या नंगे हाथों को थोड़ा मानकर साहस छोडकर पीठ नहीं दिखाता उसको कभी डाकू आदि का विरोध करने का अवसर नहीं आता। क्योंकि डाकू बहादुरी के लिए नहीं आते। वे निर्बलता से लाभ उठा लिया जा सके तो उठा लेने के लिए आते हैं। निर्बल एक शस्त्र लेता है तो डाकू चार शस्त्र लेकर उसे डरा कर अपना काम बना लेना चाहते हैं।

लुट जाने का डर ही लुटेरे उत्पन्न कर लेते हैं। लूटने वाले और लूटे जाने वाले दोनों के दोनों व्यक्तिगत धन नाम के अनधिकार के लोभी होते हैं। भोगसाधनों को भोगने या संग्रह करने में यदि कोई दूसरा छीना झपटी या रुकावट न डाले तो उन साधनों को अनधिकारपूर्वक भोगते रहने के लिए जो मनुष्य शस्त्र पकडता है वह विरोधी के सामने डट जानेके लिए शस्त्र नहीं पकडाता। ऐसों के हाथ

में आया हुआ शस्त्र भागने वाले पीछे दौडने के लिए या शस्त्र की प्रदर्शनी ही प्रदर्शनी करके काम बना लिया जा सके तो बना लेने के उपयोग में आया करता है। ऐसे लोगों को जब अपने से अधिक शक्तिशाली शस्त्रधारी आक्रमणकारी का सामना करना पड़ता है तब ये लोग पीठ दिखाकर भागने के लिए कटिबद्ध रहकर किसी प्रकार शस्त्रबल से बलवान् बना जा सके तो बन जाने का व्यर्थ प्रयत्न किया करते हैं। समझ लेना चाहिए कि सत्य ही वीर का न लुटने वाला धन है। सत्यरूपी धन से धनवान् वीर को लुटने का डर नहीं होता। ऐसा वीर लुटेरों का सामना करने का अवसर आ जाने पर उन्हें अपने से अधिक शक्तिमान् समझने की भ्रान्ति कभी नहीं करता। सत्य के बल से बलवान् रहने पर ही सत्यार्थ धारण किये हुए शस्त्र का सदुपयोग हो सकता है। शस्त्र का सत्यार्थ उपयोग अन्तिम श्वासतक करते रहने से ही शस्त्र का सदुपयोग होता है। सत्यके बल से बलवान् हो जाने पर, जब जिस रूप में सत्य की रक्षा का प्रश्न आ खडा होता है, तब उसी रूप में अन्तिम श्वास तक अपने चित्त को अविचलित रखने वाले वीर पुरुष के हाथ में लोहेका शस्त्र आ जाय, लकडी का डण्डा आ जाय, या अकेले निरस्त्र भौतिक देह से या मुट्ठी से या अकेली तेजोद्दप्त लाल आंखों से ही विरोध करना पड जाय, तो उसी से असत्य के विरोध को प्रकट करते रहना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। अपने विरोध को किसी भी तरह प्रकट किये बिना उससे नहीं रहा जाता। असत्य का विरोध करनेवाला निर्भीक वीर किसी भी अवस्था में लोहे लकडी का शस्त्र न रहने के कारण अपने को असत्य का विरोध करने में असमर्थ नहीं पाता। सच्चे वीर की दृष्टि में अपनी बलशालिनी अप्रभावित निर्विकार मानसिक स्थिति नाम की जो अतुलनीय सत्यरूपी संपत्ति है वही एकमात्र रक्षा करने योग्य पदार्थ इस संसार में है। धन समझे जाने वाले मिट्टी के ठीकरों या खिपडों के साथ अपना सम्बन्ध बनाने रखने का मिथ्या उत्तरदायित्व वीर-हृदय में कभी भी स्थान नहीं पाता। या तो अपने व्यवहार में आये हुए या सत्य-रक्षा के साधन बनकर अपने उत्तरदायित्व में आए हुए, भौतिक पदार्थों की रक्षा करते रहकर, असत्य का विरोध करते रहने से ही सत्य की रक्षा होती है।

यही कारण है कि लुटेरे का विरोध किये बिना उसे अपना धन न लेने देना और अन्तिम श्वास तक विरोध करते रहना इस दृष्टिको रखने वाले वीरों का स्वधर्म होता है। ऐसे वीरों के हाथों में समयोचित भौतिक अस्त्रों को पकडवा देने का उत्तरदायित्व भी सत्य की इच्छा पर निर्भर रहता है। सत्य चाहता है तो उनके हाथ में अस्त्र आजाता है, नहीं तो उनको नंगे हाथों ही असत्य का विरोध करना पडता है। सच्चा वीर भौतिक अस्त्र शस्त्र पर निर्भर न रहने वाली अपनी मानसिक स्थिति को ही पर्याप्त रूपमें शस्त्रधारी होना मानकर आत्मतृप्त रहता है। वह अपनी निर्भीक मानसिक स्थिति को ही सबसे बडा शस्त्र मानता है।

सत्यानुमोदित समाजसेवा के बदले में सामाजिक प्रबंध से मिला हुआ धन ही वीर का भोग्य अमृत बन कर उसके उपयोग में आता है। समाज के सत्यानुमोदित प्रबन्ध से उसके पास इस धन की रक्षा के साधनों का आ जाना भी अनिवार्य होता है। यों वीरभोग्य धन और उस धन की रक्षा के साधन दोनों ही व्यक्तिगत संपत्ति होने के कलंक से मुक्त रहकर सत्यके प्रबन्धके अधीन रहते हैं। सत्य के प्रबन्ध से आए हुए ऐसे शस्त्र या साधन यदि लुटेरों की दृष्टि में, अपने से अधिक भौतिक शक्ति रखने वाले दीखते हैं तो लुटेरों के साथ वीर की मुढभेड होने का अवसर नहीं आता। वहां से लुटेरों को पीठ दिखाकर भाग जाना पडता है। यदि लुटेरे लोग भौतिक दृष्टि से अपने को अधिक शक्तिशाली मानकर उस सत्यरक्षक वीर पर आक्रमण कर बैठते हैं तो जिस भौतिक पदार्थ के साथ वीरहृदय का ममता का सम्बन्ध कभी भी स्थापित नहीं हुआ था, ऐसे धन के खिपडों

को उठा लेने में समर्थ हो जाने पर भी वे डाकू अपने जीवन की सत्यार्थ आहुति कर देने वाले वीर को, सत्य से हीन करने में असमर्थ होकर पराभूत और लज्जित रह जाते हैं। वे उसे मार डालें तो भी लज्जित होते हैं। भौतिक शस्त्रों पर निर्भर रहने वाला निरपेक्ष और निडर हृदय ही वीरों का अपराजित अस्त्र होता है। जो असत्य रूपी भौतिक आक्रमण, वीरों के सामने आते हैं वे सब ऐसे वीरों का विरोध करके हार जाने के लिए ही आते हैं।

मनोविज्ञान की इस सूक्ष्म बात को भले प्रकार समझ लीजिए कि शस्त्रों का संग्रह विरोधी के साथ अन्त तक लडने के लिए नहीं किया जाता। किन्तु कुछ सीमा तक लडकर डरा धमका कर, काम निकाला जा सके तो निकाल लेने के लिए किया जाता है। समझ लेना चाहिए कि, विरोध नाम की मनोदशा का शस्त्रों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जो विरोध करता है, वह विरोध करना चाहिये केवल इसीलिये विरोध करता है। विरोध किये विना उससे नहीं रहा जाता। विरोध किये बिना उसके प्राण तडफडाने लगते हैं। विरोध किये बिना उसके प्राण फूलने लगते हैं और शरीर में समाना नहीं चाहते। विरोध करने के कर्तव्य की गरमी वीरहृदय को हाथों पर उठाकर घूमने लगती है। वीर-हृदय की कर्तव्यनिष्ठा उससे प्रलयताण्डव कराये बिना नहीं मानती। ऐसी इस विरोध नाम की जीवन्मुक्त मनोदशा का शस्त्रों के साथ वास्तव में कुछ भी संबन्ध नहीं है। सत्य के लिये हठ रखने वाली मनोदशा का ही विरोध से वास्तविक सम्बन्ध है।

इस दृष्टि से यह भी सूक्ष्म मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली बात है कि कोई भी शस्त्रधारी शस्त्रों के साथ विरोध का संबन्ध है यह मान कर शस्त्रधारी नहीं बनता। सम्पूर्ण शस्त्रविश्वासियों को अपने अपने मनों को टटोल कर देख लेना चाहिये कि उनके मनमें जो विरोध का डर घुसा रहता है, वह डर ही शस्त्रों का प्रेम बन जाता है और उनके हाथों में शस्त्र पकडवा देता है। यह एक ध्रुव सत्य है कि जब विरोध को देखना अभीष्ट नहीं होता तब ही शस्त्र को पकडा जाता है। शस्त्र पकड कर यही चाहा जाता है कि वह डर जाय और विरोध करना त्याग दे। ऐसी अवस्थामें शस्त्रों में वीरता की कल्पना करना या शस्त्रधारी होने से किसी को वीर समझ बैठना बडी भारी भूल है। कर्तव्य-बुद्धि से जो किसी अत्याचारी का विरोध करता है वह न तो अपने पास शस्त्र होने या न होने की अपेक्षा करता है, न प्रतिपक्षी के शस्त्रों की कुछ गणना करता है, न प्रतिपक्षी से दबना चाहता है और न प्रतिपक्षी को दबाना चाहता है।

ईश्वरीय प्रबन्ध से जो कर्मशक्ति उसके शरीर में अवतीर्ण हो रही है या जो विरोध करने के बाह्य साधन ईश्वरीय प्रबन्ध से उसे मिले हैं, वह उन सब से अपनी शक्ति भर विरोध करके, अपने को धन्य बना लेना चाहता है। वह इस विरोध का बदला नहीं चाहता। वह कर्तव्यपालन को ही कर्तव्य का बदला जानता है। प्रतिपक्षी दबे या न दबे, अन्तिम श्वास तक उसका विरोध करने से ही वह धन्य बन जाता है। भौतिक दृष्टि में उससे हारकर भी धन्य हो जाता है। उसका विरोध करना ही उसका सफल हो जाना है। इस प्रकार का अजेय विरोध ही वीरों की सच्ची वीरता है। यह वीरता नंगे हाथों भी दिखाई जा सकती है और शस्त्रधारी हाथों से भी दिखाई जा सकती है।

अज्ञानान्ध मानव-समाज को वीरता की कल्पना करनी नहीं आती। वह मन माने ढंग से वीरता की कल्पना कर बैठता है और वीर नाम से वेष्टित होकर कायर बना रह जाता है। समझ लेना चाहिये कि वीर-देहको अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित रहना आवश्यक नहीं है। फिर भी

अज्ञानान्ध मानव समाज, वीर-देह के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहने को अनिवार्य आवश्यक मानता है। वह लोहे लकडी के टुकडों का अतिरंजित वर्णन करने में अनावश्यक बल लगाता है और वीरता की बिडम्बना करके, कायरता को ही वीरता का चेहरा पहनाकर वीर बनने के बदले में कायर बना रह जाता है। वीरों का वर्णन जहाँ भी पाया जाता है वहां एक मांसपिन्ड का कुछ हथियारों और पेटियों से जकडा हुआ होना आवश्यक मान लिया गया है। कहीं धनुष बाण और तरकस को, कहीं तलवार त्रिशूल या वज्र को, कहीं गदा या चक्र को वीरता का अभिन्न साथी बना लिया गया है। ऐसी कल्पना करने वालों को यह ज्ञात नहीं है वीर नाम की जो मानसिक स्थिति है वह किसी भी देहपंजर या किसी भी नरक-काल में बैठकर धूल से ही क्षणमात्रमें हजारों शङ्ख चक्र गदा पद्म और त्रिशूल-धारियों को उत्पन्न कर लेने में समर्थ है। वह मानसिक स्थिति ही सच्ची वीरता कहलाने के योग्य है। ऐसे वीर हृदय का स्वामी बनकर ही प्रह्लाद जैसे निहत्थे वीर ने लोहे के ठोस खम्भे में से दानव-दलनकारी नृसिंहावतार को उत्पन्न कर लिया था। अपने मानस संकेत से नृसिंहावतार को भी उत्पन्न होने के लिए विवश कर देने वाले उस महान् वीर-हृदय में जो सच्चा महत्त्व है, वह उससे छीन कर दानव देह का अन्त कर देनेवाली तीव्र नखदन्तयुक्त मूर्ति को दे बैठना भ्रान्ति है। क्योंकि उस मूर्ति का शक्ति से प्रह्लाद का गौरव लेशमात्र भी वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु प्रह्लाद जैसे वीर की सेवा में उपस्थित हो कर उसने अपने आपको ही गौरवमय बनाया था। जिस हृदय में वीरता होती है उस हृदयमें सर्वव्यापक शक्ति को उतरना पडता है। शक्ति अपने आपको वीर-हृदय के पास जानेसे रोक नहीं सकती। वीर-हृदय जब नहीं रहते तब असुरसंहारकारिणी शक्ति का अवतार धारण करना असंभव हो जाता है। उसके अवतार धारण करने का तब कुछ आधार नहीं रहता।

वीरहृदयों का सहारा पाकर ही शक्ति पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ करती है। शक्ति वीर-हृदयों के पीछे पीछे घूमा करती है। वीरहृदय शक्ति के अनुचारी दास नहीं बनते। वीर-हृदय अपनी निर्विकार अप्रभावित स्थिति को अपनी छाती से लगा लेता है और भौतिक शक्ति की कुछ भी अपेक्षा न करके अपनी वीरता के अटल सिंहासन पर आरूढ हो जाता है। ऐसे वीर-हृदयकी चरण-सेवा करके अपने को कृतार्थ कर लेने के लिए ही शक्ति उसके पास आती है। जब मनुष्य का हृदय भौतिक शक्तियों की अपेक्षा करना छोड कर, उनके होने या न होने पर निर्भर न रहकर, अपनी वर्तमान शक्ति और साधनों से ही अपना कर्तव्य पालने में जुट पडता है, तब की उसकी मनोवृत्ति ही वीरता या सत्साहस कहाती है। भौतिक शक्ति की अपेक्षा रखना, किंवा भौतिक शक्ति होती तो हम कुछ कर दिखाते, इस प्रकार किसी पर निर्भर हो जाना और निर्भर होकर कर्तव्य-हीन होना कायरता, डरपोकपन या उत्साह-हीनता है।

आज मानव-समाज ने इस सच्ची वीरता को भुला दिया है और लोहे लकडी के कुछ हथियारों को महत्त्व देकर बडी भारी भूल में फंस गया है। आज मानव-समाजने बम पिस्तोल संगीन बन्दूक मैशीनगन माइन तारपेडो दम घोंटनेवाले बिजली, भाप धुएं आदि के द्वारा दुर्भेद्य कायरता का जाल बना लिया है और वह उसी में अपने चूहे जैसे निर्बल हृदय को पाल रहा है। जब तक हथियारों के मोह को छिन्न भिन्न करके उसमें से वीरता को बाहर नहीं निकाल लिया जायगा, तब तक यह सब का सब मानव-समाज चूहे जैसा निर्बल बना रहेगा और अपने लिए सच्ची वीरता के दर्शन को असम्भव बनाता रहेगा।

सच्चे वीर पुरुष की मन की स्थिति क्योंकि अपना पक्ष सत्य होने के सत्साहस से उत्पन्न होती है, इस लिये वह शस्त्रों को तिनकों के

समान गिनता है। उसके मन की स्थिति उसको ऐसा शस्त्रधारी बनने से लज्जित किया करती है जो कि शस्त्रों पर निर्भर रहता हो। वह शस्त्रों पर निर्भर रहने वाले शस्त्रधारियोंको कलंकित मानता है। वह शस्त्रों के बिना ही अपने को वीरता के गौरवपूर्ण आसन पर पाकर तुच्छ शस्त्रों से हीन हो तब भी अपनी सच्ची वीरता को अटल बनाये रखता है। वह शस्त्रों के न होने पर भी सच्चा शस्त्रधारी बना रहता है। उसकी तेजोदृप्त आंखों में लाखों शस्त्रों का ओज भरा रहता है। उस सच्चे शस्त्रधारी की, प्रलय बुलानेवाली ज्वालाओं से भरी हुई आंखों के सामने से डाकू और लुटेरों को भाग जाना पडता है। बात यह है कि डाकू और लुटेरे सदा ही शस्त्रहीन पर छापा मारा करते हैं।

अपने से कम शस्त्रधारी नपुंसक पुरुष के धन को हरने का ही उनका दुष्ट साहस होता है। डाकू और लुटेरोंका विरोध करनेवाला वीरहृदय जहां है, वहां यदि उसे भौतिक शस्त्र से हीन देखकर डाकू और लुटेरे उस पर हमला करदें तो भी उस वीर को अपनी शस्त्रहीन अवस्था में डाकू आदि का प्रलयकारी विरोध करना पडता है। वह अपने मन में सम्पूर्ण ऐश्वरी शक्ति को प्रवाहित करके अपने अकेले स्वाभिमानी मन से ही उसका विरोध करता रहता है। शस्त्र हो या न हो, खुला हो या बांध दिया गया हो, तब भी विरोध करता है। शरीर के खण्ड खण्ड किए जाने पर भी अपने विरोध को रोक नहीं देता। ऐसा जीवन्मुक्त महापुरुष असत्यविरोधरूपी यज्ञ में अपने शरीर की पूर्णाहुति डालकर अनन्त उल्लास का अधिपति बन जाता है। यह दिव्य वीरता शस्त्र पर निर्भर रहने वाला, या शस्त्र पर निर्भर रहने वाले का, धर्म नहीं है। शस्त्र की अनिवार्य आवश्यकता जिसको है, वह वीर नहीं है। वह का-पुरुष है। का-पुरुषों के हाथों का शस्त्र कापुरुषता को ढक रखने के लिए होता है। वह शस्त्र अपनी निर्बलता को सुरक्षित रखने के लिये होता है। कापुरुषों के हाथ का शस्त्र अपनी निर्बलता को चरितार्थ करने में विघ्न डालने वालों को रोका जा सके तो रोकना चाहने के लिये होता है। विचार कर देखोगे तो पाओगे कि शस्त्र का भरोसा न करना ही 'वीरता' है। शस्त्र का का भरोसा न करने की जो वीर मनोवृत्ति है उसी को सच्ची 'शस्त्रहीनता' कहा जाता है। देख ले कि हमारे अन्दर जो सत्य है, वह असत्य का विरोध करने के लिये, लोहे के किसी चाकू या छुरे को लेकर हमारे अन्दर नहीं बैठा है। वह जब किसी का विरोध करता है तब असत्य के अस्तित्व को अस्वीकार करके किंवा असत्य को अपने चित्त से उतार कर, अपने विरोध को पूर्ण बना लेता है। इस प्रकार शस्त्रहीन स्वभाव रखने वाला जो सत्य है, उसकी अनन्त शक्ति से सम्पन्न होकर निःसंक बन जाओ, बस, यही 'वीरता' है।

सच्चे वीर के हाथ में आये हुये शस्त्र का ही सदुपयोग होना सम्भव है। वीर के हाथ में आया हुआ शस्त्र सत्य की रक्षा के लिए उठता है। कापुरुषों के हाथों में गया हुआ शस्त्र, सत्य की गरदन पर चलता है। वह किसी न किसी असत्य की सहायता करने को ही उठता है। परमात्मा की इच्छा से जब कोई शस्त्र वीर के हाथ में आ जाता है, तब वह शस्त्र उसके हाथ में आकर उसे वीर नहीं बनाता। तब उस शस्त्र का केवल सदुपयोग हो जाता है। वीर के हाथ में शस्त्र के आने से वीर की शक्ति बढ जाती होगी ऐसा मत समझो। सच्चा वीर वही है, जो शस्त्र के न होने से कर्तव्यमूढ नहीं हो बैठता। सच्चा वीर वही है जो शस्त्र के पीछे नहीं दौडा फिरता। जो शस्त्र का भरोसा करता है उसको शस्त्रधारी या शस्त्रनिर्भर कहना उचित है। शस्त्रनिर्भर में और शस्त्रधारी में कुछ भी अन्तर नहीं है। जो शस्त्र का भरोसा नहीं करता

वह अपने धर्म का भरोसा करके सदा ही शस्त्र-हीन अवस्था में रहता है। वह यदि सत्य की अचिन्त्य इच्छा से शस्त्रधारी भी हो जाय तो भी शस्त्रहीन बना रहता है। वह शस्त्र का दास नहीं बनता। वह शस्त्र नष्ट हो जाय तब भी पहले के समान ही निःशंक भाव से पापी का विरोध करता है। इस के विरुद्ध शस्त्रधारी पुरुष के पास धर्म का कुछ भी बल नहीं होता। वह अपने को केवल शस्त्र से ही बलवान् बना हुआ मान कर, धर्म का विरोध करके, अधर्म के अर्थात् अत्याचार के सहारे से अपने दिन काटता है। शस्त्र-हीनता के महत्त्व को और शस्त्रहीनता की अनन्त शक्तिमत्ता को समझने वाले शस्त्रहीन महापुरुष के पास धर्म का प्रबल बल रहता है। इसलिये वह शस्त्रबल की उपेक्षा करके, अपने धर्मबल से ही बलवान् बना रहकर उसका प्रतिपक्षी शस्त्रों की बाड से जिस अधर्म की रक्षा करना चाहता हो उसका निशङ्क विरोध करने लगता है। शरीर की ममता की पूर्ण उपेक्षा करके विरोध करता है। उस समय उसके हाथ में ईश्वर की इच्छा से कोई भौतिक शस्त्र हो या न हो उसकी दृष्टि में इन दोनों का एक ही मूल्य होता है। यों धर्मबल से अनन्त शक्तिमान् होकर भौतिक शस्त्रों को तुच्छ नगण्य समझने वाला ही सच्चा 'शस्त्र-हीन' माना जाता है।

जो शस्त्रों के बिना ही शक्तिमान् होना जानता है और शस्त्रों के बिना ही अधर्म का विरोध करने के लिये खडा हो जाता है, उसके हाथ में तो क्या, उसकी छोटीसी अंगुली में भी गदा, चक्र, वज्र और गाण्डीव की शक्ति उतर आती है। अधर्म का विरोध करते समय निरस्त्र अवस्था में उसकी छोटीसी अंगुली में जितना सामर्थ्य और जितना कार्यकारीपन आजायगा उतने से अधिक सशस्त्र अवस्था में भी नहीं आयगा। जान लो कि उस की शक्ति का आधार लकडी या लोहे का टुकडा नहीं होगा। उसकी शक्ति का आधार विश्व को शक्ति का महादान करते रहने वाला अनन्त शक्तिमान् सत्यस्वरूप परमात्मा नाम का उसका अटल निर्विकार या अप्रभावित मन ही होगा। इस शक्ति का मूल झरना जहां से बहता है, वह साधारण से लकडी या लोहे के टुकडे को, या फिर भ्रुकुटी को ही इतना शक्तिमान् बना देता है कि डाकू और लुटेरे नाम के डरपोकों के चूहे जैसे कलेजे, उसे देखकर थर थर कांप उठते हैं। डाकू या लुटेरों के विमानों और तोपों के पीछे वास्तविक शक्ति का आधार हृदय-बल नहीं होता।

यही कारण है कि किसी भी हृदयबल रखने वाले विरोधी की विरोध के उपेक्षा इन लोगों से नहीं की जा सकती। ये लोग संसार में किसी हृदयबल रखने वाले के ऊपर अपने डाकू या लुटेरेपन की स्थापना करनेका साहस नहीं कर सकते। शस्त्र पर रहने वाला कदापि विरोधी का सामना नहीं करता। इन शस्त्रधारी लुटेरों का डरपोक नाम का शिकार, जब यह समझ बैठता है कि हाथ में लडने की कोई वस्तु आ जाय तो हम लुटेरों का विरोध करें, नहीं तो नहीं, बस, यही उस डरपोक की कापुरुषता है। ऐसी दुर्बल भावना उसको लुटेरों का शिकार बना देती है। निर्भयता की गति तो सर्वथा विपरीत है। वह तो कहती है हथियार हाथ में रहे या न रहें, डाकू या लुटेरों का शिकार हम कभी नहीं होंगे। इनका विरोध हम अवश्य करेंगे, क्योंकि इनका शिकार बनकर एक श्वास लेना, एक ग्रास खाना, तथा एक घूंट पानी पीना भी हमारे लिये असम्भव हो जायगा। ऐसी हठीली मनोवृत्ति का नाम 'निर्भयता' या 'निडरता' है। ऐसी निर्भयता की भावना जब मनुष्यसमाजमें जाग्रत हो जायगी तब डरपोक-जीवी डाकू लुटेरे आदि का विनाश निश्चित हो जायगा। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि निर्भयता की भावना जिस हृदय में होती है

वहां अस्त्र शस्त्र की अपेक्षा नहीं होती । अस्त्र के होने या न होनेपर दोनों अवस्थाओं में असत्य का तीव्र और कटु विरोध अवश्य किया जाता है ।

इस सबका यह भाव नहीं है कि हाथ का हथियार फेंक कर खाली हाथ ही डाकू का सामना करना 'वीरता' है । किन्तु जो हृदय खाली हाथ भी डाकुओं और लुटेरों का विरोध करने के लिये निःशंक बना रहना जानता है वही 'वीर' है। वह वीर खाली हाथ हो तो वज्रमुष्टि होकर और हथियार मिल जाय तो उसे लेकर डाकू या लुटेरों पर टूट पडता है। पहले से निडर बना हुआ मनुष्य ही भयंकर समझी जाने वाली स्थिति के आनेपर निडर के समान व्यवहार कर सकता है। निडर जैसे बाह्य बर्ताव को उधारा लेकर बाहरी भयंकर स्थिति से बच जाने की दुराशा लगाये बैठने वाले लोग निडरता का लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे लोग निडर बनने के लिए यदि कुछ करते हैं तो अपनी कायरता को ढक लेने का असफल प्रयत्न किया करते हैं। समझ लेना चाहिए कि निडरता शारीरिक बाह्य क्रिया नहीं है। निडरता मन की स्थिति है। जो मनुष्य निडर होता है उसके मन में बाहर की भयंकर समझी जाने वाली स्थितियों से बच कर रहने की डरपोक (निर्बल) भावना कभी नहीं आती। उसकी दृष्टि में बाहर भी कोई भयंकर स्थिति नहीं होती, और उसके मन में भी भयंकर नाम की कोई स्थिति नहीं ठहर पाती। अपने मनमें भयंकर नाम की किसी स्थिति को मान बैठना ही 'भय' है। मन में रहने वाले उस भय को ज्ञानाग्नि से जलाकर नष्ट कर डालना ही निडरता या निर्भय हो जाना है। निडरता नाम की यह जो मानसिक स्थिति है यह जब आती है तब जब जैसा बर्ताव करवाना आवश्यक समझती है करवा लेती है। तब भय के अवसर पर हमें क्या करना चाहिये? इस प्रकार के प्रश्न पूछनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

निडरों जैसे बाह्य बर्ताओं की एक लम्बी सूची बनाकर उस का अभिनय दिखाकर निडर बन सकना असम्भव है। कहा जा चुका है कि निडरता कोई शारीरिक क्रिया नहीं है। निडरता नाम की अवस्था लम्बी चौडी बातों लाल आंखों, ऊंचे शब्दों, गर्जन, तर्जन, कुश्ती, लाठी, बल्लम, छुरा, कृपाण, कमान, तलवार, बन्दूक, पिस्तौल, बम, या मैशीनगन आदि के प्रयोगों और दिखावों से सम्बन्ध रखने वाला कोई सा भी कौशल नहीं है। निडर मनुष्य के रीते हाथ और कनकी अंगुली भी प्रतिपक्षी के लिये वज्र बन जाती है। कायर के हाथ में आये हुए सब साधन उसकी कायरता को छिपाने के काम में आते हैं। मेरे प्रतिपक्षी के पास कितने विमान शतघ्नी आदि हथियार हैं? इसका हिसाब लगाने की ओर वीर पुरुष का ध्यान कदापि नहीं जाता। इसी का नाम निर्भयता है। निर्भयता अस्त्र शस्त्रों की उपेक्षा करनेवाली स्वतन्त्र स्थिति है। किन्तु जो डरपोक, अस्त्र शस्त्र न हो तो अपने को डाकू लुटेरों का सामना करने में असमर्थ मान बैठता है, उसके हाथ में यदि हथियार आ भी जाय तो वह डाकू लुटेरों का विरोध न करने का दूसरा कोई बहाना ढूंढकर कहने लगता है कि उनके पास हमसे अधिक हथियार हैं, हम उनका विरोध कैसे करें? वह अधिक हथियारों का स्वप्न देखकर भी पीठ दिखाकर भाग खडा होता है। निर्भयता में अपने या प्रतिपक्षी के अस्त्र शस्त्र के लिये कोई भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। दुष्टों का विरोध करने में अपने को अनन्त शक्तिमान् जान लेना ही निर्भयता है। ऐसी अनन्त शक्ति प्रत्येक मनुष्य के मन में परमात्मा की देन के रूप में सदा विराजती रहती है। इस महानिधि के दर्शन जिस दिन मनुष्यको हो जांयगे, उस दिन मनुष्य किसीसे क्यों डरेगा?

गायत्री कामधेनु है।

(लेखाङ्क—३)

मंत्र--जपका रहस्य।

(ले०— पं० तडित्कान्तजी वेदालङ्कार)

मन्त्र का अर्थ होता है विचार। निरुक्तकार यास्कमुनि मंत्र की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं कि– ' मंत्रा मननात् '। (निरुक्त ७।३।१२)

इनका मनन (विचार) किया जाता है, अतः इनको मन्त्र कहते हैं। मन्त्रोंपर विचार कर गुप्त रहस्य पता किए जाते हैं, ये एक प्रकारके रहस्यपूर्ण विचार हैं, जो कि परमात्माकी ओर से हमें प्राप्त हुए हैं। इन में कितनी अधिक शक्ति भरी पडी है, इस बात को महाभाष्यकार बताते हुए लिखते हैं, यदि मन्त्रका ठीक ठीक प्रयोग नहीं किया जाय, तो यह वाणीरूपी वज्र यजमानतक खून कर डालता है। वेदमन्त्रों की महिमा और सामर्थ्य का कितना माहात्म्य है, यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब कि हम मनुष्यकृत (मन्त्र) विचारों का प्रभाव देखते हैं।

अच्छी या बुरी आदत, संस्कार आदि सब कुछ विचारों का परिणाम है। यह बात अनुभव से पता की गई है, कि यदि कोई सतत एक ही विचार के चक्र में घूमता रहे तो वह वैसा ही कालांतर में बन जायगा। मनुस्मृति में लिखा है कि–

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
(मनुस्मृति)

अर्थात् काम, यज्ञ, व्रत, यम, धर्म सब संकल्पसे होते हैं। उपनिषद्में भी लिखा है, कि 'संकल्पमयोऽयं पुरुषः।' अर्थात् यह पुरुष भी संकल्पमय ही है। इसीलिए मनुष्य संकल्प से जैसा चाहे वैसा बन सकता है। यह संकल्प क्या है? संकल्प का अर्थ है दृढ विचार। अर्थात् संकल्प भी विचार ही का एक अङ्ग है।

विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो सृष्टि की रचना भी विचार ही से हुई। तैत्तिरीयोपनिषद में लिखा है, कि– ' सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत।' अर्थात् उस परब्रह्म ने अपने में कामना (विचार) की कि मैं बहुत हो जाऊं, उत्पन्न होऊं। उसने तप तपा, उसने तप करके यह सब बनाया।

यह तप क्या वस्तु है? यह तप भी उत्तप्त प्रदीप्त विचार हैं। ऋत और सत्य की भी इस चमकते हुए तपसे ही उत्पत्ति होती है।

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।'
(ऋ० १०।१९०।१)

तपके विषय में मुण्डकोपनिषद १।१।९ में लिखा है कि– 'यस्य ज्ञानमयं तपः।' अर्थात् जिस परमात्मा का ज्ञानरूप ही तप है।

यह सृष्टि परमात्मा की इच्छामात्र से उत्पन्न होकर पुनः इच्छामात्र से ही लयभी हो जाती है। परमात्मा के न हाथ हैं न पैर हैं न अन्य साधन हैं, उसके विचारों में ही इतनी शक्ति है, कि वह यह अलौकिक रचना कर सकता है और जब चाहे बिना किसी विलंब के विध्वंस कर सकता है।

उसी परमात्मा से विचारों का उद्गम होकर तब प्राणिमात्रों में वे जाकर व्याप्त होते हैं। विश्व के महान् कार्यों तथा परिणामों को हमें रात्रि

दुनिया में देखने का व अनुभव करने का अवसर प्राप्त होता रहता है। बहुतसे संतसाधु योगीमुनि ऐसे पाये गये हैं, कि जो अपने विचारों का अद्भुत परिणाम रखते हैं। उनके विचारों ने स्वयं इतनी ज्यादा क्रियाशक्ति धारण की हुई होती है, कि वे बिना हाथ पैर हिलाए वह सब कुछ कर सकते हैं, जो कि हम अपने तमाम अवयवों और अन्य साधनों की मदद से भी नहीं कर सकते। यौगिक सिद्धियां क्या हैं? शाप वर क्या हैं?

यहांपर एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि यदि यह सब विचारोंका ही प्रभाव है, तो बुरे विचारों का प्रभाव शीघ्र क्यों होता है और अच्छे विचार की असर देरमें क्यों पडती है? इसका स्पष्ट कारण यह है, कि हमारी प्रवृत्ति बुराई की तरफ प्राय: विशेष रहती है, अतः हमारे चारों ओर बुरे विचार मण्डलाते रहते हैं। एक भी बुरा विचार हमारे में से निकला कि उसे और बुरे विचारों की सहायता मिल जाती है और अतएव उसका शीघ्र प्रभाव होते हुए दिखाई देता है। उदाहरण के तौरपर पानी की भरी हुई नदी की गतिके अनुकूल नाव बिना परिश्रमके या साधारण परिश्रम से ही हम जहां चाहें बहा ले जा सकते हैं। परन्तु उसके प्रवाह के विरुद्ध अगर नाव ऊपरकी ओर ले जाना चाहें तो हमें कहीं जादा परिश्रम करके सफलता मिलती है। इसी तरह इस विकृत वायु-मण्डल में एक सद्विचार मुकाबला नहीं कर सकता और अतएव उसका परिणाम होता हुआ नहीं दिखाई देता। परन्तु जो व्यक्ति अपने चारों ओर इन सद्विचारोंका वायुमण्डल बना लेता है, उसके सद्विचार शीघ्र कार्य करते हुए दिखलाई देते हैं। इतना ही नहीं उसपर बुरे विचारों का भी कोई प्रभाव नहीं पडता।

उदाहरणार्थ हम एक ऐसी व्यक्ति लेते हैं, जिसने अपने सद्गुणों से या सद्विचारों से अपने को ऐसा बना लिया है। लोकों में उसके प्रति विशेष सन्मान और आदर का भाव है। अब ऐसी व्यक्ति यदि कभी किसी को बुराभला भी कह दे तो उसका प्रभाव लोगोंपर बुरा न पड़कर अच्छाही पडता है। लोक समझते हैं, कि इसमें भी हमारा भलाही होगा। महात्मा पुरुषों के मुखसे अपशब्द या क्रोधपूर्ण या ऐसे ही नाराजगी पैदा करनेवाले शब्द निकलनेपर भी उनके अनुयायी गण उन्हें फूलोंकी तरह सिरपर चढाते हैं जब कि वही शब्द दूसरेके मुखसे निकलनेपर सिर फूटनेकी नौबत आ जाती है। हम भी अनुभव लेते रहते हैं, कि प्राय: जिस विषय के विचार हमारे में ज्यादा होते हैं, वह कार्य हमारे से अनजाने भी स्वयमेव हो जाता है। अत: जैसा विचारों का वायु-मण्डल बनाया जायगा, वैसा फल शीघ्र हासिल होगा।

हमारे विचारकों ने विचारों की इस महिमा को ध्यान में रखकर मनुष्य के जन्म से लेकर मरण तक १६ संस्कारों का निर्माण किया है। सत्संगति, सदाचार सद्व्यवहार, नीति आदिकी रचना भी इसी पाये पर की गई है।

यह भी जाने दीजिये। इन विचारों की शक्ति को देखने के लिए पाश्चात्य जगत् की ओर आईये। अमेरिका में तथा युरोपमें पीछली एक दो शताब्दियों से जो विचारों के सम्बन्ध में खोज हुई है, उसे पढकर या सुनकर अक्ल काम नहीं करती। वहांपर विचारों के बलसे ऐसे ऐसे आश्चर्यजनक कार्य करके दिखाये गये हैं, कि आज विचारों की अद्भुत शक्ति को स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं। आपको यह सुनकर आश्चर्य हुए बिना न रहेगा, कि वहांपर इस समय ऐसी खोज हो रही है, कि जिस तरहसे रेडीयो या टेलीफोन की मशीन दूसरेके विचारोंको अनन्त दूरी से ग्रहण कर सकती है, ठीक उसी प्रकार भविष्य में मनुष्यका मन भी अनन्त दूरीपर बैठे हुए अपने इष्ट मित्रोंका विचार ग्रहण कर सकेगा। हम बिना ही बातचीत किए हुए अर्थात् मुंहसे बिना ही शब्द बोले एक दूसरे के विचारों को जान सकेंगे, परस्पर विचारविनिमय कर सकेंगे। आज भी स्थान स्थान पर ऐसे अद्भुत शक्तिवाले मनुष्य मौजूद हैं, जिनके कि सामने जाते ही वे कह देते हैं, कि तुम्हारे दिलमें अमुक विचार है। हम यह सब कुछ तभी मानेंगे

जब कि पाश्चात्य विद्वान् उसे अपने शब्दोंमें हमारे पास रखेंगे। यह है जमाने का फेर !

साधन ।

हमारे प्राचीन ऋषिमुनियोंने इसी सिद्धांत के आधार पर जप एवं मन्त्रसाधना की रचना की थी। नित्य प्रति एकसे विचार लानेके लिए तथा उन्हें दृढ बनाने के लिए उस उस विचार व भावनाप्रतिपादक शब्दों की रचना की थी। उसीका नाम मन्त्र है। मन्त्रका अर्थ ही विचार है। मन्त्र-साधना का अर्थ हुआ विचारसाधना। इसीलिए हरेक भाषा के ज्ञाता मन्त्रसाधक हो सकते हैं। तलवार स्वयं काट नहीं सकती। तलवार का काटना न काटना उसके चलानेवाले के ऊपर तथा उसके प्रयोग की विधिपर निर्भर है। इसी प्रकार शब्द की हालत है। कल्पना कीजिए कि एक अपशब्द है। जो आदमी या शख्स उस भाषा को नहीं जानता, उस के सामने आप लाखवार बोलिए, चिल्लाईये उसे कुछ न होगा! पर जो उस शब्द के भाव को समझता है, उसके सामने धीरे से भी कहिए वह मारामारीके लिए उतारु हो जायगा। इससे स्पष्ट हुआ कि विचार का महत्त्व है शब्द का नहीं। अब उसकी प्रयोगविधिपर विचार करते हैं। आपने किसी को लाडप्यारमें कुछ अपशब्द कह दिया, तो उसका वह फल नहीं होता कि जो आप उसे चिडाने की हालत में कहते हैं। उस अवस्था में बहुत सम्भव है, कि वह आपका सिर ही फुडवाने में सहायक हो। इस प्रयोग की विधि को और भी सूक्ष्म रूपसे जरा विचार करते हैं।

उदाहरण के लिए ' साला ' शब्द लेते हैं, जिसका कि सभ्य भाषा में अर्थ ' पत्नी का भाई ' होता है। पहले उदाहरण में एकही शब्द एकही व्यक्तिके प्रति भिन्नभिन्न विधिसे प्रयुक्त किया गया था। यहांपर एक ही शब्द भिन्नभिन्न दो व्यक्तियोंपर प्रयुक्त करते हैं। जो वस्तुतः ' साला ' होगा, वह उसे सुनकर शांत रहेगा। उसके मनमें उससे किसी भी तरह का विकार नहीं होगा। पर किसी ऐरेगैरेको रस्ते चलते हुए ' साला ' कह दीजिए। देखिए क्या परिणाम होता है। इसी को महाभाष्यकार पतंजलि मुनि कहते हैं कि–

> मन्त्रो हीनो स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेंद्र-शत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥

यह वाणीरूपी वज्र ऐसा भयंकर है, कि प्रयोग-कर्ता का सिर फोड देता है। पतंजलि मुनि कहते हैं. कि स्वर या वर्णन की हीनता से प्रयुक्त मन्त्र (विचार) अभिप्रेत अर्थ (फल) नहीं देता। सिर्फ स्वर की भूलसे ही बिचारा इन्द्रका शत्रु नष्ट हो गया। वाणीरूपी वज्रने उसका खात्मा कर दिया। यहांपर प्रयोग की विधिमें दो भूलें बतायीं गई हैं। (१) स्वर तथा (२) वर्ण।

वर्ण– हम पहले थोडासा वर्णपर विचार करते हैं। क्यों कि यह सुगम है। किसी भी शब्द या वाक्य की वर्ण के अभावसे अपूर्णता रह जाती है, यह स्पष्ट ही है। और वाक्य की अपूर्णता भाव की विचार की अपूर्णता है। पूर्ण वाक्यके विना विचार प्रकट होही नहीं सकते। वर्ण की अपूर्णता दो प्रकार की है।

(१) वर्ण का सर्वथा प्रयोग न करना, या (२) अशुद्ध वर्णका प्रयोग करना। दोनों ही अर्थ के ज्ञापन में असमर्थ हैं। वर्ण से शब्द व शब्द से वाक्य बनता है। शब्द कभी कभी विशेष दशामें स्वयं अकेला भी अर्थ बतलाता है। और सामान्य अव-स्थामें शब्द से बने वाक्य अर्थद्योतक रहते हैं। इस सबका मूल जनक (घटक) वर्ण है, अतः उस के अप्रयोग या विप्रयोग दोनों से ही अर्थहानि होती है।

स्वर– स्वरका मिथ्या प्रयोग का अर्थ है भावका मिथ्या प्रयोग। जिसे हम शब्दप्रयोग की विधिके नामसे ऊपर कह आए हैं। यह स्वरप्रयोग भी तीन प्रकारका है। (१) जानबूझकर प्रयोग करना। (२) अज्ञानवश प्रयोग करना। (३) मिथ्या-अशुद्ध प्रयोग करना। तीनों अवस्थायें फलदायक हैं। वर्ण की तरह इस की अवस्थायें निष्फल नहीं।

इसकी अवस्थायें प्रत्याघाती होती हैं। वर्ण की अवस्था में तो भूलसे ही यही होगा, कि कार्यसिद्धि नहीं होगी, पर इसके विफल प्रयोग से तो कार्यसिद्धि होगी ही नहीं, पर उलटा कार्यका बिगाड होगा व प्रयोगकर्ताभी बिचारा मारा जायगा, या हानि होगी। प्रयोग का प्रत्याघात प्रयोगकर्तापर निश्चित रूपसे होगा।

इसको समझने के लिए हम उदाहरण लेते हैं- उक्त 'साला' शब्द को ही फिर लेते हैं। किसी को जानबूझकर 'साला' कहा गया, तो उसका वही अर्थ सामनेवाला लेता है, जो कि प्रयोगकर्ताके दिल में था। अतः उसका फल भी वही होता है, जो अभिप्रेत होता है। अगर किसीने अज्ञानवश प्रयोग किया तो उसका फल उलटा होता है। प्रयोगकर्ता को जिस बातकी कल्पना भी नहीं होती, वह फल आ पडता है। इसके लिए एक मनोरंजक उदाहरण पाठकों के सामने पेश किया जाता है।

वैदिकसंपत्ति'के रचयिता श्री पंडित रघुनन्दन शर्माने एक वार बातचीतमें एक मनोरंजक घटना सुनाई थी, जो कि इस प्रकार है। एक वार वे कहीं किसी जंगलात की मुलाकात लेनेके लिए गए। वे जंगलात के ओफीसर- रेंजर के पद पर नियुक्त थे। एक जंगलके गांवके बाहर उन्होंने अपने खेमे लगवाये और शामका समय होनेसे रातको वहीं मुक्काम करनेका निश्चय किया। रशदपानी की व्यवस्थाके लिए आसपास नौकर दौडाये। एक आदमी को गांव में से कुछ दूध लानेके लिए भेजा। उसने गांवमें एक दूध बेचनेवाली स्त्रीसे दूध मांगा। अब बात यह थी, कि वहां की भाषा में दूध अपशब्द (गाली) समझा जाता था। वहां दूध को गोरस कहा जाता था। उस नौकर को इस बातका पता न था। उसने जाकर सरल सीधे स्वभावसे कहा कि हमें अमूक पैसे का दूध चाहिए।

पहले तो वह बाई कुछ न बोली और चुप होकर अपने काम में लग गई। नौकर ने यह समझकर कि शायद उस बाई को यह पता नहीं चला कि मैं क्या मांग रहा हूं, उसने पुनः पुकार कर दूध के लिए कहा। इसवार उस स्त्रीने जरा कडी निगाह करके उसे ताकीद दी कि जरा मुंह संभालकर बोलो। उस बिचारेने समझा कि मैंने कुछ जोर से कहा था, अतः वह बाई चिढ गई। इस लिए तीसरी वार उसने पुनः धीरेसे पूर्ववत् संभालकर सभ्यता से फिर दूधकी मांग पेश की। फिर क्या था। उस स्त्रीने जो शोर मचाया तो आधा गांव जमा हो गया।

आखिरको वह सरकारी आदमी था, अतः उसपर हाथ तो न चलाया गया, पर शीघ्र ही ग्रामके मुखिया को बुलाकर कहा गया, कि इस आदमीने एक स्त्रीके साथ बेअदबी की है, अतः उसे रेंजरसाहेब के पास ले जाकर सजा दिलवाई जाय। गांवके कुछ आदमी, मुखिया तथा वह नौकर सब पंडितजीके पास आए। और उस नौकर के प्रयुक्त अपशब्दोंके बारे में शिकायत पेश की गई। नौकर बिचारा घबरा गया। वह सोचने लगा कि मैंने न तो किसीसे मजाक ही की थी न किसीसे कुछ कहा ही है। और फिर भी यह गालीगलौच का आरोप कैसा? पंडितजीने नौकर को डांटकर पूछा, कि तूने क्यों गाली बकी? क्या ये सब झूठे हैं? नौकरने बडी बेअदबी से जबाब दिया की- साहेब! मैंने तो कुछ भी नहीं कहा। सिर्फ वहां जाकर उस स्त्रीसे पैसे देकर दूध मांगा था।

दूध शब्द के सुनते ही उन ग्रामवासियों में से एक चिल्लाकर कहने लगा, कि साहेब उसने वहांपर भी यही गाली बकी थी। और उस स्त्रीके बार बार मना करनेपर भी वह यही गाली बकता रहा! अब पंडितजी के समझ में बात आई, कि यह मामला क्या है? उन्होंने उन सबको समझाकर कहा कि उस बिचारेने तुम्हें कोई अपशब्द नहीं कहा। वह तो दूध मांग रहा था, जिसे कि तुम गोरस कहते हो। उस बिचारे को क्या पता कि तुम्हारी भाषामें दूध को गोरस कहते हैं? और दूध शब्द अपशब्द वाचक है? अस्तु। कहने का अभिप्राय यह है कि

यह अज्ञानवश प्रयुक्त स्वर का फल है।

स्वरोच्चारण की तृतीय विधि है अशुद्ध प्रयोग करना। इसके लिए उक्त मन्त्रमें ही दुष्परिणाम दर्शाया गया है, कि इन्द्रके शत्रु राक्षसने इन्द्रका विनाश करने के लिए यज्ञ किया। पर जब इन्द्र-शत्रु शब्द के प्रयोग का वख्त आया तो भूलसे तत्पुरुष के स्थानमें बहुव्रीहि का प्रयोग किया और उसका फल यह हुआ कि वह मन्त्र-प्रयोक्ता न होकर इन्द्र हो गया और इन्द्र के स्थान में वह स्वयं वध्य हो गया। अपनी तलवारसे अपनीही गरदन काट ली। क्योंकि उसे चलाना न आया। अतएव गलत चल गई। इसे पूर्व उदाहृत 'साला' शब्दसे भी समझा जा सकता है। जो साला नहीं है, उसे साला कहने से मिथ्या प्रयोग हुआ। जिसका फल क्या होगा यह स्पष्ट ही है। वह वाग् वज्र पिटवाने के लिए फौरन तैयार रहेगा!

इस स्वर का भाषा में एक और भी तरह प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ एक वाक्य लेते हैं कि 'चोर जाता है'। साधारणतया एक मनुष्य जब यह कहता है, कि चोर जाता है तो उसका निश्चयात्मक अर्थ-बोध होता है। पर वही वाक्य जब प्रश्नार्थक रूपमें प्रयुक्त होता है कि 'चोर जाता है?' तो उसका अर्थ संदेहास्पद हो जाता है।

अस्तु। इस सबके पीछे हम देखते हैं कि अमुक भाव व विचार कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः उन्हीं विचारों का फल है कि ये शब्द भिन्न भिन्न झगडे खडे करते हैं। अगर वे विचाररहित हों यानि निरर्थक हों-भावशून्य हों तो उनका कोई मूल्य नहीं। जैसे पशु के शब्द। अतः इन विचारों में कितनी ताकत है, यह इससे स्पष्ट हुआ। वस्तुतः भाषा विचारों को मूर्त स्वरूप देनेके लिए ही रची जाती है। एक दूसरे के विचार समझने व विनिमय करनेके लिए ही भाषा की रचना की जाती है। विचारों के आधार बिना की भाषा ही भाषा नहीं कहलाती।

मन और जप।

हमारे शरीर में मन विचारों का उद्गम-स्थान है। उसीसे भलेबुरे विचार निकलते रहते हैं। मनही तमाम भलाई बुराईयों की जड है। अतएव कहा हैकि-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् 'मनुष्य के बन्धन और मुक्ति में मनही एकमात्र कारण है।' जपका रहस्य समझने के लिए मनपर विचार करना नितांत जरूरी है। उससे जप का रहस्य खोलने में बडी सहायता मिलती है। इस मनकी विलक्षण शक्ति का यजुर्वेद में बडा सुन्दर वर्णन आता है। हम यहांपर उन मन्त्रों को देते हुए साधारण ही निर्देश करेंगे +।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव-
सङ्कल्पमस्तु॥　　(यजु० ३४-१)

अर्थात् जो दिव्य शक्तियोंवाला मन जागृत अवस्था में दूर दूर जाता है और निश्चय से वह सोते हुए भी वैसा ही दूर चला जाता है, ऐसा वह दूर जानेवाला, ज्योतियों का एकमात्र ज्योति मेरा मन शुभ सङ्कल्प- विचार करनेवाला होवे।

यहां पर मन की अन्य शक्तियों के साथ विशेष विलक्षण शक्ति यह बताई है, कि मन जागते हुए और सोते हुए दोनों अवस्थाओं में दूर जाता है। हम उसे अपनी इच्छा से जहां चाहे दूर भेज सकते हैं। परन्तु यह एक प्रकारकी सिद्धि है जो साधारण अवस्था में हमें प्राप्त नहीं। यदि हम मनको अपनी इच्छा से जहां चाहें वहां भेज सकें तो हम यहां पर बैठे बैठे सब कुछ जान सकते हैं।

+ (जिन को इस विषय में विशेष रस हो उन्हें चाहिए कि वे 'शिवसंकल्प का विजय' नामक पुस्तक 'स्वाध्यायमण्डल, औंध, (जि. सातारा) के पते से मंगवा कर उसका मनन करें। श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीने अत्यन्त सुन्दर व रोचक शैलीसे उक्त पुस्तक लिखी है। ऐसी अमूल्य पुस्तक का मूल्य उन्होंने प्रचारार्थ सिर्फ आठ आने रखा है।)

इसी प्रकार सोते हुए भी मन वास्तव में कहीं जा आता है तो हमें सत्यस्वप्न के द्वारा वह घटना यथार्थ रूपमें पता चल जाती है। यही भी एक प्रकार की सिद्धि है। साधारण अवस्था में हमें जो स्वप्न आते हैं, उनमें मन कहीं गया हुआ नहीं होता। उस समय मन वहीं होता है और हमारी अगली पिछली घटनायें ऊटपटांग रूपमें हमें स्वप्न में मालूम देती हैं।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विद-थेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥　　(यजु० ३४-२)

जिस मन से (अपसः) पुरुषार्थी (धीराः) धीर (मनीषिणः) मनका संयम करनेवाले लोग (यज्ञे) यज्ञादि सत्कार्य में, (विदथेषु) युद्धादि में (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्म करते हैं, (यत्) जो मन (प्रजानां अन्तः) प्रजाओं के बीचमें (अपूर्वं यक्षं) अपूर्व पूज्य है (तत् मे मनः) वह मेरा मन शुभ-सङ्कल्पवाला हो।

यहां पर बताया कि (१) सब प्रकार के शुभा-शुभ कार्य मन से ही किये जाते हैं। अतः उसका शुभ सङ्कल्प होना जरूरी है। यह मन सब प्राणि-मात्र के अन्दर है। कोई भी प्राणि बिना मन का नहीं।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥　　(यजुः ३४।३)

जो मेरा मन (प्रज्ञानं) ज्ञान (चेतः) चिंतन-शक्ति और (धृतिः) धैर्यसे युक्त है तथा जो (प्रजासु अन्तः अमृतं) प्रजाओंमें अमृत है और (ज्योतिः) तेजोरूप है, (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किंचन कर्म) कोईसा भी कार्य (न क्रियते) नहीं किया जाता, वह मेरा मन शुभसंकल्प हो।

इस मन्त्रमें बतलाया है कि (१) मनमें ज्ञान, चिंतन (विचार), और धीरता के गुण हैं। (२) मन अमृत है, मरता नहीं। (३) मनके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु ॥　　(यजुः ३४। ४)

(येन अमृतेन) जिस अमर मनने भूत भवि-ष्यत् और वर्तमान आदि सब कुछ का परिग्रहण किया हुआ है, अर्थात् जो भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि सब कुछ जानता है, (येन) जिसके कि द्वारा (सप्त होता यज्ञः) सात ऋत्विजों द्वारा होनेवाला यज्ञ (तायते) बढाया जाता है, वह मेरा मन शुभसंकल्पवाला हो।

यहांपर बताया गया है कि (१) यह मन भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान आदि सब कुछ जानने-वाला है। (२) ५ ज्ञानेन्द्रिय अहंकार तथा बुद्धि द्वारा किया जा रहा, यह जीवन-यज्ञ उस मनद्वारा ही हो रहा है। उसी द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथ-नाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥　　(यजुः ३४।५)

(यस्मिन्) जिस मनमें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (रथनाभौ आराः) रथनाभि में आरोंके समान (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं, और जिसमें सब प्रजा-ओंका चित्त ओतप्रोत है, वह मेरा मन शुभसंकल्प-वाला हो।

इस मन्त्र में बतलाया गया है, कि (१) मनमें सब वेदादि शास्त्र तथा अन्य ज्ञान ओतप्रोत हैं। अर्थात् मनद्वारा ये सब जाने जा सकते हैं। (२) मनमें ही सब प्रकार का चिंतन रहता है। सब प्रकारके विचार मनमें ही रहते हैं व मनसे ही किए जाते हैं।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभि-र्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥　　(यजु। ३४।६)

जिस प्रकार (सुसारथिः) अच्छा सारथी (अश्वान्) घोडोंको उत्तम रीतिसे चलाता है, उसी प्रकार (यत्) यह मन (मनुष्यान्) मनुष्य के

इन्द्रियरूपी घोडोंको (अभीशुभिः) लगामों द्वारा चलाता है और जो यह मन (हृत्प्रतिष्ठं) हृदय में रहता हुआ (अजिरं) अजर और (जविष्ठं) वेगवान् है, वह मेरा मन उत्तम शुभसंकल्पयुक्त होवे !

इस में बताया है कि रथ का सारथि जिस प्रकार लगामों से घोडोंको काबूमें कर के ठीक ठीक चलाता है, उसी प्रकार यह मन इन इन्द्रियरूपी घोडों को चलाता है। अर्थात् (१) मनका इन्द्रियोंपर शासन है, वह इन्द्रियोंका पथप्रदर्शक है। (२) शरीर में मनका स्थान हृदय है। मन हृदय में रहता है। (३) मन अमर है। (४) मन अत्यन्त वेगवान् है।

अब हम मनके सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानोंके विचारों का अवलोकन करते हैं। ऊपर हमने संक्षेप से वेद में जो मनका वर्णन आया है वह दर्शाया है। उससे मनका अच्छासा ख्याल आ जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनके सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है। उनके मतानुसार मन के दो विभाग हैं। उन्होंने इस मनके रहस्यका उद्घाटन जिस प्रकार से किया है, उसका संक्षिप्त विवेचन नीचे देते हैं-

पाश्चात्य विद्वान् और मन।

(१) मन क्या है ?

मन क्या है और किस वस्तु का बना हुआ है, इसका विवेचन विद्वान्‌गण अपने अपने ढंगसे अलग अलग करते हैं। डोक्टर मोडस्ले का कथन है, कि मन विचार-शक्ति, भावना, इच्छा और संकल्प-शक्ति का सारांश (The sum total of thinking, feeling and willing) ही है।

पाश्चात्य विद्वान् आत्मा जैसी कोई वस्तु अभी तक नहीं मानते। अतः मनका लक्षण करते हुए वे उन सबके सब गुणों को मन में ही बतलाते हैं, जिनमें से बहुतसे मनके न होते हुए आत्मा के अपने हैं।

(२) मनके प्रकार तथा उसकी कार्यक्षमता।

पाश्चात्य विद्वानों के मतसे मनुष्य के मनके दो प्रकार हैं। एक प्रकट और दूसरा गुप्त। प्रकट मन को ही बाह्य मन, चेतन मन और जाग्रत मन (Objtctive mind, conscious mind) कहा जाता है। जब कि गुप्त मनको अचेतन मन, अन्तर मन, और प्रसुप्त मन (Subjective mind या uuconscious mind या Subliminal self) कहते हैं।

(३) दो मनोंके अस्तित्वमें प्रमाण।

जिन जिन्होंने स्वप्न देखे होंगे, उन्हें कभी न कभी ऐसा ख्याल जरूर आया होगा, कि हमारे दो मन होने चाहिए। जागृत अवस्थामें हमारे नित्यप्रतिके कार्य दिमाग की मदद से चलते रहते हैं। जब हम सोते हैं तब हमारा मस्तिष्क निष्क्रिय हो जाता है। दूसरे शब्दों में जिस अवस्थामें हमारा दिमाग आराम ले रहा होता है, उसे हम निद्रा का नाम देते हैं।

हमें यह भी अनुभव है कि जिस अवस्थामें हमारा मन विश्रांति ले रहा होता है, उस अवस्थामें भी हमारे अन्दर कोई मानसिक शक्ति कार्य कर रही है। प्रायः स्वप्नों का और जागृत अवस्थाके विचारों का परस्पर सम्बन्ध दिखानेका प्रयत्न किया जाता है। परन्तु यह सम्बन्ध कुछ अंश में ही दिखाया जा सकता है। कुछ ही प्रसंगों में यह सम्बन्ध घटाया जा सकता है। वस्तुतः स्वप्न व हमारे प्रत्यक्ष अनुभवोंका परस्पर कोई खास सम्बन्ध नहीं। ऐसा भी देखा गया है, कि कभी कभी जो कार्य मनुष्य को उसकी अपनी जागृत अवस्थामें होने असंभव प्रतीत होते हैं, वे निद्रावस्थामें कार्य करनेवाली मानसिक शक्तिद्वारा अत्यन्त सुगमतासे- अनायास ही हो जाते हैं।

एक गणितशास्त्रीने एक प्रश्न हल करने का बहुत प्रयत्न किया, पर कुछ न बना। एक रातको

उसी सवाल को छोडते छोडते उसे उसी अवस्थामें नींद आ गई। सबेरे उठते ही उसने आश्चर्यके साथ देखा कि वह सवाल हल हो गया है!

जागृत अवस्थामें कभी भी ख्याल में न आनेवाले विचार स्वप्न-अवस्था में यथार्थ रूपमें ज्ञात होते हुए प्रतीत हुए हैं। दुनियाका कोई गूढ रहस्य भी स्वप्न-स्थिति में खुलता हुआ अनुभव किया गया है। यही नहीं स्वप्नस्थिति में कार्य करनेवाले मनके लिए दिशा व काल की मर्यादा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ कई वार हजारों कोस दूरी परके सत्य समाचार भी हमें स्वप्न में मिलते हैं। इन बातों के ताजेसे ताजे उदाहरण भी पेश किए जा सकते हैं। ऐसी घटनायें प्रायः घटती रहती हैं।

इन सब बातों से ऐसा जान पडता है, कि जो जो अद्भुत शक्तियां जागृत अवस्थावाले मनके पास नहीं वे वे शक्तियां निद्रावस्था के मनके पास हैं। उपरोक्त उदाहरणों का रहस्य उद्घाटन तभी हो सकता है जब कि दो मन माने जांय।

यह अन्तर्मन इस दृष्टि से इतना अधिक कमजोर है, कि वह बाह्य वस्तुओं की प्रेरणा का शीघ्रही शिकार हो जाता है। उदाहरण के तौर पर साधारण व्यवहार में जो बातें कभी सत्य नहीं मानी जा सकती, ऐसी बहुतसी बातें हम स्वप्न में देखते हैं। जैसे कि स्वप्न में हजारों फीट लम्बे आदमियों का दीखना, अपने को मरा हुआ देखना, अपने ही प्रेत का संस्कार होता हुआ देखना, ऊंचे ऊंचे पर्वतोंपर से गिरना इत्यादि।

इन सबका अभिप्राय इतना ही कि जागृत अवस्था में जिस मनद्वारा इन बातों के सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है, वह उस समय गैरहाजर होता है और दूसरा ही कोई मन उस समय कार्य कर रहा होता है। इस मनको सारासार का जरा भी ख्याल नहीं होता। किसी भी तरह की बाहरसे सूचना मिली कि यह बहक जाता है। इस विषयक एबर क्रॉबी नामक ग्रंथकारने एक परीक्षण किया था। उसने एक सोते हुए आदमी के पैरोंपर उबलते हुए पानी की शीशी रखी। उससे उस आदमी को ऐसा स्वप्न आया कि 'वह एटना नामक ज्वालामुखी पर्वत के पास के गरम मुल्कमें से मुसाफरी कर रहा है'। ऐसाही एक और रोचक उदाहरण उक्त ग्रंथकारने दिया है कि- 'एक गृहस्थ अपने कमरे में सोया हुआ था। खिडकी में से सॉय सॉय शब्द करती हुई ठंडी हवा चल रही थी। अचानक उस गृहस्थ के ऊपर का ओढा हुआ वस्त्र उड गया और इससे उसे ऐसा स्वप्न आया कि वह हडसन के उपसागर के निकटस्थ स्थानों में वह सरदी की मौसिम बिता रहा है और उसे भयंकर ठंडी लग रही है।

ऐसे ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इतना ही नहीं हम में से छोटेसे लेकर बडे तक प्रायः सभी को ऐसे स्वप्न देखनेका मौका आया ही होगा। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि हमारे दो प्रकार के मन हैं। यही नहीं इन दोनों मनोंके गुण-धर्मभी पृथक् पृथक् हैं। और अतएव वे भी दोनों पृथक् पृथक् हैं।

एक और सबल प्रमाण।

स्वप्नसृष्टिके मनके चमत्कारों के लिए उपरोक्त पुरावों के अतिरिक्त एक और प्रकारका भी पुरावा दिया जाता है। वह यह कि मोहनिद्रा (Hypnotism) के विषयमें प्रायः बहुतसे पाठक जानते होंगे। इसमें किसी व्यक्ति को किसी खुरशी या अन्य ऊंचे आसनपर बैठाकर आंखें बंद करनेको कहा जाता है। तब उसके शरीरपर हस्तसंचार (Passes) करके उसे निद्रावश किया जाता है। तत्पश्चात् उस से बहुत से चमत्कारपूर्ण कार्य कराए जाते हैं।

वस्तुतः यह मोहनिद्रा और कुछ नहीं। जागृत अवस्थावाले मनको हटाकर उसके स्थानपर स्वप्ना-वस्थावाले मनको लाकर उससे वे सब कार्य करालिए जाते हैं। मोहनिद्रित (Hypnotised) मनुष्यको जो जो कुछ आदेश किया जाता है, वही उसे सत्य प्रतीत होता है। उसके हाथमें मिट्टीका ढेला रखकर उसे कहा जाय, कि यह 'पेढा' है इसे खा। तो वह

निःसंकोच उसे पेढेकी तरह खाने लगता है। उसे कहा जाय कि तू राजा है तो वह राजा की तरह आचरण करने लग जाता है।

मोहनिद्राद्वारा ऐसे ऐसे विलक्षण चमत्कार बडी ही आसानीसे किए जाते हैं। यह बात क्या बतार्ती है? निःसंदेह इससे दो मनों का अस्तित्व सिद्ध होता है। जो मनुष्य जितना अधिक जागृतावस्था से दूर ले जाया जाकर निद्रावस्था को प्राप्त कराया जा सकेगा, उससे उतने अधिक चमत्कार दिखाए जा सकेंगे। इस सबसे जहां दो मनोंके होनेमें सबूत मिलते हैं, वहां इस सिद्धांतविरोधी एकभी सबूत हासिल नहीं हुआ। शल्यशास्त्र (Surgery) में भी दिवसानुदिवस इसी सिद्धांत के पोषकही प्रमाण उपलब्ध होते जा रहे हैं। विकासवाद (Evolution) के भी बहुतसे सिद्धांत इसीका पक्षपोषण करते हैं। इन मनोंके नाम जैसा कि हम ऊपर दे आए हैं, प्रकट मन (Objective mind) जागृतावस्था का मन तथा गुप्तमन (Subjective mind) निद्रावस्था का मन हैं।

दोनों मनोंके कार्यक्षेत्र।

हडसन साहेबने अपने 'मानसचमत्कार-नियम' (Law of Psychic Phenomena) नामक ग्रन्थमें जो दोनों मनों के कार्य दिए हैं, उनका सार यह है—

प्रकट मन- बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करना, पंच ज्ञानेन्द्रियों का भिन्न भिन्न पदार्थों के स्वरूपज्ञान के लिए प्रयोग करना और विवेकशक्ति। विवेकशक्ति इसका प्रधान कार्य है। यह प्रत्येक पदार्थ के गुणदोष विवेचना करता है। सहसा किसीपर विश्वास करके उसका ग्रहण नहीं करता। इसीको विचारशक्ति भी कहा जाता है। ऐसेही निर्णय करना आदि भी इसी मनमें रहते हैं। शरीर के तमाम बाह्य व्यवहारों के निरीक्षण का कार्य यही मन करता है।

इस मन के विशेष रूप से गुण इच्छाशक्ति, (Will-power), बुद्धि (Intellect) और भावना (Emotion) हैं।

गुप्त मन- इच्छा, बुद्धि और भावना ये प्रकट मन की तरह गुप्त मनमें भी हैं। परंतु इसमें एक गुण और भी शरीरपोषण करना (Nutrition) और भी ज्यादा है। तमाम शरीरव्यापारका संबंध इसके ज्यादा निकट है। प्रकट मनका स्थान मस्तिष्क है, ऐसा समझा जाता है, किन्तु इसका कोई एक स्थान निश्चित नहीं। यह शरीर में प्रत्येक स्थान में है। यहां तक कि प्रत्येक सूक्ष्म पेशी (cell) में भी इसका निवास है। हमारे किसी खास प्रयत्न के विना ही हमारे शरीर का योगक्षेम यथायोग्य चल रहा है, उसका एकमात्र कारण यही मन है।

इसमें प्रमाण ढूंढनेका गुण बिलकुल नहीं। किसी वस्तु के विषयमें ऊहापोह करना तो इसे बिलकुल पता नहीं। विचार करने का इसे एक ही प्रकार पता है और वह यह कि कोई भी बात किसीने कही कि यह उसे सत्य मानकर उससे यथासंभव तरह तरह के अनुमान निकालेगा। इसके इस स्वभावको (Deductive power) कहते हैं। यह अनेक बातों की तुलना कर उससे कोई खास परिणाम या सिद्धान्त निकालनेके झगडेमें नहीं पडता। यह तो उन सबको ही सत्य मान बैठता है। इसके इस स्वभावको मोहनिद्रा (Hypnotism) की हालतमें खूब अच्छी तरह देखनेको मिलता है। यदि किसी विद्वान्पर मोहनिद्रा (Hypnotism) का प्रयोग कर उसे किसी ऐसे सिद्धांतके विरोधमें कहा जाय, जिस सिद्धांत का जागृतावस्था में वह बडा भारी पोषक है; बडे आश्चर्य से तो हम देखेंगे कि वह उस अवस्था में उस सिद्धांतका सख्त विरोध कर रहा है। हम यदि उस समय उसके सामने उस सिद्धांत के पक्षमें कुछ कहेंगे तो वह और तेजीसे विरोध करना प्रारंभ कर देगा!

इसी प्रकार यह मन सूचनानुवर्ती (Amenable to suggestion) है। इसके इस गुणसे अनेक लाभ हैं। वर्तमान समयमें प्रचलित मानसोपचार तथा प्राचीन जमाने में प्रचलित जप-विधि आदि इसी गुणपर अवलंबित हैं। इसके इस गुणसे हम बच्चोंके

दुर्गुण मिटाकर उनमें सूचना द्वारा अच्छेसे अच्छे गुण भर सकते हैं। मनुष्यों के तमाम प्रकार के शारीरिक कष्ट भी दूर कर सकते हैं।

इस मनमें एक और विशेष गुण है जो कि प्रकट मनमें नहीं। वह यह कि इसमें ' अन्तः-प्रवृत्ति ' (Instinct) है।

उपरोक्त विवेचनकी संक्षेपसे संग्रहरूपमें नीचे दिया गया है, जिसमें दोनों मनके अपने अपने गुण-धर्म दिए गए हैं-

प्रकट मनके गुणधर्म।

१. प्रमाणशोधकत्व (Inductive reasoning)

२. सिद्धान्तानुप्रवाहित्व (सदोष) (Imperfect deductive reasoning).

३. स्मरणशक्ति (सदोष), (Imperfect power of recollection).

४. विकारानुभव का स्मरणस्थान- (Brain memories of emotional experiences).

गुप्त मनके गुणधर्म।

१. अन्तःप्रवृत्ति (Instinct or Intuition controlled by suggestion).

२. सूचनानुवर्तित्व (Controlled by suggestion).

३. सिद्धान्तानुप्रवाहित्व (निर्दोष) (Perfect deductive reasoning).

४ स्मरणशक्ति (निर्दोष) (Perfect memory)

५. विकारका स्थान- (The seat of the emotions).

६. विचारसंक्रमणशक्ति (Telapathic powers)

७. गतिहेतुक शक्ति (Kinetic energy).

गुप्त मनकी अद्भुत स्मरणशक्ति।

गुप्त मनका प्रकट मनकी तरह भूलने का स्वभाव नहीं। छोटीसे छोटी बात भी जो एक वार गुप्त मन के पास पहुंची कि वह स्थिर हो जाती है। गुप्त मन उसे कभी भी भूलता नहीं। इसकी इस शक्तिका अनुभव गुप्त निद्रा (Hypnotism) के बहुतसे प्रयोगों में अच्छी तरह से आ जाता है।

हमारे इस मनमें नाना प्रकारके ज्ञान, अनुभव रह सकते हैं। जागृतावस्थामें हमें उनका ख्याल तक नहीं होता। परंतु पागलपनमें, निद्राभ्रममें या ऐसी ही बुखार आदि की चित्तभ्रमकी अवस्थामें वे सब अदृश्य ज्ञान जो कि गुप्त मनके भण्डार में छिपे पडे होते हैं, प्रकट होते हैं। इस बातका एक मनोरंजक उदाहरण जो कि मिस्टर कोलरिजने अपनी पुस्तक में दिया है, यहां पेश करते हैं।

' जर्मनी के एक शहर में एक २४-२५ वर्ष की कोई युवती रहती थी। वह पढी लिखी बिलकुल न थी। एक वार उसे भयंकर बुखार आया। उस ज्वर का प्रकोप इतना बढा कि वह स्त्री लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओं के पुस्तकों के उतारे उतारे बडबडाने लगी। शहरे के लोकोंने समझा कि इसके पीछे कोई विद्वान् भूत लगा है। दूर दूर से लोक इस घटना को देखने आने लगे। एक तरुण डोक्टर को इसके इस लोकोंद्वारा किए जाते उपरोक्त समाधान से सन्तोष न हुआ और उसने इसकी वास्तविक खोज करनेकी अपने मनमें ठानी। उसने उस स्त्रीकी वह तमाम बडबड उतार ली। तब उस स्त्रीका उसने पता करना प्रारम्भ किया, कि वह पहले कहां थी, क्या करती थी और यहां कैसे आई, इत्यादि।

उसने अत्यन्त छानबीन के पश्चात् उस स्त्रीके माबाप का पता किया। वहां जाकर पता चला कि उसके माबाप तो मर चुके हैं, पर उसका चचा अमुक स्थानपर है। उसके चचाके पास जाकर पता करने-पर पता चला कि उस लडकी के माबाप छोटी अवस्थामें गुजर जानेके कारण एक विद्वान् प्रॉटेस्टैंट धर्मगुरुने उसे छोटी छोटी अवस्थामें पालापोषा था। इससे ज्यादा उसे पता न था। इसके बाद पुनः खोज करनी प्रारंभ की। बडी मुश्किलसे आखिरकार

उस पादरी की भतीजी का पता मिला। उस से पूछनेपर उसने सब हकीकत कह सुनाई। उसे सब कुछ पता था। उससे पता चला कि वह स्त्री तथा यह भतीजी नित्यप्रति जब कि साथके रसोई घरमें कार्य करती होतीं थीं तब उसका चचा बडे ऊँचे ऊँचे स्वरसे उपरोक्त उतारे अपने पसंदगीके ग्रन्थों में से पढा करता था। उन ग्रन्थों में से जब ये उतारे मिलाए गए तो ठीक वैसे के वैसे ही पाए गए। इस प्रकार अन्तमें इस रहस्य का उद्घाटन हुआ।

इस उदाहरण से इस बात का भली भांति ख्याल आ सकता है, कि गुप्त मन की स्मरणशक्ति कितनी जबरदस्त है। परन्तु यदि इस गुप्त मन के ऊपर प्रकट मनका आधिपत्य न होता तो हमारी हालत पागल या सन्निपात ज्वरसे पीडित रोगी की तरह हो जाती।

इस सारे लंबे चौडे विवेचनसे यह बात स्पष्ट हुई कि-

हम जो कुछ जान बूझकर करते हैं, वह इस प्रकट मन द्वारा होता है। और निद्रा, समाधि तथा अन्य बेभान अवस्थामें जो कुछ कार्य होता उसमें यह गुप्त मन जाग्रत होकर कार्य करता है। प्रकट मन विचार करने में और निरीक्षणमें लगा हुआ रहता है। चेतना-अवस्थामें जितने भी कार्य होते हैं, उन्हें वह कराता है। परन्तु ज्योंही भान गया कि वह भी चला जाता है।

शरीर का पोषण, वृद्धि, संगठन आदि कार्य गुप्त मनके शासन से होते हैं। यह गुप्त मन रात-दिन स्वतन्त्रतासे अपने कार्य करता रहता है। हमारे आसपास जो भी कुछ हो रहा है, उन सब बातों का वह पता रखता है। वह हरेक बात को वैसी की वैसी ही स्मरण रखता है। सभी स्नायुजालपर (Sympathetic nervous system) गुप्त मन का अधिकार है।

प्रकट मन गुप्त मनसे इच्छानुकूल कार्य करा सकता है। जब शरीर में कोई कार्य अव्यवस्थित हो जाता है, तो प्रकट मन जो कुछ आदेश करता है, उसे गुप्त मन स्वीकार कर उसकी आज्ञापालन करता है।

गुप्त मनके विषय में प्रायः हम सबको अनुभव लेनेका मौका आया हुआ होता है। हम कई वार किसी चीज का स्मरण करते हैं, पर बहुत सोच विचारनेपर भी उसकी याद नहीं आती। आखिरको हार कर हम उसे फिर के लिए छोडते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि कई वार बहुत शीघ्र ही या कई वार विलंब से उस अवस्थामें जब कि हमें उस बात का ख्याल तक नहीं होता एकदम वह वस्तु स्मरण हो आती है! यह कैसे हुआ? वस्तुतः बात यह है कि जब हम उस बातको सोचने का प्रयत्न कर रहे होते होते हैं तब हमारा प्रकट मन गुप्त मनको उस बातको पता करनेका प्रयत्न करता रहता है। परन्तु जबतक दोनों मनोंका एकीकरण न हो जाय तबतक गुप्त मनसे प्रकट मनमें विचारधारा नहीं बह पाती। ज्योंही दोनों मिले कि विचारप्रवाह एक दूसरे में आने लगता है हमें झट बात स्मरण हो आती है। बातके देरमें याद आने का यही मतलब होता है, कि दोनों मन परस्पर तबतक मिल नहीं सके। गुप्त मन संदेश पहुंचाने के लिए हर समय तैयार रहता है, पर प्रकट मन ही उसे ग्रहण करने में कभी शीघ्रता करता है तो कभी देर लगाता है।

यहांपर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है, कि यदि गुप्त मन सब बातोंका भण्डार है, उसकी स्मरण-शक्ति चिरस्थायी है और वह अद्भुत शक्ति रखता हुआ प्रकट मनका आज्ञाकारी भी है, तो फिर ऐसी अवस्थामें प्रकट मनके आज्ञा करनेपर कार्य तत्काल क्यों नहीं हो जाता? कार्य में विलंब क्यों होता है?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर जैसा कि अभी ऊपर बताया है कि प्रकट मनद्वारा गुप्त मनको दी गई आज्ञा गुप्त मनको पहुंचाने में तथा उसका जबाब या फल पाने में प्रकट मन स्वयं देरी करता है। प्रकट मन

गुप्त मनतक पहुंचनेमें जो विलंब करता है, उसी का परिणाम यह है। प्रकट मन गुप्त मन के पास तबतक नहीं पहुंच सकता जबतक कि वह अपनी बाह्य वृत्ति को समेट न ले। गुप्त मनकी यह आदत है, कि जबतक प्रकट मन अपने कार्य में रहता है तबतक वह निष्क्रिय शांत होकर पडा रहता है। वह प्रकट मन के कार्यों में हस्ताक्षेप कदापि नहीं करता। दूसरे शब्दों में इसे यूं भी कह सकते हैं, कि प्रकट मनका गुप्त मन संग्रह-भण्डार है, जिसमें से जो चाहिए वह ले सकता है। परन्तु भण्डारतक प्रकट मन पहुंचे बिना उसका कैसे उपयोग कर सकता है? इसलिए प्रकट मन अपने बाह्य विचार व क्रियाओंपर जबतक लगा रहता है, तबतक वह अन्तर्मन के साथ मिलाप नहीं कर सकता।

मन एक समय एकही वस्तु का ग्रहण कर सकता है, अतः एक वस्तुके ग्रहण करनेपर दूसरी खुदबखुद छूट जायगी। इसी वास्ते मनको एकाग्र करनेका अभ्यास किया जाता है और इसी वास्ते उसे बाह्य वृत्तियों से रोकनेका प्रयत्न किया जाता है। अपने अन्दर तमाम बातोंका खजाना भरा पडा है तो भी वह वहांसे पता करनेके बजाय इन्द्रियों की मदद लेने दौडता है। और क्योंकि इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, अतः वह ज्यों ज्यों इन्द्रियोंके साथ जाता है, त्यों त्यों वह अन्तर्मन से ज्यादा से ज्यादा दूर होता जाता है।

हमारी इन्द्रियां अंतर्मुखवृत्ति क्यों नहीं होतीं? इसका कठ-उपनिषद् में वर्णन करते हुए लिखा है कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठ० २।४।१।)

अर्थात् स्वयंभू परमात्माने (खानि) इन्द्रियोंको (पराञ्चि) बाह्य विषयोंपर गिरनेवाली (व्यतृणत्) बनाया है। (तस्मात्) इसलिए मनुष्य (पराङ् पश्यति) बाह्य पदार्थोंको देखता है। (अन्तरात्मन्) अन्दरस्थित आत्माको उनसे नहीं देख सकता इसवास्ते (कश्चित् आवृत्तचक्षुः) नेत्र जिसने बंद कर रखे हैं, अर्थात् जिसने बाह्य वृत्तिको रोक रखा है, ऐसा (धीरः) धैर्यवान् (अमृतत्वं इच्छन्) जो कि अमृतकी इच्छा रखता है वह (प्रत्येक आत्मानं ऐक्षत्) आत्माका साक्षात्कार कर सकता है।

इसीवास्ते योगमें पतञ्जलि मुनिने चित्तवृत्तियों के रोकनेपर इतना जोर दिया है। मन जब तक वृत्तियोंके साथ जानेकी आदत छोड नहीं देता, तब तक वह अन्तर्वृत्ति नहीं हो सकता। मनको अन्तर्वृत्ति करनेके लिए ही ये सारे प्रयत्न हैं।

हम साधारण अवस्था में भी कई वार अपनेको ध्यानस्थ अर्थात् दोनों मनों को मिलता हुआ अनुभव करते हैं। कई वार जब कि हम कुछ ध्यानसे विचार रहे होते हैं, तब हमारी आंखें, कान आदि सर्व इन्द्रियां वैसी की वैसी ही खुली रहनेपर भी सामनेसे अच्छेसे दृश्य गुजर जाने पर भी हमें पता नहीं चलता। बस उसी अवस्थाको हमें प्राप्त करना है। योगी और ध्यानी लोग इस अवस्थाका अभ्यास करके देखते ही देखते ध्यानस्थ हो जाते हैं। देखते ही देखते तमाम भूत, भविष्यत् की बातें, दूरस्थ स्थानकी बातें पता कर लेते हैं। हमारे में भी वही शक्ति मौजूद है, पर हम उससे काम लेना नहीं जानते, हम हमारे दोनों मनोंको मिलाना नहीं जानते।

देखनेमें यह बात बडी सुगम जान पडती है, परन्तु अत्यन्त कष्टसाध्य है। क्योंकि इन्द्रियां विषयमोह सहसा नहीं छोड सकतीं और मन इन्द्रियोंका साथ सहसा छोडनेके लिए तैयार नहीं। जब तक इन्द्रियों और मनका साथ नहीं छूटता तब तक अन्तर्मनके खजानेका उपयोग हमारे पास मौजूद होते हुए भी हम उसका उपयोग नहीं कर सकते।

प्रकट मनको अन्तर्मन के पास संदेश पहुंचाने के लिए अनेक प्रकारके साधन-उपाय रचे गये हैं। पर उन सबमें सरल उपाय या तरीका यह है कि श्रद्धासे वारंवार गुप्त मनको अपनी इच्छा प्रकट करने से आखिर को वह सूचना अन्तर्मन तक पहुंच जाती है। वस्तुतः यही जप है। यही मंत्रजपका असली

तत्त्व है । मंत्रजपद्वारा प्रकट मन अपनी सूचना गुप्त मन पर भेजता रहता है । गुप्त मनपर सूचनाशक्ति (Suggestion) और कल्पनाशक्ति से अधिकार प्राप्त किया जा सकता है । क्योंकि गुप्त मन सूचना-शक्ति के आधीन रहता है । गुप्त व प्रकट मनके परस्पर मेल कराने के और भी कई तरीकें हैं, पर उन पर यहां प्रकाश डालना प्रसंगसंगत न होगा । उन्हें ध्यानयोग में लिखेंगे ।

मन्त्रजापका एक और भी रहस्य है । पाश्चात्य मानसशास्त्र (Psychology) ने सिद्ध कर दिखाया है, कि उच्चारण किया हुआ कोई भी शब्द नष्ट नहीं होता । वह बहुत देर तक कम्पन उत्पन्न करता रहता है । मौन या वाणीसे उच्चारण किया हुआ शब्द आकाश में एक प्रकारकी लहर उत्पन्न करता है, जिसमें कि रचना करनेकी बडी प्रबल शक्ति है । जिन कार्यों का मनुष्य वरसों नहीं कर सकता, उन्हें यह शक्ति कुछ क्षणोंमें ही कर दिखलाती है । जपसे उत्पन्न यही कंपन या लहरें अभिलषित वस्तु प्राप्त कराती हैं । यही संकल्पसिद्धि कहाती है ।

विज्ञान तो इससे भी एकदम आगे बढकर कहता है, कि यह संपूर्ण संसार एक कंपन का ही समुद्र है । देखने, सुनने आदि का तमाम ज्ञान प्रकाश, वायु आदि के कंपनोंकी वजहही से है । विचारों के भी कंपन ही होते हैं । जो कि ईश्वर में वास व भ्रमण करते हैं । ये विचार के कम्पन तमाम प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं ।

जो बात विज्ञान आज बताता है, वह हमारे ऋषि-मुनि उपनिषदों में पहलेसेही लिख गये हैं । हम इस विषयक उद्धरण पहले दे आए हैं, जहां कि यह बत-लाया गया है, कि सृष्टि भी विचार से ही बनी है । ऋषिमुनियोंने अपनी तपस्याद्वारा यह सब जाना था और साक्षात्कार करके हमारे लिए ये उत्तमसे उत्तम व सरल मार्ग जप आदि बता गये हैं । पतञ्ज-लि मुनिने भी योगशास्त्र में जपको एक अच्छा साधन बताया है ।

गायत्री मंत्रका ही क्यों जाप किया जाय?

अब यहांपर एक और सवाल आ खडा होता है, कि यह माना कि जपका बडा भारी महत्त्व है । जप अन्तर्मन को सूचना पहुंचाती है और तदनुसार लाभ भी होता है । ऐसी अवस्था में किसी भी शब्दसे यदि गुप्त मनको सूचना दी जाय, तो भी कार्य हो सकता है? फिर गायत्री मंत्रका ही क्यों जाप किया जाय ?

प्रश्न बिलकुल सही है । किसी भी भाषामें किसी भी उपयुक्त शब्द-समुदायसे यह कार्य हो सकता है। प्रत्येक भाषामें, प्रत्येक देश में ऐसे संत हो गए हैं, जिनोंने की अपनी ही भाषामें अपने ही शब्दों द्वारा जप करके सिद्धियां प्राप्त की हैं । परन्तु इसमें निम्न बातें विशेष विचारणीय हैं । जो कि गायत्री मंत्रको ही जप के लिए सर्वश्रेष्ठ साबित करती हैं ।

(१) हम देखते हैं कि संसार में जब मनुष्यकृत शब्द और विचारका इतना अधिक माहात्म्य है तो फिर उस सर्व शक्तिमान् परमेश्वरकृत गायत्री में कितनी ताकत होनी चाहिए ? ईश्वर की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति क्या बिसात में है ? तमाम मनुष्यकृत विचार व शब्द गायत्री के सामने तुच्छ हैं।

(२) थोडी देरके लिए यह भी मान लें कि गायत्रीमन्त्र भी ईश्वरकृत नहीं है और विश्वामित्र-ऋषिकृत ही है, जैसा कि बहुतसे अपने को हिन्दू कहलानेवाले लोग भी मानते हैं ।

हम दुनियाके साधारण व्यवहारमें भी अनुभव कर सकते हैं, कि जो वस्तु एकवार प्रसिद्ध हुई अर्थात् जिसमें एकवार लोगोंका विश्वास और श्रद्धा बैठ गई उसपर पडापडी होती है यही हाल गायत्री का है । गायत्री का निर्माता 'विश्वामित्र' ऋषि अपरिमित शक्ति रखते थे । गायत्री की महिमा सबने मुक्त कण्ठ से गाई है । जिस जिसने अनुभव लिया उसी उसीने उसे सत्य पाया । प्राचीन ऋषिलोग निःस्वार्थभावसे सब सत्य प्रकाशित करते थे। गायत्रीने जो दुनिया को लाभ पहुंचाया है, वह पहुंचा रही है, उसके मुकाबले में और कोई अन्यनिर्मित

मन्त्रविचार कदापि नहीं पहुंचा सकता। गायत्री पर सफलताका ठप्पा लग चुका है। उसपर जितनी श्रद्धा और विश्वास हमें बैठ सकता है, उतना किसी और पर नहीं। इसवास्ते गायत्री का ही जप जपेच्छुक को करना चाहिए। इतर मन्त्रों की शरण में समय गंवाना अच्छा नहीं।

(३) गायत्रीमन्त्र अकेला ही ऐसा मन्त्र है, कि जो सब तरह की अभिलाषाओंको विशेष रूपमें पूर्ण कर सकता है। गायत्रीमन्त्रके जापसे जैसा कि पहले बता आए हैं, धन, यश, पुत्र, आदि ऐहिक अभिलाषायें तो पूर्ण होती ही हैं, पर परलोक भी सध जाता है। यह सब एकही से प्राप्त होते हों, ऐसा अन्य अनुभवसिद्ध मन्त्र नहीं। संक्षेपमें गायत्री कामधेनु है।

(४) गायत्रीमन्त्रको छोडकर अन्य द्वारा जप करना उपस्थित का त्याग कर अनुपस्थित की खोज में पडकर प्राप्त को भी गंवानेके समान है।

(५) गायत्रीमन्त्र की शक्ति में तथा अन्य मन्त्रोंकी शक्तिमें इतना फर्क है, जितना श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण की सेना में फर्क था। महाभारत की यह कथा बडी प्रसिद्ध है। दुर्योधन और अर्जुन श्रीकृष्णको अपने अपने पक्ष की सहायताके लिए आमंत्रित करने पहुंचे। श्रीकृष्णने एक ओर अपनी तमाम फौज और एक ओर निःशस्त्र, न लडने की शर्तके साथ अपने आपको रखकर दो विभाग किए और दोनोंसे उनमें से जिसे जो पसन्द आवे, मांगने को कहा। दुर्योधनने कहा कि मैं पहले आया हूं, अतः मैं पहले मांगूंगा। दुर्योधनने सोचा कि कहीं अर्जुन पहले पहले श्रीकृष्ण का सैन्य न मांग बैठे! अतः उसने मनमें यह सोचते हुए कि निःशस्त्र श्रीकृष्ण को लेकर मैं क्या करूंगा? फौज तो लडनेके काम आएगी। कृष्णने तो न लडनेकी भी शर्त रखी है। उधर अर्जुन के दिलमें यह आशंका थी, कि कहीं भूलसे दुर्योधन श्रीकृष्ण कोही न मांग बैठे। खैर, आखिर को दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण का सैन्य मांगा तब अर्जुन को बडी शांति हुई। इसका परिणाम क्या हुआ, यह तो सब को ज्ञात ही है। अर्जुन को यह बात भली भांति ज्ञात थी ही, कि श्रीकृष्ण की सेना तो क्या दुर्योधन की तमाम फौज भी कृष्ण के सामने कोई चीज नहीं है। श्रीकृष्ण के साथ रहने से वह तमाम महाभारत को आसानी से जीत जायगा। और यही हुआ। बस यही बात गायत्री तथा अन्य मंत्रोंके विषय में है। तमाम प्रकार के पुरश्चरण, मंत्रशुद्धि, तप, जप, कवच आदिसे युक्त भी अन्य मन्त्र सिर्फ ओं से युक्त गायत्री के सामने पानी भरते हैं। गायत्री के लिये किसी भी बखेडे की जरूरत नहीं। वह सर्वदा शुद्ध रहती है, वह जप करनेवाले को भी शुद्ध कर देती है। उसकी रचना ही परम कृपालु परमात्मा के 'अभिद्ध तप' से हुई हुई है।

ऐसी ऐसी बहुतसी बातें हैं, जिनसे कि गायत्री का सबसे अधिक श्रेष्ठत्व सिद्ध किया जा सकता है। यहांपर संक्षेप से दिग्दर्शन कराया है। विद्वान् पाठक खुद भी इस विषय में काफी सोच सकते हैं।

गायत्रीजापका फल।

साधारणतया गायत्री में बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरणा करनेकी प्रार्थना है। परन्तु साधकोंका ऐसा अनुभव है, कि गायत्रीमंत्रकी उपासनासे प्रायः संसारकी सब तकलीफें खुदब खुद दूर होने लग जाती हैं। किसी को रोजगार मिला है, तो किसी को धन, मान, स्त्री, पुत्र आदि इस लोकके सुख प्राप्त होते हैं। जो नित्यप्रति ५-६ घण्टे बाकायदा जाप करता है, उसपर तो लक्ष्मी की बरसात बरसती है।

अकेला धनही नहीं बल्कि आरोग्य, ऐश्वर्य, विजय आदि तरह तरह की कामनायें सिद्ध करनेमें गायत्रीमंत्र अद्वितीय प्रभाव रखता है। बल, विद्या, बुद्धि तो इससे मिलते ही हैं, पर ज्यों ज्यों साधक इस में आगे बढता है, त्यों त्यों उसके तमाम संकल्प सिद्ध होने लगते हैं। भौतिक सुखसाधन मिलने के बाद साधक की गति और भी आगे बढती हुई प्रकृति के अनेक रहस्यों में से गुजरती हुई अंत में साधक को परमात्मदर्शन प्राप्त कराती है।

ऐसे ऐसे बहुतसे उदाहरण पेश किए जा सकते हैं, जिनमें कि गायत्रीमंत्रके उपासकोंको उनकी कामनानुसार लाभ होता रहा है। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह यदि गायत्रीमंत्र से दीक्षित नहीं हुआ है तो शीघ्रही दीक्षित होकर इसका रोज नियमानुसार ध्यान करना प्रारंभ कर दे। इस से वह बहुतसी सांसारिक आपत्तियों से छूट जायगा। उस का जीवनपथ अत्यंत सरल हो जायगा। अथर्ववेद १९।७१।१ में लिखा है कि–

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अर्थात् (मया) मैंने (वरदा) वर दान देनेवाली यथाभिलषित फल देनेवाली, (द्विजानां पावमानी) द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को पवित्र करनेवाली और सब शुभ कार्यों में हमें (प्रचोदयन्तां = प्रचोदयन्ती) प्रेरणा करनेवाली (वेदमाता) वेदमाता की (स्तुता) स्तुति की है और करता रहता हूं। वह (मह्यं) मुझे (आयुः प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसं) दीर्घायुष्य, जीवनशक्ति, संतान (संतान करने से स्त्री स्वयमेव आ जाती है, क्योंकि बिना स्त्रीके संतान नहीं होती), गाय घोडा आदि उपयोगी पशु, यश, धन तथा ब्रह्मतेज (दत्त्वा) देकर अंतमें (ब्रह्मलोकं व्रजत) परमात्माकी प्राप्ति कराए।

मंत्र स्पष्ट है। हम जो कुछ अभी ऊपर लिख आए हैं, उसीके प्रमाणमें यह वेदमंत्र पुष्टि कर रहा है। इस मंत्रमें वे सबकी सब बातें गिना दी गई हैं, जो कि गायत्री से प्राप्त होती हैं।

(क्रमशः)

गोपथ ब्राह्मण के दो विशिष्ट भाग।

(ले०—श्री० पं० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०)

(१) प्रणव उपनिषद्।

(१ । १ । १६—३०)

यह उपनिषद् सृष्टिविद्या का प्रतिपादन करता है। इसमें यह बताया गया है कि प्रणव अर्थात् 'ओम्' से समस्त सृष्टि का किस प्रकार विकास होता है। सन् १६५६ में सुल्तान मुहम्मद दारा शिकोह के तत्वावधान में जो उपनिषदों का फार्सी अनुवाद देहली में किया गया था, उस संग्रह में अड़तालिसवे उपनिषद् का नाम 'प्रनौ' उपनिषद् है। दारा के फारसी संग्रह का लैटिन भाषा में भी एक अनुवाद महाशय Anguetil Duberror के द्वारा सन् १८०१—२ में हुआ। उसी अनुवाद से जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पॉल डायसनने प्रणव उपनिषद् का जर्मन भाषा में एक अनुवाद किया। पॉल डायसन का विचार था कि प्रणव उपनिषद् मूल संस्कृत में अब प्राप्य नहीं है। परन्तु बात यह नहीं है, क्योंकि गोपथ-ब्राह्मण पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक की १५ कण्डिकाओं [१६ से ३० तक] का नाम ही प्रणव उपनिषद् है। इसी का अनुवाद दारा शिकोह के संग्रह में किया गया था। इसमें और उस फारसी अनुवाद में यत्र तत्र केवल नाममात्र का अन्तर है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

प्रणव उपनिषद् में सांगोपांग रूपसे प्रणव की महिमाका वर्णन है। प्रणव ब्रह्म की संज्ञा कही गई है। वह समस्त सृष्टि का मूल है। प्रणव की तीन मात्राओं से समस्त दृश्य जगत् उत्पन्न होता है। प्रणव ही वेदों का भी मूल है। समस्त श्रुतियां प्रणव से ही प्रारम्भ होती हैं। मनु भगवान् ने कहा है, कि वेदों के आदि अन्त में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए। बिना ओंकार के वेदविद्या ध्रुवस्थितिवाली नहीं होती। प्रणव से विरहित रह कर श्रुतियों का तेज क्षीण होता रहता है। क्योंकि समस्त वेद जिस अक्षरपद का बखान करते हैं वही ओम् है। अतएव श्रुतियों का और प्रणव का शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है। उपनिषदों में इसी गुह्य अध्यात्मतत्त्व को इन शब्दों में कहा है—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च
> यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते
> पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
>
> (कठ० २। १५)

अर्थात् श्रुतियों के द्वारा, संतत तपश्चर्या और ब्रह्मचर्याभ्यास के द्वारा जो अक्षर ब्रह्म गम्य है, वही प्रणववाच्य है। वह सब वेदों का मूर्धाभिषिक्त है। उस ब्रह्म का सर्वोपरि प्रतीक प्रणव है। शब्द और अर्थका परस्पर जो संबंध है, वही प्रणव और अक्षर ब्रह्म का है। शब्द व्यञ्जक है, अर्थ व्यङ्ग्य है; शब्द मूर्त है, अर्थ अमूर्त है; शब्द शरीर है, अर्थ आत्मा है। शब्दके द्वारा अर्थका संकेत किया जाता है। शब्द निरुक्त या प्रगट (manifest) रूप है, अर्थ अनिरुक्त या परोक्ष (unmanifest) है। निरुक्त और अनिरुक्त दोनों ही प्रजापति के मान्य रूप हैं, अतएव शब्द और अर्थ दोनों ही हमारे व्यवहार के लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं। इस विचार से प्रणव रूप शब्दकी महिमा अक्षर ब्रह्म को आत्मसात् करने के लिए अत्यधिक है। ब्रह्म सृष्टि का प्रवर्तक है। प्रणव में भी उसी सृष्टिविद्या को समझने के सब प्रतीक विद्यमान हैं। ओंकार की व्याख्या ही सृष्टिविद्या का ज्ञान है। वैदिक तत्त्ववेत्ताओंने सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि की मूल प्रक्रियाओं का विचार करके उनको प्रणव की मात्राओं के

प्रतीक द्वारा सूत्ररूपमें समझा दिया है। यह सृष्टि विद्या ही प्रणव-उपनिषद्का मूल विषय है।

विषयकी दृष्टि से प्रणवोपनिषद् की १५ कण्डिकाओं के तीन भाग किये जा सकते हैं—

१. कण्डिका १६ से २२ तक
२. कण्डिका २३
३. कण्डिका २४ से ३० तक

क० १६- 'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे' इस प्रकार इस गूढ विषयका प्रारम्भ है। ब्रह्म ने ब्रह्माको पुष्कर में (=पुण्डरीक में, कमल में) उत्पन्न किया। पुष्कर शब्द परिभाषात्मक है। पुष्कर-प्रकृति की उस अव्यक्त अवस्था को कहते हैं, जिसमें सृष्टिप्रक्रिया का बीज पडने से सृष्टि आगे चलती है, इसी को आपः भी कहा है—

आपो वै पुष्करम् [शतपथ ६।४।२।२;७।४।१।१८]
मनु भगवान् ने इस परिभाषा का प्रयोग किया है जो प्रसिद्ध है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ । ८

अर्थात् ब्रह्म ने अभिध्यान [चिन्तन या एकोऽहं बहु स्यां इस ईक्षण] रूप तप के द्वारा अपनी अव्याकृत शक्ति से आप् संज्ञक उपादान को प्रकट किया। इन में उसने बीज या रेत का वपन किया। अथर्ववेद में कहा है— स प्रजापतिः स्वर्णमात्मन्नपश्यत् [१५ । १ । १]। स्वर्ण, हिरण्य, बीज, रेत ये पर्यायवाची शब्द हैं और सृष्टि के सक्रिय कारण का निर्देश करते हैं। यह आप् ही अनेक नामों से प्रसिद्ध है। यथा—

आपः=नाराः=हिरण्यगर्भ=हिरण्याण्ड= पुष्कर= पुण्डरीक = कमल आदि

आप् को पुष्कर क्यों कहते हैं, इसका उत्तर शतपथ-ब्राह्मण में दिया है—

स योऽपां रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहन्, तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात्पुष्करं। पुष्करं ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम्।
[७ । ४ । १ । १३]

अव्याकृत आप् संज्ञक प्रकृति का जो रस ऊपर आया, वह पुर हुआ। पुर् बनाने के कारण उस आप् को पुष्कर कहते हैं। ब्रह्माण्ड वह पुर है जिसके भीतर हिरण्यगर्भ रूप विराट् पुरुष निवास करता है। अन्यत्र कहा है अनन्त, पारावारहीन आपः समुद्र में [Primordial material cause] यह ब्रह्माण्ड सरोवर में तैरते हुए एक पर्ण के समान है, जहाँ सृष्टि की प्रतिष्ठा होती है अथवा जो सृष्टि के लिए योनिस्वरूप होता है। इसीलिये आप् को पुष्करपर्ण कहते हैं, वही सृष्टि की योनि है—

आपो वै पुष्करपर्णं [श० ६।४ २।२]
प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम् [श० ७।४।१।१२]
योनिर्वै पुष्करपर्णम् [श० ६।४।१।७]

ऊपर कहा गया है कि ब्रह्म ने पुष्कर में ब्रह्म [उपबृंहण तत्त्व; [Principle of growth and manifestation] को उत्पन्न किया। ब्रह्मा सर्ववेदमय था। उसने विचारा कि वह कौनसा अक्षर है, कि जिससे मैं समस्त लोक, देव, वेद, यज्ञ, शब्द और भूतों का अनुभव [साक्षात्कार] करूं। उसने इस कामना से ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान किया और ओम् इस अक्षर का साक्षात्कार किया—

स ब्रह्मचर्यमचरत् ओमित्येतदक्षरमपश्यद्।

यह ओम् सर्वव्यापी सर्व विभु वेद है, ब्रह्म इसका देवता है। इसके द्वारा ब्रह्मा को सब कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। अर्थात् ओंकार सर्ववेदमय है और समस्त ज्ञान-विज्ञान की प्रतिष्ठा है। यह समस्त विद्या का प्रतीक है। इसमें दो वर्ण [ओ+म्] और चार मात्राएं हैं। [प्लुत ओं की ३ मात्राएं और मकार की व्यञ्जन मात्रा]। इसके दो वर्णों से यह अग्नीषोमात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। प्रथम वर्ण से आप् या स्नेहतत्त्व (सोम) और दूसरे वर्ण से ज्योति या तैजस् तत्त्व (अग्नि) इन्हीं की दोनों धाराओं का समन्वय सृष्टि के कण-कण रोम-रोम में व्याप्त है। स्त्रीपुरुष रूप मिथुन, अथवा प्राण-रयि का द्वन्द्व (Positive

Negative Forces) यही सृष्टि का अद्भुत वैज्ञानिक रहस्य है। ये ही अग्नि और सोम हैं, जिनकी सत्ता के कारण संसार को अग्नीषोमात्मक कहा जाता है। मनुष्य भी सृष्टि की प्रक्रिया में अग्नीषोमात्मक प्राणी है। इस अग्नीषोमात्मक द्वन्द्व का अक्षर ब्रह्म अथवा ओंकार है।

कण्डिका १७— इसमें बताया है कि प्रथम स्वरमात्रा से कौन कौन से पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् पृथिवी लोक, अग्नि देव, ऋग्वेद, भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, त्रिवृत स्तोम, प्राची दिशा, वसन्त ऋतु, वाक् अध्यात्म देवता, जिह्वा इन्द्रिय, रस विषय।

कण्डिका १८— दूसरी स्वरमात्रा से उद्भूत- अन्तरिक्ष लोक, वायु देवता, यजुर्वेद, भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, प्रतीची दिशा, ग्रीष्म ऋतु, प्राण अध्यात्मदेवता, नासिका इन्द्रिय, घ्राण विषय।

कण्डिका १९— तीसरी स्वरमात्रा से उत्पन्न सृष्टिधारा—

द्युलोक, आदित्य देवता, सामवेद, स्वः व्याहृति, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, उदीची दिशा, वर्षा ऋतु, ज्योति अध्यात्मदेवता, चक्षु इन्द्रिय, दर्शन विषय।

इन तीन स्वरमात्राओं के सम्बन्ध में Bloomfield का कथन है-

From the three vocalic moral (i. e., presumably प्लुत ओ) a chain of cosmic, liturgic, and psycho-physical trieds, are derived.

[Atharvaveda & Gopath Br. p. 109]

इस उपनिषद् में ओम् को अव् धातु और आप् धातु से बनाया है। अव् धातुके वकार को 'उ' सम्प्रसारण करके ओ बनता है। वह 'ओ' प्लुत हो जाता है। वे ही तीन स्वरमात्राएं हैं। इसके अतिरिक्त व् और म् ये दो व्यञ्जन भी ओम् में हैं। मकार प्रगट रूपसे, वकार परिणमित रूप से। अतएव आगे की दो काण्डिकाओं में वकार मात्रा और मकार श्रुति से भी दो सृष्टिधाराओं का प्रतीकसम्बन्ध बताया गया है।

कण्डिका २०- वकार मात्रा से सृष्टिप्रवाह- आप् लोक, चन्द्रमा देवता, अथर्ववेद, ओम् स्वयम्, जगत्, व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम, दक्षिण दिशा, शरद् ऋतु, मन अध्यात्मदेवता, ज्ञान और ज्ञेय इन्द्रिय [तथा विषय]

कण्डिका २१-मकार श्रुति से सृष्टिधारा- इतिहास पुराण, वाको-वाक्य, गाथा, नाराशंसी, उपनिषदें, ये विविध साहित्यांग, वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तत्, पञ्च व्याहृतियां [दे० दशम कण्डिका गो० पू० ब्रा० २। १४] नाना स्वर तन्त्री वीणा आदिक वाद्य, नृत्य और गीत उत्पन्न हुए। चैत्ररथादि गन्धर्व लोक, विद्युत् देवता, बृहतीछन्द, त्रिणवत् और त्रयस्त्रिंश स्तोम, ध्रुवा ऊर्ध्वा दिशाएं, हेमन्त और शिशिर ऋतुएं, श्रोत्र अध्यात्मप्राण, शब्द और श्रवणइन्द्रियां।

कण्डिका २२-ओम् वह एकाक्षरी ऋचा है। वह ब्रह्म के तप से प्रारम्भ में उत्पन्न हुई। अथर्ववेद सुवेद (स्वेद) है, सब वेदों का शुक्र है। उससे ही मन्त्र प्रगट हुए हैं। अथर्वण ऋत्विक् ही अथर्ववेद के तेजसे उन सब दोषों को परिमार्जन करता है, जो अतप, अशुश्रूषा, अनध्यायाध्ययन अदिक अनियमों से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए मन्त्रों को अनुकूल बनानेके लिए उनके पहले ओंकार का प्रयोग किया जाता है।

कण्डिका २२- तीन रात्रि का उपवास करके, वाणी का संमय करके, प्राङ्मुख होकर कुशासन पर विराजमान जो ब्राह्मण सहस्र आवृत्ति से प्रणव अक्षर का जप करता है, उसके लिये ओंकार सर्वकामदुघ् सिद्ध होता है।

कण्डिका २३- वसोर्धारासंबंधी इन्द्र नगर पर असुरों के आक्रमण का वर्णन करके देवासुर-संग्राम के कथानक से ओंकार के द्वारा देवों की विजय का वर्णन किया गया है। यह शरीर ही इन्द्रनगर [ब्रह्मपुरी] है। यज्ञ और अग्नि की

संज्ञा वसु है अथवा प्राणरूप वसु की शतधाराएं, सहस्रधाराएं संतत इसलिए यह वसोर्धारा से सम्बन्धित है।

देवों ने ओंकार को जो ब्रह्म का ज्येष्ठ पुत्र था-यह वर दिया कि कोई ब्राह्मण तुम्हारा उच्चारण किये विना वेद का अध्ययन न करेगा। तीसरे भाग में २५ से ३० तक की कण्डिकाएं हैं। इनमें ओंकारके सम्बन्धमें छत्तीस प्रश्न और उनके उत्तर हैं। इन्द्र-प्रजापतिके संवादरूप प्रणव की मात्राओं का विवेचन और चारों वेदों में ओंकार की पृथक् उच्चारण की विधि दी गयी है। २९ वीं कण्डिका में चारों वेद देवता, छन्द और लोकों का वर्णन करके उनके आद्य मन्त्र दिये गये हैं। शन्नोदेवी-रभिष्टय से अथर्ववेद का प्रारम्भ माना है। समस्त आत्मभैषज्य और आत्मकैवल्य का साधन ओंकार है। उसका चिन्तन करने से निखिल अध्यात्मफल की प्राप्ति होती है। यह अथर्ववेदीय प्रणवोपनिषद् का सूक्ष्म परिचय है।

मा देवानां मिथुया कर्मभागम् ॥ (अथर्व०)

(लें०- श्री० पं० रामदत्त शुक्ल, एम० ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट)

वैयक्तिक सञ्चित संस्कारगुण अथवा दोष से जिस प्रकार व्यक्तियों के जीवन बनते और बिगडते हैं ठीक इसी प्रकार सामूहिक संचित संस्कार गुण अथवा दोषों से मनुष्यसमूह जीवित रहते अथवा नष्ट हो जाते हैं। इतिहास के पृष्ठ इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इस सिद्धान्त का सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्त्व इसलिये है, कि यह विश्वव्यापी जगत् में होनेवाली समस्त क्रियाओं के आधार ऋत् (Cosmic law) के अनुकूल है। विचक्षण मनीषियों ने समय समय पर विश्ववर्ती नियमों के आधार पर मानवसमाज-संगठन के अनेक देश कालानुकूल विधानों (Constitution) को रचकर यथाशक्ति प्रयत्न किया, कि मनुष्यसमाज शान्ति और सुख का सहज धाम बने किन्तु उपलब्ध इतिहास क विद्यार्थी जानते हैं, कि परिणाम बहुत करके विपरीत हुआ।

वैदिक ऋषियों ने जो कि साक्षात्कृत धर्मा थे, अन्य अल्पज्ञ मनुष्यों के हितार्थ मानवसमाज के संगठन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण नियमों का आदेश किया। इस देश में चिरकाल तक उन नियमों के अनुसार आचरण होता रहा और देश सर्वथा शान्तिसुख का आगार बना रहा। समाज-संगठन का मौलिक आधार 'गुण' माना गया न कि कोई व्यक्तिविशेष। यही अन्तर वैदिक विधान और अन्य विधानों में पाया जाता है। वेद के स्वाध्याय करनेवाले महानुभावों के लिए निम्न लिखित मन्त्र अति परिचित है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ अथर्व ० ॥

अर्थात् बृहत् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी (प्रजा) को धारण करते हैं और वह पालयित्री प्रजा हम को भूत व भविष्यत् के लिये विस्तृत अवकाश प्रदान करती है। एक दूसरे स्थल पर यजुर्वेद में यह श्रुति मिलती है, कि 'पृथिवी मातर मा मा हिंसि। मोऽहं त्वाम्॥' हे पृथिवी! (प्रजा) माता मेरी हिंसा मत करो। न मैं तेरी हिंसा करूं।

इन आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए अनेक प्रकार के राजाप्रजा के पारस्परिक धर्मों का ऋषिमुनियों ने प्रतिपादन किया। मनु आदि ने हर एक दशावारा, त्र्यवरा, आदि सभाओं का उल्लेख किया है।

ऋषि दयानन्द ने मुख्यतः मनु के आधार पर सत्यार्थप्रकाश के ६ ठे समुल्लास में संक्षिप्त रूप से राजा और प्रजा के धर्मों का प्रतिपादन किया है, किन्तु अपने समय की गतिविधि को अच्छी तरह

जानते हुए भी ऋषि ने भगवान् मनु के इन वाक्यों को अपनी दृष्टि में रखा ।

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
अव्रतानां अमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥

यदि अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों में उत्तम जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है न कि जो हजारों मूर्खोंसे कहा गया हो । जो ब्रह्मचर्य, सत्य भाषणादि व्रत, वेद विद्याका विचार से रहित जाति मात्र से जीवित है, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहलाती है । जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहें उसको कभी न मानना चाहिये । क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुये धर्मके पीछे चलते हैं, उनके पीछे सैकडों प्रकार के पाप लग जाते हैं ।

इन आदर्शों को भली भांति समझ बूझ कर ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी । किन्तु साधारणतया मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसी होती है,कि वह स्वयं आदर्शों के उच्च शिखर पर न पहुंच कर आदर्शों को ही अपनी ओर खींचता रहता है और अन्त में आदर्शों को पैरों के नीचे डाल कर अपने को सिद्ध समझने लगता है । अन्यथा कोई कारण नहीं प्रतीत होता, कि क्यों स्थानीय आर्यसमाजों उनके अधिकारियों तथा साधारण सदस्यों से लेकर बडी बडी सभाओं के अधिकारियों और कार्यकर्ताओंमें औसत से वह उत्कर्ष, तेजस्विता कर्तव्यपरायणता, आस्तिकता, श्रद्धा और धर्मभीरुता क्यों नहीं पायी जाती,जिसका चित्र ऋषि दयानन्द के सम्मुख था । जिस समाजके सदस्यों में किन्हीं गुणविशेषों की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उन से बने हुये समाज में किस प्रकार से उच्च गुणों से युक्त व्यक्ति प्राप्त हो सकते हैं ? आज तो साधारण से साधारण आर्यसभासद और योग्य से योग्य उच्च कोटि का विद्वान् भी एक ही 'वोट' के सहारे ऊपर चढ सकता है । और वोटाभाव से मूर्ख और विद्वान् दोनों तलहटी में ही पडे रह जाते हैं ।

कल्पना कीजिये कि इस वोटबाजी के आधार पर राजार्यसभा, धर्मार्यसभा व विद्यार्यसभा का निर्माण आर्यप्रतिनिधि सभा, मेरठ एक प्रस्ताव पास करके कर भी ले तो क्या यह भी सम्भव होगा, कि जिस प्रकार के व्यक्तियों से यह सभायें बन सकती हैं, उन व्यक्तियों को भी एक फुंक से पैदा कर लिया जायगा, अन्यथा जैसे रामलीला में प्रतिवर्ष देखा जाता है, कि राम भी बनते हैं, लक्ष्मण भी बनते है और रावण, कुम्भकरण भी बनते हैं । एक प्रदर्शन किया जाता है, परन्तु देश की दशा यथापूर्व दासता के जाल में जकडी ही रहती है ।

इसलिये जो कोई महानुभाव केवल कोई न कोई नया आविष्कार करने पर ही उतारू न हों, उनको गंभीरता के साथ औसत आर्यसदस्य, आर्यसभासद्, आर्यप्रतिनिधि और सार्वदेशिक प्रतिनिधि एवं विभिन्न अधिकारीवर्ग की योग्यता तेजस्विता और बलाबल को देख कर ही किसी नये विधान का सूत्रपात करना चाहिये । अपने को उपहास की सामग्री बनाने से आर्यसमाज कदाचित् आगे नहीं बढ सकता । दैवी शक्तियों का अपने अन्दर धारण करने का अभ्यास करके तदनुरूप अपने व्यवहारों की व्यवस्था करने से हमारा समाज संकटों से बच सकता है । ऋषि के पद-चिन्हों पर चलने के पूर्व उनकी निर्दिष्ट शिक्षा को पूर्णतः आत्मसात् करने पर ही हमारा कल्याण संभव है । ऋषि ने आर्यसमाज में ओतप्रोत आर्य-संस्कार भर दिये हैं,उनके अनुकूल आचरण करने से ही सफलता और तद्विपरीत से असफलता निश्चय है । आर्यसमाज के शुभचिन्तकों को ऐसी विवेकबुद्धि प्राप्त हो, कि वे अपने उच्च आदर्श के अनुरूप अपना जीवन बना सकें ।

गंगाजल स्वास्थ्यदायक है।

(ले०- पं० श्याम सुन्दर लाल 'उपाध्याय')

भारतीय धर्मशास्त्रों में गंगाजी (भागीरथी) को पवित्र माना है और प्राचीन ऋषियों ने भी गंगाजल की स्थूल और सूक्ष्म दैवी शक्तियों का अनुभव कर आर्य ग्रन्थों में गंगास्नान और गंगाजल-पान का इतना महत्त्व वर्णन किया है, गंगाजल की पवित्रता और उत्तमता को प्रमाणित करने के लिये अब आधुनिक साइन्स की भी बडा सहायता मिल रही है, पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी इसकी खोज की है, पेरिस के सुविख्यात डाक्टर मिस्टर डेरेल ने भी समर्थन किया है, कि गंगाजल में हैजे के कीटाणुओं को नष्ट करनेवाली शक्ति है। उनका कथन है कि जब हैजा और आंव का रोग भारत में व्यापक रूप से फैले थे और इन रोगों से मरे हुए व्यक्तियों के शव गंगा में फेंक दिये गये थे, तब उक्त डाक्टर महोदय ने इन शवों के कुछ ही फुट नीचे जल की परीक्षा करके देखा, कि जहां हैजे और आंवके लाखों कीटाणुओं के होने की आशा थी, वहां वास्तव में उन रोगोंका एक भी कीटाणु नहीं था। तब उक्त डाक्टर ने इन रोगों के आक्रान्त रोगियों से रोग-कीटाणु उत्पन्न किये और उन उत्पन्न किये हुए कीटाणुओं पर गंगाजल डाला। जब कुछ समयके बाद उन्होंने देखा कि वह रोगकीटाणु सब मर गए, यह देख कर उनके आश्चर्य की सीमा न रही और इससे उन्होंने यह सिद्ध किया, कि हैजे और आंव से आक्रान्त रोगियों के लिये गंगाजल औषधि के रूप में प्रयुक्त हो सकता है।

भारत में सरकार की ओर से नियुक्त सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक Mr.E.H.Hankins ने गंगाजल का वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा परीक्षण कर यह सिद्ध किया है, कि गंगाजल में हैजे के कीटाणुओं को नष्ट करने की प्रबल शक्ति है। उन्होंने स्वयं यह देखा कि गन्दे नालों का जो पानी गंगाजी में गिरता है, उसमें लाखों हैजे के कीटाणु रहते हैं, किन्तु गंगाजल में मिलने के पश्चात् ६ घंटे में सब मर जाते हैं। उन्होंने गंगा में बहते हुए एक मुर्दे को पकड़ कर उसकी परीक्षा की तो उसमें हैजे के कीट पाये। किन्तु कुछ समय पश्चात् ही वे सब नष्ट हो गए। तदनन्तर उन्होंने हैजे के कीटाणुओं को गंगाजल में तथा कूए के पानी में छोड देखने से ज्ञात हुआ, कि छः घंटे पाश्चात् गंगाजल में छोडे हुए समस्त कीटाणु नष्ट हो गए किन्तु कूवा के जल में छोडे गए कीटाणु बढकर असंख्य होगए यह देखकर उनको बडा आश्चर्य हुआ, गंगाजल में प्रति दिन लाखों आदमी अपना धर्म समझ कर स्नान कर उसे गंदा करते हैं। नालियों के गंदे जल, शव, कूडा कर्कट भी इसी में बहाए और फेंके जाते हैं, इस पर भी एक अद्भुत बात है कि कलकत्ते से इंग्लैंड जानेवाले जहाज इसी गंगा के एक मुहाने (हुगली) का मैला जल लेकर प्रस्थान करते हैं और यह जल इंग्लैंड तक बराबर ताजा बना रहता है। इसके प्रतिकूल जो जहाज इंग्लैंड से भारत को आते हैं, वे लण्डन से जो पानी लेकर चलते हैं, वह बम्बई पहुँचने के समय तक ताजा नहीं रहता। इंग्लैंड से जहाज कलकत्ता की अपेक्षा बम्बई एक सप्ताह पहिले ही पहुंच जाते हैं। भारत आनेवाले जहाजों को रास्ते में ईडन, स्वेज, आदि स्थानों पर ताजा पानी लेना पडता है। गंगाजल इतना दूषित होने पर भी ताजा बना

रहता है, यह अद्भुत बात है और इससे साफ सिद्ध होता है, कि गंगाजल पवित्र है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया है, कि गंगाजल के प्रयोग से सन्निपात ज्वर और संग्रहणी भी नष्ट हो जाते हैं। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध डाक्टर कहाविटाने गंगाजल से ही उक्त रोगों से पीडित अनेक रोगियों की चिकित्सा सफलतापूर्वक की है। गंगाजल में दुष्ट व्रणरोपण करने की अद्भुत शक्ति है। इसका कारण यह है कि गंगाजल का प्रवाह जिस भूमिभाग पर से आता है, उसमें रेडियम के समान वस्तु होती है, उसी से प्रवाहित जल में उपर्युक्त गुण पाया जाता है।

हमारे पूर्वज ऋषियों ने भी गंगा नदी को सर्वश्रेष्ठ नदी माना है और गंगाजल को अमृततुल्य बतलाया है और गंगा में नहाना और गंगाजल का पान करना बडे महत्त्व की बात बतलाई है। इससे मालूम होता है, जिस समय समस्त संसार असभ्यता के अंधकूप में डूब रहा था, उस समय भी हिन्दू जाति सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुंचा हुई थी और प्राचीन काल में भी भारत में विज्ञानवित् पंडित थे और उन्होंने गंगाजल को इतना स्वास्थ्यवर्धक समझ कर ही उसको इतना पवित्र माना है और यहां तक कि गंगास्नान करना एक धर्म का स्तम्भ रक्खा है।

आजकल भी प्रायः देखा जाता है, कि बहुत से अस्वस्थ मनुष्य गंगा तट पर रहने से और गंगाजल पान करने से ही स्वस्थ्य हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखी हुई बात है, कि एक मनुष्य को खून खराबी का रोग था। उसके कारण उसके पैरोंमें फोडे बराबर निकलते रहते थे और शरीर भी कृश हो गया था। ५-६ महीने तक इलाज करता रहा, पूर्ण लाभ न हुआ। फिर एक वैद्यकी सम्मति से वह गंगा-किनारे रहनेको चला गया। वहां एक माह तक बराबर रहा और गंगाजल में स्नान और गंगाजल का ही पान किया। वह १ माह बाद बिलकुल स्वस्थ्य होकर घर आगया और अब भी स्वस्थ्य हालत में मौजूद है। (स्वास्थ्य)

"वेदाङ्क" पर "आर्यसेवक" की सम्मति।

वैदिक धर्मका वेदांक।

(सम्पादक- श्री० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा श्री० पं० तडित्कान्तजी वेदालङ्कार। प्रकाशक- स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध। वार्षिक मूल्य ५) समालोच्य अंक २)

यह मासिक पत्र गत १८ वर्ष से वैदिक धर्मकी सेवा अत्यन्त उत्कृष्ट रीतिसे कर रहा है। प्रस्तुत अंक जो १९ वें वर्ष का विशेषांक है, बडा ही रोचक निकला है। विषयका अनूठापन तो है ही किन्तु लेखोंका चयन भी इतना सुन्दर हुआ है कि सचमुच स्वर्ण में सुगन्धका उदाहरण प्रस्तुत होता है। आर्य सिद्धान्तोंका विमर्श और विश्लेषणा करनेवाले जितने पत्र आज प्रकाशित हो रहे हैं उन सबसे इसका क्षेत्र और ढंग भिन्न है। इस अंकमें कई मननीय मौलिक लेख हैं जिनमें "वेदोंकी अन्य धर्म-पुस्तकोंसे विशेषता" "वेदों और उपवेदों का परिचय" 'वैदिक व्याकरण'' "वेद और सूर्यसिद्धान्त" "वेदोंमें भक्तिके विभिन्न प्रकार" इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। और संसारके प्रायः सभी लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंके लेखोंका सङ्कलन होने से यह अंक वैदिक साहित्यका एक स्थायी अंग बन गया है। अंककी उत्कृष्टता का अनुभव तो इन लेखोंके पठन से ही हो सकता है। हम संचालकों के इस स्तुत्य प्रयत्नकी हृदयसे सराहना करते हैं। जिस पुनीत वेदसेवाका ध्येय स्वाध्याय-मण्डलके सम्मुख है उसके पूर्तिकी शक्ति उसमें अवश्य है और केवल इसी हेतु कोई भी उसे धन्यवाद देगा। हम प्रत्येक आर्य से इस विशेषांकसे लाभ उठानेकी प्रार्थना करते हैं। (१ मार्च १९३८)

वेद तथा आयुर्वेद में जीवाणुवाद।

(ले०- श्री० प्रोफेसर साहित्यायुर्वेदाचार्य पं० सोमदेवशर्मा शास्त्री, ए. एम्. एस्.
सनातन धर्म आयुर्वेदिक कालिज, मक्लोडरोड, लाहौर)

जब से पाश्चात्य जगत् में जीवाणुओं का आविष्कार हुआ है, तब से चिकित्सक संसार में एक अपूर्व हलचल मच गई है। सर्व प्रथम फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् पाश्चरने इस विज्ञान का प्रारम्भ किया। फिर बर्लिन के हेलन नामवाले एक विद्वान्ने सन् १८४० में सूक्ष्म कृमियों का संक्रामक रोगों से सम्बन्ध सूचित किया और कुछ प्रमाण भी पेश किये। तदनन्तर कौक नामके एक पाश्चात्य विद्वान्ने इन जीवाणुओं के विषय में अधिक छानबीन कर अपने चार नियम बनाये, जिनसे जीवाणुवाद के नियम समझने और अभ्यास करने में, बहुत सरलता हो गई। तब से दिन प्रतिदिन इस ओर अधिक प्रयत्न किया जाने लगा और आज बहुत से जीवाणुओं का पता लगा लिया गया है। इसका फल यह हुआ, कि पाश्चात्य चिकित्सक रोगोंका मूल कारण, जीवाणुओं को मानने लगे हैं। इस प्रकार जीवाणुवाद की नींव पक्की हो जानेपर, इसका प्रभाव भारतीय वैद्यसमाज पर पडना अनिवार्य था और इसके फलस्वरूप ही आज 'आयुर्वेदमें जीवाणुवाद' विषयपर विचार करना आवश्यक हो गया है।

भारतीय आयुर्वेदशास्त्र में रोग का मूल कारण दोष वैषम्य× है, जो कि असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और कालपरिणाम (ऋतु आदि स्वरूप) के द्वारा होकर रोग उत्पन्न करता है। जीवाणुओंको केवल रोगप्रसारक माना गया है। इसी लिये इनकी इतनी गहरी छानबीन नहीं की गई है। परन्तु आयुर्वेद के मूलभूत वेदों (विशेष कर अथर्ववेद+) में इनका अधिक स्पष्ट वर्णन मिलता है। वेद तथा आयुर्वेद की संहिताओं (चरक सुश्रुत आदि) में जीवाणु नाम न लिखकर कृमि शब्द से इनका व्यवहार किया गया है।

पाश्चात्य विद्वान् पुरुषों के मत से कृमि शब्द का अर्थ वर्म (Worm) है, जो कि आँख से दीख सकते हैं, और जीवाणुओं का अर्थ बेक्टेरिया (Baeteria) है, जो अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो सकते, केवल माईक्रोस्कोप (Microscope) से दीखते हैं। इसी कारण इनको माइक्रोआर्गेनिज्म (Microorganism) कहा जाता है। इनका आकार १/२५००० इंच होता है। परंतु वेद तथा आयुर्वेदशास्त्र में इस प्रकार पृथक् पृथक् नामनिर्देश न करके निम्नलिखित प्रकार से दो भेद किये हैं, जो कृमिवर्णन* के प्रकरण में मिलते हैं।

× (अ) रोगस्तु दोषवैषम्यम्। (अष्टाङ्गहृदय, सूत्र. अ० १)
(आ) रोगास्तु न विना दोषैः। (चरक-संहिता)

+(अ) तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक् सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। (चरक०सूत्र०अ०३०)
(आ) इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य। (सुश्रुत०सूत्र०अ०१)

* वेदमें कृमि शब्दके अतिरिक्त निम्नलिखित शब्द भी जीवाणुवाचक मिलते हैं—
(१) गन्धर्व (२) रुद्र (३) राक्षस या रक्षः (४) निशिचर (५) नक्तञ्चर (६) अप्सर (७) असुर (८) क्रव्याद (९) पिशाच आदि।

(१) अदृश्य कृमि= Bacteria बेक्टेरिया *
(२) दृश्य कृमि= Worm वर्म ।

यथा-
(अ) दृष्टश्च हन्यतां कृमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ।
(अथर्व० पञ्चम काण्ड)

(आ) दृश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु
क्रमीणां परिकीर्तिताः ।
केशादाद्यास्त्वदृश्यास्तु..............
(सुश्रुत०उत्तर० अ० ५४)

(इ) सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः ।
(अन्ये दृश्याः)
(चरक वि० अ० ७)

(ई) सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः । (अष्टाङ्गहृदय)
श्री० अरुणदत्त इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं-
सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मत्वात्कारणात् केचिददर्शनाः प्रत्यक्षप्रमाणासमधिगम्याः कार्येणैवानुमीयन्ते ।

जीवाणु (अदृश्य कृमि) वर्णन-
स्थिति-स्थितिभेद से यह दो प्रकारके होते हैं।
१ गतिहीन, २ गतिशील ।
गतिशील के भी भिन्नभिन्न भेद वर्णित हैं। यथा-

(अ) एजत्कः (कांपनेवाला)
येवाषासः कष्कषासः एजत्काः शिपिवित्नुकाः। (अथर्व०का०५अ०५सू०२३)

(आ) कुछ के शिरपर चारों ओर बाल होते हैं, जिनसे वे गति करते हैं। (संभवतः पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतानुसार Flagella (तन्तुपिच्छ) यह ही हो।
यथा- सर्वकेशकः।
(अथर्व० कां० ५, अ० ५)

निवासस्थान।

यह जीवाणुसमुदाय जल, वायु, भूमि, आकाश, पर्वत, जंगल, वृक्ष और वनस्पति आदि में, तथा मनुष्यों के आन्त्र, शिरपर्शुका, आंख, नाक, कान, दांत और रुधिर और पशुओं में निवास करते हैं। यथा-

(अ) ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वौषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः। ...(अ०५)

(आ) नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि । (यजु० १६।६४)

---

* इन ऊपर के शब्दों से लौकिक भाषामें पुराण-पुतिपादित आकार एवं स्वरूपवाले गन्धर्व, राक्षस आदिका ग्रहण भले ही हो, परन्तु वैदिक भाषामें सर्वत्र सूक्ष्म एवं अदृश्य कृमियों काही बोध होता है। इनका संकेत निम्न प्रकार से किया जाता है—

(१) वायुमें रहनेवाले सूक्ष्म अदृश्य कृमि ।
(२) रुद्र-(रोदयन्ती रुद्राः) रुलानेवाले ।
(३) राक्षस या रक्षः
(४) निशाचर
(५) नक्तञ्चर] रात्री में प्रकट हो घूमनेवाले ।
(६) अप्सर -(अप्सु सरन्तीति अप्सरसः) जलमें रहकर घूमनेवाले अदृश्य कृमि ।
(७) असुर-(असु+र) प्राणहर्ता ।
(८) क्रव्याद
(९) पिशाच] कच्चा मांस खानेवाले ।

इस ऊपर के संकेत में निम्नलिखित 'शतपथ ब्राह्मण' का वचन प्रमाण है—
अथ कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति। चर्म वा एतत् कृष्णस्य तन्मानुषम्। शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति। अवधुनोति।अवधूतं रक्षः।अवधूता अरातयः।इति। (शतपथ ब्रा० ८।४।४)

(इ) त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे ।
(अथर्व० द्वितीय काण्ड, अ० ५, सू० ५)

(ई) ये अन्तः क्रमयो गवि× ....
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रमीन्॥४॥
(अथर्व द्वितीय काण्ड अ० ५, सू० ५)

(उ) यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति। दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रमिं जम्भयामसि॥ (अथर्व० का०५, अ०५)

(ऊ) केशरोमनखादाश्च.. ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः। केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते... ।
(सुश्रुत० उत्तर अ० ५४)

भोजन।

(अ) कुछ जीवाणु वायुभोजी होते हैं। यथा–
येषामन्नं वातः। (यजु० १६।६४)

(आ) कुछ पानी में रहते हैं और उसके ऊपर की नीलिका (कोई) खाते हैं। यथा–
अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतयमामकान् ॥१०॥

(इ) कुछ क्रमि शरीर में रहकर रक्त, मांस, केश, रोम, नख दन्त आदि का भक्षण करते हैं। यथा–
केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा। केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते...
(सुश्रुत उत्तर अ० ५४)

संक्रमण।

(१) श्वासद्वारा (नाक से श्वास लेते समय) यथा–

(अ) यो नासे परिसर्पति ॥ ३ ॥
(अथर्व का० ५, अ० ५)

(आ) निःश्वासातः... (सुश्रुतनिदान कुष्ठ)

(इ) तत्र नासारन्ध्रानुगतेन वायुना श्वास-कासप्रतिश्याया–उल्हण।

(२) भोजनद्वारा–
खराब अन्न और जलद्वारा भी इनका संक्रमण होता है। यथा–

(अ) ये अन्नेषु विवध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजु० अ० १६।६४)

(आ) सहभोजनात् ...(सुश्रुत० कुष्ठनिदान)

(इ) अन्न पानादिद्वारेण प्रविष्टाः–(सायणाचार्य)

(३) दंशद्वारा–

जनपदोध्वंसकारी प्लेग आदि फैलने के समय, प्रायः विकृत जल, वायु, देश और काल में वर्धित, मूषक आदि पर आश्रित, पिस्सू तथा मच्छर आदि के दंश करने से, उनके अन्दर स्थित जिवाणुओं द्वारा रोग का संक्रमण होता है। देवी भागवत के टीकाकार 'नीलकण्ठ'ने लिखा है, कि जब घरमें मूषक (चूहे) मरने लगें, तब किसी मरक (महामारी) रोग की सम्भावना कर, घर छोड कर बन में निवास करें। इ...

अर्थ– अध्वर्यु काले मृगचर्म (मृगछाला) को ग्रहण करके कहता है, कि तू कल्याणकारक है, चर्म मनुष्यों के पा... और शर्म देवों के पास रहता है। ऐसा चर्म के लिये कहा जाता है। इसके पश्चात् वह मृगचर्म को झाडता है और कहता है, राक्षस झाडे गये, शत्रु झाडे गये।

यदि यहांपर पुराणवर्णित राक्षसों का आकार लें, तो उनका चर्मपर चिपटना सम्भव नहीं है। झाडनेसे यह भी ... होता है, कि वे हाथसे बीनकर हटाये नहीं जा सकते, इसलिये मृगचर्म को झाडना पडता है, जिससे वे झड ज... अराति शब्द से यह मालूम होता है, कि वे रोग पैदा कर पीडा पहुँचाने के कारण शत्रुतुल्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इनका जल, वायु आदि स्थानों में निवासस्थान भी यह बतलाता है, कि ये पुराणवर्णित राक्षस आदि नहीं, क्योंकि वे मनुष्यों की भांति नगर बसाकर रहते थे और रथ, विमान आदि सवारियों में चढकर घूमते थे। इससे ... रीतिसे सिद्ध होता है, कि वे चूमडे परसे से झाडे गये राक्षस, सूक्ष्म अदृश्य क्रमि ही हैं। इसके सिवाय इनका ... भी रोगजन्तु–नाशक प्रकरण में क्रमिवर्णन के साथ किया गया है।

× पृथिवी + अवकाद=नीलिका (काइ) खाने वाले।

प्रकार प्लेग आदि के संक्रामक रूपसे फैलनेका भी ज्ञान था। मच्छर आदि अपने सींग के आकार के अग्रभाग से दंशन कर रोगवृद्धि तथा उत्पत्ति करते हैं। इसका आभास नीचे लिखे मंत्र से मिलता है।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ये कुषुम्भ यस्ते विषधानः ॥६॥ (अ०)

अर्थ- मैं तेरे सींग के आकार के दंशक डंक को नष्ट करता हूं, जिनसे तू सुई के चुभोने के समान पीड़ा देता है।

(४) मैथुनप्रसङ्ग द्वारा।

(५) गात्रस्पर्श द्वारा।

(६) एकशय्या और आसनकी स्थिति द्वारा।

(७) दूसरे के पहिने वस्त्र, माल्य आदि के धारण और लेप द्वारा यथा-

(अ) प्रसङ्गात् गात्र संस्पर्शान्निःश्वासात्सह भोजनात्। एकशय्यासनाच्चैव वस्त्र-माल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

(आ) स्पर्शैकात्परशय्यादिसेवनात्। (सुश्रुत कुष्ठ निदान) प्रायशो गदाः। सर्वे संचारिणः। (अष्टाङ्गसंग्रह) नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः।

(इ) त्वगिन्द्रियगतेन ज्वरमसूरिकादयः। उल्हण।

(८) व्रण द्वारा- यथा-

(अ) अस्माकं शरीराणि व्रणमुखेन...प्रविष्टाः। (सायणाचार्य)

(आ) मक्षिका व्रणजातस्य निक्षिपन्ति यदा कृमीन्। (सुश्रुत)

(इ) मक्षिकोपसर्पणात् व्रणे कृमयः पतन्ति। (उल्हण)

आकार तथा वर्ण।

आकार- अणु, पादरहित तथा गोल होता है।

वर्ण- रंग ताम्रधातुके सदृश कुछ लाल होता है। सुश्रुतने कृष्णवर्ण भी लिखा है, इन वर्णों के अतिरिक्त वेद में अरुण और बभ्रु (पिङ्गल) वर्ण भी इनका माना है। यथा—

(अ) असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः।

(आ) अणवो वृत्ताश्चापादाश्च- वर्णस्ताम्रः। (चरक० विमान अ० ७)

(इ) अपादा वृत्तताम्राश्च। (अष्टाङ्गहृदय)

(ई) ते रक्ताश्च कृष्णाश्च। (सुश्रुत० उ०अ०५४)

नाम।

चरक और सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से रक्तज कृमियों को अदृश्य माना है, परन्तु उनकी संख्या और नाम में अन्तर पाया जाता है। वेद में अदृश्य कृमियों का नाम पृथक् नहीं लिखा है, परन्तु निम्नलिखित नाम सम्भव हो सकते हैं-

संख्या	सुश्रुत	चरक	वाग्भट	अथर्ववेद
१	केशाद,	केशाद,	केशाद,	शीर्षण्य
२	रोमाद,	लोमाद,	लोमविध्वंस या रोमविध्वंस	यो अक्ष्यौ परिसर्पति।
३	नखाद,	लोमद्वीप,	लोमद्वीप या रोमद्वीप,	
४	दन्ताद,	सौरस,	सौरस,	दतां मध्ये यो गच्छति।
५	किकिश,	औदुम्बर,	उदुम्बर,	ताम्र तथा कुरुण।
६	कुष्ठज,	जन्तुमार,	मातर,	अलाण्डु(कण्डू करनेवाला)
७	परीसर्प	०	०	एजत्कः।
	०	०	०	यो नासे परिसर्पति।

रोगोत्पत्ति अथवा प्रभाव।

सुश्रुत तथा चरक के मत में रक्ताधिष्ठान के रोग, कुष्ठ, ज्वर, राजयक्ष्मा, नेत्राभिष्यन्द, औपसर्गिक रोग (मसूरिका आदि), नासाकृमिरोग, कृमिजशिरोऽभिताप, कृमिदन्तक और कृमिग्रन्थि आदि रोग उत्पन्न होते हैं। यथा-

(अ) कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च...(सुश्रुत कुष्ठनिदान)

(आ) केशश्मश्रुनखलोमपक्ष्मापध्वंसो व्रणे गतानां च हर्षकण्डूतोदसंसर्पणानि, अतिवृद्धानां च त्वक्शिरास्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति।
(चरक० विमान० अ० ७)

(इ) साध्यानामपि ह्युपेक्षमाणानामेषां त्वङ्मांसशोणितलसीकाकोथक्लेदसंस्वेदजाः कृमयोऽभिमूर्च्छन्ति .. कृमयस्त्वगादींश्चतुरः शिरा स्नायून्मांसान्यस्थीन्यपि च तरुणानि खादन्ति।
(चरक- कुष्ठनिदान)

(ई) सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि, सपित्तानि, सश्लेष्माणि सकृमीणि चोपदिश्यन्ते।
(सुश्रुत०)

(उ) नासा-कृमिरोग-

मूर्च्छन्ति कृमयश्चात्र श्वेताः स्निग्धास्तथाणवः।
कृमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम्॥
(सुश्रुत उत्तर अ० २४)

(ऊ) कृमिज शिरोऽभिताप-

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः। घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं शिरोऽभितापः कृमिभिः स घोरः॥
(सुश्रुत- उत्तर अ०- २५)

(ए) कृमिदन्तक-

कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः कृमिदन्तकः॥॥
(सुश्रुत- निदान, अ० १६)

(ऐ) कृमिग्रन्थिक-

कृमिग्रन्थिर्वर्त्मतः पक्ष्मतश्च कण्डूं कुर्युः कृमयः सन्धिजाताः। नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरंत्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः॥ (सुश्रुत-उत्तरअ० २)

(ओ) कुष्ठ (अस्थिमज्जस्थ)-

नासाभङ्गोऽक्षिरोगश्च क्षतेषु कृमिसम्भवः।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते॥
(सुश्रुत०)

व्याधिक्षमता (इम्यूनिटी Immunity)।

सब प्राणी इन जीवाणुओंसे से आक्रान्त नहीं होते हैं और आक्रान्त होनेपर भी रोगपीडित नहीं होते। इस का कारण मानवशरीरके अन्दर व्याधिक्षमता ॐ नाम की शक्ति का उपस्थित होना माना जाता है। इस शक्ति का कार्य निम्न लिखित है-

(१) शरीर में प्रविष्ट विकारी जीवाणुओंकी वृद्धि रोकना।

×(२) शरीरमें बढे हुये जीवाणुओं से सम्भावित रोगोत्पत्ति को रोकना।

+(३) उत्पन्न हुये रोग की वृद्धि को रोकना। (रोग का बल रोकना)

यह व्याधिक्षमता दो प्रकार की होती है-

(१) ॐसहज- (Natural) इसके ३ भेद होते हैं—

ॐ न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति। (चरक)

× व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वम्।

+ ,, ,, व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्। (चक्रपाणि दत्तकृत चरकटीका)

ॐ तत्र ये घृतक्षीरतैलरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरंजीविनश्च भवन्ति।
(चरक- विमान, अ० ८)

क्लेश शब्द का दुःख या विकार (व्याधि) अर्थ है। यथा- विकारो दुःखमेव च। (चरक० सूत्र० अ० ९)

(१) जातिगत- (Species) बकरी * राजक्ष्मा के लिये व्याधिक्षम है ।

(२) वंशगत (Racial)- आफ्रीका के नीग्रोवंशके लोगोंमें पीत ज्वर के लिये क्षमता है ।

(३) व्यक्तिगत× (Individual)- प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष व्याधि के लिये क्षम होता है।

(२) जन्मोत्तर या उपलब्ध (Acquired) यह उत्पन्न हुये किसी रोगद्वारा या जीवाणु अथवा जीवाणुविषनाशक पदार्थ (वैक्सीन तथा सीरम) के इंजेक्शनद्वारा या अन्य प्रकार से शरीर में पहुंचने से उत्पन्न होती है ।

जन्मोत्तर व्याधिक्षमता के दो प्रकार होते हैं-

(१) रोगलब्ध, (२) कृत्रिम ।

(१) रोगलब्ध- के तीन प्रकार माने गये हैं।

(अ) स्थायी क्षमता-फिरङ्, मसूरिका से मुक्त होने पर होती है।

(आ) चिरकालीन क्षमता-रोमान्तिका रोहिणी से मुक्त होनेपर होती है ।

(इ) अचिरकालीन क्षमता - इन्फ्लूञ्जा, विशूचिका, न्यूमोनिया, मुक्त होनेपर।

(२) कृत्रिम क्षमता—

यह दो प्रकार की होती है—

(१) सक्रिय- रोगको रोकने के लिये वैक्सीन के रूप में इसका प्रयोग होता है, यथा- मसूरिका+ का टीका ।

(२) निष्क्रिय- रोगकी चिकित्सा के लिये इसका सीरम के रूप में प्रयोग होता है । यथा प्लेग का सीरम ।

चिकित्सा ।

दो प्रकार की होती है ।

(१) जीवाणुनाशक-औषधियां, सूर्य अग्नि आदि ।

(२) रोगनाशक औषधियां ।

(१) जीवाणुनाशक ।

(अ) औषधियां ।

अजभृङ्गी (काकडासिंगी), गुग्गल, पिलू नलद (जटामांसी), औक्ष्यगन्धि, प्रमन्दकी, अगर राल, वच, गौरसर्षप, लवण निम्बपत्र, आदि यथा-

अजभृङ्ग्यजरक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय ।
(अथर्व का० ५)

---

* इसी लिये राजयक्ष्मा के रोगी को बकरी के दुग्ध घृतादि देनेका विधान किया है । यथा-

(अ) अजाक्षीरं घृतं मासं च शोणितम् ॥ (अष्टाङ्गहृ० चि०)

(आ) अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ्मांसालयानि प्रतिसेवमानः । स्नानादिनानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥ (सुश्रुत०)

(इ) अजां वा पर्युपासीत षण्मासानुटजे वसन्। तत्पयोमूत्रविड्वृत्तिपरिसेकप्रघर्षणः । ताभिः परिवृतः स्वप्याच्छकृद्रेणुसंकरे । एतद्रसायनं रोगराजस्य नाशनम्॥ अजाशकृद्रसक्षीरदधिमूत्रैः भृतं घृतम् । सपंचपटुपंचांगं क्षयी क्षीरानुपः पिबेत्॥ (अष्टांग-हृदय)

× न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति ।

+ मसूरिका-प्रतिषेध के लिये सक्रिय क्षमता उत्पन्न करनेका ज्ञान भारतियों को पहिले से ही था । यथा-

धेनुस्तन्यमसूरी वा नराणां च मसूरिका। तज्जलं बाहुमूलाच्च शस्त्रान्तेन गृहीतवान् । बाहुमूले च शस्त्रेण रक्तोत्पत्तिकरेण च। तज्जलं रक्तमिलितं स्फोटकज्वरसंभवम् ॥

गुग्गलुः पिलूनलद्यौक्ष्यगन्धिः प्रमन्दकी।
तत्परेताप्सरसः। (अथर्व० का० ४)

सुश्रुतसंहितामें भी लिखा है-

ततो गुग्गल्वगुरुसर्जरसवचा गौरसर्षपचूर्णैर्ल-
वणनिम्बपत्रद्यामिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपैर्धूपयेत्।
(सुश्रुत० सूत्र अ० ५)

(आ) सूर्य *-

उद्यन्नादित्यः क्रुमीन्हन्तु
विम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ॥१॥ (अथर्व०)

(इ) अग्नि-

उप प्रागाद्देवोऽग्नी रक्षोहा अमीवचातन।
(अथर्व० १।२८।१)

(२) रोगनाशक।

औषधियों द्वारा रोग नष्ट करने के अनेकों प्रयोग चरक और सुश्रुत आदि संहिताओं में कुष्ठ आदि रोगों की चिकित्सा में आये हैं, उनको प्रसिद्ध होनेसे तथा लेख के विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा जाता। पाठक उक्त स्थलों पर स्वयं देख लें।

जीवाणु अथवा अदृश्य कृमियों वर्णन वेद तथा आयुर्वैदिक सिद्धान्तानुसार संक्षेपसे यहां किया गया है। अब दृश्य कृमि (वर्म) या स्थूल कृमियों का वर्णन संक्षेपसे किया जाता है-

दृश्य या स्थूल कृमि (Worm)

बाह्य कृमि
कफज
पुरीषज
स्नायुक

} ये सब दृश्य कृमि हैं।

यथा-

दृश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु कृमीणां परिकीर्तिताः।
(सुश्रुत- उत्तर० अ० ५४)

दृश्य कृमियों की संख्या में शास्त्रों में भेद पाया जाता है। यथा-

(१) सुश्रुत के मत में १३ दृश्य कृमि हैं।
(२) चरक ,, (दो बाह्य कृमि मिलाकर) १४ ,,
(४) शाङ्र्गधर ,, (स्नायुकसहित) १५ ,,

इनका वर्ण, आकार और रोगोत्पत्ति (प्रभाव) निम्न प्रकार से हैं-

संख्या।	नाम।	स्थान	आकार तथा वर्ण।	रोग।
१	यूक	[बाह्य कृमि, केश	[तिलप्रमाण,	कोठ, पिडका, कण्डू,
२	लिक्षी	और वस्त्र में	बहुपाद,	गण्ड (बडी पिडका)।
		रहते हैं।]	सूक्ष्म]	
३	अन्त्राद्	[ये कफज	[स्थूल, चर्म	हृल्लास (वमन-
४	उदरावेष्ट	कृमि, बढने	लतासदृश,	होनेकी इच्छा),
५	हृदयाद	पर आमा	गण्डूपद (केंचुआ)	(लालास्राव), अवि-
६	महागुद	शय में चारों	और अन्न के अंकुरों	पाकता, अरुचि,
७	चुरव	ओर घूमते	के तुल्य तनु, दीर्घ अण्ड	मूर्च्छा, वमन, ज्वर,
८	दर्भकुसुम	हैं।]	श्वेत और ताम्र रंगके	आनाह, कृशता,
९	सुगन्ध		सदृश वर्ण में होते हैं।	छींक, जुकाम
१०	ककेरुक	[ये	[स्थूल या	अतिसार, अजीर्ण,
११	अकेलक	पुरीषज,	पतले, गोल,	शूल, कृशता, पाण्डुता

* आधुनिक पाश्चात्य डाक्टर भी सूर्यकिरणोंद्वारा जीवाणुओं का विनाश होना मानते हैं। जैसे एन्थ्रेक्स जीवाणु के स्पोर, जो कई वर्ष के शुष्कीकरण से भी नहीं मरते, वह सूर्य के प्रकाश से १॥ घण्टे में मर जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर और राजयक्ष्मा के जीवाणु भी सूर्यप्रकाश में शीघ्र मर जाते हैं।

१२	सौसुराद	पक्वाशय में	काले पीले	कठोरता; रोमहर्ष ।
१३	सशूल	उत्पन्न	श्वेत]	मन्दाग्नि, गुदकण्डू ।
१४	लेलिह	होते हैं ।]		
१५	स्नायुक	कफरक्तज	पतला, सूतके धागे की माति बहुत लम्बा, श्वेत ।	स्नायुक (नहरुआ) रोग जयपुरराज्य के शेखावाटी प्रान्त में बहुत होता है।

जाति ।

दृश्य कृमियों की दो जातियां होती हैं ।

(१) पुरुषजाति (२) स्त्रीजाति । यथा-

सर्वेषां च कृमीणां सर्वासां च कृमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरोदहाम्यग्निना मुखम् ॥१०॥*
(अथर्व० का० ५)

चिकित्सा ।

चिकित्सा की ३ अवस्थायें हैं ।

(१) अपकर्षण ।

(२) प्रकृतिविघात ।

(३) निदानपरिवर्जन । +

यथा-

तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं चेति । (चरक, विमान० अ० ७)

(१) अपकर्षणचिकित्सा ।

(अ) बाह्य कृमियों को हाथ या अन्य किसी सूक्ष्म संदश से पकड कर फेंकना ।

(आ) औषधिद्वारा अपकर्षण- शिर, नाक आमाशय और पक्वाशय से कृमि निकालना । इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जाते हैं ।

(१) शिरो-विरेचन,

(२) वमन,

(३) विरेचन,

(४) आस्थापन, या निरूहण,

(२) प्रकृतिविघात ।

कफ और पुरीष विरोधी, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार, और उष्ण द्रव्यों का सेवन करना ।

(३) निदान-परिवर्जन ।

मलिन वस्त्र और अपवित्रता का त्याग, उडद की पिट्ठी, खट्टे, नमकीन, गुड, शाक, मांस, मछली, दूध, दही, सिरका, आदि अधिक मात्रामें खाना छोड देना चाहिये । चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन चरक-संहिता विमानस्थान के सातवें अध्याय में देखना चाहिये ।

अथर्ववेद में अदृश्य और दृश्य कृमियों के नाम एक साथ लिखे हैं, तथापि पृथक् पृथक् उनका वर्णन नहीं दिया है । इस लिये हम भी उनका सामान्य रूप से वर्णन करते हैं । यथा-

* इस मन्त्र में 'सर्वेषाम्' पद से पुरुष-जाति और 'सर्वासाम्' पद से स्त्रीजाति के कृमि का बोध होता है ।

+ सुश्रुत ने भी लिखा है-

संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । (सुश्रुत० चि० अ० १)

संख्या ।	नाम ।	आकार ।	वर्ण ।
१	कुरूर	त्रिशीर्षाण-तीन शिरवाले,	कृष्ण,
२	अलगण्डु	त्रिककुद-तीन ककुदवाले,	रोहित (लाल)
	(कण्डूत्पादक)	सर्वकेशक-चारों ओर सूक्ष्म	बभ्रु (पिङ्गल),
३	शलुन	बालवाले,	शितिकक्ष (श्वेत कुक्षिवाले),
४	अवस्कव	येवासः गण्डूपद (केंचुआ	क्षिति बाहुः श्वेत
५	व्यध्वर	सदृश आकारवाले,)	पैरवाले।
६	वेवाष		सारङ्ग चित्रविचित्र
७	कष्कल		विरूपभिन्न
८	एजत्क		रूपवाले ।
९	शिपिवित्नुक		
१०	रुद्र		

उपसंहार--

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं, कि वेद तथा आयुर्वेद में जीवाणुओं का वर्णन अदृश्य कृमि के रूप में होने से, जीवाणु-वाद का अस्तित्व प्रतिपादित है। इसलिये यह वैद्यों के लिये कोई नवीन विषय नहीं है, परन्तु सर्वदा इसको गौण (अप्रधान) समझकर पुरातन वैद्य-विशारदोंने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था, अब यदि मननशील विद्वान् विचारपूर्वक इस ओर विशेष श्रम करेंगे, तो आयुर्वेदमें जीवाणु-वाद की स्थिति वास्तविक रूपसे समझकर रोगों के रहस्योद्घाटन में अवश्य समर्थ होंगे।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी का
कपोलकल्पित चञ्चल देवतावाद!!

(संपादकीय)

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजीने मनघडन्त कपोलकल्पित चञ्चल देवतावाद को ऋषि दयानन्दजी के नाम पर मढनेका अधार्मिक यत्न करने का अद्भुत साहस किया है! कोई भी विद्वान्, सच्चा धर्मजिज्ञासु अथवा सत्यप्रेमी इतना साहस नहीं कर सकता। आज तक किसीने भी ऐसा घोर सत्यापलाप नहीं किया और आगे भी ऐसा अधर्म करने का साहस किसी में नहीं होगा! इस विषयका एक लेख आपने 'आर्यमित्र' में प्रकाशित किया और उसकी नकल 'वैदिक धर्म' में प्रकाशनार्थ मेरे पास भेज दी। मैं सोचता रहा कि जो लेख प्रारंभ से अन्ततक अविद्या और भ्रान्ति से भरा हुआ है, वह 'वैदिक धर्म' में छापा जाय अथवा न छापा जाय। अन्त में निर्णय यह किया, कि जिस कारण वह लेख 'आर्यमित्रमें' छापा गया है, उस कारण वह 'वैदिक धर्म' में छापा जाय और उसपर संपादकीय टीकाटिप्पणी दी जाय।

वस्तुतः यह लेख आर्यशत्रुसमान होनेसे 'आर्यमित्र' में छापना नहीं चाहिये था। तथापि आजकल सांप्रदायिकता चारों ओर चल रही है, इसलिये सांप्रदायिक मन सत्यासत्यका निर्णय करने में असमर्थ हि रहता है। नहीं नहीं, सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बतलाकर, जनता को भ्रम में डाल कर, अपने स्वार्थका साधन करने में रुचि रखता है! जगत् में इस सांप्रदायिकताने जितने घोर अनर्थ किये हैं, उतने सिंहव्याघ्रोंने भी नहीं किये होंगे। इस लिये पं० ब्रह्मदत्तजी के इस अनर्थकारी लेख का वास्तविक स्वरूप जनता के सामने हम रखना चाहते हैं।

इस समय तक वैदिक धर्म में ऐसे लेख हमने नहीं लिखे, परंतु अब लाचारी हुई है। इस पत्र के संपादक के लिये अपनी स्तुतिनिन्दा की पर्वाह नहीं है, परंतु पं० ब्रह्मदत्तजी जिस घोर असत्य का प्रचार करना चाहते हैं, यदि वही मत जनताने स्वीकृत किया, तो सैकडों गुरुकुलों और आचार्यकुलों से तथा अन्यत्र आर्ष ग्रंथों का अध्ययन करके जो विद्वान् बाहर आवेंगे, उनके मार्ग में भयानक कांटे बिछाये जांयगे और उनको सत्यका सहारा लेकर जीवित रहना मुश्कील हो जायगा। इस भावी दुःख को दूर करनेके लिये पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के लेख को हम अपनी टीका टिप्पणीयों के साथ छापते हैं।

उनके लेख के प्रत्येक परिच्छेद को क्रमपूर्वक देकर अपनी टीका उस पर समालोचना के नाम से हम करेंगे। पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं-

(१) मनुष्यसमाज, नहीं नहीं प्राणिमात्र, के लिये आवश्यकीय ज्ञान का निर्देश बीजरूप में परमदेव प्रभु ने उसमें कर दिया। वेद का यह विमल विज्ञान शताब्दियों से सामयिक रूढिवादों रूपी अन्धकार में आच्छादित था। परमपिता परमात्मा की अपार कृपा से ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने तपोबल-ब्रह्मचर्य और योगशक्ति से इन समस्त अवैदिक रूढिवादों के पर्वत को जिसके नीचे भारत-विद्वत्समाज दबा चला आ रहा था, भारतीय जनसमाज के प्रचण्ड तूफान के होते हुये भी परमदयालुता से उसे छिन्न-भिन्न किया। रूढियों के घोर प्रतिबन्ध को प्राचीन ऋषिमुनियों के आधार पर ध्वस्त किया। तब कहीं बेचारा वेद सांस ले पाया, नहीं तो उसकी दुर्गति करते-करते न जाने उस बेचारे (वेद) के नाम पर क्या क्या अनर्थ भारतवर्ष में नहीं फैल गये थे।

समालोचना।

इस समयतक हम समझते थे, कि वेद का ज्ञान मनुष्य ही जान सकता है, परंतु इस वाक्य के प्रारंभ में पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि वेद का ज्ञान 'प्राणिमात्र के लिये

आवश्यक है।' कृमि, कीट, पतंग, प्राणी हैं, इनके लिये वेदज्ञान आवश्यक किस तरह है? और वे इस वेदज्ञानको किस तरह ग्रहण कर सकते हैं? पं० ब्रह्मदत्तजी बतावें। यों हि आडंबर रचनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इस विषयमें हमारा निश्चित मत यह है, कि वेद का ज्ञान ग्रहण करनेका सामर्थ्य केवल मनुष्य में ही है और मनुष्यको ही उसके ग्रहण की तैयारी करनी चाहिये।

आगे रूढियों को तोडनेके लिये ऋषि आये, यह हम मानते हैं। ऐसे ऋषि आते रहें और आगे भी आते रहेंगे। मुसलमानों के समान किसी एक ऋषिके आनेसे ऋषि आने की परंपराकी समाप्ति नहीं होती। परमेश्वरप्रेरणासे दिव्य ज्ञानद्रष्टा ऋषि आते ही रहेंगे। यही उसकी दयालुता है।

आगे पं० ब्रह्मदत्तजीने लिखा है, कि रूढियों के घोर प्रतिबंध को प्राचीन ऋषिमुनियों के आधार पर ध्वस्त किया, यह ठीक है। हम भी यही मानते हैं, परंतु यह बात अधिक स्पष्ट होने के लिये पं० ब्रह्मदत्तजी से पूछते हैं, कि जिन ऋषिमुनियों के आधारपर रूढिको ध्वस्त किया, उन ऋषिमुनियों के नाम और उनके ग्रंथों के नाम कृपा करके वे प्रकाशित करें। केवल ऋषिमुनियों के नाम का डंका बजानेसे काम नहीं चलेगा, इस बातको वे खूब ध्यान में धारण करें। यहां ऋषिनाम और ग्रंथनाम बताने पडेंगे और उनको स्वतःप्रमाण–परतःप्रमाण की कसौटीपर उन ग्रंथों की प्रामाणिकता भी निश्चित करनी पडेगी।

स्वतःप्रमाण।

पं०ब्रह्मदत्तजी खूब समझ कर चलें, कि हम केवल अकेले वेदचतुष्टयको हि स्वतःप्रमाण मानते हैं। हमारे आचार्य ने हमें यही दिखाया है। शतपथादि ब्राह्मणग्रंथ और ऋषिमुनि के ग्रंथ भी हमारे लिये परतः प्रमाण हैं। फिर वह ऋषि हो, महर्षि हो या और कोई परात्पर सन्तमहन्त हो। हमें किसी बडे नाम के नीचे दबनेवाले नहीं हैं। एक वेदहि स्वतःप्रमाण है। अन्य ग्रंथों का प्रामाण्य वेदप्रामाण्यसे निश्चित होनेपर हम मानेंगे। अतः किसी ऋषिके दबावके नीचे हमें दबाने का यत्न पं० ब्रह्मदत्तजी न करें। पू० स्वामिजी के तर्क ऋषिका महत्त्व जानकर उत्तर देने का यत्न करें। जिस ऋषिमुनि के प्रमाण से रूढी को दबाया, उनके नाम वे प्रकाशित न करेंगे, तो उनका पक्ष टूट जाने में क्षण की देरी नहीं लगेगी।

वेद के नाम पर जो पूर्वकाल में किसीने अनर्थ फैलाये होंगे, उनकी हमें आज कोई फिक्र नहीं है। परंतु पं० ब्रह्मदत्त जैसे स्वामिजी भक्त होनेका दावा करते हुए, उनके उपदेश के विरुद्ध गुरुडम चलानेका यत्न कर रहे हैं, यह बहुत ही अनर्थकारक है। स्वामिजीका सब कार्य तोडनेके लिये ये पं० ब्रह्मदत्तजी समाज में घुसकर यत्न कर रहे हैं!! पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें और यदि ये अंधविश्वास फैला रहे हैं, ऐसा पाठकोंका विचार हुआ तो उनको उचित रीति से समझानेका भी यत्न करें।

(२) आगे पं० ब्रह्मदत्तजी का प्रमादयुक्त कथन इस प्रकार है–

जैसे अन्य अनेक रूढियां वेद के विमल प्रकाश को रोकतीं रहीं उसी प्रकार देवतावाद की रूढि ने भी वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप को आच्छादित कर रक्खा था। लोगों ने देवतावाद के बतानेवाले प्रचलित ग्रन्थों, सर्वानुक्रमणी आदि को ही परम प्रमाण मान कर वेद को नपुंसकसा बना रक्खा था, क्योंकि केवल इनके आधार पर वेद का कुछ भी महत्त्व संसार की समक्ष में नहीं आता था। ऋषि दयानन्द ने दीर्घ–दृष्टि या दूसरे शब्दों में प्राचीन ऋषिमुनियों की दृष्टि से वेद के नाम पर इस घोर अनर्थ को अनेकविध तर्क (युक्ति)तथा शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा ध्वस्त किया। और वेदमन्त्रों के इन प्रचलित देवताओं को न मानकर अपने तपोबल से मंत्रों के भिन्न देवता भी किये।

समालोचना।

इस कथन का एक एक अक्षर अशास्त्रीय और अशुद्ध है। इनका कथन यह है—

१ सर्वानुक्रमणी के देवतावाद को मानने से वेद नपुंसक बन गया था!

१ ऋषि दयानंदने प्राचीन ऋषिमुनियों की दृष्टिसे और अनेकविध प्रमाणोंसे उस देवतावादसे बनी नपुंसकता को ध्वस्त किया।

२ ऋषि दयानंदने वेदमंत्रोंके इन प्रचलित देवताओंको न मानकर अपने तपोबलसे मंत्रोंके भिन्न देवता भी किये।

ये महासिद्धांत पं० ब्रह्मदत्तजीने यहां लिखे हैं। सबसे प्रथम हम यह जानना चाहते हैं, कि जिन प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रंथों का आश्रय लिया गया, उन के नाम और ग्रंथ कौनसे हैं। तत्पश्चात् जिन अनेकविध प्रमाणों का आश्रय किया था, वे प्रमाण भी क्रमशः लिखे जाय। वे प्रमाण उन ऋषिग्रंथोंसे भिन्न थे या वे भी ऋषि–ग्रंथ ही थे। यदि ऋषिग्रंथ थे तो फिर 'अनेकविध प्रमाण'। कहने की जरूरत कहां है?

सर्वानुक्रमणी का देवतावाद माननेसे वेद नपुंसक बन गया था, इस के कमसे कम दस उदाहरण या अधिक से अधिक सौ तक उदाहरण पं० ब्रह्मदत्तजी प्रकाशित करें। सर्वानुक्रमणी की देवता मानने से वेद नपुंसक बन गया था, यदि यह कथन पं० ब्रह्मदत्तजीने भ्रमसे किया हो, तो यह वाक्य वे अब भी वापस ले सकते हैं। यदि वे वापस नहीं लेना चाहते, तो वे जितने उदाहरण दे सकते हैं, देते जांय और हम यह बतानेका जिम्मा अपने ऊपर लेते हैं, कि स्वामिजीने सर्वत्र जो देवता माने हैं, वे बहुतांशमें सर्वानुक्रमणी से ही माने हैं, सौ में ९९ देवता सर्वानुक्रमणी के ही स्वामिजीने स्वीकारे हैं। जहां दूसरे लिखे हैं वहां कैसी अशुद्धि हुई है, इसका वर्णन हम आगे कर देंगे। अशुद्धि स्वामिजी की नहीं, अपितु वैदिक यंत्रालय के पंडितों की असावधानतासे वह हुई है।

तपोबलसे ऋषिदेवता लिखनेका प्रमाण क्या? जहां सूक्त १।४६ में 'प्रागाथं' देवता लिखा है, क्या यह तपोबलसे निश्चित किया है? वस्तुतः यह छंदका नाम है, देवता का है ही नहीं। प्रूफ शुद्ध करनेवाले पंडितों को अक्ल नहीं थी, इस कारण यह अशुद्धि हुई है। इसी को पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं कि यह देवता तपोबल से लिखी है। धन्य है विद्वत्ता और धन्य है आचार्यपर श्रद्धा! यदि इस समय स्वामिजी जीवित होते तो पं०ब्रह्मदत्तजीको इसीलिये बहिष्कृत कर देते। क्योंकि भूल से देवता के स्थानपर छन्द का नाम छपा गया और पं० ब्रह्मदत्तजी भ्रांतिसे समझ रहे हैं और प्रचार कर रहे हैं, कि यह स्वामीजीने तपोबलसे नये ढंगसे देवता निर्माण की है! जो स्पष्ट अशुद्धि है, उसको भी नहीं मानना! क्या यह विश्वास है, या अन्धविश्वास अथवा महत्तमान्धविश्वास? ऐसे असत्य से स्वामिजी का पंथ अज्ञानी असंस्कृतज्ञ जनता में खूब फैलेगा और उन सब लोगोंके मार्गदर्शक ऋषि पं० ब्रह्मदत्तजी स्वयं बन जायंगे! और इससे उनका अच्छा योगक्षेम भी चलेगा।

परंतु जो संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ होंगे क्या वे छंद को भी देवता मानेंगे? और वह देवता स्वामिजीने अपने तपोबलसे लिखी है, ऐसा भी मानेंगे? ऐसे कोई अंधविश्वासी इस समय होंगे तो उनकी नामावली पं० ब्रह्मदत्तजी शीघ्र प्रकाशित करें। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं। मै तो सब अशुद्धियां हटाकर ऋषिका यश अधिक निर्मल करना चाहता हूं। ये प्रमाद वैदिक यंत्रालय के अज्ञानी पंडितों के असावधानी के कारण हुए हैं। ये प्रमाद जबतक वहां रहेंगे तबतक कोई विद्वान् उसको ठीक मान ही नहीं सकता। पं० ब्रह्मदत्तजी इस विधानको वापस लें। उनसे यह सिद्ध होनेवाली बात नहीं है। और यह तरीका भी अच्छा नहीं है, कि जो अशुद्धि है, उसीको 'तपोबल और योगबल' के सहारे शुद्ध सिद्ध करनेका यत्न करना।

ईसाई यही कहते हैं, 'बैबल में शुद्ध सत्यज्ञान कहा है, वह इस कारण सत्य है, कि पैगंबर ईसा ईश्वर का पुत्र होनेसे अशुद्ध कह ही नहीं सकता था।'

मुसलमानों का भी कथन ऐसा ही है, "चूं कि पू० पै० महम्मद साहब को ईश्वर से इल्हाम होता था, इस लिए उनके द्वारा कहा हुआ कुराणशरीफ सत्य ज्ञान है।"

पं० ब्रह्मदत्तजी ठीक वही बात कह रहे हैं, कि "स्वामिजी योगी और तपस्वी थे, और उनके नामपर जो मुद्रित हुआ ग्रंथसमूह है, वह सब अक्षर अक्षर सत्य है, क्योंकि वह सब योगबल और तपोबलसे लिखा गया था।" देवता के स्थानपर छन्दका नाम भी छपा क्यों न हो, वह भी योगबल और तपोबलसे लिखा गया ऐसा ही

मानना चाहिये, क्योंकि यह सब योगबलसे लिखा था, जिसकी सत्यता पं० ब्रह्मदत्तजी कर रहे हैं और पं० ब्रह्मदत्तजी कभी असत्य नहीं कहेंगे !!

जो पाठक असत्यको सत्य मानना चाहेंगे, वे वैसा बेशक मानें और इसी तरह पंथ का प्रचार करें। हम यहां इतना ही कहना चाहते हैं, ऐसी बातें हमें पसंद नहीं, और इसी प्रकारके अन्धविश्वास और संप्रदायाभिमानको स्वामिजीने तोडा था। यदि किसी उपायसे विद्वानों को कोई मार्ग संमत हो सकता है, तो यही हो सकता है, जो सत्य सिद्ध होगा।

(३) आगे पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं—

वेद का मन्त्र जिस विषय को कहता है, वही उस मन्त्र का देवता कहाता है।—

'या तेनोच्यते सा देवता' ॥

मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय (Subject-matter of Mantra) का नाम ही देवता है। इसी आधार को लेकर ऋषि-दयानन्द ने अपने यजुर्वेदभाष्य तथा ऋग्वेद-भाष्य में तथा सूक्तों के आरम्भ में यास्कादि ऋषिमुनियों के विरुद्ध होने से (जिसमें हम प्रमाण उपस्थित करेंगे) देवतावाद की प्रचलित रूढिको न मानकर मंत्रोंके भिन्न देवता लिखे।

समालोचना।

पं० ब्रह्मदत्तजीका यह कहना, कि 'मन्त्र जिस विषयका प्रतिपादन कहता है, वह 'विषय' उस मंत्रका देवता है' यह सरासर गलत है। विषय देवता नहीं हो सकता। ऐसा कहना अवैदिक है। इन्द्रदेवता के मंत्रों में कई स्थानपर 'युद्धप्रकरण, राजप्रकरण, शत्रुनिवारण' इत्यादि अनेक विषयों का प्रतिपादन है, परंतु ये विषय वहां के देवता नहीं है, उन सब मंत्रों का एक इन्द्र ही देवता है। अथर्ववेद के कां० १२।१ में पृथ्वीदेवता है। इस सूक्त में राज्यप्रकरण है, परंतु इस का देवता 'राजप्रकरण' नहीं है, इसका देवता पृथ्वी हि है। विषयको देवता कहना अज्ञान का दर्शक है। श्रीस्वामिजीने भी अग्नि-देवता के सूक्तों में कई भौतिक अभौतिक वर्णन बताकर कई विषयों का भाव दर्शाया है, परंतु किसी भी स्थानपर वर्ण्य विषयको देवता नहीं माना। यह पं० ब्रह्मदत्तजी की अपनीहि कल्पना है। वह अशास्त्रीय, अवैदिक, अन्याय्य और असत्य है, परंतु उनको ऐसा भ्रम हुआ है, कि यही स्वामिजी का मत है और वे वैसा न होते हुए भी अपना मत स्वामिजी के नामपर मढना चाहते हैं। धन्य है इन की !

इस कथन में पं० ब्रह्मदत्तजीने और भी एक बडी भारी भूल कही है। वह यह है कि 'यास्कादि मुनियों के विरुद्ध स्वामिजीका देवतावाद है।' यह पं० ब्रह्मदत्तजीने स्वीकार किया है। यहां ये बतायेंगे तो अच्छा होगा, कि जैसा स्वामिजीका देवता यास्कादिनिरुक्त के विरुद्ध है, वैसा ही शतपथादि ब्राह्मणों के विरोधी है वा नहीं। पं० ब्रह्मदत्तजी को 'विरोध' और 'भिन्नता' के स्वरूपका पता नहीं है। भिन्नता को ही वे विरोध मान बैठे हैं। 'चत्वारि शृंगा' मंत्र का अर्थ यास्क, पतंजलि और भाष्यकार में भिन्न है, परंतु यह परस्पर विरोधक नहीं है। इसी तरह इस मंत्रके कई और भी अर्थ किये जा सकते हैं, अनेक अर्थ होनेसे परस्परविरोध नहीं हो सकता। यह दर्शानेके लिये श्रीस्वामिजीने अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के अन्त में लिखा है कि 'शतपथादि ग्रंथों में जो यज्ञप्रक्रियादिकों का वर्णन है, उसको यहां दुहराया नहीं जायगा, अपितु जो अर्थ इस समय तक किसी ग्रंथ में नहीं बताया और जो वेद का एक अर्थ है, वही यहां बताया जायगा।' इस तरह यह भाष्य पूरक है न कि विरोधक।

वेदका वैज्ञानिक अर्थ किसी भाष्यकारने नहीं किया, वह स्वामिभाष्य में है। यह अर्थ यास्क शतपथादि का विरोधी नहीं है, अपितु पूरक है। इसी तरह आध्यात्मिक और राजकीय, सामाजिक आदि अर्थोंके विषयों में जानना चाहिये। स्वयं स्वामिजी अपने अर्थ को यास्क-शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय आदिकों के विरोधी नहीं मानते, परंतु इतनाही कहते हैं, कि जो अर्थ उन्होंने नहीं किया, वही हम यहां बताते हैं, शेष यज्ञादि प्रकरण उन्हीं ग्रंथों में देख लेना।

अतः यहां पं० ब्रह्मदत्तजी से कहना आवश्यक है, कि वे विरोध और भिन्नता का शास्त्रीय स्वरूप पहिले जानने का यत्न करें और पश्चात् किसी के विषयमें कुछ लिखें

के लिये उद्यत हों। नहीं तो जो पाठक संस्कृत नहीं जानते, उनके मन में अशुद्ध बातें स्थिर हो जायंगी और उनका पाप पं० ब्रह्मदत्तजी के सिरपर आ जायगा।

(४) आगे पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं, वह और भी विचित्र और तिरस्करणीय है और अवैदिक भी है–

उदाहरणार्थ– 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु'

इत्यादि यजुर्वेद के इस प्रथम मन्त्र का देवता ऋषि दयानन्द ने 'सविता' माना है और कात्यायन के नाम से कही जानेवाली यजुःसर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का शाखादि देवता लिखा है। स्वामीजी महाराज ने इस सर्वानुक्रमणी के देवतावाद को वेद के अनन्त विज्ञान के प्रकाश में अत्यन्त बाधक होने के कारण न मानकर यजुर्वेदभाष्य में प्रथमाध्याय के ३१ मंत्रों में २९ मंत्रों का देवता सर्वानुक्रमणी से भिन्न माना। इतने से ही पाठक समझ सकते हैं, कि ऋषि-दयानन्द कात्यायन के नाम से कही जानेवाली इस सर्वानुक्रमणी को कहां तक प्रमाण मानते हैं।

समालोचना।

यहां हम पं० ब्रह्मदत्तजीसे कहना चाहते हैं, कि वे सब से पहिले यजुर्वेद के विषयमें कुछ लिखनेके पूर्व यजुर्वेद के मंत्रों को शतपथब्राह्मण के साथ मिला कर देखें तथा स्वामिभाष्य, शतपथ और सर्वानुक्रमणी को भी मिलाकर देखें। इस के पश्चात् अर्थात् शतपथ का आशय पं० ब्रह्मदत्तजी के मस्तिष्क में उतरने के पश्चात् जो लिखना हो, वह लिखें। ऐसा करने से असमंजस विचार प्रकाशित करने का पाप उनको नहीं लगेगा।

वस्तुतः यजुर्वेद और शतपथब्राह्मण बराबर चलते हैं। यजुर्वेदके ४० अध्यायोंपर शतपथ की टीका १४ काण्डों में विभक्त हुई है। हमने यह टीका प्रतिमंत्र के साथ तुलना करके देखी है और हरएक अध्याय की शतपथीय टीका का आशय क्या है, यह बात इस तरह की तुलना से ठीक प्रकार ध्यान में आ सकती है।

पं० ब्रह्मदत्तजी प्रथमाध्याय में ३१ मंत्र हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु एक एक मंत्र के अंदर कई स्वतंत्र मंत्र अन्तर्गत हुए हैं, यह बात वे भूल रहे हैं। यजुर्वेद की यही विशेषता है। परंतु पं० ब्रह्मदत्तजीने इस विशेषता की ओर थोडा भी ध्यान नहीं दिया।

वे कहते हैं कि 'इषे त्वा' आदि प्रथम मंत्र की साकल्य से देवता 'सविता' है और शाखादि देवता नहीं हैं। इस विषयमें वे शतपथ देखें। और स्वामिभाष्य में 'एष मन्त्रः शतपथे...व्याख्यातः' यह स्थान स्थानपर दर्शाकर शतपथ देखकर अपने भाष्यकी पूर्ति करने की सूचना दी है। यह शतपथ से विरोध करनेके लिये नहीं लिखा, प्रत्युत शतपथ से मिलाकर वह अर्थ भी और यहां देखना चाहिये, ऐसा सूचित करने के लिये लिखा है। एक भी ऐसा स्वामिजीका वाक्य नहीं मिलेगा, कि जिससे शतपथ ब्राह्मण की अप्रामाणिकता सिद्ध करना उन को अभीष्ट होने की बात सिद्ध हो जाय। प्रत्युत शतपथादिकों को वे सर्वथा प्रमाण मानते थे, यह सिद्ध करनेवाले अनेक वाक्य हम बतला सकते हैं। अतः यहां पं० ब्रह्मदत्तजी से कहना इतना ही है, कि वे इस बातको सिद्ध करें कि स्वामिको शतपथ से विरोध करना मंजूर था। उनका एक भी ऐसा वाक्य बतावें।

यहां बात यह है कि यजुर्वेद में मंत्रदर्शक जो अंक है, उनके अन्दर कई मंत्र हैं और वे मन्त्र स्वतंत्र अर्थवाले हैं। उनके ऋषिदेवताछंद भी भिन्न भिन्न हैं।

इषे त्वा। ऊर्जे त्वा। वायवस्थ। देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। आप्यायध्वं। अघ्न्याः। इन्द्राय भागं। प्रजावतीः। अनमीवाः। अयक्ष्मा। मा वस्तेन ईशत। माऽघशंसः। ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात। बह्वीः। यजमानस्य पशून्पाहि॥

इतने स्वतंत्र मन्त्र इस एक मंत्र के अन्दर हैं। इनके छन्द भी भिन्न हैं। इसका बहुत विवरण है और एक अक्षर से भी यजुर्वेद के छन्द होते हैं।

अब पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि सब मंत्रकी 'सविता' देवता है। शतपथ कहता है, कि—

'इषे त्वेति वृष्ट्यै तदाह ......ऊर्जे त्वेति यो वृक्षाद्रसो जायते तस्मै तदाह।'

इस बातको दर्शाने के लिये स्वामिभाष्यमें प्रथम मंत्र के अन्त में 'एष मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः' ऐसा दर्शाया है। यह विरोध के लिये नहीं कहा गया, परंतु वह भी अर्थ यहां देखना चाहिये, इस हेतुसे कहा है। उक्त शतपथ में 'वृष्टि और वृक्षशाखारस' ये प्रथम दो मंत्रखंडों के देवता कहे हैं। यह यहां पाठक स्पष्ट देख सकते हैं।

पाठक ही यहां सोच लें कि स्वामिजी का अर्थ शतपथ के खण्डनपरक है या पूरक है। हमें इस में खण्डन अथवा विरोध नहीं दीखता। पं० ब्रह्मदत्तजी को विरोध दीखता है। हमारे मत से एक मंत्र के अनेक अर्थ हो सकते हैं, वे कैसे होते हैं, उस की कूंजी पाठक यहां देख सकते हैं। अनेक अर्थ होना यह वेद का गौरव है। अनेक अर्थ परस्पर खण्डन ही करते हैं, ऐसा कहने के लिये वहां मुख्य सिद्धान्तका विरोध होना चाहिये। ऐसा यहां विरोध नहीं है, परंतु ये अर्थ परस्पर की पूर्णता करते हुए वेद का अर्थ-गांभीर्य प्रकट कर रहे हैं।

न जाने पं० ब्रह्मदत्तजी को यहां विरोध कहां और किस कारण दीखता है। उनकी बात सिद्ध करनेके लिये स्वामिजीका कमसे कम एक वाक्य वे ऐसा निकाल देवें, कि जिस में वे शतपथ को अप्रामाणिक बताते हैं। बस, यदि उनके पास ऐसा वाक्य कोई नहीं है, तो उनका कथन स्वयं खंडित हो जायगा।

(५) आगे पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं—

मेरा कहना यह है कि ऋषि दयानन्द का देवतावाद सर्वानुक्रमणी आदि से भी प्राचीन यास्कादि ऋषिमुनियों के आधार पर होने से सत्य और माननीय है, यह सर्वानुक्रमणी हमारे लिए परम प्रमाण नहीं।

समालोचना।

यह कथन ठीक है। हमें बिलकुल पसंद है। सर्वानुक्रमणीसे भी प्राचीन देवतावादके जितने भी ग्रंथ हैं, वे सब हमें प्रमाण हैं और हम उन ग्रंथों में कहे देवता स्वीकारने को तैयार हैं। अब यहां पं० ब्रह्मदत्तजी बतावें कि ऋ० ६।४६में जो 'प्रागाथं' देवता लिखा है, वह किस ग्रंथके आधारपर लिखा है। किस प्राचीन ग्रंथ में इस सूक्तका यह देवता कहा है।

सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, निरुक्त, ताण्ड्यादि ब्राह्मण, इन अनेक ग्रंथोंमें देवताओंका निर्देश आता है, जो परस्पर काटनेवाला नहीं है, परंतु एक दूसरे का पोषक है। किसी भी ग्रंथमें उक्त सूक्तका 'प्रागाथं' देवता मिलेगा नहीं। क्योंकि यह पंडितोंकी असावधानीसे अशुद्धि छप चुकी है। जबतक पं० ब्रह्मदत्तजी इसको अशुद्ध स्वीकार नहीं करेंगे तबतक इसका आधारग्रंथ बतानेका भार उनके सिरपर रहेगा। और हम यहां पाठकों को स्पष्ट कह देना चाहते हैं, कि यह पं० ब्रह्मदत्तजीसे १००वर्षों की अवधिमें भी नहीं सिद्ध हो सकेगा। इसी प्रकारकी अशुद्धियां वैदिक यंत्रालयके अज्ञानी पंडितोंने की हैं, जो इससे पूर्व के 'वैदिक धर्म' के ३ अंकोंमें दर्शायीं हैं और छंदोंकी अशुद्धियां भी इसी अंकमें दूसरे लेखमें बतायीं हैं। पाठक इनको देखें और पं० ब्रह्मदत्तजी भी देखें और पाठकों को भ्रम में डालनेका पाप इससे अधिक न करें। इससे किसीका भी लाभ नहीं है।

किसी भी ग्रंथमें कोई देवता कही हो, उसकी ठीक ठीक परीक्षा करनेके पूर्व कोई भी उसका स्वीकार नहीं करता। पं० ब्रह्मदत्तजीने अनेकवार इस लेख में कहा है, कि मैं 'सर्वानुक्रमणी का ही देवतावाद मानता हूं' यह सर्वथा अशुद्ध है। किस सूक्तका कौन देवता है, इसका निश्चय करनेके लिए कोई योगसामर्थ्य, तपोबल की कोई आवश्यकता नहीं है। इनमें से कोई साधन न होनेपर भी कोई संस्कृतज्ञ विद्वान् थोडीसी प्रक्रिया विदित होनेसे प्रत्येक सूक्तका देवता ठीक ठीक जान सकता है। इसमें कोई अपूर्व बात नहीं है। मंत्रका जो ऋषि है, उसने जिस प्रधान नामसे देवताकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना या वर्णन किया है, वही प्रधाननाम देवता का उस सूक्तमें या मंत्रमें होता है। इससे भिन्न उसका कोई देवता नहीं होगा। यह अबाधित नियम है और इससे हरएक सूक्तका देवता निःसंदेह बताया जा सकता है।

देवताविषय इतना सुगम होनेपर भी उसके लिए योगशक्ति, तपोबल, प्राचीन ग्रंथ आदिकी अपेक्षा है, ऐसा अज्ञ पाठकों को दर्शाना और व्यर्थ आडंबर तथा अंधविश्वास

बतानेका पं० ब्रह्मदत्तजी को क्या प्रयोजन है? हमारे समझमें नहीं आता।

आओ, हम किसी भी संस्कृतज्ञको यह युक्ति बता देनेको तैयार हैं, कि जिससे वह कोई योगबल, तपोबलके बिना तथा सर्वानुक्रमणीके बिना ही फलाने सूक्तकी फलानी देवता है, यह सूक्त पढकर हि बता सकेगा। पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि देवता अनिश्चित हैं, चञ्चल हैं और अर्थकी दृष्टिसे बदलते हैं। यह उनका भ्रम है, इसके विपरीत देवता निश्चित, स्थिर और न बदलनेवाले हैं, यह हमारा कथन है और इसीलिये हम निश्चयसे किसी सूक्तका देवता बता सकते हैं, क्योंकि वे निश्चित हैं।

वेद की गंभीरता देवता के अनिश्चयसे नहीं है, प्रत्युत देवता के निश्चित होने से है। वह गंभीरता अर्थ की गंभीरता से है। देवता एक ही होते हुए अर्थ अनेक हो सकते हैं। यह बात पं० ब्रह्मदत्तजी सब से प्रथम जान लें और पश्चात् जो चाहे सो लिखें।

पं० ब्रह्मदत्तजी को वेद के देवता, छंद आदि विषयका बिलकुल ज्ञान नहीं है। यदि उनको ज्ञान है तो कुछ साधन न रखते हुए हम उनके पास वेदके सूक्त रख देते हैं, वे मंत्रोंको देखकर हि देवता और छंद बता दें। वेदके विषय पर लिखने के पूर्व इस बात का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। छन्द तो अक्षरोंकी गिनतीसे होते हैं। परंतु इस को जानने के लिये अभ्यास तो करना चाहिये। योगबल और तपः-शक्ति के दबाव के नीचे असत्य को सत्य बताने का डंका बजाना आसान है। वही पं० ब्रह्मदत्तजी कर रहे हैं। इससे अधिक उनसे कुछ भी होनेवाला नहीं है।

मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं, कि जबतक उनके मनमें यह भ्रम है, कि मंत्रका देवता निश्चित नहीं है, तब तक उनको वेद के विषयमें कुछ भी लिखने का अधिकार नहीं है, अतः वे अपने भ्रांत विचार फैला कर पाठकों को भ्रांतिमें डालने का पाप इससे अधिक न करें।

(६) आगे पं० ब्रह्मदत्तजी और एक आश्चर्यकारक बात लिखते हैं।

"चत्वारि शृंगा" मंत्र का देवता पतंजलिने 'शब्द' माना है, यास्कने 'यज्ञ' माना है, सर्वानुक्रमणी ने 'अग्नि, सूर्य, आप, गौ, घृत' देवता माने हैं..... अग्नि, सूर्य, गौ इत्यादि देवताओंके साथ कुछ भी संबंध जोडा जा सकता? पंडित सातवळेकरजी जोड दें तो जोड दें और तो कोई जोड नहीं सकता। पाठक यहां देखें कि यास्क और पतंजलीने सर्वानुक्रमणी का सर्वथा परित्याग कर दिया।"

समालोचना।

पं० ब्रह्मदत्तजी के अज्ञान की कोई सीमा नहीं है। वे स्वयं समझते नहीं और सब कुछ समझनेकी घमंड करते हैं। अज्ञान अच्छा है,परन्तु मिथ्या ज्ञान बहुत बुरा और अज्ञान होते हुये अपने आपको ज्ञानी समझना उससे भी बहुत बुरा है। अब उनके कथन के विषय में देखिये।

जिस सूक्त के विषय में पं० ब्रह्मदत्तजी शंका प्रदर्शित कर रहे हैं, उस (ऋ० ४।५८) सूक्तके ११ मंत्र हैं, उनके अन्दर देवतावाचक शब्द ये हैं।

मंत्रांक	सूचक शब्द	देवता
१	समुद्रादूर्मिः	आपः
	घृतस्य नाम	घृतं
२	घृतस्य यज्ञे	घृतं, यज्ञः
३	वृषभो महोदेवः	(वृष्टिकर्ता)सूर्य
४	गवि देवासः	गौ
५	घृतस्य धारा	घृतं
६	स्रवन्ति सरितः	आपः
७	घृतस्य धाराः	घृतं
८	अग्नि	अग्निः
	जातवेदः	"
९	सोमः सूयते यज्ञः	यज्ञः
१०	गव्यं. घृतस्य	गौ, घृत
११	अपामनीके	आपः

मंत्रोंमें देवतावाचक ये शब्द प्रधान हैं, अतः यदि इस सूक्त के देवता 'अग्नि, सूर्य, आपः, गौ, घृत' इतने लिखे तो उसमें अशुद्धि कहां हुई? और सर्वानुक्रमणी-कार का दोष कहां हुआ?

श्री स्वामिजीने भी अपने भाष्यमें (प्रथम मुद्रित) पृष्ठ १६२९ पर यह मं०४सू०५८ दिया है, वहां 'अग्निः सूर्यो

वाऽऽपो वा गावो वा घृतं वा देवताः' ऐसा ही लिखा है। अर्थात् सर्वानुक्रमणीका ही देवता-समुच्चय श्रीस्वामिजी महाराजने अपने भाष्य में माना है।

यदि पं० ब्रह्मदत्तजी का कहना है कि पतंजलीने शब्द-परक अर्थ करके और यास्कने यज्ञपरक अर्थ करके सर्वानुक्रमणीके देवता काट दिये हैं, तो श्रीस्वामिजी तो पतंजली, यास्क और आरण्यक तथा सर्वानुक्रमणीको जानते थे, फिर पतंजली का शब्ददेवता और यास्क का यज्ञ-देवता श्री स्वामिजीने, अपने भाष्य में क्यों नहीं लिये और सर्वानुक्रमणी के ही क्यों लिये ? क्या यहां पतंजली और यास्कने जैसे सर्वानुक्रमणी के देवता काटे, जैसा पं० ब्रह्मदत्तजी अज्ञानवश मान रहे हैं, उसी दृष्टि से यहां श्रीस्वामिजी तो सर्वानुक्रमणी को सहारा दे रहे हैं, और यास्क और पतंजली को काट रहे हैं!!! इस सूत्र के विषयमें स्थिति ऐसी है–

पतंजली – शब्द (अर्थ है, देवता नहीं)
यास्क – यज्ञ (,, ,, ,,)
सर्वानुक्रमणी– अग्नि-सूर्य-आप्-गौ-घृत (देवता)
स्वामि दयानंद– अग्नि-सूर्य-आप-गौ-घृत ,,
सायणाचार्य – ,, ,, ,, ,, ,, ,,
ऐतरेयारण्यक– आत्मा

यहां कौन किस को काटता है? यहां स्वामी दयानंद सर्वानुक्रमणी के पक्ष में हैं। परंतु इसी आधार से पं० ब्रह्मदत्तजी सर्वानुक्रमणी का खण्डन करना चाहते हैं !! पाठक इसी से इनकी सच्चाई की परीक्षा करें।

इस मंत्रपर जो इन्होंने इतना लंबा लेख लिखा है, वह लिखनेके पूर्व यदि वे इन भाष्यों को एक वार देखते और उनका अर्थ समझनेका यत्न करते, तो इनकी लेख-नीसे इतने घृणित वाक्य न निकलते। इस विषयमें लिखते हुए पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं– 'खरबूजा चाकूपर गिरे या चाकू खरबूजेपर, खरबूजा ही कटेगा। यास्क और पतंजली के काल में सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता थे और उन्होंने नहीं माना, तो भी प्रमाण से गये, यदि पीछे से बने तो भी अप्रामाणिक सिद्ध हुए। कुछ भी हो परम प्रमाणत्व तो उनका सिद्ध हो नहीं सकता।'

पाठक यह पं० ब्रह्मदत्तजी का लेख वारंवार पढें। कमसे कम दोचार वार अवश्य पढें। उनके मतसे यहां सर्वानुक्रमणीको खरबुजा माना है और चाकू है यास्क-पतंजलि। इनके कहने का आशय यह है कि यास्कपतंजली रूपी चाकूपर सर्वानुक्रमणी का खरबुजा काटा गया है।

परंतु स्वामी दयानन्दजी के भाष्य में वही खरबूजा वैसा का वैसा साबीत और सुरक्षित रखा हुआ है। एक भी टुकडा कटा हुआ बाहर फेंका नहीं है। पं० ब्रह्मदत्तजी तो स्वामिभाष्य को "योगसामर्थ्य और तपोबल से तथा प्राचीन ऋषिमुनियोंके प्रमाणोंसे प्रमाणित हुआ मानते हैं" इस भाष्य में यास्कपतंजलि के द्वारा काटे गये देवता ही क्यों लिये गये? या महर्षि दयानंदजी के स्वीकृत देवता भी यास्कपतंजालिरूपी चाकूसे काटे गये हैं, या नहीं काटे गये? पं० ब्रह्मदत्तजी भ्रांति छोडकर होश प्राप्त करके जरा देखें तो सही।

पाठक इस विवेचन को बहुत शान्ति से पढें। और पं० ब्रह्मदत्तजी कितनी गोलमाल कर रहे हैं, यह ठीक ठीक ध्यान में लेनेका यत्न करें। उनके मत से वे स्वामिभाष्य को परम शुद्ध सिद्ध करना चहते हैं। यहां तक उनका आग्रह है, कि वहां जो मुद्रणदोष हुये हैं, वे दोष नहीं हैं, प्रत्युत वह योगसामर्थ्य से वैसा स्वामीजीने लिखा है, ऐसा वे आग्रह से कहना चाहते हैं। परंतु सर्वानुक्रमणी का खण्डण करने के जोश में आकर वे ऐसा लेख लिख बैठे कि, जो स्वामिभाष्य में लिखा है, उसीके विरुद्ध हि बात बन गयी। और उससे स्वयं स्वामिजी का भी खण्डण हुआ इसका उनको भी पता तक नहीं!!! इसको कहना चाहिये 'जोश'। पं० ब्रह्मदत्तजी में यह जोश है, इस में अब हमें कोई संदेह नहीं रहा।

इतने विवरणसे यह सिद्ध हुआ, कि जिस सर्वानुक्रमणी का पं० ब्रह्मदत्तजी ने खण्डन किया, उसी सर्वानुक्रमणी के देवतासमुच्चय का श्री स्वामिजीने स्वीकार किया। इसलिये श्रीस्वामिजी का भाष्य सत्य है और उसके बलसे पं० ब्रह्मदत्तजी की टीकाटिप्पणी असत्य है। यहां स्वामिजी के भाष्यरूपी चाकूपर पं० ब्रह्मदत्तजी

जी की टीकाटिप्पणीरूपी खरबूजा काटा गया!! पं० ब्रह्मदत्तजी यह अपना अज्ञान स्वयं देखें और आगे इस तरह का साहस करना छोड दें। इससे उनका अज्ञानहि प्रकट होगा और पाठक भ्रम में पडेंगे। दोनों ठीक नहीं हैं। इससे पं० जी ऐसे लेख न लिखेंगे तो अच्छा है।

पं०ब्रह्मदत्तजीने लिखा है कि 'उक्त सूक्त में अग्नि, सूर्य, गौ इत्यादि देवताओं के साथ संबंध पं० सातवलेकरजी जोड दें तो जोड दे, दूसरा कोई जोड नहीं सकता।'

कितना भ्रान्तियुक्त लेख है! श्रीस्वामिजीने इन देवताओंका संबंध अपने भाष्यमें जोडकर बताया है, यदि वे स्वयं उस स्वामिभाष्यको देखते, तो वे उक्त वाक्य कदापि न लिखते। क्योंकि पं० सातवलेकरजी तो संबंध जोड देंगेहि और स्वामिजीने भी जोड दिया है, अर्थात् इस संबंध के विषयमें श्री स्वामिजीके मतके साथ पं० सातवलेकरजीका मत मिल गया है, केवल पं० ब्रह्मदत्तजी हि इस संबंध को जान नहीं सकते, यह उनका अज्ञान है, यह तो उन्होंने स्वयं उक्त वाक्यमें मानहि लिया है। इतना होनेपर भी स्वामिभाष्य तपोबलसे लिखा है, और सर्वानुक्रमणी तथा पं० सातवलेकर ये बहिष्कारार्ह हैं, यह उनका कहना है। पाठक इसकी सत्यताका विचार करें।

अब उक्त संबंध देखिये—

पतंजली– शब्द
यास्क– यज्ञ
सर्वानुक्रमणी– अग्नि, सूर्य, गौ, घृत, आप
स्वामिजी– ,, ,, ,, ,, ,,
सायणाचार्य– ,, ,, ,, ,, ,,
अरण्यक– आत्मा

इनमें कोई आचार्य किसी दूसरे को काटता नहीं है। देखिये—

अग्नेर्वाक्। (ऐतरेय उ०)
वागेवाग्निः। (श० ३।२।२।१३)
अग्नेः ऋग्वेदः। (ब्राह्मण)
सूर्यात्सामवेदः। (,,)
अग्निर्वै यज्ञमुखं। (तै० १।६।१।८)
आत्मैवाग्निः। (श० ६।७।१।२०)
आत्मा वा अग्निः। (श० ७।३।१।२)

इन वचनों में पाठक देखें कैसी उक्त देवताओंकी संगति लग जाती है। 'अग्नेर्वाक्, वागेवाग्निः' इन वचनोंसे अग्निका और वाक् अथवा शब्दका संबंध स्पष्ट हुआ। अग्निसे शब्दकी उत्पत्ति मानी है, उसी कारण 'जातवेदाः' (जिससे वेद हुए) यह नाम अग्निके लिए वेद में प्रसिद्ध है और श्री स्वामिजीने यही अर्थ जातवेदा शब्द का किया है। अतः इस अर्थको लेकर पतंजलि महा मुनिने अग्नि और शब्दका साधर्म्य उक्त प्रकार जानकर 'चत्वारि शृंगा' मंत्रका अर्थ शब्दपरक किया। इससे विरोध कहां हुआ?

अग्निसे ऋग्वेद और सूर्यसे सामवेद का संबंध उक्त वचनोंमें है। स्वामिजीने भी यह माना है। सूर्य से शुक्ल यजुःकी प्राप्ति होनेका वर्णन भी सबके परिचय का है। अर्थात् अग्नि-सूर्य इन दोनों देवताओंका संबंध शब्दसे निःसंदेह है। 'आपोमयी वाक्' यह उपनिषद्वचन प्रसिद्ध है। इससे आप् तत्त्वका संबंध वाणीसे निश्चित है। अतः पूर्वोक्त देवताओंमें से अग्नि-सूर्य-आप-गौ इनका संबंध वाणीसे हुआ, गौ शब्दका अर्थ वाणी सुप्रसिद्धहि है। इस अर्थको लेकर पंतजली मुनिने यह मंत्र वाणीपरक-शब्दपरक-लगाया, तो उसमें विरोध कहां हुआ? सर्वानुक्रमणी के देवताओंके साथ पतंजलीमहामुनि के अर्थका यह संबंध है। पं० ब्रह्मदत्तजी इसका ग्रहण करें।

अब रहा यास्कमुनिका यज्ञपरक अर्थ। अग्निको उक्त वचनोंमें 'यज्ञमुख' (तैत्तिरीय.) कहा है, क्योंकि अग्निमें हि हवन होता है, इसीलिये यज्ञका और अग्निका घनिष्ठ संबंध है। गौका दूध और घृत अग्निमें आहुतियों द्वारा डाला जाता है, जिससे यज्ञ सिद्ध होता है। सूर्यके नाम विष्णु और यज्ञ हैं। अर्थात् यज्ञके साथ 'अग्नि, घृत, गौ, सूर्य का घनिष्ठ संबंध सिद्ध हुआ। यह संबंध देखकर यास्कमुनिने उक्त मंत्रका यज्ञपरक अर्थ किया तो किसका किसने खण्डन किया?

इस तरह विचार करनेपर सिद्ध हुआ, कि यास्क-पतंजलि और सर्वानुक्रमणी आपसमें एक दूसरे के पोषक हैं, विरोधक तो कोई नहीं है। आरण्यक में आत्मापरक अर्थ किया है, जो अग्नि शब्द का अर्थ उक्त शतपथके वचनमें (आत्मा वा अग्निः) स्पष्ट है। 'सूर्य आत्मा

जगतस्तस्थुषश्च' इस वेदवचनमें भी सूर्यको आत्मा कहा है। 'आयुर्वै घृतं' इस शतपथके वचनमें घृत को आयु-जीवन कहा है, इस तरह इसका भी आत्मा के साथ संबंध स्पष्ट है। ये सब अर्थ देखकर इसी मंत्रका अर्थ आरण्यककारोंने आत्मापरक किया, तो उसमें विरोध कहां हुआ ?

आरण्यककारोंका अर्थ पं० ब्रह्मदत्तजीने नहीं दिया । यह मैं यहां देता हूं और इस अर्थमें भी विरोध नहीं, ऐसा बताता हूं। क्योंकि अग्नि-सूर्य आदि देवताओंके, आत्मापरक अर्थ श्री स्वामिजीने भी बहुत स्थानों में किये हैं।

यहां विरोध कहां है ? और सर्वानुक्रमणी को यास्क और पतंजलि काटते हैं वे कैसे ? यदि काटते हैं तो श्री स्वामिजीने वे ही देवता अपने भाष्य में कैसे माने ?

अन्तमें इतनाही कहना है, कि पं० ब्रह्मदत्तजी स्वयं कुछ भी जानते नहीं; परंतु सर्वज्ञ होनेकी घमंड उनमें अत्यधिक है। उन्होंने श्री स्वामिभाष्य भी आद्योपान्त देखा नहीं है। उनको उसके शुद्धाशुद्ध होनेका कुछ भी पता नहीं है। परंतु उनमें जोश बहुत ही है, इसी जोशके कारण मनमानी बातें लिख मारते हैं, अतः किसी किसी समय वह जो चाहते हैं, उसीके विरुद्ध वे लिख जाते हैं, परंतु उसका भी उनको पता नहीं होता!! परमेश्वरहि पं० ब्रह्मदत्तजी की कुटिल नीतिसे स्वामिजीका बचाव करें !

दैवत-संहिता ।

आगे पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं—

(७) " पं० सातवलेकरजी की मनघडन्त दैवत-संहिता की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ? यह पाठक स्वयं विचार कर लें। इस विषयमें हम अपने विचार पृथक् लेखमें उपस्थित करेंगे। "

पं० ब्रह्मदत्तजी " दैवत-संहिता " का भी विरोध कर रहे हैं और इस विषय का पृथक् लेख वे लिख रहे हैं। वे पृथक् लेख अवश्य लिखें। पाठक भी स्वतंत्र बुद्धिसे तर्क-ऋषिका सहारा लेकर विचार करें। सब लोग पहिले यह सबसे प्रथम समझ लें कि दैवत-संहिता क्या वस्तु है। इसके स्वरूपको जानकर पश्चात् उसका खण्डन या मण्डन करें।

दैवत-संहिताका स्वरूप ।

चारों वेदोंकी संहिताओंमें अग्नि, वायु, सूर्य, आप, वनस्पति आदि देवताओंके मंत्र बिखरे हुए हैं। ऋग्वेद में बिखरे मंत्र होनेका कारण यह है, कि प्रथम सात मण्डल ऋषियोंके गोत्रानुसार संग्रहित हुए हैं, इस कारण विश्वामित्र गोत्रके अग्निमंत्र एक मण्डलमें और वसिष्ठ गोत्रके अग्निमंत्र अन्य मण्डलमें आगये हैं। इसका नाम 'आर्षेय-संहिता' है। इस प्रकारकी व्यवस्थाकाभी प्रयोजन है, उसका निर्देश हम किसी स्थानपर दूसरी वार करेंगे। यहां हमें दैवत-संहिताका प्रयोजन बताना है।

उदाहरण के लिये ऐसा मान लिजिये कि किसी अध्यापक को अपने शिष्योंको वैदिक वनस्पति-विज्ञान के विषयपर व्याख्यान देना है। यदि चारों वेदोंमेंसे वनस्पति और औषधिविषयक मंत्र इकट्ठे किये गये और संपूर्ण चिकित्सा-विषयक मंत्रोंको भी उसी प्रकरणमें संग्रहित किया, तो अभ्यासकर्ताओंको वैदिक वनस्पति तथा चिकित्सा-विज्ञान शीघ्र होगा, या नहीं होगा ?

अग्निविज्ञान, वायुविज्ञान, जलविज्ञान, वायुविज्ञान, सूर्यविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, पृथ्वी-विज्ञान, राष्ट्रविज्ञान इस तरहके अनेक शीर्षकोंके नीचे उस संबंधके मंत्र यथाक्रम संग्रहित किये जांय, तो वेदका अभ्यास करनेवालोंको सुविधा होगी या नहीं होगी, इसका विचार पाठक करें। पं० ब्रह्मदत्तजी चिल्ला रहे हैं, कि यह पं० सातवलेकरजीकी मनघडन्त दैवत-संहिता है।

इस लेखमें यही एक बात सत्यरूपमें पं० ब्रह्मदत्तजीने लिखी है। यह मेरी मनघडन्त संहिता है, इसमें संदेह नहीं है। मैं इसको मानता हूं। तीस वर्षोंके पूर्व मैंने कांगडी गुरुकुलमें इसी दैवत-संहिता पर व्याख्यान दिया था, अध्यक्ष-स्थानमें श्री स्वा० हर प्रसादजी वैदिक मुनि थे। अवसर गुरुकुलका वार्षिक उत्सव का था। दैवत-संहिता का मेरा प्रतिपादन सुन कर स्वा० हरप्रसादजी प्रसन्न हुए, और स्वा० स्वतंत्रानन्दजीने कहा, कि मैं अपने धनी मित्रोंसे प्रेरणा करूंगा कि वे इसके मुद्रणव्ययका प्रबंध करें। ये विद्वान् अब तक यही संमति रखते हैं। श्री स्वा० श्रद्धानन्द, तथा पं० शिवशंकर तथा कई अन्य विद्वान् जो इस

को शीघ्र मुद्रित करवाना चाहते थे, अब इस लोकमें नहीं हैं। कई अन्य विद्वान् अब भी हैं, जो इस विषयवार दैवत-संहिता को शीघ्र मुद्रित करने के इच्छुक हैं। दैवत-संहिता की कल्पना मेरे मन में उपस्थित हो कर आज ३५ वर्ष हो चुके हैं और तबसे मैं इस की संगति कर रहा हूं, परंतु धनाभाव के कारण अभीतक मुद्रित नहीं हो सकी।

पं० ब्रह्मदत्तजी से मैं एक ही प्रश्न पूछना चाहता हूं कि आज आर्षेय-संहितामें जो अग्नि, वायु, सूर्यादि देवताओंके मंत्र बिखरे हैं, उनको एक एक स्थानपर संग्रहित कर दिया जाय, और अभ्यासकों को अग्निके संपूर्ण मंत्र एक स्थानमें, वायुके सब मंत्र एक प्रकरणमें, जलके सब मंत्र एक विभागमें, वनस्पतिके सब मंत्र एक खण्डमें, चिकित्साके सब मंत्र एक भागमें इसी तरह अन्यान्य विषयोंके मंत्र उस उस विभागमें इकट्ठे प्रकरणशः मुद्रित किये, तो यह वेदमन्त्रोंका प्रकरणविभाग पाठकोंको लाभ देगा, ऐसा मेरा मत हुआ है। इस समय अग्निके कुछ मंत्र प्रथम मण्डलमें और अन्य मन्त्र अन्यान्य मण्डलों में तथा अन्यान्य वेदोंमें बिखरे पडे हैं। किसीको कोई पता नहीं लगता कि वहां क्या है और क्या नहीं। ऐसे संदेह में जनता को कितने दिन रखना है ?

आज चारों वेदोंका अध्ययन करना एक अत्यंत मुष्कील चीज बनी है। यदि दैवत-संहिता प्रकरणशः छापी जाय तो संपूर्ण मंत्रसंग्रहका अध्ययन ३।४ वर्षोंमें हो सकेगा। क्योंकि एक ही देवता के लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द समान होते हैं, उनका बोध होनेसे उस देवता के सब सूक्त आसानीसे ध्यानमें आ सकते हैं। अतः दैवत-संहिता से वेदानुयायियोंका अत्यंत लाभ है।

पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि यह मेरी मनघडन्त संहिता है। मेरी मनघडन्त है ऐसा माननेसे उसमें दोष क्या होगा, यह मैं जानना चाहता हूं। सब वनस्पति औषधिके मंत्र एक स्थानपर लाये गये तो वेदाध्ययन सुगम होगा, ऐसा मेरा ख्याल है। पं० ब्रह्मदत्तजी इस के विरुद्ध क्यों चिल्ला रहे हैं, मुझे पता नहीं।

उनके अज्ञानजन्य विरोध की मुझे पर्वाह नहीं है। वे चिल्लाते रहें। ऋग्वेद और अथर्ववेदके देवतावार प्रकरणशः मंत्र संग्रहित किये गये हैं। और थोडे ही समयमें दैवत-संहिता मुद्रित हो जायगी। धनिक लोग जो इस विचार के साथ सहानभूति रखते हैं, वे इसके मुद्रण के लिये सहायता भेज दें। और जो विरोध करेंगे वे दैवत-संहिता मुद्रित होने पर उस पुस्तक को देखें और पश्चात् सहाय्यता करें।

दैवत-संहिता का—अर्थात् प्रकरणशः मंत्रविभाग करनेका विरोध करना निरी मूर्खता है। परंतु वह पं० ब्रह्मदत्तजी प्रदर्शित करना चाहें, तो वे बेशक करें। मैं उनके विरोध को विचारमें न लेता हुआ, दैवत-संहिता का प्रकाशन करूंगा और जहां वेदका अध्ययन हो रहा है, वहां वहां यह ग्रंथ अध्येय-रूपमें सदा के लिये रहेगा, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। इतनाही नहीं प्रत्युत पं० ब्रह्मदत्तजी भी स्वयं उसीका अध्ययन करेंगे।

चारों वेदोंमें जितने मंत्र हैं, वे सबके सब प्रकरणशः इस दैवत-संहितामें संमिलित होंगे, एक भी मंत्र छोडा नहीं जायगा, तथा प्रत्येक सूक्तका चारों वेदोंमें जो पता होगा, वह यथास्थान दिया जायगा। इस तरह यदि पाठक विचार करेंगे तो उनको विदित होगा, कि यह दैवत-संहिता इससे पूर्वहि बनती चाहिये थी। परंतु पवित्र कार्य में पं० ब्रह्मदत्तजी जैसे विघ्नकर्ता होते ही हैं, इसलिये इतना समय लगा।

इससे पूर्व इस अत्यन्त उपयोगी दैवत-संहिताका मुद्रण न होनेका कारण यह है, कि चारों वेदोंकी शुद्ध संहितायें तैयार नहीं थीं। शुद्ध संहिताएं तैयार न होनेकी अवस्थामें- तथा ऋषिदेवता— छन्दोंकी अत्यंत अशुद्धि होनेकी अवस्थामें दैवतसंहिताका निर्माण होना असंभव है। इसलिये हम सबसे प्रथम संहिताओंका शुद्ध मुद्रण कर रहे हैं, और जैसा मुद्रण हो रहा है, वैसा ही दैवत-संहिताका भी लेखन करते जाते हैं।

कोई विद्वान् इससे मतभेद रखता हो तो, वह अपने विचार प्रकट करे, हम उसकी समालोचना अवश्य करेंगे।

सबसे प्रथम विचार।

पं० ब्रह्मदत्तजी सबसे प्रथम ऋग्वेदके ऋषि देवता, छन्दका विचार करें। इसका निर्णय होनेके पश्चात् यजुर्वेदका विचार करेंगे। सबकी खिचडी करनेसे कोई विचार निश्चित नहीं हो सकता। अतः वे ऋग्वेदके प्रथम सूक्तसे ही विचार शुरू करें। एक एक सूक्तका विचार करने को हम तैयार हैं।

प्रत्येक नयी बातको सिद्ध करनेके लिये प्राचीन ग्रंथका

प्रमाण पं० ब्रह्मदत्तजी देते जांय । प्रमाणके विना कोई विधान न करें । जहां योगसामर्थ्य और तपोबल का प्रमाण देना हो, वहां वह भी दें, परंतु उसका संबंध हमारे समक्षमें आने योग्य स्पष्टीकरणके साथ दर्शावे ।

हमारा ख्याल ऐसा है, कि योगबल और तपःप्रभाव ये चीजें ऐसी हैं, कि उनका प्रमाण मानना हरएकके विश्वास के साथ संबंध रखता है । अतः यह सर्वमान्य प्रमाण हो नहीं सकता । यदि मैं कहूं कि ' गत रात्रीमें स्वप्नमें मुझे परमात्माका दर्शन हुआ और उसने कहा कि पं० ब्रह्मदत्तजी असत्यवादी हैं ।' तो इससे क्या सिद्ध होगा? अतः ऐसे योगसाधन, तपोबल, परमात्म साक्षात्कार ये सर्वमान्य प्रमाण नहीं हैं । अतः पं० ब्रह्मदत्तजीसे प्रार्थना है, कि वे ऐसे भारी पत्थरोंके नीचे हमारे तथा सबके 'तर्क-ऋषि ' का दफन न करें और उनके पास जो ग्रंथप्रमाण हो वही वे दें ।

अतः पं० ब्रह्मदत्तजी ऋग्वेदके प्रथम सूक्तसे अपना लेख प्रारंभ करें । यदि वे प्रथम ऋग्वेद को नहीं लेंगे और यजुर्वेद साथ हि अपना सिर टकराते रहेंगे, तो उनका इस समय हम कोई उत्तर नहीं देंगे । वे यदि यजुर्वेद पर कुछ लिखना चाहे तो प्रथम शतपथ पढें और समझें, तथा प्रत्येक यजुर्वेदमंत्रका शतपथके किस भागसे संबंध है, इसकी तालिका बनावें और पश्चात् लिखें । तत्पश्चात् हि उनके लेख का उत्तर दिया जायगा । पं० ब्रह्मदत्तजी अपनी स्याही समाप्त करनेके पूर्व इस बात का पर्याप्त विचार करें ।

विद्वत्परिषद् ।

पं० ब्रह्मदत्तजीने लिखा है कि सब आर्य प्र० सभाओंद्वारा विद्वपरिषद् हो और उसमें ५।७ दिन इस विषयका शास्त्रार्थ हो । विद्वत्पार्षद करनेके विषयमें मेरी पूर्ण अनुमति है । परंतु ५।७ दिनोंमें क्या होगा ? पं० ब्रह्मदत्तजी को पता नहीं है, कि यह विषय कितना गंभीर है और इस को कितना समय लगना संभव है ।

यदि मुझे अपना इस विषयमें मत प्रदर्शित करने का कोई अनुरोध करे, तो मुझे कमसे कम एक सहस्र पृष्ठ (फूल्स्केप पेपरके) लिखने पडेंगे । इतने महत्वका यह विषय है । मैं उक एक सूक्त क्रमशः लेकर उसके ऋषि, देवता, छन्दोंका विचार सप्रमाण करूंगा । इतना महत्त्वका विषय ५ । ७ दिनोंमें नहीं हो सकेगा। इसलिये जो विद्वत्परिषद् होगी, वह एक सालतक कार्य करनेवाली निश्चित करनी चाहिये । ५।७ दिनोंमें सभामें शास्त्रार्थ जोर शोरसे कोई कर सकेगा, वैसा शास्त्रार्थ करनेमें समय व्यतीत करनेके लिये जिसके पास व्यर्थका समय हो वह खर्च करे, मेरे पास वैसा फाल्तु समय नहीं है । मैं यदि इस विषयमें शास्त्रार्थ करनेके लिये प्रवृत्त होऊंगा तो वह लेखबद्ध शास्त्रार्थ होगा । और वह चारों वेदोंके एक एक सूक्त और एक एक मंत्र के विषयमें शंकासमाधान समाप्त होनेतक चलता रहेगा । एक सूक्तका शंकासमाधान होनेके बाद दूसरा सूक्त लिया जायगा । इस तरह ऋग्वेदसे प्रारंभ करके अथर्ववेदकी समाप्ति तक के प्रत्येक सूक्तके प्रत्येक मंत्रका शास्त्रीय विचार होगा । इस समय वेदकी अन्य शाखा, अन्यान्य ब्राह्मण, सब भाष्य इन सबका विचार हो जायगा । और हरएक शंकासमाधान मुद्रित होगा ।

चाहे आर्यमित्रमें अथवा चाहे वैदिक धर्ममें यह शास्त्रार्थ मुद्रित होता रहेगा और जो विद्वत् परिषदके विद्वान् निश्चित होंगे, उनके पास यह प्रति समय भेजा जायगा । अन्तमें इस शास्त्रार्थका पुस्तक प्रकाशित होगा, जो लागत के मूल्यसे दिया जायगा ।

अतः जो विद्वत्परिषद निश्चित करेंगे वे इस शास्त्रार्थके मुद्रणव्यय का भी धन एक स्थानपर रख दें, जिससे स्थिर साहित्य तैयार होगा, जो वेदविषयक सब संदेह हमेशाके लिये दूर कर सकेगा ।

यदि विद्वत्परिषद्के सदस्य आन्तिम निर्णय करनेवाले होंगे, तो उनकी विद्वत्ता कैसी होनी चाहिये, इसका विचार सबसे पहिले होना उचित है । मैं इस विषयमें इतनाही कहूंगा, कि जो इस सभाके सदस्य होंगे, उनमें दो संस्कृतज्ञ हायकोर्टके जज्ज होंगे, ये प्रमाण और अप्रमाण का योग्य विचार कर सकेंगे, दो संन्यासी वेदज्ञ होंगे और अन्य विद्वान् वेदशास्त्रज्ञ होंगे ।

जहां यह शास्त्रार्थ के लेख छप जांय वहांके मुद्रक शुद्ध छपनेका उत्तरदायित्व अपने सिरपर लेवें अन्यथा आर्यमित्रमें जो पं० ब्रह्मदत्तजीका लेख मुद्रित हुआ है, उसमें 'यूप' के स्थानपर सर्वत्र 'पूप' छपा है । शास्त्रार्थके पुस्तकमें ऐसी अशुद्धि नहीं होनी चाहिये । यदि कोई व्ययका प्रबंध करेगा तो हम शुद्ध छापनेका जिम्मा लेनेको तैयार हैं।

इस समय पं० ब्रह्मदत्तजी द्वारा प्रस्तावित विद्वत्परिषद्के विषयमें इतना लेख पर्याप्त है ।

अजमेर वैदिक यंत्रालयके

ऋग्वेदमें छन्दोंकी अशुद्धियाँ।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी की प्रेरणाके कारण हमने वैदिक यन्त्रालय अजमेरमें छपे ऋग्वेद की ऋषिदेवता-संबंधी अशुद्धियां गत दो अंकों में बतायीं। अब इस स्थानपर उस ऋग्वेद में छन्दों की अशुद्धियां बताना है।

ऋषियों की और देवताओंकी अशुद्धियां बताना आसान था, क्योंकि ऋषियों की अशुद्धियां पांच सौसे अधिक नहीं थीं, और देवताओं की अशुद्धियां दो सौसे अधिक नहीं थीं, इसलिये हम उनको दर्शाने में समर्थ हुए। परंतु अजमेर वैदिक यन्त्रालयमें मुद्रित ऋग्वेद में छन्दों की अशुद्धियां सहस्रों हैं, अर्थात् कई हजार हैं, उनको कहां तक बता सकते हैं? इसलिए प्रथम मण्डलके केवल ६०-६५ सूक्तोंकेहि कुछ थोडेसे मंत्रोंके छन्दोंका यहां विचार करते हैं। और इन थोडेसे सूक्तों के छन्द कैसे अशुद्ध हैं, उनको बतानेके लिये यहां आगे हम एक कोष्टकही देते हैं, जिससे पाठक इन अशुद्धियों का अनुमान कर भी सकते हैं।

वेदमें दो प्रकार के छन्द हैं, एक यजुर्वेदकी छन्द-गणना और दूसरी ऋग्वेद-सामवेद-अथर्ववेदकी छन्द-गणना। जिसको इन दो प्रकारकी छन्दोगणना का ज्ञान नहीं है, वे इन छन्दोंके सूक्ष्म भेदको समझही नहीं सकते। वस्तुतः प्रत्येक छन्द अक्षरसंख्या से निश्चित होता है। परंतु केवल अक्षरसंख्यासे यजुर्वेद के पादव्यवस्थाहीन मंत्रों के छन्दहि निश्चित किये जा सकते हैं। ऋग्वेदादि अन्य तीनों वेदों के छन्द अक्षरसंख्या के साथ, पादव्यवस्था, पादों की अक्षरसंख्या, स्वर और कम्पका अनुसंधान इत्यादि सब बातों का विचार करके निश्चित किये जाते हैं। यदि कोई यजुर्वेद की तरह ऋग्वेद के भी छन्द केवल अक्षरसंख्या से निश्चित करने का यत्न करेगा, तो वह निःसंदेह भूल करेगा।

इसी कारणसे अजमेर वैदिक यंत्रालय के पंडितों ने प्रायः प्रत्येक मंत्रका छन्द लिखने में यही अशुद्धि की है, इस लिये १०० मन्त्रों के छन्दोंनिर्णय करने में ८० से अधिक अशुद्धियां हुई हैं। पं० ब्रह्मदत्तजी इसका अवश्य विचार करें।

पं० ब्रह्मदत्तजी कहेंगे कि ये छन्द योगबल और तपोबल से निश्चित किये हैं। यदि वे ऐसा कहेंगे तो उसका प्रमाण देनेका भार उनपर रहेगा।

हम यहां इतना ही कहना चाहते हैं कि ऐसी युक्तियों से डर जानेवाले अब कोई रहे नहीं हैं। केवल वेद को ही हम स्वतः प्रमाण मानते हैं, सब अन्य प्रमाण परतः प्रमाण होने के कारण उनका प्रामाण्य अन्य प्रमाणोंपर हि निर्भर रहेगा, यह बात पं० ब्रह्मदत्तजी न भूलें। और इसके पश्चात् योगबलके नीचे किसी को भी दबाने का यत्न न करें। छन्दोनिर्णय करने में योगबलकी कोई आवश्यकता नहीं है, यह केवल गणितका विषय है। जो ठीक तरह अक्षरों की गिनती कर सकता है, ठीक तरह पाठव्यवस्थाको जान सकता है, मन्त्र में कंप कहां हैं और प्रत्येक पादमें इस रीति से अक्षर कितने होते हैं, यह जो जान सकता हैं, वही छन्द का निश्चय कर सकता है। अस्तु। अब अजमेर मुद्रित छन्दों की अशुद्धियों का कोष्टक देखिये-

अजमेरके ऋग्वेदमें छंदोंका अशुद्धियाँ।

मंडल-सूक्त-मंत्राङ्क।	मंत्रप्रतीक।	अजमेरमुद्रित छन्द।	स्वाध्याय-मं०मुद्रित छन्द
१। ५।२	पुरूतमं०	आर्च्युष्णिक्	गायत्री
१।१०।४	एहि स्तोमां०	भुरिगुष्णिक्	अनुष्टुप्
१।२६।८	स्वग्नयो०	आर्षी उष्णिक्	गायत्री
९	अथा न०	,, ,,	,,
१।३४।४	त्रिर्वर्तिर्यातं०	भुरिक् त्रिष्टुप्	जगती
९	क्वत्री चक्रा०	भुरिक्पंक्तिः	त्रिष्टुप्
१।३५।७	वि सुपर्णो०	,, ,,	,,
८	अष्टौ व्यख्यत्०	,, ,,	,,
१।३६।१	प्र वो यह्वं०	१ भुरिगनुष्टुप्	प्रगाथः= (विषमा) बृहती
२	जनासो अ०	२ निचृत्सतः पंक्तिः	(समा) सतो बृहती
३	प्र त्वा दूतं०	३ निचृत्पथ्याबृहती	बृहती
४	देवासस्त्वा०	४ निचृत्पंक्तिः	सतो ,,
५	मन्द्रो होता०	५ निचृद्बृहती	,,
६	त्वे इदग्ने०	६ भुरिग्बृहती	सतो ,,
७	तं घे मित्था०	७ बृहती	,,
८	यन्तो वृत्रं०	८ विराड् बृहती	सतो ,,
९	सं सीदस्व०	९ निचृदुपरिष्टाद्बृहती	,,
१०	यं त्वा देवासो०	१० निचृद्विष्टारपंक्तिः	सतो ,,
११	यमग्नि०	११ निचृत्पथ्याबृहती	,,
१२	रायस्पूर्धि०	१२ भुरिगनुष्टुप्	सतो ,,
१३	ऊर्ध्व ऊषुण०	१३ उपरिष्टाद्बृहती	,,
१४	ऊर्ध्वो नः पा०	१४ निवृद्विष्टारपंक्तिः	सतो ,,
१५	पाहि नो अ०	१५ विराट्पथ्याबृहती	,,
१६	घनेव विष्वग्०	१६ निचृद्बृहती	सतो ,,
१७	अग्निर्वव्ने०	१७ विराडुपरिष्टाद्बृहती	,,
१८	अग्निना तुर्वशं०	१८ विष्टारपंक्तिः	सतो ,,
१९	नि त्वामग्ने०	१९ पथ्या बृहती	,,
२०	त्वेषासो०	२० सतः पंक्तिः	,,

मण्डल-सूक्त-मंत्र	मंत्रप्रतीक	अजमेर-मुद्रित छन्द	स्वा० मंडल मु० छंद	
१। ३९। १	प्र यदित्था०	१ पथ्या बृहती	प्रगाथः=	बृहती
२	स्थिरा वः०	२ विराट् सतः पंक्तिः०	सतो	,,
३	परा ह यत्०	३ अनुष्टुप्		,,
४	नहि वः शत्रु०	४ निचृत्सतः पंक्तिः	,,	,,
५	प्र वेपयन्ति०	५ पथ्या बृहती		,,
६	उपो रथेषु०	६ निचृत्सतः पंक्तिः	,,	,,
७	आ वो मक्षू०	७ उपरिष्टाद्विराड् बृहती		,,
८	युष्मेषितो०	८ विराट् सतः पंक्तिः	,,	,,
९	असामि हि०	९ पथ्या बृहती		,,
१०	असाम्योजो०	१० विराट् सतः पंक्तिः	,,	,,
१। ४०। १	उत्तिष्ठ०	१ निचृ० उप० बृहती	प्रगाथः=	,,
२	त्वामिद्धि०	२ ,, ,, ,,	,,	,,
३	प्रैतु०	३ आर्ची त्रिष्टुप्		,,
४	यो वाघते०	४ शतः पंक्तिर्निचृत्पंक्तिः	,,	,,
५	प्र नूनं०	५ पथ्या बृहती		,,
६	तमिद्वोचेमा०	६ शतः पंक्तिर्निचृत्पंक्ति	,,	,,
७	को देवयन्०	७ आर्ची त्रिष्टुप्		,,
८	उपक्षत्रं	८ निचृ० उप० बृहती	,,	,,
१। ४४। १	अग्ने विव०	१ उप० विराड् बृहती	प्रगाथः=	,,
२	जुष्टो हि०	२ विराट् सतः पंक्तिः	,,	,,
३	अद्या दूतं०	३ निचृदुपरिष्टाद्बृहती		,,
४	श्रेष्ठं यवि०	४ विराट् सतः पंक्तिः	,,	,,
५	स्तविष्यामि०	५ उप० विरा० बृहती		,,
६	सुशंसो०	६ विराट् सतः पंक्ति	,,	,,
७	होतारं०	७ निचृत्पथ्या बृहती		,,
८	सवितार०	८ विराट् सतः पंक्तिः	,,	,,
९	पातिर्ह्यध्व०	९ आर्ची त्रिष्टुप्		,,
१०	अग्ने पूर्वा०	१० विराड् विस्तारपंक्तिः	,,	,,
११	नि त्वा०	११ निचृ० पथ्या बृहती		,,
१२	यद्देवानां०	१२ भुरिग्बृहती	,,	,,
१३	श्रुधि श्रुत्क०	१३ पथ्या बृहती च		,,
१४	शृण्वन्तु०	१४ विराट्सतः पंक्तिः	,,	,,

मण्डल-सूक्त-मंत्र	मंत्रप्रतीक	अजमेर मुद्रित छंद	स्वा० मंडल मुद्रित छंद
१।४५।१	त्वमग्ने वसूँरिह	१ भुरिगुष्णिक्	अनुष्टुप्
५	घृताहवन	५ उष्णिक्	,,
१।४७।२	त्रिवन्धुरेण	२ निचृत्सतः पंक्तिः	(प्रगाथः) सतो बृहती
४	त्रिषधस्थे	४ सतः पंक्तिः	,,
६	सुदासे दस्त्रा	६ निचृत् ,, ,,	,,
८	अर्वाञ्चा वां	८ ,, ,, ,,	,,
१०	उक्थेभिरर्वा०	१० सतः ,,	,,
१।४८।	सममंत्राः	पंक्तिः	,, सतोबृहती
१।५१।३	त्वं गोत्र	३ भुरिक् त्रिष्टुप्	जगती
४	त्वमपां०	४ ,, ,,	,,
६	त्वं कुत्सं	६ ,,	,,
७	त्वे विश्वा	७ ,,	,,
१४	इन्द्रो अश्रायि	१४ विराट् ,,	त्रिष्टुप्
१।५३।११	य उदृचीन्द्र	११ सतः पंक्तिः	त्रिष्टुप्
१।५६।५	वि यत्तिरो	५ त्रिष्टुप्	जगती
६	त्वं दिवो	६ भुरिक् त्रिष्टुप्	,,
१।५७।५	भुरि त इन्द्र	५ भुरिक् त्रिष्टुप्	जगती
१।५८।३	क्राणा रुद्रेभिः	३ त्रिष्टुप्	,,
१।५९।३	आ सूर्ये न	३ पंक्तिः	त्रिष्टुप्
१।६०।२	अस्य शासुः	भुरिक् पांक्तिः	,,
४	उशिक्पावको	,, ,,	,,
१।६१।३	अस्मा इदु त्यमुपमं	३ पंक्तिः	त्रिष्टुप्
४	अस्मा इदु स्तोमं	४ ,,	,,
५	,, ,, सप्तिं	५ विराट् पंक्तिः	,,
६	,, ,, त्वष्टा	६ ,,	,,
८	,, ,, ग्नाश्चिद्०	८ ,,	,,
१०	अस्येदेव शवसा	१० ,,	,,
११	अस्येदु त्वेषसा	११ भुरिक् ,,	,,
१२	अस्मा इदु प्र भरा	१२ ,,	,,
१३	अस्येदु प्र ब्रूहि	१३ निचृत् ,,	,,
१५	एवाते हारि०	१६ विराट् ,,	,,

मण्डल-सूक्त-मंत्रसंख्या	मंत्रप्रतीक	अजमेर मुद्रित छन्द	स्वा. मंडल मुद्रित छन्द
१। ६२। ३	इन्द्रस्यांगिरसां	३ भुरिगार्षी पंक्तिः	त्रिष्टुप्
७	द्विता वि वव्रे	७ ,, ,,	,,
८	सनाद्दिवं	८ ,, ,,	,,
१। ६३। १	त्वं महां इन्द्र	१ भुरिगार्षी पंक्तिः	त्रिष्टुप्
३	त्वं सत्य इन्द्र	३ विराट् ,,	,,
५	त्वं ह त्यदिन्द्र	५ भुरिगार्षी जगती	,,
६	त्वां ह त्यदिन्द्रा	६ स्वराडार्षी बृहती	,,
७	त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त	७ भुरिगार्षी पंक्तिः	,,
८	त्वं त्यां न इन्द्र	८ ,, ,, ,,	,,
९	अकारि त इन्द्र	९ ,, ,, ,,	,,
१। ६५। १	पश्वा न तायुं	१ निचृत्पंक्तिः	१ विपदा विराट्
२		२ ,, ,,	२ ,,
३		३ ,, ,,	३ ,,
४			४ ,,
५		५ ,, ,,	५ ,,
			६ ,,
		४ विराट् ,,	७ ,,

इस कोष्टक में सबसे प्रथम मण्डल-सूक्त-मंत्रोंके अङ्क दिये हैं, तत्पश्चात् मंत्रका प्रारंभ दिया है। उसके पश्चात् अजमेरमुद्रित ऋग्वेद के छन्द दिये हैं और इसके पश्चात् स्वाध्याय-मंडल द्वारा मुद्रित किये ऋग्वेदके शुद्ध छन्द दिये हैं। स्वाध्याय-मंडल के मुद्रित वेदमें जो छन्द हैं, वे शुद्ध हैं इस में कोई संदेह नहीं है। हरएक प्रकार की छानबीन करके ये छन्द दिये हैं।

प्रति छन्द के अन्दर के सूक्ष्म भेद यहां दर्शाये नहीं हैं, क्योंकि उन सब छन्दोंका कोष्टक स्वतंत्र रीतिसे मुद्रित करना है, जो अलग ग्रंथाकार छप जायगा। मुख्य छन्द जहां केवल गायत्री लिखा है, वहां ऐसा समझना चाहिये, कि वहां उस सूक्तमें जो मन्त्र होंगे, वे गायत्री-छन्दके ही उपविभागोंके होंगे। उसमें कोई दूसरा छन्द बीचमें आ नहीं सकता। अजमेरमुद्रित ऋग्वेदमें दूसरे दूसरे हि छन्द दिये हैं, वे सबके सब अशुद्ध हैं। इस तरह की ऋग्वेदके संपूर्ण ग्यारह हजार मंत्रोंमेंसे ७।८ हजार मंत्रोंमें अशुद्धियांही अशुद्धियां हैं।

यद्यपि मुख्य छन्द ७ हि हैं-उनके नाम गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्तिः, त्रिष्टुप्, जगती, ये हैं, तथापि इनके उपभेद और अन्य भेद अनेक है। उदाहरण के लिये एक छोटासा गायत्री-छन्द है। यह सबसे छोटा और तीन पादोंमें २४ अक्षरोंका ही है। तथापि इसके करीब ६० भेद हैं। अक्षरसंख्या केवल २४ परंतु गायत्रीके भेद ६० होते हैं, इसके सब उदाहरण भी वेदोंमें हैं।

अक्षरसंख्या २४ होनेपर भी, २४ अक्षरोंवाले छन्द आर्षी गायत्री, आर्ची अनुष्टुप्, प्राजापत्या पंक्तिः, साम्नी जगती इस तरह अनेक हो सकते हैं, अतः केवल अक्षर-संख्या से ही छन्द का निर्णय करना अयोग्य है। इसीलिये छन्द-शास्त्रमें 'देवतादितश्च' आदि अन्य प्रमाण भी देखनेके लिये कहा है। यदि ये दूसरे प्रमाण कोई न देखेगा, तो उसको छन्दोनिर्णय करना असंभव हो जायगा। उदाहरणके लिये—

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते। (ऋ० १।५।२)

इसका छन्द अजमेर मुद्रित ऋग्वेदमें पृ० ३ पर 'आर्च्युष्णिक्' दिया है। परंतु यह अशुद्ध है। देखिये—

प्रथम चरणकी अक्षर-संख्या	— ७
द्वितीय " " "	— ७ (रेफव्यूहसे)
तृतीय " " "	— ८
मन्त्रमें कुल अक्षरसंख्या	२२

अर्थात् गायत्रीके अक्षर २४ चाहिये, तो इसमें दो अक्षर कमही हैं। 'द्वाभ्यां विराट्' यह सूत्र है। दो अक्षर कम होनेसे 'विराट्' नाम होता है, और यह गायत्रीके अन्दर का भेद होता है, इस लिये इस मंत्रका छन्द 'विराड्गायत्री' सिद्ध हुआ। अजमेर के पुस्तकमें 'आर्ची उष्णिक्' लिखा है, वह बिलकुल अशुद्ध है। देखिये इसका कारण यह है।

उक्त मन्त्रके द्वितीय पाद 'ईशानं वार्याणां' में अक्षर ६ हैं, यहां छःही माननेसे इस मन्त्रकी अक्षरसंख्या २१ होती है, और यदि २१ अक्षर माने गये तो अक्षरसंख्यासे 'आर्ची उष्णिक्' छन्द होता है, परंतु द्वितीय पाद में जो रेफ है उसका व्यूह करना चाहिये ऐसा नियम है। अतः इस रेफ-व्यूह के कारण एक अक्षर अधिक होकर मंत्रमें अक्षर २२ हुए और आर्ची उष्णिक् छन्द होना असंभव हुआ। रेफव्यूह की बात अजमेर वैदिक यन्त्रालस्थ पडितोंके ध्यानमें नहीं आयी, और उन्होंने अक्षर गिनकर छन्दका नाम मन्त्रके आगे लिख मारा। ऐसाही अनर्थ सर्वत्र किया गया है।

दूसरी और प्रधान अडचन यह है कि अक्षरसंख्यासे छन्द निर्णय जो करते हैं वह पादव्यवस्था जिन मंत्रोंमें नहीं होती, उनका ही किया जाता है। जहां पादबद्ध रचना होती है, उन मंत्रोंकी व्यवस्था स्वतंत्र है। "पादः" इस अधिकार सूत्रके पूर्वहि 'आर्ची, दैवी,' आदि भेद छन्दःशास्त्र में कहे हैं, इसका तात्पर्य यह है कि ये पादव्यवस्था न होनेकी अवस्थाके छन्द है। अर्थात् जहां पादव्यवस्था नहीं है उन यजुर्वेद-मंत्रोंके लिये यह नियम है।

उक्त मन्त्रमें तीन पाद स्पष्ट हैं। पाद होनेसे आर्ची आदिके लक्षण यहां लगना असंभव है। अजमेर यंत्रालयके पण्डितोंको इसका बिलकुल पता नहीं था और इस गोलमालको पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि यह यह योगबल और तपोबलसे की हुई है!! यदि सचमुच योगबलसे इतना अज्ञान बढता है, तो वह योग किसी भी काम का नहीं है।

वास्तव में योगबल से सत्यज्ञान होना चाहिये। परन्तु यहां मामूली विद्वान्‌को भी जितना छन्दका ज्ञान होता है वह भी दिखाई नहीं देता। यजुर्वेद के पादहीन छन्दों की गणना जैसी की जाती है, वैसीहि पादवाले छन्दों की गणना करके बडीहि असावधानी की है। न इस में योग-सामर्थ्य है, न तपका बल है और न छन्दःशास्त्रका ज्ञान है। किसी तपोनिष्ठ योगी का यह कार्य नहीं है। वैदिक यन्त्रालय में जो बिलकुल साधारण पण्डित थे उनके ये कर्तूत हैं, इस कारण ये किसी को भी माननीय नहीं हो सकते। फिर पं० ब्रह्मदत्तजी कितना भी जोर लगावेंगे तो उस में उनको सफलता प्राप्त नहीं होगी। परंतु विचारो पं० ब्रह्मदत्तजी को भी छन्दःशास्त्र के इन सूक्ष्म विचारोंका पता नहीं है। फिर वे सत्य क्या है और असत्य क्या है इसका निर्णय किस तरह कर सकते हैं ? और उनको ही सर्वज्ञ समझनेवाले जो लोग हैं, उनकी अवस्था क्या होगी ?

वैदिक छन्दोंका वर्णन ब्राह्मण ग्रंथोंमें भी देखना चाहिये। ब्राह्मण ग्रंथोंको छोडकर छन्दोंका ज्ञान होना कठिन है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें 'गायत्रं शंसति' ऐसे वचन आते हैं। यहां गायत्री छन्दवाले मंत्र पढनेका अनुरोध है। वहां उस सूक्तमें यदि बीचही में 'आर्ची उष्णिक्' छन्द लिख मारा

तो उस ब्राह्मण-वचन का प्रामाण्य मारा जायगा । यह भी एक बात है। इसलिये पं० ब्रह्मदत्तजी पहिले समझ लें कि मंत्रके छन्दोनिर्णय करने के लिये--

१ मंत्र पादबद्ध है वा पादहीन है. यह देखना चाहिये ।

२ पादबद्ध मंत्रके छन्द निर्णय के लिये जो प्रक्रिया है वही उन मंत्रोंके छन्दों का निर्णय करनेके लिये लगानी चाहिये ।

३ पादहीन मंत्रोंके लिये दूसरे नियम लगाने चाहिये ।

४ ब्राह्मण-ग्रंथोंमें जो उल्लेख हैं उनको बाधा नहीं पहुंचानी चाहिये ।

गोलमाल करनेसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा। यह एक शास्त्र है, अतः पं० ब्रह्मदत्तजी डरानेके प्रयत्न करेंगे तो शास्त्र के सम्मुख उनको परास्त होना पडेगा । चाहे वे अन्ध अनुयायियों के बचिमें कितने भी उच्च विद्वान् समझे जाते हो, उस सरटिफिकिट का यहां कोई उपयोग नहीं होगा ।

व्यूहसे पादपूरण करना यह छन्दःशास्त्रका बडा भारी अटल सिद्धान्त है। वेद का यह एक बडा ही गंभीर तत्त्व है। वेद के अपौरुषेयत्व के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है।हम इस लेखमें इस महत्त्व पूर्ण बातकी सिद्धि करना नहीं चाहते। किसी अन्य समय अतिविस्तारके साथ यह विषय पाठकोंके सामने रखेंगे । यहां इतनाही बताना है कि यह एक साधारण बात नहीं है, वेदके साथ इसका विचार प्रधान स्थान रखता है ।

लौकिक छन्द अक्षरोंके साथ तथा गणोंके साथ संबंध रखते हैं, उसी तरह वैदिक छन्द स्वरोंके साथ और उच्चारके कालके साथ संबन्धित हैं। कोई अक्षर बाह्य अथवा अभ्यंतर प्रयत्नविशेषसे उच्चारित होनेवाला है, अथवा किसी अक्षरके साथ अनेक मात्राओंका कम्प रहा तो उस पादमें उतने अक्षर अधिक गिनने होते हैं । उच्चारणकाल और श्रवणकाल का साम्य सूक्ष्म दृष्टिसे देखकर ही मन्त्रका छन्द निर्णय होता है । पं० ब्रह्मदत्तजी इसका विचार करें और इस शास्त्रीय विचिकित्सामें अशास्त्रीय हठ करना छोड दें।

मंत्रोंके चरणोंका निश्चय करना भी केवल अक्षरोंपर निर्भर रहनेसे सिद्ध होनेवाली बात नहीं है । केवल अक्षरोंपर निर्भर रहना यह लौकिक छन्दोंमें होता है। ये लौकिक छन्द मृत जैसे हैं। वैदिक छन्दों की गंभीरता और हि हैं । 'अर्थवशेन पादव्यवस्था' यह जैमिनीका सूत्र अत्यंत महत्त्वका है। अतः मन्त्रका अर्थज्ञान होनेसेहि मंत्रके चरणोंका ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं । चरणोंमें न्यूनाधिक अक्षरसंख्या होनेसे विभिन्न चरण होते हैं । अस्तु ।

यह विषय ऐसा है कि इसकी रुचि सर्वसाधारण वाचक को लगनी कठिन है ।

ऋ० १।३६।१ का छन्द अजमेरवालोंने 'भुरिगनुष्टुप्' दिया है । इस मंत्रके तृतीय चरणमें ११ अक्षर हैं । जगत् में किस स्थानपर अनुष्टुप् छन्दके तृतीय पादमें ११ अक्षर इन्होंने देखे हैं ?ऐसी भयानक अशुद्धि कोई दूसरी जगह हो नहीं सकती। इस सूक्तका छन्द 'प्रगाथ' है यह 'बार्हत प्रगाथ' कहा जाता है । इसमें सम मंत्र 'सतो बृहती' छन्दके होते हैं और विषम मंत्र 'बृहती' छन्दके होते हैं । अजमेरवालोंको प्रगाथ का कोई पता नहीं, कई जगह तो इन्होंने प्रगाथ देवता है ऐसा भी लिख मारा है, ऐसे स्थानोंमें सब शास्त्र चूल्हेमें गये हैं !!

इस तरह एक एक छन्दके विषय में लिखा जाय तो बडा ग्रंथ होगा ! उतना समय न मेरे पास है और न उसका कुछ उपयोग पाठकोंको हो सकता है ।अतः इतना ही लेख इस विषयमें पर्याप्त है। पाठक इसीसे जान सकते हैं । ऋग्वेदमें अजमेर पंडितोंने कमसे कम सात हजार अशुद्धियां की हैं । इसके सब प्रमाण दिये जायंगे, यदि इतना लेख कोई छापनेको तैयार हो ।

पं० ब्रह्मदत्तजी इस अनर्थ को पाहिले आंखे खोलकर देख लें, और पश्चात् जितना अज्ञान फैलानेसे उनका लाभ होना संभव हो उतना फैलावें । परमेश्वर पं० ब्रह्मदत्तजी के अज्ञानरूपी आगसे वेदकी रक्षा करे ।

स्वाध्याय-मंडलद्वारा जो ऋग्वेद हमने मुद्रित किया है उसके ऋषि-देवता-छन्द अत्यंत शुद्ध और निर्दोष रखे हैं। कोई विद्वान् उसमें अशुद्धि निकाल देवे ।

'काया-कल्प-चिकित्सा ।'

महामना मालवीयजी का वक्तव्य ।

" मेरी कायाकल्प-चिकित्सा पर बहुत चर्चा हो रही है। अपनी कुटीसे बाहर आकर मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि कायाकल्पका बहुत विज्ञापन किया गया है और इसके परिणामके बारेमें भी बहुत बडी-बडी आशायें बांधी गई हैं। विदेशोंसेभी इसके बारेमें बहुत पूछताछ की गई है। ऐसा जान पडता है कि इस चिकित्सा-सम्बन्धी सच्ची बातों और इसके परिणामको जाननेके लिए जनता उत्सुक है।

" यौवनावस्थाको पुनः प्राप्त होनेके लिए कायाकल्प-चिकित्सा हिन्दू औषधि-प्रणालीका आंतरिक भाग है। हिंदुओंकी एक प्राचीन पुस्तक 'चरक'के भी कई अध्यायोंमें, इसी चिकित्साका वर्णन है। सुश्रुत, वाग्भट्ट तथा अन्य लेखकोंने भी इसके बारेमें लिखा है और इस उद्देश्यके लिए जिन औषधियोंका उल्लेख किया गया है, उनको रसायन नामसे पुकारा गया है।

केवल ऋषियोंके लिये ।

" शुरू-शुरूमें रसायन-चिकित्सा केवल बडे बडे ऋषिमुनियोंको ही पुनः यौवन-प्राप्तिका साधन थी। रसायन-चिकित्साके लाभ बतलाते हुए ' चरक-संहिता ' में लिखा है—

" पुरातन कालमें च्यवन तथा अन्य महर्षि जब बहुत वृद्ध हो गये तब उन्होंने दुबारा यौवन प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की। उन्होंने रसायन-चिकित्साके सहारेही उसके बाद अनगिनत सालोंतक संसारमें जीवन व्यतीत किया। एक अन्य स्थान पर फिर लिखा गया है—

" रसायनोंका प्रयोग करके आदमी चिरायु स्वास्थ्य, स्मृति,यौवन, सौंदर्य, शारीरिक शक्ति, भाषण-शक्ति, योग्यता तथा बुद्धि प्राप्त करता है।

" रसायन-चिकित्साले कौन आदमी अच्छेसे अच्छा लाभ उठा सकता है ? इस बारेमें 'चरक' संहितामें लिखा है—

" जो आदमी सत्यवादी है, क्रोधसे मुक्त है, भोगविलास तथा मांससे परे है, मार-काट तथा थकावटी कामोंसे दूर रहता है, सहनशील है, जप करता है, मन और शरीर जिसके शुद्ध हैं, सदाचारी है, संतुष्ट है, राज-दान करता है, देवताओं, गऊ ब्राह्मणों, साधुओं, अध्यापकों तथा वृद्धोंकी इज्जत करता है, नीच कार्योंसे बचता है, जिसका हृदय नरम है, ज्ञानी है, जो ठीक समयपर सोता और जागता है, भोजनमें घी-दूधका प्रयोग करता है, समयकी कीमतको समझता है, तर्क और अधिकार को मानता है, गर्वसे दूर है, अपने धर्ममें दृढ है, धार्मिक बातोंको समझता है, अपने दीमागपर जिसका काबू है और इसे सर्व शक्तिमान्के ध्यानमें लगाता है, ईश्वरमें जो विश्वास रखता है और जो धर्म-शास्त्रोंका पालन करता है, वही आदमी रसायन-चिकित्साका विना इसका प्रयोग किए भी लाभ उठा सकता है। किंतु जिस आदमीमें उपरोक्त गुण हैं और वह रसायनोंका प्रयोग करता है तो उसे इस चिकित्साका पूरा लाभ मिलता है।'

दो तरीकोंसे काया-कल्प ।

"रसायन-चिकित्सा दो तरीकों से होती है— (१) कुटी-प्रवेश, (२) खुली हवामें। पहिले तरीकेके अनुसार रोगी को झोंपडी में, जोकि खास तौरसे उसके लिये बनाई जाती है, बन्द कर दिया जाता है और जब तक

चिकित्सा नहीं हो जाती तब तक उसे बाहर निकलने नहीं दिया जाता। कुटी इस प्रकार बनाई जाती है जिसमें हवाके झोंके, रोशनी, धूल, आंधी आदि वहां नहीं पहुंच सकती। निस्संदेह यह तरीका दोनों तरीकों से अच्छा है, किन्तु साधारण आदमी के लिये इसमें लगाई गई बहुतसी पाबन्दियों को निभाना बहुत कठिन है।

"जो लोग पहिले तरीके से कायाकल्प कराने में असमर्थ होते हैं, उनके लिए खुली हवा में रसायनों का प्रयोग बताया गया है।

योग्य वैद्य।

"किन्तु प्रत्येक केस में 'चरक' का कहना है कि रसायन-चिकित्सा किसी योग्य वैद्य द्वारा करानी चाहिए, जो रोगी को अपना बच्चा समझे और रोगी को भी वैद्य का आदर करना चाहिए। 'चरक' इस बातको स्पष्ट रूप में बतलाता है कि जो वैद्य रसायन-चिकित्सा का अभ्यास करते हैं वे लोभ और रुपये-पैसे के लालच से मुक्त होने चाहिए।

❀ ❀

"कुछ लोगों ने समय-समय पर कायाकल्प-चिकित्सा कराई है। किन्तु ऐसा जान पडता है, पहिले तरीकेसे अर्थात् कुटी-प्रवेशसे केवल साधु संन्यासियों को ही लाभ प्राप्त होता है और गृहस्थियों को इससे बहुत कम लाभ पहुंचा है। ढाई साल का अर्सा हुआ एक उदासी साधु, नाम बाबा किशनदास बनाम तपसी बाबाने, जो कई सालसे मथुरा जिलेमें कोतवान नामक स्थानपर रहते थे, कुटी-प्रवेशके तरीकेसे अपना कायाकल्प किया। यह प्रयोग सफल हुआ। कुटी-प्रवेशसे पहले लोगोंने तपसी बाबा को ६५, ७० सालके बीचका वृद्ध और गम्भीर आकृतिका देखा था किंतु जब वे ४० दिनमें कायाकल्पके बाद कुटीसे बाहर निकले तो लोगोंको उन्हें देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। क्योंकि वे ४० वर्षकी आयुसे अधिकके नहीं जंचते थे।

"गत मई मास में मथुरा के दो सज्जन मुझसे मिले और उन्होंने मुझे कायाकल्प कराने के लिये कहा। मैंने उनसे कहा कि पहिले मुझे उस साधु से, जिसने कायाकल्प किया है, मिला दीजिए, क्योंकि मैं उनसे मिले बिना कोई निश्चय नहीं कर सकता था।

'इसके कुछ दिन बाद गाजियाबाद के श्री आनन्द स्वामी, पं. हरदत्त शास्त्रीके साथ मुझसे मिलने आए। उन्होंने मुझ पर कायाकल्प कराने के लिए जोर डाला। मैंने कहा कि इस बारे में निर्णय करने से पहिले मैं उस साधु से मिलना चाहता हूं जिसने एटा जिले में काया-कल्प किया है।

"कुछ दिनों बाद श्रीआनन्द स्वामी, तपसी बाबा को लेकर मेरे पास आये। तपसी बाबा वास्तव ३५, ४० साल के जंचते थे। उनसे बातचीत करनेके बाद मैंने भी काया-कल्प-चिकित्सा कराने का विचार प्रकट किया। अपने निकट संबन्धियों को तथा मित्रों को बडी कठिनाई से इस चिकित्सा के लिए राजी कर सका। क्योंकि ऐसी कमजोर हालत में वे नहीं चाहते थे कि मैं ऐसी कठोर चिकित्सा का सामना करूं। लेकिन मैंने अंत में कायाकल्प कराने का निर्णय कर ही लिया। बाबाजी ने पं० हरदत्त शास्त्री को भी मेरे ही साथ-साथ कायाकल्प कराने के लिए कहा और जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

चिकित्सा से अनुभव।

"१६ जनवरी १९३८ को चिकित्सा शुरू हुई और २४ फरवरी को समाप्त हुई। पं० हरदत्त शास्त्री और मैं, दो अलग अलग कुटियों में ५० फिट के अंतर पर पूरे ४० दिन तक रहे। ये बडी कठोर तपस्या के दिन थे। ४० दिन तक हमने सूर्य नहीं देखा और न हमने बरांडे में आकर

भी ताजी हवा का अनुभव किया। समय बिताने के लिये हम बाज अवकात कुछ पढ सकते थे। मेरी कुटी से मिले हुए एक दूसरे कमरे में पंडित वेद-मन्त्रों के साथ रुद्राभिषेक करते थे जब कि दूसरी ओर एक दूसरे कमरे में एक ओर पंडित श्रीमद्भगवत् गीता का उच्चारण करते थे। कभी-कभी हमें अपनी ही कुटी में किसी के साथ मुलकात करने की भी आज्ञा मिल जाती थी। स्नान, व्यायाम तथा हजामत आदि सब मना थे। चिकित्सा-काल में हमें केवल गरम पानी का ही प्रयोग करना पडता था। दिन और रात को अधिकांश समय हमें अंधेरे में ही रहना पडता था और केवल आवश्यकता पडने पर ही बत्ती जलाई जाती थी। हमारा भोजन केवल काली गऊ का दूध था। हम जितना दूध पी सकते थे उतना ही हमें मिल जाता था। मैं रोज डेढ सेर से लेकर दो सेर तक दूध पी जाता था।

चिकित्सा से लाभ।

"मेरे मित्र पं० हरदत्त शास्त्री को और मुझे कायाकल्प से बहुत लाभ पहुंचा है। पं० हरदत्त शास्त्री को, जो मुझसे १४ साल छोटे हैं, बहुत स्वास्थ्यलाभ हुआ है। चिकित्सा से पहिले और बाद को लिये चित्रों से ही यह साफ प्रकट हो जाता है। मेरा वजन ९ पौंड बढा है। त्वचा के रंग और बनावट में भी सुधार हुआ है। मेरी आंखों की ज्योति भी बढ गई है। मेरी स्मरण-शक्ति भी बहुत बढ गई है। बाल पहले से काले हो गये हैं। हाथ पहले से बहुत कम कांपते हैं।

"मैं सीधा होकर चलता हूं। जो निराशा की भावना मुझ पर सवार होती जा रही थी, वह अब कोसों दूर भाग गई है और उसके स्थान में आशा और विश्वास के नए अंकुर पैदा होने लगे हैं।"

अहुर मज्द तथा वेद।

(लेखक– श्री० हलियाराम कश्यप, ऐम्. ऐस्सी.)

अवस्ताके विद्वान् गाथाओंको जिन्द अवस्ता का सबसे सुन्दर भाग मानते हैं, परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में परम पवित्र भाग कहलाने की अधिकारिणी तो होरमज्द यस्त ही है।

इस निबन्ध में परब्रह्म के अहुर मज्द नाम के सत्य अर्थ जानने तथा उसका वास्तविक वैदिक रूप पहिचानने का भी यत्न किया जावेगा।

संस्कृत शब्द होता को अवस्ता के जओता शब्द से, तथा संस्कृत सप्त को जिन्द के हप्त से तुलना करने से तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparaive Philology) का जो सरल नियम ज्ञात होता है उसी एक का आश्रय लेने से भी हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वेद में अहुर मज्द शब्द असुर महद् रूप में मिलना चाहिए। क्यों कि ऐसा मानने में हम केवल उस सरल भाषाविज्ञान के नियम का ही इसे उदाहरण समझ रहे हैं, जिसके अनुसार संस्कृत से जिन्द में जाने पर किसी शब्द का स तथा ह, उसी शब्द में ह तथा ज में परिणत हो जाता है।

अतः अब यह मौलिक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि क्या असुर महद् शब्द वेद में मिलते हैं ? और यदि मिलते हैं तो क्या वहां भी वह परब्रह्म के सूचक हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर हमें इसी समय देना नहीं चाहिये। अतः इस मौलिक प्रश्न का उत्तर प्राप्त करनेके लिये हम सीधा वेद भगवान् को ही प्रेरते हैं।

इण्डियन कल्चर जिल्द २ सं०४ (Indian Culture, Vol. II, No.4.) के पृष्ठ ६१५ पर अपने लेख " A Vedic basis for the etymologies of Vedic words " में इस लेखक ने सविता शब्द की सत्य निरुक्ति प्रदर्शित की है। वहां यह स्पष्ट है कि वेद में इस शब्द का प्रयोग विश्वरचयिता अर्थात् परब्रह्म के अर्थों में होता है। अब उन्हीं सविता भगवान् के विषय में ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त ५३ मन्त्र १ में इस प्रकार कहा है:-

(१) तद्देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे
असुरस्य प्रचेतसः।

अर्थात् " महाज्ञानी, असुर सविता देव के (हमारे) वाञ्छित तथा स्वीकरणीय महद् (रूप) को हम स्वीकार करते हैं ॥"

स्पष्ट है कि यहां साफ शब्दों में सविता भगवान् को महद् रूपवाला असुर वर्णन किया गया है। महद् शब्द असुर महद् के महद् शब्द से केवल ह द के हल होने और न होने में ही भेद रखता है, क्योंकि एक में द हल है ह नहीं और दूसरे में ह हल है द नहीं।

इस स्थल पर वेद और अवस्ता परस्पर निकटतम पहुंचे हुए हैं। यदि तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिक अथवा दोनों मतों के अनुयायी इस समीपता को स्वीकार करने को उद्यत न हों, हम तब उन से प्रार्थना करेंगे कि वे हमें इस से निकटतर अन्य कोई सम्बन्ध दर्शायें।

साथ ही यह भी बात है कि अद्य पर्यन्त आर्यों का सावित्री जाप निश्चित रूप से उन्हें परब्रह्म सविता के उपासक सिद्ध करता है। क्योंकि उस सावित्री अर्थात् प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का देवता केवल सविता ही है। वेद के अनुयायी सभी विचारों के आर्य हिन्दुओं की संख्या का सार भी यह सावित्री जाप ही है।

कोई वेद के विद्वान् हम पर यह आक्षेप कर सकते हैं कि महद् वृणीमहे का विग्रह करने पर महत् और वृणीमहे शब्द प्राप्त होंगे, महद् नहीं। अपने उन मित्रों से मैं यह नम्र निवेदन करूंगा कि ऐसी सूक्ष्म समानता एक देश से दूसरे देशमें सर्वथा वैसी की वैसी पहुंचना अतीव कठिन है। विशेष कर जब कि उन दोनोंमें इतने मीलों का अन्तर हो कि उसके प्रभाव से स का ह और ह का ज भी हो सके।

इस प्रकार वेद तथा अवस्ता का अत्यन्त सामीप्य दर्शा कर हम अब एक और मन्त्र लेते हैं:—

(२) आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः । महत् तदू वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥
(अथर्व० कां० ४ सू० ८ मं० ३)

प्रकट है कि यहां भी सूर्यमें सुप्रकट तथा इसी सूक्त के मंत्र ६ में सविता नाम से स्मरण किया गया भगवान् ही उपरोक्त शब्दोंमें इस प्रकार स्तुति किया गया है—

"उसी सर्वव्यापक की सर्वत्र ही सभी शोभा बढ़ा रहे हैं । निज श्री की ओढ़नी ओढ़े हुए वह स्वेच्छा से ही चलायमान हो रहा है। हां, वह स्वप्रकाशस्वरूप ऐसा स्वयं ही कर रहा है । शुभ सुखद्वैं की वर्षा करनेवाला वह सभी अमर सत्ताओं आत्माओं में भी विद्यमान हो रहा है, क्योंकि वास्तव में तो सभी रूप उसीके अपने ही हैं । उस असुर का नाम महत् है । "

संस्कृत में महद् और महत् शब्द अभिन्नरूपेण ही प्रयुक्त होते हैं और प्रायः समान अर्थों में ही । उपर्युक्त मंत्र में वैदिक परब्रह्म को असुर महत् कहा है, जैसा कि मंत्र के शब्दों तथा इसके ऊपर किये अर्थों से सर्वथा ही स्फुट है । वेद और अवस्ता को यह मंत्र कितना निकट सम्बन्धि सिद्ध करता है, यह दोनों प्राचीन धर्म-पुस्तकों के विज्ञ गवेषणा-निधियों को स्वयमेव ही निश्चित करना कुछ कठिन प्रतीत न होगा।

यजुर्वेद अध्याय ३३ मंत्र २२ भी ठीक उपर्युक्त मंत्र कि न्यायीं ही है,परन्तु वहां पर मंत्रदेवता इन्द्र माना गया है । इस बात को समझने के लिये कि आर्य अपने परम देव भगवान् को इन्द्र सरीखे परम प्रिय शब्दोंसे सम्बोधन किया करते थे। हम विज्ञ पाठकों का ध्यान इण्डियन कल्चर जिल्द १ सं. ४ (Indian Culture, vol. 1 No. 4) के पृष्ठ ७१३ की ओर आकर्षित करवाते हैं, जहां हमारे लेख " A Vedic basis for the etymologies in the Nirukta by Yaska) में इस इन्द्र शब्द की यथार्थ निरुक्ति दे दी गई है, जिस से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, कि इन्द्र शब्द परब्रह्म का वाचक है ।

संस्कृत में महत् और महद् के स्थान में महः शब्द का प्रयोग भी किया जाता है । असुर मज्द का वैदिक रूप खोजते समय यह महः शब्दभी इस पवित्र प्रयत्न में हमारी सहायता करने के लिये आ उपस्थित होता है। आर्य लोग परब्रह्म अग्नि की उपासना किया करते थे, यह भेद तो इस प्रकार सब पर खुला हुआ है, कि इस की सिद्धिके लिये किसी भी नवीन प्रमाण के देने की आवश्यकता सर्वथा नहीं । वास्तव में अन्य वेदोंका तो कहना ही क्या सम्पूर्ण ऋग्वेद भी प्रायः इसी का उज्ज्वल प्रमाण है। अतः अग्निः को असुर-महः कह कर सम्बोधन करना यदि किसी मंत्र में दृष्टिगोचर हो, तो वह अतीव मनोरञ्जक सिद्ध होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। यही मनोरञ्जन ऋग्वेद मण्डल २, सूक्त १, मंत्र ६ करता है, जिसमें कहा है कि:—

(३) त्वमग्ने रुद्रो असुरः महः...... ॥

अर्थात् " हे अग्नि भगवान् ! आप रुद्र हैं, असुर महः हैं... " इस प्रकार इस मंत्र में परब्रह्म के ऋग्वेद में आये नामोंमेंसे सबसे अधिक प्रिय नाम अर्थात् अग्निके साथही असुर-महः नाम जोडा गया है । अतः निश्चित हुआ कि यह पर असुरमहः नाम निःसंदेह ही परब्रह्म वेदोक्त परमात्मा-का वाचक उतनी ही सत्यता से है, जितनी से अग्नि।

पुनः अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त १, मन्त्र २ और ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०, मंत्र २ में भी परब्रह्म को असुर--महः ही कहा गया है । वे मन्त्र इस प्रकार हैं-

(४) ... महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥

अर्थात् ' असुरमहः के वीर पुत्र द्यौः (आस्मान) तथा प्रकाश को आश्रय दे रहे हैं और सम्पूर्ण विश्व में सुप्रसिद्ध हैं । '

स्पष्ट है कि असुरमहः प्रकृति की उन महाशक्तियों का रचयिता है, जो इस भूमि पर तो सुप्रसिद्ध है ही, परन्तु साथ ही वे भूमि को घेरनेवाले वायुमण्डल आदि को भी अपने पारस्परिक प्रभावों से प्रभावित कर उसका भी आश्रय बन रही है, अतः वह असुर-महः स्वयं परब्रह्म परमात्मा से भिन्न कोई दूसरा नहीं ।

वैदिक धर्मियोंसे निवेदन।

धर्मप्रेमी भाईयो!

क्या आप सचमुच वेदोंको अपना धार्मिक ग्रंथ मानते हैं? अगर हाँ, तो बताइये कि वेद-संहितायें आपके घरमें मौजूद हैं? और अगर हैं तो क्या वे वैसी ही शुद्ध हैं जैसी कि वे वास्तवमें होनी चाहिए?

उपरोक्त प्रश्न जब कभी कोई अन्यमतावलम्बी किसीभी वेदानुयायीसें पूछता है, तो निःसंदेह उसे लज्जाके मारे सिर झुका देना पडता है। क्योंकि वस्तुतः हमारे पास ऐसी शुद्ध संहिताओंका अभाव है। इस समय जो संहितायें थोडी बहुत उपलब्ध भी हैं, वे पर्याप्त भूलोंसे भरी पडी हैं। उनकी न तो शुद्ध छपाईकाही ठिकाना है और नहीं कागजका!

हम जब ईसाई आदि अन्यमतावलम्बियोंकी धर्म-पुस्तकें देखते हैं तो हमें शोक व लज्जाके मारे चुप रह जाना पडता है। भारतवर्ष वैदिक धर्मावलंबियोंका गढ है। उसमें करोडोंकी संख्यामें ऐसे लोग विद्यमान हैं जो कि वेदोंको अपनें प्राणोंसे भी ज्यादा प्यार करते हैं। पर यह सब होते हुए भी वेदोंकी क्या हालत है?

अस्तु; इन सब बातोंको सोचते हुए **स्वाध्याय-मण्डलने** दृढ निश्चय किया है कि वह तमाम वैदिक साहित्य अर्थात् वेदोंसे लेकर उपनिषदोंतक, अत्यंत शुद्ध रूपमें छापेगा। इस समय मूल वेद-संहिताओंके छापनेका कार्य प्रारंभ हो गया है। इसके साथ साथ स्वाध्याय-मण्डलने यह भी सोचा है कि वेद-संहिताओंमें एक भी भूल रहने न पावें, तथा यथासंभव संहितायें सस्ती तैयार की जा सकें। अतः तदर्थ ब्लोक्स बनाए जांय। इस योजनाकी पूर्तिके लिए ५० हजार रुपयोंसे भी अधिक खर्च होनेवाला है। इतने खर्चसे चारों संहिताओंकी दस दस हजार प्रतियां तथा ब्लोक्स तैयार हो जायंगे।

उपरोक्त संहिताओंमें निम्न लिखित विशेषतायें होंगीं-

(१) ऋषि, देवता, छन्द आदि संपूर्ण रूपसे शुद्ध छपे हुए होंगे।

(२) मंत्रक्रम प्राचीन पद्धतिके अनुसार ही शुद्ध छापा जायगा।

(३) छपाईका कागज टाईप विगेरे उत्तमसे उत्तम होगा।

(४) मंत्र व सूक्त खुले छपे हुए होंगे, जिससे कि नित्य पाठादिमें सुगमता हो सके।

(५) जिल्द अत्यंत सुंदर व आकर्षक होगी।

ये संहितायें निःसंदेह अजोड तैयार की जायंगी। घरमें तथा पुस्तकालयोंमें संग्रह करनें लायक उत्तम ग्रंथ (Library Editions) होंगे।

उपरोक्त खर्चको पहुंचनेके लियेभी स्वाध्याय-मण्डलने निम्न लिखित योजना की है, जो कि सर्वथा कार्यमें परिणत हो सकनेवाली है—

(१) **चारों संहिताओंका मिलाकर सिर्फ ५) मूल्य** उन सज्जनोंके लिए रखा जावें जो कि अभीसे ५) पेशगी भेजकर पहलेसे ग्राहक बन जावें। ऐसे १० हजार ग्राहक बन जानेसे उपरोक्त कार्य सर्वथा सुगम हो जाता है। इतनी बडी भारी जनसंख्यामें १० हजार ग्राहक मिलनें हमारे ख्यालमें पर्याप्त आसान हैं।

(२) स्वाध्याय-मण्डलको लिमिटेड (Limited) बनानेकी खास योजना तैयार की जा रही है। स्वाध्याय-मण्डलके वेदमुद्रण-कार्यके लिये आवश्यक मूल धनके ५०० हिस्से किये हैं और प्रत्येक हिस्से (Share) की कीमत रु० १००) रखी गई है। सिर्फ ५०० धनी व दानी सज्जन चाहें तो यह कार्य बडी आसानीसे करवा सकते हैं।

(३) ऐसे दानी सज्जन तैयार किए जांय कि जो दानके तौरपर उपरोक्त कार्यमें सहायतार्थ कुछ धन भेंट करें।

(४) कुछ ऐसे सज्जन तैयार किए जांय कि जो बिना व्याजके अमुक धनराशि निश्चित समयतक मदद रूपमें दे सकें।

इस उपरोक्त योजनाको कार्यरूपमें लानेके लिए जो सज्जन उदारता दर्शानेका कष्ट करेंगे उनको उसके बदलेमें स्वाध्याय-मण्डलने निम्न सहूलियतें देनेका निश्चय किया है।

(१) जो सज्जन पहिलेसेही५)रु० (डा० व्य० सहित६॥)रु० भेजकर ग्राहक बन जायंगे उन्हें सिर्फ आधे डाकमहसूलसे घर बैठे संहितायें पहुंचा दी जायंगीं। चारों संहिताओंका डाकव्यय ३) लगता है। परंतु जो कमसे कम दस सज्जन मिलकर ५०) या अधिक मूल्य पेशगी भेजकर ग्राहक बनेंगे और रेलके स्टेशनपर पार्सल द्वारा संहिताएं मंगायेंगे उनको मूल्यके अतिरिक्त कोई व्यय नहीं देना पडेगा।

(२) स्वाध्याय-मण्डलके विभागधारियों (Share Holder) को उपरोक्त संहिताओंके साथ साथ भविष्यमें स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें भेंट की जाया करेंगीं।

(३) (क) जो सज्जन १०००) से ५०००) तक दान देंगे उनकी बडी साईजकी फोटो प्रति संहिताकी प्रतिके साथ छापी जायगी।

(ख) जो सज्जन ५००) से १०००)तक दान देंगे उनकी छोटी साईजकी फोटो प्रति संहिताकी प्रतिके साथ छापी जायगी।

इसके अतिरिक्त अन्य सज्जनोंको प्राप्त लाभ भी इनको दिए जायंगे।

(४) ऋणके रूपमें धन देनेवाले सज्जनोंकी धनराशियां वेदमुद्रणका कार्य समाप्त होनेके पश्चात् वापिस कर दी जावेंगी।

उपरोक्त योजना तथा संहिताओंके शुद्धाशुद्ध तथा नवीन छपाई आदिके बारेमें वैदिक धर्मके अङ्कोंमें वारंवार प्रकाशित किया जा रहा है। जो सज्जन उन्हें पढना चाहें वे वैदिक धर्मके अंक मंगाकर पढ सकते हैं।

आशा है कि प्रत्येक वेदप्रेमी सज्जन हमारी इस योजनामें सक्रिय भाग लेकर हमारा उत्साह बढानेके साथ साथ धर्मप्रचारके पुण्यकार्यमें हाथ बँटाकर यशोभागी बनेंगा। प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जन अपने बन्धु बांधव मित्र तथा सहचारीवर्गमें हमारी इस योजना का सक्रिय प्रचार कर हमें अनुगृहीत करेंगें।

निवेदक

श्री० दा० सातवळेकर,
मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल,
औंध (जि० सातारा)

श्रीमान् मंत्री, स्वाध्याय--मण्डल,

औंध, (जि० सातारा)

नमस्ते ।

आपकी वेद-संहिता-मुद्रण-संबंधी योजना पढकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मैं उससे सहमत हूं तथा यथा-शक्ति सहायता करनेके लिए तैयार हूं । और तदर्थ यह पत्रक भरकर भेज रहा हूं ।

(१) मेरा नाम ग्राहक-संख्यामें लिख लेवें । चारों वेदोंकी मूल संहितायें छप जानेपर प्रत्येक वेदकी प्रतियां भेज देवें । प्रतियोंका मिलकर अगाउ मूल्य रुपये पेशगी भेज रहा हूं ।

(२) मैं १००) रुपया प्रति विभाग (शेयर) के हिसाबसे विभाग (शेयर) खरीद कर उनकी कीमत रु० भेज रहा हूं । रुपये पहुंचनेपर भागीदारोंमें नाम लिखकर प्रमाणपत्र भेज-देवें ।

(३) मैं रुपये संहिता--मुद्रणार्थ दान देना चाहता हूं । कृपया स्वीकृत कर सूचित करें ।

(४) मैं संहिता-मुद्रणार्थ रुपये बिना व्याजके वापिस करनेकी शर्तपर सहायता करना चाहता हूं । संहिताओंके मुद्रणका कार्य समाप्त हो जानेपर आप अपनी इच्छासे वापिस कर दें ।

आपके कार्यके साथ मुझे पूर्ण सहानुभूति है । मैं अपने मित्र-मण्डलका भी इस ओर ध्यान खेंचकर यथा-संभव सहायता पहुंचानेका प्रयत्न करूंगा ।

अपका-धर्मप्रेमी

नाम ____________________

पूरा पता ____________________

____

तारीख / या तिथि ____________________

सूचना-- (१) चारों संहिताओंका मिलकर मूल्य ५) रुपया है। अतः ५) [डा० व्य० सहित ६॥) रु०] भेजनेपर प्रत्येक वेदकी एक एक प्रति भेजी जावेगी । जिन्हें प्रत्येक वेदकी १ से ज्यादा प्रतियां चाहिए उन्हें उसी हिसावसे अधिक रुपया भेजना चाहिए ।

(२) जिन सज्जनोंको ऐसे महानुभावोंके नाम ज्ञात हों जो कि संहितायें खरीद सकते हों, तो उनके नाम पतोंसहित अवश्यही लिख भेजनेकी कृपा करें ।

(३) वी. पी. से संहितायें मंगानेवालोंको कमसे रु. २॥) पहिलेसे भेज देने चाहिए ।

कृपया निम्नलिखित सज्जनोंके नामों और पतोंपर आप वेदविषयक पत्रक भेज दें, संभव है कि वे वेदोंके ग्राहक हो जायंगे।

१

२

३

४

५

६

७

८

९

१०

वेदका शुद्ध और सस्ता मुद्रण।

वेदका शुद्ध और अति सस्ता मुद्रण करनेका कार्य हमने यहां प्रारंभ किया है। छपाईका प्रारंभ इसी महिनेमें शुरू होगा। ऋग्वेदकी छपाईका प्रति पुस्तकके लिये लागत व्यय ३) रु० होता है, उससे भी कम मूल्यपर अर्थात् २) रु० में हम यह पुस्तक पेशगी मूल्य भेजनेवाले ग्राहकोंको देना चाहते हैं। डाक-व्यय प्रति पुस्तक १) है और २५ से अधिक पुस्तक मंगानेवालोंको रेलव्यय।) होगा। इस हिसाबसे ग्राहक पेशगी रकम अति शीघ्र भेज दें। पीछेसे मूल्य ड्योढा होगा।

यदि ऋग्वेदके पृष्ठोंके स्टीरियो, इलेक्ट्रो अथवा ब्लाक बनवाये जांय, तो प्रतिपृष्ठ ८) आठ रु० व्यय होगा,। अर्थात् संपूर्ण ऋग्वेदके १००० पृष्ठों के १००० ब्लाक बनवानेके लिये ८०००) रुपये व्यय होगा। एक बार ऐसे उत्तम ब्लाक बनवाये जांयगे तो उनपरसे २-३ लाखतक कापियां छापीं जा सकती हैं और कंपोज करनेका व्यय हरवार बच सकता है।

इस तरह ऋग्वेद छापनेपर ऋग्वेद की पुस्तक १॥) रु० में दी जा सकेगी और हरबार इसी तरह सस्तेमें दी जायगी। यदि कोई वेदप्रेमी दानी महाशय भारतवर्षमें हों तो वे एकवार ब्लाक बनवाईका व्यय करें और हमेशाके लिये वेदोंके सस्ते पुस्तक मुद्रित करनेका पुण्य प्राप्त करें।

हमारे यहां ऋग्वेदका शुद्ध कंपोज हो ही रहा है, इसमें एक भी अशुद्धि न रखनेके लिये जितने परिश्रम करना मानवी शक्तिमें होगा, उतना यत्न हम कर रहे हैं। इतना परिश्रम वारंवार होना असंभव है। अतः यदि कोई धनी महाशय वेदके ब्लाक बनवाईका व्यय इस समय कर सकेंगे, तो उनका कमसे कम २०००) रु० का लाभ इस समय हो सकता है। क्योंकि कंपोज हम कर ही रहे हैं, केवल ब्लाक बनाईमें उनको बनाबनाया तैयार कंपोज मिल सकता है। वेदप्रेमी कोई सज्जन इस कार्यके लिये इस समय ८०००) व्यय कर सकेंगे, तो जनताका हमेशाके लिये लाभ हो सकेगा।

पाठक इस विचारको इस समय अतिशीघ्र धनी पुरुषोंके पास पहुंचावें। जिनको कोई संदेह हो वे इस विषयमें हमारे साथ पत्रव्यवहार करें। यदि कोई दानी महाशय ब्लाक स्वयं देखना चाहते हैं, तो एक पृष्ठका एक ब्लाक हम १०) दस रु० म० आ० द्वारा हमारे पास भेजनेसे उनके पास रजिष्ट्री डाकसे भेज सकते हैं। ब्लाक सुरक्षित वापस आ जानेपरहि उनका रुपया हम उनके पास वापस भी भेज देंगे। ब्लाक भेजने और सुरक्षित वापस करनेका व्यय मंगानेवालेके जिम्मे रहेगा।

इसी समय जो धनी महाशय ब्लाक बनवाईका व्यय करेंगे और ब्लाक अपने पास रखेंगे, उनका धन कालान्तरसे उनको वापस भी मिल सकेगा, क्योंकि ऋग्वेदके प्रति पुस्तकपर।) लाभ रखनेसे भी उक्त रकम वसूल होना संभव है। ऋग्वेदकी पुस्तक १॥) में दी जायगी तो हर कोई ले सकेंगे। अर्थात् जो धनी पुरुष इस कार्यमें अपना धन लगावेंगे, उनका यश तो बढेगाहि, तथा साथ साथ कालान्तरमें उनका धन वापस भी आ जावेगा।

स्वाध्याय-मंडलके पास इतना धन नहीं है। यदि होता तो यह कार्य इससे पूर्वही किया जाता। परंतु यदि कोई सज्जन अपने धनका इस कार्यमें व्यय करना चाहेंगे, तो उनको हरएक प्रकारकी सहायता दी जायगी।

आशा है कि, सहृदय वेदप्रेमी पाठक इसका योग्य विचार करेंगे।

प्रबंधकर्ता, स्वाध्यायमंडल,
औंध (जि. सातारा.)

अन्त में हम अथर्ववेद काण्ड ५, सूक्त ११, मन्त्र १ को ले सकते हैं। वह मन्त्र इस प्रकार है–

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये... ।

अर्थात् 'इस विषय में (दुःखसंहारक) हरिः पिता असुर महः को आप ने कैसे सम्बोधन किया था ? ।'

स्पष्ट है कि यहां असुर महः को परब्रह्म ही दर्शाया गया है, क्योंकि उन से भिन्न अन्य किस को हरिः पिता कहा जा सकता था ?

उपरोक्त पांचों प्रमाणमन्त्रोंको एकत्र करनेपर इस परिणाम पर पहुंचना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है कि जरथुस्त्र का पूज्यतम अहुर मज्द वेदोक्त असुर महद् अथवा असुर महत् से भिन्न कोई अन्य नहीं । हां वेदानुयायी आर्यों के लिये तो उसे महद्, महत्, महः अथवा महान् भी कह डालना एकसी ही बात थी, क्योंकि वेद की संस्कृत में इन सभी का प्रयोग समान से अर्थों में ही हुआ है ।

महान् शब्द से महतो (महान् का) रूप भी बनता है। इस शब्द से सुगमतया ही मजदाओ सिद्ध हुआ हो सकता है ।

परोक्ष रूप से भी वेदों में असुर महत् का वर्णन आया है। यथा यजुर्वेद अध्याय १३, मन्त्र ४४ में कहा है कि–

१ ...महीं साहस्रीमसुरस्य मायाम्... ॥

अर्थात् '..... असुर की सहस्रों प्रकार की महती माया' यहां असुर की मही, बड़ी माया का वर्णन हुआ है। जिस की माया मही है स्वयं वह महत् से भिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार इस मन्त्रमें असुर महत्का परोक्ष वर्णन है।

इसी प्रकार सामवेद में भी हमें निम्न पाठ मिलता है–

२ ओ३म् तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे । महीवकृत्तिः शरणा न इन्द्र प्र ते सुम्नानो अश्नवन् ॥

(साम० उत्तर० अध्याय १२, सूक्त १२, मं० २)

अर्थात् 'हे महाज्ञानी असुर इन्द्र ! निश्चित रूप से हम आप को प्राप्त करते हैं, वही आप जो अन्न तथा वांछित पदार्थों से भी अधिक प्रिय के रूप में सेवन किए जाने के सर्वथा योग्य हैं। वास्तव में हम आप के (संग तथा उपहारों से प्राप्य) सुख को आनन्द से भोगते हैं। आनन्दप्रदाता आपकी रचना तथा कारीगरी अतीव सुन्दर (मही) सी ही है और सर्वथा सुरक्षित दुर्ग के समान आश्रय लेने योग्य ही है ।'

जिस इन्द्र को ऊपर परब्रह्म का ही एक नाम सिद्ध किया गया था, उसे ही यहां असुर कह कर उस की कारीगरी रचना को मही कहा गया है। जिस की कारीगरी मही है, वह स्वयं भी महत् ही होगा। दूसरे शब्दों में इस प्रसंग में भी वेद में परोक्ष रूप से असुर महत् का वर्णन विद्यमान है ।

यहां हम अनुभव करते हैं कि वेद में अवस्तावाले अहुर मज्द के वैदिक स्वरूप असुर महत् शब्दके प्रयोग के इतने अधिक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं, कि यदि हम ने कोई भी अन्य उदाहरण और दिया तो हमारे विज्ञ पाठकों की रुचि उस में सर्वथा न होगी और वह उकता जायेंगे ।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों की विद्यमानता में डाक्टर मार्टिन हाग का निम्न कथन आश्चर्यजनक ही सिद्ध होगा । वे अपने प्रसिद्ध लेख संग्रह (Dr. Martin Haug's famous) ' Essays on the sacred Language, Writings and Religion of the Parsees' 3rd edition of Oct., 1883 के पृष्ठ ३०१ पर लिखते हैं–

Mazdao, which has been compared with the Vedic medhas, 'wise' (or when applied to priests, 'skilful, able to make everything) means either " joint creator" or "creator of all. " That Mazdao is phonetically identical with Sans. medhas is not to be denied, but its original meaning is not ' wise. ' Were this the case, we ought to suppose it to be a contraction of maiti-dhao 'pro-

ducing wisdom"; but maiti, 'thought, wisdom' (Sans. mati) is generally affixed not prefixed, to another word, as in taromaiti, "perverse thought, disobedience.' But the word mad 'with' is very frequently prefixed to other words and if prefixed to dhao, creating, the compound must be changed, according to phonetic laws, into mazdao. The general meaning of mad being 'together with, all' (See Visp. XIV. 1), the word Mazdao must mean either joint creator' or ' creator of all,' as may be clearly seen from yas. XIV. I. '

लेखविस्तार पकड़ जायगा इस भय से हम इस का भाषा में अनुवाद नहीं करते । इसे हमने सविस्तर उद्धृत इस कारण किया है, कि विज्ञ पाठकों को इस नियम का पता चल जाय, कि यदि सापेक्ष भाषा-वैज्ञानिकों को अभाग्यवश स्फुट सत्य सुप्रकट भेद किसी तत्त्व का दृष्टिगोचर न हो अथवा देखकर भी उसे पर्याप्त आवश्यक न समझ कर वे यदि उस की अवहेलना निरादरपूर्वक उसका त्याग कर बैठें तो उन्हें उन्हीं तत्त्वकारणों की खोज में अपने मस्तिष्क को कितना तीव्र खुजलाना पड़ता है । डाक्टर हाग के उपर्युक्त दुर्भेद्य वाग्जाल के विरुद्ध जेम्स डार्मेस्टेटर (James Darmestetor) के शब्द उन की पुस्तक की भूमिका के पृष्ठ ५२ पर पढने कैसे प्रसन्न करनेवाले सिद्ध होते हैं। वे शब्द ये हैं—

' In fact Zoroastrianism has much in common with the Vedic Pantheon its supreme God. Ahura Mazda, is not more different from the Great Asura, Varuna, than Zous is from Jupitor, the Zoroastrian Apollo, Mithra, answers exactly to the Vedic Mittra '...

(Zend Avesta-English translation by James Darmesteter-part I. The Vendidad, second edition of the year 1895.)

अर्थात् वास्तव में जोरोआस्टर का मत वेदोक्त देवता-वाद से बहुत समानता रखता है । उसका परमेश अहुर मज्द, वैदिक महा असुर वरुण से उस से अधिक भिन्न नहीं, जितना कि जुपिटर से जीअस है, जोरोआस्टर का एपोलो अर्थात् मिथ्र वैदिक मित्र के सर्वथा ही समान है, दोनों एक ही लगते हैं ।

अवस्ता के इन विद्वान् ने वही स्फुट परिणाम निकाला है, जो वेद तथा अवस्ता को साथ साथ पढनेवाला कोई भी विद्यार्थी निकाल सकता है। यदि भाग्यवश सर्वथा ही समान प्रसंगों पर उस की दृष्टि दोनों पुस्तकों में एक साथ पड जाय । अहुर मज्द को महा असुर मानना सरल है, प्राकृतिक है, स्फुट है तथा जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, यही वेद के यथार्थ भाव तथा अवस्ता के उपदेश के भी अनुकूल ही है । "जरथुस्त्र और जरथुश्त्र मत अवस्ता से" (Zarathushtra and Zarathushtrianism in the Avesta) नामक १९०६ में छपी अपनी पुस्तक के पृष्ठ ११(पंक्ति २४ पर पारसी विद्वान् Rastamji Edulji Dastoor Peshotan Sanjana महोदय कहते हैं–

"The name Mazda is formed of maz=great,"

अर्थात् मज्द नाम मज्="बडा" से सिद्ध हुआ है।

अतः डारमेस्टेटर अहुर मज्द को बडा असुर कहके में अयुक्त कथन नहीं कर बैठा, परंतु यह पारसी विद्वान् डारमेस्टेटर से बहुत आगे निकल जाते हैं, क्योंकि वह यह भी मानते हैं, कि द का अर्थ 'जानना' होने से मज्द का अर्थ (बडा ज्ञानी) "सर्वज्ञ" ही है। इस विषय में डाक्टर हाग का उपरोक्त कथन भी देखना चाहिये, क्योंकि वह तो स्पष्ट यह कहता है, कि मज्दाओ का मौलिक अर्थ ज्ञानी नहीं।

परन्तु इस तत्व का निर्णय करने के लिये हम यही कहना चाहते हैं, कि दोनों कथन सत्य ही हैं। मज्द में महिमा(बड़ाई) तथा ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं, क्योंकि इस के उपर्युक्त संस्कृत स्वरूप महद् के भी यह दोनों अर्थ ही मिलते। हैं महान् (बड़े) के अर्थों में तो यह शब्द एक न एक रूप में उपर्युक्त अनेक मन्त्रों में आया ही है। परन्तु ज्ञान, विश्वबुद्धि, सर्वज्ञता, विश्वचैतन्य आदि अर्थोंमें इसका प्रयोग हिन्दुओं के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्र कपिल मुनि के सांख्य में निम्न प्रकार विद्यमान है--

१. महदाख्यं आद्यं कार्यं तन्मनः ॥
(सां० द० १ सू० ७१)

अर्थात् "रचा गया पहला परिणाम कहा जाता है, वह विश्व मन है।"

पुनः—

२. "साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारो"॥ (सां० द० अध्याय १, सू०६१)

अर्थात् "सम्पूर्ण साम्य, एकता की अवस्था, प्रथम कारण प्रकृति से विश्व मन बनता है, जिस से अस्मिता उपजती है......"

तथा च—

३. तेनान्तःकरणस्य ॥ ४. ततः प्रकृतेः ॥
(सां० द० अ० १ सू० ६४।६५)

अर्थात् "(अस्मिता से हम उस के कारणभूत) अन्दर की इन्द्रिय (बुद्धि, चित्त, मन) का अनुमान करते हैं, उस (ज्ञानशक्ति) से (उस की कारणभूत) प्रथम अवस्था (सम्पूर्ण साम्य) (का हम ज्ञान प्राप्त करते हैं)। "

इन प्रसङ्गों से प्रकट होता है, कि महान् और महत् अतः महद् भी और महः विश्व, चैतन्य, मन अथवा विश्व मन के पीछे उस को नियन्त्रण में रखनेवाली सर्वज्ञ बुद्धि के लिये भी प्रयुक्त हो चुके हैं । सांख्य के भाष्यकार महत् का अर्थ बुद्धि = ज्ञानसाधक शक्ति करते आये ही हैं।

इस प्रकार महत् तथा महद् शब्द अपनी वास्तविक रचना तथा अर्थ दोनों में ही अवस्तावाले मज्द का सत्य वैदिक स्वरूप है कि अहुर वैदिक असुर ही है। इस बात से किसी सापेक्ष भाषा वैज्ञानिक ने कभी इन्कार ही नहीं किया, अतः स्पष्ट है कि अहुर मज्द वैदिक असुर महत् ही है ।

उपर्युक्त पारसी पुस्तक के पृष्ठ ११६ पंक्ति २६-३० और अगले पृष्ठ पर भी इसी पवित्र भगवन्नाम के अर्थों की विवेचना इस प्रकार की गई है—

'The word Ahura is also composed of two parts. Ahu and ra. Ahu comess from ah=to be, and denotes ' life. ' Ahu with the suffix ra signifies ' he who is ' or 'he who lives.' This brief expression 'he who is' is identical in signification with the term 'Self-existent being.' Hence Ahura signifies ' the self-existant Being.... '

अर्थात् "अहुर शब्द भी अहु तथा र इन दो भागों से बना है। अहु=होना धातु से सिद्ध होकर अहु जीवनसत्ता का वाचक होता है, तथा र निपातयुक्त अहु का अर्थ वह जो हो अथवा वह जो जीवित हो बनता है, जिस संक्षिप्त वाक्य का अर्थ वही है, जो स्वयम्भू सत्ता का है, अतः अहुर से तात्पर्य स्वयम्भू सत्ता से ही है ।"

इस कथन का हम हार्दिक अनुमोदन करते हैं, क्योंकि संस्कृत में भी ठीक ऐसा ही होता है । वहां हमारी व्याकरणों में प्रत्यय का नाम उरन् रक्खा हुआ है, उससे युक्त अह् का वैदिक् रूप अस् ठीक यही अर्थ रखता है, अर्थात् अस् का मौलिक अर्थ तथा उरन् प्रत्यययुक्त अर्थ होना तथा वह जो हो अथवा वह जो जिवित हो अर्थात् स्वयम्भू सत्ता ही है । इस अपने पक्ष को प्रमाणित करने के लिये हम अपने विज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन करेंगे कि वह आधुनिक अथर्ववेद-भाष्यकार पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी की बृहत् पुस्तक के पृष्ठ ४८ पर दी गयी असुर शब्द की उत्तम व्याख्या का अनुशीलन करें। उन का भाष्य संस्कृत तथा देवनागरी दोनों भाषाओं में है, अथर्ववेद काण्ड १, सूक्त १० मन्त्र १ की नीचे दी टिप्पणि में उन्होंने इस शब्द की विस्तृत व्याख्या की है।

अपने पारसी भाइयों के लाभार्थ हम इतना और भी कहेंगे कि संस्कृत में र निपात रा धातु से सिद्ध होकर देना लेना अर्थों के कारण अहुर तथा असुर का अर्थ "जिवित, स्वयम्भू सत्ता" ही नहीं रहने देता वरंच "जो जीवन डाल सके तथा किसीकी जान निकाल सके" ऐसाभी बना देता है । इस प्रकार उस पवित्र नाम "अहुरमज्द" के हम सत्य यथार्थ अर्थ पर पहुंचते हैं, जो हमारे पारसी मित्र की पुस्तक के पृष्ठ ११७ पर दर्शाये "स्वयम्भू सर्वज्ञ सत्ता" ही नहीं वरंच जीवनप्रदायिनी महती सर्वज्ञ स्वयंम्भू जीवन सत्ता भी है ।

सर्वज्ञता केवल मज्द शब्द से ही नहीं प्राप्त होती, वरंच असुर में भी विद्यमान है। वेद के पुराने कोष निरुक्त के अनुसार असु शब्द का अर्थ प्रज्ञा भी है, जैसा कि निरुक्त अध्याय १०, खण्ड ३४ में स्पष्ट लिखा है, क्योंकि असु क्षेपे = फेंकना अर्थवाली असु धातु से सिद्ध होकर यह फेंकनेवाली शक्ति प्रज्ञा बुद्धि का वाचक हुआ है। कारण कि सभी पदार्थों का सत्य ज्ञान इसी शक्ति में फेंका रहता है और असत्य विकल्प समस्त इसी के द्वारा दूर फेंके जाते हैं। जिस शक्ति के आधीन यह सब व्यवहार होता है वही प्रज्ञा असु है और उस से जो युक्त है वही प्रज्ञावान् महाज्ञानी प्रभु सर्वज्ञ भगवान् असुर है ।

इस प्रकार वास्तव में अहुर शब्द उतना ही महिमायुक्त है, जितना कि होरमज्द यस्त में वर्णन किया गया है और ऊपर दर्शाये अनुसार मज्द शब्द भी महा महिमायुक्त ही है । जिस प्रकार वेदानुयायी आर्यों का प्राणायाम मन्त्र उस परब्रह्म के केवल नामों में ही उलझा हुआ है, जिस की पूजा हम उस के परम पवित्र अभिधान ॐ (ओ३म्कार) के द्वारा करते हैं, ठीक उसी प्रकार होरमज्द यस्त के ७, ८, १२, १३, १४ तथा १५ वाक्य केवल उस परब्रह्म के नामों में ही सर्वथा उलझे हुए हैं, अतः परम पवित्र हैं ।

इन वाक्यों के अनुवाद के विषय में तो मैं हाग महोदय का उपरोक्त पुस्तक देख कर अत्यन्त विस्मित हुआ हूं। क्योंकि उस के पृष्ठ १९५ की ९, १०, १३ तथा १४ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

"The first, for instance, is ahmi, 'I am;' ...the twentieth, 'I am who I am, Mazda' (ahmi yadahmi Mazdao.)"

अर्थात् 'उदाहरणार्थ, पहिला तो अह्मी 'मैं हूं' है,... बीसवां,'मैं हूं, जो मैं हूं, मज्द' (अह्मी यद् अह्मी मज्दाओ)

और इसी पृष्ठ के नीचे दी हुई टिप्पणी में निम्न लेख है–

[Compare the explanation of the name Jehoveh, as given in Exod. iii 14; ehyeh, asher ehyeh 'I am who I am. 1']

अचम्भा होता है कि अवस्ता का ऐसा धुरंधर विद्वान् ऐसी स्फुट अशुद्धि कैसे कर सका जिस से कि उस ने अह्मी=मैं हूं को नाम समझ लिया जब कि व्याकरण के प्राथमिक नियमों के अनुसार भी इसका क्रिया, धातु होना स्फुट है। पुनश्च जब कि इसी यस्त में यही क्रिया बार बार दोहराई गई है और जिस के विषय में कोई कभी कभी इस पुस्तकको देखनेवाला भी ऐसी अशुद्धि नहीं कर सकता। डारमेस्टेटर इस से कहीं अच्छा लिखता है, इन्हीं वाक्यों का अनुवाद वह निम्नलिखित करता है–

7. Ahura Mazda replied unto him. 'my name is the one of whom questions are asked, O holy Zarathustra.

8. My twentieth name is Mazda (the All-knowing One.)

(James Darmesteter's Zend Avesta, 1883 edition, part II, pages 24 and 25.)

अर्थात् '७. अहुरमज्दने उसे उत्तर दिया, 'मेरा नाम वह है, जिसे (लेकर तुम द्वारा) प्रश्न पूछे जाते हैं, हे पवित्र जरथुश्त्र... '

८. मेरा बीसवां नाम मज्द (सर्वज्ञ भगवान्) है।

मेरी तुच्छ सम्मति में इन वाक्यों का सत्यार्थ इस प्रकार होना चाहिये–

'७. तब जीवनस्वरूप, जीवनप्रदाता, महाज्ञानी (परब्रह्म प्रभु) अहुर मज्द ने कहा 'पूछा हुआ' नामवाला, मैं हूं...

८. किम्बहुना) बीसवां तो मैं हूं ही जैसा हूं अर्थात् मज्दनामक।

जिसका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये–

'७. मेरा पहला नाम अहुरमज्द है, जिस के द्वारा मुझे सम्बोधन कर तुम मुझ से ये सब प्रश्न पूछ रहे हो...

'८... मेरा बीसवां नाम वह है, जिसे तुम पूर्णतया जानते ही हो अर्थात् मजदाओ।'

स्पष्ट है कि यह तात्पर्य सर्वथा समझ में आने योग्य, बुद्धि के अनुकूल तथा यथार्थ सत्य भी है। क्योंकि अपने भक्त जरथुस्त्र को परब्रह्म ठीक यही अर्थ समझाना चाहते थे, इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि अपना बारहवां नाम बताते समय जो वाक्य उन्होंने कहा है, उस का अर्थ इस प्रकार है–

'(मेरा) बारहवां (नाम है) अहुरो।'

इस से यह आया कि जब भगवान् अपने प्रभावशाली नामों की स्वयमेव गणना करते समय अहुरो को एक पृथक् नाम गिनते हैं, तो यह मानना स्वाभाविक ही होगा, कि उन्होंने मजदाओ को भी एक पृथक् नाम गिना होगा। (और आगामी वाक्य सं० १२ में ठीक ऐसा किया विद्यमान भी है और अहुरो-मज्दाओ समास को एक और पृथक् नाम जिसे स्वभावतः सब से प्रथम ही गिना जाना उचित है।)

मुझे इस में कोई संदेह नहीं कि मेरे पारसी मित्र तथा आधुनिक अवस्ता पण्डित मेरे उपर्युक्त कथन का सार पहिचानेंगे तथा उसका अनुमोदन करेंगे। जिन वाक्यों का अनुवाद ऊपर किया गया है, वे अवस्तावाक्य इस प्रकार है—

७. आअत मरओत अहुरो मज्दाओ फरखषत नांम अहमी...... ॥
८ ''........दवदसो अहुरो.........वीसांसतेमो अहमी यत अहम मज्दाओ नांम॥

मैं हूं और मैं हूं जो मैं हूं के अर्थ का अनर्थ समझ कर बहुत मिथ्या कल्पना इस विषय में की गई है, कि जिहोवाह का सम्बन्ध अहुर मज्द से है और इस प्रकार यहूदी धर्म पारसी मत से सम्बद्ध है। यह केवल इस कारण हुआ कि विद्वानों को इस बात की अत्यधिक चिन्ता थी कि वह सभी मतों को एक कर देवें। मैं मानता हूं कि अन्त में तो सभी एक स्रोत से ही निकले हैं, परन्तु यह भी तो नहीं होना चाहिये कि इस आशा अथवा इच्छा के आधीन हुए हम किसी वाक्य की मुख्य क्रिया, धातु को संज्ञा नाम ही समझ बैठें। ऐसी भूल तो सर्वथा होनी चाहिये ही नहीं।

अहुर मज्द विषयक इस विवेचनाको समाप्त करनेसे पहिले हम यह वर्णन करना आवश्यक समझते हैं, कि वेदों में भी महत् और असुर शब्द पृथक् पृथक् रूपमें भी परब्रह्म के नाम के रूप में विद्यमान हैं, ठीक उसी प्रकार जैसा कि आरमज्द यस्त में हुआ ऊपर दर्शाया गया है। असुर शब्द के वेद में इस प्रकार प्रयुक्त होने के केवल तीन सुंदर उदाहरण यहां दिखलाये जाते हैं—

१ अयं देवानामसुरो विराजति ... ॥
(अथर्व०का०१, सू० १०, मं०१)

अर्थात् "देवताओं के ऊपर यह असुर राज्य कर रहा है और अत्यन्त जाज्वल्यमान है।"

यजुर्वेद अध्याय ३४, मंत्र २६ में हिरण्यपाणि सविता की स्तुति इस विध की गई है—

२. हिरण्यहस्तो असुरः...देवः... ॥

अर्थात् " सुनहरी हाथोंवाला देवासुर...॥

यहां सूर्यान्तर्गत भगवान् को सुनहरी हाथोंवाला इस कारण कहा है कि सूर्यकी अनगिणत चमकीली सुनहरी किरणें होती हैं।

पुनः यजुर्वेद अध्याय २७, मंत्र १२ में अतीव सुन्दर कथन इस प्रकार हुआ है कि–

३. तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः।
पथो अनक्तु मध्वा घृतेन ॥

अर्थात् "सर्वज्ञ असुर केवल देव ही नहीं वरंच सभी देवों में भी वही महादेव है। शरीर उसका कभी (गिरता नहीं) नष्ट नहीं होता। वह सभी के भोजन को मधु

(अहद) तथा घी से सच्चिक्कन बनावे (कि सभी की यथार्थ पुष्ट हो सके)। ''

परब्रह्म के नाम के रूप में महत् शब्द का अकेले ही वेद में प्रयुक्त होना दर्शाने के लिये हम अब कतिपय वेदमन्त्र उद्धृत करते हैं-

१. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥
(अथर्व० १३।२।२९)

इस मन्त्र का ठीक अर्थ समझने के लिये सूर्य-सिद्धांत अध्याय १२, श्लोक १५ को पहिले देखना चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है-

हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात्प्रसूत्या सूर्य उच्यते ॥

अर्थात् ''इन भगवान् हिरण्यगर्भ की स्तुति वेद में गायी गई है । सर्वप्रथम आदि मूल होने के कारण वह आदित्य हैं और सूर्य उन्हें इस कारण कहा जाता है कि सृष्टिमात्र की उत्पत्ति उन्हीं से हुई है। ''

इस श्लोक की दृष्टि से उपरोक्त मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित होगा-

''हे जगत् पिता! वास्तवमें आप महान् ही हैं, वास्तव में हे सर्वप्रथम आदि मूल ! आप हैं तो महान् ही। महान् आप की (महतो ते) महिमा भी महान् ही है। हे आदित्य! वास्तव में आप सर्वथा ही महान् हैं ।''

अधिक नहीं तो केवल छः बार तो इस मन्त्र में महान् शब्द का प्रयोग एक न एक रूप में हुआ ही है । जहां यह विश्व के रचयिता, आदि कारण, सूर्य, आदित्य के विशेषण के रूप में विद्यमान है । क्या क्षण भर के लिये भी कोई यहां सन्देह में रह सकता है, कि इस प्रसंग में महान् शब्द का अर्थ केवल 'बडा' ही है और यह परब्रह्म का निज नाम सर्वथा नहीं? यदि कोई ऐसा साहस करे तो अवश्य वह भूल ही कर रहा होगा ।

एक और वेदमन्त्र में भी इस परब्रह्म के नाम का प्रयोग ऊपर की न्यायीं छः ही बार मिलता है । साम-वेद में दो बार वैसा मन्त्र दिखाई पडता है और निम्न-लिखित है-

२. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ।
(साम० पू० अ० ३ द० (सू) ५ मं० ४,
-साम० उ० अ० २० सू० ९ मं० १)

जिस का अर्थ इस प्रकार होगा-

'सत्य ही आप महान् हैं हे विश्वविधाता ! ठीक ही है प्रथम ! आप महान् हैं । नित्य सत् (सतः) महान् आप की महिमा निस्सन्देह प्रशंसनीय ही है। अपनी महिमा से हे देव ! आप सत्यमेव महान् ही हो ।।'

'पनिष्टम मह्ना' के स्थान में 'पनस्यतेऽद्धा' होकर उपर्युक्त मन्त्र ही यजुर्वेद ३३।३९, अथर्ववेद २०।५८।३ तथा ऋग्वेद ८।१०१।११ मन्त्रों के रूप में वेद में विद्यमान है । इन नवीन शब्दों का अर्थ इस प्रकार है-

'स्तुति किया जाता है और इसी वास्ते।'

और पिछले मंत्रवाले शब्दों का अर्थ था-

'प्रशंसनीय है, अपनी महिमा से ।'

इस थोडे से भेद के कारण इस मन्त्र में महान् शब्द के रूपों के प्रयोग की संख्या केवल ५ रह गई, जो कि पिछले मन्त्र में छः थी ।

अपने विविध रूपोंमें महान् शब्द तीन बार निम्न मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है-

३. बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि । मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥

(ऋग्० ८।१०१।१२; यजु० ३३।४०; अथर्व० २०।५८।४; साम० उ० अध्याय २०, सूक्त ९, मं० २)

अर्थात् ''वास्तव में, हे सूर्यदेव ! आप सत्यार्थ में महान् ही हैं। अपनी दूर दूर फैली प्रशंसाके कारण भी आप अतीव महान् ही हैं। आप ऐसी सुप्रसिद्ध सार्वभौम ज्योति हैं, जिन्हें कोई प्रकाश निष्प्रभ नहीं कर सकता ।

अपनी महिमा के द्वारा आप देवताओं के वैसे नेता बन गये हैं जो सार्वभौम महाप्राण असुर तक भी जा पहुंचे।

जीवनसत्ता अर्थात् वह शक्ति जो सम्पूर्ण विश्व में फैल कर व्याप रही है, उसी को यहां महान् कहा है, क्योंकि वह वास्तव में अद्भुत ही है, देवों में प्रथम है और विश्व के जीवन स्रोत से सीधी सम्बद्ध है ।

परब्रह्म के नाम के रूप में वेदों में महत् शब्द के

विविध रूपों में प्रयुक्त होने के और उदाहरण देने की हमें अब आवश्यकता नहीं । परन्तु यह लिखना भी असंगत न होगा कि ऋग्वेद १।३६।३ तथा १२ में भी अग्निः नामसे स्मरण किये गये परब्रह्म को भी 'महस्ते सतः' तथा 'महां असि' शब्दों में स्मरण किया है, जिन के अर्थ ये होंगे— "सत् महान् आप की ॥ 'आप महान् ही हैं'॥

यह जानना भी रोचक ही सिद्ध होगा कि संस्कृत में हमें सत् शब्द भी इसी अस् धातु से ही प्राप्त होता है, जिस से "वह जो है" या 'सत्ता' या 'जीवित' अर्थोंवाला असुर शब्द सिद्ध होता है, तथा दोनों के अर्थ भी ठीक वही हैं । क्योंकि संस्कृत में अस् धातु के अ का बहुधा लोप हो जाता है तब इस के क्रिया तथा संज्ञामय अनेक रूप सिद्ध होते हैं। वेदकाल के बहुत पीछे की संस्कृत में तो यह सत् शब्द बहुत ही पवित्र बन गया है। प्रायः लगभग उतना ही पवित्र जितना कि अवस्ता में अहुर शब्द । अभी महान् के प्रयोग दर्शाने के लिये जो मन्त्र उदधृत किये गये थे, उन में ५ में से ३ उदाहरणों में यह सत् शब्द महान् के साथ था । वेदों में इस शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है । सत्य तो यह है कि हिरण्यगर्भ सूक्त में सत् और महान् है और प्रायः अन्य सभी कुछ पीछे से ।

इस प्रकार ऊपर यह सुस्पष्टतया प्रमाणित हो चुका है, कि अहुर मज्द्के अहुर और मज्द क्रमानुसार सत्य वैदिक रूप असुर महत्, असुर और महत् ही हैं; क्योंकि अवस्ता तथा वेद दोनों में ही उस ही प्रकार से यह प्रयुक्त हुए हैं।

अब तो यह कहना निरर्थकसा ही प्रतीत होगा, कि अहुर मज्द को वैदिक शब्द असुर और मेधस् से सिद्ध करने का यत्न करना सर्वथा ही अयुक्त है । क्योंकि इस का प्रत्यक्ष प्रमाण वेद में मिलना असम्भव नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य है । साथ ही हम समझते हैं, कि स्यात् ही कोई वेद का विद्वान् ऐसा कहने का साहस करेगा कि उसने किसी भी एक ही मंत्र में इन दोनों शब्दों को एकत्र समस्त अथवा विग्रहयुक्त रूप में परब्रह्म के अर्थों में प्रयुक्त हुए देखा है । अतः निस्सन्देह यह सिद्ध हो गया प्रतीत होता है कि, वैदिक असुर महत् ही अवस्तावाले अहुर मज्द का सत्य वैदिक स्वरूप है ।

नागरी अक्षरोंका प्रवास

देवनागरी और अंग्रेजी

'ए' करीब जैसा का वैसा ही दीखता है। 'ब, ग प' ये उलटे हुए हैं । 'फ' उलटा होकर सीधा खडा रहा है । 'ज, ल' ये आधे रहे हैं । 'ह' थोडे भेद के साथ सीधा हुआ है। 'क' विभक्त हुआ है । 'म, न' करीब वैसे ही हैं । 'र'ने अपने साथ एक काना लगा दिया है । 'त, उ, व' में बहुत भेद नहीं है । 'य' भी वैसा ही है ।

ए	ए	Δ	A
ब	ब	B	B
फ	F	F	F
ज	J	J	J
ह	h	h	H
क	क	ch	ch

देवनागरी और ऊर्दू ।

ऊर्दू के उलटी चाल के कारण देवनागरी का बहुत परिवर्तन हुआ है । (पृ० ४५४ देखें)
'अ' विभक्त होकर उलटा हुआ है । 'स' का एक टुकडा ही शेष रहा है । 'ल' भी वैसा ही आधा हुआ है । 'च' का काना चला गया है । 'र और ग' उलटे बन गये हैं। 'व, उ, क' में थोडासा भेद हुआ है । 'न' का गंभीर अनुनासिक बना है ।

नागरी और अंग्रेजी।

नागरी	अंग्रेजी
ग	G
ल (ल)	L
म	M
न	N
प	P
र	R
त	T
उ	U
व	V
य	Y

नागरी और उर्दू।

नागरी	उर्दू
अ	ا ع
स	س ص
ल	ل
च	چ
र	ر
व	و
उ	و
क	ک
ग	گ
न	ن

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगें, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसें किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थ-बोधिनी'** टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
" ६ " १० " ३) " " ॥=)
" ११ " १८ " ३) " " ॥।)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससें अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡) रु. भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

ज्येष्ठ १९९०, जून १९३८

प्रथम पेशवा श्रीमान् बाजिरावसाहेब

वर्ष १९, अंक ६

क्रमांक २२२

वैदिक धर्म।

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से.५)रु. वी.पी. से.५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है।]

वर्ष १९] [अङ्क ६

विषयानुक्रमणिका

वर्ष १९
अंक ६
क्रमांक २२२

धर्म

ज्येष्ठ
संवत १९९५
जून
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

प्रजाकी अनुकूलता।

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं विराज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

(अथर्व० ३।४।१)

'हे राजन्! तुम्हारे पास संपूर्ण शक्तियोंके साथ यह राष्ट्र आ गया है। प्रजा का एकमेव राजा हो कर अब तू प्रकाशित हो। सब दिशा उपदिशाओं में रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही चाहें। प्रजाजन तुम्हारे पास आ जांय और तुम्हें नमन करें।'

प्रजाकी अनुमति से जो राजा होता है, वह प्रजाका पालन ऐसी उत्तम रीतिसे और निष्पक्ष होकर करे, कि सब प्रजाजन उसीका राज्यशासन पसंद करें और उसको आदरणीय तथा वन्दनीय मानें। इस के विपरीत यदि वह राज्य करेगा, तो राजगद्दी से हटाया जायगा।

वेदोंका शुद्ध मुद्रण।

वेदोंके शुद्ध मुद्रणका कार्य चल रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपकर ग्राहकों के पास रवाना हो रहे हैं, और अथर्ववेदका मुद्रण शुरू हुआ है। इस अथर्ववेद के मुद्रण में सहायता करनेवाले आठ दस विद्वान् अथर्ववेदी जिनको संपूर्ण अथर्ववेद उसके पदपाठसहित कण्ठ है, मिले हैं, तथा अथर्ववेदकी हस्तलिखित पुस्तकें भी प्राप्त हुई हैं। इनकी सहायतासे अथर्ववेदका मुद्रण शुरू हो चुका है।

हमारे पास युरोपमुद्रित तथा भारतवर्षमें मुद्रित अथर्ववेदकी सब पुस्तकें हैं, तथा अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त किए हैं। इन सब का आन्दोलन करनेसे विदित हुआ है, कि जिस तरह ऋग्वेद और यजुर्वेद में एक भी पाठभेद नहीं है, ऐसा हम कह सकते हैं और ऐसा कहने को हरएक ऋग्वेदी और यजुर्वेदी घनपाठी विद्वान् सिद्ध है, वैसी अथर्ववेदकी बात नहीं है। अथर्ववेदकी पठनपाठन-परिपाठी करीब लुप्त हो चुकी थी। इस समय आद्योपान्त अथर्ववेदको कण्ठ बोलनेवाले संपूर्ण भारतवर्षमें अधिक से अधिक १०।१५ होंगे और उनमें अधिक महाराष्ट्रीय ब्राह्मणहि हैं। उत्तरीय हैं, परन्तु वे पदपाठ आदि कण्ठ नहीं रखते। इसलिए अथर्ववेद इस समय कण्ठ रखने का श्रेय महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को ही है। काशीमें अथर्ववेदकी परंपरा पुनरुज्जीवित करने का पुण्य वेदमूर्ति रामभट्ट अग्निहोत्री महाराष्ट्रीय ब्राह्मण को है और इस समय आपके कई शिष्य अथर्ववेदको कण्ठ किए हैं, जिनकी पूर्ण सहायता हमारे अथर्ववेद के मुद्रण में मिली है।

इस समय जितने भी अथर्ववेदी हैं, वे सब मानते हैं, कि अथर्ववेदसंहिता में बहुतसे पाठभेद हैं। पाठभेद होने का प्रधान कारण यह है, कि इस वेद के घनपाठी कोई रहे नहीं हैं। ऋग्वेदका घनपाठयुक्त पारायण करनेवाले महाराष्ट्र में दसपांच मिल सकते हैं, परंतु अथर्ववेदका घनपारायण करनेवाला अखिल भारत में एक भी नहीं है। इस कारण इस संहितामें पाठभेद घुसे हैं।

इन पाठभेदों का निश्चय करने के लिये हमें अथर्ववेदियों की सहायता मिली है, परंतु हस्तलिखित ग्रंथों की सहायता जितनी मिलेगी उतनी चाहिये। इस समय हमारे पास १५।२० ग्रंथ अच्छे प्रामाणिक मिले हैं। परन्तु और भी ग्रंथ चाहिये।

यदि पाठक स्थानस्थान में यत्न कर के हमारे पास हस्तलिखित अथर्ववेदके पुस्तक भेज देंगे, तो बडे ही उपकार होंगे। मुद्रण होते ही ये ग्रंथ हम सुरक्षित वापस करेंगे और उनको मुद्रित पुस्तक देंगे, तथा ग्रंथ देनेवालों के नाम आदर के साथ प्रस्तावना में लिखेंगे।

अथर्ववेद का शुद्ध मुद्रण होने में यह सहायता इस समय अत्यंत आवश्यक है। आशा है कि पाठक हमें यह सहायता देकर उपकृत करेंगे।

वेदका सच्चा अभिमानी कौन है ?

वेदका सच्चा अभिमान किसको है ? जिससे वेदका सच्चा महत्व सिद्ध होगा, उस प्रकारका अभिमान यदि किसीमें होगा, तो उसमें कौनसे लक्षण दिखाई देंगे ? यह एक विचारणीय प्रश्न है ।

किसी ग्रंथका सच्चा अभिमान किसीको है, इसकी कसौटी क्या है ? उदाहरण के लिये देखिये, भगवद्गीताको अद्वैती अद्वैतपरक लगाते हैं, द्वैती द्वैतपर अर्थ करते हैं, विशिष्टाद्वैती विभिन्न अर्थ मानते हैं और शुद्धाद्वैती भक्तिभाव को गीतासे ही प्रकट करते हैं । ये चार पंथ अपने देशमें आज विद्यमान हैं। इन मतवादियों में से प्रत्येक मतवाला कहता है, कि मुझे भगवद्गीताका रहस्य विदित हुआ, इस लिये मैं ब्रह्म प्राप्त करूंगा और अन्य मतवादी नरकमें जायंगे। द्वैती माध्व शांकरीय अद्वैतियोंको कहते हैं, कि ये अद्वैती नरकमें जायंगे और द्वैती लोग नरकमें जायंगे, ऐसा अद्वैती कहते हैं। चारों मतवाले एक दूसरेके विषयमें ऐसा ही कहते हैं। ऐसे मतमतान्तरोंके झगडे देखकर किसी तटस्थ मनुष्यके मन में ऐसा विचार आता है, कि इनमेंसे किसका अभिमान सत्य है ?

वेदके विषयमें भी ऐसीहि बात हो गयी है। प्रत्येक अनुयायी अपने आचार्यको ब्रह्मज्ञानी, वेदवेत्ता, अन्तःकरणमें ईश्वरीय संदेश लानेवाला, योगी, ऋषि, मुनि, महर्षि, महामुनि आदि कहता है और अन्योंको तुच्छ मानता है । साधारणसे साधारण पंथवालोंकी भी यही रीति है। अतः प्रश्न होता है, कि इनमें सत्य अभिमान किसका है ?

विचार करनेपर विदित होता है, कि इसी अन्धविश्वास ने भारतीयोंका नाश किया है । अतः सच्चा विश्वास किसका है, इसका विचार आंखें खोलकर करना चाहिये । जो 'बाबा-वाक्यं' प्रमाणं न मानो, सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करनेको सदा तत्पर रहो, लकीर के फकीर न बनो, मूढ अन्धविश्वासी न बनो, तर्क ऋषि का सहारा लेकर अपना सत्य धर्ममार्ग का अवलबंन करो,' ऐसा कहता है, उसके पास सत्य धर्म है और उसका अभिमान सत्य है, ऐसा हम कह सकते हैं ।

परंतु इसमें भी एक बडा डर है, क्योंकि अनुयायी जन अपना माहात्म्य बढानेके लिये कहते हैं, कि 'बाबावाक्यं प्रमाण न मानो' ऐसा जिसने कहा, उसी बाबाका वाक्य अथवा उस बाबाके नामपर प्रकाशित वाक्योंको प्रमाण मानना चाहिये!! जगत् में इसी परिपाठीसे हि अनंत अनर्थ हुए हैं ।

'बाबा-वाक्यं प्रमाणं' कौन मानते हैं ? जो मूढ हैं, जो स्वयं सोच नहीं सकते, जिनकी बुद्धि काम नहीं करती, जो विचार करने में असमर्थ हैं, वेही किसी का वाक्य अंध विश्वास से प्रमाण मान कर उस पर चलते हैं । अर्थात् 'बाबावाक्यं प्रमाणं' मानना अथवा 'लकीर का फकीर' होना, यह निरी मूढता है, बुद्धिमत्ता का यहां लेश भी नहीं है । जो स्वयं अपनी लकीर नहीं निकाल सकते, वे ही दूसरों की लकीर का आश्रय करते हैं। किसी समाज या सुसैटी में 'बाबा-वाक्यं प्रमाणं' का भाव जब बढ जाता है, तब समजना चाहिये, कि वह सुसैटी मूढपंथी बन चुकी है, उसकी उन्नति आगे अधिक होने की कोई आशा रही नहीं है। समाज की या संघ की उन्नति तब तक ही हो सकती है, कि जब तक उस संस्था में स्वतंत्र सोचनेवाले, विशाल बुद्धिवाले और स्वयं उन्नति के मार्ग का निश्चय करनेवाले अधिक होते हैं। बुद्धि की क्षीणता शुरू होतेहि बाबा-वाक्यं प्रामाण्यं का आश्रय किया जाता है ।

जब हम प्राचीन ऋषिमुनियों की ओर देखते हैं, तब हमें स्पष्ट विदित होता है, कि वे विचारस्वातंत्र्य का स्वीकार करनेवाले थे। सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक आपस में कितना मत-भेद रखते हैं, परंतु एक दूसरे के विषय में निरादर नहीं रखते। ग्राह्य मत का स्वीकार और अग्राह्य मत का तिरस्कार करते हुए, वे अपना उन्नति का पथ आक्रमते रहे। यही आदर्श हम सब के सामने रहना चाहिये। परंतु जिस संघ में मूढों की संख्या अत्यधिक हो जायगी, वहां विचार की स्वतंत्रता कदापि रह नहीं सकती। वे तो अन्धविश्वासियों को ही इकट्ठे करते रहेंगे और विचारकों को दूर करते रहेंगे, जिससे संघ प्रतिदिन निकृष्ट दशा को जा कर अन्त में ऐसे अज्ञान के गढे में फंस जायगा, कि जहां से उस का उठना असंभव है।

इस समय तक कितनी संस्थाएं इस तरह गिर चुकी हैं, इस का कोई ठिकाणा नहीं है। इस समय की संस्थाएं भी लकीर के फकीरों के हाथों में जा रही हैं और उस कारण कितना धन और कितना अन्य बल खाक में मिल रहा है!

सामान्य जनता अपने दुनयवी कारबारों में सदा फंसी रहती है। धर्म की बारीक सूक्ष्म बातों का सूक्ष्म विचार करने की शक्ति उन में कम होती है। इस लिये किसी धर्मसंस्थापक के नामपर उनको उकसाना आसान होता है। उस के लिये न तो विद्या बहुत लगती है और न ज्ञान की आवश्यकता होती है। दुराग्रह की बातें करने से कार्य चलता है और यही ये लोग करते हैं।

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु इसी युक्तिका आश्रय कर रहे हैं। एक ऋषिका नाम लिया और दूसरों को उसके विरोधी बतलाया, तो सब कार्यवाही समाप्त हुई! न विद्याकी आवश्यकता, न प्रमाण देखने की जरूरत, न वचनों के बलाबल का विचार, किसी भी दूसरी कसौटीकी जरूरत नहीं है! लकीरके फकीरोंका मार्ग कितना सादा है?

हमने गत अङ्क में वेदों के छन्द अशुद्ध छापनेकी बात विस्तारपूर्वक लिखी है। अब देखिये, यह छन्द अशुद्ध है वा शुद्ध है, इसका निर्णय करने के लिये तो कितना विचार करना चाहिये? पहिले यह छन्दोबद्ध मन्त्र है वा याजुष गद्य मन्त्र है, इसका निश्चय होना चाहिये। पादबद्ध मन्त्र होगा तो उसके पाद कहां समाप्त होते हैं, यह पहले जानना चाहिये, और प्रत्येक पादके अक्षर कितने हैं, इसका निश्चय करना चाहिये। यह अक्षर-गणना भी रेफादिकों के व्यूह के कारण विशेष सूक्ष्म विचार के बिना हो नहीं सकती। किसी पादबद्ध मन्त्र में एक अक्षर न्यून माना गया, तो तत्काल छन्द बदलता है। एक एक अक्षर के हेरफेर से छन्द का उलटपुलट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिये वेद-विद्या में छन्द का महत्त्व बडा भारी है।

कोई मनुष्य इस महत्त्व को नष्ट नहीं कर सकता। छन्दोनिर्णय के लिये पिंगल का छन्दःशास्त्र वेदके दश ग्रंथों में रखा गया है, इसका यही कारण है। इस में सब छन्दों के पर्याप्त संकेत दिये हुए हैं। यह शास्त्र यद्यपि अत्यंत छोटा है, तथापि वेद के छन्दों का निर्णय करने के लिये पर्याप्त है।

यहां कई पाठक पूछेंगे, मंत्रों के छन्दों का ज्ञान किस लिये चाहिये? इस मन्त्रका यह छन्द है, इसके जाननेकी क्या आवश्यकता है और छन्द न जानने से हानि क्या है? इसके उत्तर में कहा है कि—

> अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेद्याजयेद्वा पापीयान् जायते तु सः॥

'ऋषि देवता छंद न जाननेसे जो वेद का अध्यापन करता है वा याजन करता है, वह पापी होता है।'

प्राचीन परिपाठी के अनुसार मंत्रके ऋषिदेवताछन्द जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस में संदेह नहीं है। इतना वचन बतलानेके पश्चात् और प्राचीन परिपाटी देखने के पश्चात् भी यह प्रश्न शेष रह जाता है, कि किसी मंत्रका छन्द न मालुम हुआ अथवा जो है, इसके विपरीत दूसरा ही विदित हुआ, तो कौनसी हानि हो सकती है? इस प्रश्नका उत्तर देना चाहिये।

गायत्री (२४), उष्णिक् (२८), अनुष्टुप् (३२), बृहती (३६), पंक्तिः (४०), त्रिष्टुप् (४४), जगती (४८) ये सात छन्द हैं और इनमें प्रमुखतया चार चार अक्षरों की संख्या बढती है । यद्यपि सामान्यतया इनमें चार चार अक्षरोंकी संख्या का घटवध है, तथापि मंत्रोंमें इसी छन्दमें इतने ही अक्षर निश्चयसे होते हैं, ऐसी बात नहीं है। न्यूनभी होते हैं और अधिक भी । इसीलिये एकही छन्दमें बीसियों भेद हुए हैं और इसी कारण उक्त एक एक छन्दमें कई उपभेद भी हैं, उनका ज्ञान ठीक ठीक प्राप्त करना बडा कठीन कार्य हुआ है, जो सूक्ष्म बुद्धि के विना जानना कठीन है ।

इसलिये प्राचीन ऋषिमुनियोंने अपने आयुष्य इस विद्यामें व्यय करके छन्दोंका निश्चय करके रखा है और आजभी जो उनका मार्ग है, उसपर से जानेसे कोई विद्वान् छन्दका निश्चय कर सकता है। हर कोई कर सकता है,इसका अर्थ कोई यह न समझे, कि विना छन्दःशास्त्रका अध्ययन किये कोई अज्ञ भी छन्द को जान सकता है । जो छन्दःशास्त्रका अध्यय करेना, और जो छन्दोंकी प्रणालीके साथ अपना परिचय करेगा, वही किसी मन्त्रके छन्दको जान सकेगा। यद्यपि यह विषय सूक्ष्म है, तथापि यह गणित जैसा गिनतीका है, अतः गिनतीसे समझमें आनेयोग्य है ।

अब भी फिर वही प्रश्न सामने आता है, कि इतना प्रयत्न करके छन्द जाननेकी आवश्यकता ही क्या है ? आजकल किसी को भी छन्द न जाननेसे कोई कठिनता नहीं हुई है । हर कोई वेद पढता है, मनमाना अर्थ करता है, वादविवाद करता है, वेदवचन के प्रमाण देता है, शास्त्रार्थ करता है, वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करता है, इतनाही नहीं सामवेदका गायन भी करता है । इतना करनेपर भी किसी को भी छन्दके जाननेकी कोई आवश्यकता प्रतीतही नहीं हुई । इसलिये सब लोगोंको छन्दके जाननेकी आवश्यकता क्या है ? यह विषय वैसाही अज्ञात रहा है, अतः उसका विचार विस्तारके साथ करना चाहिये ।

वेदोंके मन्त्र जिस तरह आजकल पढे जाते हैं, वा बोले जाते हैं, वह रीति नितान्त अशुद्ध है । वेदमंत्रका उच्चारण वैदिक पद्धतिसेहि करना चाहिये । वेदमन्त्र किस तरह उच्चारे जाने चाहिये, इस का भी एक शास्त्र है। साधारणतः पूर्वोक्त सात छन्द अर्थात् गायत्री--उष्णिक्--अनुष्टुप्-बृहती-पंक्ति-त्रिष्टुप्-जगती ये सात छन्द क्रमशः ' सा--रे--ग--म--प--ध--नी ' इन स्वरोंमें बोलने चाहिये । अर्थात् प्रारंभमें यदि किसीने गायत्री-छन्दका मंत्र कहा और उसके पश्चात् त्रिष्टुप छन्द का मंत्र कहना है, तो पहिला मंत्र 'सा' स्वर में उच्चारण कर के दूसरा मंत्र 'ध' स्वर में उचारना चाहिये । समझ लीजिये, कि गायत्रीमंत्रका उच्च स्वर में उच्चारण किया गया, तो उस स्वरको 'सा' मानकर उससे उच्चतर सात स्वर किसी के लगते होंगे, तो वही मनुष्य अन्य छन्दों के मंत्र बोल सकते हैं। अन्य स्वरों में बोलनेसे मन्त्रकी शक्ति मारी जाती है। शिक्षामें कहा है, वेदके मंत्र विस्वर अर्थात् विरुद्ध स्वर में कहे गये, तो बोलनेवाले को व्याधिपीडित करते हैं ।

> अपस्वरं ह्नायुष्यं
> विस्वरं व्याधिपीडतम् । (शिक्षा)

अपस्वर में मंत्र बोलनेसे आयुष्य क्षीण होगा और विरुद्ध स्वर में मंत्र पढनेसे व्याधियां बढेंगी, यह बात है । अब पाठक देख सकते हैं, कि मंत्रों का जैसा चाहे वैसा उच्चारण किया जाय, तो उचित लाभ मिल नहीं सकता ।

कण्ठ से सिरतक सात विभाग किए जांयगे, तो कण्ठ के नीचे के विभाग में अथवा कण्ठ में गायत्रीमंत्र के मंत्र बोले जाने चाहिये । और क्रम से एक एक छन्दको ऊंचा ऊंचा स्थान प्राप्त होकर अन्त में जगती छन्दवाले मंत्र को मुख में उच्च से उच्च स्थान में स्वर से उच्चारण होना चाहिये । यही ' सा-रे-ग-म-प-ध-नी ' का स्वरसाधन है ।

प्रत्येक संस्कार में स्वस्तिवाचक शान्तिपाठ के मंत्र तथा अन्यान्य मंत्र बोले जाते हैं। कई लोग मंत्र कण्ठसे बोलते हैं, और कई पुस्तक से पढते हैं । परंतु किसी को कोनसा मंत्र किस छन्द में है, इसका बिलकुल पता नहीं होता। इसलिए बोलनेवाले ऐसे बेढंगे तरीके से बोलते हैं, कि सुनकर मेंडक बोलने का भास होता है । वेदके मधुर स्वर कहां और आजकलका मेंढक गायन कहां? कोई तुलना है? फिर परिणाम

जो होना है, वह होगा ही। कितना जिम्मेवारी का कार्य है! परंतु कोई इसकी चिन्ता तक नहीं करता।

अब देखिये, कि यदि वेदमंत्रोंपर अशुद्ध छन्द मुद्रित हुए तो क्या होगा? क्या इसका परिणाम कहना चाहिए? यदि कोई मनुष्य उस छन्द के निश्चित स्वर में वह मन्त्र बोलेगा, तो उसके लिए वह अपस्वर होगा और विरुद्ध स्वर में उच्चार करने से व्याधियों की पीडा बढ जायगी, बिलकुल विरुद्ध परिणाम होगा। इस लिए छन्दों को शुद्ध ही छापना चाहिये और शुद्धहि बोलना चाहिये।

वेदका गौरव इस शास्त्रीयता में है, न कि किसी कारण किसी यंत्रालय में वे अशुद्ध छापे गये, तो उन अशुद्ध को ही शुद्ध मान कर चलना चाहिये। जो बात छन्द के शुद्ध या अशुद्ध होने की मामूली से मामूली समझी जाती है, वह भी कितनी गहरी है, और उसका मानवी कल्याण के साथ कितना घनिष्ठ संबंध है, यह देखिये।

अब रही बात सामवेद के मंत्रगान की। वह तो एक बडा ही शास्त्रीय विषय है। अजमेर में जो 'सामवेद' नाम से सामसंहिता छापी गयी है, वह केवल 'आर्चिक' है। अर्थात् केवल मंत्र ही मंत्र हैं। इन को सामगान के रूप में परिणत करना चाहिये। ऊह गान, उह्य गान आदि चार सामगान की स्वतंत्र पुस्तकें हैं, जो मुद्रित करने से सहस्र पृष्ठोंका ग्रन्थ हो सकता है। सामवेद इतना बडा छापनेयोग्य है। सामवेदीय शिक्षा के अनुसार उन मंत्रों के आलाप, प्रत्यालाप दर्शाकर रथन्तरादि सामोंको सिद्ध करना चाहिये। इस गानपद्धति के अनुसार प्राचीन समय में साम की सहस्र शाखायें हो चुकी थीं। अब उन में से दोतीन ही शेष रही हैं, परंतु इन को भी इस समय सशास्त्र रीति से पढनेवाला कोई नहीं है।

पं० ब्रह्मदत्तजी कहेंगे, कि बस, अजमेरके वैदिक प्रेस में छपा सामवेद योगबलसे मुद्रित हुआ है, उस में कोई घटवध करना नहीं चाहिये। क्योंकि तपोबल से वह कार्य हुआ है। इनको कहना चाहिये, कि तपोबल और योगबलका डरावा वे अधिक न बता करें। साम की परिपाठीके प्राचीन से प्राचीन पुस्तक इस समय में भी प्रयत्न करनेपर मिलते हैं और सामका गायन करनेवाले, और स्वरसाधन शास्त्रीय रीतिसे करनेवाले विद्वान् अब भी थोडे थोडे किसी किसी स्थानपर मिलते हैं। यदि पं० ब्रह्मदत्तजी यहां स्वाध्यायमण्डल में पधारेंगे तो हम उनको ऊहगान, उह्यगान आदिके १००।२०० वर्षोंके पूर्व लिखे हुए हस्तलिखित पुस्तक बता सकते हैं। और सामके किसी मंत्र का 'नोटेशन' शास्त्रीय रीतिसे करनेवाले सामवेदी विद्वान् भी हमारे पास हैं। जो जिस मन्त्र का चाहे उस मन्त्र का इस समय भी नोटेशन कर सकते हैं।

यद्यपि सामवेदकी विद्या प्रायः लुप्त हो चुकी है, तो भी सामकी हजारों शाखाओं में से दोचार शाखाएं इस समय में भी प्राप्त हो सकती हैं और यदि भारतवर्ष का ग्राम ग्राम ढूंढा जाय, तो न जाने कितनी प्राप्त हो सकेंगीं, इसका पता लगाना कठीन कार्य है।

महाराष्ट्रमें सामवेदी और अथर्ववेदी होनेका अबतक किसी कोभी पता नहीं था। परंतु अब हम अथर्ववेदका मुद्रण शुरू कर रहे हैं, इसलिये खोज की तो पता चला कि महाराष्ट्रमें सहस्रों अथर्ववेदियोंके कुल ऋग्वेदी हो कर रहे हैं। और आश्चर्यकी बात यह है, कि उनकी संदूकों में २।३ सौ वर्षके प्राचीन अथर्ववेदके ऐसे सुन्दर और शुद्ध ग्रंथ हैं, कि उनकी ओर आजभी देखा जाय, तो आनन्द ही होता है। ऐसे ग्रंथ अथर्ववेदके और सामवेदके स्वाध्याय-मण्डल में प्राप्त किये हैं, जिनके कारण शुद्ध वेद छापनेमें बडी सहायता हो रही है।

गुजरात और राजपुतानामें हि अथर्ववेदी हैं, ऐसा जो मानते हैं, वे गलती खाते हैं। महाराष्ट्रमें कई अथर्ववेदी ब्राह्मण आ कर बसे हैं और यहां उनकी कई पिढियां हो चुकी हैं। उनका अथर्ववेदका पठनपाठन बन्द हुआ है और वे अपना धर्मकर्म ऋग्वेदीयोंके समान करने लगे हैं। यहां तक कि अपना अथर्ववेद था, यह भी कई भूल गये हैं। विद्याका लोप इतना हुआ है!

नाना प्रकारके रोगोंका शमन मंत्रपाठसे और हवनादिसे करनेकी विद्या अथर्ववेदकी है। मन्त्रपाठसे रोगशमन होता था, ऐसा कहने से भी शायद कई लोग घबरा जायंगे। परंतु सत्यकथन में कोई डर नहीं है।

सामवेद के मंत्र भी मनःशांति लानेवाले और उस शांति से स्वास्थ्यलाभ देनेवाले हैं। निन्द्रा न आनेवाले के सामने सुयोग्य विधिपूर्वक शान्तिप्रद सामगान करनेसे निद्रा आती है, अर्थात् मन शान्त होता है, यह अनुभव है। मनःक्षोभ दूर करनेके लिये सामगान जैसा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

यह सब विद्या खोज करनेवालोंके लिये है। आजकल भारतवर्षमें बहुतसी वेदाविद्याओंका लोप हो चुका है, तथापि बहुतसे ग्रंथ ढूंढनेपर अब भी प्राप्त हो सकते हैं। देखिये सामके संपूर्ण गान लेखबद्ध किये हुए किसी स्थानपर मिलते नहीं थे। इस सामगानके ग्रंथका पूर्णतया लोप हो चुका, ऐसाही माना जाता था, परंतु औंधसे ५० मीलके अन्तरपर अष्टे ग्राममें यह सब सामवेदके संपूर्ण और विविध ग्रंथोंका संग्रह मिल गया। डेढ सौ वर्ष पूर्व यह अद्भुत ग्रंथ लिखा गया था, इसी तरह कापिष्ठलसंहिता भी दुष्प्राप्य करके समझी जाती थी, वह भी अब संपूर्ण प्राप्त हो चुकी है। ढूंढनेपर बहुतसे वैदिक ग्रंथ अब भी मिल सकते हैं। परंतु लोग प्रयत्न करनेके लिये उद्यत होने चाहिये। और खोज करनेकी बुद्धि धारण करनेवाले लोग चाहिये।

जो कहेंगे, कि फलाने प्रेस में छापा सब योगबल से छापा गया है, वे तो वेदशास्त्रों के शत्रु हैं। यदि उन में सत्य के लिये प्रेम है, तो उन को भारतवर्ष में ग्रामग्राम में खोज करने के लिये चल पडना चाहिए। और किसी मध्यवर्ती स्थानपर ऐसे अमूल्य हस्तलिखित ग्रंथोंका संग्रह करना चाहिये। यह कार्य लाखों रु० जमा करने के बिना हो नहीं सकता। अग्नि से न जलनेवाला मकान बनवाकर इन ग्रंथों को सुरक्षित रखना चाहिए। ऐसी खोज करने के लिए दस पांच विद्वान् चल पडेंगे और उनके पास ऐसी पुस्तकें खरीदनेके लिये पर्याप्त धन होगा, तो १०।२० वर्षों में बहुतसे ग्रंथ प्राप्त हो सकते हैं, जो इस समय दुष्प्राप्य करके समझे जाते हैं।

एक समय एक यवन रद्दी खरेदी करके चल रहा था, ३०।४० मण रद्दी थी और उसने १) रु. मन के भाव से वह कागजों की रद्दी ली थी। हमने देखा तो प्रतीत हुआ, कि उसमें कुछ संस्कृत ग्रंथ हैं। हमने दुगुणा भाव देकर उससे वह रद्दी ली। जिसके पृष्ठ जोडने से करीब २०० उत्तमोत्तम शास्त्रीय ग्रन्थ मिल गये। ऐसे ग्रंथ रद्दी के भाव से जा रहे हैं। ये संस्कृत ग्रंथ केवल भारतवर्ष में ही हैं, ऐसी बात नहीं है। भारतवर्षके बाहर भी वैदिक ग्रंथ मिलना संभव है। अफगाणिस्थान, बलोचिस्थान, ईरान, तुर्कस्थान, चीनी-तुर्कस्थान, ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि स्थानों में इस समय में भी संस्कृत विद्याके ग्रंथ हैं।

पाठकों को आश्चर्य होगा यह सूनकर कि तुर्कस्थान में गणेश के चित्र और मूर्तियां मिली हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि तुर्कस्थान में गणपति के उपासक थे। वैदिक धर्मियों का संबंध वहांतक था। तुर्कस्थान में चरक का संस्कृत पुस्तक मिला था। परंतु जो भारतीय अपने देशमें अपनी प्राचीन विद्याके ग्रंथ नहीं ढूंढते, वे विदेश में जाकर क्या खोज करेंगे? भारतीय तो बाबावाक्यं प्रमाण मानकर लकीर फकीर बननेमें प्रवीण हैं, अतः ज्ञानकी बातको तो वे स्पर्श भी नहीं करेंगे।

अतः अपने धर्मग्रंथोंका सच्चा अभिमानी कौन है? इस प्रश्नका उत्तर यह है, कि जो अपना जीवन ऐसे ग्रंथ संग्रह करने में लगावेगा और अपने धर्मग्रंथ शुद्ध मुद्रण करने में समर्पण करेगा।

यह खोज अपने ग्राम से भी प्रारंभ की जा सकती है। जहां कहां प्राचीन ग्रंथ मिल जाय, उसको खोज की दृष्टिसे देखना और उसका संग्रह करना, यही इस समय का कार्य है। कोई यह कार्य करनेको तैयार है?

शुद्ध चार वेदसंहिता।

चारों वेद अत्यंत शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमंडलमें शुरू है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपकर तैयार हैं। अगले छः महीनोंमें शेष दोष दो संहिताएं तैयार होंगी। चारों वेदसंहिताओं के मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज
ऋग्वेद	३)	१)	॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)
सामवेद	२)	॥)	।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)

चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से मूल्य ५) है तथा उनका ऊपर लिखे अनुसार डाकव्यय या रेलकिराया ग्राहकोंके जिम्मे होगा। अथर्ववेद छपकर तैयार होनेतक ही चारों वेदसंहिताएं ५) रु० में मिलेगी। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा। पांच ग्राहक मिलकर ५ पुस्तकें रेलपार्सलसे मंगवायेंगे तो ही उक्त रेलकिराया होगा, एक पुस्तकपर कदाचित् अधिक होगा।

भक्तके भगवान्

(लेखक- श्री० रलियारामजी कश्यप, M. Sc., लाहौर)

इस पुस्तकमें ईश्वरीय चमत्कारोंका ही वैज्ञानिक सत्यतासे विस्तृत वर्णन किया है। इस पुस्तकके पाठसे भगवान् की प्राप्ति की उमंग भक्तके हृदयोंमें उमड पडेगी। मूल्य ॥) डा० व्ययसहित ॥=) रु० भेज दें।

वेदोक्त प्रजननशास्त्र।

(लेखक- श्री० रलियारामजी कश्यप, M. Sc.)

प्रजनन-विज्ञान उस विद्याका नाम है, जिसके द्वारा जितनी उत्तम सन्तति उत्पन्न करना संभव है, उतनी उत्तम संतति उत्पन्न की जा सके। इस विषयसंबंधी सब सत्योंको क्रमबद्ध एकत्र करके रखनेसे ही इस विज्ञानकी सिद्धि होती है।

इस विषयपर वेद प्रचण्ड ज्योतिच्छटा छोडता है। इस पुस्तिकामें इसी विषयका विवेचन वेदमंत्रों के आधार देकर किया है। मूल्य ≡) डा० व्य० -) चार आनेकी टिकट भेजिए।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वेद के ऋषि।

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेव शास्त्री, दर्शनकेसरी, पंचतीर्थ, दर्शनभूषण, देहरादून)

ऋषिज्ञानकी आवश्यकता।

वेदमन्त्रों का अर्थ समझने के लिये मन्त्रों के ऋषियों को जानना आवश्यक है। हमारे विचार में ऋषिज्ञान क्यों उपयोगी है, इस को तो आगे ही अधिक विवेचनापूर्वक लिखेंगे। प्राचीन आचार्योंने ऋषिज्ञान को वेदार्थ करने में सहायक माना है। इसके लिये निम्न प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"यो ह वा अविदितर्षिच्छन्दो दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति यात-यामान्यस्य छंदांसि भवन्ति तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्" (सा० आ० ब्रा० १ प्र० १ ख०) अर्थात्- जो (वेदार्थ करनेवाला) पुरुष किसी मन्त्र के ऋषि छन्द देवता को और उस मन्त्र पर किए गए वेदवित् ब्राह्मण के अर्थ को न जान कर यज्ञ कराता तथा पढाता है, एवं पढता है, वह पत्रपुष्पहीन वृक्ष से सुमधुर फल की आशा करता है। गड्ढे में गिरता है। अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। वह प्रभु के ज्ञान की हिंसा करता है। वह पापी होता है। उसका पढा पढाया यातयाम है, व्यर्थ है, उपभोग योग्य नहीं। इसलिये वैदिक स्वाध्याय करनेवाले के लिये आवश्यक है कि वह ऋषि देवता छंद आदि प्रत्येक मन्त्र के जान कर ही अर्थ करने में प्रवृत्त हो। इति। कौन से मन्त्र का कौन ऋषि है, इस का निर्णय प्राचीन ग्रन्थ सर्वानुक्रमणी आदि में किया गया है।

अजमेर यन्त्रालय तथा अन्य स्थानों से इधर जो वेदों की प्रतियां मुद्रित हुई हैं उन में मूल मन्त्रों के ऊपर क्रमशः ऋषियों का भी नाम निर्दिष्ट रहता है। उदाहरण के लिए- ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ९ ऋचाएं हैं, इन ९ का ऋषि मधुच्छन्दा है अथवा वैश्वामित्र मधुच्छन्दा है। सर्वानुक्रमणी में इस के सम्बन्ध में लिखा है-

'अग्नि नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' अर्थात् अग्निमीळे- इत्यादि नव ऋचाओंवाले सूक्त का ऋषि वैश्वामित्र मधुच्छन्दा है।

ऋषि का क्या अभिप्राय है ?

उपर्युक्त ऋषि से क्या तात्पर्य है ? इस पर निम्न प्रकार से विचारकों का विचारभेद है-

नवीन विचार।

(१) नवीन पाश्चात्य पद्धति के विचारकों का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि जिस मन्त्र का जो ऋषि लिखा है वह उस का कर्ता है। जिस प्रकार सू० १।१-१ सूक्तके नौ मन्त्रों का जो ऋषि है अर्थात् मधुच्छन्दा वह उन मन्त्रों का कर्ता है। और क्योंकि ये सब ऋषि एक ही समय में नहीं हुए और इतिहास से ज्ञात होता है कि इन का उत्पत्तिकाल भिन्न भिन्न है, अतः वेदोंके मन्त्रों की रचना भी भिन्न भिन्न काल में हुई है।

ऋषि दयानन्द का मन्तव्य।

(२) ऋषि दयानन्द का इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के विचारानुसार यह मत है कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता निर्माता कर्ता नहीं, अपितु इन के द्रष्टा हैं अर्थात् जिस विद्वान् ने वेद के जिस मन्त्र अथवा प्रकरण का आशय सब से प्रथम समझा और उस का प्रचार किया वह उस का ऋषि कहलाया। इन के विचारानुसार उपर्युक्त ऋग्वेद के

सर्वप्रथम नौ मन्त्रों के सूक्त का मधुच्छन्दा ऋषि इसलिये है कि उस ने इस का सर्व प्रथम साक्षात्कार किया, इस के आशयसे अभिज्ञ हुआ और दूसरों को किया । इस को ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में इस प्रकार लिखा है-

" यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः । यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नाम-लेखनं प्रति मन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः ।

(ऋ० भा० भू० पृ० ३८२)

इसीका भाव आर्य भाषा में ऋषि ने ही सत्यार्थ-प्रकाश में निम्न प्रकार से लिखा है—

" जिस जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिस के पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था और दूसरों को पढाया भी, इसी लिये अद्याऽवधि उस उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है, जो कोई ऋषियों को मन्त्र-कर्ता बतावें उन को मिथ्यावादी समझें । "

(स० प्र० ७ समु० पृ० २५९)

(३) एक और विचार ।

' ऋषि ' का जो तात्पर्य ऋषि दयानन्दने किया है वह अमान्य नहीं । परन्तु हम ऋषि का एक और भी तात्पर्य समझते हैं—

" किसी मन्त्र अथवा प्रकरण का ऋषि वह पुरुष है जो उस मन्त्र अथवा प्रकरण के देखने की योग्यता रखता हो । अर्थात् हमारा विचार है, कि मन्त्रों के ऊपर जिन ऋषियों का निर्देश किया गया है वे व्यक्तिविशेष नहीं । इससे भी अधिक कहें तो मधुच्छन्दा आदि जो ऋषि उनपर लिखे रहते हैं, ये सब किसी खास आदमी के नाम नहीं, जिस तरह देवदत्त-यज्ञदत्त- भीमसेन आदि अर्थात् ये रूढ पद नहीं अपितु यौगिक हैं— जिन में भी ये गुण होंगे वे उस उस नाम के वाच्य हो सकते हैं । इस प्रकार ऋषि का निर्देश योग्यताप्रदर्शनार्थ ही आता है । परमात्मा के विस्तृत ज्ञान में से किस को कौन जानने का अधिकारी है अथवा किस स्थल को देखने से पूर्व कितनी योग्यता सम्पादन-तैयारी आवश्यक होती है, इसी का स्पष्टीकरण ही ऋषि का तात्पर्य है, ऐसा हमारा विचार है । अब हम इन तीनों विचारों पर अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

पाश्चात्य मत में साधक युक्तियां ।

पाश्चात्य पण्डित और उनके अनुयायी पौरस्त्य विद्वान् भी अपने इस विचार की पुष्टि के लिये, कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता हैं, निम्न युक्तियां उपस्थित करते हैं ।

(१) प्रथम युक्ति ।

भाषाविज्ञान से ज्ञात होता है, कि वेदों के भिन्न भिन्न प्रकरण एक ही समय में नहीं उत्पन्न हुए और मन्त्रों के ऊपर ऋषियों का नाम भी निर्दिष्ट मिलता है, अतः वही ऋषि ही उन मन्त्रों के कर्ता हैं ।

आलोचना ।

भाषाविज्ञानसम्बन्धी यह नियम अनैकान्तिक हेत्वाभास है, क्योंकि एककर्तावाले ग्रन्थों में भी भाषावैषम्य दृष्टिगोचर होता है । ऐसा 'वेदकी इयत्ता' प्रकरण में प्रमाणित किया गया है ।

(२) द्वितीय युक्ति ।

वेद स्वयं कहता है, कि ऋषि मेरे कर्ता हैं । यथा-

ऋग्वेद ९-११४-२ में मन्त्रकृत् शब्द आता है । इस का अर्थ है, मन्त्र की रचना करनेवाला ऋषि-मन्त्र – " ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः । सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पति-रिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ " इस मन्त्रका ऋषि कश्यप है, उसको सम्बोधन करके वेद कहता है, कि तू मन्त्रकृत्

मन्त्रकार मन्त्ररचयिताओं के स्तोमों से वाणी की वृद्धि कर इत्यादि।

आलोचना।

हमने ऋषि के सम्बन्ध में अपना विचार संक्षेप से ऊपर निर्दिष्ट किया है। अतः ऋषि कश्यप का नाम यदि स्वयं वेद कह दे तो कोई हर्ज नहीं। हम तो ऐसा समझते हैं, कि वेद स्वयं अपनी व्याख्या कर देता है। यदि स्वाध्यायशील पुरुष चारों वेदों का ही पुनः पुनः अनुसन्धान करे तो वेद स्वयं अपनी व्याख्या कर रहा है, ऐसा प्रतीत होगा। इस मन्त्र में ऋषि का विशेषण कश्यप है, दोनों शब्द सम्बुद्धि में है—

कश्यप का अर्थ पश्यक है, यही कश्यप शब्द की निरुक्ति है, जिसका भाव है देखनेवाला अर्थात् विचार कर कार्य करनेवाला सूक्ष्मदर्शी। इस प्रकार ऋषि शब्द के साथ इसका सामानाधिकरण्य कर देनेसे यह अर्थ होगा, कि ऐ आखोंवाले सोच विचार कर, काम करनेवाले सूक्ष्मदर्शी ऋषि! ऐसा कहने का आशय यही है, कि इस नवम मण्डल के ११४ वें सूक्त को जिसमें कुल चार मन्त्र हैं, देखने का अधिकारी योग्य ऋषि कश्यप-विशिष्ट सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही हो सकता है। इन मन्त्रों का देवता पवमान सोम है। इससे यह तात्पर्य हुआ, कि वह सूक्ष्मदर्शिता पवमान सोमविषयिणी ही होनी चाहिये, क्योंकि सूक्ष्मदर्शिता भी बहुधा हो सकती है।

मन्त्रकृत् शब्द।

अब इस मन्त्र में आए हुए मन्त्रकृत् शब्द पर भी विचार करना चाहिये। इस में दो पद हैं, मन्त्र+कृत् जिसका अर्थ है मन्त्रकार। 'मन्त्र' शब्दकी निरुक्ति करते हुए निरुक्तकार यास्क मुनिने लिखा है—

'मन्त्रा मननात्' अर्थात् मन्त्र नामकरण का बीज मनन है अर्थात् मनन जिस में किया जाय ऐसे वाक्य को पदादि को मन्त्र कहते हैं। वेद के सभी पद यौगिक हैं, रूढ नहीं, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धांत है, अतः इस मन्त्र का मन्त्रपद भी जिसका हमने नाम मन्त्र रख छोडा है, उनके ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। वेदमन्त्रों का ही नाम मन्त्र है, ऐसा वेद नहीं कह सकता, क्योंकि ऐसा कथन सापेक्ष है- विशेषण अन्य व्यावृत्त्यर्थ ही होता है, परन्तु जब वेद उत्पन्न हुए तब और तो लौकिक वाक्य थे ही नहीं, जिन से विशिष्टता बताने के लिये वेदमन्त्रोंका नाम मन्त्र है ऐसा वेद ही कहे। इस प्रकार मन्त्रकार शब्द का अर्थ भी यहां सामान्य रूप से होगा। इस मन्त्र में सोम शब्द भी आया है जिसकी निरुक्ति यास्कने यह की है 'सोमः स्तवनात्' अर्थात् 'सोम' नामकरण का बीज स्तवन-स्तुति है। स्तुति और यथार्थ कथन पर्याय हैं।

इस प्रकार मन्त्रके पूर्वार्ध का अर्थ हुआ 'हे पवमान सोमके पश्यक तत्त्वदर्शी ऋषि! तू (मन्त्रकृतां स्तोमैः) मन्त्र करनेवाले — स्वाध्यायशील विद्वानों के सोमों से-स्तुतियोंसे अर्थात् उन उन विद्वानों ने जो वैज्ञानिक रूप से संसार के विभिन्न पदार्थों का जो यथार्थ कथन किया है उस की सहायता से (गिरः उद्वर्धयन्) अपनी वाणियों को बढाता हुआ कार्य कर, उपदेश कर। अब यह है कि दूसरेके स्वाध्यायसे मननसे लाभ उठाना चाहिये। इस प्रकार करने से ही परमेश्वर की वाणी यथार्थ जानी जा सकती है। क्योंकि मनुष्य सभी विद्याओं का ऋषि नहीं हो सकता और सब विद्याओंका परस्पर सम्बन्ध है। अतः जो एक विद्या का और तत्परक वेद-प्रकरण का ऋषि है, उसे अन्य विषयोंपर किए गए अन्य विद्वानों के विवेचनको भी भले प्रकारसे जानना चाहिये। ऐसा करने से ही वह अपनी व्याख्यामयी वाणी को और परमेश्वर की वेदवाणी को विस्तृत कर सकता है, अन्यथा नहीं।

(३) तृतीय युक्ति।

वेदों में ऐसे कई मन्त्र हैं जिन में वेद-मन्त्रोंका विभिन्न कालमें उत्पन्न होना प्रतिपादित है- उदाहरण

के लिये ऋ० ८।९५।५ देखिये-

(क) "इन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजी-जनत्। चिकित्विन् मनसं धियं प्रत्नां तस्य पिप्युषीम्"

इस में बताया गया है कि हे इन्द्र! तुझे प्रोत्साहित-प्रसन्न करने के लिए ऋषि ने मनसे प्राचीन ज्ञान के आश्रय पर नई वाणी को उत्पन्न किया। इस से प्रतीत होता है कि इस सूक्त की रचना प्रथम न हुई थी और अब हुई। इस से यह भी प्रतीत होता है कि वेद की उत्पत्ति एक ही समय में नहीं हुई।

(ख) ऋ० ६।२२।७--

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परि-तंसयध्यै। स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि॥

इस में कहा गया है कि इस सूक्त का देवता (इन्द्र) (प्रत्नम्) प्रत्न है प्राचीन है, परन्तु (धिया नव्यस्या) सूक्त नवीन है। इससे प्रतीत होता है कि सूक्तों की रचना विभिन्न समयों में होती रही है और इन के कर्ता विभिन्न ऋषि हैं। इस सूक्त का ऋषि जिसमें कुछ १४ मन्त्र हैं, बार्हस्पत्य भारद्वाज है, अतः वही कर्ता है।

आलोचना।

(क) ऋ० ८।९५।५ मन्त्र से वह तात्पर्य नहीं निकलता, जो पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं।

इस मन्त्र में 'नवीयसीं गिरं' और 'प्रत्नां धियम्' इन दो शब्दों से ही सन्देह होता है, परन्तु ये दोनों शब्द ही पाश्चात्य विचार का खण्डन करते हैं ऐसा हमारा विचार है- 'धी' का अर्थ ज्ञान है और वेद शब्द का भी अर्थ ज्ञान ही है। इस में कहीं प्रत्ना धी अपौरुषेय वेदज्ञान के अतिरिक्त कोई नहीं प्रतीत होती। ज्ञान और भाषाका तादात्म्य-अभेद सम्बन्ध-है, अतः प्रत्ना धी के लिए प्रत्ना भाषा की सत्ता भी आवश्यक है, वह प्रत्ना भाषा भी वैदिक भाषा है। अतः इस मन्त्र का तात्पर्य यह हुआ कि ऋषि लोग इन्द्र की प्रसन्नता के लिए प्राचीन ज्ञान-वेद- के आश्रय पर नवीन तत्तद्देशीय भाषाओं द्वारा स्तुति आदि करते हैं। उस भगवत्प्रसन्नता अथवा भगवच्छक्ति की भाषा अवश्य नवीयसी नूतन होती है, परन्तु उस का हृदय-भावना-पुरातन है। यहां 'इन्द्र' का अर्थ हमने 'परमात्मा' किया है। यदि 'इन्द्र' पद का अर्थ भौतिक दृष्टि से विद्युत् आदि किया जाय तब भी यही तात्पर्य होगा- अर्थात् वैज्ञानिकों ने अपने अपने देश की विभिन्न भाषाओं में जो विद्युदादि की व्याख्याएं की हैं, उस की भाषा तो अवश्य नवीन है, परन्तु वह ज्ञान नवीन नहीं।

(ख) ऋ० ६-२२-७ में जो यह कहा गया है, कि इन्द्र (प्रत्न) प्राचीन है, परन्तु (धिया नव्यस्या) धी नवीन है, इससे भी पाश्चात्य विचार की पुष्टि नहीं होती। पाश्चात्य विचारकों ने इस मन्त्रके 'धी' शब्द का अर्थ 'सूक्त' किया है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'धी' शब्द का मुख्यार्थ बुद्धि अथवा ज्ञान ही है। इस प्रकार मन्त्र का भावार्थ यह है कि- यदि कहीं किसी विषय का विवेचन नवीन हो तो उसका विषय- देवता प्राचीन होगी, अर्थात् संसार में ऐसा कोई देवताविषय नहीं जिसका नाम वेद में न हो।

इन दोनों मन्त्रों का तात्पर्य यह है, कि भगवान् कृष्ण के "नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।" अत्यन्त असत् पदार्थ की सत्ता नहीं हो सकती और सत् की अत्यन्त असत्ता नहीं हो सकती। इस नियम के अनुसार सभी विवेचन-ज्ञान विस्तृत रूप से अथवा संक्षिप्त रूप से वेद में पाए जाते हैं- कहीं तो भाषा में भेद हो जाता है, विवेचन में नहीं। और कहीं विवेचन नया प्रतीत होता है, परन्तु उसका संकेत वेद में भी पाया जाता है।

(४) चतुर्थ युक्ति।

वेद में ऐसे कई मन्त्र हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों के रचनाकाल से पूर्व भी कुछ पुरुष विद्यमान थे। उदाहरण के लिये--

(क) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैः सह

स देवाँ एह वक्ष्यति। (ऋ० १-१-२)

इसमें पूर्व और अपर पूर्वके और पश्चात्के ऋषियों का निर्देश है। पूर्व और अपर शब्द सापेक्ष हैं, अतः पूर्व का अर्थ होगा- इस मन्त्र के रचनाकाल से पूर्व उत्पन्न ऋषि।

(ख) यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।
(ऋ० १०-१४-१५)

इस मन्त्रमें 'पूर्वज ऋषि' शब्द आया है, जिसका अर्थ है प्रथमोत्पन्न ऋषि। इससे प्रतीत होता है- इस सूक्त की उत्पत्ति से प्रथम कुछ ऋषि उत्पन्न हुए थे, ऐसा ही भाव इस मन्त्र के 'पूर्व पथिकृत्' शब्द से भी निकलता है। 'पथिकृत्' शब्द में तो कृत् पद भी है जिसका अर्थ है कारक, पथिकृत् शब्द का अर्थ हुआ मार्गोत्पादक; जिसका यही भाव है, कि स्वयं प्राक्तन सूक्त रचना करके औरोंके लिये भी वैसा करने का मार्ग-प्रदर्शन करना।

(ग) "ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥ (ऋ० ८-६-४१)

इस में पूर्वज ऋषि का संकेत है, जिसका अर्थ है प्रथम उत्पन्न ऋषि।

(घ) ऋ० १-११३-११ देखिये-

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन् व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्।

इस मन्त्रका देवता उषा और ऋषि कुत्स अङ्गिरस है। इस मन्त्र में कहा गया है कि वे चले गए जिन्होंने भूतपूर्व उषाको देखा था और हम देख रहे हैं और वे आनेवाले हैं जो भविष्यकालकी उषाओंका दर्शन करेंगे। यहाँ भी पूर्व और पर का व्यवहार है जो सापेक्ष ही होना चाहिये। इस से प्रतीत होता है कि मन्त्रकार ऋषि अपने से पूर्व मनुष्यों का संकेत कर रहा है।

(ङ) इसी प्रकार पूर्व ऋषियों आदि का संकेत मिलता है।

(१) ऋषयः पूर्वे॥ ऋ० १।४८।१४
(२) पूर्वे पितरः परज्ञाः॥ ऋ० १।६२।२
(३) ये चिद्धि पूर्व ऋत साप आसन्॥ ऋ० १।१७९।२

इस मन्त्र में 'ये पूर्वे आसन्,' जो पहिले थे, इस प्रकार भूतकाल का निर्देश है।

(च) इसी प्रकार यजुर्वेद में भी ऐसे वचन मिलते हैं- यथा य० १९।५१ में।

(१) 'ये नः पूर्वे पितरः' पूर्व पितरों का संकेत मिलता है।

(२) इसी प्रकार य० ४०।१० में-

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे॥

इस में कहा है कि परमात्माको सम्भव और असम्भवसे परे कहते हैं, ऐसा हम उन धीरोंसे सुनते आए हैं जो हमें उपदेश करते थे। इस से प्रतीत होता है कि यह मन्त्र बाद की रचना है।

इस प्रकार और भी बहुत उद्धरण दिए जा सकते हैं, उदाहरण मात्र यहां लिखा है।

आलोचना।

अब क्रमसे इन की आलोचना करेंगे।

(क) ऋषि दयानन्द ने पूर्व ऋषिका अर्थ मन्त्रद्रष्टा और नूतन ऋषि का अर्थ तर्क किया है। तर्क को यास्क ने भी नूतन ऋषि माना है।

यह ठीक है कि पूर्व शब्द सापेक्ष है, परन्तु यह नूतन शब्द के साथ रहने से पूर्व का अर्थ पुरातन है। परन्तु पूर्वोत्पन्न और परोत्पन्न ऋषि मानने से भी कोई हर्ज नहीं। ऋषिकी पूर्वोत्पत्ति और परोत्पत्ति से मन्त्र की उत्पत्ति का कोई संबंध नहीं। चाहे ऋषिका अर्थ मन्त्रद्रष्टा अथवा मन्त्रदर्शन का अधिकारी है और ऐसे पुरुष नूतन और प्राचीन होते ही रहेंगे। क्योंकि वेद मनुष्यों के लिए हैं और मनुष्यों की उत्पत्ति एक साथ ही नहीं होती, अतः ऋषि भी साथ नहीं होते।

एक और भी बात है। मीमांसा का सिद्धांत है—

"विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः अर्थात् सर्वमेव लौकिकं वैदिकं वा वाक्यं कार्यपरम्" सभी वाक्य विधिपरक हैं। इस नियम के अनुसार मन्त्र के "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडयो नूतनैरुत" का "प्राचीन और नवीन सभी ऋषि परमात्मा की स्तुति करें" ऐसा अर्थ होगा। ऋषियों में तो नवीनता और प्राचीनता होगी ही, इस से मन्त्रों की रचना का कोई सम्बन्ध नहीं।

(ख) 'यमाय०' इत्यादि मन्त्र में भी जो पूर्वजात ऋषियों का निर्देश है उस का भी उपर्युक्त भाव है। 'पथिकृत्' शब्द का भी अर्थ मार्गदर्शक है और प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषि नूतन वेद-स्वाध्यायिओं के मार्गदर्शक होते हैं, इस में क्या सन्देह है? इस मन्त्र में पूर्व-मार्गदर्शक ऋषियों को नमस्कार किया गया है। वेद के नमस्कार का अर्थ हाथ जोडना मात्र नहीं, अपितु उसके मार्गपर चला देना है।

(ग) ऋषिर्हि पूर्वजा०- इत्यादि मन्त्र के पूर्वज ऋषि शब्द का भी यही अर्थ है।

(घ) 'ईयुष्टे-' इत्यादि मन्त्र का भाव यह है कि "सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः ऋते चिच्छक्तेः" संसार के भी पदार्थ क्षणपरिणामी हैं।

परम प्रभु को छोड कर यद्यपि जीवात्मा भी नित्य शुद्ध है, तथापि इस मन्त्र में मर्त्य शब्द का अभिप्राय शरीरविशिष्ट जीवात्मा से है। अतः यहां विशेषण शरीरी के मर्त्य होने से, क्षणिक होने से शरीरी जीवात्मा को भी मर्त्य कहा गया है। इस प्रकार वेदभगवान् मनुष्य को उपदेश करता है। जिसने कल की उषा को देखा था वह आज नहीं, जो आज देख रहा है वह कल न रहेगा। इस प्रकार मनुष्य अपने भावी जीवन पर विचार करे। यहां उषा का अर्थ केवल भौतिक उषःकाल ही नहीं, मनुष्य का सुख-प्रभात भी अभिप्रेत है।

(ङ) (च) इसी प्रकार "पूर्वे पितरः पदज्ञाः" आदि का भी उपर्युक्त रीति से ही अर्थ करना चाहिए। यहां पर भी समझना चाहिये, कि वेद में जो पूर्वपर आदि कहा है वह मन्त्रकृतही नहीं बुद्धिकृत और अनुभवकृत भी है। जो अनुभव बुद्धिबल आदि में पूर्व हैं, उन्हें भी पूर्व ऋषि पूर्व पितर आदि कहा गया है।

इन सब मन्त्रों में परमात्माने यही उपदेश दिया है कि जो परज्ञ हैं, अनुभवी हैं, बुजुर्ग हैं, उन के आदेशानुसार चलना चाहिए।

वेद में भूत काल आदि का निर्देश भी दोष नहीं क्योंकि वेद तो तीनों कालों के लिये हैं। य० ४०। १० में जो यह कहा है कि हम ऐसा धीरोंसे सुनते आरहे हैं- इसका उपर्युक्त मीमांसा के सिद्धांतानुसार विधिपरक अर्थ करने से वेद का यह आदेश प्रतीत होता है, कि धीरबुजुर्गों के पास बैठ कर श्रवण करना चाहिये, इसी से परमात्मा का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होता है। वही क्रियात्मक उपदेश दे सकते हैं।

भ्रमका कारण।

पाश्चात्य विचारकों को जो पूर्व-पर आदि शब्द देख कर ऐसा भ्रम होता है, उसका कारण यही है कि- वर्तमान भाषाविज्ञान का एक सिद्धान्त है, कि साहित्य अपने वर्तमान समय के आचार-व्यवहार आदि का प्रतिबिम्ब होता है। दूसरा वर्तमान भाषाविज्ञान अपौरुषेय भाषा और ज्ञान की कल्पना ही करना नहीं चाहता। इसी से पाश्चात्य विचारक समझते हैं, कि यदि वेद आदि सृष्टि में उत्पन्न होते तो उनमें तात्कालिक व्यवहार होते, परन्तु इनमें पूर्व-पर आदि व्यवहार सिद्ध करते हैं कि ये बाद के उत्पन्न हुए हैं। परन्तु वेद में उपर्युक्त भाषाविज्ञानसम्बन्धी सिद्धान्त उपयुक्त नहीं होता— जो भी ईश्वरीय ज्ञान आदि सृष्टि में उत्पन्न होगा" वह भविष्य काल के लिये भी होना चाहिये, क्योंकि परमेश्वर पूर्ण है और उसका ज्ञान भी पूर्ण है। इसी बातको प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार कहा है—

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं

विप्रकृष्टमित्येवं जातियमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् । ”

अर्थात् वेद भूत भविष्यत् सूक्ष्म व्यवहित दूर सभी अर्थों का प्रकाश करता है।

इस लिए वेद में पूर्वज ऋषि, नई भाषा आदि का प्रयोग दोषावह नहीं। इति।

(५) पञ्चम युक्ति।

ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मन्त्रकृत् मन्त्रकार आदि शब्दों का प्रयोग भी इस में प्रमाण हैं, कि ऋषि मन्त्रों रचयिता हैं— यथा

(क) दक्षिण उदङ्मुखो मन्त्रकारः।
(मानव-गृह्य-सूत्र १-८-२)

(ख) देवा ह वै सर्वचरौ सतां निषेदुस्तेह पाप्मानं नाहपजज्ञिरे। तान्होवाचावुद्धिकां द्रवेयः सर्वे ऋषिर्मन्त्रकृत्। (ऐ० ब्रा० ९-१)

(ग) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः।
(पा० अ० ३-२-८९)

इस प्रकार पाणिनि ने भी मन्त्रकृत् शब्द बनाया है।

(घ) निरुक्त ३-२-५ में ” ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानभित्यौपमन्यवः ”

यहां कुत्स की निरुक्ति करते हुए लिखा है, कि वह स्तोम मन्त्रों का कर्ता था। इस में प्रतीत होता है ऋषि मन्त्रकर्ता होते थे।

आलोचना।

यहां स्तोम का अर्थ स्तुति है, जो स्तुति करे उसे वैदिक भाषा में कुत्स कहा जायगा। स्तोम का अर्थ स्तुति, स्वयं यास्कने की है।

‘ स्तोमः स्तवनात्। (नि० अ० ६)

(ङ) ‘.धातोः कर्मणः समान कर्तृकादिच्छायां वा ’ इस सूक्तके भाष्य में पतंजलि मुनिने लिखा है, “ ऋषिः पठति शृणोति ग्रावाणा इति ” इससे भी प्रतीत होता है, कि ऋषि मन्त्रकर्ता हैं।

आलोचना— पहिले तो पठन और कृति में अन्तर है। दूसरा यह ब्राह्मण-वचन के लिए भाष्यकारने लिखा है और ‘ वेद और ब्राह्मण ’ प्रकरण में हम सिद्ध कर आए हैं, कि ब्राह्मण वेद नहीं, वे पौरुषेय हैं, अपौरुषेय नहीं।

आलोचना।

जिन ग्रन्थों में मन्त्रकृत् शब्द है वहीं अन्यत्र यह भी बताया गया है, कि ऋषि मन्त्रद्रष्टा है। यथा—

(क) एतामृचमपश्यत्॥ (ऐ० ब्रा० २-१९)

(ख) गौरवीति एतत् सूक्तमपश्यत्।
(ऐ० ब्रा० ३-१९)

(ग) दृष्टं साम। (अष्टाध्यायी)

और अष्टाध्यायीके उपर्युक्त सूत्रसे केवल मन्त्रकृत् शब्द की सिद्धि होती है, यह नहीं सिद्ध होता, कि ऋषि मन्त्रकर्ता थे। मन्त्र का अर्थ ऊपर लिख आए हैं।

इत्यादि स्थलों में मन्त्रकृत् मन्त्रकार आदिका अर्थ मन्त्र रचयिता नहीं, जिस प्रकार स्वर्णकार-लोहकार आदि शब्दों का अर्थ सोने को बनानेवाला आदि नहीं होता। इसीलिये आज कल भी यज्ञ में मन्त्रकार को वर्णन करते हैं- यद्यपि वे मन्त्ररचयिता नहीं होते। ‘ मन्त्रकृत् ’ का अर्थ मन्त्ररचयिता नहीं, इससे सायण भी सहमत है। तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में सायण ने एक स्थानपर कहा है—

“ यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति तथाऽपि कल्पादावीश्वराऽनुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मन्त्रकृदित्युच्यन्ते ”

अर्थात् अपौरुषेय वेद के कर्ता नहीं हो सकते, तथापि मन्त्रकृत् का अभिप्राय कल्प के आदि में ईश्वरकृपा से वेदों की उपलब्धि करने करनेवाला है। एक स्थान पर अन्यत्र भी सायण ने लिखा है।

“ ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत् करोति धातुस्तत्र दर्शनाऽर्थः ”

अर्थात् अतीन्द्रियार्थद्रष्टा को ऋषि कहा जाता है।

ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं।

अबतक पाश्चात्य विचारकों की पांच युक्तियों का खण्डन किया गया। अब हम कुछ "ऋषि मन्त्र-कर्ता नहीं" इस स्वपक्ष की सिद्धि के लिये भी लिखेंगे।

(१) प्रथम युक्ति।

(क) सर्वानुक्रमणी आदि में जहां ऋषियों का संकेत है, वहां एक ही मन्त्र का एक ही ऋषि निर्दिष्ट नहीं। यदि ऋषि कर्ता होता तो एक ही ऋषि का कुल लेख होता, क्योंकि ऋषि एक ही होता है। उदाहरण के लिये साम ३०३ प्र० १९ मन्त्र का ऋषि- "असितः काश्यपो देवलो वा" है। २० मन्त्र का ऋषि "प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः अथर्वाऽग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वाऽन्यतरः" है। तात्पर्य यह है कि आवश्यक नहीं, कि एक मन्त्र का ऋषि एक ही हो।

(ख) इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण ९-१ में लिखा है—

"तान्वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथम-मपश्यत् तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत्"।

ऋ० ४-१९ सूक्त में कुल ग्यारह ऋचाएं हैं, इन्हें सम्पात कहते हैं। ब्राह्मण कहता है, इन्हें प्रथम विश्वामित्र ने देखा। इसके बाद वामदेव इनके द्रष्टा हुए। इस समय मुद्रित पुस्तकों में इन ग्यारह मन्त्रों का ऋषि वामदेव है, ऐसा लिखा रहता है।

इस से दो तात्पर्य निकलते हैं- (१) वामदेव ऋषि से पूर्व भी ये सम्पात मन्त्र विद्यमान थे, अतः वाम-देवादि ऋषि मन्त्रों के कर्ता नहीं।

(२) सर्वानुक्रमणि आदि में जो ऋषियों का उल्लेख है, वह पूर्ण नहीं।

द्वितीय युक्ति।

तैतिरीय संहिता ३।१।९, मैत्रायणी संहिता १।५।८ तथा ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में वैव-स्वत मनुके पुत्रोंकी कथा प्रायः एकसी ही आती है। जिसका सारांश यह है कि मनु के पुत्रोंने पिता की आज्ञानुरूप अपनी सम्पत्ति को बाँट लिया। उस बँटवारे के समय मनु का सबसे छोटा पुत्र नाभा-नेदिष्ठ गुरुकुल में रहने के कारण उपस्थित न हो सका। गुरुकुल से वापस आकर उस ने पिता से कहा कि मेरा हिस्सा मुझे मिलना चाहिये।

पिता तो सब कुछ पुत्रों में ही बांट चुका था, अतः मनुने अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को ऋग्वेद दशम मण्डल ६१ वाँ तथा ६२ वाँ सूक्त दिया और 'तेभ्यः इदं ब्राह्मणम्' यह ब्राह्मण दिया। इस कथा से तीन तात्पर्य प्रतीत होते हैं (१) ऋ० १०।६१ और १०।६२ सूक्तों पर जो नाभानेदिष्ठ ऋषि निर्दिष्ट है वह उनका कर्ता नहीं, अपि तु उस के पिता मनुने उसे वे दोनों सूक्त दिये हैं। अतः ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं।

(२) उपर्युक्त ग्रन्थों में सूक्तों का नाम 'तानेते सूक्तेऽपरेऽहनि शंसय" और ब्राह्मण का नाम 'तेभ्य इदं ब्राह्मणं' है। ये उपर्युक्त सूक्तों और ब्राह्मण के पारिभाषिक नाम हैं। सम्भवतः ऋषियों ने इसी प्रकार सब सूक्तों के पारिभाषिक नाम रख छोडे थे। इस से लिपिका भी अनुमान होता है।

(३) इस से यह भी प्रतीत होता है कि वेद वैवस्वत मनु के समय तक विद्यमान थे। हम वेदकी इयत्ता-प्रकरण में लिख आए हैं कि मनुष्यों-वेदों की उत्पत्ति वैवस्वत मनुमें हुई है। अतः वेद मनुष्यसृष्टि के साथ उत्पन्न हुए।

तृतीय युक्ति।

ऋषि वेदमन्त्रों के कर्ता नहीं अपितु जनता पर उस का भाव प्रकाशित करनेवाले हैं। हम को स्वयं वेद ही कह रहा है—

" यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दनृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा

अभिसंनवन्ते।

(ऋ० १०।६१।३)

अर्थात् सृष्टि के आदि में परम पिता परमात्मा ही मनुष्यों को वेद-वाणी को समझनेके योग्य बनाता है। तब वही प्रभु अपनी वेदवाणी को ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट करता है- प्रेरित करता है। तब उस वाणीको धारण करके-भले प्रकार से समझकर मनुष्य नाना प्रकारसे व्यवहार करते हैं। वेदवाणी और वेदभाषा जानकर ही मनुष्य सात स्वरों और सात विभक्तियों वाली वेदवाणी में संसार के सभी पदार्थों की स्तुति करते हैं अर्थात् परिचय प्राप्त करते तथा कराते हैं।

इस मन्त्र से निम्न तात्पर्य निकलाते हैं—

(१) परमात्मा ही मनुष्यों को इस योग्य बनाता है कि वह आदि सृष्टिमें वेदवाणी को समझ सकें।

(यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्) अर्थात् एक तो आदि सृष्टि अमैथुनी होती है। दूसरा आदिम मनुष्य उस अवस्था में पैदा किये जाते हैं जब कि वे वेद को समझने के योग्य हो अर्थात् युवा उत्पन्न होते हैं।

(२) उस वाणी को प्रभु ऋषियों में प्रविष्ट करता है।

(क) वाणी का प्रवेश हृदय और मस्तिष्क में ही हो सकता है। परमात्मा ने वेद को ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट किया, ऋषियों को समझाया नहीं; क्योंकि समझाने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस में समझने-वाले का भी ज्ञान शामिल होता है। जब वह किसी से समझकर किसीको समझाता है तब प्रथम समझाने-वाले का ज्ञान और भाषा अविकल-अक्षुण्ण-उसी रूप में ही नहीं होते। परन्तु वाणी के प्रवेश में वाणी का रूप अक्षुण्ण रहता है। जिस प्रकार हैप्नाटिज्म करनेवाला अपने ज्ञान और भाषाको दूसरे में प्रविष्ट करता है। इस से यह प्रतीत होता है कि मध्य-सृष्टि में जो महात्मा जनों को स्फूर्ति होती है वह ईश्वर-प्रविष्ट ज्ञान नहीं होता, अतः उसे ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहा जा सकता। (तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्)

(ख) इस मन्त्र के प्रथम और द्वितीय पादों का सम्मिलित अर्थ यह होगा कि जब आदि सृष्टि में मनुष्यों को ईश्वरीय भाषा की आवश्यकता होती है तबही आदि (ईश्वरीय) ज्ञान प्राप्त होता है।

(३) "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" ॥ आदि ज्ञान का रूप बहुत सूक्ष्म होता है जब ऋषि आदि-

(क) सृष्टि के मनुष्यों को वह समझा देते हैं तब उसे भले प्रकार समझ कर मनुष्य उसे विस्तृत करते हैं। क्योंकि एक नियम का क्रियात्मक रूप बहुधा होता है, वह नियम बहुत विस्तृत होता है।

" तामा भृत्या व्यदधुः पुरुत्रा "

अर्थ- उस वेद-वाणीको धारण करके-समझकर मनुष्य उसे विस्तृत करते हैं।

(ख)आदि ज्ञानके द्वारा मनुष्य मनुष्योचित सभी व्यवहार कर सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि मनुष्य का ज्ञान और भाषा नैमित्तिकही हैं, स्वाभाविक नहीं। यदि आदि सृष्टि में परमात्मा अपौरुषेय भाषा और अपौरुषेय ज्ञान न दे देता तो मनुष्य बहुधा सामाजिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि किसी भी प्रकार का व्यवहार न कर सकता।

' तामा भृत्या व्यदधुः पुरुत्रा "

वेदवाणी को पाकर-समझकर-ही मनुष्यों ने आगे नाना प्रकार के व्यवहार किए और कर सकता है, अन्यथा नहीं।

(४) सात स्वरोंवाली, सात प्रकार छन्दोंवाली वैदिक भाषा को और सात प्रकार विभक्तियोंवाले विभक्त्यर्थोंवाले वेदज्ञान को भी मनुष्य प्रभुद्वारा ही प्राप्त करते हैं। अर्थात् किसी भाषा में मुख्य स्वर सात ही अधिक से अधिक हो सकते हैं और सात विभक्त्यर्थों से भी अधिक नहीं हो सकते और ऐसी भाषा और ऐसा ज्ञान प्रभु आदि सृष्टि में देता है, अतः आदि भाषा और आदि ज्ञान क्रमिक विकास का परिणाम नहीं, अपौरुषेय है।

' सप्त रेभा अभि संवनन्ते'

परमात्मा के द्वारा ही मनुष्य सात स्वर विभक्ति-

वाली वेदवाणी से स्तुति करते हैं, संसार के पदार्थों को जानबूझ सकते हैं, बयान कर सकते हैं ।

तात्पर्य ।

यह है कि पाश्चात्यों का यह विचार कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता हैं, युक्तियुक्त नहीं ।

ऋषि दयानन्द का मन्तव्य।

ऊपर युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ऋषि मन्त्रों कर्ता— रचयिता नहीं । ऋषि दयानन्दने प्राचीन आचार्यों के सिद्धांतानुसार यह सिद्धांत किया है कि ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा हैं । अर्थात् मन्त्रों के ऊपर विश्वामित्र-वामदेव-वसिष्ठ आदि ऋषियों का जो उल्लेख है, वे सब उन उन मन्त्रोंके द्रष्टा थे अर्थात् सब से प्रथम उन्होंने उन मन्त्रों का अर्थज्ञान किया था। अतः उपकारद्योतनार्थ उनका नाम बाद के मनुष्योंने अथवा शिष्योंने लिख दिया । इसको हम द्रष्टृवाद कह सकते हैं। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण उपस्थित करते हैं।

तदेतत् पश्यनृषिर्वामदेवः । प्रतिपेदेऽहं मनुरभवम् सूर्यश्च । (श. प. ब्रा. १४ । ४ । २ । २२)

इत्यादि । इस में पश्यन् और ऋषि शब्द दोनों साथ ही हैं, जिस से प्रतीत होता है कि वाम-देव को ऋषि इसी लिये कहा गया है कि क्योंकि उसने मन्त्रों का साक्षात्कार किया ।

(२) तदेतदृषिः पश्यन्नुवाच । (ऐ० ब्रा० ९ । १)

(क) अर्थ-इसका साक्षात्कार करनेवाला ऋषि बोला।

(ख) एतामृचमपश्यत् । (ऐ० ब्रा० २ । १६)
उसने इस ऋचा को देखा।

(ग) गौरवीति एतत्सूक्तमपश्यत् । ऐ० ब्रा० ३ ।१९

(घ) एतत्कवयः सूक्तमपश्यत् । (ऐ० ३ । १९)

(ङ) एतां पदामपश्यत् । (ऐ० ब्रा० ४।१०)

इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थोंने सर्वत्र मन्त्रद्रष्टा को ही ऋषि माना है।

इसी प्रकार यास्क मुनि ने भी ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही माना है-यथा—

" ऋषिः दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । तद् यदेनांस्तपस्तप्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वायानर्षत् तदृषीणां ऋषित्वमिति विज्ञायते । (नि० २।३।२।)

अर्थात् मंत्रद्रष्टा को ऋषि कहते हैं; स्तोम-द्रष्टा को ऋषि कहते हैं, ऐसा औपमन्यव ऋषि का मत है। तपस्वी जिन मनुष्यों को स्वयम्भु, अपौरुषेय, ब्रह्म वेद प्राप्त हुआ, उन्हें ही ऋषि कहते हैं ।

आलोचना ।

ऊपर ऋषि दयानन्द के द्रष्टृवाद पर प्रकाश डालते हुए हमने प्राचीन आचार्यों के इस सम्बन्ध में प्रमाण उपस्थित किए हैं—हमारे विचार से भी ऋषि का अर्थ द्रष्टा ही है। परंतु हम द्रष्टृवादको उस रूप में नहीं मानते जिस रूप में ऋषि दयानन्द ने माना हैं ।

(१) ऋषि ने मुख्यतया उन्हें ही ऋषि माना है जिन्हें सबसे प्रथम वेदों का साक्षात्कार हुआ।

परन्तु ऊपर जो ब्राह्मणादि के वचन उद्धृत किये गए हैं उन से यह भाव व्यक्त नहीं होता। उनके सिद्धान्तानुसार तो जो भी मन्त्रद्रष्टा है, वह ऋषि है । वेद का गूढाशय समझनेवाले सभी ऋषि हैं । श० ब्रा० ४ । ३ । ४ । १९ में कहा है कि—

(क) ' यो वै ज्ञातोऽनूचाननः स ऋषिरार्षेयः । जो जानकार स्वाध्यायी विद्वान् है वही' ऋषि है।

(ख) एते वै विप्राः यदृषयः । (शतब्रा १।४।२।७)
विप्र ही- ब्राह्मण ही- ऋषि हैं।

हम नीचे कुछ ऐसे प्रमाण उद्धृत करते हैं जिन से ज्ञात होगा कि जिन का नाम मन्त्रोंपर लिखा है उन के अतिरिक्त अन्य योग्य विद्वान् पुरुषों को भी ऋषि कहा जाता है ।

महाभारत मोक्षधर्मपर्व ३४२ अ० ६९, ७०, ७१ में
शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत्।
तेनाऽविष्टं तु यत्किञ्चित् शिपिविष्टेति च स्मृतः।
यास्को मामृषिरव्यग्रोऽनेकयज्ञेषु गीतवान्। शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरोह्यहम्। स्तुत्वा यां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः। यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ।

यहां यास्क को ऋषि कहा गया है।

(२) (महाभाष्य में १।३।१०।) न तावद् नृषिः कश्चित् स्मर्यते कल्पसूत्रकृत्। कर्तृत्वं यद्दषीणां तु तत् सर्वं मन्त्रकृत्' कहा है, कि सभी कल्पसूत्रकृत् ऋषि हैं।

(३) अन्यत्र' गोत्रावपवात्' ४।१।७९ सूत्र की व्याख्या के भाष्य में लिखा है—

'अष्टाशीति सहस्राणि ऊर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुः' अठासी हजार ८८००० ऊर्ध्वरेता ऋषि थे। ऐसा तभी सम्भव है, जब कि ऋषि का अर्थ व्यापक किया जाए।

(४) श्वेताश्वेतरोपनिषत्। ५। २। ९। १३

(क) 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैबिभर्ति' में कपिल को ऋषि कहा है।

(ख) यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम्। स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयतीति स्वयम्।

यहां कपिल को महर्षि कहा है। इस का एक प्रकार से समाधान किया जाता है। श्रीसत्यव्रत सामश्रमी ने यास्क ऋषि नहीं, मुनि था। इस का प्रतिपादन करते हुए यह माना है, कि—ऋषिपद के तीन अर्थ है। मुख्य अतिदेशिक और तार्तीयीक। इस प्रकार वे कहते हैं, कि मुख्य ऋषि उन्हें ही कहना चाहिये, जिन्हों ने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया है और जिन्हें ऋषि कहा गया है, वह गौण प्रयोग है। हम नहीं समझते कि वेदोंके साक्षात्कारका क्या अर्थ है-यदि जैसा कि हम समझते हैं, कि मन्त्र के गूढार्थ को समझना ही है, तो ऐसा साक्षात्कार समय समय पर सभी कर सकते हैं, अतः वे ही मनुष्य ऋषि नहीं होने चाहिये, जो मन्त्रों के ऊपर निर्दिष्ट रहते हैं। दूसरी बात ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार तथा श्री सामश्रमी के कथनानुसार यास्क ऋषि मुनि नहीं हैं। परन्तु स्वयं यास्क ने अपने को ऋषि कहा है। यथा- "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्ष्यति"। (ऋग्वेद)। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने—

"अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवेतरैः स देवानिहावहत्विति" अर्थात् जिस अग्नि की पूर्व ऋषि वन्दना करते हैं और हमारे जैसे नवीन ऋषि भी जिसकी स्तुति करते हैं, वह देवों को यहां धारण करें। इस प्रकार यास्क ने अपने को ऋषि कहा है।

(५) वेद ने स्वयं कहा है कि ऋषि हजारों हैं, अनेक हैं। (ऋ० ८। ३। ४)

(क) अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृता समुद्र इव प्रपथे यहां ऋषियों को सहस्र-अनेक-कहा गया हैं। (ऋ० १।१८९।८)

(ख) वयं सहस्रऋषिभिः सनेम विद्यामेषं वृजानं जीरदानुम्।

(ग) भूरिभिः समह ऋषिभिर्बर्हिष्मद्भिः स्तविष्यसे (ऋ० ८। ७०। १४)

यहां ऋषियों को भूरि बहुत कहा गया है।

(घ) पयः सहस्रसामृषिम् (ऋ ९।५४।१)

(ङ) अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे (अथर्व० २०।१०४।२)

क्या ऋषि आस्तिक ही होते हैं?

ऋषि दयानन्द ने ऋषि की व्याख्या करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रश्नोत्तर प्रकरण में लिखा है, कि "यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितम्" इस से प्रतीत होता है, कि ईश्वरभक्त ही ऋषि हो सकता है। परन्तु स्वयं वेद ही इसका खण्डन कर देता है।

"ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः।" (अथर्ववेद० २०।११५। ३)

अर्थात् जो ऋषि तेरी स्तुति करते हैं और जो नहीं करते। इस प्रकार नास्तिक भी ऋषि हैं, ऐसा वेद को अभिमत है। और वास्तव में वेद मन्त्रों के गूढाशय को समझने के लिए ईश्वरभक्ति कोई कारण ही नहीं। उस की योग्यता एक नास्तिक में भी हो सकती है।

क्या ऋषि ब्राह्मण ही हो सकता है?

वेदों के ऋषि ब्राह्मण और संन्यासीही नहीं होते इस को स्वयं वेद स्पष्ट करता है।

अथर्व० ४।२३।२ में—

(क) " ये न ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः " यहां कहा है कि ऋषि असुरों की माया का नाश भी करते हैं।

(ख) ऋषि शान्त ही नहीं घोर भी होते हैं- यथा- अथर्व०२।३५।४में 'घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यः' यहां ऋषियों को घोर भी कहा गया है।

ऋषि होने की प्रार्थना।

वेद में परमात्मा से प्रार्थना की गई है, कि मैं भी अनेकों में एक ऋषि बनूं। यथा ऋ० ९ । १० । ११ में 'नव्ययायुः प्र सू तिर कृधि सहस्रसामृषिम् ।' अर्थात् प्रभो! मुझे नया जीवन दो। मैं भी एक ऋषि बनूं।

ऋषि बनना भी इच्छापर है।

मनुष्य चाहे तो ऋषि हो सकता है। स्वयं वेद कहता है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।

(ऋ० १० । १२५ । ५)

तात्पर्य यह है कि ऋषि का अर्थ संकुचित नहीं- बहुत व्यापक है। वेद का अर्थ जाननेके लिए ऋषि होना आवश्यक है, ऐसा यास्क ऋषिका सिद्धान्त है! तथा हि नि० परिशिष्ट २।१२ में यास्क लिखते हैं-

'अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽपि श्रुततोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात् ॥

अर्थात् मन्त्रार्थ को श्रवण और मनन दोनों से जानना चाहिए। पृथक्शः मन्त्रों का अर्थ करना उचित नहीं। प्रकरणपर्यालोचनापूर्वक मन्त्रों का अर्थ करना चाहिए। मन्त्रों को प्रत्यक्ष वह नहीं कर सकता, जो ऋषि नहीं अथवा तपस्वी नहीं। इनमें भी अधिक विज्ञ पुरुष अधिक प्रशस्य होता है।

इस प्रकार जो भी वेद का स्वाध्याय करे, उसके लिये आवश्यक है, कि वह ऋषि और तपस्वी हो। दूसरी ओर वेद ने स्वयं कहा है कि वेद का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ सभी को है। तात्पर्य यह हुआ कि सभी मानवमात्र ऋषि हैं, ऐसा वेद और प्राचीन आचार्यों को संमत है। और वह इस प्रकार कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। विद्या आध्यात्मिक, सामाजिक राजनैतिक, वैयक्तिक कई प्रकारोंकी होती है और ये सब विद्याएं वेदमें विद्यमान हैं। भिन्न भिन्न विद्याओं के दर्शनाऽधिकारी ऋषिओंका उनपर उल्लेख है, जो किसी व्यक्तिविशेषके लिये ही नियत नहीं, जो उन उन गुणों को धारण करें, जो उस नाम से प्रतीत होते हैं, वह उस उस विद्याका ऋषि होगा। इस प्रकार रुचिभेद से कार्यभेद, बुद्धिभेद आदि से सभी मनुष्य कोई न कोई ऋषि ही होकर रह सकते हैं। मनुष्य का जीवन किसी प्रकार की विद्या के बिना निष्फल है। अतः प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी विद्या का ऋषि साक्षात्कर्ता अवश्य होना चाहिये। यही ऋषियों का तत्व है। हमारा ऐसा विचार है।

तृतीय विचार।

हम यह मानते हैं, कि ऋषि द्रष्टा होते हैं, कर्ता नहीं। परन्तु जिन ऋषियों का उल्लेख मन्त्रों में अथवा ऊपर है, वे व्यक्तिविशेष नहीं। उस गुणकर्मादि को धारण करके सभी मनुष्य उस ऋषि के नाम से कहे जा सकते हैं। ये व्यक्तिविशेष के नाम नहीं, ऐसा मानने में कुछ कारण हैं।

(१) जिन्हों ने सर्वप्रथम वेदों का साक्षात्कार किया, उनका नाम उनपर लिख दिया गया है। ऐसी प्रथा नवीन है, प्राचीन नहीं। प्राचीन ऋषि अथवा उनके शिष्य, नामनिर्देश की इस प्रथा के विरोधी थे, यही कारण है। प्राचीन पुस्तकों के कर्ताओं का नाम जाननेमें भी कई कठिनाइयां होती हैं।

(२) प्रायः जिन ऋषियों का नाम ऊनपर लिखा रहता है, उनका नाम मन्त्रों में भी आ जाता है। मन्त्रों के विश्वामित्रादि पदों का अर्थ यदि यौगिक किया जाता है, तो ऊनपर आए उन्हीं पदों का भी अर्थ यौगिक ही करना चाहिये।

(३) वेद के ऋषियों में एक नाम विश्वामित्र भी है। यदि यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम हो, तो यह नामकरण भी अशुद्ध होगा। व्याकरण की रीति से उसका नाम विश्वमित्र होना चाहिये। क्योंकि विश्व के अकार को दीर्घ करनेवाला सूत्र 'मित्रे चर्षौ,' वेद में ही करता है। यौगिक मानने में यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि उस दशा में तो यह पद वेद-मंत्र का उद्धरण मात्र ही होगा।

(४) वेद के बहुतेरे मन्त्रों के ऋषियों का विकल्प भी सर्वानुक्रमणी आदि ग्रंथों में लिखा है। अर्थात् अमुक ऋषि अथवा अमुक ऋषि यह सन्दिग्धता ऋषियों के नाम रूढिवाद में संगत नहीं हो सकती। क्योंकि किसी मंत्र का सर्व प्रथम द्रष्टा एक ही होगा, बहुत नहीं। यौगिक वाद में तो योग्यताभेद इसका कारण है, ऐसा कहा जा सकता है। अर्थात् एकही विषय को दो भिन्न दृष्टियों से भी देखा जा सकता है।

(५) कहीं कहीं एक ही मन्त्र के एक सौ ऋषि भी लिखे रहते हैं-यथा ऋ० ९।६६ सूक्त के एक सौ ऋषि हैं। द्रष्टृवाद और कर्तृवाद दोनों में यह संगत नहीं हो सकता।

यौगिकवाद और योग्यतावाद में तो कहा जा सकता है, कि किसी विषय का साक्षात्कार सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है, ऐसा तात्पर्य है।

(६) द्रष्टृवादमें यदि व्यक्तिविशेष ऋषिमन्त्रों के द्रष्टा हैं तो प्रकरण का एक ही ऋषि होना चाहिये। परन्तु ऐसा ही नहीं। गायत्रीमंत्र का, जो मन्त्र यजुर्वेद अ० ३६ मं० ३ में आता है, ऋषि विश्वामित्र है।

यह मन्त्र इस अध्याय का तीसरा मन्त्र है। प्रथम और द्वितीय तथा चतुर्थ मन्त्र का ऋषि तो दध्यङ्ङाथर्वण है। केवल इसी मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है।

रूढ द्रष्टृवाद में इसका कोई विशेष तात्पर्य नहीं, परन्तु योग्यतावाद में इसका तात्पर्य है। इसका स्पष्टीकरण दूसरे भाग में इस मन्त्र की व्याख्या करते समय करेंगे।

(७) भिन्न भिन्न वेदों में तथा एकही वेद में भी प्रकारान्तर में एकही मन्त्र का देवता भी एक होता है, परन्तु ऋषि भिन्न होता है। उस स्थल पर यौगिक पक्ष तथा योग्यतावाद से मन्त्र का विशिष्ट अर्थ ज्ञात हो सकता है और इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार ऋषि भी अर्थ करने में सहायक हो सकते हैं। रूढ द्रष्टृवाद पक्ष में तो ऋषिका कोई अर्थ नहीं अर्थात् वह मन्त्रार्थ में तो किसी भी प्रकार सहायक नहीं। अतः अनर्थक है।

(८) कहीं कहीं देवता और ऋषियों के नाम समान होते हैं। तथा ऋ० १०।१५९ सूक्तका ऋषि शची पौलोमी है और देवता भी शची पौलोमी है। ऋ० १०।१२३ सूक्तका ऋषि वेन है और देवता भी वेन है। ऋ० १०।४८ सूक्तका ऋषि इन्द्रो वैकुंठः है और देवता भी इन्द्रो वैकुंठः है। रूढ द्रष्टृवाद में ऋषि शची पौलोमी अर्थ तो व्यक्तिविशेष करना होगा और देवता शची पौलोमी का अर्थ यौगिक वाद के आश्रय से करना होगा, जो कल्पनामात्र है। कुछ लोगों का विचार है, कि ऋषिलोग सम्भवतः अपने नाम के साथ उपाधि लगाते होंगे, जो देवता के नाम से मिलती जुलती होगी। परन्तु ऐसा समझना भी प्राचीन प्रणाली के विरुद्ध है। और इस प्रकार ऋषियों के नामोल्लेख का जो प्रयोजन बताया जाता है, स्मरण आदि, वह भी सिद्ध न होगा।

ऋषि का स्वरूप और वेद।

अब देखना है, कि वेद स्वयं ऋषिका क्या लक्षण करता है।

(१) " प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम्।
ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः ॥१॥
(ऋ० १०।२६।५)

इस मन्त्र में ऋषि का यह लक्षण किया गया है, कि (ऋषिः सः यः) ऋषि वह है जो (मनुर्हितः) मानवसमाज के हितार्थ किसी आवश्यक विद्या का साक्षात्कार करता है। क्योंकि प्राचीन आर्यों की वर्णाश्रमव्यवस्था मनुष्य-समाज की दृष्टि से ही स्थापित हुई थी।

(२) ये चित् पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः
ऋषीन् तपस्वतो ताँश्चिदेवादपि गच्छतात्।
(अथर्व०)

जो ऋतसाताः-सत्याऽन्वेषण में तत्पर हैं, ऋतजाताः जो सत्य के मानो पुत्र हैं। ऋतावृधः सत्यवृद्धि करने वाले हैं, वे ऋषि हैं।

इस प्रकार ऋषि और आप्त पर्यायशब्द हैं- आप्त शब्द की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन मुनिने लिखा है- "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा भूतस्याऽर्थस्य चिख्यापयिषया प्रवृत्तः" अर्थात् जिसने किसी पदार्थ के धर्म को-स्वरूप को साक्षात्कर लिया है और जैसा उसने समझा है-वैसा ही दूसरों पर भी प्रकट करता है। इसी बात को वेद ने कहा-जो सत्यान्वेषणमें तत्पर है-जो सत्य का पुत्र है-अर्थात् सत्य की प्रतिमा है-तथा सत्य की ही वृद्धि करना चाहता है और करता है- अर्थात् दूसरोंपर भी यथादृष्ट सत्य का ही प्रकाश करता है, वह ऋषि है। इस प्रकार के आप्त, आवश्यक नहीं कि ब्राह्मण ही हों। इसी को वात्स्यायन मुनिने लिखा है- 'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्' अर्थात् स्वभावतः उच्च नीच-साधारण सभी मनुष्यों में यह बात सम्भव है। अर्थात् सभी मनुष्य आप्त हो सकते हैं।

इसलिए भी मनुष्यमात्र ऋषि हैं कि- क्योंकि किसी गूढ तत्त्व के दर्शनकी योग्यता सभी में होती है। जिस प्रकार सभी बीजोंमें वृक्ष होने की योग्यता होती है, अथवा जिस प्रकार सभी मनुष्यों में मनुष्य होने की योग्यता होती है। परन्तु मनुष्य भी-मननशील भी-सभी नहीं होते। अथवा जिस प्रकार सभी मनुष्यों में कुछ न कुछ मनन करने की शक्ति सभी में होती है। चाहे वह किसी सम्बन्ध में क्यों न हो। इसी प्रकार ऋषित्वकी संसार के देवता, किसी पदार्थ-विशेष की साक्षात्करणशक्ति भी सभी में है। जङ्गली से जङ्गली भी पुरुष किसी पदार्थ के सम्बन्ध में इतना अच्छा जानता होगा, जितना एक सभ्यातिसभ्य पुरुष भी न जानता हो।

ऋषित्वके लिये भाषाविशेष आवश्यक नहीं।

यः पूर्व्याभिरुत नूतनाभिर्गीर्भिर्वावृधे गृण-
तामृषीणाम् ॥ (ऋ० ९।४३।१३)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है।

यदि इन्द्रका अर्थ आध्यात्मिक अथवा आधि-भौतिक किया जाए, मन्त्रका अर्थ यह होगा- जिस इन्द्रदेवता विषयकी प्राचीन अथवा नवीन भाषाओंमें स्तुति करनेवाले ऋषियों के विवेचन से वृद्धि होती ही है अर्थात् स्पष्टीकरण होता है।

ऋषि शब्दका मनुष्यविशेषपरक अर्थ।

उपर कहा गया है कि मनुष्यमात्र ऋषि हैं। इसी लिए वेद में भी जहां कहीं ऋषि शब्द अथवा वसिष्ठादि शब्द हैं, उसका भी अर्थ प्रायः मनुष्य-मात्र है। हां वहां विशिष्ट गुणवत्ता की विवक्षा है।

वेदमें ऋषि शब्द के मनुष्यविशेषपरक अर्थ किए गए हैं। यथा-

व्यवस्थापक।

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ।
(ऋ० १।२३।२४)

इस मन्त्रमें ऋषि शब्दका अर्थ व्यवस्थापक वर्ग है, जिसको अङ्ग्रेजी भाषामें लेजिस्लेचर भी कहते हैं। इत्यादि—

ऋषि और मुनि।

ऋषि और मुनिमें अन्तर है। किसी विषय का साक्षात्कार करनेवाले को ऋषि और मनन मात्र करनेवालेको मुनि कहते हैं। अर्थात् श्रवण करने के अनन्तर जो मनन मात्र तक रह जाता है और उसका साक्षात्कार नहीं करता हैं, वह मुनि कहलाता है, मनुष्यमात्र ऋषि और मुनि दोनों है। मनुष्य अल्पज्ञ है, वह सभी पदार्थों का साक्षात्कार नहीं कर सकता, मनन भी सबका नहीं कर सकता है।

अतः मनुष्य किसी देवता का, पदार्थ का मुनि और किसी का ऋषि तथा किसी का कुछ भी नहीं। इसी बात को मनुने लिखा है।

श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ।

जो श्रुति का प्रत्यक्ष करते हैं, वे आप्त हैं, अर्थात् ऋषि ।

निरुक्तकार और ऋषि।

निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति 'ऋषिर्दर्शनात्' की है, अर्थात् जो तत्त्वदर्शी है, वही ऋषि है। सातवें अध्यायमें देवताका अर्थ बताते यास्काचार्य ने उपर्युक्त योग्यतावाद को भी ध्वनित किया है-

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति।'

यहां यास्कने ऋषि और देवता इनका पृथक् पृथक् विश्लेषण किया है। मन्त्र में जिस विषयकी स्तुति है, निरूपण है, वह उसका देवता है। और जो मनुष्य जिस कामना से उस देवता का अर्थपति, अर्थनिरूपण के कारण स्वामी बनना चाहता है, वह उस मन्त्र का ऋषि है।

कोई मनुष्य उसी विषयका अर्थपति बनना चाहता है- निरूपण करना चाहता है, जिसमें उस का प्रवेश होता है। काम ही मनुष्यका स्वरूप है। 'यत्कामयते तदभिसम्पद्येत्।'

तात्पर्य यह है कि मन्त्र के देवता को, प्रतिपाद्यार्थको देखनेकी योग्यता जिसमें है, वही उस मन्त्रका ऋषि है।

इस से यह भी ध्वनित होता है, कि मन्त्रोंके ऊपर जिन ऋषियोंका निर्देश है, वे भी योग्यतानिर्देशार्थ हैं और रूढ नहीं, यौगिक हैं।

तात्पर्यार्थ।

यह है कि साधारणतया सभी मनुष्यों को ऋषि कहा जाता है। परन्तु विशेष रूपसे जो मनुष्यों में अधिक तत्त्वदर्शी विद्वान् है, वह ऋषिपद का वाच्यार्थ है। इसी बात को वेदने भी स्वीकार किया है। यथा-

(क) तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।
(ऋ० १०।१०७।६)

जो दक्षिण में उपदेशादि के दानमें प्रथम है, वही ऋषि है, ऐसा यहां कहा है।

(ख) ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा'
(ऋ० ८।६।४१)

इसमें अधिक बलवान् पराक्रमी एकमात्र शासक डिक्टेटर को ऋषि कहा गया है।

(ग) ऋ० ८।७९।१ में कवि विप्रको ऋषि कहा गया है-

'...ऋषिः विप्रः काव्येन ।' (ऋ०८।७२।१)

(घ) ऋ० ९।३५।४ में शस्त्रास्त्रविद्याविशारद पुरुषको ऋषि कहा गया है।

(ङ) ऋ० ९।८७।३ में धीर विद्वान्-ऋषि-ब्राह्मणको ऋषि कहा गया है।

(च) ऋ० ९।९६।६ में ब्राह्मणों में सर्वोत्तम ब्राह्मण को ऋषि कहा गया है।

(छ) ऋ० ९।१०७।७ में शांत स्वभाव-अधिक व्याख्याता, ब्राह्मण, विचक्षण पुरुषको ऋषि कहा गया है।

(ज) मदरहित पुरुष ऋषि है। (ऋ० १०।२३।७)

(झ) जलविज्ञान का उत्कृष्ट वेत्ता पुरुष ऋषि है। (ऋ० १०।३०।१०)

(ञ) ऋ० १०।६२।४-५
देवपुत्र ऋषि हैं। नाना रूपोंवाले, गम्भीर शरीरवाले तेजस्वी पुरुष ऋषि हैं।

(ट) ऋ० ८।६७।३१-३२ में ऋषि को सरस और सहृदय होना चाहिए। आदि

ऋषिके गुण।

ऊपर के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि ऋषिमें मनुष्यों से विशेषता है। अर्थात् यद्यपि सभी मनुष्यों को साधारणतया ऋषि कहना चाहिए, परन्तु जिन मनुष्योंमें उपर्युक्त गुण होते हैं, उन्हें ही विशेषतया ऋषि कहा जाता है।

वे गुण तेजस्विता, विद्वत्ता, सूक्ष्मदर्शिता, सहृदयता, अन्वेषकता आदि हैं। इन्हीं गुणोंसे विशेष व्यक्तियों को ही ऋषि कहा जाता है। वेद के ऋषियों में भी ये गुण आवश्यक हैं।

ऋषिविशेष।

मन्त्रोंमें अथवा जिन वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि ऋषियों का उल्लेख है, वे भी किसी व्यक्तिविशेष के नाम नहीं। यौगिक होनेसे सभी मनुष्यों के विशेषण हो सकते हैं। अर्थात् सभी मनुष्य वसिष्ठ-विश्वामित्र-वामदेव हो सकते हैं और वसिष्ठ हो कर ही वसिष्ठ ऋषिवाले मन्त्रों के दर्शन का अधिकारी हो सकते हैं। परन्तु विशेष ऋषि बननेसे पूर्व सामान्य ऋषि बनना आवश्यक है। वेद में जो ऋषि आए हैं, उनका पूरा अर्थ लिखने के लिए ही बहुत स्थान की आवश्यकता है। संक्षेपसे दिग्दर्शनार्थ कुछ ऋषियोंका अर्थ लिखता हूं विश्वामित्र-

विश्वामित्रः सर्वमित्रः, (निरुक्त) जो संसारका दोस्त है, दुश्मन नहीं, वह ही विश्वामित्र है।

अगस्त्य- अग अर्थात् अगम्य दुर्गम विषय ज्ञान आदि में जो बढता है, वह अगस्त्य है। अर्थात् जिस विषयको साधारणतया कोई छूना भी नहीं चाहता, उस विषयमें 'अगस्त्य' को आनन्द मिलता है। आजकल जो व्यक्ति दुर्गम हिमालयकी चोटियोंका पता लगाने के लिए जीवनकी बाजी लगा कर चलते हैं, वे अगस्त्य ही हैं।

पराशर- जो हिंसा और हिंसा के साधनोंसे परे है, इनको छोड चुका है, ऐसा व्यक्ति वेद के शब्दोंमें शक्तिपुत्र है, क्योंकि अहिंसा है ही बलवान् का और निर्भीकका शस्त्र। जो जितना शक्तिसम्पन्न है, वह उतना अहिंसा का महत्व समझ सकता और अहिंसक बन सकता है।

मनुष्यसे भिन्न ऋषि।

ऊपर बताया गया है कि वेदमें साधारणतया सभी मनुष्यों को ऋषि कहा गया है, परन्तु उनमें भी जो विशिष्ट पुरुष हैं उन्हें ही ऋषि कहा जाता है। कहीं कहीं वेद में तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्येतर सूर्यादिक को भी ऋषि कहा जाता है। यथा

(क) सूर्य।

'तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किञ्चेदं विरोचते। रोहितेन ऋषिणा भृतम् ।'
(अथर्ववेद १३।१।५५)

(ख) तर्क।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्।

(निरुक्त परिशिष्ट अ० १३)

मनुष्योंने ऋषियोंको जाते देखकर देवोंको पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? देवोंने उन्हें बताया कि तुम्हारा ऋषि तर्क होगा।

(ग) प्राण।

प्राण वा व ऋषयः। (शतपथ ब्राह्मण)

अर्थात् प्राणही ऋषि हैं। परन्तु वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। ऋषि शब्द भी दृश् धातु से बना है। जिसका अर्थ देखना साक्षात् करना है। मुख्य रूपसे दर्शन। प्राण-सूर्य और तर्क आदिमें नहीं हो सकता। अतः ऋषि शब्दके ये सब वाच्यार्थ नहीं हो सकते। अर्थात् अभिधा शक्तिसे यह शब्द उनका बोध नहीं करा सकता। अतः ऋषि शब्दका लक्ष्यार्थ हो सकता है। अर्थात् तर्क ऋषिका अर्थ है अधिक तार्किक पुरुषरूप ऋषि। तार्किक को ही ऋषि कहा जा सकता था। परन्तु तर्क को ही ऋषि ऐसा कहने में विशेष प्रयोजन है। अर्थात् अधिक तार्किक। इसी को अलङ्कारशास्त्र में लक्षणामूल व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याप्यते सा स्यात् व्यञ्जना लक्षणाश्रया॥

(साहित्य दर्पण)

अर्थ- जिस प्रयोजन से लक्षणका आश्रय किया जाता है, वह प्रयोजन जिससे प्रतीत हो, उसे लक्षणमूला व्यञ्जना कहते हैं। यहां भी तर्क-ऋषि के स्थानपर तार्किक को ऋषि कहा जा सकता। परन्तु तर्कको ऋषि कहनेका यही अभिप्राय है, कि अधिक तार्किक।

तात्पर्य यह है कि ऋषि का मुख्यार्थ पुरुषों में और उन में भी विचक्षण। पुरुषों में सम्भव है, परंतु जहां कहीं जड पदार्थों को ऋषि कहा गया है, वहां लक्षणवृत्ति का आश्रयण करना चाहिये।

समन्वय।

ऊपर हमने ऋषि दयानन्द के और अपने विचार प्रकट किए हैं। हमारे विचार से ये दोनों विचार ऋषि के सम्बन्ध में प्राचीन काल से चले आते हैं।

निरुक्तकार यास्क ने अपने ग्रन्थ में इस का निर्देश किया है। 'ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः' अर्थात् यास्क के मत से जो द्रष्टा है, आविष्कर्ता है, सूक्ष्मदर्शी, तत्त्वदर्शी है, वह ऋषि है। परन्तु औपमन्यव आचार्यके मतसे ऋषि वह है, जो मन्त्रों का द्रष्टा है। वेदमन्त्रों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम हैं, वे नाम भी यौगिक हैं, हमारा ऐसा विचार है। यास्क ने वेद के सभी पदोंको यौगिक माना है। "सर्वाणि नामानि धातुजानि" ऋषि दयानन्द भी वेदों में आए हुए विश्वामित्रादि शब्दोंका अर्थ यौगिक ही करते हैं। हमारे विचार में वेदों में आए उन्हीं पदों को यौगिक और ऊपर लिखे उन्हीं पदों को रूढ मानना द्वैध नीति है।

सैषा महतो वंशस्तम्भाल्लद्वानुकृष्यते।

ऋषियों के ये नाम यौगिक हैं। यास्क का भी ऐसा मन्तव्य है, यह निम्न वचनों से ध्वनित होता है-

(क) ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षम्। (नि० अ० ९।१।८)

अर्थात् ऋ० १०।३४ सूक्त का ऋषि अक्षों से जुए से परिद्यून दुःखी पुरुष है। क्योंकि इस में जुआ खेलने की निन्दा की गई है। यदि ऋषियों के नाम यौगिक हैं, तो अक्षपरिद्यूनको ऋषि कहने की आवश्यकता नहीं। हमारे विचार से तो इस सूक्त को यदि ऐसा परोपकारी पुरुष देखे, जो जुआ के दोषों से भले प्रकार परिचित हो और लोगों को इस से बचाना चाहता हो, तो वेद का सच्चा आशय

समझा समझाया जा सकता है। इस से प्रतीत होता है कि यास्क की दृष्टिमें ऋषियोंका अर्थ योग्यतावादके उपर्युक्त सिद्धान्तपर ही करना चाहिये।

(ख) मत्स्यानां जालमभ्यन्नामेतदार्षम् ।

(नि० ६।५।४ इत्यादि)

(ग) ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता सोमानां॥

(नि० ३।२।५)

यहां ऋषि कुत्स का निर्वचन किया है। यदि कुत्स किसी व्यक्तिविशेष का ही नाम होता, तो निर्वचन व्यर्थ है। अतः प्रतीत होता है, यास्क को भी यौगिक-वाद ही अभिप्रेत है।

(घ) विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव विश्वामित्रः सर्वमित्रः सर्वं संसृतम् इत्यादि (नि० २।७।२)

यहां विश्वामित्र ऋषि के नाम की निरुक्ति की गई है। इसी प्रकार अन्य ऋषियों के नामोंका भी यास्क ने प्रसङ्गानुसार निर्वचन किया है, अतः ज्ञात होता है कि यास्क इन सब नामों को यौगिक ही मानते हैं।

यौगिक वादमें लाभ।

ऋषियों के नामों को यौगिक तथा उपर्युक्त योग्यतावाद के सिद्धान्तानुसार मानने से निम्न लाभ होंगे-

(१) वेदमन्त्रों में आनेवाले ऋषियों के नामों से इतिहास नहीं निकाला जा सकेगा, जैसा कि व्यर्थ परिश्रम पाश्चात्य विद्वान् करते हैं।

(२) वेद के अर्थ करनेमें सहायता होगी। प्राचीन आचार्य भी इस बात को मानते थे, कि ऋषिज्ञान वेदार्थ करने में सहायक है, जैसा कि इसी प्रकरण के प्रथम में ही "यो ह वा अविदितार्षेय' इत्यादि उद्धरण से प्रतीत होता है।

(३) सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ऋषियों के नामों से जो अर्थ निकलता है, उस का देवता के अर्थ का कुछ सामंजस्य प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये—

(क) ऋ० १०।२३ सूक्त का देवता मन्यु है। मन्यु शब्द का अर्थ स्वाभिमान अथवा उचित क्रोध है। और इस सूक्त का ऋषि मन्युस्तापसः है। अर्थात् तपोजन्य क्रोध। पूर्वोक्त प्रकारसे इसका अर्थ यह होगा, कि जिस पुरुषमें तपोजन्य क्रोध विशेष है, अर्थात् जो आवेशपूर्वक क्रोध नहीं करता, वही इस सूक्त का ऋषि, इस के देखने का अधिकारी है।

(ख) ऋ० १०।९० सूक्त पुरुषसूक्त है-

इस का देवता पुरुष है- जिस का अर्थ सर्व-व्यापक परमात्मा है। इस सूक्त का ऋषि नारायण है। जिस का भाव मनुष्यमात्र का सेवक है। पुरुषसूक्त में भी प्रभु के विराट्रूप का वर्णन है। इस प्रकार देवता और ऋषि में कितना सामञ्जस्य है।

(४) वेदमन्त्रों का अर्थ देवतामात्र से नहीं हो सकता, क्योंकि वेद में एक ही देवता के अनेकों मन्त्र आए हैं। इस प्रकार सब जगह वही अर्थ करनेसे पुनरुक्ति हो जाएगी। यही कारण है, वर्तमान वेदभाष्यों में नवीनता रोचकता नहीं। यदि ऋषि का अर्थ उपर्युक्त प्रकारसे किया जाए तो देवता का भी भिन्न भिन्न अर्थ करके वेदमन्त्रों का यथार्थ अर्थ किया जा सकता है। यथा उदाहरण के लिए अग्नि देवतावाले मन्त्र वेद में बहुत हैं-

ऋ० १।१ सूक्त भी अग्निदेवताका है और ऋ० १।७७।८८।७२। सूक्त भी अग्निदेवताक ही हैं। यदि केवल देवता से ही मन्त्रों का अर्थ निश्चय होता हो, तो इत्यादि स्थलों पर पुनरुक्ति होगी। परन्तु हमारे विचार से ऋषिभेद से देवता का भी अर्थभेद किया जाने से अर्थभेद हो सकता है और इस प्रकार पुनरुक्तिदोष की निवृत्ति हो सकती है। यहां भी ऋ० १।१ सूक्त का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिस का अर्थ मुक्तभोग, विरक्त भक्त है। अतः अग्निका अर्थ भी परमात्मा होगा।

परन्तु ऋ० १।७७ आदि सूक्तों का ऋषि गोतम राहूगणः है, जिस का अर्थ जितेन्द्रिय क्रान्ति-कारियों का समुदाय है। जितेन्द्रिय कहनेसे डाकू-

चोर आदि की निवृत्ति हो जाती है। इस ऋषि से अग्निदेवता का अर्थ क्रान्तिकारी, विप्लवी सैनिकों का नेता लीडर अग्रगामी होगा। इसी प्रकरण में ऋषि तो ७७ सूक्त से ९३ सूक्त तक ऋषि गोतमो राहूगणः ही है। देवता भिन्न है- अग्नि इन्द्रः मरुतः विश्वे देवाः सोम उषा अग्नीषोमौ हैं। इन का भी अर्थ इस ऋषि के कारण क्रमशः नेता सेनापति साधारण जनता सर्वतन्त्र शान्त नायक सुख प्रभात, तेज क्षमा होगा। इसकी विस्तृत विवेचना द्वितीय भाग में करेंगे।

पौराणिक वाद पर प्रश्न।

इस पर निम्न प्रश्न हो सकते हैं। और हमसे कुछ मित्रों ने किये भी हैं-

(१) यदि विश्वामित्र आदि नाम यौगिक हैं अर्थात् व्यक्तिविशेषके नहीं, तो प्राचीन महाभारतादि प्रोक्त विश्वामित्रादिका इतिहास काल्पनिक हो जायगा और ऐसा होना उचित नहीं।

आलोचना।

हमारा यह विचार नहीं, कि सब स्थानों पर जो विश्वामित्रादि नाम हैं, वे सब यौगिकही हैं। हमारा अभिप्राय केवल मन्त्रों के ऊपर लिखे हुए और मन्त्रों के अन्दर आए ऋषिनामों से है अर्थात् वे यौगिक ही हैं और यह तो निश्चित है, कि वेदों में इतिहास नहीं, अतः वेदमन्त्रों में जिन ऋषियों के नाम हैं वे नाम उन नामवाले ऋषियों के कारण नहीं। अपितु वेद के पदों से ऋषियों के नाम पडे, ऐसा युक्तियुक्त है। इसी प्रकार वेदमन्त्रों के ऊपर ऋषियों का उल्लेख है।

प्रश्न।

(२) यदि ये नाम यौगिक हैं, तो ऋषियों के नामोंके अपत्य प्रत्ययों और पुत्रादि पदों का योग है, उसकी क्या गति होगी? यथा—

(क) मेधातिथिः काण्व ऋषिः (ऋ० १।१९) यहां कहा है इस सूक्त का ऋषि कण्व का पुत्र मेधातिथि है।

आलोचना।

(ख) सुपर्णस्ताक्ष्यपुत्रा ऊर्ध्वकृष्टानो वा यामायनः। (ऋ० १०।१४४)

यहां ताक्ष्य का पुत्र शब्द है। इस से प्रतीत होता है, कि ये नाम यौगिक नहीं, मूल संहिता में भी अपत्य प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। तथा आदित्य शब्द अदिति शब्द से ण्य अपत्य प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस का साक्षात् निर्देश भी वेद में मिलता है यथा—

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥

(ऋ० १९।६२।५)

यहां साक्षात् अङ्गिरा ऋषि के पुत्र ऐसा निवेदन है। और ऐसे कई उदाहरण मूल वेद से दिए जा सकते हैं। तात्पर्य इतनाही है कि जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों का समाधान वहां किया जाएगा उसी प्रकार इन नामों में भी हो सकता है।

निरुक्तकारने पुत्र, पिता, दुहिता आदि शब्दोंका प्रयोग जड पदार्थोंमें भी किया है। यथा- "तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्या०" (नि० अ० ४।२१) यहां मेघ को पिता और पृथिवी को दुहिता कहा है। अतः इन शब्दों को अथवा इन अर्थों के प्रत्ययों को देखकर सन्देह नहीं करना चाहिए। वास्तवमें वेद में अपत्य प्रत्यय प्रकृत्यर्थ में आते हैं। इस के उदाहरण हमने वेद और ब्राह्मण प्रकरण में दिए हैं। और वेद में पुत्र रजोवीर्यसे उत्पन्न को नहीं कहते। जिसमें जिस के गुण हैं, वह उसका पुत्र है। इस का अधिक विस्तार अन्यत्र किया है।

कुछ ऋषियों की सारणी।

अब वेदके कुछ ऋषियों की सारणी लिखकर हम इस प्रकरण को समाप्त करना चाहते हैं।

नाम ऋषि	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
(१) मधुच्छन्दा	११२	३८	६१	
(२) नारायण	१६	१३	४	३१
गोतम	२१३	७८	३८	
	इत्यादि			

उपसंहार ।

यदि इस प्रकार ऋषि का अर्थ किया जाय, तो हमारे विचारसे वेदार्थ करनेमें सुभीता हो। हमने यथा सम्भव प्रमाणोंद्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि प्राचीन आचार्यों का भी यही मन्तव्य है। सा० आ० ब्रा० १ प्र० १ ख०के कथनानुसार ऋषि के ज्ञान विना मनुष्य वेदमन्त्रों का यथार्थ नहीं कर सकता। यदि ऋषिका उपर्युक्त अर्थ हो, जैसा कि हमने लिखा है, तब तो वास्तवमें वेदार्थके लिये ऋषिज्ञान आवश्यक है। निरुक्तकार के शब्दों में वेदमन्त्रों का अर्थ करने से पूर्व उस मन्त्र का तथोक्त ऋषि होने की आवश्यकता है। ऋषि हुए बिना गर्त में गढे में गिरने का भय रहता है।

इति शम् ।

योगमार्ग ।

(लेखक- पं० प्रियरत्नजी आर्ष)

[लेखाङ्क ३]

ग्रहीतृ मार्गका अभ्यास ।

ग्राह्य मार्ग या ग्रहणमार्गद्वारा सर्वनिरोधावस्थामें अपने साथ जब 'अस्ति=है' की अवस्थामें ब्रह्मात्मा का निश्चय हो जाय, तो उसको 'ओ३म्' समझना चाहिए। इसकी ४ भूमियां हैं। क्योंकि 'ओ३म्' के ४ विभाग हैं। अतएव वाच्यरूप ब्रह्मानुभव के अभ्यासकी ४ भूमियां हैं, जो कि 'ओ३म्' के अ, उ, म् इति=अभ्यासपूर्वक विरामरूप वाचक के साथ समन्वय से ३ अवस्थारूप भूमियों के द्वारा अभ्यासक्रम ग्रहीतृ मार्ग है। अर्थात्-

(१) अ=जागरितावस्था भूमि-स्वकीय स्थूल शरीर से स्थूल संसारमें ब्रह्मदर्शन।

(२) उ=स्वप्नावस्था भूमि-स्वकीय सूक्ष्म शरीरसे सूक्ष्म जगत् में ब्रह्मदर्शन।

(३) म्=सुषुप्तावस्था भूमि- स्वकीय कारण-शरीर से अव्यक्त में ब्रह्मदर्शन।

(४) इति,विराम=तुरीयावस्था भूमि-स्वकीय आत्मा से एकात्मतामें ... अद्वैततामें ब्रह्मदर्शन।

इन भूमियों के अभ्यास का प्रकार यह है, कि प्रथम तीन स्तंभवृत्ति प्राणायाम करे। अर्थात् श्वास को जहां का तहां बिना विचारे एकदम रोक देवें। वह बाहर है या भीतर, इस पर कुछ भी ध्यान न दे। एवं जब घबराहट होने लगे तब उस को यथानुकूल चालू कर देना। एवं दूसरी बार भी ऐसे ही करता जाय। ग्राह्य मार्ग द्वारा निर्वस्तुक तथा ग्रहण मार्ग द्वारा निरालंबन अवस्था में विश्वात्मा के अस्तित्व की तरफ स्वात्म गति होकर स्थूल संसार में ब्रह्मात्मदर्शन की प्रथम भूमि की उपज्ञता होगी। उसी का विशेषाभ्यास करने से दृढानुभव की आवश्यकता है। इसके लिए माण्डूक्योपनिषद् की सहायता लेनी आवश्यक है। उक्त उपनिषद् पर मैंने भी सविस्तर भाष्य लिखा है। वहां उपासनापद्धति को भी बतलाया है। ग्रहीतृ मार्गके अभ्यासियोंको उक्त भाष्य पढ लेना अच्छा है। ब्रह्मात्मा के अस्तित्व की उपज्ञता हो जानेपर प्रथम भूमि का अभ्यास करने के लिए 'विश्वात' वाच्यवाचकत्वस्य योगिनः- तज्जपस्तदर्थभावनम् ।' (योग-समाधिवाद-२) प्रणवस्य जपः

प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् ।' तथा 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।' योगदर्शन में पतंजलि मुनि और व्यासजी कहते हैं कि ओ३म्‌वाचक (शब्द) और विश्वात्मा-वाच्य (अर्थ) के संबंध को जिसने समझ लिया है, वह पुरुष ओ३म् का जप और उसके अर्थरूप ईश्वरका अनुभव करे। तथा स्वाध्याय अर्थात् ज्ञानयोग (ब्रह्मचिंतन) से कर्मयोग (वृत्तिमुखी प्रयत्न प्राणायाम आदि अभ्यास) का सेवन करे। कर्मयोग से ज्ञानयोग का सेवन करे। एवं वारंवार एक दूसरे के सहयोग से परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। अतः उपासनासमय पूर्वोक्त आत्मास्तित्व के अनुभव के साथ प्रथम भूमि के अभ्यास के लिए 'ओ३म्' का जाप करे। जप के अग्रभाग 'अ'को लम्बा करे, और माण्डूक्योपनिषद् के 'जागरित स्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥ तथा 'जागरित स्थानो वैश्वानरो अकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति य एवं वेद' ॥९॥

इन मंत्रोंके अनुसार ब्रह्मास्तित्वका अनुभव करे। एवं जप और अर्थभावना के वारंवार सहयोग से वितर्कानुगम समाधिरूप ब्रह्मास्तित्व की प्रथम भूमि प्राप्त तथा पक्व होगी। और निज स्थूल शरीर वा जागरितावस्था की आप्तकामता स्वस्थता भी प्रतीत होगी।

द्वितीयावस्थारूप भूमि।

प्रथम भूमि का अभ्यास करते करते जब स्थूल जगत् के संबंध से पृथक् सूक्ष्म जगत् में ब्रह्मात्मा के भान की दूसरी भूमि के संस्कार उदय होने लगें तथा निज परिस्थितिमें सूक्ष्म शरीर और स्वप्नावस्था (सूक्ष्मावस्था) जैसे भाव प्रतीत होने लगे, तब ब्रह्मात्मा के साक्षात् की या ओंकारोपासनाकी द्वितीय भूमि का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिए कि प्रथम 'ओ३म्' का जप करे। जप के मध्यभाग उ (ओ की पिछली मात्रा) को लंबा करे और माण्डूक्योपनिषद् के 'स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त भुक् तैजसो द्वितीयः पादः' ॥४॥ तथा 'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥१०॥ इन मन्त्रों के अनुसार ब्रह्मास्तित्व का अनुभव करे। एवं जप और अर्थभावना के वारंवार सहयोगसे विचारानुगम समाधिरूप ब्रह्मास्तित्वकी द्वितीय भूमि उपलब्ध तथा दृढ होगी। निज सूक्ष्म शरीर और स्वप्नावस्था की उत्कर्षता तथा मध्य शान्ति और दिव्य सुखों की प्रतीति होगी।

केवल उपासकों के पढनेयोग्य वचन।

जागरित स्थानी की उपासना के अनंतर स्वप्नस्थानी के उपासनासमय यह दृढ निश्चय करे, कि इस जागरित स्थानी से पूर्व जो स्वप्नस्थानी अवस्थायुक्त ब्रह्म था सो अब भी है। क्योंकि जागरित स्थानी का स्वप्नस्थानी कारण है। अतः समवायसंबंध से वह विराजमान है। जैसे घडे में मिट्टी भी समवायसंबंध से रहती है, तथा गर्भाशय में मेरा यह नेत्रादि बाह्य सप्ताङ्गों से युक्त शरीर जब न बना था, तो उस से पूर्व आभ्यंतर सप्ताङ्गयुक्त शरीर बन चुका था और उसमें मैं था। जैसे ब्रह्मात्मा के 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं' ये सप्ताङ्ग (लोक) स्वप्नस्थानी में थे और हैं। एवं मेरे भी आभ्यन्तर सप्ताङ्ग भूः आदि सुषुम्णा नाडी के साथ संबंध रखनेवाले सप्त चक्र अर्थात् ' गुदाचक्र, उपस्थचक्र, नाभिचक्र हृदयचक्र, कण्ठचक्र, भ्रूचक्र, मूर्धाचक्र'' हैं, जिनको 'मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, ब्रह्मरंध्र' भी कहते हैं, बन चुके थे। जिन के कि साथ प्राणोंकी योजना है। जैसे उपनिषद् में भी कहा है-

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः ॥

(मुण्ड० २।१।८)

अर्थात् ये ७ लोक हैं, जिनमें कि प्राण विचरते हैं।

इसी कारण प्राणायाममंत्रमें 'भूः आदि' सप्त व्याहृतियां रखी हुई हैं। सो ऐसा विचार करे, कि मैं उस समय इन आभ्यन्तर सप्ताङ्गों से युक्त था। सो अब भी समवायसंबंध से इन सप्ताङ्गों में स्थित हूं ही। अतः प्राणायाम करने से उस सप्तचक्रयुक्त सुषुम्णा को कंपन होगा। जिस से प्राण के साथ चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होगी। फिर सूक्ष्म शरीर किंवा स्वप्नावस्था में उपासक की स्थिति होकर स्वप्नस्थानी ब्रह्म की उपासना समीचीन और यथार्थ बन सकेगी ॥१०॥

तृतीयावस्थारूप भूमि।

द्वितीय भूमिका अभ्यास करते करते जब सूक्ष्म जगत् के संबंध से पृथक् आनंद अर्थात् अव्यक्त में कारणरूप प्रकृतिमात्र से संबंध रखनेवाले ब्रह्मात्मा के अनुभव की तृतीय भूमि के संस्कार जागृत होने लगें, तथा निज परिस्थितिमें कारणशरीर और सुषुप्तावस्था जैसे भाव प्रतीत होने लगें तब ब्रह्मात्मा के साक्षात् की या ओंकारोपासना की तृतीय भूमि का अभ्यास करना चाहिए कि प्रथम 'ओ३म्' का जप करे। जपके अंतिम भाग 'म्' का अनुजप देर तक रखे। और माण्डूक्योपनिषद् के 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥' तथा 'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद'॥११॥ इन मन्त्रोंके अनुसार ब्रह्मास्तित्वका अनुभव करे। एवं जप और अर्थभावना के वारंवार सहयोग से आनंदानुगम समाधिरूप ब्रह्मास्तित्व की तृतीय भूमि प्राप्त और समाप्त होगी। विकास में मूल और संहार के केन्द्ररूप निज कारणशरीर तथा सुषुप्तावस्था और उसका मूल आनंद प्राप्त होगा।

केवल उपासकों के पठने योग्य वचन।

स्वप्नस्थानी की उपासना के अनंतर सुषुप्तस्थानी की उपासना के समय यह दृढ निश्चय करे, कि इस स्वप्नस्थानी से पूर्व जो सुषुप्तस्थानी अवस्थायुक्त वह ब्रह्म था, सो अब भी समवायसंबंध से है। तथा गर्भाशय में इस मेरे सप्तचक्र 'भूः आदि' सुषुम्णागत शरीर के बनने से पूर्व हृदयप्रदेश या हृदय नामक जीवनस्थान जीव के शरीर में योजना के लिए प्रथम संबंधरूप जो पूर्व था सो अब भी समवायसंबंध से उसमें मैं हूं, अतः धारणा और ध्यान द्वारा एवं सुषुप्त अवस्था किंवा कारणशरीर में होकर सुषुप्तस्थानी ब्रह्म की उपासना युक्त है ॥११॥

तुरीयावस्थारूप भूमि।

अभ्यास से पूर्व १,२ या ३ बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम करने चाहिए। अर्थात् श्वास को बाहर निकालकर बाहर रोक दो। पुनः वह जब अंदर आना चाहे, तो फिर बाहर को ही धक्का देकर बाहर रोको। पुनः धक्का देकर बाहर रोको। एवं ३ धक्के दो। इसी तरह भीतर रोककर भीतर से बाहर निकालते समय बाहर से भीतर लो। एवं ३ वार अंदर लो। पुनः तृतीय भूमिका अभ्यास करते करते जब अव्यक्त अर्थात् जगत् के कारण प्रकृति से भिन्न निरुपाधि, निर्विशेषण, निर्गुण ब्रह्मात्मा के अनुभव की चतुर्थ भूमि के संस्कार उदय होने लगें, अर्थात् प्रकृति के औपाधिक धर्मों का सहयोग शांत होते तथा निज परिस्थिति में अपने आपको कारणशरीर और सुषुप्तावस्था से पृथक् जैसा प्रतीत करने लगे, तब ब्रह्मात्मा के साक्षात् की या ओंकारोपासना की तुरीयभूमि का अभ्यास इस प्रकार करना, कि प्रथम 'ओ३म्' का जप करे। जपके अंत अर्थात् अ+उ+म् के समुदित ओम् के पश्चात् शान्तमय अवलंबन को देर तक रखे। और माण्डूक्योपनिषद् के 'नान्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं

नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यम् । एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥' तथा 'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शान्तः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥१२॥'

इन मंत्रोंके अनुसार ब्रह्मास्तित्व का अनुभव करे। एवं जप और अर्थभावना के वारंवार सहयोग से अस्मितानुगम और असंप्रज्ञातसमाधि से ब्रह्म के साक्षात् की तुरीय भूमि बनती है। उसके आरंभाभ्यास में अस्मितानुगम (संप्रज्ञात की अन्तिम समाधि) तथा आगे बढकर परिपक्वाभ्यासमें असंप्रज्ञात समाधि होती है। शिवरूप स्थिर आनंद की प्राप्ति तथा स्वात्मा का ब्रह्ममें अतिशय संबंध होकर मोक्षका अधिकारी बन जाता है।

केवल उपासकोंको पढने योग्य वचन।

सुषुप्तस्थानी की उपासना के अनन्तर एकात्म-प्रत्ययसार तुरीय के उपासना-समय यह दृढ निश्चय करे, कि इस सुषुप्तस्थानी से पूर्व जो एकात्मप्रत्ययसार तुरीय-ब्रह्म था, सो अब भी समवाय संबंध से है। तथा गर्भाशय में जीव की प्रथम संबंधरूप योजना जहां हुई है, उस इस हृदयदेश या हृदयनामक जीवनस्थानसे पूर्व मृत्यु के यमालयमें एकात्मस्वरूप तुरीय-अवस्थायुक्त जो मैं था, सो अब भी समवायसंबंध से हूं। अतः समाधि के द्वारा तुरीयावस्था एकात्मिका संवित्ता में होकर तुरीय की उपासना यथार्थ में होगी। तथा इसी उपासना के दृढाभ्यासमें मृत्यु के यमालय से पृथक् मोक्षमें 'केवल, प्रपञ्चोपशम, शान्त, गहनानंद अद्वैत ब्रह्म' के योगसे मैं भी उक्त केवल आदि गुणों से वासनावासित हुआ हुआ था, वैसा ही अब भी हूं। एवं आगे विशेष अनुभव से समझें। क्योंकि योगदर्शन में व्यासजी कहते हैं कि-

योगो योगेन ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

विशेष योग योग के अभ्यास से जानना चाहिए, क्योंकि जैसे जैसे योग करता जाता है, वैसे वैसे योगका मार्ग खुलता जाता है।

विशेष विज्ञप्ति।

इस ओंकारोपासना में पातञ्जलानुसार व्यास-वचन द्वारा सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेद से दो प्रकार की समाधियां इष्ट हैं। सम्प्रज्ञात के ४ भेद हैं। 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।' (योग-समाधि-पाद १७)। वितर्कानुगम से जागरितस्थानी, विचारानुगम से स्वप्नस्थानी, आनंदानुगम से सुषुप्तस्थानी और अस्मितानुगम से एकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिव अद्वैत की प्रारंभिकोपासना, तदनंतर परिपक्वोपासना असंप्रज्ञात (निर्बीज) से होती है। अर्थात् तुरीयावस्थागत ब्रह्मात्माकी उपासना का प्रारंभ (पूर्वभाग) अस्मितानुगम और उसी ब्रह्मात्मा में अत्यंत निमग्न हो जाना (उत्तरभाग) असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। अथवा यों समझिये, कि 'एकात्मिकासंविदस्मिता' एकात्म-प्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिव अद्वैत की उपासना में जब 'एकात्मप्रत्ययसार' की प्रधानता है, तब अस्मितानुगम सम्प्रज्ञात है। शेष असंप्रात (निर्बीज समाधि) है। एवं 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।' (योगदर्शन-समाधिपाद- १८) वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनंदानुगम, अस्मितानुगम समाधियों के अभ्यास-पूर्वक जो पश्चात् विरामप्रत्यय का संदर्शन (विरामपद की प्राप्ति) संस्कारों से शुद्ध हुआ है, वह संप्रज्ञात से भिन्न असंप्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है। इस संबंध में व्यासभाष्य से पता चलता है कि-

(१) 'स्थूल पदार्थ से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप=स्थूलभुक्' उपास्य से 'वितर्कानुगम' समाधि होती है।

(२) 'सूक्ष्म पदार्थ से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप=प्रविविक्त भुक्' उपास्य से 'विचारानुगम' समाधि होती है।

(३) 'अव्यक्त (प्रकृति) से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप= आनन्दभुक्' उपास्य से 'आनन्दानुगम' समाधि होती है।

(४) 'केवल आत्मा से लक्षणा में आया हुआ स्वरूप=एकात्मप्रत्ययसार' उपास्य से 'अस्मितानुगम' समाधि होती है।

सदा अनुष्ठेय क्रियायोग ।

(१) कभी कभी व्याधि आदि अंतरायों के उपस्थित होनेपर उनके प्रतिकारार्थ तथा सदैव योगमार्ग में प्रवृत्ति बनी रहने के लिए और जीवन का समय उचित रूप से व्यतीत करने के वास्ते हरेक योगमार्ग का सेवन करते हुए मनुष्य को एक बात ध्यान में रखनी तथा आचरण में लानी चाहिए। वह यह कि अपने शरीर तथा इन्द्रियों को शम, दम, कर्म के द्वारा स्वच्छ और स्ववश रखने में तपःशील रहना; इन से कभी अनुचित बर्ताव न होने देना। किन्तु उचित कार्य में सदा प्रवृत्त रखना। कारण कि दीर्घ काल तथा अनेक जन्मों से आचरित सांसारिक कर्मों, अविद्या आदि दोषों और वासनाओंसे वर्तमान जीवन की मलिनता बिना तप के नष्ट नहीं हो सकती।

(२) मनको ओं तथा गायत्री आदि मंत्रों के जप और वेद आदि सत्य शास्त्रों के अध्ययनरूप स्वाध्याय के आचरण से स्वच्छ, प्रसन्न और एकाग्र रखना।

(३) निष्कामभाव से सब कर्मों को करते हुए आत्माको परम गुरु परमात्मदेवमें अर्पण कर शांत और आनन्दित रहना। अपितु—

> शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा।
> स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः॥
> संसारबीजक्षयमीक्षमाणः।
> स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥
> (योग० २।३२ पर व्यास)

शय्यापर हो, आसन पर हो या मार्ग में चलता हो, पर हरेक दशा में पाप और वासनाओंसे अलग होता हुआ तथा अविद्या आदि दोषों का नाश चाहता हुआ सदा शांत वृत्ति पुरुष अमृत-भोग (मोक्ष) का भागी बनता है।

इसी को योगमार्ग में कर्मशीलता या क्रिया-योग कहा है।

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' (योग० २।१)

अतएव इसको सदा आचरण में लाना चाहिए

विकासवादकी समालोचना।

(लेखक– स्व० पं० रघुनन्दनशर्मा।)

ईश्वर की अमान्यता।

परमेश्वर के सम्बन्ध में विकासवाद के योग्य लेखक महाशय विकासवाद के पृष्ठ १३ पर लिखते हैं कि 'विकासवादी कहते हैं कि जिस प्रकार आजकल परिवर्तन हो रहे हैं, उसी प्रकार पूर्व समय में भी परिवर्तन हुये थे। और उन्हीं परिवर्तनों के कारण सृष्टि की आजकल की दशा दृष्टिगोचर हो रही है। विकासवाद की स्थापना वैज्ञानिक रीति पर की गई है। इसलिये वर्तमान संसार का कारण कोई प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रही '।

ऊपर जो वर्णन उद्धृत किया गया है, वह यदि ठीक ठीक वैज्ञानिक रीति से किया गया है, तो निस्सन्देह उसी के अन्दर प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति का वर्णन निहित है। सारा संसार यदि परिवर्तन का फल है और परिवर्तन यदि पूर्व से भी पूर्व काल से लगातार चला आ रहा है और अब भी चल रहा है, तो परिणाम यह होनेवाला है कि यह परिवर्तन किसी न किसी दिन बन्द हो जायगा। क्योंकि 'परिवर्तनशीलता' प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं है। जब स्वभाव का अर्थ ही परिवर्तनशीलता है, तो परिवर्तन स्वभाव कैसे हो सकता है? यदि प्रकृति अवस्तु नहीं है—यदि यह दृश्यमान जगत् वास्तव में वस्तु है, तो इस वस्तु के कुछ स्वाभाविक गुण होंगे, जो कभी त्रिकाल में बदल न सकते होंगे। पर हम रोज़ परिवर्तन देखते हैं। इससे साहसपूर्वक कहते हैं कि यह परिवर्तनशीलता का गुण इसमें कहीं बाहर से आया है। आपकी घड़ी की सुई परिवर्तनशील है। परिणाम स्पष्ट है कि वह गुण उसका स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत बनानेवाले का दिया हुआ है। अतएव आगे चलकर वह गुण अवश्य नष्ट होनेवाला है। बन्दूक़ के द्वारा फेंकी हुई गोली का वेग उसका निज का नहीं है, क्योंकि वह आगे भागती जा रही है। यह अस्थिर गुण उसका स्वाभाविक नहीं, किन्तु चलानेवाले का दिया हुआ है, अतः वह आगे चलकर गिरनेवाली है। जिस प्रकार परिवर्तनशील घड़ी और बन्दूक़ की गोली आगे चलकर बन्द होनेवाली है, उसी प्रकार परिवर्तन होनेवाले समस्त पदार्थ आगे चलकर बन्द होनेवाले हैं। और यह तो निश्चय ही है कि जितने पदार्थ आगे चलकर बन्द होनेवाले हैं, वे निस्सन्देह चलने के पूर्व—परिवर्तन आरंभ होने के पूर्व—बन्द थे। चलाने के पहिले घड़ी बन्द थी, बन्दूक़ की गोली बन्द थी और सभी कुछ बन्द था। अतः यह परिवर्तनशील सृष्टि जब आगे चलकर बन्द होनेवाली है, तो निस्सन्देह कभी पूर्वातिपूर्व काल में बन्द थी। तब इसे चलाया किसने? उसी परमात्माने।

परमेश्वर को साबित करने के लिए हम बहुतसे प्रमाण इसलिए नहीं देना चाहते कि अब यह विषय वैज्ञानिकों में मान्य हो गया है। 'परमेश्वर है या नहीं' इस विषय की नवीन ढूँढ तलाशों से पता लग गया है कि विना परमेश्वर की सत्ता के माने, सायंस का काम ही नहीं चल सकता। 'विज्ञान और धर्म' नामी पुस्तक में सायंस का महा विद्वान् डॉक्टर जे० ए० फ्लिमिंग कहता है कि 'सायंस के स्वाध्याय से हमको इस प्राकृतिक जगत् में तरतीब, योजना, धारणा और विचार दिखलाई पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफ़ाक़ से अचानक नहीं आ गईं। ये विचार और चैतन्य की सूचना देती हैं। यह संसार केवल वस्तु ही नहीं है, प्रत्युत यह विचारमय है, जो विना विचारवान् के कभी हो नहीं सकता।

इस संसार में एक सर्वव्यापक चैतन्य विचारवान् सत्ता भासिक होती है। जिसका हम भी एक नमूना हैं। अभी हम जिन सात विज्ञानवेत्ताओं का गुणानुवाद कथन कर आए हैं, उनमें से एक की राय का नमूना यह है। सबने प्रायः इसी प्रकार ज़ोर-शोर से परमेश्वर का प्रतिपादन किया है। यह विज्ञान की वर्तमान आधुनिक रीतिसे किया है। यह विज्ञान की वर्तमान

परिस्थिति है। अतः हम ईश्वर-सिद्धि पर विशेष कुछ नहीं कहना चाहते। अब दूसरा आवश्यक पदार्थ जीव है। उसकी यहाँ समालोचना कर लेनी चाहिए।

चैतन्य की अमान्यता।

विकासवाद के लेखक महोदय कहते हैं कि 'विकासवाद पर विचार करते हुए जीवन (Life) पर विचार करना एक प्रसंगोपात्त बात है—विकासवाद का यह वास्तविक विषय नहीं। इस विषय पर जो एक वा दो कल्पनाएँ वैज्ञानिकों को सूझी हैं, वे निम्न प्रकार की हैं। एक कल्पना यह है कि पृथिवी पर गिरनेवाले तारकाओं (Meteorites) द्वारा जीवन का बीज हमारे यहाँ पहुँचा। परन्तु उसमें यह शंका हो सकती है कि क्या प्रोटोप्लाज्म में इतनी शक्ति है कि तारकाओं द्वारा पृथिवी पर पहुँचने तक उसमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा? दूसरी कल्पना यह है कि असंख्य वर्षों से पहिले अनुकूल स्थिति पाने पर जीवन का एकदम प्रादुर्भाव (Spontaneous Generation) हुआ'। इस पर आप ही लिखते हैं कि 'जीवन का आरंभ कैसे हुआ, इस पर वैज्ञानिकों को अब तक कुछ ज्ञान नहीं हुआ है। वैज्ञानिक सीधा-सादा उत्तर देते हैं कि हम इस बात को नहीं जानते। निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति को निःशंक और प्रमाणपूर्ण मनसे यद्यपि अब तक हम मान नहीं सकते, तथापि इतना निस्सन्देह है कि विकास स्थापना की अन्य कल्पनाओं के साथ इसका मेल भली भाँति मिल जाता है'।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिकों ने अब तक यह जान नहीं पाया कि चैतन्य कैसे बनता है। पर उनका विश्वास है कि वह है प्राकृतिक। क्योंकि उनके मत में चेतन प्रोटोप्लाज्म ही है और प्रोटोप्लाज्म में जो शहद की भाँति तरल पदार्थ भरा है, वह कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और फासफरस आदि १२ भौतिक पदार्थों से ही बना है, जो निरे जड़ हैं। ये भौतिक पदार्थ भी इलेट्रोन के न्यूनाधिक मेल से बनते हैं। इलेक्ट्रोन खण्ड खण्ड हैं। अतः हमारी देशी भाषा में ये सारे पदार्थ परमाणुओं से ही बन जाते हैं और जीव भी प्राकृतिक परमाणुओं से ही बन जाता है। पृष्ठ २७ में हक्सले का नाम देकर ग्रंथकार कहते हैं कि 'हक्सले महोदय कहते हैं कि चेतन पदार्थ दीपक की ज्योति अथवा पानी के भँवर समान यद्यपि नित्य प्रतीत होते हैं, तथापि वास्तव में प्रतिक्षण बदलनेवाली व्यक्ति हैं'। इसका मतलब यही है कि आत्मा प्रकृति के परमाणुओं से बना है। नये नये परमाणु रोज़ उसमें चिपकते जाते हैं और पुराने अलग होते जाते हैं। इस तरह की धारा निरन्तर बहती रहती है; इसी से ज्ञान और चैतन्य का सिलसिला नहीं टूटता।

नवीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु (atoms) कई एक इलेक्ट्रोनों से बना है। इलेक्ट्रोन एक दूसरे से चिपकते नहीं प्रत्युत दूर दूर रहते हैं। जिस प्रकार हमारे तारागण दूर दूर रहकर भी एक तारापुंज या सौरजगत् कहलाते हैं, इसी तरह अनेक इलेक्ट्रोनों से बना हुआ एटम् भी है। उसी एटम् से उपर्युक्त १२ पदार्थ बने हैं। इन बारह पदार्थों से ही आत्मा बना है। ये बारह पदार्थ सदैव बदलनेवाले हैं। अतः आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि परमाणुओं की गति प्रति सेकंड एक लाख माइल की है। अब सोचिए कि जुदा जुदा रहकर इतने झपाटे से चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में डालते हैं। अथवा किस प्रकार ज्ञान उड़कर एक परमाणु से दूसरे में जाता है और चैतन्य क़ायम रहता है। यहाँ स्कूल में २७ वर्ष तक मास्टर विद्यार्थी को पढ़ाता है तो भी विद्यार्थी भूल जाता है। पर विना किसी साधन के दूर दूर स्थित परमाणु, इतने झपाटे से दौड़ते हुए, अपना ज्ञान दूसरे में फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञान को ले लेते हैं। कितना आश्चर्य है! समझ में नहीं आता कि किस प्रकार ऐसी ऊलजलूल बातें पढ़े लिखे लोग कहते, सुनते और उन्हें सच मानते हैं। यह परमाणुओं का शीघ्र संवाद ऐसा भ्रामक एवं असत्य है कि इस पर हँसी आती है। आनन्द की बात है कि हैकल हक्सले का जमाना चला गया। अब उनकी बातें रही (Old Riddle) कहलाती हैं। अब तो विज्ञानवेत्ताओं ने आध्यात्मिक विद्या के द्वारा जाना है कि जीव अप्राकृतिक और अजर अमर है।

दिसम्बर सन् १९२३ के चिल्ड्रन्स न्यूज़-पेपर में प्रो० ...वेट की Thirty Years of Psychical Research नामी पुस्तक का एक विज्ञापन छपा है। उसमें कहा गया है कि ३० वर्ष ढूँढ तलाश के बाद यह पुस्तक लिखी गई है। ग्रंथकार ने 'जीवात्मा' का अनुसन्धान कर लिया है। जीव के विषय में ग्रन्थकार के निम्न वाक्य उद्धृत किये गये हैं। कि—'५० वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान का यही हल था कि जो बात भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं है—वह ढोंग है। किंतु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञान की पहुँच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। ऐसी घटनाओं को 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीव के लिए व्यवहृत होता है'। जो लोग स्पष्ट नहीं कहना चाहते, वे भी अब जीवात्मा को भौतिक नहीं कहते। प्रसिद्ध डारविन के सुपुत्र प्रोफ़ेसर जॉर्ज डारविन ने ता० १६ अगस्त सन् १९०५ को दक्षिण आफ्रिका में ब्रिटिश एसोसियेशन के प्रधान की हैसियत से कहा है कि 'जीवन का रहस्य अब भी इतना ही गूढ है जितना पहिले था'। सन्देहवादियों की राय का अब आदर नहीं है। अब स्पष्टवादियों का समय आ गया है। स्पष्टवादियों में प्रो० गेड्स कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक में आगमन की कल्पना को सन्तोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृति की भाँति अनादि है'।

दूसरा विद्वान् कहता है कि 'चेतन के प्रभाव के विना जड पदार्थों में चेतना आ ही नहीं सकती। विज्ञान का यह नियम मुझे पृथिवी के आकर्षण के नियम की भाँति अटल प्रतीत होता है'। जब से मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी), मस्तिष्कशास्त्र (फ्रिनालॉजी) और आत्म-विद्या (स्पिरीचुअलिज़्म) का अन्वेषण हुआ है, तब से जीवसम्बन्धी सभी शंकाएँ निवृत्त हो गई हैं।

मनोविज्ञान का एक विद्वान् लिखता है कि 'किसी भी जीवनकार्य की संगति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी। आँसू के निकलने या पसीने के निकलने आदि के छोटे छोटे नियमों के स्पष्टीकरण की सब चेष्टाएँ निरर्थक साबित हो चुकी हैं। मस्तिष्कशास्त्र (Phrenology) का जन्मदाता गॉल लिखता है कि 'मेरी राय में एक ही निरवयव वस्तु है जो देखती, सुनती, स्पर्श करती और प्रेम, विचार तथा स्मरण आदि करती है, पर यह अपने कार्य करने के लिए मस्तिष्क में अनेक भौतिक साधन चाहती है'। इसने वही बात कह दी जो उपनिषत्कारों ने कही है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता
रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

अर्थात् देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला और कार्य करनेवाला विज्ञानी आत्मा है।

आत्मविद्यावालों की, देश विदेश में सर्वत्र ही, इस समय धूम मची है। कोई प्रेत बुलाता है, तो कोई आत्मा से बातें करता है। इस विषय के सबसे बड़े पण्डित और सायंस के आचार्य सर ओलिवर लॉज ने आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया है। अतएव अब चैतन्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सर ओलिवर लॉज कहते हैं कि— 'एक बार आप इस बात को देखें कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहर की वस्तु है। ऐसा नहीं है कि जब शरीर बरबाद हो जाता है, तब वह अपना अस्तित्व खो देता है। हम जितने दिन पृथिवी में रहते हैं उतने ही दिनों के लिए हमारा अस्तित्व परिमित नहीं है! हम विना शरीरके भी रहेंगे। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मैं क्यों ऐसा कहता हूँ? इसलिए कि ये सब बातें निश्चित विज्ञानके आधारपर स्थित हैं। बहुतों ने अभी इसका अनुभव नहीं किया। पर यदि कोई ३० या ४० वर्ष अपनी आयु इस विषयमें लगावे, तभी वह यह कह सकने का अधिकारी होगा कि अब मैं किस स्थिति में पहुँचा हूँ'। किस दावे के साथ सर ओलिवर लॉज जीव का अनादित्व सिद्ध करते हैं और किस प्रकार इस विषय के जानने के लिए वे ३०, ४० वर्ष तक श्रम करने की अपील करते हैं। हमने जीव की अप्राकृतिकता और उसका नित्य अस्तित्व बतलाने के लिए बहुत से तर्क और प्रमाणों को एकत्रित करना मुनासिब नहीं समझा। इसका कारण यही है कि दस बीस वर्ष पूर्व विज्ञानवेत्ताओं ने इस पर प्रकाश

नहीं डाला था। वे इसकी खोज में थे। वे साफ़ शब्दों में कहते थे कि हम इसे नहीं जानते। किंतु अब वह बात नहीं है। अब विज्ञान उच्च स्वर से जीव का अस्तित्व और नित्यत्व स्वीकार करता है। अतः नवीन विज्ञान के इस नवीन युग में ईश्वर, जीव और पुनर्जन्म सिद्ध करने में बहुत कुछ आसानी हो गई है।

यहाँ ईश्वर और जीव की सिद्धि से पुराने विकासवाद में भी फ़रक़ पड़ गया है। लोगों में अब कई प्रकार के विचार आरंभ हो गये हैं। सबसे बड़ा विचार यह है कि परमेश्वर जीवों को उनके सुख दुःख के ही लिए यदि उत्पन्न करता है, तो उनके उत्पन्न करने के लिए उसको विकासवाद का सहारा क्यों लेना पड़ता है? क्या वह अलग अलग योनियों को उत्पन्न नहीं कर सकता? आगे हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि जीव और परमेश्वर तथा जीवों के कर्म और परमेश्वर की व्यवस्था मान लेने पर सृष्टि-उत्पत्ति का उत्तम तरीक़ा दो में से कौनसा प्रमाणित होता है—

पहिले डारविन का विकास, जड़ प्रकृति में परिवर्तन और सृष्टि की परिस्थिति—मौका—इत्तिफ़ाक़ पर अवलम्बित था। पर अब ईश्वर और जीव मान लेने पर वह नियत नियमित मानना पड़ता है। सर ओलिवर लॉज लिखते हैं कि 'हम लोग विकास के ही प्रबन्धाधीन हैं। हम लोग विकास द्वारा ही इस पृथिवीग्रह पर पहुँचे हैं। यह सब सत्य है किंतु विकास क्या है? विकास अबाधित अर्थात् कली से फूल हो जाने का नियम—बीज से वृक्ष हो जाने का मार्ग। प्रत्येक पदार्थ कली से फूल की भाँति अबाधित उन्नति का ही फल है'! सर ओलिवर लॉज के मत से अब प्रकृति का साम्राज्य नहीं है, जो ऊँट की भेड़ बना डाले। अब तो जिसको जिस योनि में उत्पन्न होकर ज़ो सुख दुःख भोगना है, उसको वही शरीर मिलेगा। जिस प्रकार कली का फूल ही होगा, भौंरा नहीं—बीज का वृक्ष ही होगा मूँगा नहीं, उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ कर्ता के नियमानुसार जो कुछ होना लिखा लाये हैं, वही होंगे, अन्य नहीं। इस बात का खुलासा टी० एच० हक्सले के 'एनीवरसरी एड्रेस' (Anniversary address) से हो जाता है। वे कहते हैं कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की तमाम जातियों में कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं, जिनको मैं Persistent type अर्थात् स्थिर आकृति का नाम देता हूँ। उनमें आदि सृष्टि से लेकर वर्तमान कालपर्यन्त कोई ऐसा प्रत्य[क्ष] विकार नहीं हुआ, जिसको हम प्रमाणित कर सकें'। इससे भी बढकर मद्रास हाईकोर्ट के जज टी० एल० स्ट्रै[न्ज] महोदय अपनी 'The Development of Creation on the Earth' नामी पुस्तक में लिखते हैं कि 'जलक्रामियों में बहुत प्रकार के भिन्न भिन्न स्वरूपवाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं। इन जन्तुओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे दूसरे जन्तु से विकृत होकर उत्पन्न होते हों, प्रत्युत वे तो एक दूसरे से अपेक्षारहित होकर एक ही समय में अलग अलग आकार के साथ उत्पन्न होते हैं'।

इस ढूँढ-तलाश ने क्रमविकास पर पानी फेर दिया है। हमारा और आपका भी यही अनुभव है कि सिर में मैल जमने से जो जुएँ उत्पन्न होती हैं, वे कई शरीरों से होकर जुएँ के रूप में दिखलाई नहीं पड़तीं। खाट के खटमल मलिनता से ही ज्यों का त्यों उत्पन्न हो जाते है। पेशाब के कीड़े संसार के समस्त देशों में एक ही आकार के उत्पन्न होते हैं। ये तमाम घटनाएँ हैं, जो दावे से यह बात साबित करती हैं कि अमुक आकार प्राप्त करने के लिए अमुक अमुक आकारों का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं। जिस परमात्मा के भृकुटिविलास से बड़े बड़े सूर्य चन्द्र बनते हैं, जिसकी ही करामात से विकास का आरम्भिक प्रोटोप्लाजम और उससे अमीबा बनता है, क्या उसके इशारे से अन्य प्राणियों के दूसरे शरीर नहीं बन सकते? इन्हीं बातों को देखकर वर्तमान समय का ज़बरदस्त सायंसदाँ Agassiz अपनी 'Principles of Zoology' नामी पुस्तक में लिखता है कि 'पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाले, विना हड्डी के जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीदार प्राणियों में एक समान ही उन्नति देखी जाती है। परन्तु इस समानता का यह मतलब नहीं है कि एक प्रकार के प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणियों से ही विकसित हुए हों। आदिमकालीन मत्स्य [आदि] सर्पणशील प्राणियों के पूर्वज नहीं हैं और न मनुष्य [आदि]

अन्य स्तनधारियों से विकसित हुआ है। प्राणियों की शृङ्खला किसी उस अभौतिक तत्त्व से सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथिवी पर अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करके अन्त में मनुष्य की रचना की है'।

परमेश्वर और जीव मानकर कभी यह सिद्धान्त बन ही नहीं सकता कि प्रकृति ही मनमाना काम करती है और परमेश्वर ख़ाली बैठा बैठा ऊँघता है। जब परमेश्वर सृष्टि का कर्ता है, तो उसने किसी कारण से ही यह सृष्टि बनाई है। जीवों के कर्मफलों को देकर संसार में न्याय क़ायम रखने ही के लिए वह जीवों को पैदा करता है। ऐसी दशा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक प्राणी का सुख दुःख उसके साथ ही लगा हो। सुख दुःख शरीर से ही प्राप्त होता है और सुखदुःख की न्यूनाधिक्यता शरीर की बनावट पर ही अवलम्बित है। ऐसी दशा में जिस प्राणी को जो कुछ सुख दुःख देना है, उसके लिए उसी समय वैसा शरीर न बनाकर, व्यर्थ असंख्य शरीरोंमें फिराकर, तब उस शरीर में लाना, परमात्मा जैसे महासमर्थके लिए उचित नहीं। कर्मफलों के भुगाने के लिये यदि किसी अपराधी को कालकोठरी की ३ मास की सज़ा हो और पुलीस उसे वर्षों इधर उधर की हवालातों में फिराती फिरे, तो क्या यह कुछ न्यायसङ्गत या बुद्धि अनुमोदित होगा? हमारी समझ में तो नहीं। हमने यहाँ तक सृष्टि-उत्पत्ति के दो प्रधान तत्त्व—ईश्वर और जीव का अस्तित्व और अनादित्व प्रतिपादन करके देखा, तो पाया कि इन दोनों तत्त्वों के मान लेने पर क्रमविकास के लिए अवकाश नहीं रहता। तथापि विकासवादी जिस क्रम से विकासवाद को आरोपित करते हैं उसी क्रम से यहाँ उसकी आलोचना होनी चाहिए।

तत्त्व, संस्थान और प्राणिपरिवर्तन।

विकास की मान्यता है कि चेतन कोष्ठ, जिससे चेतन प्राणी बनता है, १६ भौतिक पदार्थों से बना है। इन्हीं चेतन कोष्ठों से समस्त प्राणियों की रचना हुई है। इन सब जीवित प्राणियों में सामान्य बातें तीन हैं। (१) सब प्राणियों के शरीर एक ही सरल पदार्थों से बने हैं। पशु पक्षियों के शारीरिक तत्त्वों में कोई फ़रक़ नहीं है। (२) सब प्राणी अपनी क्षीणा शक्ति को स्वयं फिर प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् रोज़ काम करके फिर ताज़े हो जाते हैं। (३) यन्त्रों की भाँति सुधरते सुधरते एक शरीर से अन्य शरीर के हो जाते हैं। सब प्राणियों के आठ संस्थान हैं। (१) पोषण-बाहर से पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीर में पहुँचाना; (२) **श्वासोच्छ्वास**-शुद्ध वायु को अन्दर लेना और अशुद्ध वायु को बाहर फेंकना; (३) **मलविसर्जन**—अन्दर की गन्दगी और अनावश्यक पदार्थों को बाहर निकालना; (४) **रक्तप्रसार**—सारे शरीर में रक्त पहुँचाना; (५) **प्रेरण**—गति देनेवाले स्थान; (६) **आधारस्थान**—जिससे शरीर सधा रहता है; (७) **ज्ञानतन्तु**—इससे समस्त शरीर का हाल मालूम होता है और (८) **प्रसव**—जिससे सन्तति होती है।

यहाँ दो बातें हैं। एक तो सब प्राणियों के तत्त्व एक से हैं। दूसरे सब प्राणियों के आठ संस्थान होते हैं। हमें इस सब व्यवस्था में कुछ नहीं कहना। सबके शरीर एक ही प्रकार के तत्त्वों से बने हैं, यह कोई नवीन विज्ञान की ख़ूबी नहीं है। 'पञ्चरचित यह अधम शरीरा' न जाने भारत का कितना पुराना विज्ञान है। रहा दूसरा, वह भी कोई ख़ास बात नहीं। न इस में कोई खोज की बात ही दिखती है। जो प्राणी जीते हैं, खाते हैं, काम करते हैं, और सन्तति उत्पन्न करते हैं, उनमें तो वे आठों संस्थान होने ही चाहिए। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख है, जो समझता होगा कि प्राणी अपने शरीर के अन्दर जो खाद्य पहुँचाता है, वह केवल पेट में रक्खा रहता है? रक्त तो केवल नाले में पानी के तरह बहता है और विना प्रसव के सन्तति उत्पन्न होती है? ये बातें तो सारी दुनिया मानती ही है। हाँ, केवल एक बात इस में विचारणीय है कि जिस प्रकार धीरे धीरे सुधरते सुधरते यन्त्र और के और हो जाते हैं, इसी तरह प्राणी भी और के और हो जाते हैं।

यन्त्र मनुष्य की परिमित बुद्धि से आरंभ होते हैं और तजरबे से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिए आरम्भिक और अन्तिम यन्त्र में अन्तर पड़ जाता है। पर क्या

परमेश्वरी रचना भी मनुष्य की सी परिमित बुद्धि से आरम्भ होती है? प्राणियों की रचना तो परमात्मा सुख दुःख भोगने के लिए करता है। इसलिए जिस प्रकार के शरीर से अमुक प्रकार का सुख दुःख भोगा जा सके, उसी प्रकार का शरीर देता है, और का और नहीं। ऐसी दशा में यन्त्रों का उदाहरण देकर प्राणियों की शारीरिक बनावट को परिवर्तनशील साबित करना सृष्टिनियम के विपरीत है। शरीर का बनाना यदि प्रकृति के अथवा स्वयं अपने अधीन मानें तो यन्त्र का दृष्टान्त ठीक हो सकता है। पर यहाँ तो शरीर देनेवाला तीसरा ही है। इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त बिलकुल अनुपयुक्त है। ग्रन्थकार महोदय स्वयं विकासवाद पृ० २१ में कहते हैं कि 'न्यून से न्यून इतना तो हमको मानना ही पड़ता है कि वैज्ञानिकों ने अब तक ऐसी कोई रीति आविष्कृत नहीं की, जिससे इन परिवर्तनों को वे परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर सकें। और न उनको अब तक यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार के परिवर्तन के नियम क्या हैं'। वैज्ञानिकों को परिवर्तन के नियम मालूम नहीं–यह मालूम नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है। और परिवर्तन होते किसीने देखा नहीं। अर्थात् यह आज तक किसी ने नहीं देखा कि अमुक प्राणी का अमुक प्राणी बन गया। ऐसी दशा में परिवर्तन, सिवा कल्पना और अनुमान के और कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

विकासवाद को जीव की उत्पत्ति, प्राणियों की उत्पत्ति और जातियों की उत्पत्ति को अच्छी तरह सिद्ध करना चाहिये था। पर उसने अब तक एक विषय को भी अच्छी तरह आरोपित नहीं किया। इस विज्ञान के प्रखर पण्डित यही कहते हैं इनका रहस्य हमको ज्ञात नहीं है। जीव की उत्पत्ति और प्राणियों के शरीरपरिवर्तन के विषय में विकासवाद के लेखक ही ने कह दिया है कि वैज्ञानिक इसे नहीं जानते। पृथिवी पर प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में थॉमसन कहता है कि 'विज्ञान के द्वारा हम नहीं जानते कि पृथिवी पर जीवधारी प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई'। दूसरा विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथिवी पर प्राणी कैसे उत्पन्न हुए? इस प्रश्न का हम यही उत्तर देते हैं कि हम लोग नहीं जानते'। इसी तरह एक तीसरा विद्वान् कहता है कि 'हम लोग विकास के उत्पादक तत्त्व के विषय में निश्चित रूप से बहुत ही थोड़ा जानते हैं। हम लोगों को डारविन के ही शब्दों में स्वीकार करना चाहिये कि एक जाति से दूसरी उपजाति की भिन्नता के नियमों के विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते'।

न तो विज्ञान को जीव की उत्पत्ति ज्ञात है, न प्राणियों की उत्पत्ति का पता है और न एक जाति से दूसरी जाति के उत्पन्न होने के नियमों का ज्ञान है। तब फिर नहीं ज्ञात होता कि विकास किस प्रकार आरोपित किया जाता है? "यहाँ तक हमने विकासवाद की साधारण आलोचना की, अब आगे दिखलाना चाहते हैं कि विकासवाद प्राणियों की उत्पत्ति में किन किन शास्त्रों का उपयोग करता है"। विकासवाद के लेखक ने लिखा है कि विकासवाद को सिद्ध करने के लिये प्राणियों के जो प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं, उनके निम्नलिखित पाँच विभाग हैं—

१. जातिविभागशास्त्र (Classification.)
२. तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र (Comparative Anatomy.)
३. गर्भवृद्धि-शास्त्र (Embryology.)
४. लुप्त जंतु-शास्त्र (Palaeontology.)
५. भौगोलिक विभागशास्त्र (Geographical Distribution.)

जाति-विभाग-शास्त्र।

समस्त चेतन पदार्थों को उनके साधर्म्य-वैधर्म्यानुसार बड़ी या छोटी जातियों में बाँट देना इस शास्त्र का उद्देश्य है। जातिविभाग कई प्रकार का होता है। पर वैज्ञानिकों ने स्थिर किया है कि अन्तःशरीररचना पर ही वर्गीकरण करना चाहिये। समस्त चेतन पदार्थ दो बड़े वर्गों (Kingdoms) में बँटे हैं। इन में एक प्राणिवर्ग है और दूसरा वनस्पतिवर्ग। वनस्पतिवर्ग को विकासवाद के लेखक ने छोड़ दिया है। इसलिए हम भी उसे छोड़ देते हैं। अब रहा प्राणिवर्ग। उसके भी दो विभाग (Sub-

Kingdoms) हैं। एक पृष्ठवंशधारी प्राणियों का और दूसरा पृष्ठवंशहीन प्राणियों का। इन दोनों विभागों को अँगरेजी में Vertebrates और Invertebrates कहते हैं। पृष्ठवंशविहीनों की पाँच श्रेणियाँ (Classes) हैं। विकासवाद के लेखक ने उनके नाम अँगरेज़ी में इस प्रकार दिये हैं— (1) Protozoa, (2) Coelenterata, (3) Echinodermata, (4) Annelida, और (५) Mollusca. पृष्ठवंशधारियों की भी पाँच श्रेणियाँ बतलाते हैं। उनके नाम मत्स्य (Fishes), मण्डूक (Amphibians), सर्पणशील (Reptiles), पक्षी (Birds), और स्तनधारी (Mammals) हैं। इन विभागों में भी श्रेणी (Class), कक्षा (Order), वंश (Family), जाति (Genus) और उपजातियाँ (Species) हैं। यहाँ हम लेंडी कुत्ते के उदाहरण से दिखलाते हैं कि इस वर्गीकरण में उसका स्थान कहाँ है। लेंडी कुत्ता प्राणिवर्ग, पृष्ठवंशधारी विभाग, स्तनधारी श्रेणी, मांसभक्षी कक्षा, श्वावंश (भेड़िया शृगालादि), कुत्ता जाति और लेंडी उपजातिका है। इस वर्गीकरण से पता लग जाता है कि कौन प्राणी किस जाति का है। इस वर्गीकरण का वर्णन विकासवाद में पृ० ३९ से ४१ तक आया है।

विकासवादी, प्राणियोंके वर्ग जलचर, नभचर, स्थलचर या अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज, ऊष्मज या नीचे शिर, आड़े शिर, खड़े शिर अथवा वृक्ष, पशु, मनुष्य इस प्रकार नहीं करते। वे कहते हैं कि भीतरी रचना से ही शुद्ध वर्ग बन सकते हैं। किन्तु अब नवीन विज्ञान ने इसे भी अशुद्ध ठहराया है। जब से खून की परीक्षा का सिलसिला जारी हुआ है, तब से उपर्युक्त वर्गविन्यास गलत सिद्ध हो रहा है। अब तक लोग गिनीफाउल को मुर्गी के किस्म का समझते थे। पर अब खून की परीक्षा से वह शुतुर्मुर्ग की जाति का मालूम होता है। इसी तरह भालू को लोग कुत्ते की श्रेणी की समजते थे। विकासवाद के लेखक ने भी उसे श्वाजाति में ही गिना है। पर उसके रुधिर की परीक्षा से वह सील आदि की भाँति जलजन्तु साबित हो रहा है।

जब से खून की परीक्षा निकली है, तब से पुराना वर्गभेद तो नष्ट हो ही गया है; किन्तु दरपरदा विकासवाद की जड ही कट गई है। जब विकासवाद एक ही प्रकार के मूल प्राणी से समस्त भूमंडल के प्राणियों की उत्पत्ति मानता है, जब वह उनमें तात्विक भेद नहीं मानता, जब सबके संस्थान एक समान गिनता है और जब सब एक ही तरीक़े से विकसित हुए मानता है; तब इन सबके रुधिरकण एक ही बनावट के क्यों नहीं होते? क्यों किसी जाति के प्राणी का रुधिरकण गोल, किसी का चपटा और किसीका वर्तुलाकार होता है? यह रुधिर का पृथक्त्व सिद्ध करता है कि प्रत्येक जाति का शरीर भिन्न भिन्न प्रकार के रुधिरकणों से बना है, इसलिए यह निश्चित होता है कि समस्त जातियाँ एक ही प्रकार की प्राणी से विकसित नहीं हुई, प्रत्युत सबकी उत्पत्ति अलग अलग हुई है। यह थोड़ीसी वर्गीकरण-शास्त्र की आलोचना हुई। अब आगे तुलनात्मक शरीररचनाशास्त्र पर विचार करके देखते हैं कि उससे विकासवाद को कहाँ तक पुष्टि मिलती है।

तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र।

विकासवाद के लेखक महोदय ने अपने ग्रंथमें इस शास्त्र का वर्णन पृष्ठ ४२ से ८६ तक और २०० से २६८ तक इस प्रकार किया है कि वर्गीकरण निश्चित करने के लिए इस शास्त्र से बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होती है। बाह्य रूप में अत्यंत भिन्नता होने पर भी कई प्राणियों का जातिविभाग इस शास्त्र ने एक ही वर्ग में किया है। अन्तरीय रचनासाम्य पर ही इसका फ़ैसला किया जाता है। चमगीदड, ह्वेल और गौ अनुक्रम से नभचर, जलचर और भूमिचर होनेपर भी तीनों का एकही कक्षा में समावेश किया गया है। बाह्य आकार भिन्न होनेपर भी आन्तर रचनासाम्य से तीनों को स्तनधारी कक्षा में रक्खा गया है। इस शास्त्र से विकास के प्रमाण इस प्रकार एकत्रित किए जाते हैं कि अनेक जाति के कुत्तों में साधर्म्य वैधर्म्य दोनों मौजूद हैं। साधर्म्य से सब कुत्ते एक ही हैं और वैधर्म्य से बुलडाग, ताज़ी और

लैंडी आदि अलग अलग हैं। किंतु हैं सब एक ही पूर्व पुरुष की सन्तति। इसी तरह लोमड़ी, शृगाल और भेड़िया वैषम्य से अलग अलग हैं। पर मांसभक्षण आदि साम्य से एक ही पूर्व पुरुष की सन्तति प्रतीत होते हैं। बिल्ली और बनबिलाव अलग अलग होते हुए भी एक ही हैं। इसी तरह चीता, व्याघ्र और सिंह भी अलग अलग होते हुए भी एक हैं। इन सबका मांसाहारी और स्तनधारी कक्षा में समावेश होता है। इनमें से व्याघ्र तथा सिंह के मेल से और भेड़िये तथा कुत्ते के मेल से सन्तति भी होती है। भालू भी मांसभक्षक प्राणी है। इसकी अन्तर्रचना कुत्ते बिल्ली की रचना से कुछ पृथक् है पर इसका मेल उन्हीं के साथ मिलता है। मांसभक्षकों में बिज्जू, नेवला, ऊदबिलाव अलग अलग होते हुए भी एक ही प्रकार के हैं। ह्वेल मछली भी मांसभक्षक है। यह जन्तु पहले स्थलचारी था। इसका अब पानी ही घर हो गया है। इसके पैर कमजोर और नाव के चप्पू की भाँति हो गये हैं। शरीर में बल भी बहुत कम रह गया है। ये स्तनधारी-मांसभक्षी प्राणी हैं। स्तनधारियों के तीक्ष्णदन्तियों में एक दल चूहा, छछूँदर, घूस, गिलहरी, शशक और स्याही का है। ये कुतरनेवाले होने से तीक्ष्णदन्ती कहलाते हैं। इन कुतरनेवाले जानवरों में ही उड़नी गिलहरी भी है। चमगीदड भी इसी जाति का है। किन्तु ये दोनों उड़नेवाले हैं। इनके पैरों की रचना ज़मिन पर चलनेवाले जानवरों के अगले पैर के समान होती है। अतः विकासवादके ये सबसे उत्तम प्रमाण हैं। स्तनधारियों में गौ, अश्व, हाथी, ऊँट, हिरन, गैंडा, शूकर और दरियाई घोड़ा (Hippopotamous) आदि हैं। इनके सुम या खुर होते हैं। इन जानवरों के खुर सम्बन्धी साधर्म्य के कई प्रमाण मिलते हैं। हाथी के पाँचों ऊँगलियाँ, टापीर नामी जानवर के चार, गैंड़े के तीन और ऊँट के दो और घोड़े के एक ही होती है। यहाँ उँगलियों के क्रम क्रम ह्रास से, विकास का कितना अच्छा प्रमाण मिलता है ? आस्ट्रेलियाका कांगरू भी विकास का अच्छा प्रमाण है। काँगरू की मादा के पेट में एक थैली होती है। माता बच्चों को पैदा करके इसी थैली में रख लेती है। इस थैली में स्तन होते हैं। बच्चे बड़े होने पर इससें बाहर निकल आते हैं। इसी तरह का एक जानवर अमेरिका में होता है, जिसका नाम 'ओपोसम' है। इसकी मादा के पेट में भी एक थैली होती है। इनके सिवा 'डकबिल' और 'ईकड्ना' नामी दो और स्तनधारी जन्तु हैं। इनमें विशेषता यह है कि ये अण्डे देते हैं। परन्तु अण्डों को पेट में रखने के लिए इनके पास भी उपर्युक्त थैली होती है। इस तरह स्तनधारियों में देखा गया कि कई पूर्ण जरायुज, कई कांगरू की भाँति अर्ध जरायुज और कई डकबिल की भाँति अण्डज हैं। ये स्तनधारियों और अण्डजों के मध्यवर्ती प्राणी हैं। यहां तक स्तनधारियों का वर्णन हुआ।

अब पृष्ठवंशधारियों की दूसरी श्रेणी-पक्षियों का वर्णन करते हैं। पक्षी भी कई प्रकार के हैं। कोई दाना चुगने-वाले, कोई मांस खानेवाले और कोई पानी में तैरने-वाले हैं। परिस्थिति के अनुसार इनकी चौंच, पैर और झिल्लीदार पञ्जों की बनावट होती है। आस्ट्रेलिया, आफ़रीक़ा, न्यूज़ीलैंड और अमेरिका का रहनेवाला 'पेंग्विन' पक्षी भी विकास का अच्छा प्रमाण है। जहाँ यह रहता है, वहाँ कोई दूसरा पक्षी नहीं रहता। इसलिए इसकी उडने की शक्ति नष्ट हो गई। यह पानी में तैरता है, इसलिए इसके पैर नाव के चप्पुओं की तरह पानी काटनेवाले हो गये हैं। शुतुर्मुग़ और मोर की भी उडने की शक्ति कम हो गई है, क्योंकि इनको किसी पक्षी का डर नहीं रहा। यह परिस्थिति से प्राप्त विकास के उदाहरण है।

पीठ की हड्डीवालों में तीसरी श्रेणी सर्पणशीलों की है। इस वर्ग में गोह, साँप, अजगर, नाकू, मगरमच्छ और कछुवा आदि हैं। इनमें से गोह की अनेक जातियाँ हैं। गोह की एक जाति में आगेवाले पैर नहीं होते। एक दूसरी जाति में अगले पिछले चारों पैर नहीं होते। सांप को सब जानते ही हैं, कि वह विना पैर का है। ये भी विकास के ही प्रमाण हैं।

पीठ की हड्डीवाले जीवों में चौथी श्रेणी मण्डूकों की है। इसका जीवनचरित्र बडा ही विचित्र है। यह अपने पैदायश से लेकर युवावस्था तक के चरित्र से ज़ाहिर कर देता है कि किस प्रकार मछलियों से उसकी उत्पत्ति हुई

है। पहिले वह गलफडोंसे श्वास लेता है, (जैसे मछली)। फिर मुख से। पहले उसके पूँछ होती है (जैसे मछली के) फिर गायब हो जाती है।

पाँचवीं श्रेणी मछलियों की है। सभी जानते हैं कि मछलियाँ भी हजारों प्रकार की हैं। जिससे सहज ही विकासको अनुमान करने की काफी संभावना हो जाती है।

यहाँ तक पीठ की हड्डीवाले जानवरों का वर्णन हुआ। इनके आगे अस्थिरहित प्राणियों का वर्णन है। उनमें भी विकास के प्रमाण भरे हुए हैं। इन प्राणियों के शरीर जोड-दार जोडों (पर्वों) से बने होते हैं। कानखजूरा, बिच्छू, मकडी, भौंरा और ततैया आदि प्राणी इसी विभाग के हैं। इनमें भिन्नता होते हुए भी सब के शरीर छोटे छोटे जोडों-गाँठों से ही बने होते हैं। इस साम्य से यही पाया जाता है, कि सब एक ही मूल प्राणी से विकसित हुए हैं। इनके आगे अत्यन्य सूक्ष्म हैड्रा और अमीबा आदि प्राणी हैं। इनके भी पोषण, श्वासोच्छ्वास, मलविसर्जन, रक्त-प्रसारण, प्रेरण, आधारस्थान, ज्ञानतन्तु और प्रसव आदि आठों संस्थान होते हैं। जिससे उँचे दर्जे के प्राणियों से इनका मेल मिलता है। यहाँ तक इन समस्त प्राणियों का वंशवृक्ष देकर दिखलाया गया, कि सब प्राणी वैधर्म्ययुक्त होते हुए भी साधर्म्य से खाली नहीं हैं। इन सब प्राणियों को यदि क्रम से रक्खा जाय, तो पहिले अमीबा, फिर हैड्रा, फिर कानखजूरे आदि जाति के जोडोंवाले कीडे, उसके बाद हड्डीवाली मछली, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारियों का स्थान है। इनकी आकृति में विभिन्नता का कारण विकास है। अच्छे यन्त्र के बन जाने पर जिस प्रकार पुराने ढङ्ग के यन्त्र अलग हो जाते हैं, उसी तरह योग्य प्राणियों के उत्पन्न होने से अयोग्य पीछे रह जाते हैं और नई नई जातियाँ बन जाती हैं। पिछली जातियों के अवशिष्ट अवयव इस बात की साक्षी दे रहे हैं। मनुष्य भी स्तनधारियोंकी ही श्रेणीका जन्तु है। वनमनुष्य, बन्दर और लीमर आदि जातियाँ इस श्रेणी की मौजूद हैं। अतः इसकी उत्पत्ति को विकासवाद से अलग समझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विकासवादकी समालोचना ।

इस समस्त वर्णन में यहाँ हमें यह देखना है, कि विकासवाद को सिद्ध करनेवाली कौन कौनसी बातें मिलीं। हमारी समझ से इस वर्णन में विकास को सहायता देने-वाली पाँच बातें हैं- (१) सब प्राणियों का अन्तरीय रचना से ही मिलान होता है, बाह्य रचना से नहीं। (२) मत्स्य, मंडूक, सर्पणशील, पक्षी और स्तनधारियों तथा अमीबा आदि कीटों तक के शरीरों की तुलनासे यही प्रतीत होता है, कि सब एक ही प्रकार की बनावटवाले हैं। (३) ओपोसम, डकबिल, पेंग्विन, मोर और ह्वेल आदि के देखने से ज्ञात होता है, कि परिस्थितिके कारण उनके शरीरों में ह्रासविकास हुआ है। और ह्रासविकास ही दो भिन्न भिन्न योनियों को एक में जोडनेवाला है। (४) कई एक भिन्न भिन्न जातियों के संयोग से संतति का होना भी पाया जाता है। उससे भी ज्ञात होता है, कि वे एक ही वंश के हैं। (५) प्राणियों की उत्पत्ति का यह क्रम ज्ञात होता है, कि यन्त्र की तरह पहले सादी रचना के, फिर क्लिष्ट रचना के प्राणी हुए। अर्थात् पहले एककोष्ठधारी अमीबा, फिर दो कोष्ठ का हैड्रा, फिर छोटे कृमि, फिर जोडोंवाले कीडे, फिर हड्डीवाले मत्स्य, फिर मण्डूक, फिर सर्पणशील, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारी हुए। अगर हमने निष्कर्ष निकालने में गलती नहीं की, तो पिछले दोनों शास्त्रों का यही मत है। आगे हम क्रम से इन पाँचों बातों की समालोचना करते हैं।

(१) शरीर की अन्तररचना का मिलान ही ठीक है। भले हो, इसमें हमको कुछ उज्र नहीं है। किन्तु हम देखते हैं कि इस शरीरतुलनाशास्त्र में तो सब बाहरी दिखाव से ही श्रेणियाँ निश्चित गई हैं। स्तनधारियों की श्रेणी स्तनों को देखकर ही निश्चित की गई हैं। यह बाह्य रचना है, अन्तररचना नहीं। मांस खाना, जीभ से पानी पीना, मैथुन समय में बँध जाना, पसीना न आना, अँधेरे में देखना आदि भी सब बाहरी ही लक्षण हैं। तीक्ष्णदंतियों की कक्षा भी तो दाँत देखकर ही बनी है, जो बिलकुल ही बाहर की घटना है। सर्पणशीलता अर्थात् तेज चाल भी तो बाहर का ही दिखाव है। चिडियों का तैरना अर्थात् पाँव की झिल्ली और मांस खानेवालों की टेढी चौंच आदि भी तो सब बाहरी ही रचना है। जोडवाले

कीडों तक का वर्गीकरण भी तो बाहर की ही रचना देखकर किया गया है। जब शुरू से आखिर तक सारा विभाग-क्रम बाह्य रचना पर ही अवलम्बित है, तब क्यों व्यर्थ कहा जाता है, कि अन्तरीय रचना पर ही वर्गविभाग किया गया है? ह्वेल, चमगीदड और गौ के स्तनों को ही देखकर तो इन सबको एक कहा गया है। चमगीदड के दाँत ही देखकर तो इसकी गिनती स्तनधारियों की तीक्ष्ण दन्तवाली पंक्ति में हुई है। परन्तु इस विज्ञान ने जहाँ बाह्य आकृति से काम नहीं लिया, वहीं पर गलती हुई है। ऊपर हम अभी लिख आए हैं, कि भालू और गिनफिाउल की श्रेणी बनाने में भूल हुई है और उस भूल को अब रुधिरशास्त्र दुरुस्त कर रहा है। कहने का मतलब यह कि इस प्रकार की अन्तरीय रचना पर बिल्कुल ही वर्गविभाग नहीं हो सकता। अन्दर हड्डियाँ हैं, नस नाडी हैं, यकृत, प्लीहा हैं और गर्भाशय आदि अनेक यन्त्र हैं। पर क्या ये सब अस्थिविहीन कीडों में कोई दिखला सकता है? कभी नहीं। कुत्ते की जिह्वा से पानी पीने की और गौ की घूँट बाँधकर पानी पीने की केवल अन्तररचना ही देखो, तो कभी न कह सकोगे, कि ये दोनों स्तनधारी हैं। कहने का मतलब यह कि अन्तररचना बडी जटिल हैं। उसके द्वारा वर्गविभाग कभी सत्य सत्य हो ही नहीं सकता।

(२) अमीबा से स्तनधारियों तक की रचना-साम्य का सिद्धान्त भी गलत है। अभी हम ऊपर लिख आये हैं, कि बिन हड्डीवालों और हड्डीवालों के बीच में इतना अन्तर है, कि विकासवाद और योरप का सारा विज्ञान, यदि जमीन और आसमान को एक कर दे, तो भी वह सिद्ध नहीं कर सकता, कि इनका परस्पर कुछ भी संबंध है। अस्थिसंयुक्त प्राणियों का अस्थिहीन प्राणियों के साथ कुछ भी मेल नहीं है। अतः वे एक दूसरे का विकास नहीं हो सकते। अस्थिहीनों में अस्थियाँ कैसे उत्पन्न हुई? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तो बडे बडे विकासवादियों के दिमाग भी चक्कर खाने लगते हैं। अस्थियों के उत्पन्न होने की चार ही कल्पनाएँ की जा सकती हैं– (१) प्राणियों की मानसिक प्रेरणा से अस्थियाँ बन गईं; (२) कठोर काम करते करते जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में घट्टे पड जाते हैं; उसी प्रकार श्रम करने से प्राणियों के भीतर अस्थियाँ उत्पन्न हो गईं; (३) जब ऐसी खूराक खाई जाने लगी, जिसमें चूने का भाग अधिक था, तब हड्डियाँ पैदा हो गईं और (४) शरीर के अंदर के अन्य अवयव ही–नस नाडी ही हड्डियाँ बन गईं। अब देखना चाहिए कि इन चारों कल्पनाओं में कुछ भी तत्त्व है या नहीं।

मन का असर उस चीज पर पडता है, जिसका मन से सम्बन्ध हो। हड्डी का मन से बिलकुल संबन्ध नहीं है। दाँत में सुई चुभाने से मन पर कुछ भी असर नहीं होता। अतः मानसिक प्रेरणा के कारण अस्थियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। श्रम के द्वारा पडे हुए घट्टों का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि घट्टा बाहरी रगड से चमडे पर ही पडता है, अंदर नहीं। इसी तरह भोजन से भी हड्डी उत्पन्न नहीं हो सकती। चूनेवाले पदार्थों का जाने दीजिए। हम यहाँ उन प्राणियों का जिक्र करना चाहते हैं, जो सदैव हड्डी पैदा करनेवाली ही खूराक खाते हैं, पर उनके शरीर में हड्डी उत्पन्न नहीं होती। सभी जानते हैं कि मनुष्यों और पशुओं के शरीरों में उनका खून ही हड्डी उत्पन्न करता है। परन्तु लीखों और जुओं की– चपटे और किलनों की लाखों पीढियाँ मनुष्यों और पशुओं का हड्डी बनानेवाला खून पीते बीत गईं। पर इनके शरीरों में हड्डियाँ उत्पन्न न हुईं। खटमलों और जोंकों ने खून पी पीकर लोगों को सुखा दिया। पर उनके शरीरों में हड्डीयाँ उत्पन्न न हुईं। चींटियों ने मनों हड्डीयाँ चुन खाईं, पर वे अपने शरीरों में हड्डियाँ उत्पन्न न कर सकीं। इसलिए खूराक से भी हड्डियों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

शरीर की दूसरी चीजें– नसनाडी आदि के हड्डी हो जाने की कल्पना भी युक्तिहीन है। बच्चों के मुँह में पहिले दाँत नहीं होते। कुछ दिन के बाद धीरे धीरे निकलते हैं। किन्तु कल्पना करो कि कोई नसनाडी दाँत बना गईं। थोडे ही दिनों में वे सब दाँत गिर जाते हैं। पर गिरते समय दाँतों की जडों में लगी हुई कोई नसनाडी आज तक किसी को नहीं दिखी। ये गिरे हुए दाँत कुछ दिन के बाद फिर निकलते हैं। यदि मान लें कि पहिली नस नाडी चली गई, तो यह दूसरी कहाँ से आ गई? थोडे दिन में– वृद्धावस्था के आते ही ये दाँत फिर गिर जाते हैं। उस समय में भी कोई नस नाडी

नहीं निकलती। सैकडों आदमियों के दाँत डॉक्टर निकाल डालते हैं। पर उनके साथ कोई दूसरी चीज नहीं निकलती। दाँत तो कीलों की तरह अलग अगल गडे हुए हैं। शरीर के किसी दूसरे अङ्ग से उनका कुछ वास्ता नहीं है। दाँतों की ही तरह शरीर के अन्दर का सारा अस्थिपञ्जर बिलकुल अलग बना हुआ है। उसका वास्ता शरीर के किसी मांस, नस, नाडी और चमडे आदि से कुछ भी नहीं है। अर्थात् कोई पदार्थ उससे जुडा– मिला हुआ नहीं है। इसलिए यहाँ अब फिर प्रश्न होता है, कि ऐसी निराली चीज को अस्थिविहीन प्राणियों ने कैसे प्राप्त कर लिया ?

स्थूल और गोलमाल के शब्दों में अर्थात् विकासवाद के खास शब्दों में कहें तो कह सकते हैं, कि अस्थि–विहीन प्राणियों में हड्डियों को 'परिस्थिति' ने उत्पन्न कर दिया। किन्तु दुःख के साथ कहना पडता है, कि परिस्थिति भी हड्डी की बनानेवाली नहीं है। भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते और बढते हैं। पर बहन के मुँह पर डाढी मूँछ का नाम भी नहीं होता! हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में हैं। पर हथिनी के मुँह में बडे दाँत नहीं होते। मोर और मयूरी, मुर्गा और मुर्गी दोनों एक ही परिस्थिति में होते हैं। पर मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलगी नहीं है, जो मोर और मुर्गे के होती है। क्या एक ही स्थान में पैदा हुए स्त्रीपुरुष की परिस्थिति में भी कोई ऐसा अन्तर है, कि दो में से एक तो हड्डी बना सके, पर दूसरा हड्डी न बना सके? शास्त्रकार कहते हैं कि—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनास्थिस्तत्र जायते।

(सुश्रुत, अ० २)

अर्थात् जब दो स्त्रियाँ परस्पर मैथुन करके वीर्य छोडती हैं और वह वीर्य किसी के गर्भ में धारित हो जाता है, तो विना हड्डी का लडका पैदा होता है। फिर कहते हैं कि—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्।
आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि॥
मासि मासि विवर्द्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणं।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥

(सु० अ० २)

अर्थात् ऋतुस्नान की हुई स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है और आर्तव, वायु द्वारा खिंच कर गर्भ में धारित होता है। वह गर्भ के लक्षणों से युक्त महीने बढता है और अन्त में पिता के गुण से रहित केवल मांसपिण्ड कलल उत्पन्न होता है। आगे पिताके गुणोंको कहते हैं कि–

केशः श्मश्रुश्च लोमानि नखा दन्ताः शिरास्तथा।
धमन्यास्स्नायवः शुक्रमेतानि पितृजानि हि॥

(सु० अ० २)

अर्थात् केश, लोम, डाढी, मूँछ, नख, दन्त, शिरा, धमनी, स्नायु और शुक्र ये पिता के अंश से उत्पन्न होते हैं। इस कारण से स्त्री के डाढ़ी, मूँछ, मयूरी के पूँछ, मुर्गी के कलगी और हथिनी के दाँत नहीं होते। अब प्रश्न है कि क्यों पुरुष के ये कठिन पदार्थ होते हैं और क्यों स्त्री के नहीं होते? साथ ही यह भी प्रश्न है कि एककोष्ठधारी अमीबा में स्त्री कौन और पुरुष कौन है? तथा किस प्रकार उनका वंश चलता है? और आगे चलकर किस प्रकार क्यों और कब नर और मादा दो भिन्न भिन्न वर्ग क़ायम होते हैं? और फिर किस प्रकार आगे चलकर अस्थिविहीन प्राणी अस्थियुक्त होते हैं? विकासवाद के पास इनका यथार्थ उत्तर नहीं है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि अस्थि आप ही आप उत्पन्न नहीं हो सकतीं, अतः शरीरतुलना की दृष्टि से अस्थिविहीनों का और अस्थियुक्तों का कोई संबंध नहीं है।

कहा जाता है कि एककोष्ठ का अमीबा आगे चलकर दो कोष्ठ का हैड्रा बन गया। अर्थात् विकासवाद के सिद्धान्तानुसार हमेशा कोष्ठ दूने परिमाण से (एक के दो, दो के चार, चार के आठ और आठ के सोलह) बढ़ते हैं *। इस सिद्धान्त से प्रत्येक उत्तर उत्तर की योनियाँ,

* आरंभ में अण्डा केवल एककोष्ठवाला है और इस अवस्था से आगे अण्डे की वृद्धि शुरू हो जाती है। एक के दो, दो के चार, चार के आठ, आठ के सोलह इस प्रकार कोष्ठों की संख्या बढ़ती है। विकासवाद पृष्ठ ९५
*

आकार और वज़न में, एक से दूनी और दूनी से चौगुनी आदि होनी चाहिये थीं। पर ऐसा देखने में नहीं आता। अमीबा हर जगह से अपने अन्दर छेद कर लेता है। इससे वह एककोष्ठ का भी प्रतीत नहीं होता। अगर एक कोष्ठ हर जगह से फटता है, तो उसका चेतन रस–प्रोटोप्लाज्म–बह जाना चाहिये, किन्तु ऐसा भी नहीं होता। इस तरह से अमीबा से लेकर जोडवालों तक और अस्थिहीनों से लेकर अस्थिवालों तक कोई शारीरिक तुलना दिखलाई नहीं पडती। हम अभी नहीं पूछना चाहते, कि स्तनों का विज्ञान क्या है? किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से यह अवश्य पूछना चाहते हैं, कि स्तनधारी नरों में घोडे के स्तन क्यों नहीं होते? कोई जवाब नहीं। इस तरह से हमने यहाँ तक देखा कि अमीबा के आकारप्रकार का ज्ञान अब तक वैज्ञानिकों को नहीं है। वे नहीं जानते कि वह एककोष्ठवाला है या अनेक–कोष्ठवाला। वे यह भी नहीं जानते कि कोष्ठका क्या विज्ञान है और उनमें नर–मादे का क्या सिद्धान्त है। उनको इस बात का भी पता नहीं है, कि हमेशा दूने कोष्ठों से उत्तर योनियों का होना किस प्रकार सिद्ध होता है। कृमियों के बाद जोडवालों और अस्थिवालों के बीच कोई प्राणी है या नहीं, विकासवादी नहीं जानते। अस्थि की उत्पत्ति विकास के द्वारा असंभव है। घोड़े के स्तनों का अभाव सिलसिला भंग करता है। अर्थात् अमीबा से लेकर स्तनधारियों की शरीरतुलना में उपर्युक्त अनेकों दोष हैं– विघ्न हैं। अतः यह शास्त्र विकास का पोषक नहीं है।

(३) परिस्थिति से प्राणियों के अंगों का ह्रास और विकास बताया जाता है और कहा जाता है कि ओपोसम, डकबिल, पेंग्विन, मोर, ह्वेल और शुतुर्मुर्ग़ आदि के शरीरों में ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि परिस्थिति के ही कारण उनके शरीरों में ह्रास अथवा विकास हुआ है। विकासवादी कहते हैं कि इन प्राणियों के देखने से यह मालूम हो जाता है, कि किस प्रकार प्राणियों के शरीरों में फेरफार होता है। हम कहते हैं कि विकासवादियों ने कहाँ से किस प्रमाण के आधार से कल्पना कर ली कि उक्त प्राणियों के अंगों में परिस्थिति के कारण ह्रास–विकास हुआ है? जिस प्राणी को परमेश्वर ने जिस प्रकार का पैदा किया है, वह उसी प्रकार का है। क्या अधिकार है कि कोई यह कहे कि ह्वेल के पैर कमज़ोर हो गये? और क्या अधिकार है कि कोई यह कहे कि मोर और शुतुर्मुर्ग़ के पर कमज़ोर हो गये हैं? ह्वेल के पैर जब पानी में तैरने का बराबर काम दे रहे हैं, तब उसके लिये यह कल्पना करना कि वह पहिले स्थलचारी थी और अब पानी में रहने से उसके पैर कमज़ोर हो गये हैं, बिलकुल ग़लत है। कैसे जाना गया कि वह पहिले स्थलचारी थी और उसके पैर मज़बूत थे? इसी तरह मोर और शुतुर्मुर्ग़ हैं। वे डीलडौल में बड़े हैं। इनको पक्षियों से डर नहीं है। चरिन्दों से बचने के लिए उनके पास पर हैं ही। ऐसी दशा में यह कहना कि उनके पर परिस्थिति के कारण कमज़ोर हो गये, निरी कल्पना है। आज भी जब मोर को कुत्ता पकड़कर नोच डालता है, तब कैसे अनुमान कर लिया गया कि उसका कोई शत्रु नहीं रहा और उड़ने का काम न पडने से पर कमज़ोर हो गये? भला पर जैसी चीज़ को कभी कोई निकम्मा होने देगा?

पक्षियों से स्तनधारियों की उत्पत्ति कही जाती है। पर भला सोचो तो सही कि जिस उड़ने की अधूरी विमानविद्या से मनुष्य कृतार्थ हो रहे हैं, उसको ईश्वर से पाकर भी पक्षीगण क्या यों ही खो देते? क्या इस समय पक्षियों का कोई शत्रु नहीं है? यदि अब भी शत्रु मौजूद हैं, तो उन्होंने किस आशा पर अपने पर बरबाद करके पशुओं का स्वरूप धारण किया? हम तो कहते हैं इस प्रकार की कल्पना ही निर्मूल है। हम पहले ही कह आये हैं कि परिस्थिति से अंग ग़ायब नहीं होते और न नये अंग स्फुटित ही होते हैं। अंगों का होना यदि परिस्थिति पर होता तो हथिनी के भी बडे दाँत होते। क्योंकि हाथी और हथिनी दोनों की परिस्थिति समान है। इसलिए परिस्थिति के कारण शरीरों में ह्रास और विकास का होना सिद्ध नहीं होता। शरीर तो परमेश्वर की ओर से सुखदुःख भोगने के लिए मिलता है। प्रत्येक प्राणी अपनी योनि में पैदा होकर अमुक वर्षों तक उस शरीर के सहारे सुख दुःख भोगता है।

विकासवादवालों ने जो वर्गीकरण किया है, वह केवल

इसलिए कि विकासवाद सरल हो जाय। अन्यथा उसमें कुछ भी दम नहीं है। ह्रास-विकास का शोबदा दिखलाकर वर्गों का वह अन्तर पूरा करने की कोशिश की गई है, जो इसने अभी अमीबा और हैड्रा के बीच, अस्थि और अस्थिवालों के बीच, तथा घोड़े और अन्य स्तनधारियों के बीच दिखलाया है। समस्त जातियाँ जिनकी जाति, आयु और भोग अलग अलग नियत हैं, वे सब ईश्वरकृत, बिलकुल स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न जातियाँ हैं। उनके शरीरों में जो ह्रास-विकास दिखता है, वह परिस्थिति आदि से नहीं हुआ। प्रत्युत उनके पूर्वकर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से सुखदुःख भोगने के लिए हुआ है।

(४) भिन्न भिन्न दो जातियों के मिश्रण से भी वंश चलनेवाला सिद्धांत ठीक नहीं है। क्योंकि जिन भिन्न भिन्न दो जातियों के मिश्रण से वंश चलता है, वे दो जातियाँ नहीं; प्रत्युत एक ही जाति के दो विभक्त प्राणी हैं। बिलकुल ही भिन्न भिन्न दो जातियों के मिश्रण से सन्तति नहीं होती। शायद कहीं होती है तो वंश नहीं चलता। अर्थात् कुछ जातियों का मैथुन निरर्थक होता है, कुछ के सन्तान होती है। पर वंश अर्थात् सन्तान के सन्तान नहीं होती और कुछ के वंश भी चलता है। वंश चलने का नमूना अब तक देखा नहीं गया। हाँ सुनते हैं कि व्याघ्र और सिंह से तथा कुत्ते और भेडिये के संयोग से सन्तति हो जाती है। विकासवाद के लेखक पृष्ठ ५० में लिखते हैं, कि 'सिंह तथा व्याघ्र के मेल से सन्तति हो जाती है। इस प्रकार की सन्तति के होने का कारण यही हो सकता है कि इन दोनों का उद्गम-स्थान एक ही हो। यदि इन दोनों का उद्गम-स्थान एक ही न होता, तो इस प्रकार की सन्तति की संभावना कभी भी नहीं होती। भेड़िये तथा कुत्ते के मेल से भी सन्तति हो जाती है। शिकारी लोग इस प्रकार से पैदा हुए कुत्तों को अधिक चाहते हैं, क्योंकि इन कुत्तों में श्वा जाति की स्वामिभक्ति के साथ भेड़िये की शूरता भी आ जाती है'।

यहाँ यही सूचित होता है कि केवल सन्तति ही होती है। उस किस्म का वंश नहीं चलता। यह नमूना घोड़े और गधे से उत्पन्न हुए ख़च्चर में तथा क़लमी आम और पैबन्द बेर में बहुत अच्छी तरह से दिखलाई पडता है। घोड़े गधे के मेल से सन्तति तो होती है, अर्थात् ख़च्चर तो होता है, पर आगे ख़च्चर के वंश नहीं चलता। इसी तरह पैबन्द बेर की गुठली से भी फिर वृक्ष नहीं होता। इससे समझना चाहिये कि वे सजातीय नहीं हैं। किन्तु व्याघ्र और सिंह से-कुत्ते और भेडिये से—वंश चलता है। इसी तरह क़लमी आम की गुठली के बोने से वृक्ष होता है, फल भी लगते हैं। इससे वे सजातीय प्रतीत होते हैं। परन्तु आगे चलकर यह मिश्र-योनिज जाति मूल जाति के रूप की हो जाती है। अर्थात् वह या तो धीरे धीरे व्याघ्र की अथवा सिंह की शकल की हो जाती है। इसी तरह कलमी आम धीरे धीरे छोटा होता हुआ उसी तुख्मी आम के आकार का हो जाता है, जिसमें क़लम लगाई गई थी। उक्त दोनों सूरतों से विकास को सहारा नहीं मिलता। विकास की खूबी तो अलग जाति उत्पन्न करने में है—वंश चलाने में है, केवल बच्चा पैदा करा देनेमें नहीं। बच्चा तो दो स्त्रियाँ मिलकर भी पैदा कर देती हैं। पर क्या वह कोई बच्चा है? जब उस में हड्डी नहीं, जान नहीं और वंश चलाने की शक्ति नहीं; तब केवल कुछ न कुछ पैदा कर देने से ही क्या फ़ायदा?

सुना गया है कि अमेरिका में लूथर बरबैंक नामी विद्वान् ने बहुत से वृक्षों की क़लमों से अनेक प्रकार के फल-फूल उत्पन्न कर दिये हैं। हम मानते हैं कि सजातीय मिश्रण से सन्तति होती है, वंश चल सकता है। बरबैंक ने सजातीय वृक्षों से अवश्य ऐसा कर दिया होगा। हमारी तो व्याख्या ही है कि '**समानप्रसवात्मिका जातिः**'। अर्थात् जाति वही है जिस में प्रसवसमानता हो। यह प्रसवसाम्य अन्य दो बातों की आवश्यकता रखता है। शास्त्र में कहा है कि '**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः**' अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों का फल जाति भोग और आयु द्वारा मिलता है। जाति वह है जिसके परस्पर मेल से सन्तति हो। यह सन्तति उन्हीं में होगी जिनका भोग और आयु भी समान होगी। यह कभी न होगा कि जो प्राणी मांस खानेवाला है, उसका संयोग घास खानेवाले से हो जाय, और वंश चल पडे। तथा यह भी कभी न होगा कि जिन दो जातियों के मेल से वंश हुआ है, उनमें एक की आयु प्रायः ३० वर्ष है और दूसरी की १६ की। कहने

का मतलब यह कि जिनका प्रसव समान होगा उनका भोग भी समान होगा और आयु भी समान होगी। क्योंकि शरीर कर्म भोगने के लिए मिला है। साथ ही उसकी मियाद भी मुक़र्रर है कि इतने वर्ष तक इस शरीर से अमुक भोग भोगे जायँ।

भोगोंके विषय में परिस्थिति के बहाने कहा जा सकता है, कि अमुक जाति को जब जीने के लिए उसकी खूराक न मिली, तो वह मांस खाने लगी। पर क्या कोई कारण विकासवाद बतला सकता है, कि प्रत्येक जाति की आयु भिन्न भिन्न क्यों मुक़र्रर है? अधिक परिचय न होने के कारण हम लोगों को नहीं मालूम होता कि कौन प्राणी कितने दिन तक जीता है। पर मनुष्य, बन्दर, गाय, बकरी, ऊँट, गधा और छोटे छोटे कीड़ों में आयु का महान् अन्तर है। ऐसी दशा में यह प्रश्न आप ही आप उपस्थित होता है कि क्यों मनुष्य सौ वर्ष तक जीनेवाला प्राणी है, और क्यों अन्य प्राणी भी अमुक समय तक ही जीते हैं ❀? इसका उत्तर विकासवाद के विज्ञान से बाहर है। इतना ही नहीं किन्तु जब कभी विकासवाद इसका उत्तर देने की चेष्टा करेगा, उसको अपना सिद्धान्त तुरन्त ही बदलना पड़ेगा, क्योंकि संसार में प्राणियों की आयु का क्रम महा विलक्षण है।

विकासवाद मानता है, कि पृष्ठवंशधारियों में सर्पणशीलों की श्रेणी है; जिसमें कछुवा और सर्प भी है। आयुःशास्त्रियों का कहना है कि कछुवा १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। विकासवाद कहता है कि सर्पणशील ही विकसित होकर पक्षी हो गये हैं। पक्षियों में ही कबूतर है, जो ८ ही वर्ष जीता है। कहा जाता है, कि इन्हीं पक्षियों का विकास स्तनधारी है, जिनमें आयुःशास्त्र के अनुसार शशक ८, कुत्ता १४, घोड़ा ३२, वानर २१, और मनुष्य १०० वर्ष जीता है ●। हम स्पष्ट ही देख रहे हैं कि विकास में आयु का ह्रास है। कछुवा १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। पर जीवनसंग्राम में इनको पराजित करनेवाला योग्य पक्षी कबूतर ८ ही वर्ष जीता है। इससे भी अधिक योग्य स्तनधारी शशक, कुत्ता और घोड़ा भी क्रम से ८, १४ और ३२ ही वर्ष जीते हैं। मनुष्यों से उतरकर और सब प्राणियों से श्रेष्ठ वानर भी २१ ही वर्ष जीता है। यद्यपि इतना योग्य हो जाने और इतनी उन्नति के बाद मनुष्य ही १०० वर्ष जीता है, पर फिर भी वह सर्प और कछुए की उमर तक नहीं पहुँचता।

विकासवाद कहता है कि जीवनसंग्राम में योग्य ही रह जाते हैं। उन्हीं से नवीन जातियों का प्रादुर्भाव होता है। पर हमारी समझ में नहीं आता कि विकसित होकर प्राणियों ने कौन सा लाभ किया-कौन सी योग्यता प्राप्त की? जीने के लिए संग्राम किया, योग्यता प्राप्त की और रूप भी बदल डाला। किन्तु मृत्यु के अधिक निकट पहुँच गये। जो पहिले के हैं और सरल रचना के हैं वे अधिक दिन जीते हैं। पर जो क्लिष्ट रचना के हैं और बाद के हैं, वे कम दिन जीते हैं। विकासवाद ने क्या यह मशीनों का सुधार किया कि पहले जो मशीन १५० वर्ष टिकती थी, अब वही सधरी हुई मशीन ८ ही वर्ष रहती है? अच्छा यान्त्रिक विकास है!!

❀ शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम्।
चतुस्त्रिंशत्तु वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम्॥
पञ्चविंशति वर्षा हि परमायुर्वृषोष्ट्रयोः। (शुक्रनीति)

समाषष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशा। हयानां द्वात्रिंशत् खरकरभयोः पञ्चकृतिः। विरूपासाप्यायुर्वृषमहिषयोर्द्वादश शुनां। स्मृतं छागादीनां दशकसहिताः षट् च परमम्॥ (बृहज्जातक)

●

प्राणी–	शशक,	कबुतर,	वानर,	कुत्ता,	बकरा,	बिलार,	घोडा,	मनुष्य,	हाथी,	सँप,	कछुवा
एक मिनटमें श्वास-	३८	३६	३२	२९	२४	२५	१९	१३	१२	८	५
आयु वर्ष—	८	८	२१	१४	१३	१३	५०	१००	१००	१२०	१५०

सर्पणशील ही पक्षी हो गये। ठीक, हो जायँ पर उड़नेवाले कीड़ों के— भौंरा, ततैया, मक्खी आदि के-पंख कैसे हो गये और उड़नेवाली मछलियों के पर कैसे लग गये? इनके साथ पक्षियों के शरीर की तुलना किस प्रकार होगी और इन क्रमियों तथा मछलियों के साथ पक्षियों का कैसे संबंध लगेगा? क्या कोई पक्षी इन पक्षधारी कीड़ों और मछलियों से वंश स्थापित कर सकता है? क्या बंदर और मनुष्य से वंश स्थापित हो सकता है और हो सकता है? कदापि नहीं।

(५) कहा जाता है कि प्राणियों की उत्पत्ति, सादी रचना से क्लिष्ट रचना के क्रम से होती है। यह हमें मान्य है कि पहले सादी रचना के प्राणी होते हैं, फिर क्लिष्ट रचना के। किन्तु यह मान्य नहीं है कि वही सादी रचनावाले ही क्लिष्ट रचनावाले हो जाते हैं। क्योंकि कीट अवस्था में ही पक्षियों की सी क्लिष्ट रचना उड़नेवाले कीड़ों और मछलियों की देखी जाती है। कानखजूरे की सी क्लिष्ट रचना साँप की नहीं है और न तितली जैसी कारीगरी कौवे में ही पाई जाती है। पर विकासवाद कहता है कि तितली और कानखजूरा, कौवे और सर्प से पूर्व ही उत्पन्न हो गये थे। ऐसी दशा में सादी और क्लिष्ट रचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। यदि विकासवाद तितली आदि की रचना को क्लिष्ट रचना न कहकर केवल अस्थिवाले प्राणियों को ही क्लिष्ट रचनावाले कहता है तो कहे, परन्तु रचने में तो अस्थिवाले मनुष्यों की रचना से वृक्षों की ही रचना अधिक क्लिष्ट है। क्योंकि वृक्षों में अस्थिपंजरों के स्थान में अनेक डालियाँ और शाखायें, पत्ते, फूल, फल तथा देखने और श्वास लेनेवाले अंग ऐसे अनोखे हैं कि मनुष्य का शरीर उसकी कारीगरी के सामने कुछ भी नहीं है। वृक्ष के एक फूल पर, उसके रंग, बनावट और सुगन्धि पर मनुष्य की शरीररचना निछावर है। अतः मनुष्य वृक्षों के साथ कुछ भी मुक़ाबिला नहीं कर सकता। पर पशुओं और पक्षियों की जैसी स्वतंत्रता तथा मनुष्य जैसा ज्ञान विज्ञान वृक्षों में नहीं है, इसलिए हम उन्हें सादी रचनावाले कहते हैं।

सृष्टिका यह नियम है कि पहिले भोग्य और फिर भोक्ता उत्पन्न होता है। कर्मानुसार प्राणी ही भोग्य और भोक्ता होता है। सादी रचनावाले भोग्य और क्लिष्ट रचनावाले भोक्ता होते हैं। यदि ऐसा न हो तो कोई भोग्य किसी के काम ही न आवे। वनस्पति यदि भाग जाय तो पशु कैसे जियें? और घोड़ा यदि मनुष्य से अधिक बुद्धिमान् हो जाय, तो उसको सवारी का काम कौन दे? इस व्यवस्था के अनुसार सबसे पहिले वनस्पति, फिर पशु (जिनमें हाथी से क्रमि पर्यन्त सम्मिलित हैं) और अन्त में मनुष्य पैदा हुए। इस प्रकार की उत्पत्ति हमको सर्वथा मान्य है। यह उत्पत्ति नई नहीं, किन्तु वेदानुकूल होने से महा प्राचीन है *।

तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र में हमने जिन पाँच बातों को विकासवाद का पोषक देखा था, यहाँ तक उनकी विस्तृत समालोचना करके, जिस नतीजे पर पहुँचे हैं, वह पढ़नेवालों के सामने है। याद रखने के लिए यहाँ फिर दोहरा देना चाहते हैं कि विकासवाद ने यहाँ तक न तो विकास को अच्छी तरह आरोपित ही किया है और न कोई प्रमाण ही दिया है। इस निर्बलता को स्मरण करते हुए विकासवाद के लेखक पृष्ठ ७७ में खुद ही कहते हैं, कि 'शरीररचना-शास्त्र में प्राणियों की रचना के सम्बन्ध में जो सामान्य तत्त्व हुए, उनके जानने के लिए अनुमान प्रमाण से ही अधिकतर काम लेना पड़ा। क्योंकि भिन्न भिन्न प्राणियों की रचना में जो समानतायें तथा भेद प्रतीत हुए, उन पर विचार करके शास्त्रीय तथा तार्किक शैली से अनुमान लगाकर ही परिस्थिति के अनुरूप विकास को सिद्ध करना पड़ा। प्रत्यक्ष प्रमाण का वहाँ कुछ वश नहीं चला'। ग्रन्थकार के कहने का मतलब स्पष्ट है कि अब तक विकासवाद की सिद्धि नहीं हुई।

* सम्भृतं पृषदाज्यम्। (यजु० ३१।६)
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्यांश्च ये। (यजु० ३१।६)
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च। (यजु० ३१।६)

वेदमें हम और हमारे शत्रु।

(लेखक- श्री० बलदेवाग्निहोत्री, साहित्याचार्य, वै० ध० वि०, मुरादाबाद)

हम सनातन (वैदिक-) धर्मियों के मन में इस विचार का उद्भव स्वाभाविकसा है, कि सनातन वेद हमारी पैतृक सम्पत्ति है, ईश्वरने यह थाती हमको ही सौंपी है, हम ही वेदों पर निजत्व जताने के समुचित अधिकारी हैं। इसी विचार के वशीभूत हो कर हमारी यह भावनायें भी बन गई हैं, कि- "पाहि नः अग्ने! = हे परमेश्वर हमारी रक्षा कर!" "वयं जयेम = भगवन्! हम विजयी हों!" "इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् = ईश्वर! मेरा ज्ञान और बल सम्पत्तियुक्त हो!" इत्यादि चारों वेदों में जो हमारे हित और कल्याण की प्रार्थनायें हैं, वे हमसे सम्बद्ध हैं। ऐसी प्रार्थनायें करने पर हमारा कल्याण अवश्यंभावी है और "दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि' = जो हमसे द्वेष करता है, उसके लिए (आपः) जल दुःखदायक हों"। "समत्रिणं दह = शत्रुको सम्यक् भस्मीभूत करो"! "परानुदस्व मघवन् अमित्रान् = भगवन्! शत्रुओं को परास्त कर दो"। इत्यादि प्रार्थनाएँ करने पर हमारे शत्रुओं की अधोगति तथा विनाश आवश्यक है।

वेद के वेदत्व का विचार करने पर, वेदों के प्रादुर्भाव का कारण खोजने पर, वेद-प्रकाशक ईश्वर के वेदवर्णित स्वभाव को समझने का प्रयत्न करने पर, हम उपर्युक्त विचार में वेदानुकूल्य पाते हैं अथवा वेदप्रातिकूल्य, इस विषय का समीक्षण करने में यद्यपि वेदामृतपान कराने से पूर्व वेदों के अमृतत्व का ह्रद्गत कराना विशेष गुणदायक और आवश्यक प्रतीत होता है, तथापि लेखविस्तृति के भयसे हम इस अंश को छोडने के लिए विवश होते हुए इस विषय में इतना लिख देना आवश्यक नहीं समझते, कि यदि वेदमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों इत्यादि के द्वेषपूर्ण झगडों का वर्णन हो तथा हिन्दुओं का अनुचित पक्ष लेकर दूसरों के नाश की प्रार्थना और उसका साफल्य दिखाया गया हो, तो यद्यपि वेद अपनी भाषादृष्टि से अदूषित हैं फिर भी वे आदि-सृष्टि के नहीं माने जा सकते, किन्तु उन्हें इन मतों के प्रचलनकाल का अथवा उसके पश्चात् का आधुनिक ग्रन्थ स्वीकार करना होगा।

यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के वेदवेत्ता भी मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं, कि संसार के पुस्तकालय में वेदसे प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है। जिनके रचित धर्मशास्त्र को अमेरिका का विधान-भवन सर्वोच्च और सर्वप्रथम पद प्रदान कर रहा है, वे मनुभगवान् भी अपने से पूर्व वेद की ही विद्य-मानता मानने और उन्हीं के आधार पर अपने विचार प्रकट करने के लिए उद्यत हैं। वेदोंके प्रादुर्भाव का वह, आदि-सृष्टि-काल है, कि जब किसी मत और देशविभाग की स्थापना नहीं हुई थी।

प्रश्न होगा कि यदि दूसरे मतवाले और विदेशी लोगों के नाश से उस शत्रुनाशप्रकरण का सम्बन्ध नहीं है, तो क्या फिर उसका तात्पर्य उन प्राणियों के विनाश से है, जो मनुष्येतर हैं? उत्तर- नहीं, कदापि नहीं। क्या वे उस परमपिता की सन्तान नहीं हैं? हैं और अवश्य हैं।

पुनः प्रश्न होगा कि फिर क्या वेद में हमारा ही शत्रु-नाश इष्ट है? अर्थात् जब हम सनातनधर्मी शत्रु 'आर्य' कहे जानेवाले लोगों के नाश की प्रार्थना करें तो 'आर्य' कहे जानेवाले लोगों का नाश हो और जब वे प्रार्थी बनें तो हम सनातनियोंका? उत्तर- नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि सनातनधर्मी और आर्यों को दो पक्षों में विभक्त करना हमारी न केवल वैदिक अपितु लौकिक संस्कृत सम्बन्धिनी भी अनभिज्ञता का द्योतक होगा। कारण

कि सनातनधर्मी भाई जिन ऋषिमुनि और राजा-महाराजाओं के चरित्र का आश्रय लेकर संसार में अपना मस्तक ऊँचा कर रहे हैं, वे एक ग्रन्थ में नहीं, अनेक ग्रन्थों में, एकवार नहीं, किन्तु अनेक वार "आर्य" इस पवित्र नाम से पुकारे गये हैं। अतः जब सनातनधर्मी आर्य और आर्य सनातन-धर्मी हैं, तो यहाँ पक्षप्रतिपक्ष की स्थापना का अभाव होने से उक्त प्रश्नका अवसर ही कहाँ रहा? अन्यथा सनातनी अपने आपको आजसे अनार्य, और आर्य अपने आपको नवीनधर्मी कहने लगें!

पुनः प्रश्न होगा कि तो क्या हमारे वर्ण से इतर वर्ण अथवा कुम्भकार-रथकारादि स्वेतर जातियों का नाश अभीष्ट है—जैसा कि परशुरामजी ने क्षत्रियों को अपना शत्रु मानकर किया? अथवा आजकल अपने अपने वर्णों के कर्मधर्म से हीन, परन्तु फिर भी अपने आप को शर्मा, द्विवेदी, त्रिवेदी कहते हुए (२) पराधीनता व परतन्त्रता में पड़े होने तथा स्थान स्थान पर शिखासूत्रधारियों को पददलित सुनकर भी कुछ सुधबुध न लेते हुए अपने आपको वर्मा और राजपूत नामसे पुकारने में गर्व करते हुए, एवं (३) पशुपालनादि की ओर ध्यान न देकर किन्तु गोघातकों को ऋण दे देकर उनके व्यापार तथा शरीरों को हृष्टपुष्ट बनाकर भी कुछ लोग अपनी प्रसिद्धि वैश्य और गुप्त शब्दसे करते हुए शूद्रादि इतर वर्णों को अपना शत्रु समझ बैठे हैं।

उत्तर-नहीं, क्योंकि ऋग्वेद ५।६०।५-

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय०।

में वेद की खुली आज्ञा है, कि हम लोग भाई हैं, न कोई बड़ा है न कोई छोटा। अतः वेद ऐसी द्वेषाग्नि कभी प्रज्वलित नहीं कर सकता। उसने तो एक प्राणी में मुख बाहु जंघा और पैर की आवश्यकता के समान समाज में चातुर्वर्ण्यकी आवश्यकता अनुभव करके इस की स्थापना की है और इस सम्बन्ध से यह भी स्पष्ट कर दिया है, कि जैसे पैर कटने से प्राणी औंधेमुँह गिरता है, वही दशा शूद्रों के पृथक्करणसे सामने आयगी, एवं इन में से कोई भी एक अंग दूसरे के सहयोग विना कृतकार्य नहीं हो सकता।

उक्त हेतुओं से जब इन समस्त लोगों से शत्रुता का सम्बन्ध नहीं पडता, तब अपने सम्बंधियों से शत्रुता का प्रतिपादन तो वेद को इष्ट ही कब हो सकता है? ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि यद्यपि उक्त दृष्टियों से हमें संसार में किसी भी प्राणी से शत्रुता न करना ही वैदिक आदेश है। वेद स्पष्ट कहता है कि-

'मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (य० ३६।१८)

अर्थात्- 'मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब मित्र की दृष्टि से देखें।' 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्' मुझे सब प्राणी मित्रदृष्टि से देखें। तात्पर्य यह कि हम दूसरों से और दूसरे हमसे वैरविरोध न करें, किन्तु यह कि सब हमकी ही कोटि में हों, कोई दूसरा हो ही नहीं; परन्तु मानवप्रकृति में इसका पालन कहाँ? ऐसा हो तो समस्त संसार ही शान्तिनिकेतन न बन जावे। कुछ न कुछ ऐसे कारण सामने आही जाते हैं, कि शत्रुत्व बँध जाता है, फिर वह अपने सम्बन्धी सजाति या सवर्ण हों अथवा दूसरे वर्ण, मत और देशवाले। हमारे शत्रुनाशकी प्रार्थना से उन लोगों का नाश होना ही चाहिए? इस विषय में यहाँ हम केवल इतना ही कहते हैं, कि इच्छा तो उन लोगों की भी आपके प्रति वैसी ही होगी, जैसी आपकी उनके प्रति है। फिर?

अब हम आपके शत्रुपक्ष को दो भागों में विभाजित करते हैं, एक उसका वह भाग जो वेदों से अनभिज्ञ है और दूसरे आपके वह शत्रु, जो वेदों से प्रार्थना कर सकते हैं। प्रथम भाग का विषय हम आगे खोलेंगे। यहाँ दूसरे विभाग के सम्बन्ध में हम आपसे पूछते हैं, कि वे वेदसे ईश्वरकी प्रार्थना कर उसकी कृपा के पात्र क्यों न होंगे? जब वे अपने आपको वेदके हम या 'अस्मत्' पक्ष की कोटि में

समझकर आपको अपना शत्रु मान, आपके नाश की प्रार्थना करेंगे, तो आपका नाश होगा या नहीं ? यदि होगा, तो वेद ने आपकी क्या सहायता की ? किस मुँह से आप जनतापर वेदकी सत्यता प्रकट करने का साहस करेंगे ? और यदि आपका नाश नहीं होता है, तो उन वेदप्रार्थियों के हृदय में वेदके प्रति क्या श्रद्धा रहेगी ?

आइए, इस समस्या को सुलझानेके लिए वेदका ही आश्रय लेना पडेगा। आप स्वयं जान लेंगे कि वेदके विचार तथा भाव कितने समुन्नत, पवित्र, विशाल और कितने रसाल हैं !!!

(१) कुछ स्थानों पर वेदने शत्रु, अमित्र, द्वेषी, दस्यु आदि शब्दों से शत्रुपक्ष की स्थापना की है।

(२) कुछ स्थलोंपर ' योऽस्मान् द्वेष्टि' ' यो नरता-यद् दिप्सति ' ' यो नः सुप्तान् जाग्रतोवाऽभिदासात् ' 'यो अस्मान् प्रतिदीव्यति (= जो हमसे द्वेष द्वेष करता है, जो हमको गुप्त रूप से सताना चाहता है, जो हम सोते अथवा जागते हुओं को सताता है, जो हमारे प्रतिकूल व्यवहार करता है) इत्यादि शत्रुजनित चेष्टाओंसे शत्रुता की स्थापना की है।

(३) कहीं- " यदि ... गां हंसि ... तत् त्वा सीसेन विध्यामः " (= यदि तू गौ को मारता है, तो हम तुझे गोली से मार देते हैं।) इस प्रकार कुछ गहराई के साथ शत्रुताका बोध कराया गया है। अर्थात् वेदपाठक समझ लें कि यतः " हम " पक्ष के लोग गोहिंसकों को मारते हैं, अतः गोहिंसा करना हम से शत्रुता है।

(४) किसी स्थान पर ऐसा भी है, कि वेदने किसी कुकर्म-कर्त्ता की दुर्गति दिखाई है, जैसा कि ऋग्वेद १०।३४ में ज्वारी की दुरवस्था का चित्र। उससे जहाँ जुआ खेलनेका निषेध ध्वनित हो रहा है, वहाँ भीतर घुसने पर यह भी निश्चित होता है, कि जुआ खेलना, वेदोपदेश का प्रतिपक्ष है, अतः शत्रुत्व-सम्पादक है। ऋ० ८।२।१२ में 'हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥" में शराबियों के आपस में लड़ने तथा नंगे होकर रात-भर बड़बडानेका वर्णन करते हुए, उन्हें ' दुर्मदासः' दुष्टबुद्धि कहा है, अतः मदिरापान शत्रुकोटि में रखनेवाला है।

(५) कहीं कहीं वेदने ' मित्रं कृणुध्वम् (= मित्र बनाओ) ' और ' अक्षैर्मा दीव्यः (जुआ मत खेल) ' यह विधिनिषेध स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। इसको परखने पर निश्चित होता है, कि विधि-विरुद्ध कर्म करना और निषिद्ध कर्म का आचरण करना, ये दोनों ही वेदाभिमत नहीं, किन्तु वेदानु-मति के प्रतिपक्षस्वरूप शत्रुत्व के हेतु हैं।

(६) कहीं कहीं वेद में कुछ कथानकों द्वारा भी किन्हीं रहस्यों का उद्घाटन किया गया है और उन का तात्पर्य या तो किसी वैज्ञानिक समस्या को सुल-झाना है अथवा किसी विधि-निषेध की स्थापना; जैसा कि यमयमी सूक्त में भाई यम और बहिन यमी के संवाद का सार बहिनों से विवाह करने का निषेधमात्र है, इसलिए बहिन से विवाह करना भी वेदानुमतिके विरुद्ध होने से शत्रुत्वोत्पादक है।

(७) कहीं कहीं शात्रवप्रकरण में दोनों में से कोई एक पक्ष ही विवरणसहित आता है, वहाँ उसके विपरीत विवरण से दूसरे पक्ष की स्थापना की जाती है। जैसे—' अपहता असुरा० ' (य० २।२९) अर्थात् परपीडक स्वार्थी जनों को दूर करो। यहाँ परोप-कारी परार्थी जन वेदकी दृष्टि में अस्मत्पक्ष में गण्य हैं। एवं ऐसा वर्णन आने पर कि तुझ ईश्वर के भक्त हम लोगों को जो सताता है, उसका नाश कर वहाँ ईश्वरभक्तिविरोधी जन शत्रुपक्ष में गिने जायेंगे।

(८) किसी स्थल पर ऐसा भी है, कि शात्रव-प्रकरण के विना, केवल एक ही पक्ष के आचरण का वर्णन है, जैसे ऋ० ८।६१।११-

न पापासो मनामहे नारायासो न जळ्हवः ।०

अर्थात् हम पापी, अदानी और यज्ञत्यागी बनकर

तेरी स्तुति नहीं करते हैं । यहाँ प्रकट में दूसरे पक्ष की स्थापना न होनेपर भी इसी पक्ष के आधार पर पापी, अदानी आर अयाज्ञिकों को वेद के शत्रुपक्ष में गिनना होगा । इसी प्रकार अन्यत्र केवल परपक्ष की विवृत्ति को देखकर, उसे उलटने पर वैदिक अस्मत्पक्ष की स्थापना होगी ।

(९) ईश्वर के वेदोक्त न्यायप्रियता, सत्यरक्षकता, असत्यवादिहंतृता और राक्षसहन्तृतादि गुणों से अस्मत्पक्ष और तद्विरोधी दुर्गुणों से शत्रुपक्ष की स्थापना होती है । क्योंकि यद्यपि मनुष्य को अपने अल्प ज्ञान और अल्प शक्तिके कारण ईश्वरीय सर्व गुणों का और पूर्णरूप से अपने अन्दर धारण करना दुःशक है, तथापि अपना सकने योग्य तद्गुणों को यथाशक्ति अपनाने से ही हम 'वेद' के अस्मत्पक्ष में आ सकते हैं, अन्यथा नहीं । ऋग्वेद ७।१०४।१२, परमात्मा के स्वभाव का वर्णन इन शब्दों में करता है-

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्
सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

अर्थात्- उन सत् और असत् दोनों में जो सत्य वचन है और जो ऋजुतम = अकुटिल है, उसी की परमात्मा रक्षा करता है और असत्य को हनन करता है ।

(१०) जिन राजा, सेनापति, विद्वान् और अतिथि आदिके साथ हमारे सहयोग बने रहने की प्रार्थना इच्छा वा आज्ञा है, उनके सविशेषण वर्णनों के आधार पर तद्गुणविशिष्ट लोग वेदके अस्मत्पक्ष में और तद्विरोधी शत्रुपक्ष में गणनीय हैं । जैसे- य० ७।४६ में—

ब्राह्मणमद्य विन्देयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणम्० ।

अर्थात्- हम आज ऐसे विद्वान्को प्राप्त करें, जो उत्तम पितासे उत्पन्न, अच्छे पितामहवाला हो, जिसने ऋषियोंका ज्ञान पढा हो और स्वयं दिव्य दृष्टियुक्त तथा उत्तम वीर्य धारण करनेमें दक्ष, इन्द्रियनिग्रही ऊर्ध्वरेता हो ।

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियः । (अ० ९।६॥) यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् । (अ० १५।११।१)

अर्थात्- जो वेदज्ञानी है, वही अतिथि है । जिस के घर इस प्रकार का ज्ञानी व्रतशील विद्वान् अथिति आ जावे वह उसका स्वागत करे ।

(११) कहीं कहीं वेदमें यह आता है, कि ऐसे लोग देवों या ईश्वर की सहायतादि को न पावें या नहीं पा सकते इत्यादि । वहाँ उस पक्ष को शत्रुकोटि में रखकर तद्विपरीत आचरण को अस्मत्पक्ष का पोषक माना जायगा । जैसे य० ३४।५१-

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ॥

अर्थात्- देवों के प्रथमावस्थोत्पन्न बल को (रक्षांसि) दूसरों को पीडा देकर अपनी रक्षा करनेवाले तथा (पिशाचाः) प्राणियों के रुधिरादि को खानेवाले, रक्तमांस चूसनेवाले, विशेषतः कच्चा मांस खानेवाले, हिंसक म्लेच्छाचारी दुष्ट जन नहीं उल्लंघन कर पाते ।

० अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ॥
(ऋ० ८-७५-१०)

अर्थात्- हे तेजस्वि देव ! लोग बल के लिये तेरी स्तुति करते हैं । यहाँ प्रथम मन्त्रोक्त दुष्टों से विपरीत आचरण रखनेवालों को वैदिक अस्मत्पक्ष में और द्वितीय मन्त्रोक्त आस्तिकों के विरोधी नास्तिकों को शत्रुपक्ष में गिनना पडेगा ।

(१२) इसी प्रकरण में हमें वेद के उन मन्त्रों का संग्रह ग्रहीतव्य है, कि जिन में ईश्वर, देव, राजा, विद्वान् आदि के दूसरे लोगों को नष्ट, भस्मसात् और दूर करने आदि का वर्णन, इस विषय की प्रार्थना अथवा आज्ञायें आई हैं और उन नाश होने योग्य लोगों से विपरीत आचरण रखनेवालों तथा जिनकी मंगल कामना की गई है, उन को अस्मत्पक्ष में मानना चाहिए । जैसे—

० । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ (य० १९ । ३८॥)

अर्थात्—दुष्ट कुत्तों के समान पापियों को पीडित कीजिये ।

इन्द्रो० प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः । अहन् व्यंसमुधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥
(य० ३३ । २६)

अर्थात्—पर पदार्थों के चाहनेवालों का नाशक इन्द्र (मायिनाम्) दुष्ट बुद्धिवाले छली कपटी आदि को मारे। जो वनों में रहनेवाले, जिसकी भुजा कपटी हैं, ऐसे चोर को मारे और आनन्ददायक उपदेष्टाओं की वाणियों को प्रकट करे।

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः ।
(य० ३५ । १)

अर्थात्—विद्वानों के द्वेषी, परपीडक, व्यवहारी लोग यहाँ से दूर हो जावें।

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुरा सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँ-ल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥ (य० २ । ३०)

अर्थात्—जो दुष्ट मनुष्य (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः) ज्ञान के अनुकूल अपने अन्तःकरणों में विचारे हुए भावों को दूसरों के सामने छिपाकर विपरीत भावों के प्रकाशित करनेवाले (असुराः) धर्म को ढाँपते हैं, जो संसार से उलटे अपने सुखकारी कामों को सिद्ध करने के लिये नित्य प्रयत्नशील तथा दुष्ट स्वभावों को पूर्ण करनेवाले हैं = अन्याय से परपदार्थों को हड़पते हैं, उन्हें प्रभु यहाँ से दूर करे।

० ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि० ॥ (य० १ । १)

इस वेदमन्त्र में यह प्रार्थना की गई है, कि गवादि पशुओं के पालक, गोवाणी का मधुर सदुपयोग करने से उसके पति तथा गो = इन्द्रियों के पति (जितेन्द्रिय) इस पुरुष में बहुतसी समृद्धियाँ स्थिर हों, यजमान के पशुओं की रक्षा कर। अतः स्पष्ट है कि यजमान और गोपति होना वैदिक दृष्टि में अस्मत्पक्ष तथा इसका प्रातिकूल्य शत्रुपक्ष का सूचक है।

(१३) वेद में कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनमें किन्हीं दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुर्भावनाओं को दूर करने की आज्ञा अथवा प्रार्थना आई हैं। वहाँ प्रार्थियों का यह लक्ष्य भी होना परमावश्यक है, कि अपने भीतर के उक्त दोषों को दूर करनेका का प्रयत्न करने के साथ उन दोषों से युक्त व्यक्तियों को वैदिक शत्रुपक्ष में गिन उनसे भी दूर रहने के लिये प्रयत्नशील हों। जैसे— (य० ४० । १६)

० युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः ० ।

इस मन्त्र से कौटिल्यरूप पाप से पृथक् रहने की प्रार्थना के साथ कुटिल, पापी पुरुषों को वैदिक शत्रु मानना और उनसे अलग रहना चाहिए। इसी निश्चय के साथ वेदके इस मन्त्र का अध्ययन आवश्यक है-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।० (ऋ० १०।५।६)

अर्थात् जो निम्न लिखित सात मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, वह बडा पतित अतः वैदिक दृष्टि में शत्रुपक्ष में है और इनका उल्लंघन करनेवाला वेदके अस्मत्पक्ष में। वह सात न करने के कार्य ये हैं-

(१) स्तेयं = चोरी। (२) तल्पारोहणं= परस्त्रीगमन, व्यभिचार। (३) ब्रह्महत्या=ज्ञानी का वध करना, ज्ञानके प्रचार में प्रतिबन्ध करना। (४) भ्रूणहत्या = बालक का वध, गर्भ का वध करना। 'भ्रूण' धातु का अर्थ धातुपाठमें 'आशा' है, अतः भ्रूणहत्या का अर्थ विश्वासघात, धोखेबाजी, बेईनामी भी हो सकता है। (५) सुरापानं= शराब पीना। (६) दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा=दुराचार को वारंवार करते जाना (७) पातके अनृतोद्यं= किए हुए पातक को छिपानेके लिए मिथ्या भाषण।

इतने व्याख्यान के पश्चात् यह आशा बलवती हो जाती है, कि वेदमें जहाँ भी शत्रुतामूलक हेतु अनुक्त है, केवल इसी ढंग की प्रार्थनादि हैं, कि हमारे शत्रु को नष्ट कर, जो हमसे द्वेष करता है, उसका नाश कर, वहाँ यह बात सरलता से समझ में आ सकती है, कि वैदिक दृष्टि में कैसा शत्रुप्रायी

की प्रार्थना से नष्ट होने योग्य है ।

इस व्याख्यान से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रार्थीको अपनी मनोवाञ्छा की सिद्धि के निमित्त किस योग्यता का बनना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि वेदमन्त्रों से प्रार्थना मात्र कर लेनेके आधार पर प्रार्थी अपने को वेदके अस्मत्पक्षमें गिनकर अपने उस शत्रु के नाशसम्बधिनी प्रार्थना के साफल्य की आशा रखने लगे कि जिसे उसने अपनी सांसारिक साधारण दृष्टि से शत्रु मान रखा है। परन्तु वैदिक दृष्टि में वह शत्रु सिद्ध नहीं होता, अतः ईश्वर के कोपका भाजन बनने योग्य नहीं है।

इस व्याख्यान के पश्चात् प्रार्थी को सर्व प्रथम यह विचारना नितान्त आवश्यक हो जाता है कि यदि मैं हृदिल अजीजी से अजातशत्रु भी हूँ, कोई लौकिक शत्रु मेरे नाश का इच्छुक नहीं भी है, परन्तु वैदिक दृष्टि में यदि मैं उपर्युक्त शत्रुपक्ष की गणना में आता हूँ तो मेरी प्रार्थना यें दूसरों के विषय में सफल होना तो दूर, स्वयं मुझको भी यमके पाश से नहीं बचा सकतीं। न्यायकारी रुद्र परमेश्वर की ओर से मेरा नाश होना अवश्यंभावी है।

क्यों ?

इसलिए कि परमेश्वर का कुपित या कृपालु होना हमारे कर्मों और आचरणों पर निर्भर है। यह ठीक कि प्रार्थना करना भी एक कर्म है और सुकर्म है। परन्तु उस प्रार्थना-विषय को छोडकर कि जिसमें आप स्वयं कुछ भी नहीं कर सकते, केवल भगवान् के ही हाथ की बात है, शेष प्रार्थनीय विषयों में प्रार्थनामात्र कर लेने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि वेद आपके मुख से संसार के समक्ष यह कहवाना चाहता है कि-

कृतं मे दक्षिणो हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित्॥
(अ० ७।५०।८)

अर्थात् मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ और (उसके फलस्वरूप) बाँयें हाथ में विजय है, अतः मैं गौओं, घोड़ों, सुवर्ण और धन का विजेता होऊँ।

यदि आप प्रार्थना करते हैं कि-' वयं स्याम पतयो रयीणाम्'= हम धनोंके स्वामी हों तो आपको धनंजय बनने के लिए उपर्युक्त आदेश के अनुसार यथाशक्ति सप्रयत्न भी होना पड़ेगा। वेद खुले शब्दों में कहता है कि-

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या। (ऋ० ४।५०।९)

अर्थात् जो (अ-प्रति-इतः) पीछे नहीं हटता, उसे ही व्यक्तिविषयक तथा समुदायविषयक धन उत्तम रीति से प्राप्त होते हैं।

यदि हम स्वराज्य-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं, तो-
" व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ "
(ऋ० ५।६६।६)

की आज्ञानुसार 'विस्तृत तथा बहुतोंसे पालन होने योग्य स्वराज्यके लिये यत्नवान् भी बनना पडेगा'।

अब विचारिये, आप केवल प्रार्थी हैं और आपका प्रतिपक्षी प्रार्थी तथा प्रार्थना के अनुकूल आचरण रखनेवाला भी है। विजय किसकी होगी? आपके प्रतिपक्षी की अथवा, आप केवल प्रार्थी हैं और दूसरा प्रार्थी तो नहीं है; परंतु उसके आचरण प्रार्थना-विषयके अनुकूल हैं, विजय किस की होगी? आप चाहे हाँ करें या न। विजय दूसरे की ही होगी, आपकी नहीं।

क्यों?

आप तो जाडा दूर करने का कोई प्रयत्न न कर केवल प्रार्थना करते हैं, कि 'मेरा जाडा दूर हो जावे' परन्तु दूसरा अग्नि के पास जा बैठा तो जाडा उसीका दूर होगा, आपका नहीं।

कहा जा सकता है, कि परमेश्वर को हम प्रार्थियोंका पक्ष अवश्य लेना चाहिए। बात तो ठीक है; परन्तु यह भी तो विचारिये, कि आपने प्रार्थना के विपरीत आचरण रखकर उसकी आज्ञा भङ्ग करके उसे अपने ऊपर कितना अप्रसन्न बना लिया

है और दूसरे ने केवल प्रार्थना नहीं की; परन्तु उसके विषय के अनुकूल आचरण करके प्रभु को अपने ऊपर कहीं अधिक कृपालु बना लिया। प्रार्थना न करने के अपराध से प्रार्थनाविषय के विपरीत आचरण रखने का अपराध कहीं अधिक है और प्रार्थी के लिये तो इस अपराध का करना बहुत ही दण्ड का विषय है। वकील का अपराधी बनना साधारण दण्डका विषय कौन मान सकता है?

इसी प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है, कि यदि आप और आपके शत्रु दोनों ही एक दूसरे के नाश के केवल प्रार्थी हैं; परन्तु आचरण दोनों का वैदिक प्रार्थना के विपरीत है, तो आपको इस विचारसे, कि हमारी प्रार्थना वेद के शब्दों में है, भले ही अपनी सफलता की आशा बँध जावे, परन्तु वस्तुतः उपस्थिति में आप दोनों के बीच वादी, प्रतिवादी (मुद्दई मुद्दायलः) का स्वरूप ही स्थित नहीं होता, किन्तु ऐसे केस पुलिसकेस बनकर उस न्यायी जज ईश्वर के न्यायालय से आप दोनों अपने अपने अपराध की मात्रानुसार उचित दण्ड के भागी होंगे। अपनी प्रार्थना पर दूसरे को दण्ड दिलवाने के लिए स्वयं वादी बनने की योग्यता आवश्यक है। प्रतिवादी का सा ही आचरण रखनेवाला वादी किसी ज्ञानी न्यायी के यहाँ से अपने प्रार्थनापत्र को स्वीकार नहीं करा सकता।

अब थोडासा प्रकाश वेदोंके वेदत्व और वैदिक ईश्वर के न्यायकारित्व पर डाला जाता है, जिससे भोली वेदप्रेमी जनता वैदिक-शात्रव-प्रकरण में धोखे में न रहे और वेदके बाहरी क्षेत्रवालों को भी किसी अंशमें वेदके महत्त्व से परिचित कराया जा सके। 'यदि नो गां हंसि०' (अ० १-१६-४) आपके सामने पहले वर्णित हो चुका है, उसी प्रकार अथर्ववेद काण्ड १०, सूक्त २ में "कृत्यादूषण" प्रकरण है और वहाँ "कृत्याकृतं हनत्" "कृत्याकृतः जहि" कर्तॄन् निमृणीहि" इत्यादि वचनोंद्वारा कृत्या करनेवाले को मार डालने तक का उपदेश है। "कृञ्" हिंसायाम् धातुसे निष्पन्न कृत्या का अर्थ हिंसा है। ऐसे प्रकरणों को देख कर गोघातक अथवा दूसरा हिंसक दल यह कह सकता है, कि वेदकी ऐसी कठोर आज्ञा! परन्तु हम इसी प्रकरण में उक्त आदेश के आधार पर जहाँ यह कहने को उद्यत हैं, कि पहले तो वेदने हिंसा के दोषादि दिखाकर शान्तिपूर्वक हिंसकों को इस कार्य से निवृत्त रखने का उपदेश दिया है और जब शान्तिमय उपाय सफल न हों, तो मारडालने का हुक्म दिया ही जाता है, वहाँ हम उस दलसे यह भी कहेंगे, कि तनिक ध्यान देकर सोचो- यदि आज आप अहिंसक हो जावें और इधर का दल हिंसादि कुकर्मों में प्रवृत्त हो जावे, तो क्या वेद बदल जावेगा? तो क्या वेद इन्हीं शब्दों में नहीं बोलेगा! बोलेगा और अवश्य बोलेगा।

उस समय आज कल के हिंसक (परन्तु जो अहिंसक बन चुका है, उस) दल का यह कर्तव्य होगा, कि वह इधर के हिंसादि कर्मों में प्रवृत्त दल को पहले तो समझा बुझ कर उन नीच कर्मों से रोकने का प्रयत्न करे और यदि फिर भी इधर का दल दुष्टता से बाज न आवे तो इसके प्रत्येक व्यक्ति को चाहे, वह ब्राह्मण नामधारी बनता हो वा शूद्र, चाहे सनातनधर्मी बनता हो वा वैदिकधर्मी, गोली से मार दें। क्योंकि उनका ऐसा करना ही उनको ईश्वर के सुयोग्य-पुत्रप्रेम का अधिकारी बनावेगा। ऐसा करने पर ही वे वेद के सच्चे आज्ञापालक सिद्ध होंगे।

जब ऐसा है तब सब देशवासी सोच लें, सब मतवाले सोच लें, सोच लें अमेरिकन, जर्मन, फ्रेंच, इंग्लिश, टर्किश और अरेबियन और सोच लें वे जो इस समय अपने आपको ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैनी, सनातनी वा वैदिकधर्मी कहनेवाले हैं, कि इसमें हम सबके पिता उस परमेश्वर ने क्या अन्याय और पक्षपात किया है। अन्याय तो तब होता, कि जब यह अधिकार हमको ही दिया गया होता और वैसी ही स्थिति होने पर आपको न दिया गया होता। यह अन्याय इसलिये नहीं, कि वेद हमारी मौरूसी जायदाद नहीं है, यदि हम वेदानुकूल चलते हैं, ईश्वर के वसीयतनामे पर

कारवन्द हैं, तो हम वेदको अपना कह सकते हैं और उस स्थिति में हम ही क्या प्रत्येक वेदाज्ञानुगामी वेदरूपी धरोहरका स्वामी है । वेदकी जायदाद जहाँ तंग नहीं है, किन्तु इतनी विस्तृत है, कि इसके आदेशानुसार चलने पर सारा संसार उसका स्वामी बन सकता है, वहाँ यह भी शर्त है, कि यदि हम इसके प्रतिकूल चलते हैं, तो इसपर हमारा लेशमात्र भी अधिकार नहीं, फौरन बेदखल हैं। वैदिक ईश्वर हजरत की सिफारिश नहीं चाहता, चाहता है अपनी दृष्टिसे प्रत्येक स्थान और प्रत्येक क्षणमें देखे हुए आपके सत्यादि वैदिक आचरण अथवा सुकर्म ।

प्रत्येक प्रार्थी को यह समझ लेना चाहिए, कि यदि वह पापी अनाचारी है, तो इस वैदिक सिद्धान्त से सर्वप्रथम उसी का नाश समक्ष उपस्थित है। क्योंकि यह बाण दूरस्थ पापी के ही जाकर लगनेवाला नहीं, किन्तु जहाँ से छूटता है, उसको भी पापी होने पर साथ ही अपना लक्ष्य बना लेता है। साथ ही यह पापी के नाश का वह बाण है, कि जो परमेश्वर की ओर से सर्वदा सर्वत्र चल रहा है, इसलिये यदि कोई यह कहे, कि ऐसी प्रार्थना से तो हम बाज आये, जो हमारा ही नाश करे, तो यह कहना इस कारण व्यर्थ है, कि वह तो पापी का नाश करेगी, वैदिक ईश्वर के न्यायालय में तुम पापी रह कर दूसरे पापी के नाश के लिए मूँह नहीं खोल सकते। साथही यह कि यदि संसारके समस्त पापी प्रार्थी परस्पर एकमति होकर इस प्रार्थना को बन्द भी कर दे तब भी पापीयोंको ईश्वर दण्ड देगाही।

प्रश्न होगा की पुण्यात्मा स्वयं पुण्यात्मा बने रहें, वे पापियों के नाश की प्रार्थना क्यों करें, परमेश्वर तो पापियों को स्वयं दण्ड देगा ही। इस का उत्तर यह है, कि प्रथम तो आस्तिकों के लिए ऐसी आज्ञा है, दूसरे यह कि शुद्ध भावों को जगाने के लिये, पवित्र विचारों को पुष्ट बनाने के लिये, पुण्य भावनाओं को उद्बुद्ध करने के लिये, आवश्यक है, कि पापवासनाओंके प्रति अपने हृदयमें पूर्ण द्वेषाग्नि प्रज्वलित करें, अन्यथा बहुत सम्भव है कि पापसामग्री के मनोमोहक स्वरूप को देखकर उसके वश में हो जावें और इस प्रकार पुण्य का मार्ग हाथ से जाता रहे। परन्तु ऐसी प्रार्थना करते रहने से प्रार्थी अपने ध्यान में यह धर कर पाप से बचता रहेगा कि पाप करने से मेरा सर्वनाश हो जायगा।

अब हम कुछ वेद-वचनों से अस्मत्पक्ष और शत्रुपक्ष का एक छोटासा चार्ट बनाकर उस के तथा पूर्व प्रदत्त कुछ वचनों के आधार पर आत्मपरिक्षण का दूसरा चार्ट पाठकों की निदर्शनरूप में उपस्थित करते हैं और निवेदन करते हैं कि पाठक अपने वैदिक स्वाध्याय के आधारपर इसी प्रकार का विस्तृत चार्ट निर्मित कर अपना आदर्श स्थित करें—

नकशा (१)

वेद-वचन	अस्मत्पक्ष	शत्रु-पक्ष
उद्यन्त्सूर्यः सुप्तानां वर्च आददे।	प्रातःकाल जागरण ।	प्रातःकाल शयन ।
शुद्धः पूता भवत यज्ञियासः ।	बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहना और यज्ञों का अनुष्ठान करना।	बाहरी अथवा आन्तरिक अपवित्रता और यज्ञों का त्याग।
स्वस्ति मात्र उत पित्रे ।	माता पितादि की भक्ति।	गुरुजनों के आदर का अभाव।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् मा स्वसारमुत स्वसा ।	भाई बहिनोंसे स्नेहपूर्ण व्यवहार रखना ।	पारस्परिक द्वेष।
भूमे मातर्निधेहि भद्रया ।	मातृभूमि की सेवा।	मातृभूमि के उन्नतिकारक कार्यों का विरोध।
संगच्छध्वं संवदध्वम् ।	अपने समाज का आनुकूल्य।	परस्पर फूट।
सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।	सत्यभाषण, मधुरभाषण, जितेन्द्रियता, द्यूत-त्याग, मादक-द्रव्य-निषेधादि ।	मिथ्या भाषण, कटूक्ति, गाली देना, व्यभिचार, जुआ, शराबका सेवन इत्यादि।

नकशा (२)

दिन या तारीख	सोमवार	मंगलवार इ०
सबेरे उठे या नहीं ?	+	
सन्ध्या की या नहीं ?	×	
हवन किया या नहीं ?	÷	
स्वाध्याय किया या नहीं ?	[illegible]	
गुरुजनसेवा की या उन्हें कष्ट दिया ?	[illegible]	
दीनों की सहायता की या विरोध ?		
सदाचारी विद्वानों का सत्कार किया या नहीं ?		
देश समाज का विरोध तो नहीं किया ?		
झूठ बोला या नहीं ?		
किसीका धन बेईमानी से लिया या नहीं ?		
गाली दिया या नहीं ?		
जान पूछकर वीर्यनाश तो नहीं किया ?		
जुआ खेला या नहीं ?		
मादक द्रव्य- सेवन किया या नहीं ?		

अन्त में हम यह निवेदन कर अपने पाठकों से विदा होते हैं कि उक्त विधि से चार्ट बनाकर समय समय पर अपनी आचारपरीक्षा लें क्योंकि आत्मोन्नति का यह एक अमोघ साधन है। किसी ने सच कहा है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति ॥

अर्थात्— मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्र को परखे कि मेरा क्या कार्य पशुओं के तुल्य और क्या सत्पुरुषों के तुल्य हुआ।

हम इसी श्लोक को अपने प्रकरण के अनुसार पाठकों की सेवा में अपने इन शब्दों में परिवर्तित रूप में उपस्थित करना चाहते हैं—

प्रतिक्षणं परीक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे वैदिके पक्षेऽस्मदीये शात्रवेऽपि वा ॥

अर्थात्— मनुष्य प्रतिक्षण अपने चरित्र की परीक्षा ले, कि मेरा क्या कार्य वैदिक अस्मत्पक्ष में है और कौनसा कर्म वैदिक-शत्रु पक्ष में।

ऐसा करने से हम स्वयं जान लेंगे, कि वैदिक दृष्टि में कौन हमारा शत्रु तथा कौन हमारा मित्र है। इसी से हम यह भी समझ सकेंगे, कि हम आत्मघाती हैं या आत्मरक्षक ? आत्मविनाशक हैं या आत्मपोषक ? स्वावनतिकारक हैं या निजोन्नति-साधक ? अपने लिये स्वयं शत्रु हैं या मित्र ? ईश्वर की दृष्टि में अधःपतनार्ह हैं या उत्थान योग्य ? कष्ट क्लेश, शोक और दुःखों के स्थान बनने योग्य हैं अथवा सुख, दया और आनन्द के भाजन ?

॥ शमित्योम् ॥

\+ जिस प्रकार उपर्युक्त चिह्न अंकित किये हैं, उस प्रकार अथवा अपने सुभीते के अनुसार दूसरे चिह्न अपने दैनिक आचरण के अनुरूप भरते रहें।

कैसे सोचें ?

('जाग्रत जीवन' नामक अमुद्रित पुस्तकसे)

(लेखक– श्री० रामावतार विद्याभास्कर, पो० रतनगढ, जि० बिजनौर, यू. पी.)

मिट्टीसे जैसे मकान बनता है, ठीक इसी प्रकार विचारों से जीवन बन जाता है । जैसी मिट्टी होगी वैसाही मकान बन जायगा । जैसे विचार हम करते रहेंगे, हमारा जीवन वैसा ही हो जायगा । एक घर में उत्पन्न हुए और एकही समान पाले पोसे दो बालकोंमें से एक इसीलिए महात्मा हो जाता है, कि वह सदा अच्छे विचार करता रहता है । दूसरा इसीलिये पापात्मा हो जाता है, कि वह सदा बुरे विचारों में डूबा रहता है । मनुष्य का भलापन या बुरापन केवल इसी बात पर निर्भर है, कि उसके विचार भले या बुरे हैं ।

शिल्पी के मन में एक वस्तु है । वह जो कुछ बनाता है, उससे पहले अपने मन में उसका आकार बना लेता है। फिर वह प्रत्येक क्षण अपने औजारों से खुट खुट करता रहता है । अन्तमें एक विशाल सुन्दर भवन बन जाता है । हम भी अपने जीवन के शिल्पी हैं । ईश्वरीय रचना-कौशल से हमारे पास हमारे जीवननिर्माण के साधन प्रत्येक समय आ रहे हैं । उन साधनों का पूर्ण सफल उपयोग कर लेने से सफल जीवन नाम का एक दिव्य भवन बन कर प्रस्तुत हो जाता है । समझ लेना चाहिये कि ये सब के सब उपकरण यहीं पडे रह जायेंगे । हमें इन साधनों का सदुपयोग करके सत्यमयी जीवनधारा को सत्याभिमुख प्रवाहित करके सत्य में विलीन हो जाना है । यह जीवनरूपी भवन जिन ईंटों से बनकर तयार होता है, वे ईंटें हमारे पास एक एक करके आनेवाले क्षण ही हैं । इन क्षणोंका सदुपयोग करने रहने से विशाल जीवन नाम का दिव्य भवन बन जाता है ।

जीवन बनानेवाले विचारों की महिमा को जानने के लिये भृंगी नाम के कीड़े का दृष्टान्त अत्युपयोगी है । यह कीडा मिट्टी का छोटासा घर बनाता है और किसी भी जातिके कीडे को पकड कर उसको अपनी ही जाति का बना डालने के लिये, अपने मिट्टी के घर में बन्द कर देता है । बन्द करने के बाद उसके ऊपर बैठ कर उस कीडेको अपनी गुंजार सुनाता है । अपनी इस गुंजार के द्वारा वह इस कीडे को अपनी हि जातिका हो जाने की विधि सिखा देता है । उस नन्हे कीड़े के मनमें उसकी गुंजार बस जाती है और कीडे की विचार-धारा बदल जाती है । कुछ दिन में उस की उस गुंजार का यह प्रभाव पडता है, कि वह अपनी पहली जाति छोडकर उसी जाति का होने लगता है । जब वह मिट्टी के उस घर में से बाहर निकलता है, तब बडे आश्चर्य से देखते हैं, कि वह गोल और भूमिपर रेंगनेवाला कीडा आज पंख और डंकवाला आकाशचारी कीडा बन कर बाहर निकला है । इसके हाथ पैर मुंह आदि सब कुछ उस भृंगी जैसे हो गये हैं । उसके भृंगी बन जाने में अब कुछ भी शंका नहीं रह गई है । यह इतना भारी आश्चर्यकारी परिवर्तन इस कीडे की उस चिन्ताका ही परिणाम है, जो कि हमने इसे छोटे से घर में बन्दी (कैदी) बना कर रखनेवाले कीडे से कभी सीखी थी । इस कीडे से सीखनेकी इतनी ही बात है, कि विचारशक्ति बडे से बडे, यहांतक कि असंभव समझे जानेवाले परिवर्तन भी कर सकती है । इस उदाहरण से यह बात समझ में आजाती है, कि हमारे जीवनों को चाहे भी जैसा बना डालनेवाली अपनी चिन्ताशक्ति को साधारणसा पदार्थ समझ कर, उसकी उपेक्षा करना, कितनी भारी भूल होगी ! हमें यह समझ रखना चाहिये, कि हमारे जीवनों को ढालने का जो सांचा है, वह यह चिन्ता ही है ।

मनुष्य की चिन्ता में ही मनुष्यों के भले बुरे तथा सुखी दुःखी जीवन छिपे रहते हैं। चिन्ता से ही मनुष्य पुण्यात्मा या पापात्मा और सुखी या दुःखी हो जाते हैं। पुण्य या पाप, सुख या दुःख, धन या दारिद्र्य सब कुछ चिन्ता ही हैं। यह वस्तु चिन्ता ही है, जो कि एक ही समय की एक ही घटना से एक को सुखी और दूसरे को दुःखी बना डालती है। पितृ-वियोग होते ही एक समझता है, कि हमारा जीवन नीरस और बरबाद हो गया, हमारा जीवनावलम्ब जाता रहा, हम अनाथ हो गये, यह समझ कर वह दुःखी हो जाता है। दूसरा समझता है, कि हमारे पिता की मृत्यु संसार की अटल व्यवस्था का एक भाग है। हमारा शरीर भी इसी नियम के अधीन है। शरीर के उत्पन्न होते ही पहले अनित्यता उसे अपनी गोद में ले लेती है, पीछे माता की गोद में बैठना मिलता है। इस प्रकार वह पितृवियोग की घटना से सब स्थूल पदार्थों की अनित्यता समझ कर सच्चे आनन्द को ढूंढने लगता है और शांति को प्राप्त कर लेता है। वह समझ जाता हैं, कि किसी वस्तु या व्यक्ति का अभाव हो जाने से हमारी शक्ति का अन्त या अभाव नहीं होता।

हमको सच्ची शक्ति देनेवाला अमर शक्तिमान् इन सब मरनेवालों से पृथक् हैं। उसकी वह सच्ची शक्ति हमारे अंदर ही है। ऐसा सोच कर वह उत्साहपूर्ण होकर जीवनविजय के लिए कटिबद्ध हो जाता है। घटनाओं में स्वयं अच्छापन या बुरापन कुछ भी नहीं होता। किंतु उस घटना के पश्चात् मन में चिंता की जो एक नई धारा बहने लगती है, अच्छे या बुरे का निवास उस चिंताधारा में से ही होता है। उस घटना का सामना करनेवाली चिंताधारा अच्छी हो, तो उस घटना से लाभ होता है। बुरी हो तो उस से हानि उठानी पडती है। इस कारण हमें अपनी चिंता-धारा को नियन्त्रित करना चाहिये। हमें अपनी चिंता-धारा के द्वारा प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति और घटना से सुख प्राप्त करने की कला सीख लेनी चाहिये।

इसके लिये अपने विचारों पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिये। प्रत्येक समय मनोमंदिर को पवित्र निर्मल तथा शुद्ध करके जितनी भी अनावश्यक दूषित भावनायें मन में आयें, उन सब को 'दूर हट' करते रहना चाहिये। ऐसी कोई बुराई नहीं है, जिसकी जड मनुष्य की चिन्ता में न हो। ऐसी कोई भलाई नहीं है, जिस की जड मनुष्य की चिंता में समाई हुई न हो। मनुष्य का वास्तविक रूप हाडमांस के देह से पृथक् ही रहता है। कहना चाहिये कि मनुष्य का वास्तविक रूप मनुष्य का चिंतन ही है। सच्चा या झूठा जैसा कुछ भी मनुष्य सोचता है, वैसा ही वह है। यह मनुष्य दो देहों का प्राणी है-एक तो इसका अमर चिन्मय देह (पवित्र मन) है, दूसरा इसका पार्थिव (भौतिक) देह है। ये दोनों ही देह इसके चिंतन से बनते हैं। शुभ चिंतनों से चिन्मय देह की रक्षा होती रहती है। अशुभ चिंतनों से चिन्मय देह नाशवान् मृण्मय देह के बंधन में फंस कर स्वरूप को भूल कर अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले कष्टों को पाता रहता है। इस पार्थिव देह के लालनपालन को ही जब कि जीवनका लक्ष्य मान लिया जाता है, तब यह सृष्टि मनुष्य को मनुष्यत्व से गिरा देने का साधन बन जाती है। इस लिये चिंता को ठीक मार्ग पर रखने की बहुत ही बडी आवश्यकता है।

चिंता को ठीक मार्ग पर रखने की विधिपर विचार करने से प्रथम चिंता का विचार कर लेना चाहिये, कि वह क्या वस्तु है? और क्यों होती है?

प्रिय वस्तुके न मिलने पर उसका जो ध्यान बना रह जाता है, वही चिन्ता का स्वरूप है। चिन्ता और ध्यान एकही बात है। जब चिन्ता होती है तब अपनी उस प्रिय वस्तु के अतिरिक्त सब कुछ सूना लगता है। उसको ढूंढने में अपनी सारी शक्ति को लगा देना पडता है। जब तक उसे न पा लिया जाय तब तक मन में एक प्रकार का सन्ताप बना रहता है।

देखते हैं, कि मनुष्य का मन प्रत्येक समय किसी न किसी चिन्ता में डूबा ही रहता है। इसकी इस सतत चिन्ता का एकही अभिप्राय है, कि इसकी कोई अत्यन्त प्यारी वस्तु खो गयी है। यह प्रत्येक समय किसी ऐसी वस्तु के अन्वेषण में लगा हुआ है, जो कभी इसके पास

रही तो है, परंतु अब वह उसके आनन्द से वंचित हो गया है। इसके मन में अब भी उसी को पाने की धुन लगी हुई है। उसके वियोग में इसे यह सारा संसार सूना सा लग रहा है। उसके ढूंढने में यह सारे संसार की धूल छानता फिर रहा है। पानी से बाहर निकाली हुई मछली को जैसे पानीके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता, इसी प्रकार इस का मन उसी प्यारी वस्तु को ढूंढने में लगा हुआ है, वह उसके अतिरिक्त कहीं भी बंध कर नहीं रहता। यह अपनी उसी खोई हुई प्यारी वस्तुको ढूंढने के लिए नयनाभिराम, श्रवणमनोहारी, स्पर्शसुखद, स्वादु और सुगन्ध पदार्थों को लेना चाहता है, कभी धन और यश के पीछे पड जाता है।

जब तक ये पदार्थ इसे नहीं मिलते, तब तक इनकी प्राप्ति की आशा में दिन काट देता है। पदार्थोंके मिल जानेपर इनमें अपनी उसी प्यारी वस्तु के दर्शन कर लेना चाहता है। इन पदार्थों की रक्षा की चिन्ता और नाश का भय भी साथ ही साथ इसे सताता रहता है। कोई भी वस्तु किसी के पास सदा रहने को नहीं आती। प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ क्षण के पश्चात् ये वस्तुयें इसे छोडकर चली जाती हैं। यह तबभी दुःखी होता है।

इनकी स्थानपूर्ति के लिये ऐसी ही दूसरी वस्तुओं के पीछे दौड लगाने लगता है। परन्तु उसकी खोई हुई प्यारी वस्तु उसे कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इन वस्तुओं के मिलने पर भी इसकी चिन्ता बन्द नहीं होती और न मिलने पर भी इसकी चिन्ता विराम नहीं करती। इससे एक ही परिणाम निकलता है, कि अब तक जो जो पदार्थ इसे मिलते रहे हैं, उनमें से किसी को भी चिन्ता इसको नहीं थी। यदि इसे उन पदार्थों की चिन्ता होती, तो उन्हें पा लेने पर इसकी चिन्ताधारा को बन्द हो जाना चाहिये था। इससे यह सिद्ध होता है, कि इस मनुष्य की यह जो अविश्रान्त चिन्ता है, यह किसी अत्यन्त प्रिय पदार्थ की ओर दौडी चली जा रही है। अब देखना यह है कि इसकी इस अविश्रान्त चिन्ता का लक्ष्य क्या है ?

प्रत्येक मनुष्य का अनुभव इस महाप्रश्न का उत्तर दे रहा है कि उसकी प्रत्येक चिन्ता सदा रहनेवाले सुख कि ओर चली जा रही है। मनुष्य की यह चिन्ता तब तक बन्द नहीं होगी, जब तक कि इसे पूरी पूरी शान्ति नहीं मिल जायगी। अर्थात् पूर्ण शान्ति को पा लेना ही मनुष्य की इस अविश्रान्त चिन्ता का एकमात्र लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखनेपर सचमुच चिन्ता एक बहुमूल्य पदार्थ सिद्ध होता है। यह तो मनुष्य को ईश्वर की देन है। यदि चिन्ताशक्ति न होती, तो संसार में शांति को ढूंढ निकालने का कोई भी द्वार न रहता। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि इस ईश्वरदत्त चिन्ताशक्ति का अच्छे से अच्छा उपयोग करके अपने लक्ष्य, पूर्ण शांतिको पा लिया जाय।

इसके लिये हमें अपनी चिन्ताशक्ति का परिचालन इस रीतिसे करना चाहिये, कि शांति हमारी आंखों के सामने से हटनेवाली न रह जाय और शान्तिका विरोध कर सकनेवाली कोई भी वस्तु हमारी चिन्ता का विषय न हो सके।

जिस शांति को पाने के लिये चिन्ताशक्ति को संयम में रखने की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है, उस शांतिका स्वरूप यही है, कि हमको अपने में किसी भी प्रकारका अभावबोध न होना चाहिये, अर्थात् हम में यह भावना कदापि न आनी चाहिये, कि हमारे पास अमुक अमुक पदार्थ नहीं है, अमुक अमुक पदार्थों के बिना हमारा जीवन अपूर्ण है और न हमारे मन में किसी भी पदार्थ के वियुक्त हो जाने का डर ही कदापि उपस्थित होना चाहिए। जिन पदार्थों को न पाने पर हमें अपना आपा अधूरा प्रतीत हुआ करता है, तथा जिन वस्तुओंको पाने पर हमें उनके वियोग का भय सताने लगता है, वे सब ही पदार्थ शांतिका विरोध करनेवाले माने जाते हैं। ऐसे जितने भी पदार्थ हैं, उनकी कामना करना ही अशांति है। इसको स्पष्ट करके कहें, तो यह कहना होगा, कि धन, मान, सुंदर वस्तु, मीठे मीठे शब्द, स्वादु रस, मनोहारि गन्ध, किंवा स्पर्शसुखदायी पदार्थों की इच्छाको अपने मन में उत्पन्न होने देना और उसको पुष्ट करते रहनाही अशांति का स्वरूप है।

जिस वस्तु की हमको सचमुच आवश्यकता होती है, उस वस्तुको प्राप्त करने की शक्ति भी हमारे पास रहती ही है। अपनी आत्मशक्ति पर इस प्रकार का दृढविश्वास

रखना ही शुभ चिन्तन का मूल है । हमारी शक्ति के बाहर केवल वे ही वस्तुयें हैं, जिनकी हमें कुछ भी सच्ची आवश्यकता नहीं हो सकती । बाहर के संसार की दृष्टि में इन वस्तुएं का चाहे भी जितना मूल्य लगाया जाता हो, परंतु एक आस्तिक की दृष्टि में ऐसी अप्राप्य वस्तुएं ही निकम्मी वस्तुएं मानी जानी चाहियें । निकम्मी या अनावश्यक किंवा अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्योग को ही 'असंभव को पाने का उद्योग' माना जाना चाहिये । ऐसी असंभव बातोंके पीछे अपनी चिन्ता-नदी को बहा देना या बहने देना और प्रत्येक समय अशांति का दर्शन करते रहना ही अशुभ चिन्तन है । जितने भी अशुभ चिन्तन हैं,वे सब इस मुख्य अशुभ चिंतन की शाखा प्रशाखामात्र ही हैं । यह अशुभ चिंतन ही सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण माना जाता है । इन अशुभ चिन्तनों का जन्म तब होता है । जब हम अपनी विचारधारा पर कुछ भी नियन्त्रण न रखकर बाह्य जगत् की उत्तेजनाओं और सम्मतियों से अपने को प्रभावित हो लेने देते हैं। 'हमारे लिये हितकारी मार्ग किंवा करने योग्य काम कौन सा है ?

इसका निर्णय स्वयं न करके, जब इस बाह्य जगत् की ओर सम्मति लेने के लिये दीन मुख से ताकने लगते हैं, और अपने हानिलाभ का स्वयं कुछ भी विचार न करके, दूसरों के रुचिकर मार्ग पर चलना स्वीकार कर लेते हैं, तब ही हमारा मन अशुभ चिन्तनों का घर बन कर, हमें दुःखी किया करता है । जब हमारे लाभालाभ का निर्णय दूसरों के अधीन हो जाता है, तब हमारी सफलता और असफलता भी दूसरों की ही विचारशक्ति पर निर्भर हो जाती है । दूसरों की बतायी सफलता के पीछे जाकर जो हमारे लिये असंभव है, हम उसी को प्राप्त करने के निरर्थक उद्योग में कूद पडते हैं और असफल होकर अपने को झूठ मूठ ही शक्तिहीन मान लेते हैं ।

यह मनुष्य जब देह धारण करने के अभिप्राय को भूल जाता है, तब ही अपने में रहनेवाली ईश्वर की देन चिन्ताधारा को सन्मार्ग से हटा कर उसे असन्मार्ग पर लगा देता है । इस देह का जो देही है; वह कोई क्षुद्र वस्तु नहीं है, वह परमात्मा ही है । इसमें जो चिन्ताशक्ति है, वह परमात्मा की ही शक्ति है । परमात्मा और कुछ नहीं है । मनुष्य का जो वास्तविक स्वरूप है, उसी को परमात्मा कहते हैं । यों मनुष्य का स्वरूप ही परमात्मा है । अपने स्वरूप की स्मृति होते ही मनुष्य परमात्मपद पर जा विराजता है । इस मनुष्य में जो चिन्ताशक्ति है, यही उसकी आत्मशक्ति है । यही वह शक्ति है, जिसके सहारे से यह मनुष्य इस सम्पूर्ण नाशवान् जगत् की उपेक्षा करके आत्मस्वरूप में अवस्थित रहने की अनन्त शक्ति पाता रहता है ।

वह परमात्मा इस मृण्मय देह में पेट की अग्नि के रूप में विराजता रहता है और सुपथ्य भोजन ग्रहण करके इस देहको कार्यसमर्थ बनाये रखता है । चिन्मय देह में वही परमात्मा ज्ञानाग्नि के रूप में सुलगता रह कर, कर्ममय जीवन में शुभ चिन्तनों को जीवित और जाग्रत रखकर, मन को पूर्णानन्दमय बनाये रखता है । मन को पूर्णानन्दमय बनाये रखना ही देहधारण का अभिप्राय है । इसे करने का साधन मृण्मय देह ही है । परन्तु इस मृण्मय देह का सारथी या संचालक वह चिन्मय देह ही है । चिन्ताशक्ति का अभिप्राय इतना ही है, कि देह के साथ देहीका जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध को न टूटने दिया जाय । जैसे कुपथ्यभोजन करने से मृण्मय देह रोगी हो जाता है, वैसे ही कुचिन्ता करने से मन रोगी हो जाता है । इस मृण्मय देह का भोजन स्थूल भौतिक पदार्थों में से लिया जाता है ।

चिन्मय देह को जो भोजन देना पडता है, वह तो विचारशक्ति के द्वारा संग्रहीत किया जाता है और अपने ही अन्दर रहनेवाले चित्सागर की चिन्तालहरियों में से संग्रहीत किया जाता है । इस भोजन को पाने से ही चिन्मय देह स्वस्थ और पुष्ट बना रह सकता है । विचार-शक्ति नहीं होती, तो सदसत् के तथा त्याज्य-ग्राह्य के सम्बन्ध में विचारहीनता आये बिना नहीं रहती । इस चिन्मय देह को जब सुपथ्य खाने को नहीं मिलता, तब यह दुष्ट चिन्तारूपी हलाहल का पान करके कामक्रोधादि रोगों का रोगी हो जाता है और तब वह इस नाशवान् मृण्मय देह के बंधन में फंसकर अपने स्वरूप को भूल कर अज्ञानमयी नरक-

यन्त्रणाओं से क्लेश पाता रहता है । चिंताशक्ति के दुरुपयुक्त होते रहने का एकमात्र कारण यही होता है, कि चिन्मय देह के लिये आवश्यक पुष्टिकारक पथ्य जहां से मिल सकता है, वहां से उसे न लेकर भौतिक जगत् के कंगले स्थानों से, जहां वह पथ्य नहीं है, वहीं से पथ्य के धोके में कुपथ्य का संग्रह कर लिया जाता है ।

अपनी सच्ची आवश्यकता क्या है? कितनी है? अपने आत्मिक कल्याण के साधन क्या हैं? इन विचारों से जब आत्मराज्य पर दृष्टि नहीं रक्खी जाती, जब वहांसे पथ्य नहीं लिया जाता, तब अनात्मजगत् पर दृष्टि को फेंका जाता है और तब ही विचारभ्रांति होती है। यही वह भ्रांति है, जिसके कारण मनुष्य अंदर की ओर दृष्टि न डाल कर बाहर की ओर आँखें फाड फाड कर देखा करता है, कि संसार ने हमारे लिये कौनसा स्थान नियत कर रक्खा है? बाहर के संसार ने हमें कौनसे काम में लगाकर हमारे जीवन की सफलता का प्रमाणपत्र हमें देने का निश्चय कर रक्खा है?

इस प्रकार का विचार जब आता है, तब गंभीर विचार किये बिना ही किंवा आगा पिछा न देखकर बाह्य लोकमत के प्रभाव में आकर भेडाचाल की तरह चल पडने के लिये अपने को विवश पाया जाता है। बाहर के लोकमतसे प्रत्येक विचारशील को पूर्ण सावधान रहना चाहिये । विवेकी मनुष्य जिस दिन इस भूमि पर उतरता है और जब तक रहता है, तब तक देखता है, कि बाहरी संसार ने एक लोकमत नामका अति विस्तृत षड्यंत्र बना रक्खा है ।

यह लोकमत मनुष्य को जीवन भर बांध रखनेवाला अति विस्तीर्ण बंधनजाल हो जाता है । वह देखता है कि पितामाता, भ्राता, भगिनी, मित्र, कुटुंब, गुरु, नेता आदि मोहक चोला पहनकर सब के सब बंधन बने हुए हैं । सब के सब अपनी अपनी बंधनस्थिति को इतना प्यार करते हैं, कि उसी को अटूट बनाये रखनेकी चिन्ता में डूबे हुए हैं । इन में से कोई भी यह नहीं चाहता, कि कोई हमारे बंधन से छूट जाये या हम किसी के बंधन से मुक्त हो जायें । वे अपने से सम्बन्ध रखनेवाले के साथ जो भी कोई बर्ताव करते हैं, एक दूसरे को बन्धनमुक्त न होने देने के लिये ही करते हैं ।

ये समझते हैं, कि यदि हमने इन बन्धनों को छोड दिया, तो मुक्ति यमराज बन कर हम को फाड खायेगी। ये लोक जीवन्मुक्ति को यमराज मान कर उस से अपने को बचाये रखने के लिये भौतिक सुख देनेवाले साधनों से और सब प्रकार के बंधनों से बच कर नहीं रह सकते । इस बंधनजाल में फंसनेवालों की आंखोंके सामने सांसारिक सुख, भोग, ऐश्वर्य, मान, यश, आमोद, प्रमोद और विलासवैभवों का एक चित्त को लुभानेवाला चित्र सदा ही टंगा रहता है । उस काल्पनिक चित्र को अपनी आंखों के सामने से ये लोग कभी भी हटने नहीं देते।

जैसे आग के आकर्षण में आकर पतंग उस में कूद पडता है और राख हो जाता है, इसी प्रकार अमृत का पुत्र यह मनुष्य इस संसार की मायामरीचिका के भुलावे में आ जाता है और मौत को स्वीकार कर लेता है । समझ रखना चाहिये कि, बाहर का संसार और कुछ भी नहीं कर रहा है, वह मकडी के समान केवल अज्ञान का जाल पूरने में ही लगा हुआ है और सारे ही संसार को इसमें फांस रखने के मनोरथ बना रहा है । वह इसी चिंता में आठों पहर व्यग्र है। यदि कोई मनुष्य संसार के बहाव में अपने को बह लेने देगा, तो क्या वह कभी भी बन्धन को छोड कर मुक्ति के विमल उत्कृष्ट आनन्द को पा सकेगा ? प्रत्येक बहाव के साथ वह निकलनेवाले और प्रत्येक झोके साथ उड पडनेवाले ऐसे अस्थिर तथा परप्रत्ययनेय बुद्धि मनुष्य के लिए बाहर के संसार ने जिस प्रकार की सफलता की कल्पना कर रक्खी है, विचारदरिद्र मनुष्य उसीके पीछे पीछे हो लेता है ।

ऐसा न कर के यदि वह क्षणभर के लिए खडा हो जाय और अपने आप से यह प्रश्न करे, कि हे हमारे स्वरूप ! हमें बताओ कि हमारी शांति किसमें है ? हमारे जीवनधारण का अभिप्राय क्या है ? तो आत्म-

कल्याण होने में थोडी भी देर न लगे। हमारा वास्तविक स्वरूप जो कि चिन्मय देह है, उसके लिए रुचिकर आहार को यदि अनात्मसंसार में से ढूंढ निकालना चाहने की भूल न की जाय और उसे अपने अन्दर अपने ही आत्मालोक में से ढूंढने का निश्चय कर लिया जाय, तो अमृतमय ज्ञानालोकका दर्शन अवश्य हो जाय। फिर आँखें बन्द कर के प्रवाहों के साथ बह निकलने की अवस्था का सदा के लिए अन्त हो जाय और अपने ही अन्दर नृसिंहपने का दर्शन होकर किसी का साथ या अनुगमन करने की अवस्था शेष न रहे। तब शेर के समान अकेले ही अपने कल्याणमार्गपर आरूढ होकर ज्ञानालोक के दिखाये हुए स्वतंत्र मार्गपर धैर्य किंवा दृढतासे विचरण करना मिल जाय।

अपना मार्ग स्वयं निर्णय न कर सकनेवाली मनकी दयनीय अवस्था ही परतन्त्रता या बन्धन कहा जाता है। यही सब दुःखोंका मूल कारण है। ऐसी स्थितिसे विचारपूर्वक बचकर रहना ही विचार की कुशलता है। विचारकी यह कुशलता तब ही सदा बनी रह सकती है, जब कि हम सुखके स्वरूपको भले प्रकार समझ चुके हों। सुखके स्वरूप को न समझने से विचार की कुशलता नहीं रह सकती। हमारे आसपास की परिस्थिति में सुख और शांति भरी हुई है। सुख या शांति सर्वव्यापक तत्त्व है। हमें यही सीखना है, कि अपने शुभ चिन्तनों से इस सर्व-व्यापक सुख किंवा सर्वव्यापक शांति को अपना लें। हमारे आसपास भरे हुए इस शाश्वत सुख को वे ही लोग निचोड सकते हैं, जिनको सदा प्रसन्न रहने की कला हाथ आ जाती है। इस कला को सीखने के लिये सब से अधिक महत्त्वपूर्ण काम यही है, कि हम अपने हाथ में आये हुए साधनों का ठीक ठीक और पूर्ण उपयोग कर लें। ऐसा न हो कि हम अप्राप्त और अनावश्यक साधनों की ओर ताकते रहकर अपने प्राप्त साधनों का पूरा पूरा उपयोग न कर सकें। इस मार्ग के अवलम्बन में ही मनुष्यजीवन की सफलता है। इस सफलता को प्राप्त कराने की शक्ति शुभचिन्तन में ही है। बाह्य जगत् की जितनी प्रातिकूल उत्तेजनायें हैं, वे इस शुभचिन्तन पर प्रत्येक समय आक्रमण करती रहती हैं। मार्ग से गिर जाने के बहुत से प्रातिकूल प्रलोभन और सम्मति हमारे सामने आती रहती है। परन्तु याद रखने की बात केवल इतनी ही है, कि इन सारी उत्तेजनाओं को अपने आत्मबलसे परास्त कर देने की और अपने को उनके विरुद्ध अविचलित रखने की अनन्तशक्ति हमारे अन्दर भरी पडी है। यह शक्ति कभी भी हार माननेवाली नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि इस शक्ति से काम लेना सीख लिया जाय। यदि हम इस शक्ति से काम लेना सीख लेंगे, तो बाहर के प्रलोभन हमें मार्ग से विचलित नहीं कर सकेंगे। अपनी इस शक्ति का प्रत्येक समय दर्शन करते रहना ही विचार की कुशलता है। अपनी इस अन्तर्निहित महाशक्ति का दर्शन कर लेना ही मनुष्यजीवन का लक्ष्य है। यह लक्ष्य जब स्थिर हो जायगा, तब हम स्वभावसे सदा बहती रहनेवाली चिन्ताधारा को अपने जीवन का एक अत्यंत उपयोगी भाग बना सकेंगे। नहीं तो हमारा जीवन किसी भी चिन्ता के साथ बह निकलनेवाला एक निरुपयोगी जीवन हो जायगा।

अपने जीवन को सार्थक करने के लिये हम सब को यह समझ जाना चाहिये, कि हम इस संसार के इन मनोहर पदार्थों से नाता जोड लेने के लिये या इनमें से कुछ पदार्थों को अपनाते रहने के लिये इस संसार में नहीं आये हैं। हमारे यहाँ आने का केवल एक ही अभिप्राय है, कि हमारे मनों को बहका लेनेवाले इन मनोहर पदार्थों से किसी भी प्रकार का नाता न रख कर, जिस पदार्थ के साथ हमारा नाता स्वाभाविक रूप से जुडा हुआ है, उस नाते का दर्शन हम कर लें।

प्रश्न होता है कि फिर इन भोग्य पदार्थों की सृष्टि का क्या अभिप्राय है? हमें इन पदार्थों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये? इसका उत्तर यही है, कि जैसे रोगों का उपयोग हमारे लिये इतना ही है, कि उस स्वास्थ्य के नियमों का पालन करके निरोगता का आनंद लेते रहें। स्वास्थ्य के नियमों का भंग करके रोगी होकर रोग का और उसकी चिकित्सा का अनुभव लेते रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।

इसी प्रकार इन मोहक पदार्थों का हमें केवल एक ही उपयोग करना चाहिये, कि हम शुभ चिन्तनों का

सहारा लेकर अपने मन को इन से मोहित होने से बचाते रहें। अपने मन को इनसे कदापि अशांत न होने दें और शांति के सच्चे अधिकारी बने रहें। तलवार आत्मरक्षा का साधन है, यदि कोई उसी से आत्मघात कर बैठे तो कहना होगा, कि उस ने उसे साधनरूप से उपयोग में न लाकर उसका विपरीत उपयोग किया है और मृत्यु को बुलाया है।

इसी प्रकार ये जो धन मान आदि पदार्थ हैं, ये सब के सब त्याग के साधन के रूप में प्रयोग करने के लिये ही हैं। उदाहरण के रूप में सांप जब हमारे सामने आता है, तब हम उससे अपने को कटवा भी सकते हैं और उससे बच कर भी जा सकते हैं। इसी प्रकार पदार्थ जब हमारे सामने आते हैं, तब वे भोगे भी जा सकते हैं और त्यागे भी जा सकते हैं। ऐसी कोई भी बेबसी हमार सामने नहीं है, कि हम उन पदार्थों को भोगें ही, भोगें और उनका त्याग न कर सकें। केवल सुपने के संसार में ही सांप आदिसे न बचना असंभव होता है।

इसी प्रकार अज्ञान की अवस्था में ही विषयों को भोग लेने की विवशता में मनुष्य फंस जाता है। मनुष्य यदि सचेत है, तो उसे इनके त्यागने से ही शांति के दर्शन मिल सकते हैं। शांति के दर्शन करने का दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है।

जब हम इन पदार्थों का त्याग में उपयोग न करके इनको भोग में प्रत्युक्त कर लेते हैं, तब हम अपने लक्ष्य शान्ति को खो बैठते हैं। यह कहा जा चुका है, कि हम अभावशून्य पूर्ण अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं। ये सबके सब योग्य पदार्थ उस पूर्ण अवस्था को प्राप्त कराने के साधनमात्र ही हैं। वह इस प्रकार कि यह अवस्था इन पदार्थों के गर्भ में निहित नहीं है, क्योंकि इन पदार्थों के भोग से यह अवस्था प्राप्त होनी असम्भव है। इस अवस्था को पानेका केवल एक ही उपाय है, कि इन पदार्थों की पूरी पूरी उपेक्षा की जाय। इन पदार्थों की एकमात्र उपेक्षा से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। हमारी पूर्ण अवस्था को प्राप्त कराने में इन पदार्थों का उपयोग इतना ही है, कि इन अभावबोधक भोग्य विषयोंको त्याग कर पूर्णता को प्राप्त कर लिया जाय। इन पदार्थों के त्याग देनेसे हमें जो शान्त अवस्था प्राप्त होगी, इन भोगों को अपनाते रहने से हमें उसी शान्त अवस्था से वंचित रह जाना पडेगा।

नयनसुंदर वस्तु को देखकर, धीर रहकर, मुग्ध न हो जाने पर, जो एक अपूर्व शान्ति होती है, उसी शान्ति का अनुभव हमें दे देने के लिये ही सुन्दर रूप ईश्वरीय प्रबन्धानुसार हमारे सामने आते हैं। सुन्दर रूप हमारे सामने इसलिये नहीं आते हैं, कि हम सुन्दर रूप के मोह में फंस कर अशान्त हो जांय।

भयंकर पदार्थ हमारे सामने इसीलिये आते हैं, कि हम अपने चित्त को भय से व्याकुल न होने देकर निर्भयता नामवाली पूर्णता का जो आनंद होता है, उसको ले लें।

ललचानेवाले पदार्थ हमारे सामने इसलिये नहीं आते, कि हम उनके फंदे में फंस बैठें। किन्तु इसलिये आते हैं, कि हम लालच के वश न होकर निर्लोभता नाम की पूर्णता का जो विमल आनन्द होता है, उसे ले लें।

क्रोध दिलानेवाली घटना हमारे सामने इसलिये नहीं आती है, कि हम क्रोध के वश में आकर अपने विचार और शक्ति दोनों को खोकर कर्तव्य से भ्रष्ट हो जांय। किन्तु इसलिये आती है, कि हम ऐसी उत्तेजना के अवसर पर अक्रोध रहकर अपने विचार और अपनी शक्ति दोनों ही का ठीक ठीक उपयोग करके कर्तव्यपरायणतारूपी पूर्णता में रहते सन्तोष लाभ कर सकें।

यश का अवसर हमारे सामने इसलिये उपस्थित नहीं हुआ है, कि हम दूसरों की निन्दा– स्तुति के क्रीत दास (गुलाम) बनकर अपने लक्ष्य को भूल जांय और अपनी स्वतन्त्रता को खो बैठें। किन्तु इसीलिये आया है– हम निरभिमान और निरपेक्ष होकर अपने लक्ष्य पर स्थिर रहना सीखें।

सारांश यही है, कि भोग्य पदार्थ प्रलोभनों से बचने का पाठ पढाने के लिये हैं। घटनायें उत्तेजना में न आकर शान्त रहने की कला सिखाने के लिये हैं। ऐश्वर्य अपने से बचे रहने का कौशल बताने के लिये है। सर्प का भय छुडाने के लिये सांप हमारे सामने आता है। रूप की

आसक्ति का त्याग कराने के लिये रूपवान् पदार्थ बनाये गये हैं। इस ढंगके और भी जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब शान्ति का जीवित पाठ सिखाने के लिये ही हमारे सामने आते हैं ।

ये सबके सब हमारी आंख, नाक, कान और मन आदि इन्द्रियों को उत्तेजित करके हनारा आह्वान किया करते हैं, कि हमें त्याग कर शान्ति का विमल आनन्द ले सकते हो तो ले लो। समझ लेना चाहिये, कि इन पदार्थों का सदुपयोग केवल त्याग में ही है। जैसे सीडी के डण्डों पर पैर रखकर उनको त्याग त्याग कर ही ऊपर चढा जा सकता है। सीडी के डण्डों को पकडे रहकर ऊपर चढना असंभव होता है। इसी प्रकार ये सब पदार्थ जब हमारे सामने आयें, तब हमारा कर्तव्य है, कि हम उन्हें अपने मन में न बैठने देकर इनको त्याग दें और इन्हें त्याग कर सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करने लगें। तब ही हमारा शान्तिरूपी लक्ष्य हम को मिल सकता है। यदि हम इन पदार्थों को चिपटे रह जायंगे तो शान्तिरूपी लक्ष्य तक कदापि नहीं पहुँच सकेंगे। इस शान्ति को पा लेना ही हमारी चिंताका लक्ष्य है। ध्यान रखना चाहिये, कि पदार्थों से अकर्तव्यका नाता त्यागकर कर्तव्यका या सदुपयोग का नाता रखना ही उनको त्यागना है। पदार्थों से दूर रह जाना उन्हें त्यागना नहीं है ।

अपने मन में मनोमोहक और विचलित कर देनेवाले पदार्थों को स्थान दे देना ही अशुभ चिन्तन कहता है। इन अशुभ चिन्तनों के आक्रमण से अपने आप को बचाये रखने का एक मात्र उपाय शुभचिन्तन ही है। शुभ चिन्तन का स्वरूप पहले बताया जा चुका है, कि ' मेरे पास अमुक अमुक पदार्थ नहीं है, ' इस प्रकार के अभावबोध को कभी भी अपने पास न आने दिया जाय और शान्ति का अखण्ड दर्शन किया जाय। अपने मन में प्रत्येक समय इस भावना को स्थिर रक्खा जाय, कि हमारे पाने योग्य पदार्थ हमारे पास प्रत्येक समय विद्यमान ही हैं। जो पदार्थ हमारी जीवनयात्रा के लिए आवश्यक हैं, वे पदार्थ हमारे पास से कभी हट ही नहीं सकते। हमारे पास से केवल वे ही पदार्थ हटते हैं, जिन की हमें कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। जो पदार्थ हमारे पास नहीं हैं, वे ईश्वरीय प्रबन्ध से ही नहीं है।

जो पदार्थ हमारे पास से हटते हैं, वे ईश्वरीय प्रबन्ध से ही हटते हैं। हमारे प्रयोजन के सब पदार्थों की व्यवस्था हमारे जन्म से पहले मातृस्तन में दुग्ध आदि के रूप में कर दी जाती है। जल, वायु आदि आहार्य पदार्थ विधाता के विधान से आही रहे हैं और आते ही रहते हैं। ईश्वरीय प्रबन्ध के अतिरिक्त जिन पदार्थों की इच्छा हमें होती है, उन सबही पदार्थों को अनावश्यक समझा जाना चाहिये। हमारे चारों ओर फैली हुई ईश्वर की अनन्त शक्ति, जिन पदार्थों की हमें आवश्यकता होती है, उन पदार्थों को ला ला कर हमारे पास इकट्ठा करती है और वही शक्ति उन उन सब पदार्थों को हमारे पास से हटा ले जाती है, जो कि हमारे लिए अनावश्यक हो जाते हैं।

ईश्वर की इस प्रबन्धपद्धति को यदि हम पहचान सकेंगे, तो हमारी जीवनसमस्या निर्णीत समस्या बन जायगी और तब हमें शान्तिका अखण्ड दर्शन होने लगेगा। जिन पदार्थों की अप्राप्ति में अभावबोध होता रहता है और जिन पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर वियोग का भय सताने लगता है, वे सब ही पदार्थ असत्य माने जाते हैं। असत्य की प्राप्ति के लिये अपना बुद्धिबल व्यय कर डालना विचार की शून्यता मानी जाती है।

हमको इस जीवन में पाने योग्य केवल एकही वस्तु है, कि हममें अपने लक्ष्य पर स्थिर रहने की अटूट शक्ति प्राप्त हो जाय। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए विचारों को शुभ रखना चाहिये और अपने चिन्मय सत्य देह की रक्षा करते रहना चाहिये। प्रत्येक समय पवित्रता का श्वास लेते रहने से ही उस चिन्मय सत्य देह की रक्षा होती है। यही पूर्णता की अवस्था है। पूर्णता की इस अवस्था को प्राप्त कर चुकने पर मनुष्य अनन्त जीवन प्राप्त कर लेता है। वहां उस का नित्य रूप में अवस्थान हो जाता है। उस नित्य रूप को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यता का अन्तिम लक्ष्य है। यही जीवन का तथ्य है। यही अमरत्व है। यही निर्भयता की अवस्था है। यही शान्ति है। यही कामनाशून्यता है।

यही सारी आशाओं की पूर्ति है । यही उत्थान है, यही सफलता है । यही शक्ति है । उसी का नाम सत्य या आत्मा या परमात्मा है । इस मांसमय देह से सम्बन्ध को अस्वीकार करके ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । इस मांसमय देह को अपनानेवाला जो हमारा अशुभचिन्तन है, वही हमारा विनाशी रूप है । यह देह प्रत्येक क्षण नष्ट हो ही रहा है । प्रत्येक क्षण इसकी मौत हो ही रही है । इसका रहना ही मूर्तिमती मृत्यु है । इसीका नाम भय अशान्ति, कामना, नैराश्य, पतन, अकृतकार्यता और दुर्बलता है । यही पिशाच या सैतान है । इसके साथ पूरा पूरा असहयोग करना ही पूर्ण स्वतन्त्रता कहाती है ।

इस पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये हमें यह समझ लेना चाहिये, कि जो सत्य है, वह हमारे पास ही है । हम में उसका अभाव कभी भी नहीं हो सकता, इस प्रकार की विचारशक्ति को जो मनुष्य अक्षुण्ण बनाये रख सकता है, वही शक्तिमान् है । यह विचारशक्ति जिस पुरुष में से लुप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट होकर वह पुरुष दुर्बल हो जाता है । इस प्रकार की दुर्बलता को मन में आने देना ही अशुभचिन्तन का मूल है । विचारों की हीनता ही अशुभ चिन्तनों का एकमात्र अभिप्राय है । जो असत् है, उसको सत् समझ लेना ही हीनता मानी गयी है ।

असत् को सत् समझ लेनेकी इस भ्रान्ति से आत्मरक्षा करने का पाठ पढ़ाने के लिये ईश्वरने हमको दो साधन दिये हैं— एक उसने हमको विचार करने की शक्ति दी है । दूसरे उसी विधाता ने हमें भ्रान्ति से बचाने के लिए साधन के रूप में यह देह नाम का असत् पदार्थ दे दिया है । देख लें कि- यह देह प्रत्येक क्षण विनष्ट होताही जा रहा है । यह जब बढता हुआ दिखाई देता है । तब भी यह विनाश की ओर ही चलता जाता है । इसमें जो भी कुछ परिवर्तन आते हैं, उन परिवर्तनों का 'स्वास्थ्य, यौवन' या 'जरा' कोई भी नाम रख लिया जाय, परन्तु यह निश्चित है, कि उसकी गति ध्वंस की ओर जा रही है । यह मूर्तिमान् असत्य है । हम को त्याग का पाठ पढा देने के लिए यह सम्पूर्ण सृष्टि एक बडी भारी लम्बी चौडी पुस्तक है । यह हमारा देह उस बडी पुस्तकका एक छोटा संस्करण (जेबी गुटका) है । इस शरीर का निर्माण ऐसे अद्भुत ढंग से हुआ है, कि संसार में जितने भी मुख्य मुख्य पदार्थ विस्ताररूप से हैं, वे सब पदार्थ इस शरीर में संक्षिप्त रूप से रक्खे हुए हैं । संसार में सूरज है, तो इस देह में आंख है । संसार में वायु है, तो इस देहमें प्राण है इत्यादि ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द जो कि संसार में हैं, वे सब इस देह में भी हैं । संसाररूपी बृहत् पुस्तक में से त्याग का पाठ पढ लेना क्षुद्रकाय मनुष्यके लिए असंभव था । उसी कठिनतासे मनुष्यको बचा देनेवाला यह देह है । हमें जो कुछ भी त्यागका पाठ सारे संसार भर में पढना है, वह सब इस देहमें से ही पढ सकते हैं और चमत्कार यह होता है, हमारा त्याग का पाठ सारे संसारमें लागू हो जाता है । जिस प्रकार एक कोठरी में बैठकर पढाया गया दिशाओं का पाठ सारे संसार में लागू हो जाता है, इसी प्रकार देह में पढा हुआ त्याग का पाठ सारे संसार में लागू हो जाता है । जिन नियमों को हम इस देह पर लागू कर लेते हैं, वे ही नियम सारे संसार में लागू हो जाते हैं । हमारे शुभ चिन्तनों के साधन के रूप में यह देह हमें मिला है । इस देह के क्षणभंगुर रूप को अपने विचार में लाते रहने से इस देह का सच्चा उपयोग हो जाता है और साथ ही संसार की क्षणभंगुरता हमारे ध्यान में अनायास आ जाती है ।

यदि हम इस शरीररूपी साधन का ठीक ठीक उपयोग कर लेंगे, तो हम संसारके रूप, रस आदि सब पदार्थों का दुरुपयोग करने से स्वयमेव बच जायेंगे । जब हम इस अनित्य देह से नाता तोड लेंगे, तब हमारे शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी योग्य पदार्थ हैं, उन सबसे हमारा नाता स्वयमेव टूट जायगा । बाह्य पदार्थ हम को तबही प्रभावित कर सकते हैं, जब कि हम इस देह को सत्य तथा हमसे कभी भी वियुक्त न होनेवाला पदार्थ मान लेते हैं ।

जब हम इस देह को सत्य मानना छोड देंगे, तब संसार के बाहर के पदार्थ हमको प्रभावित करना बंद कर देंगे । तब उनसे हमारा नाता स्वयमेव टूट जायगा । भाव यही है, कि इस देहरूपी गुटके में सम्पूर्ण त्याग का निचोड सन्निहित है । इसको जब हम प्राप्त कर लेंगे, तब हम देखेंगे, कि यह विश्वरूपी सारा का सारा ही ज्ञानग्रंथ हमने पढ डाला है । फिर संसार का कोई सा भी पदार्थ हमारा अनधीत नहीं रह जायगा ।

त्याग के इस पाठ में एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है, कि इस शरीर को अनित्य समझ कर इस की उपेक्षा (लापरवाही) करना और इसे नष्ट हो जाने देना कदापि अभीष्ट नहीं है । पुस्तक को फाड डालने से जैसे हम पाठ सीखने से वंचित रह जाते हैं, इसी प्रकार अपनी उपेक्षा से या इस देह का दुरुपयोग करके अर्थात् इस देह को धन मान और भोग आदि का साधन बन जाने देकर इसको निकम्मा करके हम अपने आपको ज्ञान प्राप्त करने से वंचित कर लेते हैं । त्यागरूपी स्वर्ग तक पहुँचने के लिए यह शरीर सीडी के रूप में हमारे पास है । अतः इस शरीररूपी सीडी को पुष्ट तथा कार्यक्षम रखना हमारा परम कर्तव्य है । हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये, कि विदेह होकर देह का उपयोग करते रहनाही सेवा है और ऐसी सेवा के लिए इस शरीर को सेवा करने के योग्य बनाये रखना भी सेवा ही है । हमें इस शरीर को ईश्वर की दी हुई धरोहर समझकर उसे स्वस्थ रखते हुए ही त्याग का पाठ पूरा पूरा पढ लेना है ।

इसलिये हमें अपनी चिन्ताधारा को इस प्रकार बहने देना चाहिये, कि हम सत्यका दर्शन करानेवाले इस शरीर-रूपी साधन का सदुपयोग करके ही हर क्षण विदेह अवस्था में अटल रह सकें । चिन्ता करने का मुख्य काम यही है, कि अपने को निष्कंटक करके अपने संतापको दूर हटा दें । जब तक कंटक रहते हैं, तब तक कंटक लगने से संताप होता ही रहता है । उस संताप को हटाने के लिये चिन्ता स्वभाव से होती है और होनी ही चाहिये । जब कि मनुष्य चित्त नाम की इस ईश्वरीय देन को साथ लेकर ही जन्म ग्रहण करता है, तब समझ लेना चाहिये कि यह हमारी चिन्ता किन्हीं कंटकों से उत्पन्न होनेवाले संताप से ही हो रही है । वह कंटक कौनसा है ? और वह संताप क्या है ? इसे पहचान कर संतापहीन और शान्त बन जाने के लिए ही यह चिन्तामाता हमारे साथ लगी रहती है । भौतिक देह में जब कोई कांटा लगता है तो भौतिक साधनों की सहायता से उसे कंटकहीन और संतापरहित किया जाता है । परन्तु हमारा जो शुद्ध मन-रूपी चिन्मय देह है, यह सब का सब भौतिक जगत्, उसका कंटकरूप होकर हमारे सामने आता है । किसी भी भौतिक साधन से इस कंटक को हटा सकना असंभव है । भौतिक साधनों की सहायता लेकर इस विश्व को नष्ट कर सकना और अपने शुद्ध मनरूपी चिन्मय देह को निष्कंटक कर लेना, कल्पना में भी आनेवाली वस्तु नहीं है ।

इसके अतिरिक्त यह काम जीवन के या यों कहें, कि आत्मा ने जिस अभिप्राय से जन्म धारण किया है, उस उद्देश्य से बाहर का भी है । आत्मा विश्वस्रष्टा है । उसने इस विश्व को बनाया है । उसके विश्व बनाने का एक विशेष अभिप्राय है । वह यही है कि इस विश्व को साकार बना कर अपने स्वरूप का दर्शन कर लिया जाय । इस विश्व के भौतिक अस्तित्व को मिटाकर या आंखों के सामने से इसे हटाकर आत्मस्वरूप को निष्कंटक कर डालना, सृष्टि का अभिप्राय कदापि नहीं है । इस भौतिक जगत् को ज्ञानाग्नि में भस्म करके सदा अपने स्वरूप का दर्शन करते रहने के लिये ही स्रष्टाने इस भौतिक देह धारण कर लिए हैं और इस सब सृष्टि को बना डाला है । समझ लो कि हमारा शुद्ध मन ही हमारा स्वरूप है । हम अपनी विचारशक्ति के द्वारा इस सब सृष्टि का और अपने देहों का यही उपयोग कर सकते हैं कि हमारे शुद्ध मन में अशुद्धता को उत्पन्न न होने दिया जाय । अशुद्धता उत्पन्न होने के प्रत्येक अवसर को ... करके आत्मदर्शन किया जाय । अपने मन में किसी प्रकार के अभावबोध को जागने देना ही मन में अशुद्धता को उत्पन्न होने देना है । अपने में किसी भी ढंग की अपूर्णता को स्वीकार कर बैठने को ही अभावबोध कहा जाता है ।

सब समय याद रखना चाहिये, कि पूर्णता ही हमारा स्वरूप है । अपूर्णता नाम की जो अवस्था आती है, ...

आत्मतत्त्व को भूलने की गिरी हुई अवस्था होती है। आत्मा इस अपनी पूर्णता का संरक्षक बनने के लिये ही इस चिन्तारूपी संपत्ति को साथ लेकर देह धारण किया करता है। इस अपनी पूर्णता का संरक्षक बने रहने के अतिरिक्त आत्मा के पास और कुछ भी काम नहीं है। हमारी चिन्ता हमारे अन्दर आठों पहर जागती रहती है। और हमारी पूर्णता की रक्षा करने के लिए पहरेदारी करती रहती है। जैसे सागर की ऊंची से ऊंची तरंग परिपूर्ण घडे को एक बिन्दुमात्र जल का दान करने में असफल हो जाती है और जैसे परिपूर्ण घडा अपनी पूर्णता के द्वारा सागर को यही समझाता है, कि देखलो हम तुम्हें केवल इसी काम में लाते हैं; कि अपनी पूर्णता दिखा कर हमें कुछ दे सकने के तुम्हारे अभिमान को व्यर्थ कर दें। जब कि उसमें अपूर्णता या शून्यता नहीं है, तब सागर की अनन्त जलराशी भी यह नहीं कर सकती, कि घडे की पूर्णता की चिन्ताधारा को हटा दे और उसमें अपूर्णता या शून्यता को उत्पन्न कर दे। अर्थात् पूर्ण घडा अपनी पूर्णता को किसी से भी न्यून मान लेने को उद्यत नहीं होता। भले ही उसके सामने सागर ही क्यों न आ खडा हो।

इसी प्रकार हमारा आत्मा अपनी पूर्णता को लेकर ही घट घट में बैठा हुआ है। वह इस संसार में कहीं से भी किसी वस्तु को उधारी लेकर अभाव या अपूर्णता को पूरा करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि अपने मन की पूर्णता को समझना हो तो उसे केवल इसी रूप में समझना चाहिये। यही हमारी शुद्ध मन की पूर्णता है। पूर्णता की इस बुद्धि को जगाये रक्खा जाय और इस बाह्य जगत् में जो अनन्त प्रकार के आकर्षण और विकर्षण के साधन विद्यमान हैं, उन सब को व्यर्थ करते हुए रहा जाय, यही हमारी चिन्ता का मुख्य अभिप्राय है। यह बाह्य जगत् भावनाओं के सागर को उत्पन्न करता रहता है और उसमें असंख्य ऊंची ऊंची तरंगों की मालायें बनाता रहता है। वे हमारे मन से आ आकर टकराती रहती हैं। वे सब हमारे मन को विचलित करने के लिये हम में शून्यता या अपूर्णता को उत्पन्न करने के लिये, हममें किसी प्रकार की आवश्यकता या अभाव-बोध को जगा देने के लिये जन्ममृत्यु, सुखदुःख हर्ष-शोक, मिलनविच्छेद, संपद्-विपद् भोगरोग, ऐश्वर्य-दारिद्र्य तथा भौतिक स्वतन्त्रता या परतन्त्रता आदि की विरुद्ध भावनाओं से भरी हुई तरंगमाला बन बनकर हमारी चिन्ता का विषय हो होकर हमारे सामने आती रहती हैं। हमारे चिन्तानाम के पहरेदार का यही कर्तव्य होना चाहिये, कि वह हमारे अस्तित्व का जो एक मुख्य अभिप्राय है, उसको हमें कभी भी न भूलने दे, इन सब घटनाओं के घटते ही उनके सामने अपनी पूर्णता को रखकर इन सब बाह्य आक्रमणों को निस्तेज और व्यर्थ करता रहे और यों अपने पहरेदारी के कर्तव्य को पालता रहे।

चिन्तानाम के हमारे ईश्वरीय पहरेदार का यही पवित्र कर्तव्य है, कि जब सम्पूर्ण भौतिक जगत् हमको घटा देने या बढा देने के लिये हम पर आक्रमण करता हो, तब वह हम से उस सारे भौतिक जगत् की उपेक्षा करा कर अपने शुद्ध मन की पूर्णता को बढा सकने या घटा सकने का अवसर या अधिकार किसी भी बाह्य परिस्थिति को न दे बैठे। परन्तु ऐसे पहरेदार को अपनी ही चिन्ता में मस्त कर देने की शक्ति हर किसी मन में नहीं होती; वह केवल शुद्ध मन में ही होती है। शुद्ध मन से ही शुभ चिन्तन उत्पन्न हुआ करता है। आत्मा ने जो कि मनुष्यदेह धारण किया है, उसमें उसका यही अभिप्राय है, कि मन को शुभ चिन्तन से रिक्त न होने दिया जाय। यदि मन शुभ चिन्तन से रिक्त हो जाय तो समझ लो, कि मन में अशुभ चिन्तन उत्पन्न हो गया है। मन में प्रत्येक समय शुभचिन्तन रहना ही चाहिये। मन में शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार का चिन्तन न रहे, ऐसी शून्य अवस्था की उपासना नहीं करनी चाहिये। ऐसी शून्यता की उपासना करना भ्रम में फंस जाना है और अशुभ चिन्तन के वश में आ जाना है। मन में से जब सब चिन्तनों को हटाया जाता है, तब उससे यही चाहा जाता है, कि मन में विषयचिन्तनरूपी अशुभ

*

चिन्तन उत्पन्न न होने पाये ।

समझ लो, कि विषयचिन्तन को अवसर न देने का शुभ चिन्तनको छोड कर दूसरा कोई भी साधन संसार में नहीं है। इसलिये शून्यता को अपनी चिन्ता का विषय मत बनाओ। शून्यता की उपासना अशुभ चिन्तन से नहीं बचा सकेगी। यदि अपनी पूर्णता को मूर्तिमती बना कर आठों पहर अपनी आंखों के सामने रखना चाहते हो, तो अपनी पूर्णता को ही प्रत्येक समय अपनी चिन्ता का विषय बना लो।

हमारा शुभ चिन्तन जब हमारे शुद्ध मन को पूर्णता में पहुंचा हुआ देख लेगा, तब उसकी विचारपद्धति में आमूल परिवर्तन हो जायगा, तब वह विश्व के सब भूतों को पूर्णता की ही दृष्टि से देखने लगेगा। वह देखेगा कि जिस प्रकार हम में कोई अपूर्णता नहीं है और जिस प्रकार हमारी कोई अपूर्णता बाह्य संसार की उधारी सहायता से पूरी की जानेवाली नहीं है, इसी प्रकार किसी दूसरे प्राणी को भी हम से कुछ उधार लेने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा कोई भी प्राणी अपूर्ण नहीं है। जो गुण या जो योग्यता किसी प्राणी में होनी चाहिये, वे सब ही प्राणियों में समान रूप से हैं।

अपने में पूर्णता का दर्शन कर लेने के पश्चात् जब उसकी दृष्टि किसी वस्तु पर पडेगी, जब कोई वस्तु उसकी चिन्ता का विषय बनेगी, तब वह देखेगा, कि उसकी पूर्णता ही पूर्णता सर्वत्र फैली हुई है। वह जैसे अपने आप को जन्म और मृत्यु के बन्धन में नहीं पायेगा, वैसे ही वह देखेगा, कि इस बन्धन में कोई भी नहीं है। जैसे वह अपने को सुखदुःख, हर्षशोक, मिलनविच्छेद, संपद्विपद्, भोगरोग, ऐश्वर्यदारिद्र्य, भौतिक स्वतन्त्रतापरतन्त्रता आदि समझे जानेवाले बन्धनों में नहीं पायेगा वैसे ही वह किसी दूसरे को भी इस अज्ञानमयी अवस्था में फंसा देखकर, उस अज्ञान को ही कुछ महत्त्व देकर, किसी की भी अपूर्णता को स्वीकारने की भूल नहीं करेगा। जब कोई रोगी या शोकी या अज्ञानी उसके सामने आयेगा तब यह उसके रोग, शोक या अज्ञान से सहानुभूति न दिखा कर, वह उसकी अपूर्णताबुद्धि को ही दयनीय वस्तु समझेगा और उस अपूर्णता-बुद्धि को ही उसका रोग, शोक, दारिद्र्य, हर्ष-विशाद, संपद् विपद्, भौतिक स्वतंत्रता-परतन्त्रता आदि मानेगा। वह इन सब को अज्ञानरूपी व्याधि के रूप में ही देखेगा और ईश्वर सेवा का अवसर देंगे, तो उनको उनकी पूर्णता का दर्शन करा कर ही उनकी उचित सेवा कर देगा। शुद्ध मन रखनेवाले का शुभचिन्तन उसे यही सुझाता रहेगा, कि तुम किन्हीं औरों की चिन्ता मत करो- तुम किन्हीं औरों की चिन्ता करके उनका अपमान मत करो।

याद रखो, कि सब देहों का देही वह विराट् जगत्स्रष्टा अपनी पूर्णताबुद्धि को लेकर जैसा तुममें है, वैसा औरों में भी वर्तमान है। वही संसार का सब से महान् अभिभावक है। वही तुम्हारे समझे हुए पुत्र, कन्या आदि का उत्तरदायी उत्पादक, पोषक और मारक है। मनुष्य की चिन्ता का सदुपयोग यही है, कि अपनी पूर्णताबुद्धि को जगा कर रखा जाय, अपने में किसी भी प्रकार का अभावबोध उत्पन्न न होने दिया जाय, साथ ही औरों में भी किसी ढंग के अभाव को स्वीकार न किया जाय। जब इस ढंग से चिन्ता का सदुपयोग किया जाता है, तब यह शुभचिन्तनरूपी मार्गदर्शक मनुष्य के मन में ही रहकर सब समय मनुष्य को उस का अभ्रान्त कर्तव्य स्पष्ट रूप से दिखाता रहता है। कर्तव्य को पहचान लेना ही चिन्ता का मुख्य अभिप्राय है। कर्तव्य को पहचान लेने के लिए ही सब समय शुभचिन्तन को अर्थात् हम पूर्ण अभ्रान्त और आनन्द-स्वरूप हैं, इस भावना को जगाये रखना ही चिन्तन करने की एकमात्र विधि है।

जब तुम शुद्ध मनके आज्ञाकारी बन जाओगे और जब तुम्हारा शुभचिन्तन प्रतिक्षण तुम्हारे सामने अभ्रान्त कर्तव्य को उपस्थित करने लगेगा, तब देखोगे कि भौतिक देह भी जो कि तुम्हारे बाह्य कर्मों का साधन है, शुद्ध मन का आज्ञाकारी होकर सेवा में लग जायगा।

यह अवस्था जब आ जायगी, तब जगत् में भौतिक शक्ति समझी जानेवाली जितनी भी प्रकार की धृष्टतायें हैं, उन सब की उपेक्षा करते रहनेवाला तुम्हारा भौतिक देह तुम्हारे लक्ष्य के विरुद्ध उपयोग में कदापि नहीं आ सकेगा। जब कोई भी भौतिक शक्ति तुम्हारे देह को अपनी इच्छा पूरी करने का साधन बनाना चाहेगी और तुम्हारे देह को तुम्हारे शुद्ध मन के अधिकार से बाहर ले जानेका असफल प्रयत्न करेगी, तब तुमको अपनी अनन्त शक्ति का दर्शन हुए बिना नहीं रहेगी। तब तुम देखोगे, कि हिमालय जिस प्रकार पत्थरोंके टुकडों को अपने चरणों में डालकर उन्हें भूला रहता है और अपने गगनचुम्बी ऊंचे मस्तक को गौरव के साथ ऊपर उठाये रहता है, वैसे ही तुम्हारा शुद्ध मन तुम्हारे आत्मस्वरूपकी पूर्णतारूपी सेवा करते रहने में लगा रह कर और इसी काम में तुम्हारे भौतिक अस्तित्व (देह) को भी लगाये रखकर, बडे ही गर्व के साथ, विरोधियों को व्यर्थ कर देनेके लिए उद्यत हुआ रहेगा।

समझ लो कि देह को धारण करने का अभिप्राय या इसका सदुपयोग केवल इतना ही है, कि अपनी पूर्णता के ही आज्ञाकारी बन जाओ, अपनी पूर्णता की सेवा करने लगो और पूर्णता की सेवा करने में जो पूर्णानन्द आता है, उसके बदलेमें अपने भौतिक अस्तित्वको मिटा डालो— इस संसार में तुम्हारा भी कोई भौतिक अस्तित्व है, इस बात को भूल जाओ— तुम अपनी ओर से अपनी जीवन-लीला का अन्त कर देने के लिये प्रत्येक समय प्रसन्न मुख से प्रस्तुत रहो। इसी को स्वतन्त्रता कहा जाता है। इस स्वतन्त्रता की रक्षा करते रहना ही मनुष्य का एकमात्र चिन्तनीय विषय है। यँही चिन्ताघात को बहाने की सर्वोत्तम प्रणाली है।

वस्त्र कैसा हो?

('जाग्रत जीवन' नामक अप्रकाशित पुस्तकसे)

(लेखक-श्री० रामावतार विद्याभास्कर, पो० रतनगढ, जि० बिजनौर, यू० पी०)

(लेखांक १)

समाज ही व्यक्तियों के ज्ञान का भंडार है। मानवीय ज्ञानसृष्टि के आदि से समाज में ही संचित होता रहता है। यह ज्ञान समाजरूपी पुस्तकमें लिखा जाता रहता है। भाषा-चिंता और कर्म की धारा समाज में ही सुरक्षित रहा करती है। समाज में ही व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। एक से अधिक व्यक्तियों का इकट्ठा हो जाना ही समाज कहता है। मनुष्य को जन्म देनेवाला मनुष्यसमाज ही है। मनुष्यसमाज से बाहर भी कोई मनुष्य हो सकता है, और वह मनुष्य बना रह सकता है, यह बात कल्पना में भी आनेवाली नहीं है। जो मनुष्य आज समाज से बाह्य रूप में पृथक् होकर जा बसा है, उसका वह समाजविहीन समझा हुआ स्वतंत्र जीवन और उसका सब का सब आचरण समाज की ही देन है। समाज की सीख यदि उस से छीन ली जाय, तो उस के जीवन में कुछ भी न रहे। समाज में रह कर उस ने जो चिंताधारा सीखी है, वह चिंताधारा ही उस के मन लगानेका आधार है। वह चिंता ही उसका निर्जन का साथी बना रहता है। समाज से जो भाषा उसने सीखी है, वही अंदर ही अन्दर जल बहानेवाली तथा ऊपर सूखी दीख पडनेवाली सरस्वती नदीकी तरह उसके

अन्दर रहनेवाली चिंता की भाषानदी बन कर बहती रहती है । समाज से प्राप्त की हुई उस भाषा में जो भाव व्यक्त होते रहते हैं, उन भावों का सुधार करते रहनेपर ही उस का समाज-विहीन समझा हुआ जीवन निर्भर रहता है। वह समाज की भाषा में ही सोचता है। यों समाज से पृथक् बैठ कर भी समाज की देन के बिना काम नहीं चलता। इस लिये समाजविहीन होना मनुष्यों के लिये असंभव है।

यदि कोई मनुष्य बालक-जन्म से जंगली पशुओं में पाला गया हो, तो उसको मनुष्य न कहकर पशु कहना होगा । क्योंकि उसका मन पशुओं जैसा ही बना होगा । देह के अवयवों से किसी के रूप का निर्णय नहीं होता । मन से ही वास्तविक रूप का पता मिलता है। मन की रक्षा करनेवाला समाज ही होता है। मनुष्य के मन का रक्षक मनुष्यसमाज ही हो सकता है। पशुपक्षी का समाज अपने काम की बातें सिख लेता है और मनुष्य-समाज अपने काम की बातें सिखा लेता है । पशुपक्षी की सत्ता की जो रक्षा होती चली आ रही है, वह उन समाज के कारण ही है। मानवीय सत्ताकी जो रक्षा आज तक चली होती आ रही है, उसका कारण मनुष्यसमाज ही है । सृष्टि के बीज को धारण करने का क्षेत्र समाज ही होता है। मनुष्य, पशु और पक्षी अपने समाज पर अपने व्यक्तित्व के लिये और अपने अस्तित्व के लिये ऋणी होते हैं।

समाज क्या है ? मानवधर्मपालन का सामूहिक रूपही समाज है। मनुष्यधर्मपालन का समूहगत जो रूप है, वही समाज है। सामाजिक जीवन ही मनुष्यका वास्तविक जीवन है। सामाजिक जीवन के बिना मानवमन में कभी उल्लास नहीं आता । व्यक्तिगत जीवन नाम का कोई भी जीवन नहीं है, और वह संभवभी नहीं है। व्यक्तिगत जीवन समझा हुआ जीवन, जीवन नहीं है । वह पराधीनतारूपी मौतको दिया हुआ एक निमन्त्रण है । एक समाज से पृथक् होकर जब मनुष्य दूसरे स्थान में जाता है, तब वह दूसरे समाजसे सम्बन्ध जोड लेता है । सर्वथा समाजसे हीन जीवन असंभव है। व्यक्तिके साथ समाजका जो यह अभेद्य, अच्छेद्य और अकाट्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार करते हुए समाजवासी प्रत्येक व्यक्ति का एक ही कर्तव्य रह जाता है, कि वह अपने जीवन के द्वारा अपने समाज को सर्वांगमें स्वस्थ बनाये रखे। जो मनुष्य सत्यानुमोदित जीवनयात्रा कर रहा है, उसकी उस जीवन-यात्रा का कर्मक्षेत्र समाज ही है। समाज में प्रकट होते रहनेवाले मनो-भावों पर ही वह सत्य के प्रयोग और परीक्षण करता रहता है । समाज न हो तो सत्य के प्रयोग किसपर किये जाएं ? मन में सत्य का धारण होता है और समाज में सत्यका अभ्यास किया जाता है। समाज में ही सत्य व्यवहार करना सीखा जाता है। समाज के संघर्ष में ही मानवीय मन में सत्य प्रकट होता है। मनुष्य को सत्यानुमोदित जीवनयात्रा करने का जो सहयोग मिलता है, उसे समाज ही देता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के साधनों का समाज की कर्मशक्ति से ही उत्पन्न होना सत्यानुमोदित जीवन बिताने की स्वाभाविक अवस्था मानी जाती है ।

इसका अभिप्राय यह है, कि जिस समाज में जीवन-यात्रा के प्रत्येक साधन, समाज की ही कर्मशक्ति से उत्पन्न होते हैं, ऐसे पवित्र समाज का अंग बनकर रहना ही व्यक्ति का सत्यानुमोदित जीवन माना जाता है। जिन साधनों के न होने से, या न रहने से मनुष्य का ईश्वर से किंवा मनुष्यता से संबन्ध टूट जाता है, केवल वे ही जीवनयात्रा के उपकरण माने जा सकते हैं। जिन साधनों के न होने पर भी ईश्वर से किंवा मनुष्यता से संबन्ध नहीं टूटता जान लो कि वे जीवनयात्रा के उपकरण नहीं हैं । वे भोगविलास के उपकरण हैं। वे मनुष्यता को भुलानेवाले उपकरण हैं। वे मानव मनको अशुभ चिन्तन में व्यस्त रखने के साधन हैं। मनुष्यता-रूपी ईश्वर की आराधना जिसको सर्वतो भाव से करनी हो, उसे ऐसे सब पदार्थों को त्याग त्याग कर ईश्वरदर्शन के अनुकूल वातावरण बनाये रखना चाहिये। ईश्वरदर्शनार्थी मनुष्य को चाहिये कि वह भोगैश्वर्य के पदार्थों को इकट्ठा करने के लोभ में फंस कर अपने पवित्र वातावरण को कदापि खण्डित न करे। केवल अत्यावश्यक उपकरणोंका ही संग्रह करे ।

मनुष्यताकी रक्षाके लिए जो अत्यावश्यक उपकरण हैं, वस्त्रभी ऐसेही उपकरणों में से एक है। इसीलिये अन्य कलाके सामान वस्त्रकला भी समाजका एक आवश्यक अंग है। जिस समाज में वस्त्रकला नहीं है, वह समाज अंगहीन समाज है। इसको समझने के लिये इस बात पर विचार कर लेना अत्यावश्यक है, कि जीवनयात्रा के लिये वस्त्रकी कितनी बडी आवश्यकता है?

एक दूसरे का भोजन छीनकर खाने में पशु को कुछ भी धर्मसंकट नहीं है। परंतु मनुष्य जब दूसरेका अधिकार छीनता है, तब चुरा कर या छिपाकर छीनता है। अपने से अधिक शक्ति हो तो चुराछिपाकर छीनता है, अपनेसे न्यून शक्ति हो तो बलात्कार से छीन लेता है। परंतु डाकू और चोर दोनों में समाज की दृष्टि बचाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसका भाव यह है, कि डाकू और चोर का मन भी समाज के नियमों की आवश्यकता को हृदय में मान रहा है। वह समाज के नियम से प्रभावित हो रहा है। वह अपने बुरे स्वभाव के धक्कों से विवश हो कर या अपनी दुष्ट इच्छा का दास बनकर ही ऐसा कर रहा है। इसी से अपना जघन्य काम समाजकी दृष्टि बचाकर करना चाहता है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि मानवसमाज में जो मनुष्योचित किंवा मनुष्यतासुलभ दैवी संपत्ति रहा करती है, उस दैवी संपत्ति की सामूहिक प्रेरणा से मनुष्यसमाज ने चोरी को अधर्म किंवा अकर्तव्य मान लिया है। मानवसमाज का जो सामाजिक बन्धन होता है, वह मानवीय मन में बसनेवाली इस दैवी संपत्ति का ही होता है। मानवमन में रहनेवाली दैवी संपत्ति ही मनुष्यसमाज का सर्वजनानुमोदित नियम (कानून) बन जाता है। यहि कारण है, कि संपूर्ण मनुष्यों को लाभ पहुंचानेवाले नियम संपूर्ण देशोंमें और समाजोंमें पाये जाते हैं और वे सर्वत्र एकसमान पाये जाते हैं। वे सब के सब मानवमन में रहनेवाली दैवी संपत्ति में से निकलकर ईश्वरेच्छा के रूप में सामाजिक नियम बन जाते हैं। उसी दैवी संपत्ति का एक भेद लज्जा नाम से कहा जाता है। इस लज्जा की प्रेरणा से ही मलमूत्रवाही अंगों को ढकने का मनुष्योचित नियम बन गया है। मनुष्य में क्लेद (मलमूत्र) को दर्शन तथा स्पर्शन से दूर रखने की प्रवृत्ति स्वभाव से है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति कोही शुद्धि या शौच कहा जाता है। भीतर बाहर दोनों स्थानों को क्लेदों से बचकर रहना शुद्धि का अभिप्राय है। मलमूत्र, प्रस्वेद आदि बाहर के क्लेद हैं। दुर्विचार अन्दर के क्लेद माने जाते हैं। शरीर और मन दोनों की निर्मलता शौचाचार कहाती है। बुरा आचार और बुरी चिन्ता ये दोनों जन्मके साथी हैं। इन दोनों से बचकर रहने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वभाव से पायी जाती है। मनुष्य जिस बुद्धि से क्लेद को दर्शन और स्पर्श से बाहर रखना उचित समझता है, उसी बुद्धि की प्रेरणा से वह मलमूत्रवाही अंगों को भी दर्शन और स्पर्श से बाहर करके अपने मन को भागवत (भगवद्भक्त) बनाता रहता है। जिन अंगों का दर्शन और स्पर्शन भागवत स्वभाव को विनष्ट कर देता है, उन अंगों को वह देखना भी अच्छा नहीं समझता और छूना भी अच्छा नहीं मानता। ऐसी प्रवृत्ति मनुष्य का स्वाभाविक और सामाजिक धर्म है। मनुष्य की इस प्रवृति को 'लज्जा' नाम से कहा जाता है। दूसरों से लज्जित होने की मनोदशा दैवी संपत्तिवाली लज्जा नहीं है। किंतु न करने योग्य काम करने को न सहना ही 'लज्जा' है, यही दैवी संपत्ति की लज्जा है। अपने मन को भ्रान्त अप्रभावित तथा निर्विकार रखने का प्रबल आग्रह ही लज्जा है। मनुष्य को भुलावे में न पडने देने के लिये लज्जा पहेरदार का काम करती है। जब जब नंगा होने का विचार आता है, तब तब लज्जानाम की दैवी संपत्ति किंवा मनुष्य की मनुष्यता मनुष्य को वैसा करने से रोक देती है। इस लज्जा की रक्षा करने के उद्देश्य से अपने लिये वस्त्र बनाने का एक कर्तव्य मनुष्य समाज का हो ही जाता है।

जहां कहीं से जैसे तैसे कपडे उठा लाकर उन से अंगों को ढक लेने से शरीर के द्वारा मन की लज्जारक्षा का यह कर्तव्य पूरा नहीं होता। किंतु वस्त्र निर्माण के संबंध में अपना कर्तव्य पालन कर लेने से ही कोई समाज अपनी मानवोचित लजा की रक्षा कर सकता है। हमें यह ज्ञात होना चाहिये, कि हम वे पशु नहीं हैं, जिनको चाहे भी जैसे कपडे की झूल

उठा दी जाय, और उन पर उसको ओढने का उत्तर-दायित्व न हो। हम मनुष्य है। हम अपने खाने-पहनने आदि सब कर्मों के उत्तरदाता हैं। मनुष्य का ईश्वरदर्शनार्थी मन, प्रत्येक बात में अपना कर्तव्य पूरा करके ही सन्तुष्ट होनेवाला मन, चाहे जैसे कपडे से संतुष्ट होनेवाला कहां है? वह कपडा किन किन परिस्थितियों को पार करके आया है? वह कपडा कैसे कैसे प्रभाव उत्पन्न करता हुआ आया है, वह कपडा पहननेवालों पर क्या क्या प्रभाव डालता रहेगा? इन सब बातों को बिना देखे मनुष्य का सत्यान्वेषी मन सन्तुष्ट होनेवाला नहीं है। मनुष्य का सत्यार्थी मन, चाहे जिस वस्त्र से अपनी लज्जा को सुरक्षित नहीं पाता। वह अमार्ग या कुमार्ग से आये हुए वस्त्रों से लजाता ही रहता है। वह अन्य कामों के समान वस्त्र के संबंध में भी यह देख लेना चाहता है, कि कहीं इस वस्त्रको पहन कर हमारी स्वतंत्र मानसिक स्थिति की रक्षा करनेवाला कर्तव्य अवहेलित तो नहीं हो जायगा? वह यह समझता है, कि यदि वस्त्र के संबंध में मेरा जो कर्तव्य है, वह अवहेलित हो गया, तो मैं मानवसमाज में रहने के अयोग्य प्रमाणित हो जाऊंगा और तब मुझको विदेशी वस्त्र पहनने के लिये विवश हो जाना पडेगा। विदेशी वस्त्र वही है, जिस वस्त्रमें हमारे कर्तव्य की अवहेलना के चिह्न लगे हुए हैं। इस दृष्टिसे वस्त्र के संबन्ध में जब हम अपने कर्तव्य को टाल देते हैं, तब हम दूसरे ढंगसे यही सिद्ध करते हैं, कि हम अपनी लज्जा की रक्षा करनेको अयोग्य हैं। जिन वस्त्रों में पहनने-वालों के हाथ का कता सूत नहीं लगा है, ऐसे वस्त्र जिस समाजमें बरते जाने लगते हैं, समझ लेना चाहिये कि वह समाज समाज न रह कर निर्लज्ज 'समाज' अर्थात् पशुओंका झुंड हो गया है।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) ऋग्वेद । कापडी जिल्द मू. ३) डा०व्य० १)
यजुर्वेद । २) ॥)

(२) संस्कृतपाठमाला । १ अंकका मू. ।=) -)
१२ अंकोंका मू. ४) ॥)
२४ अंकोंका मू. ६॥) ॥।=)

(३) वै. यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

१ प्रथम काण्ड, सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)

(५) छूत और अछूत ।
१-२ भाग दोनोंका मू १॥) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १८ प्रत्येकका मू० ॥) डा. व्य. =)

(७) महाभारतकी समालोचना ।
भाग १-२ प्रत्येकका.मू. ॥) =)

(८) वेदस्वयंशिक्षक भा.१-२ मू.१॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला ।

१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)

(१०) यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय ॥=) ≡)

(११) शतपथबोधामृत । ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा ।

१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)

(१४) आगमनिबंधमाला ।

१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ वैदिक जलविद्या ।	=)	-)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१७ इंद्रशक्तिका विकास ।	॥)	=)

१५ उपनिषद् माला । १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद् । १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ ।

१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-समीक्षा ।	=)	-)
३ गीता-लेखमाला १से६भाग	४॥)	१॥)
३ गीताश्लोकार्थसूची	।=)	=)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
6 Sun-Adoration	१)	।=)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म ।

आषाढ १८६०
जुलाई १९३८

पं० मदनमोहन मालवीय.

[वर्ष १९, अंक ७] [क्रमांक २२३]

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से. ५)रु. वी. पी. से. ५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क ७

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) यजुर्वेद। बिनाजिल्द .१॥) डा०व्य० ॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू. ।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० एकादश काण्ड ,, २) ॥)
११ द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
१३ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १७ प्रत्येकका मू०॥) डा.व्य. =)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी। ॥।) ।)

(१०) यजु.अ.३६ शांतिका उपाय॥ =) =)

(११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ देवताविचार। ≡) -)
४ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा।द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) -)
३ वैदिक सभ्यता। ॥।) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा। ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
८ वेदमें चर्खा। ॥) ॥)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र। ≡) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)

(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद्१) ।-)
२ केन उपनिषद्। १) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
२ गीता-समीक्षा =) -)
३ गीता-लेखमाला १-२-३ भाग॥) =)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) -)
५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र ≡) ।=)
6 Sun Adoration १)

वर्ष १९
अंक ७
क्रमांक
२२३

धर्म

आषाढ
संवत १९९५
जोलाय्
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

प्रजाका अनुमोदन।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥
(अथर्व० ३।४।२)

'हे राजन्! राज्य चलाने के लिये सब प्रजाजन (त्वां वृणतां) तुझे हि स्वीकार करें। ये (पञ्च प्रदिशः) पांचों दिशाओंमें रहनेवाले सब प्रजाजन तुझे ही अनुमोदन दें। राष्ट्र के उच्च स्थानपर आरूढ होकर, (उग्रः) शूरवीर बनकर (वसूनि विभज) सब धनों का उत्तम विभाग अपने हम सब प्रजाजनों में कर।'

प्रजा के चुनाव के पश्चात् प्रजा की अनुमति से जो राजा होता है, उसको उचित है कि वह अपनी प्रजा में धन का विषम संचय होने न दें, क्योंकि धन की विषमता के कारणहि सर्वत्र दुःख का प्रादुर्भाव होता है।

शाखासंहिताओंका मुद्रण।

वेद-मुद्रणका कार्य चल रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपे चुका है, अथर्ववेद छप रहा है, इस समय तक अथर्ववेद के चार काण्ड छप चुके हैं और पांचवां काण्ड छप रहा है। इस तरह छपाई चलती रही, तो संपूर्ण अथर्ववेद छपने के लिये ४ महिने लग जायगे।

अथर्ववेद की छपाई होनेके पश्चात् 'सामवेद' छापना है। आजकल जो सामवेद मिलता है वह केवल आर्चिक ही है। इस सामवेद के **ऊह गान, उह्य गान, वेय गान और वेन गान** ये बडे बडे गान-ग्रन्थ हैं। ये सब मिलकर छापे जांयगे तो आजकल के सामवेद के चौगुना ग्रंथ हो जायगा। इसी तरह इसके **आरण्यगान** आदि भी भाग हैं तथा रथन्तरादि जो गान हैं वे भी स्पष्टरूपेण दर्शाने योग्य हैं।

सामवेद यह गानविद्या का वेद है, अतः इस के प्रत्येक गान के नोटेशन देने चाहिये, केवल मन्त्र छापनेसे कार्य नहीं चलेगा। इस लिये हमने गानविद्या के ये सब ग्रंथ प्राप्त किये हैं और इस समय जो साम-गायनमें प्रवीण हैं उनको सामने बिठलाकर, उनके गायन के नोटेशन करके, उस नोटेशन के अनुकूल दूसरे गवैयेको सामगायन करनेके लिये प्रवृत्त कर, देखा जा रहा है कि यह नोटेशन ठीक हुआ है वा नहीं। इस तरह अनेकवार सुपरीक्षित करके जब नोटेशन ठीक ठीक होगा, तब वह इस सामवेद में सब चिह्नों के साथ छापा जायगा।

इस रीतिसे सामवेद की तैयारी चल रही है। और जिस समय वह तैयारी ठीक होगी, तब ही सामवेद छापा जायगा। हमारे अनुमानसे इस तरह सामवेद छपाई के लिये आठ महिने लग जांयगे। परंतु इसके पश्चात् जब सामवेद छापा जायगा, तब साधारण स्वर-ज्ञान वाला मनुष्य भी गायन कर सकेगा। इस तरहकी सुव्यवस्थासे इस समयतक किसीने सामवेद छापा नहीं है।

शाखा-संहिता-मुद्रण।

बहुत से पाठक पूछ रहे हैं, और प्रेरणा कर रहे हैं कि शाखा-संहिताओंका मुद्रण भी अतिशीघ्र होना चाहिये। हम भी वही प्रयत्न करते हैं। मूल चार वेद-संहिताओंके मुद्रण के पश्चात् क्रमशः शाखासंहिताओंके मुद्रण का प्रारंभ किया जायगा। सब शाखाएं-जितनी शाखाएं इस समय प्राप्त हैं- उन सब शाखाओंका मुद्रण करना है। प्रथम तैत्तिरीय संहिता का मुद्रण होगा, उसकी तैयारियां चल रही हैं। जब तक सब शाखा संहिताएं मुद्रित नहीं होतीं तब तक किसी एक संहिता का भाषानुवाद करना अशक्य है।

किसी मंत्र के शब्दोंका परिवर्तन अन्यान्य संहिताओंमें किस तरह हुआ है, यह पूर्णतया ज्ञात होने तक उसका ठीक ठीक अर्थ समझना अशक्य है। अतः सब शाखा-संहिताओंके शुद्ध मुद्रण होने तक किसी एक ही संहिता का भाषानुवाद करना अयोग्य है।

कितने मंत्र कहां और किस रूपमें पुनरुक्त हुए हैं, किस रूपमें परिवर्तित हुए हैं, किस रूपमें शब्दान्तर के साथ आगये हैं, इसका निश्चित ज्ञान भाषानुवाद करनेवाले को होना आवश्यक है। इसीसे ठीक ठीक अर्थ निश्चय हो सकता है। शाखासंहिताओंका इतना संबंध होनेके कारण हि हमने मूल संहिताओंके मुद्रण के पश्चात् क्रमशः सब शाखा-संहिताओंका मुद्रण करने का निश्चय किया है।

पाठक शीघ्रता कर रहे हैं और प्रतिदिन ऐसे अनेक पत्र आरहे हैं जिनमें शाखा-संहिताओंकी मांग हो रही है। परंतु पाठक जान सकते हैं कि यह कार्य ऐसी शीघ्रता से होनेवाला नहीं है। प्रत्येक मंत्रकी छान बीन करके शुद्धाशुद्ध का निर्णय किये विना संहिता छापना असंभव है और अयोग्य भी है। इस लिये पाठक यह समझें कि सब शाखा-संहिताएं छापी जायगी, परंतु उन सब का मुद्रण खोज पूर्वक और जैसा होना चाहिये वैसा किया जायगा। शीघ्रता करके असावधानी से कोई ग्रंथ मुद्रित नहीं होगा।

अथर्ववेद-मुद्रण।

इस समय अथर्ववेदका मुद्रण चल रहा है, इस अथर्ववेदमें प्रत्येक सूक्त में दस पांच पाठभेद हैं। कोई ऐसा सूक्त नहीं मिला जिसमें पाठभेद न हो। पाठक पूछेंगे कि अथर्ववेदमें हि ऐसे पाठभेद क्यों हुए हैं? अथर्ववेद

में इतने पाठभेद होने का कारण यह है कि इस वेद का पठन पाठन लुप्त हुआ था। इस संहिता के पठन पाठन का पुनरुद्धार थोडेहि समय के पूर्व किया गया है। इस कारण इस समय इस वेद का घनपाठी एक भी नहीं है। जो हैं वे अथर्ववेद-संहिता कण्ठ किये हुए हैं, पद-पाठ और क्रम पाठ तक कण्ठ करते हैं। प्रायः उत्तरीय पण्डित अथर्ववेद-पारायण ग्रंथको हाथमें लेकरहि करते हैं। प्रायः उत्तरीय विद्वानोंमें ऐसे कोई वेदपाठी नहीं हैं जो आद्योपान्त अथर्ववेद-संहिता को तथा उसके पदपाठ को क्रम-पाठ के साथ कण्ठ से बोल सकते हों।

काशीमें चार पांच अथर्वपाठी हैं और अयोध्यामें एक अथर्वपाठी हैं जिनको संहिता और पद कण्ठ हैं, वे सब के सब महाराष्ट्रीय ब्राह्मणहि हैं। अर्थात् इस समय अथर्व-वेद को कण्ठ रखने का सब श्रेय महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को है। इस अथर्ववेद के आचार्य इस समय काशी में श्री० वेदमूर्ती रामभट्ट रटाटे (गुरुजी वेदविद्यालय काशी) हैं।

ये मूलतः ऋग्वेदी हैं। ऋग्वेदका आमूलाग्र कण्ठ पाठ होनेके पश्चात् आपने आमूलाग्र अथर्ववेद को कण्ठ किया है। और पदपाठ तथा क्रमपाठ भी ये कण्ठ से ही बोल सकते हैं। इस सब की सहायता हमें अथर्व-मुद्रण में हो रही है। इन के ४।५ शिष्य हैं जो अथर्ववेद के कण्ठ-पाठी हैं। कोई उत्तरीय ब्राह्मण अथर्ववेदको पुस्तक के विना कण्ठ बोलने में समर्थ नहीं हैं। गुजरात, राज-पूताना में अब भी थोडे अथर्ववेदी हैं, परंतु वे सब ग्रंथ हाथ में लेकर पारायण करने वाले हैं, महाराष्ट्रमें जो अथर्ववेदी हैं उन्होंने तो अथर्ववेद कई पुस्तों से छोडा है। अतः इस समय अथर्ववेदाध्यायी काशी और अयो-ध्यामें उक्त गुरुजी के ही अनुयायी हैं, जिन्होंने अथर्ववेद का पुनरुद्धार किया है। आप इस समय जैसा ऋग्वेद कण्ठ रखते हैं वैसा ही अथर्ववेद कण्ठ रखते हैं। इस के सिवाय भारतवर्ष में कोई ऐसा द्विज नहीं है जो इस तरह दोनों वेदों को कण्ठ रखता हो।

दोनों वेदोंको कण्ठ में रखना अत्यंत कठिन कार्य है और इस लिये उक्त गुरुजीको धन्यवाद देना योग्य ही है। यदि ये न होते तो अथर्ववेद मुखसे बोलनेवाला कोई न होता।

इतना इनका अथक परिश्रम होनेपर भी इन से पूर्व जो पाठभेद अथर्ववेदमें अनेक परंपराओंके कारण घुस गये हैं उनको दूर करना असंभव है, अतः इनका संग्रह करना योग्यही है।

इस लिये हम जो अथर्ववेद छाप रहे हैं उनके अन्तमें परिशिष्ट में जितने भी पाठभेद इस समय मिलते हैं वे सब के सब देनेका विचार निश्चित किया है। इस से खोज करनेवालों को सब पाठभेद एकही स्थान पर मिल जायगे।

ऋग्वेद यजुर्वेद के घनपाठी इस समय विद्यमान हैं इसलिये इन दोनों वेदों में एक भी पाठभेद नहीं है। परंतु अथर्ववेद की वैसी स्थिति नहीं है। इस वेद के घनपाठी इस समय कोई नहीं है, इस कारण इस वेदमें पाठभेद घुस गये हैं। इस से घनपाठियों के कार्य का महत्व पाठक जान सकते हैं।

अन्यान्य संहिताओं में भी इसी कारण अनेक पाठ-भेद घुसे हुए हैं। जिन का निश्चय करना, अनेक पाठोंका विचार करना, यह बडा ही खोज का कार्य है, यह कार्य अतिशीघ्रता करने से यथायोग्य हो नहीं सकता। इस कारण हमारे वेद-मुद्रण में थोडी देरी हो रही है। जितना हम परिश्रम और खोज कर सकते हैं उतना परिश्रम करके हम शुद्ध मुद्रण करनेका यत्न कर रहे हैं और यावच्छक्य शीघ्रता भी कर रहे हैं। परंतु ऐसी शीघ्रता हम नहीं कर सकते कि जिस से मुद्रण में दोष रह जांय।

आशा है कि पाठक जैसे मूल संहिता के ग्राहक बने हैं वैसे ही सब शाखा-संहिताओं के भी ग्राहक बन जांय और अपना घर इस वैदिक साहित्य से अलंकृत और पवित्र बनावें।

वेद-मुद्रणकार्य बार बार नहीं हो सकता, क्योंकि इस में हानिका ही निश्चय है, इस लिये ये ग्रंथ इस समय जो नहीं लेंगे उनको पीछे से नहीं मिलेंगे। इस लिये अतिशीघ्र ग्राहक बन जाइये और अपने इष्ट-मित्रोंको भी ग्राहक होनेका उत्साह बढाइये।

पं० ब्रह्मदत्तजी की

शास्त्रार्थ की ललकार

'आर्यमित्र' के वर्ष ४१, अंक २५ में पं० ब्रह्मदत्तजीने फिर शास्त्रार्थकी ललकार प्रकाशित की है, वह उन्हीं के लिये शोभा देती है। इससे पूर्व उनका एक पत्र प्रकाशित हुआ था और उस पत्र के उत्तर में मेरा एक लेख भी इसी आर्यमित्र में प्रकाशित हुआ था। तथा विस्तार से 'वैदिक धर्म' मासिक में मेरे ५१६ लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनको देखने के पश्चात् अजमेरमुद्रित वेदों में ऋषि-देवता-छन्द विषयक अशुद्धियां कैसी और कितनी हैं, इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह सकता। परन्तु जो शास्त्रार्थी विद्वान् हैं, उनका मुख कभी बंद नहीं हो सकता, इसलिये फिर पं० ब्रह्मदत्तजीने शास्त्रार्थकी ललकार की है।

पं० भगवद्दत्तजी।

इससे पूर्व पं० भगवद्दत्तजी का भी एक छोटासा लेख आर्यमित्र में प्रकाशित हो चुका है। वे चाहते हैं कि पं० ब्रह्मदत्तजी के लिये योग्य उत्तर दिया जावे। ठीक है, मैं पं० भगवद्दत्तजी से निवेदन करना चाहता हूं कि वेहि पं० ब्रह्मदत्तजी के प्रश्न लिखकर उनका उत्तर भी वेही आर्यमित्र में प्रकाशित करें।

आचार्य नरदेवशास्त्रीजी।

इसके अनंतर श्री० पं० आचार्य नरदेवशास्त्रीजीका एक लेख आर्यमित्र में प्रकाशित हुआ और आपका खानगी तौरपर भी पत्रव्यवहार मेरे साथ हुआ। इससे मुझे विदित हुआ कि श्री० पं० नरदेवशास्त्रजी इस तरह के शास्त्रार्थ सार्वजनिक रीतिसे वृत्तपत्रों में करना योग्य नहीं समझते। मेरा भी मत यही है, और गत वीस वर्षोंमें मेरे विरुद्ध अनेक लेख प्रकाशित होनेपर भी मैंने किसीका उत्तर देना इसी कारण योग्य नहीं समझा। जो वेदशास्त्र का अध्ययन करेंगे, उनको सत्यासत्यनिर्णय के विषय में संदेह नहीं हो सकता, और जो अन्धविश्वासी हैं, उनको ऐसे लेखोंद्वारा समझानेसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये इस तरह के शास्त्रार्थ की ललकारवाले लेख वृत्तपत्रों का विषय न होंगे, तो अच्छा है। इसलिये श्री आचार्य नरदेवशास्त्रीजी के लेख के पश्चात् मेरे ऊपर लेखद्वारा आघात हो रहे थे तो भी मैं चुप रहा।

शास्त्रार्थ का आह्वान।

देहली से उपदेशक-महामण्डलके द्वारा तथा मेरठ से श्री० आर्यप्रातिनिधिसभा युक्त प्रान्त की ओर से म० कालीचरणजी के हस्ताक्षर से ऐसे दो पत्र मेरे पास आ गये हैं, जिनमें मुझे शास्त्रार्थ के लिये तैयार होनेका आह्वान किया गया है। वही म० कालीचरणजी का पत्र आज के आर्यमित्र में भी छापा है, इसलिये ये सज्जन शास्त्रार्थ करवाने के उत्सुक हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

एक ओर से श्री० पं० आचार्य नरदेवशास्त्रीजी मुझे शास्त्रार्थ से रोक रहे हैं और दूसरी ओर श्री० आर्य प्र० सभा युक्त प्रान्त की ओर से शास्त्रार्थ की प्रेरणा हो रही है। इन दोनों ओर की रस्सीखेंच में मुझे क्या करना चाहिए, यह समझ में नहीं आता।

शास्त्रार्थ की तैयारी।

मैं स्वयं शास्त्रार्थी नहीं हूं, और शास्त्रार्थों को अनेक बार देखने से मेरा निश्चित मत यह हो चुका है, कि जो मक्कारी शास्त्रार्थों में चलती है, उससे किसी भी धर्म की नींव सुदृढ नहीं हो सकती; क्योंकि धर्म वस्तु ऐसी है,

जो सदा सत्यके आधार पर हि रहकर बढ सकती है। यह तो मेरा निज मत हुआ।

परन्तु पं० ब्रह्मदत्तजी जिस तरह ललकार रहे हैं, वह देखकर ऐसा मन में आता है, कि यदि इस आपत्काल के कारण शास्त्रार्थ करना ही पडे, तो करने को उद्यत होना ही चाहिये। अतः इस वाद को सदा के लिये स्थिर रूपसे मिटानेके लिए शास्त्रार्थ करनेको मैं तैयार हो जाऊंगा, ऐसा पं० ब्रह्मदत्तजी तथा कालीचरणजी समझें।

शास्त्रार्थ कैसे होगा?

दोनों ओर से शास्त्रार्थ की तैयारी होनेपर भी शास्त्रार्थ किस तरह हो इस विषयमें मतभेद हो सकता है, इस लिए जिस तरहपर शास्त्रार्थ करने के लिये मैं तैयार हूं, वे शर्तें नीचे लिखता हूं-

१. यदि शास्त्रार्थ मैं करूंगा तो मौखिक कभी नहीं करूंगा, लेखबद्धहि करूंगा। और किसी एक अध्याय परहि नहीं करूंगा, आदि से अन्ततक जितना ग्रंथ श्री० स्वामिजीके नामपर प्रकाशित हुआ है, उस सम्पूर्ण वेदभाष्य के 'ऋषि-देवता-छन्दों' के सम्बन्ध में सब बातोंपर शास्त्रार्थ किया जायगा और इसका प्रारंभ ऋग्वेद के प्रथम सूक्त से हि होगा और अन्त यजुर्वेद के ४० वें अध्याय से होगा।

२. यदि मौखिकही शास्त्रार्थ करना हो, तथा किसी एक हि भाष्यविभाग पर करना हो, तो पं० ब्रह्मदत्तजी अपनी शास्त्रार्थ की खुजली शमन करनेके लिए किसी दूसरे के पास जांय। वह कार्य मुझसे नहीं होगा। इससे चाहे वे अपने विजयका डंका बजाते रहें, मुझे उस में कोई ईर्ष्या नहीं है।

३. लेखबद्ध शास्त्रार्थ करनेके लिये दोनों पक्षवालों को अपना स्थान छोडनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्व तथा उत्तर-पक्षविषयक लेख मध्यवर्ती स्थानमें शास्त्रार्थ-मंत्रीके पास समय समयपर पहुंचने चाहिये और मध्यवर्ती स्थानके शास्त्रार्थ-मंत्री उसको प्राप्त होतेहि शुद्ध छापकर प्रकाशित करते रहें। इन लेखोंको शुद्ध छापनेका उत्तरदायित्व उसपिर रहेगा और अप्रकाशित लेख का कोई उत्तर नहीं दिया जायगा। अर्थात् दोनों ओरके लेख संपूर्णतया शुद्ध छापनेका उत्तरदायीत्व शास्त्रार्थ-मंत्रीपर रहेगा। और प्रत्येक पक्षका लेख मुद्रित करकेहि प्रतिपक्षीके पास भेजना होगा।

४. लेख आर्यमित्रमें छापे जांय, या अन्यत्र छापा जाय-इस का विचार प्रबंधक शास्त्रार्थ सभा करे। परन्तु प्रत्येक लेख प्रथम शुद्ध छापा जाय, यह आवश्यक है। अप्रकाशित लेख का कोई उत्तर दिया नहीं जायगा।

५. छपाईके व्ययका प्रबंध तथा दोनों ओरके व्यय का प्रबंध शास्त्रार्थसभा करेगी। इस तरह का शास्त्रार्थ चलेगा, तो ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्यके ऋषिदेवताछन्दों के विषय में अपना संपूर्ण वक्तव्य (प्रतिसूक्त के विषयमें) लिखने के लिये मुझे दो पण्डितों द्वारा लिखवाई करनेपर एक वर्ष लगेगा। इस तरह लिखनेवाले दोनों पण्डितों का कमसे कम प्रतिमासका व्यय ५०) या ६०) होगा, जो प्रतिमास शास्त्रार्थसभासे पेशगी मिलना चाहिये। यह व्यय मैं इसलिये नहीं करूंगा कि मुझे शास्त्रार्थ करना ही असंमत है, और आह्वान मैंने दिया नहीं, परंतु लाचारीके कारण इस शास्त्रार्थ में संमिलित होना पडा है। इसलिये जिसको शास्त्रार्थ की खुजली हो रही है, वेही इस व्यय का प्रबंध करें।

६. म० कालीचरणजी यह सब प्रबंध करें और प्रथम मासका पण्डितों का ६०) व्यय मेरे पास भेज दें। मैं ऋग्वेद के प्रारंभसे कुछ सूक्तों के ऋषिदेवताछन्द किस तरह कितने अंशोंमें अशुद्ध हैं, यह लिखकर भेजूंगा, उस का निराकरण पं०ब्रह्मदत्तजी करते जांय। प्रत्येक वार का पूर्व और उत्तर पक्ष शुद्ध मुद्रित होने पर आगे पक्ष-प्रतिपक्ष चलते रहेंगे। मुद्रण न हुआ तो शास्त्रार्थ का सिलसिलाभी स्वयं बंद हो जायगा।

७. सब शास्त्रार्थ हो चुकने पर दोनों ओर का वक्तव्य पुस्तकाकार करके वह सब लेखों का पुस्तक भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध १०० या २०० वेद के विद्वानों के पास भेज कर उनकी संमति मंगवायी जाय और वह निर्णयार्थ ऐसे विद्वानों के पास भेजी जाय जो वेदवेदांगज्ञाता तथा शास्त्रोंके ज्ञाता हों। दोनों ओर से ये विद्वान् प्रथम ही

नियत किये जांय और इनका निर्णय दोनोंके लिये समान-तया बाधक हो।

यह शास्त्रार्थ विधिपूर्वक किया जाय तो एक वर्ष तक चल सकता है और दोनों ओर के मिल कर लेख कमसे कम एक सहस्र पृष्ठों के हो सकते हैं। इससे अल्प प्रयत्न से होनेवाली यह बात नहीं है। जो समझते हैं कि सार्वजनिक स्थानमें २।३ दिन दोनों ओर के विद्वानों को मुर्गी की झुंजके समान लडवा कर शास्त्रार्थ का तमाशा करने से इस प्रश्न का हल होगा, वे वैसा मन से समझते होंगे, तो मुझे उनसे लडना नहीं है। वे अपने मार्ग से जो कुछ करना चाहें करें। मुझे उनके तमाशेके साथ कोई कर्तव्य नहीं। मैं इस में तब ही पडूंगा जब एक वार के प्रयत्न से वैदिक खोजके मार्गके कांटे पूर्णतया दूर होने की संभावना प्रतीत होगी।

प्रथम करने का कार्य।

सचमुच उक्त प्रकार शास्त्रार्थ करना पं० ब्रह्मदत्तजी और कालीचरणजी की श्री० आर्य प्र० सभा युक्तप्रांत को मंजूर है, तो उनको सब से प्रथम एक कार्य अवश्य ही करना होगा। जो होने तक शास्त्रार्थ का प्रारम्भ कभी नहीं होगा। वह प्रथम करनेवाली बात यह है कि देहली की श्री० आर्य सार्वदेशिक सभा के आधिपत्य में भारतवर्षीय तमाम आर्यप्रतिनिधिसभाओं के प्रतिनिधि किसी स्थानपर इकट्ठे हों और इस "तरह के शास्त्रार्थ को करवाना है" यह सर्वसंमतिसे या बहुसंमतिसे निश्चित करें। तथा पं०ब्रह्म-दत्तजी जिस मूल स्वामिभाष्यकी हस्तलिखित या स्वामिजी महाराजद्वारा संशोधित पुस्तक तथा उनके पृष्ठोंके फोटो हैं, ऐसा कहते और लिखते हैं,उस मूल हस्तलिखित और ऋषि-संशोधित पुस्तक के साथ आजकल जो स्वामिभाष्य छपा मिलता है, उसकी प्रत्येक पंक्ति ठीक मिलती है या नहीं, यह निश्चय करने के लिये एक ४।५ विद्वानों की छोटीसी समिति बनावें। और यह समिति अजमेर में जहां वह अमूल्य ग्रंथ और पृष्ठों के फोटू हैं वहां जांय और जितना समय चाहे उतना लेकर छपा हुआ भाष्य प्रत्येक पृष्ठ देखकर, यदि कहां कुछ अशुद्ध छपा हो, तो उसको, ठीक करें और वहां यह समिति दो पुस्तकें ऐसी शुद्ध की हुई तैयार करें, उन में से एक मेरे पास स्वाध्याय-मंडल में दी जाये और दूसरी प्रतिपक्षी के पास दी जावे।

उस समितिद्वारा प्रमाणित (Certified copy) मिलने पर हि शास्त्रार्थ शुरू हो सकता है। जो मूल हस्तलिखित है, ऐसा पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, वह भी ग्रंथ पूज्य स्वामिजी का है वा नहीं, इस विषयमें भी यही समिति अपना निश्चय करें। इस समिति में पं० ब्रह्मदत्तजी के पक्षवाले ही लोग रहें और वे सार्वदेशिक सभा तथा संपूर्ण आ० प्र० सभाओं की ओर से घोषित करें, कि यह भाष्य का पुस्तक मूल ऋषिसंशोधित हस्तलेख के साथ मिलाकर शुद्ध सिद्ध हुआ है।

श्री० सार्वदेशिक सभा जो घोषणा करेगी, वह मैं मान लूंगा और उसीके आधारपर मैं अपने विचार प्रकट करूंगा। इससे यह होगा कि विवादास्पद विषय दोनों का समान होगा और इस स्वामिभाष्य में यह मुद्रणदोष है, या पण्डितोंका दोष है या अन्य किसी का दोष है, ऐसा कहने का अवसर किसी को न होगा।

मेरा विचार।

मेरा विचार ऐसा है कि श्री स्वामिजी ऋषिश्रेणी के आत्मा थे, उनका वेदशास्त्रों का ज्ञान असाधारण था, इसलिये उनके लेख में न तो ऋषि-देवता-छन्दों की अशुद्धि हो सकती है और न वेदार्थ की। आज जो स्वामि-भाष्य मिलता है, उस में बहुत ही स्थान पर ऋषि-देवता-छन्दों की बहुत ही अशुद्धियां मिलती हैं। मैं यह कभी मानही नहीं सकता कि ऋषिश्रेणी का कोई विद्वान् अपने पुस्तक में छन्दों की भी अशुद्धियां कर सकता है, क्योंकि यह एक मामूली अक्षरोंकी गिनती का विषय है। आजकल छपे स्वामिभाष्य में ऋग्वेद और यजुर्वेद में ये अशुद्धियां हैं, इनको देखकर मैंने अनुमान किया था, कि ये अशुद्धियां पण्डितों की असावधानी के कारण हुई हैं।

परन्तु पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं कि ऋषिभाष्यका मूल हस्तलेख, ऋषिद्वाराहि शुद्धीकृत है और उन सब

पृष्ठों के फोटो भी उनके पास हैं । यदि यह सत्य है तो बडाही अच्छा है। यह तो एक अमूल्य वस्तु है । इस कसौटी से आजकल मिलनेवाला भाष्य सुपरीक्षित किया जाय और इस तरह की घोषणा प्रकाशित होनेके पश्चात् इस विषयपर उक्त प्रकार लेखबद्ध शास्त्रार्थ शुरू हो ।

आचार्य नरदेवशास्त्रीजीसे प्रार्थना ।

यहां मैं श्री० पं० आचार्य नरदेवशास्त्रीजी से प्रार्थना करना चाहता हूं, कि वे इस विषय में अपने विचार इसी पत्र में प्रकाशित करें। तथा जो शास्त्रार्थ होगा वह सत्य को सामने रखकर हि दोनों ओर से किया जाय। मैं बहुत ही वर्षोंसे मानते आया था कि पं०ब्रह्मदत्तजी सत्य के उपासक हैं, परंतु इस शास्त्रार्थ में जो उनके लेख प्रकाशित हो रहे हैं उनमें वे असत्य का अवलंबन जान-बूझकर कर रहे हैं, और पाठकोंको धोखेमें डालनेका यत्न कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है, इसका एक ही उदाहरण में यहां पेश करना चाहता हूं—

पं०ब्रह्मदत्तजीका शास्त्रार्थी वाक्य यह है-'चत्वारिश्रृंगा' इस मन्त्रका देवता पतंजलिने 'शब्द' माना है, यास्कने 'यज्ञ' माना है, सर्वानुक्रमणीने 'अग्नि-सूर्य-आप-गौ-घृत' देवता माने हैं। यहां अग्नि-सूर्य-गौ इत्यादि देवताओंके साथ कुछ भी संबंध जोडा जा सकता? पं० सातवलेकरजी जोड दें तो जोड दें, और तो कोई जोड नहीं सकता। पाठक यहां देखें कि यास्क और पतंजलिने सर्वानुक्रमणी का सर्वथा परित्याग कर दिया है।... खरबूजा चाकूपर गिरे या चाकू खरबूजेपर खरबूजा ही कटेगा। यास्क और पतंजलि के काल में सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता थे और उन्होंने नहीं माना, तो भी प्रमाण से गये, यदि पीछेसे बने तो भी अप्रमाण सिद्ध हुए । कुछ भी हो परम प्रमाणत्व तो उनका सिद्ध हो नहीं सकता।'

यहां यास्क-पतंजलिरूपी चाकूपर सर्वानुक्रमणी के देवतारूपी खर्बूजेको पं० ब्रह्मदत्तजी ने काटनेका यत्न किया है। पं० ब्रह्मदत्तजीके मतसे सर्वानुक्रमणीके दिये 'अग्नि-सूर्य-आप-गौ-घृत' ये देवता यास्कपतंजलिने नहीं माने, अतः कट गये, अप्रमाणित सिद्ध हुए । यह पं० ब्रह्मदत्तजी की बुद्धि है !!

अब पाठक महर्षि श्री० स्वामी दयानन्दजी का भाष्य (प्रथमवार मुद्रित) खोल कर देखें। ऋग्वेदभाष्य में यह सूक्त पृष्ठ १६२९ पर (मण्डल ४, सूक्त २८) है और यहां श्री स्वामिजीने 'अग्निः सूर्यो आपो वा गावो वा घृतं वा देवताः' ऐसा लिखा है। अर्थात् यहां श्री स्वामिजी सर्वानुक्रमणीकेहि देवता मानते हैं और यास्कपतंजलिके नहीं मानते।

अब कृपा करके पं० ब्रह्मदत्तजी स्वयं देखें कि श्री स्वामिजीके भाष्यरूपी चाकूपर उनके शास्त्रार्थका खरबूजा ही कट गया है वा अभी तक साबित रहा है ?

मैं यहां श्री आचार्य नरदेवशास्त्रीजीसे तथा कोई जिम्मेवार विद्वान् से पूछना चाहता हूं कि जो पं० ब्रह्मदत्तजी का लेख ऊपर दिया है वह सत्यकी कसौटी से लिखा गया है वा अज्ञ पाठकों के आंखों में धूली डालने के लिये लिखा गया है। पं० ब्रह्मदत्तजी ने जिस समय ऊपर का लेख लिखा, उस समय स्वामीभाष्य उन्हों ने क्यों नहीं देखा, यदि देखा तो उसीके खण्डन होने योग्य वाक्य क्यों लिखे ? यह अशुद्धि दर्शाने पर भी वे क्यों नहीं मानते ? क्या यह उनका भ्रम है, अहंकार है वा सत्य का अपलाप है ?।

पं० नरदेवशास्त्रीजी इसका निर्णय करें। और यदि पं० ब्रह्मदत्तजी के द्वारा इसी तरह के लेख लिखे जानेवाले हैं-(और इस समयतक इसी प्रकार के लिखे हैं)-तो क्या ऐसे असत्यवादी के साथ मुझे या किसी अन्य विद्वान् को शास्त्रार्थ में अपना समय नष्ट करना उचित है ?

पं०ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं कि केवल यजुर्वेदके प्रथमाध्याय पर ही शास्त्रार्थ हो । जैसा कि शास्त्रार्थ करने के विना जीवित रहना ही हमारे लिये असंभव है। मान लें कि प्रथमाध्याय पर शास्त्रार्थ किया और उसके देवता ऋषि आदि सत्य या असत्य सिद्ध हुए, तो शेष भाग के ऋषि-देवता-छन्दों का निर्णय किस तरह हो सकता है ? क्या यह वेदविषय चावल पकाने के समान है, कि एक चावल गला है, यह मालूम होनेसे सब चावल पक गये हैं, यह बात मालूम हो जाती है। क्या शास्त्र की चर्चा ऐसी है ।

मैंने इस लेख में जो बातें विस्तार से कहीं उनको पुनः संक्षेप से लिखता हूं—

१. श्री. सार्वदेशिक सभा सब आर्य प्र० सभाओं को अपने साथ लेकर इस शास्त्रार्थ का निश्चय करे और व्यय आदि का प्रबंध करे,

२. इस से पूर्व एक समिति बनावे जो स्वामिजी के लेख के साथ भाष्यकी तुलना कर के अपना निश्चय प्रकट करे।

३. पश्चात् लेखबद्ध शास्त्रार्थ हो, प्रत्येक लेख छप जाय और शास्त्रार्थसमाप्तीपर वह पुस्तक विद्वानों की संमितियों के साथ निर्णयकर्ताओं के पास भेजी जाय, जिनका निर्णय सब के लिये बाधक हो।

किसी एक व्यक्ति के साथ— (जो व्यक्ति सामूहिक रूप से संपूर्ण आर्यजगत् को जिम्मेवार नहीं है)- मैं शास्त्रार्थ नहीं करूंगा। पं० ब्रह्मदत्तजी भी सामने खडे हों, मुझे उनका डर नहीं है, परन्तु उनके पीछे कितना बल है, यह पहिले निश्चित होना चाहिये। सामूहिक रूपसे सब आर्य प्र० सभाएं उन के पीछे रहेंगी, तो इस शास्त्रार्थ का जो परिणाम होगा, वह सब पर समानतया परिणाम करेगा। नहीं तो आज पं० ब्रह्मदत्तजी खडे हुए, कल पं० प्रकृतिदत्त ललकारेंगे और परसूं पं० विश्वदत्त उठकर आह्वान देंगे। ऐसे गैरजिम्मेवारों की ललकार होती रहे और ये लोग लेख छापते रहें। ऐसी रास्तोंपर पुकारें होती रहेंगी, तो उस प्रत्येक पुकारका अवश्य ही उत्तर देना चाहिये, ऐसी बात नहीं है।

वस्त्र कैसा हो ?

(लेखक-श्री० रामावतार विद्याभास्कर, पो० रतनगढ, जि० बिजनौर, यू० पी०)

(लेखांक २)

भोजनसंग्रह, वासस्थान, वस्त्र, निद्रा, विश्राम, या सफाई आदि जितने भी शरीररक्षासे संबन्ध रखनेवाले कर्तव्य हैं, उन सबमें जब आत्माकी लज्जारक्षा होती है, तबही उस समाजका मन स्वस्थ होता है। अर्थात् अपनी लज्जारक्षा करनेपर ही कोई समाज ईश्वरदर्शन के अनुकूल होता है। यदि कोई समाज इन कार्यों में अपनी लज्जा की रक्षा नहीं कर सकता, तो उस समाजका मत ईश्वरविरोधी-नास्तिक हो जाता है। उस समाजके सब काम मनुष्यताका विरोध करनेवाले हो जाते हैं। वह समाज दासताको स्वीकार कर लेनेवाला हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आस्तिक समाजको अपनी (समाजकी) शक्तिका सदुपयोग हो कर जो वस्त्र बना है, अर्थात् समाजके हाथ से काता हुआ सूत जिसमें लगा है और जो समाज के ही किसी अंग (जुलाहे) से बना गया है, उसी वस्त्र को व्यवहार में लाने से समाजकी लज्जारक्षा माननी चाहिये। उत्तरदायित्वपूर्ण वस्त्रों से तन ढकनेपर ही कोई समाज अपनी लज्जा की रक्षा करके स्वाभिमानी, आत्मसन्तुष्ट और आत्मनिर्भर बना रह सकता है।

भक्ति का विमल आनन्द लेने में ही मानवजीवन की सफलता है। मनकी जो विकाररहित स्थिति है, वही 'भक्ति' है। भक्त लोग इस मिट्टी के देह में न रमकर चिन्मय देह में रमते रहते हैं। भक्तों का कर्मक्षेत्र यह मिट्टीका देह नहीं होता। भक्तों के सब काम अपने चिन्मय देहकी सुरक्षासंवर्धन और पोषण के लिये होते हैं। भक्त लोग अपनी मनुष्यतारूपी अपने नारायणकी सेवामें आठों पहर सर्वार्पण की भावना के साथ लगे रहते हैं। भक्तों का पवित्र मनही उनका चिन्मय देह होता है। वे उसीकी पूजा, सेवा, शुश्रूषा, भक्ति, दर्शन और तल्लीनता पाने में सचेत होकर व्यग्र रहते हैं। भक्तों का यह चिन्मय देह इस मिट्टीके पुतले से अलिप्त रहता है। इस हाडचामके अस्तित्व पर से अहंता, ममता उठाते रहनाही भक्तोंका अखण्ड उद्योग रहता है। भक्तों का जो यह चिन्मय देह है, यही दिगम्बर या भोलानाथ परमात्मा है। यही कारण है कि भक्तों का विदेहावस्थ होना अत्यावश्यक है। जो विदेहावस्थाका अधिपति नहीं है, वह भक्त नहीं है। वह भक्ति विदूषक है। भक्तोंके इस दिगम्बरपनेका अभिप्राय यही है कि वे प्रकृति से अलिप्त बने रहते हैं। वे क्षुद्र मनुष्यसुलभ विकारों को अपने मनोराज्य में घुसने नहीं देते। वे कभी भी विषयों का प्रभाव मानने वाली प्रभावित स्थिति में नहीं आते। ऐसा जो भक्तोंका चिन्मय देह है, वही दिगम्बर रहने योग्य वस्तु है। इस स्थूल देहको दिगम्बर, नग्न या वस्त्रहीन रखने का थोडासा भी महत्त्व नहीं है। इस शरीर में जो कि सरदी गरमी नापने का त्वग्यन्त्र लगाया गया है, वह इसकी सुरक्षा कर सकने के लिए ही है। त्वग्यन्त्र जब सरदी बता रहा हो तब भक्ति या वैराग्यके मिथ्या अभिनिवेश से वस्त्रहीनताका आग्रह रखकर ईश्वरभजन को छोड कर शीत भजन करने में बुद्धिमत्ता कहां है? जब कि त्वग्यन्त्र सरदी बता रहा है और ईश्वरीय प्रबन्ध वस्त्र दे भी रहा है, तब तुम्हें वस्त्रहीनताका आग्रह दिखाने का अधिकार किसने दिया है? निश्चय ही यह आग्रह तुम्हारे मूढ अहंकार की परिणति मात्र है। ईश्वरीय प्रबन्ध जब सरदी लगाये और वस्त्र न दे, तब सरदी को ईश्वरेच्छा मानकर सहने का सुअवसर जब आये, तब सरदी भी ईश्वरभजनका रूप धारण कर लेती है। परन्तु यह अवस्था कादाचित्क है। नग्न तपस्वी बनने का मूढ आग्रह ईश्वरीय प्रबन्ध का विरोध है। यही बात ईश्वर के दिये हुए पात्रों का अपमान कर के करपात्री बनकर

हाथ पर भोजन करने का आग्रह दिखाने के विषय में भी जाननी चाहिये। ईश्वरीय प्रबन्ध भूक लगा रहा है, भोजनभी दे रहा है, उस समय तपस्वीपनके अहंकारसे ईश्वरीय रचनाका विरोध कर के उपवासपरायण रहना भी ऐसी ही मूढ मनोदशा है। प्रकरण-बाह्य होनेसे इनका यहाँ विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जाता। प्रकृत बात यही है, कि इस स्थूल शरीर की दिगम्बरतासे भीतर के दिगम्बर भोलानाथ परमात्माका कुछ भी संबंध नहीं है। इस बातको सब जानते हैं, कि स्थूल शरीर को नंगा रखकर भी मनको प्रकृति में लिप्त रक्खाही जा सकता है। इस स्थूल देह को नंगा या विरूप बनाकर रखने में कुछभी महत्व नहीं है। ऐसा करनेसे चिन्मय देहकी सेवासे ध्यान हट जाता है। यह स्थूल शरीर जिस सत्यनारायणकी सेवा का साधन है, इस शरीर को उसी की सेवा में आठों पहर कर्मरत रखना और इसे कर्मरत रखकर अखण्ड आत्मस्मरणकी जो उदात्त स्थिति है, उसकी रक्षा करते रहना, ये सब सत्यनारायणकी मानवी (मानवोचित) लीलायें हैं। सत्यनारायण की ये मानवी लीलायें, मानव- स्वभावके अनुकूल ही होनी चाहियें। भीतर की अर्थात् मानसकी शुद्धि तथा बाहरकी अर्थात् शरीर की शुद्धि ये दोनों मानवस्वभाव में पाये जानेवाले स्वाभाविक धर्म हैं। ये धर्म पशुओंमें नहीं पाये जाते। पवित्र रहने के इसी मानवस्वभाव मेंसे अपने किन्हीं अंगोंको ढककर रखनेकी प्रवृत्ति ने जन्म लिया है। इस भावनाको सुरक्षित रखनेसे समाज-बन्धन पवित्र बना रह सकता है। समाजबन्धनमें पवित्रता रहनेसे ही सत्यनारायणकी मानवी लीलाओं में ब्रह्मसुख चखने को मिलता है। इतना आवश्यक तथा लाभदायक जो कि अंगसंगोपनधर्म है, उसकी साधिका जो वस्त्र-कला है, उस वस्त्रकलाकी रक्षा करना, प्रत्येक मनुष्यका सामाजिक मनुष्योचित कर्तव्य है। यदि इस कलाकी सुरक्षा नहीं की जायगी, तो जैसे चोरी करने से समाजके नियमका भंग होता है, और समाज को हानि पहुंचती है, इसी प्रकार आत्माकी लज्जारक्षा न होने से सामाजिक मानवीय नियमको भंग करने के अपराधका अपराधी बन जाना पडेगा और सारे समाजको हानि पहुंचना अनिवार्य हो जायगा।

इस वस्त्रकलाके नष्ट हो जानेपर समाज के एक भाग को अर्थात् बुनकर अपनी जीवनयात्रा करनेवाले अंगको पक्षाघात हो जाता है। इस के साथ ही सर्वसाधारणके हाथ में अपने समाजबन्धन को अपनी शक्ति से अटूट बनाये रखने की जो सूत कातनेकी कला है, वह भी विनष्ट हो जाती है और सारे समाज को रोगी बना देती है। परिणाम यही होता है, कि हमारे समाजबन्धन को छिन्न करके हमारी दुर्बलतासे लाभ उठानेवाली एक विरोधी शक्ति हमें निर्लज्ज, मनुष्यताहीन, स्वाभिमान-रहित, और नीच बनायें रखने में सफल हो जाती है। यों हमारा संपूर्ण समाज अकेली वस्त्रकला के न रहनेसे सब कलाओं की मुख्य कला मनुष्यतारक्षारूपी सर्वश्रेष्ठ कलाकी उपेक्षा कर देनेवाला बन जाने के कारण, सब प्रकार की कलाओं से हीन होकर पर-निर्भर और पराधीन हो जाता है। खद्दर का व्यवहार करें, तो यह वस्त्रकला किन्हीं धनलोलुपों के हाथमें न रह कर समाजवासी सर्व-साधारण की व्यक्तिगत शक्ति के हाथोंमें या अधिकार में बनी रहती है और सारा समाज स्वस्थ तथा कर्मक्षम बना रहता है।

वस्त्रकलासे हीन समाज रोगी समाज है। वस्त्रकला को त्यागना समाज के मनका बडा भारी रोग है। वस्त्र-कलासे हीन रोगी समाज कदापि सत्यानुमोदित जीवन नहीं बिता सकता। जो समाज अपने तन्तुवाय (जुलाहे) आदि अंगों को इस प्रकार नष्टभ्रष्ट, जीविकाविहीन हो लेने देता है, ऐसे समाज में सत्यानुमोदित जीवन बिताने योग्य कर्मक्षेत्र नहीं रहता। जो शक्ति अपने जीवन को सत्यारूढ रखना चाहता है, उसे यह अवश्य करना पडेगा, ऐसा किये बिना उसका जीवन सत्यारूढ जीवन नहीं हो सकेगा, कि वह अपने समाज को सत्यानुमोदित कर्मशक्ति का आधार बनाने में व्यग्र हुआ रहे।

यदि समाज को सत्यानुमोदित कर्मशक्ति का आधार नहीं बना लिया जायगा, तो समाज को पक्षाघात हो जायगा। ऐसा समाज अवश्यही परनिर्भर हो जायगा। दासता तथा परनिर्भरता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इन दोनों में भेद नहीं है। जो समाज दास-समाज

जायगा, वह अपने उत्पन्न किये हुए व्यक्तियों को दासता ही सिखाया करेगा। ऐसे समाज में जन्मधारण करनेवाले तथा ऐसे समाज के पालेपोसे व्यक्ति अवश्यही दास होंगे। दासोचित जीवन बिताना मानवमनकी बडी निकृष्ट दशा है। दासोचित जीवन में उल्लास या शान्ति नहीं होती। दासों का जीवन ईश्वरविहीन जीवन होता है। दासजीवनको नास्तिक जीवन कहा जाता है।

भजन का विरोध करनेवाली अवस्था को ही नास्तिकता कहते हैं। यह मनुष्य शान्ति पाने के चाहे करोडों उपाय कर ले परन्तु इसे भजन के विना चैन नहीं पडता। मनुष्य का मन स्वभाव से भागवत है। इसे भक्ति स्वभाव से ही प्यारी है। अपने मन के इस स्वभावको न पहचानने से मनुष्यको अनन्त क्लेश उठाने पडते हैं। भजन के अनुकूल जीवन बिताने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है, कि अपने समाज की कर्मशक्ति को अक्षुण्ण तथा अलुप्त रक्खा जाय। इसके लिये हमारे भाग में जो काम आता है, वह इतना ही है, कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी अपनी स्वाभाविक कर्मशक्तिको कर्तव्य से विमुख कदापि न होने दे। मनुष्यकी माया, आलस्य और भोगलालसा बनबन कर, प्रत्येक समय मनुष्यपर आक्रमण करती रहती है। आलस्य और भोगेच्छा नाम के ये माया के आक्रमण सच्चे मनुष्य को सच्चा पौरुष दिखाने के अवसर मात्र हैं।

जब मनुष्य आलस्य तथा भोगलालसा नाम के इन आक्रमणों को व्यर्थ कर देता है, उसी समय सर्वव्यापक परमब्रह्म मनुष्य के संभोग्य बन जाते हैं। आलस्य तथा भोगलालसा नाम के आक्रमणों को प्रत्येक क्षण कर्तव्यपालन करते रहने के स्वभाव से ही व्यर्थ या असफल किया जा सकता है। क्योंकि आलस्य और भोगलालसा अनन्त हैं, इसलिये इन्हें परास्त करनेवाले कर्तव्य भी अनन्त हैं। जैसे आलस्य और भोगलालसा प्रत्येक क्षण आते रहते हैं, इसी प्रकार इनका हनन करनेवाले कर्तव्य-नारायण भी प्रत्येक क्षण मानवमन में अवतीर्ण होते ही रहते हैं।

इस दृष्टि से मनुष्य के जहां और बहुत से कर्तव्य हैं, वहां एक अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य यह भी है, वह अपने अवकाश के समय का सदुपयोग किया करे। अवकाश के समयको अपना समय न समझकर अपने उपजीव्य समाज का समय मानकर, उसे उसी की दैवी संपत्ति रूपी श्रीकी वृद्धि में व्यय किया करे।

मनुष्यको चाहिये कि वह व्यर्थ बात बनाने में, दूसरों की व्यर्थ चर्चा करने में ताशशतरंज जैसे निकम्मे खेल खेलनेमें, लक्ष्य भ्रष्ट करनेवाली पुस्तक पढने में, और मोहाधीन हो कर स्पर्शसुख लेने के लिये बच्चों को गोद में उठाकर उनको अपने मोह में फांसते रहने में तथा स्वयं भी उन के मोहमें फंसते रहने में अपना थोडासा भी समय खोने का अपना दुष्ट अधिकार त्याग दे। इस अवकाश के समय को किसी आत्मकल्याणकारी कर्तव्य में लगाये रहे। अवकाश के समय का सदुपयोग करना समाज के किसी एक प्रसिद्ध व्यक्तिका या किसी विशेष श्रेणी के लोगों का धर्म नहीं है।

यह किसी देश की सत्य अवस्था नहीं है, कि समाज के कुछ लोग तो ताशशतरंज या इसी ढंगके कुछ दूसरों से सीखे हुए व्यर्थ खेल खेलकर दिन काटा करें और कुछ थोडेसे लोग सदा उपयोगी कामों में ही अपना समय बिताया करें। इस सम्बन्ध में सचाई यह है, कि अवकाश के समय का सदुपयोग करना सार्वजनिक कर्तव्य है। यह समाजवासी प्रत्येक व्यक्ति के ध्यान देने योग्य कर्तव्य है। जोभी कोई समाज से किसी भी प्रकार का लाभ उठाता है, या उठाने की आशा रखता है, उन सब का यह भी एक पवित्र कर्तव्य है, कि वह अवकाश के समय को अपना समय न माने और उसे उत्तरदायित्व-हीन निष्फल कामों में कदापि व्यय न करे।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है, कि वह अवकाश के समयको कर्तव्यपालनार्थ, ईश्वर का भेजा हुआ समय माने, अवकाश के समय को व्यक्तिगत धन न समझकर, उसे सार्वजनिक संपत्ति माने। तथा उसे आत्मकल्याणकारी या लोककल्याणकारी कामों में पूरे पूरे उत्तरदायित्व के साथ व्यय करे। अवकाश के समय को जब अपना निजी धन मान लिया जाता है, जब विराट् समय की विशाल छाती में से समय का कुछ टुकड़ा

❀

काटकर, उसपर अपनी मुद्रा अंकित की जाती है, तब उस समय को भोग में या व्यर्थता में खोदनेकी प्रवृत्ति, रुपये पैसों की बखेर करनेवालों के समान जाग उठती है, और मनुष्यको पशु बना देती है ।

अवकाश के समय को भोगों में या व्यर्थतामें खोने की इस प्रवृत्ति को रोकने का यही उपाय है, कि इस समय को अपना न माना जाय । इसे ईश्वरकी धरोहर मान लिया जाय । इस समय को समाजनारायण की रक्षणीय संपत्ति माना जाय । ऐसा यदि किया जायगा, तो इस समय का सदुपयोग करने से भिन्न दूसरा कोई भी मार्ग मनुष्य के सामने नहीं रहेगा । इस प्रकार कर्तव्यपालन में समय का सदुपयोग करना सीख लिया जायगा तो इसी कर्तव्यपालन में से विदेह-मुक्ति का परम पावन द्वार दीखने लगेगा । अवकाश के समय का सदुपयोग करनेवाला सारा समाज विदेहमुक्ति का आनन्द लेने लगेगा ।

अवकाश के समय के लिये जितने कर्तव्य हो सकते हैं उनमें वस्त्र से संबन्ध रखनेवाला सूत कातने का कर्तव्य विशेष महत्त्व रखता है । वह कर्तव्य अवकाश के समय सूत कातने से ही पूरा होता है । वह हम को स्वाभिमानपूर्वक मानवसमाज में रहने की योग्यता देता है । क्योंकि इसी से हमारी लज्जा की रक्षा होती है । यद्यपि विदेशी वस्त्रों से भी शरीर ढका जा सकता है, परन्तु हमारा कर्तव्यहीन निर्लज्जपना उन वस्त्रों से कदापि नहीं हटाया जा सकता । वह केवल अपने हाथकते सूत से बुने हुए वस्त्र पहनने से ही हटता है ।

यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अवकाश के समय सूत नहीं कातेगा, तो समाज की वस्त्रकला सुरक्षित नहीं रह सकेगी । समाज की वस्त्रकला को सुरक्षित रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने अवकाशके समय अनिवार्य रूप से सूत कातना चाहिये । कातनेवाले को वस्त्र देने की शक्ति सूत में ही है । सूत का वस्त्र बनानेवाला जुलाहा नाम का जो कि समाज की कर्मशक्ति का आवश्यक भाग है, वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये, सूत मिलने की आशा को लेकर, कातनेवालों के सहयोग को स्वभाव से ढूंढेगा । इस रीतिसे कातने और वस्त्र बुननेवालों के सहयोग से समाज में वस्त्र-कला की रक्षा अपने आप होती रह सकेगी । इस वस्त्र-कला की रक्षा करने में बुननेवाला समाज का एक विशेष भाग होता है परन्तु कातनेवाला तो सारे का सारा समाज ही होना चाहिये ।

वस्त्र के केवल दो उपयोग हैं-प्रथम लज्जा की रक्षा करना दूसरा शरीरकी सरदीगरमी से बचा कर स्वस्थता रखना। जीवन के किसी भी मुहूर्त में मनुष्य वस्त्रविहीन होनेको उद्यत नहीं होता। लज्जाकी रक्षा करना भोजन से भी अधिक महत्त्व का काम माना जाता है । भोजन के बिना मनुष्य कुछ काल बिता देता है । परन्तु वस्त्रों के बिना उसके सामाजिक जीवन का एक क्षण भी निभाव नहीं होता । वस्त्रहीनता से निर्लज्जता आती है । अपने स्वरूप को, कर्तव्य को, तथा अपने लक्ष्यहीन कामों के परिणामोंको भूल जाना ही निर्लज्जता है । इस प्रकार का आत्मविस्मरण अज्ञान है । अज्ञान और असत्य में थोडासा भी अन्तर नहीं है । असत्य को पराभूत करते रहने का एकमात्र उपाय परमात्मा का या सत्य-स्वरूप का स्मरण, मनन तथा भजन करते रहना ही है । वस्त्र के संबंध में असत्य को पराभूत करने का यही उपाय है, कि वस्त्र के संबंध रखनेवाला जो सत्य है उसे समझ लिया जा और व्यवहार में लगा जाय । भिन्न भिन्न पदार्थों के संबंध में उन्हीं पदार्थों के अनरूप सत्य का स्वरूप होता है । वस्त्र के संबंधमें सत्यका स्वरूप यही है, कि जो वस्त्र समाज की कर्मशक्ति से उत्पन्न हुए है, जिन वस्त्रों ने समाज की कर्मशक्तिको जगाये रखने का काम किया है, केवल ऐसे ही वस्त्र शरीर पर धारण किये जांय । इसी को वस्त्रसंबंधी आत्म-स्वरूप का या सत्य-स्वरूप का ध्यान रखना कहते हैं। आत्मा के सत्य-स्वरूप का ध्यान रखना ही भजन है ।

इस भजन में जो वस्त्र सहायक हों, वे ही वस्त्र पहनने के योग्य हैं । सत्यनिष्ठ जीवन में ही भजन का होना संभव है । आत्मा का स्वरूप सत्य ही है। सत्य से हीन हो जाना ही निर्लज्जता है। परन्तु

होकर रहना ही सत्य से हीन हो जाना है। सत्यहीनताभी भिन्नभिन्न पदार्थों के संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। वस्त्र के संबंध में सत्य-हीनता यही है कि अपने समाज की कर्मशक्ति से न बने हुए, या अपने समाज की स्वाभाविक कर्मशक्ति को नष्ट कर देनेवाले वस्त्रों से अपने शरीर को ढकना ही, वस्त्र के संबंध में मनुष्य की सत्यहीनता है। जिस वस्त्र से हमारी स्वतंत्रता सुरक्षित रहेगी और निर्लज्जता हरेगी, वही हमारा जीवनोपयोगी वस्त्र माना जायगा। आज तो मंदिर में जाकर देवदर्शन करने से भी अधिक आवश्यकता सूत कातकर ईश्वर या स्वतंत्रता की सेवा करने की है।

स्वतंत्र न होकर केवल जिह्वा से ईश्वर ईश्वर कहते रहने का यही भाव है, कि ईश्वर का सम्मानित नाम देकर पिशाचको या दुर्बलता को मन में बैठा कर पूजा जा रहा है। जिस समय जो कर्तव्य मनुष्य के सामने आता है, उस समय मनुष्य के लिये वही ईश्वर का स्वरूप होता है। उदाहरणके रूपमें चोर या डाकूके घरमें घुसते ही उसे पीटने का अखण्डनीय किंवा अत्याज्य धैर्य दिखानाही ईश्वरका स्वरूप है। मनुष्यको चाहिये कि सदा कर्तव्यरूप में रूपान्तरित होते रहनेवाले अपने स्रष्टा ईश्वररूपका दर्शन करने में तन्मय हुआ रहे। कर्तव्यका पालन कर के मनुष्यको सत्यमयी ज्ञानमयी तथा आनन्दमयी स्थिति में पहुंच जाना चाहिये। कर्तव्यपालन से ही सत्य ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप के नैर्मल्य के दर्शन करने का सौभाग्य मनुष्यको प्राप्त होता है। कर्तव्य-पालन ही ईश्वरदर्शन का द्वार है। चुपचाप बैठकर ईश्वर-दर्शन करना चाहनेवालों का बहुमत होते हुए भी शरीर या मन की निश्चलावस्था ईश्वरदर्शन की कोई सी भी अवस्था नहीं है। वह आलस्यभोगनामकी पिशाच की मनोवृत्ति है। निरहं निर्मम अपरिचित उपेक्षक और निराशीः बनकर कठोर होकर कर्तव्यपालन में शरीरको आठों पहर निर्दयता से व्यग्र रखना ही ईश्वरदर्शनकी परमपावनी अवस्था है।

ईश्वरका नाम लेना ईश्वरभजन नहीं है। किन्तु ईश्वरीय नियमों का पालन कर के ईश्वर बन जाना ही ईश्वरभजन है। ईश्वरीय प्रबन्धसे दिये गये या भेजे गये कर्तव्यसे मुंह मोडकर ईश्वर ईश्वर कहते रहने का कुछभी महत्त्व नहीं है। राजा के नियमों का भंग करके लाखों बार राजा राजा कहनेवालेका स्वाभाविक स्थान जैसे कारावार ही है, वह जैसे राजा राजा कहते रहने परभी कारामुक्त नहीं किया जायगा, इसी प्रकार सत्य-पूर्ण जीवन न बितानेवाले यदि अरबों खरबों नामजपका लम्बा चौडा हिसाबाही क्यों न बांधे फिरते हों, वे सब बद्ध पतित और पापी हैं। ईश्वरको आत्मसमर्पण न कर देना ही पाप है। ईश्वर के प्रति अभेदभावसे आत्मसमर्पण कर देना ही पुण्यों का सम्राट् है।

ईश्वरही इस मानवको आत्मलाभ करा देने के लिए कर्तव्यरूपमें परिणत हो कर मनुष्य के सामने प्रत्येक क्षण आते रहते हैं। उस समय उस कर्तव्य के प्रति आत्मसमर्पण कर के ईश्वरभाव से उस कर्तव्य को पालन करना ही ईश्वरपूजन है। उस समय उस कर्तव्य-रूप में उपस्थित हुए साक्षात् नारायणकी उपेक्षा करके चामकी जिह्वा से उनका वन्द्यनाम रटते रहनेका मिथ्या धार्मिक बनना चाहना अकल्याणकारी है। कर्तव्यके आतेही सब काम छोडकर यहांतक कि ईश्वरनामजपभी त्याग कर उसे पालनेमें लग जाना चाहिये। कर्तव्यछित जानेकी अवस्थाको ही नामस्मरण की अवस्था मानना चाहिए। उदाहरण के रूप में जब हम भोजन करने बैठें, तब भोजन को ठीक ठीक सर्वांगपूर्ण करके खानाही उस समय का ईश्वरपूजन है। जिस भोजनको हम करने लगे हैं, वह दुरागत न हो, दीन बनकर न पाया हो, सत्य की सेवा के उपहार के रूपमें आया हो, और सत्य की सेवा करते रहने के संकल्पसे ही खाया जा रहा हो, तो वह भोजन भोजन न रहकर ईश्वरपूजन ही हो जायगा।

भोजन करना पृथक् बात हो तथा ईश्वरपूजन दूसरी बात हो, यह मिथ्या धारणा है।

ईश्वर क्योंकि सर्वरूप है, इसलिए सब रूपों में, सब अवस्थाओं में, सब घटनाओं में, सब स्थानों और

सब कामों, में उसका भजन होता ही रहना चाहिये । बात कुछ भी हो, अवस्था कोई भी हो, काम कुछ भी क्यों न हो, इन सब में किसी न किसी रूपमें ईश्वर-भजन न हो रहा हो, तो सावधान हो जाना चाहिये । ईश्वरभजन न होता हो, तो केवल यही कारण इन सबको त्याग देने के लिये पर्याप्तमान लेना चाहिये और ऐसी सब परिस्थितियों से बचकर आत्मकल्याण कर लेना चाहिये

इस शरीररूपी मन्दिर में से हम नामके अनधिकारी को निकाल कर इसमें ईश्वरको बैठा देना चाहिए । यह जान लेना चाहिए कि इस शरीररूपी मन्दिर में ईश्वर ही बैठे हुए हैं । प्रभु के मन्दिर इस शरीर को हम जिस किसी काम में लगाते हैं, उस से इस शरीर के देही परमात्मा की ही पूजा होती रहती है । आज भारतवासी मनुष्य के सामने स्वतंत्रता का कर्तव्य उपस्थित है । आज भारतवासी के सामने ईश्वर स्वतंत्राके रूपमें पूजा ग्रहण करने के लिये उपस्थित हैं । समग्र भारतवासी इस पूजा के लिये बुलाये जा रहे हैं । उनकी पूजा करने के लिये जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में, जीवन के प्रत्येक कर्तव्य से, जीवन की छोटी से छोटी घटना से, सत्य की सेवा करते रहना ही, हमारा मनुष्योचित धर्म है । वस्त्र पहनना भी जीवन का महत्त्वपूर्ण काम है । इस काम से सत्य की पूरी सेवा करके पूरा लाभ उठा लेना चाहिये ।

इसपर प्रश्न होता है, कि फिर ऐसा कौनसा वस्त्र है? जिसे, न पहनने से हम मनुष्यता से गिर जाते हैं, या मनुष्य कहलाने के अयोग्य हो जाते हैं, जिसे न पहननेपर हम सत्य की सेवा करने के अनधिकारी असत्याचारी और नास्तिक बन जाते हैं? इस का उत्तर यही है, कि यह मानी हुई बात है कि अपने जीवन में मनुष्यता का विकास करना ही मनुष्यदेह धारण करने का मुख्य अभिप्राय है । मनुष्यजीवन में सब से ऊंचा स्थान मनुष्यता का ही है । मनुष्यता ही मनुष्य का आराध्य भगवान् है । जैसे सूर्य में तेज, चन्द्र में चन्द्रिका, जल में रस, पवन में स्पर्श, ही इनमें रहनेवाला भगवान् है, इसी प्रकार मनुष्य में जो मनुष्यता है, वही उसके भगवान् का मानवोद्धारकारी स्वरूप है । मनुष्य की मनुष्यता ही मनुष्यकी आराध्य भवगवन्मूर्ति है । अपने जीवन में मनुष्यताको प्रकट कर रखना या मनुष्यताको सुस्पष्ट तथा निर्मल कर लेना ही सत्यनारायण की सच्ची सेवा है । मनुष्य देहरूपी इस देवालय में परमात्मा ही देही बनकर बैठे हुए है । यह परमात्मारूपी देही सत्य की सेवा करने के लिये ही यों कहें, कि सत्य क्या है? इस का पता लगाकर तदनुकूल आचरण कर लेने के लिये ही तथा असत्यको पराभूत करके सत्यस्वरूप में अदम्य दृढता से प्रतिष्ठित हो जाने के लिये ही देह-धारण किया करते हैं । यही उनकी सत्यकी सेवापद्धति है । सत्यकी किसी काल्पनिक प्रस्तर मूर्तिपर दो फूल चढा देनेसे या उसके नाम का कुछ स्तुतिपाठ कर लेने से सत्य की सेवा नहीं होती। युगयुग के अवतारों, ऋषियों, मुनियों और तपस्वियोंने अपने अपने जीवनों में सत्य को प्रकट करके मनुष्यदेह धारण करने को चरितार्थ किया है, तथा अपने कठोर कर्तव्यपरायण निर्मम जीवनसे सत्यसेवा का निर्मल मार्ग दिखाया है । ऐसी महत्त्वपूर्ण सत्यसेवा का साधन जो कि यह मानवदेह है, इसके उपयोग में कैसे वस्त्र लाये जांय? यह एक अत्यन्त महत्त्व रखनेवाला प्रश्न है। ऐसे महत्त्वपूर्ण उपयोग में आनेवाले मनुष्य-देह को ढकने योग्य वस्त्र खद्दर ही है ।

ग्रामके खेतसे सुन्दर कपास लेकर, उसको निर्मल निर्दोष बनाकर, अपने अवकाश के समय हाथ से काते हुए सूत से, अपने पडौसी जुलाहे से, अन्न आदि जीवनोपयोगी पदार्थों के बदले में बुनवाया हुआ वस्त्र 'खद्दर' कहाता है । इस प्रकार निर्माण किये हुए वस्त्रको ही मनुष्यका स्वाभाविक परिधेय वस्त्र कहा जा सकता है। अस्वाभाविक वस्त्र वही कहा जाता है, जिस में अपनी या अपने देश की स्वभावप्राप्त शक्ति का उपयोग नहीं होता। जब हमारी या हमारे देशकी स्वभावप्राप्त शक्ति का कोई भी उपयोग नहीं होता, तब इसी को उस शक्ति का दुरुपयोग होना कहते हैं । इससे यह होता है, कि देशमें मनुष्यता की स्वाभाविक स्थिति हट जाती है और उसके स्थान में अस्वाभाविक तथा कष्टकारिणी स्थिति आ जाती है। सद्गुणों का नष्ट हो जाना और अकर्मण्यता तथा आलस्य आदि घातक दुर्गणों का उत्पन्न हो जाना ही अस्वाभाविक

स्थिति है। अस्वाभाविक अवस्था जब आ जाती है, तब मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्वतंत्र अवस्थाको खो बैठता है, और परतन्त्र हो जाता है। आलस्य तथा भोगलालसा नाम की अस्वाभाविक स्थिति के पिशाच-प्रेमको चरितार्थ करने के लिए पराधीनता को स्वीकार करना ही पड़ता है। आलस्य और भोगलालसा ही पराधीनता के रूप में परिणत हो जाते हैं। अपना अधिकार सुरक्षित रखने में असमर्थ होना और दूसरों के अधिकार पर हमला करते रहना ही 'परतन्त्रता' है। परतन्त्रता मूर्तिमान अकल्याण है। परतन्त्रताका जीवन असत्य तथा भजनविरोधिनी नास्तिकता की अवस्था है। परतन्त्रता आस्तिक अवस्था नहीं है। आस्तिक कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता। जो परतन्त्र है वह कदापि आस्तिक नहीं है। खद्दर ऐसा वस्त्र है, इसमें किसी का भी अकल्याण नहीं है। प्रत्युत इससे संपूर्ण मनुष्यसमाज का कल्याण होता है, अपने हाथ-कते सूत का खद्दर पहननेमें लगभग विना मूल्य के वस्त्र मिल जाता है। खद्दर मोल लेकर पहननेवाला भी अपने समाजकी वस्त्र-कला के विनाशमें सहायक न बनकर उसकी रक्षामें ही सहायक होता है। यन्त्रों के बने हुए वस्त्र पहननेवाला अपने समाजकी वस्त्रकला को नष्ट करने में तथा अपनी मनुष्यता को दूसरों से पददलित करवाने में दूसरों की सहायता करता है। खद्दरपर व्यय किया हुआ धन स्वावलम्बी अथवा अपनी कर्मशक्ति से अपना जीवन-निर्वाह करनेवाले लोगों की सेवा में नियुक्त कर दिया जाता है। खद्दरका व्यवहार करनेवाला अपने समाजको स्वावलंबी बनाता है। किसीके भी अधिकारका अपहरण न करने की, किसी की भी जीविका न तोड़ने की शहरों रेलों और पक्की सडकों से सुदूर एकान्त जंगलकी झोंपडी तक जाकर अपने सेव्य जननारायण की सेवा करने की, मिलों के समान गांव तथा परिवार छुडाकर शहरों की मिलों में ग्रामवासी को न भगा ले जाने की तथा अपने अधिकार को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति और शक्ति खद्दर में है।

इन सब बातों को समझकर पहना हुआ खद्दर, मनुष्य को अवश्य स्वतंत्र बनाता है। खद्दरधारी प्रत्येक व्यक्ति खद्दर पहन लेने से ही स्वतंत्र हो जायगा। सत्यारूढ बन जायगा या भगवद्भक्त हो जायगा, यह समझना भी ठीक नहीं होगा। कहने का भाव यह है कि जैसे स्वतंत्र होते हुए परतन्त्र होना असंभव है, जैसे सत्यारूढ होते हुए सत्यहीन होना असंभव है, जैसे भगवद्भक्त होते हुए भक्तिहीन होना असंभव है, इसी प्रकार स्वतंत्र सत्यारूढ तथा भगवद्भक्त महापुरुषकी लज्जारक्षा का साधन खद्दरसे भिन्न किसी भी दूसरे वस्त्रका होना अत्यन्त असंभव है। स्वतंत्रसत्यारूढ भगवद्भक्त लोग खद्दरसे भिन्न दूसरे किसी भी वस्त्र को कदापि अपने व्यवहार में नहीं ला सकते।

यह बात दृढता से कह देनी चाहिये, कि मनुष्यता की उपासना करनेवाला जो भी कोई मनुष्य हो, उसकी लज्जा-रक्षा का साधन केवल खद्दर है। स्वतंत्रताकी रक्षा करनेका मुख्य साधन तथा समाज का हित करने-वाली जो वस्त्रकला है, वह खद्दर से ही सुरक्षित रह सकती है। खद्दर से भिन्न दूसरे वस्त्रों से मनुष्यताकी रक्षा नहीं होती। जिस किसी भी रीति से खद्दर का उपयोग करने पर, देश के घर घर में, सुदूर जंगल के घर तक में देश के कौने कौने में, इस से धन का सम-भाग से विभाजन हो जाता है।

जिसको सत्यानुमोदित सार्वजनिक 'साम्यवाद' कहा जाता है, उसे कार्यरूपमें लाने के लिये खद्दरसे उत्तम साधन दूसरा कोई भी नहीं हो सकता। खद्दर सम्पूर्ण मनुष्य-समाजको कल्याणसूत्र में बांध लेता है। खद्दर में समाज में अस्वाभाविक जीवन उत्पन्न होने के दुष्ट मार्ग को रोक रखने की अनन्त शक्ति भरी हुई है। खद्दरही एक ऐसा वस्त्र है, जिसे मनुष्योचित कल्याणकारी और सत्यानुमोदित वस्त्र कहा जा सकता है।

वस्त्र कितना हो? यह प्रश्नभी एक विशेष महत्त्व रखता है। इसके उत्तर में इतनाही कहा जा सकता है, कि एक अंगुल कपडा भी शरीरकी शोभा बढानेमें व्यय नहीं किया जाना चाहिए, शरीर को सजाने की कल्पना को भी मन में नहीं आने देना चाहिये। लज्जारक्षा तथा सरदीगरमी से बचाव के लिये जितनी अनिवार्य आवश्यकता हो, उतना वस्त्रही काम में लाया जाना चाहिये। अपने शुद्ध मनसे भले

प्रकार सलाह ले लेनी चाहिए, कि कितने वस्त्रकी तुमको अनिवार्य आवश्यकता है।

वस्त्र पहने का ढंग कैसा हो? इस के उत्तर में इतना कहना पर्याप्त है, कि हमको उत्पन्न करने, पालनेपोसने-वाले, समाज के आदर्श के अनुकूल ही हमारे वस्त्र के पहननेके का ढंग होना चाहिये। हमारे वस्त्र पहननेमें किसी भी बाह्यप्रभाव से प्रभावित हो कर दासोचित अनुकरण-प्रियता का परिचय कदापि नहीं मिलना चाहिए। हमारे वस्त्र पहनने का ढंग हमारे आदर्शको अपमानित करने-वाला नहीं होना चाहिये। हमारे वस्त्र पहनने के ढंग से हमारे स्वाभिमानी होने का पुरा पूरा परिचय और प्रमाण मिलते ही रहना चाहिए।

वस्त्रसूत्र।

(१) वस्त्र मनुष्यसमाजकी विशेषता है।

(२) मनुष्यसमाजका वस्त्रविहीन होना कल्पना से बाहरकी बात है।

(३) वस्त्रको त्यागना समाजको त्यागना है।

(४) मनुष्यसमाज कहलाने का अधिकार उसी समाज को है, जिसमें वस्त्र पहनने की आवश्यकता और वस्त्रकलाकी रक्षा दोनों काम महत्त्वपूर्ण माने जाते हों।

(५) वस्त्रकला ही मनुष्यसमाज का समाजबन्धन है और मनुष्यताकी संरक्षिका है।

(६) जो समाज वस्त्रकलाको सुरक्षित नहीं रखता, वह मनुष्यताको खो देता है।

(७) वस्त्रकलाकी रक्षा करना मनुष्यमात्रका मनुष्योचित कर्तव्य है।

(८) वस्त्रकलाकी रक्षा किए विना मनुष्यको वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं मिलता।

(९) जो मनुष्य वस्त्रनिर्माण में हाथ नहीं बटाता, वह मानवसमाज में रहने के अयोग्य है।

(१०) अवकाश के समय सूत कातने से वस्त्रसंबंधी मनुष्योचित कर्तव्य पाल लिया जाता है।

(११) खद्दर से ही मनुष्यता की रक्षा होती है।

(१२) चरखे से ही देश स्वतंत्र हो सकता है, दूसरा मार्ग नहीं है।

(१३) चरखा ही सत्याग्रही का सत्य है। चरखा सत्य के प्रति हठीले जीवनकी सूचना है।

(१४) अपने हाथ से काते हुए सूतका बुना हुआ खद्दरही पहनो। क्योंकि इसके तन्तुतन्तु में स्वाभिमान भरा हुआ है।

(१५) यज्ञार्थ कातना युगधर्म है।

(१६) अवकाश के समय न कातना दासता की शृंखला को पुष्ट करना है।

(१७) जो मनुष्य निकम्मा बैठता है, उसका मस्तिष्क पिशाच का वर है। वह अपने और समाज के लिए उत्पातकारी धूम्रकेतु बन जाता है।

(१८) रद्दी पूनियां से मोटा सूत कातना कातना नहीं है। यह समय और वस्तु को विनष्ट कर देता है।

वेद और ब्राह्मण।

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

ऋषि दयानन्दने ब्राह्मणग्रन्थों को भी मान्य माना है। परन्तु उनकी प्रमाणता परतः है, स्वतः नहीं। वे वेद के व्याख्यानरूप हैं। ऋषि ने चार ब्राह्मण ग्रन्थोंको मान्य माना है-ऐतरेय-शतपथ- साम और गोपथ।

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतक दो ब्राह्मण इस समय उपलब्ध होते हैं। इस में से कौषीतक ब्राह्मणमें दर्शपूर्ण मासेष्टि से प्रारम्भ किया गया है-और अग्निहोत्रादि का विधान करने के अनन्तर-स्वस्त्ययनेष्टि-पथिकृदिष्टि-दाक्षायणेष्टि-इडादधेष्टि आदि इक्कीस इष्टियों का विधान है। तत्पश्चात् दीक्षणीयेष्टि और अग्निष्टोम का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण के बहुत से विधिविधानों का भी इस में वर्णन मिलता हैं। संक्षेपसे इसका आवश्यक भाग ऐतरेय ब्राह्मण में आजाता है, अतः-

ऋग्वेदका मान्य ब्राह्मण ऐतरेय ही है।

ऐतरेयका कर्ता महिदास है। इसी को आरण्यक में कहा है-

'एतद्ध स्म वै तद्विद्वान् आह महिदास ऐतरेयः।'

छन्दोग ब्राह्मणमें भी ऐसा ही कहा है। आचार्य शङ्करने उसके भाष्यमें लिखा है-

'महिदासो नामतः इतराया अपत्यमैतरेयः।'

इस की व्याख्या करते हुए आचार्य सायणने एक आख्यायिका भी लिखी है-

जिससे ज्ञात होता है कि महिदास शूद्रवर्णमें उत्पन्न हुआ था और विद्वान् होनेसे ब्राह्मण हुआ, इसीलिए उसके ग्रन्थ को भी ब्राह्मण कहते हैं।

'ब्राह्मणेन प्रोक्तं ब्राह्मणम्।'

ऋग्वेद का वर्तमान स्वरूप शाकल और वाष्कल शाखा का मिश्रण हैं। इन दोनों शाखाओं में मुख्य भेद नहीं, केवल विभागमात्रमें भेद है। अष्टक-अनुवाक्वर्ग और मण्डल-सूक्त-मन्त्र बस।

यजुर्वेद के दो भाग हैं। एक शुक्ल यजु० और दूसरा कृष्ण यजु०। इनमें कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएं इस समय उपलब्ध होती हैं- तैत्तिरीय-कठ-मैत्रायणी। परन्तु इनमें मिश्रण स्पष्ट प्रतीत होता है। कृष्ण यजुर्वेद् नाम ही इसका अनार्योंके साथ सम्बन्ध द्योतित करता है।

शुक्ल यजुर्वेद की भी दो शाखाएं उपलब्ध होती हैं-माध्यन्दिय और काण्व; माध्यन्दिनीय शाखा को ही मूल संहिता मानकर-ऋषि दयानन्द, उव्वट, और महीधर स्वामी ने उसपर भाष्य किया है। महीधराचार्यने अपने यजुर्भाष्यकी भूमिका में लिखा है-

"व्यासशिष्यो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यादिभ्यः स्वशिष्येभ्यः यजुर्वेदमध्यापयत् तत्र दैवात् केनाऽपि कारणेन क्रुद्धो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच मदधीतं त्यजेति स योगसामर्थ्याद् मूर्ता विद्यामुद्ववाम। वान्तानि यजूंषि गृह्णीत इति गुरुणोक्ता वैशम्पायनशिष्याः तित्तिरयो भूत्वा यजूंष्यभक्षयन् तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यात् कृष्णानि जातानि। ततो दुःखितो याज्ञवल्क्यः सूर्यमाराध्याऽन्यानि शुक्लानि यजूंषि प्राप्तवान्।

इस कथानकसे यह तो स्पष्ट होता है कि कृष्ण यजुर्वेद अपौरुषेय नहीं।

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यंदिनीय शाखाओं में भी अधिक अन्तर नहीं।

परन्तु अपौरुष श्रुति में तो मात्राभेद भी अक्षम्य है। अतः विचार करने से माध्यन्दिनीय शाखाकी ही अपौरुषेयता सिद्ध होती है। इस में कारण ये हैं-

(१) काण्व शाखा में बृहदारण्यकके भागका मिश्रण है।

(२) महाभारत तथा कालीदास के प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रतीत होता है, कि कुलपति कण्वके आश्रममें चारों वेदों का अध्ययन होता था। अतः अध्ययनभेदसे क्रमभेद होने की अधिक सम्भावना है।

काण्व और माध्यन्दिनीय शाखाओंपर पृथक् पृथक् ब्राह्मण मिलते हैं। परन्तु ऊपर यह कहा गया है, कि इन दोनोंमें भेद नहीं। कृष्ण यजुर्वेदपर तैत्तिरीय ब्राह्मण भी मिलता है।

सामवेद।

सामवेदकी इस समय एकही संहिता प्राप्त होती है, जिसका सम्बन्ध कौथुमी शाखासे है। और यही अपौरुषेय है। कौथुमी शाखावाले अपना ब्राह्मण ताण्ड्यको ही मानते हैं। माननीय सत्य व्रत सामश्रमीजीने भी अपने ग्रंथ निरुक्तालोचनमें लिखा है-

"तत्र च कौथुमशाखिभिस्ताण्ड्यमेवाऽधी-
यते तांड्यांशभूतानि तांड्यपरिशिष्टभूतानि
वा अनुब्राह्मणानि अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते
तेषां नामानि यथा-षड्विंश ब्राह्मणं साम-
विधिब्राह्मणम् इत्यादीनि।"

अथर्ववेद।

अथर्ववेदकी इस समय दो ही शाखाएं उपलब्ध होती हैं। पैप्पलाद और शौनक। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है-और उसमें लिखा है कि अथर्व-संहिता के २० काण्ड हैं, परन्तु पैप्पलादशाखा में १९ काण्ड हैं। अतः मूल संहिता शौनक ही है, पैप्पलाद शाखा नहीं।

हां, एक बात इस पर विचारसरणीय है। गोपथ में लिखा है, कि अथर्ववेदका प्रारम्भ 'शन्नो देवीर-भिष्टये-' इत्यादि मन्त्रसे होता है। और इस प्रकार पैप्पलादशाखा ही संहिता होनी चाहिए-क्योंकि उसीका ही प्रारम्भ इस मन्त्रसे होता है। इसी प्रकार महाभाष्य में भी 'वैदिकास्तावत्' कह कर चारों वेदों के प्रारम्भिक मन्त्रों की प्रतीकों का निर्देश करते समय अथर्ववेद की प्रतीक शन्नो देवीरभिष्टये- ही लिखी है। इससे यह प्रतीत होता है कि पैप्पलाद शाखा को ही संहिता महाभाष्यकार भी मानता है। परन्तु उसी गोपथ में ही लिखा है कि अथर्ववेदके २० काण्ड हैं। और पैप्पलाद शाखामें १९ ही मिलते हैं- अतः यह तो निश्चितही है कि शौनक शाखा ही मूल-संहिता है। गोपथ ब्राह्मणमें 'अधीयते' पद आया है। सम्भवतः अथर्ववेदका अध्ययन करते समय यही मन्त्र प्रथम पढने का सम्प्रदाय रहा होगा। अथवा आचमन करनेके ही लिए इस मन्त्रसे प्रारम्भ करते हों।

इस प्रकार चार अपौरुषेय वेदोंके व्याख्यान-रूप चार ब्राह्मण हैं। और वेदोंके पश्चात् आर्य लोग वेदानुसारी होनेसे उन्हें प्रमाण मानते आए हैं।

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।
-मीमांसादर्शनम्

अर्थात् वेदानुसारी होनेसे ही वेदसे अन्य ग्रन्थ प्रमाण हो सकते हैं।

ब्राह्मण नामकरण।

'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्मन्'से अपत्यवाची अण प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है। 'ब्रह्म'से यहां दो अर्थ अभिप्रेत हैं। एक 'वेद और दूसरा ब्राह्मण'। 'ब्रह्मन् शब्दका अर्थ ब्राह्मण भी होता है, इसकी पुष्टि-

'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः।' (शत०ब्रा०१३-१) से होती है। वेदोंमें अपत्यप्रत्यय त्रकृत्यर्थ में आया करता है। इसका पता वेदके स्वाध्यायी को

स्थान स्थानपर मिल सकता है। ब्राह्मणों ने ब्रह्म अर्थात् वेदकी व्याख्या की है, अतः वे ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मण-प्रोक्त-ब्रह्म अर्थात् वेदका व्याख्यान होनेसे इनको ब्राह्मण कहा जाता है। ऋषि दयानन्द ने वेदसंज्ञा-विचारप्रकरण में लिखा है-

'ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामाऽस्ति। अत्र प्रमाणं- ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः।'

'समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मण शब्दश्च इति व्याकरण महाभाष्येऽपि। (५।१।१।')

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानि तानि ब्राह्मणानि।'

इस प्रकार ऋषि दयानन्दने ब्रह्मन् शब्दसे प्रोक्तार्थ में अण् प्रत्यय करके ग्रंथवाचक 'ब्राह्मण' शब्द की निष्पत्ति की है। ऋषि ने लिखा है कि 'ब्रह्मन्' और ब्राह्मण शब्द समानार्थक हैं। अतः ब्रह्मन् अर्थात् ब्राह्मणों ने जो वेदमन्त्रों के व्याख्यान कहे हैं वे ब्राह्मण कहे जाएंगे। ऋषि दयानन्दने 'ब्रह्मन्' और ब्राह्मण शब्दोंको समानार्थक माना है। अपने पक्षकी पुष्टिमें उन्हों ने महाभाष्य का भी प्रमाण उद्धृत किया है। हम भी इसकी पुष्टिमें अन्य भी कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जिससे यह ज्ञात होगा, कि ऋषिदृष्टि कितनी व्यापक थी।

(१) यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय। इत्यादि-(यजुर्वेद)

(२) ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः। तैति० सं० २।२।९।१

(३) ब्रह्म ह्यग्निः। शत० ब्रा० १।५।१।११

(४) ब्रह्म वै बृहस्पतिः। शत० ब्रा० ३।९।१।११

(५) ब्रह्म वा अजः। शत० ब्रा० ६।४।४।१२-१५

(६) ब्रह्म वै पलाशः। शत० ब्रा० १।१।१।४

(७) ब्रह्म वै सोमानां त्रिवृत्। ऐ० ८।१।४

(८) इदं मे ब्रह्म च क्षत्रभ्यो मे श्रियमश्नुताम्। —वेद।

ब्राह्मण शब्द की ऐसी ही व्याख्या डॉ० हग् महोदयने भी ऐतरेय ब्राह्मणकी भूमिका में की है।

परन्तु इस व्याख्यापर श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी ने ऐतरेयालोचनमें कुछ व्याकरण की दृष्टि से आक्षेप किया है।

अस्माकं त्वत्राऽप्यस्ति किञ्चिद् वक्तव्यं तद् यथा न हि 'ब्राह्मोऽजातो'।

(पा० अ० ६।४।१७१)

सूत्रे जाग्रति ब्रह्मन् शब्दात् ग्रंथपरो ब्राह्मण शब्दः सम्भाव्यते। अतः ब्राह्मणवाचि ब्रह्मन् शब्दान्नेदं निष्पन्नं ब्राह्मणमिति पदम् अपि तु अस्मन् मते ब्राह्मणशब्दादेव प्रोक्ताद्यर्थेऽणि स्यान्निष्पन्नं ब्राह्मणमिति। तदेवं ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यादिबोधकं वचनं ब्राह्मणम्। तादृश वचनानां समूहो ग्रंथोऽपि ब्राह्मणमेव। वचनपरत्वादेवास्य ग्रथस्य क्लीबत्वम्। अथवा अस्त्वेतद् ब्राह्मण पदं भाष्यपरम्। वेदार्थवित्तमेन ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यनुस्यूतं मन्त्रभाष्यमेव ब्राह्मणमिति।

अर्थात् ब्रह्मन् शब्द 'अण्' प्रत्यय करनेपर पाणिनि मुनि के व्याकरणानुसार 'ब्राह्म' शब्द ही उपर्युक्त अर्थ में निष्पन्न हो सकता है। ब्राह्मण शब्द नहीं। अतः ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण शब्द से प्रोक्तार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने से बनता है, ऐसा श्री सत्यव्रत सामश्रमिका विचार है।

यदि ब्रह्मन् शब्द से ब्राह्मण शब्द बना हो, अथवा ब्राह्मण शब्द से अर्थ में कोई भेद नहीं होगा।

ब्राह्मणोंने- ऋषियोंने-वेद के विभिन्न प्रकरणों की वैसी व्याख्या की है, उस को इन ग्रन्थों में संगृहीत किया गया है। मैं समझता हूं एक ही ऋषिने सारे ब्राह्मणों का अथवा सम्पूर्ण एक ब्राह्मण का निर्माण नहीं किया। ऋषि सारे वेदों के अथवा एक एक वेद के द्रष्टा न होते थे और न ही यह सम्भव भी है। मण्डल के द्रष्टा भी ऋषि बहुत कम हुए हैं। अतः उन ऋषियों ने अपने शिष्यों को वेदमन्त्रों की जैसी व्याख्या बनाई,

उसी का संग्रह ब्राम्हणग्रन्थ है।

वेद की व्याख्या करनेवाले ब्राम्हणों को दो विभक्त किया जा सकता है। गृहस्थ और वानप्रस्थ। गृहस्थ वेदवित् ब्राम्हण ग्रामों के बाहर विद्यार्थियों को वेदादि शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे, तब वे सपरिवार रहते थे। वे विद्यार्थियों को वेद के कर्मकाण्ड की- जिस का संक्षेप और विस्तार यज्ञ है- व्याख्या बताया करते थे, उन के वे व्याख्यान ब्राम्हण कहलाते हैं। तथा जब वे वानप्रस्थ होकर सपत्नीक अथवा अपत्नीक वनों में निवास करते, तथा शुद्ध भगवत्- उपासना में लग्न रहते थे- तब वे जिज्ञासु भक्तों को वेद के उपासना और ज्ञानकाण्ड की क्रियात्मक व्याख्या बताते थे। वही वेद के ज्ञानकाण्ड के क्रियात्मक व्याख्यान उपनिषद् अथवा आरण्यक कहलाते हैं। परन्तु कहते इन दोनों को ब्राम्हण ही हैं। कभी पुनः इस प्रकार ब्राम्हण बैठ कर वेदोंपर व्याख्यान करेंगे?

वह समय कैसा भव्य होगा। सस्वर वेदमन्त्रों के उच्चारण से आकाश गूंज उठेगा। ऋषि दयानन्द जिस गुरुकुल का स्वप्न देखते हम से हमेशा के लिये विदा हुए-वह गुरुकुल उपर्युक्त ब्रम्ह-वेद के पण्डित और ब्रम्ह-प्रभु की उपासना में लग्न तपोरूप ब्राम्हणों का निवास और आश्रम थे।

क्या ब्राह्मणग्रन्थ अपौरुषेय हैं।

अब प्रश्न यह होता है, कि ब्राम्हणग्रन्थ का चार मूल संहिताओं की भान्ति अपौरुषेय हैं, अथवा मन्त्र व्याख्यानरूप हैं- वेद के भाष्य हैं? वेद में स्वयं प्रभु ने ही ऋग्-यजु-साम-अथर्व-रूप संहिताओं को ही अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय वाणी कहा है—

(१) तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत। (यजुर्वेद)

(२) यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाऽऽङ्गिरसो मुखम्। -(अथर्ववेद)

इसी प्रकार अन्य आर्षग्रन्थों में भी चार संहिताओं को ही अपौरुषेय कहा गया है-

(१) अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ (छां० उ०)

(२) त्रयो वेदा अजायन्त-अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। (शतपथब्राम्हण)

(३) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रम्ह सनातनम्। दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्। (मनु०)

इन प्रमाणों से तथा निम्न प्रमाणों से यह सिद्ध होता है, कि वेद शब्द मुख्यतया ईश्वरीय ज्ञान त्रयी विद्या के लिये ही प्रयुक्त होता है—

(१) सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्। (छान्दोग्य)

(२) इमे सर्वे वेदाः। (गोपथ)

इसी प्रकार यजुर्वेद में-

'वेदेन रूपे व्यपिबत् प्रजापतिः' इस में आए हुए 'वेदेन' पद की व्याख्या करते हुए महीधराचार्य ने लिखा है।

'ज्ञानेन त्रय्या विद्यया वा' इति। 'यः समिधा' इत्यादि। ऋग्वेद के मन्त्र की व्याख्या करते हुए उस मन्त्र में आए 'वेदेन' पद का अर्थ सायणाचार्य ने इस प्रकार किया है- 'वेदेन वेदाध्ययनेन इति।'

अथर्ववेद में भी 'वेद' शब्द अपौरुषेय ज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

'यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेन अतितराणि मृत्युम्।' इति।

संहिताकाल में 'ब्राम्हणों की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। अतः उनका संकेत भी वेदों में नहीं मिलता। इसी लिये गोपथ ब्राम्हण में 'इमे सर्वे वेदाः' का विशेषण है 'स ब्राम्हणाः।' इस से प्रतीत होता है कि गोपथकार को भी यही अभिप्रेत है, कि मूल संहिताएं ही वेद शब्दाभिधेय हैं-ब्राम्हणग्रन्थ नहीं।

निरुक्तकार यास्क ने भी 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' कह कर उपर्युक्त सिद्धान्त में ही स्वारस्य प्रकट किया है।

श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी ने भी लिखा है 'मन्त्रेष्वेव वेदस्य मुख्या शक्तिः मन्त्रभाष्यमेव ब्राम्हणमिति।'

कात्यायन मुनिने भी यजुः प्रातिशाख्य में मन्त्र-भाग को ही वेद और ब्राम्हणों को उसका भाष्य माना है।

'ओङ्कारं वेदेषु।' (१।१८)
'अथकारं भाष्येषु।' (१।१९)

सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय संहिता-भाष्य की भूमिका में ब्राम्हणों को व्याख्या-ग्रन्थ माना है।

यद्यपि मन्त्रब्राम्हणात्मको वेदः तथाऽपि ब्राम्हणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः। इति।

इस से कुछ लोगों का यह विचार भी असत्य हो जाता है, कि 'य एवं वेद' इत्यादि रूपसे वेद शब्द प्रथम ब्राम्हणग्रंथों में ही आया है, अतः ब्राम्हणग्रन्थों को ही मुख्य वेदता प्राप्त है। उपर्युक्त वेदमन्त्रों के उद्धरणों से साफ प्रतीत होता है, कि 'वेद' शब्द ब्राम्हणग्रथों की सृष्टि नहीं। जब ब्राम्हणग्रन्थों की सृष्टि ही न हुई तब भी संहिताओं को 'वेद' कहा जाता था।

वास्तव में वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। और मुख्य ज्ञान आदिसृष्टि में प्रदत्त ऋग् यजुः साम अथर्वरूप ही है।

परन्तु बाद में वेद शब्द को अधिक मान मिलानेके कारण वेद-भाष्य-रूप ब्राम्हण और अन्य ग्रन्थों को भी वेद कहा जाने लगा।

जिस प्रकार कभी सूत्र शब्द को गौरवास्पद समझ कर सभी ग्रन्थों को सूत्र और कभी शास्त्र शब्द के अधिक मान्य होने से सभी आर्ष और उपादेय ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाने लगा था।

लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में इस बात पर प्रकाश डाला है, कि किस प्रकार मूल में भगवद्गीता का नाम श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत् था और उसी का क्रमिक संक्षेप गीता हुआ और बाद में गीता शब्द के अधिक माननीय होने से ज्ञानविषयक सभी ग्रन्थों को गीता ही कहा जाने लगा। शिवगीता, अष्टावक्र-गीता, विष्णु-गीता आदि। अर्थात् वेद के 'वेद' शब्द को व्यापकता मिली और सभी ज्ञानपरक ग्रन्थों को वेद कहा जाने लगा।

इसी लिये तैत्तिरीय ब्राम्हणमें कहा है-

'स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदा एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथ त इतरदननूक्तमेव॥

वेद शब्द की इसी महत्ता के कारण ही आपस्तम्बने वेद शब्द का वेद ब्राम्हण दोनों के लिये प्रयोग किया है।

गोपथ ब्राम्हण में चार वेदों के अतिरिक्त अन्य पांच वेदों का जिक्र भी इसी लिये आया है।

'ताभ्यः पञ्च वेदान्निरमियत। सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति।

इस से तो यह प्रतीत होता है, कि आर्यों के हां जिस प्रकार 'धर्म' 'यश' शब्दों की विविध-विस्तृत और व्यापक व्याख्या की जाति थी, इसी

प्रकार वेद शब्द भी सभी प्रकार के ज्ञान के लिये प्रयुक्त होता था। इतिहास के ज्ञान को भी इतिहास वेद कहा जाता था। इसी लिये भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्रम्' में-

संकल्प्य भगवानेवं सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाऽङ्गसम्भवम्॥

इस प्रकार नाट्यविषयक ज्ञान को भी नाट्य-वेद नाम दे दिया। आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-अर्थवेद क्रमशः-वैद्यकविद्या-शस्त्रविद्या-गान-विद्या और अर्थशास्त्रविषयक ज्ञान को उपर्युक्त नाम दिए गए हैं, जिसे सभी विज्ञ जानते हैं।

'इतिहासः पुराणञ्च पञ्चमो वेद इष्यते।'

इस प्रकार महाभारत को पञ्चम वेद कहा जाता है। परन्तु मुख्य वेदत्व चार संहिताओं को ही प्राप्त है। मीमांसादर्शन में इस बात को अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-

धर्मलक्षण।

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।'

(मीमांसादर्शन)

धर्म से अभिप्राय प्रेरणात्मक अर्थ है। अर्थात् अर्थ के लिये अच्छाई के लिये-अनर्थ के लिये नहीं- जो प्रेरणा हैं, वहीं धर्म है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है-

'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्।'

अर्थात् विधि और मन्त्र पर्याय शब्द हैं। इन का एक ही अर्थ है। अर्थात् परमात्माने आदि सृष्टि में मनुष्यों को जो प्रेरणा की, वही मन्त्र हैं और वही चोदना-अथवा विधि है। इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

मन्त्रका लक्षण।

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।'

अर्थात् परमात्माद्वारा जिन में मनुष्यों को प्रेरणा की जाती है, उन्हें ही मन्त्र कहा गया है। इस अपौरुषेय वाक्यसमूह से पृथक् जो तद्-व्याख्यानरूप ब्राह्मण विद्वानों का प्रोक्त भाग है वही ब्राह्मण कहलाता है-

ब्राह्मणलक्षण।

'शेषे ब्राह्मण शब्दः।' (मी० द०)

'अपौरुषेय वाक्यसमूह को ही मन्त्र और तद्-व्याख्यानभाग को ब्राह्मण कहा जाता है' इस में क्या प्रमाण है, इस का समाधान भी मीमांसाकार के ही शब्दों में सुनिये-

'अनाम्नातेष्वमन्त्रं आम्नातेषु हि विभागः।'

अर्थात् अनाम्नात ईश्वरानुक्त भाग को मन्त्र नहीं कहा जाता, परंतु जो भाग आम्नात है जिसका आम्नान-वचन-अथवा प्रकाश प्रभुने किया है, उसे ही मन्त्रभाग अथवा अपौरुषेय कहा जाता है। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि मन्त्र-विधि-चोदना-आम्नाय शब्द पर्याय हैं- ऐसा मीमांसाकार का आशय है। अर्थात् मीमांसा-कार समझते हैं कि मन्त्रभाग को ही आम्नाय-समाम्नाय आदि कहा जा सकता है, ब्राह्मणभाग को नहीं।

ऐसा माननेपर उसी मीमांसादर्शन में आगे-

आम्नाय।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।' (१।२।१)

'उक्तं समाम्नायमर्थम्' (१।४।१) में ब्राह्मण-भाग को भी जो समाम्नाय- आम्नाय कहा है, वह आतिदेशिक है, ऐसा मानना होगा। अन्यथा परस्पर व्याघातदोष होगा।

यास्क और ब्राह्मण।

इसी प्रकार निरुक्तकार यास्कने प्रारंभ में ' समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः ' और इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने " छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दो धर्मिण्येव यथापन्नाऽस्ता गौर्गोधर्मा " इस प्रकार समाम्नाय पद का मुख्य अर्थ मंत्रभाग को ही माना है।

आगे यास्क ने " यथो एतद्रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः इति आम्नायवचनादेतद्भवति " इत्यादि स्थानों पर आम्नाय पदसे ब्राह्मण-भाग का भी ग्रहण किया है वह भी मुख्य वृत्तिसे नहीं अन्यथा व्याघात दोष होगा।

और यास्कने पूर्वपक्षरूपसे ब्राह्मणों का अप्रमाण भी माना है। " बहुभक्तिवादानि ब्राह्मणानि भवन्ति " (६।६।१)। यदि ब्राह्मणों को भी यास्क मुख्य आम्नाय मानते तो कभी इतना निरादर न करते। क्यों कि यास्कने वेदमें अपनी श्रद्धाके अतिशय का परिचय अन्यत्र "यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्ति इति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति " (१।५।२) में दिया है।

ब्राह्मण-भागको वेद माननेवाले भी इस बात को मानते हैं कि मन्त्र शब्द तो कभी भी ब्राह्मणभाग के लिये प्रयुक्त नहीं होता, परन्तु यास्कने 'अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति। ओषधे त्रायस्वैनम् मैनं हिंसीः इत्याह हिंसन् 'इस प्रकार ब्राह्मण-भाग को भी मंत्ररूप माना है। अतः कहना पडेगा कि मंत्र आम्ना-शब्द भी वेद शब्द की तरह केवल अपौरुषेय मंत्र कहे जाने वाले भाग ऋग्यजु-साम-अथर्वरूप भाग के लिये ही मुख्य वृत्ति से आते हैं और गौण वृत्ति से बाद में इन शब्दों के अधिक मानसे प्रयुक्त होने लगे।

जिस प्रकार वेद शब्द का मुख्य प्रयोग वेद के ही लिये होता है ऐसा स्वयं वेदके ही अथ च ब्राह्मणों के प्रमाणों से पुष्ट किया जा चुका है, इसी प्रकार आम्नाय शब्द को भी समझना चाहिये—

आम्नाय।

' म्ना अभ्यासे ' इस धातुसे आम्नाय शब्द बना है। एकही वस्तु जो कि बार बार अभ्यास की जाती हो आम्नाय पद वाच्य हो जाती है। ' एकस्यैव पुनः पुनरुच्चारणादिना स्मृत्यनुगतकरणमेवाभ्यसनम् ' और बार बार अभ्यास संहिता-भाग-काही सर्व प्रथम किया जाता रहा होगा। जैसा कि निरुक्त यास्क ने लिखा है।

" साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभुवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यो मंत्रान्सम्प्रादुः"

यही सम्प्रदान किसी विद्या का अभ्यास है। निरुक्तकारके कथनानुसार और उस के व्याख्याकार दुर्गाचार्य की व्याख्यानुसार ब्राह्मणग्रन्थों का निर्माण ही तब हुआ है जब कि मंत्रभागवेद का अभ्यास-उपदेशादिक- आम्नान- से ऋषियों ने मन चुराना प्रारंभ किया। तब मुख्य वृत्तिसे आम्नाय-समाम्नाय-पदवाच्य वेदही हैं ब्राह्मणग्रन्थ नहीं। हां, ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माण के बाद जब उनका आदरातिशय होने लगा होगा तब उनका भी आम्नान और अभ्यास होने से उन्हें भी आम्नाय कहा जाने लगा।

आम्नाय पद की आतिदेशिक वाच्यता केवल ब्राह्मणों तक ही न रही अपि तु व्याकरणादि अंगों को भी आम्नाय कहा जाने लगा। व्याकरण-महाभाष्य में द्वितीयाह्निक के अन्त में " सोऽयमक्षर समाम्नायो वाक् समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चेन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। "

(१) लघु शब्देन्दुशेखर में प्रत्याहारोंकी व्याख्या के प्रसंग में पाणिनीय व्याकरणादिक को भी आम्नाय पद वाच्य माना गया है।

(२) भट्टोजी दीक्षित ने कौमुदी में "छन्दो गौक्थिक याज्ञिक बह्वृच नराभ्य:" इस सूत्रकी व्याख्या में नाटय-शास्त्र को भी आम्नाय ध्वनित किया है। और कहा है "चरणाद् धर्माम्नानयोरित्युक्तं तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव"।

तात्पर्य- उपर्युक्त मीमांसासूत्र से प्रतीत होता है कि जैमिनि मुनि वेद को ही आम्नाय और आम्नात परमेश्वरोक्त मानते हैं, ब्राह्मण-भाग को नहीं। इस प्रकार मनु का यह श्लोक भी बहुत संगत हो जाता है।

> अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
> यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः॥
> धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः संपरिबृंहणः।
> ते शिष्टा ब्राह्मणाः ज्ञेयाः श्रुति प्रत्यक्ष हेतवः॥

यहां ब्राह्मण शब्द स्पष्ट है और ब्राह्मणग्रन्थ भी ब्राह्मण-प्रोक्त हैं, शिष्ट ब्राह्मणों ने ही उनका निर्माण किया है, अतः वे भी 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानं' की कसौटी पर उतरने के बाद प्रमाण कोटि में हैं, अतः उन्हें भी सभी ऋषि प्रमाण मानते हैं। जिन में जैमिनि भी है और ऋषि दयानन्द भी। उपर्युक्त मनुवाक्य में भी अनाम्नात और आम्नात शब्द आए हैं और मीमांसादर्शन में भी। जिनका अर्थ है ईश्वरोक्त और ईश्वरानुक्त। मीमांसाकार ने उन्हीं आम्नातों का ईश्वरीय ज्ञान का यों विभाग किया है।

(१) तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।
(२) गीतिषु सामाख्या।
(३) शेषे यजुः शब्दः।
(४) निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्।

वेद शब्द और मनु।

कुछ लोग कहते हैं कि—

> उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
> सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

इस प्रकार मनु के वचन से प्रतीत होता है कि मनु ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते हैं। क्योंकि 'उदिते होतव्यं अनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्यम्' ऐसा श्रवण ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलता है, वेदों में नहीं। परंतु—

> त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
> त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥१॥
> ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
> त्र्यवरा परिषज् ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥२॥
> एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मः नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥३॥

इसी प्रकार मनु ने—

> अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

ऋग्-यजु-साम-अथर्व-संहिता= भागों को ही वेद माना है। उपर्युक्त श्लोक में भी वेदेतर भाग को ब्राह्मणानुकूल होने से वेद कहा गया है। अन्यथा परस्परविरोधी होने से मनुप्रोक्त मान्य न होगा।

श्रुतिशब्द और ब्राह्मण।

इस प्रकार जब निर्णीत हो गया कि मनु वेद शब्द को मुख्य वेदों को ही मानते हैं, ब्राह्मणों को नहीं, तब इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता, कि श्रुति शब्द भी साक्षात् वेदों का ही मुख्य वाचक है ब्राह्मणग्रन्थों का नहीं। मनु ने लिखा है—

> श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
> इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
> श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वैस्मृतिः।
> ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।

अर्थात् श्रुति भी वेदोंकाही वाचक है, ब्राह्मणों का नहीं। श्रुति शब्द 'श्रु' धातु से 'स्त्रियांक्तिन्' किन्

प्रत्यय करनेपर निष्पन्न होता है, जिनका अर्थ है सुनना- "एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण कोऽपि कदाऽपि एकस्याऽपि मंत्रस्य प्रणयनकारो न निर्णीतः। श्रूयते एव न पठ्यते इत्यर्थः।" वेद का वाचक श्रुति शब्द आशा है तब व्यवहारमें आया होगा जब वेदों को सुना ही जाता था। अर्थात् इनके अध्ययन-अध्यापन का रूप उपदेशात्मक-उच्चारणात्मक ही रहा होगा। ग्रन्थ रूपमें इनका जब प्रणयन न हुआ होगा तब ये ज्ञानमय कोश सुने ही जाते होंगे पढ़े नहीं।

यास्कने अपने निरुक्त में किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह वाक्य उद्धृत किया है-

साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्यो ऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च, इति।

अर्थात् प्राचीन काल में आदि सृष्टि से लेकर ब्राह्मणादि ग्रन्थों की उत्पत्तिपर्यन्त के मध्यकाल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही- जिन्हों ने कि वैदिक देवताओं का- वेद के विषयों का- धर्म- स्वरूप-वास्तविक रूप प्रत्यक्ष किया हुआ होता था, वेदोंको उन तक जो वैदिक देवताओं के स्वरूप से अनभिज्ञ थे, उपदेश केवल उच्चारणात्मक उपायों से ही (दिशि उच्चारणक्रियः महाभाष्ये) वेदों का ज्ञान पहुंचाया करते थे। यही बात वेदने भी कही।

'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।' बाद में जब वेदज्ञाता ऋषि ऐसे हुए, जो (जनसंख्या के बढ जाने से और एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने में कठिनाई होने से तथा पारिवारिक बाधाओं से उपदेश देने में केवल उच्चारणात्मक उपाय से ही, वेद पहुंचाने में-लोगों को उसके आदेश सुनाने में- कुछ उत्साहहीन हो गए, तब उन्होंने अपने और समाज के हितके लिये इस ग्रन्थ को बनाया, वेद को बनाया और वेदाङ्गों का निर्माण किया। यहां इस ग्रन्थ से तात्पर्य उसी ग्रन्थ का हो सकता है, जिसका कि यह प्रतीक है। इस प्रकरण में आए हुए वेद शब्द का अर्थ श्री सत्यव्रत सामाश्रमी आदि विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थ करते हैं। इस प्रकार वेदमंत्र का वेदनोपाय होने से ब्राह्मणभाग को भी वेद कहा जा सकता है। सायणने भी वेद शब्द की एक स्थान पर ऐसी ही निरुक्ति की है। इस से साफ प्रतीत होता है, कि ब्राह्मणभाग का निर्माण तब हुआ है, जब वेदों को ग्रन्थ का पुस्तक का रूप दिया जाने लगा। इस से प्रथम तो ब्राह्मणों की सत्ता ही नहीं थी और तब वेदों का भी केवल श्रवण मात्र होता था। पठनपाठन नहीं तब की अवस्था महाकवि श्रीहर्ष-चरित नैषध-चरित के निम्न पद्यकीसी ही थी—

अतस्तदाकर्णिफलाढ्यजीवितं।
दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाऽफलम्॥
इति स्म चक्षुः श्रवसां प्रियानले।
स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मना॥

अर्थात् श्रुति पद भी वेदों का ही बोधक है। ब्राह्मणग्रन्थों का नहीं। श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी निरुक्तालोचन में लिखते हैं—

'पूर्वं मन्त्रा विकीर्णा एव स्थिताः ततो ग्रन्थीभूतानामेव तेषां अध्ययनाध्यापनतः शाखाः समुद्भूताः ततः सर्वशाखागतानां नैघण्टुकादिपदानां सुखबोधार्थं निघण्टु नामको ग्रन्थः समाम्नातः। ततस्तन्मात्रेण मन्त्रार्थज्ञानेऽकृतकृत्यतां संलक्ष्य मन्त्रभागीयदुखबोधपदादीनां तात्पर्यादि वेदनाय ब्राह्मणग्रन्थाः समाम्नाताः। तत उत्तरं ब्राह्मणग्रन्थैरपि मन्त्रार्थबोधो न पर्याप्त इति निरुक्तादीनि अङ्गानि समाम्नातानि इति'।

इससे यह भी प्रतीत होता है, कि प्रथम ब्राह्मण भागको भी वही स्थान प्राप्त था, जो निरुक्तादिक को पश्चात् भाष्यरूप होने से उसका अधिक मान होने लगा।

श्रुति का समानार्थक शब्द अनुश्रव भी वेदों का ही मुख्य वाचक है। इस प्रकार सिद्ध हुआ, कि वेद के मुख्य तीन नाम श्रुति, वेद, आम्नाय (श्रुतिः

त्री वेद आम्नायः) वेदों के ही मुख्य वाचक हैं। पश्चात् जब इन शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा, तथा माननीय समझा जाने लगा, गीता, शास्त्र, सूत्र आदि शब्दों की भांति सबका वाचक समझा जाने लगा। ब्राह्मणग्रन्थ ही क्या उपनिषदों को भी (यद्यपि उपनिषदों को भी ब्राह्मण कह सकते हैं, क्योंकि इनके निर्माता भी ब्राह्मण हैं, तथापि वेद व्याख्यारूप न होने से उन्हें वेदान्त अथवा उपनिषद् ही कहा जाता है) श्रुति, वेद, आम्नाय आदि शब्दों का वाच्य माना जाने लगा। वास्तव में श्रुति, वेद, आम्नाय शब्द यौगिक हैं, अतः इन का एतदर्थक सभी के लिए प्रयोग किया जाने लगा। वास्तव में मंत्र, वेद आदि शब्द समानार्थक ही हैं। उपर्युक्त निरुक्त के उद्धरणमें भी 'मंत्रान्सम्प्रादुः' ऐसा है। जिससे प्रतीत होता है अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान वेदसंहिता ही है। इसलिये ही वेदका पर्याय शब्द त्रयी भी मनुने अपनी स्मृति में प्रयुक्त किया है।

छन्द शब्द और ब्राह्मण।

इस प्रकार छन्दः शब्द भी मुख्य वृत्तिसे वेदों का ही मुख्य वाचक है। छन्द शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार यास्क ने लिखा है- " छन्दांसि छादनात् " क्योंकि इन मन्त्रों में परमात्मा का ज्ञान गुप्त है, अतः इन्हें छन्द कहा जाता है। स्वयं वेद में साक्षात् वेदोंके ही लिये छन्द शब्दका प्रयोग हुआ है-

(क) दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात् अयां स्तोकोऽभ्यपप्रद् रसेन। समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन। (अथर्ववेद।)

(ख) तैत्तिरीयारण्यक में- ' यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः ' इस की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा " यः प्रणवः (छन्दसां) वेदानां मध्ये (ऋषभः) श्रेष्ठः। "

(ग) वेदों में ही अन्यतम अथर्ववेद को छन्दो वेद कहा जाता है—

(A) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। (अथर्व)

छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋ०)

(B) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

(घ) निरुक्तकार यास्क भी छन्दका अर्थ वेद ही लेते हैं।

'छन्दोभ्यः समाहृत्य सामाहृत्य समाम्नाताः।' छन्दपद की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य भी लिखते हैं ' छन्दांसि मन्त्राः। ' अर्थात् छन्दस् और मन्त्र पद समानार्थक है।

(ङ) इसी लिये पाणिनि मुनिने भी " छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि " में छन्दस् वाच्यता केवल मन्त्रों की ही मानी ब्राह्मण-भाग की नहीं। श्री सत्यव्रत सामाश्रमी ने भी ऐसा ही भाव लिया है। निरुक्तालोचन में वे लिखते हैं।

भगवता पाणिनिनाऽपि क्वचित्प्रायोजि मन्त्रेषु एव च छन्द इति। तथा हि ' छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ' एवमादीनि समालोच्यानि न हि तत्र छन्दः शब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानां पृथग्ग्रहणमुपपद्यते। (निरुक्तालोचने) कई लोग इस पर प्रश्न करते हैं कि- गोबलीवर्दन्यायेन सामान्य विशेषवाचक पद मान कर दोनों एकत्र रह सकते हैं, वे लोग कहते हैं कि पाणिनिमुनिकी ऐसीही शैली है। विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् तनादि कृञ्भ्य उ आदि से प्रतीत होती है। परन्तु जब कि उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध है कि छन्दोवाच्यता केवल वेदों में ही है। और जब महाभाष्यकार पतंजलि मुनिने भी अन्य स्थलों की भान्ति यहां पर भी स्पष्टार्थकता आदि का निर्देश नहीं किया तब यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि छन्दः पदका मुख्य अर्थ भी वेद ही है। छादनत्व सामान्य से पश्चात् केवल ब्राह्मण-भाग को ही नहीं पिङ्गलादि को भी छन्द कहा जाने लगा। महाभाष्यकार पतंजलि भी वेद से ब्राह्मणभाग का ग्रहण नहीं करते—

(क) प्रारंभ में ही महाभाष्य में—

" केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानाञ्च। तत्र लौकिकास्तावत् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो

ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि 'शन्नोदेवीरभिष्टये' इषेत्वोर्जेत्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आ याहि वीतये, इति ।" यहां वैदिक शब्दोंका उद्धरण देते हुए चारों संहिताओं के सर्वप्रथम मन्त्रों की प्रतीक दी है। जिस से ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार को भी वेद शब्द से ऋगादि संहिताओं का ग्रहण ही अभीष्ट है, ब्राह्मणग्रन्थों का नहीं। यदि होता तो उन के भी उदाहरण देता।

(ख) इसी प्रकार व्याकरण के प्रयोजन बताते हुए 'अहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिता ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः" यहां वेद और मन्त्र शब्द दोनों एक स्थान पर आए हैं। जिस से प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार के मत में ये समानार्थक हैं। अर्थात् मन्त्रभाग को ही वेद कहा जाता है, ऐसा वे मानते हैं।

(ग) अन्यत्र भी- "किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते न पुनरन्यदपि किंचित्। ओम् इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति।" इस प्रश्न वाक्य में 'ओं शन्नो देवी' आदि वैदिक शब्दों से अभिप्राय है और उन्हीं को ही वेद कहा जाता है, ऐसा उत्तरसे प्रतीत होता है, वह यों है—

"पुराकल्प एतदासीत्संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति, वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः इति।" इस से प्रतीत होता है कि पतंजलि मुनि शन्नोदेवी आदि पूर्वोदाहृत शब्दों को ही वैदिक शब्द मानते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के शब्दों को लौकिक ही मानते हैं।

(घ) अन्यत्र भी- "ये चाऽप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व। वेदे। तद्यथा 'सप्तास्ये रेवती रेवदूष' 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष' 'यन्मेनरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्रे। यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनां" इति इस में वेद के उदाहरण वेदों से ही दिये हैं, ब्राह्मणग्रंथों से नहीं।

जब इस प्रकार सिद्ध हो चुका, कि मुख्य वृत्ति से वेद का अर्थ मन्त्रभाग से ही है तब अन्यत्र महाभाष्य में-

'वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणः यवागूव्रतो राजन्यः आमिक्षाव्रतो वैश्यः' आदि स्थानों पर वेदातिरिक्त वेदानुसारी भाग को भी वेद कहा है वह आतिदेशिक ही है।

छन्द शब्द और महाभाष्य।

वेद शब्द की भांति महाभाष्यकार छन्दः शब्द की भी मुख्य वृत्ति वेदों में ही मानते हैं- कहा भी है—

'ननु चोक्तं न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति यद्यप्यर्थो नित्यः यात्वसौ वर्णाऽनुपूर्वी साऽनित्या तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति। इति। काठकादि भेद-प्रदर्शन से प्रतीत होता है, कि भाष्यकार छन्दः पद का मुख्य अर्थ वेद ही मानते हैं।

वेद ब्राह्मण और आपस्तम्ब धर्मसूत्र।

आपस्तम्ब धर्मसूत्रकार भी वेद और ब्राह्मण को पृथक् मानते हैं, अर्थात् उन के विचार में ब्राह्मण वेद शब्द वाच्य नहीं।

(क) प्रथम कंडिका १० सूत्र—

सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यः सवित्र्यनूच्यते इति हि ब्राह्मणम्। इस सूत्रमें वेद और ब्राह्मण दोनों शब्द पृथक् पृथक् हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए हरदत्त मिश्र ने मनुका निम्न श्लोक उद्धृत किया है

"त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥"

मनुः और भी लिखते है—

"अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवति' ब्राह्मणमेव वा पठितम्" इस से यह भी प्रतीत होता है, कि हरदत्त मिश्र के मत से यह सूत्र किसी ब्राह्मण का वचन ही

है। इस से तो और भी स्पष्ट हो जाता है, कि स्वयं ब्राह्मणों को ही यह अभिप्रेत है कि वे वेद नहीं हैं।

(ख) इस से अगला ११ वां सूत्र भी इस में प्रमाण है- 'तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयेत यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्।'

इसपर हरदत्त मिश्र ने लिखा है " अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवति ' इस से यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार को जहां कहीं भी ब्राह्मणों का उद्धरण देना होता है, वहां वेदत्वेन नहीं अपि तु ब्राह्मणत्वेन ही देते हैं। इसी प्रकार द्वितीय कण्डिका के दूसरे सूत्र में उदकस्पर्शन की विधि का निर्देश करते हुए चारों वेदों के जिन मंत्रों का नाम लिया है, उस से तथा टीकाकार हरदत्त मिश्र के व्याख्यान से प्रतीत होता है, कि जहां वेदमंत्रोंका उपदेश करना होता है, वहां वेदत्वेन करते हैं।

" सप्तभिः पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरक इत्येताभिर्यजुष्पवित्रेण सामपवित्रेणाङ्गिरसेनेति।"

इस से यह भी प्रतीत होता है, सूत्रकार अथर्ववेद को भी वेद मानते हैं।

॥ इति शम् ॥

हिन्दू स्त्री-संसार।

(लेखक- श्री० पं० सर्वजित गौड, कुलू)

जब से संसार चला है, यही सुना और पढा कि दानव देवता की स्त्री हरते रहे। बिजातिय लोगों ने भारत पर आक्रमण किए। गुलामों और स्त्रियोंके लिए आज भी दिन प्रति दिन समाचारपत्रों में यही लेख मिलते हैं, कि आज इस स्त्री को विजातिय लोग हर ले गये इत्यादि !

इस से यह परिणाम निकला, कि

१. श्रेष्ठ होना गुनाह है।

२. श्रेष्ठ मनुष्य सदा कमजोर होते हैं।

३. कमजोर अपनी जन, जमीन और जर की कभी रक्षा नहीं कर सकते।

४. जो अपनी सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकता, वह सभ्य या श्रेष्ठ नहीं।

कमजोर आदमी की सम्पत्ति गुप्त रूप में बची रह सकती है, परन्तु कब तक ?

आर्यजाति का इतिहास विजयी इतिहास था, परंतु हिन्दू जाति का इतिहास तो पराजित ही दिखाई पडता है। हिन्दू जाति तो सचमुच आटे का शेर है। अन्दर रखो तो चूहा खा जाएगा, बाहिर रखो तो कव्वा उडा ले जायगा, फिर शेर काहेका ?

सवाल पैदा होता है, कि क्या हिन्दू धर्म अभयधर्म और निःश्रयेस् की सिद्धि प्राप्त करा सकता है ? यदि आप हां कहें तो सामने नहीं खडा दिखाई दे रहा है। अब आप जरूर नाक मरोड कर कहोगे, कि धर्म तो बडा उत्तम है, पर इस पर हिन्दू चलते नहीं, तो जिसपर चल नहीं सकते वह धर्म क्या ?

सच तो यह है कि हिन्दू धर्म की फिलोसफी बडी टेढी है, यह तो समुद्र है जिधर देखो नई बात नजर आएगी किसी ढंग से चलो हिन्दू धर्म है।

जब संसार में घडा बन्दी ना होती, उस समय तो यह अच्छा होता. परन्तु आज तो यह चमगीदड की भांती ना तो पक्षी है और ना चौपाया !!!

यदि हिन्दू बडे भगत और आध्यात्मिक देवी के पूजारी हैं और ईश्वर को अपने भगत प्यारे होते

हैं। ईश्वर के भगत निर्भय होते हैं।

अध्यात्मज्ञानी बहादूर होते हैं, उन को मौत का डर नहीं +। ऐसी जाति तो अवश्य अपनी जन, जमीन और जर की हिफाजत करती है, परन्तु हिन्दू जाति को क्या हो गया ?

दरअसल हिन्दू लगे, तो दूई के पीछे थे, परन्तु हो गए दो के पीछे ! जहां यह संसार से जूदाई को दूर करने के लिए खडे हुए थे, वहां यह आज एकताई के उखाडने के लिए हो गए !

अब भी कुछ ना बिगडा तलवार के ऊपर जंग आ गया है। जल्द इस की रक्षा की जायगी, तो तलवार की तलवार है, वरना मिटी।

यह जंग क्या है रणमर्दनप्रस्ती– ईश्वर को छोड कर अनेकानेक देवीदेवता की पूजा करना– जरूरत पर कभी एक का आशरा न रहना– जो आदमी दो चुल्हे की रोटी की आश रखता है, वह बहुधा भूके मरता है– कमजोर का भगत ताकतवर के भगत के सामने सिर झुकाता है– ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, इसीलिए उस के भगत ताकतवर हैं।

(२) हिन्दूओंने आर्यधर्म के वृक्ष वेदरूपी तने को छोड कर इस की भिन्न भिन्न शाखों और पत्तों का आशरा लिया– इस को छोड कर वेद के नाम पर एक हो जाएं।

जल एक है, परवाह के नाम के पीछे पड कर जल की एकता नहीं भूलनी चाहिए। जब ऐसा विचार हो जायगा, तो आर्य हिन्दू संसारमें जय को प्राप्त होंगे। वरना फांसी का कैदी है, यदि यह सवाल है कि वेद संस्कृत में हैं इसलिए सब जान नहीं सकते तो निम्न लिखित सार्वभौम नियम पर कारबंद हो जाए।

(१) एक ईश्वर में दृढ श्रद्धा।
(२) सदा सत्य बोलना।
(३) दया करना, किसीको ना दुखाना और ना आप दुःखी होना।
(४) न्याय करना और इन्साफ के लिए सब कुछ बलिदान करना और दया सचाई के साथ रखना।

यह चार Universal Law हैं, यही वेदों का सार है। जिस जाति में नियंता नहीं है, वह दूसरे के पीछे नहीं चला करती। आज हिन्दी योरप के पीछे अन्धाधुन्द चल रहे हैं– स्त्रीजाति की आजादी का आन्दोलन बडे जोरसे चल रहा है। आर्य कन्याएं जो कभी बडी विदूषी हुआ करती थी, जिन के आगे बडे बडे पंडित सिर झूकाया करते थे– जो गृह को स्वर्ग बनाए रखती थी· जो स्वयम् बडी वीर हुआ करती थीं– जिन के पुत्र संसार में बडे विजयी हुआ करते थे, जिन का राज्य जल, वायु और पृथ्वी पर पूरा पूरा था– जो बेइज्जतीके बदले मौत को तरजिह दिया करते थे, क्या उन की संतान आज यह गवारा कर सकती है, कि उन के सामने उन की माताओं, बहिनों और बेटिओं के ऊपर दूसरी जाति के लोग अत्याचार करें ? नहीं हरगिज नहीं ! तो यह करो कि अपनी संस्कृति को मत छोडो। अपने वर्ण और आश्रमधर्म का ठीक पालन करो। कन्याओं को धार्मिक शिक्षा दो, धार्मिक कामों में उन को पूरे इखतियारात दो, उन के शारीरक व मानसिक बल को बढाओ– हरतरह उन का संसार में मान बढाओ, परन्तु निर्हंग और बेशर्म मत बनाओ।

आज कल कामी संसार है। स्त्रीजाति बनाऊ श्रृंगार की इच्छुक तो पैदाश से ही है, परन्तु उस के साथ शर्म का न रहना बहुत बुरा है– आजकल भारत की स्त्रियां श्रावण महिने की या वसन्त ऋतु की मींमीरियों की तरह बनाऊ श्रृंगार कर के इधर उधर जा निकलती हैं, अपने पति को छोड कर दूसरे पुरुषके साथ चलना फैशन समझती हैं, स्कूलों और कालिजों में इकट्ठा पढना आज कल की तरंग है– नतीजा यह कि जिस तरह वसन्तऋतु में पर आई हुई मकोडियां अपने बिलों से बाहर आकर आकाश में उडती हैं और विसीओं पक्षी जो उन की ताकमें होतें हैं, दबोच लेते हैं क्योंकि यह अपनी रक्षा आप कर नहीं सकती, आ हा निर्बला और परबजीका शोक !

जहां अर्जुन रोता था महाभारत के आरम्भ में कि कुल के पुरुष मर जाने से वर्णसंकर पैदा होंगे और कुलाचार भ्रष्ट होंगे. उस को लोग न समझे- बहादुर जाति हमेशा सदाचारवाली माताएं बनाती हैं- इसलिए आर्यजाति स्त्रीजाति के सदाचार पर जोर देती है ।

जहां "Plus and minus" शक्ति इकट्ठा होगी, शरारा पैदा होगा- पुरुषमें plus और स्त्री में minus शक्ति है, इनके इकट्ठा होनेसे कामरूपी शरारा पैदा होगा- जिससे वर्णसंकर पैदा होंगे और आर्यजाति की संस्कृति तबा होगी- इस का बचाने का आन्दोलन आज से ही होना चाहिए ।

मकडी जाल तनती है. कीडे मकोडे मक्खियां उस में उलझती हैं, मकडी अपना निर्वाह करती हैं ।

मधुमक्षिका छता बनाती है और उस में मधु भरती हैं और बडे इन्तजाम से अपनी रानी के साथ रहती हैं । जब कोई उन का छता काटता है और मधु उन पर गिरता है, वह बेचारी उस ने लिवड कर मर जाती है ।

आर्यजाति का हाल शहद की मक्खीकासा है । इस का इन्तजाम टूट गया और यह अपने विचार-सागर में ऐसे लतपत हुए कि बचाओ मुश्किल ! दूसरी जातियां मकडी की तरह आनन्द में हैं— हिन्दू जातिमें विधवा स्त्री पर बडा अत्याचार है और यही अत्याचार हिन्दू जाति के रसातल का मुख्य कारण है ।

हिन्दू विधवाएं जो अभी गृहस्थका भोग पूरे तौर पर नहीं भोग चुकी और अभी खाहिश बाकी है उन को इस सुखसे वनचित रखने के लिए बडी रुकावट है । अगर कहीं किसी का सम्बन्ध हो गया और उस के संतान हो गई, तो उस पर ब्रादरी की तर्फ से यह अत्याचार है, कि उस को अपनी जाति में बराबरी नहीं है । इस डरसे हजारों हिन्दु विधवाएं खा:मखा: दूसरी जातिमें जा मिलती हैं या व्यभिचारिणी होकर अपना निर्वाह करती है ।

यदि कानून बन जाय कि ४० साल के अन्दर उमर की विधवा हो और उस के कोई औलाद न हो, तो वह दो बार शादी कर सकती है । यदि उस की इच्छा हो- उस की सन्तान जाइज होगी और उस पर ब्रादरी की ओर से किसी किस्म की पाबन्दी न होगी, तो हिन्दु जाती में एक व्यभिचारिणा स्त्री न मिलेगी और न वर्णसंकर उत्पन्न होंगे और न जाति के शत्रु ही पैदा होंगे । फिरसे हिन्दु जाति में महाराणी दुर्गावती पद्मीणी जैसी बहादुर स्त्रियां इस जाति की रक्षा के लिए तैय्यार होगी, क्योंकि स्त्रियों में इस जाति का प्रेम भरपूर रहेगा और दुःखिओं की आशीर्वाद मिलेगी, ईश्वर प्रसन्न होगा ।

वेदकाव्यामृत।

(१)

(कवि- श्री० हलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहोर)

(१)

ओ३म् । आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन । अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥

(ऋग्० १०।४२।७)

शत्रु मेरे सभी बहुत ही, दूर रोकिये ईश ।
सर्वसुप्रार्थित् प्रभूवर, सकल भुवन के ईश ॥१॥

दुष्ट शान्तकर उग्र जो, शक्ति प्रचण्डस्वरूप ।
है आप की उसी से, शत्रु शान्त करो भूप ! ॥२॥

जौ आदि शुभ अन्न अरु, गो आदि पशु प्रिय ।
बल अरु धन साधक परम, दे मेधा अति प्रिय ॥३॥

हम स्तोताओं की करो, प्रेरित बुद्धियां आप ।
इन्द्र महा बलवान् प्रभु, धर्मयुद्ध दो आप ॥४॥

रत्न मिलें हमें सदाही, जिन के अन्तस्वरूप ।
सेना सामग्रि भी मिले, युद्धविजय सुखरूप ॥५॥

(२)

ओ३म् । स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शᳫं राजन्नोषधीभ्यः ॥

(साम० उत्तरा० प्र० १अर्ध प्र० १ मं०३)

सुपवित्र कर दीजिये, हमें स्वयं महाराज !
शान्त सुखी गौः हों मेरीं, अश्व शान्त सुखसाज ॥६॥

जन मेरे सुनिरोग हों, रहें परस्पर शान्त ।
यव गोधूम शुभ ओषधि, हों स्वास्थ्यप्रद शान्त ॥७॥

ऐसी कृपा हो आप की, भगवन् राज-अधिराज ।
ओषधि पशु अरु जन सभी, शान्त स्वस्थ सुखभाज्
॥८॥

(३)

ओ३म् । अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा-पृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादु-त्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

(अथर्व० १९।१५।५)

अन्तरिक्षस्थित् अभयप्रद, हमें करें निर्भय ।
द्यौः पृथिवी दोनों सदा, करते रहें निर्भय ॥९॥

आगे पीछे से सदा, रहें सभी भयरहित् ।
ऊपर नीचे से पुनः, भय से होवें रहित् ॥१०॥

भगवन् दाता अभय के ! कृपा करो प्रभु आप ।
सदा सभी ही स्थान से, अभय दीजिये आप ॥११॥

(४)

ओ३म् । अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञाता-दभयं परोक्षात् । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

(अथर्व० १९।१५।६)

अभयप्रदाता प्रभूवर ! मित्रसे कर निर्भय ।
शत्रु से भी भयरहित कर, रात्रि दिवस निर्भय ॥१२॥

जिसे जानते हम सभी, जो सम्मुख विद्यमान् ।
दोनों ही से रहें सदा, हम निर्भय भगवान् ॥१३॥

सभी दिशाओं में सभी, बसें सभी मम मित्र ।
आशा मेरी सभी पूर्ण हों, हों निराश मम अमित्र
॥१४॥

(५)

ओ३म् । अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः । न जायमानो नशते न जातो

यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

(ऋग्० १।१६५।९)

पूजनीय धनवान हे !, परम सुवृद्ध महेन्द्र ।
उत्तम सुकृतरूप शुभ, कार्य कीजिए इन्द्र ! ॥१५॥

जिन से फैले सुकीर्ति, आप कीशुभ चहुं ओर ।
अन्य किसी की न बढ सके, त्यों कीर्ति सभी ठौर ॥१६॥

सर्वप्राप्त सर्वज्ञ कोई, देव न आप के तुल्य ।
तुझ से बडा कब हो सके, हो चाहे रवि तुल्य ॥१७॥

होते सदा प्रसिद्ध हो, कभी न होते नाश ।
उत्पन्न होते हुए सब, तुझसे ही सुप्रकाश ॥१८॥

तुझ सम उन में कोई न, सर्वोत्तम भुवनेश !
सभी हैं तुझसे ऊन ही, हे सुश्रेष्ठ महेश ! ॥१९॥

(६)

ओ३म् । पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

(ऋग्० ९।८३।१)

हे स्वामी ब्रह्माण्ड के ! तेरा पवित्र स्वरूप ।
फैल रहा है विश्व में, सुव्यापक सुखरूप ॥२०॥

हे समर्थ ! हो घेरते, सभी ओर से आप ।
सभी जनों की देह को, जान भी रहे आप ॥२१॥

पर कच्चे अभी बाल जो, नहीं तपा सके देह ।
ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से, तुझ में नहीं स्नेह ॥२२॥

नहीं भोग सकें आप का, वे परमानन्दरूप ।
पके हुए योगी यती, ही भोगें वही रूप ॥२३॥

परम तपस्वी मुनी जन, जो ढोवें जगभार ।
दुःख सभी के दूर कर, भोगें तुझे सुखसार ॥२४॥

(७)

ओ३म् । न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥

(ऋग्० ७।३२।२३)

हम आवाहन आपका, करें हे धनपति इन्द्र !
परमैश्वर्यसम्पन्न हे, पूजनीय सुमहेन्द्र ! ॥२५॥

गौः घोडे अरु अन्न धन, बल की कामनाधार ।
उपासते हम आप को, सो दीजो दातार ॥२६॥

हे भगवन् ! नहीं आप सम, कोई पदार्थ उत्पन्न ।
हुआ वा होगा भूमि अरु, द्यौः में कबहुं उत्पन्न ॥२७॥

मनुज न कोई देवता, कभी आप सम होय ।
चाहे सिद्ध सुमहात्मा, पर वह ईश न होय ॥२८॥

(८)

ओ३म् । विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

(ऋग्० १०।८१।३)

पङ्ख भुजाओं से रहा, कर निज अण्डे उष्ण ।
ज्यों पञ्छी त्यों ईश वह, विश्व कर रहा उष्ण ॥२९॥

सार्वभौम निज तेज की, ऊष्मा से वही देव ।
भूमि सूर्य उत्पन्न कर, रहा सदा स्वयमेव ॥३०॥

भुजा पाद मुख आंख अरु, श्रोत्र वाक् मन सर्व ।
सभी ओर हैं प्रभू के, उन से रचे जग सर्व ॥३१॥

(९)

ओ३म् । यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥

(अथर्व० १०।८।१६)

मैं मानूं ब्रह्म उसी को, ज्येष्ठ बडा प्रभु ईश ।
जिसे उलांघ न कोई सके, जो ही विश्व का ईश ॥३२॥

उत्पन्न हो सूर्य जिस, से हो प्रलय को प्राप्त ।
उदय-अस्त भी हो जिसी, की आज्ञा कर प्राप्त ॥३३॥

(१०)

ओ३म् । यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० १०।८।

जो जग है उत्पन्न अब, था होगा पुनः जान।
उस सारे पर कर रहा, शासन कौन वह मौन ॥ ३४ ॥
वही जो है सब से बडा, केवल आनन्दरूप।
स्वः ब्रह्म उसे हो नमः, जो सुज्येष्ठस्वरूप ॥३५॥
एक आनन्द ही देव उस, का है सुशोभित् रूप।
नमस्कार हो उसे ही, वही सकल जगभूप ॥ ३६ ॥

(११)

ओ३म्। यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व० १०।७।३२)

भूमिः जिसके पादसम, अन्तरिक्ष ज्यों पेट।
द्यौः मस्तक के समान है, रचा विश्व सुखहेत ॥३७॥
ज्येष्ठ ब्रह्म उनको करें, बार बार नमस्कार ।
ज्ञान कराते जिन्हीं का, द्यौः भूमिः सुखसार ॥ ३८ ॥

(१२)

ओ३म्। यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व १०।७।३३)

ज्येष्ठ ब्रह्म उनको नमः, जिन मुखवत् रची आग।
बार बार नया हो उदय, रचा चन्द्र महाभाग ॥ ३९॥
अरु सूरज रचा आंखवत्, वही देव अधिदेव।
अग्नि सूर्य अरु चन्द्र में, सुप्रकटित स्वयमेव ॥ ४० ॥
उन का मुख यही अग्न है, चान्द सूर्य यही आंख।
आकाश ही पेट है, द्यौः सिर भूमिः पांव ॥ ४१ ॥

(१३)

ओ३म् । यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व० १०।७।३४)

वायुः प्राणापान जिस, सूर्यकिरण जिस नेत्र।
श्रोत्र दिशायें जिस रचीं, वही ब्रह्म जगनेत्र ॥ ४२ ॥
उसी ज्येष्ठ को हो नमः, नमः अनेकों बार ।
आनन्दरूप उस देवको, बार बार नमस्कार ॥ ४३ ॥

(१४)

ओ३म् । यः श्रमात्तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे। सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।
(अथर्व० १०।७।३६)

स्कम्भ अरु तत् ने श्रम किया, उत्तम ईक्षण विचार।
पुनः तथा तप सृष्टिकर, हुआ प्रकट शुभसार ॥४४॥
ज्येष्ठ ब्रह्म तव देववर, व्यापे जिस सभी लोक।
भोग रहा उन सभी को, जो लोकीमय लोक ॥ ४५ ॥
सोमरूप आनन्दमय, ही जिस वरा स्वरूप ।
नमः ज्येष्ठ उन ब्रह्म को, जो त्रिलोकीभूप ॥ ४६ ॥

(१५)

ओ३म्। यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥
(यजु० ३१।२०)

ब्रह्म सुपुत्र प्रकाशमय, को होवे नमस्कार ।
देवों से हुआ पूर्व ही, जिस का प्रकट अवतार ॥४७॥
देवों के लिए तप रहा, सभी ओर से जौन।
अतः पुरोहित बन गया, देवों का भी जौन ॥ ४८ ॥
(अग्निः उसे ऋग्वेद ही, स्वयं रहा उच्चार।
प्रजापतिः भगवान् उस, को हो नमः सौबार) ॥४९॥
करने देव उत्पन्न ही, तप तपता सुमहान्।
देवों का हितकर परम, सदा से है विद्यमान् ॥ ५० ॥
देवों से वही पूर्वही, ज्योतिर्मय सुखसार।
प्रजापतिः सुत ब्रह्मका, उसे नमः सौ बार ॥ ५१॥

(१६)

ओ३म् । नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥
(अथर्व० ११।२।१६)

प्रातः ही करूं मैं नमः, अरु सायं नमस्कार।
दिन रात्रि में भी रहूं, मैं करता नमस्कार ॥ ५२ ॥
ब्रह्मा अरु शिवशक्तियां, सृष्टि रचें संहार।
बार बार दोऊ जोडकर, उनको करूं नमस्कार ॥५३॥

(१७)

ओ३म् । नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

(यजु० १६।४१)

मुक्ति अरु संसारसुख, दाता को नमस्कार।
परमानन्दक शान्तिकर, को होवे नमस्कार ॥ ५४ ॥

परम सुमंगल रूप उस, शिवतर को नमस्कार ।
शिव कल्याणस्वरूप उस, को हो नमः सौ बार ॥ ५५ ॥

(१८)

ओ३म् । अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः । मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥

(ऋग्० १०।४८।१)

मुझे बुलाते प्राणि सब, अपना पिता ही मान ।
जीत सदा ही धन स्वयं, रहूं उत्तम धनवान् ॥ ५७ ॥

दाता जन में बांटता, भोजन विविध प्रकार ।
युद्ध सभी में विजय भी, दिलवाता सुखसार ॥ ५८ ॥

सर्वप्रथम धनवान् हूं, इन्द्र सुमहिमावान् ।
मुझ सम अन्य न हो सके, कोई कभी भगवान् ॥ ५९

(१९)

ओ३म् । मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥

(ऋ० १०।१२५।४)

हे प्यारे, सुन वचन मम, कहूं तुझे सत्य रूप ।
श्रद्धा के जो योग्य है, सुन नित्य वेदस्वरूप ॥ ६० ॥

विविध चराचर विश्व को, देखे अरु ले श्वास ।
इस मेरे कहे वाक्य को, सुने सहित् विश्वास ॥ ६१ ॥

मेरी कृपा से पाय वह, उत्तम भोज्य सुअन्न ।
नीरोग रह खा सकें, पचा सके भी अन्न ॥ ६२ ॥

पर जो मानें मुझे न, अन्न बने विषरूप ।
उनके लिये, वही नष्ट हों, खोवें निज नररूप ॥ ६३ ॥

(२०)

ओ३म् । अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः । यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

(ऋ० १०।१२५।५)

स्वयं कहूं प्रिय शब्द मैं, देव अरु मनुज सुइष्ट ।
मैं ही जिसे चाहूं करूं, मेधावी ब्रह्मनिष्ठ ॥ ६४

ऋषि बनाऊं किसी को, तेजस्वि कोई अन्य ।
ब्रह्मा भी किसी को करूं, सुक्षत्रिय कोई अन्य ॥ ६५

मुझ परमात्मा की दया, दृष्टि के ही प्रताप ।
मनुज देवता बन सके, ब्रह्मा भा सुप्रताप ॥ ६६ ॥

(२१)

ओ३म् । अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ । अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

(ऋग्० १०।१२५।६)

द्यौः भूमिः में प्रवेश कर, उत्तेजित करूं विश्व।
के सब ही मैं जनों को, करूं समद सुव्यश्व ॥ ६७ ॥

जो दुष्टों को रुला सकें, उन की कमानें तान।
प्रत्यञ्चे चढवा रहा, स्वयं छुडा रहा बाण ॥ ६८ ॥

परमात्मा के भक्त से, जो जन करते वैर।
उन की वे हत्या कर सकें, छुडा सकें तिन वैर ॥ ६९

अतः स्वयं करवा रहा, ब्रह्मद्वेषी जन नाश ।
प्रोत्साहन कर रुद्रजन, का अरु धनुषविकाश ॥ ७०

(२२)

ओ३म् । मृत्योः पदं योपयन्तो यदैतद्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः । आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

(ऋग्० १०।१८।२)

दुराचार कर, ईश्वरीय, आज्ञा को उल्लांघ ।
कर मृत्यु का मार्ग फिर, भला कौन सके लांघ ॥ ७१

अतः जो इस पद पर नहीं, चलें वीरवर धीर ।
इस को रख दूर पर, ही रखते शुद्ध शरीर ॥ ७२ ॥

मन भी रख सुपवित्र वे, सुखी आयुविस्तार।
सुत अरु धन से युक्त हो, यज्ञ करें विस्तार ॥७३॥
ऐसे ही तुम सब बनों, हे मनुजो! दिव्य रूप।
यज्ञ योग्य हो, आयुसुत, पाओ धन भरपूर ॥७४॥

(२३)

ओ३म्! आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ। इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः॥

(ऋग्० १०।१८।६)

चढो सीढियां आयु की, करो जरा तक प्राप्त।
यत्न ही करते पुनः पुनः, क्रमपूर्वक सुप्राप्त ॥७५॥
करो, शुभरित्र, प्रजा भी, सेवनीय प्रिय द्रव्य।
जीवनशक्ति युक्त हो, भोगो सभी सुभोग्य ॥७६॥
सुखी तुम्हें रखने लिये, इस जग में कर्तार।
त्वष्टा सूक्ष्म सौन्दर्य शुभ, पूर रहा दातार ॥७७॥

(२४)

ओ३म्। एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्॥

(अथर्व० ९।८।(३)।७)

सुने सुना सके वेद को, जो श्रोत्रिय विद्वान्।
बिना नियत् करे तिथि कोई, स्वयम् ही पहुंचे आन॥७८
अभ्यागत उसे जान कर, खायें न उस से पूर्व।
यही गृहस्थी सज्जनों, का है धर्म अपूर्व ॥७९॥

(२५)

ओ३म्। अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥

(अथर्व० ९।६(३)।८)

खाये गृहस्थी तभी जब, अतिथि चुके ही खा।
जीवित् जाग्रत यज्ञ तब, रहे, न कबहूं कटा ॥८०॥
उत्तम व्रत यही धार लो, सभी गृहस्थीवर्ग।
अतिथिसंबंधि यज्ञ यह, पाल पाओ सुस्वर्ग ॥८१

(२६)

ओ३म्। मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋग्० १०।११७।६)

अन्न निरर्थक पाय वह, मूर्ख महा मतिमन्द।
देव को आहुति दे नहीं, मित्र न पाले अन्ध ॥ ८२॥
कहूं सत्य विष ही बने, उस के लिए वही अन्न।
पापपुञ्ज ही वह बने, खाये अकेला स्वन्न ॥ ८३ ॥

(२७)

ओ३म्। य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते॥

(ऋग् १०।११७।२)

अन्नवान् के पास जो, दीन भिखारी आय।
कर, मांगे ही अन्न यदि, खावे उसे दिखाय ॥८४॥
ऐसे मन जिसका कडा, सुख दे उस को कौन।
ऐसा महाकञ्जूस अरु, मक्खीचूस ही जौन ॥८५॥

(२८)

ओ३म्। न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥

(ऋग् १०।११७।४)

सखा जो साथी आय घर, मांगे अन्न पदार्थ।
जो उस को देवे नहीं, नहीं सखा वह यथार्थ ॥८६॥
ऐसे को त्यज दे सखा, वहां करे न निवास।
वह उत्तम सुशरण नहीं, नहीं मित्र शुभवास ॥८७॥
अन्य की इच्छा तब करे, हो जो चाहे अनजान।
पर आवश्यकता पडे, तो पूरे तन प्राण ॥८८॥

(२९)

ओ३म्। अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ (ऋग् ४।२६।२)

सज्जन को दूं भूमि मैं, दाता मनुज को वर्ष। (वर्षा)
शब्द जो नदियां कर रहीं, लाऊं उन्हें सह हर्ष ॥८९॥

मेरे इशारे से सभी, चलते दिव्य भी देव ।
पार्थिव विद्वज्जन सभी, करते मेरी ही सेव ॥ ९० ॥

(३०)

ओ३म् । समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥
(ऋग् ८।४४।१)

ज्यों आदर से अतिथिको, पिला रहे घृत आप।
ऐसे ही अग्नि देव को, घृत से जगाईये आप ॥९१॥

सेवा समिधा दे करो, आहुति उत्तम डाल।
सुपवित्र ही हविः दो, द्यौः तक पहुंचे रसाल ॥९२॥

(३१)

ओ३म् । यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥
(अथर्व० १४।१।४३)

सिन्धु से जल खींच कर, बरसाता वही मेघ।
नदियां बढतीं उसी से, सागर भी फिर, मेघ ॥९३॥

ही सागर साम्राज्य कर, रहा अतः विस्तार।
ऐसे पति घर जाय तू, कर स्वराज्यविस्तार ॥९४॥

(३२)

ओ३म् । सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (ऋग् १०।८५।४६)

निज शुभ गुणोंसे हे वधू, महाराणी बनो आप।
देवर ननन्द अरु सास के, ससुर के भी प्रणित आप ॥९५

ऐसे सद्व्यवहार से, सभी से विचरो सहर्ष।
सम्मान ये सब करें, सदा तुम्हारा सहर्ष ॥ ९६ ॥

(३३)

ओ३म् । इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥
(ऋग्० १०।८५।४२)

हे दम्पती ! सुगृहस्थ में, विचरो यहीं सहर्ष।
पृथक् न हो इक दूसरे, से करो सङ्ग सहर्ष ॥९७॥

पूरी आयु आनन्द से, भोगो सभी सस्वाद।
पुत्रपौत्रदौहित्र से, रहते रहित विषाद ॥९८॥

आनन्द से, खेलते, निज घर में सुख पाय।
पूरी आयु आनन्द में, ही तुम जाओ विताय ॥९९॥

(३४)

ओ३म् । अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥
(ऋग्० १०।३४।१३)

हे जुआरिये ! खेल मत, पांसों की यह खेल।
खेती ही कर प्रेम से, जान यही शुभ खेल ॥१००॥

इस से ही जो धन मिले, उसे ही बहुता जान।
उसी से ही सुप्रसन्न हो, भोग उसे बहु मान ॥१०१॥

इसी से तू पा जायगा, गौएं बहुत, प्रिय नार।
जग उत्पादक न्यायकर, सविता कहे मोहे सार ॥१०२॥

(यही कहा गया वेद में, जुआ न खेले कोय।
खेती आदिक् खेल शुभ, ही खेले सब कोय) ॥१०३॥

(३५)

ओ३म् न । ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥
(ऋग्० ६।२८।३)

गौओं का स्वामी रहे, जीवित् दीर्घ सुकाल।
सुखसामग्री भोगता, गौः द्वारा सब काल ॥ १०४॥

देता गौएं दान में, भी यदि मांगें सुपात्र।
हाथ कसाईयों के नहीं, बेच बने ही कुपात्र ॥१०५॥

विद्वानों की सेव शुभ, गोपतिः करे सदैव।
देवों के शुभ यज्ञ में, डाले गव्य सदैव ॥१०६॥

ऐसे गोपतिः की कभी, गौएं न होतीं नाश।
चोर चुरा सकें न उन्हें, डाकू न करें विनाश ॥१०७॥

दुःखी न कर उन्हें मारता, शत्रु कोई दुर्व्याध ।
राजा भी सदा दण्ड दे, गोघातक को सबाध ॥१०८॥

(३६)

ओ३म् । समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(ऋग्० १०।१९१।४)

हे मनुजो ! तुम सभी के, निश्चय होवें समान ।
दिल अरु मन भी एक हों, भाव विचार समान ॥१०९॥
जिस से रहो सुप्रसन्न ही, इक दूजे से आप ।
मिल बैठे सदा प्रेम से, करते प्रेमालाप ॥ ११० ॥

(३७)

ओ३म् । येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥
(अथर्व० ३।३०।४)

निज भक्ति अरु ज्ञान निज, दूं तुम को सुयथार्थ।
घर में स्थापित मैं करूं, वेद तुम्हारे हितार्थ ॥१११॥
जिस से घर के जन सभी, पावें ज्ञान समान ।
द्वेष करें नहीं सर्वथा, बनें परस्परप्राण ॥ ११२ ॥
नहीं त्यजते विद्वान् जिस, वेदमार्ग को आप ।
जिस के कारण देवगण, भी देते नहीं शाप ॥ ११३ ॥
नहीं पृथक् होते कभी, देवों से यतः मनुज ।
ब्रह्म से भी नहीं बिछुडते, अतः वेद पढें मनुज ॥११४

(३८)

ओ३म् । ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
(अथर्व० ३।३०।५)

बढते हुए शुभ गुणोंसे, सदा बढाते ज्ञान ।
इक दूजे को प्रसन्न कर, भार उठाते महान् ॥ ११५ ॥
मिलकर ही शुभ कार्य का, बोल सुस्वादु बैन ।
इक दूजे से आप सब , चलो एकत्र ज्यों सैन ॥११६॥
रखते परस्पर मित्रता, मन प्रेम से पूर्ण ।
मिल बैठे ही सभी जन, द्वेष को करते ऊन ॥११७॥

जुदा न होवो कभी भी, यही मैं दूं उपदेश ।
सदा रहो सभी प्रेम से, मान यही संदेश ॥ ११८ ॥

(३९)

ओ३म् । समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
(अथर्व० ३।३०।६)

हो प्याओ शुभ एक ही, हो रसोई भी एक ।
एक ही बन्धन से तुम्हें, मैं सब को करूं एक ॥११९॥
जुवे एक में जोतता, ज्यों गाडी के बैल ।
ऐसे ही सुगृहस्थ को, पालों सभी त्यज मैल ॥१२०॥
रथचक्र के धुरे के, अरे लगे चहुं ओर ।
अग्नि को ही सेवन करो, त्यों बैठे चहुं ओर ॥१२१॥
मिल कर ही करो आप सब, अग्नि देव सत्सङ्ग ।
परमेश्वर विद्वान् अरु, गुरु ज्ञानी सत्सङ्ग ॥१२२॥

(४०)

ओ३म् । सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥
(अथर्व० ३।३०।७)

तुम सब को बड़े प्रेम से, यही मैं दूं उपदेश ।
एक ही मन रक्खो सभी, मिल बैठो इक देश॥१२३॥
करो सहायता परस्पर, गूढ़ी प्रीत प्रसार ।
प्रातः सायं सदा ही, सुमनपना विस्तार ॥१२४॥
अमृतरक्षा देवगण, करते ज्यों चित्त लाय ।
त्यों मुक्ति आनन्द की, रक्षा करो चित्त लाय॥१२५
अमृत तत्त्व से देवता, जुड़वाते सम्बन्ध ।
महिमा सुरक्षित् कर रहे, प्रभुकी सदा सानन्द ॥
नमः सदा हो उन्हीं को, ओ३म् को हो नमस्कार॥१२६

(४१)

ओ३म् । शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥
(ऋग्० १।९०।९)

परम मित्र भगवान् वह, वरणीय प्रियरूप।
सब का करते न्याय सदा, बलवान् जगभूप ॥१२७॥
बड़ों का रक्षक स्वयं वह, पराक्रमी सुमहान्।
व्यापक सारे विश्व में, देव वही भगवान् ॥१२८॥
शान्त हमारे पर रहें, करें सदा कल्याण।
हों सुख-शान्तिप्रद सदा, अस्मदर्थ भगवान् ॥१२९॥
मुक्ति अरु संसारसुख, हमें दान करें देव।
शम् भण्डार सुशान्तकर, परम देव स्वयमेव ॥१३०॥
मित्र वरुण अरु अर्यमा, इन्द्र बृहस्पतिः सर्व।
बहु क्रान्तिकर विष्णु भी, देव शान्त रहें सर्व ॥१३१॥
सदा हमारे पर करें, सदा ही सब को शान्त।
उन सब की अति कृपा से, हों हम नहीं अशान्त ॥१३२॥

(४२)

ओ३म्। वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥

(ऋग्० १।२।१)

उत्पन्न सुपदार्थ सब, रक्खे हमने सजाय।
सोम सरीखे रस किये, प्रस्तुत शुद्ध बनाय ॥१३३॥
अनन्तबल भगवान् जी, धार वायु-अवतार।
आईये, उन को पीजिये, मेरी सुनिये पुकार ॥१३४॥
प्रेम से हमें निहारिये, दयादृष्टि दे दान।
कृपा हमारे पर करो, हो हमारा कल्याण ॥१३५॥

(४३)

ओ३म्। पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजि-
नीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥

(ऋग्० १।३।१०)

स्नेह-प्रेम-अवतार हे ! सरस्वती जगमात्।
वेद-वाणी सुपवित्र की, स्रोत्, ज्ञानमयी मात् ॥१३६॥
विविध अन्न से पूर्णा, परम पावका आप।
हम बालोंको सदा ही, कीजिये पावन आप ॥१३७॥
सर्व गुणन् की निधिः हो, यज्ञ की कामनाधार।
अपनी बुद्धि उत्तमा, से वह करो विस्तार ॥१३८॥

यज्ञ हमारा देखती, सदा होवो प्रसन्न।
हे परमात्मारूपिणी, सरस्वती सुप्रसन्न ॥१३९॥

(४४)

ओ३म्। पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥

(ऋग्० १।५।२)

अनन्त विश्व में प्रभु ही, सर्वोत्कृष्ट परेश।
बहुविध जग के पदार्थों, के ईशान महेश ॥१४०॥
वरणे योग्य जो सर्व सुख, अरु उत्तम सुपदार्थ।
उन सब ही के भी प्रभु, अरु दाता सत्यार्थ ॥१४१॥
इन्द्र महाबलरूप उन, के हम गावें गीत।
सोमादि शुभसार कर, प्रस्तुत् सह अति प्रीत ॥१४२॥
जिन से आकर्षित् हो करें, तुरत हमारा सङ्ग।
इन्द्र देव वह महाप्रभु, बढा हमारी उमङ्ग ॥१४३॥

(४५)

ओ३म्। तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं
जिन्वमवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेद-
सामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥

(ऋग्० १।८९।५)

रक्षक चर अरु अचरके, उस ईश्वर प्रभु का।
बुद्धि हमारी जो प्रेर दें, मोह हटा उस का ॥१४४॥
अपनी रक्षा निमित्त हम, करें आवाहन सर्व।
विद्यादि धनवृद्धि के, लिये, पायें सुख सर्व ॥१४५॥
पुष्टिकर्ता सदा ही, रक्षा करें कर्तार।
दबें जो न कभी किसी से, दें कल्याण दातार ॥१४६॥
रक्षा की सर्व कामना, नहीं डरे किसी से।
भक्तों का कल्याण ही, होता सदा प्रभु से ॥१४७॥

(४६)

ओ३म्। अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्वि-
चक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥

(ऋग्० १।२२।१६)

भूमि की बाहरी सितह से, भूमध्यपर्यन्त।
सात पाताल गिने गये, नरक धाम अत्यन्त ॥१४८॥

ध्रुवा दिशा के विष्णुपति, ने हीं बनाये धाम।
ये सातों, रक्षा करे, इन से, वही सुखधाम ॥१४९॥

हम सब की वही देववर, सभी ओर से आप।
हम इन में नहीं जा सकें, करें न ऐसे पाप ॥ १५० ॥

(४७)

ओ३म्। पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥
(ऋग्० १।३६।१५)

बलवत्तम् महातेज हे ! शत्रुविदाहक अग्न।
राक्षस हिंसाशीलसे, रक्षा करो सुप्रज्ञ ॥ १५१ ॥

कञ्जूस अरु धूर्त जन, से हमें सदा बचा।
मारना चाहते, मारते, हुए से हमें बचा ॥ १५२ ॥

(४८)

ओ३म्। त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा
अवसे धृषन्मनः। चकृषे भूमिं प्रतिमानमोज-
सोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥
(ऋग्० १।५२।१२)

परमात्मन् परमेश्वर ! सृष्टि तथा निज ज्ञान।
आप दीजिये कृपाकर, हम होवें विद्वान् ॥ १५३ ॥

अपने बलऐश्वर्य से, आकाश में व्याप।
आर पार इस लोक के, भीतर बाहर व्याप ॥१५४॥

मन दुष्टों का तिरस्कृत, कर धर्षित् बहु बार।
रक्षा कर रहे भक्तजन, अरु जगकी सविचार ॥१५५॥

परमाकाश, मध्यस्थ अरु, भूमि लोक निर्माण।
कर, धार रहे आप ही, बलशाली भगवान् ! ॥१५६॥

इस सब में हो सर्वगत्, सुव्यापक सर्वत्र।
घेर रहे इन सभी को, बाहर भी सर्वत्र ॥ १५७ ॥

जल आकाश अरु भूमि द्यौः, बल से रहे हो धार।
परिमाण क्रमपूर्वक, कर उन का विस्तार ॥ १५८ ॥

(४९)

ओ३म्। वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते
रन्धया शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य
चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥
(ऋग्० १।५१।८)

सब को यथार्थ जानने,वाले प्रभु परमेश !
हम को जानिए आर्य ही, शुद्धचारी, महेश ! ॥ १५९ ॥

शक्तिमान् अरु शक्तिप्रद, हूजिये सदा ही आप।
हम यजमानोंको विविध, प्रेरणा भी करो आप ॥१६०

आनन्दमय लोक शुभ, में करता सुविहार।
आप के ही सङ्ग मैं सदा, स्नेहसे रहा निहार ॥१६१

कामना उत्तम कर्म सब, की ही मन में धार।
मैं विचरूं ही हर्ष से, करो पूर्ण कर्तार ॥ १६२ ॥

हिंसाशील जो दुष्ट जन, उत्तम व्रत से हीन।
करते उपद्रव यज्ञ में, वे हों प्राणविहीन ॥ १६३ ॥

वश में हमारे ही रहें, शिक्षित् वा हो जायं।
नहीं तो वे सब क्रूर जन, जड से ही कट जायं ॥१६४॥

(५०)

ओ३म्। न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न
सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः। नोत स्ववृष्टिं मदे
अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥
(ऋग् १।५२।१४)

हो रहा जो अनुस्यूत् अरु, परिपूर्ण सर्वत्र।
उस का अन्त न पा सकें, कभी कोई अत्र तत्र ॥१६५॥

द्यौः भूमिः अरु सिन्धु भी, लोकलोकान्तर सर्व।
जल दिव्य अन्तरिक्ष अरु, भूमिः के भी सर्व ॥१६६॥

अन्तरिक्ष के लोक भी, पायें न उस का अन्त।
मेघ सरीखे मत्त भी, करें युद्ध ही अन्त ॥१६७॥

उससे कभी नहीं लड़ सकें, वृष्टिबाण निज छोड।
हार मान ही रहें चुप, युद्ध से निज मुख मोड ॥१६८॥

ऐसा वही प्रभु एक है, रचे स्वयं ही विश्व।
अपनी ही सामर्थ्य से, रहा व्याप सभी विश्व ॥१६९॥

सामर्थ्य ही दूसरी, पृथक् अपने से मान।
उस से ही जग रच रहे सदा स्वयं भगवान् ॥१७०॥

(५१)

ओ३म् । ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह । कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥ (ऋग्० १।३६।१४)

उत्तम सब से हो पिता, उच्च हमें करो आप ।
निजी ज्ञान का दान दे, पापरहित् करो आप ॥१७१॥

प्राणि करे जो शत्रुता, कामक्रोध गुण दुष्ट ।
भस्मीभूत इन सभी को, करो, ईश उत्कृष्ट ! ॥१७२॥

धन विज्ञान अरु अन्य शुभ, गुणों में हमें बढा ।
सभी प्राणियों से हमें, उत्तम प्रभुजी ! करा ॥१७३॥

विद्याधनबलयुक्त हों, विचरें हम स्वच्छन्द ।
देश विदेश में जा सकें, आ भी सकें स्वच्छन्द॥१७४॥

सुख से जियें आनन्दसे, विद्वानों से युक्त ।
विद्या आनन्द सेवते, धन पाते उपयुक्त ॥१७५॥

देवलोक में भी पुनः, भोगें देवानन्द ।
मुक्ति अरु सुस्वर्ग भी, पावें ब्रह्मानन्द ॥१७६॥

(५२)

ओ३म् । अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋग्० १।८९।१०)

कालप्रभाव से रहित् हे ! सदा अखण्डित् मात् ।
स्वप्रकाश द्यौः रूप हो, नाशरहित् नित्यगात् ॥१७७॥

विकृत् होते कभी न, अत्यन्त ही मान ।
अरु सुख देते मुझ सब, जीवों को भगवान् ॥१७८॥

रक्षा करते सभी की, नरक दुःख से त्राण ।
भी करतेहो सभी का, पुत्र अरु पितासमान ॥१७९॥

आप ही विश्वेदेव हो, हो पञ्चजन आप ।
हो प्रसिद्ध, होगे प्रकट, व्यक्त हो रहे आप ॥१८०॥

विश्व सकल के जन्म के, कारण स्वयं परेश ।
चेतन ब्रह्म सुनित्य वह, अविनाशी देवेश ॥१८१॥

सभी दिव्य गुण ज्योतियां, दिव्य अरु पार्थिव देव ।
आप के ही रूपान्तर, आप ही हैं महादेव ॥१८२॥

पञ्च प्रकार के जन सभी, पञ्चात्मक् जग सर्व ।
सकल विश्व प्रपञ्चमय, हो आप ही सर्व ॥१८३॥

अदिति हो हे मात प्रिय ! मनुज देव की आप ।
नित्य सनातनी दिव्य ही, जगजननी निष्पाप ॥१८४॥

(५३)

ओ३म् । ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् । अर्यमा देवैः सजोषाः ॥

(ऋग्० १।९०।१)

देव जिसे सेवन रहे, कर भोग आनन्द ।
वरणीय विद्वान् वह, सर्वसखा सुखकन्द ॥१८५॥

न्यायकारी हमें ले चले, कोमल नीति की ओर ।
नियम हमारे लिये निज, कभी करे न कठोर ॥१८६॥

वरराज्य वरनीति अरु, दे वरविद्यादान ।
दिव्यराज्य साम्राज्य भी, दें हम को प्रभु दान ॥१८७॥

न्यायकारी जगमित्र भी, हमें बनावें ईश !
देवसङ्ग के योग्य भी, कोमल नीतिअधीश ॥१८८॥

(५४)

ओ३म् । त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा । त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥

(ऋग्० १।९१।५)

सज्जनरक्षक जगत के, कर्ता, प्रियतम् सोम ।
उत्पादक भी विश्व के, कल्याणप्रद ओ३म ॥१८९॥

सुखसुभद्र कल्याणमय, प्रभु राजा महाराज ।
धारक मारक रचक अरु, मेघ के भी अधिराज ॥१९०॥

दुष्ट गुणों से ढक रहे, सद्गुण जो निज सर्व ।
उन सब दुष्टों का सदा, चूर्ण करो प्रभु गर्व ॥१९१॥

भक्त अरु सच्चे साधुओं, सद् गृहस्थ यति बाल ।
की रक्षा करो स्वयं ही, हे सब जगप्रतिपाल ॥१९२॥

(५५)

ओ३म् । त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः । न रिष्येत्त्वावतः सखा ॥

(ऋग् १।९१।८)

पाप जो करना चाहते, अथवा करते वैर हैं ।
रक्षा हमारी कर सदा, उन से, वे हों निर्वैर ही ॥
सो मित्र हों आप जिन, के, कब पाते दुःख हैं ।
वही भक्त प्रिय आप के, पायें न क्यों सब सुखही
॥१९३॥

विश्व सकल में सदा ही, बन रहे रक्षक आप हो ।
कोमल मृदु प्रिय ईशवर, महाराज स्वयमेव तुम ॥
सच्चा स्नेह अरु सख्य ही, अपना करते प्रदान हो ।
सखारूप में ही दिखो, हमें सोम भगवान्! तुम ॥१९४॥

(५६)

ओ३म् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

(ऋग्० १।२२।२०)

सर्वोत्तम सुप्राप्यपद, उस व्यापक भगवान् का ।
विद्वद्वर धर्मात्मा, सतत् निहारें प्रेम से ॥

ज्यों फैला आकाश में, सुप्रकाश सुमहान् का ।
तेजोमय आदित्य वही, ज्योति निहारें प्रेम से ॥१९५॥

(५७)

ओ३म् । स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू
उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी
मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

(ऋग्० १।३९।२)

अस्त्रशस्त्र सभी आप के, सुदृढ सुस्थिर हों सदा ।
जिस से भगा सको शत्रु निज, वेग उनका सको रोक भी ॥
बलमय सेना आप की, सुप्रसिद्ध होवे सदा ।
छलिया कपटी पाय नांह, मनुज, सुसेना--बल कभी ॥
॥१९६॥

(५८)

ओ३म् । विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि
पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।

(ऋग्० १।२२।१९)

इन्द्रियपति इस जीव के, अन्तर्यामि ईश ही ।
सदा हितैषि मित्र हैं, अन्य न प्रिय जन हो सके ॥
उन व्यापक प्रभु के अतः, कर्म विचित्र निहार ही ।
ब्रह्मचर्य तप सत्यव्रत, जीव सुसाधन कर सके ।
॥१९७॥

(५९)

ओ३म् । परा णुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो
वसू कृधि । अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा
वृधः सखीनाम् ॥

(ऋग्० ७।३२।२५)

परमैश्वर्य सुयुक्त हे ! मघवन् इन्द्र परेश हो ।
शत्रु हमारे सभी ही, हों परास्त भवकृपा से ॥
पृथिवी का धन सर्वथा, सुलभ हमारे लिये हो ।
मित्र हमारे और हम, बढें सदा भवभक्ति से ॥१९८॥

युद्ध महासंग्राम में, ओर हमारी आप हों ।
सेन हमारी के सदा, रक्षक हों स्वयमाप ही ॥
जान हमें निज जन सदा, सेना के पति ईश हों ।
सदा बढावें हम सभी, मित्रजनों को इन्द्र ही ॥१९९॥

(६०)

ओ३म् । शं नो भगः शमु नःशंसो अस्तु शं नः
पुरन्धिः शमु सन्तु रायः । शं नः सत्यस्य सुय-
मस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥

(ऋग्० ७।३५।२)

हे ईश्वर सुखकर सदा, आप हमें ऐश्वर्य दो ।
सुखकारक ही प्रशंसा, करें प्राप्त तव कृपा से ॥
जग के धारक आप हो, सब को ही आनन्द दो ।
सुखशान्तिःप्रद धन सदा, मित्र पायें भवदया से ॥२००॥
धर्म यथार्थ सुसंयम, इन्द्रियनिग्रह सत्य से ।
युक्त सुलक्षणा प्रशंसा, जग में जो प्रसिद्ध है ॥
वही हमारे लिये हो, परमानन्दक शान्ति से ।
शान्त अनन्तसमर्थ हो, न्याय तुम्हारा सिद्ध है ।
॥२०१॥

(६१)

अथर्ववेद का प्रथम सूक्त ।

घेर रहे सभी ओर हैं, जो तत्त्व त्रिःसप्त ।
सब आकृतियां धारते, त्रिविध गति से सप्त ॥१॥

उन में से प्रत्येक् के, विस्तार का ज्ञान ।
वाणी-रक्षक् गुरुजी, तथा ईश दें दान ॥२॥

आज ही मुझ को, अरु बला, स्वररक्षक शुभसार।
स्मृति मेधा सौस्वर्य दे, करे ज्ञानविस्तार ॥३॥

हे वाचस्पति ! आईये, फिर दिव्य मन साथ ।
आनन्दित प्रभो ! कीजिये, वसुपति हो तुम नाथ ॥४॥

सुना वेद का ज्ञान सब, रहे मेरा मन मांह ।
स्थित् मेरे में सदा ही, विस्मृत् हो कबहुं न ॥५॥

वसुपति ! विस्तृत कीजिये, मुझ में शक्ति-ज्ञान ।
ज्यों सिरे दोनों धनुष के, डोरी को रहे तान ॥६॥

सभी ओर से मन मेरा, यहीं खिंचा जा तन ।
रुका रहे वाचस्पते ! विवश न हो कभी मन ॥७॥

मेरा ज्ञान मुझ में टिका, रहे सदा सुस्थिर ।
वेद सुना हुआ सभी जो, कभी न हो अस्थिर ॥८॥

आह्वान वाचस्पति, को हम ने किया पास ।
वह भी हमें बुलाय लें, अब तो अपने पास ॥९॥

सङ्ग वेद का करें हम, कभी न करें विरोध ।
गुरुदेव की कृपासे, बला से मन को शोध ॥१०॥

(६२)

यजुर्वेदका पहिला मन्त्र ।

धार इच्छा शुभ अन्न की, अरु ओषधि रस ओज ।
आवाहन करें आपका, हे सविता अमितौज! ॥१॥

हे वायुगण ! आप हैं, बलवान गतिमान् ।
सविता प्रेरें आपको, दिव्य देव सुमहान् ॥२॥

उत्तम कर्म सुयज्ञ जो, उस में लगावें वह ।
जिस से बढें गौएं बहुत, नाश न-पावें वह ॥३॥

मिले सोमरस इन्द्र को, जो उस का प्रिय भाग ।
बछडेवाली गौः हों, सुखी यदि महाभाग ॥४॥

रोगों से हों सर्वथा रहित्, क्रिमिः से हीन ।
तथा सपुत्रां नारिएं, रोगरहित् क्रिमिहीन ॥५॥

वायुवत् हों बलवती, गौः अरु उत्तम नार ।
अती परिश्रमशील वे, पायं उच्च गति नार ॥६॥

चोर आप पर राज्य न, करे, न पापी नृशंस।
गोरक्षक् गोशाल में, स्थिर विस्तारिए वंश ॥
बहुत बनो गौः ! आप सब, रक्षा करें भगवान्।
पशुओं की यजमान् के, सविता देव महान् ॥

(६३)

ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ--सूक्त।

जो वस्तु उत्पन्न हैं, उन का रक्षक एक।
वर्तमान था आदि में सुप्रसिद्ध स्वयमेव ॥
हि-रण्य शुभ ज्योति जो, उत्तम तेज विद्योत्।
उन सब का भण्डार इक, कारण आदि स्रोत् ॥

इस पृथिवी उस द्यौः को, रच कर धारे वह।
प्रजापति आनन्दमय, हैमाण्ड शुभ वह ॥
दिव्य उसी भगवान् की, सेवा करें सप्रेम।
आहुति समिधा घृत चरुः, दिया करें नितनेम ॥
जन्म दिला कर आत्म को, करे जो फिर बलवान्।
जिस की आज्ञा मानते, देव सभी विद्वान् ॥

करें प्रशंसा उसी की, और उपासें सर्व।
अमृत् आश्रय उसी का, मरें बिना उस सर्व ॥
सुखदायक भगवान् उस देव, की करें सुसेव।
आहुति श्रद्धा प्रेम से, घृत की दें स्वयमेव ॥
महिमा से जो एक ही, जग राजा हुआ आप।
चौपाएं दोपाएं इन, सभी का ईश्वर आप ॥
प्राणि लेवें सांस जो, अरु जो झपकें आंख।
ईश प्रजापति सभी का, जिन में सांस न आंख ॥
सुखमय आनन्दरूप उन, का धर सभी ध्यान।
मधुर सुगन्धित् पुष्टिप्रद, हवि उत्तम करो दान ॥
नदियों सहित् समुद्र अरुः, श्वेत् गिरिः हिमवान्
महिमा जिस की कह रहे, रचे उन्हें जो महान् ॥
जिस से महिमा पायं यह, दिशा उपदिशा और।
जिस की भुजाएं बन रहीं, रक्षा करें सब ठौर ॥
उस देव आनन्दमय, प्रजापति भगवान्।
की हम पूजा के लिए, हों अर्पित मन प्राण ॥

द्यौः प्रचण्ड सुस्वर्ग अरु, बलवती पृथिवी थाम ।
जो आश्रय सभी लोक का, अमृत मुक्तिधाम ॥१४॥

लोकलोकान्तर रच रहा, आकाश में जो ।
मर्यादा अरु मान का, ध्यान सदा रख सो ॥१५॥

प्रजापति उस देव की, भक्ति करो सदैव ।
विज्ञान आनन्द से, पूजो उस को सदैव ॥१६॥

जिस के बल से थम रहे, पृथिवि सूरज चान्द ।
कांप रहे मन से जिसे, देखें तारे चान्द ॥१७॥

जिस के आश्रय उदय हो, सूरज करे प्रकाश ।
कर गति स्वयं चला रहा, सब को दे प्रकाश ॥१८॥

उस कमनीय स्वरूप को, सेवें बारम्बार ।
योगाभ्यास सुध्यान से, हों अर्पित् सौबार ॥१९॥

विस्तृत् बाष्प जो घेरती, भूमि को सभी ओर ।
गर्भ धार रच मेघ को, जन बिजुली चहुं ओर ॥२०॥

उस से सम्यक् प्रकट हो, देवों का इक् प्राण ।
जगप्रसिद्ध आनन्दमय, प्रजापति भगवान् ॥२१॥

उस ज्योतिर्मय की सदा, करें सभी हम सेव ।
श्रद्धा भक्ति धर्म का, कर पालन स्वयमेव ॥२२॥

कर धारण जब अग्नि बल, बाष्प करे निर्माण ।
संसार का, देखते, तब वह जो भगवान् ॥२३॥

महिमा अपनी से चहुं, ओर से उसे निहार ।
देव सभी पर राज्य कर, करे जगत् प्रसार ॥२४॥

था देव अधिदेव जो, वह सर्वोपरि एक ।
उस की सब पूजा करें, मान सभी की टेक ॥२५॥

जो भूमि का जनक है, करे हमारा न नाश ।
जिस ने बनाया सूर्य को, सभी मानते शास ॥२६॥

सत्य नियम को पाल जो, करता जल उत्पन्न ।
विस्तृत शीतल शान्तिकर, करें जो मन सुप्रसन्न ॥२७॥

भक्ति करें किस देव की ? जो हिरण्य का गर्भ ।
ज्योतिः तेज-भण्डार अरु, आनन्द का गर्भ ॥२८॥

जिस शुभ इच्छा के लिए, आप को पूजें हम ।
वही सिद्ध हो सर्वथा, धनपति होवें हम ॥२९॥

उत्पन्न सभी भूत इन, को घेरे नहीं और ।
तुझ बिन देव प्रजापते ! जगरक्षक कोई और ॥३०॥

अतः उपासें तुझे ही, सदा करें तव सेव ।
घृत् समिधा चरुः पयः की, आहुति दें स्वयमेव ॥३१॥

(६४)

यजुर्वेद--अध्याय २२, मंत्र २२ ।

विश्वविधाता जगनिर्माता, हे ब्रह्म ! जगदीश्वर हे ।
अपनी भक्ति, ब्राह्म भावना, से युक्त हमें ब्राह्मण दे ॥१॥

छुट रहा तेज ब्रह्म का जिनसे, सभी ओर करे शुभ विस्तार ।
धारण करें सुजन्म यहां पर, वेदज्ञान का करें प्रचार ॥२॥

राज चलावें राजपूत जो, राष्ट्रसभा में ले शुभ स्थान ।
शूर वीर शस्त्रास्त्रधारी, निर्भय करें युद्ध प्रस्थान ॥३॥

बडे युद्ध के रथके स्वामि, दूर निशाना मारें अचूक ।
तीर कमान बन्दूक की गोली, तोप से गोला चलावें अचूक ॥४॥

ऐसे योद्धा जन्म यहां लें, करें स्वराष्ट्र का विस्तार ।
गौएं देवें दूध बहुत जो, बैल बोझ ढो मानें न हार ॥५॥

घोडे तेज चलें अति शीघ्र, स्त्रियें चलावें पुर-व्यवहार ।
ग्राम नगर की अध्यक्षा शुभ, राज्य की जानें उत्तम सार ॥६॥

युवा सभासद् विजय का इछुक, रथ में बैठ करे संहार ।
वीर पुत्र यजमानके जन्म, यज्ञ किया जिसने विस्तार ॥७॥

जब जब इच्छा हम कृषकों की, हो तब ही बरसे शुभ मेघ ।
तृप्ति-जनक पशु प्राणि सभी का, सुख बरसाता अमृत मेघ ॥८॥

खेती की सभी उत्तम ओषधि, फल पाकर रही बनें सुपक्व।
मिलें पदार्थ नवीन हमें अरु, हम रक्षा में होवें समर्थ ॥९॥

ऐसी कृपा जगदीश आपकी, राष्ट्र हमारे पर हो सदा।
ब्राह्मणभक्त सुयोधा क्षत्री, रूपवती बारसातीं सुधा ॥१०॥

राज्यकारण में दक्ष देवियें, गौएं देती दुग्धामृत।
बैल भार ढो, अश्व शीघ्र चल, मेघ बढाते पय अमृत ॥११॥

मधुर पक्व फलवती औषधि, पर्कीं चलातीं योगक्षेम।
युवराज पृथवीर मनोहर, राज्य चलाता सह सुख क्षेम ॥१२॥

प्राप्त कराइये राष्ट्र इसी में, हमें सभी सुपवित्र पदार्थ।
जन्म दिलाईये उन्हें यहीं पर, सिद्ध हो जावें कार्य यथार्थ ॥१३॥

(६५)

अथर्ववेद कां० १९, सू० ४३।

परमात्मा को जान कर, अधिकारयुत हो।
तप फिर भी तप कर जहां, जाते ज्ञानी जो ॥१॥

अग्नि वहां मुझे ले चले, कर स्वाहा स्वीकार।
मेधा बुद्धि प्रदानकर, अग्नि मुझे सुखकार ॥२॥

ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म का, अधिकारी शुभ हो।
घोर तपस्या पुनः कर, जायं जहां ब्रह्म सो ॥३॥

वायु! वहां ले चल मुझे, सुष्ठु कथन सुन मम।
प्राणशक्ति मुझे दान कर, परम सखा तू मम ॥४॥

साक्षात् कर ईश को, कर सुप्राप्त अधिकार।
फिर भी तप नहीं त्याग कर, जायं जहां नरनार ॥५॥

सूर्य! मुझे पहुंचा वहां, दूं तुझे स्वाहाकार।
चक्षु दिव्य मुझे दानकर, हे सविता! शुभसार ॥६॥

अनुभवकर ब्रह्मात्म को, कर दीक्षा सुप्राप्त।
तप कबहुं नहीं त्याग कर, जायं जहां नर आप्त ॥७॥

चन्द्र! मुझे पहुंचा वहां, मन दिव्य कर दान।
आत्मब्रह्म को एक कर, स्वाहा करूं तोहे दान ॥८॥

जगनिर्माता ईश के, ज्ञान से दीक्षाधार।
तप करते रहते पुनः, कर प्रयाण नरनार ॥९॥

जहां ब्रह्मविद् पहुंचते, कर स्वाहा तुझे दान।
सोम! वहां ले जाईये, मुझे दूध कर दान ॥१०॥

जगधारक को जान कर, दीक्षित भक्ति मांह।
परम तपस्वी भक्त बन, ब्रह्म जायं जिस मांह ॥११॥

पहुचाईए मुझे वहां ही, हे इन्द्र भगवान्।
हे शक्र! दे बल मुझे, स्वाहा तुझे मघवान् ॥१२॥

व्यापक सर्वाधार को, जान तथा पहिचान्।
अधिकारी कर तप विविध, नर जहां जायं सुजान ॥१३॥

मुझे वहां ले जायं जल, अमृत हो मेरे पास।
स्तुति करूं जलदेव की, हों प्रसन्न तत्काल ॥१४॥

महाराज सुब्रह्मवर! करिए मम स्तुति प्राप्त।
आहुति देता आप को, भक्तप्रिय सुव्याप्त! ॥१५॥

ब्रह्माजी मुझे दीजिए, वेद अरु आत्मा-ज्ञान।
पहुंचाईए फिर उस जगह, जहां जायं विद्वान् ॥१६॥

परमात्मा के भक्त जन, कर उन को साक्षात्।
बन अधिकारी ब्रह्म के, फिर बल तप शुभ साथ ॥१७॥

योग और मोक्ष ।

(लेखक- योगिराज श्री० उमेशचन्द्रजी, बम्बई नं. ४)

यौगिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः अन्तःकरण की वृत्तियां शान्त होते होते जब पूर्ण रूप से शान्त हो जाती है, तो उसी अवस्था का नाम योगयुक्त अवस्था है और उसी को 'योग' कहा जाता है। जैसा कि पूज्यपाद महर्षि श्री पतञ्जलिजीने बताया है-

" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । "

योगयुक्त अवस्था में द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपना यथार्थ रूपमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इस से भिन्न अवस्थाओं में वह अन्तर्हित हो जाता है। चित्तवृत्तियों के चांचल्य के कारण वह सर्वव्यापक परमात्मा और अन्तःकरणस्थ परमात्मस्वरूप जीवका साक्षात्कार नहीं हो पाता। यही परमात्मा का जीव से दूर हट जाना है जिन जिन साधनों द्वारा इस प्रकार के दूर हटे हुए परमात्मा से अनाथ हुआ जीवात्मा सनाथ हो जाता है, उसी का नाम योग है। इसी को दूसरे शब्दों में 'उपासना' भी कह सकते हैं, क्योंकि " उप-समीपे, आस्यते-विराज्यते अनया इति उपासना " अर्थात् परमात्मा के समीप विराजमान कर देनेवाली क्रिया काही नाम उपासना है। अस्तु।

योग का विषय " पातञ्जलियोगदर्शन, घेरण्ड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका, योगवासिष्ठ, धर्मकल्पद्रुम" आदि अनेक ग्रन्थों में विस्तृत रूप से बताया गया है, यहां पर हम पाठकों के लाभार्थ संक्षिप्त-रूप से दिग्दर्शनमात्र लिखते हैं।

योगके चार भेद हैं- (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग।

(१) यह संसार नामरूपात्मक है, अर्थात् परिदृश्यमान संसार का कोई भी अङ्ग नामरूप से पृथक् नहीं है। इसी नाम रूप में फंस कर यह जीव बद्ध होता है। चित्त की वृत्तियां भी नामरूपके ही अवलंबन से अन्तःकरण को चंचल किया करती है, उन चित्तवृत्तियों के निरोधार्थ मन्त्रजपस्वरूप क्रिया को 'मन्त्रयोग' कहा जाता है।

(२) यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है, अतएव स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर समान रूप से पडता है। स्थूल शरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डाल कर चित्तवृत्ति के निरोध करने की जितनी क्रियाएं हैं, उन्हें 'हठयोग' कहते हैं।

(३) लययोग का कुछ और ही विचित्र ढंग है। व्यष्टिशरीररूपी पिंड और समष्टि सृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टिव्यष्टिसंबन्ध से एक ही हैं। इन दोनों को एक समझ कर इन में व्यापक जो प्रधान पुरुष और प्रकृतिशक्ति है, उस से अपने शरीरस्थ पुरुषभाव में लय करने की जो शैली है और उसके अनुयायी जितनी साधन हैं, उन्हें 'लययोग' कहा जाता है।

(४) मन की क्रियाएं मनुष्य को फंसाती हैं और बुद्धि की क्रियाएं मुक्त करने में सहायक होती हैं। यही कारण है कि अज्ञान से जीव बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्त होता है। बुद्धि-क्रियारूपी साधन (विचार) द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध की जो शैली है, उसे 'राजयोग' कहते हैं। राजयोग का अधिकार सबसे बढकर है।

योगका स्पष्टीकरण।

योगसाधन के आठ अङ्ग हैं- १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधी। इन में से पूर्व के चार तो

बहिरङ्ग हैं तथा उत्तर के शेष चार अन्तरङ्ग हैं। बहिरङ्ग और अन्तरंग के मिलानेवाला प्रत्याहार आगे है। जीव को बहिरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियसे वीतराग कराने के जो अभ्यास है, उन्हें यथाक्रम यम और नियम कर रहे हैं। इन दोनों की क्रिया-शैली विभिन्न आचार्यों के मतानुसार विभिन्न प्रकार की है। इन दोनों के द्वारा उपासनाकाण्ड का साधन ही योगसाधन का अधिकारी होता है, इनके विना नहीं हो सकता; और तृतीय अङ्ग (आसन) द्वारा यह पार्थिव शरीर योगसाधन के उपयुक्त बनता है। चांचल्य से बन्धन और स्थैर्य से मोक्ष होता है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है, अतः शरीर को स्थैर्ययुक्त करने की जो शैली है, उसे आसन कहते हैं। शरीर को स्थैर्ययुक्त करने के अनन्तर प्राण को धैर्ययुक्त करने की शैली को प्राणायाम कहते हैं। इस के सिद्ध हो जानेपर साधक को अन्तरंग-साधन का अधिकार हो जाता है। पांचवे अङ्ग (प्रत्याहार) के सिद्ध होने पर साधक अपनी बाह्य दृष्टि को बहिर्जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् में इस प्रकार ले जाता है, जैसे कूर्म (कछुआ) अपने अङ्गों को समेट कर अन्दर कर लेता है। उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी प्रवृत्ति को अन्तर राज्य में खींचकर बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् में पहुंच जाता है।

इस प्रकार अन्तर्जगत् में पहुंच कर सूक्ष्म अन्तर्-राज्य के किसी भी विभाग का अवलम्बन कर स्थिर रहने का नाम धारणा है। इस षष्ठ अङ्ग (धारणा) के द्वारा योगी जब अन्तर् राज्य के द्रष्टा परमात्मा के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप के ध्यान करने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिकुटी के सिवाय और कुछ नहीं भान होता। यही योग का सातवां अङ्ग है।

उपरोक्त सप्तम अङ्ग की सिद्धावस्थामें ध्याता-ध्यान-ध्येयरूपी त्रिकुटीका भी विलय हो जाता है और (साधक) ध्यान में मिलकर दोनों ध्येय में लय हो जाते हैं। इसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधके अन्तिम अवस्था का नाम समाधि है। यही योगका अष्टम अङ्ग है।

उक्त चार प्रकार के योगों की साधनशैली जो पूज्यपाद महर्षियोंने विभिन्न रूपसे प्रतिपादन की है वे सब इन्हीं आठ अङ्गों की सहायता से निर्णीत हुई है, भेद इतनाही है कि किसी में किसी अङ्ग का विस्तार है, किसी में किसी का अङ्ग का संकोच है। साधन जब एक के बाद दूसरा, दूसरे के बात तीसरा सोपान यथाक्रम अतिक्रमण करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधि में पहुंच जाता है, फिर निर्विकल्प समाधि में पहुंचकर स्वस्वरूप प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

निर्विकल्प समाधि-प्राप्त योगी शारीरिक सब कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। तब वह चाहे स्वस्वरूपस्थित, रहे, व्युत्थान दशा को प्राप्त होकर कर्म में प्रवृत्त रहे, सब दशा में निर्विकल्प भाव में स्थित रहने के कारण वह अद्वैत भाव में स्थिर रहता है। इसी दशा को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। इसी को अद्वैत स्थिति, इसी को परम ज्ञान की दशा और इसी को पराभक्ति की दशा भी कहते हैं। भिन्नभिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासना प्राणस्वरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योग का यही चरम लक्ष्य है।

हमारा भारत देश ।

(लेखक- श्री० पं० बालमुकुन्द शर्माजी, हट्टा, (जि० दमो, सी. पी.)

यो भूतं च भव्यं च,
सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्१ यस्य च केवलं,
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्ववेदे १०-८-१)

तीनों कालों और सब जगत् के स्वामी सुख-स्वरूप परमात्मा को हम सब का नमस्कार है।

सूर्यचन्द्रादि रत्न-जटित धाता के धाम में गोत्रा (पृथिवी) का चित्र भी अत्यन्त विचित्र है। तथा चोक्तम्-

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व० १०-७-३२)

जैसे जीवात्मा शरीर के सब अङ्गों में व्यापक है, वैसे ही परमात्मा जगत्के सब लोकों में निरन्तर व्यापक है, उस को हम सदा मस्तक झुकाते हैं।

प्रलयार्ध पर विश्व- विद्यालयके छात्रों को भोग देने के निमित्त कारुणिक के ईक्षण से प्रकृति में क्षोभ होता है- यही इसके गर्भ-गत होने की वेला है। स्फूर्तिमती स्वधा से गर्भाण्डपिण्ड पुष्ट होता है- तत्पश्चात् उस अंडे से सर्गारम्यक सूर्य, चन्द्र, पृथिवी-गुर्वादि व्योम में विचरनेवाले खगों का जन्म आकर्षण-सामंजस्य-वशात् साथ साथ ही होता है। तदुक्तम्- तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी-दुपरि स्विदासीत् । रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥
(ऋ० १०-१२९-५)

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व० १०-७-३६)

या ते धामानि परमाणि यावमाया मध्यमा विश्व-कर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ (ऋ० १०-८१-५) ॥

इस पृथु- पृथिवी के जन्म होते समय सर्वोन्नत हिमालय ही सलिल-पृष्ठ पर प्रथम उदय होता है- तत्पश्चात् उत्तर की ओर तिब्बत और फिर दक्ष दक्षिण की ओर जल-तल पर सघनत्वात् भारी भारत की भा का आविर्भाव होता है- फिर क्रमशः इस महती महीके अन्य विभाग बाहर निकलते हैं॥ जैसे मानवशरीर में हस्तपादादि यथावसर उपयोगी बहिरंग देहावयव की अपेक्षा जीवन का अंग के अन्तरंग से सघन सम्बन्ध है, तद्वत् इस भू-भूमि में हरिवर्ष-पातालादि यथासमय उपयोगी बहिरंग स्थल-स्थानों की अपेक्षा जीवन का भा-रत भारत से गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक प्रकार के खनिज रत्न-जटित तथा उपज- भूमि-भूषित, हरएक भांति के जलों से प्लावित तथा वायुओं से वेष्टित, नाना पादप, पशु, पक्षी, नरादि-सुशोभित, वसुन्धरा के अन्य भागों को प्रेमवशात् भोजन से पुष्ट करता हुआ वृद्धादि गुण-गण-गरिष्ठ कांतिमान् भारत की प्रभा अत्यन्त ही मनोरम है ।

तदुक्तम्—

ब्रह्मपुत्र इति ख्यातो नदः स्रोतस्विनी पतिः।
प्राच्यां यस्य वहन्नस्ते वीचिमाला सगाकुलः।
प्रतीच्यां च नदीनाथः, सिन्धुशाखागणैः सह।
वहति प्रोच्चलद्वीचिर, आर्द्रयन् सततं स्थलीम्॥
उत्तरां शोभयन्नाशां नगराजो हिमालयः।
दैवीं भूतिं समालम्ब्य, स्थितो विप्र गुरुर्गिरिः॥
दक्षिणां दिशिमालम्ब्य, वीचिभिस्ताड़यन् तटम्।
राजते लवणाम्योधिर्, दुर्द्धर्षो लोकदुस्तरः॥
सोयं विस्तीर्ण भूभागो, नाना रत्नविशोभितः ।
नानावृक्षलतापूर्णो, नानागिरिनदीयुतः॥

नाना पशु गणैर्जुष्टो, नाना पक्षि निषेवितः।
आर्य्याणां पुण्य भूमिः सा भारतं वर्षमुच्यते
सर्वर्तुकुसुमामोद, मदिते सुमनोहरे।

शैत्य सौगन्ध्यमान्द्याय्य, मरुद्भि रूप जीविते॥

अतः श्रेष्ठा कर्मभूमिरं, भूमौ भारत मंडळम्।
जीवैः प्रभूत सुकृतैर् यत्र वै जन्म लभ्यते॥

पृथ्वी के प्रादुर्भूत होने पर स्थावर जंगम शरीर-यंत्र बनाये जाते हैं, अतएव पूर्वोक्त स्थानों में प्रजा का आदिम प्रादुर्भाव निखिल तंत्र स्वतंत्र है। मल-मार्जक भोग-योनि वर्ग के छात्रों की शरीर-रचना, उन के चेष्टा-विज्ञान और रसास्वादन से आप लोक जानते ही हैं, कि उन का शिक्षण प्रायः आदिम वर्ग तंत्र ही रहता है -परन्तु ऊपर के लम्बायमान सीधी रीढ़वाले मनुष्य-यंत्र की रचना बडी ही अद्भुत है।

हम अपने हृदय के सारे भाव व्यक्त वाणी द्वारा बोल कर और हाथों द्वारा स्पष्ट लिख कर दूसरों पर प्रकाशित करते हैं। ऐसी निराली कई बडे महत्त्व की बातें और किसी भी प्राणधारी के भाग्य में नहीं। इनकी कृति विज्ञान और अनुभव के विकास के परिशीलन को विवश हो कहना पडता है कि इन अद्भुत मस्तिष्कवाले कर्मयोनि-वर्गस्थ छात्रों को स्वच्छन्द करने के हेतु छन्दों (वेदों) की नितान्त आवश्यकता है। परम पिता के उपदेश का, व्यक्त वाणी के आविर्भाव का, लेखनप्रणाली के प्रादुर्भाव का और बडे महत्त्व की बातों का आदिम पर्व पूर्वोक्त पुण्य देश ही है। उक्तश्चः—

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकेषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १०-७-२०)

ऋषियों ने निश्चय किया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत और समस्त संसार के कल्याणकारक हैं॥

यथे मां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ॥

(यजुः २६-२)

यह चारों वेदरूप कल्याणकारिणी वाणी सब मनुष्यों के हित के लिये मैनें (परमात्मा) उपदेश की है।

देशदिष्ट ऋतुओं ने शारीरिक और आदेशदिष्ट ऋतों ने आत्मिक सम्पत्ति को यहां इतना उत्कर्ष कर दिया था, कि जन-जिवन इस भूविभाग भारत के भू-भवन भागी दिव्य देह दीप्त देव होने को लालयत रहता था। तदुक्तम्—

गायंति देवाः किलगीतकानि, धन्यास्तु ये भारत-भूमि-भागे।

स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्त्वात्॥

कर्माण्य संकल्पित तत्फलानि, सन्न्यस्य विष्णौ परमात्मरूपे। अवाप्यतां कर्म मही मनन्ते, तस्मिन्नयं येत्व मलाः प्रयान्ति॥

ऐसे प्रभा-रत भारत के हृदय को "मध्यदेश" कहते हैं॥ तदुक्तम्

हिमवद् विंध्ययोर्मध्यं, यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च, मध्यदेशः प्रकीर्तितः (मानवधर्म-शास्त्रे २-२१) अतः भगवद्भक्तिरत हो भारत कहता है॥

मनो जूतिर्ज्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमतनोत्वरिष्टं यज्ञ समीमं दधातु। विश्वेदेवा स इहमादयन्तामो ॐ म्प्रतिष्ठ॥ (यजु० २-१३)

आप स्वस्थ हैं ?

मानव-जीवन के समस्त सुखों का आधार स्वास्थ्य है। जिस राष्ट्र के नवयुवकों का स्वास्थ्य सुन्दर नहीं, उसके भविष्य को अन्धकारमय समझिए। आज भारतियों का स्वास्थ्य अत्यधिक पतित अवस्था में है। यही कारण है कि सुख और उन्नति के समस्त साधन उनसे कई कोसों दूर भाग रहे हैं। आज आपका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि अपने स्वास्थ्य को समुन्नत बनाकर राष्ट्र और समाज को बलिष्ठ बनाइए। यहां पर आपके सामने स्वास्थ्य के कुछ नियमों का उल्लेख किया जाता है। आप अपने शारीरिक स्वास्थ्य को इस कसौटी पर कसिए और जहां कहीं कुछ बिगाड नजर आवे, तुरन्त सुधारने का उद्योग कीजिए। यदि आप में से प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ बनने का सदोद्योग करे, तो भारतीय राष्ट्र को आदर्श बनने में विलम्ब न लगे।

१. आपकी त्वचा मुलायम, लचीली, चिकनी, स्वच्छ और गर्म होनी चाहिए। खुजलाने पर उसमें लकीरें अथवा चिह्न न बनने चाहिए।

२. मुखमण्डल पर झुर्रियां, शुष्कता और होठों पर पपडियां न पडनी चाहिए।

३. आंखें चमकीली, स्वच्छ और नाक की ओर कोनों में कुछ एक सुर्ख डोरे होना चाहिए। आंखें पीली, डबडबाई, और लाल न होनी चाहिए।

४. जबान चिकनी, गुलाबी, समतल और साफ होनी चाहिए। दांत मोती के समान साफ और चमकदार हों।

५. प्रत्येक अङ्ग दैहिक पारस्पर्य की रक्षा करते हुए सुडौल होना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति का सिर शरीर की ऊंचाई का आठवां भाग, कमर पतली और छाती चौडी होनी चाहिए। और उदर सीने से आगे उभरा न हो।

६. बाल स्निग्ध, बारीक और मुलायम हों।

७. सांस की गति साधारण और बिना किसी स्पष्ट शब्द के निर्गन्ध होनी चाहिए।

८. निद्रा अटूट, गहरी, लम्बी और बिना किसी स्वप्न के समाप्त होनी चाहिए।

९. गर्दन और हाथ- पांव की नसें उभरी हुई न होनी चाहिए।

१०. पसीना दुर्गन्धयुक्त अच्छा नहीं।

११. मुख का स्वाद अच्छा रहे। बार बार थूकने और गला साफ करने की आवश्यकता न पडे।

१२. मल बन्धा हुआ होना चाहिए और उस पर एक चमकदार हवाई झिल्ली! स्वस्थ मनुष्य के मल में बदबू नहीं होनी चाहिए।

१३. प्रातःकाल सोकर उठने के पश्चात् शरीर में पर्याप्त स्फूर्ति, उत्साह और ताजगी का होना आवश्यक है।

१४. भोजन के पश्चात् पेट में गुड-गुड की आवाज न होनी चाहिए और नहीं पेट इतना भारी होना चाहिए कि आलस्य मालूम हो अथवा लेटने की आवश्यकता।

१५. मलत्याग में अधिक विलम्ब न हो, बिना किसी अडचन के मलत्याग हो जाय और त्वचा में न लगे।

१६. पैर गर्म और शिर ठंडा रहे। प्रत्येक ऋतु में शरीर का यही तापक्रम रहना चाहिए।

१७. दोनों समय खुल कर भूख लगे और भोजन में रुचि हो।

१८. मूत्र धार बांधकर बाहर निकले और रंग साफ हो। नाखून सुर्ख, गुलाबी और पैर के तलवे त्वचा की रंगत से मिलते जुलते।

—डा० अविनाशचन्द्रजी

वेद एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं।

(लेखक - श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

वेद एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं।

नवीन विचारकों का ऐसा विचार है कि चारों वेद एक ही समय में उद्भूत नहीं हुए। उनका यह विचार है कि इन चारों में ऋग्वेद सब से प्रथम उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का यह भी विचार है, कि संसार में सब पुस्तकों से ऋग्वेद प्रथम उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद के बाद सामवेद उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उस में अधिक ऋचाएं ऋग्वेद मन्त्र की ही हैं।

यजुर्वेद सामवेद से भी पीछे का है। अथर्ववेद तो चारों वेदों का परिशिष्ट है, अतः वह बहुत ही अर्वाचीन है।

इतना ही नहीं नवीन विचारकों का ऐसा भी सिद्धान्त है, कि ऋग्वेद भी सारा एक साथ उद्भूत नहीं हुआ। प्रथम मण्डलकी अपेक्षा द्वितीय मण्डल नूतन है और दशम मण्डल तो ऋग्वेद का परिशिष्ट है, ऐसा मानने में उनकी निम्न युक्तियां हैं-

(१) भाषाविज्ञान के आश्रय से पता चलता है, कि वेदों की उत्पत्ति एकही समय में नहीं हुई। प्रथम मण्डल की भाषा से द्वितीय मण्डल की भाषा सरल प्रतीत होती है। अतः दूसरा मण्डल बाद में उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद से अन्य वेदों की भाषा सरल होती गई है। और अथर्ववेद की भाषा तो वर्तमान संस्कृत भाषा से मिलती जुलती है। अतः वह सब वेदों का परिशिष्ट है, सब से पश्चात् उत्पन्न हुआ है।

(२) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से द्वितीय मण्डल नवीन है। इसमें एक यह भी युक्ति है, कि सायणने ऋक्-संहिता के द्वितीय मण्डल पर भाष्य करते हुए निम्न सर्वानुक्रमणी का वचन उद्धृत किया है-

'य अङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्।'

अर्थात् शौनक गृत्समदने द्वितीय मण्डल का प्रवचन किया इस का वह ऋषि है। और पाणिनि का एक सूत्र है---

'शौनकादिभ्यश्छन्दसि।'

इस से शौनक शब्द से प्रोक्तार्थ में इति प्रत्यय होता है।

इस से प्रतीत होता है कि शौनक प्रोक्त द्वितीय मण्डल अर्वाचीन ही है, जिस का संकेत पाणिनि ने किया है।

(३) द्वितीय मण्डल के अर्वाचीन होने में एक यह भी युक्ति दी जाती है, कि अति प्राचीन काल में यज्ञ न होते थे। द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त की द्वितीय ऋचा—

'तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥' में ही होत्रादि शब्द आते हैं। अतः ज्ञात होता है, द्वितीय मण्डल अर्वाचीन है।

अब क्रम से इन्हीं की आलोचना करेंगे। भाषा-पार्थक्य से वेदों का रचनाभेद तथा एकही वेद के भिन्नभिन्न प्रकरणों का रचनाभेद समझना उचित नहीं। भाषाभेद से यदि तात्पर्य सर्वथा भाषा की भिन्नता अभिप्रेत हो, तो वह तो प्रत्यक्ष विरोध है। चारों वेदों की एक ही भाषा है, अर्थात् वैदिक भाषा जो वैदिक भाषा की लौकिक संस्कृत आदि भाषाओं से विशेषता है, वह सब में अविशिष्ट है। यदि भाषाभेद से तात्पर्य भाषा

की कठिनता और सरलता से है, तो यह भी उचित नहीं, कठिन और सरल भाषा भी प्रायः सभी वेदों में पाई जाती है। इसी को उदाहरणों द्वारा सिद्ध करेंगे-पाश्चात्य ऋग्वेद के प्रथम मण्डल को सब से प्राचीन और अथर्ववेद को सब से अर्वाचीन मानते हैं। निम्न उद्धरणों से प्रतीत होगा कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की अपेक्षा अथर्ववेद की भाषा कठिन है—

(१) अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।
प्रदातुरस्तु चेतनम् (ऋग्वेद १।१३।११)

इस मन्त्र का अर्थ साधारण संस्कृत जाननेवाला भी कर सकता है। अर्थ इस प्रकार है—

(वनस्पते देव) हे वनस्पति देव (देवेभ्यो हविः अवसृजा) देवों के लिये हवि छोड। (प्रदातुरस्तु चेतनम्) दाता को ज्ञान प्राप्त हो, कितना सरल अर्थ है।

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र कितना कठिन है-
शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्॥
(अथर्ववेद २।२५।१)

इस मन्त्र का अर्थ करने में पण्डितों को भी समय लगेगा। इस प्रकार के और बहुत उद्धरण दिए जा सकते हैं, जिन्हें हम विस्तार के भय से नहीं लिखते।

और जो यह समझा जाता है कि भाषा का वैविध्य कर्ताओंकी अनेकताका अनुमापक है, यह भी ठीक नहीं- महा कवि श्री हर्ष का नैषधचरित काव्य प्रसिद्ध है। और इस का कर्ता भी एक है। उस के मैं नीचे दो उद्धरण देता हूं, जिन की भाषा में बहुत अन्तर है-

(१) उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्याः।
मोहमेति च मुहूर्तमहं यः।
ब्रूत वः प्रभविताऽस्मि रहस्यं।
रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः॥

इस श्लोक की भाषा कितनी सरल है-

(२) स्फुरद्धनुर्निस्वन तद्घनाशुग।
प्रगल्भवृष्टिव्यथितस्य संगरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परः शताः।
वितेनुरङ्गारमिवाऽयशः परे॥

इस की भाषा उस की अपेक्षा कितनी कठिन है। इस प्रकार भाषावैषम्य तो एककर्तृक सभी पुस्तकों में दृष्टिगोचर होगा।

अलंकारशास्त्र के नियमानुसार अर्थभेद से भी भाषाभेद हो जाता है। प्रत्युत ऐसा न करना दोष होता है। इसी नियम से वेदों में भी अर्थभेद से भाषाभेद हो गया है और वह उचित है। यदि यह कहा जाए कि कालिदासादि के ग्रन्थों में भाषाभेद होनेपर कुछ समानता होती है, जिस से यह प्रतीत होता है, कि इन का एक ही कर्ता है। परन्तु वेदों में यह बात नहीं, तो यह ठीक नहीं। हमें वेदों में भी भाषावैषम्य होनेपर भी एकता प्रतीत होती है।

इस से यह भी सिद्ध होता है, कि दशम मण्डल ऋग्वेद का परिशिष्ट नहीं है; क्योंकि पाश्चात्य विचारक ऐसी कल्पना भाषा की विषमता से ही करते हैं।

(२) प्रथम मण्डल से द्वितीय मण्डल अर्वाचीन है। इसमें एक यह भी युक्ति दी जाती है, कि सर्वानुक्रमणी में कहा है, कि द्वितीय मण्डल का ऋषि शौनक है, और शौनकीय ग्रन्थ को पाणिनिने 'शौनकादिभ्यः छन्दसि' (४।३।१०६) में शौनक-प्रोक्त कहा है, परन्तु यह युक्ति ठीक नहीं। प्रथम तो पाणिनि का सूत्र प्रोक्तार्थ में होता है और ऊपर सर्वानुक्रमणी में दृष्टार्थ है- 'द्वितीयं मण्डलमपश्यत्' ऐसा कहा है। 'द्वितीयं मण्डलमवोचत्' ऐसा नहीं कहा।

दूसरा शौनक दृष्ट होने से द्वितीय मण्डल शौनकसे पूर्व अविद्यमान था, ऐसी कल्पना करना भी ठीक नहीं। तीसरा 'वेद के ऋषि' प्रकरण में हमने बताया है, कि ऋषि का अर्थ कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, व्यक्ति-सामान्य है।

एक और भी बात है कि उपर्युक्त स्थलपर पाणिनि का अभिप्राय शौनक-शाखा से है और सर्वानुक्रमणी में द्रष्टा से; अतः दोनों का समन्वय करना उचित नहीं।

(३) ऋग्वेद का द्वितीय मण्डल अर्वाचीन है, इस में जो यज्ञादि सामग्री के प्रतिपादन को भी एक युक्ति कहा गया है, वह भी ठीक नहीं—

प्रथम तो अनादिकाल से आर्य यज्ञ करते आ रहे हैं। दूसरा होत्रादि पद द्वितीय मण्डल के उपर्युक्त मन्त्र से पूर्व न आए हों, यह बात भी नहीं, प्रथम मण्डल का सब से प्रथम मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्
होतारं रत्नधातमम् ॥ (ऋ० १।१।१)

इस में अग्नि-पुरोहित-ऋत्विग्-होता शब्द आए हैं, जो यज्ञ के साथ सम्बन्ध रखते हैं। स्वयं यज्ञ शब्द भी आया है- होत्रादि पद भी प्रथम मण्डल में निम्न स्थानोंपर आए हैं—

(क) होत्र १।७४।४ (ख) पोत्र १।७४।४
(ग) ब्रह्मा १।८।१ (घ) गृहपति १।१३।६

इत्यादि जो उपर्युक्त द्वितीय मण्डलके मन्त्रमें होत्र-पोत्र-ऋत्विग्-ब्रह्मा आदि शब्द हैं, वे सब प्रथम-मण्डल में भी विद्यमान हैं। अतः होत्रादि पदों के कारण द्वितीय मण्डल प्रथम मण्डल से अर्वाचीन है, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं। ऋग्वेद का दशम मण्डल परिशिष्ट नहीं, इसमें एक यह भी प्रमाण है कि ऋग्वेद को निरुक्तादि प्राचीन ग्रन्थों में दशतयी कहा गया है, जिस का अर्थ दश मण्डलात्मक ग्रन्थ ही है। पाश्चात्य विचारकोंका जो यह विचार है, कि सामवेद में प्रायः ऋचाएं अधिक हैं अतः ऋग्वेद के अनन्तर ही सामवेद उत्पन्न हुआ, यह भी ठीक नहीं। स्वयं ऋग्वेद में सामवेद का नाम आता है-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
(ऋ० १०।८।९)

अथवा इस के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, स्वयं वेद ही कह रहा है कि चारों वेद एक साथ उत्पन्न हुए हैं-

अथर्ववेद ११।७।२८ में-

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥

इस मन्त्र में स्पष्ट 'सह' शब्द आया है- जिससे यह स्पष्ट अर्थ प्रतीत होता है कि ऋक्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेद एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं।

ऋग्वेदादि के उच्चारणमें क्रम क्यों है।

इस पर एक प्रश्न हो सकता है कि यदि चारों वेद एक साथ ही ईश्वरद्वारा प्रकट हुए हैं, तो ऋग्वेद की प्रथमता क्यों है। जहां भी वेदों का नाम लिया गया है, वहां ऋग्वेद की प्रथमता है, प्रथम उच्चारण है। इस से तो स्वभावतः यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेदादि की क्रमसे उत्पत्ति हुई है, अतः इन को क्रम से उच्चारण करते हैं—

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व। ऋग्वेद का नाम सबसे प्रथम लिया जाता है, इस के लिये उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं-

(क) उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्र में 'ऋचः' ऋग्वेद का नाम सब से प्रथम लिया गया है।

(ख) यस्मादृचोऽपातक्षन यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

इस अथर्ववेद के मन्त्रमें भी चारों वेदों को उपर्युक्त क्रमसे ही कहा गया है।

(ग) 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थम्।' इस ब्राह्मणवचन में भी वेदों को नाम उपर्युक्त क्रम से ही रक्खा गया है।

(घ) दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः सामलक्षणम्।
इस मनुस्मृति के वचनमें भी वेदों को उपर्युक्त क्रमसे ही कहा गया है।

इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ऋग्यजुः सामाथर्व इस क्रम में ऋक् का प्रथम उच्चारण पाणिनि के 'अल्पाच्तरम्' इस नियम के अनुसार है। इस सूत्र का यह अर्थ है कि जिस पद में अच्-स्वर कम हो, उसका प्रथम उच्चारण करना चाहिये और ऋक् शब्द में एक ही अच् है, अतः अल्पाच्तर होने से उसी का प्रथम उच्चारण होता है।

ऋषि दयानन्द ने इस प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार से दिया है-

प्र०- किमर्थं ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथम-द्वितीयतृतीय-चतुर्थ संख्याक्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते।'

(उ०) न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत् संस्कारः प्रीतिश्च। न चाऽऽभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति तथा विना सुखाभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वाद् ऋग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति। एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्यं भवति। यजुर्वेद एतद्विद्या-प्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्ति इति बोध्यम्। तथा कर्म-ज्ञानकाण्डयोरुपासनायाश्च किमत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति साम-वेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यते इति। एवमेवाऽथर्ववेदस्ताप्यन्तर्गत विद्यानां परिशेष-रक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति। अतो गुण-ज्ञान-क्रिया-विज्ञानोन्नति-शेषविद्यारक्षणानां पूर्वापर सहभावे संयुक्तत्वात् क्रमेण ऋग्-यजुः सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति।

(ऋग्वेदा० भू० पृ० ३६९)

इस प्रकार ऋषि दयानन्द विज्ञान-कर्म-उपासनाज्ञान इन के क्रम से वेदों का क्रम मानते हैं।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी के विचार से एक और कारण से भी ऋग्वेद का प्राथम्य है- वे लिखते हैं—

'अपि वा पद्यगद्यगानात्मिकासु त्रिविधरचनासु तत्त्वतो गानरचना या एव ज्यायस्त्वेऽपि पद्यरचनायास्तदस्थिररूपत्वेन ततोऽपि गरीयस्त्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति रचनानियमाधीनमेव प्राधान्यमृचां बहुना आद्युल्लेखे निदानम्।

तदेवं सर्वत्रैवर्क् शब्दस्य प्रथम प्रयोग एव ऋग्वेदस्य सर्ववेदप्राथम्ये विनिगमकमिति तेषां मनोराज्यविजृम्भणमात्रम्। (निरुक्तालोचने)

इस प्रकार श्री सामश्रमी के मतानुसार पद्य-रचना, गद्य और गीतिरचनाओं से श्रेष्ठ होने से पद्यात्मक ऋग्वेद को प्रथम कहा जाता है। प्रथम उत्पन्न होने से नहीं। एक और भी बात है, यह कोई नियम नहीं कि सर्वत्र ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इसी क्रम से ही ग्रहण हो। इस से भिन्न क्रम भी प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार ऋग्वेद के-

(क) 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्'-इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने वेदों का यह क्रम रक्खा है, ऋग्-साम-अथर्व-यजुः।

(ग) 'यस्मिन्नृचः साम यजूंषि' इत्यादि वेद-मन्त्र में ऋक्-साम-यजुः इस प्रकार का क्रम कहा है। वास्तव में कौन वेद प्रधान है और कौन अप्रधान, इस सम्बन्धमें कोई निश्चित धारणा नहीं हो सकती। वेदों के सभी विषय एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं- अतः वेदों का क्रमिक उच्चारण उपर्युक्त पाणिनि के नियमानुसार ही है। अथवा आकस्मिक है- जिस प्रकार दालभातरोटी का क्रम आकस्मिक ही है। कोई विशेष प्रयोजन

नहीं। इसी लिये भिन्न प्रकार का भी क्रम प्राचीन शास्त्रों में मिलता है।

क्या ईश्वरीय ज्ञान समय समय पर दिया जाता है।

ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि आदि-सृष्टि में ज्ञान और भाषा ईश्वरीय ही होते हैं। आर्यधर्म को छोडकर अन्य धर्मावलम्बी यह मानते हैं, कि आदिसृष्टि में वेदज्ञान दिया गया। हम इस बात को मानते हैं, परन्तु ईश्वरीय ज्ञान उसी समय ही दिया जाता हो, ऐसी बात नहीं। आवश्यकतानुसार अन्य कालों में भी ईश्वरीय प्रेरणा हो सकती है। इसी सिद्धान्तानुसार मुसलमान यह मानते हैं कि, वेद-बाईबिल आदि सभी ईश्वरीय ज्ञान है, परन्तु आवश्यकतानुसार ईश्वरीय प्रेरणा से मुहम्मद साहब पर कुरान शरीफ का प्रकाश हुआ है और क्योंकि यह उन्नति के यौवन-काल में आविर्भूत हुआ है, अतः इस के बाद अन्य कोई ईश्वरीय ग्रन्थ प्रकट न होगा।

याज्ञिक मत।

ये विचार नूतन नहीं हैं। प्राचीन काल से एक याज्ञिक मत भी चला आ रहा है, जिस का सिद्धान्त है, कि आदिसृष्टि से समयानुसार भिन्न भिन्न ऋषियों पर ईश्वरीय ज्ञान प्रकट होता आ रहा है। इन लोगों का यह भी विचार है, कि वेदमन्त्रों के ऊपर जिन ऋषियों का निर्देश है, वे वही ऋषि हैं। जिनपर समय समय पर वेदों का आविर्भाव होता रहा है।, परन्तु याज्ञिक यह नहीं मानते हैं, कि कभी इस प्रकार की प्रेरणाओं का अन्त होता है इस प्रकार याज्ञिक यह मानते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान अभी पूर्ण नहीं है।

ऊपर जिस प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता कही गई है, उस की आवश्यकता सृष्टि के आदि में ही हो सकती है। अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान ईश्वरीय भाषा में ही आता है। इसके बाद तो मनुष्य अपने आप उन्नति कर सकता है।

जब ईश्वर पूर्ण है तो उसका ज्ञान भी पूर्ण ही होना चाहिये। यदि वह समय समय पर ही अद्भुत हो तो वह अपूर्ण ही होगा। इस पर एक प्रश्न किया जा सकता है, कि सृष्टि के आदि में जो मनुष्य उत्पन्न हुए वे ज्ञान में बालक के समान थे। उन्हें सब ज्ञान दे देना उचित नहीं जिस प्रकार सब कुछ जाननेवाला मास्टर भी एक साधारण शिष्य को उस के योग्य ही शिक्षा देता है। एक दम कालेज का कोर्स नहीं पढा देता, चाहे वह जानता, सभी कुछ है।

परन्तु हम तो इस बात को मानते ही नहीं, कि सृष्टि के आदि में जो मनुष्य थे, वे असभ्य थे। हम तो उन्हें ही सभ्यता की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ समझते हैं। भला जब ईश्वरद्वारा वेदों का ज्ञान ऋषि लोग सुनावें और उसका क्रियात्मक रूप करके दिखावें तब के मनुष्य किस प्रकार असभ्य हो सकते हैं। सृष्टि के आदि की राज्यव्यवस्था वर्णाश्रमव्यवस्था अर्थात् मनुष्य का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन एव आदर्श थे। सम्भव है तब के मनुष्योंको विमानादि विज्ञानों की आवश्यकता न हो क्योंकि विमानादि का आविष्कार तथा अधिक उपयोग युद्धादि के लिये ही होता है, परन्तु उस समय के मनुष्य इन सब विज्ञानों को सामान्य रूप से जानते, अवश्य थे, अर्थात् वे जानते थे कि अग्नि आदि देवों की भावना से विमानादि बन सकते हैं और क्योंकि वे आकाशादि से साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतः उन के निर्माण में पक्षी आदि की गतियों का ज्ञान परम आवश्यक है। कहा जा सकता है जब उस का उपयोग नहीं होता था तब वे जानते किस प्रकार थे, क्योंकि जानना तो प्रयोग के लिये ही होता है। परन्तु जो बात हम जानते हों, उसे प्रयोग में भी लाया जाय यह कोई आवश्यक नहीं है। एक वैज्ञानिक जानता है कि देसी गैसें तैय्यार

की जा सकती हैं, जो देश के देशको ही एक क्षण में नष्ट कर दें, परन्तु इतने से यह भी आवश्यक नहीं कि वह इस का प्रयोग भी करे, इत्यादि। अतः यदि सृष्टि के आदि येही पूर्ण ज्ञान दे दिया जाए तो कोई हर्ज नहीं। एक और भी बात है, एक ही बात बालक को भी बताई जा सकती है और विद्वान् को भी, परन्तु वे उसे अपनी अपनी योग्यता से विभिन्न रूप में समझते हैं। बालक को यदि कहा जाए कि सत्य बोलना धर्म है तो वह उसे आदेशवत् समझेगा, परन्तु एक विद्वान् इस पर युक्तायुक्तता का विचार करके ही निर्णय करेगा। इसी प्रकार इसी विषयों में ऐसा ही कहा जा सकता है।

एक और भी बात है, ईश्वर अपने ज्ञान का आविर्भाव अपनी ही भाषा में करता है, क्योंकि आदि सृष्टिकी भाषा भी अपौरुषेय ही होती है, यह बात भी तभी सम्भव है, जब कि ईश्वर का ज्ञान आदिसृष्टि में ही पूर्णरूप से दिया जाए, पीछे का ज्ञान किसी भाषा में ही दिया जा सकेगा और ऐसा होनेसे ईश्वर पर पक्षपात-दोष आरोहित होगा।

वैसे पवित्रात्माओं को जो भी स्फुरण होती है, वह ईश्वरीय प्रेरणा के बिना सम्भव नहीं, अतः उनका ज्ञान भी ईश्वरीय ही होगा; परन्तु इस प्रकार के ज्ञान में उस महात्मा के ज्ञान का भी अंश विद्यमान होता है। अतः ऐसा ज्ञान शुद्ध ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे महात्माओं का ज्ञान उस आदिकालीन अपौरुषेय ज्ञान की व्याख्या-मात्र होता है। इसी लिये ऋषि दयानन्दने कहा है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। हजरत मुहम्मद, महात्मा ईसा, महात्मा गान्धी आदि महापुरुषों को जो भी स्फूर्ति हुई है अथवा होंगी, वे सब वेदज्ञान की व्याख्या हैं। यह तो ठोस सत्य है कि कुरान आदि पुस्तकों में जो भी सत्य है, वह सब वेद में है। ऐसी कोई नई बात इन बाद की पुस्तकों में नहीं बताई जा सकती, जो वेद में न हो।

अतः ईश्वरीय ज्ञान समय समय पर नहीं दिया जाता, अपि तु आदि सृष्टिमें ही पूर्णरूप से दिया जाता है। इति।

क्या चाहता है ?

(ले०- श्री० दीवान महेशचन्द्रजी आर्य)

१-यदि मारना चाहता है तो विषयविकारोंको मार।
२-जीतना चाहता है तो इन्द्रियों को जीत।
३-खाना चाहता है तो अभिमान और क्रोधको खा।
४-पीना चाहता है तो मतिरस को पी।
५-पहनना चाहता है तो भलाई के लिबास को पहन।
६-देना चाहता है तो नीची दृष्टिसे दे और भूल जा।
७-जाना चाहता है तो पवित्र स्थानों को जा।
८-लेना चाहता है तो बडों का आशीर्वाद ले।
९-आना चाहता है तो निर्बल की सहायताको आ।
१०-तोबाह चाहता है तो बुराइयों और अत्याचारों से तोबाह कर।
११-बोलना चाहता है तो मीठा बोल।
१२-तोलना चाहता है तो बात को तोल और ठीक तोल।
१३-देखना चाहता है तो आदिकार और अनादिकार को देख।
१४-सुनना चाहता है तो ईश्वर की प्रार्थना और निर्बलों की आवाज सुन।
१५-रोना चाहता है तो बुरे आचार पर रो।
१६-हंसना चाहता है तो अपने पाप पर हंस।

वेदमन्त्रोंकी संख्याके विषयमें शङ्काएं।

(लेखांक २+)

(लेखक- श्री० प्रागजी डोसजी, कानोवार, लोलाडे और वाराहीवाले)

हमारा पूर्व लेखमें यजुर्वेद के विषय में हमारा १२ वा प्रश्न है "अनुवाक् ३०३ है या ३११ हैं"? इसका निर्विवाद प्रत्युत्तर अनुवाक् सूत्राध्याय से मिलता है। साथ उसके मंत्रसंख्या भी १९७५ की सिद्ध हो जाती है। तथापि वह "वाजसनेयि" संहिता के विषय में है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। वह इस प्रमाण है।

ॐ अथानुवाकान् वक्ष्यामि ब्रह्मणा निर्मितान् पुरा॥
शिष्याणामुपदेशाय यज्ञसंस्कार एव च ॥
विप्राणां यज्ञकालेषु जपहोमार्चनादिषु ॥ १ ॥

अर्थ- विप्रोंका यज्ञकाल में, जपहोमार्चनादि में, ऐसे शिष्यों को यज्ञसंस्कार का उपदेश के लिये आगे ब्रह्माने निर्माण किये हुए अनुवाक् को अब हम कहते हैं।

इषेत्वैका वसोः पवित्रं तिस्त्रोऽग्ने व्रतपते सप्तः पवित्रेऽस्थो द्वे शर्मासितिस्रो धृष्टिरसि शर्मासि द्वि कौ देवस्य त्वा तिस्रो देवस्य त्वा पञ्च प्रत्युष्टं रक्षस्तिस्रो दशैकस्त्रिंशत्॥

(१०।३१ ॥ १)

प्रथमाध्यायमें- १ इषे० इस मंत्रसें १ का, २ वसोः पवित्रं० मंत्रसे ३ का, ३ अग्ने व्रतपतेः० मंत्रसे ७ का, ४ पवित्रेस्थो ० मंत्रसे २ का, ५ शर्मास्य ० मंत्रसे ३ का, ६ धृष्टिरस्यपाग्ने० मंत्रसे २ का, १ शर्मास्य ० मंत्रसे २ का, ८ देवस्य त्वा० मंत्रसे ३ का, ९ देवस्य त्वा० मंत्रसे ५ का और १० प्रत्यष्टं रक्षः ० मंत्रसे ३ का, इस प्रमाण १० अनुवाकों में ३१ मंत्र हैं॥

(१०।३१।१)

कृष्णोसि षडग्ने वाजजित्तिस्रो मयीदमग्नीषोमस्योः पंचकावग्नेदब्धायो चतस्रः संवर्चसा पञ्चाग्नयेकव्यवाहनाय षट् सप्त चतुस्त्रिंशत् (७।३४।२)

दूसरा अध्याय में- १ कृष्णोऽस्या० से ६ मन्त्रों का, २ अग्ने वाजजिद्वाज मन्त्रसे ३ का, ३ मयीदमिन्द्र० मन्त्रसे ५ का, ४ अग्नीषोमयोः० मन्त्रसे ५ का, ५ अग्नेऽदब्धायो० मन्त्रसे ४ का, ६ संवर्चसा० मन्त्रसे ५ का और ७ अग्न ये कव्य वाहनाय० मन्त्रसे ६ का मीलकर ३४ मन्त्रों में ७ अनुवाक् है ॥ (७।३४।२)

समिधाग्निं भूर्भुवः स्वश्चतुस्कावग्निर्ज्योति द्वे उपप्रयंतः षड्विंशति भूर्भुवः स्वश्चतस्रो गृहामा तिस्रः प्रघासिनः पञ्च पूर्णा दर्वि द्वे अक्षन्नमीमदंत षडेषते सप्तदश त्रिषष्टिः (१०।६३।३)

तिसराअध्यायमें- १ समिधाग्निं० मन्त्र से ४ का, २ भूर्भुवः स्वः मंत्र से ४ का, ३ अग्निर्ज्योतिः मन्त्रसे २ का, ४ उपप्रयन्तो० मन्त्र से २६ का, ५ भूर्भुवः स्वः मन्त्र से ४ का, ६ गृहामा० मन्त्र से ३ का, ७ प्रघासिन० मन्त्र से ५ का, ८ पूर्णा दर्विं० मन्त्र से २ का, ७ अक्षन्नमीमदन्त० मन्त्र से ६ का और १० एष ते रुद्र० मन्त्र से ७ का मिलकर ६३ मन्त्रों में १० अनुवाक् हैं॥

एदं द्वे महीनां पयश्चतस्र आकूत्या ऋक्सामयोर्द्विकौ व्रतं कृणुते षडेषा ते चतस्रो वस्व्यसि तिस्र एष ते द्वे शुक्रं त्वा चतस्रोऽदित्यास्त्वमष्टौ दश सप्तत्रिंशत् (१०।३७।४)

चौथा अध्यायमें- १ एदं० मन्त्रसे २ का, २ महीनां पयः० मन्त्र से ४ का, ३ आकूत्यै० मन्त्र से २ का, ४ ऋक्सामयोः० मन्त्र से २ का, ५ व्रतं कृणुता० मन्त्र से

लेखांक १, वैदिक धर्म क्रमांक २१८ पृष्ठ १७१ पर देखिये।

६ का, ६ एषा ते शुक्र० मन्त्रासे ४ का, ७ वस्व्यस्य० मन्त्र से ३ का, ८ एष ते गायत्रो० मन्त्रा से २ का, ९ शुक्रं त्वा० मन्त्र से ४ का और १० अदित्यास्त्वगस्य० मन्त्र से ८ का मिलकर ३७ मन्त्रों में १० अनुवाक हैं ॥ १०।३७।४

अग्नेस्तनूरापतये चतुष्कौ तप्तायनीद्वे इन्द्रघोष· स्तिस्रो युंजतेष्टौ देवस्य त्वा चतस्रो देवस्य त्वा पञ्च विभूरसि चतस्रो ज्योतिरसि षडुरु विष्णो तिस्रो दशत्रिचत्वारिंशत् ॥

(१०।४३।५)

पञ्चम अध्यायमें- १ अग्नेरततूरसि० मन्त्रसे ४ का, २ आ पतये त्वा० मन्त्रसे ४ का, ३ तप्तायनी० मन्त्रसे २ का, ४ इन्द्रघोषस्त्वा० मन्त्रसे ३ का, ५ युञ्जते० मन्त्र से ८ का, ६ देवस्य त्वा० मन्त्रसे ४ का, ७ देवस्य त्वा० मन्त्रसे ५ का, ८ विभूरसि० मन्त्र से ४ का, ९ ज्योतिरसि० मन्त्र से ६ का और १० उरुविष्णो० मन्त्र से ३ से मिलकर ४३ मन्त्रों में १० अनुवाक् हैं।

देवस्य त्वा षडुपावीरसिपञ्चमाहिः षड सन्तेतिस्रः समुद्रं गच्छहविष्मतीर्द्विकी हृदे त्वा पञ्च देवस्य त्वाष्टावष्टौ सप्तत्रिंशत् ॥

॥ ८।३७। ॥ ६ ॥

षष्ठाध्याय में- १ देवस्य त्वा० मंत्रसे ६ का, २ उपावीरस्युप० मंत्रसे ५ का, ३ माहिर्भूमा० मंत्रसे ६ का, ४ सं ते मनो० मंत्रसे ३ का, ५ समुद्रं गच्छ० मंत्रसे २ का, ६ हविष्मतीरिमा० मंत्रसे २ का, ७ हृदे त्वा मनसे० मंत्रसे ५ का, और ८ देवस्य त्वा० मंत्रसे ८ का मिलकर ३७ मंत्रोंसे ८ अनुवाक् हैं।

(८। ३७। ६)

वाचस्पतयऽ उपयामगृहीतोसि त्रिकावावायो। यं वां द्विकौषावामेका तं प्रत्नथा च तस्रो यं वेनो वे देवास स्त्रिकाविन्द्रायमूर्धानं द्विकौ यस्त एकौ प्राणाय तिस्रो मघव इन्द्राग्नी आगतमाघौ मासश्चर्षणी धृतो विश्वेदेवासऽआगतेंद्र मरुत्वो मरुत्वतं वृषभं मरुता त्वौजसे सजोषा इन्द्रमरुत्वां इन्द्र महाँ इन्द्र एकैको दुत्यमष्टौ पञ्चविंशतिरष्टचत्वारिंशत् ॥ २५। ४६ ॥७॥

सप्तम अध्यायमें— १ वाचस्पतये० मंत्रसे ३ का, २ उपयामगृहीतो० मंत्रसे ३ का, ३ आ वायो भूष० मंत्रसे २ का, ४ अयं वां मित्रावरुणा० मंत्रसे २ का, ५ या वां कशा० मंत्रसे १ का, ६ तं प्रत्नथा० मंत्रसे ४ का, ७ अयं वेनो० मंत्रसे ३ का, ८ ये देवासो० मंत्रसे ३ का ९ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय० मन्त्रसे २ का, १० मूर्धानं दिवो मंत्र से २ का, ११ यस्ते द्रप्स मन्त्र से १ का, १२ प्राणाय मे० मंत्रसे ३ का, १४ उपयामगृहीतोऽसि मघवे० मंत्रसे १ का, १५ इन्द्राग्नी आगतं० मंत्रसे १ का, १६ आ घा ये० मन्त्रसे १ का, १७ ओमासश्चर्षणीधृतो० मंत्रसे १ का, १८ विश्वे देवासऽआगत० मंत्रसे १ का, १९ इन्द्र मरुत्वऽइह० मंत्रसे १ का, २० 'मरुत्वन्तं वृषभं०' मरुतांत्वौजसे, मंत्रसे १ का, २१ सजोषा इन्द्र० मंत्रसे १ का, २२ मरुत्वांऽइन्द्र० मंत्र से १ का, २३ महाँऽइन्द्रो नृवदा० मंत्रसे १ का, २४ महांऽइन्द्रो य० मंत्रसे १ का, और २५ उदु त्यं जातवेदसं० मंत्रसे ८ का, मिलकर ४८ मंत्रों से २५ अनुवाक् हैं। ×२५।४८।७

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यः पञ्च वाममद्य द्वे सुशर्मास्येकाष्टहस्यति सुतस्य द्वे हरिरसि च तस्रः समिन्द्र णोऽष्टौ माहिरेजतु दशमास्यः पंचका वातिष्ठ युक्ष्वा हीन्द्रमिदे कैका यस्मान्नद्वेऽग्ने पवस्वोतिष्ठन्न हश्रमुदुत्त्यमेकैकाजिघ्र द्वे वि न इन्द्र वाचस्पतिं विश्वकर्मन्नेकैकाग्नये त्वा च तस्त्र इहरतिस्तिस्रः परमेष्ठी दशत्रयोविंशतिस्त्रिषष्ठिः ॥ (२३।६३॥८॥)

अष्टमाध्यायमें- १ उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यः० मंत्रसे ५ का, वाम, मघ सवितर्वाममु० मंत्रसे २ का, ३ उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि० मंत्रसे १ का, ४ उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य० मंत्रसे २ का, ५ उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि० मंत्रसे ४ का, ६ समिन्द्र णो मनसा० मंत्रसे ८ का, ७ माहिर्भूमा० मंत्रसे ५ का, ८ एजतु दशमास्यो० मन्त्रसे ५ का, ९

× यद्यपि यहां २५ अनुवाक् लिखे हैं, तथापि २४ होते हैं। शुद्ध की आवश्यकता है।

आतिष्ठ० मन्त्रसे १ का, १० युक्ष्वा हि केशिना० मंत्रसे १ का, ११ इन्द्रमिद्धरी० मंत्रसे १ का, १२ यस्मान्न जातः० मंत्रसे २ का, १३ अग्ने पवस्व स्वपा० मंत्रसे १ का, १४ उत्तिष्ठन्नोजसा० मन्त्रसे १ का, १५ अदृश्रमस्य केतवो० मंत्रसे १ का, १६ उदुत्यं जातवेदसं० मन्त्रसे १ का, १७ आजिघ्र कलशं० मंत्रसे २ का, १८ वि न इन्द्र मृधो० मन्त्रसे १ का, १९ वाचस्पति विश्वकर्माणं० मंत्रसे १ का, २० विश्वकर्मन्हविषा० मन्त्रसे १ का, २१ उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा० मन्त्रसे ४ का, २२ इह रतिरिह० मन्त्रसे ३ का, और २३ परमेष्ठ्य मिधीतः० मन्त्रसे १० का मिलकर ६३ मन्त्रों से २३ अनुवाक् हैं ॥ (२३।६३।८)

देव सवितश्चतस्र इन्द्रस्य वज्रः पंच देवस्याहं दशापये तिस्रो वाजस्येममष्टावग्निरेकाक्षरेणैपते चतुष्कौ सविता द्वे अष्टौ चत्वारिंशत् । (८।४०॥९)

नवमाध्यायमें- १ देव सवितः० मन्त्रसे ४ का, २ इन्द्रस्य वज्रोऽसि० मन्त्रसे ५ का, ३ देवस्याहं सवितुः० मन्त्रसे १० का, ४ आपये स्वाहा० मन्त्र से ३ का, ५ वाजस्येमं प्रसवः० मन्त्रसे ८ का, ६ अग्निरेकाक्षरेण० मन्त्रसे ४ का, ७ एष ते निर्ऋते० मन्त्रसे ४ का और ८ सविता त्वा सवा० मन्त्रसे २ का मिलकर ४० मन्त्रोंसे ८ अनुवाक् हैं ॥ (८।४०॥९)

अपो देवाश्चतस्राः सोमस्यत्विषिः पंचविष्टाः सप्त सोमस्य त्वाचतस्र इन्द्रस्य वज्रः पंच स्योना सि चतस्त्रः सवित्रेकाश्चिभ्यामष्टौ चतुस्त्रिंशत् ॥ (८।३४॥ १०॥)

दशमाध्यायमें- १ अपो देवा मधु० मन्त्रसे ४ का, २ सोमस्य त्विषिरसि० मन्त्रसे ५ का, ३ अवेष्टा दन्दशूकाः० मन्त्रसे ७ का, ४ सोमस्य त्वा द्युम्ने० मन्त्रसे ४ का, ५ इन्द्रस्य वज्रोऽसि मन्त्रसे ५ का, ६ स्योनासि सुषदासि० मन्त्रसे ४ का, १ सवित्रा प्रसवित्रा० मन्त्रसे १ का और ८ अश्विभ्यां पच्यस्व० मन्त्रसे ४ का मिलकर ३४ मन्त्रों में ८ अनुवाक् हैं ॥ (८।३४॥२०)

युंजान एकादश प्रतूर्त्तं षोडश देवस्य त्वा दशापो देवीर्द्वादशापो ह्यष्टेकादशादितिष्ट्वा पंचाकूतिमष्टादश सप्तत्र्यशीतिः ॥ (७।८३ ॥ ११)

एकादशाध्याय में- १ युंजानः प्रथमं० मन्त्र से ११ का, २ प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव० मन्त्रसे १६ का, ३ देवस्य त्वा सवितुः० मन्त्र से १० का, ८ अपो देवीरुपसृज० मन्त्र से १२ का, ५ आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता० मन्त्रसे ११ का, ६ अदितिष्ट्वा देवी० मन्त्र से ५ का और ७ आकूतिमग्निं प्रयु० मंत्र से १८ का मिलकर ८३ मन्त्रों में ७ अनुवाक् हैं । (७।८३।११)

दृशानः सप्तदश दिवस्परिद्वादश समिधाग्निं पञ्चदशापेत सप्तदशाऽसुन्वन्तं त्रयोदश या ओषधीः सप्तविंशतिर्माभा षोडशसप्त सप्त सप्तदशं शतं ॥ (७।११७।१२)

द्वादशाध्याय में- १ दृशानो रुक्म० मंत्र से १७ का, २ दिवस्परि प्रथमं० मन्त्र से १२ का, ३ समिधाग्निं दुवस्यत० मन्त्र से १५ का, ४ अपेत वीत० मंत्र से १७ का, ५ असुन्वन्तमयज० मन्त्र से १३ का, ६ या ओषधीः पूर्वा० मंत्र से २७ का और ७ मा मा हिंसीज्जनिता० मंत्र से १६ का, मिलकर ११७ मन्त्र में ७ अनुवाक् हैं । (७।११७।१२)

मयि गृह्णामि पञ्चदश ध्रुवासि मधुवाता एकादशकौ सम्यक् स्रवन्ति नवेमं मा षडपां त्वैकाऽयं पुरः पञ्च सप्ताष्टापञ्चाशत् । (७।५८।१३)

त्रयोदशाध्याय में- १ मयि गृह्णाम्यग्रे० मंत्र से १५ का, २ ध्रुवासि धरुणास्तृता० मंत्र से ११ का, ३ मधु वाताऽऋतायते० मंत्र से ११ का, ४ सम्यक् स्रवन्ति सरितो० मंत्र से ९ का, ५ इमं मा हिंसीर्द्विपादं० मन्त्र से ६ का, ६ अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां० मंत्र से १ का और ७ अयं पुरो भुवस्तस्य० मंत्र से ५ का, मिलकर ५८ मंत्र से ७ अनुवाक हैं। (७।५८।१३)

ध्रुवक्षितिः षट् सजूर्ऋतुभिर्मूर्धा वयो द्विकाविन्द्राग्नि-आयुर्मे षट्कावाशुस्त्रिवृदेकाग्नेर्भागो स्येके या चतुष्कावष्टावेकत्रिंशत् ॥ (८।३१।१४)

चतुर्दशाध्यायमें- १ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनि० मन्त्रसे ६ का, २ सजूर्ऋतुभिः० मन्त्रसे २ का, ३ मूर्धा वयः प्रजापतिः० मन्त्रसे २ का, ४ इन्द्राग्नीऽअव्यथमा० मन्त्रसे ६ का, ५ आयुर्मे पाहि प्राणं० मंत्रसे ६ का, ६ आशुस्त्रिवृद्भान्तः० मंत्रसे १ का, ७ अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया० मंत्रसे ४ का और ८ एकयास्तुवत० मंत्रसे ४ का मिलकर ३१ मंत्रोंसे ८ अनुवाक् हैं ॥

(८।३१।१४)

अग्ने जातान् पंच रश्मिना सत्याय चतस्रो राड्यस्ययं पुरः पंचकावग्निर्मूर्धेकोनत्रिंशत् येन ऋषयोष्टौ तपश्च नव सप्त पंचषष्टिः ॥

(७।६५।१५)

पंचदशाध्यायमें- १ अग्ने जातान्प्रणुदा० मंत्रसे ५ का, २ रश्मिना सत्याय० मंत्रसे ४ का, ३ राड्यसि प्राची० मंत्रसे ५ का, ४ अयं पुरो हरिकेशः० मंत्रसे ५ का, ५ अग्निर्मूर्धा दिवः० मंत्रसे २९ का, ६ येन ऋषयस्तपसा० मंत्रसे ८ का और ७ तपश्च० मंत्रसे ९ का, मिलकर ६५ मन्त्रोंसे ७ अनुवाक् हैं ॥

(७।६५।१५)

नमस्ते षोडश हिरण्यबाहवऽउष्णीषिणे तक्षभ्यो ज्येष्ठाय पञ्चकाः स्रुत्याय च तस्रः शम्भवायै-कापार्याय पञ्चद्रापे अन्धसो विंशतिर्नव षट्-षष्टिः ॥ (९।६६।१६)

षष्टदशाध्यायमें- १ नमस्ते रुद्र मन्यवं० मन्त्रसे १६ का, २ नमो हिरण्यबाहवे० मन्त्रसे ५ का, ३ नम उष्णीषिणे० मंत्रसे ५ का, ४ नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च० मन्त्रसे ५ का, ५ नमो ज्येष्ठाय च० मन्त्रसे ५ का, ६ नमः स्रुत्याय च० मन्त्रसे ४ का, ७ नमः शम्भवाय च० मन्त्रसे १ का, ८ नमः पार्याय चावार्याय० मन्त्रसे ५ का और ९ द्रापे अन्धसस्पते० मन्त्रसे २० का, मिलकर ६६ मन्त्रोंसे ९ अनुवाक् हैं ॥ (९।६६।१६)

अश्मन्नूर्जंदश नमस्ते पञ्चाग्निस्तिग्मेन नव चक्षुषः पिताष्टावाशुः शिशानः सप्तदशोदेनं क्रमध्वमग्निना पञ्चदशकौ शुक्रज्योतिः सप्तेमं स्तन त्रयोदश नवैकोनशतम् ॥ (९।९९।१७)

सप्तदशाध्यायमें- १ अश्मन्नूर्जं पर्वते० मन्त्रसे १० का, २ नमस्ते हरसे० मन्त्रसे ५ का, ३ अग्निस्तिग्मेन शोचिषा० मन्त्रसे ९ का, ४ चक्षुषः० पिता मनसा० मन्त्रसे ८ का, ५ आशुः शिशानो वृषभो० मन्त्रसे १७ का, ६ उदेनमुत्तरां० मन्त्रसे १५ का, ७ क्रमध्वमग्निना० मन्त्रसे १५ का, ८ शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च० मंत्रसे ७ का और ९ इमं स्तनमूर्जस्वन्तं मंत्रसे १३ का, मिलकर ९९ मंत्रोंसे ९ अनुवाक् है ॥ (९।९९।१७)

वाजः सप्त शमेकमूर्क् चतुष्कां अश्माग्नि स्त्रिकांवंशुः पञ्चैका चतस्रो वाजायद्वे वाजस्य त्वष्टा वृताषाड् त्रयोदशाग्निं युनज्मि सप्त यदाकूताद्वात्रेहत्याय दशकौ त्रयोदश सप्त-सप्ततिः ॥ (१३।७७।१८)

अष्टादशाध्यायमें- १ वाजश्च मे प्रसवश्च मे० मंत्रसे ७ का, २ शं च मे मयश्च मे मन्त्रसे १ का, ३ ऊर्क च मे सूनृताश्च मे० मन्त्रसे ४ का, ४ अश्मा च मे मृत्तिका च मे० मन्त्रसे ३ का, ५ अग्निश्च मऽइन्द्रश्च मे० मंत्रसे ३ का, ६ अंशुश्च मे रश्मिश्च मे मंत्रसे ५ का, ७ एका च मे तिस्रश्च मे० मन्त्रसे ४ का, ८ वाजाय स्वाहा० मन्त्रसे २ का, ९ वाजस्य नु प्रसवे० मन्त्रसे ८ का, १० ऋताषाडृतधामा० मंत्र से १३ का, ११ अग्निं युनज्मि० मंत्र से ७ का, १२ यदाकूतात्समसुस्रो० मंत्रसे १० का और १३ वार्त्रहत्याय शवसे० मंत्रसे १० का मिलकर ७७ मंत्रसे १३ अनुवाक् हैं ॥(१३।७७।१८)

स्वाद्वीं त्वैकादश देवायज्ञं विंशतिः सुरा-वन्तं सप्तदशोदीरता त्रयोदशाच्या जानुर्दश सोमो राजाष्टौसीसेन तन्त्र षोडश सप्तपञ्च-नवतिः ॥ (७।९५।१९)

एकोनविंशाध्यायमें- १ स्वाद्वीं त्वा स्वादुना० मन्त्रसे ११ का, २ देवा यज्ञमतन्वत० मन्त्रसे २० का, ३ सुरावन्तं० मन्त्रसे १७ का, ४ उदीरतामवर०

मन्त्रसे १३ का, ५ आच्या जानु दक्षिणतो० मन्त्रसे १० का, ६ सोमो राजामृतं० मन्त्रसे ८ का और ७ सीसेन तन्त्रं मनसा० मन्त्रसे १६ का, मिलकर ९५ मन्त्रसे ७ अनुवाक् हैं ॥ (७।९५।१९)

क्षत्रस्ययो निस्त्रयोदश यदेवादशाभ्या दधाष्टौ यो भूतानां चतस्रः समिद्ध इन्द्र एकादशायात्वष्टौ समिद्धो अग्निर्द्वादशाश्विना हविस्त्रयोदशाश्विना तेजसैकादश नवनवतिः ॥ (९।९० ॥ २० ॥)

विंशवा अध्याम में- १ क्षत्रस्य योनिरसि० मंत्रसे १३ का, २ यद्देवा देवहेडनं० मंत्रसे १० का, ३ अभ्या दधामि० मंत्रसे ८ का, ४ यो भूतानामधिपति० मंत्रसे ४ का, ५ समिद्धऽइन्द्रउषसा० मन्त्रसे ११ का, ६ आ यात्विन्द्राऽवस०मन्त्रसे ८ का, ७ समिद्धोऽअग्निरश्विनो० मन्त्रसे १२ वा ८ अश्विना हविरिन्द्रियं० मन्त्रसे १३ का और अश्विना तेजसा चक्षुः० मन्त्रसे ११ का मिलकर ९० मंत्रोंसे ९ अनुवाक् हैं ॥

(९।९०।२०)

इमम्मे समिद्धो अग्निरेकादशकौ वसंतेन ऋतुना षट होता यक्षत्समिधाग्निं द्वादशाऽश्विनौ छागस्य सप्त देवं बर्हिश्चतुर्दश षडेक षष्ठिः ॥

(६।६१ ॥ २१ ॥)

एकविंशयाध्यायमें- १ इमं मे वरुण० मंत्रसे ११ का, २ समिद्धोऽअग्निः समिधा० मंत्रसे ११ का, ३ वसंतेनऽऋतुना० मंत्रसे ६ का, ४ होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदे० मंत्रसे १२ का, ५ होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया० मंत्रसे ७ का और ६ देवं बर्हिः सरस्वती० मन्त्रसे १४ का मिलकर ६१ मन्त्रोंसे २२ अनुवाक् हैं ॥ (२२।६१ ॥ २१ ॥)

तेजोसिपंचाग्नय एका हिंकाराय द्वे तत्सवितुर्दश विभूर्मात्रैकाकायद्वे आ ब्रह्मँस्त्रयोदश शेषादेकैकोनविंशतिश्चतुस्त्रिंशत् ॥

(१९।३८।२२)

बाविंशवाध्यायमें- १ तेजोऽसि शुक्रममृत० मन्त्रसे ५ का, २ अग्नये स्वाहा सोमाय० मंत्रसे १ का, ३ हिङ्काराय स्वाहा० मंत्रसे २ का, ४ तत्सवितुर्वरेण्यं० मंत्रसे १० का, ५ विभूर्मात्रा प्रभुः० मंत्रसे १ का, ६ काय स्वाहा कस्मै० मंत्रसे २ का और ७ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो० मंत्रसे एक एक मन्त्रका १३ मिलकर ३४ मंत्रोंसे १९ अनुवाक् हैं ॥ (१९।३४।२२)

हिरण्यगर्भो यः प्राणतोद्विकौ युंजंत्यष्टौ वायुष्ट्वा पंच प्राणायतिस्र उत्सक्थ्या द्वादश गायत्री कस्त्वा षट्कौकः स्विदष्टौ का स्विदसूभुशः स्वयम्भूस्तिस्र एकादश पंचषष्टिः ॥ (११।६५।२३)

त्रयोविंशतितमाध्यायमें- १ हिरण्यगर्भः समवर्त० मंत्रसे २ का, २ यः प्राणतो निमिषतो० मंत्रसे २ का, ३ युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं० मंत्रसे ८ का, ४ वायुष्ट्वा पचतै० मंत्रसे ५ का, ५ प्राणाय स्वाहापानाय० मंत्रसे ३ का, ६ उत्सक्थ्याऽअव गुदं० मंत्रसे १२ का, ७ गायत्री त्रिष्टुब् मंत्रसे ६ का, ८ कस्त्वा छ्यति कस्त्वा० मंत्रसे ६ का, ९ कः स्विदेकाकी चरति० मंत्रसे ८ का १० का, स्विदासीत्पूर्व० मंत्रसे १० का और ११ सूभुः स्वयम्भूः प्रथमो० मन्त्रसे ३ का मिलकर ६५ मन्त्रोंमें ११ अनुवाक् हैं ॥

(१९।६५।२३)

अश्वस्तू परो धूम्रान्वसंताय समुद्राय शिशुमारान्मयुः प्राजापत्यो दशकाश्चत्वारश्चत्वारिंशत् ॥ (४।४०।२४)

चतुर्विंशाध्यायमें-१ अश्वस्तू परो गोमृस्ते०२ धूम्रान्वसन्तायालभते०, ३ समुद्राय शिशुमारानालभते० और ४ मयुः प्राजापत्यऽउलो० इस चारों मन्त्रसे दश दश का एक एक अनुवाक् होनेसे सब मिलकर ४० मंत्रोंसे ४ अनुवाक् हैं ॥ (४।४० । २४)

शादं दद्भिर्नवैकैका हिरण्यगर्भश्चतस्र आ नोदश मा नो मित्रा यदश्वस्याष्टकौ यत्ते षडिमा नु कं द्वे पञ्चदश सप्तचत्वारिंशत् ॥

॥ १५।४७ ॥ २५ ॥

पञ्चविंशाध्यायमें- १-९ शादं दद्भिरवकां० मंत्रसे एक एक मंत्रसे एक एक, १० हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे० मंत्रसे ४ का, ११ आ नो भद्राः क्रतवो० मन्त्रसे १० का, १२ मा नो मित्रो वरुणो० मन्त्रसे ८

का, १३ यदश्वस्य क्रविषो० मन्त्रसे ८ का, १४ यत्ते सादे महसा० मन्त्रसे ६ का और १५ इमा नु कं भुवना० मन्त्रसे २ का मिलकर ४७ मन्त्रोंसे १५ अनुवाक् हैं ॥ (१५।४७।२५)

अग्निश्चपञ्चदशोच्चा त एकादश,द्वौ षड्विंशतिः॥
(२।२६।२६)

षड्विंशाध्यायमें— १ अग्निश्च पृथिवी० मन्त्रसे १५ का और २ उच्चाते जातमन्धसो० मन्त्रसे ११ का मिलकर २६ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥
(२।२६।२६)

समास्त्वादशोर्ध्वाऽअस्यपीवो अन्नाद्याशका—
वभित्वैकादश चत्वारः पञ्चचत्वारिंशत् ॥
(४।४५।२७)

सप्तविंशाध्यायमें- १ समास्त्वाग्न ऋतयो० मंत्रसे १० का, २ उर्ध्वाऽअस्य समिधो० मंत्रसे १२ का, ३ पीवोऽअन्ना रयिवृधः० मंत्रसे १२ का और ४ अभि त्वा शूर० मन्त्रसे ११ का मिलकर ४५ मन्त्रोंसे ४ अनुवाक् हैं ॥ (४।४५।२७)

होता यक्षदेकादश देवं बर्हिर्द्वादश पुनरप्येवं
चत्वारः षट् चत्वारिंशत् ॥ ४।४६ ॥ २८ ॥

अष्टाविंशाध्यायमें— १ होता यक्षत्समिधेन्द्र० मंत्रसे ११ का, २ देवं बर्हिरिन्द्रꣳ सुदेवं० मन्त्रसे १२ का इस प्रमाण ३ होता यक्षत्समिधानं० मन्त्रसे ११ का और देवं बर्हिर्वयोधसं० मन्त्रसे १२ का मिलकर ४६ मन्त्रोंसे ४ अनुवाक् हैं ॥ ४।४६ ॥ २८ ॥

समिद्धो अंजन्नेकादश यदक्रंदस्त्रयोदश समिद्धो
अद्यद्वादश केतुं कृण्वश्चतुर्विंशतिश्चत्वारः
षष्ठिः ॥ (४।६०।२९)

एकोनत्रिंशाध्यायमें— १ समिद्धोऽअञ्जन्कुदरं० मन्त्रसे ११ का, २ यदक्रन्दः प्रथमं० मन्त्रसे १३ का, ३ समिद्धोऽअद्य मनुषो० मन्त्रसे १२ का और ४ केतुं कृण्वन्नकेतवे० मन्त्रसे २४ का मिलकर ६० मन्त्रोंमें ४ अनुवाक् हैं ॥ (४।६०।२९)

देव सवितः षट् तपसे कौलालं षोडश द्वौ द्वा-
विंशतिः ॥ (२।२२।३०)

त्रिंशाध्यायमें— देव सवितः प्रसुवः० मन्त्रसे ६ का और २ तपसे कौलालं मायायै० मन्त्रसे १६ का मिलकर २२ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥ (२।२२।३०)

सहस्रशीर्षा षोडशाद्भ्यः संभृतः षड् द्वौ द्वाविंशति॥
(२।२२।३१)

एकत्रिंशाध्यायमें- १ सहस्रशीर्षा पुरुषः० मन्त्रसे १६ का और २ अद्भ्यः सम्भृत पृथिव्यै० मन्त्रसे ६ का मिलकर २२ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् है ॥ (२।२२।३१)

तदेव सप्त वेनस्तन्नवद्वौ षोडश ॥ (२।१६।३२)

द्वात्रिंशताध्यायमें- १ तदेवाग्निस्तदादित्य० मंत्रसे ७ का और वेनस्तत्पश्यन्निहितं० मंत्रसे ९ का मिलकर १६ मंत्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥ (२।१६।३२)

अस्या जरासः सप्तदशापश्चित् द्वादश विभ्राट्
चतुर्दश प्रवावृजे एकादश प्र वायु प्रवीरया पंच-
दशकावा नस्त्रयोदश सप्त सप्तनवतिः ॥
(७।९७।३३)

त्रयत्रिंशतितमाध्यायमें- १ अस्या जरासो दमामरित्रा० मंत्रसे १७ का, २ आपश्चित् पिप्युस्तयो मंत्र से १२ का, ३ विभ्राड् बृहत्पिबतु० मंत्रसे १४ का, ४ प्र वावृजे सुप्रया० मंत्रसे ११ का, ५ प्रवायुमच्छा० मंत्रसे १५ का, ६ प्र वीरया शुचयो० मंत्रसे १५ का और ७ आ नो यज्ञं दिविस्पृशं० मंत्रसे १३ का मिलकर ९७ मंत्रसे ७ अनुवाक् हैं ॥ (७।९७।३३)

यज्जाग्रतः पंच नद्यः सोमो धेनुमा कृष्णेन पूषन्तव
दशका न तदष्टौ षडष्टापंचाशत् ॥ (६।५८।३४)

चतुस्त्रिंशदाध्यायमें- यज्जाग्रतो दूरमुदैति० मन्त्रसे १० का, २ पंच नद्यः सरस्वतीमपि० मन्त्रसे १० का, ३ सोमो धेनुꣳ सोमो० मन्त्रसे १० का, ४ आ कृष्णेन रजसा० मन्त्रसे १० का, ५ पूषं तव व्रते वयं० मंत्रसे १० का और ६ न तद्रक्षाꣳसि न पिशाचा० मंत्रसे ८ का मिलकर ५८ मंत्रोंसे ६ अनुवाक् हैं ॥ (६।५८।३४)

अपेतोदशायं द्वादशद्वौद्वविंशतिः ॥ (२।२२।३५)

पंचत्रिंशाध्यायमें- १ अपेतो यन्तु पणयो० मन्त्रसे १० का और २ अपाघमप० मंत्रसे १२ का मिलकर २२ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥ (२।२२।३५)

ऋचं वाचं षोडश द्यौः शांतिरष्टौ चतुर्विंशतिः ॥
(२।२४।३६)

षट्त्रिंशाध्यायमें- १ ऋचं वाचं प्रपद्ये० मंत्रसे १६ का और २ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः० मंत्रसे ८ का मिलकर २४ मंत्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥
(२।२४।३६)

देवस्य त्वा दश यमाय त्वैकादश द्वविकविंशतिः ॥
॥ २।२१ ॥ ३७ ॥

सप्तत्रिंशाध्यायमें- १ देवस्य त्वा सवितुः० मंत्रसे १० का और २ यमाय त्वा मखाय त्वा० मंत्रसे ११ का मिलकर २१ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥
(२।२१।३७)

देवस्य त्वाष्टौयमाय त्वाक्षत्रस्य त्वादशकौ त्रयोऽष्टाविंशतिः (३।२८।३८)

अष्टविंशाध्यायमें- देवस्य त्व सवितुः प्रसवे० मंत्रसे ८ का, २ यमाय त्वाङ्गिरस्वते० मंत्रसे १० का और ३ क्षत्रस्य त्वा परस्पाय० मंत्रसे १० का, मिलकर २८ मंत्रोंसे ३ अनुवाक् हैं ॥ (३।२८।३८)

स्वाहा प्राणेभ्यः षडुग्रश्च सप्त द्वौत्रयोदश ॥
(२।१३।३९)

एकोनचत्वारिंशाध्यायमें- १ स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपति० मंत्रसे ६ का और २ उग्रश्च भीमश्च० से ७ का मिलकर १३ मंत्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥
(२।१३।३९)

ईशा वास्यमष्टावंधं तमो नव द्वौसप्तदश ॥
(२।१७।४०)

चत्वारिंशाध्यायमें- ईशा वास्यमिदं सर्व० मंत्रसे ८ का और २ अन्धं तमः प्रविशन्ति० मन्त्रसे ९ का, मिलकर १७ मन्त्रोंसे २ अनुवाक् हैं ॥ (२।१७।४०)

दशाध्याये समाख्याताऽनुवाकाः सर्वसंख्यया ॥
शतं दशानुवाकाश्च नवाख्ये च मनीषिभिः ॥ १ ॥

दश अध्यायोंमें अनुवाकों की सर्व संख्या शत दश और नव अनुवाक् मिलकर अर्थात् ११९ बुद्धिमानों ने कही है ॥ १ ॥

सप्तषष्ठिश्चितो ज्ञेया स्तोत्रेद्वाविंशतिस्तथा ॥
अश्व एकोनपंचाशत् पंचत्रिंशत्खिले स्मृता ॥ २ ॥

अग्निचयन के ८ अध्यायों में ६७ और स्तोत्रमणिके ३ अध्यायों में २२ जान लेना, इसी तरहसे अश्वमेध के ४ अध्यायों में ४९ और खिल के १० अध्यायों में ३५ है ।

शुक्रियेषु तु विज्ञेया एकादशमनीषिभिः ॥
एकीकृत्य समाख्यातं त्रिशतं अधिकं मतम् ॥ ३ ॥
इत्यनुवाक् सूत्राध्यायः ॥

शुक्रिय के ५ अध्यायों में बुद्धिमानों ने ११ अनुवाक् जान लेना, इसी प्रकार से सब मिलकर ३०३ अनुवाक् हैं ॥ ३ ॥

इस प्रमाण अनुवाकाध्याय कहा गया है। ऐसे पूर्वोक्त ३०३ अनुवाक् और १९७५ मंत्र वाजसनेयि संहिता में है, जो पूर्वोक्त कारिका से भी निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। पद, अक्षर और ॐकारकी संख्या मिलानी भी आवश्यक है। उनकी ओर भी शुद्ध मुद्रण के लिये देखना मुनासिब है।

सब अनुवाक् संख्या मिलाने के लिये पूर्वोक्त अनुवाकाध्याय के अर्थानुसार की तालिका हम यहां पेश करते हैं।

क्रमांक काण्ड	क्रमांक अध्याय	तालिका अनुवाकोंमें मंत्रसंख्या	अनुवाक्	मन्त्र
१	१	१, ३, ७, २, ३, २, २, ३, ५, ३,	१०	३१
	२	६, ३, ५, ५, ४, ५, ६,	७	३४
	३	४, ४, २, २६, ४, ३, ५, २, ६, ७,	१०	६३
	४	२, ४, २, २, ६, ४, ३, २, ४, ८,	१०	३७
	५	४, ४, २, ३, ८, ४, ५, ४, ६, ३,	१०	४३
	६	६, ५, ६, ३, २, २, ५, ८,	८	३७
	७	३, ३, २, २, १, ४, ३, ३, २, २, १, ३, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, ८,	२५	४८

क्रमांक काण्ड	क्रमांक अध्याय	तालिका अनुवाकोंमें मन्त्र संख्या	अनुवाक्	मन्त्र
	८	५, २, १, २, ४, ८, ५, ५, १, १, १, २, १, १, १, १, २, १. १, १, ४, ३, १०,	२३	६३
	९	४, ५, १०, ३, ८, ४, ४, २,	८	४०
	१०	४, ५, ७, ४, ५, ४, १, ४,	८	३४
	११	११, १६ १०, १२, ११, ५, १८,	७	८३
	१२	१७, १२; १५, १७, १३, २७, १६,	७	११७
	१३	१५, ११, ११, ९, ६, १, ५,	७	५८
	१४	६, २, २, ६, ६, १, ४, ४;	८	३१
	१५	५, ४, ५, ५, २९, ८, ९,	७	६५
	१६	१६, ५, ५, ५, ५, ४, १, ५, २०,	९	६६
	१७	१०, ५, ९, ८, १७, १५, १५, ७, १३,	९	९९
	१८	७, १, ४, ३, ३, ५, ४, २, ८, १३, ७, १०, १०,	१३	७७
	१९	११, २०, १७, १३, १०, ८, १६,	७	९५
	२०	१३, १०, ८, ४, ११, ८, १२, १३, ११,	९	९०
	२१	११; ११, ६, १२, ७, १४,	६	६१
	२२	५, १, २, १०, १, २, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १,	१९	३४
	२३	२, २, ८, ५, ३, १२, ६, ६, ८, १०: ३,	११	६५
	२४	१०, १०, १०, १०,	४	४०
	२५	१, १, १, १, १, १, १, १, १, ४, १०, ८, ८, ६, २,	१५	४७
	२६	१५, ११;	२	२६
	२७	१०, १२, १२, ११,	४	४५
	२८	११, १२, ११, १२,	४	४६
	२९	११, १३, १२, २४,	४	६०
	३०	६, १६,	२	२२
	३१	१६, ६,	२	२२
	३२	७, ९,	२	१६
	३३	१७, १२, १४, ११, १५, १५, १३,	७	९७
	३४	१०, १०, १०, १०, १०, ८,	६	५८
	३५	१०; १२,	२	२२
	३६	१६, ८,	२	२४
	३७	१०, ११,	२	२१
	३८	८, १०, १०,	३	२८
	३९	६, ७,	२	१३
	४०	८, ९,	२	१७
			३०३	१९७५

इस अनुवाकाध्यायसे वाजसनेयी संहिता के अनुवाक् और मन्त्रसंख्या मिलाई जाती है, जब पूर्वोक्त महानुभावने प्रकाश किए ३११ अनुवाक् और २०२१ मन्त्र सिद्ध नहीं होनेसे सम्भव है, कि वह काण्व-संहिता के होंगे । इस लिये अब काण्वसंहिता की ओर हम देखते हैं ।

काण्वसंहिता हमारी पास नहीं है और कहूं देखा भी नहीं है। तथापि भारतमुद्रणालयसे प्रकाशित "शुक्ल यजुर्वेद" के परिशिष्ट में प्रकाशित " काण्वशाखायां पाठ विशेष " के आधारसे हम उसकी तालिका यहां देते हैं ।

क्रमांक काण्ड	क्रमांक अध्याय	काण्व-तालिका अनुवाकोंमें मन्त्रसंख्या	अनुवाक्	मन्त्र
१	१	३, ४, ८, ४, ७, ४, ५, ४, ६; ५,	१०	५०
	२	९, ९, ११, ६, ८, १०, ७,	७	६०
	३	८, ८, २८, ७, ५, २, ६, ६, ६,	९	७६
	४	३, ४, २, ४, ९, ५, ४, ४, ६, ८,	१०	४९
	५	४, ८, २, ४, ९, ५, ६, ५, ७, ५,	१०	५५
	६	७, ८, ७, ५, ५, ३, ७, ८,	८	५०

क्रमांक काण्व क्रमांक अध्याय	काण्व-तालिका अनुवाकोंमें मन्त्र संख्या	अनुवाक्	मन्त्र
७	३, २, २, २, १, ५, ५, ४, २, ३, १, १, १, १, १, १, १, १, १ १, १, १,	२२	४०
८	३, १, १, १, १ ४, २, १, १, १, २, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, ४,	२२	३२
९	५, ९, ८, ४, ५, ६, ९,	७	४६
१०	६, ७, १३, ५, ८, ४,	६	४३
		१११	५०१
	द्वितीय दशके		
१	४, ४, ३, ६, ७, ६, ५, ६, २, ४,	१०	४७
२	११, १६, १०, १३, ११, ५, १९,	७	८५
३	१८, १२, १५, १७, १३, २५, १६,	७	११६
४	१५, १३, ११, ९, ६, १, १०,	७	६५
५	५, ३, ५, ३, ६, २, २, ५, ४,	९	३५
६	८, ७, १५, १०. ३०, ८, ७,	७	८५
७	१६, ५, ५, ५, ५, ५, ५, १८,	८	६४
८	१५, ९, ८, १७, १५, १५, ७,	७	८६
९	१२, ४, ४, ४, ३, ३, ५, ४, ४,	९	४३
१०	७, १३, ७, ९, १०,	५	४६
		७६	६७२
	तृतीय दशके		
१	११, २०, १९, २१, ५, १६, १४,	७	१०६
२	८, ८, ४, ११, ८, १२, १३, ११,	८	७५
३	१२, ११, ६, १२, ५, १४,	६	६०
४		२१	४७
५		१०	६७
६		८	४४
७		१५	४५
८	३, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १, १,	१२	१४
९	१०, १२, १०, ४, १२, २,	६	५०
१०	११, १२, ११, १२,	४	४६
		९३	५५४
	चतुर्थ दशके		
१	११, १२, १३, १२, १, १, १,	७	५१
२	१७, १२, १४, ११, १५, १५,	६	८४
३	२५, २१,	२	४६
४	८, ५, ५, ४,	४	२२
५	१६, ६, १२, २१,	४	५५
६	२४,	१	२४
७	१०, ३, ७,	३	२०
८	६, ८, २, १, १, २, १,	७	२७
९	१, २, १, १, १, १, १, १, ३,	९	१२
१०	१८,	१	१८
		४४	३५९
	समग्र	३२४	२०८६

इस प्रकार काण्वसंहिता में भी वह नहीं मिलते, इस लिये विशेष शोधन की आवश्यकता है। अनुवाक् में १३ का और मन्त्रों में ६५ का अन्तर है।

अब वेदों का शुद्ध मुद्रण के लिये श्रीमान् वेदज्ञ गुरुवर्यों को हम एक और बात का भी यहां विनय से निवेदन करना परमावश्यक मानते हैं।

श्री पण्डित तेजोनारायण पाण्डेय का " वेदोक्त व्याकरण " नामक लेख जो ' वैदिक धर्म ' के क्रमांक २१७ पृष्ठ ३८ में छपा है, उस को देखने से विदित होता है, कि " श्रीमान् पाणिनिय मुनिने अपना अष्टाध्यायी नाम व्याकरन में जो नियम चारों वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों को भी एक सा लागु हो सकता है, वह दर्शाये गये हैं, परन्तु विशेष नियम जो न्यारे न्यारे वेदों के लिए हैं वह सब चारों वेदों के न्यारे

न्यारे प्रातिशाख्य में प्रबोधित है, इस में षकार का स (ख) कार और य कार के स्थानों में से कितने हि स्थलों में य (ज) कार का उच्चार होता है" हमें आश्चर्य होता है कि यदि षकार, यकार का उच्चार भी संग्राह्य है, जब अजमेर के वैदिक यंत्रालय के मुद्रित वेदों में से इस का अनादर किया है और इन के सहारे से भारतमुद्रणालय में छपे शुद्ध मुद्रण में भी अनादर किया है, वह शोचनीय है। यदि प्रातिशाख्य के नियमों को यथातथ्य स्वीकार हो तो षकार, यकार, और जहां वर्णों को जोर से उच्चारने का विधान है, वहां संयुक्त (डबल जैसे की ज्ज आदि) उच्चारना है, वहां पूर्व प्रणालि के अनुसार षकार, यकार और संयुक्त वर्ण का मुद्रण होना चाहिए।

वेदव्याकरण (प्रातिशाख्य) का ज्ञान होने के लिए वह चारों प्रातिशाख्यों को भाषाभाष्ययुक्त वैदिक धर्म में सत्वर और निःशंक प्रकाश होना चाहिये। साथ साथ प्रतिज्ञासूत्र जो चारों वेदों के न्यारे न्यारे है, वह भी अवश्य प्रकाश होना चाहिये।

हमारे को मात्र यजुर्वेद का प्रतिज्ञासूत्र प्राप्त हुआ है, वह हम यहां यथाप्राप्त वैदिक धर्म के ग्राहकों को पठनपाठन के लिये रखते हैं। वह

अथ प्रतिज्ञामंत्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयं तस्मिञ्छुक्ले याजुषाम्नाये माध्यन्दिनीयके मन्त्रे स्वरप्रक्रिया ह्यनुदात्तो मूर्ध्न्युदात्तः श्रुतिमूले स्वरितः एवं जात्यादयोमिहिता ब्राह्मणेतूदात्तानुदात्तौ भाषिक स्वारौतानस्वराणि छन्दो वत्सूत्राणि ॥ १॥

अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्य हल संयुक्तस्य संयुक्तस्यापि रेफोन्त्याभ्यामृकारेण। चाविशेषेणादि मध्यावसानेषूच्चारणे जकारोच्चरणं द्विर्भावेप्येव मथपरातस्थया स्यायुक्तान्य हल संयुक्तस्योष्मऽऋकारैरेकारसहितोच्चारणमेवं तृतीया तस्थस्य क्वचिदकारस्य तु संयुक्ता संयुक्तस्या विशेषेण सर्वत्रैवमथन्त्यस्यान्तस्थाना पदादि मध्यान्तस्थस्य त्रिविधं गुरुमध्यमलघुवृत्तिभिरुच्चारणमथो मूर्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्यटुमृते संयुक्तस्य च खकारोच्चारण मध्ययनादि कर्म स्वर्थ वेलाया प्रवृत्या ॥ २ ॥

अथानुस्वारस्यं इत्यादेशः शषस हरेफेषु तस्य त्रैविध्यमाख्यातम् ॥ ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैर्दीर्घात्परो ह्रस्वो ह्रस्वात्परोदीर्घो गुरौ परे गुरुः परसवर्णोपरप्रकृत्या चान्यत्र विसर्गेष्वीषद्विरामः पदाद्यस्य संयुक्ताकारस्येषद्दीर्घता च भवतीषद्दीर्घता च भवतीति ॥ ३ ॥

इति कात्यायनप्रतिज्ञासूत्रं समाप्तम् ॥

इस प्रकार अन्य वेदों और शाखाओं के प्रतिज्ञासूत्र और प्रातिशाख्य वैदिक धर्म में प्रसिद्ध होने के लिये मेरी वेदज्ञ गुरुवर्यों से नम्र प्रार्थना है और उन के अनुसार शुद्ध मुद्रण होने के लिये श्री भारतमुद्रणालयाधिपति को भी मेरी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है।

॥ इति शम् ॥

तृतीय नियम।

(ले०- श्री० मनमोहन विद्याधरजी, प्रेमन्दिर, विजगापट्टम्)

वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेद का पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥३॥

[इस (शास्त्रयो नित्यात्) सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि] ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं। उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञ गुणयुक्त इन वेदोंको बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थ-विस्तार के लिये किसी जीव विशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनानेका सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक एक देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वरसे भिन्न सब विद्याओंमें पूर्ण कोई भी नहीं। किंव ईश्वरके बनाये वेदों के पढने, विचारने और उसीके अनुग्रह से मनुष्योंको यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं।... वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध होते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयं प्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा०, ३०१-३०२]

जैसा ईश्वर पवित्र सर्वविद्यावत् शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वरकृत अन्य नहीं और जिसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त है। जैसा ईश्वर का निर्भय ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त, जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है, वैसा ही ईश्वर सृष्टिकार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिस में होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, इस प्रकार के वेद हैं।

[स० प्र०,७ म समु०, द०ग्र०द्वि० भा०, ३१६]

इस लिये जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था व इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्र पुरुषों का काम है।

[८ म समु० द० ग्र० द्वि० भा० ३४४]

यह निश्चय है कि जहां जहां सत्य दीखता है और सुनने में आता है, वहां वहां वेदों में से ही फैला है और जो जो मिथ्या सो सो वेद से नहीं किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है।

[ऋग्वेदादि द०ग्र०द्वि० भा०पृ० ३२९-३३०]

जितनी सत्यविद्या संसार में हैं, वे सब वेदों से ही निकली हैं।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० ३६७]

जो वेद सत्य विद्याओंसे युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मंत्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्य विद्याओं के प्रकाश करनेवाले हैं।

[ऋग्वेदादि द० ग्रब द्वि० भा० पृ० ३५४]

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋग् संहितादि चार पुस्तक जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको वेद कहते हैं।

[आर्योद्दे० प्र० भा० द० ग्र० पृ० ९०१]

एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा (विद) सत्तार्थ है, तीसरे (विदॢ) का लाभ अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है।...तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है।...जिनके पढने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढके विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इस से ऋग्संहितादि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भसे आजपर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पडा है। [किसी देहधारी ने वेदों के बनानेवाले को साक्षात् कभी नहीं देखा...वेद निराकार ईश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते सुनाते ही आजपर्यन्त सब लोग चले आते हैं]

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ २८३]

वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है, कि वे स्वतंत्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं। ...उनका मंत्र नाम इसलिये है, कि उनसे सत्य विद्याओंका ज्ञान होता है।...श्रुति इसलिये कहते हैं कि उनके पढने, अभ्यास करने और सुनने से सब सत्य विद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं। ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का ज्ञान हो उसको निगम कहते हैं।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ३५६]

मंत्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वर-रचित और सब विद्याओं का मूल है।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ०३५७]

सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं कि इस प्रकार सर्व ज्ञानयुक्त शास्त्र (वेद) बना सके। वेदको पढनेके पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषिमुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं।...इन्हीं (वेदों) के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये। जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं।

[स० प्र०,द०ग्र०प्र०भा०,७ म समु०पृ० ३१९-३२०]

चारों वेदों (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिताभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूं, कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थकी अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य व प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद। और चारों वेदोंके ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताइस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और इनमें जो वेदविरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण मानता हूं।

[स्वमन्तव्या० प्र० भा० द० ग्र०, प्र० सं० २]

जो वेदों से विरुद्ध है, उसका अप्रमाण होता है और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।... वेद में तो केवल मनुष्यों को विद्या का उपदेश दिया है।

[स० प्र० ११ श समु० ९, पृ० २२६]

ईश्वर की कही हुई जो चारों मंत्रसंहिता हैं, वे ही स्वतःप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उन से भिन्न भी जो जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण होने के योग्य हैं। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त तथा सर्व-

शक्तिवाला है, इस कारण उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। ...वेदविषय में जहां कहीं भी प्रमाणकी आवश्यकता हो वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं।...जो जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण व स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते। क्योंकि वे तो अपने प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गए हैं वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मंत्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं और उन से भिन्न ऐतरेय शतपथादि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं वे परतःप्रमाण के योग्य हैं। [इस से आगे पृ० ६०२ से ६०४ तक परतःप्रमाण आर्ष ग्रंथों की सूचि दी है। इसी द० ग्र० द्वि० भा० की संस्कार-विधि पुस्तक के वेदारम्भ-संस्कार में परतःप्रमाण आर्ष ग्रन्थों का पुनः वर्णन है। देखो इसी पु० का पृ० ९९ से १०१ तक। इसी द० ग्र० प्र० भा की सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समुल्लास भी पृ० १५५ से १६१ तक द्रष्टव्य है]

[ऋग्वेदादि द० ग्र०, द्वि० भा० पृ० ६०२]

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इस लिये पढना चाहिये कि वे बडे विद्वान्, सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढे हैं और जिनका आत्मा पक्षपात-सहित है उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

[स० प्र० ३य समु०, द० ग्र० प्र० भा० पृ० १६०]

इनमें भी जो जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस उस को छोड देना क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

[स० प्र० ३ य समु०, द० ग्र० प्र० भा० पृ० १६?]

इन ग्रन्थों का (जो कि ऊपर गिनाये गये हैं) तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना, सुनना और पढना सब को उचित है, इन से भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती, क्षुद्रबुद्धि, कम विद्यावाले, अधर्मात्मा, असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्ति-, प्रमाणरहित हैं उनको स्वीकार करना योग्य नहीं

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ६०५]

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा०, पृ० ६०५ में ऋषि दयानन्द] मिथ्या ग्रन्थों के नाम लिखते हैं। ये सब वेद, युक्ति, प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इस लिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ६०५,६०६]

[स० प्र० ३ य समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १६० में ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि] अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है [अर्थात् जो जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वह वह जाल ग्रन्थ समझना चाहिये] ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ है।

[स० प्र० ३ य समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १६१]

कदाचित् इन (निषिद्ध) ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्यग्रन्थों में भी जो जो सत्य बात है उनका ग्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि जैसे अमृततुल्य अन्न में विष मिला हो तो उसको छोड देते हैं, क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इस लिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड देना अवश्य चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, बिना ज्ञान के

उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं ।

[,, ६०७ पृ]

इन ग्रन्थों में कुछ...थोडा सत्य तो है परन्तु इस के साथ बहुत सा असत्य भी है, इस से जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोडने योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं। (पृ० १६१)...जो जो उन में सत्य है वह वेदादि सत्यशास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्यशास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे छोड देना चाहिए जैसे विषयुक्त अन्न को।...वेद अर्थात् जो जो वेद में करने और छोडने की शिक्षा की है उस उस का हम यथावत् करना छोडना मानते हैं।...वेद हमको मान्य है, इस लिये हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को विशेष आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।

[स०प्र०३ य समु० द० ग्र० प्र० भा०पृ०१६१-१६२]

जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है जिसमें असत्य कुछ भी नहीं तो उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानि मात्र कर लेनी है।...भला वेदादि सत्य शास्त्रों को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा और आर्यावर्त की उन्नति भी कभी कर सकत हो? जिस देश को रोग है, उसकी ओषधि तुम्हारे पास नहीं।...अब भी समझ कर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो तो भी अच्छा है। जो तुम यह कहते हो कि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित होता है पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशित हुए सत्यार्थ वेदों को क्यों नहीं मानते।

[११ श समु० द० ग्र० प्रभा० पृ० ५२९]

जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहते हो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ।

[स० प्र० १२ श समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५७९]

इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोडों वर्ष राज्य किया।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ५५१]

पांच सहस्रों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। [स० प्र० ११ श समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३९९] उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था उसी में सब की निष्ठा थी। [स०प्र०१० म०समु०द०ग्र०प्र०भा०पृ०३९७] जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिश्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रूम और उनसे योरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है [स० प्र० ११ श द० ग्र० प्र० भा० पृ० ४०४] यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचरित हुए हैं।...सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।

[स० प्र० १२ श समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ४०५]

देखो! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है। इस बात में सब देश वालों के इतिहासों का प्रमाण है कि आर्यावर्त देश से मिश्र देश में और वहां से यूनान और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली हैं।

[सत्यधर्मविचार द० ग्र० प्र० भा० पृ० ८२८]

जिस बात में ये सहस्र एक मत हों वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित झूठ, अधर्म अग्राह्य है।

[स० प्र० ११ श समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५३५]

वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण कर्म स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके पढने पढाने से बोध हो सकता है। और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा पूरा हो सकता है जो वेदादि शास्त्रों को पढते हैं।

[स० प्र० १ म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ. १०६]

सब मनुष्य वेदों को पढपढा और सुनसुनाकर विज्ञान को बढा के अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूट कर आनन्द को प्राप्त हों।

[स० प्र०३ य समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १६५]

वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो।

[ऋग्वेदि द. ग्र. द्वि. भा. पृ. ४६१]

देवतावाद के विषयमें मेरी भूमिका।

आर्यमित्र वर्ष ४२, अंक २६ (ता ३० जून १९३८) के अन्दर दो तीन लेख 'वैदिक देवतावाद' विषयपर प्रकाशित हुए हैं, जिनमें मेरे नामका और मेरे मतका उल्लेख हुआ है। इन लेखोंमें मेरे मन्तव्यका विपर्यास किया है, इसलिये वैदिक देवतावाद के विषयमें जो मैं मानता हूं, उसको स्पष्ट करना आवश्यक हुआ है। इस तरह अपनी भूमिका का स्पष्ट शब्दोंमें स्पष्टीकरण करनेसे जो विद्वान् खण्डन या मण्डन करना चाहते हैं, उनको भी खंडनीय अथवा मंडनीय बात का स्पष्ट शब्दोंमें पता लग जायगा और व्यर्थ शब्दप्रयोग करने का प्रयोजन न रहेगा। अतः वैदिक देवतावादके संबधमें मैं अपना मंतव्य इस लेखमें लिखता हूं—

मेरा मन्तव्य।

वैदिक सूक्तोंमें प्रायः देवतावाचक शब्द स्पष्ट शब्दोंमें आते हैं, अर्थद्वारा निर्देश भी होते हैं, इनका नाम 'आदिष्ट देवताः मंत्राः' हैं, ऐसे सूक्तों और मंत्रोंके विषयमें देवताके संबंध में किसीको कोई संदेह उत्पन्न होना संभव नहीं है।

परन्तु कई ऐसे थोडे से सूक्त या मंत्र हैं, जिनमें स्पष्टतया देवतावाचक शब्द नहीं होता, इनको 'अनादिष्टदेवताः मंत्राः' कहते हैं, इनके विषय में किसी को संदेह हो सकता है, और इनके विषय में मतभेद भी हो सकता है।

इन दो प्रकारके मंत्रोंमें जिनका निर्णय स्वयं वेद कर देता है, उनके विषयमें वेद का स्वतःप्रमाणत्व मानकर वेदोक्त देवताका स्वीकार करना योग्य है। इन वेदोक्त देवताओंका अदलबदल करना किसी के भी अधिकार में नहीं है। रही बात दूसरे मंत्रोंकी। इनके विषयमें वेदकी अपेक्षा दूसरे दर्जे का प्रमाण ब्राह्मणआरण्यकादि ग्रंथोंका है, वह मानना चाहिये। ब्राह्मणारण्यकों में भी जिनका उल्लेख नहीं, उनका निर्णय करने के समय सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता वेदभाष्यकार आदि प्रमाणकोटी में आते हैं।

देवताविषयक निर्णय करने का प्रथम प्रमाण (१) वेद, दूसरा प्रमाण (२) ब्राह्मणारण्यक-ग्रंथ और तीसरा प्रमाण (३) सर्वाणुक्रमणी-बृहद्देवता-भाष्यकार आदि हैं।

यह बात मैंने अनेक वार 'वैदिक धर्ममें' तथा मेरे लेखोंमें अन्यत्र भी लिखी है, परंतु प्रतिपक्षी वारंवार लिखते हैं, कि "मैं सर्वानुक्रमणीकोही स्वतःप्रमाण मानता हूं।" ऐसा लिखनेमें उनका कुछ हेतु होगा, तो मुझे पता नहीं है। शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षका मत लेकर हि खण्डन करना योग्य है। जो ऐसा नहीं करेंगे, उनके लेखोंका उत्तर देनेकी मुझे आवश्यकता नहीं है।

जो देवता स्वयं वेदने बताये हैं, उनको बदलनेका किसी को अधिकार नहीं है, जो ब्राह्मणारण्यकों में दर्शाये हैं, उनको बदलनेका भी किसीको अधिकार नहीं है, क्योंकि ये भी इतने वेद को पास हैं कि उनका न मानना वैदिकधर्मीयों के लिये कठीन है। शेष बात रही सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता आदिकों की, उनके विषय में कोई आचार्य अपना मतभेद प्रकट कर सकते हैं। परंतु मेरे जैसे के लिये ये सब प्रमाणहि हैं, क्योंकि हम इन्हींके आधारपर चलनेवाले हैं, क्योंकि इनको हमारी अपेक्षा प्राचीन परंपरा अधिक ज्ञात थी। संपेक्षतः तात्पर्य यह है—

(१) वेदोक्त देवता अकाट्य और स्वतःप्रमाण हैं,

(२) ब्राह्मणोक्त देवता माननीय हैं,

(३) सर्वानुक्रमणी आदि सूत्रग्रंथोक्त देवता, पूर्वोक्त दोनों के विरुद्ध होनेपर अप्रमाण होंगे, अनुकूल या अविरुद्ध होनेपर प्रमाण होंगे।

(४) भाष्यकारों या आधुनिक अर्थ करनेवालों के देवता तो पूर्वोक्त तीनों प्रमाणोंसे परीक्षित होनेपर ग्राह्य या अग्राह्य ठहरेंगे ।

देवताविषयमें यह मेरी भूमिका और यही मेरा मन्तव्य है, जो इस समय तक कई वार प्रकाशित किया है, परंतु पं०ब्रह्मदत्तजी तथा उनके अनुगामी इसको न मानकर जो मैं कभी नहीं मानता, वही बात मेरे ऊपर लगाकर खूब शास्त्रार्थ कर रहे हैं। वे वैसा करें और अपनी खूब प्रतिष्ठा बढावें, मुझे उनके साथ कोई ईर्ष्याद्वेष नहीं है।

किसी बातका निश्चय करना हो, तो प्राचीन परिपाठी क्या है, वह पहिले देखनीहि चाहिये । यदि किसीको नया देवतावाद वैदिक सूक्तों पर लगाना हो तो वह कहे कि मेरा नया देवतावाद है। लोग उसका उस प्रकारसे विचार करेंगे । परंतु मेरा विचार ऐसा है, वेद के ऊपर अपने विचारोंका भार न डाला जाय, तो उसके स्वतःप्रामाण्य का महत्त्व स्थिर रहेगा ।

मैं जो शास्त्रार्थ करूंगा, तो मेरे उक्त प्रकार प्रमाण रहेंगे। जो मेरा खण्डन करना चाहते हैं, वे इस मेरी भूमिका को ठीक प्रकार समझ कर मेरा खण्डन करें ।

पं० परमानन्दजीका मत ।

पं० परमानन्दजीने इसी आर्यमित्रांकमें वैदिकदेवताके संबंधमें अपना मत प्रकाशित किया है । यह लेख सत्यासत्यनिर्णय के लिये अच्छा है । आपने इस लेख में पं० शिवशंकरजी का मत दिया है—"जिस पदार्थ का वेदों में वर्णन होता है, वही पदार्थ देवता नामसे पुकारा जाता है। अर्थात् प्रतिपाद्य विषय देवता है।" यह पं० शिवशंकरजीका मत है । यह थोडासा अधूरा है। यदि यही वाक्य निम्नलिखित प्रकार परिवर्तित किया जाय, तो देवता की व्याख्या परिपूर्ण हो सकेगी—"वेदोंमें जिस वस्तु का जिस नामसे वर्णन होता है, वह उसकी देवता है और वहां वही नाम उस देवता का समझना चाहिये, दूसरा नहीं।"

जैसा 'अग्निमीळे पुरोहितं' इस मंत्रमें अग्नितत्त्वका वर्णन 'अग्नि' शब्दसे हुआ है,इसलिये यहां अग्नितत्त्व देवता है और उसका व्यवहार 'अग्नि' शब्दसे ही होना चाहिये। वह्नि, जातवेदा, वैश्वानर आदि शब्दोंसे इस मंत्रका देवता बोला नहीं जायगा । पर्यायशब्द भी देवता के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता, फिर पं० ब्रह्मदत्तजी का जो कहना है, कि देवता अर्थ करनेवाले की इच्छा से बदले भी जाते हैं, वह तो कौन वैदिकधर्मी मान सकता है ?

और यदि पं० ब्रह्मदत्तजीका यह मत कि मंत्रोंके देवता अर्थ करनेवाले की इच्छासे बदले जाते हैं, यह किसी समय माना जायगा, तो वेद के किसी मंत्र या सूक्त के देवता के विषय में कोई निश्चय ही नहीं रहेगा, मनमाने देवता फैलेंगे और जो अनर्थ होंगे, उनकी कल्पना करना भी आज कठिन है और यदि पं० ब्रह्मदत्तजी का सचमुच मत यह है, कि अर्थ करनेवाले की इच्छानुसार देवता बदलते हैं, तो फिर ऋषि दयानंदजीने जो देवता अपने भाष्यमें लिखे हैं, उनको भी वहां स्थिर किस तरह माना जा सकता है? क्या ऐसा कभी माना जा सकता है कि वेद–ब्राह्मण-सूत्रोक्त देवता तो दिल चाहे, वैसे बदल सकते हैं, परन्तु पं० ब्रह्मदत्तजीके देवता कदापि नहीं बदले जायगे और स्थिर रहेंगे और जो उनको नहीं मानेगा, वह बहिष्कृत हो जायगा! कोई ऐसा मानना चाहें तो माने, परंतु एक बार पं० ब्रह्मदत्तजी का चञ्चल देवतावाद माना जाय,तो स्वा० दयानन्द महाराजजी का देवता भी उसी पं० ब्रह्मदत्तजी के मतसे बदलनेवाला साबित होगा और उसका वही परिणाम होगा, जिससे पं० ब्रह्मदत्तजी अपने संघको बचाना चाहते हैं।

पं० परमानन्दजीने अपने मननीय लेखमें पूछा है, कि 'यदि उपासककी इच्छासे देवता माने गये,तो फिर निश्चित देवता मानना यह एक रूढिवाद हो जायगा।' इसका विचार विस्तारसे शास्त्रार्थ के समय होगा। यहां इतनाही कहना पर्याप्त है, कि अनिश्चित देवता मानने से निश्चित मानना ही योग्य है। जो 'कामदेवता' निरुक्तकारने एक पक्ष लिखा है, वह उनके समय का एक पक्ष है। नैरुक्त, आध्यात्मिक्य तथा याज्ञिक उसको कभी मानते नहीं थे, क्योंकि उससे वेदका स्वतःप्रामाण्य मारा जा सकता है। यदि आज यह 'कामदेवता'वाला भयानक पक्ष स्वीकारा जाय, तो वेदमेंसे कौनसा देवता निकलेगा और कौनसा नहीं इसका कोई निर्बंध नहीं रहेगा । 'कामदेवता' वाले पक्षने इससे पूर्व बहुत अनर्थ किया था, जिसको पुनः संचालित

करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिये स्वयं निरुक्तकारने 'अपि वा' ऐसा कहकर ऐसा आपत्काल आ गया, कि जहां एकाध मंत्रका देवता वेदब्राह्मणादिकोंसे या प्रत्यक्ष लिंगसे निश्चित नहीं हो सकता, अर्थलिंगसे भी नैरुक्त देवता निश्चय नहीं कर सकते, यज्ञ लिंगसे भी देवता निश्चय नहीं होता, तो वैसे भयानक आपत्कालमें (अपि वा कामदेवता स्यात्) ऐसे भयंकर अनवस्था-प्रसंग में अपनी इष्ट देवता मानकर कार्य चलाना योग्य है। जहांतक मैंने वेद देखे हैं, वहांतक मुझे कोई ऐसा मंत्र नहीं मिला है कि जहां शब्द-अर्थ-निरुक्ति-यज्ञ या अध्यात्मलिंग से देवता निश्चय न होता हो, और 'काम-देवता' का स्वीकार करके ही देवता निश्चय करनेकी आवश्यकता हो जाय। इसलिये पं० परमानंदजी का यह कथन स्वयं वेहि इतना माननयि नहीं मानेंगे।

यदि वेदके देवता, छन्द और शब्दार्थ निश्चित नहीं है, तो वेदका स्वतःप्रामाण्य किस तरह रह सकता है ? वेद के देवता, छन्द और अर्थ निश्चित हैं और उनकी सिद्धता वेदके अन्दरके प्रमाणोंसे हो सकती है, इस कारण उनका स्वतःप्रमाण्य सिद्ध होना संभव है। और ये अन्तर्गत प्रमाण एकत्रित करना, उनका कार्य है, जो वेदको स्वतःप्रमाण मानते हैं। परंतु यहां हम देख रहे हैं, कि वेदको स्वतः-प्रमाण माननेवालेहि अन्तर्गत प्रमाणोंका संग्रह एकत्रित करनेवाले के कार्यका विध्वंस करके देवता, छंद और अर्थ मनमाना बदलता है, ऐसा बोलते हैं और अपनेहि प्रधान मन्तव्य का खण्डन करके गौण मन्तव्यका समर्थन करते हैं !!

पं० जयदेव शर्माजी का मत।

इसी 'आर्यमित्र'में पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, चतुर्वेदभाष्यकारने मेरे लेखके खण्डन करनेके लिये एक विस्तृत लेख लिखा है। मैं समझता था, कि ऐसे लेख केवल पं० ब्रह्मदत्तजीहि लिख सकते हैं, परंतु अब मालूम हुआ, कि पं० जयदेव शर्माजीभी ऐसे लेख लिख सकते हैं !

आपने अपने प्रमाण देते हुए यह भी लिखा कि –'मैं कहता हूं कि मेरी सूची में ऐसा लिखा है।' (पृ० ११) जब अपनी सूचियां प्रमाणरूपमें पेश होने लगीं, तब समझना चाहिये, कि शास्त्रवचन दूर हुए और अपने पोथे प्रमाण माननेका मौका आ गया। यही वादका अन्त है। इसी तरह 'सारस्वत व्याकरण' एक ही रातमें नया बनाया गया था !

मैं तो सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि को तृतीय स्थान में प्रमाण मानता हूं, यह इससे पूर्व इसी लेख में दर्शाया है। इसलिये सर्वानुक्रमणी रही या गयी, तो मुझे उसका दुःख वा आनन्द नहीं है, परंतु ये पं० जयदेव-शर्माजी इस लेख में जिस तरह इन ग्रंथोंको रगड रहे हैं, उसी तरह इनके वेद-भाष्य देखे जांयगे, तो उनसे क्या सिद्ध होगा, यह भी देखने योग्य है।

पं० जयदेवशर्माजीने यजुर्वेदभाष्य प्रकाशित किया है, उसकी देवतायें और ऋषि दयानन्दजीलिखित ऋषि-भाष्य की देवताएं आपसमें मेल खातीं हैं या टक्कर खातीं हैं, यह एक वार पं०जयदेवशर्माजी स्वयं देख लें। यजुर्वेद-प्रथमाध्यायकी दोनोंकी देवताएं हम नीचे देते हैं—

यजुर्वेद की देवताएं।

प्रथम अध्याय।

मंत्रांक	स्वा० दयानन्दजी-दर्शित।	पं०जयदेवशमर्माजीद्वारा दर्शित।
१	सविता	शाखा, वायुः, इन्द्रः सविता।
२	यज्ञः	वायुः, उखा, यज्ञो वा सविता।
३	सविता	वायुः, पयः, प्रश्नः, सविता।
४	विष्णुः	गौः, इन्द्रः विष्णुः।
५	अग्निः	अग्निः।
६	प्रजापतिः	स्रुक्, शूर्पः, प्रजापतिः।
७	यज्ञः	रक्षोघ्नं ब्रह्मज्ञो वा।
८	अग्निः	धूः, अनः, अग्निश्च।
९	विष्णुः	अनो व्रीहियवादयो रक्षो हविर्विष्णुश्च।
१०	सविता	अग्नीषोमौ सविता च।
११	अग्निः	हविः, सूर्यगृहहव्यानि अग्निश्च।
१२	अप्सरसौ	पवित्रे आपः सविता च।
१३	इन्द्रः, अग्निः यज्ञः	अग्नीषोमौ पात्राणि इन्द्रश्च यज्ञो वा।

१४	यज्ञः	यज्ञः ।
१५	,,	हविर्मुसलं वाक् पत्नी च यज्ञो वा ।
१६	वायुः	वाक् शूर्पं हवी रक्षः तण्डुलाश्च वायुः सविता च ।
१७	अग्निः	उपदेशः कपालानि अग्निश्च ।
१८	अग्निः (सर्वस्य)	अग्निः ।
१९	,,	अग्निः दृषत् शम्या उपलाश्च ।
२०	सविता	हविः सविता आज्यं च ।
२१	यज्ञः (सर्वस्य)	हविरापो यज्ञो वा ।
२२	यज्ञः, अग्निसवितारौ	हविराज्यं पुरोडाशः प्रजापतिसवितारौ ।
२३	अग्निः	पुरोडाशः त्रितद्वितैकताः अग्निर्वा ।
२४	द्यौविद्युतौ	सविता स्फ्याश्च द्यौर्विद्युतौ ।
२५	सविता	वेदिः पुरीषं सविता च ।
२६	,,	असुरो वेदिः सविता च ।
२७	यज्ञः	विष्णुर्वेदिः यज्ञो वा ।
२८	,,	चन्द्रमाः प्रैषः सस्यः यज्ञो वा।
२९	यज्ञः (सर्वस्य)	रक्षः स्रुचौ यज्ञो वा ।
३०	यज्ञः	योक्त्रं आज्यं यज्ञो वा ।
३१	यज्ञः (सर्वस्य)	अपः आज्यं यज्ञो वा ।

इन देवताओंको देखनेसे पता लगेगा, कि पं० जयदेव शर्मा अपने भाष्यमें स्वामिजीदर्शित देवताओंकी अपेक्षा अधिक देवताएं मानते हैं । ये देवताएं ऊन्होंने यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणीसे हि ली हैं । जो अपने भाष्य करनेके समय सर्वानुक्रमणीकी देवतायें स्वीकारते हैं वे ही 'आर्य-मित्र'के लेखमें अपने मतके विरुद्ध लिख रहे हैं!!

पं० जयदेव शर्माजीसे निवेदन है, कि वे अपना लेख लिखनेके समय अपने भाष्यके ग्रंथ अपने सामने रखें अथवा अपने भाष्यका संशोधन पहिले करें और पश्चात् लेख लिखें ।

मै पं० जयदेव शर्माजी के भाष्यका विरोध नहीं करना चाहता। उन्होंने भाष्य करके बडा उपकार किया है, ऐसा मेरा मत है, परंतु भाष्य करनेके समय जो उनकी शुभ बुद्धि थी, वहीं बुद्धि इन लेखोंके लिखनेके समय रहेगी तो अधिक अच्छा होगा ।

इससे अधिक इस समय लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। भाष्य करनेके समय सर्वानुक्रमणी का स्वीकार करनेवाले जब आर्य-मित्रके लेखके समय उसीका तिरस्कार करते हैं तब विचार आता है, कि क्या इसी तरह यह शास्त्रार्थ चलनेवाला है ? और यही पण्डिताई है?

मैं यहां कहना चाहता हूं, कि यह कठीनता केवल पं० जयदेव शर्माजी के ही सामने नहीं है, जो भी कोई विद्वान् वेदविषयक अन्वेषण करेगा, खोज करेगा, कुछ ग्रंथ लिखेगा, उसको इसी किश्तीमें खडा होना पडेगा। जो गुरुकुलोंके स्नातक वेदान्वेषण के कार्यमें नहीं लगते और कपडों का या दूसरा दुकान खोलते या दूसरा ही कार्य करते हैं, वे अच्छे हैं । पं० जयदेव शर्माजीने वेदभाष्य किया इसलिये मेरेसे पूर्व हि आप उसी किश्तीमें खडे हो चुके हैं और मुझे भी उसमें खडा होनेका कारण ही यह है, कि मैंने शुद्ध वेदोंका मुद्रण करनेका कार्य किया है। जितने लोगोंने खोज करना चहा, उनको दूर होना ही पडा है और जब तक पं० ब्रह्मदत्तवाले कट्टर पंथियों की भीड रहेगी तब तक ऐसाही होगा !

मैं क्या करना चाहता हूं ।

यहां मेरा उद्देश्य क्या है, इस का उल्लेख करना अयोग्य न होगा। मैं चारों वेदोंका तथा सब शाखासंहिताओंका और ब्राह्मण आरण्यकग्रंथोंका शुद्ध, सस्ता और सुंदर मुद्रण करना चाहता हूं और लागत के मूल्यसेहि जनतातक पहुंचाना चाहता हूं । इसका कारण यह है, कि जबतक ये सब ग्रंथ शुद्ध छपे नहीं मिलेंगे, तबतक वेदविद्याका अन्वेषण होना असंभव है।

ये सब ग्रंथ किस तरह शुद्ध छापे जांयगे यह प्रश्न है। इसकी विधि यह है। (१) प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ, (२) मुद्रित ग्रंथ, (३)परंपरासे कण्ठ करनेवाले घनपाठी विद्वान्, इनके संमेलनसे आजभी वेदोंका शुद्ध पाठ छापा जा सकता है । इसी तरह ऋग्वेद और यजुर्वेद छापा गया है। इसमें दृष्टिदोषसे कुछ अशुद्धियां रहीं होंगीं, तो उनको दूर करनेके लिये मैंने बीस से अधिक वेद-पाठशालाओंमें ये वेदके दोनों पुस्तक अशुद्धि दर्शाने की स्पर्धाके लिये रखे और वृत्तपत्रोंमें भी घोषित किया, कि प्रति अशुद्धिके लिये

एक रु० पारितोषिक मिलेगा, अर्थात् जिसकी जो अशुद्धि प्रथम आवेगी, उसको उस अशुद्धिके लिये वह पारितोषिक मिलेगा। इस तरह बीस वेदपाठशालाओंके विद्वान् इन अशुद्धियोंकी खोज कर रहे हैं।

इस स्पर्धामें संमिलित होकर अथवा विनापारितोषिक की लालचके केवल वेद को शुद्ध छापनेकी सहायता करने की निष्काम सेवा की इच्छासे पं० ब्रह्मदत्तजी, पं० कालीचरणजी, पं० परमानन्दजी, पं० जयदेवशर्माजी तथा भारतवर्षके सब आर्य प्र० सभाओंके तथा सार्वदेशिक सभाके उपदेशक और अन्य विद्वान् अशुद्धियां दर्शानेकी सहायता करेंगे, तो उन अशुद्धियों का स्वीकार करनेमें मुझे कोई आग्रह नहीं रहेगा।

इसी तरह पं० जयदेवशर्माजीने तथा श्रीस्वामी वेदानन्दतीर्थजीने पहिले सहायता की भी थी। इस तरह यदि सब वेद शुद्ध हो जायंगे, तो जिन पृष्ठोंमें अशुद्धियां होंगी, उन पृष्ठोंकी शुद्ध प्रति तैयार करके सब पृष्ठोंके ब्लाक बनाये जांयगे। एक वार इस तरह शुद्ध ब्लाक बनाये जायंगे, तो उनसे सस्तेसे सस्ती छपाई होने में सुविधा होगी और आज जो हम चारों वेद ५) में भी नहीं दे सकते, वेहीं ब्लाक बननेपर ३) में भी दे सकेंगे।

इसलिये यदि पं० जयदेवशर्मा अथवा दूसरे कोई अशुद्धियां खानगी दर्शाने के स्थानपर अखबारोंमें दर्शायेंगे तो भी उससे मुझे कोई हर्षशोक न होगा। जो उस लेख से ग्राह्य अंश होगा, उतना मैं ले लूंगा, शेष लेख उनका उनके पास होगा।

ग्रंथ शुद्ध छापनेकी यही रीति सर्वत्र बर्ती जाती है। युरोप में बाइबल आदि ग्रंथ इसी तरह फी अशुद्धि १५) रु० देकर भी स्पर्धा लगाई जाती है, तब वे ग्रंथ इतने शुद्ध छापे जाते हैं।

हमारे भारतवर्ष में सभी बातें विपरीत हैं। यहां तो अशुद्धियोंका भी समर्थन योगसामर्थ्यसे हो रहा है! इसलिये यहां यह कार्य होना कठिन है।

यहां पाठकोंसे इतनाही निवेदन है, कि स्वाध्यायमण्डलद्वारा मुद्रित वेदोंकी अशुद्धियां दर्शानेसे प्रति अशुद्धि १) एक रु० पारितोषिक मिल सकता है, यह घोषणा करनेके पश्चात् मेरे मुद्रित ग्रंथकी अशुद्धियोंका समर्थन मैं नहीं करूंगा, यह तो निश्चित ही हुआ है, न अशुद्धियों के दर्शानेसे मुझे क्रोध आना है। मैं तो उनका बडा ऋणी हो जाऊंगा।

इतनाही नहीं यदि इस तरह शुद्ध हुए वेदग्रंथोंके ब्लाक आदि बनानेका कार्य श्री० परोपकारिणी सभा करेगी या कोई दूसरी संस्था करेगी, तो सब व्यय देनेपर मैं सब ब्लाक उनको देनेको तैयार हूं।

ब्लाक तैयार होनेपर भी किसी पृष्ठमें अशुद्धि रही, तो उस ब्लाक को फेंककर नया शुद्ध ब्लाक बनानेकी भी इच्छा है। तात्पर्य शुद्ध पाठ रखना, यह हमारा आदर्श है, यह ध्येय है और यही उद्देश्य है।

इसको सहाय्य न करते हुए शास्त्रार्थ का नशा चढनेके समान जो लेख लिखे जा रहे हैं और जो अज्ञानका तमाशा दर्शाया जा रहा है, उस से मेरी हानि क्या होनी है? अधिक से अधिक यही होगा, कि इन वेदोंके मुद्रण में जो मुझे दोचार हजार रु० का नुकसान होनेवाला होगा, वह नहीं होगा, क्योंकि इसमें लाभ की आशा तो कभी थी हि नहीं।

ऋग्वेद प्रथमवार की पुस्तकें प्रायः बिक चुकी हैं। दो-तीन सौ शेष हैं, वेभी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। ४।५ महिनों में द्वितीयवार छापनेका समय आ जायगा, तब तक यदि अशुद्धियों का लिष्ट मेरे पास पहुंचेगा, तो द्वितीयवार के मुद्रण में उन दोषों को दूर किया जायगा, जो सच्चे दोष होंगे वेही दूर किये जांयगे।

वेद न मेरी अकेले की दौलत है न किसी दूसरे की। उसको शुद्ध छापनेका यत्न करना ही उसकी सेवा है। यह वेदसेवा अनुकूलता होनेपर भी की जायगी और इस तरह की प्रतिकूलतामें भी की जायगी। जनता के धुरीण जनताको आज अज्ञानमें रखेंगे, परंतु संपूर्ण भविष्यकाल उनके हाथमें नहीं है और खोजकी सचाई को पहचाननेवाले भी कम नहीं हैं।

मैं तो समझ रहा हूं, इस तरहके लेख लिखनेसे जैसा लिखनेवाले का समय व्यर्थ जाता है, वैसा ही पढनेवालों का भी व्यर्थ ही जाता है। यह शास्त्रार्थ की नशा जब दूर होगी, तब ही वेदमंत्रोंका उपदेश आचरण में लानेका

विचार जनताको सूझेगा। निःसन्देह स्वा० दयानंदजीने केवल शास्त्रार्थ करनेके लिये समाज की स्थापना नहीं की थी, परंतु आज जनता के हाथ में शुद्ध वेदों के पुस्तक भी नहीं हैं, ५० वर्षों में यही हुआ है और आगे भी वेदको आचरण में लाना कितना दूर है, पता नहीं।

वैदिक देवतावाद।

जागृतिके गतांक २६ में पं० विश्वनाथजी वेदव्याकरण-तीर्थ ने वैदिक देवतावाद विषयपर एक लेख लिखा है, जिसमें आपने यह स्पष्ट लिखा है कि– 'मेरे विचारसें देवता बदलना अवश्य दुस्तर है।' अर्थात् देवताओंका अदलबदल करना यह कार्य सुसाध्य नहीं। पं० ब्रह्मदत्तजी की घोषणा हुई है कि 'अर्थ करनेवाले की इच्छा से वेद-मंत्रों के देवता बदल जाते हैं!!' और पं० विश्वनाथजीने लिखा, कि 'ऐसा देवताओंका बदलना दुस्तर है, अर्थात् देवता बदले नहीं जाते।'

हिंदूधर्म, सनातनधर्म तथा आर्यधर्म के मतमें वेदों का स्वतःप्रामाण्य है और सर्वोपरि निर्बाध प्रामाण्य है।

इस स्वतःप्रमाण वेद के ऋषि–देवता–छन्द और अर्थ यदि अनिश्चित सिद्ध हुए, तो उनका स्वतःप्रामाण्य किस तरह सिद्ध हो सकता है? स्वतःप्रमाण वही ग्रंथ होगा, कि जिस की न बदलनेवाली और स्थिर रचना हो। पं० ब्रह्मदत्तजी ऋषि–देवता–छन्दों को बदलनेवाले कहते हैं, इसका कारण केवल यही है, कि अजमेर वैदिक यन्त्रालय के मुद्रित वेदों में कुछ के कुछ ऋषि–देवता-छन्द छापे हैं और उन अशुद्ध ग्रंथोंका समर्थन पं० ब्रह्मदत्तजी को अवश्यमेव करना है।

वेद के प्रथम सात मण्डल आर्षेय मण्डल हैं। अतः इनके ऋषि कभी बदले नहीं जा सकते, ऋषि बदलते ही उस मन्त्रका स्थान वहांसे हट जायगा। ऋषि बदलनेसे आजकी वेद के सूक्तों की संपूर्ण व्यवस्था ही बदल जायगी, यह बिचारे पं० ब्रह्मदत्तज़ी को पत्ता भी नहीं है!

देवता से मंत्रका विषय ज्ञात होता है। देवता बदलता है, ऐसा जो पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं और अर्थ करनेवाले की इच्छा से देवता बदलते हैं, ऐसा जो अनार्ष पक्ष पं० ब्रह्मदत्तजीने लिखा है, वह माना जाय, तो उसका तात्पर्य यही होगा, कि कोई वेद-सूक्त या वेदमंत्र निश्चित उपदेश देनेवाले नहीं है। यदि उपदेश निश्चित और अटूट है, तो देवता निश्चित है। देवताका निश्चय नहीं तो कौन किस मंत्रका क्या आशय समझे और क्या विचार करे? देवताकी चञ्चलता के साथ वेद ऐसा ग्रंथ बन जाता है, कि जिसका भाव भी अस्थिर है और यही अस्थिरता वेदको अप्रामाणिक साबित कर देती है। इसलिये जो वेदोंको स्वतःप्रमाण माननेवाले हैं, वे कभी देवताओंको बदलनेवाले नहीं मान सकते।

छन्दोंको भी बदलनेवाले मानना अयोग्य है, क्योंकि छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे सिद्ध होते हैं, अतः स्थिर हैं। किसी किसी समय संकीर्ण अक्षर संख्या के कारण किसी छन्द के विषयमें किसी अज्ञानीको संदेह हो सकता है, उसका निश्चय करनेके पर्याप्त साधन वैदिक वाङ्मय में हैं। इसलिये छन्द बदले जाते हैं, ऐसा कहना भी अयोग्य है।

अजमेरमुद्रित वेदोंमें ऋषिदेवताछन्दोंकी अशुद्धि है, इसलिये उन अशुद्धियोंको शुद्ध सिद्ध करना दुराग्रह की परम सीमा है। इस तरह का दुराग्रह धर्मजाग्रतिमें सर्वथा अयोग्य है।

स्वाध्याय–मण्डलमें ऋग्वेद और यजुर्वेद शुद्ध छापे हैं। पेशगी मूल्य ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद का केवल ५) रखा है और प्रेषणव्यय अलग है। दो वेद इस समय तैयार हैं और शेष दो छः महीनोंमें तैयार होंगे।

इन वेदोंमें ऋषि–देवता–छन्द और मंत्रपाठ शुद्ध छापनेका अथक यत्न किया है। इनमें जो विद्वान् अशुद्धियां बतायेंगे, उनको प्रत्येक अशुद्धिके लिये १) एक रु० पारितोषिक दिया जायगा।

ग्राहक इन ग्रंथोंको लें और अशुद्धियां दर्शाकर पारितोषिक भी प्राप्त करें। जिससे जो अशुद्धि प्रथम आवेगी उसी को उसका पारितोषिक मिलेगा।

(३) सपत्ननाशक वरणमणि ।

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वरणमणिः, वनस्पतिः, चन्द्रमाः ।)

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥
प्रैणान्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वः श्वः ॥ २ ॥
अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे अयं वरणः मणिः) मेरा यह वरण मणि (वृषा सपत्नक्षयणः)बलवान् है और शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (तेन) उसके सहायसे (त्वं शत्रून् आरभस्व) तू शत्रुका नाश कर और (दुरस्यतः प्रमृणीहि) दुष्ट इच्छा करनेवालोंका नाश कर ॥ १ ॥

(एनान् प्रमृणीहि) इनको मार, (प्रमृण) नाश कर, (आरभस्व) नष्ट कर। यह (मणिः) मणि (ते पुरस्तात् पुरएता अस्तु) तेरे अग्रभागमें जानेवाला अग्रेसर होवे। (देवाः वरणेन) देवोंने इस वरण मणिसे ही (असुराणां श्वः श्वः अभ्याचारं) असुरों के प्रतिदिन होनेवाले अत्याचारों का (अवारयन्त) निवारण किया ॥ २ ॥

(अयं वरणो मणिः विश्वभेषजः) यह वरण मणि सब औषधियोंका सार है। (सहस्राक्षः हरितः) सहस्र आंखवाला, सब दुःखोंका हरण करनेवाला है और यह (हिरण्ययः) सुवर्णसे युक्त है। (सः ते शत्रून् अधरान् पादयाति) वह तेरे सब शत्रुओंको नीचे गिराता है। (ये त्वा द्विषन्ति) जो तेरा द्वेष करते हैं, (तान् पूर्वः दभ्नुहि) उनको सबसे पूर्व दबाकर नीचे रखो ॥ ३ ॥

अयं ते कृत्यां वितंतां पौरुषेयादयं भयात् ।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थ-- (अयं वरणः) यह वरण मणि (ते वितता कृत्यां) तेरे चारों ओर फैले हुए कृत्याप्रयोग को, (पौरुषेयात् भयात्) मनुष्यकृत भयसे, (अयं त्वा सर्वस्मात् पापात्) यह तुझे सब प्रकारके पापोंसे (वारयिष्यते) निवारण करेगा ॥ ४ ॥

(अयं वरणः देवो वनस्पतिः) यह वरण मणि वनस्पति देव (वारयाते) दुःखनिवारक है। (यः यक्ष्मः अस्मिन् आविष्टः) जो क्षयरोग इसमें प्रविष्ट हुआ है, (तं उ देवा अवीवरन्) उसको देव निवारण करते हैं ॥ ५ ॥

(स्वप्नं सुप्त्वा स्वप्न में निद्राके समय (यदि पापं पश्यासि) यदि तू पापके दृश्य देखता है (यति अजुष्टां सृतिं धावत्) यदि अयोग्य गतिसे कोई दौडे, (शकुनेः परिक्षवात्) शकुनिके अत्यंत दुष्ट शब्दसे और (पापवादात्) निन्दाके शब्दोंसे (अयं वरणो मणिः वारयिष्यते) यह वरण मणि निवारण करता है ॥ ६ ॥

(अरात्याः निर्ऋत्याः) शत्रुभयसे, विनाशसे, (अभिचारात् अथो भयात्) विनाशक प्रयोगसे और अन्यभयसे, (मृत्योः ओजीयसो वधात्) मृत्युके भयानक वधसे (त्वा वरणः वारयिष्यते) तुझे यह वरण मणि निवारण करेगा ॥ ७ ॥

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥
वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥
अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः।
तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१०॥ (७)
अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥११॥

अर्थ- (यत् मे माता) जो मेरी माता, (यत् मे पिता) जो मेरा पिता (यत् च मे भ्रातरः) जो मेरे भाई , जो मेरे (स्वाः) आप्तजन तथा (वयं यत् एनः चकृम) हम सब जो पाप करते रहे हैं, (ततः) उस पापसे (अयं वनस्पतिः देवः) यह वनस्पति देव (नः वारयिष्यते) हमारा निवारण करेगा ॥ ८ ॥

(मे सबन्धवः भ्रातृव्याः) मेरे बांधवोंके साथ शत्रुगण (वरणेन प्रव्यथिताः) वरण मणिके कारण पीडित होकर (असूर्तं रजः अपि अगुः) अन्धकारमय धूलिमय स्थानको प्राप्त हों । (त अधमं तमः यन्तु) वे निकृष्ट अन्धकारको प्राप्त हों ॥ ९ ॥

(अहं अरिष्टः) मैं अविनाशी, (अरिष्टगुः) अविनाशी वस्तुओंको प्राप्त करनेवाला (आयुष्मान् सर्वपूरुषः) दीर्घायु और समस्त पुरुषार्थी जनोंसे युक्त हूं । (अयं वरणः मणिः) यह वरण मणि (दिशो दिशः मा परिपातु) समस्त दिशाओंमें मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(अयं वरणः राजा वनस्पतिः देवः) यह वरण मणि राजा वनस्पति देव (मे उरसि) मेरी छातीमें विराजता हुआ (सः मे शत्रून् विबाधतां) मेरे शत्रुओंको पीडा देवे (इन्द्रः दस्यून् असुरान् इव) जैसा इन्द्र असुरों और शत्रुओंको ताप देता है ॥ ११ ॥

*

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान् छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥१२॥

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१३॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१४॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान्
जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१५॥

अर्थः-(इमं वरणं बिभर्मि) इस वरण मणिको मैं धारण करता हूं। जिससे मैं (आयुष्मान् शतशारदः) दीर्घायु और शतायु होऊंगा। (सः मे राष्ट्रं च क्षत्रं च) वह मेरे लिये राष्ट्र और क्षत्रियदलका तथा (पशून् ओजः च मे दधत्) पशुओं तथा ओजको मेरे लिये धारण करे ॥ १२ ॥

(यथा वातः) जैसा वायु (ओजसा) वेगसे (वृक्षान् वनस्पतीन्) वृक्षों ओर वनस्पतियों को (भनक्ति) तोड देता है, (एवा) उसी तरह (मे पूर्वान् जातान्) मेरे पहिले बने हुए (उत अपरान् सपत्नान्) और दूसरे शत्रुओंको (भंग्धि) तोड दे । (वरणः त्वा अभिरक्षतु) वरण मणि तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(यथा वातः अग्निः च) जैसा वायु और अग्नि मिलकर (वनस्पतीन् वृक्षान्) वृक्षवनस्पतियोंको (प्सातः) नष्ट कर देते हैं, (एवा सपत्नान् मे स्पाहि) इस तरह मेरे शत्रुओंका नाश कर ० ॥ १४ ॥

(यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः) जिस तरह वायुसे क्षीण वृक्ष (न्यर्पिताः शेरे) गिराये हुए लेट जाते हैं, (एवा त्वं मम सपत्नान्) उसी तरह मेरे शत्रुओंको तू वरण मणि (न्यर्पय) गिरा दे ० ॥ १५ ॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥१६॥
यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१७॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा मे० ॥१८॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि। एवा मे० ॥१९॥
यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा मे० ॥२०॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा मे० ॥२१॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा मे० ॥२२॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा मे० ॥२३॥

अर्थ- हे (वरण) वरण मणि! (ये एनं पशुषु दिप्सन्ति) जो इस को पशुओंमें घातक होते हैं तथा (ये अस्य राष्ट्रदिप्सवः) जो इसके राष्ट्रविघातक शत्रु हैं, हे वरण मणि! तू (पुरा आयुषः) आयु के क्षय होनेके पूर्व और (दिष्टात् पुरा) निश्चित समयसे भी पूर्व (त्वं तान् प्रच्छिन्धि) तू उनको छिन्न भिन्न कर ॥ १६ ॥

(यथा सूर्यः अभिभाति) जैसा सूर्य प्रकाशित होता है, (यथा अस्मिन् तेजः आहितं) जैसा इसमें तेज रखा है, (एवा वरणः मणिः) इसी तरह यह वरण मणि (मे कीर्तिं भूतिं नियच्छतु) मुझे कीर्ति और ऐश्वर्य देवे। (मा तेजसा समुक्षतु) मुझे तेजके साथ संयुक्त करे, (मा यशसा समनक्तु) मुझे यश से यशस्वी बनावे ॥ १७ ॥

(यथा यशः चन्द्रमसि नृचक्षसि आदित्ये०) जैसा यश चन्द्रमा और दर्शनीय आदित्यमें है, (यथा यशः पृथिव्यां अस्मिन् जातवेदसि०) जैसा यश पृथिवी और जातवेद अग्नि में है, (कन्यायां संभृते रथे०) जैसा यश कन्याओं में और युद्धके लिये सिद्ध हुए रथमें है, (सोमपीथे मधुपर्के०) जैसा यश सोमपीथ और मधुपर्कमें है, (अग्निहोत्रे वषट्कारे०) जैसा यश अग्निहोत्र और वषट्कारमें है, (यजमाने यज्ञे०) जैसा यश यज-

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा मे ० ॥२४॥

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु ।
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२५॥

मानमें है और यज्ञमें है (प्रजापतौ परमेष्ठिनि०) जैसा यश प्रजापति और परमेष्ठीमें है, इसी तरह का यश यह वरण मणि मुझे देवे और तेज और यशसे युक्त करे ॥ १८--२४ ॥

(यथा देवेषु अमृतं) जैसा देवोंमें अमृत है (यथा एषु सत्यं आहितं) जैसा इनमें सत्य रखा है, (एवा मे वरणो मणिः) इसी तरह मेरे लिये यह वरण मणि कीर्ति और ऐश्वर्य (नियच्छतु) देवे और मुझे (तेजसा समुक्षतु) तेजसे युक्त करे और (यशसा मा समनक्तु) यशसे संयुक्त करे ॥ २५ ॥

इस सूक्तमें शत्रुनाश और अपने यशकी अभिवृद्धि के लिये प्रार्थना है। यह सूक्त सुबोध होनेसे अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) सर्पविष दूर करना।

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- गरुत्मान् तक्षकः ।)

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत् ।
अहीनामपमा रथं स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य प्रथमः रथः) इन्द्रका पहिला रथ है, (देवानां अपरः रथः) देवोंका दूसरा रथ है, (वरुणस्य तृतीयाः इत्) वरुणका तीसरा है। (अहीनां अपमा रथः) सर्पोंका रथ नीच गतिवाला है जो (स्थाणुं आरत् अथ ऋषत्) स्तंभपर चलता है और नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

दुर्भः शोचिस्तरूणकुमश्वस्य वारः परुषस्य वारः ।
रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥
अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥
अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥
पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाकाः ॥ ५ ॥
पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि ।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

अर्थ–(दर्भः शोचिः तरूणकं) कुशा, आग, तृणविशेष और (अश्वस्यः वारः पुरुषस्य वारः) अश्ववार और पुरुषवार ये सब औषधियां तथा (रथस्य बन्धुरम्) रथ-बंधुर या नाभी ये सब सर्पविष दूर करनेवाले हैं ॥ २ ॥

हे (श्वेत) श्वेत औषधे! (पूर्वेण अपरेण च) पूर्व और उत्तर (पदा अवजहि) पदसे विषका नाश कर । इससे (विषं उग्रं अरसं) भयानक विषभी नीरस हो जाय । (उदप्लुतं दारु इव) भरे हुए जलमें लकडी गिरनेके समान विष बह जाय ॥ ३ ॥

(अरंघुषः निमज्य उन्मज्य) अलंघुर औषधि निमज्जन और उन्मज्जन करके (पुनः अब्रवीत्) फिर कहने लगी कि उग्र भयानक विषभी सारहीन हो जायगा जैसी जलमें लकडी होती है ॥ ४ ॥

(पैद्वः कसर्णीलं श्वित्रं उत असितं) पैद्व कसर्णील श्वित्र और असित सर्पोंको मारता है, (पैद्वः रथर्व्याः पृदाक्वः सिरः सं बिभेद) पैद्व रथर्वा और पृदाकुका सिर तोड देता है ॥ ५ ॥

हे (पैद्व) पैद्व! (प्रथमः प्रेहि) तू प्रथम आगे जा (त्वा अनु वयं एमसि) तेरे पीछे हम चलेंगे । और (येन वयं एमसि) जिन मार्गोंसे हम जांयगे उन (पथः अहीन् व्यस्यतात्) मार्गोंसे सर्पोंको दूर कर दें ॥ ६ ॥

इदं पैद्वो अंजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥
अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥
अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥१०॥ (१०)
पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः ।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥११॥

अर्थ- (इदं पैद्वो अजायत) यह पैद्व हुआ है, (इदं अस्य परायणं) यह इसका परम स्थान है। (वाजिनीवतः अहिघ्न्यः अर्वतः) बलवान् सर्पनाशक अर्वाके (इमानि पदा) ये पदचिन्ह हैं॥ ७ ॥

(संयतं न विष्परत्) सर्पका बंद मुख न खुले और (व्यात्तं न यमत्) खुला हुआ बंद न होवे। (अस्मिन् क्षेत्रे द्वौ अही) इस खेतमें दो सर्प हैं (स्त्री च पुमान् च) एक स्त्री और दूसरा पुरुष है। (तौ उभौ अरसौ) वे दोनों सारहीन हो जांय ॥ ८ ॥

(इह ये अन्ति ये दूरके) यहां जो पास और जो दूर (अहयः अरसासः) सांप हैं वे सारहीन हो जांय। (घनेन हन्मि वृश्चिकं) हतौडेसे बिछूको मारता हूं और (आगतं अहिं दण्डेन)आये हुए सर्पको दण्डसे मारता हूं॥९॥

(अघाश्वस्य स्वजस्य च) अघाश्व और स्वज इन (उभयोः इदं भेषजं) दोनोंका यही औषध है, (इन्द्रः मे अघायन्तं अहिं) इन्द्र मेरे ऊपर आक्रमण करनेवाले सर्पको तथा (पैद्वः अहिं अरन्धयत) पैद्व सर्पको नष्ट करता है ॥१०॥

(स्थिरस्य स्थिरधाम्नः पैद्वस्य) स्थिर और अचल धामवाले पैद्वकी महिमा (वयं मन्महे) हम मनन करते हैं जिसके (पश्चा) पीछे (इमे पृदाकवः प्रदीध्यतः आसते) ये पृदाकु नामक सर्प देखते हुये दूर खडे रहते हैं ॥ ११ ॥

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म ।

श्रावण १८६०
आगस्ट १९३८

विश्वविख्यात कवि रवीन्द्रनाथ टागोर.

वर्ष १९, अंक ८] [क्रमांक २२५

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) महाभारत आदिपर्व मू. ६) डा०व्य० १।)
,, सभापर्व २॥) ॥।)

(२) संस्कृतपाठमाला। १अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मू. ४) ॥)
२४ अंकोंका मू. ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू.१॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १८ प्रत्येकका मू० ॥) डा. व्य.=)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदस्वयंशिक्षक भा.१-२मू.१॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।

१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	।)

(१०) यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय ॥=) =)

(११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।

१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)

(१४) आगमनिबंधमाला।

१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	﴿)

१५ उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।

१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से. ५)रु. वी.पी. से.५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क ८

विषयानुक्रमणिका

वर्ष १९
अंक ८
क्रमांक २२४

वैदिक धर्म

श्रावण
संवत १९९५
अगस्त
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

यज्ञीय जीवन।

स्वस्ति नो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव।
सचेमहि तव दस्म प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः॥

(ऋ० १०।७।१)

"हे अग्निदेव! तू पृथ्वी और द्युलोक से सब प्रकार का कल्याण और उत्तम अन्न हमें सदा सर्वदा इसलिये दे कि हम उससे यज्ञ करें। हे प्रभो। हम तेरी सेवा करेंगे। हे दर्शनीय! उत्तम ज्ञानों और श्रेष्ठ बलों से तू हमें युक्त कर, हमारी रक्षा कर।"

प्रभुकी कृपासे जो मनुष्यको प्राप्त होता है, उस धन ऐश्वर्यादिका समर्पण करके वह साधक अपने जीवनभर प्रभुकी सेवा करनेके लिये यज्ञ करे। जिस से वह बलवान् और ज्ञानी बन कर अपनी सर्व प्रकार से रक्षा करनेके लिये समर्थ होगा।

'वैदिक धर्म' के ग्राहकोंके लिये विशेष सहूलियत।

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों ओर जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्यायमण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ इसके साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

सब पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देंगे। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक ग्रंथोंका दान करना चाहते हैं वे भी इससे लाभ उठावे।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै.यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	॥।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

स्वाध्याय-मण्डल के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों के सम्बन्ध में

विद्वानों के मत ।

(१) गीता-भाष्य ।

अम्बाला-सिटी, १९-७-३८ ।

मैंने आपके गीताभाष्य को पढा, मैं बडे हर्ष के साथ लिखता हूं, कि ऐसा उत्तम मनन गीताजी का पहिले नहीं देख पाया। भाष्य तो मैंने बहुतसे ही देखे, पर जो निष्पक्षतासे विचार किया, वह अन्यत्र नहीं मिला। ब्राह्मण का काम यही है निर्भयतासे शास्त्र का मर्म प्रकट करें। ... ... धन्य है प्रभु का कि इस कलिकाल में भी ब्राह्मणवेश में ब्राह्मणत्व का अंश मौजूद है। परमात्मा आपकी आयु दीर्घ करे तथा आपके स्वार्थत्यागसे आरम्भ किये हुए महान् यज्ञमें पूर्ण सफलता हो। मुझे आपके कार्यसे पूरी सहानुभूति है। ... ...

—रामचन्द्रजी, B. A. रि० हेडमास्तर, अम्बाला-सिटी।

(२) वेदके विषयमें ।

ऐसे सुन्दर शुद्ध सुसज्जित ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के लिये बहुत बहुत धन्यवाद और वह भी हार्दिक। यह तो आपने वैदिक ऋषिकी न्यायीं संसार पर महान् उपकार किया है। यदि विश्वसंग्राम जिसकी ओर संसार की सभ्य जातियां बढ रहीं है, उसमें से आर्यसभ्यता जीवित निकल गयी, तब आपके शुद्ध वेदों की पूरी कीमत डालनेवाले राज्य उपस्थित होंगे।

मेरी इच्छा तो ऐसी है, कि किसी धनी के मन में परमात्मा ऐसी प्रेरणा करे, कि वह सामवेद को सुनहरी अक्षरों में आर्ट पेपर पर आपसे छपवावे और सुन्दर मोटी मजबूत रेशमी तथा चमडे की सुदृढ जिल्द बन्धवावे। मैं आशा करता हूं, कि कोई ऐसा दानी कूद पडेगा।

लाहौर ५-६-३८ —रुलियारामजी कश्यप, M. SC.

(३)

आपका प्रकाशित ऋग्वेद और यजुर्वेद देख कर बहुत ही आनन्द हुआ।

धूलिया १०-७-३८ —नरहर त्र्यम्बक देव,

(४)

ऋग्वेद प्राप्त हुआ। आर्यों का आदि धर्मग्रन्थ सुन्दर छपा देख कर बहुत आनन्द हुआ। ऋग्वेदानुवाद का कार्य भी शीघ्र आरम्भ होगा तो अच्छा है।

भद्र अहमदाबाद १३-६-३८ —विष्णु माधव देशपाण्डे,

मूर्खताकी घमण्डका अद्भुत प्रदर्शन !!

आर्यमित्रके (ता० ३० जून स० १९३८ के) अंकमें एक पत्र प्रकाशित हुआ है जो नीचे दिया जाता है—

श्री पं० सातवलेकरजी का वेदों का शोधन ।

श्री पं० सातवलेकरजी ने दानरूप में रुपया प्राप्त किया कि चारों मूलवेद शुद्ध छापे जावेंगे, परन्तु पं० जी ने अपना यह वचन कहां तक पूरा किया इसके लिये नमूने के तौर पर ऋग्वेद का एक मन्त्र जनता के सामने रखता हूं ।

> अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि ।
> शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ॥
> वीरसूर्देवृकामा स्योना ।
> शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
> (ऋ०मं०१०सू०८५मंत्र४४)

इस मंत्र के पिछले भाग में 'देवृकामा' पद आया है। (१) लाहौर के विरजानन्द यन्त्रालय में (सम्वत् १९६६ वि०) में प्रकाशित संहिता में इस मन्त्र में 'देवृकामा' पाठ है । (२) ऋग्वेद संहिता वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपी, इसमें भी ''देवृकामा'' पाठ है । (३) स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र को संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में भी दिया है और ''देवृकामा'' पाठ मानकर अर्थ नियोगविषयक किये हैं, क्योंकि 'देवृकामा' के अर्थ ही 'देवर की कामना अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेवाली' है । (४) आर्यसाहित्य-मण्डल अजमेर में चारों वेदों का भाषाभाष्य छपा है, यहां के छपे ऋग्वेद में भी इस मन्त्र में 'देवृकामा' पाठ है । (५) अथर्ववेद के काण्ड १४ सूक्त २ में १७ वां मन्त्र पाठभेद के साथ यही आया है, इसमें भी 'देवृकामा' पाठ है। अथर्ववेद पर सायणाचार्य का भाष्य है, इसमें भी 'देवृकामा' पाठ है, परन्तु पं० सातवलेकरजी के प्रकाशित ऋग्वेद में 'देवृकामा' के स्थान में 'देवकामा' पाठ है, जिसके अर्थ नियोगविषयसे पलट कर पौराणिक भावमें 'देवकी इच्छा रखनेवाली' के होते हैं ।

अब यह तो पंडितजी ही भली भांति कह सकेंगे कि उन्होंने इस मन्त्र में 'देवकामा' पाठ किस आधार पर किया है अथवा छापे की अशुद्धि है। जो कुछ भी हो, इस प्रकार के शोधन से तो आर्यसमाजके सिद्धान्त पर आघात होगा और आर्य जनता काफी सहायता दे रही है । मैं आर्य जनतासे यह निवेदन करता हूँ कि वे विचार करें ।

प्यारेलाल वैश्य, कैराना निवासी,
आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर ।

इस लेखमें जो अक्षेप किये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. चारों वेद शुद्ध छापने के लिये पं० सातवलेकरजीने दानरूपमें रुपया प्राप्त किया, परंतु इस वचन को उन्होंने पूरा नहीं किया, क्योंकि इनके ऋग्वेद में 'देवृकामा' पाठ नहीं है, परन्तु 'देवकामा' है ।

२. लाहौरके विरजानन्द यंत्रालय और अजमेरके वैदिक यंत्रालयमें छपे ऋग्वेदोंमें 'देवृकामा' पाठ है ।

३. श्री स्वा० दयानन्दजीने इस मंत्रको संस्कारविधिमें विवाह-प्रकरणमें लिया है वहां 'देवृकामा' पाठ है और नियोगपर अर्थ किया है ।

४. अजमेरके आर्यसाहित्य-मण्डलमें ऋग्वेद भाषा भाष्य पं० जयदेव शर्माजीका छापा है, उसमें 'देवृकामा' पाठ लिया है।

५. अथर्ववेद के १४।२।१७ 'देवृकामा' पाठ है, जिस पर सायण-भाष्य भी है ।

६. इतना होते हुए पं० सातवलेकर द्वारा संपादित ऋग्वेदमें 'देवकामा' पाठ छापा है, इससे नियोग सिद्ध

न होने के कारण आर्यसमाज पर आपत्ति आजायगी और अनर्थ होगा।

७. इस तरह के संशोधनसे आर्यसमाज के सिद्धान्तोंपर आघात होगा।

८. आर्य जनता पं० सातवलेकर को जो सहायता कर रही है वह पहिले इन बातों का विचार करे (और उनको कोई सहायता न देवे।)

पहिला आश्चर्य।

यह आशय इस वानप्रस्थाश्रमी लेखक के पत्र का है। इसकी समालोचना करने के पूर्व मुझे 'आर्यमित्र' के संपादकीय कार्यालय का ही आश्चर्य मालूम होता है, क्यों कि किसी पत्र के प्रकाशन की जिम्मेवारी संपादक पर हि है, लेखकपर उतनी नहीं है। लेखक के पास उतने साधन नहीं होते जितने संपादक के पास होने संभव हैं। लेखक के पास उतनी विद्या भी नहीं होती जितनी संपादकके पास होनी चाहिये, क्योंकि संपादक महाशय सब पाठकोंके सद्गुरु होते हैं, जो अपनी सदुपदेशकी शिक्षा द्वारा पाठकों को विद्यामृत का दान करके उनकी उन्नति करने के लिये संपादकीय शुभासन पर विराजमान हुए होते हैं।

जो इतनी जिम्मेवारी के साथ संपादक का कार्य नहीं करता वह सच्चा संपादक नहीं, परंतु वह केवल वेतनधारी संपादक है और लेखोंका उत्तरदातृत्व अपने ऊपर न लेनेवाले संपादक सच्चे उपदेशक भी नहीं हो सकते।

जो पत्र आ जाय उसको मुद्रित कर छोडनेवाले संपादकों के विषय में क्या कहा जा सकता है? वे तो अर्थ के संपादनकरनेवाले हैं, न कि पाठकोंकी धार्मिक उन्नति के संपादन करने वाले। वे कलियुग के संपादक हैं। कोई सच्चा आर्य संपादक इस तरहके असत्य पत्रका प्रकाशन कभी नहीं करेगा।

इतना ही संपादकीय उत्तरदायित्वके विषयमें कहकर अब इस लेख के आक्षिप्त भागों की समालोचना करते हैं, पाठक उसका अच्छी तरह विचार करें।

दान-प्राप्ति।

पहिले आक्षेपमें लेखकने शिकायत की है कि पं० सातवलेकरजीने चारों वेदोंको शुद्ध छापनेके लिये दान-रूपमें रुपया प्राप्त किया। परंतु ऋग्वेदमें 'देवृकामा' के स्थानपर 'देवकामा' छापा है यह अशुद्ध छापा है, इस लिये शुद्ध छापनेके लिये दिये हुए दानका उचित उपयोग नहीं हुआ। इस कारण वे अन्तमें आर्य जनता से अपील कर रहे हैं, कि इन बातोंका विचार करके दान देनेके पूर्व जनता सोच लें। यहां लेखक का भाव यह है कि इस वेदमुद्रणके कार्यको दान न दिया जाय तो अच्छा है!!

यदि लेखक महोदय स्वाध्याय-मण्डलमें आते और यहां का हिसाब किताब देखते, तो उनको पता लग जाता कि इस कार्यके लिये किससे कितना दान आया है। अथवा वे प्रथम हमें पत्र लिखते और सब दानका ब्यौरा पूछते, तो हम ठीक ठीक बता देते, जिससे अशुद्ध विधान करनेका पाप वानप्रस्थिजीको न लगता।

इस समयतक किसीने चारों वेद शुद्ध छापनेके लिये कोई दान दियाही नहीं है। ऋग्वेद शुद्ध छापनेके लिये डा० लालचन्द्रजी सखूजा, वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुरसे २०००) दो हजार रु० का दान आया है और आफ्रिकानिवासी एक फर्म मे० विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कं० से १०००) एक हजार रु० दान आया है। ये दोनों दान केवल ऋग्वेदके शुद्ध, मुद्रण के लिये आये हैं, चारों वेदों के शुद्ध मुद्रण के लिये नहीं। चारों वेदोंके तथा शाखा संहिताओंके शुद्ध मुद्रण का तथा ब्राह्मणों और आरण्यकों के शुद्ध मुद्रण का भार, तथा इन सब ग्रंथों के शुद्ध सूचियों के तथा उनके भाषान्तरों के कार्य का भार स्वयं स्वाध्याय-मण्डल के कार्यकर्ताओंने स्वयंप्रेरणासे अपने ऊपर लिया है। अभी किसी अन्य आर्य सज्जनसे इस बडे कार्यके लिये बडा दान आया नहीं है। और दान न देनेके लिये लेखक जैसे भद्र पुरुष इस तरहके लेख लिख रहे हैं, इस लिये जिनपर ऐसे लेखोंका परिणाम होगा उन आर्यजनों का धन शुद्ध वेदकी छपाई में बहुत खर्च होगा ऐसी चिन्ता म० प्यारेलालजी वैश्य (अपनी वैश्य-वृत्तिके अनुसार) न करें।

जिनका धन वेदमुद्रणके सत्कार्यमें लगनेवाला है, उनकाही धन इस कार्यमें लगेगा, अन्योंका नहीं लगेगा। यह निश्चित बात है। इसलिये म० प्यारेलालजी निश्चिन्त

रहें। जो देनेवाले हैं वे म० प्यारेलालजीको पूछेंगे नहीं और जो न देनेवाले हैं वे प्रेरणा करनेपर भी देंगे नहीं।

ऋग्वेदके शुद्ध मुद्रणपर ७०००) सात हजारसे अधिक व्यय हुआ है। लागत व्यय प्रति पुस्तक का ३॥)से अधिक हुआ है, तोभी उक्त दानी महाशयोंकी इच्छाके लिये हमने ३) मूल्य रखा है और पेशगी मूल्य २) को ही हम दे रहे हैं। इस समयतक ३) मूल्य किसी ग्राहकसे वसूल नहीं किया है और पेशगी मूल्य देनेवालोंके पास रेल किराया लगाकर हमने पुस्तक भेजे हैं। प्रति पुस्तक पंजाब यू. पी. तक रेल किराया ॥) होता है और डा० व्य० १) होता है। इससे प्रति पुस्तक २) भी वसूल नहीं हुआ। इस कारण कुल पुस्तकें बिकनेपर भी हजार डेड हजार रु० ऋग्वेदके व्यवहारमें घाटाही रहेगा।

इससे वैश्यजी जान सकते हैं कि इस व्यवहार में हमने बहुत धन नहीं लूटा है, परंतु हानिहि प्राप्त की है। तथापि चारों वेद और सब शाखा-संहिताएं तथा ब्राह्मण ये सब वैदिक वाङ्मय के ग्रंथ छापने ही हैं और उनके लिये जो इस कार्य का महत्व समझते हैं उनसे धन आभी जायगा। इस संबंधका पूरा हिसाब का ब्यौरा 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित हो जायगा।

'देवृकामा' या 'देवकामा' ?

लेखककी मुख्य बात यह है कि ऋग्वेदके मं० १० सू० ८५ मं० ४४ में 'देवृकामा' चाहिये या 'देवकामा' चाहिये। यहां पहिला प्रश्न यह है कि लेखकने अथर्ववेदके सायणभाष्यका हवाला दिया, वैसा ऋग्वेद-सायणभाष्यका क्यों नहीं दिया? इसका कारण यह है कि वहां 'देवकामा' पाठ है। यह है वानप्रस्थाश्रमीजीकी सच्चाई! संसार छोड-कर वानप्रस्थाश्रममें गये परन्तु वहां भी असत्य का प्रेम नहीं छूटा! धन्य है यह वानप्रस्थाश्रम !!

लाहौर विरजानन्द यंत्रालय और अजमेरके वैदिक यंत्रालय में छपे ऋग्वेदमें इस मंत्रमें 'देवृकामा' छापा है, यह सत्य है। और वैदिक यंत्रालय के छपे संस्कार-विधिमें भी 'देवृकामा' छापा है यह भी सत्य है। परंतु विरजानन्द यंत्रालय वा वैदिक यंत्रालय के पुस्तक अशुद्धियोंसे भरे पडे हैं, इसलिये उनका प्रामाण्य कुछ भी कामका नहीं है, यह उससे भी अधिक सत्य है।

आर्यसाहित्य-मण्डल अजमेर के मुद्रित ऋग्वेदमें जो पं० जयदेव शर्माजी विद्यालंकार का भाष्य छापा है, उसमें क्या छपा है, यह मुझे मालूम नहीं है, क्योंकि उनका ऋग्वेद-उत्तरार्ध मेरे पास नहीं है। परंतु जैसा कि वैश्यजी लिख रहे हैं उसी तरह यदि उनके ऋग्वेदमें १०।८५।४४ में 'देवृकामा' छपा हो, तो वह भयानक अशुद्ध है और उसका उत्तरदायित्व आर्यसाहित्यमण्डल के सिरपरहि है। कदाचित् उसके उत्तरदायित्वका भार पं० जयदेव शर्माजी पर भी आजायगा। इस अशुद्धिका उत्तर वे दे सकते हैं। परन्तु इन्होंने अशुद्ध छापनेका साहस किया, इसलिये मुझे भी वैसाही साहस करना ही चाहिये यह कोई धर्म-नियम नहीं हो सकता।

शुद्ध पाठ क्या है ?

अब विचार करना चाहिये कि सचमुच ऋग्वेद मं० १०।८५।४४ में शुद्ध पाठ क्या है? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध पाठ 'देवकामा' है और 'देवृकामा' अशुद्ध पाठ है। देखिये—

(१) श्री० स्व० विश्वेश्वरानन्द और नित्यानन्द द्वारा चारों वेदोंकी पदसूचियां सन १९०८ में मुद्रित हुई हैं। इनमें ऋग्वेद की पदसूची में पाठक देखेंगे तो उनको 'देवकामा' पद पृष्ठ २०६ पर मिलेगा। संपूर्ण ऋग्वेद-पदसूची में 'देवृकामा' पदहि नहीं है। जब ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद है हि नहीं तब वह विरजानन्द प्रेसने छापा या वैदिक यंत्रालयने अथवा आर्यसाहित्य-मण्डल ने छापा तो भी वह अशुद्धहि है, वह शुद्ध हो नहीं सकता!

(२) जर्मनीमें वेदोंकी पदसूचियां छपी हैं, उनमें भी ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद नहीं है, परंतु 'देवकामा' हि है। जर्मनवालोंनें एक एक पदकी खोज करके पद-पाठका निश्चय किया है और जो शुद्ध पाठ है वही लिया है।

(३) पं० मोक्षमुलरने मूल ऋग्वेद-पदपाठसहित छापा है और सायनभाष्यसहित दो वार ऋग्वेद छापा

है। इनके मूल ऋग्वेदमें तथा सायणभाष्यसहित ऋग्वेदमें दोनों वारके मुद्रित पुस्तकोंमें 'देवकामा' ही पाठ छापा है। देखो द्वितीय वार मुद्रित मोक्षमुल्लर ऋग्वेद (ओक्सफोर्ड मुद्रित) पृष्ठ २६४, यहां मूल मंत्रमें भी 'देवकामा' है, पदपाठमें भी वैसाही है और सायनभाष्य में भी वैसाही है। किसी भी स्थानपर ऋग्वेद में 'देवृकामा' नहीं है।

(४) इसी चतुर्थ विभागमें प्रारंभिक भूमिकामें करीब ५० पृष्ठोंमें पाठभेदोंका विवरण किया है। इन पाठ-भेदोंमें भी 'देवृकामा' किसीभी पुस्तक में होनेका उल्लेख नहीं है। अर्थात् पं० मोक्षमुल्लरने जो पचासों पुस्तकें पाठ-निर्णय के लिये इकट्ठी की थीं, उनमेंसे एकमें भी ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पाठ नहीं था और सर्वत्र 'देवकामा' हि पाठ था।

(५) श्री मोनिअर वुलियम्स के 'संस्कृत-इंग्लिश' के बृहत्कोषमें पृ० ४९२ तीसरे कॉलममें 'देवकामा' शब्द ऋग्वेदमें है, ऐसाही लिखा है। 'देवृकामा' शब्द ऋग्वेदमें होनेका उल्लेख इस कोशमें किसीभी स्थानपर नहीं। ये कोशकार इस तरहका निर्देश स्थान स्थानपर करते हैं। इसलिये इस प्रमाण का महत्त्व विशेष है। इसने 'देवृकामा' शब्द पृ० ४९६ पर द्वितीय कालममें दिया है, परंतु इसका ऋग्वेद में कोई स्थान नहीं है।

(६) मुंबईके निर्णयसागर प्रेसमें ऋग्वेद कई वार मुद्रित हुआ है और हरएक वार अनेक प्रयत्न करके शुद्ध छापनेका यत्न किया गया है, परंतु किसीभी समयके मुद्रित ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद नहीं है, सर्वत्र 'देवकामा' हीं पद छापा है। कुंभकोणम्वालोंने ऋग्वेद-पदपाठ अतिशुद्ध छापा है। इसमें भी 'देवकामा' ही पद है। 'देवृकामा' किसीभी जगह नहीं है।

(७) पूनामें बडे प्रयत्नसे सायनभाष्यसहित ऋग्वेद ५० वर्षपूर्व छापा था, उसमें भी 'देवकामा' हि पद लिया है। और इस समय तिलक महाविद्यालयके वैदिक संशोधन-मण्डलमें ऋग्वेद सायणभाष्य-मुद्रण चल रहा है। इस कार्य के लिये वहां स्थान स्थानके बडे ग्रंथ इकट्ठे किये हैं और बहुत विद्वान् भी जमा किये हैं। इनके संशोधनसे पं० मोक्षमुल्लर की कई अशुद्धियों का पता लगा है, तथापि इनके एकत्रित किये सब ही ग्रंथोंमें ऋग्वेदमें पाठ 'देवकामा' है और एक पुस्तकमें भी 'देवृकामा' नहीं है।

(८) पूनामें भांडारकर-ओरिएंटल-रिसर्च इन्स्टीट्यूट है। इनके ग्रंथालयमें कई ऋग्वेदके हस्तलिखित और मुद्रित ग्रंथ हैं। इनमें भी सर्वत्र 'देवकामा' पाठ लिया है और एकमें भी देवृकामा पाठ नहीं है।

(९) म० प्यारेलालजी का लेख प्रकाशित होनेके पश्चात् हमने ऋग्वेदके कई घनपाठियों से इस पाठके विषयमें पूछा। सब यही कहते हैं कि ऋग्वेदमें 'देवृकामा' ऐसा कोई पदही नहीं है। सर्वत्र ऋग्वेदमें 'देवकामा' ही पद है।

(१०) अथर्ववेदमें 'देवृकामा' पद है, जो अथर्ववेद के कई पुस्तकोंमें हैं। सायणाचार्यने अथर्ववेद १०।२।१७-१८ में 'देवृकामा' माना है, तथापि कई अथर्ववेद के पुस्तकों में 'देवकामा' भी मिलता है। अथर्ववेदको छोडकर किसीभी अन्य वेदमें 'देवृकामा' पदहि नहीं है। ऋग्वेदमें तो है हि नहीं।

(११) म० ग्रिफिथ (Ralph T. H. Gripith) का ऋग्वेदानुवाद अंग्रेजीमें है। आपने इस मंत्रके अनुवाद में 'देवकामा' पद लेकर अनुवाद Loving the Gods ऐसा किया है। ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद इसने मानाहि नहीं।

(१२) म० एच्. एच्. विलसन (H.H. Wilson) महोदयका ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद है। आपने भी ऋग्वेद में 'देवकामा' पद मानकर 'Be devoted to Gods' अर्थात् 'देवता की उपासना करो' ऐसा अर्थ किया है। आपने ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद नहीं माना है।

(१३) श्री० विटनी महाशयजीने अथर्वपदसूची विशेष सूक्ष्मता के साथ छापी है। इसके पृ० १४८ पर अथर्ववेदके 'देवृकामा' पद पर टिप्पणी दी है कि In some manuscripts देवकामा अर्थात् कई हस्तलिखित पुस्तकों में अथर्ववेद में भी 'देवकामा' पद है और 'देवृकामा' नहीं है। श्री० विटनी महोदय अथर्ववेद कां० १४ सू०२ मं०१७की टिप्पणीमें पृ०७५६पर लिखते हैं कि-

"Our Mss. are divided in C between देवृकामा and देवकामा, the majority (not Bp. Bs. p. m. E. O. D.) having with R. V. and Ppp; the latter, which is therefore more probably the true reading" अर्थात् हमारे पास (श्री० विटनी के पास) जो हस्तलिखित पुस्तकें अथर्ववेद की हैं उनमें से कईयोंमें 'देवकामा' ऐसा ऋग्वेद के समान पाठ है और दूसरोंमें 'देवृकामा' ऐसा पाठ है। अथर्ववेद की पिप्पलाद संहितामें इसी मंत्रमें 'देवकामा' पद है। आपने अथर्ववेदमें 'देवृकामा' पद माना है और 'loving brother-in-law (?)' पतिके भाईपर प्रेम करनेवाली हो (?) ऐसा अर्थ किया है, और सन्देह-चिह्न देकर अपना इस पाठ के विषय में सन्देह प्रकट किया है। यहां यह संदेह-चिह्न देखने योग्य है।

(१४) अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहितामें कां० १४।२।१७ ऋग्वेदके समान ही 'देवकामा' पद है और 'देवृकामा' इस मन्त्रमें नहीं है।

(१५) ऋग्वेदसंहिता, ऋग्वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, निरुक्तादिमें भी 'देवृकामा' पद नहीं है।

(१६) सामवेदमंत्रब्राह्मणमें 'देवकामा' पाठ माना है।

(१७) पारस्कर गृह्यसूत्रमें (१।४।१५ में) 'देवकामा' पाठ स्वीकार किया है। (देखो म० लधाराम शर्मासंपादित मुंबई मुद्रित संवत् १९४५ पृ० २)

(१८) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रमें (१।२०।२में) 'देवकामा' पाठ लिया है।

(१९) आपस्तंब मंत्रपाठमें (१।१।४ में) 'देवकामा' पाठ लिखा है।

(२०) मानवगृह्यसूत्रमें (१।१०।६ में) 'देवकामा' पाठ स्वीकार किया है। (देखो भारतवर्षमें मुद्रित, तथा डॉ० फ्रेड्रिक क्नौर द्वारा संपादित और सेंट पीटर्सबर्गमें सन १८८७ में मुद्रित)

(२१) पं० जयदेवशर्माजीने अपने ऋग्वेदभाषाभाष्यमें मन्त्रमें पाठ 'देवृकामा' लिया है, अर्थ करनेके समय ( ) कोष्ठमें 'देवकामा' छापा है और अर्थ 'विद्वानों को वा अपने कान्त पतिको सदा चाहनेवाली' ऐसा 'देवकामा' पद का किया है। इससे पं० जयदेवशर्माजी ऋग्वेदमें 'देवकामा' ही पाठ चाहते हैं, ऐसा निश्चित रीतिसे दीखता है।

पं० जयदेवशर्माजीने अपने अथर्ववेदभाषाभाष्यमें मंत्रमें 'देवृकामा' लिया है, कोष्टमें (देवृकामा) लिखा है और मं० १७ में 'पतिसे उतरकर देवरको सन्ताननिमित्त चाहनेवाली' और मंत्र १८ में 'पतिसे संतानके अभाव में देवरकी कामना करनेवाली' अर्थ किया है। (दोनों मंत्रोंके अर्थभेद का कारण हमारे ध्यानमें नहीं आता।) तथापि इतना इससे स्पष्ट हुआ, कि पं० जयदेवशर्माजी ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पाठ नहीं चाहते और 'देवकामा' हि चाहते हैं। और इनके ऋग्वेदमें जो 'देवृकामा' छपा है, वह छापेकी अशुद्धि है। (यह हमने उनके पत्रके आधारपर लिखा है। सं०)

पं० जयदेवशर्माजीने अपने अथर्ववेदभाषाभाष्यमें इस मंत्रकी टिप्पणीमें पृ० ५५९ पर नीचे ऋग्वेदका मंत्र दिया है और उसमें फिर 'देवृकामा' लिखा है, वह पूर्वोक्त स्पष्टीकरणसे निश्चयसे अशुद्ध है, यह अब सिद्ध ही हुआ है। क्योंकि पं० जयदेवशर्माजी ऋग्वेदमें 'देवकामा' ही पाठ मानते हैं, यह उनके उक्त अर्थसे स्पष्ट है।

(२२) भारतवर्षके संपूर्ण ऋग्वेदपाठी वैदिक ब्राह्मण एक मतसे ऋग्वेदमें 'देवकामा' ही शुद्ध पाठ है, ऐसा मानते हैं। कोई दूसरा पाठ नहीं मानते।

पूर्वापरसंबंध।

पूर्वापरसंबंध देखना भी उचित है, इसलिये पूर्वमंत्रों के साथ यह मन्त्र देखिये—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥४२॥
आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय
समनक्त्वर्यमा । अदुर्मंगलीः पतिलोकमा
विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४३ ॥
अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः
सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४४ ॥
(ऋग्वेद १०।८५)

अर्थ— यहां इस संसारमें रहो, विभक्त न हो, संपूर्ण आयुतक सुखका उपभोग लो, पुत्र और नातों के साथ अपने घरमें खेलते हुए मजेसे रहो ॥ ४२ ॥ प्रजापति संतति उत्पन्न करें, अर्यमा दीर्घायु देवे । यह वधू शुभ लक्षणों से संपन्न होकर पतिकुलमें प्रविष्ट होवे और द्विपादचतुष्पादोंके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ४३ ॥ यह वधू अपनी (अघोरचक्षुः) आंखें क्रूर न बनावे अर्थात् क्रोध न करे, (अपतिघ्नी) पतिका घातपात न करे, पशुओंके लिये सुख देनेहारी बने, उत्तम मनवाली और तेजस्विनी होवे, (वीरसूः) वीर संतान निर्माण करे, (देवकामा) ईश्वरकी भक्ति करे और द्विपाद-चतुष्पादोंके लिये सुख देवे ॥ ४४ ॥

नूतन विवाहित पतिपत्नी अपने घरमें प्रविष्ट होते हैं, सब संबन्धी जन इष्ट जन, तथा पारिवारिक जन इकट्ठे हुए हैं वधू पतिके घरमें प्रवेश कर रही है, सब लोग उसको शुभाशीर्वाद देनेके लिये उत्सुक हैं, ऐसे समय —

"हे वधू! तू अपने पतिको सुख दे, वीर पुत्र उत्पन्न कर और (देवकामा) परमेश्वर-भक्ति करती हुई मनमें शुभ भाव धारण कर।" (१)

यह आशीर्वाद योग्य होगा अथवा —

" हे वधू ! तू अपने पतिको सुख दे, वीर पुत्र उत्पन्न कर और (देवृकामा) देवर को – पतिके भाईको (इस पतिकी मृत्युके पश्चात्) संभोग देने की इच्छा अभीसे धारण कर । " (२)

यह आशीर्वाद योग्य होगा? अपनी पुत्री ससुरालमें जा रही है अथवा अपनी पुत्रवधू अपने घर आ रही है, ऐसी कल्पना करके इसका विचार करेंगे, तो पाठकों को, विशेष कर स्त्रियोंसे पूछा जाय तो उनसे निःसंदेह यही उत्तर आवेगा कि 'पतिव्रता स्त्रियोंके लिये पहिला आशीर्वाद हि श्रेयस्कर प्रतीत होगा।' पहिले आशीर्वादवाला मन्त्र ऋग्वेद और अथर्ववेद पिप्पलादमें है, तथा कई हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसार अथर्ववेद शौनकसंहिता में भी है । दूसरा आशीर्वाद (यदि उसको आशीर्वाद कहा जाय) तो केवल एक हि शौनक शाखामें थोडेसे पुस्तकों में मिलता है । बहु-संमतिसे देखा जाय तो 'देवकामा' पद शुद्ध है, इस में बहु-संमति है और 'देवृकामा'के लिये एक ही संमति है ।

प्रसंगका महत्त्व देखकर आज कौन ऐसा है, जो अपनी पुत्री को, पुत्रवधूको ऐन गृहप्रवेशके शुभमंगल समय में " इस पतिकी मृत्युके पश्चात् तुम्हारे शरीर का भोग करने के लिये पतिका भाई है, अतः उसके ऊपर भी अभीसे कामुकता रखो " ऐसा कहने का साहस करेगा ? अतः यदि निष्पक्ष होकर खोज की जाय, तो ऋग्वेद में जो 'देवकामा ' पाठ है, वही शुद्ध और उत्तम है, ऐसा कहना पडेगा । तथापि अथर्ववेद की एक संहितामें कई पुस्तकों में ' देवृकामा ' पाठ है, सायणाचार्यने वह माना है, अतः उसको आपत्काल के नियोगधर्मके लिये माना जाय, तो भी चरितार्थता होगी । परन्तु जहां वैसा पाठ नहीं है, वहां जानबूझ कर मानना और वेद में प्रक्षेप करके हस्ताक्षेप करना किसी को भी योग्य नहीं है ।

पं० जयदेवशर्माजी ।

आश्चर्य की बात यह है, कि पं० जयदेवशर्माजीने अपने अथर्ववेदभाष्यमें (भाग ३ में) पृष्ठ ५५९ में इस मंत्रकी टिप्पणी में ऋग्वेदमें ' देवृकामा ' पद है, ऐसा लिखा है, यह सरासर अशुद्ध है । पं० जयदेवशर्माजी वारंवार म० विटनी और पिप्पलाद का उल्लेख करते हैं, परन्तु यहां जानबूझकर न विटनी का मत लिखा है और नाही पिप्पलाद का आधा पाठ दिया है, फिर पूर्वका आधा क्यों नहीं दिया ?

आप सब जगह अपने अथर्ववेद में विटनी महोदय का मत लिखते हैं और पिप्पलाद का पाठ भी लिखते हैं, फिर यहां जानबूझकर अधूराहि क्यों दिया ? जो ऋग्वेद का पाठ देने में जानबूझकर अशुद्धि करते हैं, वे पिप्पलाद का शुद्ध पाठ क्यों नहीं देते ? अस्तु । इस कारण स्वाध्यायमण्डलद्वारा जो ऋग्वेद में पाठ छापा है, वही ' देवकामा ' पाठ शुद्ध है । इस पाठ से मंत्र ऐसा होता है ।

वीरसूर्देवकामा स्योना ।
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
(ऋग्वेद १०।८५।४४)

ऋग्वेद में ' देवृकामा ' ऐसा एक भी पद नहीं है। इस मन्त्र में अथवा किसी भी अन्य मन्त्र में ' देवृकामा ' ऐसा पद ऋग्वेद में कहीं भी नहीं है।

वेद में प्रक्षेप करना पाप है !

वैदिक यन्त्रालयवालोंने ऋग्वेद में अशुद्ध छापा है और यदि आर्यसाहित्यमण्डलने भी वैसा छापा होगा, तो वह भी अशुद्ध ही है। **वेदों में इस तरह का हस्ताक्षेप करना बडा पाप है। यह बडा ही अधम कृत्य है।** किसी तरह इसका समर्थन नहीं हो सकता !

क्या इसी तरह वेदोंका स्वतःप्रामाण्य है, कि जिसमें मनमाना पाठ छापा जाय ? कई लोग जो कहते हैं, कि आर्यसमाजियोंने वेदोंमें भी हस्ताक्षेप किये हैं और अशुद्ध पाठ प्रचलित किये हैं, वही बात इस तरह के अपपाठ के मुद्रण के प्रत्यक्ष उदाहरणसे सत्य सिद्ध हो रही है ! सब आर्य प्र० सभाएं इसका अच्छा विचार करें। हमें भी इस तरह के प्रक्षेप का ज्ञान नहीं था, जो म० प्यारेलालजी के पत्रद्वारा ज्ञान हुआ है। मेरे विचारसे यदि वैदिक यंत्रालयवालोंने तथा आर्यसाहित्यमण्डलवालोंने जान–बूझकर ऐसा अपपाठ मुद्रित किया है, तो वह एक बडे लांच्छन की बात है।

म० प्यारेलालजी कहते हैं कि, इससे नियोग सिद्ध नहीं होगा। ऋग्वेद के इस मंत्रसे नियोग न सिद्ध हुआ, तो कोई हर्ज नहीं है, नियोगके लिये अथर्ववेद का मंत्र मिल जायगा ! और नियोग सिद्ध होने पर भी गत ५० वर्षों में किसी एक आर्य ने भी नियोग किया नहीं है, इस लिए वानप्रस्थीजी को घबराने का कोई प्रयोजन नहीं है ! और नियोग न करती हुई भी किसीके भाई की धर्मपत्नी (देवकामा) ईश्वरउपासना करती रही, तो जगत् का प्रलय निःसन्देह नहीं होगा ! किसी स्त्री को नियोग करना है, इस लिये ऋग्वेद के मंत्र का पाठ हि बदल देना यह कोई धर्म की बात नहीं है। वानप्रस्थाश्रमवासीमें नियोग का वचन न मिलनेसे घबराहट होने का भाव शोभा नहीं देता ! नियोग ऐसा धर्म नहीं है कि जो प्रत्येक को अवश्य ही करना चाहिये।

अस्तु। ऋग्वेद में ' देवृकामा ' पद नहीं है। 'देवकामा' ही है। स्वा० मण्डल में इस मंत्र के विषय में न छापेकी अशुद्धि हुई है और न किसी अन्य प्रकार की अशुद्धि है। यह मंत्र जैसा शुद्ध छापना चाहिये, वैसाही छापा है। वानप्रस्थाश्रमीने जो यह अशुद्ध लेख छापा, उसका प्रयोजन हमारे ध्यानमें नहीं आता है। परमेश्वर ऐसे लोगोंसे वेद को बचावे !

क्या यह प्यारेलालजी की मूर्खता है, अज्ञान है वा दुराग्रह है ? वे ही शान्ति से सोच लें। निःसन्देह यह उनके अज्ञान की घमण्ड का अद्भुत प्रदर्शन है। ऐसा प्रदर्शन वे न करते तो अच्छा होता !

सार्वदेशिक सभासे अपील।

अजमेर वैदिक प्रेसवालोंने ऋग्वेद १०।८५।४४ में 'देवृ–कामा ' ऐसा अशुद्ध पाठ घुसेडकर अनर्थ किया है। इससे यह सिद्ध हो रहा है, कि आर्यसमाजी वेदोंमें भी प्रक्षेप करते हैं और मनमाने शब्द घुसेड देते हैं। यह संपूर्ण आर्यजनता पर बडा कलंक है। इसलिये श्रीमती आर्य सार्वदेशिक सभाको इस समय जाग्रत होकर उठना चाहिये और संपूर्ण आर्यप्रतिनिधिसभाओं को सचेत होना चाहिये और वैदिक यन्त्रालय के इस अपकृत्य का उनसे जवाब पूछना चाहिये। यदि इस समय यह कार्य सार्व–देशिक सभा न करेगी तो वेदमें प्रक्षेप सहन करनेका पाप उनपर चढेगा और इससे वेदमें प्रक्षेप करनेवालोंको वेदका स्वतःप्रामाण्य ही मान्य नहीं है, ऐसा इससे सिद्ध होगा।

अब देखना है, कि पं० ब्रह्मदत्तजी इस प्रक्षेप को योग–सामर्थ्य और तपोबलसे ठीक बताते हैं, या इसको अशुद्ध मानते हैं। पक्षपातियों के मत का कोई पता नहीं लगता।

यदि किसी में ' सत्य के ग्रहण और असत्यको त्यागने का धैर्य है ' तो वह अपना मत इस विषयमें स्पष्ट रूपसे लिखें।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

(१) महाभारत आदिपर्व मू. ६) डा०व्य० १।)
,, सभापर्व २॥) ॥)

(२) संस्कृतपाठमाला। १अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मू. ४) ॥)
२४ अंकोंका मू. ६॥) ॥।=)

(३) वै.यज्ञसंस्था भाग १ मू. १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू.१॥।) ॥)

(६)भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १८ प्रत्येकका मू० ॥) डा. व्य.=)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदस्वयंशिक्षक भा.१-२मू.१॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।

१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)

(१०) यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय ॥=)≡)

(११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।

१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)

(१४) आगमनिबंधमाला।

१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ वैदिक जलविद्या।	=)	-)
१६ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१७ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	८)

१५ उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।

१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से६भाग	४॥)	१॥)
३ गीताश्लोकार्धसूची	।=)	=)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	॥।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुजीका भ्रमवाद !

'आर्यमित्र' के २१ जौलाई के अङ्क में पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुजी का एक बडा विस्तृत लेख छपा है। इस लेख में जितना भ्रान्त विचारों का प्रचार उन्होंने किया है, उतना दूसरा कोई लेखक कर नहीं सकता।

एक अद्भुत असभ्य प्रथा।

इस ऋषिदेवताछन्द आदि विषयकी शास्त्रचर्चा का प्रारम्भ पं० ब्रह्मदत्तजीने किया है, यह सबको पता है। अब पं० ब्रह्मदत्तजी युक्तप्रान्त के सामाजिक मन के बनने बिगाडनेवाले कर्ताधर्ता हुए हैं। युक्तप्रान्त की आर्य प्र० सभाका मुखपत्र 'आर्यमित्र' है, जिसकी नीति उसी सभाके आधीन है। इस पत्र में पं० ब्रह्मदत्तजी के भ्रमप्रचार करनेवाले लेख तीन तीन पृष्ठों के छप सकते हैं, परन्तु उस भ्रमका निरास करनेके लिये मैंने लेख लिखे, तो उनके लिये दो दो मास स्थान नहीं दिया जाता, और जब छापे जाते हैं, तब कांट छांट करके छापे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि पं० ब्रह्मदत्तजी ही इस नीतिके प्रवर्तक हैं।

आर्यमित्र के सम्पादक महोदयजीसे पूछनेपर उनका उत्तर आया, कि सभा की नीतिके अनुसार आर्यमित्र में लेख छापे जांयगे। इस उत्तर का स्पष्ट अर्थ यह है, कि आर्यमित्र में पं० ब्रह्मदत्त, म० प्यारेलाल वैश्य जैसों के असत्य भाववाले लेख तो जितने चाहे छपेंगे, परन्तु उनका प्रतिवाद करनेके लिये लिखे लेख दो दो मास छापे नहीं जायंगे और जब कभी छापे जांयगे, उस समय भी कांट छांट कर निःसार रूपमें छापे जांयगे। सत्यपक्ष जनता के सम्मुख न आने देना ही इस कुव्यवहारके अन्दरसे स्पष्ट दीखता है।

जब आर्य प्र० सभा शास्त्रार्थ के लिये आह्वान देती है और अपने मुखपत्र में झूठमूठ असत्य विचारों से परिपूर्ण लेख छापा करती है, तो सभ्यता तो यही चाहती है, कि प्रतिपक्ष के लेख भी उसी पत्र में छापे जांय, चाहे उसी पत्र में उनका खण्डन भी क्यों न किया जाय, परन्तु प्रतिवाद के लेख ही न छापना यह नीति सत्यासत्यनिर्णय के लिये सर्वथा अयोग्य है, और शास्त्रार्थ के लिये आह्वान देनेवालों के लिये तो यह गर्हणीय ही है। जो आह्वान नहीं देते, जो शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते, वैसे स्वाध्यायमण्डल के मुखपत्र 'वैदिक धर्म' में विरुद्ध लेख छापना या न छापना सम्पादक की इच्छापर निर्भर है, परन्तु शास्त्रार्थ का आह्वान देनेवाले आर्यमित्र के लिये वैसी बात नहीं हो सकती।

जो हुआ सो हुआ। अब यह बात निश्चित हुई, की आर्यमित्र में पं० ब्रह्मदत्तजी जैसों के भ्रांत विचारवाले लेख भरपूर छापे जायंगे और पं० सातवलेकरजी के लेख छापे नहीं जांयगे, क्योंकि वैसी सभाकी नीति है। सभा की नीति दोनों पक्षों के लेख छापनेकी नहीं है।

सडावट कहां है ?

पाठक इस से जान सकते हैं, कि कहां की भूमि कैसी है और सडान कहां हो रही है। इसी सभाकी नीतिसेहि सत्यासत्यका निर्णय पाठकों को ज्ञात हो सकता है। यदि पं० सातवलेकरजीका पक्ष असत्य है, तो उनके सम्पूर्ण लेख छापकर एक एक बातका खण्डन करो। ऐसा क्यों नहीं होता, इस का कारण स्पष्ट है।

इसलिए जबतक उत्तरपक्ष के लेख शीघ्र और

सम्पूर्ण आर्यमित्रमें छापनेका वचन नहीं मिलेगा, तबतक इसके पश्चात् पं० ब्रह्मदत्तजी अथवा उनके पक्षके किसी भी लेखका कोई विचार हम नहीं करेंगे ।

पं० ब्रह्मदत्तजी का धोखा ।

पं० ब्रह्मदत्तजीने पहिले लेख में लिखा था, कि ' चत्वारि शृंगा ' मन्त्रके देवता ' अग्नि-सूर्य-आप्-गौ-घृत ' आदिका कोई सम्बन्ध सूक्तके साथ बता नहीं सकता । "

इस पं० ब्रह्मदत्तजी के अनार्ष और असत्य विधान का मैंने खण्डन किया और इनका सूक्त के साथ सम्बन्ध बताया और यह भी दर्शाया, कि श्री० स्वा० दयानन्दजीके भाष्य में भी येही देवता लिए हैं और वहां सम्बन्ध दर्शाया है । (देखो मेरे लेख वैदिक धर्म में तथा आर्यमित्र में छपे)

इतना होनेके पश्चात् उनको उचित था कि वे अपनी भूल मानते और वाद समाप्त करते । परंतु हठी लोग ऐसा क्यों करेंगे ? वे कभी अपनी भूल मानेंगे हि नहीं, वैसाही पं० ब्रह्मदत्तजीने किया और इस लेख में लिखा, कि ' उतने देवता स्वामि-भाष्य में मान लिये तो आपत्ति क्या है ? ' आपत्ति मुझे कोई नहीं; परन्तु जिसने लिखा था, कि ' इन देवताओं का कोई सम्बन्ध नहीं बता सकता ' उनको (अर्थात् पं० ब्र० द० को,) बडी भारी आपत्ति है । अतः यदि पं० ब्रह्मदत्तजी में सत्यप्रीति है तो, वे अपना वाक्य वापस लें । अन्यथा आगें बातचीत करना उनके ऐसे हटके कारण असम्भव है ।

अनियत देवतावाद ।

हम कहते हि थे, कि पं० ब्रह्मदत्तजी अनियत देवतावाद को मानते हैं । वही स्वयं उन्होंने इस लेख में लिखा है । वे लिखते है कि– " हम (पं० ब्रह्मदत्तजी) तो मानते हि हैं, कि देवता अनियत हैं ! " (देखो, आर्यमित्र पृ० ८ कोलम ३) इतना कहकर आगे लिखते हैं, कि– ' यदि हम (पं० ब्रह्मदत्तजी) सर्वानुक्रमणी के भी देवता मान लें, तथा अन्य के भी तो हमें कौन रोक सकता है ?'

' पं० ब्रह्मदत्तजी के मतसे वेदके देवता रेलवे के पैसेंजरट्रेनके थर्ड क्लास पैसेंजर जैसे हैं ' मर्जी चाहे पैसेंजर भरे जांय, कोई रोकनेवाला नहीं ! जगह न रही तो एक दूसरों पर बैठ जांय !! ऐसी वेदकी दुर्दशा इस समयतक किसीने भी नहीं की थी । और श्रीस्वामिजी का भी ऐसा पक्ष कभी नहीं था । अनियत देवतावाद तो किसीने इस समयतक माना नहीं है । देवता नियत हैं, उनके लिंग मन्त्रमें होने चाहिए, जिनके लिंग मन्त्रमें नहीं हैं, उनको देवता मानना सर्वथा असंगत है । मन्त्रमें देवतालिंग नियत होनेके कारण मन्त्रके देवता भी निश्चितहि होते हैं । जैसा पं० ब्रह्मदत्तजीने कहा, उस तरह अनियत देवता मानना एक भ्रममात्र है । चाहे जितना हठ किया जाय, तो भी अनियत देवतावाद शास्त्र-प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है, कि यदि पं० ब्रह्मदत्तजीके मतसे देवता अनियत है, तो किसीने स्वामिजीके देवता न माने तो उसपर क्रोध वे क्यों करते हैं । देवता निश्चित मानने पर क्रोध हो सकता है, परंतु अनियत और असंख्य देवताओंकी संभावना एक वार माननेपर कौनसा योग्य और कौनसा अयोग्य किस तरह निश्चित किया जा सकता है ? वेदमन्त्र लो और जो मर्जी चाहे देवता निकालो और मर्जी चाहे उसका अर्थ करो !!! धन्य है पं० ब्रह्मदत्तजीका देवतावाद । यह देवतावाद नहीं प्रत्युत असुर-वाद है ।

जहां ऋषि-देवता-छन्द-अर्थ अनियत हुए, वहां वेदका स्वतःप्रामाण्य किस कामका ? आज जो अर्थ किया जाय, वह कल बदलेगा और परसों तीसरा ही होगा ? वेद जो अनादि काल से वैदिक परंपरा-द्वारा एक अक्षर का हेरफेर न होते हुए इस समय तक हमारे पास आए हैं, वे ऐसे अनियत होनेके कारण नहीं आए । वेदमन्त्रोंका क्रम, वेदमन्त्रोंके अक्षर, अक्षरानुपूर्वी, ऋषि-देवता-छन्द-अर्थ नियत निश्चित और अटल होनेके कारणहि उनकी

मान्यता है। नियम के अनुसार यह सब निश्चित है और ये नियम वेदके आंतरिक प्रमाणोंसे इस समय में भी हम जान सकते हैं। यही वेदका महत्त्व है। हमारे समझ में नहीं आता कि अजमेर में अशुद्धियां छपने के कारण इस सब प्राचीन वेद-प्रणालीको तोडनेके लिए पं० ब्रह्मदत्तजी क्यों तैयार हुए? ये तैयार होंगे, पर वैसा कौन विद्वान् ऐसी अनवस्था को मान सकता है? क्या अकेलेहि पं० ब्रह्मदत्तजी इस विश्वमें हैं और दूसरा कोई विद्वान् इस भूमण्डलपर नहीं है?

योग की हँसी।

योगबल और तपोबल की हँसी ब्रह्मदत्तजी कर रहे हैं, जो योगबल और तपोबलसे अशुद्धियोंको शुद्ध सिद्ध करने के यत्न में सदा रहना चाहते हैं। मैं तो योगबल और तपोबल को मानता हूं, परन्तु उसके द्वारा अशुद्ध को शुद्ध सिद्ध करना महापाप है, जो पं० ब्रह्मदत्तजी कर रहे हैं। अतः इन दैवी शक्तियोंकी हँसी तो वे ही कर रहे हैं, नहीं तो किसको ऐसा हौसला हो सकता है, कि अशुद्ध छन्दों को भी शुद्ध बता दें।

अशुद्धियां हुईं तो क्या हुआ?

पं० ब्रह्मदत्तजी कहते हैं, कि "अजमेरमुद्रित वेदों में दसबीस अशुद्धियां हुईं तो क्या हुआ?" क्या कोई वेदज्ञ ऐसा कह सकता है? अशुद्धियों के कारण धर्मग्रन्थ का स्वतःप्रामाण्य मारा जाता है। इसलिये हमारा यत्न होना चाहिये, कि वेदमें एक भी अशुद्धि नहीं रहे। हमने इसी लिये अशुद्धियों की खोज करनेके लिये पारितोषिक भी देना स्वीकार किया है। जिससे एक एक पंक्ति खोजी जावे और वहां एक भी अशुद्धि न रहे। अब ये कहते हैं, कि अजमेर-मुद्रित वेदमें १०।२० अशुद्धियां रहीं, तो क्या हुआ?

एक भी अशुद्धि मारक सिद्ध होती है। अजमेरमुद्रित ऋग्वेद में १०-८५-४४ में 'देवृकामा' छपा है। वहां चाहिये 'देवकामा'। यह एकहि अशुद्धि ऐसी है, कि जिसके कारण मनुष्य के व्यवहारका बदल जाना सम्भव है। 'देवृकामा' का अर्थ है 'देवर को शरीरभोग देनेकी इच्छा करनेवाली' और 'देवकामा' का अर्थ है 'देवता की उपासना करनेवाली'। घरमें आयी धर्मपत्नी क्या करे और क्या न करे, इसका निर्णय वेदके उक्त वचन के निश्चय से हो सकता है। अशुद्ध पाठ छपनेपर कितना अनर्थ होना सम्भव है, इसका पाठक विचार करें। और पं० ब्रह्मदत्तजी का कहना- कि '१०-२० अशुद्धियां वेदमें रहीं तो क्या हुआ'- सोच लें, कि यह मत कितना अनर्थकारी हो सकता है?

हमारा प्रयत्न तो एक भी अशुद्धि वेदोंमें न रहे, इसकी सिद्धि के लिये होना चाहिये। ऐसा यत्न करनेपर दृष्टिदोष से जो रहेंगी उनको भी निकाल देना चाहिये। यही प्रयत्न की दिशा होनी आवश्यक है। अशुद्ध को योगबल से शुद्ध सिद्ध करनेका यत्न किसीको भी शोभा नहीं देता।

क्या अर्थ देवता है?

आगे ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका एक वाक्य लिखकर पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं, कि 'मन्त्रस्य अर्थ-स्तस्य देवता' ऐसा स्वामिजीने लिखा है। अतः 'अर्थ हि देवता है'। यहां तो ब्रह्मदत्तजी की बुद्धि की समाप्तिहि हुई है। क्योंकि स्वयं स्वामिजीने अपने भाष्य में क्या किया है, यह देखकरहि इसका आशय समझना उचित है। 'सैंधवमानय' वाला न्याय यहां लगता है। जरा स्वामी भाष्य खोलकर देखिए।

स्वामिभाष्य ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सूक्त प्रथम देखो (पृ० १०)—

(१) "अथादिमस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः, अग्निर्देवता। तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निशब्देनेश्वरेण आत्मभौतिकावर्थावुपदिश्येते॥"

'यहां प्रथम मन्त्रमें अग्नि शब्द करके अपना और भौतिक अर्थका उपदेश किया है।

इस मन्त्रका अर्थ आत्मिक और भौतिक किया है और भावार्थ में दर्शाया है, कि शिल्पविद्याकी उन्नति करनी चाहिए।

यदि अर्थहि देवता होगा तो इस मन्त्रके देवता

आत्मा-परमात्मा और आग ये होने चाहिए थे। परन्तु देवतावाचक वाक्य में केवल 'अग्नि' हि पद है। और इस पदके स्वामिजीने उक्त दो तीन अर्थ किए हैं। परन्तु यहां अर्थको देवता नहीं माना।

(२) इसी सूक्त के छठे मन्त्रमें 'अथैकः परमार्थ उपदिश्यते' (अब अग्नि शब्दसे ईश्वरका उपदेश किया है) इस छठे मन्त्रमें स्वामिजी के मतसे केवल परमात्मा का ही वर्णन है, परन्तु देवता अग्नि हि है, यहां भी परमात्मा देवता नहीं माना। यदि अर्थ देवता होता, तो यहां अग्नि देवता न होकर परमात्मा देवता लिखा जाता। सो स्वामिजीने नहीं लिखा। अर्थात् यहां भी अर्थ देवता नहीं माना है।

(३) आगे ऋग्वेद द्वितीय सूक्त प्रथम ३ मंत्रों का देवता 'वायु' लिखा है। (पृ० ३० देखो) यहां स्वामिजी ने 'वायु' का अर्थ 'ईश्वर और वायु' किया है। परन्तु ईश्वर को देवता न मानकर वायुको हि देवता माना है। द्वितीय मन्त्रमें वायु शब्द का अर्थ 'ईश्वर' किया है। तृतीय मन्त्रमें भी वायु-पदका अर्थ ईश्वर किया है। परन्तु तीनों मन्त्रों का देवता 'वायु' हि माना है।

इसी सूक्त के द्वितीय तीन मन्त्रों का देवता 'इन्द्रवायु' है। इन्द्रवायु का अर्थ 'सूर्यपवनौ' चतुर्थ मन्त्र में, पंचम मन्त्रमें 'सूर्य और ईश्वर,' और षष्ठ मन्त्र में 'ईश्वर, सूर्यप्रकाश और वायु' किया है; परन्तु सर्वत्र देवता 'इन्द्रवायु' ही लिखा है।

इसी सूक्त के तीसरे त्रिक का देवता 'मित्रावरुणौ' है और इन शब्दोंका अर्थ सप्तम मन्त्रमें 'सूर्य प्राण' किया है, परन्तु देवता के स्थानपर 'सूर्य और प्राण' रखा नहीं हैं, मित्रावरुणौहि रखा है।

(४) ऋग्वेदके तीसरे सूक्तके प्रथम त्रिक का देवता 'अश्विनौ' है। इस 'अश्विनौ' पद का अर्थ 'जलाग्नी' किया है, परन्तु देवता के स्थानपर 'जल-अग्नि' नहीं रखा, परन्तु प्राचीन परंपराके अनुसार 'अश्विनौ' हि रखा है।

इस सूक्त के द्वितीय त्रिक का देवता 'इन्द्र' है, इस पदका अर्थ चतुर्थ मन्त्र में 'परमेश्वर, सूर्य,' पंचम मंत्रमें 'परमेश्वर' और षष्ठ मन्त्रमें 'वायु' किया है। तौ भी अर्थ भिन्न करनेपर भी देवता वही 'इन्द्र' माना है।

इसी तरह भाष्यमें सर्वत्र व्यवस्था है। किसी जगह अर्थ को देवता मानकर देवता बदला नहीं है। किसीने भी इस समयतक अर्थ को देवता मानाही नहीं, फिर स्वामिजी कैसे मानते?

पं० ब्रह्मदत्तजी अपना अशास्त्रीय मत स्वामिजी के नामपर मढना चाहते हैं और उनके यशको कलंकित करने में अपनी विद्वत्ता का महत्त्व बढेगा, ऐसा मानते हैं। परन्तु उनके अनन्त प्रयत्न करनेपर भी उनका पक्ष विद्वानोंके सामने सिद्ध होनेवाला नहीं है। उनका पक्ष शायद अनपढ लोग भ्रममें फंसकर मानेंगे तो मानेंगे।

अतः मंत्रका अर्थ 'मंत्रका देवता' नहीं है और अर्थ बदलनेपर भी मन्त्रका देवता बदल नहीं सकता। पं० ब्रह्मदत्तजी अपना अशास्त्रीय मत बार बार क्यों लिखते हैं, इसका कारण इतनाही है, कि अजमेर वैदिक यन्त्रालयमुद्रित वेदोंमें ऋषि-देवता-छन्दोंकी अशुद्धियां बहुत सी छप चुकी हैं। दूसरी किसी युक्तिसे उन अशुद्धियों का निराकरण नहीं हो सकता, इस लिए ये स्वयं इस अशुद्धिप्रवाह में डूबते हुए चञ्चलदेवतावादके तिनकेके सहारेसे बचना चाहते हैं।

सबका हित।

आचार्य का, संघका, मनुष्यजातिका और वैदिक धर्मका सच्चा हित अशुद्धियोंकी रक्षा करनेसे कभी होनेवाला नहीं है। सब अशुद्धियोंको एकदम हटा देनेसेहि सत्य-धर्मका प्रकाश होनेवाला है। जो धर्म-ग्रन्थों में अशुद्धियों को सुरक्षित रखनेके अनेक बहाने निकालने में अपनी बुद्धिका निरर्थक व्यय कर रहे हैं, वे ही धर्मके विघातक और धर्मके द्रोही हैं।

सम्पूर्ण भविष्यकाल किसी व्यक्तिके आधीन नहीं होता, इसलिए भविष्यमें सत्यधर्म अवश्य प्रकट होगा, ऐसा ध्यानमें धारण करके असत्यका समर्थन करनेके असद् व्यवहारसे विद्वानों को हटना ही उचित है।

देवताओंकी खोज

(लेखक- श्री० पं० दीनानाथजी शास्त्री चुलैट, इन्दौर)

आजसे दस वर्ष पहिले यदि कोई मुझसे पूछता, कि क्या आपने कभी वरुण, इन्द्र, प्रजापति, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु, अदिति, यम, अग्नि आदि देवोंको कभी देखा है? तो मैं वही जवाब देता जो आज भारत का शास्त्रीवर्ग या पण्डितवर्ग दे सकता है- अर्थात् यह सब देवता हैं, इनका वास्तव्य अन्तरिक्ष में है। जो दिव्य शक्तिके जाननेवाले हैं, वेही अपने दिव्य शक्ति द्वारा देख सकते हैं। हमारा पालन, पोषण, रक्षण आदि सब इन्हींके हाथ में है।

किंतु आजका युग भावनामय बातोंको तो जगह ही नहीं देता। मैं कई दिनोंसे इस बातके पीछे पडा था, कि तमाम देवताओंको प्रत्यक्ष देखूं। कई कीर्तनकारों, कथाकारों, पुराण-वाचकों, साधु-सन्तों, योगिजनोंसे मिला- साक्षात्कारके सम्बन्ध में खूब गहरी चर्चा की। कोई कहता था प्राणायाम बढाओ, कोई कहता था तप करो, तो कोई कहता था आसन जीतो, तो कोई कहता था योग-साधन करो। एक महाशय तो कहने लगे, इस बहतीपूरकी नदीमें कूद पडो, तब तुम्हें ब्रह्म दीखेगा। मेरा पुराण-वाचनका स्वतः का उद्योग ही था। तमाम अठारहों पुराण छान डाले, किंतु कहीं मुझे सन्तोष नहीं मिला।

धुन मुझमें रात-दिन यही सवार थी, कि मैं ईश्वर की खोज करूं, और सर्वांतर्यामीसे नित्य प्रातःस्मरण में यही आकांक्षा करता था, कि आप मुझे दर्शन दें। अपनी महिमा दिखायें। इस आत्मप्रेरणाका फल यह हुआ, कि रात्रिके ४ बजे ब्राह्म मुहूर्तमें मुझे एक महत् शक्तिने एकदम निद्रासे उठाया और कहा-

'कलियुग बीत चुका सत्युग आ गया! उठ
यत्न कर, वेदार्थ समझेगा।

यह क्या था? आवाज कहांसे आयी। आंखें मलते इधर-उधर देखने लगा। कौन है? आवाज किसने लगायी? उत्तर नदारद। बडी भारी सनसनी दिलमें पैदा हो गयी। रोमांच हो गया। खिडकी खोली, दरवाजे खोले और कहनेवालेको निहारने लगा, किंतु कहीं कुछ नहीं। एक लम्बी सांस ली और कुछ सोनेकी चेष्टामें लगा। इतने में सूर्योदय भी हो गया। मेरा वाल्मीकि रामायणपर कथा करना चालू ही था, मैं अपने नित्य नैमित्तिक कामोंमें जुट गया। उपरोक्त घटनाको मनोविचारसे हटानेकी पूर्ण तैयारी की। किंतु क्षण-क्षण में वही आवाज मेरी आत्मा में चुभने लगी।

आत्मामें सृजित हुई उत्ताल तरंगोंने मेरे हृदयको हिला दिया। मैं बार-बार समझने लगा- प्रभु! मुझे और कितने कठिन काम सौंपते हो। मैं एक अज्ञानी तुच्छ व्यक्ति हूँ- न तो किसी विषय का विद्यामार्तण्ड हूं, न महामहोपाध्याय हूं, न किसी बडे कालेजका प्रिंसिपल हूँ। मेरी कौन सुनेगा। इस किंकरसे क्या कार्य हो सकेगा? नाथ! मुझे क्षमा करो।

घर आनेपर विशेष समर्थन।

वाल्मीकीय रामायणकी (वाचन) कथा पूरी करके ३० मील जगहसे अपने घर लौटा। साक्षात्कारकी तमाम बातें अस्तगत-सी हो गयी थीं। घरमें बच्चोंसे मिला। मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० गोपीनाथ गांव ही में श्रीमद्भागवतकी कथा कह रहे थे। वे सायंकाल कथा पूरी करनेके बाद मुझसे मिले। इस मुलाकातमें मैं उनसे कुशल वार्ताकी बातें सुननेके लिये उत्सुक था और सोचता था, कि ये मुझे भारतकी कुछ नयीपुरानी खबरें सुनावेंगे। किन्तु उन्होंने तो उस मेरी भूली हुई समस्यामें एक अभूतपूर्व कुतुहल पैदा कर दिया।

वास्तवमें मेरे इनके तीस मीलका अन्तर किन्तु उसी रोजवाली रात्रिके ब्राह्म मुहूर्तकी घटना जो मुझको वही उनको।

इतना होनेपर भी मनोदौर्बल्यने अपना अड्डा जमानेमें कमी नहीं की, क्योंकि आज सारा संसार कलियुग मान रहा है। हम भी तो कथा कहनेमें कलियुग ही की महिमा सुनाते हैं। क्या पुराण-वाचक, कीर्तनकार, साधु, सन्त, ब्राह्मण कहांतक कहें घर-घर सन्ध्यासमय कलियुगके नामहीसे संकल्प हो रहा है। ऐसी जबर्दस्त कलियुगी महिमा कैसे हटायी जा सकती है। और वेदोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। यह हमारे भारतवर्षहीका नहीं; वरन् समस्त संसारका पवित्र ग्रन्थ है। इसपर सायणाचार्य, उबट महीधर, विद्यावारिध पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र मुरादाबाद, और स्वा० दयानन्दजी, लोक-मान्य तिलकमहाराज, सातवलेकरजी आदि पौर्वात्य और जर्मन पण्डित मैक्समुलर आदि पाश्चिमात्य पंडितोंने कई अपने आप निरन्तर भाष्य बना डाले हैं, और कई पंडितवर्ग आज बना भी रहे हैं, तो इन प्रखर पण्डितोंके बने-बनाये कार्यमें तुम क्या विशेषता दिखा सकोगे ?

आत्माने उत्तर दिया-जरूर दिखा सकते हो। जो बात किसीके टटोलने या देखनेमें नहीं आयी या उसके दृष्टि-ओटमें रह गयी; और तुम्हारी दृष्टिमें जब वह आ गयी, तब तो उस रहस्यको इस भयसे छिपाये रखना, कि आज तकके लोगोंकी दृष्टिमें यह विषय जब नहीं आने पाया, तब हम भी क्यों कर सामने रक्खें ? यह बात न्यायसंगत नहीं है। न्याय पुकारकर कहता है, जिसको जो पता लगे, संसारके सामने रख दो। संसार जौहरी है; वह फौरनही उपयोगी बातोंको बटोर लेगा। कहा भी है-

'प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः। समुद्धरंति ह्यात्मानमात्मनैव शुभाशयात् ॥१९॥ आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः। यत् प्रत्यक्षानुमाना-भ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥

(श्रीकृष्ण-भागवत ११ स्कंध, अ० ७, श्लोक २०।)

उपरोक्त न्याय-संगत आदेश शिरोधार्य कर मैंने आरम्भहीमें वेद-काल यानी वेदोंके कालनिर्णयके मैदानमें दृष्टि दौडायी। इस विषयमें हमारे राष्ट्रके धुरन्धर नेता प्रातःस्मरणीय लो० तिलक महोदय का महान् परिश्रम उनके वेद-कालनिर्णयमें मिला देखकर सन्तोष हुआ। केवल मृगके सम्पात ही पर अपनी काल-निर्णयकी मर्यादा उनके द्वारा की हुई मिली। इनकी इस तय की हुई मर्यादासे आगे चित्रा और स्वातीके बीचका सम्पात शतपथब्राह्मणमें शततारकाके पथगामी सम्वाद-उच्च और उच्चपात आदि कई नाप (स्केल) मुझे मिले, जिससे आज-कलकी वैज्ञानिक थिअरी (सिद्धान्त) से तीन लाख वर्षसे इधरके वेद नहीं हैं ? यह अनेकानेक प्रमाणोंसे मैंने सिद्ध किया, और यह वेद-कालनिर्णय नामक ग्रन्थ संसारके तमाम विद्वानोंके सम्मुख विचारार्थ रख दिया। इसके प्रकाशित होनेको आज एक तप हो चुका किसी भी विद्वान्‌ने इसके विधान नहीं हटाये। इससे तो निःसन्देह स्पष्ट हो गया कि यह सर्वमान्य है।

इसके पश्चात् वेद और वेदोंके अर्थपर जब देख-भाल आरम्भ की तो इसके कतिपय भाष्य सम-न्वय रीतिसे ठीक पाये और कई जगह क्लिष्टता-आयी, वहां तो भाष्यकारोंने जैसेके तैसे शब्दोंको रख कर अपना रास्ता काटा। क्योंकि वेद-मन्त्रोंका प्रायः उपयोग आज केवल संस्कार मात्रमें जागृत है। धन्य है उन महर्षियोंको जिन्होंने वेदोंका अस्तित्व संस्कारोंहीके बहाने क्यों न हो, किन्तु कायम रखा है।

किसी भी यज्ञ, महायज्ञ, प्रतिष्ठ वास्तु स्वाहाकार, मौंजी, उपनयन, विवाह आदिमें देवता ही प्रधान है। इनहीके आवाहन, स्थापन, पूजन, बलिदान आदि किये विना कोई भी यज्ञ होने नहीं पाता। यही बात संस्कारोंमें भी है। तो अब देखना यह है कि यह देवता हैं कौन? और कहां रहते हैं ? यह लगन फिर और लगी। चेष्टामें लगा देवता कहां हैं ?

देवताओंकी खोज आकाशमें।

अश्विनी नक्षत्रम् अश्वयुजो देवता, भरणी नक्षत्रम् यमोदेवता, कृत्तिका नक्षत्रम् अग्निर्देवता, रोहिणी नक्षत्रम् प्रजापतिर्देवता, मृग नक्षत्रं सोमो देवता, आर्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता, पुनर्वसु नक्षत्राम् अदिति-र्देवता, पुष्य नक्षत्रम् बृहस्पतिर्देवता, आश्लेषा नक्षत्रं पितरो देवता।　　— ऋग्वेद—

इसी प्रकार क्रमशः अर्यमा, भग, सविता, त्वष्टा, वसु, इन्द्राग्नी, मित्र, निर्ऋति, आप, विश्वेदेवा, ब्रह्मा, विष्णु, वसु, वरुण, अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, पूषा, ययाति, शर्मिष्ठा, देवयानी, वासुकी, कालीय, कदम्ब, उच्चैःश्रवा, सारथी, स्वर-मण्डल, विराट् ज्योति, स्वराट् ज्योति। सम्राट् ज्योति, राट् ज्योति। द्यौ-लोक, अन्तरिक्ष-लोक, स्वर्ग-लोक, आदिकई महत्त्वपूर्ण देवता- लोक शक्ति, वीर्य, महिमा आदिका अनुसन्धान आकाशहीमें पाया गया।

जिस तरह घडियालका नाप बारह घण्टोंमें पूरा होता है। ठीक आकाशका नाप बारह राशियोंमें अथवा २८ नक्षत्रों में पूरा होता है। आजकी भाषामें हम आज जिन्हें नक्षत्र कहते हैं, वह 'नक्षतीति नक्षत्रम्' वह नहीं हिलने-डुलनेवाले अचलता सम्बो-धक विशेषण हैं, किन्तु नाम तो वास्तव में ये ही हमारे देवता हैं। जिन्होंने समग्र आकाशमें अपना ही साम्राज्य फैला रखा है, यही हमारे देवता हैं।

प्रिय वाचकवृन्द! इन्हीं देवताओं के बलपर मुझे जो खोज हाथ लगी है, वह कई लेखोंमें पूरी होगी और वही इस पत्रमें क्रमशः समझायी जायगी। संक्षेपमें आपको उन विषयोंका भी परिचय दे देता हूं, जो सिलसिलेवार आपके सम्मुख रखनेवाला हूँ।

१ देव और दानवोंका भेद।
२ स्वर्गका वास्तविक रहस्य।
३ देव और देवोंका दर्शन।
४ खगोल, भूगोल और अन्तरिक्ष।
५ खगोलके खण्ड।
६ अमृत और उसकी खोज।
७ देवताओंके कार्यकर्ता दूत।
८ देवताओंकी भद्र मण्डल पूजा।
९ श्रौत यज्ञ क्यों लोप हुआ?
१० स्मार्त ज्ञान क्या है?
११ नरमेध, अश्वमेध, वाजपेय क्या है?
१२ समुद्रमन्थनका सच्चा रहस्य।
१३ शिव-दक्ष-वैरका वास्तविक रूप।
१४ रावणके दश सिर कैसे?
१५ राधा-अनुराधा कौन थीं?
१६ हनुमानजीने सूर्यको कैसे निगला?
१७ यज्ञ-व्यवस्था क्या है?
१८ भारतका गौरव वैदिक काल में क्या था?
१९ इतिहासकालमें क्या है?
२० भारत का पुराना वैदिक ज्ञान और आजका इन्साक्लोप्पीडिया ब्रिटानिका।

उपरोक्त बातोंका विज्ञानमूलक वास्तविक अर्थ और स्वरूप न समझने ही का कारण है, कि आज चाहे जो विद्वान् भारतीय गौरवकी खिल्ली उडाने में तत्पर होता है। अतः मैं दावेके कह सकता हूँ, कि भारतको गौरव चाहनेवाले विद्वान् अपना दृष्टि-कोण वेदोंके भीतर में गडा दें निराधार और असत्य बातें समूल नाश हो जावेंगी, और उसके बदले त्रिकालबाधित वास्तविक उज्ज्वल रहस्य हाथ लगेगा, जो अकेला भारतवर्ष ही नहीं वरन् समस्त विश्वके लिए महान् उपकारी होगा।

(वेंकटेश्वर समाचार से)

असम्भव क्या है?

(लेखक- श्री० सर्वजित गौड, कुलू)

ईश्वर की माया बडी विचित्र है । यदि किसीने इसपर गौर किया हो, तो वह कह सकता है कि संसार में असंभव कोई चीज नहीं ।

जडी बूटियां वृक्षादि पृथ्वी से पैदा होते हैं, इन की उत्पत्ति जल, वायु और सूर्य की रोशनीके अनुसार होती है और हरएक की गुण की खूबी अपनी अपनी बडी विचित्र होती है । कोई किसी जीव के लिए अमृत है और वही किसी दूसरे के लिए विष है । किसी की बनावट किसी की गंध, किसी का फल, किसी का फूल, अजब ढंग और रंग का बना है, इस को देखनेवाला जानता है । कहीं वृक्ष मर्दुमखोर हैं, कहीं दूध देनेवाला, कहीं रस और कहीं लहू देनेवाला है । यदि कोई अपना घर त्याग कर दुनिया में इस विचित्रता को देखने के लिए निकले, तो वह न जाने क्या क्या देखे, जिसे सुन कर हम असंभव कह देंगे ।

जीवों की सृष्टि और भी विचित्र है । चौरासी लाख योनियां ना जाने किस किस रूपरंग में मिलें और हरएक जाति और उस का व्यक्ति दूसरी जाति और उस का व्यक्ति से निराला मिलेगा । कोई पानी में, कोई खुश्की पर, कोई अग्निमें, कोई वायु में एक दूसरे से भिन्न और मिलता जुलता भी मिलेगा, परन्तु हरएक की स्थिति अपनी अपनी और निराले ढंग की होगी । आकर, चाल ढाल विचित्र होगी । जल के मनुष्य स्थल से निराले, जल का शेर स्थल के शेर से निराला होगा । कह सकते हैं कि जब मनुष्य शेर निराले तो मुशबहत क्या ? सिर और शरीर का ढंग एकसा परन्तु कहीं पंजों में फरक, कहीं टांगों में और कहीं कहीं यही विचित्रता है और यही संसार में रोचकता है ।

कहीं चार टांगोंवाला जीव अंडे देता है और दूध पिलाता है । कहीं चार टांगोंवाला दूध, पिलाने-वाला उडनेवाला है । कहीं मछली दूध पिलानेवाली है और कहीं उडनेवाली, कहीं मा बच्चे को अपनी खोख में डालकर दौडती है और कहीं झाडियों में, कहीं गारों में और कहीं मिट्टी में और कहीं बिछोनों और कहीं ईश्वर जाने कैसे पालती है, जिसे हम नहीं जानते, उसे हम असम्भव कहते है ।

भृंगी या कुंभी जो मिट्टी के घर पेडू के स्थान लकडों और पत्थरों के साथ बनाती है, यह अपने अंडे नहीं देती, यह उडनेवाला किडा है । छोटी और बडी इस की कई किस्में हैं । यह पेडू बनाकर उस का मूंह खूला रखती है, एक ही जगह कई पेडू तय्यार करती है । किसी भी ढंग का दूसरी जाति का किडा इसे मिलें चाहे घास का रींगनेवाला काला, लाल, बालवाला, टांगोंवाला, टिड्डा या मकडी मिले, उसे पकडेगी और बेहोश कर देगी । फिर चाहे उडाकर, चाहे घसीट कर अपने घर ले जायगी, उसे ठीक तरह पेडू में डालकर उसका मुंह बन्द करेगी । फिर उस के ऊपर फिर फिरा कर उड जायगी । फिर कुछ अरसा के बाद पेडू का किडा परवाला कुंभी बन कर उड जायगा । यहां इस का विकास बडे निराले ढंग का है, जितने अपनी आंख से यह न देखा, उस के लिए यह असम्भव है ।

कुक्कू एक पक्षी है, जो गरमियों में ठंडे और सरदियों में गर्म मुल्क में जाता है - यह आप अंडे नहीं देता और न घौसल बनाता - एक छोटी सी चिडिया होती है, जिस का नर काले और सपेद रंगके पट का होता है और मादा भूसले रंगकी होती है, गले में लाल कंठा होता है । यह घासके बीच पत्थरके

नीचे अपना घोंसला बनाता है। तीन छोटे छोटे चितकबरे अंडे देता है। कुकक् इस का घोंसला ताडता है, सामने वृक्ष पर बैठ जाता है और लगातार कुकक् कुकक् पुकारता रहता है। इन दिनों इस की आवाज बडी सुहावनी लगती है। यह कभी कभी अंडों पर बैठ जाता है। छोटे छोटे पक्षी उसे देखकर चिल्लाते हैं। जब अंडे फटते हैं, तो उन से तीन या दो बच्चे नन्हे नन्हे निकल आते हैं। इन्हें मां बाप और यह कुकक् भी दाना भराता है और कुकक् उन पर जा बैठता है। कुछ दिन बीत जाने पर उन बच्चों का एक बच्चा बन जाता है। सिर दो या तीन रह जाते हैं। फिर वह भी एक बन जाते हैं। यह बच्चे पहले पिछले हिस्सासे इकठ्ठा होने शुरू होते हैं। जब एक बन कर बडा हो जाता है तो कुकक् बन कर उड जाता है। क्या विचित्र माया है - जो नहीं जानता उस के लिए असम्भव है।

जहां कहीं प्राचीन किताबों में जिक्र आता है, कि फलाना घोडे के मुंहवाला आदमी था, फलाना सींगवाला था, सुननेवाला असम्भव कह देता है। किस लिए ? कि उसने देखा नहीं। इसी तरह दो सिरवाला बछडा तीन या चार सिरवाला आदमी, बडी विचित्र माया है। होता सब कुछ है, परन्तु हम नहीं जानते, इसी लिए असम्भव है !

मिस्मेरेजम करनेवाला अपने मानसिक बल (Will-power) से जिसे मूर्छित करता है, उसे जो कहे उसे वही अपने और दूसरे के प्रति मालूम होता है। यदि उसे कहो कि तू आसमान में उड रहा है, या सामने लडाई हो रही है, या तू गधा बन गया, उसे सत्य मालूम होगा। वास्तव में वह नहीं है, यहां असम्भव संभव बनता है। यहां मनका काम है। यह काया यानी शरीर तो नहीं बदलता, परन्तु मालूम होने लगता हैं।

काया पलटनेवाला या भृंगी या कुकक् है, यदि कोई शख्स इनसे यह मंत्र बडी छान बीनसे हासिल करें, तो कर सक्ता है - मन मन को और शरीर शरीर को बदल सकता है।

अतः संसार में असम्भव वह है, जिसे हम नहीं जानते, या हम नहीं कर सकते यानी असम्भव नाम अविद्या, अज्ञान और कमजोरी का है !!!

योगतत्व-निदर्शन

(ले०- ब्र० दिलीपकुमारजी, गुरुकुलविद्यालय, सोनगढ-काठियावाड)

इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत कालकी अपरिमित विस्तीर्ण सरिताके अन्दर वासनारूप संसारका प्रबलतम प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। परन्तु कोई विरला ही ऐसा पुरुष होता है, जो कि इस अपार सागरके प्रचण्ड प्रवाहसे स्वानुकूल, श्रेयस्कर उपायों को उपलब्ध कर अपनी सम्पूर्ण तितर-बितर होती हुई शक्तियों को अपने में केंद्रित करके उससे बाहर तैर जाता है। परन्तु जबतक मनुष्यके अस्थिमांस और रुधिरसे बने हुए शरीरके अन्दर विद्यमान इस सर्वोच्च दिव्य शक्तिका उसको प्रकाश (भान) नहीं होता, तबतक वह गाढ अन्धकारके अन्दर ही निमग्न रहता हुआ संसाररूपी इस व्यूहचक्रके अन्दर पथभ्रष्ट होकर इधर से उधर टकराता हुआ असन्तोष के कारण महत्तम दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार जब मनुष्य पर पदार्थ के अन्दर ही आत्मानुभूति करके अपने सत्य स्वरूप का भान नहीं होनेसे नानाविध घबराहटोंमें आकर उनसे मुक्त होनेको चाहता है, तब आत्म-स्वरूपका प्रत्यक्ष करके जीवनकी उच्चतम भूमिकाके ऊपर विहार करनेवाले योगी-महर्षि अपने नैसर्गिक करुणामय स्वभावके कारण दीनदुःखित मनुष्यों को सत्यतत्त्वका दर्शन कराने के लिए अपने आत्मीय अनुभवके आधारपर विभिन्न मार्गोंका दर्शनशास्त्रों के रूपमें दर्शन कराते हैं।

जिस प्रकार गीता तथा वेदादि शास्त्रोंके अन्दर व्यक्तियोंके अधिकारभेदके कारण ज्ञान, कर्म तथा भक्ति आदि विभिन्न काण्डों द्वारा एक ही ब्रह्मकी प्राप्तिका निरूपण किया गया है, उसी प्रकार इन दार्शनिकोंने भी ' रूचीनां वैचित्र्यात् ' के अनुसार भिन्न भिन्न स्वभाववाले मनुष्यों के लिए परमात्म-प्राप्ति या मोक्षप्राप्तिके लिए विभिन्न दर्शनोंकी रचना की है। यद्यपि उपनिषदें तथा वेदादि शास्त्रों के अन्दर दर्शनों के मूलभूत सिद्धांत अवश्य दृष्टि-गोचर होते हैं, परन्तु उन सूक्ष्मतम विचारों के साधारण लौकिक जनोंके लिए भी सुगम करने के उद्देश्य से दार्शनिकोंने अनेक दृष्टिकोनोंसे सोचकर चार्वाक, जैन, बौद्ध, पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग तथा वेदांत (उत्तरमीमांसा) आदि अनेक दर्शनों की रचना की है। परन्तु इस लेखके अन्दर हम प्रत्येक अलग अलग दर्शन के ऊपर विचार न करके ' योगदर्शन ' के ऊपर ही विचार करेंगे।

आजकल बहुतसे साधारण मनुष्य कुछके अंशमें -यौगिक प्रक्रियासे सर्वथा अनभिज्ञ, ऐसी इधर से उधर उदरपूर्ति करनेके लिए भटकती हुई भिक्षुकों की जमात तथा फकिर आदिको देखकर तथा उन के विचारोंको सुनकर- योगके विषय में अनेक प्रकार के मिथ्या ख्याल कर बैठते हैं। और 'योग' शब्द सुनते ही उनके दिलके अन्दर शरीर को अत्यन्त कष्ट देनेवाले तथा जनसमाजके सर्व सम्बन्धों का मूलोच्छेदन करके, अरण्यके एकांत नीरव कोने के अन्दर समाधि लगा करके बैठे हुए कोई एक व्यक्तिविशेषका चित्र उनके सम्मुख उपस्थित होता है। इसी कारणसे योगियोंकी इस प्रकारकी उदासीन स्थिति जनसमाजकी उन्नतिके लिए अत्यन्त हानिप्रद है, ऐसा सोच करके बहुतसे लोग ' योग ' शब्दसे कुछ एक अंशमें अरुचि प्रगट करते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो योगके यथार्थ स्वरूपके रहस्यको नहीं जाननेसे तथा हठयोगादि देह-दमनको ही सच्चा योग मान लेनेसे इस प्रकारके भ्रमात्मक विचार समाजके अन्दर उत्पन्न होते हैं। और इसी कारण से जीवनविकास के अन्दर

स्थिरता लानेके लिए अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी गिने जाते हुए योगतत्त्वसे वे लोक वंचित रहते हैं। परन्तु जनसमाजके इस भ्रमात्मक विचार को दूर करते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण अपनी भगद्-गीताके अन्दर-

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकांतमनश्नतः।'

इस श्लोकसे मनका हठपूर्वक विरोध करनेके लिए शरीरको अत्यन्त कष्ट देनेवाले, तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस सिद्धांतके अनुसार योगीके नामपर आलसी के समान निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत करने-वाले व्यक्तियोंका स्पष्ट विरोध करते हैं।

यद्यपि अपनी निरर्थक नष्ट होती हुई शक्ति-योंका संचय तथा साधना करनेके लिए 'योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः' के अनुसार बहिर्वृत्तियोंका नाश करके अन्तर्वृत्तिक होनेकी अनुकूल परिस्थिति के लिए शांतिमय तथा एकांत जीवनकी अत्यन्त आव-श्यकता है, लेकिन फिर भी इस संचित शक्तिके प्रयोगक्षेत्रके तौर पर संसार तथा उसके व्यवहारों की कभी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी कारण से नैष्कर्मण्यका उपदेश देते हुए भगवान् कृष्ण अकर्म तथा विकर्मका अस्वीकार करके आत्मप्राप्ति के सहायक रूप आभ्युदयिक तथा नैश्रेयसिक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए सत्कर्म के ऊपर बहुतही जोर देते हुए प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार सुषुप्ति की शांत अवस्थाके अन्दर प्राप्त की हुई शक्ति जागृत अवस्थाके अन्दर उपयोग में आती है, उसी प्रकार योगकी शांत परिस्थिति के अन्दर प्राप्त की हुई ज्ञानसाधनाकी वास्तविक सफलता सामाजिक व्यवहार के क्रियात्मक मार्ग में ही हो सकती है। जबतक ज्ञानको कर्म में नहीं डाला जाता तबकत ज्ञान कभी भी परिपूर्ण नहीं हो सकता अर्थात् यह कह सकते हैं कि कर्म ही मनुष्यके यथार्थ ज्ञानकी सच्ची कसौटी है। जो व्यक्ति व्यवहार की इस कठिन कसौटी में से आत्मप्राप्ति के शुभ मार्गको नहीं छोडता हुआ पार हो जाता है, वही सच्चा ज्ञानी है, योगी है। जबतक इष्टा-निष्ट ज्ञानका भान करानेवाली भक्तिके द्वारा ज्ञान तथा कर्मका सुमेल साधने में नहीं आता, तबतक कोई भी पुरुष सच्चा योगी नहीं कहा जा सकता। इससे प्रत्येक साधकके जीवनके अन्दर ज्ञान, कर्म तथा भक्ति (Knowing, Willing, Fuling) ये तीनों ही चीजें आवश्यक हैं।

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे अवलोकन करें, तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है, कि चैतन्य महाप्रभु, सन्त तुकाराम, कबीर, नानक, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, साक्रेटीस (सुक-रात), जरथोस्त्र, महात्मा ईसा, भगवान् बुद्ध, महावीर स्वामी- आदि अनेक महापुरुष अपना प्रारंभिक जीवन सम्पूर्ण तरहसे ज्ञानसाधना के अन्दर लगा करके शेष जीवन कर्म अर्थात् सामाजिक क्षेत्रके अन्दर व्यतीत करते हुए प्रतीत होते हैं। सचमुच ज्ञान और कर्मका सुमेल साधनेवाले ये महापुरुष सच्चे योगी हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक तथा बौद्धिक (Historical and logical) इन दोनों दृष्टि से देखते हुए प्रत्येक देशके जीवनक्रम के अन्दर योग की महत्ता स्पष्ट तथा झलक उठती है।

यद्यपि योग या आध्यात्मिक विचारधारा कोई देशविशेष या जातिविशेष का वारसा नहीं है, प्रायः प्रत्येक देश या जातिके अन्दर उसके विचार दृष्टिगोचर होते हैं। लेकिन तब भी योग या आध्या-त्मिक क्षेत्रको सर्वांगपरिपूर्ण बनानेका जो किसी को भी श्रेय हो सकता है, तो वह आर्यावर्तको ही है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक की विचारधारा तुलना में अन्यदेशकी गिनती तो सिन्धुके सामने एक छोटी-सी नदीके समान ही प्रतीत होती है। आर्यावर्त-वासियोंकी इस आध्यात्मिक लगन के कारण ही उसके तत्त्वज्ञान, आचार-विचार, नाटक, काव्य, इतिहास आदि प्रत्येक साहित्यिक क्षेत्रके अन्दर उसका अन्तिम लक्ष्यबिन्दु मोक्ष ही दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं प्रत्युत युद्धक्षेत्र के अन्दर भी भगवान् कृष्ण अर्जुन को आध्यात्मिक भावनासे

परिपूर्ण विचारोंका बोध देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और बाणोंकी शैय्या पर सोते हुए भीष्म पितामह भी युधिष्ठिर को आध्यात्मिक विचारोंका पान कराते हैं। इस प्रकार आर्यावर्तके अन्दर अत्यन्त प्राचीन कालसे योगके विचार बहुत ही गहरी जडे डालकर पडे हुए अवगत होते हैं।

इसके सिवाय यदि योगकी सर्वव्यापकताके ऊपर दृष्टि फेंकें, तो स्पष्ट प्रतीत होता है, कि प्रायः प्रत्येक संप्रदाय (मतावलंबी) ने अपने अपने मार्गके अनुसार योगके तत्त्वोंका किसी भी तरहके विना विरोध के अपनाया है और प्रत्येक दर्शनने भी इस को स्वीकार करके अपने दर्शनके कलेवर के अन्दर इसको उचित स्थान दिया है। जिस प्रकार एक वटवृक्षके तनेमेंसे अनेक छोटी बडी शाखायें निकल करके फैलती हैं, उसी प्रकार इस योगतत्त्व-रूप एक महावृक्ष के तनेमें से अनेकों प्रकारकी राज-योग, मन्त्रयोग, लययोग, हटयोगादि विभिन्न तथा विस्तृत कितनी ही छोटी बडी शाखायें उत्पन्न होती हैं। केवल एक भगवद्गीताके अन्दर ही कितने ही प्रकार के योगोंका दिग्दर्शन कराया गया है। और इसके अठारह अध्याय भी एक एक योग ही हैं। किंतु यहां हम अनेक प्रकारके योगोंका महत्त्व नहीं दिखलाकर सर्वप्रथम 'पातञ्जल-योग-दर्शन' का न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा तथा वेदांतदर्शनों के साथ यत्किंचित् संबध बतलाकर राजयोगके ऊपर ही विचार करेंगे।

सर्वप्रथम यदि हम प्राचीन दर्शनोंकी ऊपर विचार करें, तो हम उसे-

(१) प्रकृति (Matter) या अनात्माका निरूपण करनेवाले तथा-

(२) पुरुष, आत्मा (Mind, spirit) या प्रत्यका निरूपण करनेवाले इन दो विभागों के अन्दर विभक्त कर सकते हैं।

(१) पूर्वमीमांसा, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन जब प्रकृतिके ही गुणधर्मोंकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करके पदार्थ के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का निरूपण करते हैं। तब—

(२) सांख्य, योग तथा वेदांतदर्शन आत्मा-अनात्मा, या प्रकृति-पुरुष के अन्दर विवेकबुद्धि को उत्पन्न करा करके, आत्मप्राप्तिके सच्चे उपायों का निरूपण करके अन्तमें 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार इन छओं दर्शनों के अन्दर एक क्रम-विशेष होनेके कारण प्रत्येक दर्शन एक दूसरों के साथ मिले हुए हैं। इसी कारण से तत्त्व-ज्ञान या सत्यासत्यकी निर्णायक बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले न्यायदर्शन; पदार्थके साधर्म्य तथा वैधर्म्य-ज्ञानके मार्ग को बतानेवाले वैशेषिक दर्शन; ऐहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमूलक कर्मके अन्दर सावधानी का पाठ पढानेवाले पूर्वमीमांसादर्शन; प्रकृति अर्थात् अनात्मासे उत्पन्न होनेवाले अन्तर्जगत् तथा बहिः-जगत् का सविस्तर वर्णन करके प्रकृति तथा पुरुष का विवेकज्ञान उत्पन्न करानेवाले सांख्यदर्शन; और अन्तमें 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का भान करानेवाले- वेदांत इत्यादि सब दर्शनोंके साथ आत्मसाक्षात्कारके क्रियात्मक उपायों को बतलाने-वाले योगदर्शनका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

परन्तु इन सब दर्शनोंकी अपेक्षा पातञ्जल-योग-दर्शनकी यदि कुछ विशेष महत्ता हो सकती है, तो वह यही है कि क्लेशके दावानलके अन्दर पथभ्रष्ट पथिक को आत्मसाक्षात्कारके शीतल जलका पान कराने के लिए क्रियात्मक उपायों के द्वारा मुक्तिपथ के द्वार को खोलकर निरतशय आनन्द की प्राप्ति कराता है। परन्तु इन छओं दर्शनों के अन्दर अनादिकालसे चले आते हुए माया (अज्ञान-अविद्या) के बंधनों को तोडनेके लिए Subject तथा object के विषय में सर्वप्रथम विचार करनेवाले सांख्यदर्शन के साथ योगदर्शन की अत्यन्त समानता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं प्रत्युत कपिलप्रतिपादित पुरुष और प्रकृतिके तत्त्वविचार को प्रायः स्वतःसिद्ध मानकर उसका सम्पूर्णतया स्वीकार करके ही योगदर्शन आगे चलता है।

यद्यपि (१) सृष्टिके उत्पत्तिका क्रम, (२)

सूक्ष्म शरीर की विवेचना तथा (३) ईश्वरादि विषयों के अन्दर सांख्य तथा योगदर्शन के परस्पर अवश्य भेद प्रतीत होता है, लेकिन फिर भी इन दोनों में परस्पर इतनी भारी समानता है कि बहुत से विचारक योगदर्शन को 'सेश्वर सांख्य' ही कहते हैं। इसलिए अनात्मा का विवेचन करनेवाला सांख्यदर्शन, आत्मविषयक निरूपण करनेवाला योगदर्शन ये दोनों परस्पर भिन्न नहीं किन्तु एक दूसरे के पूरक (complimentary) प्रतीत होते हैं। सांख्य जब कि विचारात्मक (Theoritical) दर्शन है। तब योगदर्शन क्रियात्मक (Practical) दर्शन है, सांख्यदर्शन जब कि पूर्वपीठिका है, तो योगदर्शन उत्तर पीठिका है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं।

तर्क के आधार पर तत्त्वों का विवेचन करनेवाला सांख्यदर्शन जब अन्तःप्रवृत्तिवाले (Introvert) मनुष्य को सर्वथा संतोष नहीं दे सकता, तब योगदर्शन अपने 'तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान' आदि क्रियायोग, तथा ध्यान, धारणा, समाधि आदि अष्टांगयोग के अन्तरंग साधनों के द्वारा उस मनुष्य की आत्मिक पिपासाको बुझाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। मानसिक चित्तवृत्तियों की अस्थिरता तथा अशांति के कारण ही दुःखकी उत्पत्ति माननेवाला यह दर्शन 'क्लिष्टाक्लिष्ट' चित्तवृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध यही सच्चा योग है, ऐसा प्रतिपादित करता है।

यदि हम 'योग' शब्द पर विचार करें, तो योग शब्द दो धातुओंसे सिद्ध होता हुआ प्रतीत होता है।

(१) 'युजिर योगे' से सिद्ध होता हुआ योग शब्द जब कि नर तथा नारायण की एकतारूप मोक्ष का भान करता है, तब—

(२) पातञ्जलयोगदर्शन के विचारानुसार 'युज् समाधौ' से निष्पन्न होता हुआ योग शब्द समाधि की मुक्त अवस्थाका सूचन करता है।

इस प्रकार चितिशक्ति की स्वरूपावस्था या कैवल्यपदकी प्राप्ति करानेवाला योगदर्शन क्लेशों के हेतुस्वरूप कर्माशयको उत्पन्न करानेवाले 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः' इत्यादि पञ्चविध क्लेशोंका तथा क्लेशोंसे उत्पन्न हुए 'जात्यायुर्भोगः' का समूलोन्मूलन करनेके लिए चित्तवृत्तिके निरोधके ऊपर ही सम्पूर्ण जोर रखता है। यदि हम 'चित्तवृत्तिनिरोध' के उपायों पर विचार कराने से पूर्व प्रसंगानुसार 'चित्तवृत्तिनिरोध' के अर्थपर दृष्टिपात करें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि चित्त स्वभाव से ही अस्थिरता-धर्मवाला नहीं है। किन्तु उसका स्वभाव किसी न किसी विषयके अन्दर लग जानेका होनेसे रुचिवाले कार्योंके अन्दर वह अपने आपही लग जाता है। इससे 'चित्तवृत्तिनिरोध' का अर्थ चित्त की वृत्तियोंका सर्वथा विनाश कर देना अभीष्ट नहीं, किंतु—

> 'चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय पापाय च।'

इस वाक्यानुसार चित्तरूपी नदीको प्रबलतम प्रयत्नके द्वारा पापक्षेत्रमेंसे पुण्यक्षेत्रके अन्दर बहाना, अनात्मा या प्रकृति विषयस्थ चित्तवृत्तिको हटा करके आत्मा या पुरुष के अन्दर ही उसको लगाना; अर्थात् दूसरे शब्दों में कहें तो मनके ऊपर सम्पूर्ण रीतिसे प्रभुत्व (Control of mind) का होना ही चित्तवृत्तिनिरोध कहलाता है।

इस प्रकार प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील स्वभाववाले चित्तको सत्त्व, रजस् तथा तमसादि त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे पर करके निस्त्रैगुण्यस्वरूप परमात्मतत्त्वके अन्दर लीन कर देना यही सच्चा योग है। इस प्रकार चित्तके (१) Intellectual तथा (२) Emotional इन दोनों प्रकारके कार्यों (Functions) को निरोध करनेके लिए योगदर्शनके अन्दर 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इस सूत्रके द्वारा अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों प्रकारके उपायोंका प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद् भगवद्गीताके अन्दर भी मनके प्रबल वेगको बाह्य संसारसे रोककर अन्तःसंसारकी ओर लानेके लिए 'अभ्यासेन तु कौंतेय

वैराग्येण च गृह्यते ' इस श्लोकके अनुसार अभ्यास तथा वैराग्यका स्पष्ट रीतिसे उल्लेख करनेमें आया है।

इस प्रकार बहिःसंसारसे चित्तवृत्तियोंको अभ्यास के द्वारा हटानेके लिए चित्तवृत्तिनिरोधके साधनभूत यम और नियमकी अत्यन्त आवश्यकता मानी गई है। जबतक साधकके जीवनके अन्दर सामाजिक धर्मका निर्देश करनेवाले ' यम ' तथा वैयक्तिक धर्मका प्रतिपादन करनेवाले ' नियम ' का मनसा वाचा कर्मणा यथायोग्य रीतिसे पालन न किया जाय तबतक वास्तविक दृष्टिसे वह योगका अधिकारी हो ही नहीं सकता। इन यमनियमों के साथ ही साथ चित्तवृत्तिनिरोधके अन्य उपायोंका दिग्दर्शन करता हुआ योगदर्शन 'तत्स्थितौ एकतत्त्वाभ्यासः' के अनुसार किसी भी रुचिवाले सूक्ष्म पंचमहाभूतके अन्दर चित्तको स्थिर करनेसे चित्तवृत्तिका प्रारंभिक निरोध हो सकता है, ऐसा बतलाता है।

तदुपरांत चित्त की निर्मलता या शुक्लधर्मता के लिए ' वीतरागविषय ' या प्राणायामादि अन्य साधनों का प्रतिपादन करनेवाला योगदर्शन ' ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ' इस सूत्र के अनुसार सर्वज्ञानी परमात्मा के अन्दर ध्यान लगाने से भी चित्तवृत्ति का विरोध हो सकता है, ऐसा साबित करता है। इस प्रकार सांख्य के पचीस तत्त्वों से आगे जाकर ' क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस के अनुसार योगदर्शन एक छबीसवें परम तत्त्व की स्थापना करता है।

यद्यपि ईश्वर के विषय में विचार करते हुए ' हेगल ' आदि विचारक Real is rational अर्थात् जो वास्तविक है, वह बुद्धिगम्य होता ही है, ऐसा मानकर अदृष्ट तथा बुद्धि से अगम्य ऐसे परमात्म तत्त्वको स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट मालूम होता है, कि प्रकृति के विकारस्वरूप बुद्धितत्त्व से, परमात्म जैसे प्रकृति से पर पदार्थका कैसे अनुभव हो सकता है? इसी कारण को लेकर के आजकल के बहुत से विचारक Real is rational को न मानकर Real is above rational को ही मानते हैं। हमारे शास्त्रों के अन्दर भी ' न तत्र वाक् गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमः' इत्यादि अनेक मन्त्रों के अन्दर बुद्धि से पर ऐसे एक चेतनमय परमात्म तत्त्व की कल्पना की गई है।

इसी अदृश्य सत्ता के ऊपर विचार करते हुए आजकल के अनेक विचारकों ने उसी के विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पना करके द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, Theism, Polytheism, Pantheism, Mysticism, Deism, Pluralism, तथा Idealism इत्यादि विभिन्न वादों की स्थापना की है। परन्तु महर्षि पतञ्जलिने अपनी विशाल एवं कुशाग्र बुद्धिसे उस समय के समाज का झुकाव ईश्वर की ओर होनेके कारण अपने दर्शन के कलेवर के अन्दर ईश्वर को स्थान देकर उचित ही किया है। साधक ' कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अनुसार फलसंन्यास की भावना से तथा ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करता हुआ अपने चित्त का सर्वथा निरोध कर सकता है। इस प्रकार से उपनिषद् के ' भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा ' के त्रित्व को स्वीकार करता हुआ योगदर्शन, सांख्यदर्शन से आगे बढकर जीव (भोक्ता), प्रकृति (भोग्य) तथा परमात्मा (प्रेरिता) ऐसी तीन अनादि वस्तुओं की स्थापना करता है।

इतना ही नहीं किन्तु इसके सिवाय भी चित्तवृत्ति को अन्तर्मुख करने के उपायों को बतलाते हुए योगदर्शन के अष्टांगों का भी इतना भारी महत्त्व है, कि प्रायः प्रत्येक दर्शन ने अपने दर्शन के कलेवर के अन्दर योग के इन अष्टांगों को अच्छा स्थान दिया है। " योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः "के अनुसार साधकको विवेकख्याति का भान करानेवाले इन अष्टांगों के ऊपर यदि हम विचार करें, तो हमें उसकी महत्ता स्पष्ट दिखाई देती है। जबतक सामाजिक धर्मका भान या ज्ञान करानेवाले ' यम ' तथा व्यक्तिगत धर्म का ज्ञान

करानेवाले 'नियम' का जीवन के अन्दर यथार्थ रीतिसे पालन करने में न आवे तब तक साधक के जीवन के अन्दर आध्यात्मिक क्षेत्र के अन्दर प्रवेश करने की योग्यता आ ही नहीं सकती। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के अन्दर आंतरिक विकास को उत्पन्न करनेवाले 'यम' के साथ ही साथ जीवन को समता (Harmony) में लाने के लिए 'नियम' की अत्यन्त आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि आदि विभिन्न उपायों द्वारा शरीरस्थ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान-मय तथा आनन्दमय कोषों केबाहर के आधारों का विच्छेद करके आत्मा के अन्दर ही प्रत्येक प्रकारके कोषों का आधार करने में आता है। और आत्माको ही सब प्रकार के कोषों का आधार बना देने के कारण साधक पूर्णतया अन्तर्वृत्तिक हो सकता है। इससे हम इस परिणाम पर आ सकते हैं, कि अन्तःसंसार पर विचार करते हुए योगदर्शन के अन्दर इतना सारा मनोविज्ञान (Psychology) भरा हुआ है कि आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता भी अन्तःतत्त्व का प्रत्यक्ष करनेवाले हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंके इस सूक्ष्मदर्शनकी बराबरी नहीं कर सके हैं।

जब योग के अन्तिम अङ्ग स्वरूप-समाधि के अन्दर साधक प्रवेश करता है, तब समाधि के (१) संप्रज्ञात तथा (२) असम्प्रज्ञात, इन दो प्रकार के भेद होने के कारण सर्वप्रथम सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर स्थूल में से सूक्ष्मतम पदार्थों के अन्दर प्रवेश करने के लिए उद्यत होता है। संप्रज्ञात समाधि के अवांतर भेद स्वरूप सवितर्क समाधि में जब साधक शब्दार्थज्ञानपूर्वक स्थूल पदार्थ का प्रत्यक्ष करके निर्वितर्क समाधि के अन्दर ज्ञानमात्र से ही सब स्थूल पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है, तब सविचार समाधि के अन्दर सूक्ष्मतम पदार्थोंका शब्दार्थज्ञान-पूर्वक प्रत्यक्ष करके निर्विचार समाधिके अन्दर सूक्ष्मतम प्रकृतिका ज्ञानमात्रसे ही वह प्रत्यक्ष करता है। उसके बाद अनन्द तथा अस्मितानुगत समाधि के अन्दर साधक के आन्दर सात्त्विक वृत्ति प्रधान रहती है। इस प्रकार अपर वैराग्य के फलस्वरूप संप्रज्ञात समाधिके अन्दर साधक के चित्त में से राजस तथा तामस इन दोनों वृत्तियों का अभिभव हो जाने के कारण सात्त्विक वृत्ति ही रह जाती है। परन्तु साधक के जीवन के अन्दर ज्यों ज्यों साधना का तीव्र संवेग होता जाता है, त्यों त्यों 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' के अनुसार संप्रज्ञात समाधि के अन्दर रही हुई सात्त्विक वृत्तिको सुवर्णमय बंधन जान कर के उसको भी तोडने के लिए पर वैराग्य का अनुष्ठान करता है।

जिस प्रकार सुवर्ण को गरम करने से उसके अंदर मिलाए हुए उत्तमोत्तम सुगंधित रासायनिक पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार साधक के दिव्यादिव्य विषय से पर होकर अन्त में वशीकार संज्ञाको प्राप्त हुए हुए चित्तके अन्दर सात्त्विक वृत्तिका भी नाश हो जाता है। इस परवैराग्य के फल स्वरूप असंप्रज्ञात समाधि के अन्दर साधक का चित्त सर्वथा निर्मल हो जाने के कारण उस में किसी भी तरह के संस्कार रहने नहीं पाते। इस अन्तिम अवस्थारूप असंप्रज्ञात समाधि को ही योगदर्शन के अन्दर निर्बीज, निरालंबन आदि शब्दों से पुकारा गया है। धर्ममेघ समाधिके फलस्वरूप इस निर्बीज अवस्था के अन्दर 'वृत्तिसंस्कारचक्र' का समूलो-न्मूलन हो जाने के कारण भवबंधनों के क्लेश से मुक्त होकर मोक्ष की निरतिशय सुख की अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रज्ञाप्रसाद के ऊपर आरूढ हुआ साधक ही सच्चा योगी है। श्रीमद् भगवद्गीता के अन्दर भी-

> तपस्विभ्योऽधिको योगी,
> ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
> कर्मिभ्यश्चाधिकोऽयोगी,
> तस्माद् योगी भवार्जुन॥

इस श्लोक से योगी को सर्वोत्कृष्ट स्थान देकर उसकी महत्ताका प्रतिपादन किया है। इस प्रकार अकेली गीतामें ही नहीं, किन्तु प्रायः प्रत्येक धार्मिक, सामाजक तथा राजनैतिक विषयों के पुस्तकों के

अन्दर भी यौगिक जीवन की श्रेष्ठता का स्पष्टतया स्वीकार किया गया है।

इस तरह प्रत्येक क्षेत्रके अन्दर योगकी आवश्यकता होनेके कारण योगकी विचारधारा प्रायः सर्वत्र दीखाई देती है। यदि हम योगकी विचारधाराके ऊपर दृष्टिपात करें, तो हमें स्पष्ट मालूम पडता है, कि सर्वप्रथम वैदिक संहितासे उत्पन्न हुई योगकी विचारधारा उपनिषदोंके अन्दर अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारण करती है। और अन्तमें 'योगदर्शन' के रूपमें हमारे सामने प्रकट होती है। किन्तु यह धारा यहीं नहीं रुक गई किन्तु यहां से भी आगे जाकर अनेक ग्रन्थकारों की रचनासे परिपुष्ट होती हुई सर्वसाधारण लौकिक जनोंकी पिपासाको बुझाने के लिए बहुतसी प्रांतिक भाषाओंमें भी बडी हुई दीखाई देती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वैदिक कालसे लेकर आजतक यह योगकी प्रबल विचारधारा अनेक प्रकार के पहाडों और खाइयोंको पार करती हुई आजतक भी पुण्यसलिला भागीरथी के समान हमारी श्रद्धा तथा भक्तिका पात्र बनी हुई है।

व्यापक प्रभु

हे मेरे नस नस के वासी
तू ही मेरा एक अधारा।
जब से मैं तव शरणी आया,
तू ने जग का त्रास भगाया,
मम हृदय को तव पद भाया,
आस पै तव विश्वास जमाया।
तेरा जग में प्रेम पसारा
दीखे तू सब जग से न्यारा
हे मेरे नस नस के वासी
तू ही मेरा एक अधारा॥
किया प्रभो मुझे अपना जबसे,
हरे! सकल जीवन में तबसे,
तव कृपा के बादल बर से,
अमृत रूप मेरा मन हर्षे।
तेरा मुझ पर प्रेम अपारा,
खुला हुआ अक्षय भंडारा,
हे मेरे नस नस के वासी
तुही मेरा एक अधारा॥

—लालचन्द

व्यापक प्रभु को प्रणाम

हे सब जन के घट के वासी
तुझ को मेरा नित्य प्रणाम।
तुझ सम और न कोई मेरा,
मुझ से तेरा प्रेम घनेरा,
अनुभव लेता है मन मेरा,
मैं तेरा और तू प्रभु मेरा।
गाता हूं मैं तेरा नाम,
युक्त रीति से करता काम,
हे सब जन के घट के वासी,
तुझ को मेरा नित्य प्रणाम॥
आनन्द रूप सदा तव प्रीति
सरल सुलभ है तेरी नीति,
नित्य प्रेममय तेरी रीति,
मुझ को अब यह हुई प्रतीति।
तू ही मेरा है प्राणाराम,
सार सभी का तू अभिराम,
हे सब जग के घट के वासी,
तुझ को मेरा नित्य प्रणाम॥

—लालचन्द

वेद के देवता

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

वेद के स्वाध्याय करनेवालों के लिए यह आवश्यक है कि वे देवता का ज्ञान प्राप्त करें। किसी भी मूल संहिता को आप लें, उस में ऊपर ही मन्त्रों के क्रम से ऋषि-देवता-छन्द और स्वरों का निर्देश मिलेगा। यद्यपि इन सब का ज्ञान वेदार्थ करने में सहायक है, परंतु देवता का ज्ञान तो नितान्त आवश्यक है; इस के बिना तो वेदार्थ हो ही नहीं सकता।

देवता आदि का ज्ञान आवश्यक है-

इसी बात को सायण ने प्राचीन श्लोकोंके उद्धरणपूर्वक लिखा है। 'ऋष्यादि ज्ञानाभावे प्रत्यवायः स्मर्यते-

' अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥१॥
ऋषि छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुंजानो मन्त्रकण्टक उच्यते ' ॥२॥

अर्थ- ऋषिदेवता आदि के ज्ञान बिना हानि होती है और इसी लिए कहा है-

जो ऋषिदेवताछन्द-विनियोग इन को जाने बिना पढाता अथवा पढता है वह पापी होता है और उसे मन्त्रकण्टक कहते हैं।

देवता का लक्षण-सर्वानुक्रमणी।

सर्वानुक्रमणी में लिखा है 'या तेनोच्यते सा देवता' अर्थात् मन्त्र जिस विषय का प्रतिपादन कर रहा है, वही उस मन्त्र का देवता है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि किसी एक मन्त्र अथवा बहुत मन्त्रोंका जो प्रतिपाद्य विषय है, वही उसका देवता है।

निरुक्त में देवता का क्या तात्पर्य बताया है? इस सम्बन्ध में यास्क ऋषिने लिखा है-

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः सः मन्त्रो भवति।'

इस में आए हुए ऋषि पद का दो प्रकार से अर्थ किया जाता है और इस प्रकार जिस इच्छा से परमात्मा जिस देवता में आर्थपत्य की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है, वह मन्त्र उसी देवतावाला समझा जाता है अथवा वेद का विद्वान् जिस कामना से जिस मन्त्र में जिस आशय को प्रकट करना चाहता है, उस मन्त्र का वही देवता है।

देवता कौन है?

निरुक्त के उपर्युक्त वचन से यह भी तात्पर्य निकलता है, कि संसार के सभी पदार्थ विषय हैं। पदार्थका लक्षण भी यही है, 'अभिधेयत्वं प्रमेयत्वम्' जो ज्ञान का विषय है, वही पदार्थ है। इस से यह भी ज्ञात हुआ कि संसार के सभी पदार्थ देवता हैं। और दूसरी बात यह भी है कि आर्यों का अनादि काल से यह निश्चय है कि वेद सभी विद्याओं के भंडार हैं, अतः संसार के सभी पदार्थों को देवता कहा गया है।

यास्क मुनिने देवता की निरुक्ति करते हुए और लिखा है ' यो देवः स देवता ' जो देव है उसे ही देवता कहा जाता है और देव शब्द का अर्थ किया-

' देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। '

अर्थात् दानसे, द्युतिसे, दीप्तिसे, देवता कहलाता है और द्यु में- द्यौ लोक में- स्थित होनेसे भी देवता कहा जाता है। यहां द्यु शब्द आकाश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस प्रकार अन्तरिक्षलोक तथा द्यौलोक दोनों का ग्रहण हो जायगा। तो इस प्रकार अन्तरिक्ष और द्यौ लोक के सभी पदार्थ तो द्युस्थ होने से ही देवता हो गए। पृथ्वीस्थ सभी जड-चेतन पदार्थ भी दान अथवा द्योतन से देवता कह-

लाते हैं। सभी ग्रह आदि भी आकर्षणदान से, स्थितिदान से, देवता ही हैं। संसार के सभी पदार्थ किसी न किसी रूपमें एक दूसरे की स्थिति कर रहे हैं, यह भी दान ही है।

इसी प्रकार चेतन भी एक दूसरे के उपकारक होने से तथा सभी जड जगत् के निमित्तकारण रूप होने से देवता हैं। क्योंकि 'अदृष्टवदात्मसंयोग' दार्शनिक रीतिसे संसार के पदार्थों की उत्पत्ति में कारण है। यदि जीवात्मा न होते अथवा होते भी तो अदृष्टवत्-पाप पुण्यवान्- न होते तो इस संसार को उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी। परमात्मा तो आत्मकाम और आप्तकाम है। अतः उस को संसार के पदार्थों से क्या हानिलाभ? तात्पर्य यह है कि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्म से लेकर तृणपर्यंत देवता हैं। इस का यह तात्पर्य हुआ कि साक्षात् अथवा परम्परारूप से वेद में संसार के सभी पदार्थों का तत्त्वज्ञान समाविष्ट है। इसी को विश्लेषण से यों भी समझाया जा सकता है-

इन्द्र, वायु आदि अचेतन पदार्थ वृष्टि आदि देने के कारण, राजा-मन्त्री-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्र सभी चेतन पदार्थ रक्षा, विद्या, धन, सेवा आदि देनेसे, अश्वादि चेतन और पाषाण आदि अचेतन पदार्थ दीप्ति के कारण, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ द्युस्थ होने से देवता हैं। और परमात्मा तो देवाधिदेव हैं, जिस में कि ये सब गुण विद्यमान हैं।

दार्शनिक रीति।

ऊपर शास्त्रीय रीति से संसार के सभी पदार्थों को देवता सिद्ध किया है। अब इसी को थोडा दार्शनिक रीतिसे उपपादित करेंगे-

सभी आस्तिक दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि परमात्मा सब स्थानों पर विद्यमान है, विभु है। समुद्र की सब से नीची तह में और हिमालय की सब से ऊंचे गौरीशंकर शिखर पर भी वह विराजमान है। साथही यह भी सभीका सिद्धान्त है कि ज्ञान-शक्ति-दान आदि सभी गुण जो जड-चेतन जगत् में हैं, उन सब की पराकाष्ठा चरमसीमा- प्रभु में ही है। वही सब से अधिक ज्ञानी है। (स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगदर्शन।) सबसे अधिक तेजस्वी है इत्यादि।

दर्शनशास्त्रों का एक यह भी साधारण नियम है, कि द्रव्य गुणों के साथ ही रहता है। अर्थात् जिस द्रव्य के जो स्वाभाविक गुण हैं वह द्रव्य जहां भी हो, वहां उन गुणों से व्यतिरिक्त कभी न होगा, जिस प्रकार अग्निका स्वाभाविक गुण उष्णता है वह अग्नि के साथ ही विद्यमान रहेगा। इसी प्रकार जब परमात्मा सब स्थानों पर विराजमान है तो उसके गुण भी सभी स्थानों पर विराजमान हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा में प्रकाशगुण है, यदि वह गुण सूर्यादि पदार्थों के गुणों के साथ संयुक्त न हो तो सूर्यादि पदार्थ प्रकाश नहीं कर सकते। इसी बात को उपनिषद् ने कहा-

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाः विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भांतमनुभाति सर्वं। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

अर्थ- वहां सूर्य, चन्द्र, तारामण्डल और ये विद्युत् प्रकाश नहीं कर सकते, बिचारे पार्थिव अग्नि का तो कहना ही क्या। उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं।

इसी प्रकार तृण में स्थिति-गुण है, उस के साथ भी जबतक प्रभु का वह गुण जिस की उस में पराकाष्ठा है, संयुक्त न होगा, तबतक वह स्थिर नहीं रह सकता। इसी प्रकार अध्यात्मजगत् में मन आदि पदार्थों के जो मनन आदि गुण हैं, वे भी उपर्युक्त रीति से जब प्रभुके उन असीम गुणों से सम्बद्ध न हों तबतक निकम्मे हैं। इसी को उपनिषद् ने कहा-

> यन्मनसा न मनुते येनाऽहुर्मनो मतम्।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

अर्थ- जिस का मन से मनन नहीं हो सकता और मन जिस की सहाय्यता से मनन कर सकता है, वही ब्रह्म है। इसी बात को भगवान् कृष्णने गीता में लिखा-

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

अर्थ– संसार के किसी भी पदार्थ में यदि विशिष्ट विभूति है, श्री और बल है, तो समझो कि उस में भगवान् के उस तेज का गुण का अंश संभूत हुआ है। अथवा इतना अधिक कहने से क्या इस समग्र जगत् को परम पिता प्रभु एक ही अंश से धारण कर रहे हैं।

इस विभूति का जो दिग्दर्शन भगवान् कृष्णने इन श्लोकों से पूर्व के दशमाऽध्याय के श्लोकों से कराया है, उस का भी तात्पर्य यही है, कि संसार में जो विशेषताएं हैं, वे सब भगवान् की विशेषताओं के अंशमात्र हैं।

इस सब विवेचन का तात्पर्य यही हुआ कि संसार में ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यंत सभी पदार्थ देवता हैं।

यह वेदान्त-प्रक्रिया का विवेचन है।

सांख्य–प्रक्रिया।

सांख्यप्रक्रिया से भी संसार के सभी पदार्थों को देवता सिद्ध किया जा सकता है, अब संक्षेप से लिखते हैं–

सांख्य के सिद्धान्ताऽनुसार संसार के सभी पदार्थ सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों के परिणाम हैं, अर्थात् कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जिस में कुछ विशिष्टता न हो, जो इन गुणों का परिणाम न हो और तीनों का न हो कर एक अथवा दो ही का परिणाम हो, इन तीनो गुणों की न्यूनाधिकता से प्राकृतिक पदार्थों में भी अनैक्य हो जाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥(गीता.)

अर्थ– रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर के सत्त्व, और रजोगुण को और सत्त्व को अभिभूत करके तमोगुण, तथा तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण प्रादुर्भूत होते रहते हैं ॥ १ ॥

पृथिवी और द्युलोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इन प्रकृति के तीन गुणों से अछूता हो ॥ २॥ भगवान् कृष्ण ने इन का विवेचन भी किया—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ १॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ २ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ३ ॥

अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति और उभयाभाव ये तीन तीनों गुणों की विशेषताएं हैं।

ये तीनों विशेषताएं संसार के सभी पदार्थों में थोडीबहुत अवश्य पाई जाती हैं।

अथवा सुख, दुःख और उपेक्षा ये तीन विशेषताएं ही तीन गुण हैं और ये तीनों भी संसार के सभी पदार्थों में पाई जाती हैं। किसी पदार्थ को एकान्ततया सुखरूप अथवा दुःखरूप नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार संसार के सभी पदार्थों में सत्त्वगुण है। अतः प्रकाश आदि गुणों से सभी पदार्थ देवता हैं। इस से प्राकृतिक पदार्थ देवता सिद्ध हुए। जीवात्मा और परमात्मा तो ज्ञानादि गुणों के कारण देवता हैं ही।

क्या देवता का आकार है ?

साधारण जनता में ऐसी भावना सी बैठी है, कि देवता भी हमारी तरह आंख, नाक, कान आदि से युक्त होते हैं। इस भावना को हम पौराणिक भावना कह सकते हैं, क्योंकि वही ही इस के उत्पादक हैं। पुराणानुयायी सायण ने भी इसी का अनुसरण किया है। निरुक्तकार यास्क ने इस विचार का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। यास्क ने अग्नि शब्द का

जो निर्वचन किया है- " अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते " इत्यादि, उस से भी यही प्रतीत होता है कि यही भौतिक दृश्यमान अग्नि ही अग्नि है। पुराणों में जिस चेतन अग्नि देवता का वर्णन किया गया है, वह नहीं। अतः पुराणों ने जो यह कल्पना की है, कि कोई हंस पर आरूढ चतुर्मुख रक्तवर्ण पुरुष ही अग्नि है, यह ठीक नहीं।

आगे यास्क ने यह भी कहा है, कि " अग्निः पृथिवीस्थानः " अर्थात् अग्नि पृथ्वीलोक का देवता है। वैदिक मन्त्रों से भी ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु पौराणिक उसे स्वर्ग लोक में मानते हैं।

कर्म।

आगे यास्क ने अग्निका कर्म बतलाते हुए लिखा है " अथास्य कर्म वहनञ्च हविषामावाहनञ्च देवानां यच्च किंचिद्दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत् " (नि० ७।३।१)। इस में भी जो हवि को धारण करना आदि कर्म बताए हैं, वे भी इस भौतिक अग्नि में ही सम्भव हैं, और निरुक्त ७।६।५।७ में वैश्वानर की व्युत्पत्ति करते हुए जो विश्वानर अर्थात् सूर्य और विद्युत् से अग्नि की उत्पत्ति बताई है, वह भी इस भौतिक अग्नि में ही संभव है।

इन्द्र।

इसी प्रकार इन्द्र भी चेतन देवता यास्क को अभिप्रेत नहीं। इन्द्र शब्द की निरुक्ति यास्कने " इंद्र इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा" इत्यादि की है। यहां इरा का अर्थ अन्न ही है। निघण्टु में इरा को अन्न नामों में पढा गया है। देवराज यज्वाने भी अपनी निघण्टुटीका में ऐसा ही अर्थ किया है। अतः अन्न-वृष्टि आदि दाता लौकिक पदार्थ का ही नाम इन्द्र है, ऐसा यास्क को अभिप्रेत है।

इन्द्र वृत्रोपाख्यान से ऐसा अर्थ लिया जा सकता है, कि इन्द्र कोई चेतन पदार्थ है, परन्तु यास्कने इस भ्रमको भी निवारण कर दिया है 'तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्तः' अर्थात् मेघ का नाम ही वृत्र है।

आदित्य।

इसी प्रकार आदित्य भी प्रति दिन उदित होने वाला अचेतन पदार्थ ही है। आदित्य की जो निरुक्ति 'आदित्यः कस्मादादत्ते रसान् आदत्ते भासं ज्योतिषां, आदीप्तो भासा इति वा' इत्यादि जो यास्कने की है और 'अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रवहितमादित्यकर्मैव तत्' इत्यादि जो आदित्यकर्म बताया है, उस से भी यही प्रतीत होता है, कि यास्क इसी भौतिक सूर्य को ही आदित्य देवता मानते हैं।

इस प्रकार यास्कमुनिने जिन मुख्य तीन देवों को माना है अग्नि, इन्द्र, सूर्य वे पुराणोक्त भावनानुसार चेतन नहीं, अपितु अचेतन भौतिक पदार्थ हैं।

संगति।

पुराणोक्त कल्पना की एक प्रकार से संगति भी की जा सकती है। किसी बात को सरल करने के लिये उसे उपाख्यान के रूप में उपस्थित कर दिया जाता है। जिस प्रकार पञ्चतन्त्र ग्रन्थ में विष्णुशर्माने नीतिशास्त्र के कठिन गहन तत्त्वों को काक उलूक आदि की कथाद्वारा समझाने का प्रयत्न किया है और बालक इन कथाओं को सत्य भी मान लेते हैं, परन्तु विद्वान् इनकी यथार्थता से परिचित होते हैं और इन्हें काल्पनिक ही मानते हैं। इसी प्रकार पुराणों ने भी इस देवतातत्त्वको आलंकारिक भाषा में उपस्थित किया है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी को काव्यमय वर्णन भी कहते हैं, जिस प्रकार आजकल भारतवर्ष को भावुक कवि भारतमाताके स्त्रीरूपमें उपस्थित करते हैं। परन्तु हमने जो ऊपर पौराणिक भावना आलोचना की है, वह इसी लिए की है कि साधारण जनता और कुछ पण्डित भी पुराणों की कथाओं को इसी रूप में मानते हैं; काल्पनिक नहीं। इन्हें इतिहास मानते हैं।

उपर्युक्त विचार और वेद।

ऊपर यह लिखा जा चुका है, संसार के सभी पदार्थ देवता हैं, इसकी पुष्टि दार्शनिक रीतिसे की गई है। अब देखना यह है, कि स्वयं वेद इस सम्बंध में क्या कहता है? ऋग्वेद ६-१७-७ में कहा गया है, कि द्यौ लोक और पृथ्वीलोक देवों की माता हैं, ऊपर लिखा गया है, कि द्युलोक अन्तरिक्ष लोक का भी उपलक्षण है, तो इस प्रकार वेदने काव्यमय शब्दों में इसी आशयको प्रस्तुत किया, कि संसार के सभी पदार्थ देवता हैं।

वह मन्त्र यह है—

अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य॥

अर्थ- देवताओं की माताएं द्यौ लोक और पृथ्वी-लोक पुरातन और विस्तृत हैं, वे सत्य नियम पर स्थित हैं।

संक्षेप।

संक्षेप की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। ऊपर यह कहा गया है, कि संसार के सभी पदार्थ देवता हैं; यदि इसको संक्षेपसे कहा जाय तो उन देवताओं को हम कितना कहें- यही देवताओं का संक्षेप है।

३३ देवता।

ऊपर वेद के प्रमाण द्वारा बताया गया है, कि वेद संसार के सभी पदार्थों को देवता मानता है, इसका संक्षेप स्वयं वेदने किया है—

ऋग्वेद ८-२८-१ में —

"ये त्रिंशति त्रयस्परो देवतासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्" में तेतीस देवता कहे गए हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्। (य० १४-३१)

और अथर्ववेद में भी—

"यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥
(अथर्व० १०।२३।४।२३)

तेतीस देवता माने गए हैं।

३३ देवता और ब्राह्मण।

इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी तेतीस देवता कहे गए हैं- उदाहरण के लिये ऐतरेय ब्राह्मण के कुछ उद्धरण उद्धृत करते हैं—

(क) त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च"
(३।२।११)

अर्थ- तेतीस ही देवता हैं, आठ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और १ प्रजापति।

यास्क और देवताओं का संक्षेप।

इसी संक्षेप के भाव से प्रेरित होकर यास्क ऋषिने देवताओं का और भी संक्षेप किया है। वे कहते हैं—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथ्वीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।" (निरुक्त ७।२।१)

अर्थात् निरुक्तकर्ता तीन ही देवता मानते हैं। पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्र, द्यौ लोक में सूर्य। कुछ लोग इससे यह तात्पर्य निकालते हैं, कि यास्क इन्हीं तीनों को ही देवता समझते हैं।

और इससे वे ऐसा भी आशय निकालते हैं, कि यास्क के मतानुसार वेदों में इन्हीं तीनों का ही वर्णन है; परन्तु ऐसा भ्रम है। प्रथम तो अग्नि आदि का अर्थ भी बहुत व्यापक है। स्वयं यास्कने ऐसा सङ्केत निरुक्त में किया है, इसको आगे प्रमाणित करेंगे। दूसरा यास्कने तीन ही देवता है, ऐसा लिख कर आगे इन का भक्ति साहचर्य भी निर्दिष्ट किया है, जिस से पृथिव्यादि लोकों के सभी पदार्थ हो जाते हैं। वे लिखते हैं—

'तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः—

अथैतान्यग्निभक्तीनि अयं लोकः, प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने।'

अर्थ- उनका भक्तिसाहचर्य अब बताएंगे। अग्नि-देवता से सम्बन्धित ये सब होंगे- यह भूमि लोक, प्रातः सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत्स्तोम, रथंतर साम, और जो देवता प्रथम स्थान में कहे गए हैं, अग्नायी-पृथिवी-इळा ये तीन स्त्रियां।

देवतागण।

प्रथम स्थान में निम्न ३६ देवता निघण्टु में कहे गए हैं।

अश्व, शकुनि, मण्डूक, अक्ष, ग्रावाण:, नाराशंस:, रथ:, दुन्दुभि:, इषुधि:, हस्तघ्न:, अभीषव:, धनु:, ज्या, इषु:, अश्वाजनी, उलूखलम्, वृषभ:, द्रुघण:, पितु:, नद्य:, आप:, ओषधय:, रात्रि:, अरण्यानी, श्रद्धा, पृथिवी, अप्वा, अग्नायी, उलूखलमुसले, हविर्धाने, द्यावापृथिवी, विपाट्, छुतुद्री, अर्त्नी, शुनासीरौ, देवी जोष्ट्री, देवी उर्जाहुतीति, षट् त्रिंशत्पदानि।

इन्द्र का भक्ति-साहचर्य

बताते हुए यास्कमुनिने लिखा है- " अथैतानींद्र-भक्तीनि अन्तरिक्षलोक: माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्म:, त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोम:, बृहत् साम, ये च देवगणा: समाम्नाता: मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रिय: अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवध: या च का च बलकृतिरिन्द्र-कर्मैव तत्।

अथास्य संस्तविका: देवा: अग्नि: सोम: वरुण: पूषा, बृहस्पति:, ब्रह्मणस्पति:, पर्वत:, कुत्स:, विष्णु:, वायु: इत्यादि।

अर्थ- इन्द्र के साथ अन्य सम्बन्धित पदार्थ और देवता ये हैं—

(१) लोक-अन्तरिक्ष । (२) सवन-माध्यंदिन।
(३) ऋतु-ग्रीष्म । (४) छन्द-त्रिष्टुप्।
(५) सोम-पञ्चदश । (६) साम-बृहत्।
और मध्यस्थान के देवता।

सहचर अन्य देवता।

अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति:, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु इत्यादि।

अर्थात् एक इन्द्र देवता के मान लेने से इनों अन्य पदार्थों का भी भक्ति-सहचार्यादि रूप से वर्णन हो जाता है।

आदित्य देवता का भक्ति और साहचार्य।

अथैतान्यादित्यभक्तीनि-असौ लोक:, तृतीय-सवनं, वर्षा, जगती, सप्तदशस्तोम:, वैरूपं साम, ये च देवगणा:, समाम्नाता: उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रिय: अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम् यच्च किञ्चित् प्रवह्लितमादित्य कर्मैव तत्। चन्द्रमसा वायुना, संवत्सरेणेति संस्तव:।

अर्थ- आदित्य के सम्बन्धित अन्य देवता और पदार्थ ये हैं।—

(१) लोक—द्युलोक।
(२) सवन—सायन्तन।
(३) ऋतु—वर्षा।
(४) छन्द—जगती।
(५) स्तोम—सप्तदश।
(६) साम—वैरूप।

और जो देवगण उत्तम स्थान में कहे गए हैं सहचर अन्य देवता- चन्द्रमा, वायु और संवत्सर हैं तात्पर्य यह है कि आदित्य देवता से इन देवता और अन्य सम्बन्धित पदार्थों का ग्रहण हो जाता है।

तात्पर्य।

उपर्युक्त निरुक्त वचनों का यह कभी अर्थ नहीं है, कि निरुक्तकार केवल तीन अग्नि, विद्युत्, सूर्य, इन भौतिक पदार्थों को ही देवता समझते हैं। इसलिये ऐसा अर्थ नहीं लिया जा सकता, कि निरुक्तकार के विचारानुसार वेद में इन तीन ही का वर्णन है। बस! वास्तवमें निरुक्तकार ने अतिसंक्षेप की इच्छा से ही तीन देवता माने हैं। अर्थात् ये तीन ही देवता नहीं अपि तु सब देवताओं को तीन भागों में बांटा गया है। जिस प्रकार संसार को तीन लोकों में बांटा गया है- द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी-लोक।

ये तीन देवता अपने साथ किसी भी प्रकार से

सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थों और देवताओं के उपलक्षण होंगे। जिस प्रकार अग्नि पृथिवी का देवता है, ऐसा कहने से पृथ्वी पर के सभी अश्वादि चेतन और पाषाणादि अचेतन तथा दिन- रात्रि आदि सभी संगृहीत हो जाते हैं, सवन आदि का जो देवताओं के साथ विभिन्न सम्बन्ध बताया गया है, वह एकत्र स्थितिरूप से उपलक्षण ही है। इस का तात्पर्य यह है, कि पृथ्वीलोक, प्रातःसवन, वसन्त ऋतु आदि का वर्णन प्रायः अग्निदेवतावाले प्रकरणों में आता है और अग्निदेवावाले मन्त्रों का छन्द प्रायः गायत्री होगा, यहां मैंने प्रायः जो कहा है, वह यास्क मुनि की मौन सम्मति से ही कहा है। आगे चलकर यास्काचार्य ने लिखा है " एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयति " जिस से प्रतीत है, कि छन्द आदि का प्रदर्शन प्रायोवाद से ही लिखा है। इसी प्रकार इन्द्र और आदित्य के भक्तिसाहचर्य का यही अभिप्राय है, विस्तारभय से हम उसे नहीं लिखते।

अग्नि आदि से अन्य देवों का ग्रहण क्यों कर होता है ?

अब यह प्रश्न हो सकता है, कि हम यह बात मान लेते हैं, कि यास्कने संक्षेपदृष्टि से ही तीन देवता माने हैं। वास्तव में संसार के सभी पदार्थ देवता हैं, परन्तु क्या ऐसा ठीक भी है ? क्या केवल एक अग्नि कह देनेसे अन्य अश्वादि का भी ग्रहण हो सकता है अथवा अग्नि शब्द में क्या उन सब के अभिधान की योग्यता अथवा शक्ति है ? अब संक्षेप से हम इस पर विचार करेंगे और कुछ लिखने से पूर्व प्रथम शब्दशक्ति पर विचार कर लें।

शब्दशक्ति।

शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, शब्द की सहायता बिना अर्थ की और अर्थ की सहायता बिना शब्द की कल्पना करना भी बुद्धि के परे है। यही बात साहित्यदर्पण में लिखी है—

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः
शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे
तदन्यस्य सहकारिता "

शब्दमें वह शक्ति होती है, जिससे कि वह अर्थका ज्ञान कराता है। जब हम किसीसे कहते हैं "तू मेरी पुस्तक ले आ!" तब वह पुस्तक शब्द सुनकर पुस्तक ही ले आता है और वस्तु नहीं। इससे प्रतीत होता है, कि पुस्तक शब्द में एक विशिष्ट शक्ति है, जिससे कि उसी पदार्थ का ही बोध होता है, अन्य का नहीं। इस प्रकार जैसा कि एक शब्द में शक्ति है, वैसे ही वाक्य में भी शक्ति होती है। महाकवि कालिदास के एक पद्य का जो आशय उसी की भाषा, उसी वाक्यविन्यास में समझ पडता है, वह उस पद्य के हेर फेर कर देने पर नहीं रहता है; यही उस वाक्य की एक शक्ति है। लोक में इसके कई उदाहरण दिखाई देते हैं। इसी प्रकार वेदवाक्यों में भी शक्ति है, प्रभु का वह भी काव्य है, उसमें भी तनिक भेद करने से अर्थ का अनर्थ हो जायगा। इसी को हम प्राचीन ऋषियों की शैली में भाषा में अदृष्टार्थवाद कह सकते हैं।

शक्ति एक नहीं।

परन्तु एक शब्द में एकही शक्ति हो, वह एक ही जैसा सदा अर्थ बताए ऐसा नहीं।

उदाहरण।

यदि उल्लू शब्द को वाक्य के बिना अथवा पक्षि के अनुकूल अर्थवाले वाक्य में प्रयुक्त किया जाय, तो उसका अर्थ उलूक पक्षी ही होगा; जिस प्रकार उल्लू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, तो इस में सूर्य का क्या दोष है, इस वाक्य में। परन्तु यदि कोई इतना मूर्ख है कि बार बार समझाने पर भी नहीं समझता, तो यदि उसे यों कहा जाय कि ' तेरे जैसे उल्लुओं को यदि बृहस्पति भी आए, तो नहीं समझा जा सकता ' तो यहां उल्लू शब्द का अर्थ पक्षी न होकर महामूर्ख ही होगा। इससे यह पता चला कि शब्द की एक ही शक्ति नहीं।

शक्ति के भेद।

प्राचीन आचार्योंने शब्दशक्ति के तीन भेद किए हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना ।

अभिधा।

किसी शब्द के साधारणतया प्रचलित मुख्य अर्थ की बोधिकाशक्ति अभिधाशक्ति कही जाती है । यही बात साहित्यदर्पण में लिखी है ।

'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा'

अर्थात् शब्द के संकेतित मुख्य अर्थ को बतानेवाली अभिधा शक्ति है।

लक्षणा ।

जहां मुख्य अर्थ न घट सकता हो, वहां वाक्यार्थ को उपपन्न करने के लिए किसी शब्द का मुख्य अर्थ न ले कर उस का सम्बन्धी और अर्थ गृहीत हो, वह शक्ति लक्षणा कहलाती है।

उदाहरण- जिस प्रकार यदि किसी मेले में अधिक भीड हो तो कह देते हैं, कि "आज तो यहां सारा शहर ही चला आया है" इस वाक्य में शहर शब्द का मुख्य अर्थ है मकान सडकें गलियां बाजार आदि, परन्तु वह अर्थ तो यहां उपयुक्त नहीं; अतः मुख्य अर्थ का सम्बन्धी अर्थ अर्थात् शहर के निवासी मनुष्य यह अर्थ लक्षणाशक्ति से ही लिया जाएगा। यही बात प्राचीन आचार्योंने कही।

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते रूढेः
प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥
(साहि० दर्पण)

अर्थ- मुख्य अर्थ के अनुपपन्न होने की दशा में तत्सम्बन्धी अर्थ की रूढि अथवा किसी प्रयोजन से कल्पना करना लक्षणा है।

व्यञ्जना ।

जहां लक्षणा और अभिधा से अर्थ प्रतीत हो चुकने पर भी, उससे अन्य अर्थ भी प्रतीत होता हो । वह अर्थ जिससे प्रतीत होगा, वह शब्दशक्ति व्यञ्जना है, जिस प्रकार कि अत्यन्त दुरात्मा को कहा जाय, कि आप तो महात्मा हैं। यहां महात्मा शब्द का जो यह अर्थ प्रतीत होता है, कि आप बहुत दुरात्मा हैं, यह व्यंजनाशक्तिसे ही प्रतीत होगा। इसी बात को प्राचीन आचार्योंने कहा—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

अर्थ- जहां अभिधा आदि शब्द की वृत्तियां अपना कार्य समाप्त कर चुकें, तब भी अन्य अर्थ प्रतीत होता हो, वहां उस अर्थ की प्रतीति करानेवाली शक्ति व्यञ्जना है।

प्रकृत में- इस सब विवेचन का तात्पर्य यह है, कि शब्द की एक ही शक्ति नहीं और शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता, इसी प्रकार प्रकृत में भी साहचर्यादि से अग्नि शब्द भी गौण-वृत्तिसे अश्वादि देवों का बोधक हो सकता है। यद्यपि यहां रूढि नहीं तथापि संक्षेपरूप प्रयोजन है। अतः लक्षणावृत्ति से ही ऐसा बोध होता है।

अग्नि आदिका अर्थ व्यापक है।

ऊपर यह लिखा जा चुका है, कि एक ही शब्दके अनेक अर्थ अन्याय्य नहीं। जिस प्रकार सिंह शब्दका मुख्य अर्थ शेर है; परन्तु जब किसी पहलवान को शेर कहा जाता है, वह साधर्म्य से ही कहा जाता है। इसी प्रकार अग्नि आदि शब्दों का भी यास्क यद्यपि भौतिक ही अर्थ मुख्यरूप से समझते हैं, तथापि गौणरूप से अग्नि आदि के भी अनेक अर्थ होते हैं। स्वयं यास्कने ही इसका संकेत किया है ।

अग्नि परमात्मा का नाम है।

'अथापि ब्राह्मणं भवति। अग्निः सर्वाः देवता इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय। इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

अर्थात् इस विषय में ब्राह्मणने भी कहा है कि अग्नि ही सब देव हैं। इस की स्पष्टता करते हुए यास्कने वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र लिखा है, जिसमें आए हुए अग्नि शब्द की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं।

'इयमेवाग्निं महान्तमात्मानं एकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति।'

अर्थात् इस अग्नि एक परमात्माको ही बहुत नामों से मेधावी लोग कहते हैं।

विद्युत और सूर्य ।

अन्यत्र यास्कने लिखा है-"स न मन्येताऽयमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते" अर्थात् ऐसा समझना ठीक नहीं, कि यही पार्थिव अग्नि ही अग्नि है। सूर्य और विद्युत् को भी अग्नि ही कहा जाता है।

परन्तु यह अर्थ गौण वृत्त्या ही है। इस बात को भी स्वयं यास्कने स्पष्ट कह दिया है—

'यत्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते।

अर्थात् अग्नि शब्दका मुख्य अर्थ यही दृश्यमान् भौतिक आग ही है, अन्य अर्थ औपचारिक गौण हैं।

संक्षेप इन्हीं तीनों द्वारा ही क्यों किया?

अब यह प्रश्न हो सकता है, यदि संक्षेप ही करना था, किन्हीं और तीन देवताओं द्वाराही करते, अग्नि, इन्द्र या वायु, सूर्यद्वाराही क्यों किया? इसका उत्तर श्री सत्यव्रत सामाश्रमीजी के शब्दों में यह है कि प्रायः वेदों में लिंगोक्त देवता यही तीन हैं, अतः यास्कने इन्हीं तीन को ही देवता माना है।

अग्नि देवता।

ऊपर लिखा जा चुका है, अग्नि शब्द साहचर्य-लक्षण से भूलोकान्तर्गत सभी देवताओं का बोधक है और एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। मैं अग्नि शब्द का जो अर्थ समझता हूं, यहां निरुक्त के उद्धरण के साथ उसे ही लिख देता हूं, जिससे उपर्युक्त तीन देवताओं की अनेकार्थता की पुष्टि होगी। हम यहां अग्नि शब्दका एक अर्थ नेता, मनुष्य करेंगे और घटाएंगे। निघण्टु प्रथमाध्याय के प्रारंभ में ही लिखा है 'अग्निः जातवेदाः वैश्वानर इति त्रीणि पदानि' इस की व्याख्या करते हुए यास्काचार्यने निरुक्त के सप्तमाध्याय में लिखा है-

'अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः इतात् अक्तात् दग्धाद्वा नीतात् स खल्वेते रेकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः।

अग्नि का अर्थ नेता है। (नि० ७-४)

अर्थ- अग्नि पृथिवी का देवता है। प्रथम उस की व्याख्या करेंगे। अग्नि अग्रणी का नाम है।

(१) जो किसी भी यज्ञ के श्रेष्ठ कर्म के आगे आगे चलता है अथवा आगे किया जाता है।

(२) अङ्गं नयति सन्नममानः- इस की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्यने लिखा है—

"यत्रायं सन्नमयति साधनत्वेन वैदिके वा लौकिके वाऽर्थे तत्र सन्नममान एवात्मानं प्रधानीकृत्य सर्वमन्यदात्मनोऽङ्गतां नयति"

जिस भी कर्म के लिये नेता अग्नि जब किसी अन्य को अभिभावित करता है, वहां वह स्वयं भी विनीत होकर प्रधान होता है।

(३) स्थौलाष्ठीवि आचार्य के विचारानुसार नेता को अग्नि इसलिये कहा जाता है, कि वह अक्नोपन अथवा अस्नेहन होता है, किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति के साथ स्नेहविशेष नहीं करता।

(४) शाकपूणि आचार्य अग्नि शब्द को तीन धातुओं से निष्पन्न कहते हैं, उनके विचारानुसार अग्नि शब्द के निम्न अर्थ होंगे—

(क) एति गच्छतीति अग्निः- इस प्रकार ' इण् गतौ ' इस धातु का भी अग्नि शब्द में अर्थ सन्निविष्ट है। गतिके तीन अर्थ होते हैं, ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इस प्रकार यह अर्थ हुआ जो ज्ञानसम्पन्न है, विद्वान् है और उत्साही है, आलसी नहीं तथा जिनका वह नेता है अथवा होना चाहता है, उनके स्वभावादि से भले प्रकार परिचित है।

(ख) व्यनक्ति- इति अग्निः- इस प्रकार अञ्जू व्यक्तौ धातु का भी अर्थ अग्नि शब्द में है, जिस का तात्पर्य यह है, कि जो अपनी सारी दिनचर्या को सब पर स्पष्ट कर देता है, अर्थात् जिसका सामाजिक जीवन तथा वैयक्तिक जीवन परस्पर-विरोधी नहीं वह अग्नि है।

(ग) दहतीति अग्निः- इस प्रकार दह् धातु का भी अर्थ इस में सन्निविष्ट है। इस का अर्थ यह है कि जिसने सब कलुषित वृत्तियों को जला दिया है, तथा साथ ही बाह्य शत्रुओं को भी जलाने की शक्ति रखता है, वह नेता है अथवा हो सकता है। इस प्रकार यास्कने अग्नि नेता के गुणकर्मादि को अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति में दिग्दर्शन कराया है, जिस को संक्षेप में यों कहा जा सकता है- अग्नि अथवा नेता वह हो सकता है जो-

(अ)- जो विनयशील हो, निरहङ्कार हो।

(आ)- जिस श्रेष्ठ कर्म को करने का वह दूसरों को आदेश करे, उसे स्वयं करता हो।

(इ)- जो जितने समुदाय का नेता है, उस के एक अंगविशेषपर अनुचित रूप से ममता नहीं रखता है, निर्भय है, निष्पक्ष है।

(ई) जो क्रियाशील है, अधिक से अधिक ज्ञानोपार्जन की चेष्टा करता है।

(उ) किसी समुदाय का नेता बनने से पूर्व उस के प्रत्येक अंगसे भले प्रकारसे परिचित हो चुका है।

(ऊ) जो अपनी किसी भी बात को समाजसे नहीं छुपाता है।

(ऋ) जिसने अपने आप को निष्पाप बनाया है।

अग्नि के भेद।

इस प्रकार अग्नि अथवा नेता को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक जातवेदा और दूसरा वैश्वानर।

(१) जातवेदा।

जातवेदा की निरुक्ति करते यास्काचार्य ने लिखा है- जातवेदाः कस्मात्- जातानि वेद जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जाधतनः जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः।

अर्थात् जो समाजमें उत्पन्न सब प्राणियों, वस्तुओं, बुराइयों और भलाइयों को जानता है। अथवा समाज के सभी प्राणी जिसको जानते हैं। (जाते जाते) जब कभी आडे समय में जो विद्यमान रहता है। अथवा जो जातधन है, जिस के पास धन है और उसे आडे समय में देश जाति के लिये दे देता है, वह भी नेता है अथवा जिसके पास प्रज्ञान- विशेष ज्ञान है, वह अग्नि है, नेता है, अथवा हो सकता है। संक्षेप से जातवेदस् के दो विभागों का अर्थ इस प्रकार हुआ—

ज्ञानी नेता जातवेदा।

(अ-) जो समाज के जनसमुदाय की संख्या से भले प्रकार परिचित है। सामान्य रूपसे तथा विशेष रूपसे वृद्ध, युवा, स्त्री, बालक, रोगी आदि सभीको जानता है (जानने का तात्पर्य यह है, कि उस सम्बन्ध में उचित कार्य करता है, क्योंकि प्राचीन कालके साहित्य में ज्ञान और कर्म एक हैं।)

(आ) जो इतना लोकसेवा से प्रसिद्ध हो चुका है, कि सभी आबालवृद्ध नरनारी उसे जानते हैं।

(इ) समाज पर आपत्ति आने के समय जो किसी कमजोरी के कारण अपनी कमजोरी को समाज पर आरोपित नहीं कर देता है।

(ई) जातविद्य है पूर्णरूप से विज्ञ है।

धनी नेता=जातवेदा।

(अ) जो जातवित्त है, जिस ने धर्मपूर्वक धन को उपार्जित किया है।

(आ) धनोत्पादनसम्बन्धी सभी भलाईबुराई से जो परिचित है।

(इ) इतना चतुर है कि धनसम्बन्धी बाधाएं उसे जानती हैं। जिस प्रकार अधिक पढने-वाले को कहते हैं कि- किताब मुझे जानती है।

(ई) आडे समय जो देश के काम आता है, धन का व्यय करनेपर उद्यत रहता है, वह नेता है।

२. वैश्वानर।

दूसरे प्रकार का अग्नि-नेता-वैश्वानर है। उस की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं-

'वैश्वानरः कस्मात् विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः।

अर्थ- वैश्वानर उसे कहते हैं, जो सब मनुष्यों को ले चलता है अथवा उसे ही सब मनुष्य ले चलते हैं अथवा विश्वानर शब्द से ही वैश्वानर बना है, अर्थात् जो सभी समाज के प्राणियों तक पहुंचा हुआ है।

संक्षेप से वैश्वानर उसे कहते हैं जो—

(अ) सभी मनुष्यों को अपने साथ ले चलता है, किसी यज्ञ का क्रियात्मक नेतृत्व सम्पादन करता है।

(आ) जो स्वयम्भू नेता नहीं अपि तु जनता ही उसे ऐसा बनाती है।

(इ) जिस में इतनी शक्ति है, कि जनता इसके आदेशानुसार चले। वह वैश्वानर अग्नि है।

यास्काचार्य ने वैश्वानर शब्द के उदाहरणार्थ एक ऋचा भी लिखी है। उस का हम जो अर्थ समझते हैं, उसे भी लिख देना चाहते हैं।

'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।'

(ऋग्वेद १।९८।१)

(वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम) समाज के क्रियात्मक नेता की शुभ सम्मति पर हम कटिबद्ध रहें (भुवनानां कं अभिश्रीः राजा)। वह सब प्राणियोंका सुखकर्ता तेज आदि गुणों से युक्त वस्तुतः राजा है, वही तो प्रधान है। (वैश्वानरः सूर्येण यतते) ऐसा वैश्वानर सूर्य के साथ संगति कर रहा है। सूर्य सा तेजस्वी होता है। (इतः जातः विश्वमिदं विचष्टे) वह वैश्वानर समाज में से ही उत्पन्न हुआ है, परन्तु अब उसपर शासन कर रहा है। इस मंत्र में वैश्वानर अग्नि के उपर्युक्त प्रायः सभी गुण बताए गए हैं।

अग्नि और ब्राह्मण।

ऊपर लिखा गया है कि अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ अनेक हैं। इसी बात को हम ब्राह्मण ग्रंथों के प्रमाणों से पुष्ट करेंगे। ब्राह्मणों में अग्नि शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं। दिङ्मात्र लिखते हैं —

रुद्र- (१) यो वै रुद्रः सोऽग्निः।
शतपथ ५।२।४।१३

विराट् (२) विराट् अग्निः। श. प. ६।३।१।२१
शिर (३) शिर एवाग्निः। श. प. १०।१।२।५
वाणी (४) वागेवाग्निः। श. प. ३।२।२।१३
आत्मा (५) आत्मा वा अग्निः। श. प. ७।३।१।२
तप (६) तपो वा अग्निः। श. प. ३।४।३।२
मृत्यु (७) अग्निर्वै मृत्युः। कौशीतकि ब्रा. १३।३
मृत्यु (८) अग्निर्वै मृत्युः। श. प. १४।६।२।१०
मन (९) मन एवाग्निः। श. प. १०।१।२।३

वीर्य (१०) वीर्यं वाग्निः । तै. ब्रा. १।७।२।२
ब्रह्म (११) ब्रह्म वा अग्निः । कौ. ९।१।५
श. प. २।५।४।८
प्राण (१२) प्राणो वा अग्निः। श.प. ९।५।१।६८
मनुष्य पुरुष (१३)पुरुषोऽग्निः । श.प.१०।४।१।६
पुरुषो वा अग्निः। त त. १४।९।१।१५
स्त्री योषा (१४) योषा वा अग्निः।
श. १४।९।१।१६
आयु (१५) आयुर्वाऽग्निः । श. प. ६।७।३।७
दाता (१६) अग्निर्वै दाता। श. प. ५।२।५।२
गर्मी (१७) अग्निर्वै घर्मः । श. प. ११।६।२।२
सत्य (१८) अग्निर्वा ऋतम् । तैत्तरीय २।१।११।१
वनस्पति (१९) अग्निर्वै वनस्पतिः। कौ.१०।६
महान् (२०) अग्निर्वै महान् ।
जै. उप. ब्राह्म. ३।४।७
यज्ञ (२१) अग्निर्वै यज्ञः । तांड्य ब्रा. ११।५।२
इत्यादि । विस्तारभय से अधिक नहीं लिखा।

इन्द्र और ब्राह्मण ।

इसी प्रकार इन्द्र शब्दके लक्ष्यार्थ अनेक ब्राह्मण-ग्रंथों में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिये कुछ लिखते हैं—

सूर्य (१) इन्द्र इति ह्येतमा चक्षते य एष तपति ।
श. ४।६।७।११ ॥
वाणी (२) वाग्वा इन्द्रः ।
कौशीत. ब्रा. २।७।१३।५॥
हृदय (३) हृदयमेवेन्द्रः। शतपथ १२।९।१।१५॥
मन (४) यन्मनः स इन्द्रः । गो. उ. ४।११
क्षत्रिय (५) इन्द्रः क्षत्रम् ।
श. प. १०।४।१।५॥
बल और बलपति (६) इन्द्रो बलं बलपतिः ।
-श. प. ११।४।३।१२॥
अधिक बलवान् (७) ते (देवाः)होचुरिन्द्रे-ह वै नो वीर्यवत्तमः। श. प. ४।६।६।३
अश्व (८) इन्द्रो वा अश्वः । कौशी. १५।४
वीर्य (९) वीर्यमिन्द्रः। श. प. ३।९।१।१५॥

आकाश (१०) यस्स आकाश इन्द्र एव सः।
-जैमि. उप. ब्राह्म. १।२९।२॥
इत्यादि विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखा।

आदित्य और ब्राह्मण

आदित्य शब्द के भी ब्राह्मण ग्रंथों में बहुत अर्थ बताए हैं। कुछ लिखते हैं-

सूर्य (१) आदित्यो वा अर्कः।
श. प. १०।६।२।६॥
प्राण (२) प्राण आदित्यः ।
ताण्ड्यब्राह्मण १६।१३॥
चक्षु (३) चक्षुरादित्यः।
श. प. ३।२।२।१३॥
तप (४) असौ वा आदित्यस्तपः।
श. प. ८।७।१।५॥
सत्य (५) स एष वै सत्यम्।
कवि (६) असौ वा आदित्यः कविः।
श. प. ६।७।२।४॥
बृहत् (७) आदित्यो बृहत् । ऐतरेय ५।३०
ब्रह्म (८) आदित्यो वै ब्रह्म।
जैमि. उ. ब्राह्मण३।४।९
ओम् (९) ओमित्यसौ योऽसौ तपति ।
ऐ. ५।३२
हृदय (१०) असौ वा आदित्यो हृदयम्।
श. प. ९।१।२।४०

इत्यादि ब्राह्मणग्रंथों में आदित्य के अन्य भी अर्थ पाए जाते हैं विस्तारभय से उन्हें नहीं लिखा।

तात्पर्य ।

इस सब विवेचन से यह सिद्ध होता है, कि आचार्य यास्क भी इसी सिद्धान्त को मानता है कि संसार के सभी पदार्थ देवता हैं, देवता तीन ही हैं, यास्क का यह कथन संक्षेप के अभिप्राय से है।

३३ कोटि देवता।

पुराणों के विचारानुसार ३३ करोड देवता हैं, यह भी सिद्धान्त अनुपादेय नहीं। परंतु देवता

से अभिप्राय यदि चेतन हाथपांववाले हमारे जैसे प्राणियों से है, तो वह ठीक नहीं, ऐसा हम यास्काचार्य आदि के विचाराऽनुसार लिख आए हैं।

एक और प्रकार से देवताओंका संक्षेप।

ऊपर यह लिखा गया हैं, कि यास्काचार्यने देवताओंका संक्षेप अग्नि वायु आदित्य रूपसे जो किया है, वह इसीलिये कि वेदों में लिङ्गोक्त देवता अधिक यही तीन पाए जाते हैं, परन्तु वेद की स्पष्टार्थता के लिये हम देवताओंका संक्षेप चार देवताओं में प्रतिपाद्य विषयों में कर सकते हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। ऋषि दयानंदने भी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वेदों के मुख्यतः यही चार प्रतिपाद्य विषय बताए हैं।

अब तक जो देवता का विवेचन हमने किया है, वह दार्शनिक आधारपर है। इतना जान लेने से कि वेद में सभी विषयों का साक्षात् अथवा परम्परया प्रतिपादन किया गया है और संसार के सभी पदार्थ देवता हैं- वेद के देवता का ज्ञान नहीं हो सकता। आजकल वेदों के सरल अर्थ जनता के सम्मुख रखने का युग है, इस लिये कुछ उच्छृंखल विचारक व्यक्ति जनता में वेदज्ञ बननेके लिये यह चाहते हैं, कि वेद के देवता का निर्णय उन्हींपर ही छोड दिया जावे, जिस से वे मनमाना अर्थ कर सकें। परन्तु हम तो अनुभव के आधार पर कह सकते हैं, कि इस प्रकार वेदार्थ की कुंजी नहीं मिल सकती। कुछ फुटकर इधर उधर के मंत्रों का अर्थ भले ही हो जाय, परन्तु वेदों का प्रकरणशः अर्थ करना महा कठिन ही नहीं, असम्भव है। वैसे तो कोई भी लिख सकता है, अच्छे से कागज पर, अच्छेसे अच्छे प्रेस में छपवाकर अच्छे से अच्छे दामोंपर पुस्तकों का प्रकाशन कर के वेदों का पंडित कहला सकता है। परन्तु जो विद्वान् वेद का मनन कर रहे हैं, जो किसी बात को तब तक नहीं मान सकते, जब तक साम्प्रदायिक रीति से, अर्थात् उस क्रम से जिस क्रम से वेद का अर्थ अब तक ऋषि करते आए हैं नहीं कर देते तब तक ऐसे वेदभाष्यों की मान्यता संदिग्ध ही नहीं विपर्यस्त है।

देवताज्ञान कठिन है।

वेदमंत्रों के देवताओंका ज्ञान कठिन है, इस का निर्देश यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रंथ में किया है।

> 'शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति साऽस्मै एतां ऋचमादिदेश एषा मद्देवतेति। (निरुक्त २।२।४)

अर्थ- शाकपूणि ने समझा, मैं सब देवताओं को जानता हूं, उस के सामने एक ऐसी देवता आई, जिस को वह न जान सका। उसने उस देवता से पूछा कि मैं तुम्हारा तत्त्वज्ञान करना चाहता हूं। तब उस देवता ने एक मंत्र का निर्देश कर के शाकपूणि से कहा कि इस मंत्र का जो देवता है, वह मैं हूं। इस आख्यान से यह ज्ञात होता है कि देवताज्ञान कठिन है। साथ ही इस से यह भी ज्ञात होता है कि वेदमंत्रों का देवता निश्चित है। यह ठीक है कि देवता महाभाग है, अर्थात् उस के अनेक अर्थ हैं। परन्तु अनेकलिङ्गवाला होनेपर भी देवता एक ही है, अर्थात् किसी मंत्र का देवता उस मंत्र में ही अपने शब्दों में निर्दिष्ट है। एक और बात भी इस आख्यान से ज्ञात होती है, देवताज्ञान के लिये अधिक से अधिक स्वाध्याय करना चाहिये। योगदर्शन के 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' का भी अर्थ यही है।

'स्वाध्यादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।' अर्थात् स्वाध्याय करने से ही यथार्थ देवता का ज्ञान होता है। स्वाध्याय का यह फल सभी ग्रंथों के लिये उप-

योगी है। अधिक स्वाध्याय करनेसे ही किसी के यथार्थ प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार वेद के किस मंत्र का प्रतिपाद्य-देवता क्या है? इस का उत्तर भी वेद स्वयं दे देगा। आवश्यकता तो इस बात की है, कि हम अधिक स्वाध्यायी बनें। वेद का पढना पढाना ही अपना परम कर्तव्य समझें। स्वाध्याय करने से प्रतीत होगा, कि वेद स्वयं अपनी व्याख्या करता है, अपने को स्पष्ट कर रहा है।

देवता निश्चित हैं, उस का अर्थ अनिश्चित है अथवा यों कहिये, उस के अर्थ अनेक हैं। इस बात को स्वयं यास्काचार्यने—

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्' यहां देवता का लक्षण कहते हुए 'देवतायामार्थपत्यमिच्छन्' पदोंसे द्योतित किया है। अन्यथा 'देवतायां' पद व्यर्थ हो जाएगा। ऋषि अथवा मंत्र-द्रष्टा केवल उस देवताका आर्थपत्य ही कर सकता है। अर्थतः पतिर्निर्माता बन सकता है, स्वरूपतः नहीं। यह ठीक है कि वेद में अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे, जहां अनेक देवता प्रतीत होंगे अथवा मुख्य देवता अमुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया होगा। आचार्य यास्क ने ऐसे ही स्थलों के लिये कहा है 'तद् ये अनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा।' यहां यह बात ध्यान रखने की है, कि यह बात यास्क ने उन मंत्रों के लिये कही है, जिन में लिङ्गोक्त देवता न हो। और फिर 'तेषु देवतोपपरीक्षा' से ज्ञात होता है, कि ऐसे स्थलों में उपगम्य परीक्षा करनी चाहिये, ऊपर से देवता को ला खडा करना तो 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'की उक्तिको चरितार्थ करना है। और फिर ऐसे स्थलों के लिये भी यास्क ने निर्णय किया है, कि 'याज्ञदैवतो मंत्रः' अर्थात् ऐसे मंत्रों का देवता यज्ञ है अथवा देवता यहां यज्ञ और देवता पद सूर्य और अग्नि के द्योतक हैं। और फिर यास्कने सातवें अध्यायमें स्पष्ट कर दिया है, कि जिन पदों में देवताओं का विशेषण है अथवा उन के विशिष्ट कर्मों का प्रतिपादन है, उन पदों को देवता का नाम नहीं दिया जा सकता। 'भूयांसि तु समाम्नानात् यत्तु संविज्ञानभूतं तत्स्यात्प्राधान्येन' ... 'तत्सभामने।' इतने पर भी जो देवता को कर्पूर-पिण्डवत् उडनेवाला तत्त्व मानते हैं, उन के सम्बन्ध में क्या कहा जाय!

एक और भी बात है, आचार्य यास्कने निरुक्त के प्रयोजन बताते हुए 'तदिदमन्तरेण मंत्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते' में मंत्रार्थज्ञान को तथा 'अथापि याज्ञदैवतेन बहवो प्रदेशाः भवन्ति' में देवताज्ञान को पृथक् पृथक् प्रयोजन बताया है, इस से प्रतीत होता है, देवता और अर्थ एक वस्तु नहीं। मैं यह नहीं कहता कि इन का सम्बन्ध नहीं, परन्तु प्रतिपाद्य अर्थ ही देवता नहीं। हां यह ठीक है, कि देवता मंत्र का प्रतिपाद्य है और होता है। यह ठीक है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने मंत्रों का विविध अर्थ किया है, परन्तु इतने से देवता का भेद नहीं हो जाता। अर्थभेद होना संभव है और यह माना भी जाता है।

मैं यहां यह स्पष्ट कर दूं, कि वेदके देवता का अमुक ग्रंथ ही प्रमाण है, मैं यह नहीं मानता। परंतु मैं इतना तो मानता हूं कि वेद के देवता अनिश्चित नहीं। भगवान्‌की सब बातें निश्चित हैं अनिश्चित नहीं। वेद के देवता कैसे अनिश्चित हो सकते हैं? हां जिस प्रकार भगवान् की प्राकृतिक वस्तुओं की अनेकविध व्याख्या की जाती है, हो सकती है, इसी प्रकार वैदिक देवताओंकी भी विविध व्याख्या हो सकती है और होती है। यही वेद की अनेक व्याख्याओं का कारण है। 'महाभाग्या-देवतायाः' इन शब्दों में आचार्य यास्कने उसी सत्य का स्पष्टीकरण किया है।

यहां एक और बात और भी कह दूं। देवताओं के साथ वेद में उन के रथ, घोडे, बाण, आयुध आदि का भी जिक्र मिलता है। यह सब एक देवता को विविध रूप में व्यक्त करने की अद्भुत शैली है। आचार्य यास्क ने इसी को कहा है-

'आत्माऽश्वः, आत्मा रथः, आत्मेषवः, आत्मायुधम्, आत्मा देवस्य ।

अर्थात् ये सब चीजें देव का आत्मा है, स्वरूप हैं, पृथक् तत्त्व नहीं ।

वेदके कुछ देवताओंका स्पष्टीकरण ।

ऊपर यास्क के देवता-त्रित्व का व्यापक अर्थ बताते हुए ब्राह्मणादि ग्रंथों के प्रमाणों से सिद्ध किया है, कि अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य इन के व्यापक अर्थ हैं । इसी प्रकार अन्य देवता जिनका मूलसंहिताओं के ऊपर निर्देश है, उन का अर्थ रूढ अथवा योगरूढ नहीं, अपितु यौगिक एवं व्यापक है । इस बात की पुष्टि इस से भी होती है, कि चारों वेदों में एक ही देवतावाले मंत्र अनेक हैं यदि इन सब का अर्थ एक ही है, तो वेदों की व्यर्थकता और उपयोगिता में कमी आती है । केवल इसी लिये ही नहीं, अपि तु उन मंत्रों के अर्थों से भी प्रतीत हो जाता है । इन देवताओं का एक ही अर्थ नहीं इस को स्वाध्यायशील व्यक्ति जान सकते हैं । नीचे कुछ देवताओंकी सूची दी जाती है, जिससे पता चलेगा कि कितने देवता किस किस वेद में आए हैं-

नाम	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्व०
१ इन्द्रः	२७५४	१३५	४४१	८६६
२ अग्निः	१६९५	३५७	१८६	२५२
३ पवमानसोम	१०७५	+	११९	३
४ विश्वे देवाः	८१९	६७	१७	१२५
५ अश्विनौ	५००	३०	९	५७
६ प्रजापतिः	१	५७	१	४९७
७ मरुतः	३९९	१३	८	२६
८ आत्मा	६	२४	१	२०३
९ मित्रावरुणौ	१९५	७	७	८
१० उषा	१८५	२	१२	२
११ व्रात्यः	×	×	×	१९६
१२ सूर्यः	८६	३३	१७	३३
१३ सविता	७९	६३	८	१८
१४ सोमः	७९	३९	१९	२०
१५ वरुणः	१०५	१४	४	२०
१६ इन्द्राग्नी	१०७	८	११	१०

ऊपर की सूची से यह भी प्रतीत होता है, कि लौकिक भाषा में जिन्हें हम समानार्थक समझते हैं, वेद में वे दो विषय हैं,भिन्न देवता हैं। उदाहरण के लिये सूर्यसविताकोही उपस्थित किया जा सकता है। साथ ही इस सूची से यह भी प्रतीत होता है, कि चारों वेदों में इन्द्र, अग्नि इन देवताओं के मंत्र अधिक हैं। यास्कने सम्भवतः इसी लिये 'तिस्र एव देवताः' ऐसा कहा हैं।

कुछ देवताओं का अर्थ ।

अब हम चाहते हैं, कि वेद के कुछ देवताओंका अर्थ भी लिख दें, जैसा कि हम समझते हैं।

अग्नि देवता का तो ऊपर ही विस्तार से अर्थ लिखा है।

१. मरुतः।

इस देवतावाले मंत्र ऋग्वेद में अधिक हैं। मरुत् का अर्थ भी संदिग्ध सा है,परन्तु मुझे तो स्वाध्याय से ऐसा निश्चय सा हो गया है, कि मरुतः का अर्थ वैदिक साहित्य में वही है जो उर्दू में 'अवाम' शब्द का तथा अंग्रेजी में पब्लिक शब्द का है । अर्थात् साधारण जनसमुदाय, जनता। इस का निश्चय ऋग्वेद प्रथम मंडल का ८५ और ८६ सूक्त पढने से होगा।

२. अश्विनौ।

इस शब्द में द्विवचन है,ऐसा देखकर कुछ लोग ऐसा समझते हैं, कि दो का ही नाम अश्विनौ होगा; परन्तु ऐसा नहीं है। किसी भी भाषा में कुछ शब्द नियतलिङ्ग होते हैं और कुछ नियत विभक्ति और कुछ नियत वचन । जिस प्रकार संस्कृत भाषा में पात्र शब्द नपुंसक लिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है, परन्तु किसी मनुष्य पुरुषको भी कहा जा सकता है कि तुम तो 'विद्यापात्रम्' हो । इसी प्रकार दारा शब्द, वर्षा

शब्द बहुवचन में ही रहते हैं। गृह शब्द पुलिङ्ग में बहुवचन में ही रहता है, परन्तु उस का अर्थ वैसा ही नहीं है। इसी प्रकार अश्विनौ शब्द भी नियत वचन है। यह नियमरूप से द्विवचन में ही रहता है, परन्तु प्रयोग इस अर्थवाले एक अथवा बहुतों के साथ भी हो सकता है। अतः जो विद्वान् समझते हैं कि इस का अर्थ उपदेशक, अध्यापक, मातापिता, द्यावापृथिवी है, वह ठीक है, परन्तु यह नहीं कि और अर्थ हो ही नहीं सकते। अतः बृहद्देवता आदि के निम्न वचनानुसार अश्विनौ का अर्थ सूर्य-चंद्र, प्राण-अपान, अहोरात्र आदि कर सकते हैं परन्तु एतावन्मात्र ही अर्थ करना उचित नहीं—

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणाऽपानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रे च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥१॥
अश्नुवाते हि तौ लोकाञ्ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥२॥
(बृहद्देवता ७।१२६-१२७)

अश्विनौ शब्द की निष्पत्ति यास्कने दो प्रकार से की है। एक अश्व शब्द से इनि प्रत्यय कर के, दूसरा अशूङ् धातु से विनि प्रत्यय कर के। इस प्रकार जो अश्ववाले हैं, तथा व्यापक हैं, उन्हें ही अश्विनौ कहा जाता है।

यहां व्याप्तिशरीरत्वेन स्वरूपतः ही अभिप्रेत नहीं, बौद्धिक व्याप्ति भी अभिप्रेत है, ऐसा मेरा विचार है।

(क) इस प्रकार जिन के पास अश्व है, उन्हें अश्विनौ कहते हैं। अश्व का एक अर्थ लौकिक घोडा नामक पशु है, तो इस प्रकार जो घुडसवार हैं तथा घोड़ा आदि पशुओं का पालक है, वह अथवा वे अश्विनौ हैं। यहां अश्व शब्द अश्वादि पशुओं का उपलक्षण है।

(ख) अश्व का दूसरा अर्थ अश्वगंधा, असगंधा नामक औषधि भी है और वह अन्य औषधियों का उपलक्षण है। अतः जो औषधियों का विशेषज्ञ हो, उसे अथवा उन्हें अश्विनौ कहा जाता है। इसी लिये पुराणों में यह प्रसिद्धि है, कि अश्विनीकुमार देवताओं के हकीम हैं, वैद्य हैं इत्यादि। पुराणों में ही क्यों, ब्राह्मणों में भी ऐसा कहा है- 'अश्विनौ वै देवानां भिषजौ'॥ (ऐतरेय १।१८)

(ग) अश्व शब्द का एक अर्थ वीर्य भी वैदिक साहित्य में है। इस प्रकार जो वीर्यवान् है अथवा हैं उसे-उन्हें-भी अश्विनौ कहा जा सकता है। इसी प्रकार अशूङ् व्याप्तौ इस धातु से विनि प्रत्यय करने पर भी अश्विनौ शब्द की सिद्धि यास्कने की है। जिस का अर्थ व्यापक है। इस के अनुसार सूर्य-चन्द्र, द्यावा-पृथिवी, दिनरात इत्यादि अर्थ होंगे। परन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, व्याप्ति स्वरूपतः नहीं होती, बौद्धिक व्याप्ति का भी यहां ग्रहण होता है। इस प्रकार जो जिस पदार्थ का व्यापक ज्ञान रखते हैं, उन्हें भी अश्विनौ कहा जा सकता है। इस प्रकार अध्यापक, आचार्य, वैज्ञानिक आदि सभी अश्विनौ कहे जा सकते हैं।

यास्क ने उपर्युक्त रीति से अश्विनौ की निष्पत्ति दो प्रकार से की है। एक कृत्प्रत्यय से, दूसरी तद्धित प्रत्यय से। कृत और तद्धित प्रत्ययों में यही मौलिक भेद है, कि कृत् प्रत्यय धातु से ही होते हैं और तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक से।

(क) अश्विनौ यद् व्यश्नुते सर्वम्, (ख) अश्वैरश्विनावित्यौर्णनाभः। (नि० अ० १२ पा० १)

यहां यह लिख देना ठीक होगा, कि यास्काचार्यने अश्विनौ का अर्थ आधिभौतिक अर्थ में ही किया है, परन्तु उन की निरुक्ति से अन्य भी कई अर्थ लिये जा सकते हैं। अब हम थोडा सा ब्राह्मणग्रंथों का प्रमाण देकर यह सिद्ध करेंगे, कि वे भी इस का अर्थ विविध प्रकार से ही करते हैं—

द्यावापृथिवी।

(१) इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवातां। (श. प. ४।१।५।१६)

(आगे पृ० ६७१ देखें)

आन्तर जगत् और आर्यसमाज का कर्तव्य।

(लेखक— श्री० पं० रामचंद्रजी, रि० हेडमास्तर, अम्बाला शहर)

इस असीम संसार में जितने भी पदार्थ या वस्तुजात दीख पडते हैं, उन सबके दो भाग हैं। एक वह भाग है, जिसको साधारण दृष्टिमें प्रत्यक्ष कहते हैं। दूसरा वह भाग है जो साधारण दृष्टि में परोक्ष कहलाता है। इस परोक्षको अदृश्य या आन्तर (Inner) जगत् कहते हैं। उदाहरणतया एक वृक्षको देखिये। उसका एक भाग बाह्य है जो साधारण रूपमें दृष्टिगोचर है। उसमें वृक्षके डाल पात सभी बाह्य अंग सम्मिलित हैं। दूसरा भाग उसकी जड है, जो साधारण दृष्टिसे परोक्ष है। ऐसे ही एक मकान को लीजिये, उसमें बाहर की दीवारें, कडया, छत इत्यादि प्रत्यक्ष भाग है। उसकी बुनियादें (नींव) उसका परोक्ष अंग है। एक कूप में उसकी मण प्रत्यक्ष और उसकी जड (नीमचक) जिसपर उसकी मण स्थित है उसका परोक्ष भाग है। मनुष्य-शरीर में प्राकृतिक शरीर (Physical Body) प्रत्यक्ष अंग, उसकी जीवनी शक्ति (vitality) परोक्ष अंग है। किंबहुना प्रत्येक वस्तु में दो भाग अवश्य हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्षको ही साधारण मनुष्य अच्छा समझते हैं और देखते हैं। परोक्षको कोई कोई देवता या विद्वान् ही समझ सकते हैं।×

यहांपर यह भ्रम हो सकता है कि इस कपडे के रुमालमें या इस लाठी में मेज पर धरी है या यह मेज कुरसी जो यहां कमरेमें सबको दृष्टिगोचर हो रही हैं, दो भाग कहां हैं? यह तो सब ओर से प्रत्यक्ष ही है। परोक्ष तो कोई इन में दीखता नहीं। उत्तर यह है कि हमें भी परोक्ष भाग है। परन्तु जरा सोचनेसे प्रतीत होता है। भला यह तो विचारिये कि रुमाल बना किससे है। आप कहेंगे कि कपडेका। भला कपडा किसका बना? उत्तर होगा की सूत का। और सूत रुई से बना है यह सभी जानते हैं। बस अब यह विचारिये कि रुई में वह कौनसा गुण है जिससे उसको हम सूत्र रूप में बदल सकते हैं। पत्थर का सूत क्यों नहीं बन सकता? इसका उत्तर यही आप दे सकते हैं कि रुई के अन्दर एक शक्ति विशेष है जो पत्थर में नहीं है। इस शक्ति को संगठनशक्ति (cohesion) या कोशिश-इत्साल कहते हैं। भला अब यह विचार कीजिये कि यह प्रत्यक्ष है या परोक्ष। इसका उत्तर यही होगा कि साधारण दृष्टिमें यह प्रत्यक्ष नहीं। बस यही नियम, प्रत्येक वस्तु पर घटता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु के दो भाग हैं एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।

साथ ही यहां यह भी विदित रहे कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष भाग उसके परोक्ष भागपर स्थित है। स्थित ही नहीं किंतु निर्भर है। प्रत्यक्षकी दृढता, सौंदर्य, पवित्रता इत्यादि उसके परोक्ष की दृढता, सौंदर्य और पवित्रता पर निर्भर है। सत्य तो यह है कि परोक्ष मूल है, तो प्रत्यक्ष उसका ही स्थूलाकार या विकार है। बस, जो नियम जगत् के पृथक् पृथक् वस्तु पर घटता है वही नियम जगत्पर समष्टि रूपमें क्यों नहीं घटेगा। अवश्य घटता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इसी बात को एक और तौर परभी देख सकते हैं। सभी जडवादी यह कहते और मानते हैं कि इस जगत् में दो पदार्थ अर्थात् मैटर (matter) या प्रकृति और motion = शक्ति सदा और सर्वत्र विद्यमान हैं। mattar वह है जो प्रत्यक्षमें दीखता है, और शक्ति परोक्ष है। या शब्दान्तरमें यों कहिये कि मोशन (motion)के हेरफेर से ही प्रकृतीमें पृथक्ता उत्पन्न होकर यह जगत् नाना वस्तु-पूर्ण दीखता है। जो आत्मवादी है वह इस शक्ति अर्थात् motion के लिये ज्ञानात्मिक शक्ति मानते हैं क्योंकि उन का यह कहना है कि मोशन में selection अर्थात् कई

× 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षप्रिया मनुष्याः।'

वस्तुओंमें से अपने अनुकूल किसी को छांट लेना और (rejection) अर्थात् अपने प्रतिकूल वस्तुको छोडना, दो भाव पाए जाते हैं और यह भाव चेतनता के बिना नहीं हो सकते। अतः वह इस मोशन को भी प्रत्यक्ष समझ कर चित्शक्ति को परोक्षांग मानते हैं। कुछ ही हो इनसे यह स्पष्ट है कि इस जगत् के दो अंग हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। महत् तत्व जो इस दृश्यमान जगत् का कारण है वही इसका परोक्ष अंग या आंतर जगत् है। प्रत्यक्षांगमें सूर्यादि अनेक ग्रहोपग्रह पृथिवी और उसके अनेक नदी नाले पहाड और उनकी गति उपगति के नियम वर्तमान हैं। दूसरा भाग परोक्ष, जो इन सब का केंद्रीभूत होकर इस सारे प्रपञ्च का कारण हो रहा है, वह परमव्योमन् के नाम से विख्यात है, जैसा कि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन' इत्यादि मंत्रोंमें कहा गया है।

यहां यह ध्यान रहे कि प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्द जो प्रयुक्त हुए हैं वह केवल एक दूसरे की अपेक्षा से ही प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं। वास्तव में जो परोक्ष है वह भी किन्हीं विशेष साधनों से प्रत्यक्ष हो जाता है, अर्थात् जिस तरह बाह्य जगत् स्थूलदृष्टि में प्रत्यक्ष है वैसेही आंतर जगत् भी दिव्यदृष्टि अर्थात् दृष्टिविशेष से प्रत्यक्ष ही है, X-rays (एक्सरेज) के शीशेने इस समस्याका पूरा अनुसन्धान कर दिया है। उससे स्पष्ट हो गया कि किस तरह मनुष्य स्थूलत्वपर विजय पाकर लोहे पत्थर मांस मज्जादिको चीरता हुआ अपनी दृष्टि को इनसे परे पहुंचा देता है। एक्सरेज तो फिर एक स्थूल यन्त्र है; जब उसमें ही यह शक्ति है तो मन जो एक्सरेज से भी बडी सूक्ष्म वस्तु है उसके निरोधमें जो शक्ति है उसका क्या ही कहना है।

यह आन्तर जगत् क्या है, कैसा है, उसके नियम क्या हैं, उसमें मनुष्य को किस प्रकार प्रवेश प्राप्त होता है, उसपर अधिकार पाने से मनुष्यको क्या क्या लाभ होते हैं, इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जिनपर हमारे पूर्वजोंने खूब अनुसन्धान किया है। और इस शास्त्रको यहांतक अवगाहन किया हुआ है कि उससे आगे तो क्या वहां तक भी जाने का साहस आजतक किसीको नहीं हुआ है।

ऋग्वेद मं० १ सूक्त १६४ मं० ४५ में यह कहा है कि-

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात् वाणीके चार पद या दर्जे (Stages) हैं। एक परा, दूसरी पश्यन्ती, तीसरी मध्यमा, चौथी वैखरी। इनमें से वैखरी ध्वन्यात्मक होकर प्रत्यक्ष होती है, उसी को मनुष्य जानते हैं। बाकी जो पहिले तीन पद (Stages) हैं वह साधारण अवस्था में परोक्ष ही रहते हैं। उनको कोई मनीषी मनोव्यापार को निरोध करनेवाला ही प्रत्यक्ष कहता है। अर्थात् जो वाणी स्थूल जगत् में वैखरी ध्वन्यात्मक होकर प्रतीत होती है वही आरम्भ में परारूप में थी, फिर कुछ स्थूल होकर पश्यन्ती कहलाई, फिर कुछ और स्थूल होकर मध्यमा बनी और फिर अन्तमें वैखरी रूपमें प्रकट हुई। इसके प्रथम स्फुरण-Vibrations को परा इस लिये कहते हैं कि यह वर्णात्मक वाणी का मूलबीज है। जब वह परा वाणी विशेष उन्मुख होकर बुद्धिकोषमें आती है तो उसको पश्यन्ती कहते हैं×। फिर यह मनोवृत्ति में सम्मिलित होकर Nervous system के ज्ञानतन्तुवों (Sensory nerves) पर आन्दोलन करके विचार का रूप धारण करती है तो इसको मध्यमा कहते हैं। फिर यह प्राणवृत्ति में सम्मिलित होकर जिह्वादिस्थानस्थ मर्मव्यूह के क्रियातन्तु (Nervous system) को संचालित करती है, उसको वैखरी वाणी कहते हैं। सारांश यह है कि वाणी के दो भाग हैं, बाह्य वैखरी, और आंतर-मध्यमा, पश्यन्ती, परा। इसी तरह प्रत्येक वस्तु के बाह्य भाग के पीछे एक आन्तर भाग है जो साधारणावस्था में तो अदृश्य है परन्तु दृष्टि-विशेष से वह भी दृश्य हो जाता है।

वैदिक यज्ञप्रक्रिया क्या है, यदि वह आन्तर जगत् पर अधिकार पाने का साधनविशेष नहीं? वह कौनसी कला थी जिससे यज्ञकर्ता ऋषिलोग वर्षेष्टि यज्ञ में वेदी पर बैठे हुए दूरदेशस्थ मेघोंको खैंचकर वर्षा बरसाया करते थे। देखो शतपथ १।५।२।१९:—

× आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। (महाभाष्य)

स यदि वृष्टिकामः स्यात् यदिष्ट्या सा यजेत । दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद् वृष्टिकामो वाहमस्मीति । तत्रोऽध्वर्यु ब्रूयात् पुरो वातं विद्युतं च मनसा ध्यायेतेति । अभ्राणि मनसा ध्यायेति अग्नीध्रं, स्यनयित्नुं च वर्षं च मसाध्यायेति होतारम् । सर्वाणि एतानि मनसाध्यायेति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदानः यज्ञेन चरन्ति ॥

इत्यादि अनेक वैदिक यज्ञप्रक्रिया के उदाहरण निर्विवाद रूपमें इस बात को सिद्ध करतें हैं कि हमारे पूर्वज पूज्य-पाद ऋषि महर्षि आन्तर जगत् को भली भांति समझते थे और उनपर अपना अधिकार भी रखते थे ।

भला वसिष्ठजीके पास क्या बल था जिससे गाधिसुत विश्वामित्र जैसे बली राजासे कहलवाया—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदंडेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥

श्रृंगीऋषि के पास कौनसा बल था जिसने बुढे दशरथ को रामचन्द्रादि जैसे पुत्रों का मुख दिखाया । वसिष्ठजी के पास कौनसा शस्त्र था जिसने दिलीप राजा से गौको जंगल में चरवाया । कपिल मुनि के पास कौन सी ज्वालामुखी थी जिसने सगर राजाके अनेक पुत्रोंको दृष्टिपात से ही दग्ध करवाया । यह तो सब कोई विदित है कि उनके पास न सेना थी, न अस्त्र था और न शस्त्र । और न कोई अन्य प्रकृतिका बल । यह केवल एक बल था और वह आन्तर जगत् पर अधिकार था । वह यह पूर्णतया जानते थे कि बाह्य जगत् आन्तर जगत् पर निर्भर रखना है । अतः आन्तर जगत् पर अधिकार पाकर ही वह बाह्य जगत् पर शासन करते थे । आजकल भी महात्मा गांधीजी को आन्तर जगत् पर बहुत कुछ शासना (control) है । जिससे वह इस तरह सब के मनों पर अधिकार रखते हैं । इसीसे बाह्य जगत् की चमक दमक उनको चकाचौंध नहीं कर सकती थी । आंतर जगत् के असीम शक्तिशाली अधिकार के आगे इस बाह्य जगत् का अधिकार उनको केवल बच्चोंका खेल ही प्रतीत होता था । अतः उनके परिश्रम का अधिकार इसीकी प्राप्ति के लिये खर्च होता था ।

आर्यसमाज अर्थात् वैदिक धर्मने इस वैदिक प्रक्रियाका ज्ञान पुनरुज्जीवित करनेका बिडा उठाया है । परन्तु शोक से कहना पडता है कि उसका समय, उसका धन, उसका परिश्रम अबतक बाह्य जगत्के संशोधनमें ही व्यस्त हो रहा है । इस आन्तर जगत्की ओर इसकी दृष्टि अबतक तनिकभी नहीं गई है । आन्तर जगत् पर कुछ अधिकार पाए विना बाह्य जगत् में हस्ताक्षेप करना ऐसा है जैसा वृक्ष के मूल में पानी डाले विना उसके पतों पर जल छिडकना ।

अभी तक हमने अपने पूर्वजोंके इस रहस्य को नहीं समजा और यही कारण है, कि हमें अभी तक अपने कार्य में सन्तोषजनक सफलता प्राप्त नहीं हुई ।

मैं इस लेख द्वारा आर्य महानुभवों के चरणों में प्रार्थी हूं कि वह इस विषय पर पूरा विचार करें और आगामी प्रोग्राम में कुछ ऐसा परिवर्तन करें कि कुछ परिश्रम इधर भी लग सके ।

वेद आर्षेय ज्ञान है।

[वैयक्तिक मत]

(लेखक- प्रो० रामलालसिंह तेवतिया, बी.ए.,एल्.टी., विशारद, जाट कालेज, लखावटी, बुलन्द शहर, यू. पी.)

मेरा संक्षिप्त जीवन-चरित्र निम्न प्रकार है। मैं जाट क्षत्रिय के तेवतिया गोत्रोत्पन्न नवयुवक हूं। मेरा जन्म कार्तिक शुक्ला छठ संवत् १९५५ विक्रमी को जिला मेरठकी तहसील हापुड में नूरपुर में हुआ था। मेरी माता तथा पिता अधिकतर पौराणिक विचार के थे। मैं अपने आरम्भिक विद्यार्थी-जीवनकाल में ही आर्य सामाजिक और पौराणिकों के शास्त्रार्थों को सुनकर पढकर तथा ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थ-प्रकाश आदि अनेक पुस्तकों और आर्यसिद्धान्तों को पढकर और आर्यसमाजियों तथा पौराणिकों की अनेक खण्डन मण्डन विषयात्मक तथा सिद्धान्तात्मक पुस्तकोंको पढकर पक्का आर्य-समाजी बन गया।

जब मैं आगरा कालेज में दाखिल हुआ तो आगरे की आर्य-समाज का मेम्बर बन गया। अपने पिताजीसे प्रायः फलित ज्योतिष, मूर्तिपूजा, अवतारवाद और मृतक श्राद्ध इत्यादि विषयोंपर शास्त्रार्थ किया करता था और वे हार मान जाते थे। मैं ने अरबी फार्सी संस्कृत पढा और कुरान, इञ्जील को पढा और वेदों से उन का मिलान किया तो पाया कि कुरान तथा बाइबिल इत्यादि पुस्तकें ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकती, यदि ईश्वरीय ज्ञान हो सकता है तो वेदों में हो सकता है। मुझे विज्ञान, धर्म तथा दर्शन इन प्रकार की पुस्तकों के पढने का शौक रहा है। अरबी संस्कृत फार्सी अंग्रजी की सहस्रों पुस्तकें उपर्युक्त तीनों विषयोंपर मंगा डालीं और पढ लीं और धर्म दर्शन तथा विज्ञान के मर्म को समझने लगा।

कालेजजीवन के पश्चात् मैं धर्मों के इतिहास के पीछे पडा और कुरान, बाइबिलें, जेन्दावस्था तथा वेद कैसे उत्पन्न हुए इस विषय की खोज में लगा। मुझे विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र और धर्ममें समन्वय दीखने लगा। प्राणीशास्त्र के आधार पर मुझे विकासवाद ही ठीक जंचा और अब इस समय तक करीब एक हजार अच्छी पुस्तकें भिन्न भिन्न विषयोंपर पढनेके पश्चात् तथा विविध विज्ञानों और मतमतान्तरों तथा वैदिक धर्म का अच्छा ज्ञान हासिल करनेपर और बहुत ठंडे दिल से विचारपूर्वक मनन करने के पश्चात् तथा स्वामी नारायण इत्यादि से वार्तालाप करने के पश्चात् इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मनुष्यों की सृष्टि तथा वेदों की उत्पत्ति जिस प्रकार महर्षि दयानन्दजी ने बतलाई है वह भी मुझे त्रुटिपूर्ण जंचती है।

मैंने अनेक विचारों को तथा अनेक शब्दों को अनेक वर्षों तक बारबार अनेक तरीकों से मनन कर के निश्चय किया है। अब दो वर्ष से मेरे निम्न प्रकार के विश्वास हैं—

महर्षि दयानन्द वस्तुतः धार्मिक दुनिया में मेरे प्रथम गुरु हैं किन्तु प्लेटो के प्रति अरस्तु की भान्ति अब दो वर्षसे मेरा अपने गुरुसे किञ्चित् मात्र बहुत जरासा केवल दृष्टिकोण का मतभेद हो गया है। मैं इनके मत का विरोधी नहीं किन्तु दृष्टिकोण कुछ भिन्न रखता हूं सो भी कुछ विषयों में, प्रायः वेदोत्पत्तिविषय में। मैं देश-काल, ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा इन पांचोंके सम्बन्ध

को कुछ कुछ काण्ट दर्शनकार के अनुसार मानता हूं। काण्टने ईश्वर जीव प्रकृति को नित्य माना है। हमारे ऋषिने काण्ट के बराबर देश काल पर प्रकाश अधिक नहीं डाला प्रतीत होता। ज्ञान क्या वस्तु है इस पर भी काण्टने अधिक प्रकाश डाला है। मैं दूसरे दर्जेपर अपना गुरु काण्ट महोदय को मानता हूं। मुझे ऐसा कभी विचार हो जाता है कि मैं द्वितीय सुकरात हूं किन्तु यह तो मेरा अभिमान है।

मैं चारों वेदों को दुनिया भर की सब पुस्तकों से प्राचीनतम तथा उत्तम और बीज रूप से अनेक ज्ञानविज्ञान तथा कलाकौशल का भण्डार मानता हूं। मैं वेदोंको Ancient Encyclopaedia Universalia अर्थात् ज्ञान का प्राचीनतम विश्वकोष कहा करता हूं। मैं अब केवल दो एक वर्ष से संसार की किसी भी पुस्तक को ईश्वर-कृत माननेको सहसा तैयार नहीं। मैं इच्छा रखता हूं कि यदि इस समय ऋषि दयानन्द होते तो मैं उन से सब से पहले वेदोत्पत्तिविषयपर बातचीत करता।

मैं वेदों को मानवकृत मानता हूं अर्थात् वेदों में आर्षेय ज्ञान का भण्डार है। मेरा मत है कि पृथ्वीकी गत आयु लगभग दो अरब वर्ष है और कई लाख वर्ष गुजरनेपर विकास-सिद्धान्त के अनुसार मानव-सृष्टि हुई और तभी से मानव-ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और करोडों वर्षों तक मानवज्ञान की उन्नति तथा उस का संचय होता रहा और अब से कई लाख वर्षपूर्व वही ज्ञान विज्ञान कलाकौशल इत्यादि ऋषियों की लेखनी द्वारा उस समय की भाषा में मन्त्ररूप में संग्रहीत होकर पुस्तक रूपी वेदों के आकार में आगया।

केवल मेरे सामने यह प्रश्न रह जाता है कि ऋषि दयानन्द वेदों को शब्दशः अक्षरशः क्रमशः नित्य क्यों मानते थे जैसा कि स्वामी शंकराचार्य-जीने भी माना है। और ऋषिने इसी प्रकार के वेदों को लोकलोकान्तरों के वास्ते क्यों माना है तथा अग्नि वायु आदित्य अंगिरा ऋषियों के हृदयों में उतरा क्यों माना है जैसा कि सायणा-चार्यजीने भी माना है और ऋषिने शब्द को पाणिनि पतञ्जलि के अनुसार नित्य क्यों माना है, इत्यादि वेदोत्पत्तिसम्बन्धी अनेक बातों का उत्तर मेरे पास उसी प्रकार का है जैसा कि स्वामी शंकराचार्य के प्रति ऋषि के पास था।

ऋषिजी सत्यार्थप्रकाश में कहते हैं कि, 'जो जीव ब्रह्म की एकता जगत् मिथ्या शंकराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खंडन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।'

इसी प्रकार मैं कहता हूं कि 'शब्दज्ञान की नित्यता तथा मन्त्रों की शब्दशः अक्षरशः क्रमशः नित्यता आदि ऋषि दयानन्द का निज मत था तो वह ठीक मत नहीं और जो अपने से पूर्व-वर्ती ऋषियों के मंडन तथा पौराणिकों के खंडन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ ठीक है।' ऋषि दयानन्द का जिस विषय में भी जो मत है वह प्राचीन शास्त्रोंके बिलकुल अनुकूल है वह उन का अपना निज मत नहीं है।

हर देश काल में हर मनुष्यको अर्थात् हरेक सुधारक को देशकाल की स्थिति के अनुसार कुछ बातें मसलहतन भिन्न दृष्टिकोण से कहनी पडती हैं जिन को वक्ताको झूठ नहीं मानते हैं, न उनको वक्ताका निज मत मानते हैं किन्तु कारणवशात् सुधारक को समाज की भलाई के लिए ऐसा कहना पडता है वरन् सुधार असम्भव हो जायेगा। कभी कभी ऐसा होता है कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ अनेक भावार्थ अथवा तात्पर्य होते हैं और एक ही वक्ता के अनुसार वह सब सत्य होते हैं किन्तु भिन्न भिन्न देशकाल तथा स्थिति के अनुसार ऐसा होता है ताकि व्याघात-दोष न आ सके। मसलहत भी एक प्रकार से बुद्धिमानों के वास्ते सत्यार्थसूचक हो होती है।

इसी प्रकार वेद पौरुषेय भी हैं और अपौरुषेय भी, नित्य भी हैं और अनित्य भी, वेदोंमें इतिहास है भी और नहीं भी। वेद ईश्वरी ज्ञान है भी और नहीं भी। यहां वेद, पुरुष, नित्य, इतिहास, ईश्वर इत्यादि शब्दों के दूहरे तीहरे अर्थ हैं इसी लिए मेरा 'होना न होना' कहना दोनों प्रकार की बातों में व्याघात-दोष नहीं है किन्तु देशकाल स्थितिके अनुसार दोनों प्रकार की बातों में आंशिक सत्यता है। अब मैं अपने मुख्य विषयपर आता हूं कि वेद आर्षेय ज्ञान है तथा मैं इस का क्या तात्पर्य लेता हूं।

'वेद आर्षेय ज्ञान है।'

मैं किसी भी मनुष्य को चाहे वह बडे से बडा महर्षि हो पूर्णतया निर्भ्रान्त होना आवश्यक नहीं मानता। महर्षियों से भी भूल होना सम्भव है। इस लिए यह आवश्यक नहीं कि हम किसी ऋषि के किसी वचन को बुद्धिपूर्वक न होनेपर भी माने ही माने। यदि कोई बात मुशाहिदे अर्थात् एक्सपेरिमेंटल प्रमाण के विरुद्ध है तो वह त्याग देनी चाहिए।

यदि कोई युक्ति अर्थात् अकली दलील प्रत्यक्ष प्रमाण से कह जाती है और बुद्धिग्राह्य नहीं रहती तो क्या आवश्यकता है कि हम अयुक्ति को युक्ति माने। अब मैं वेदों को स्वामी दयानन्द की भान्ति सृष्टि के आरम्भ में केवल चार ऋषियों द्वारा केवल ईश्वर की प्रेरणा से नित्य मन्त्रों के रूपमें उतरा हुआ मानने को तैयार नहीं हूं। शास्त्रों की जो युक्ति हैं वे अयुक्त हैं, जो प्रमाण हैं उनके या तो तात्पर्य भिन्न हैं वरन् वे प्रमाण भी आज के वैज्ञानिक बुद्धि के सामने स्थिर नहीं रहते।

यदि किसी अन्वेषण तथा आविष्कार अथवा पुस्तक के कर्ता का नाम मालूम न हो तो क्या वह पुस्तक आदि ईश्वरकृत मान लेनी चाहिए? अपने इस लेख में मैं प्रायः अकली दलील ही दूंगा क्योंकि पुस्तकों के प्रमाण प्रायः बुद्धिपूर्वक नहीं जैसा कि उन की निस्सारता भी मैं आगे दर्शाऊंगा। मैं भी वेदों की उत्पत्ति प्रायः प्रो० राजाराम की भान्ति ही मानता हूं।' वेद अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ' कदापि सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु पौरुषेय तथा आर्षेय ही सिद्ध होंगे।

वेदों को हम अपौरुषेय इस अर्थ में तो मान सकते हैं कि ज्ञान जो वेदों में है किसी एक पुरुष का बनाया हुआ नहीं है जैसे वर्तमान विज्ञान की उन्नति किसी एक मनुष्य की की हुई नहीं है किन्तु मानवजाति का संचित ज्ञान है। वेदको ईश्वरीय भी इस अर्थ में माना जा सकता है कि वेदोंमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी जो नियम हैं वे अटल हैं तथा ऋषियों ने ईश्वर की सृष्टि में से उन नियमों को साक्षात किया है तथा मनुष्य का मस्तिष्क जो मानवभाषा तथा मानवज्ञान का आधार है ईश्वरप्रदत्त है। इस के सिवाय वेदों को अपौरुषेय तथा ईश्वरीय इस अर्थ में नहीं माना जा सकता कि ईश्वरने भाषा तथा ज्ञान ज्यों का त्यों मनुष्यों वा आदि चार ऋषियों के हृदय में किसी दैवी घटना के रूप में एकदम ठूंस दिया वरन् ऋषियोंने भाषा तथा ज्ञान की शनैः शनैः उन्नति की और तब वेद लिखे गये।

संकल्प-महत्त्व ।

(ले०- श्री० रामचन्द्रजी, रि० हेडमास्तर, अम्बाला शहर)

क्रतुमय एवाऽयं पुरुषः । संकल्पो वाव मनसो भूयान् ॥ (उपनिषद्)

सब ही मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि मनुष्य ही विधाता की विविध सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। परन्तु बहुत ही थोडे पुरुष ऐसे होंगे जो इस रहस्य को पूर्णतया समझते हों कि किन किन कारणों से मनुष्य को सर्वोत्कृष्टत्व दिया गया है। पुराणों में तो देवताओं को भी एक अपेक्षा से नीचा माना गया है। वह कहते हैं कि सीधी मोक्षप्राप्ति मनुष्य जन्म में ही सुलभ है।

जहां तक शारीरक अवय, सौन्दर्य, बल और पराक्रमादि पर ध्यान दिया जावे तो सहस्रों इतर क्षुद्र जीव हैं जिनको शारीरक बल, सौन्दर्यादि मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्राप्त हैं। शेर, मयूरादि के शरीर उदाहरणतया प्रत्यक्ष है ही। मनुष्य में यदि कोई विशेषता है तो यही है कि इतर जीवों की अपेक्षा मनुष्य का मनोमय कोष पूर्णरूपमें विद्यामान है। इतर जीवों में या तो मनोमय कोष है ही नहीं या है तो बहुत आरम्भिक अवस्था में।

जिस प्रकार हमारा अन्नमय कोष अन्नपानादि से, और जिस प्रकार प्राणमय कोष प्राणशक्ति से बढता है इसी प्रकार हमारा मनोमयकोष हमारे विचारों से बढता है। हमारे विचार अथवा संकल्प (Thoughts) वास्तव में वह मसाला है जिस से हमारे मनोमय कोष की इमारत (Building) बनती है। इसी से उपनिषदों में कहा है, 'क्रतुमय एवाऽयं पुरुषः' अर्थात् यह पुरुष क्रतु (संकल्पों) का पुतला है।

आज हम इस लेख द्वारा यथाशक्ति यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि संकल्प क्या वस्तु है। उस से मनोमय कोष किसतरह बनता है। इत्यादि।

यह ध्यान रहे कि सृष्टि में यह नियम है कि प्रत्येक शक्ति कार्यप्रयोग (Exercise)से बढती है। उस को कार्य में प्रयुक्त न करने से वह शनैः शनैः नष्टप्राय हो जाती है। यही कारण है कि जो मनुष्य अपने हाथ, पैर आदि अंगों की शक्ति को चलने फिरने आदि कार्यों में प्रयोग करते रहते हैं उनकी चलने फिरनेकी शक्ति बढती रहती है और हाथ पैर आदि अंग सुदृढ रहते हैं। और जो अपने अंगों को कार्य में प्रयोग नहीं करते उनके अंग शिथिल हो जाते हैं। यही नियम यहांपर भी घटता है। जो मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों को कार्यप्रयोग में लाते रहते हैं उनका मनोमय कोष प्रतिक्षण बढता रहता है और जो अपनी मानसिक शक्तियोंका प्रयोग नहीं करते उन का मनोमय कोष प्रतिक्षण घट रहा है। बस, यह ध्यान रक्खो कि श्वासप्रतिश्वास या तो हम अपने मनोमय कोष को उन्नत करते हुए ऊपर ऊपर चल रहे हैं और या प्रतिक्षण उसको संकुचित करते हुए निम्नाभिमुख चल रहे हैं। चल तो अवश्य रहे हैं। खडा रहना एक ही दशा में अप्राकृत है। हां, हमारी गति ऊपरकी ओर है या नीचे की ओर यह बात अलग है।

शायद यहां कोई यह कहे कि जब मनुष्य अपने अपने व्यवहार करते हैं तो सभी अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं। विना मानसिक

शक्तियों के प्रयोग के कोई व्यवहार हो ही नहीं सकता, फिर यह कहना क्या अर्थ रखता है कि विरले ही पुरुष अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं? इसका उत्तर यह है कि जबतक हम दूसरों के विचारों को विना ऊहापोह के ग्रहण कर लेते हैं, जबतक हमारे विचार बाहर से आए हैं, हमारे अपने भीतर से नहीं उठे, जबतक हम सांसारिक व्यवहारोंमें दूसरों के विचारों से ही प्रेरित रहते हैं और अपने स्वतन्त्र विचार नहीं बनाते; अर्थात् जबतक हमारा मन दूसरोंके विचारों का ही अखाडा बना रहता है तबतक यही कहना उचित है कि हमने अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग नहीं किया। क्या घोडे, बाइसिकल या किसी अन्य वाहनपर चढकर हजारों मील की यात्रा करने वाला भी अपनी टांगों का प्रयोग करने वाला कहा जाता है? बस, इसी तरह दूसरों के विचारों से प्रचलित होकर कार्य करनेवाले मनुष्य को भी हम यही कहेंगे कि अब तक वह उन विचारों को अपना नहीं बना लेता अर्थात् अब तक वह विचार उसके अपने भीतर से समुत्पन्न नहीं होते या बाहर से आकर भी ऊहापोह द्वारा अपने भीतर प्राकृत रूप से जड नहीं पकडते तबतक वह केवल पिष्टपेषण ही करता है। फोनोग्राफ का रिकार्ड है, अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग करने वाला नहीं। और ऐसा मनुष्य चाहे कितने भी अन्य पढ ले चाहे कितने भी इमतहान पास करले, उसके मनोमय कोष में एक इंच भर भी उन्नति नहीं होगी। वह कोल्हू के बैल की तरह सारी रात चलकर भी वहां का वही रहेगा। वह यहां से अपने मनोमय कोष में तनिक भी विशेषता सम्पादन किये विना ही खाली हाथ जाता है। और सम्भव है यहां अर्थात् इस जन्म की अवहेलना के कारण जन्मजन्मान्तरों तक ऐसा ही अनुन्नत जीव रहे।

हा शोक! हमारी आधुनिक शिक्षापद्धति इसी भूल का शिकार हुए हैं। बालकों के दिमाग में बाहर से दूसरों के विचार ठोसे जाते हैं उनको स्वयं अपनी मानसिक शक्तियों को प्रयोग करने का अवसर बहुत ही कम दिया जाता है। उस से यही हानि नहीं कि वह इस ही जीवन में घाटेमें रहते हैं और अन्योंके उच्छिष्टभोजी रहते हैं अपितु उनका आगामी जीवन तदनुसार अनुन्नत ही रहेगा। क्योंकि ऋषि सत्य कहते हैं 'यथा क्रतुः पुरुषोऽस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति॥' अर्थात् मनुष्यने जैसे विचार इस जन्म में बनाए हैं वैसे ही विचारोंवाला अर्थात् वैसे ही मनोमय कोषवाला वह भविष्यत् जन्म में होता है। इसी वास्ते ऋषि फिर कहते हैं 'तत् क्रतुं कुर्वीत।' अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि इस जन्म में अपने मनोमय कोष को उन्नत करे।

हम पहिले कह आए हैं मानसिक शक्तियों के प्रयोग से ही हमारे मनोमय कोष का विकास होता है। यहां अब हम इस मर्म को और स्पष्ट करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब हम अपनी मानसिक शक्तियों को कर्तृत्व रूपमें (activity) प्रयोग करते हैं, उनको बार बार काम में लाते हैं और उनको अपनी इच्छा से उत्साहित करते हैं तभी हमारी मनोमय कोष की उन्नति होती है।

ज्योंहि किसी भागशील मनुष्यको दैवेच्छासे यह रहस्य ज्ञात हो जाता है त्योंहि वह व्यवहार में अपनी मानसिक वृत्तियों में वीरवर्तन करने को उद्यत हो जाता है। वह अपने मनकी गति की देख भाल शुरू कर देता है। और ज्योंही वह ऐसा करेगा त्योंहि उसको यह प्रतीत पडने लगेगा कि जिनको वह अपने विचार समेत बैठा था वे उसके अपने विचार ही नहीं थे। वे वह विचार थे जो इसके मनमें घुसेडे गए थे। वह उसके मन में बाहर से न जानें कब और किसतरह आगए थे। और जो आपही आप जब जो चाहा चले भी जाते हैं, किंबहुना उस भोले भाई को प्रतीत हो जावेगा कि अब तक उसका मन एक परतन्त्र

स्थान साधा जिसमें दूसरों के विचार गुजर रहे थे।

पाठकवृन्द, यदि आप पांच मिनट के वास्ते मनको जरा एकाग्र करके सोचेंगे तो आपको स्वयं पता लग जावेगा कि आपके विचारों में से कितने विचार आपके अपने हैं अर्थात् स्वतंत्र रूप से आपके भीतर उत्पन्न हुए हैं और कितने विचार आपने दूसरों से सुनसुनाकर इकट्ठे किये हैं।

यह इस तरह से हो सकता है कि आप दिन में दो चार बार कार्य करते हुए एक मिनट के लिये ठहर जावें और सोचें कि उस समय तुम्हारे मन में क्या विचार था, तो तुमको पता लग जायगा कि या तो तुम्हारे मनमें कोई विचार था ही नहीं और यदि था तो वह ऐसा मध्यम और अस्पष्ट विचार था, कि जिसको विचार कहना ही उचित नहीं।

उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है, कि हम सबने या हम में से बहुतों ने यह सुना या पढ़ा है, कि मुख की बनाए नाक से श्वास लेना उत्तम है। मुंह ढंपकर सोना बुरा है। सोते समय कमरे की खिडकयों खुली रखनी चाहिये। चार पाई पर लेटकर पढना आंखों के वास्ते हानिकारक है इत्यादि। और जब कोई हमसे प्रश्न करे, तो हम उसका उत्तर भी इसी सुनेसुनाए ज्ञान के आधारपर दे देते हैं। परन्तु बहुत ही थोडे मनुष्य होंगे कि जिन्होंने ऊहापोह से, आजमायश से, इन नियमों को समझकर अपनाया है। जिन्होंने पृच्छा किया है, उन्हीं के लिये यह विचार अपने बन गए हैं। शास्त्रों में इसको ही श्रुतिज्ञान कहते हैं। इस से पहिले वह हमारा स्मार्त ज्ञान ही था। जोंहि ऊहापोह से आजमायिश से उस को निर्धाटण करके हमने अपना लिया योंहि वह हमारा श्रुतिज्ञान न हो गया।

क्या कारण है कि शराब पीनेवाले शराब को बुरा भी कहते हैं, परन्तु पीते भी जाते हैं। हुक्का पीनेवाले तमाखू को बुरा भी कहते है, परन्तु उस को छोडना भी नहीं चाहते। जुवारिया जुए के नुकसानों को जानता भी है, परन्तु जुआ उस से छूटता नहीं। इसका कारण यही है, कि इन भोले भाइयों का इन इन बुराइयों को बुरा मानना या कहना केवल सुनासुनाया ज्ञान है। अपना निर्धारित विचार नहीं।'

उपरोक्त कथन का सारांश यही है, कि जिस प्रकार जलवायु आदि पदार्थों को संचय कर करके हमारा अन्नमय कोष बनता है इसी तरह विचारमंडल से, विचारप्रवाह से विचारों को बुद्धिपूर्वक निर्धारणात्मक तौर पर संचय करने से हमारा मनोमय कोष बनता है। और जो नियम हमारे अन्नमय कोष के स्वस्थ या रुग्ण होने के हैं वेही नियम हमारे मनोमय कोषपर भी लागू होते हैं। अर्थात् जिस तरह शुद्ध जलवायुमंडल में रहने शुद्ध तथा पुष्टिकारक भोजनादि के सेवन से शरीर स्वस्थ और मलिन अथवा रोगपूर्ण जलवायुके मंडल में रहने तथा विपरित आहार-व्यवहार करने से शरीर रुग्ण हो जाता है, इसी तरह शुद्ध विचारमंडल में रहने से हमारा मनोमय कोष शुद्ध एवं उन्नतिमुख होगा तथा कुत्सित् विचारमंडल में रहने सहने से हमारा मनोमय कोष अशुद्ध और अवनतिमुख होगा और यह भी ध्यान रहे, कि हम एक न एक विचारमंडल में रहने अवश्य हैं। इस अटल नियम को ध्यान में रखकर पाठक महोदय जरा सोचें कि यह सिनमा, टाकीज और थियटर तथा गद्दे उपन्यास हमारे वास्ते आजकल किस प्रकार का विचारमंडल बना रहे हैं।

औलिवर बिलकाकन साहिब क्या अच्छा कहा है—

"We build our future thought by thought, Good or bad, and yet we know it not, Yet so the whole universe is wrought. Thought is another name of

fate, Choose then, thy destiny and wait
For love brings love and hate brings
hate."

अर्थात् यह अटल नियम है, कि हम अपना भविष्य विचारों से ही बताते हैं। अच्छा या बुरा यद्यपि हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह नियम सारी सृष्टि पर लागू है। विचार ही हमारी प्रारब्ध बनता है। बस हमारी प्रारब्ध हमारे अपने हाथ में है। "प्रेम का विचार प्रेम उत्पादन करेगा और द्वेष का विचार द्वेष।"

दूसरा अटल नियम जो ध्यानमें रहना चाहिये, वह यह है कि जो विचार आपके मन में अच्छा या बुरा जड पकड गया, वह उसी किसम के विचारों को बाहर के विचारमंडल से खैंच लेगा, जिस तरह मिरच का पौरा मिरच के चरचरे प्रमाणुवोंको और गन्ना मीठे प्रमाणुवों को बाहर के जलवायु और खेत की मट्टी से खैचकर अपनी वृद्धि करता है। बस यदि कोई अनुचित विचार मन में बैठ गया है, तो वह उसी किसमके विचारों को इकट्ठा करके अपने को मजबूत करेगा। शिकस्पीयर के ड्रामें इस नियम के पूरे उदाहरण हैं। किसतरह मैकबेथ के दिलमें एक अनुचित विचार आतेही अनेक प्रकार के और अनुचित विचार उपस्थित होकर उसकी वृत्तियों को बदल देते हैं। रामायण में मंथरा और केकयी का संवाद भी यही दृष्टान्त पेश करता है। इसी-वास्ते सन्ध्या पंक्तियों में ऐसे मंत्र दिये हैं, जिनमें यह प्रार्थना की गई है या दूसरे शब्दों में दृढरूप से आत्मादेश (Auto-suggestion) है। 'यद्रत्र्या पापमकार्यं मनसा वाचा हस्ताभ्यां उदरेण शिश्ना पद्भ्यां अहस्तदवलुम्पतु।' इत्यादि ॥

एक महात्मा ने क्या ही सुन्दर कहा है—

You never can tell what your thoughts
will do
In bringing you hate or love,
For thoughts are things and their airy
wings,
Are swift as a carrier dove.
They follow the law of universe;
Each thing must create its kind,
And thy speed over the track
To bring you back
Whatever went out of your mind.

तीसरी बात जो कभी भूलनी नहीं चाहिये, वह यह है, कि विचार न केवल हमारे मनोमय कोष को ही बनाते हैं, अपितु वह हमारे अन्नमय तथा ज्ञानमय कोषोंपर भी प्रभाव डालते हैं। तभी तो उपनिषद् कहते हैं, 'यन्मनसा मनुते तद्वचसा वदति यद् वचसा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।'

अर्थात् जो विचार मनमें उठते हैं, वही मनुष्य वचन से प्रकट करता है। जो वचन से कहता है वही कर्म से करता है। और जो कर्म से करता है, वैसा ही वह बनता जाता है।

प्रिय पाठकवृन्द! अब आप समझ गए होंगे, कि विचार क्या वस्तु है। उसकी क्या स्थिति है! उसका हमारे अन्नमय तथा मनोमय तथा बुद्धिमय कोषोंपर तथा आत्मोन्नति पर क्या प्रभाव है।

यदि उपरोक्त कथन का हम समझ गए हैं, तो अब यह उपनिषद्वचन भली भांति समझ में आ जायेगा।

चित्ताक्रान्तं धातृबद्धं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्। तस्माच्चित्तं सर्वतो गोपनीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥

अर्थात् हमारा शरीर जो जाहिर में धातुबद्ध अर्थात् धातुओं से बना हुआ प्रतीत होता है, वह वास्तव में चित्त (मनोमय) कोष के सहारे स्थित है। यदि चित्त नष्ट हो गया तो शरीर की सब धातुयें जबाब दे देती हैं। यदि चित्त स्वस्थ

है, अपनी ठीक अवस्थामें है, तो कमजोरसे कमजोर शरीर भी आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाता है । अतः चित्त की सर्वदा रक्षा करनी चाहिये ।

प्रह्लादभक्त का निर्भय होकर अग्नितप्त स्तम्भको आलिंगन कर लेना, जलती हुई अग्नि में बेधडक कूद पडना; ध्रुवभक्त का गृहसुखोंको त्याग कर निर्जन बन में जा तपस्या करना; नचिकेताका सांसारिक ऐश्वर्यपर लाथ मारना; सीता का रावण की तीक्ष्ण खड्ग के नीचे भी अपना धैर्य और पातिव्रत्य धर्मत्याग न करना, कुमारिलभट्ट का पहाडपर से कूद पडना; श्री० स्वा० शंकराचार्यका बाल्यावस्था में ही लंगोटी बांध संन्यास ले लेना; श्री० स्व० दयानन्द का घोर अविद्यान्धकार का अकेलेही मुकाबिला करना; इस गए गुजरे जमाने में भी निर्बल शरीरवाले महात्मा गान्धीजी का २१ दिनका निराहारव्रत रखकर होशोछ्वास कायम रखते हुए जाति के सेवा के लिये अपना जीवन न्योछावर करने के वास्ते कटिबद्ध हो जाना, इस सिद्धान्त के ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

अब प्रश्न यह होता है, कि 'इतना बल हम सब के मनमें क्यों नहीं है, जब कि मनोमय कोष तो सब के पास ही है?' उत्तर यह है कि जिस तरह रुकी हुई जलधारा का प्रवाह बडे वेग से बहता है, एवं बिखरी हुई जलधारा का प्रवाह बडा निर्बल हो जाता है, इसी तरह इधर उधर बिखरे हुए मन में कोई बल नहीं रहता । हां संयम द्वारा एकाग्र हुए हुए मन का बल अधिक हो जाता है । हम सबही प्रतिदिन शिवसंकल्प सूक्त का रटन करते हैं, परन्तु कभी इसपर विचार पूर्वक श्रद्धामयी धारणा नहीं करते । हा शोक हम दबे हुए खजानेपर खडे हुए पुरुष की मानिन्द बहुमूल्य वेदज्ञान को मांग के भाडे खो रहे हैं । हमारे मनोमय कोष में बल कहां से आए, जब कि ५ सिकंड के वास्ते भी इस को स्थिर एकाग्र नहीं रह सकता । बस सिद्धान्त यह निकला कि संयमी मन ही बलशाली होता है । इतस्ततः भ्रमते हुए मनका तो वही हाल होता है, जो विवेकचूडामणि में कहा है—

लक्ष्यच्युतं चेद् यदि चित्तमीषद् बहिर्मुखं संनिपतेत् ततस्ततः प्रमादतः प्रच्युतकेलि-कंदुकः सोपानपंक्तौ पतति यथा तथा ॥

सारांश यह है, कि विचार की शक्ति चित्तसंयम में ही है । अब प्रश्न यह होता है, कि यह संयम किस प्रकार प्राप्त किया जावे । यह जटिल प्रश्न आज ही हमारे सामने नहीं आया, यह हजारो वर्ष गुजरे अर्जुन के भी सामने आया था और उसने कृष्ण भगवान् से इसका उत्तर पूछा था । परन्तु उसका उत्तर जो उस समय था, आज भी वही है । अर्थात् अभ्यास और वैराग्यद्वारा ही चंचल मन निग्रह हो सकता है । परन्तु अभ्यास वैराग्य भी तो कोई आसान बात नहीं । अभ्यास वैराग्य के बारे में इस समय इस लेख में लिखना विस्तारभय से उचित नहीं । अभ्यासी जनों के लिये फिर कभी इस विषयपर प्रकाश डालेंगे । वैसे वे योगदर्शनादि में वर्णित हैं ही । पाठक वहां से देख सकते हैं, या किसी अनुभवी पुरुष की सहायता ले सकते हैं । परन्तु जहां तक हमारा अपना अनुभव गया है, उस से हम तो यही कह सकते हैं, कि यह गुरुलक्ष्य-विद्या केवल ग्रन्थों के पाठमात्र से नहीं मिल सकती । यह तो गुरुवों की कृपा का ही प्रसाद है । यदि केवल ग्रन्थों से ही यह प्राप्य होती, तो अर्जुन आतुर होकर कृष्णजी से यह न कहता ' शिष्यस्ते हे शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।' यह बिना गुरुकृपा के नहीं आ सकती। गुरु शब्द की व्युत्पत्ति ही इसकी बडी साक्षी है । यथा-

गु शब्दवस्तु अन्धकारः स्याद् रु शब्दस्य निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ (तारकोपनिषद्)

परन्तु आजकल सद्गुरु की उपलब्धि भी तो कोई सुखाती बात नहीं। परन्तु यह कोई असम्भव कार्य भी नहीं। इसमें कठिनताई गुरुवों का अभाव नहीं। 'गुरुप्राप्ति के अधिकारी बनो गुरु सामने आप ही आप उपस्थित हो जायगा' यदि विधाताने प्यास के वास्ते पानी, क्षुधानिवृत्ति के लिये भोजन, शीतनिवृत्ति के लिये उष्णता, एवं रोगनिवृत्ति के लिये औषधि, उत्पन्न की हैं, तो क्या गुरुप्राप्ति की उत्कट इच्छा की तृप्ति के लिये गुरु नहीं बनाए? हां बनाए हैं। अवश्य बनाए हैं। परन्तु उनकी उपलब्धि के लिये अत्युत्कट इच्छा, अनन्य भक्ति, अगाध श्रद्धा, तथा सच्ची जिज्ञासा की आवश्यकता है। इन से सम्पन्न होकर अधिकारी बनिये और गुरु सामने किसी न किसी रूपमें उपस्थित है। दुनिया के इतिहास-शास्त्रमें इसके अनेक उदाहरण हैं, परन्तु स्थानाभाव से यहां उद्धृत नहीं किये जाते।

सच्ची जिज्ञासा, सच्ची लग्न, सच्ची इच्छाही इस का मूल है। सच्ची जिज्ञासा ही से सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है। क्या आपने सुना नहीं, कि सावित्रीने किस तरह सच्ची लगन के कारण अपने मृत पति सत्यवान् को यम के विकराल दंष्ट्रा से निकाल लिया था। सच्ची श्रद्धा श्रद्धावान् पुरुषों की संगत से मिलती है। और विना गुरुप्रसाद के वस्तूपलब्धि कैसे हो। परन्तु जिज्ञासा भी तो कुछ न कुछ नियम रखती ही है। जब तक कोई मनुष्य दुर्गन्धयुक्त वायुमंडल से निकल कर थोडी देर भी शुद्ध वायुमंडल में श्वास नहीं लेता, तब तक उसको शुद्ध वायुमंडल की कुछ भी खबर नहीं होती। बिना खबर के इच्छा या जिज्ञासा कैसे? अतः सिद्ध हुआ, कि मनुष्य को अपने गृहस्थ वायुमंडलस्थ अशुद्ध चिन्तापूर्ण, भयशोकाढय, दुःखमय जाल से निकलकर थोडे समय भी साधुसंगति की शुद्ध, भयशोकरहित, आनन्दपूर्ण वातावरण में श्वास लेना चाहिये। ताकि उसको ज्ञात हो जावे, कि इस दृश्यमान शोकसागर से परे भी कोई आनन्दमय जगत् है। जहां जाकर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय मिट जाते हैं, सारे कर्मपाश कट जाते हैं। किसी महात्माने क्या ही अच्छा कहा है—

गंगा पापं, शशी तापं, दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः॥

अर्थात् गंगा केवल पापोंको, चन्द्रमा केवल तापको और कल्पतरु केवल दैन्य (दरिद्रता) को हटते हैं। परन्तु सन्तों की संगत पाप, ताप और दैन्य को अर्थात् तीनों को हार लेती है।

परन्तु शोक है कि आजकल सन्तसमागम भी तो नष्टप्रायः हो गया। तो फिर क्या हम निराशता के सागरमेंही डूब जावें? ऐसी अवस्था में हम क्या करें? नहीं, नहीं! निराशता की जरुरत नहीं। उस महाप्रभुकी सृष्टि में निराशता तो लेशमात्र भी नहीं, वह विश्वम्भर, दयालु प्रभु हमारा मौजूद है और फिर हम उसके पुत्रोंको निराशता क्या अर्थ रखती है। हाय यह कैसा नास्तिक भाव है। पाठकवृन्द इस भाव को भूलकर भी मन में न लाइये। वह आनन्दकन्द विज्ञानघन भगवान् सदा अपने सच्चे पुत्रों के अंगसंग है। हृदय में गोता लगाइये, विचारसागर में स्पन्दन कीजिये, रुदन करते हुए बालक की तरह उनका आवाहन किजिये, और फिर देखिये वह तुम्हारे हृदय का स्वामी, तुम्हारे शरीर का पालकपोषक, वह दया का भंडार, वह ज्ञानका आगार, प्रेम की धारा, भक्तवत्सल प्रभु तुम्हारे पास है। अर्जुन की भांति विषादयोग को अवलम्बन कीजिये, कृष्ण तुम्हारे पास है। द्रौपदी की तरह बिलकाइये वह लज्जा का रखवारा तुम्हारे साथ है।

जिस प्रकार दिया सिलाई घिसते ही अन्धकार दूर हो जाता है, इसी तरह इस विचार के स्पन्दन

मात्र से ही निराशातारूपी अन्धकार काफूर-हो जाता है। स्वार्थ, सांसारिक वासना आदि दुष्ट भावों से रहित मन से प्रभु को बुलावो और वह तुरन्त मौजूद है । 'जितात्मना प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। ' कवि ब्रौनिंग ने स्याही सत्य कहा है—

Truth is within ourselves; it takes no rise
From outward things, whatever you may believe,
There is immortal centre in us all,
Where Truth abides in fulness.

वह सत्यस्वरूप प्रभु हमारे भीतर है। वह बाहर की चीजों से पैदा नहीं होता। आप विश्वास करें या न करें हम सब की भीतर एक केन्द्रस्थान है, जहां सत्यस्वरूप भगवान् विराजमान है ॥

बस । प्रिय पाठकवृन्द ! हृदयकपाट खोलिये । अभिमान, स्वार्थ, आलस्य, अज्ञान, मलिनता, दुराचार के विचारों से मनोमय कोष को साफ कीजिये; आर्तभाव से, अनन्य भक्ति से मनोनिग्रह कीजिये, एकनिष्ठा, तत्परायणता से निजरूप में ही खोजना कीजिये; यहां से ही, ऐसे ही, गुरुकी प्राप्ति होगी। वन, पर्वत, नदीनाले, देशदेशान्तर में भटकने से गुरु नहीं मिलता। आकाश या पाताल खोजने से भी गुरु नहीं मिलता । इन्द्रियों को विषयों की गुलामी से निकालिये, चित्त की चंचलता हटाइये, वासना, दुर्विचार, दुराचरण अश्रद्धा का नाश कीजिये और देखिये; जिज्ञासा, श्रद्धा, और सामर्थ्य के उदय होते ही गुरुजी आपके हृदय में या आपके दरवाजेपर उपस्थित हैं। अरुणि और उपमन्युकी तरह अपने शरीरको भूल जाइये और देखो, धौम्य ऋषि गुरु बनकर आजाते हैं। एकलव्य की तरह गुरुछवि में ही भक्ति और प्रेम कीजिये और विद्या हाथ बान्धे स्वयं उपस्थित हो जावेगी। किंबहुना रामकी तरह सद्गुण, सद्विचार, सद्व्यवहार से अपने को सुशोभित कीजिये और लो! विश्वामित्र स्वयं ही आपके पास खींच आवेंगे ।

असर है जजवण उल्झन में तो खींचकर आही जायंगे।
हमें परवाह नहीं हम से अगर वह तनकर बैठे हैं ॥

जुस्तजू कुन जुस्तजू कुन जुस्तजू ।
दर वरे खुद वीं कि वेस नेस्त ओ ॥

'यक्षमन्तः प्रजानाम् ।' वेद भी यही कहते हैं।
सितमस्त गर ध्वसत कशद कि वसैरे सर्व व समन दर आई। तो जि गुंच कम न दमीदर्द दरेदिल कुशाय् व बचमन दर आई ॥ पै नाफे हाए हमीदा वू मपसन्द जहमने जुस्तजू। वखयाल हलकए जुल्फेऊ गिरह खुर व वखुतन दर आई ॥

बस, बात यह है कि विचारसंयम से अपने आपको अधिकारी बनाइये तो गुरु या भगवान् मिल जायगा।

अनधिकारी को कभी इनके दर्शन नहीं हो सकते ।

इस अवस्था को प्राप्त करनेके लिये कुछ अभ्यास की आवश्यकता है और वह बहुत ही सुगम है । अपने पाठकों के हित के लिये कुछ थोडा से यहां लिखते हैं।

Prof. Elisha Gray, अपनी पुस्तक Miracles of Nature में लिखते हैं, कि विचारशक्ति की लहरों के असर को, उनकी आवाज को और उनके विविध रंगों को लक्ष्य करने के वास्ते एकाग्रता की बडी आवश्यकता है। विचारशक्ति की लहरें एक सेकंद में चालीस हजार मील से लेकर सत्तर नील मीलतक गति कर सकती हैं। (देखो वेदमंत्र-यज्जाग्रतो दूरमुदेति इत्यादि) लोहे आदि कोई भी कठिन पदार्थ उसकी गति

को रोक नहीं सकते। हाँ केवल सूर्य का प्रकाश इस के स्पन्दन (Vibration) को वखेर देता है।

अतः यह सिद्ध हुआ, कि यदि साधक रात्रि के उत्तरभागमें, अर्थात् उषाकाल में, या सूर्यास्त के अनन्तर प्रदोषकाल में या रात्रि के मध्याकाल में धारण, ध्यान, या मंत्रजपादि नियमानुकूल कुछ समय तक निरन्तर करेगा तो अवश्य उसको (Thought- Control) विचार-संयम प्राप्त हो जावेगा। यही कठिन है कि सभी धर्मों ने रात्रिकी प्रार्थना, या उषाकालकी प्रार्थना का अधिक फल माना है। जिनको विचारशक्ति के प्रभाव के जानने की इच्छा है, वह नियमबद्ध होकर प्रयत्न करें और देखें।

किस तरह बैठें, किस मंत्र का जप करें इत्यादि अनेक विषय इनके सम्बन्ध में अन्वेषणायोग्य हैं। यदि भगवान् की इच्छा हुई, तो फिर कभी इच्छा उनपर अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार प्रकाश डाला जावेगा॥

प्रेममय भगवान्।

(लेखक- श्री० लालचन्द्रजी, सिमला)

प्रेम हो आप विभो !
दूध का रूप लिए,
नेह हो आप भरे,
हिये में भाव भरे,
नेम धरे आप प्रभो,
क्षेम करो जगती पर,
सत्य के साथ सभी,
नित्य ही प्रेममयी,
परमानन्द हरे !
करते शोभामय,
ऐसे करुणामय,
रहते सब जनके,
सब के मित्र प्रभो,
सब के कष्ट हरो,
तम जब दूर हटे,
मम-तव-भेद घटे,
समता के साथ रमें,
तुझ में ही नित्य बढें,

जननी के हृदय में।
त्याग बने मन में।
मन में चित्त में।
जन में हित में॥
सब सृष्टि पालो ।
प्रेम भरे ऋत में॥
का हो हित करते ।
दृष्टि सबपर धरते॥
नित्य सुखी सब को।
मंगल कीर्ति भरते॥
प्रेमी पालनकर्ता ।
सीधे सच्चे भर्ता॥
दुःख में साथी होते ।
तम में बाती होते ॥
सत् भाव जगे मन में।
शुभ कांति दिये तन में।
प्रेम धरें निज मन में।
आनन्द भरे जीवन में॥

प्रेम ।

(लेखक— श्री० लालचन्द्रजी, कृष्णनगर, लाहौर)

प्रेम, विमल प्रेम, सत्य और प्रेम, ऋत और माधुर्य, ये सब भाव जीवन की सद्गति के द्योतक हैं। जहां वाणी सत्य और प्रिय हो और न केवल हृदय बल्की सिर तक में प्रेम का प्रभाव हो, वह जीवन आनंद की ओर जाता है।

प्रेम, प्यार के स्वरूप में केवल हृदय में ही बसता समझा जाता है और इसकारण बडी कठिनाई आन पडती है। जब प्यार एकदम स्वार्थपूर्ण होकर मोहका रूप धारण करता है और मनुष्य प्यार को प्रेम समझता हुआ मोह के अन्धेरे गढे में जा पडता है। जब प्यार में वासना आ जाती है तो वह प्रेम न रहकर मोह बन जाता है, इसलिए आवश्यक है कि प्यार को सिर में स्थित अटल और सत्य द्वारा परख लिया जाय, अर्थात् प्रेम को धाराको आसक्ति के गढे से बचाकर सब ज्ञात सिराओं में घुमा दिया जाय। यदि प्यार में आसक्ति न हो तो वह प्रेम होगा और वह बंधन का हेतु न होकर मोक्ष का साधन होगा।

प्रेम को संकेत करते हुए मैं ने एक दिन यह पत्र इसी लिये लिखे थे।

प्रेमके प्रति।

हे प्रेम! मेरे प्यारे! हृदय में बसा करना।
सब ज्ञान सिराओंमें, सिरतक भी बहा करना।
अपनी अजस्र धारा में मैल सब बहाके।
नित सत्य, सुसबुद्धि, सौंदर्य भरा करना।
सुन्दर विनीत भावों से चित्त नित्य धोके।
हे प्रेम! नेम अपना सद्भाव भरा करना॥

वह प्रेम नहीं जिसको अजस्र धारा अन्दर बहती हुई सब मैल बहा नहीं ले जाती। वह प्रेम नहीं जिसके होने में मनुष्य सत्य शुद्ध बुद्धि नहीं विकास पाती और मनुष्य सचे सौंदर्य की परख नहीं कर सकता। सौंदर्य, भावों में होता हुआ, उन्हें विनीत करता हुआ, चित्त को धोके निर्मल बना देगा और फिर निरंतर सत और भरत के भाव ही सदा रहेंगे और साधक के कार्यों में दिखाई देंगे।

प्रेम करना बहुत कठिन है। प्रेम करने से जीवन उज्वल होना चाहिये, कर्तव्यशक्ति बढनी चाहिये, पर सुना यह जाता है कि प्रेम करनेसे मनुष्य कर्तव्यच्युत हो जाते हैं। जिस प्रेम से मनुष्य कर्तव्यविमुख हो जाय, प्रमाद हो, आलस्य हो, अवसाद हो, वह प्रेम नहीं आसक्ति है, लगाव है, शायद प्यार भी उसे कह सकें पर वह प्रेम नहीं। लोग करते हैं प्यार, वह भी स्वार्थवश, और कहते हैं हम प्रेम करते हैं। प्रेम करके कोई पछता नहीं सकता। प्रेम भगवान् है, भगवान् प्रेम है। प्रेम में विस्तार है, व्यापकता है, संकोच नहीं। जहां संकीर्णता है, अल्पता है, वहां प्रेम नहीं। जहां वासना कात्याग है, और कर्तव्यपरायणता है वहां प्रेम है। कर्तव्यत्याग कभी प्रेम नहीं हो सकता। आसक्ति में बुद्धि परवश होती है, प्रेम में विवेक जागता है। आसक्ति में विवेकहीनता झलकती है। प्रेम में प्रकाश है, हितचिंतन है, और हितकार्यसंपादन है। प्रेम जीवन है, मोह और आसक्ति मृत्यु है।

आसक्ति में हृदय सो जाता है, प्रेममें हृदय सजग रहता है। मोह और प्यार में चित्त में उत्तेजना होती है, कभी मन्दता आती है। प्रेमी का हृदय शांत रहता है, चित्त सरल और अंतःकरण शुद्ध रहता है।

प्रेम से पापकी मैल धुल जाती है। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं मिलेगा, जिसे पाप की कीचड न छुई हो, जिस से मर्यादा और धर्म के विरुद्ध विचार और कार्य नहीं हों, पर ज्यों ही सत्संग और स्वाध्यायद्वारा वह अपने आपको संभालकर आत्मनिरीक्षण करके पश्चात्तापपूर्वक जीवन क्रम

बदलनेका संकल्प करता है। भगवान् का प्रेम उसका सहायक होता है और मनुष्य साधारण जन न रहकर अपने मैल धोकर पुण्यात्मा बन जाता है । दुराचार और दुर्व्यवहार उससे होही नहीं सकते क्योंकि पश्चात्ताप की गरम भट्टी में तपने के पश्चात् वह पवित्र हो जाता है और उसके अन्तःकरण में प्रेम का वास हो जाता है । जहां प्रेम है, वहां भगवान् का प्रकाश है और फिर ईर्ष्या, द्वेष, कपट, मान, मोह, मत्सर, घृणा, आदि असुर-प्रकाश में अपनी करतूत नहीं कर सकते ।

भगवान् की कृपा विना प्रेम का विकास मनुष्य के अन्तःकरण में नहीं होता । प्रेम भगवान् की कृपा का द्योतक है । जो प्रेम करना जानता है, वह परम आस्तिक है, भगवान् का भक्त है ।

भगवत्-दर्शन की चाह ।

तुझे मैं देख लूं प्रीतम ।
मुझे हे देखनेवाले ॥
तू रहता सब के हृदय में ।
रहे पर तू अलग सब से ॥
मैं देखूं अब तुझे कैसे ?
मुझे ए देखनेवाले ॥
तू कहता 'मैं तेरे संग हूं ।
सुहृद तेरा, तेरा अंग हूं' ॥
निहित तू फिर रहा कैसे ?
मुझे ए देखनेवाले ॥
मुझे तू देखता हर पल ।
रहे पर आंख से ओझल ॥
मुझे दर्शन की शक्ति दे ।
मुझे ए देखनेवाले ॥

कवि-श्री० लालचन्द्रजी

सम्पादकीय वक्तव्य।

हमारे सहृदय पाठक अच्छी तरहसे जानते हैं कि स्वाध्यायमंडलने प्राचीन वैदिक साहित्यको फिरसे शुद्ध तथा सस्ता छापनेके लिए बडा भारी आन्दोलन शुरू कर रक्खा है। इस कार्यके लिए प्रचारके साथ साथ एक योजनाभी प्रकट की गई है, जो कि वैदिक धर्ममें पाठकोंने अवश्य पढी होगी। उस योजनाको शीघ्रातिशीघ्र कार्यमें लानेके लिए स्वाध्यायमंडलकी ओरसे मंडलके मंत्री तथा वैदिक धर्मके सहसंपादक श्री० पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी, १९३७ के डिसेंबर मासमें आफ्रीकाके कुछ प्रेमी सज्जनोंके विशेष आग्रह से प्रचारार्थ तथा धनसंग्रहार्थ आफ्रीका गए हैं, जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं।

आफ्रीकाके निवासियोंने आजतक भारतवर्षके आन्दोलनों, संस्थाओं तथा व्यक्तिओंको उदार दिलसे जो आर्थिक सहायता पहुंचाई है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। गरीब हालतमें अनेक संकट सहते हुए हजारों मील दूर परदेशमें जाकर कडी महेनतके बाद जो कुछ कमाया है, उसका बहुतसा भाग अपने देशभाइयोंके लिए अर्पण कर देने में इन लोगोंने जराभी संकोच नहीं दिखाया। भारतवर्षके धनवान् गृहस्थोंके मुकाबलेमें इन लोगोंके पास धन पर्याप्त थोडा है, पर इनके पास जो उदार दिल है, अपने देश तथा देशभाइयोंके प्रति जो प्रेम तथा सहानुभूति है, वह हमारे देशके धनियोंके पास ढूंढनेसे भी मिलना मुश्किल है। ये लोग वस्तुतः भारतवर्षके धनियोंके लिए आदर्श हैं।

भारतवर्षसे हरसाल अनेक छोटेमोटे लोग आफ्रीका किसी न किसी प्रयोजन से धनसंग्रहार्थ जाते हैं। बहुत से तो व्यक्तिगत भी होते हैं। पर इनमेंसे आजतक कोई भी खाली हाथ जाने नहीं पाया। परंतु अब यहांकी भी आर्थिक अवस्था धीरे धीरे बिगड चली है। दुनियाकी व्यापारिक मंदीयोंने धीरे धीरे यहांपरभी अपनी असर जमानी प्रारंभ कर दी है।

इसके साथ साथ एक औरभी बात है और वह यह कि गत कुछ वर्षोंमें यहां पर संस्थाओंके जो प्रतिनिधि आये थे, उनमेंसे बहुतसोंके कार्योंके प्रति जनताको असंतोष हो गया है। कुछ स्वतंत्र व्यक्तियोंने यहां आकर उस असंतोषको औरभी बढा दिया है। जो उत्साह तथा प्रेम आज से कुछ वर्ष पहले था, वह अब नाममात्रही रह गया है। यहांतक कि बहुतसे लोग तो अब ऐसे प्रतिनिधियोंको देखते ही नाक भौं सिकोडने लगते हैं। इसमें आर्थिक अवस्थाकाभी थोडा बहुत हिस्सा जरूर है, पर वह शायद इतना नुक्सान न पहोंचा सकती, जितना कि इस बातने पहोंचाया है। अब यहां की जनता खूब फूंक फूंक कर पग धरती है। बहुतसे लोग तो कई वार अपमान भी कर बैठते हैं। पर ऐसे लोगोंमें ज्यादातर वेही होते हैं, कि जिन्होंने आजतक कभी किसीको कुछ भी नहीं परखाया। वे लोग बातें तो ऐसी बडी बडी बनायेंगे कि मानो तमाम दुनियाकी समझ इन्हींमें आ उतरी हो। पर जब देनेकी बात आती है, तो बिलकुल साफ निकल जाते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अब आफ्रीकामें वही कृतकार्य हो सकेगा, कि जो अपने कार्यसे समझदार जनताका विश्वास संपादन कर सकेगा।

१९३८ का वर्ष तमाम दुनियाके लिए व्यापारिक दृष्टिसे खराब साबित हुआ है। तमाम दुनियामें व्यापारिक मंदीने आतंक जमा रखा है। आफ्रीकाभी इस विश्वव्यापी मंदीके पंजेसे छूट नहीं पाया है। छोटेसे लेकर बडे व्यापारीतक तमाम बेचैन हैं। यहां पर जो व्यापारकी पद्धति है, उसमें छोटेकी अपेक्षा मंदीमें बडे का ज्यादा मरण है। और एक बडा व्यापारी टूटनेसे दूसरे बहुतसे बडों बडों को जबरदस्त धक्का लगता है। इस वार अभी हालहीमें

दो एक ऐसे बडे बडे व्यापारी टूटे हैं कि जिन्होंने व्यापारियोंको तो खासा धक्का पहोंचाया ही है, पर उन्होंने बहुत बिचारे गरीब नौकरियात वर्गकोभी कहींका रहने नहीं दिया।

ऐसी खराब मंदीकी हालतमें तथा साधारण जनता के दिलमें उत्पन्न हुए हुए अविश्वासकी अवस्थामें पाठक खुद ही ख्याल कर सकते हैं, कि स्वाध्याय-मंडलको संतोष-जनक कार्य करनेमें कितनी ज्यादा कठिनाइयोंका सामना करना पड रहा होगा। फिरभी यह लिखते हुए संतोष होता है, कि आफ्रीकानिवासी भाईयोंने स्वाध्याय-मंडलके प्रति जो प्रेम तथा सहानुभूति दर्शाई है, वह उनकी परिस्थितियोंके मुकाबलेमें कहीं ज्यादा है। यदि इतनी ज्यादा अवस्था खराब न होती, तो शायद मंडलको वह सफलता प्राप्त होती कि जो आजतक शायद ही किसीको प्राप्त हुई हो। इस समयतक मंडलका कार्य युगांडा प्रांतमें समाप्त हो चुका है। आफ्रीकामें छोटी मोटी रकम दानमें लेनेकी अपेक्षा या सिर्फ वेद और मासिक के छोटे मोटे ग्राहक बनानेकी अपेक्षा मुख्य रूपसे स्थिर ग्राहक, १००) रुपयेवाले पोषक-वर्गके सभासद बनानेका तथा बडी रकम दान देनेवाले सज्जन तैयार करनेका ही प्रयत्न किया जा रहा है। यद्यपि पूर्वोक्त परिस्थितिके कारण बहुत से व्यापारीगण इच्छा होते हुए भी भाग नहीं ले पाये हैं, तथापि उनका सहकार अभिनंदनीय है। उनका गाढ परिचय स्वाध्याय मंडलके लिए स्थिर सहायता है।

जिन लोगोंने स्वाध्याय-मंडलको अपना समझकर सब तरहकी सहायता पहोंचाई है, उनमेंसे कुछ सज्जनोंके नाम हम यहांपर दिए बिना नहीं रह सकते। वैसे तो उनके विषयमें जितनाभी लिखा जाय थोडा ही है। स्वाध्याय-मंडल उनका सर्वदा के लिए ऋणी रहेगा।

जिंजामें श्री०परमानंद दुर्लभजी बावलिया, श्री०दयालजी भीमभाई देसाई, श्री० तुलसीभाई एन्० पटेल, श्री मगन-भाई टी० पटेल, श्री० मनोरभाई एस्० पटेल तथा मगन-भाई किशोरभाई पटेल, इन सज्जनोंके नाम उल्लेखनीय हैं।

कंपालामें श्री० अंबालाल शंकरभाई पटेल, डो० मूळजी भाई एम्०पटेल, श्री० चंदुबाई आर० पटेल, श्री जेठाभाई मोतीभाई पटेल, श्री० गोवर्धनभाई जे० पटेल (महात्मा), श्री० छोटाभाई बी० पटेल, श्री० जयंतीलाल एन्० दवे, श्री० खंडूभाई एल्० देसाई तथा श्री० टी० के० जोशी, इन सज्जनोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मसाकामें श्रीयुत ललुभाई हरिभाई देसाई तथा श्री० छोटाभाई एम्० पटेल और मबाले, सरोटी आदि स्थलों में श्री० जे० एम्० शाह और श्री० शंकरभाई आर० पटेल के नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त सज्जनोंको हम स्वाध्याय मंडलके अंतरंगके तौरपर कह सकते हैं। इन सज्जनोंने सब तरह से मदद पहोंचानेमें कुछ भी बाकी नहीं रखा। इन लोगोंकी मंडलके प्रति मीठी नजर अवर्णनीय है। जिस निःस्वार्थ भावसे मंडलको इन्होंने अपनाया है, वह वस्तुतः अद्भुत है। निःसंदेह मंडलने ऐसे सज्जनोंको प्राप्त करके आफ्रीका में अपना पाया सर्वदाके लिए स्थिर कर लिया है।

इन सज्जनोंके अतिरिक्त हम कंपाला आर्यसमाजके मुख्य कार्यकर्ताओंका भी विशेष रूपसे धन्यवाद करते हैं। उन्होंने हर तरहसे मंडलके साथ सहानुभूति दर्शाकर सहायता पहोंचानेका प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार ईस्ट आफ्रीकाकी आर्यप्रतिनिधि-सभाका तथा उसके माननीय मंत्री श्रीयुत प्रभुदयालजी का भी हम हार्दिक धन्यवाद करते हैं। उक्त सभा मंडलको हर तरहसे सहायता पहोंचा रही है।

इस विषयमें हमें एक बात औरभी लिखनी पड रही है और वह यह कि आफ्रीकामें हिन्दुस्थानके भिन्न भिन्न प्रांतोंसे भिन्न भिन्न कौमें आई हुई हैं। बृहद् गुजरातसे जो लोग यहां आए हैं, उनमें मुख्य रूपसे हिन्दुओंमें एक है पटेल जाति जो कि चरोतर से आई हुई है तथा दूसरी है लोहाणा जाति, जो कि काठीआवाड से आई है। इन दो जातियोंमें संस्कार आदिकी दृष्टिसे जमीन-आसमानका अंतर कहा जा सकता है। लोहाणा जाति धनकी दृष्टिसे सबसे समझी जाती है। परंतु अब धीरे धीरे पटेल ऊंचे आते जा रहे हैं। पटेल लोग जितने संस्कारी, आतिथ्यप्रिय तथा उदार हैं, लोहाणे उतने ही धनवान् होनेपर भी देनेमें तथा और सब बातोंमें कई दरजे नीचे हैं।

छोहाणे किसी वस्तुको समझकर उतना नहीं देते, जितना किसीके प्रभावमें आकर देते हैं । जिस आदमीसे उनकी गरज सरती हो अथवा तो जो उन्हें समझा सकता हो, उसे वे अच्छी तरह सिरपर चढानेके लिए तैयार रहते हैं । चाहे पीछेसे उन्हें पंछतानाही क्यों न पडे ! इसके विरुद्ध पटेल लोग जहां समझकर देते हैं वहां वे शायदही अपने घरपर आए हुए को खाली वापस भेजते होंगे । आए हुए का वे किसी न किसी प्रकार से सत्कार अवश्य करते हैं।

स्वाध्यायमंडलकी प्रवृत्तिको भी किसीने समझकर हृदय से अपनाया हो, तो वे पटेल लोग ही हैं । किसी को खास दूसरे से शर्मा कर सभासद बनाया गया हो, ऐसा हमें याद नहीं आता । अकेली पटेल कौमनेही स्वाध्यायमंडल को सहायता पहोंचाई है, ऐसा कहते हुए हमें जराभी संकोच नहीं होता ! हम मंडलकी ओरसे तमाम पटेल कौमका हार्दिक धन्यवाद किए बिना कदापि नहीं रह सकते ।

(२) एक दुःखदायी घटना ।

भाई अंबालाल डी०पटेलका स्वर्गवास ।

यह दुःखद घटना लिखते हुए हृदय को असह्य आघात पहोंच रहा है । हमारे सहृदय पाठकभी जब इस घटना को पढेंगे, तो उनके दिलभी दुःखी हुए बिना नहीं रह सकेंगे ।

स्वाध्यायमंडलने जब वैदिक साहित्य छापने आदिकी योजना तैयार करके उसके प्रचारके लिए वैदिक धर्ममें लिखना प्रारंभ किया था, तथा धनसंग्रहार्थ कहां कहां कैसे कैसे जानेकी जरूरियात है, इत्यादि की चर्चा चल रही थी, उस दर्म्यान सबसे पहिले अचानक भाई अंबालाल डी० पटेल का जिंजा– (युगांडा० B. E. A.) से उत्साह-वर्धक पत्र आया । उससे पहले भाई अंबालालजीका स्वाध्यायमंडलसे कोई सीधा परिचय न था । वे मंडलके प्रकाशनों के गुप्त पाठक थे । उनके पत्रने मंडलके कार्य-कर्ताओंका उत्साह दुगना कर दिया । उनके पत्रव्यवहारों से प्रेरित होकर आखिरको मंडलकी ओरसे आफ्रीका जानेका अंतिम निश्चय किया गया । भाई अंबालालजीने इस दर्म्यान थोडेसे वखत में ही मंडलके लिए इतना सुंदर क्षेत्र तैयार कर दिया था, कि आज जो भी मंडलको सफलता प्राप्त हो रही है, वह बहुत अंशोंमें उन्हींके प्रयत्नोंका फल है, ऐसा कहा जाय तो वह जराभी अति-शयोक्तिपूर्ण न होगा । भाई अंबालालजीका मंडलके साथका परिचय इतना स्वल्प समय के लिए होगा, ऐसा हमें स्वप्नमेंभी ख्याल न था । वैसे उनकी तबियत लग-भग पीछले दो सालोंसे ठीक न रहती थी । परंतु ऐसा कठोर वियोग एकदम सहना पडेगा, यह बात तो कल्पना-तीत ही थी ! उनके ये दुःखद समाचार सुनकर पहले पहल विश्वास करनाभी कठिन था ।

स्वाध्यायमंडलको तो वस्तुतः बडा भारी घाटा हुआ है । उनके जैसे निखालस तथा निःस्वार्थी सज्जन बहुत थोडे हुआ करते हैं । स्वाध्यायमंडलने अभी अभी गुजराती भाषा में वैदिक धर्म निकालनेका निश्चय किया था । भाई अंबालालजीने इस कार्यभार को उठानेमें पूर्ण रूपसे निःस्वार्थभावसे मदद पहोंचानेका वचन दिया था । उसके संपादक-विभागमें रहकर हरतरह की मदद करनेके लिए वे तैयारी कर रहे थे ! परंतु सर्वनियंता परमात्माकी इच्छा कुछ ओर ही थी ! उसे कुछ और ही अभीष्ट था ! अभी प्रथम अंक निकलनेभी पाया नहीं था, कि भाई अंबालालजी सिर्फ ५-६ रोज की न्युमोनियाकी बिमारी भोगकर सर्वदाके लिए आंखें बंद करके चल दिए ! परम पिता परमात्मा उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें तथा उनके पीछे उनके कुंटुबको सब तरहसे सुखी रखे, यही हम सबकी उससे हार्दिक प्रार्थना है ।

(३) कुछ प्रवाद ।

वेदोंके ब्लोक्स बनाने के लिए जो योजना स्वाध्याय-मंडलने प्रकाशित की है, उसमें एक बात यह भी है, कि जो सज्जन ५००) से ज्यादा दान देंगे, उनके चित्र वेद-संहिताओंमें छापे जावेंगे इत्यादि ।

इसपर कई लोगोंको आपत्ति है कि वेदोंमें किसीके भी चित्र नहीं छापे जाने चाहिए ! ये लोग दो प्रकार के हैं ।

(१) जिन्हें स्वाध्यायमंडलसे प्रेम तथा क्रियात्मक सहानुभूति है। इन्होंने मंडलको आर्थिक सहायता स्वयं दी है तथा दिलवाई है। ये औरभी जिस तरह से बने मदद करते हैं, तथा भविष्य में भी करते रहेंगे। (२) जो किसीकोभी अपनी समझ से कुछ न देते हैं और नहीं कभी दिया है। परंतु निंदाकी दृष्टिसे सबकी समालोचना करते रहते हैं। इनकी दृष्टिमें तमाम दुनिया ठग है और इन्हें ठगने आया करती है।

किसी दृष्टिसे यह बात सही हो सकती है, कि वेद जैसी पुस्तक में किसी महान् व्यक्तिके सिवाय और किसी के चित्र नहीं होने चाहिए। परंतु हमें जहां इस बातपर विचारना है, कि वेदमें किन किनके चित्र दिए जाने चाहिए, वहां हमें इस बातपर और भी ज्यादा गौर करनेकी जरूरत है कि हम किस प्रकारसे वेदोंकी रक्षा कर सकेंगे। यह बात निःसंदेह समझ लेनी चाहिए कि अब यदि हम थोडेसे समयमें वेदोंको सुरक्षित न कर पाये, तो फिर जो कुछ आजकल हमें उपलब्ध है, उससे भी हाथ धो लेना पडेगा। शुद्ध वेद मिलने असंभव हो जायेंगे।

वेदोंकी रक्षा करने के लिए इस समय धनिकोंकी मदद नितांत आवश्यक है। यदि हम उनसे किसी भी तरह धन नहीं निकलवा सकें, तो हमारे वेदोंके सुरक्षित रहनेकी कोई सूरत प्रतीत नहीं होती। यदि वेद बचाने हैं, तो ऐसी बिकट परिस्थितिमें धनिकोंसे किसी भी शरत से धन लेना ही चाहिए। हम समझते हैं और मानते हैं, कि इस समय वेदोंकी रक्षा का समय आ गया है। अब जितनी भी ढील होगी, उतना अधिक नुक्सान होगा। चित्रोंका सवाल वेदकी रक्षा के प्रश्नके मुकाबले में सर्वथा गौण है। और अगर एक आदमी ऐसे पवित्र कार्यके लिए धन देता है, तो क्या वह दूसरों के लिए आदरणीय दृष्टांत नहीं रखता? ईश्वर ने तो बहुतोंको दिया है, पर ऐसे कार्योंमें खर्चनेवाले कितने मिलेंगे? ऐसी दशामें उपरोक्त दोनों दृष्टियोंसे हम मानते हैं, कि जो जो वेदोंकी रक्षाके महान् प्रयत्न में भाग लें, उनके चित्र दिये जाने किसी भी सूरत में अनुचित नहीं है।

ऊपर हमने दो प्रकारके टीकाकार-समालोचक लिखे हैं। उनमेंसे प्रथम प्रकारके सज्जनों के समाधान के लिए इतना जवाब पर्याप्त है। हमें जहां जहां इस आक्षेपका उत्तर देनेका अवसर प्राप्त हुआ है, वहांवहां इस उत्तर से वे लोक संतुष्ट ही हुए हैं। वे हमारी कठिनाइयोंको खूब समझते हैं। किसीके पाससे किसी भी कार्य के लिए धनवान् निकलवानेका कार्य कितना कठिन है, इस बातको वे भली भांति समझते हैं।

दूसरे प्रकारके लोगोंको हम समझते हैं, कि जवाब देनेकी कोई खास जरूरत ही नहीं। क्योंकि उन्हें न स्वयं कुछ करना है और नही दूसरे को कुछ करने देना है। दूसरे को करता हुआ भी जो देख नहीं सकता, उसकी बातोंपर ध्यान देना ही फजूल है। ऐसे लोक मनघडंत कल्पनाएं करते रहते हैं और अपना संतोष मनाते रहते हैं। उन्हें, उनकी हरकतोंसे किसीको लाभ हो या नुक्सान, इस बातकी बिलकुल चिंता नहीं होती!

ऐसे लोगोंको हम सिर्फ इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि यदि वे अपने अन्तर्हृदय से यह अनुभव करते हों, कि वेदोंमें वस्तुतः किसीके चित्र नहीं होने चाहिए, तो उन्हें चाहिए कि वे कमर कसकर खडे हो जायँ और वेदोंकी रक्षाके लिए आवश्यक धन इकट्ठा करके स्वाध्याय मंडलको सौंप दें और उनकी दृष्टिसे जो अनुचित कार्य हो रहा है, उससे स्वाध्यायमंडलको एकदम रोक दें। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं, कि ऐसे लोग यदि सिर्फ उतना ही धन ला देंगे, जितना कि हमें चित्रोंके बहाने मिला है, तो भी हम उन धनियों का धन वापस करते हुए चित्र छापने बंद कर देंगें। परंतु हम जानते हैं कि यह सिर्फ उनका अनर्गल प्रलाप है। वे वस्तुतः कुछभी करना नहीं चाहते।

पं० सातवळेकरजी के
वेदसंशोधनपर कटाक्ष ।

(लेखक- श्री० पं० रामकौशिकजी, हृषीकेश)

ता० ३० जून १९३८ के 'आर्य-मित्र' में म० प्यारेलालजी वैश्यने श्री० पं सातवळेकरजी के ऋग्वेद-संहिता में अशुद्धि दर्शाने के लिए 'अघोरचक्षुः' मंत्रको आर्यजनताके सम्मुख बतौर नमूने पेश करनेका प्रयास किया है ।

महाशयजी ! यह वेदोंका गंभीर विषय है, हम आप इस जटिल विषय को सुलझा नहीं सकते । वेद तो रहे एक ओर, हम में तो वेदभाष्यके भली प्रकार समझनेकी बुद्धिभी नहीं है। यह वेदों का विषय तो इतना गहन है, कि वहां असाधारण पंडितों तककी पहुंच नहीं । इस अति सूक्ष्म एवं गहन विषय को तो वेदोंके महारथी, मर्मज्ञ वेदाचार्य-कि जिन्होंने वेदोंका अध्ययन तथा श्रवण गुरुमुखसे किया है-स्वयं समझ सकते हैं, तथा अन्योंको समझा सकते हैं । महाशयजी ! यदि उक्त वेदमंत्र को 'देवतावाद' जैसे अत्यन्त गम्भीर विषय के रहस्य को सुलझानेवाले 'पण्डितों'के लिएही छोड दिया जाता, तो अत्युत्तम होता।

(१)

मुझेभी चिरकाल तक "वैदिक संस्कार" कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन में से विशेष रूप मे 'उपनयन एवं विवाह' संस्कार ही । क्योंकि आर्यजगत् में उक्त दोनों संस्कार ही विशेष रूप से उपयोगिता प्राप्त कर चुके हैं । पंजाब में उक्त संस्कारों के अतिरिक्त "चूडाकर्म" मुण्डन को भी प्रधानता प्राप्त है, किन्तु यू० पी० आदि प्रान्तों में नहीं।

एक समय एक ग्राम से वैदिक विवाह-निमन्त्रण आया। इस ग्राम में यह प्रथम ही वैदिक विवाह है और इस की तैयारी बडी धूमधामसे हो रही है, दूरदूर गवांड से लोग देखने आएंगे, आप अवश्य पधारे, क्योंकि सारा कृत्य आप को ही करना होगा, इत्यादि । मैंने सोचा अवश्य जाना चाहिए, यदि ग्रामों में वैदिक संस्कारों का प्रचार हो गया तो बडा अच्छा है । मैं बडी प्रसन्नता से वहां पहुंचा। कन्यापक्षवाले बारात लेने जब बाग में पहुंचे तो वहां पूर्व से ही थाली में नवग्रहसहित 'गणेशजी' महाराज विराजमान थे । हमारे पहुंचते ही दोनों पक्ष के बिरादरीवालोंने झगडा खडा कर दिया और उसने एक भयंकर रूप धारण कर लिया । वरपक्षवालों का विचार था, कि हमें कोई आपत्ति नहीं, चाहे पौराणिक विधि से संस्कार हो अथवा वैदिक रीति से, परन्तु कन्यापक्षवाले वैदिक रीति से ही संस्कार होना चाहते थे । क्योंकि कन्यापक्षवाला चौधरी होनेके अतिरिक्त धनी भी था । ग्रामवालोंपर प्रभाव होने कारण रात्रि के दस बजे विजयपताका कन्यापक्ष के हाथ लगी । अन्तमें हमने 'विश्वानि देव' मन्त्रों को पढ बारात ले ली । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं । प्रायः देखा गया है, कि कन्या का पिता कट्टर आर्यसमाजी तथा समाज के 'मंत्रीपद' का मौरूसी हक्कदार, परन्तु वर तथा वर के पिता कट्टर सनातनी होने पर भी उन से सम्बन्ध करने में तनिकभी संकोच नहीं होता । स्वार्थ तो यह है कि लडके का पिता धनी मानी पुरुष है, तथा लडका भी सुयोग्य है, और साथ ही एक जाति भी है, जिस से समाजवाले उंगली भी नहीं उठा सकते, कि लडके का चचा कट्टर आर्य-समाजी तथा समाज के 'प्रधान-पद' का मौरूसी हक्कदार है । मुझे ऐसे वैदिक विवाहोंमें भी सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ है । ऐसी स्थिति में होता क्या है, कि पौराणिक पक्षवाला अपना 'गणेश' पूजा कर लेता है और वैदिक पक्षवाला अपना 'हवन,' बस 'रलमिल बाजा' बजाकर वैदिक विवाहसंस्कारसम्पन्न हो जाता है । अस्तु ।

अन्तमें हम विवाहमण्डल में पहुंचे । मण्डप खूब सजाया गया था और खचाखच मनुष्यों से भरा हुआ था ।

सभा-मण्डप में हमने कन्या को लाने के लिए कहा। सामने के घरसे एक व्यक्ति एक 'गठडी' लेकर आया और उसने उसे वेदी के पास पूर्वस्थित आसन पर रख दी। मैंने पूछा 'भाई! यह गठडी कैसी, हमने कन्याको लाने के लिए कहा था।' वे तपाक कर 'बोले-गठडी नहीं, यह कन्या ही है।' मैंने कहा-'चौधरी साहब! यदि कन्या इसी प्रकार गठडी बनी बैठी रही, तो कार्य किस प्रकार चलेगा, क्योंकि हवन में आहुति देना तथा कन्या को अपने प्रतिज्ञामंत्रों को उच्चारण करना किस प्रकार होगा? क्या यहां भी यह सब कृत्य हमेंही करने पडेंगे?' वे सज्जन बे सखी से बोले, 'पण्डितजी! हम क्षत्री हैं। हमारे यहां सख्त पर्दा है। लडकी इसी प्रकार बैठी रहेगी, आप अपना कार्य करें, मंत्र बोले, जब फेरों का समय आएगा उस समय लडकी को पकड कर घुमा देंगे, क्योंकि हमारे यहां तो इसी प्रकार रस्म होती हैं। भरी सभा में लडकी उठकर फिरे, यह हमारे वंश के विपरीत है,' इत्यादि। पडौस में बैठे हुए एक सज्जन ने कान में कहा-'पण्डितजी! अधिक खोद-खाद न करें। बस, शीघ्रता के साथ कार्य करा दें, क्योंकि लडकी तो...है।' मुझे यह सुन कर अति दुःख हुआ, तत्काल मेरी अन्तरात्मा जाग उठी, मैंने गरज कर कहा, 'चौधरीसाहब! मैं इस 'अवैदिक' विवाहको- जिसे आप लोगों ने वैदिक विवाहसंस्कार का रूप दे रक्खा है- कराकर पाप का भागी बनना नहीं चाहता, मुझे मेरी अन्तरात्मा ऐसा घृणित कार्य करने की आज्ञा नहीं देती। अतएव मैं ऐसे अवैदिक विवाहसंस्कार को किसी दशा में भी कार्यरूप में लाने के लिए उद्यत नहीं।' इत्यादि। मुझे अति घृणा उत्पन्न हो गई, मैंने प्रण कर लिया तथा उसी दिन से वैदिक विवाह कराना छोड दिया।

अन्त में विवाहसंस्कार भली प्रकार सम्पन्न हो गया। एक सप्ताहोपरान्त एक मुख्य 'समाचार पत्र' में मैंने पढा- अमुक तिथि को अमुक चौधरी साहब की कन्या का पूर्ण 'वैदिक रीत्यानुसार' विवाह-संस्कार बडी धूम-धाम से हो गया। उक्त शुभ विवाहोत्सव पर चौधरी-साहबने अमुक अमुक संस्थाओं को दिल खोल कर दान दिया।

(२)

समाज के उत्साही मंत्री प्रधान के साथ 'वैदिक विवाह' संस्कारों में मुझे भी जाना पड़ता था। उस समय के विवाहसंस्कारों में 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं' इत्यादि मंत्रों की व्याख्या घण्टो तक करना एक प्रकार का रोग हो गया है। अधिकारी समाज तथा उपस्थित जनता आग्रह करके व्याख्या कराया करती तथा उत्साहपूर्वक स्वयं भी सुना करती। परन्तु जब 'अघोरचक्षुरप०' मन्त्र की व्याख्या का अवसर आता, तो कुछ आनन्दोत्साह भंग होने लगता। अधिकारी समाज कहने लगते, पण्डितजी! विवाहसंस्कार के समय इस 'देवृकामा' का तो उपस्थित जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। देखिये! 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' इस मंत्र में ऊपर तो कैसा सुन्दर पाठ और नीचे 'देवृकामा' देवर की कामना करनेहारी अर्थात् दूसरे पति की इच्छा रखनेवाली, इत्यादि परस्पर कितना भारी मतभेद है। मालूम होता है कि, यह उस समयके पण्डितोंकी अपनी मनघडन्त भाषा है। यदि मान लिया जाए कि यह मंत्र नियोगपरक है, तो इसे नियोग विषयमें लगाना चाहिए। विवाह के शुभावसर पर भरी सभा में कन्या को यह उपदेश करना कि 'तु मौजूदा पति के अतिरिक्त अन्य-पति की भी कामना दिलमें बनाए रख,' कितना भद्दा उपदेश है, मैं तो इस के हक में नहीं। आप इस मंत्र का उच्चारण ही न किया करें और यदि उच्चारण करें भी, तो उपस्थित जनता के सामने उक्त मंत्र की व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं। मैंने कहा, है तो ठीक! क्योंकि यह वाक्य अखरता तो मुझे भी है, सम्भव है कि कुछ पाठ-भेद हो गया है, इस पाठभेद पर मौजूदा विद्वत्-समाज का पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा जो सिद्धान्त सिद्ध हो, वे ही प्रत्येक को माननीय है। अतः उक्त मंत्र को विचारकोटि में रखना चाहिए।

एक दिन उक्त मंत्र पर मैं बैठा बैठा बहुत देर तक सोचता रहा, अकस्मात एक उक्ति सूझ गई। मैंने अधिकारी समाज से कहा, देखिए! मेरे विचार से यह 'देवकामा' वाक्य है, देवता की कामना करनेहारी। सब एकस्वर से बोले, बस ठीक है, पण्डितजी! ठीक है! अब तो मार लिया मैदान। उपस्थित जनता के सम्मुख 'देवता की इच्छा करनेवाली' अर्थ करने से बडा उत्तम प्रभाव पडेगा और संगति भी ठीक बैठ जायगी, जैसे 'वीरसूः' के आगे

'देवकामा' ही ठीक है। 'वीरसू' के आगे 'देवृकामा' यह असंगत है। भला कहां तो शूरवीर संन्तानों को जन्म देने-वाली और कहां दूसरे पति की कामना। स्पष्ट मंत्रमें है, वीरसूर देवोंकी कामना रखनेवाली। जो पण्डित हंसी उडाया करते थे अब तो उनको मुंह तोड उत्तर दिया जा सकता है।

(३)

एक बार एक वैदिक विवाहसंस्कार में स्वर्गीय श्री पं० तुलसीरामजी स्वामी, सामवेद भाष्यकार,के साथ मुझे भी जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कार करानेके अधिष्ठाता मुख्य रूप से श्री स्वामिजी ही थे, हम तो एक प्रकार से सहायक थे। श्री स्वामिजीने 'अघोर-चक्षुर' मंत्र के आगे 'वीरसूर देवकामा' का उच्चारण करते हुए उक्त मंत्र की व्याख्या की 'हे वरानने! पति को सदा प्रियदृष्टि से देखनेवाली तथा अन्य-पति का त्याग करने-हारी, कल्याणकारिणी, पवित्र अंतःकरणवाले वर्चस्वी, शूर वीरोंकी जन्मदात्री एवं देवोंकी कामना करनेहारी अथवा देव जिसकी कामना करते हैं, तू हमारे मनुष्यादि और पशु-पक्षी आदिको सुख देनेवाली हो।' उक्त मंत्रकी सुन्दर व्याख्या का उपस्थित जनता पर बडा उत्तम प्रभाव पडा, तथा अधिकारी समाज तो फूली न समाई, उसके विचारों में एक प्रकार से दृढता आ गई।

(४)

दूसरी बार, उसी स्थल पर स्वर्गवासी श्री प० बंशीधर-जी, बी. ए., एलएल. बी., वकील अजमेरनिवासी के शुभ विवाहसंस्कार में मुझे भी जानेका अवसर प्राप्त हुआ। उस विवाहसंस्कारमें अजमेर आदि स्थानों से अच्छे अच्छे विद्वान् पधारे थे। 'अघोरचक्षुः' मंत्र के 'देवकामा' पाठकोही विवाहपरक ठीक समझकर उन विद्वानोंने 'देवों की कामना करनेहारी' व्याख्या की थी।

(५)

तीसरी बार, उसी स्थल पर देहरादून से पं० गजेन्द्र-दत्तजी की बारात आई थी। उसमें गुरुकुल के एक विद्वान् भी पधारे थे। पं० जुनारदत्त सहायजी की सुपुत्री का विवाह था। यह वैदिक तथा अवैदिक विवाहसंस्कार- रलमिल बाजा बजाकर संपन्न हुआ था। उक्त संस्कार में भी 'देवकामा' पाठ की व्याख्या 'देवोंकी कामना करनेहारी' ऐसे ही की गई थी।

स्वर्गीय श्री०पं० भीमसेनजी महाराजने 'अघोरचक्षुः' इस मंत्रको विवाहपरक में लगाकर 'देवकामा' पाठ शुद्ध बताकर 'देवोंकी कामना करनेहारी' अथवा देव जिस की कामना करते हैं, ऐसी ही व्याख्या की थी।

इसके अतिरिक्त मुझे बहुत से स्थानों पर वैदिक विवाहसंस्कारों में जाना पडा। मैंने अभीतक किसी आर्य विद्वान् के मुखसे विवाहोत्सव की भरी सभाओंमें 'अघोर-चक्षुः' मंत्रके पद 'देवृकामा' की व्याख्या 'देवर की कामना करनेवाली अर्थात् नियोगनिमित्त दूसरे पति की इच्छा रखनेवाली' व्याख्या नहीं सुनी। पूर्व विवाहसंस्कारों में 'अघोरचक्षुः' मंत्र के 'देवृकामा' पदकी व्याख्या करने में तनिक संकोच हुआ करता था, परन्तु उस दिनसे निःसंकोच भाव के साथ 'देवकामा' वाक्य की व्याख्या दृढतापूर्वक-देवों की कामना करनेहारी—अथवा देव जिस की कामना करते हैं—सब स्थानों पर करता रहा।

(६)

आर्यसमाज एवं ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त तथा श्रद्धालु एक ग्रामनिवासी लाला छित्तरमलजी ने अपनी पुत्री का विवाहसंस्कार 'वैदिक रीति' से होनेकी घोषणा कर दी। उस समय ग्रामों में खूब प्रचार हुआ करता था, क्योंकि सनातनधर्मीयों से शास्त्रार्थ की छेड-छाड चलती रहती थी। ग्राम का युवकदल लालाजी के संग था। उस ग्राम में प्रचारार्थ कई बार मैं स्वयं भी गया हूं। उस समय के उत्साही नवयुवक नगर से प्रचार के लिए मेजकुरसी, दरी फरश और शामयाना आदि अपने अपने सर के ऊपर रख कर लाया करते थे। लाला साहब कमपठित थे, अनेक प्रकार के प्रयत्न करने परभी उन्हें कोई आर्यसमाजी परिवार कन्या के लिये नहीं मिला, विवश होकर उन्हें एक सनातनी परिवारमें ही सम्बन्ध करना पडा। लालाजी की आसपास के ग्रामोंमें लेनदेन के कारण अच्छी जानकारी थी। इस विचित्र 'वैदिक' विवाह को देखने के लिये आसपास के गवांड के लोक ठट के ठट चले आये। ब्राह्मणों के उत्तेजित करने से ग्राम के चौधरियों ने विवाह में बाधा डालने की ठान की। पास की समाज के लब्धप्रतिष्ठित धनी प्रधानजी भी ग्राम में मौजूद थे। प्रधानजी अपना निजी घरका कुछ काम नहीं किया करते थे, उन का जीवन

समाज के लिये ही था। सभाचातुर तथा दूर-अन्देश प्रधानजी ने जब यह झगडेवाली खबर सुनी तत्काल एक पत्र लिख कर कस्बे के थानेदार के पास भेज दिया। थानेदारने उसी समय चार-पांच जवानों को ग्राम में भेज दिया। पुलिस-जवानों को देख झगडालू दल दहल गया और हमाराहि सहायक बन गया। इस प्रथम विजय से ग्रामनिवासी तथा उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव पडा। अस्तु।

क्योंकि विवाह का सारा कृत्य मुझे स्वयं ही कराना था, अतः मण्डप खूब सजधज के साथ तैयार कराया। हवन-कुण्ड खुदवाया और उसे रंगबिरंगे रंगों से पूरा वेदीध्वजा पताका से जगमगा उठी। उस समयकी शोभा अवर्णनीय थी। बारात 'विश्वानि देव' आदि मंत्रोंका उच्चारण कर लेली गई। सभामण्डप दर्शकोंद्वार पूर्वसेही खचाखच भर गया था। मंडप में कन्या को मैंने पूर्वसेही बुला बिठला लिया था। मैंने हवन का प्रारम्भ कर दिया था, गाजेबाजे के साथ बारात आई, गाजे स्वागत के साथ सबों को मण्डप में स्थान दिया। लडका अपने उपयुक्त आसन पर बैठ गया। उभय पक्षी पण्डित, पुरोहित दोनों सनातनी विचारों ही के थे। अपने दानदक्षिणा में किसी प्रकार की बाधा न पडे अतएव शान्त थे। श्री प्रधानजी जो पासही बैठे थे, चुपके से बोले-देखों संभलकर कार्य करना; इस समय सभाचातुर्यता से काम लेना है, क्योंकि इस समय आर्यसमाजके पतन तथा उत्थान का प्रश्न बडे जोर से सामने है, सनातनी पण्डित संस्कार-विधि लिये बैठे हैं और वे **अघोरचक्षुः** वाले मंत्र के **देवृकामा**वाले वाक्य को उपस्थित जनता के सम्मुख रखकर यह दर्शानेका प्रयत्न करेंगे, कि देखो आर्य-समाजी शुभ विवाह के अवसर पर कैसे घृणित उपदेश कन्याको कर रहे हैं, किंतु पतिव्रतधर्मको छोडकर देवर या अन्य पुरुषकी कामना दिलमें बनाए रख,' इत्यादि। मैंने कहा, प्रधानजी! आप धैर्य के साथ निश्चिंत होकर देखते रहें, इन पण्डितों को तो ऐसा छकाऊं कि भागते नजर आएं और फिर कभी प्रश्न करनेका साहसभी न पडे।

मैं आरम्भसे अन्त तक छोटी छोटी सब कृत्योंको वर-वधूद्वारा कराता रहा। जब मैं गौदान, कन्यादान का विधि समझाने लगा तथा मंत्रोंका अर्थ करने लगा, तब बीचही में एक पण्डित बोल उठा 'पण्डितजी! आप हम लोगों की ही हंसी उडाना जानते हैं, कि पण्डित विवाहसंस्कारों में कन्या की गठरी बनाकर रख देते हैं, फेरोंके समय उसे पकड कर स्वंय घिसराते हैं तथा वरवधू के प्रतिज्ञामंत्रोंको आपस में स्वयंही पढ लेते हैं, ऐसी दशा में वरवधू का विवाह न होकर उभयपक्षी पण्डितों का ही आपस में विवाह हो जाना चाहिए। खैर हम तो दोनों ओर के दोनों पण्डित आपस में वरवधूवाले मंत्र पढ लेते हैं, परन्तु आप तो अकेलेहि दोनो वरवधूवाले मंत्रों को पढ रहे हैं और सामने कन्या की गठरी स्वयं ही बना के रख छोडी है। क्या ऐसेही अवैदिक विवाहों को वैदिक विवाह का रूप दिया जा रहा है? कहिए, ऐसी सूरत में आप का विवाह वर से होना चाहिए अथवा वधू से?

कुछ लोग बिगड ने लगे। मैंने उन्हें शांत किया। मैंने कहा, पण्डितजी अपने ध्यान नहीं दिया, जहां वरवधू पूर्ण विद्वान् होते हैं, तथा उन्हें अपने अपने प्रतिज्ञामंत्र याद होते हैं, वे स्वयं मंत्रों को विना किसी सहायता के उच्चारणा करते हैं। दूसरे कम विद्वान् होने से वे वरवधू अपने अपने प्रतिज्ञामंत्रों को पुस्तक सहायता से उच्चार करते हैं। तीसरे अनपढ होने से स्वयं कार्यकर्ता मंत्र पढ कर वरवधू से बुलवाता रहता है और इसी प्रकार सब कार्य हो जाता है। आरम्भ में हि मैंने कन्या से—

'विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्'

मंत्र बुलवाकर कन्याके हाथमें आसन दिया पश्चात् वरसे 'प्रतिगृह्णामि' बुलवाया तथा वर ने मंत्र बोलकर कन्या के हाथ से आसन ले लिया। आप के यहां तो वरवधू पठित हो अथवा अपठित, उन्हें मूक की तरह बैठाए रखते हैं, जैसे आपने कहा, यहां पैसा चढा दो, वहां पुष्प चढा दो, इस के अतिरिक्त उनसे और कई कृत्य नहीं कराया जाता। बस, हम मे आप में केवल इतनाही अंतर है। रही गठरी की बात। हां! यह सत्य है कि कन्या गठरी के रूप में बैठी अवश्य है, परन्तु पूर्ण गठरी नहीं, क्योंकि कन्यासे जो जो कार्य करने को कहा जाता है आचमन का लेना, आहुति का देना, आदि वह स्वयं सब करती है। मंत्रउच्चारण के बारमें पासही बैठे हुए उसके भाई साक्षी हैं, तथा कह तो हैं, कि कन्या घूंगट में भीतर ही भीतर मंत्र बोल रही है।

उपस्थित लोगों ने कहा, बस ठीक है, ठीक है पण्डितजी ! काम होने दो, बीच में विघ्न न डाले। यह दूसरी जीत।

मैंने पुनः गौदान, कन्यादान की क्रिया आरम्भ की, वस्त्र परिधान कराया तथा 'समञ्जन्तु विश्वे देवाः'की व्याख्या करता हुआ 'अघोरचक्षुः' मंत्र का उच्चरण करते करते जब 'देवकामा' वाक्यपर पहुंचा तथा संपूर्ण मंत्रको पूराभी न कर पाया, कि झट प्रतिपक्षी पंडित क्रोधमें आकर बीचहीमें बोल उठा। 'पण्डितजी अशुद्ध पाठ बोल रहे हैं, तथा उपस्थित जनताको धोकेमें डाल रहे हैं। मेरे हाथमें स्वामी दयानन्दकृत **'संस्कार-विधि'** है। इसमें शुद्ध पाठ इस प्रकार है- **'वीरसूर्देवृकामा'** इस का अर्थ स्वामिजी इस प्रकार करते हैं-उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेवाली, 'देवर' की कामना करती हुई नियोगकी इच्छा करनेहारी-यह आर्यसमाजकी कैसी घृणित शिक्षा है। 'पतिव्रतधर्म' का जीता जागता प्रमाण इस से अधिक और क्या हो सकता है ? शुभविवाह के अवसर पर भरी सभा में कन्या को कितना घोर पतित एवं लज्जास्पद धर्म उपदेश-तू पतिकी मौजूदगी में भी देवर छोटाभाई या बडा भाई तथा अन्य पुरुषों की चाह दिल में बनाए रख। इस धर्म उपदेश से सदाचार फैलेगा अथवा दुराचार? छीः छीः। (हाथ उठा कर) जिस भाई को सन्देह हो कि मैं झूट कह रहा हूं वे मेरे पास आकर पुस्तक संस्कारविधि देख लें। कुछ व्यक्ति उठे, उन्होंने देखकर कोलाहल मचा दिया, साफ लिखा है 'देवृकामा' साफ लिखा है देवर की कामना, इत्यादि, इत्यादि।

मुझे भी क्रोध आ गया आवेश में आकर एकदम म उठ खडा हुआ और हाथ उठा कर कहा- भाईयों, शान्त हो जाओ, जरा सुनिए-प्रतिपक्षके पंडितजीने आप लोगों को भ्रम में डाल दिया स्वामीजी तथा आर्यसमाज के प्रति अनर्गल अलाप है, यह उनकोही शोभा देता है। स्वामीजी की संस्कारविधि में शुद्ध पाठ **'वीरसूर्देवकामा'** है। तनिक सोचिये ! एक ओर तो अर्थ किया जाए वीर पुरुषों को जन्म देने वाली और साथही उस के यह अर्थ हो 'देवरकी कामना करनेवाली' कितना भारी अनर्थ है ! क्या बुद्धिमान् पुरुष इसे मान सकते हैं ? यह छापे की अशुद्धि है। मेरे हाथ में भी स्वामी दयान्द महाराजकृत 'संस्कारविधि' है, उस में स्पष्ट शुद्ध पाठ 'वीरसूर्देवकामा' ऐसा है। जिस भाई को संदेह होवे आकर देख लें तथा पंडितजी भी आकर देख लें, उनका भ्रम दूर हो जायगा। मैंने कहा, पण्डितजी ! पूर्व आपही आकर देखें तथा सब उपस्थित जनता को पढकर भी स्वयं ही सुना दे, जिससे आपका उत्पन्न किया हुआ 'भ्रम' दूर हो जाए। लोगोंने आग्रह किया, पण्डितजी अपने साथियों सहित आए, मैंने संस्कारविधि उनको दे दी, उन्होंने उसे चारों ओर से उलट पलट कर देखा। संस्कारविधि ही थी, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती नाम छपा था। उन्होंने पढा **'देवकामा'** पाठ था। मैंने कहा पण्डितजी ! अपनी संस्कारविधिसे 'अघोरचक्षुः' से लगाकर 'चतुष्पदे' तक पूरे मंत्रका मीलान कर लें जिससे पता लग जाय, कि पाठ-भेद जिस शब्द में है। सभामें एक भारी आतङ्क छाया हुआ था। पण्डित जी के पांव तले की खसक गई। उन्होंने आद्योपान्त सम्पूर्ण मंत्र का मीलान अपनी संस्कारविधि से किया। उनके साथियोंने तथा अन्यों ने भी देखा। पश्चात् पण्डितजी कहने लगे-इस संस्कारविधिमें **'देवकामा'** छपा है तथा मेरी में **'देवृकामा'** अवश्य पाठ-भेद है, छापे की अशुद्धि है, यह मानता पडेगा। उपस्थित जनता का आतंक भंग हो गया, करतलध्वनि से सारा पण्डाल गूंज उठा। अन्तमें मैंने बडी कठिनाई से सबोंको शान्त करके बताया-तनिक ध्यानसे सुनिये ! 'देवर' शब्द में 'र' कार छापे की भूल से अधिक छप गया है, 'देवरकी कामना' ऐसा अर्थ कदापि नहीं हो सकता। 'देवकामा' का अर्थ स्पष्ट है-देवके साथ सहयोग एवं मिलने की इच्छा करनेवाली हो अथवा देव जिसकी कामना रखते हैं। साथ-साथ ' गृभ्णामि ते ' इत्यादि मंत्रोंकी व्याख्या करके शेष संस्कार का कृत्य करा वरवधूको आशीर्वाद दे बिदा की। इस तीसरी विजयसे अधिकारी समाजकी प्रसन्नताका वार-पार नहीं रहा, मेरी पीठ ठोककर बोले-शाबास पण्डितजी ! यह संस्कारविधि आप कहां से और कब साथ ले आए ? हमें तो पताही नहीं। मैंने कहा-यह शास्त्रार्थ का एक अमोघ अस्त्र है, यदि यह न होता तो विजय होना असम्भव था।

(७)

म० प्यारेलालजी को मैं स्मरण दिलाना चाहता हूं कि एक वार एक वैदिक विवाहसंस्कार में अपने मित्र के पुत्र

की बारात के साथ आप भी पधारे थे। संस्कार का कृत्य मुझेही करना था। मैंने आरम्भ में छोटी मोटी सब क्रियाएं वरवधूद्वारा कराना प्रारम्भ कर दी। जब 'अघोरचक्षुः' मन्त्रके उच्चारण का समय आया, तो आप धीरे से बोले 'पण्डितजी! इस मंत्रको छोड दें।' मैंने कहा क्यों? प्रायः संस्कारोंमें ऐसाही होता है और यदि आप इस मंत्रको उच्चारण करना ही चाहते हैं, तो इस का अर्थ न करें। मैंने कहा क्यों? आप बोले क्योंकि यह मंत्र नियोगपरक है, अतएव विवाहसंस्कार में 'देवृकामा' इस पदकी व्याख्या-देवर की कामना अर्थात् नियोग की इच्छा करनेहारी करने से वर-वधू तथा उपस्थित जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है, अतएव इस मंत्र को छोडहि देना चाहिए। मैंने कहा फिर यह विवाहसंस्कार में रक्खा क्यों गया? वे बोले, क्यों रक्खा गया, यह तो पण्डित लोग तथा आर्यविद्वान् ही जाते, परन्तु उचित यही है, कि इस मंत्र को छोड दिया जाय। मैंने कहा छोडने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस मंत्र में केवल पाठभेद है। 'देवृकामा' नहीं बल्कि 'देवकामा' है, इस का अर्थ-देवों की कामना करनेहारी बनता है। कहने लगे, यदि ऐसा है, तो खूब व्याख्या कीजिये। अब म० प्यारेलालजी स्वयं ही विचार ले कि देवकी कामना वैदिक भाव है अथवा पौराणिक।

(८)

चिरकालोपरान्त मुझे बाबू ओम् प्रकाश एम०ए० सुपुत्र बाबू जगन्नाथजी प्रधान आर्यसमाज, मसूरी के 'वैदिक विवाहसंस्कार' में सामाजिक संबंध से जानेका अवसर मिला। बारात कनखल गई थी। उभय पक्षी आर्यसामाजिक विचार के थे, वरवधू दोनों की अवस्था उचित थी, कन्या स्वतंत्रावस्था में थी, वरवधू दोनों अपने अपने प्रतीक्षामंत्रों को स्वयं बोल रहे थे। विवाह कराने के लिए गुरुकुल से एक अध्यापक बुलाए गए थे। संस्कार के मध्य में ही वर के ताऊ बाबू गोविंदरामजी बोले उठे-पण्डितजी! संस्कारमें क्या हो करा रहा है, हमारी समझमें तो कुछ नहीं आता और आप चुप बैठे हैं, क्यों नहीं काम को संभालते? उन के आग्रह करने पर संस्कार में मुझे भी भली प्रकार योग देना पडा। ऐसा प्रतीत होता था, कि प्रोफेसर साहबको संस्कारों में जाने का बहुत कम अवसर मिला है। 'अघोरचक्षुः' मंत्र की व्याख्या करने का जब अवसर आया, तो मैंने प्रोफेसरसाहेब से पूछा-इस मंत्र के विषय में आप की क्या सम्मति है?

उन्हों ने कहा इस अवसर पर उक्त मंत्र की व्याख्या करना जरा भद्दा प्रतीत होता है, जानेभी दो। मैंने कहा-मुझे तो आर्यविद्वानों से ऐसा प्रतीत हुआ है, कि इस मंत्र में केवल पाठभेद ही है। 'देवृकामा' के स्थान पर 'देवकामा' पद है, जिसका अर्थ-देवों की कामना करनेहारी-बनता है। वे बोले तो ठीक है। मैंने कहा तो आप इस मंत्र की व्याख्या इसी प्रकार कर दें, व्याख्या हो गई।

शुद्ध मंत्र ऋक्संहिता-प्रेस निर्णयसागर में निम्न प्रकार है।

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ (अ० ८ प्र० ३ व० २८)

पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रथम कांड के चतुर्थी ४ कंडिका मं० १६ में भी उपरोक्त प्रकार ही शुद्ध पाठ है। इस का भाष्य देखो।

हे कन्ये त्वं अघोरचक्षुः सौम्यदृष्टिः अपापदृष्टिर्वा एधि भव। तथा अपतिघ्नी, अकार्यकरणेन पत्यर्थघातिनी तथा मा भव। पतस्मात्संस्कारात्तथा पशुभ्यः पशुवदाश्रितेभ्यः शिवा हितैषिणी च भव, सुमनाः सुप्रसन्नचित्ता, सुवर्चाः सुप्रभायुक्ता, वीरसूः सुपुत्रजननी देवकामा देवान् अग्न्यादीन् कामयते सेवार्थमीहते यद्वा देवं देवनं क्रीडां कामयते। स्योना सुखवती, नोऽस्माकं, शं सुखहेतुः द्विपदे मनुष्यवर्गाय मनुष्यवर्गमुपाकर्तुम्, तथा चतुष्पदे पशुवर्गाय पशुवर्गमुपाकर्तुं च, शं सुखहेतुर्भव॥

अतः पं० सातवलेकरजीका पाठही शुद्ध है। यह सिद्ध हुआ।

भारतीय युद्धके उपकरण-अस्त्र--शस्त्र ।

(ले०- श्री० मोहनशर्मा चतुर्वेदी)

भगवान् शुक्राचार्य नीतिके आचार्य गिने जाते हैं। अस्त्रशस्त्रोंके सम्बन्धमें उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। कालगतिसे उनका बहुत कुछ लिखा हुआ अप्राप्य हो गया है, परन्तु जो प्राप्त है, वह भी थोडा नहीं है। अस्त्र-शस्त्रोंकी उन्होंने इस प्रकार व्याख्याकी है-

अस्त्र और शस्त्र ।

अस्यते क्षिप्यते यत्तु मन्त्रयन्त्राग्निभिश्च तत् ॥ १७१
अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमसिकुन्तादिकं च यत् ॥ १९२
(शुक्र अ० ४, प्रकोष्ठ ७)

जिसे फेंका जाय वह अस्त्र कहलाता है। यह फेंकने की क्रिया चाहे मन्त्र से हो चाहे यन्त्रसे। इसके अतिरिक्त शेष सब शस्त्र हैं । जैसे तलवार भाले आदि। भगवान् शुक्र अस्त्रोंके दो भेद मानते हैं-

अस्त्रके दो भेद ।

अस्त्रं तु द्विविधं ज्ञेयं नालिकं मान्त्रिकं तथा।
(४।७।१९२)

(१) नालिक यथा- तोप, बन्दूक, (२) मांत्रिक-ब्रह्मास्त्र आदि। इन द्विविध अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग भगवान् शुक्रके कथनानुसार राजाको विजयके लिए करना चाहिए-

यदा तु मांत्रिकं नास्ति नालिकं तत्र धारयेत् ।
स ह शस्त्रेण नृपतिर्विजयार्थं तु सर्वदा ॥
(४।७।१९३)

राजा विजयके लिए जहाँ मन्त्रास्त्र न हो, वहाँ नालिकास्त्रको तथा अन्य शस्त्रों को काममें लाये।

शुक्रने यद्यपि अस्त्र-शस्त्र दो प्रकारके बतलाये हैं, परन्तु ये ही दोनों आकारभेदसे अनेक हो गए हैं।

नालिकास्त्र भी दो प्रकारका होता है- एक बडा और दूसरा छोटा। आजकलकी बन्दूक उस समयका छोटा नालिकास्त्र है और तोप उस समय का बडा नालिकास्त्र है। भगवान् शुक्रने इनके लक्षण, आकृति आदिका वर्णन शुक्रनीति चौथे अध्याय सातवें प्रकोष्ठके १९६-२०० श्लोकोंमें किया है। नालिकाओंमें बारूदका उपयोग होता था। उसके बनानेकी विधि भी शुक्रनीतिमें लिखी गई है। वह इस प्रकार है-

बारूद ।

सुवर्चिलवणात्पञ्च पलानि गन्धकात्पलम् ।
अन्तर्धूमविपक्वार्कस्नुह्याद्यङ्गारतः पलम् ॥
शुद्धात् संग्राह्य संचूर्ण्य संमील्य प्रस्फुरेद्रसैः।
स्नुह्यर्काणां रसोनस्य शोषयेदातपेन च ॥
पिष्ट्वा शर्करवच्चैतदग्निचूर्णं भवेत् खलु ॥
सुवर्चिलवणाद्भागाः षड् वा चत्वार एव वा ।
तत्रास्त्रार्थाग्निचूर्णे तु गन्धाङ्गारौ तु पूर्ववत् ॥
(२।७।२०१-२०३।)

अङ्गारस्यैव गन्धस्य सुवर्चिलवणस्य च ।
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च ॥
हिंगुलस्य तथा कान्तरजसः कर्पूरस्य च ।
जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च ॥
समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः ॥
(२।७।२०७-२०८।)

अर्थात्- पाँच भाग सोंचर नमक, एक भाग गन्धक, एक भाग अकौए और थूहरका कोयला जो धुएँको बन्द करके तयार किया गया हो, तीनोंको अलग अलग चूर्ण कर ले। तदनन्तर अकौए और थूहरके रससे तीनों को एकमें मिलाकर घोटे और

धूपसे रसको सुखा दे। यही अग्निचूर्ण अथवा बारूद बन जाता है।

कुछ लोग सोंचर नमक ३ या ४ भाग शेष गंधक और अकौए के कोयले को मिलाकर ही बन्दूक और तोपके लिए बारूद बना लिया करते थे।

बारूद बनाने का एक तरीका और है। इसमें अकौएका कोयला, गन्धक, सोंचर नमक, मैनसिल, हडताल, सिंग्रफ, सिसेका चूर, कान्तलोहका चूर्ण (कान्त रजसः), कपूर, लाख (जतु), नील, सरल-निर्यास (गन्धाविरोजा तथा तारपीनके तेलका समान मिश्रण) आदि द्रव्योंका मिश्रण किया जाता था। अनुपातभेदसे इससे अनेक प्रकारके अग्निचूर्ण बनते थे।

महाभारतकाल में अनेक अस्त्रशस्त्रप्रयोग में लाये जाते थे- क्षेपणी, गदा, शक्ति, प्रास (भीष्मपर्व ७४।१४) असि (पतली तलवार), ऋष्टि (दुधारी तलवार), तोमर (लोहेका भालेकी तरहका एक अस्त्र), परिघ (लोहेके पत्तरसे मढा हुआ डण्डा), भिन्दिपाल बडे फलवाला बरछा), मुशल (खैर का शूल),

(भीष्मपर्व ७३।३)

कर्णी (काटेदार तीर), नालीक (छोटा तीर), माराच (लोहेका तीर)

(भीष्मपर्व १०६।१३)

शर (सरकण्डे का तीर), क्षुरप्र (चपटे मुंह का तीर), शिलीमुख (सादा तीर), चक्र, पट्टिश (लोहमयी तेज बर्छी), कार्मुक (ताल की लकडी का धनुष), खड्ग (तलवार), चाप (बांस की कमान)

(भीष्मपर्व १०३।२२-२५।)

शतघ्नी (तोप), परश्वध (फरसा), मुद्गर, कम्पन, वत्सदन्त, भुशुण्डी, अशनि (वज्र), लगुड (गदा), निस्त्रिंश (टेढी तलवार), शूल (भाला), क्षुर (छुरा), विशिख (तीर)

(द्रोणपर्व ३०।१६-१८।)

कुन्त (बरछी), भल्ल (अर्धचन्द्राकार भाला), अञ्जलिक (बाणविशेष), विपाट (लम्बा तीर)

(द्रोणपर्व ३८।२२)

पाषाण (पत्थर की गोलियां)

—द्रोणपर्व ३७।२४

इनके अतिरिक्त ये ही अस्त्र-शस्त्र मन्त्रोंसे भी चलाये जाते हैं। जिस अस्त्रका जो देवता होता है, उसी देवताके मन्त्रसे उस अस्त्रको अभिमन्त्रित किया जाता है। और तब उसे चलाया जाता है। ऐसे यन्त्र मान्त्रिक अस्त्र कहे जाते हैं। इनमेंसे कुछ ये हैं–

ब्रह्मास्त्र (ब्रह्माकी शक्तिवाला अस्त्र)
ऐन्द्रास्त्र (इन्द्रकी शक्तिवाला अस्त्र)
सौरास्त्र (सूर्यकी शक्तिवाला अस्त्र)
आग्नेयास्त्र (अग्निकी शक्तीवाला अस्त्र)
वारुणास्त्र (वरुणकी शक्तीवाला अस्त्र)
नागास्त्र (नागोंकी शक्तिवाला अस्त्र)
सौपर्णास्त्र (गरुडकी शक्तिवाला अस्त्र)
ब्रह्मशिरा (ब्रह्मास्त्रविरोधी अस्त्र)

इनके मन्त्र तथा चलानेकी प्रक्रिया जाननेके लिए अहिर्बुध्न्य संहिता ४०, ४१, ४२ अध्यायको देखना चाहिए। मन्त्रास्त्र ही उस जमानेके आधुनिक गैसवाले अस्त्रोंका काम करते थे। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूपेण पुनः लिखा जायगा।

(सुप्रभातम् से)

वेदके देवता।

(पृष्ठ ६४२ से आगे)

अर्थ- ये प्रत्यक्ष द्यावा पृथिवी ही 'अश्विनौ, हैं, ये दोनों ही निश्चय से इस सारे जगत् में व्यापक हैं। (अशूङ् धातु से विनि प्रत्यय।)

श्रोत्र । नासिका।

'श्रोत्रे अश्विनौ' कान ही अश्विनौ हैं ॥
(श. प. १२।९।१।१३)

(३) नासिके अश्विनौ। (श. प. १३।९।१।१४)

इत्यादि। इसी प्रकार अन्य देवताओं का भी व्यापक अर्थ है। अधिक विस्तार के भय से नहीं लिखा जाता।

अभिमानी व्यपदेश।

ऊपर निरुक्तादि के प्रमाणों से ही यह प्रमाणित किया गया है, कि अग्नि, सूर्य आदि देवता जड हैं, इस का यह अर्थ नहीं है, कि जो देवता हैं, वे जड ही हैं। क्योंकि ऊपर हा यह सिद्ध किया गया है, कि परमात्मा से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थ देवता हैं। इन में प्रजापति अर्थात् परमात्मा और आत्मा भी हैं और वे चेतन ही हैं। देवता जड हैं, इस का तात्पर्य पौराणिक भावना का खण्डन करना ही है।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि यह नियम नहीं कि सब देवता चेतन ही होते हैं, तो अग्नि आदि अचेतन देवताओं के साथ वेद में चेतनवत् व्यवहार क्यों किया गया है? उदाहरण के लिये अग्न्यादि देवों को बुलाना, उनसे कल्याण, आयु, पुत्र, सम्पत्ति आदि की याचना करना इत्यादि। यह प्रश्न नवीन नहीं, प्राचीन ग्रन्थों में यह प्रश्न किया गया है और उसका समाधान भी उन ग्रन्थों में मिलता है।

यथा पूर्वमीमांसा में प्रश्न है- 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' अर्थात् वेद में अचेतनों से चेतनवत् व्यवहार किया गया है। इसका उत्तर पूर्वमीमांसा में ही यों है- 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' अर्थात् ऐसे स्थलों में अभिमानी देवता का निर्देश है।

अब थोडा अभिमानी देवता के अर्थ पर भी विचार कर लें। आचार्य सायण ने इस का अर्थ यह किया है- कि यद्यपि अग्न्यादि देवता जड हैं, तथाऽपि उनके अन्दर विद्यमान अभिमानी देवता चेतन हैं और उन्हें ही लक्ष्य कर के चेतनवत् व्यवहार किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ, कि ऐसे स्थलों पर चेतनवत् व्यवहार गौण नहीं मुख्य है, परन्तु हम पीछे युक्तियों से यह सिद्ध कर आये हैं, कि यह अर्थ मनमाना है। मीमांसासूत्र में जो व्यपदेश शब्द आया है, वह भी सिद्ध करता है, कि यह व्यवहार गौण है, मुख्य नहीं। व्यपदेश का अर्थ है, लक्षणावृत्तिगम्य अर्थ।

इस लिये हमारे विचार से सूत्र का यह अर्थ है, कि यद्यपि अग्न्यादि देवों के साथ चेतनवत् व्यवहार उचित नहीं, तथाऽपि अचेतन अग्न्यादिकों में भी चेतनों का सादृश्य होने से चेतनवत् व्यवहार गौणी लक्षणा से हो सकता है। वह सादृश्य है अहंकार जिस प्रकार चेतन मनुष्यों में अहङ्कार है, 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इत्यादि।

इसी प्रकार अचेतन पाषाण वृक्षादिक में भी अहङ्कार है। इस बात को समझने के लिये सांख्यप्रक्रिया पर दृष्टि डालनी होगी। सांख्यदर्शन के सिद्धान्तानुसार—

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः- इत्यादि। अर्थात् सत्त्वरजस् और तमस् ये तीनों ठोस गुण प्रकृति के सब पदार्थों में व्यापक हैं। इन की न्यूनाधिकता ही संसार के पदार्थों की विभिन्नता का कारण है। जब ये तीनों गुण समान मात्रा में रहते हैं, तब प्रलय होता है और इन की विषमता का ही दूसरा नाम संसार है। विसृष्टि का क्रम इस प्रकार है-

सत्त्वरजस् तमस् की साम्यावस्था से महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धितत्त्व पैदा होता है, उस से अहंकार

और पीछे सूक्ष्म भूतादि के क्रम से यह सब संसार उत्पन्न होता है । इस सब लिखने का तात्पर्य यह है, कि सांख्यप्रक्रिया के अनुसार प्राकृतिक सभी पदार्थों में अहंकार है।

यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो किसी पदार्थ का सजातीय और विजातीय से भेद ही अहंकार है।शुद्ध अहंकार का यही स्वरूप है। जब मैं कहता हूं कि 'मैं धर्मदेव हूं' तब इस अहंकार के साथ वाक् शक्ति भी मिली है। अतः यह शुद्ध अहंकार नहीं। शुद्ध अहंकार तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय है । मेरे सामने एक शीशम का वृक्ष खडा है, उस के साथ एक मनुष्य तथा कुछ दूसरे वृक्ष भी ठहरे हैं। शीशम की कुछ विशेषता ही ऐसी है कि वह अपने को सजातीय अन्य वृक्षों से तथा विजातीय वृक्षों से और मनुष्यादिक से अपने आपको भिन्न कर रहा है, यही उस की विशेषता ही अहङ्कार है।

आप एक बगीचे में जा रहे हैं, उस में अनेकों फलों के वृक्ष हैं। आप को उन में से नारंगी के ही पेड के पास जाना है और उसका ही फल तोडना है। तो नारंगी का वृक्ष स्वयं ही कह देगा कि 'मैं यहां अमुक स्थान पर खडा हूं। आओ मैं तुम्हें कृतार्थ करूं,' यही अहङ्कार है। यही अहङ्कार ही अचेतन में चेतनवत् व्यवहार का बीज है। यदि पुराणों के देवताचेतनवाद का यही अभिप्राय है, तो वह ठीक है। मीमांसासूत्र का यही अर्थ है।

(ख) इसी प्रकार वेदान्तदर्शन में भी—

'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषाऽनुगतिभ्याम् ।'

यह सूत्र आता है, जिस का भी तात्पर्य उपर्युक्त है। श्री सत्यव्रत सामश्रमीने इस सूत्र का अर्थ अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऐतरेयालोचन में निम्न प्रकार से किया है । इस अर्थ से यह भी प्रतीत हो जायगा, कि बुद्धि से काम न लेकर किसी के अर्थ को स्वीकार कर लेना भी महापाप है।

ऐतरेयालोचन पृष्ठ १७५,१७६-

'अथ येऽग्न्यादय इमे प्रत्यक्षा न त एते देवाः। अपि त्वेषामभिमानिनः सन्ति तत्तद् द्रष्यादिनामतः स्वर्गस्थाः केचन। अत एवैवमसूत्रयद् व्यासः स्वदर्शनशास्त्रे 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इत्यादि। तदेतद् व्यासवचनमार्षेयमपि कथं न स्यान्मन्तव्यमित्यत्र ब्रूमः । अस्त्येतद् व्यासवचनं सत्यम्, परमेतस्य यद्विधोऽर्थः कृतः स्वस्वसम्प्रदायमतपुष्ट्यर्थी पौराणिककालजैः शङ्करादिभिः सत्वसत्य एवेत्यस्माकम् । नहि कस्याऽप्यद्यतनस्य स्वमतस्थापनव्याकुलीभूतचित्तस्य लेखनीसम्भूतं सर्वमाख्यातं सत्यं भवितुमर्हति। नाऽपि हि-ताद्दशानां तेषां सर्वेषामेव प्रकृतवादित्वे मिथो मतपार्थक्यमुपपद्येत इति विज्ञातमेवैतत्। वस्तुतस्त्वत्र यदुक्तं व्यासेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषाऽनुगतिभ्याम् । २।१।५

तदर्थस्त्वेवम्- श्रूयते हि 'मृदब्रवीत्' आपोऽब्रुवन्, 'फेनोऽब्रवीत्' कथं चेतनाविशिष्टत्वमुररीकार्यमित्याह अभिमानीत्यादि । यद्यपि विशिष्टचेतनावत्स्वेव अहं ब्रवीमीत्येवाहंकारोऽभिमानः सम्भवति नान्यत्र मृदादौ, तथाऽप्येवमादौ तस्याऽभिमानिनः व्यपदेशः। व्यपदेशो व्यवहारः-व्यवहारमात्रमौपचारिकमिति यावत् । कुतः विशेषानुगतिभ्याम् । चेतनाऽचेतनयोर्विशेषस्तु सर्वैर्ज्ञायते लौकिकशब्दार्थशक्तिग्रहादिशिक्षातः तस्मात् मृदादिषु यदभिमानित्वं तद् व्यावहारिकमौपचारिकमिति सम्पद्यत एव। अनुगतिश्च 'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः (ऐ० ४।२।४) असौ वा आदित्यो देवः सविता (श० ६।३।१।१९) एष एवेन्द्रो य एष तपति (श० १।६।४।१८) अयं वै वायुर्योऽयं पवते (श० १।५।४।२) एवमादिश्रुतिभ्यश्चैवमेवेति । इतोऽप्यर्थविशेषोऽत्राऽवगन्तव्यश्चेत् बौधायनीयभाष्यं द्रष्टव्यम् ।

वेदान्तदर्शन का बौधायनीय भाष्य ही आर्ष और मान्य है, ऐसा ऋषि दयानन्दने लिखा है। दुःख है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी हम उसे देख नहीं सके। परन्तु श्रीसामश्रमीजीने उसे देखा होगा ऐसा प्रतीत होता है। सम्भवतः ऊपर जो अर्थ सूत्र का किया गया है, वह भी वहां का ही उद्धरण होगा। श्रीसामश्रमी के उक्त समाधान में और हमारे समाधान में यह अन्तर है, कि मैं समझता हूं कि अचेतनों में भी अहंकार की वास्तविक सत्ता है, इसी से चेतनवद् व्यवहार होते हैं। श्रीसामश्रमी जी का कहना है, कि उन में अहंकार भी व्यावहारिक है। यदि अहंकार का अर्थ चेतनाविशिष्ट अहंकार समझा जावे, तो ऐकमत्य हो जावेगा। नहीं तो सूत्र के दो अर्थ समझने चाहिये।

इस प्रकार हमने वेद के देवताविषयपर कुछ विचार लिखे हैं। आशा है विज्ञ पुरुष इस पर विचार करेंगे।

पुस्तक-परीक्षण ।

योगप्रदीप ।

[प्रकाशक श्री० अरविन्द-ग्रन्थमाला, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता । मूल्य आठ आना].

अच्छे कागदपर सुन्दरता और शुद्धता से छपी हुई ९५ पृष्ठ की यह पुस्तक है जो श्री०अरविंद की 'Lights on Yoga' पुस्तक का हिन्दी भाषान्तर है । भाषान्तरकार है हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री० लक्ष्मण नारायण गर्दे। इसमें श्री० अरविन्दके उन वचनोंका संग्रह है, जो उनके महान् योग की प्राक्रियाकर प्रकाश डालते हैं । उनके इन वचनों को इस पुस्तक में इतने अच्छे ढंग से क्रमान्वित किया गया है, कि यह साधकों को योगप्रक्रिया का ज्ञान कराने के लिये एक सुसंबद्ध अतीव उपयोगी रचना बन गयी है । जब १९३४ में मैंने यह पुस्तक पहिले पहिल अङ्गरेजी में पढी, तो मेरी प्रबल इच्छा हुई कि, इसका शीघ्र ही हिन्दी भाषान्तर हो जाय तो बडा अच्छा हो । मैंने स्वयंही इसका भाषान्तर करना प्रारंभ भी कर दिया, पर कई कारणों से यह आगे न चल सका । अतः अब इसका यह हिन्दी भाषान्तर प्रकाशित हुआ देखकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है ।

यह पुस्तक चार खण्डोंमें विभक्त है । प्रथम खण्डमें उन वचनों का संग्रह है, जो श्री० अरविन्द के योगमार्ग के लक्ष्य को समझाते हैं । दूसरे खण्डमें हमारी सत्ता के अंगों, स्तरों (कोषों), आन्तर लोकोंका बडा स्पष्ट और अनुभूत वर्णन है, जो किसी भी योगजिज्ञासु के लिये अवश्य जान लेने की वस्तु है । तीसरे खण्डमें योग के लिये आत्मसमर्पण की परम आवश्यकता बतलाते हुए उसका आत्मोद्घाटन के साथ संबंध बताया गया है, जिस आत्मोद्घाटन के हो जानेपर ही ईश्वरीय शक्ति हममें काम करने लग सकती है । अन्तिम प्रकरण 'कर्म' पर है, जिसमें कर्म की आवश्यकता, योग का कर्मसे संबंध, योगी को कर्म किस भावना से करना चाहिये, इत्यादि ऐसी बातों का उल्लेख है, जिन्हें पढकर उच्च बनना चाहनेवाले साधारण पुरुष भी बहुत लाभ उठा सकते हैं ।

यद्यपि यह ठीक है, कि भाषान्तर भाषान्तर ही होता है, वह वैसी मौलिक शक्ति नहीं रख सकता, तो भी इस उत्तम भाषान्तर से यह आशा करना उचित ही होगा, कि अब इस योगप्रदीप के प्रकाशित हो जाने द्वारा श्री० अरविन्द के पुण्य वचनों का प्रकाश हिन्दी भाषा जाननेवाले लाखों मनुष्यों तक पहुंच सकेगा और उनके हृदयों को यथासमय प्रकाशित कर सकेगा ।

इस जगत् की पहेली ।

[प्रकाशक श्री अरविन्द ग्रन्थमाला, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता । मूल्य दस आना]

यह और भी अधिक सफाई, सुन्दरता और शुद्धता के साथ छपी हुई १२४ पृष्ठ की पुस्तक है । इस ग्रन्थमाला की यह तीसरी पुस्तक श्री० अरविन्द के 'The riddle of this world नामक पुस्तक का हिन्दी भाषान्तर है । इसमें श्री० अरविन्द के योग के तत्त्वज्ञानसंबंधी लेखोंका संग्रह है । ये लेख प्रायः सन १९३० से १९३३ तक के लिखे हुए हैं । इस में पाठक को नानाविध लोकों का स्थान और वर्णन, कई दार्शनिक तत्त्वोंका स्पष्ट निरूपण, पाश्चात्य दर्शन की समालोचना, परमेश्वर का स्वरूप, पुनर्जन्मसंबंधी हुई प्रश्नों का हल तथा इस जगत् की गूढ पहेली के विषयमें एक वर्तमानकालीन विद्यमान महान् क्रान्तदर्शी ऋषि के अनुभव-वचन पढने को मिलते हैं । श्री अरविन्द के लेख वैसे ही गंभीर ज्ञान से पूर्ण होते हैं, यह पुस्तक तत्त्वज्ञानसंबंधी होनेसे और भी अधिक गंभीर है, परन्तु इसी कारण इसमें कुछ प्रवेश हो जानेपर इसका पढना और मनन करना उतना ही अधिक आनन्द देनेवाला भी हो जाता है । इसका अन्तिम लेख, जिस पर इस पुस्तक का नाम रखा गया है, थोडे में सुन्दरता के साथ इस जगत् के सब खेलको आंखों के सामने ला उपस्थित कर देता है । आशा है उन सब मनुष्यों के लिये और ऐसे मनुष्य आम जनता में भी बहुत होते हैं, जिनकी दृष्टि इस स्थूल भौतिक जगत् को अतिक्रान्त करके भी कुछ देखना चाहती है, यह पुस्तक बहुत अंश में मार्गदर्शक का काम कर सकेगी ।

–अभय (देवशर्मा)

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥१२॥
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥१३॥
कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥१४॥
आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥१५॥
इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च।
वातापर्जन्योभा ॥१६॥

अर्थ-(नष्टासवः नष्टविषाः) जिनके प्राण और विष नष्ट हो चुके हैं, (इन्द्रेण वज्रिणा हताः) जो वज्रधारी इन्द्रने मारे हैं, जिनको (इन्द्रः जघान) इन्द्रने मारा है और (वयं जघ्निम) हम भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १२ ॥

(तिरश्चिराजयः हताः) तिरछी लकीरोंवाले सर्प मारे गये, (पृदाकवः निपिष्टासः) पृदाकु सांप पीसे गये, (दर्वि, करिक्रतं श्वित्रं) दर्वी, करिक्रत और श्वेत जातीके सांपको तथा (असितं दर्भेषु जहि) काले सांपको दर्भोंमें मार ॥१३ ॥

(सका कैरातिका कुमारिका) वह भीलोंकी लडकी (हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः) लोहेकी कुदारोंसे (गिरीणां सानुषु) पहाडोंके शिखरोंपर (भेषजं उप खनति) औषधिको खोदती है ॥१४॥

(अयं युवा पृश्निहा) यह तरुण सर्पनाशक (अपराजितः भिषक्) अपराजित वैद्य आता है। (सः वै स्वजस्य वृश्चिकस्य) वह निःसंदेह स्वज नामक सर्पका और बिच्छूका इन (उभयोः जम्भनः) दोनोंका नाश करनेवाला है ॥ १५ ॥

(इन्द्रः मित्रः वरुणश्च) इन्द्र, सूर्य और वरुण (मे अहिं पृदाकुं च अरन्धयन्) ये मेरे पास आये सर्पोंको मारते हैं तथा (वातापर्जन्यौ उभा) वायु और पर्जन्य ये दोनों भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १६ ॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥१७॥
इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित्तेषामसद्रसः ॥१८॥
सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् ।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥१९॥
अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥२०॥ (११)
ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥२१॥

अर्थ- पृदाकु, पृदाक्व, स्वज, तिरश्चिराजी, कसर्णील, दशोनसि इन सर्पोंकी जातियोंको (इन्द्रः अरन्धयत्) इन्द्र मार देता है ॥ १७ ॥

हे (अहे) सर्प ! (तव प्रथमं जनितारं) तेरे पहिले उत्पादक को (इन्द्रः जघान) इन्द्र नाश करता है । (तेषां तृह्यमाणानां) उनके नाशको प्राप्त हुओं में (तेषां कः स्वित् रसः असत्) क्या उनका कुछ रस रहता है? अर्थात् वे सब पूर्ण मर जाते हैं ॥ १८ ॥

मैं सापोंके (शीर्षाणि अग्रभं) सिरोंको पकड लूं (इव) जैसा (पौंजिष्ठः सिन्धोः कर्वरं मध्यं परेत्य) कैवट नदीके गहरे मध्यभागतक जाकर सहजही वापस आता है, उस प्रकार मैं भी (अहेः विषं व्यानिजं) सांपका विष विशेष प्रकारसे नष्ट करता हूं ॥ १९ ॥

(सर्वेषां अहीनां विषं) सब सर्पोंके विषको (सिन्धवः परा वहन्तु) नदियां दूर बहा ले जांय । इस तरह तिरश्चिराजी और पृदाकु जातिके सब सर्प मारे गये हैं ॥ २० ॥

(अहं ओषधीनां उर्वरीः इव साधुया वृणे) मैं औषधियोंको उपजाऊ भूमीपर धान्य उगनेके समान सहजहीसे प्राप्त करूं और (अर्वतीः इव नयामि) उनको ले जाऊं, अतः हे (अहे) सर्प ! (ते विषं निः ऐतु) तेरा विष दूर हो जावे ॥ २१ ॥

यदुग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।
कान्दाविषं कनक्कं निरैत्वैतु ते विषम् ॥२२॥

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥२३॥
तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि ।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥२४॥

अङ्गादङ्गात्प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥२५॥

अर्थ-(यत् विषं अग्नौ पृथिव्यां ओषधिषु) जो विष अग्नि, भूमि और औषधियोंमें है, तथा जो (कान्दविषं कनक्कं) कन्दोंमें तथा वनस्पति विशेषोंमें संगठित होता है, यह तेरा विष (निः ऐतु ऐतु) निःशेष चला जावे ॥ २२ ॥

(ये अग्निजाः ओषधिजाः) जो अग्निसे उत्पन्न, औषधियोंमें उत्पन्न, (ये अहीनां अप्सुजाः) जो सांपोंमें जलोंमें उत्पन्न, (विद्युतः आबभूवुः) जो बिजलीसे प्रकट होते हैं, (येषां जातानि बहुधा महान्ति) जिनकी अनेक प्रकारकी जातियां हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमसा विधेम) उन सांपोंको हम नमन करते हैं ॥ २३ ॥

(तौदी नाम घृताची नाम) तौदी और घृताची इन नामों की (कन्या असि) कन्या नामकी एक औषधि है। (अधः पदेन ते विषदूषणं पदं आददे) नीचेवाले विषनाशक भागके साथ तेरी जड मैं प्राप्त करता हूं ॥ २४ ॥

हे औषधि! तूं (अंगात् अंगात्) प्रत्येक अवयवसे (प्र च्यावय) विषको दूर कर, (हृदयं परिवर्जय) हृदयको भी छुडा दे, (विषस्य यत् तेजः) विषकी जो चमक है, (तत् ते अवाचीनं एतु) वह तेरे शरीरसे नीचे की ओर दूर हो जावे ॥ २५ ॥

*

आरे अभूद्विषमरौद्विषे विषमप्रागपि ।
अग्निर्विषमहेर्निरधात्सोमो निरणयीत् ॥
दंष्टारमन्वगाद्विषमहिरमृत ॥ २६ ॥ (१२)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (विषं आरे अभूत्) विष दूर हुआ, (विषं अरौत्) विष चला गया, (विषे विषं अप्राग् अपि) विषमें विष मिलकर पहिले जैसा विष-रहित हो चुका। (अहेः विषं अग्निः निरधात्) सर्पका विष अग्नि दूर करता है, (सोमः निरणीयत) सोम औषधि विष दूर करती है। (दंष्टारं विषं अन्वगात्) दंश करनेवाले सर्पको विष पहुंचा और उससे (अहिः अमृत) वही सर्प मर गया ॥ २६ ॥

यह संपूर्ण सूक्त सर्पविषको दूर करनेके लिये है । इसमें कई नाम औषधियोंके हैं, जो अच्छे वैद्योंको ही ज्ञात हो सकते हैं। यह जीने मरने का विषय है, इसलिये वैद्यविद्या न जाननेवाले केवल कोशोंको देखकर न लिखेंगे, तो ही अच्छा है। वैसा तो यह सूक्त सरल है, परंतु कई मंत्र मन्त्रशास्त्र की दृष्टिसे देखनेवाले हैं और कई संकेत वैद्यशास्त्रकी दृष्टिसे खुलनेवाले हैं। इस लिये उन विषयोंके विशेषज्ञ इस सूक्तकी अधिक खोज करें, इतना ही यहां लिखा जा सकता है।

(५) विजयप्राप्ति ।

(ऋषिः– १–२४ सिन्धुद्वीपः, २५–३६ कौशिकः, ३७–४० ब्रह्मा,४१–५० विहव्यः।
देवता– प्रजापतिः, १–१४,२२–२४ आपः चन्द्रमाश्च, १५–५० मंत्रोक्ताः)

(१)

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥१॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥२॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥३॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥४॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥५॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ ॥६॥

---

(१)

अर्थ–– (इन्द्रस्य ओजः स्थ) आप इन्द्रका बल हो, (इन्द्रस्य सहः स्थ) आप इन्द्रका शत्रुपराभवका सामर्थ्य हो, (इन्द्रस्य बलं स्थ) आप इन्द्रका बल हो, (इन्द्रस्य वीर्यं स्थ) आप इन्द्रका पराक्रम हो, (इन्द्रस्य नृम्णं स्थ) आप इन्द्रका ऐश्वर्य हो, आपको (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके कार्यमें (ब्रह्मयोगैः वः युनज्मि) ज्ञानसाधनोंके साथ संयुक्त करता हूं ॥ १ ॥ ० (क्षत्रयोगैः) क्षात्रबलके साथ, ... ० (इन्द्रयोगैः) इन्द्रशक्तियोंके साथ......०(सोमयोगैः) सोमादि औषधियोंकी शक्तियोंके साथ ...... ० (अप्सुयोगैः) जलादि योजनाओंके साथ संयुक्त करता हूं ॥२–५॥ ... ० (जिष्णवे योगाय) विजयप्राप्तिके लिये (विश्वानि भूतानि उपतिष्ठन्तु) सब भूत आपके पास आ जांय तथा (आपः मे युक्ता स्थ) जल मुझे समयपर प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

(२)

अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥७॥
इन्द्रस्य भाग स्थ ।०।०॥८॥
सोमस्य भाग स्थ ।०।०॥९॥
वरुणस्य भाग स्थ ।०।०॥१०॥ (१३)
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ ।०।०॥११॥
यमस्य भाग स्थ ।०।०॥१२॥
पितृणां भाग स्थ ।०।०॥१३॥
देवस्य सवितुर्भाग स्थ ।
अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥१४॥

---

(२)

अर्थ-(अग्नेः भागः स्थ) आप अग्निका भाग हो, हे (देवीः आपः) दिव्य जलो! (अस्मासु वर्चः धत्त) हमारे में तेजको धारण करो, क्योंकि आप (अपां शुक्रं) जलोंका वीर्य ही हो । (प्रजापतेः धाम्ना) प्रजापतिके धामसे आये (वः) आपको (अस्मै लोकाय सादये) इस लोकके लिये स्थिर स्थान देता हूं ॥ ७ ॥ आप (इन्द्रस्य भागः स्थ) इन्द्रका भाग हो, ० (सोमस्य भागः ०) सोमादि औषधियोंका भाग हो,० (वरुणस्य) वरुणका०, (मित्रावरुणयोः०) सूर्य और वरुणका०, (यमस्य०) यमका०, (पितृणां०) पितरोंका०, (देवस्य सवितुः०) सवितादेवका भाग आप हैं० ॥ ८–१४ ॥

(३)

यो वं आपोऽपां भागोऽ३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१५॥
यो वं आपोऽपामूर्मिर्प्स्व१०।०।०।० ॥१६॥
यो वं आपोऽपां वत्सोऽ३प्स्व१०।०।०।०॥१७॥
यो वं आपोऽपां वृषभोऽ३प्स्व१०।०।०।०॥१८॥
यो वं आपोऽपां हिरण्यगर्भोऽ३प्स्व१ ०।०।०।०॥१९॥
यो वं आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽ३प्स्व१०।०।०।०॥२०॥ (१४)
ये वं आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।
इदं तानति सृजामि तान्माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥२१॥

---

(३)

अर्थ- हे (आपः) जलो! (यः वः अपां भागः) जो आपमें जलोंका भाग है, जो (अप्सु अन्तर्, यजुष्यः देवयजनः) जलोंके अन्दर होता हुआ यज्ञकर्म में लगनेवाला देवोंके लिये यजनरूप है, (इदं तं अति सृजामि) यह मैं उसे सौंप देता हूं, (तं मा अभि अवनिक्षि) उसका तिरस्कार न करें। (तेन तं अभि अति सृजामः) उससे उनको दूर कर देते हैं। (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा अनेन कर्मणा अनया मेन्या) इस ज्ञानसे, इस कर्मसे और इस इच्छासे (तं वधेयं तं स्तृषीय) उसका वध करें और उसका नाश करें ॥ १५ ॥ ... (यः अपः अपां ऊर्मिः०) जो जलोंके तरंग है०, (अपां वृषभः०) जो जलोंका वर्षण करनेवाला मेघ है०, (अपां हिरण्यगर्भः०) जो जलोंका सुवर्णके समान तेजस्वी भाग है०, (अपां अश्मा पृश्निः दिव्यः०) जो जलोंका पत्थर जैसा बर्फादिका दिव्य भाग है, तथा जो (अपां अग्नयः०) जलोंमें अग्नि जैसा उष्णताका भाग है०, उसकी सहायतासे हम द्वेषीका नाश करते हैं ॥ १५—२१ ॥

(४) यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥२२॥
समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥२३॥
अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥२४॥

(५) विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥२५॥

---

(४) अर्थ-(त्रैहायणात् अर्वाचीनं यत् किं च) तीन वर्षोंके अन्दर अन्दर जो कुछ (अनृतं ऊचिम) असत्य भाषण किया है,(तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् अंहसः) उस सब पापसे (आपः मा पान्तु) जल मुझे बचावें ॥ २२ ॥

हे आपः ! (वः समुद्रं प्रहिणोमि) आपको मैं समुद्रके प्रति भेजता हूं, आप (स्वां योनिं अपीतन) अपने उगमस्थानको प्राप्त होओ। (सर्व-हायसः अरिष्टाः) संपूर्ण आयुतक अहिंसित होते हुए (नः किंचन मा आमगत्) हम सबको किसी तरह रोग न हो ॥ २३ ॥

(आपः अरिप्राः) जल निर्दोष है, इसलिये वह (अस्मात् रिप्रं अप) हम सबसे दोष दूर करें। (सुप्रतीकाः अस्मत् दुरितं एनः प्र) उत्तम रूपवाला जल हम सबसे पाप और मल दूर करे। (दुष्वप्न्यं मलं प्र प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्न और मल बहाकर दूर ले जावें ॥ २४ ॥

(५) तू (विष्णोः क्रमः असि) तूं विष्णुका आक्रमण जैसा आक्रमक है, तथा (सपत्नहा पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः) शत्रुका नाश करनेवाला, पृथ्वीपर तेजस्वी और अग्निके समान प्रतापी है, मैं (अहं पृथिवीं अनु विक्रमे) पृथ्वीपर पराक्रम करता हूं, (तं पृथिव्याः निर्भजामः) हम उसको पृथ्वीसे हटा देते हैं (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं, (सः मा जीवात्) वह जीवित न रहे, (तं प्राणो जहातु) उसे प्राण छोड देवे ॥ २५ ॥ ......

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म ।

भाद्रपद १९९०
सितम्बर १९३८

वर्ष १९, अंक ९]

ऋषि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

[क्रमांक २१२

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से.५)रु. वी.पी. से.५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क ९

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

पुस्तक	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

पुस्तक	मू.	डा०व्य०
देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

'वैदिक धर्म' के ग्राहकोंके लिये विशेष सहूलियत

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों ओर जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्यायमण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ इसके साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

१६ रु. भेजनेसे आपको २०) के पुस्तक+५) का वैदिक धर्म मासिक मिलेगा और रेलसे भेजनेका व्यय तथा पैकिंग माफ होकर आपका २७) से भी अधिक लाभ होगा।

सब पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देंगे। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक ग्रंथोंका दान करना चाहते हैं वे भी इससे लाभ उठावे।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

	मू.	डा०व्य०
देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	-)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

वर्ष १९
अंक ९
क्रमांक २२५

वैदिक धर्म

भाद्रपद
संवत १९९५
सितंबर
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

मननकर्ता।

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता।
त्वं सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै ॥
(ऋ० ६।१।१)

"हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहिला मननकर्ता है। हे (दस्म) दर्शनीय देव! (अस्याः धियः होता अभवः) इस बुद्धिका दाता भी तूहि है। हे (वृषन्) बलवान् देव! तू (सीं) सब प्रकार से (दुस्-तरीतुः) पार होनेके लिये कठिन (सहः) बल (विश्वस्मै सहसे) संपूर्ण बलवान् शत्रुको (सहध्यै) पराजित करने के लिये धारण (अकृणोः) करता है।"

आत्मा ही सबसे प्रथम मनन करनेवाला है, वही शुभ बुद्धि देता है, संपूर्ण बलोंकी प्राप्ति उसीसे हो रही हैं। जो बल शत्रुओंको परास्त करता है, वह उसीका बल है।

सामवेद-मुद्रण ।

स्वाध्यायमण्डलमें वेदोंका शुद्ध मुद्रण का कार्य शुरू है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं। अथर्ववेद करीब करीब समाप्त हो रहा है। अगले महिने के अन्ततक संपूर्ण छप जायगा। अब सामवेद छपने की तैयारी चल रही है।

जो छपा हुआ सामवेद नामसे वैदिक यंत्रालय अजमेर में मिलता है, वह सामवेद की आर्चिक संहिता है, अर्थात् ऋग्वेद से उद्धृत किये वे मंत्र हैं। केवल ७४ मंत्र इस ऋग्वेद में नहीं मिलते, शेष सब मिलते हैं। 'या ऋक् तत्साम' ऐसा छांदोग्योपनिषदने कहा भी है, ऋग्वेदमंत्र ही सामपद्धति से गाया जाता है।

जो अजमेरमें सामवेद मुद्रित हुआ है, उसमें मंत्रोंपर अंक दिये हैं वे गानेके लिये हैं ऐसा बहुत लोग मानते हैं और मनमाने आलाप करते हुए उन मंत्रोंका पाठ करते हैं। परंतु यह सब अज्ञान ही है। क्यों कि वे अंक सामगान के अंक नहीं हैं, वे तो ऋग्वेद के उदात्तानुदात्त स्वरित चिह्नों के बदले अंकों के चिह्न दिये हैं। इन का सामगानेके साथ कोई संबंध ही नहीं है। न समझने के कारण लोग आलाप मारते हैं और अंदाधुंदी के साथ साममंत्र पढते जाते हैं। देखिये सामवेद का प्रथम मंत्र यह है-

१ ३ १ २ ३ १ २

अग्न आ याहि वीतये

यह ऋग्वेद का मंत्र है और उसको स्वरसाहित ऐसा लिखा जाता है-

अग्न आ याहि वीतये

पाठक यहां देखें, कि जिस अक्षर को कोई स्वरचिह्न नहीं है, उस अक्षर पर "१" अंक सामवेदमें रखा है, जिस अक्षर के सिरपर खडा स्वर चिह्न है, उस अक्षरपर सामवेदमें "२" अंक रहता है, और जिस अक्षर के नीचे स्वर होगा, उस अक्षर पर "३" अंक सामवेद में रहेगा। ऋग्वेद के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित चिह्न के ये संकेत हैं, अतः ये गाने के चिह्न नहीं हैं। जो इसको नहीं समझते वे इन अंकों को गायन के चिह्न मानते हैं, परंतु वह भ्रम ही है। यह मंत्र इस तरह बोलना चाहिये—

रे				या				ये
सा	अ		आ		हि		त	
नी		ग्न				वी		

सा नि सा रे सा नी सा रे

सामवेद के केवल आर्चिक मंत्रोंका उच्चारण इसी तरह ऋग्वेद के समान हि करना चाहिये। ऋग्वेद और सामवेद के उच्चारण में कोई भेद नहीं है। भेद होता है, वह सामगान में भेद है। सामगान का पुस्तक अभीतक किसी ने छापा ही नहीं है!!!

इस एक मंत्र का सामगायन कम से कम चार विभिन्न रीतिसे होता है, जो नोटेशन द्वारा हम सामगान के पुस्तक में बतायेंगे। इस कार्य के लिये हमने सामगान के ऋषिप्रणीत नोटशेन के हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त किये हैं, जिनके नाम ऊहगान, ऊह्यगान, वेयगान, वेनगान, प्रकृतिगान, आरण्यकगेय गान, ग्रामगेय गान, पद्मप्रकृति गान, आदि हैं।

सामवेद के कुल मंत्र करीब १४०० हैं और इन की संहिता छोटीसी १६० पृष्ठोंकी है, परंतु इनके सामगान करीब ४००० हैं, जो वामदेव आदि प्राचीन ऋषियोंने तैयार किये हैं, जिनमें घटवध करने का किसी को भी अधिकार नहीं है।

ये सब हस्तालिखित ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए हैं। यदि ये ग्रन्थ किसी के संग्रह में हों तो तुलना करने के लिये हमारे पास भेज दें। मुद्रण होने के पश्चात् हम उनका ग्रंथ सुरक्षित उनके पास भेज देंगे।

सामगायन एक अद्भुत गानविद्या है। ये सब ग्रन्थ प्रथम हि से हम छाप रहे हैं। हमारा ख्याल है, कि सामके ये सब गान नोटेशन के साथ छापने के लिये २००० से अधिक पृष्ठ लगेंगे। यह विद्या धनी लोगोंकी सहायता के विना जनताके सामने आना असंभव है, इस लिये इसका महत्त्व जानकर जिनके पास परमेश्वरने धन दिया है, वे अपने धन का योग्य भाग इस गान को प्रकाशित करने के कार्य के लिये दे कर पुण्य के भागी बनें।

"संपादक"

क्या अर्थ देवता है?

पं० ब्रह्मदत्तजीने मंत्रका 'अर्थ' हि मंत्रका देवता है और श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी अर्थ को ही देवता मानते थे, ऐसा लिखा है। इसलिये नीचे ऋग्वेदके प्रथम मण्डल की सर्वानुक्रमणीकी देवताएं, श्री० स्वामिजीने मानी देवताएं और देवतावाचक पद के स्वामिजीकृत अर्थ देते हैं। इसको देखनेसे स्वामिजी अर्थ को देवता नहीं मानते थे, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होगी। कोई अन्य आचार्य अर्थ को ही देवता नहीं मानते, यह तो प्रसिद्धहि है। अब निम्न लिखित कोष्टक में देखिये, कि श्री० स्वामिजी तो कात्यायन के ही देवता मानते हैं, परंतु उनके अर्थ अनेक करते हैं, तथापि किसी भी स्थानमें अर्थको देवता नहीं मानते, प्रत्यक्ष यह बात देखिये-

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणि देवता।	स्वामी दयानंद-भाष्य-देवता।	स्वा० दयानंदभाष्यमें देवता—पदोंका अर्थ।
१	अग्निः	अग्निः	परमेश्वरो भौतिको वा। ज्ञानस्वरूपः।
२	१-३ वायुः	वायुः	ईश्वरः भौतिको वा।
	४-६ इन्द्रवायू	इन्द्रवायू	सूर्यपवनौ।
	७-९ मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ	मित्रः=सूर्य-शरीरस्थःप्राणः। वरुणः-बहिःस्थःप्राण।
३	१-३ अश्विनौ	अश्विनौ	अग्निः, जलं।
	४-६ इंद्रः	इन्द्रः	परमेश्वरः सूर्यो वा। ६ वायुः।
	७-९ विश्वे देवाः	विश्वे देवाः	(७ देवाः, ८ विद्यावन्तः, ९ वेदपारगाः) विद्वांसः।
	१०-१२ सरस्वती	सरस्वती	वाणी।
४	इंद्रः	इन्द्रः	सूर्यः। परमेश्वरः।
५	,,	इन्द्रः	परमेश्वरः, वायुः। सूर्यः सूर्यवायुः वा। ६-८ विद्वान्।
६	१-३ ,,	इन्द्रः	परमेश्वरः। अग्निः प्राणो वा।
	४, ६, ८, ९ मरुतः	मरुतः	वायुः, ८ सूर्यः।
	५, ७ मरुतः इंद्रश्च	मरुतः इन्द्रश्च	पवनः सूर्यश्च। ७ परमेश्वरः सूर्येण सह।
	१० इंद्रः	इन्द्रः	सूर्यः।
७	,,	,,	परमेश्वरः। २ वायुः। ६ सूर्यो वा।
८	,,	,,	७ सूर्यलोकगुणाः।
९	,,	,,	परमेश्वरः सूर्यप्रकाशः (जलमग्निवर्णनम्)। अंतर्यामी ईश्वरः।
१०	,,	,,	परमेश्वरः। ३ सूर्यप्रकाशः।
११	,,	,,	ईश्वरः विजयप्रदः पुरुषो वा। सूर्यः सेनापतिश्च।
१२	अग्निः	,,	भौतिको अग्निः। परमेश्वरः विद्युद्रूपश्च।
	× ६ निर्मथ्याहवनीयौ अग्नी		६ विद्युदाख्यः पृथिवीस्थः सूर्यलोकस्थश्च अग्निः।
१३	आप्री सूक्तं	(द्वादश देवताः)	
	१		

मंडल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानंद-भाष्य देवता।	स्वा० दयानंद-भाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
१४	विश्वे देवाः	विश्वे देवाः	परमेश्वरः। भौतिको अग्निः। विज्ञानस्वरूपः। विद्युत्पवनौ। प्राणः। सूर्यः। चंद्रलोकः। राज्यं,धनम्। द्वादश मासाः। वायुः।
१५	ऋतवः	ऋतवः	(इंद्रः सूर्यलोकः। २ पवनः। ३ विद्युदग्निः। ४ भौतिको अग्निः। इंद्रः वायुः। मित्रावरुणौ-प्राणोदानौ। द्रविणोदा ईश्वरो अग्निश्च।
१६	इन्द्रः	इन्द्रः	सूर्यः। परमेश्वरः। अग्निः।(बाह्याभ्यन्तरस्थः)वायुः।
१७	इन्द्रावरुणौ	इन्द्रावरुणौ।	सूर्याचन्द्रमसौ। अग्निः जलं च। अग्निः विद्युत् सूर्यो वा। वायुजले।
१८	१-३ ब्रह्मणस्पतिः	ब्रह्मणस्पतिः।	ईश्वरः। जगदीश्वरः।
	× ४ ब्रह्मणस्पतिः इन्द्रः सोमश्च।	बृहस्पतीन्द्रसोमाः।	इन्द्रो बृहस्पतिः सोमश्च। ब्रह्मणस्पतिः।
	× ५ इंद्रः सोमः ब्रह्मणस्पतिर्दक्षिणा च।	बृहस्पतिदक्षिणे।	ब्रह्मणस्पतिः=ईश्वरः, सोमः, इन्द्रः=वायुः, दक्षिणा।
	६-८ सदसस्पतिः	सदसस्पतिः।	परमेश्वरः। न्यायाध्यक्षः।
	× ९ सदसस्पतिः। नराशंसो वा।	सदसस्पतिः नाराशंसौ च।	परमेश्वरः।
१९	अग्निर्मरुतश्च	अग्निर्मरुतश्च।	भौतिको अग्निः। ईश्वरः। पवनः।
२०	ऋभवः	ऋभवः	ऋभुः=बुद्धिवान् लोक।
२१	इन्द्राग्नी	इन्द्राग्नी	वायुवह्नी। प्राणविद्युतौ।
२२	१-४ अश्विनौ	अश्विनौ	अश्विनौ = अग्निः पृथिवी च। द्यावापृथिव्यौ।
	५-८ सविता	सविता	परमेश्वरः। ७ ईश्वरः सूर्यश्च।
	९-१० अग्निः	अग्निः	अग्निर्भौतिकः। विद्वान्।
	११ देव्यः	देव्यः	विदुषी।
	१२ इन्द्राणी-वरुणान्यग्नाय्यः	इन्द्राणीवरुणानि-अग्नाय्यः।	इंद्रः, सूर्यः, वायुः, जलं, अग्निः।
	१३-१४ द्यावापृथिवी	द्यावापृथिव्यौ।	भूम्यग्नी।
	१५ पृथिवी	पृथिवी।	भूमिः।
	१६ विष्णुर्देवो वा।	विष्णुर्देवो वा।	देवाः=विद्वांसोऽग्न्यादयः(जल वायु इ०)।
	१७-२१ विष्णुः	विष्णुः।	परमेश्वरः।
२३	१ वायुः	वायुः	वायुः।
	२-३ इन्द्रवायू	इन्द्रवायू	अग्निपवनौ।
	४-६ मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ।	प्राणोदानौ। सूर्यवायू।

मंडल १ सूक्तांक।	कात्यायनसर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानंद-भाष्य देवता।	स्वा० दयानंदभाष्यमें देवता-पदोंका अर्थ।
	७-९ इंद्रो मरुत्वान्	इंद्रो मरुत्वान्	मरुतः = वायुः, इंद्रः = विद्युत्, सूर्यः।
	१०-१२ विश्वे देवाः	विश्वे देवाः।	सर्वाः देवाः। वाय्वग्नी।
	१३-१५ पूषा	पूषा	सूर्यः। परमेश्वरः॥
	१६-२२ आपः	आपः	जलं।
	× २३ आपः अग्निश्च	अग्निश्च।	जलम्, अग्निश्च।
	× २४ अग्निः		अग्निः।
२४	१ कः	प्रजापतिः	सुखस्वरूपो देवः।
	२ अग्निः	अग्निः	ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः।
	×३-५ सविता	सविता भगो वा	परमेश्वरः।
	५ भगो वा		
	६-१५ वरुणः	वरुणः।	परमेश्वरः। वायुः, सविता।
२५	वरुणः	वरुणः।	जगदीश्वरः। सूर्यवायू।
२६	अग्निः	अग्निः।	१ यज्ञकर्ता विद्वान्- यजमानः। होता। अग्निः। परमेश्वरः।
२७	१-१२ अग्निः	अग्निः।	विद्वान् वा भौतिकः। परमेश्वरः।
	× १३ देवाः	विश्वे देवाः।	विद्वांसः, देवाः।
२८	×१-४ इन्द्रः	इन्द्रयज्ञसोमाः।	परमेश्वरो विद्वान्। (उलूखलविद्याज्ञाता)
	५-६ उलूखलं		उलूखलविद्या।
	७-८ उलूखलमुसले		मुसलोलूखले।
	९ प्रजापतिः हरिश्चंद्रः चर्म सोमो वा।		
२९	इन्द्रः	इन्द्रः।	न्यायाधीशः। परमेश्वरः। सेनापतिः। विद्वान्।
३०	१-१६ इन्द्रः	इन्द्रः।	शूरः। सेनाध्यक्षः। सभाध्यक्षः। परमेश्वरः।
	१७-१९ अश्विनौ	अश्विनौ।	सूर्यपृथिव्यौ। विद्याक्रियाकुशलौ।
	२०-२२ उषाः	उषाः।	प्रातःकालः। उषाः।
३१	अग्निः	अग्निः।	परमेश्वरः। भौतिको अग्निः। विद्वान्।
३२	इन्द्रः	इन्द्रः।	सूर्यः। सभापतिः। विद्युत् वा।
३३	,,	,,	ईश्वरः सभापतिर्वा। सेनापतिः।
३४	अश्विनौ	अश्विनौ	सकलविद्याव्यापिनौ। विद्यादातारौ। शिल्पज्ञौ।
३५	१ अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता च	अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता च।	
	२-११ सविता।	सविता	वायुसूर्यौ। वृष्ट्युत्पादकः। परमेश्वरः।

❀

मंडल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणीदेवता।	स्वामी दयानंद-भाष्य देवता।	स्वामी दयानंद भाष्यमें देवता-पदोंका अर्थ।
३६	अग्निः × १३-१४ यूपः	अग्निः	परमेश्वरः। सभापतिः। भौतिको अग्निः। विद्युत्। सभाध्यक्षः।
३७	मरुतः	मरुतः	वायवः। विद्वांसः। सेनाध्यक्षः।
३८	,,	मरुतः	वायवः। विद्वांसः।
३९	,,	मरुतः	विद्वांसः। परमेश्वराः। बलवन्तः।
४०	× ब्रह्मणस्पतिः	बृहस्पतिः	वेदस्य स्वामिन्। वेदविद्। परमेश्वरः। ब्रह्मणः = बृहतो जगतो वेदस्य वा;। पतिः = न्यायाधीशः।
४१	१-३,७-९ वरुण-मित्रार्यमणः।	वरुण-मित्रार्यमणः	वरुणः = श्रेष्ठः। मित्रः = सर्वसुहृत्। अर्यमा = न्यायं कर्तुं समर्थः। सभाध्यक्षः, न्यायाधीशः।
	४-६ आदित्याः	आदित्याः।	विद्वांसः। वरुणादयो विद्वांसः।
४२	पूषा	पूषा	पोषणकर्ता, विद्वान्। परमेश्वरः। प्रजापालकः।
४३	१-२,४-६ रुद्रः	रुद्रः।	परमेश्वरः, जीवः, वायुश्च।
	३ मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ।	विद्वांसः।
	७-९ सोमः	सोमः।	(रुद्रस्य गुणाः)। जगदीश्वरः।
४४	अग्निः १-२ अग्निः, अश्विनौ, उषा	अग्निः	विद्वान्। परमेश्वरः।
४५	अग्निः १० (अर्धर्चः) देवः	अग्निः	(विद्वानों के गुणोंका उपदेश)
४६	अश्विनौ	अश्विनौ	शिल्पी। सभापतिः।
४७	,,	,,	सेनापतिः, दुःखहर्ता। न्यायप्रकाशकः।
४८	उषाः	उषाः	प्रबोधदात्री। पतिव्रता स्त्री।
४९	,,	,,	स्त्री।
५०	१-१३ सूर्यः (११-१३ रोगघ्न-उपनिषद्, १३ अन्योऽर्धर्चः द्विषघ्नश्च)	सूर्यः	सूर्यः, ईश्वरः। विद्वान्।
५१	इन्द्रः	इन्द्रः।	शत्रुघ्नः। सेनापतिः। परमेश्वरः। सूर्यः। विद्वान्।
५२	,,	,,	परमेश्वरः। सूर्यः। विद्वान्। विद्युत्-सदृशः।
५३	,,	,,	इन्द्रः = परमेश्वरः, विद्वान्।
५४	,,	,,	परमेश्वरः। सभाध्यक्षः। विद्वान्।
५५	,,	,,	परमेश्वरः। सभाध्यक्षः।
५६	,,	,,	(उपदेशकः) (स्त्रीपुरुषवर्णनम्) इन्द्रः = सूर्यः, परमेश्वरः।

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
५७	इन्द्रः	इन्द्रः	सभाध्यक्षः, विद्युत्, परमेश्वरः, शत्रुबलविदारकः।
५८	अग्निः	अग्निः।	अग्निः = विद्युत्। पावकः। विद्वान्।
५९	अग्निर्वैश्वानरः	अग्निर्वैश्वानरः।	अग्निः, ईश्वरश्च। वैश्वानरः = जगदीश्वरः।
६०	अग्निः	अग्निः।	परमेश्वरः। भौतिकोऽग्निः।
६१	इन्द्रः	इन्द्रः	सभाद्यध्यक्षः। परमेश्वरः। विद्वान्। सूर्यः।
६२	,,	,,	ईश्वरः। सभाध्यक्षः।
६३	,,	,,	ईश्वरः। सभाध्यक्षः। सूर्यः (अग्निः)
६४	× मरुतः	इन्द्रो देवता	वायुः।
६५	अग्निः	अग्निः	अन्तर्यामीतोऽग्निः। परमात्मा। भौतिकोऽग्निः। विद्युत्।
६६	,,	,,	परमेश्वरः। अग्निः।
६७	,,	,,	विद्वान्। समाध्यक्षः परमेश्वरः भौतिकोऽग्निः, विद्युत्।
६८	,,	,,	जगदीश्वरः। विद्वान्। विद्युदग्निः।
६९	,,	,,	विद्वांसः। परमेश्वरः। विद्युत्।
७०	,,	,,	मनुष्यः। जगदीश्वरः। विद्युत्। (सभाध्यक्षः)
७१	,,	,,	ईश्वरः। सभाध्यक्षः। विद्वान्। स्त्री। अध्यापकः। विद्युत्।
७२	,,	,,	विद्वान्। परमेश्वरः। वेदज्ञाता।
७३	,,	,,	विद्वांसः। परमेश्वरः। अग्निः। सूर्यः।
७४	,,	,,	परमेश्वरः। विद्वान्। विद्युदग्निः।
७५	,,	,,	विद्वान्। अग्निः।
७६	,,	,,	विद्वान्। ईश्वरः।
७७	,,	,,	,, ,, (अग्निः।)
७८	,,	,,	,, ,,
७९	१-३ अग्निः × मध्यमोऽग्निर्वा ४-१२ अग्निः	अग्निः।	विद्युत् अग्निः। विद्वान्। सभाध्यक्षः। परमेश्वरः।
८०	इन्द्रः	इन्द्रः।	सभापतिः। सूर्यः। विद्वान्, परमेश्वर।
८१	,,	,,	सभाध्यक्षः। परमेश्वरः।
८२	,,	,,	सेनापतिः। सभापतिः। परमेश्वरः।
८३	,,	,,	सेनापतिः। विद्वान्। उपदेशकः।
८४	इन्द्रः	इन्द्रो देवता	सेनापतिः। सूर्यः। राजा। परमेश्वरः।
८५	मरुतः	मरुतः	सेनाध्यक्षः। वायवः। शिल्पविद्यादि।(राजाप्रजाः)
८६	,,	,,	विद्वांसः। वायवः। सभाध्यक्षाः।

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
८७	मरुतः	मरुतः	सभाध्यक्षः। वायवः। सेनापतिः। (राजाप्रजा-कर्तव्यम्)
८८	,,	,,	सभाध्यक्षः प्रजा। विद्वान्। वायवः।
८९	विश्वे देवाः	विश्वे देवाः	विद्वान्। परमेश्वरः। प्रकाशमयपदार्थाः।
९०	,,	,,	,, ,, देवाः।
९१	सोमः	सोमः।	सर्वैश्वर्यवान्। सोमः। विद्वान्। परमेश्वर। ओषधिसमूहः।
९२	१-१५ उषाः ×१६-१८ अश्विनौ	उषाः	प्रातःकालस्थाः प्रकाशाः। १६ अश्विनावग्निजले।
९३	अग्नीषोमौ	अग्नीषोमौ।	विद्वान्।
९४	अग्निः ८(त्रयपादाः) देवः १६ (उत्तरार्धः) मित्रावरुणादितिसिन्धुपृथिवीद्यावः।	अग्निः	विद्वान्। भौतिको अग्निः। परमेश्वरः। सभाध्यक्षः। शिल्पी।
९५ ×	अग्निः औषसो ऽग्निर्वा	सत्यगुणविशिष्टोऽग्नि। शुद्धोऽग्निर्वा।	भौतिको अग्निः।
९६	अग्निः, द्रविणोदा अग्निर्वा	द्रविणोदा अग्निः। शुद्धोऽग्निर्वा।	विद्वान्। परमेश्वरः। भौतिको अग्निः।
९७ ×	अग्निः,शुचिरग्निर्वा	अग्निः	सभाध्यक्षः। भौतिकोऽग्निः। परमेश्वरः।
९८ ×	अग्निः,वैश्वानरो अग्निर्वा।	वैश्वानरो देवता	परमेश्वरः। भौतिकोऽग्निः। विद्वान्।
९९ ×	अग्निः, जातवेदा अग्निर्वा	जातवेदाग्निः	परमेश्वरः।
१००	इन्द्रः	इन्द्रः	सूर्यः। परमेश्वरः। विद्वान्। सेनापतिः।
१०१	,, (८ गर्भस्राविण्युपनिषद्)	,,	अध्यापकः। सभा-सेनापतिः। परमेश्वरः।
१०२	इन्द्रः	,,	शाला-सभा-सेवा-अध्यक्षः। परमेश्वरः। सूर्यः।
१०३	,,	,,	परमेश्वरः। सूर्यः। सेनापतिः।
१०४	,,	,,	न्यायसभा-पतिः। (राजाप्रजाका व्यवहार)
१०५	विश्वे देवाः	विश्वे देवाः	चंद्रलोकः। राजाप्रजाः। विद्वान्। परमेश्वरः। न्यायाधीशः।
१०६	,,	,,	
१०७	,,	,,	

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
१०८	इन्द्राग्नी	इन्द्राग्नी	वायुपावकौ। वायुसवितारौ। स्वामिशिल्पिनौ।
१०९	,,	,,	विद्युज्ज्ञौतिकाग्नी। पवनविद्युतौ। छात्राध्यापकौ।
११०	ऋभवः	ऋभवः	विद्वान्। किरणाः। सेनाध्यक्षः।
१११	,,	,,	शिल्पकुशलाः। मेधाविनः।
११२	१ (आद्यः पादः) द्यावापृथिवी, १ (द्वितीय पादः) अग्निः १ (उत्तरार्धः) अश्विन २-२५ ,,	प्रथमपादस्य द्यावापृथिव्यौ द्वितीयस्य अग्निः। शिष्टस्य अश्विनौ।	१ द्यावाभूमिगुणाः। सूर्यः। २ अध्यापकः। विद्वांसः। सभा-सेनापतिः। शिल्पविद्यास्वामी। वैद्यः।
११३	×१ (उत्तरार्धः) रात्रिश्च १-२० उषाः	उषाः देवता। द्वितीयस्य अर्धर्चस्य रात्रिरपि।	विद्वान्। उषारात्रिव्यवहारः। प्रभातवेला। विदुषी।
११४	रुद्रः	रुद्रः	विद्वद्विषयं। राजविषयं। वैद्यविषयं। उपदेशकः। न्यायाधीशः।
११५	सूर्यः	सूर्यः	परमेश्वरः। सूर्यः।
११६	अश्विनौ	अश्विनौ	शिल्पी। सेनापतिः। नौकादिविद्याः। जल-पृथिव्यादि। विद्वान्।
११७	,,	,,	राजधर्मः। विद्वान्। अध्ययनाध्यापनं। सेनापतिः। शिल्पी।
११८	,,	,,	विद्वत्स्त्रीपुरुषौ। शिल्पी। सभा-सेनाधीशः। किरणाः।
११९	,,	,,	
१२०	,, (१२ दुःस्वप्ननाशिनी)	,,	उपदेशकःअध्यापकः। विद्वांसः। सभा-सेनाधीशौ।
१२१	विश्वे देवाः इन्द्रो वा	विश्वे देवाः इन्द्रश्च	स्त्रीपुरुषाः कथं वर्तेयुः। सूर्यः। विद्वान्। राजपुरुषाः। सूर्यः। परमेश्वरः।
१२२	विश्वे देवाः	विश्वे देवाः	सभापतिः। स्त्रीकर्तव्यानि। विद्वान्। मित्रावरुणौ सुहृद्वरौ। प्राणोदानौ। युद्धविषयः। उपदेशकः। राजधर्मविषय।
१२३	उषाः	उषाः	उषाः। स्त्री। विदुषी। प्रभातवेला। गृहपत्नी।
१२४	,,	,,	सूर्यलोकविषयः। उषाः स्त्री। ,, ,,

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
१२५	× स्वनयस्य दानस्तुतिः	दम्पती देवते।	यशस्वी पुरुषः। विद्वान्।
१२६	× १-५ भावयव्यः ६ रोमशा ७ भावयव्यः	विद्वांसो देवताः	राज्यधिकारी। यशविस्तारकः। उत्तमो मनुष्यः। ६, राज्येऽवश्यं प्राप्तव्या नीतिः। ७ राज्ञी किं कुर्यात्।
१२७	अग्निः	अग्निः	अग्निः। विवाहयोग्यो पुरुषः। विद्वान्। सेना-न्यायाधीशः। अध्यापकः।
१२८	,,	,,	भौतिक। विद्वान्। विद्युत्। सूर्यः। सेनेश
१२९	इन्द्रः × ६ इन्दुः	इन्द्रः	विद्वान्। सेनापतिः। उपदेशकः। (६ विद्यार्थीलक्षणम्-इन्दवे-आर्द्राय)
१३०	इन्द्रः	,,	राजपुरुषः। सूर्यः। विद्वान्। राजप्रजाकर्म।
१३१	,,	,,	परमेश्वरः। प्रजारक्षकः। विद्वान्। श्रेष्ठः।
१३२	,,	,,	सेनापतिः। सूर्यः। परमेश्वरः। विद्वान्। (राजधर्मः)
१३३	,,	,,	इन्द्रः = राजपुरुषः, सेनापतिः।
१३४	वायुः	वायुः	विद्वान्। प्राणः। वायुः। शूरः। प्रजापालकः।
१३५	१-३,९,, ×४-८ इन्द्रवायू	,,	विद्वान्। सभासेनाधीशः। विद्युद्वायू। (सभासेनाधीशौ बलवान्।)
१३६	१-५ मित्रावरुणौ ×६-७ लिङ्गोक्ताः	मित्रावरुणौ	सूर्यप्राणौ। विद्वांसः।
१३७	मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ	प्राणोदानौ (सोमलतावर्णनम्)
१३८	पूषा	पूषा	प्रजापोषकः। विद्वान्।
१३९	१ विश्वे देवाः	विश्वे देवाः।	
	२ मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ।	प्राणोदानवद्वर्तमानौ सभा-सेनाधीशौ।
	३-५ अश्विनौ	अश्विनौ	विद्या-न्याय-अधीशः।
	६ इन्द्रः	इन्द्रः।	परमैश्वर्ययुक्तो जनः।
	७ अग्निः	अग्निः।	विद्वान्।
	८ मरुतः	मरुतः।	,,
	९ इन्द्राग्नी	इन्द्राग्नी।	प्राणविद्युतौ। अध्यापकोपदेशकौ।
	१० बृहस्पतिः	बृहस्पतिः।	वक्ता, विद्वान्।
	११ विश्वे देवाः	विश्वे देवाः।	परमेश्वरः, विद्वांसः। विदुषां शीलवर्णनम्।
१४०	अग्निः	अग्निः	पावकः विद्वान्। अग्निः।
१४१	,,	,,	विद्वान्। अग्निः।

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
१४२	आप्रीसूक्त	अग्निः; बर्हिः; देव्यो द्वारः; उषासनक्ता; दैव्यो होतारौ; सरस्वतीळाभारत्य; त्वष्टा; वनस्पतिः; स्वाहाकृतिः इन्द्रः।	१-४ अग्निः। अध्यापक-प्रकाशक। सूर्य। विद्वान्। ५ परमैश्वर्य। ६-७ विद्वान्। ११ वनस्पतिः = सूर्यः। (विद्वद्गुणवर्णनम्)
१४३	अग्निः	अग्निः	अग्निवत् तीव्रबुद्धिः। विद्वान्। परमेश्वरः। विद्युत्।
१४४	,,	,,	शास्त्रवेत्ता। सूर्य इव प्रकाशमान। विद्युत्।
१४५	,,	,,	विद्वान्। उपदेशकोपदेश्यौ।
१४६	,,	,,	अग्निः। विद्वान्। विद्युत्। सूर्य।
१४७	,,	,,	विद्वान्। (मित्राऽमित्रगुणवर्णनम्।)
१४८	,,	,,	,, । अग्निः।
१४९	,,	,,	विद्वान्। अग्निः।
१५०	,,	,,	,,
१५१ +	१ मित्रः २-९ मित्रावरुणौ	मित्रावरुणौ।	१ मित्रावरुणौ। (मित्रः= सखा, विद्वान्।) अध्यापकः। विद्वान्। सूर्यः। वरुणः=श्रेष्ठ। उपदेशक।
१५२	,,	,,	उपदेशकोपदेश्यौ। प्राणोदानौ। विद्वान्। सूर्यः। श्रेष्ठः।
१५३	,,	,,	मित्रश्रेष्ठौ। सत्योपदशकोपदेश्यौ।
१५४	विष्णुः	विष्णुः	(ईश्वरमुक्तिपदवर्णनम्।) परमेश्वरः। सूर्यः।
१५५	,, +१-३ इन्द्राविष्णू	,,	अध्यापकः। (शिष्यवर्णनम्।) विष्णुः = महात्मा। सूर्यः। विद्वांसः। २ इन्द्राविष्णू = विद्युत्सूर्यौ।
१५६	विष्णुः	विष्णुः	विद्वान्। अध्यापकः। विष्णुः = सूर्यः।
१५७	अश्विनौ	अश्विनौ	अध्यापकः विद्वान्। २ सभा-सेनेश।
१५८	,,	,,	सूर्यवायू। सभाशालेशौ। विद्वान्।
१५९	द्यावापृथिवी	द्यावापृथिव्यौ।	विद्युत्। सूर्यः भूमि च। विद्वान्।
१६०	,,	,,	विद्युदन्तरिक्षे। भूमिसूर्यौ। (एतद्दृष्टान्तेन मनुष्योपकारग्रहणमुक्तम्।)
१६१	ऋभवः	ऋभवः	मेधावी। विद्वान्। सौधन्वना।
१६२ +	अश्वः	मित्रादयो लिङ्गोक्ता देवता।	अश्वस्य विद्युद्रूपेण व्याप्तस्य अग्नेःच विद्यामाह।
१६३ +	,,	अश्वोऽग्निर्देवता	विद्वदग्निगुणाः।
१६४	१-४१ विश्वे देवाः	विश्वेदेवाः	१ त्रिविधाऽग्नयः, विद्युद्भूमिआकाशस्थरूपं। परमेश्वरः। विद्वान्। सूर्यः। पृथिवी। विदुषी।

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
	४२ (आद्योऽर्धर्चः) वाक् (द्वितीयोऽर्धर्चः) समुद्रा आपोऽक्षरं	(पूर्वार्धः वाक्) (उत्तरार्धः)आपः	वाणी।
	४३ (आद्योऽर्धर्चः) शकधूम (द्वितीयोऽर्धचः) सोमः	(आद्योऽर्धर्चः) शकधूम (द्वितीय भाग) सोमः।	(ब्रह्मचर्यविषयम्।)
	४४ (केशिनः =) अग्निः सूर्यो वायुश्च	अग्निवायुसूर्याः।	(विद्वद्विषयम्।)
	४५ वाक्	वाक्।	वाणी। विद्वान्।
	४६-४७ सूर्यः	सूर्यः।	(विद्वद्विषयम्।) अग्न्यादि। परमेश्वरः।
	४८ संवत्सरकालः	संवत्सरात्मा कालः।	(विद्वद्विषयम्।)
	४९ सरस्वती	सरस्वती	विदुषी। सरस्वती।
	५० साध्याः	साध्याः।	विद्वान्।
	५१ सूर्या पर्जन्यः अग्निर्वा	सूर्यापर्जन्यौ वाऽग्नयो वा।	,,
	५२ सरस्वान् सूर्यो वा।	सरस्वान् सूर्यो वा।	सूर्यः। विद्वान्। (अग्नि-काल-सूर्य-विमानादि) ईश्वरः।
१६५ ×	मरुत्वानिन्द्रः	इन्द्रः	विद्वान्। मरुतः। वायवः। सूर्यः=इन्द्रः=परमैश्वर्यवान्। परमेश्वरः।
१६६	मरुतः	मरुतः	विद्वांसः। पवनः। वायु। प्राणः।
१६७ ×	१ इन्द्रः २-११ मरुतः।	इन्द्रो मरुच्च।	१ सज्जन। सम्राट्। २ वायु=विद्वान्। प्राणाः।
१६८	मरुतः	मरुतः।	सज्जनः। विद्वांसः। वायवः।
१६९	इन्द्रः	इन्द्रः	विद्वान्। विद्याबलसंपन्नः। दाता। शूर वीरः।
१७०	,,	,,	,, सभापतिः। ऐश्वर्ययुक्तः।
१७१ ×	१-२ मरुतः ३-६ मरुत्वानिद्रः	मरुतः।	विद्वान्। सभापतिः। इंद्रः। (सभासदः)
१७२	मरुतः	मरुतः	वायुः। विद्वान्। बलिष्ठः।
१७३	इन्द्रः	इन्द्रः।	विद्वान्। सूर्यः। सभा-सेनापतिः।
१७४	,,	,,	राजा। विद्युदग्नी। सेनेशः। सूर्यः।

मण्डल १ सूक्तांक।	कात्यायन सर्वानुक्रमणी देवता।	स्वामी दयानन्द-भाष्य देवता।	स्वा० दयानन्दभाष्यमें देवतापदोंका अर्थ।
१७५	इन्द्रः	इन्द्रः	सभापतिः। राजपुरुषः। विद्यैश्वर्ययुक्तः
१७६	"	"	न्यायाधीशः। सेनापतिः। विद्यारूप बीज। (विद्यापुरुषार्थयोगवर्णनाम्।)
१७७	"	"	विद्वान्। राजपुरुषः। विद्युदिव सेनेशः। सूर्यः।
१७८	"	"	सेनापतिः। धर्मात्मा। विद्वान्।
१७९ +	रतिः	दम्पती	विद्वत्स्त्रीपुरुषयम्।
१८०	अश्विनौ	अश्विनौ	स्त्रीपुरुषौ।
१८१	"	"	अध्यापकः। उपदेशकः। वायुविद्युतौ।
१८२	"	"	विद्वान्। अध्यापकः। (नौकाविमानादिनिर्मिति।) विद्याबलव्यापिनौ।
१८३	"	"	अग्निवायू। विद्वांसौ। शिल्पविद्याऽध्यापकौ।
१८४	"	"	अध्यापकोपदेशकौ। विद्वांसौ।
१८५	द्यावापृथिवी	द्यावापृथिव्यौ।	द्यावापृथिव्यौ इव जन्यजनक कर्माणि। मातापितरौ। भूमिसूर्यौ।
१८६	विश्वे देवाः	विश्वे देवाः।	विद्वान्। परमेश्वरः। मेघसूर्यौ। वायुः। अध्यापकः।
१८७ +	अन्नम्	ओषधयः।	परमेश्वरः (अन्नव्यापिन् पालकेश्वरः।)ओषधयः।
१८८	आप्री सूक्त	अप्रियो देवता	अध्यापकः। स्त्रीपुरुषौ। ईश्वरः। दाता।
१८९	अग्निः	अग्निः	ईश्वरः। विद्वान्। अग्निः। विद्युत्। शासकः।
१९०	बृहस्पतिः	बृहस्पतिः	विद्वान्। वेदवाणीपालयिता।
१९१ +	अप्तृणसूर्याः (विषघ्नोपनिषद्)	अबोषधिसूर्या देवताः।	विषौषधिः विषवैद्यश्च। (सूर्यदृष्टान्तेन उक्त विषयवर्णनम्।) सूर्यमण्डलविषहरणविषयम्।

[संपादकीय वक्तव्य- इस लेख में सर्वानुक्रमणीके देवता, स्वामिजीके देवता, और स्वामी भाष्यमें देवता पद के अर्थ जो किये हैं वे दिये हैं। पं० ब्रह्मदत्तजी लिखते हैं कि 'स्वामिजी अर्थको देवता मानते थे' यह उनका कथन अशुद्ध है, यहां हरएक पाठक देखे और अनुभव करे कि स्वामिजीने देवता वेही माने हैं कि जो सर्वा० ने माने हैं और देवता पद केकई अर्थ किये हैं, परन्तु किसी भी स्थानमें अर्थ को देवता नहीं माना। मेरे समझ में नहीं आता कि पं० ब्रह्मदत्तजी इतना सत्यका विनाश क्यों कर रहे हैं? श्री स्वामिजीके अनुयायियों को उचित है कि वे इनसे इसका उत्तर पूछें और अपने आचार्यजी के यश की रक्षा करें।

इस अजमेर मुद्रित स्वामिभाष्य में सूक्त ४० में 'ब्रह्मणस्पति,' और सूक्त ६४ में 'मरुतः' चाहिये। यहां छापे की अशुद्धि हुई है ऐसा प्रतीत होता है। वैदिक यंत्रालयवाले इसका विचार करें। इस प्रथम मण्डल के देवता के विषयमें वैदिकधर्म क्रमांक २२० में पृ० ३०३ से पृ० ३०६ तक जो लिखा है वह पाठक देखें। छापेकी अशुद्धि के विषयमें जो भी हो वह छोड भी दिया जाय, तथापि अर्थको देवता कोई नहीं मानता यह बात इस से सिद्ध हो रही है। कोई देखे, सचाई को कभी मरण नहीं है।]

❀

पं० श्री० सातवलेकरजी के नाम

अनावृत पत्र।

विद्वन् ! सप्रेम सादर नमस्ते।

इस मेरे पत्र को अगस्त अंक में अवश्य छापिये। मैं यह अन्यत्र सर्वत्र भेज रहा हूं।

इतरपापफलानि यथेच्छया, वितर तानि सहे चतुरानन ॥ अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम्, शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख ॥

एक कवि की यह कैसी सुन्दर भावपूर्ण उक्ति है और इस उक्ति का अनुभव कभी कभी विद्वानों को कहीं न कहीं मिल ही जाया करता है, तब जब कि दुरूह विषयों का प्रतिपादन मूर्खों अथवा मूर्खमण्डली के सामने करना पडता है और वे समझ नहीं सकते और हम अवश्य समझते हैं, ऐसा समझ कर वे भी राय देने लगते हैं। ऐसे लोगों के लिए ही उपर्युक्त बात चरितार्थ हो जाती है, कि "हे ब्रह्मा ! हे विधाता ! तुमने मेरे पापोंके फल, जब चाहे, जिस रूप में चाहे, दे देना, किन्तु मेरे माथे पर यह कभी मत लिखना, यह कभी मत लिखना कि तुम्हारा मूर्खमण्डली से पाला पडता रहेगा।" आपने यह देवतावाद का वृथावाद खडा किया है और ऐसी अज्ञ जनता के सामने खडा किया है, (१) कि मैं क्या कहूँ। आप श्रद्धापूर्वक अपना काम करते रहिए और यदि आप का काम ठीक रीति पर होता रहेगा, तो आर्यजगत् आपका वैसा ही समादर करता रहेगा, जैसा अब तक करता रहा है। क्या आप देखते नहीं कि कैसे कैसे लोग बोल रहे हैं। श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु बोलें तो बोलें, वे विद्वान् हैं, (२) बोलने का उनका अधिकार है, अन्य विद्वान् बोलें तो बोलें, वे बोल सकते हैं, पर क्या आप देखते नहीं कि कैसे कैसे लोग बोल रहे हैं। जिन को संस्कृत का अक्षर भैंस बराबर, वेदों की बात तो दूर रखिए, वह भी तो बोल रहे हैं। वकीलों के मुन्शी, ठेकेदारों के गुमाश्ते, सेठों के मुनीम भी तो देवतावाद पर राय देने लगे हैं। ऐसे लोगों से ही तो वेद डरता रहता है, कि कहीं मेरी गर्दन न मरोड (३) देवें—

'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः, मामयं प्रहरिष्यति।'

फिर आप यह भी विचारिये, कि आप इतनी दूर बैठे हुए हैं। आप अधिक से अधिक अपने 'वैदिक धर्म' में लिख सकते हैं और वह भी एक मास में एक बार, और इधर 'आर्यमित्र' में लिख सकते हैं, (४) वह भी ले-देकर एक मास में एकाध लेख ही छाप सकते हैं। दोनों पक्षों के लेख एक ही पत्र में छपते होते, तो भी एक सुभीता होता। आपके "वैदिक धर्म" में क्या छपता है, सहस्रों "आर्यमित्र" के ग्राहक नहीं जानते। 'वैदिक धर्म' के सहस्रों वाचक "आर्यमित्र' की बात नहीं जानते। लाहोर के "प्रकाश" उर्दू में अलग ही कुछ छपता जा रहा है। कलकत्ते की 'जागृति' में कोई कुछ ही बोल रहा है। जिस वाचक के सामने जो समाचार-पत्र पडता है, वह उसी को पढकर संमति बनाता जाता है। दोनों पक्षों की बात तोल कर, सारासार विचार करके निर्णय करनेवाले वाचक विरले हैं। एक विद्वान् दूसरे विद्वान् को थोडा बहुत कटु कह लेवे, तो वह कोई ऐसी बात नहीं, पर बीच में मूर्ख-अनधिकारी लोग भी बोलते जाते हैं और उनकी बात पर भी वाह-वा कहनेवाले मिल ही जाते हैं। तब आप सोचिये कि क्या करना चाहिये। आप ही देखिये कि "देवृकामः" और "देवकामः" शब्द पर अभी कोई विद्वान् बोला भी नहीं, पर झट एक लाला तो बोल उठे और फतवा (व्यवस्था) दे डाला। (५) और भी एक बात विचारिये, कि जो विद्वान् निर्भीक होकर (चाहे किसी पक्ष में बोलें) अपनी बात कहते हैं, वे प्रशंसनीय हैं, पर जो विद्वान् मूर्खों के अनुरोध से उन्हीं के रुख पर बोलते हैं, उनको क्या कहा जावे, उनकी विद्वत्ता का क्या मूल्य कूता जावे। आप बार बार 'वैदिक प्रेस' की (६)

बात ले बैठते हैं, इस से क्या लाभ ? जैसे उसके पास साधन और विद्वान् थे या हैं, उसने अपना काम किया और कर रहा है। यदि आप के पास विशेष साधन-सामग्री है, तो आप विशेष कार्य कीजिए। किसी व्यक्ति और संस्था पर किसी प्रकार का कटाक्ष किये विना भी आप अपना कार्य उत्तम रीति से कर सकते हैं। यह अच्छी तरह स्मरण रखिए कि आर्यजगत् आपकी अमूल्य सेवाओं को नहीं भूल सकता है, आपके अनुभवों से लाभ उठाना चाहता है। (७) आर्यसमाज से आप यह आशा कभी न रखें कि वह आप की बात के अक्षर-अक्षर को मानेगा। आर्यजगत् में पचासों ऐसे हैं, जो स्वामीजी की बातों को भी अक्षरशः नहीं मानते हैं, तब वे आप की बात को अक्षरशः क्यों मानेंगे ? मुट्ठीभर लोग चाहे स्वार्थवश, कोई अज्ञानवश कृतघ्न भले ही निकलें, पर सामान्य जनता ऐसी कृतघ्न नहीं है, वह तो कृतज्ञता के ही भाव रखती है। इसलिए न तो घबराइये और न किसी पर कटाक्ष कीजिए। लोग अपनी मर्यादा छोड कर आप से बाहर भी हो जाय तो 'भद्रमस्तु ते' ईश्वर आप का भला करें, ऐसा कहकर, ईश्वर-विश्वास और स्वामीजी में निष्ठा रखकर काम करते चले जाइये। यह भी स्मरण रहे कि व्यर्थ ही किसी को अपने मुकाबले में न लीजिए।

अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं, न हि
गोमायुरुतानि केसरी।

"सिंह बादलों की गर्जना का तो प्रत्युत्तर दे देता है, पर श्रृगालों की 'हू-हू' का उत्तर नहीं देता।" इस वाद-विवाद में भी आप घाटे में नहीं रहे। आर्थिक घाटा पडा हो, तो वह कोई ब्राह्मणों का घाटा नहीं। इस वादविवाद में आप का नाम वहां वहां भी पहुंच गया, जहां आपको कोई जानता भी नहीं था। यह भी लोगों ने जान लिया, कि बूढे पहलवान में भी दम है। अब इस कुश्ती को बन्द कीजिए। अब मधुर शब्दों में उन सब विद्वानों को धन्यवाद देकर वादविवाद को समाप्त कीजिए और कोई गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहे, तो 'वैदिक धर्म' को खुला रखिए। विद्वानों के लेख अक्षरशः छापिये, उनके उत्तर प्रेमपूर्वक दीजिए। अब तक वादविवाद का जैसा रुख रहा है, उससे मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूं कि कोई प्रतिनिधि-सभा, कोई सार्वदेशिक सभा इसका निर्णय नहीं करा सकती, क्योंकि आर्यसमाज में पहिले तो विद्वान् ही थोडे, वैदिक विद्वान् तो बहुत थोडे, फिर 'मण्डूक-तोलन न्याय' से उनका एकत्रित होना ही कठिन। एकत्रित होंगे, ऐसे लोग जो इस विषय में गति नहीं रखते। ऐसे लोगों का बहुमत आप को पसन्द हो, तो आप जानें। बहुमत किधर जायगा, यह आप भी अनुमान से जान सकते हैं। स्वा० दयानन्द के जादु-भरे नाम के पीछे लोग क्या क्या खेल कर सकते हैं, यह भी आप से छुपा नहीं है। इस लिए आप को मेरा यह परामर्श है, कि आप विवाद को समाप्त करें। आर्यसमाज के विद्वानों में भी अभी वह उच्च वातावरण उत्पन्न नहीं हुआ है, जो—

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयो परो धर्मः नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
(मनु० १२-११३,११४,११५)

आप की पहिली भूल यह हुई कि मेरठ के वेदसंमेलन के अवसर पर आपने सौजन्यता से यह कह दिया कि मैं श्री ब्रह्मदत्तजी की बात मानता हूं। (८) दूसरी भूल यह कि फिर आपने वैदिक धर्म में वाद चला दिया। (९) इसके पीछे की भूलें औरों की हैं। खैर, इस में भी आप घाटे में नहीं रहे और भी लोग घाटे में नहीं रहे। जो जो आखाडे में आये तो उनका नाम तो हो ही गया और आप का नाम तो आर्यजगत् और उसके बाहर के विस्तृत आकाश-मंडल में इतना गूँज रहा है, कि उसका अनुमान आप औंध में बैठ कर नहीं कर सकते। मुझ से पूछिये, जो कि द्रोणगिरी के उच्चतम शिखर पर बैठ कर सब कुछ देख रहा है, क्योंकि सब प्रतिध्वनियां, सब प्रकार की आकाश-वाणियां बडे प्रबल वेग से मुझ तक पहुंच रही हैं। आप का समर्थन करनेवाले बहुत से विद्वान् अभी बोले ही नहीं। पर यदि आप वाद-विवाद प्रारम्भ करने के पूर्व उनसे परामर्श कर लेते, तो आज इस वाद का रुख और ही होता और इतनी कटुता (१०) भी नहीं दिखलाई पडती। आपको यह मान लेना चाहिये, कि जो भी बोल रहा है, उसका वैसा दृढ विश्वास ही है, इस लिए बोल रहा है, और उसको वैसा बोलने का पूर्ण अधिकार है, और आप को भी पूर्ण अधिकार है। यदि मुझे लिखना होगा तो मैं स्वतंत्ररूप में लिखूंगा, किसी के वादविवाद में पडकर नहीं। अभी तो इस विषय में अपने विचार स्थगित कर दिए हैं।

आचार्य-पं० नरदेवशास्त्री, मसूरी

सम्पादकीय टिप्पणी।

उपरिमुद्रित लेखमें (   ) ऐसे चिन्ह के अन्दर अङ्क दिये हैं, उनके अनुसार यह टिप्पणी पढनी चाहिये।

[१] अज्ञ जनता के सामने मैंने देवतावाद खडा नहीं किया, अपितु पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजीने मुझे ऐसा करने के लिये बाधित किया, तब लाचार होकर मैंने वैदिक धर्म में लेख लिखे।

[२] पं० ब्रह्मदत्तजी विद्वान् अर्थात् अधीतग्रंथ होंगे हि, परंतु वेदविषयपर जो उन्होंने अपना मत प्रकाशित किया है, उसे देखकर उनकी विद्याके विषय में मुझे संदेह हो रहा है। देखिये उनका मत—

(अ) वेदमंत्रोंके देवता अनियत हैं,

(आ) भाष्यकारके अर्थ के अनुसार देवता बदलते हैं,

(इ) वेदमंत्र के ऋषि, देवता, छन्द नियत नहीं है,

(ई) अर्थ करनेवाला उनको जैसा चाहे बदल सकता है,

(उ) योगसाधन और तपोबलसे ऋषि, देवता, छन्द निर्णीत होते हैं।

इत्यादि जो उनके मत प्रदर्शित हुए हैं, वे उनके ज्ञानी होने की सूचना नहीं देते, अपितु वे वेदके विषय में उनके प्रगाढ अज्ञान को ही प्रकट करते हैं। किस योग के ग्रंथ में योग से ऋषि, देवता आदि ज्ञान का पता लगता है, ऐसा लिखा है? किसी में नहीं। कौन शास्त्रज्ञ ऐसा कह सकता है! स्वामिजी अर्थ को देवता मानते थे, ऐसा पं० ब्रह्मदत्तजीने अनेकवार लिखा, इस लिये मैंने इसी अंक में सर्वानुक्रमणीके देवता, स्वामिजी के देवता और स्वामिजीके देवतावाचक पदोंके अर्थ दिये है। उससे स्पष्ट हो रहा है, स्वामिजीने कभी वैसा माना ही नहीं। आजतक किसीने भी अर्थ करनेवाले की इच्छा से देवताओंका बदलना माना नहीं। ऐसी अशास्त्रीय बातें ये लिखते हैं। इस लिये वेद के विषय में इनको मत देने का अधिकार हि नहीं है। विद्याका होना या न होना उनके लेखोंसेहि विदित हो सकता है। कौन दूसरा विद्वान् ऐसा सर्वथा अशास्त्रीय पक्ष लिखनेका साहस करेगा?

[३] सर्वथा वेद से अनभिज्ञ जनता में हि तो पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। वे समझते हैं कि आम अज्ञ पब्लिक में स्वामिजी का नाम लिया, तो अपनी जीत होगी। विद्याकी अपेक्षा वे यह युक्ति को हि खूब जानते हैं।

[४] 'आर्यमित्र' आदि पत्र दोनों ओर के लेख छापने को तैयार नहीं। यह मेरा दोष नहीं। इसीसे ज्ञानी जनोंके सामने उनका पक्ष स्वयं गिर जायगा।

[५] 'देवकामा' पाठ के विषय में कोई लाख बोले तो बोले, परंतु आर्यसार्वदेशिक सभा के मुखपत्र 'सार्वदेशिक' में जो नोट छपी है, वह बडी आश्चर्यकारक है। वे लिखते हैं—

ऋग्वेद मं० १०, सू० ८५, मं० ४४ में......स्वामिजी के ग्रंथोंमें प्रायः 'देवृकाम' लिखा गया है। पं० जी अपने ऋग्वेद के ताजे संस्करण में 'देवकामा' शब्द व्यवहृत किया है। आर्यसज्जनों का पक्ष है, कि पं० सातवलेकरजीने अशुद्ध प्रयोग किया है। ......पं० जीने मोक्षमूलरादिके आधारपर अपना पक्ष समर्थन किया है।" (सार्वदेशिक पृ० २४०)

सब प्रतिनिधिसभाओंकी शिरोमणीसभा के मुखपत्र की यह राय है!! जिन आर्यसज्जनों की राय है, कि ऋग्वेद में 'देवृकामा' पद है, उनके नाम उनके प्रमाणोंसमेत ये सार्वदेशिक के संपादक प्रकाशित तो कर दें। आर्य सज्जन कौन हैं और अनार्य दुर्जन कौन हैं, इसका पता इसीसे लगनेवाला है।

दूसरी बात उक्त टिप्पणी में यह है, कि पं० सातवलेकरजीने अपना मत मोक्षमूलर के आधारपर बनाया है। मेरे लेख में २२ प्रमाण दिये हैं, उनमें (१) श्री स्वा० विश्वेश्वरानन्द और ब्र० नित्यानन्द, (२) मानवगृह्यसूत्र, (३) आपस्तंब, (४) हिरण्यकेशी गृह्यसूक्त, (५) पारस्कर गृ० सू०, (६) साममंत्रब्राह्मण, (७) अथर्वपिप्पलाद संहिता (८) मुंबई निर्णयसागर के पंडित, (९) पूनाके तिलक-

महाविद्यालयके पण्डित, (१०) महाराष्ट्र के सब घनपाठी, (११) पं० जयदेवशर्माजी ये ग्यारह प्रमाण तो मोक्षमू-लरानुयायी नहीं है। परंतु असत्य लिखनेके विना जिनका पक्ष बन ही नहीं सकता, वे ऐसा कुत्सित अशास्त्रीय न लिखें, तो बिचारे करें क्या? शिरोमणी सभाके मुखपत्र के संपादक जब ऐसे हैं, तब तो लालाओंको मर्जी चाहे लिखने की खुली छुट्टीहि होनी चाहिये।

[६] वैदिक प्रेसकी बात मैं इस लिये लिखता हूं, कि मैंने सबसे पहिले वेदमुद्रण शुरू करने के पूर्व उनको लिखा था, कि वे इस कार्य को करें, मैं अपनी सेवा उनको देनेको तैयार हूं। परंतु उन्होंने श्री० परोपकारिणी सभा की ओर अंगुली की और श्री० परोपकारिणी सभाने कहा, कि अपनी सभा सालमें एक बार नवंबर में लगती है, उसमें यह विषय रखा जायगा। अभीतक उनके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूं। साल तो गुजर गया।

[७] **आर्य-जगत् स्वाध्यायमण्डलके कार्यका आदर करता है, यह बात इस समयमेंभी अनुभव मेंआगयी है। हमारा ऋग्वेद छापकर अभी चार पांच महिने भी नहीं हुए, इतने में सब प्रथमवारमुद्रित कापियां समाप्त हुई और द्वितीय वारमुद्रण की तैयारी करनी पडी है। अब शीघ्र ही ऋग्वेद का द्वितीय वार का मुद्रण शुरू होगा।** प्रति दिन दबादब आर्डर आ रहे हैं और हातों हात वेद की पुस्तकें बिक गयी हैं। अच्छे कार्य का आदर होता है, इस का यही प्रमाण है। नहीं तो मेरा अनुमान था कि ऋग्वेदका प्रथम संस्करण २।३ वर्षों में भी शायद समाप्त होगा। यदि प्रथमवार हम पांच सहस्र ऋग्वेद छापते, तो भी अच्छा होता, परंतु इतना धन नहीं था।

[८] मेरट जयन्ती में वेदसंमेलन में मेरे अध्यक्षीय भाषण के बाद जब पं० ब्रह्मदत्तजी का भाषण हुआ, तब उन्होंने "देवता अर्थ करनेवाले की इच्छा से बदलते हैं", इत्यादि अशास्त्रीय मत हि कहा था। मैंने उस समय उनसे इस विषय में शास्त्रार्थ छेडकर संमेलनकर्ताओंके दिलों को खट्टा करना उचित नहीं समझा। नहीं तो इस अशास्त्रीय कथन का खण्डन नहीं हो सकता था, ऐसी बात नहीं थी। जब उनका भाषण समाप्त हुआ, तब मैंने उन से वहीं खानगी तौरपर पूछा—

मैं = क्या पंडितजी! आप अजमेरमुद्रित वेद में जो अशुद्धियां हैं, उनको वहां रखना चाहते हैं।

पं० ब्रह्मदत्त०= नहीं, मैं तो वर्षों से उनके पीछे पडा हूं कि वे उनको शुद्ध करें, परंतु वे नहीं करते, क्या किया जाय?

मैं = यदि ऐसा है तो क्या यही आपका मत मैं समझूं, कि आप अजमेरमुद्रित वेदोंसे अशुद्धियों को हटाने में मेरे सहाय्यक होंगे?

पं० ब्रह्मदत्त० = हां अवश्य, मेरा तो वही पक्ष है।

मैं= क्या यह बात मैं इस सभामें घोषित करूं?

पं० ब्रह्म०= अवश्य.।

इतना भाषण होनेके बाद एक विद्वान और सत्यभक्त का शब्द मानकर मैंने भरी सभा में कहा कि 'अब मुझ में और पं० ब्रह्मदत्तजीमें कोई मतभेद नहीं रहा, क्योंकि वेभी अशुद्धियों को हटाने में उत्सुक हैं'।

परंतु पं० ब्रह्मदत्तजी अब तो और कुछ बोल रहे हैं।

[९] वैदिक धर्म में मैंने देवतावाद नहीं चलाया, मुझे इन्होंने ही बाधित किया तब चलाया। पं० ब्रह्मदत्तजीने मौखिक और अन्य प्रकार का इतना इस शुद्ध मुद्रणके कार्य के विरुद्ध प्रचार किया, और कई दानी महाशयों के अन्तःकरणों में भी मेरे शुद्ध वेदमुद्रण के विषय में संदेह उत्पन्न किया और दान देनेसे इनको रोक भी दिया। उनके पत्र मेरे पास मौजूद हैं, उन में वे स्पष्ट लिखते हैं, कि पं० ब्रह्मदत्तजी ऐसा कहते हैं इ०। यदि आवश्यकता हुई तो वे सब पत्र मैं प्रकाशित करूंगा। इतना चारों ओर मेरे विरुद्ध प्रचार करने के बात अजमेर के वेद और स्वाध्यायमंडल के वेद कैसे हैं, यह पाठकों को दर्शाना आवश्यक हुआ, तब मैंने लेख लिखे। जितनी शान्ति मैंने स्वीकारी थी उतनी कोई दूसरा धारण कर नहीं सकता ऐसा मेरा ख्याल है।

[१०] कटुता का कारण यह है, कि ये सरासर अशुद्ध, अशास्त्रीय और असत्य बोलते लिखते, और प्रचार

करते हैं। इस लिये जला हुआ हृदय कटु शब्द का प्रयोग न करेगा, तो करेगा क्या?

पं० नरदेवशास्त्रीजी से अन्त में निवेदन है, कि जिस कारण आपने मुझे आदेश दिया है, कि इसके बाद इस विवाद को बंद करो, तो आप जैसे आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर मैं इसके पश्चात् इस शास्त्रार्थविषयक लेखों को बंद करता हूं। मुझे पहिले भी इच्छा नहीं थी और अब भी नहीं है।

स्नातकों का भविष्य।

मैं जब भविष्यकाल की ओर देखता हूं, तब मुझे भय मालूम होता है, कि यदि ऐसी ही अशास्त्रीय बातें समाज में रूढ हो गयीं, तो गुरुकुलों और महाविद्यालयों के विद्वान् बाहर आकर किस तरह सचाईसे व्यवहार कर सकेंगे? इन संस्थाओंके विद्वान् संचालकों को इस भयानक परिस्थितिका सामूहिक रूपसे विचार करना चाहिये। लाखों रुपये आर्यजनता के इन संस्थाओंपर व्यय हो रहे हैं और उनसे निकले विद्वान यदि इसी तरह चारों ओरसे तंग किये जांयगे, तो उनकी अवस्था क्या होगी?

गणेशांक।

पाखण्डखण्डिनी पताकाआदि में अजमेरनिवासी म० भद्रसेनजीने कई असत्य बातें लिखी हैं। उन में एक आश्चर्यकारक बात है, वह यह कि मेरे मराठी 'पुरुषार्थ' में सूंडवाले गणेशका वर्णन छापा है'। म०भद्रसेनजी को पता नहीं कि सूंडवाले गणेश के विषय में मैंने एक हि अंकमें नहीं लिखा अपितु डेडसो दोसौ पृष्ठोंके तीन विशेषांक मुद्रित किये हैं और ६।७ ऐसे बडे अंक मुद्रित होनेवाले हैं। इसलिये म० भद्रसेनजी को मेरे ऊपर दसबीस गुणा अधिक क्रोध करना चाहिये।

स्वाध्यायमण्डल प्राचीन खोज करनेवाली संस्था है। गणेशसंप्रदायकी खोज करते करते ऐसे प्रमाण मिले, कि जिस से तुर्कस्थान, ईराण, अफगाणिस्थान, रूस, तार्तारी, तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मेक्सिको, आदि देशोंमें यह गणेशसंप्रदाय प्रचलित था। तुर्कस्थान, चीन, जापान, तार्तारी, मेक्सीको आदि देशोंमें गणेश के चित्र और मूर्तियां भी मिलीं। उनके फोटो भी मराठी पुरुषार्थ के अंकोंमें दिये हैं और शेष अंकोंमें दिये जांयगे।

तुर्कस्थान, ग्रीस, कास्पीयनसमुद्र, मेक्सीको आदि देशोंमें रामसीताके उत्सव होते थे, इस विषय के भी प्रमाण मिले हैं। वे भी प्रकाशित होंगे।

इतना ही क्या यजुर्वेदकी कई शाखाएं इनके साथ साथ अन्यान्य देशोंमें प्रचलित थीं, इस संबंध के भी प्रमाण मिले हैं। म० भद्रसेनजी इस खोजका मुद्रण करने के कारण मुझे डराना चाहते हैं, परंतु यह खोज आगे चलायी जाय तो वैदिक धर्मी लोक कहांतक फैले थे, इसका पता लग सकता है। मेरे समझमें वैदिक धर्मियों को यह बात आनंदकारक प्रतीत होनी चाहिये। तुर्कस्थान में प्राचीन काल में वेदघोष हो रहा था, यह खोज कितनी महत्व की है? परंतु म० भद्रसेनजी स्वयं इस खोज से घबरा गये हैं और दूसरों को भी भ्रम से फंसाना चाहते हैं। उनको जो आता है, वे वह करें।

यही इनका सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग है।

श्री० दा० सातवळेकर
संपादक, 'वैदिक धर्म'

प्रथम नियम

“ सब सत्य–विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है ॥ ”

(लेखक- श्री० पं० मदनमोहन विद्याधर, प्रेममन्दिर, विजयगापट्टम)

हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करनेवाले हो।

[दयानन्द ग्रन्थमाला, शताब्दि–संस्करण, द्वि० भा०, पृ० २६२] (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका)

...जिसका आदिकारण, मातापिता उत्पादक कोई नहीं, किन्तु वही सबका आदिकारण है।

(आर्याभि० ... द० ग्र० प्र० भा० पृ० ४०)

ईश्वर ने अपने अनन्त ‘ सामर्थ्य ’ से जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाशसे जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वरके आधीन है। उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्यसे सब विद्याका खजाना वेदशास्त्रको प्रकाशित किया। [द० ग्र० श० सं० पंचमहायज्ञ प्र० भा०, पृ० ८६२]

जैसे परमात्माने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं, वैसे ही वेद भी सब के लिए प्रकाशित किए हैं। (स० प्र०, ३ य समु० द० ग्र० श० स० प्र० भा० पृ० १६५)

वेद से लेके पृथिवीपर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है ...।

(पं० म० य० वि०, द० ग्र०, प्र० भा० पृ० ८५६)

सब के पिता और परम गुरु परमेश्वरने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहारज्ञान और परमार्थज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो। जैसे सबका आदिकारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेद का भी आदिकारण ईश्वर है।

(आर्याभिविनय० द० ग्र०, प्र० भा० पृ० ३)

सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये पृथिवी से लेकर सप्तविधा लोक ऊंचे–नीचे स्थानों से संयुक्त बनाए। विद्यायुक्त वेद को भी बनाया।

(आर्याभिविनय० द० ग्र०, प्र० भा० पृ० ८)

जब जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब तब प्रजा के हित के लिए सृष्टि के आदि में वेदों का भी उपदेश करता है।

[जब जब सृष्टि का प्रलय होता है, तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिए]

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ३०३]

जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वरने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही ? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वरने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्य-रूप रचन किया है।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २७२)

... सत्यविद्या से युक्त आपके बनाए जो वेद है ... ... ।

(ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २६२)

परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध

वेदद्वारा करता है।

(स० प्र० ७ म समु० प्र० भा० पृ० २९१)

अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्माने सब विद्याओं का बोध किया है।

(स० प्र० ८ म समु० प्र० भा० पृ० ३२३)

उस ईश्वरने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्य विद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्योंके परम हितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वरने बडी कृपासे अविद्यान्धकार का नाशक वेद-विद्यारूप सूर्य प्रकाशित किया है और सबका आदिकारण परमात्मा है। ... विद्या पुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिये; विद्या का उपदेश ईश्वरने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिये उसने सब पदार्थों का दान दिया है, तो विद्यादान क्यों न करेगा और सर्वोत्कृष्ट विद्या पदार्थ का दान परमेश्वर ने अवश्य किया है। (आर्याभि० द० प्र० प्र० भा० पृ० ४९)

जैसे मातापिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्माने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूट कर विद्या-विज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें। ... (वेद को पढने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषिमुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं।) जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करें, तो कोई कुछ भी न बना सके।

(स० प्र० ७ म समु० प्र० भा० पृ० ३१९-३२०)

जो परमेश्वर अपनी विद्या को हम लोगों के लिए उपदेश न करे, तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है, वह न रहे। इस से परमेश्वरने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है, क्योंकि परमेश्वर हम लोगों का मातापिता के समान है। ... जैसे अपने सन्तानोंके ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं, कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है। इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है। जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परम कृपालु ईश्वरने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे भी छोटे पदार्थ रचे हैं, सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्यविद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी सुख के लिये क्यों न करता। (क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं, उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है, सो सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख के हजारवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या पदार्थ जो वेद है, उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता।)

(ऋग्वेदादि० द० प्र० द्वि० भा० पृ० २७६, २७७)

(प्रश्न)-परमेश्वर... जब निराकार है तो वेद-विद्या का उपदेश बिना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ?... (उत्तर)-परमेश्वर के सर्व-शक्तिमान् और सर्वव्यापक होनेसे जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि का अपेक्षा नहीं है।...... मुख-जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है,... वैसे जीवों को अन्तर्यामी रूप से उपदेश किया है। किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उच्चारण करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरों को सुनाता है। (तुलना करो ऋग्वेदादि० पृ० २०...

(स० प्र० ७ म० समु० प्र भा० पृ९ ३१४-३१५)

मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी... कभी नहीं बना सकते, क्यों...

बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय, तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी किसी से पढे बिना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढाता और वे अन्य को न पढाते तब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवें, तो वह जैसा संग है, वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं; जबतक आर्यावर्त देश से शिक्षा नहीं गई थी तबतक मिश्र यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी और इग्लैण्ड के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जबतक नहीं गए थे, तबतक वे भी सहस्रों, लाखों, क्रोडों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे, पुनः सुशिक्षा पाने से विद्वान् हो गए हैं, वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आए।

(स० प्र० ७ म समु० प्र० भा० पृ० ३१६, ३१७)

(प्रश्न) जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है ? (उत्तर) नहीं; किन्तु जब ईश्वरने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है, उसके पढने और ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय किसी शास्त्र को पढके, किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्परव्यवहारों को देख के ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जबतक उसका मरण न हो, तबतक उसको इसी प्रकार से रक्खे तो मनुष्यपने का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बडे वन में मनुष्यों को बिना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के बिना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती है, फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा ही क्या कहनी है।

(ऋग्वेदादि॰ द्वि० भा० द० प्र० पृ० २७३)

(प्रश्न) ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है, सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि उसके बिना वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्यलोग विद्या-पुस्तकों को भी रच लेंगे पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी ?

(उत्तर) जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वरने नहीं दिया है ? वे स्वभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते ? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके बिना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों के पढने, विद्वानों की शिक्षा और उनके किए ग्रन्थों को पढे बिना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश न करता, तो आज पर्यंत किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है, कि विद्वानों की शिक्षा और वेदपठन के बिना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढने और पढाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था, उस समय ईश्वर के लिए

वेदोपदेश के बिना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता ?

क्योंकि सब मनुष्यों को सहायकारी ज्ञान में स्वतंत्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञान मात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती । इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है । और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थोंसे श्रेष्ठ है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है, सो साधनकोटि में है। जैसे मन के संयोग के बिना आंख से कुछ भी नहीं देख पडता, तथा आत्मा के संयोग के बिना मन से भी कुछ नहीं होता, वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है, सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधन मात्र ही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतंत्रता से भी कभी नहीं हो सकता ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २७४, २७५)

वेदों कि उत्पत्ति ईश्वर से ही हुई है ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० २९०)

वेद ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्य-स्वरूप ही हैं । क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है । ... शब्द दो प्रकार का होता है, एक नित्य और दूसरा कार्य । इनमें से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में है, वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है, इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होनेसे नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २९१)

...जो आकाशादिसे भी बडा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं । जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आ के फिर भीतरको जाती है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वे नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं । ... जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि यह ईश्वर की विद्या है, इससे इनको नित्य ही जानना।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २७?)

युक्ति से भी उन (वेदों) का नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभावसे भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता ।

जो सत्य है; उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है, उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार नहीं हो सकती ।... जिसका मूल नहीं होता, उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते। ... वन्ध्या के पुत्र का विवाह... असम्भव है, क्योंकि जो उसके पुत्र होता, तो वह वन्ध्या ही क्यों होती ।... वैसे ही जब ईश्वर में अनन्त विद्या हैं, तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता ?

जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता, तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता; क्यों इस जगत् में निर्मूल का होना व बढना असम्भव है ? ... परमेश्वर से वेद-विद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप का वृक्ष विस्तृत हुआ है । इसमें और भी युक्ति है, कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसीका दृष्टान्त देते हैं । ... जिसका साक्षात् अनुभव होता है, उसी का ज्ञान में संस्कार होता है, संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है । जो संस्कृत भाषा को पढता है, उसके मन में उसी का संस्कार होता है, अन्य भाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को

पढता है, उसको देशभाषा का संस्कार होता है, अन्य का नहीं ।

इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार न होता, जब विद्या का संस्कार न होता तो उसका स्मरण भी नहीं होता, स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता । ... ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुनके, पढके और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यन्त होता चला आया है ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ ३०४, ३०५)

जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है, उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो । ... उसको छोडकर मनुष्यों को उपासना करनेके योग्य दूसरा कोई इष्ट देव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है, जो वेदों के कर्ता, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड को दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करें ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २७१)

ऐश्वरी सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है, जैवी सृष्टि का नहीं । (जो जीवों के कर्तव्यकर्म है, उनको ईश्वर नहीं करता है, किन्तु जीव ही करता है, जैसे वृक्ष, फल, ओषधि अन्नादि ईश्वरने उत्पन्न किया है, उसको लेकर मनुष्य न पीसें, न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें तो क्या ईश्वर उसके बदले इन कामोंको कभी करेगा ?) आदि सृष्टि में जीव के शरीरों और सांचे को बनाना ईश्वराधीन पश्चात् उनसे पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्तव्यकाम है । ... जो अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को बनावे तो अन्य कौन बना सके ? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता... है; जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे मातापितारूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है ।

(स० प्र० १२ श समु० द० ग्र० द्वि० भा० ५७६,५७७)

ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं ।

(स० प्र० ७ म समु० द० ग्र० द्वि० भा० पृ० २८९)

परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुखविशेष पदार्थ पूर्व-कल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं तथा सब लोकलोकान्तरों में भी बनाये गये हैं ।

(स० प्र० ८ म समु० द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ३४९)

जो कारण के बिना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता । जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है । उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप पदार्थों को इकट्ठा करता है, उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम महतत्त्व और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न भिन्न पांच सूक्ष्मभूत श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पांच ज्ञान-इन्द्रियां, वाक्-हस्त-पाद-उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं और ११ वां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है । और उन पंच-तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूल भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं । उनसे नाना प्रकारकी औषधियां, वृक्ष आदि उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है । परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती । क्योंकि जब स्त्रीपुरुषों के पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उन में जीवों का संयोग करा देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है ।

देखो ! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है, कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं । भीतर हाडों का जोड नाडियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमडी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत्, फेफडा, पंखकला का स्थान, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूल रचन, लोम नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् मन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत स्वप्न, सुषुप्ति-

अवस्था के भोगने के लिए स्थान-विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कलाकौशल स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है? इसके बिना नाना प्रकार के रत्नधातु से जडित भूमि, विविध प्रकार वटवृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण चित्र, मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, मूलनिर्माण, मिष्ट, क्षार कटुक, कटाय, तिक्त आम्लादि विविध रस सुगन्धादि युक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द, मूलादि रचन, अनेकानेक क्रोडों भूगोल सूर्यचन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता। जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान होता है। एक जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उस में रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान है। जैसा किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जङ्गल में पाया, देखा तो विदित हुआ, कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार सृष्टि में विविध रचना बनानेवाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

(स० प्र० ८ म द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३३८, ३३९, ३४०)

...पृथिवी आदि की सृष्टि प्रथम हुई, क्योंकि पृथिव्यादि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।... आदि सृष्टि में अनेक अर्थात् सैकडों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से निश्चित होता है, कि मनुष्य अनेक मांबाप के सन्तान हैं। आदि सृष्टि में...युवावस्था में...सृष्टि हुई थी, क्योंकि बालक उत्पन्न करता, तो उन के पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती, इस लिए युवावस्थामें सृष्टि की है।... जैसे दिनके पूर्व रात और रातके पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादि काल से चक्र चला आता है। इसकी आदि व अन्त नहीं।

किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त में देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि अन्त होता रहता है; क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि है; जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिए। जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना भी अनादि है, जैसे कभी ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उसके कर्तव्यकर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

(स० प्र० ८ म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३४०,३४१)

जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि और जीव के कर्म तथा कार्य-जगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं; जब प्रलय होता है, तब जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो उनके भोग कराने के लिए और फल देनेके लिये ईश्वर सृष्टि को रचाता है और अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है। ईश्वर में जो ज्ञान, बल, दया आदि और रचने की अत्यन्त शक्ति है, उनके सफल करने के लिए उसने सृष्टि रचा है; जैसे आंख देखने के लिये और कान सुनने के लिये है, वैसे ही रचनाशक्ति रचनेके लिए है। सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिये ईश्वर ने इस जगत् को रचा है, कि सब लोग सब पदार्थोंसे सुख पावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचते हैं। (सत्यधर्मविचार द० ग्र०, प्र० भा० पृ० ८२९,८३०)

एक अर्ब, छानवें क्रोड, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। ... सबसे सूक्ष्म टुकडा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओंके मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक

जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पांच द्व्यणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना आदि होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।

(स० प्र० ८ म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३४४)

उस परमेश्वर ने भूमि आदित्य और सब लोकों का धारण किया है (पृ० ३४५)।...उक्षा (सूर्य) ने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है, परन्तु सूर्यादि का धारण करनेवाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है (पृ० ३४६)। ... पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोकलोकान्तर पदार्थ तथा सूर्यादि प्रकाश-सहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण परमेश्वर करता है (पृ० ३४७)। (स० प्र० ८ म समु०द० ग्र० प्र० भा० ३४५,३४६,३४७)

जगत् का कारण (धारण० वैदिक यंत्रा- अजमेर एकविंशति संस्करण सम्वत् १९८४ वि०) अनादि है, क्योंकि वह परमाणु आदि तत्त्वस्वरूप अकर्तृक है, परन्तु उनमें नियमपूर्वक बनने वा बिगडने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है और स्वभाव से पृथक् पृथक् रूप और जड हैं, वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते; इसलिये इनका बनानेवाला चेतन अवश्य है और वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है। देखो! पृथिवीसूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त अनादि चेतन परमात्मा का काम है, जिसमें संयोग-रचनाविशेष दीखता है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता, जो कार्य जगत् को नित्य मानोगे तो उसका कारण कोई न होगा, किन्तु वही कार्यकारणरूप हो जावेगा जो ऐसा कहोगे तो अपना कार्य और कारण आप ही होने से अन्योन्याश्रय और आत्माश्रय दोष आवेगा। जैसे अपने कन्धे पर आप चढना और अपना पिता पुत्र आप नहीं हो सकता, इस लिए जगत् का कर्ता अवश्य ही मानना है।

(स० प्र० १२ श समु० द० ग्र० प्र० भा० ५८३, ५८४)

परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ३१९)

उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् को रचा है, वही इस सब जगत् का अधिष्ठान, निमित्त और साधनादि है, उसने अपने अनन्त सामर्थ्य से इस सब जगत् को यथायोग्य रचा और भूमि से लेकर स्वर्गपर्यंत रच के अपनी महिमा से अच्छादित कर रक्खा है और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। सब का भी उत्पादन, रक्षण, धारण वही करता है,

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ६१)

अविनाशी स्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के जन्म का हेतु हैं, और कोई नहीं। (आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १२)

सत् विद्यमान स्थूल जगत् असत् अविद्या चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर इस विविध जगत् की योनि आदिकारण आपको ही वेदशास्त्र और विद्वान् लोग कहते हैं (इससे इस जगत् के मातापिता आप ही हैं, हम लोगों के भजनीय इष्ट देव हैं।)

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५८)

जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ (जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान उत्पादक) है, सो ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है, वही परमात्मा पृथिवी से ले के प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रच के धारण करता है। (आर्याभि० द० ग० प्र० भा० पृ० ५३)

उत्पत्तिसमय में देने और प्रलयसमय में सब को लेनेवाला परमात्मा ही है। ... इन सब लोक-लोकान्तर भुवनों का अपने सामर्थ्य कारण में होम (प्रलय) करके नित्य अवस्थित है, फिर जब द्रव्य-रूप जगत् को स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है ... उस सामर्थ्य से यथायोग्य विविधजगत् को सहज-स्वभाव से रच देता है। (आर्याभि० द. ग्र. प्र. भा. पृ. ५९)

"... द्योतनात्मक सूर्यादि लोक ... अन्तरिक्षलोक और जल इन सबके... कर्ता आप ही हो ।

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ९)

जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे ही इस प्रत्यक्ष सृष्टिमें रचनाविशेष आदि ज्ञानादि गुणोंके प्रत्यक्ष होनेसे परमेश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है। और जब आत्मा, मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकारादि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय निश्शङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। (स० प्र० ७ म द० ग्र० प्र० भा० पृ० २८८)

द्वितीय नियम ।

" ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।"

जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुणवाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पापपुण्य के फल ठीक ठीक पहुंचाना है, उसको ईश्वर कहते हैं। (आर्योद्देश्य० रत्न सं० १)

जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टिका कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूं।

(स्वमन्तव्यामन्तव्य० प्रका० सं० १)

अविद्यादि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मोंके फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहता है।

(वेदविरुद्ध मतखण्डनम् द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ७९३)

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाववाला, कृपासागर ठीक ठीक न्यायका करनेहारा, जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकाररहित, सब के घट घट का जाननेवाला, सब का धर्ता पिता, उत्पादक अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्ध स्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामीस्वरूप हम को दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटाके श्रेष्ठाचार सत्य मार्ग में चलावें, उसको छोडकर किसी दूसरी

वस्तु का ध्यान हम लोग न करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता राजा न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

(स० प्र० ३ य समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १२२)

सो ईश्वर ही सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्ट देव है, अन्य कोई नहीं। ... सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते। किन्तु इन सबका प्रकाश करनेवाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है।.. ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतंत्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ३३६)

जो सब जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान, सबका इष्ट, सब को उपासना के योग्य, सबके धारण करनेवाला, सबमें व्यापक और सब का कारण है, जिसका आदि-अन्त नहीं है और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इससे भिन्न को इष्टदेव मानता है, उसको अनार्य अर्थात् अनाडी कहना चाहिए। परमेश्वर जो सबका आत्मा है, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी चाहिए।(पृ० ३४२)

पूर्वोक्त वसु (रुद्र, आदित्य) आदि देवता परमेश्वर के हि प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक पूज्य देव है। (पृ० ३४३)

वेदोंमें जहां जहां उपासना-व्यवहार लिया है, वहां वहां एक अद्वितीय परमेश्वरका ही ग्रहण है। (पृ० ३४५)

[ऋग्वेदादि द० ग० द्वि० ग्र० भा० पृ० ३४२-३४५]

जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं और राजा के आधीन प्रजा होती है, वैसे ही परमेश्वर के आधीन जीव और जड पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनाने, जीवों के कर्मफलों को देने, सब का यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो अल्प सामर्थ्य भी और जड पदार्थ उस के आधीन क्यों न हों? इसलिए जीव कर्म करने में स्वतंत्र परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र है, वैसे ही सर्वशक्तिमान सृष्टि-संहार और पालन सब विश्व का करता है।

[स० प्र० ८ म समु० प्र० भा० द० ग्र० पृ० ४५०]

स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ की ही की जाति है। श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारोंमें सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठोंमें भी जो अत्यंत श्रेष्ठ, उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वरके सत्य, न्याय, दया सर्व सामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड पदार्थ व जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य हैं, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं, इस लिये मनुष्यों को योग्य है, कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान, दैत्यदानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी है, उससे भिन्न की नहीं की।

[स० प्र० ८ म समु० प्र० भा० द० ग्र० पृ० ९२]

जीव के सदृश कभी ईश्वर नहीं बनता, क्योंकि सर्वशक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्त स्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म-मरण, हर्ष-शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्दोषी, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्माको छोडकर जन्ममरण-युक्त कृष्ण की उपासना करनी ... ... अयोग्य है।

(स्वामी नारायण-मतखण्डन, द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ८३८)

उपनिषद् में कहा है, कि एक ही देव ईश्वर सब

भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है, सबका अन्तर्यामी, सबका अध्यक्ष सब प्राणी-अप्राणी जगत् का निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतन केवल एक और निर्गुण है (पृ० ७९३)। इस प्रमाण से ब्रह्मा देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं, क्योंकि एक वही ईश्वर देव ऐसा कहा है (पृ० ७९४।) ... ...

(वेदविरुद्ध मतखण्डनम्, द० ग्र०, द्वि० भा० पृ० ७९३, ७९४)

प्रजापति जो परमात्मा उसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत् करें, उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें, जो परमात्मा को छोड के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है उसकी और उस देशभर की अत्यन्त दुर्दशा होती है, यह प्रसिद्ध है, इससे चेतो मनुष्यों! जो तुम को सुख की इच्छा हो, तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो, अन्यथा तुम को कभी सुख न होगा।

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५३, ५४)

इस चराचर विस्तीर्ण जगत् को रचके अनन्त-स्वरूप से अच्छादित करता है और अन्तर्यामी साक्षीस्वरूप उसमें प्रविष्ट हो रहा है, अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है, वही हमारा निश्चित पिता है, उसकी सेवा छोड के जो मनुष्य अन्य मूर्त्यादि की सेवा करता है, वह कृतघ्नत्वादि महादोषयुक्त होके सदैव दुःखभागी होता है; जो मनुष्य परमदयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है।

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५३, ५४)

ईश्वर सबको उत्पन्न करके सब में व्यापक होके अन्तर्यामी रूपसे सबके पापपुण्यों को देखता हुआ पक्षपात छोड के सत्य-न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है, ऐसा निश्चित जानके ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है, कि मन, वचन और कर्मसे पाप-कर्मों को कभी न करें। ... ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है, इससे पापकर्मोंका आचरण मनुष्यलोग सर्वथा छोड देवें।

(प० म० य० वि०; द० ग्र०, प्र० भा० पृ० ८५६)

ब्रह्म और जीव की एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है, जीव अविद्यादि दोषयुक्त है, ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त नहीं है, इस से यह निश्चित है, कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न हैं। किंच व्याप्यव्यापक, आधाराधेय, सेव्यसेवकादि सम्बन्ध तो जीव के साथ ब्रह्म का है, इससे जीवब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं।

(अर्याभि० द० ग्र०, प्र० भा०, पृ० ६१)

जैसे करुणामय पिता अपने पुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रखो, क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे, तो उन आपकी शोभा नहीं होना। किंच सन्तानों को सुधारने से ही पिता की शोभा और बढाई होती है, अन्यथा नहीं।

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५०)

आपके पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे, तभी आप पिता की शोभा है, क्योंकि लडके लोग छोटी व बडी चीज अथवा सुख पिता-माता को छोड किससे मांगे?

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ६२)

जब सत्य मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य में परमेश्वर को जीव भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घरके ऊपर से अपने मातापिता के पास नीचे आना चाहता है वा नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यकता के कामों को भी मातापिता छोड कर और दौड कर अपने लडके को उठा कर गोद में लेते हैं, कि हमारा लडका कहीं गिर पडेगा, तो उसको चोट लगने से दुःख होगा और जैसे मातापिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं।

वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब अनन्त-शक्ति रूप हाथों से उस जीव को उठा कर अपनी गोद में सदा के लिये रखता है, फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है, और वह सदा आनन्द में रहता है।

(सत्यधर्मविचार द० ग्र० प्र० भा० पृ० ८३९)

जिसकी दृष्टि में सर्वदृक् सर्ववक्ता सर्वाधारक और सर्वगत ईश्वरव्यापक है, उसी से जब डरेगा, तभी धर्मात्मा होगा, अन्यथा कभी नहीं; वही विश्वकर्ता परमात्मा एक ही अद्वितीय है, पृथिवी से लेकर स्वर्गपर्यंत जगत्‌का कर्ता है, जिस जिसने जैसा जैसा पाप व पुण्य किया है, उस उसको न्यायकारी दयालु जगत्पिता पक्षपात छोड के अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से सम्यग् प्राप्त होनेवाले सुखदुःखफल दोनों से प्राप्त सब जीवों को यथायोग्य जन्ममरणादि को प्राप्त करा रहा है, उसी निराकार अज अनन्त सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय ईश्वरसे अन्यको कभी न मानना चाहिए। वही वाचनीय, पूजनीय हमारा प्रभु स्वामी इष्टदेव है, उसी से सुख हम को होगा, अन्य से नहीं।

[आर्याभि द० ग्र० प्र० भा० पृ० ६२-६३]

यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है; जो मनुष्य इसको छोड के दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है, इससे प्रेम में अत्यन्त मग्न होके अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड के स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें।

[पंचमहायज्ञ द० ग्र० प्र० भा० पृ० ८६५]

सब लोगोंको चाहिए, कि सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकरी, व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर की ही सदा उपासना करें, जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्य-देहरूपवृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। ... ...

हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपासे जो जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके समर्पण हैं, जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है और मोक्ष जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है। इन चार पदार्थोंकी सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो।

(पंचमहायज्ञ० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ८६८, ८६९)

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिए। अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके, उतना किया करें। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है (पृ०२९४)। ... सृष्टि के बीच में जितने प्राणी व अप्राणी हैं, वे सब अपने अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढते घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय्य दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय्य ईश्वर भी करता है।

... परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहाय्यक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई गुड मीठा है, ऐसा कहता है, उसको गुड प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र व विलम्ब से गुड मिल ही जाता है (पृ० २९५)। (स० प्र० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २९४-२९५)

जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है। (स० प्र० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २९७)

जो ईश्वर (वा किसी दूसरे पदार्थ) के गुण, ज्ञान, कथन, श्रवण और सत्यभाषण करना है, वह स्तुति कहाती है। ... जो गुण ज्ञान आदिके करने से गुण-वाले पदार्थों में प्रीति होती है, वह स्तुति का फल कहाता है । (आर्योद्दे० ... रत्न सं० २१, २२)

'स्तुति,' गुण-कीर्त्तन (पृ० ८९३) श्रवण और ज्ञान होना, इसका फल प्रीति आदि होते हैं ।

(स्वमन्त० प्रकाश सं०; ४८)

अपने पूर्ण पुरुषार्थके उपरान्त (पृ० ७९५) उत्तम कर्मोंकी सिद्धिके लिए परमेश्वर (वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य) के सहाय्य लेनेको प्रार्थना कहते हैं। ... अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुणग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना प्रार्थना का फल है ।

(आर्योद्दे... स० प्र० द० प्र० प्र० भा० रत्न सं०, २४,२५)

"प्रार्थना" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के (पृ० ८९३) सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होना है।

(स्वमन्तव्याम. ... प्र. सं. ४९)

जिससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप (पृ. ७९५) में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं। (आर्योद्दे. ... र. सं. २६)

'उपासना' जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है. ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती है; इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ।

(स्वमन्तव्याम. ... प्र० सं०)

(प्रश्न) ईश्वर के जन्ममरण होते हैं वा नहीं? (पृ० ७९५)

(उत्तर) भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिए अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वांतर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निष्कल निष्कम्प है। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह सब न्याययुक्त कार्य बिना सहाय को करने को समर्थ है. फिर जो शरीर-धारणादि सहाय से कार्य कर सके अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । जैसे बिना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष रावण और कंसादि को मारने को, बिना शरीरादि सहाय के समर्थ है, तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टोंका (पृ० ७८९) विनाश कर सकता है। ... प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है, जिस में वह समा जावे, उससे बडा कोई भी नहीं, यह सब वेदशास्त्र से सिद्ध है, तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है। (पृं० ७९०)

[आगे प्रमाण दिये गये हैं।]

... ईश्वर का अवतार अर्थात् जन्ममरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिए।

(प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार?

(उ०) जो निराकार होनेमें तुमको शङ्का है, कि जो निराकार हो, तो उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके और हाथ आदि साधन के बिना कैसे जगत् को रच सके, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं, इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है। जैसे प्रमाण- उस ही इस आत्मा से, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है, इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार हैं। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु और तिगुना स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है। इत्यादि प्रकार

निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है।... (यहां श्रुति प्रमाण दिये हैं) श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के बिना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में है। (पृ० ७९२)

(वेदविरुद्धमतखण्डनम् द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ७८९-७९२)

(प्र०) ईश्वर व्यापक है व किसी देश विशेष में रहता है ?

(उ०) व्यापक है; क्योंकि जो एकदेश में रहता, तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया का असम्भव है।

(प्र०) परमेश्वर दयालु, वह न्यायकारी है वा नहीं ?

(उ०) है।

(प्र०) ये दोनों गुण परस्परविरुद्ध हैं, जो न्याय करे तो दया, और दया करे तो न्याय, छूट जाय। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं, कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुखदुःख पहुंचाना। और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिए छोड देना। (उ०) न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है, कि मनुष्य आपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है, जो पराये दुःखों को छुडाना। और जैसा अर्थ दया और न्यायका तुमने किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को (पृ० २८८) दण्ड न दिया जाय, तो दयाका नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। ... दया वही है, कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करनेसे बचाना, उस डाकू पर उस डाकू को मार देनेसे अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है। ... देखो ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है, कि जिसने सब जीवोंके प्रयोजन सिद्ध होनेके अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं।... अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है, कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है, कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धनच्छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है, कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

(प्र०) ईश्वर साकार है वा निराकार ?

(उ०) निराकार; क्योंकि जो साकार होता, तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञत्वादि गुण भी उसमें न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं, तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता।

जो साकार हो, तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिए। क्योंकि जो संयोगसे उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करनेवाला (पृ० २८९) निराकार, चेतन अवश्य होना चाहिए। जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वरने स्वेच्छासे आप ही आप अपना शरीर बना लिया, तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

(प्र०) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं ?

(उ०) है।... किन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ यही है, कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्यपाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूरा कर लेता है।

... जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं, कि परमेश्वर अपने

को मार, अनेक ईश्वर बना स्वयं अविद्वान् चोरी-व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है, कि वह सब कुछ कर सकता है, यह कभी नहीं घट सकता। ... (प्र०) परमेश्वर सादि है वा अनादि? (उ०) अनादि अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको अनादि कहते हैं। ...परमेश्वर सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है, परन्तु स्वतंत्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता। ...परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए। ... ... ईश्वर अपना नियम छोड स्तुति, प्रार्थना करनेवालेका पाप नहीं छुडा देगा। ... उनके करने का फल अन्य ही है। ... स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना, प्रार्थनासे (पृ० २९०) निरभिमानता. उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मिल और उसका साक्षात्कार होना।

(स० प्र० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २८८-२९१)

उपासना दो प्रकार की है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण जगत्का रचनेवाला वीर्यवान् तथा शुद्ध कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अ-स्नाविर० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहता है। ... ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सबका आधार, सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका स्वामी इत्यादि (पृ० ४८५) सत्य गुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि की संख्या नहीं बन सकती, जो लम्बा चौडा और हलका भारी कभी नहीं होता, इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं। ... (जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करनेसे सगुण और देह-त्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेदशास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये।)

(ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ४८५-४८६)

... वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन स्वयंसिद्ध, परमेश्वर ... है, यह सगुण-स्तुति अर्थात् जिस जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना, यह सगुण, ... वह कभी शरीरधारण वा जन्म नहीं लेता, जिस में छिद्र नहीं होता, नाडी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता। जिस में क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस जिस रागद्वेषादि गुणों से पृथक् मान कर परमेश्वर की स्तुति करना है. वह निर्गुण-स्तुति है। इसका फल यह है, कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण कर्मस्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाण्ड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

(स० प्र० ७ म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २९१)

... जिस जिस दोष व दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेध-मुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना।

(स. प्र. ७ म समु द. ग्र. प्र. भा. पृ. २९४)

सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अति सूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ, स्थित हो जाना निर्गुणोपासना कहाती है। इसका फल-जैसे शीत से आतुर

पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत-निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे... आत्मा का बल इतना बढेगा, वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी नहीं घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा।

(स. प्र ७ म समु द. ग्र भा. पृ. २९७)

विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर पश्चात् प्रार्थना करें अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहें।... तदनन्तर ईश्वर की उपासना करें। सो दो प्रकार की है, एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सबका उत्पादक, धारण करनेहारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन ज्ञान और आनन्दस्वरूप है; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों को देनेवाला, सबका पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश है, इत्यादि।

ईश्वर के गुण विचारपूर्वक उपासना करने का नाम सगुणोपासना है, तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिए. कि ईश्वर अनादि-अनन्त है- जिस का आदि और अन्त नहीं, अजन्मा, अमृत्यु-जिसका जन्म और मरण नहीं; निराकार, निर्विकार जिसका आकार और जिसमें कोई विकार नहीं; जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं है; जिसका परिमाण, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता; जो ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता; जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता, इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जानके ध्यान करना, वह निर्गुणोपासना कहाती है (पृ० ८५७...)। मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा के बीचमें जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिए, जैसा गोताखोर जल में डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीवलोग अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें।

(पंचमहा०, द० ग्र०, प्र० भा०, पृ० ८५७, ८५८)

(प्र०) ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ?

(उ०) ईश्वर सगुण,-निर्गुण दोनों प्रकार से हैं, यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है, ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणोंसे सगुण और जन्ममरण, जडपन, अज्ञान आदि गुणोंसे पृथक् होनेसे निर्गुण भी वह है।

(वेदविरुद्धमतखण्डनम् द० ग्र०, द्वि० भा०, पृ० ७९३)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हलका, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर उसकी उपासना करनी ही उसको निर्गुणोपासना कहते हैं।

जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनंद, सर्वव्यापक, एक सनातन सर्वकर्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो सगुणोपासना कहाती है। (आर्योद्देश्य. द. ग्र., प्र. भा., रत्नसं. २७,२८)

जो जो गुण परमेश्वरमें हैं, उनसे युक्त और जो जो नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना, सगुण-निर्गुण-स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुडाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुण-प्रार्थना और सब गुणों से रहित सब, दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुणनिर्गुणोपासना होती है।

(स्वमन्तव्या०, द. ग्र., प्र. भा. प्र. सं. ५१)

'गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः'
यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुणईश्वरः ॥'

जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि, जड के गुण, अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है, इस में 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम निर्गुण है। "यो गुणैः सह वर्तते स सगुणः" जो सबका ज्ञान सर्वसुख पवित्रता अनन्त बलादि गुणोंसे युक्त है, इस लिये परमेश्वर का नाम सगुण है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणोंसे 'सगुण' और इच्छादि गुणोंसे रहित होने से निर्गुण है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है। ... ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण, वैसे ही जड के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से सगुण।

(स. प्र. १ म समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १०३-१०४)

'ओ३म्' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ विचार कर नित्यप्रति जप किया करे। अपनी आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे।

(स. प्र. ७ म समु, द. ग्र. प्र. भा. पृ. २९६)

यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। (स. प्र. १ म समु. द. ग्र. प्र भा. पृ. ८५)

ओ३म् जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं। ...सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं। क्योंकि सब वेद सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम 'ओ३म्' है।

(स० प्र० ७ म समु०, द. ग्र. प्र. भा. पृ. ८१)

इन (मनु, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण आदि) नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि ओ३म् और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। ...परन्तु 'ओ३म्' यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और 'अग्नि' आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। ... जहां जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। (पृ० ८९) और ... जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड, दृश्य, आदि विशेषण भी लिखे हों, वहां वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। (स० प्र० १ म समु० द० ग्र० प्र० भा०, पृ० ८९-९०)

जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पितापुत्र के सम्बन्ध के समान है। और यह नाम ईश्वर को छोड के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है। ... इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये।

(ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ४६९-४७०)

जैसे परमेश्वरके अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक एक नाम है।

(स० प्र० १ म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १०६)

आप हमको अत्यन्त सुख देओ, जो कुछ मांगेंगे सो आप से ही हम लोग मांगेंगे; सब सुखोंका देनेवाला अपके बिना कोई नहीं है, सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है अन्य किसी का नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय सब से बडे पिता को छोड के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे, आपका तो स्वभाव ही है, कि अंगीकृत को कभी

नहीं छोडते सो आप सदैव हमको सुख देंगे, यह दृढ निश्चय है। (पृ० २)

विद्या पढे हुए प्राचीन और वेदार्थ पढनेवाले नवीन और जो हम लोग मनुष्य विद्वान् वा मूर्ख हैं, उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो। (पृ० ४)

...जिसके आप सगे मित्र हो... वह कभी विनष्ट नहीं होता... जो आपका मित्र और जिसके आप मित्र हो, उसको दुःख क्यों कर हो ? (पृ० १४)

इन्द्रियों के साथ वर्तमान कर्मों का भोक्ता जो जीव इसका वही एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता, इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिए। (पृ० १६)

हे सर्वरक्षकेश्वर ! आप सर्वरक्षण अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं की रक्षा करनेहारे हैं। जिन पर आप रक्षक हो, उनको सदैव भद्रकल्याण (परम सुख) प्राप्त होता है, अन्य को नहीं। (पृ० १९)

हमको सम्पूर्ण दुःसह दुःखोंसे पार करके आप नित्य सुख को प्राप्त करो (कराओ), जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र से पार होने के लिए नौका होती है, वैसे ही हमको सब पापजनित अत्यन्त पीडाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में ही (भी) परम सुख को शीघ्र प्राप्त करो (कराओ)। (पृ० २२)

हम को दृढ निश्चय है, कि आपके बिना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता, आपको छोड के दूसरे का ध्यान व याचना जो करते हैं, उन के सब काम नष्ट हो जाते हैं। (पृ० २३) हे जगदुत्पादकेश्वर! आपको शास्त्रवित् हम लोग स्तुतिसमूह से सर्वोपरि विराजमान मानते हैं, क्योंकि हमको सुन्दर सुख देनेवाले आप ही हो, सो कृपा करके हम को (में) आप आवेश (प्रवेश) करो, जिससे हम लोग अविद्याअन्धकार से छूट विद्यासूर्य को प्राप्त होके आनन्दित हों। (पृ० २४)

हे... सौम्य सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके... हमारे हृदय में यथावत् रमण करो। जैसे सूर्य की किरण, विद्वानों का मन और गाय पशु अपने अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं वा जैसे मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिए, जिससे हमको यथार्थ सर्व ज्ञान और आनन्द हो। (पृ० २४)

हे प्रियबन्धु विद्वानो ! ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्यके समान प्रकाश कर रहा है... जो सब जगत् का परममित्र अर्थात् जैसे प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे हम लोगों का पालनकर्ता वही एक है और कोई भी नहीं, जो जन... ईश्वराभिमुख हैं वे ही सुख में सदा स्थिर रहते हैं वा जैसे पुत्रलोग अपने पिता के घर में सदा सुखी रहते हैं, परन्तु जो अनन्यचित्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं, जैसे कि अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी रातदिन तनमनधन और अति प्रेम से अनुकूल रहती है वैसे प्रेम प्रीतियुक्त होके आओ भाई लोगो ! ईश्वर की भक्ति करें और अपने सब मिलके परमात्मा से परमसुख लाभ उठावें। (पृ० ३०)

...आप से अन्य (भिन्न) विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आप के सामर्थ्य से (प्रलय में) प्रवेश करता है, (कार्य सब कारणात्मक होता है), उस समय भी आप हमारी रक्षा करो। जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्य से चलित होके उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीडाओं से आप हमारी रक्षा करें। ...आप सब जगत् में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो, परन्तु सूर्यवत् हमारे हृदय में कृपा करके प्रकाशित होओ जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो। (पृ० ३१)

आपकी स्तुति, आपका उपदेश, आपकी प्रार्थना और उपासना तथा आपका यह बडा अखण्ड साम्राज्य और सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें, सुनें और आपके अनुग्रहसे परमानन्द को भोगें। (पृ० ३५)

...आपकी कृपासे हम लोग सदैव आपकी ही स्तुति,

प्रार्थना और उपासना करें, तथा आपको ही पिता, माता, बन्धुराजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद् परमगुर्वादि जानें। क्षणमात्र भी आपको भूलके न रहें, आपके तुल्य व अधिक किसी को कभी न जानें।(पृ० ३६)

हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं। एक आध्यात्मिक (शारीरिक) ...दूसरा आधि-भौतिक...तीसरा आधिदैविक...हे कृपासागर ! आप इन तीनों तापों को शीघ्रनिवृत्त करें जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें। ...हे ईश्वर ! कुकाम कुलोभादि दुष्ट दोषों को कृपा से छुडा के श्रेष्ठ कामों में यथावत् मुझको स्थिर कर, मैं अत्यन्त दीन हो के यही मांगता हूँ, कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ, हे प्राणपते ! प्राणप्रिय, प्राणपितः, प्राणाधार, (पृ० ३८) प्राणजीवन, सुरा-ज्यप्रद ! मेरे आप ही हो मेरा सहायक आपके विना कोई नहीं है। हे न्यायप्रिय ! हमको भी न्यायप्रिय यथा-वत् कर। हे धर्माधीश ! हमको धर्ममें स्थिर रख। हे करुणामय पिता ! जैसे माता और पिता अपने संतानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन करो। (पृ० ३९)

अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वरभक्तिरहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से ईश्वर बहुत दूर है, अर्थात् वे कोटि कोटी वर्षतक उसको नहीं प्राप्त होते, इससे वे तब तक जन्ममरणादि दुःखसागर में इधर घूमते फिरते हैं, जब तक उसको नहीं जानते। सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनो-पकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषोंके अत्यन्त निकट है, किंच वह सबके आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है, वह आत्मा का भी आत्मा है, क्योंकि परमेश्वर सब जगत्के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके बिना नहीं है, वह अखण्डैकरस सब में व्यापक हो रहा है, उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं (पृ० ४६)

(आर्याभि० द० ग्र० प्र० भा०, पृ० २ से ४८ तक)

हे परमात्मभक्त जीवो। अपना इष्ट जो परमे-श्वर सो प्रजा, धन, जनपद और सुराज्यका बढाने-वाला है। शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन विनाश करनेवाला है। सब पृथिव्यादि वस्तुओं का जाननेवाला है, सर्वज्ञ और विद्यादि धन का दाता है। अपने (हमारे) शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि को बढानेवाला है। सुन्दर यथावत् सबका मित्र वही है, सो अपने (हम) उससे यह मांगें कि हे सर्वजगदुत्पादक ! आप ही कृपा करके हमारे सुमित्र हो और हम भी सब जीवोंके मित्र हों, तथा अत्यन्त मित्रता आपसे भी रक्खें। (पृ० २५)

ऐसा अभागी कौन मनुष्य है, कि जो सर्वज्ञ न्याय-कारी सबके पिता एक परमेश्वर को छोडके दूसरे की उपासना करें और राजा माने।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वि० भा० पृ० ८५३)

हे मनुष्यो ! उस अग्नि की स्तुति करो, जो सब कार्योंसे पहिले वर्तमान और सबका मुख्य कारण है। सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करनेवाला) सबका जनक है। हे मनुष्यो ! उसी को स्वामी मानकर प्राप्त होओ। जिसको ... विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं और जानते हैं। पृथिव्यादि जगद्रूप अन्न का ... पालन करनेवाला तथा ... उसी अन्न का पोषण और धारण करनेवाला है। ... सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है। उसी को देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते हैं, और धारण करते हैं। वही सब जगत् का द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न-जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देनेवाला है। उस अग्नि परमात्मा को छोड के अन्य किसी की भी भक्ति, याचना कभी किसी को नहीं करनी चाहिए। (पृ० २६)

हे मनुष्यो ! जो सब जगत् (स्थावर) जड अप्राणी का और चेतनावाले जगत् का अधिष्ठाता और पालक है, तथा जो सब जगत् के प्रथम सदा से है ... आओ मित्रो ! (पृ० २८)

भाई लोगों! अपने (हम) सब संप्रीति से मिलके परमानन्द बलवाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्‌गद्‌ होके बुलावें, वह शीघ्र ही कृपा करके अपने (हमारे) से सखित्व (परममित्रता) करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। (पृ० २९)

हे सज्जन मित्रो! वही एक परम सुखदायक पिता है; अपने (हम) सब मिलके प्रेम, विश्वास और भक्ति करें, कभी उसको छोड अन्य को उपास्य न मानें, वह अपने को अत्यन्त सुख देगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। (पृ० ७२)

ईश्वर जो निराकार सर्वानन्दप्रद है, हे मनुष्यो! उसको मत भूलो, बिना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है। (पृ० ७३)

[आर्याभिविनिय, द० प्र०; प्र० भा०; पृ० २५-७३]

खोजके पथ पर,

[लेखक- श्रो० पं० दीनानाथजी शास्त्री चुलैट, इन्दौर]

(लेखांक २ रा +)

देव और दानवोंका भेद।

प्रिय पाठक! देव और दानवोंका भेद दिखानेके पूर्व देव और देवोंके कार्यका परिचय देना परमावश्यक है। मनुष्य प्रथम अपनेको देखे। हम जिस जगह बैठकर इनको सोचनेका विचार कर रहे हैं, वह एक कमरा है। कमरा किसी घरके कोनेमें है। घर किसी एक मोहल्लेमें है, मोहल्ला किसी गांवमें है और गांव किसी प्रान्तमें है। प्रान्त किसी एक खण्डमें है, खण्ड किसी एक गोलार्धमें है। वैसे ही गोलार्ध एक पृथ्वी पिंडमें है। और यह पृथ्वी इस अनन्त आकाशके किसी एक कोनेमें खस-खसके समान है। न जाने ऐसे कई अनन्त कोटि पिंड हैं, जो इस अनन्त आकाशकी गोदमें इन पर भ्रमरोंकी तरह अहर्निश भ्रमण कर रहे हैं।

आकाश सबसे बडा महत्तत्त्व है, जो सुईके छोटे छिद्रसे लेकर समस्त ब्रह्माण्डमें फैला हुआ है - Heaven is the store of all things- (आकाश हर वस्तुका भाण्डार है।) संसारकी हर वस्तु यहींसे आती और यही विलीन हो जाती है। यह सब आगम-निगम आकाशकी गोदकी लीला है। आकाशके कई एक नाम हैं-आकाश-नभ-व्योम-शून्य-ख-अम्बर- अन्तरिक्ष-द्यौ-आसमान आदि नाम भारतमें कहे जाते हैं। पाश्चिमात्योंमें- The sky, the abode of God and the blessed वैकुण्ठ-स्वर्ग, The Supreme being परमेश्वर, In the Seventh-in a good deal of happiness अति प्रसन्नतामें-परमसुखमें-सातवें स्वर्गमें और pertaining to heaven, celestial; devine; Blissful; वैकुण्ठ धाम'स्वर्गीय, दिव्य, उत्तम, अन्तरिक्ष, सम्बन्धमें Heavenliness शब्द प्रयोजित करते हैं। आकाशके लिये वेदोंमें अनेक उपमा दी गयी हैं। स्थानाभावसे यहां सारा उल्लेख नहीं हो सकता तो भी थोडेसेमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदिका कोई ठिकाना हो तो आकाश ही है। वेदोंमें आकाशको समुद्रसमान विस्तृत और फैला हुआ कहा है। "द्यौः समुद्रसमं सरः" (यजु० २३-४७) —आकाश समुद्रके समान सरोवर है।

+ लेखांक १ ला 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२४, पृ० ६१५ पर देखिये।

सलिलं वा इदमंतरासीत्। यदतरन्। तत्तारकाणां तारकत्वं यो वा इयं सचते अमुम् सलोकम् नक्षत्रे। तन्नक्षत्राणाम् नक्षत्रत्वम्। देवगृहा वै नक्षत्राणि।
(तै० ब्रा० १-५-२)

उक्त समुद्रतुल्य अफाट आकाशको जिन (तारु) नौकाओंके सहारे हम तैर सकते हैं, वह तारका (तारे) कहाते हैं। इन्हीं तारोंके आधार पर जो कोई प्रयोग या नाप करते हैं, वह कार्य अ-चूक होता है। क्योंकि नक्षत्र यह दिव्य ज्योतिरूप देव-मंदिर है। इतना ही नहीं तो ये सर्व शक्तिमान ऐसे दिव्य शक्ति गृह (Power--House) हैं।

इन सब दिव्य ज्योतियोंमें सर्व शक्तिमान, सब से बडा अधिकारी सूर्य है। " सूर्यः आत्मा जगतः तस्थुषश्च"- सूर्य यह जगत् और अखिल ब्रह्माण्डका आत्मा है। आकाशके जिस मैदानमें (नक्षत्र-प्रान्तमें) सूर्य देव स्थित रहते हैं, वहांके तमाम प्रदेश भरके अन्दर बडी तेजीकी आन्दोलन गति पैदा होती है। इस आन्दोलन का प्रभाव तेजपुंज देवताओं पर होता है। वे अपने आधिपत्यमें सौंपी गयी शक्तियोंको जो भी धारण किए हुए हैं, तो भी अपने स्थित अणु-रेणु-परिमाणुओंके प्रवाहको वे तब तक नहीं छोडते, जब तक सूर्य रश्मियों द्वारा पन्हाई न जाय। अर्थात् मर्यादामय नक्षत्रपुंजोंको पहनानेका कार्य सूर्य के सुपुर्द है।

चित्पतिर्मा पुनातु देवो वा सविता पुनातु त्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्र पूतस्य यत् कामाः पुने तच्छकेयम्॥ (वा० सं० ४-४)

यही अपनी रश्मि-किरणों द्वारा तमाम जगत्-व्यापी तत्त्वोंको-फिर वह जड हो या चेतन सबको-जागृत करते हैं। हर एक परिमाणु को यहां भेजना या वापिस अपनी जगह बुलानेका कार्य सूर्यदेव सदा ही अपनी किरणों के सहारे करते हैं। इनके रश्मि किरण हमारे चूल्हे के पाससे लेकर सूर्य तक नव करोड मील दूरी तककी सीधी कक्षायें सडक के बतौर हैं, जो बेखटके परिमाणुमय द्रव्योंको लाने और ले जानेका कार्य अहर्निश करते हैं।

भौतिक शास्त्रके हर एक वैज्ञानिक विद्यार्थीको यह बात अच्छी तरह ज्ञात है, कि आकाश हमें जैसा थोथा दीखता है, वास्तव में वह वैसा थोथा नहीं है। आकाश में तो सृष्ट पदार्थोंको निर्माण करनेवाली अणु-रेणु-परिमाणुमय शक्ति ओतप्रोत है। अर्थात् पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और आकाश यह पंचतत्त्व इसी आकाश की गोदमें भरे पड़े हैं। यह सदा विरल एवं उत्ताल तरंगोंमें झोके खानेकी अवस्थामें लहरें खाते रहते हैं। और वायुकी थपेडोंसे इतस्ततः आसानीसे भ्रमण करते हैं। यह विषय वैज्ञानिकोंने आज तय कर रखा है। वेदोंमें यही बातें पहिलेहीसे तय हैं। अब देखना यह है, कि भौतिक शास्त्रके अनुसार आज हमें संसार में जितनी भी सृष्टि-वस्तु उत्पन्न हुई दीखती हैं, वे प्रायः गोल-पिंडाकार-लंबगोल इसी अवस्थामें बद्ध करी हुई मिलती हैं। उदाहरणके लिए पानीकी एक बूंद भी कहीं देखें, तो वह समवृत्त गोल ऐसी ही बिन्दुरूपमें दिखेगी। यह गणितशास्त्रका अबाधित सिद्धान्त है, कि बिन्दु छोटा हो या बडा, जो गोलाकार है, वह ३६० डिग्री (अंश) से कसा हुआ है, इसीसे यह ३६० अंश छोटेसे छोटे बिन्दुसे लेकर तमाम आकाशको नापनेकी ताकत रखते हैं। अतः यह बात निःसन्देह है, कि संसारकी प्रत्येक सृष्ट वस्तु और स्वेदज, अण्डज, जारज, उद्भिज आदि जीव अण्डेके रूपमें ही संसार में प्रवृत्त होते हैं और ' खं ' ब्रह्मरूप गोल-वृत्तवाले आकाश ही निवृत्त होते हैं।

यह बात स्पष्ट है, कि आकाश से सृष्ट पदार्थ एकाएक नहीं बरसते, जैसे- गेहूँ, चावल आदि की वर्षा आकाश से एकाएक नहीं होती- इनके आगमन मार्ग की कई मर्यादा बांध रखी है, वे अपने अपने अधिकारियों को सौंपते सौंपते कई संस्कार पाते पर सृष्ट पदार्थरूप में कई प्रकारांतर पाकर पदार्थ-रूप में आते हैं। जैसे—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे

मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे
वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे॥
(वाज० संहिता ३९-६)

प्रथम में हर एक द्रव्य को सविता देव पन्हाते हैं, दूसरी बार अग्नि के सुपुर्द करते हैं, तीसरी बार अग्नि वायुकी तरफ भेजता है। वायु उसे किरणों में चौथे बार समाविष्ट करता है। पांचवी बार औषधि के अधिपति चन्द्रमाको सौंपते हैं। चन्द्रमा फिर द्रव्यों को छठी बार ऋतुओं के सुपुर्द करते हैं। सातवीं बार ऋतु उन्हें मेघमण्डलों के सुपुर्द करते हैं। आठवीं बार मेघ-मण्डल जो बीज जमीन में बोये गये हैं, उनमें रवानगी करते हैं। नवीं बार पृथ्वीका गन्धत्व उसको गोदीमें लेता है। दसवीं बार वह तमाम परिमाणुओं को अपने में ओतप्रोत करता है। ग्यारहवीं बार उपयोग में आने योग्य बाजारोंमें हाटमें वह द्रव्य आता है और बारहवी बार उसका वास्तविक तत्त्व उपभोग के आनेके साथ-ही साथ विश्वरूप पूर्व स्थल पर खींच जाता है।

सृष्ट पदार्थों के आनेका जो क्रम है, ठीक वही क्रम जानेका है। अर्थात् जिसका नाश हम इस स्थूल नेत्रोंसे देखते हैं, वास्तव में वह पदार्थों का रूपान्तर है, नाश नहीं; क्योंकि वह जिस स्थूल रूपमें द्रव्यरूप हमें दीखता है, वह एकाएक आकाश में उड नहीं जाता। वह प्रथम अग्नि में फिर वायु में तत्पश्चात् क्रमक्रम से हर एक अधिकारियों की तरफसे होते हुए अपने निज स्थल पर एक परमाणु जाकर रहता है।

इस उदाहरण से पाठक ठीक रीतिसे समझ गये होंगे, कि तमाम सृष्ट पदार्थों का परमाणुरूप आगम-निर्गम बिना अधिकारियों के नहीं होने पाता। अतः यह बात निस्सन्देह है, कि विश्वके समस्त परमाणुओंकी रवानगी का अधिकार उन्हीं के सुपुर्द है, जो आकाश में दैदीप्यमान देवता कहाते हैं।

अब हमें यह देखना आवश्यक हो गया है, कि आकाश में देवता रहते हैं, तो इसका नाप कैसे हो?

इस प्रश्नपर यहां यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि केवल ऊँगलीसे पूर्व-पश्चिम, दक्षिणोत्तर दिखाना जैसा आसान है, वैसा किसी गोलवृत्त-पर ठीक पूर्वकी जगह पाइंट (चिन्ह) लगाना आसन नहीं। यह बडी टेढी समस्या है। किसीभी तत्त्ववेत्ताको कलम हाथमें देकर कहा जाय, कि महाशयजी इस वृत्त पर ठीक पूर्व-दिशाका उद्बोधक पाईंट (निशानबिन्दु) लगाइये तो उनकी कलम हाथहीमें रह जायगी, और कई प्रश्न एकदम दिलमें खडे हो जावेंगे। उठाई हुई कलमको विवश होकर पुनः जमीन पर पटक देना पडेगा। और कई विषयों और अनेक शंकाओं का हल करनेके पीछे पडना पडेगा, तब कहीं वह ठीक पाइंटपर निशान लगा सकेंगे।

इसी प्रकार आकाशमें ठीक पूर्व दिशाका नाम करना तो और भी अधिक टेढी समस्या है, क्योंकि इसकी ठीक-ठीक नाप वसन्त सम्पातवाले दिनको बिना समझे हो ही नहीं सकता। अर्थात् सूर्यदेव जहांसे उत्तरायण और दक्षिणायनके लिये करवट बदलते हैं, वह खास दिन वसंत सम्पातका कहाता है।

इसको—Ascending node of the equator, first point of aries, vernal equinox-वसन्त-सम्पात कहते हैं। अकाशसे सृष्टि और सृष्टिसे आकाशमें होनेवाले सृष्ट पदार्थ- जीव तथा अनेक दिव्य शक्तिके आवागमनकी सबसे बढिया मोटा द्वार और जनरल सडक यही है।

आजकी भाषामें जिसे हम पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर कहते हैं, वैदिक भाषामें आकाशके लिए इन्हीं दिशाओंके सम्बन्धमें—

राड्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक्-
सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीचीदिगधि-
पत्न्यसि बृहतीदिक् ॥ (वा० सं० १४।१३)

पूर्व दिशाको = राट्, दक्षिणको = स्वराट्, पश्चिमको = सम्राट् और उत्तरको = स्वराट् कहा है। इसी ज्योतिद्वारा ऋतु अपना अपना कार्य समया-

नुसार नक्षत्रोंके सहारे करते चले जाते हैं ।

हमारे और आकाशके बीचमें एक नक्षत्रोंकी जो माला घिरी हुई है, वह भचक्र कहाती है। इनमें दो शक्ति प्रधान हैं, एक तो उत्थान करनेवाली और दूसरी पतन।

कृत्तिकाः प्रथमं । विशाखे उत्तमं । तानि देव नक्षत्राणि ॥ अनुराधा प्रथमं । अपभरणीरुत्तमं । तानि यमनक्षत्राणि ॥ (तै० ब्रा० २-५-२)

अर्थात् कृत्तिकासे विशाखा तक देवनक्षत्र हैं और अनुराधासे भरणी तक यम-नक्षत्र कहाते हैं। देवनक्षत्रके स्थित ग्रह दक्षिणाभिमुख मार्ग (क्रांति-वृत्त) से होते हुए गमन करते हैं। उक्त नक्षत्रों की पहचान और जानकारी प्राप्त करनेका जो यत्न है, वही यजन कहाता है।

अब यहां यह बात स्पष्ट की जाती है। ऊपर दिखाई गयी तमाम बातोंसे स्पष्ट हो गया, कि क्रांतिवृत्त पर जो नक्षत्र-चक्रकी माला है, वह तमाम तेजपुंज देवोंका दरबार है और इनके अधिकार में अन्यान्य बातें जो सौंपी गयी हैं, वही देवताओंका देवत्व है । क्योंकि हमारे यहांसे भेजे गए परमाणुओंको अपने में समाविष्ट करने और संगृहीत परमाणुओंको पुनः जहांके तहां भेजनेकी अमौलिक शक्तियां इनमें ओतप्रोत हैं; और यह आकाशमें रहते हैं। इसीसे ' दिवि वसन्तीतिदेवाः '- इनको देव कहा है।

अथ देवताया आदिशति। सर्वा ह वै देवता अध्वर्युः हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठते।.....॥
(शतपथ ब्रा० १-२-१८)

क्योंकि इनमें हविद्रव्योंको अपने में लेनेकी और देनेकी महत् शक्ति ओतप्रोत है इसीसे यह देवता हैं। (अपूर्ण)

मालवा का एक वेद-कालीन स्मृति-स्थल।

जमदग्नि ऋषि का प्राचीन आश्रम।

[ले०— श्री० पं० गो. सी. जोगलेकर, बी. ए.]

कई दिनों से हमने सुना था कि, मध्यभारत में विंध्य पर्वत जमदग्नि ऋषिका प्राचीन आश्रम-स्थान है और उसके पास ही चर्मण्वती (चंबल) नदी का उद्गम है। ऐसे पवित्र स्थान का दर्शन कर लेने की हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी। सुदैव से यह मौका हमें थोडे दिन पहले प्राप्त हुआ। प्रत्यक्ष स्थान देखकर अति प्राचीन काल में इसी स्थान के आसपास जो ऐतिहासिक घटनाएं हुई हैं, उनका जो अंशतः स्मरण हो आया।

मालव-प्रदेश की दक्षिण सीमापर विंध्यपर्वत है, जिसकी प्रथम पंक्ति पर जमदग्नि ऋषि का आश्रम, एक बहुत उंची पहाड की चोटी पर है। इस टेकडी को 'जानापाव' कहते हैं। महू स्टेशन से मानपुर को जो सडक जाती है, उसके बीच में 'जानापाव' को जाने का रास्ता है। 'जानापाव' यहां से करीब ५-६ मील है। गवालियर रियासत का भूगोल जो मदर्सों में पढाया जाता है, उसके १६ वें पृष्ठ पर चंबल नदी का उद्गम 'जानापाव' की टेकडी से लिखा है। गवालियर के सरदार श्री. कृष्णरावजी साहब माहाडिक की जागीर डिगठान की सरहद के पास यह 'जानापाक' टेकडी है। टेकडी का दृश्य भव्य, गंभीर एवं कठोर-सा है। प्राकृतिक रचना आकर्षक है। टेकडी पर चढने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग सरल परन्तु फासले का है, दूसरा मार्ग पास का है; किन्तु चढन बहुत कठिन है। एक पगडण्डी के रास्ते से चढना पडता है। चढते वक्त पहाड की चोटी पास मालूम होती है, किंतु चढते-चढते थकावट के कारण बार-बार बैठना पडता है। हमारे साथ श्रीधर पंडित तथा राजाजी ये दो यात्री थे। इन दोनों के कहने में आकर हमने कठिन पगडण्डी से चढना शुरू किया। चढान के कष्ट खूब भुगतने पडे। करीब आधा हिस्सा चढ जाने के बाद तो अनेक बार विश्रांती लेकर कदम रखना पडा। जैसे-तैसे हम चोटी पर पहुंचे। कष्ट के बाद जो वस्तुलाभ का आनन्द होता है, वह सचमुच अनुभवगम्य ही है।

'जानपाव' की टेकडी से १०-१२ नदियां निकली हैं। पहाड के पृष्ठभाग पर ही ऊपर से नीचे तक पानी के बहाव के मार्ग साफ दीखते हैं। ये मार्ग दोनों तरफ मिलकर १०-१२ हैं। चोटी का पृष्ठ भाग सकडा है। चौडाई २ फर्लांग और लंबाई ४ फर्लांग से कम है। मिट्टी गहरी लाल रंग की है। एक प्राचीन शिवालय बना है, जिसको जमदग्नेश्वर कहते हैं। १०-१२ साल से एक गुजराती ब्राह्मण साधु यहां पर रहते हैं। मृत्तिका के शिवलिंग दिन भर बनाकर सायंकाल को उनका बडा शिवलिंग विशिष्ट संख्या में तैयार होने पर उसका पूजन यह साधु करते हैं। उनकी बोल-चाल से हमें मालूम हुआ कि वह किसी सिद्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। शिवसंप्रदाय के तंत्र ग्रंथों में इस प्रकार के प्रयोग कहे हैं मगर अध्यात्मशास्त्र में इनको अविद्या कहा है। अस्तु। इन साधु महाशय के एक सहृदय भक्त ने इस चोटी पर खोद कर एक छोटा-सा सुंदर कुंड बनाया है। जिसमें बरसाती पानी हमेशा रहता है। पहिले यहां पानी नहीं था, अब मिलने लगा है, जिससे यात्रियों को आराम मिलता है। गर्मी में पानी खराब होने लगता है, किंतु विवश होकर उसीको काम में लेना पडता है। वैराग्य-संपन्न मनुष्य ही यहां पर ठहर सकता है। पर्वत की चोटी ऊंची होने से आसपास बहुत दूर तक का प्रदेश दिखाई देता है। कार्तिकी पौर्णिमा को यहां मेला लगता है। आम तौर पर 'मान उतारनेवाले' लोग यहां आते रहते हैं। यह टेकडी करीब १००० फीट ऊंची है। चंबल नदी की रेखा पर्वत पर नीचे गई हुई स्पष्ट दीखती है।

कारम, गंभीर, अजनास, नरवेली आदि नामकी नादियोंकी अन्य रेखायें भी दीखती हैं। वर्षा-काल के सिवाय ये सब रेखायें शुष्क रहती हैं। 'जानापाव' के तले के पास नीचे चंबल नदी एक मामूली छोटे नाले के सदृश है।

नदी महानसाद्यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
तस्मात् चर्मण्वती पूर्वं, अग्निहोत्रेऽभवत्पुरा॥
(द्रो० प० ७।६७)

यज्ञप्रसंग में पशुओं की चर्मराशि बहुत होने के कारण इसका चर्मण्वती नाम हुआ, ऐसा द्रोणपर्वमें कथन है। चंबल के किनारे के ग्रामीण कृषक आज भी चमड़े की पखाल या मोट चंबल में नहीं डालते हैं। यह बात हमको स्वानुभव से मालूम है। अनुमान यह है, कि प्राचीन काल में चमडे की वजह से इसका जल दूषित होने से रोग का भयंकर उद्भव हुआ होगा और इसी कारण किसी राजा के आज्ञानुसार नदी में चमडा डालना मना किया गया होगा। कालिदास कवि ने मेघदूतकाव्य में चर्मण्वती शब्द की उत्पत्ति इस तरह ही बतलाई है।

जमदग्नि द्वारा इस पर्वत पर अपना आश्रम बनाए जानेपर एक नवीन संकट उत्पन्न हुआ। 'जानापाव'से८-१० कोस के फ़ासले पर, माहिष्मति [महेश्वर] में कार्तवीर्य का राज्य था। कार्तवीर्य एक दिन मृगया करते-करते ऋषि के आश्रम पर आया। ऋषि के आश्रम में बहुत-सी दूध देनेवाली गायें थीं। ऋषि ने राजा और उसके साथियों को दूध देकर स्वागत किया। कार्तवीर्य संभवतः एक अनार्य राजा था। कार्तवीर्य ने कृतघ्नता से सब गायों को बलात्कार से हरण किया; किंतु जमदग्निने कामधेनु के अंग से यवन निर्माण किये और कार्तवीर्य का पराभव किया। इसके बाद कार्तवीर्यने एक दिन छापा डाल कर ऋषि का आश्रम नष्ट किया, तिस पर परशुराम से कार्तवीर्य का युद्ध हुआ। कार्तवीर्य मारा गया। कार्तवीर्य के लडकों को यह बात मालूम होने पर उन्होंने एक रोज अचानक आकर जमदग्नि का शिरच्छेद किया। उस वक्त परशुराम मौजूद नहीं थे। परशुराम के आने पर जब यह हाल मालूम हुआ, तब उन्होंने इस प्रदेश की अनार्य जातियों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। २१ मर्तबा निःक्षत्रिय पृथ्वी करने की परशुराम की प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है। महाभारत के शांतिपर्व [५९।११६] में यह कथा विस्तार से दी गयी है।

कार्तवीर्य की अनार्य राजसत्ता से २१ युद्ध परशुराम को करने पडे। इस पर से उस काल में विंध्यपर्वत का दक्षिण भाग बस्ती के लिये कितना कठीन था, इसका अनुमान होता है। 'जानापाव' के निकट ही 'रणखला' नाम का स्थान है। आज भी कथा प्रचलित है, कि इस 'रणखला' में हजारों वीर मारे गये। पहाड के नीचे के हिस्से में यह 'रणखला' है। वह एक बडी खाई के समान है। कार्तवीर्य राजा हैहय वंश का था। यह नाम अनार्य जातिका स्पष्ट दीखता है। द्रोणपर्व में इस युद्ध का स्थान इस प्रकार वर्णित है।

गुणावतीं उत्तरेण, खांडवात् दक्षिणेन च।
गिर्यंते शतसाहस्राः हैहयाः समरे हताः॥
(द्रो० ७।७०)

खांडव देश के दक्षिण में और गुणावती के उत्तर में पर्वत के समीप ही यह युद्ध-भूमि है। गुणावती विंध्याद्रि से निकली हुई किसी नदीका नाम मालूम होता है। चंबल के पश्चिमोत्तर में राजपूतानासे लगा हुआ जो मरु प्रदेश है, वह प्राचीन काल में जंगली हिस्सा था। जो खांडव-वन के नामसे पहुचाना जाता था। पुराणकालीन स्थलों के नामों से आज किसी विशेष स्थान का निश्चय करना प्रायः कठिन सा होता है। अनुमान, प्राकृतिक अवशेष, तथा दंतकथा और लोकाचार के आधार पर ही खंडित इतिहास की खोज करना संभव है। हमने इस लेख में ज्यादातर अनुमान का ही आश्रय लिया है। इस विषय में यदि कोई संशोधक पंडित विशेष जानकारी प्रकाशित करें, तो अच्छा होगा।

स्वराज्य- २३ अगस्त सन् १९३८

देशप्रेम।

(लेखक- श्री० पं० रामावतार विद्याभास्कर, पो. रतनगढ, जि० बिजनौर, यू. पी.)

'देशप्रेम'को समझने के लिये प्रेम क्या है ? देश किसे कहते हैं? देश के साथ प्रेम करने का क्या अभिप्राय है? और इस प्रेम की सीमा कहांतक है? इन प्रश्नोंपर विचार करना आवश्यक है।

जिसे अपनाने पर दूसरी अपनाने योग्य कोई वस्तु शेष न रहे, उसे अपनाना प्रेम है। सच्चे प्रेमकी यही पहचान है, कि फिर किसी से प्रेम जोडनेकी आवश्यकता न रहे। प्रेम में सौदा और बदला नहीं है। वह अधूरा नहीं किया जाता। अधूरा प्रेम 'प्रेम' नहीं है। वह पूरा आत्मसमर्पण चाहता है।

परन्तु जब 'प्रेम' शब्द के साथ 'देश' शब्द जोडा जाता है, तब प्रश्न होता है कि देश को ऐसा प्रेमपात्र कैसे माना जा सकता है? पृथिवी के एक छोटेसे टुकडे को, भूमाता की विशाल छाती से काटकर, उसमें ममता करके, उसे 'हमारा देश' यह मीठा नाम क्यों दिया जाय? देशमें ऐसा कौनसा कारण है, कि उसे प्रेम करनेसे मनुष्य की प्रेमपिपासा बुझ जाय? पृथिवी के किसी विशेष भागके सागर, पर्वत, नदी, सरोवर, वन, उपवन, खेत, फल, फूल, तरु, लता, जीवजन्तु तथा भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्यों में ऐसा कौनसा अमृत है, जिसे 'हमारा देश' कहते ही संपूर्ण रसभंडार एक चुल्लूमें हमारे पेटमें चला जायगा और; हम देशप्रेमसे आत्मविस्मृतिमें डूबकर निरहंकार या पूरे मनुष्य हो जायंगे ? इस देशके नाना प्रकार के चरित्रवाले मनुष्यों के नाना प्रकारके व्यवसाय, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि के साथ या उनके सुखदुःख, गुणदोष आदिके साथ हमारा ऐसा क्या महत्त्वपूर्ण संबंध है? जो इन सबको हमारी निजी वस्तु समझा देगा, तथा ऐसा समझ लेनेपर हमारे अपनानेयोग्य कोई दूसरी वस्तु शेष न रहेगी। ये पदार्थ इस देशके समान दूसरे देशोंमें भी हैं। फिर हम इस देशकी ही एक काल्पनिक माता की मोहनी मूर्ति बनाकर उसे साष्टांगप्रणाम, उसी का भजन और गुणगान क्यों करें? हम इसी के नदीपहाडों, वृक्षलताओं हरे भरे मैदानों तथा अनेक रंगके मनुष्यों से ममता का नाता जोडकर अपने को कृतार्थ क्यों मानें? जैसे हमारी क्षुद्र ममता की सीमासे बाहर रहनेवाले इस देश के मनुष्य हमारे लिये अनजान हैं, उसी प्रकार दूसरे देशों के मनुष्यभी हमारे लिये अनजान हैं। जैसे हम इस देश के अनजान मनुष्यों के सुखदुःखमें संबन्धरहित और निर्विकार रहते हैं, वैसेही हम और देशों के मनुष्यों के संबन्धमें भी रहते हैं। फिर हम इस देशको ही 'स्वदेश' क्यों कहें? इस देशमें ऐसी कौनसी वस्तु है, जो हमारी निजी अर्थात् 'स्व' कहाती है, जिसे न अपनाने से हमारा जीवन व्यर्थ और अपनाने से हमारा जीवन सार्थक हो जायगा। इस देशकी कौनसी वस्तुके साथ हमारी मनुष्यताका संबन्ध है? इस देशकी कौनसी वस्तु से प्रेम करना अपना मनुष्यताको प्राप्त करना है?

इसमें संदेह नहीं, कि किसी देशमें, उसकी किसी वस्तु में या उसके मनुष्योंमें किसी मनुष्यको

'वैदिक धर्म' के ग्राहकोंके लिये
विशेष सहूलियत

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों ओर जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्यायमण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ इसके साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

१६ रु. भेजनेसे आपको २०) के पुस्तक+५) का वैदिक धर्म मासिक मिलेगा और रेलसे भेजनेका व्यय तथा पैकिंग माफ होकर आपका २७) से भी अधिक लाभ होगा।

सब पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देंगे। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक ग्रंथोंका दान करना चाहते हैं वे भी इससे लाभ उठावे।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डळ, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै.यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

मनुष्यता का दान करने की शक्ति नहीं होती। प्रत्युत मनुष्यमें ही देश और देश की वस्तुओं तथा मनुष्यों को मनुष्योचित बनाकर उन्हें अपनाने की शक्ति होती है। पदार्थों और मनुष्यों को मनुष्योचित बनानेवाली इस निजी (व्यक्तिगत) शक्तिको 'देशप्रेम' कहा जाता है। अर्थात् इस देशके मनुष्य-समाजमें अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्यताका विकास करो, और इस देशके पदार्थों को मनुष्यताके विकास योग्य बनाओ, यही 'देशप्रेम' है। देशकी दुर्दशाके नामपर दो आंसू बहाने मात्रसे 'देशप्रेम'का कर्तव्य पूरा नहीं होता। देशको अपनाना, निजी करना, या 'स्व' बनाना 'देशप्रेम' है। देशको स्वतंत्र कर लेनाही इसे 'स्व' बनाना है। 'स्वतंत्रता'ही 'मनुष्यता' है। केवल स्वतंत्र रहना ही 'मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार' और कर्तव्य है। मनुष्य जिस देशकी सब वस्तुओंमें और अवस्थाओंमें स्वत्व का दर्शन कर सकता हो, वही उसका 'स्वदेश' है। मनुष्य जिस स्थानमें स्ववस्त्र, स्वभोजन, स्ववेष, स्वभाषा, स्वविचार, स्वसंस्कृति, स्वदेशी वस्तु तथा स्वशासन को स्थापित रख सकता हो, उसी में वह, 'मनुष्य' कहलाता हुआ वास कर सकता है। वह वहीं 'स्वतंत्र' कहा जा सकता है। स्वतंत्र रहना ही 'देशप्रेम' है। जो अस्वतंत्र हैं, वे देशप्रेमी नहीं हैं। स्वतंत्रतामें स्ववस्त्र, स्वभोजन, स्ववेष, स्वभाषा, स्वविचार, स्वसंस्कृति, स्वदेशी वस्तु तथा स्वशासन का मुख्य स्थान है।

वस्त्र लज्जानिवारण के साधन हैं। मनुष्य के वस्त्रों से उसकी शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारकी लज्जा का निवारण होना चाहिये। सत्य से हीन हो जानेपर मनुष्यमें निर्लज्जपना आता है। पराधीनता की सूचना देनेवाले वस्त्र पहनना, सत्य से हीन होना है। जिन वस्त्रों से मनुष्यकी स्वतंत्रता की रक्षा होती हो, जिनसे उसका स्वाभिमान सुरक्षित रहता हो, जिन्हें पहनकर वह पराधीन प्रतीत न होता हो, जिन्हें पहन कर, उसे निर्लज्ज न होना पडता हो, वे वस्त्र 'स्ववस्त्र' कहाते हैं।

देहरक्षा के लिये भोजन किया जाता है और मनुष्यता की रक्षा के लिये मनुष्यदेह धारण किया जाता है। देह मनुष्यता की रक्षा करने का साधन है। स्वतंत्रता और मनुष्यता एक ही बात है। स्वतंत्रता ही सत्य अवस्था है। मनुष्य का भोजन करना तब ही सफल होता है और तब ही उसे भोजन करने का अधिकार प्राप्त होता है, जब वह सत्य की सेवा में जीवन बिताता है। जो अपने जीवन में सत्य की सेवा नहीं करता और केवल लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेने के लिये भोजन करता है, उसे भोजन करने का अधिकार नहीं है। जो सत्य की सेवा न करके भोजन करता है, वह अनधिकारपूर्वक 'परभोजन' करता है। अधिकारपूर्वक भोजन करनेवाले के भोजनको 'स्वभोजन' कहा जाता है।

वस्त्र आदि पहनने की विधि 'वेष' कहाती है। मनुष्य के वेष से उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होना चाहिये। उसका वेष उसके स्वरूपके अनुसार होना चाहिये। भारतकी अपनी एक स्वतंत्र संस्कृति है। इस कारण भारतीय मनुष्य के वेष में दूसरी संस्कृति के अनुकरण की प्रवृत्ति न होनी चाहिये। जो वेष इन सब भावनाओं के साथ धारण किया जायगा, वही 'स्ववेष' कहावेगा।

मानसिक विचारों को लेनेदेने का साधन 'भाषा' कहती है। पवित्र मनों में केवल स्वतंत्रता का साम्राज्य रहता है। हमारे ऋषियों ने जिन स्वतंत्र भावों का आविष्कार किया है, हमारी वाणी तथा लिखित साहित्य से, उन्हीं स्वतंत्र भावों की सेवा होनी चाहिये। ऐसा करनेपरही 'स्वभाषा' का अभिप्राय पूरा होगा।

'स्व' शब्द स्वरूप का वाचक है। सत्य मनुष्यका स्वरूप है। यदि मनुष्य सब सत्यासत्य का विचार करता रहेगा, और सत्यमार्ग पर चलता रहेगा, तो 'स्वविचार' का अभिप्राय पूरा होगा।

हमारी संस्कृति सत्य के आधार पर ठहरी हुई है। यदि तुम इसपर आक्रमण करनेवाली जड-वादरूपी असत्य संस्कृति को हटाकर, पद पदमें सत्यकी विजयी बनानेवाली अपनी आध्यात्मिक संस्कृति की रक्षा करोगे, तो 'स्वसंस्कृति' का अभिप्राय पूरा होगा।

जो वस्तु हमारे राष्ट्रमें उत्पन्न हुई हो और उसकी शक्ति को बढाती हो, वह 'स्वदेशी वस्तु' कहाती है।

आदर्श मनुष्यसमाज में 'राजा' नामक कोई मनुष्य नहीं होता। समाज के सद्विचार या शुभ इच्छा ही समाजव्यवस्था (या कानून) बन जाती है। समाज की सामूहिक इच्छा ही शासन या कानून कहाती है। समाजकी बनायी हुई, समाज-कल्याण करनेवाली व्यवस्था 'राजशक्ति' कहाती है। इसी को 'स्वशासन' कहते हैं।

स्वतंत्र हो जाना ही 'देशप्रेम' है। मनुष्य का स्वाभाविक सत्यावस्था में रहना स्वतंत्रता-देवी का स्वरूप है। यह स्वतंत्रता-देवी मनुष्यके मनमें शान्ति पहुंचाती है, उसे सब ओर से हटाती है, अपने में लगाती है, अपने दर्शन से संसार भर को मोहित करती है, देशोंका निर्माण करती है और असत्य-अवस्था में आधमकनेवाले गृध्र-दृष्टि लुटेरों को देशमें न घुसने देने या उनसे संग्राम करने की शक्ति देती है। स्वतंत्रतासे ही मनुष्य का मन सदा के लिये शान्त रह सकता है। मनुष्य अपने क्षेत्रमें स्वतंत्रता की शक्ति से ही मनुष्यताविरोधी अवस्थाओंको पददलित करता है। इस शक्तिसे शक्तिमान बने रहनाही 'देशप्रेम' है। जबतक तुम अपने आप को स्वतंत्र नहीं बनाओगे, तबतक तुम्हारे मनमें 'देशप्रेम' नहीं जगेगा। प्रत्येक मनुष्य का केवल यही कर्तव्य है, कि वह अपने कर्मक्षेत्रमें 'देशप्रेम' को स्पष्ट-रूपसे प्रकट करें अर्थात् देशप्रेमको व्यावहारिक रूप दे। अपने कर्मक्षेत्र से बाहर 'देशप्रेम' की प्रदर्शनी निरर्थक परिश्रम है।

'देशसेवा' 'देशप्रेम' और 'स्वातंत्र्य-संग्राम' का यही अभिप्राय है, कि अपने कर्मक्षेत्र की सीमा में फैले हुए असत्य के वातावरण को, पराधीनता से उत्पन्न हुई दुर्बलताको, स्वार्थ से उत्पन्न हुई संकीर्णता को हटाओ, सत्यको प्रतिष्ठित करो, स्वाधीनता की आत्मशक्तिको जगाओ, कर्तव्यबुद्धि की उदारता को फैलाओ, मनुष्यता-विरोधी अवस्थाओंको पराभूत करो और अपने जीवनमें मनुष्यता को विजयी बनाओ।

मनुष्य के आसपास फैला हुआ वातावरण ही उस का 'स्वदेश' या उसका 'कर्मक्षेत्र' है। जिसने अपने आसपास के वातावरण को सत्य बना लिया, उसने अपने देश को स्वतंत्र कर लिया।

वही मनुष्य अपने देशको स्वतंत्र कर सकता है, जो अपने को स्वतंत्र कर चुका है। अपने को स्वतंत्र किये विना देश को स्वतंत्र करना अर्थ-हीन वाक्य है। अपने को स्वतंत्र करना यही है, कि अपने चारों ओर फैले हुए झूठे वातावरण को पैरों से कुचल दो, सदा सत्य में स्थिर रहो और अपने सिरको सदा ऊंचा रखो। जिस मनुष्य के मन पर स्वार्थबुद्धि का अधिकार कभी नहीं जमता, वही 'स्वतंत्र' है। उसका सिर सदा उंचा रहेगा। स्वार्थी का सिर सदा नीचा रहेगा।

जिस देशका प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कर्म-क्षेत्र में अपनी अपनी मनुष्यता को उज्ज्वल बनाये रहना अपना पवित्र कर्तव्य समझता है, जिस देशके मनुष्यों के जीवन में 'मनुष्यता' गौरव के साथ प्रकट रहती है, वह देश 'स्वतंत्र' है। जिस देशमें स्वतंत्र मनुष्य रहते हैं, वह देश 'स्वतंत्र देश' कहाता है।

देशकी स्वतंत्रता मनुष्योंकी स्वतंत्रता नहीं है, किन्तु मनुष्योंकी स्वतंत्रता देशकी स्वतंत्रता है। चाहे तुम्हारे देशकी भूमिपर तुम्हारा प्रतिपक्षी, टिड्डी दल के समान बिछ जाय, तो भी यदि तुम अपने मनमें स्वतंत्र हो, यदि तुमने मनसे पराधीनता को स्वीकार नहीं किया है, तो निश्चय ही

तुम्हारा देश 'स्वतंत्र' है। तुम्हारा वातावरण ही 'तुम्हारा देश' है। तुम्हारी मनोदशाही तुम्हारा देश है। संपूर्ण संसार के सम्मिलित राक्षसी बल में भी तुम्हारे इस देशपर अधिकार जमाने की शक्ति नहीं है। स्वतंत्र मनुष्य का स्वदेश किसी भूगोलकी सीमापर निर्भर नहीं होता। उसका स्वदेश सर्वत्र होता है। वह जहां जाता है, वहीं उसका 'स्वदेश' है। उसका स्वदेश उसके साथ साथ घूमता है। वह जहां रहता है, वहीं अपने स्वाभिमान नामके 'स्वदेश'में रहता है। उसने पराधीनता का अपमानित जीवन बिताना नहीं सीखा।

पृथिवी की किसी सीमाको अपने निवास के योग्य बनाकर, उसे अपने अधिकार में करना, देशको स्वतंत्र करना नहीं है। किन्तु अपने मनको स्वतंत्र, स्ववश (अर्थात् पवित्र मनरूपी परमात्मा के वश में) कर देना अथवा अपने मनको दूसरे का अधिकार जमने के अयोग्य बना देना 'देशको स्वतंत्र करना' है। इसी को 'स्वतंत्र देश का वासी होना' कहा जाता है।

पराधीन का स्वदेश कहीं नहीं है ! जो स्वार्थी है, वही पराधीन है। स्वार्थी जहां रहता है, वहीं 'पराधीन देश' है। स्वार्थी ने स्वतंत्र देशका मुंह कभी नहीं देखा। उसके लिये 'स्वतंत्र देश' नहीं होता।

सत्यके सेवक जहां रहते हैं, उन के लिये वहीं 'स्वतंत्र देश' बन जाता है। अपने को स्वतंत्र बनाना 'स्वतंत्र देश का निवासी बन जाना' है। स्वतंत्रता किसी देशमें नहीं बसती। वह भूमिपर बिछाने की वस्तु नहीं है। वह स्वतंत्र प्रकृति रखने-वाले मनुष्यों के मन की अदम्य मनोदशा है। स्वतंत्रता एक मनोवृत्ति है।

मनुष्यमें केवल इतनी शक्ति है और उसका केवल इतना अधिकार है, कि वह अपने को 'स्वतन्त्र' बनाये। दूसरों को स्वतंत्र बनाना न तो मनुष्यका अधिकार है और न उसमें इतनी शक्ति है। स्वतंत्रता दूसरों के हाथों में उठाकर देने की या दूसरों की मुट्ठी में से छीनने की वस्तु नहीं है। वह किसी के पीछे चलकर, या किसीको अपने पीछे चलाकर, पाने की वस्तु नहीं है। अर्थात् स्वतंत्रता न तो किसी का 'अनुयायी' बनने से मिलती है और न किसी का 'नेता' बननेसे प्राप्त होती है।

कोई मनुष्य दूसरों को स्वतंत्र नहीं बना सकता। स्वतंत्र मनुष्य केवल दूसरों को स्वतंत्र होने का मार्ग बता सकता है। वह भी बातों से नहीं, किन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में स्वतंत्र बनकर उस जीवन से बता सकता है। जो अपनी शक्ति से स्वतंत्र रहना नहीं जानते, वे सदा परतन्त्र रहते हैं। दूसरों को अपने साथ मिलाकर या दूसरों के साथ मिलकर स्वतंत्र बनने की इच्छा 'स्वतंत्रताका प्रेम' नहीं है। यह 'परतन्त्रताका मोह' है।

सब मिलकर, संघ बनाकर स्वतंत्र बनेंगे, इस इच्छामें यह भाव छिपा हुआ है, कि स्वतंत्र होने में कुछ कष्टों और विपत्तियों का सामना करना पडेगा। यदि उस कष्ट को सब मिलकर बांट लेंगे, तो वह हलका और सहन करनेयोग्य बन जायगा। इस भावनामें स्वतंत्रता में कष्ट मान लिया गया है, और उस कष्ट से छुटकारा पाने की विधि भी सोच ली गयी है। इस भावनावाले लोग स्वतंत्रता का लाभ तो पूरा चाहते हैं, परन्तु स्वतंत्रता के पूरे प्रयत्न में कष्ट समझकर, दूसरों की सहायता से उस से बचना चाहते हैं। अर्थात् ये लोग बिना कष्ट के (आसानीसे) स्वतंत्रता पाना चाहते हैं। इस बातको अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहें, तो ये लोग स्वतंत्र न होकर (अर्थात् पराधीन रहकर) स्वतंत्रता का सुख भोगना चाहते हैं। परन्तु ऐसी किसी अवस्था का होना असंभव है।

यदि तुम झुंड बनाकर स्वाधीनता चाहोगे तो स्वाधीनता का अमृत नहीं चख सकोगे। तब

तुम्हें झुंडकी अधीनता का दुःख चाटना पडेगा। झुंड बनाना दुर्बलों का स्वभाव है । दुर्बल मनुष्य झुंड की शक्ति से अपना काम निकालना चाहता है।

मनुष्य 'स्वतंत्र' या 'परतंत्र' इन दो स्थितियों में एक में रह सकता है, दोनों में नहीं । 'पराधीनता का मोह' और 'स्वतंत्रता का आनन्द' ये दो बात एक मनुष्यमें नहीं रह सकतीं। परतंत्र बने रहकर स्वतंत्रताकी इच्छा करनेवाली अवस्था परतंत्रतासे उत्तम अवस्था नहीं है। स्वतंत्र बनकर कभी परतंत्र न बनने की अदम्य दृढता ही 'स्वतंत्रता का प्रेम' है। जबतक तुमने पराधीनता को स्वीकार कर रखा है, निश्चय जानो कि तबतक तुमने स्वतंत्रता को अस्वीकार कर रखा है। जब तक तुम पराधीनता को अस्वीकार नहीं कर दोगे, तबतक तुम्हारे मनमें स्वतंत्रताकी इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकेगी। तुम पराधीनता को अस्वीकार करने के क्षणमें ही स्वतंत्र बन जाओगे। अर्थात् परतंत्र न रहने की इच्छा करना और स्वतंत्र बन जाना एक ही बात है। स्वतंत्रता की इच्छामें और स्वतंत्र होनेमें कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों एक अवस्था हैं। स्वतंत्र बन जानेपर ही मनुष्यमें शक्ति आती है, उससे पहले नहीं।

संघ बनानेकी शक्ति स्वतंत्र मनुष्यों के समूहों में ही होती है। स्वतंत्र बने हुए मनुष्य ही संघ बना सकते हैं और उसे जीवित रख सकते हैं। जो स्वतंत्र नहीं है, वे संघबद्ध नहीं रह सकते। अर्थात् वे संकट समझे हुए अवसर पर संघ का भंग करके भाग जांयगे। पहले संघ बना लें, फिर स्वतंत्र बनें, यह स्वतंत्रता का मार्ग नहीं है। परतंत्र रहते हुए संघबद्ध होना असंभव है। संघ बनानेवाले परतंत्र मनुष्य संकट समझा हुआ अवसर आते ही सब एकसाथ मिलकर भाग जाते हैं। ये एकसाथ मिलकर भागने के लिये ही संघ बनाते हैं। परतंत्र मनुष्यों के सम्मेलन में मेल को स्थायी रखने या संघबद्ध रहने की शक्ति नहीं होती। जबतक विरोधी शक्ति इनकी उपेक्षा रखती है, या इन्हें मिल बैठने की आज्ञा को स्थगित नहीं करती, तब तक ये लोग इकट्ठे रहते हैं। विरोधी शक्ति की फूंक भी इनको उडाकर तितर बितर कर देती है। ऐसे लोगों के इकट्ठे होने से परतन्त्रता को दृढता मिल जाती है। ये सब केवल यह सोचकर इकट्ठे होते हैं, कि जिस मार्ग से सब जांयगे, हम भी उसी से जांयगे, जो औरों का होगा, वही हमारा भी हो रहेगा। इनमें अकेला कोई स्वतंत्र होना नहीं चाहता। ये साथियों, अनुयायियों और नेताओंकी ओर तकते हैं। इनके नेता, अनुयायियों और साथियों का मुंह तकते हैं, कि हमारे पीछे कुछ अनुयायी या साथी आ रहे हैं या नहीं? ये अनुयायी नेताओं की ओर देखते हैं कि कोई हमारा नेता है या नहीं? अर्थात् इनमें से कोई भी स्वतंत्रता के संकट में पडना नहीं चाहता। इस पर निर्भर मनोदशाका परिणाम यह होता है, कि नेता, अनुयायी और साथी सब परतन्त्र और पराजित रह जाते हैं।

ऐसे लोग अपनी संख्या अधिक न होने का अपने पराजय का यह कारण समझते हैं। ये लोग इस मनोदशा को लेकर अपना दल बढाने में लग जाते हैं। ये इस दल की लम्बी संख्या को विरोधी शक्ति के सामने खडा करके, उसपर दबाव डालकर, यथासंभव अधिक से अधिक स्वार्थ प्राप्त करना चाहते हैं। स्वार्थप्रेमही इनका स्वातन्त्र्य-प्रेम है। ये लोग मनुष्य को स्वतंत्र रहना ही चाहिये, इसलिये स्वतंत्र रहना नहीं चाहते। किन्तु स्वार्थसाधन की सुविधा पाने या आराम से जीवन बिताने के लिये, स्वतंत्र होना चाहते हैं। इनकी इस मनोवृत्ति में ही स्वतंत्रता न पाने और परतंत्र रहनेका बीज छिपा हुआ है। ऐसे संघोंमें सम्मिलित रहनेवाले मनुष्यों के मनमें अपने स्वार्थों को सिद्ध और जीवित रखने की भावना रहती है। प्रत्येक की जब में अपने अपने स्वार्थों की एक एक लम्बी सूची पडी रहती है। इन लोगों का संघ इन सूचियों के अनुसार

अपना दावा बनाकर, समय समयपर, विरोधी शक्ति के सामने उपस्थित किया करता है। जब इन्हें अपनी स्वार्थसिद्धि की पूरी स्वतन्त्रता नहीं दिखाई देती, तब ये इसे 'पराधीनता' समझते हैं। ये 'पराधीनता' को भी नहीं पहचानते और 'स्वाधीनता' को भी नहीं जानते। ये अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए निष्कंटक हो जाने को 'स्वतन्त्रता' समझते हैं। जिस प्रकार चोरी के कैदी का जेलसे निकलने का आग्रह, उसका 'स्वतंत्रताका प्रेम' नहीं है, किंतु चोरी करने का अवसर न मिलनेकी अवस्था से छुटनेकी दुष्ट आकांक्षा है। इसी प्रकार स्वार्थियोंकी स्वतन्त्रता की इच्छा केवल स्वार्थपूर्ति के अवसर पाने की निकृष्ट इच्छा है। निकृष्ट इस लिए है, कि इस में सच्चा 'स्वातंत्र्यप्रेम' नहीं है। जहां स्वतंत्रता होगी, वहां केवल स्वतन्त्रता की मांग होगी, स्वार्थों की नहीं। वहां स्वार्थबुद्धि नहीं ठहरेगी। जहां स्वार्थबुद्धि नहीं होगी, वहां दूसरों का मुंह कौन ताकेगा?

यदि सब स्वतंत्र हो जांय, तो मैं भी स्वतन्त्र हो जाऊं, इस मनोवृत्ति में स्वतन्त्रता का परिचय नहीं मिलता। किंतु इसमें पराधीनता का मोह स्पष्ट झलक रहा है। इसमें स्पष्ट स्वार्थबुद्धि दिखाई दे रही है। स्वार्थबुद्धि का न रहना ही 'स्वतन्त्रता' है। स्वार्थबुद्धि 'परतन्त्रता' है और यही सम्पूर्ण परतंत्रताओं की जननी है।

स्वतन्त्रता समूहके साथ मिलकर पाने की वस्तु नहीं है। प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता को केवल अपनी शक्तिसे, केवल अपने लिए, और केवल अपने मनमें प्राप्त कर सकता है। स्वतन्त्रता पाने के लिए अपनी ओर से किसी से लडना नहीं पडता। मनमें स्वतन्त्रादेवी के जाग जानेपर जिसे स्वतंत्र मनुष्य की स्वतंत्रता खटकती है, उसकी स्वतंत्रतासे जिसके स्वार्थको धक्का लगता है, वह उसकी स्वतन्त्रता की सच्ची होनेकी परीक्षाके लिए लडाई छेडता है। यही समय स्वतन्त्र मनुष्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा का समय होता है। तब उनको अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रतियुद्ध करना पडता है। जब स्वतन्त्र पुरुषों का प्रतिपक्षी उनकी स्वतंत्रता को सच्चा पाता है, तब एकाध परीक्षण करके मैदान छोडकर भाग खडा होता है। इस दृष्टिसे स्वतन्त्रताको रक्षा करने योग्य बताया गया है। वह पाने योग्य वस्तु नहीं है। स्वतंत्रता किसी प्रतिपक्षीकी मुट्ठीमें बन्द नहीं रहती, कि उसे डरा धमका कर स्वतन्त्रताको पाया जा सके। स्वतन्त्रता स्वतन्त्र मनों में रहती है। वह मानसिक अवस्था है। पराधीन न रहनेका अत्याज्य दृढ हठ ही 'स्वतन्त्रता' है। वह भौतिक अवस्था नहीं है। तोपों, संगीनों, फौजों और किलोंके साथ उसका नाता नहीं है। जीतेजी अपने अधिकार को न छोडनेवाले मनोंके साथ 'स्वतन्त्रता का ग्रन्थिबन्धन (गठजोडा) है। 'स्वतन्त्रता' अदम्य वीर मनों में रहनेवाली हठीली मनोदशा है। स्वतन्त्रता का विचार आतेही स्वतन्त्रता मिल चुकी होती है। स्वतन्त्रता तत्काल मिलनेवाला पदार्थ है। स्वतन्त्रता का प्रतीक्षा से जन्मवैर है। प्रतीक्षा और पराधीनता में कोई अन्तर नहीं है।

तुम जिस दुखसे बचना चाहते हो, उसी को अपने पास बैठाएं रहो, इसी को प्रतीक्षा करना कहते हैं। यदि तुम परतंत्र हो, तब क्या केवल अपने मनमें परतंत्र होने की शिकायत रखना ही 'स्वतन्त्रता का प्रेम' है? नहीं नहीं, यह स्वातंत्र्य-प्रेम नहीं है। शिकायत करनेवालों के भागमें सुख नहीं है। शिकायत करना अपने परतंत्रता के दुःख को स्थायी बनाना है। शिकायत करनेवाला इसी योग्य है, कि वह परतन्त्र रहे। स्वतन्त्र मनुष्य कभी किसीसे शिकायत नहीं करते। वे अपने आपको परतंत्रता की अवस्था से उबार लेते हैं। यदि तुम सचमुच स्वतंत्रता चाहते हो, तो तुम अपने मन का निरीक्षण करो। उसकी दासमनोवृत्ति, दासोचित कामना, और दासोचित अभ्यास छुडाओ। मनमें से परतंत्रता को धक्का दे दो और उसमें स्वतंत्रता को बसाओ। स्वतन्त्रता के समान परतन्त्रता भी मनमें ही रहती है। वह भी किसी भूमिका धर्म नहीं है। जब तुम अपने मनमें से परतन्त्रता को धक्का दे दोगे, जब तुम मनसे पर-

तन्त्र रहना अस्वीकार कर चुकोगे, तब देखोगे कि परतन्त्रता संसारसे अपना बिस्तर लपेट कर भागी जा रही है, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे विरोध में खडी होनेवाली या तुमको दास बनानेवाली शक्ति जान चुराकर भाग रही है ।

स्वतन्त्र बन चुके हुए, मनुष्यों का समाज ही 'स्वतन्त्र समाज' कहाता है। स्वतन्त्र मनुष्य स्वतन्त्र समाज का निर्जीव भाग नहीं होता। वह स्वतन्त्रता को समाज से उधार नहीं लेता। वह अपनी स्वतन्त्रतासे समाज को शक्तिमान् बनाता है। वह स्वतन्त्र समाज में सम्मिलित होनेसे पूर्ण नहीं बनता। किन्तु पूर्ण बनकर स्वतन्त्र समाज में सम्मिलित होता है। वह अकेला ही पूर्ण होता है। उसकी स्वतन्त्रता उसे स्वतन्त्र समाज में सम्मिलित होनेसे नहीं मिली। वह स्वतन्त्र होनेसे प्रथम स्वतन्त्र समाज में सम्मिलित नहीं हुआ। किन्तु उसके मनमें पहले स्वतन्त्रता का जन्म हो चुका तब वह पीछेसे स्वतन्त्र समाज में जाकर मिला। स्वतन्त्र मनुष्यों के पश्चात् ही स्वतन्त्र समाज का जन्म होता है, पहले नहीं। स्वतन्त्र मनुष्य स्वतन्त्र बनकर पीछेसे समूह में सम्मिलित होते हैं। इसी स्वावलम्बी, निरपेक्ष, स्वयंस्वतन्त्र अवस्थाको 'स्वतन्त्रता' कहाते हैं। यह 'स्वतन्त्रता' प्रत्येक मनुष्य का 'व्यक्तिगत धन' है। ऐसे स्वतंत्र मनुष्य जहां मिल बैठते हैं, वहीं 'स्वतन्त्र समाज' बन जाता है। स्वतन्त्र समाज ही सच्चा 'मनुष्य-समाज' है। ऐसा स्वतन्त्र समाज किसी शक्तिसे छिन्नभिन्न नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता से हीन होने पर समाज 'समाज' नहीं रहता। स्वतन्त्रता से हीन समाज की कल्पना करना भ्रान्ति है। स्वार्थी लोगों को इकठ्ठा होने या दल बनाने को 'समाज' का पवित्र नाम नहीं दिया जा सकता। स्वतन्त्र मनुष्य समाज के प्राण होते हैं। स्वतन्त्र मनुष्यों से हीन समाज, जलहीन जलाशय के समान होता है। जिस समूह में स्वार्थ नहीं होगा, वही समाज का संगठन करने में समर्थ होगा।

स्वार्थियों को इकठ्ठा (या एकलक्ष्य पर) रखनेयोग्य कोई बन्धन नहीं है। ये लोग केवल अपने अपने स्वार्थों से इकठ्ठे रहते हैं और उसके हटते ही तितरबितर हो जाते हैं। इनमें परस्पर के कल्याण का कोई बन्धन नहीं होता, जो किसी भौतिक आपत्ति से न टूट सकता हो। जिस समय इनके स्वार्थों को धक्का लगता है, ये तब ही समूह उजाडकर भाग जाते हैं। 'सत्य' ही एक ऐसा कल्याण का संबन्ध है, जो मनुष्यों को सदा एक साथ (एक लक्ष्य पर) रख सकता है। स्वार्थबुद्धि न रहना ही 'सत्य' है। सबके कल्याणमें अपना कल्याण न देखना स्वार्थबुद्धि है। जब मनुष्य अपने अपने स्वार्थों को छोडकर इकठ्ठा होना चाहेंगे, तब समाजसंगठन हो सकेगा। मनुष्य स्वार्थों को छोड देने के पश्चात् ही समाज संगठन करनेयोग्य बनता है। यदि मनमें लेशमात्रभी स्वार्थचिन्ता रहेगी, तो संगठन नहीं हो सकेगा। प्रत्येक संगठनार्थी के मनमें यह दृढ संकल्प होना चाहिए, कि 'मैं इस समाजको किसी भौतिक स्वार्थ के लिए नहीं अपना रहा हूं। किन्तु सब समय और सब अवस्थाओं में अपनी स्वतन्त्रता पर अटल रहते हुए, इसकी सत्यानुमोदित सेवा के लिए इसे अपना रहा हूँ। इस प्रकार का सेवाधिकार पाना मेरे जीवन का लक्ष्य है, और इसी में मेरा कल्याण है।' जो मनुष्य इस प्रकारका दृढ संकल्प कर लेता है, वह स्वयं 'स्वतन्त्र' हो चुकता है। जो स्वयं स्वतन्त्र हो चुकता है, वही समाज के साथ बन्धकर रह सकता है, दूसरा नहीं।

ऐसा भी देखा जाता है, कि बहुतसे स्वतन्त्र व्यक्तियों को सदा अकेला रहना पडता है। उन्हें स्वतन्त्र समाज कभी नहीं मिलता। परन्तु वे अत्याचार सहनेवाले, पददलित, लुण्ठित और पराधीन मनुष्यों के देशमें अकेला भी 'स्वतन्त्र' रह सकता है। जैसे कोई तपस्वी हिंसक पशुओं के वनमें पशुराज्य की पराधीनताको स्वीकार न करके जीवन भर अपनी तपश्चर्या को अटल रखता है; इसी

प्रकार स्वतन्त्र मनुष्य अत्याचार के शिकार देशों की जेलों तक में अपने सिरको ऊंचा रखकर 'स्वतन्त्र' रहता है।

पराधीन देशोंमें बसनेवाले जो मनुष्य केवल इसलिए स्वतन्त्रता चाहते हैं, कि पराधीनता अच्छी नहीं लगती, उनकी इस इच्छाको 'स्वतन्त्रता का प्रेम' नहीं कहा जा सकता। जिसने स्वतन्त्रता को ही अपना जीवन समझ लिया है, वही 'स्वतन्त्र' है। जो किसी पराधीनता से अच्छी अवस्थाको ढूंढ रहा है, उस की यह कल्पना की अच्छी अवस्था 'स्वतन्त्रता' नहीं है। जब ऐसे लोग इस इच्छाको पूरा करने का प्रयत्न करते हैं, तब इन से पराधीनता की अवस्था नहीं छोडी जाती। 'स्वतन्त्रता' अतुलनीय अवस्था है। इसे किसी (अवस्था) से अधिक लाभ की आशा के रूप में मत देखो। क्योंकि हितमें कभी कभी धन और प्राण दोनों नष्ट होने पाये जाते हैं। पराधीनता के अच्छा न लगने की अवस्था में मनुष्य पराधीन बना रहता है। जिनकी अधीनता स्वीकार कर ली है, उन के अधीन रहने से स्वार्थ सिद्ध नहीं होता और निष्कंट भोग भोगने का अवसर नहीं मिलता. इन दो कमियों को दूर करने की इच्छा पराधीनता को अच्छा नहीं लगने देती।

अपने भोगके मार्गमें दूसरों का शासन, उनका अबाध ऐश्वर्य और उनकी भोगतृप्ति ये सब बातें उसके मनमें डाह उत्पन्न करती हैं। डाह और स्वतन्त्रता का जन्मवैर है। स्वतन्त्र मनोवृत्ति रखनेवाला मनुष्य एक क्षणके लिए भी पराधीनता को स्वीकार करके ईर्ष्या और अनुताप नहीं करता। वह इसलिए स्वतन्त्र नहीं बना, कि उसे पराधीनता अच्छी नहीं लगती थी। किन्तु इसलिए बना है, कि स्वतन्त्रता सच्चे मनुष्यों की स्वाभाविक अवस्था है। सच्चे मनुष्य उस के बिना नहीं रहते। इस मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्य कभी किसी से डाह नहीं करते। उनकी स्वतन्त्रता में भोगों को स्थान नहीं है। इन की स्वतन्त्रता भोगों को अवसर देने- वाली 'स्वतन्त्रता' नहीं है। मनुष्य जब पहले भोगेच्छासे सताया जा चुकता है, तब ही उसकी तृप्ति के लिए अनुकूल अवस्था पाना चाहता है और तब ही दूसरों से डाह करता है।

भोगेच्छाओंके सताए हुए कुछ लोग स्वतन्त्रताका झूठा मिठास चाखनेके लिए अपनी कल्पनाके पराधीन देशको छोडकर किसी स्वाधीन समझे हुए देशमें भाग जाना या अपनी मनमानी रीतिसे विरोधी शक्तिको चोट पहुंचाना चाहते हैं। किन्तु ये मार्ग स्वतन्त्र होनेके नहीं हैं। इस प्रकारकी इच्छा करने- वाले इस प्रकारके असंगत काम करके इस सचाई को ढकना चाहते हैं, कि हममें स्वतन्त्रता दिलाने- वाली आत्मशक्ति नहीं है।

यह पराधीनता के दुःखों से छुटकारा पाने की मनोवृत्ति है। इस में स्वाधीनताके उल्लास का लेश भी नहीं है। इसमें अपने को दबानेवालों के समान दूसरों को दबाने की इच्छा छिपी हुई है। इसमें उन को अपनी इच्छा पूरा करने के लिए विवश करने की बेसमझी काम कर रही है। औरों को अपने अधीन करना, या उनपर दबाव डालकर, उन्हें विवश करके अपनी स्वार्थमयी इच्छा पूरी करना, दोनों पराधीन मनोदशासे उत्पन्न होनेवाले व्यर्थ परिश्रम हैं। इसमें यह धोका काम कर रहा है, कि दूसरों ने हमारी स्वतन्त्रता छीन ली है और उसे अपनी मुट्ठी में बन्द कर रखा है; इसलिए उन्हें इतना विवश करो कि वे अपनी मुट्ठी खोल दें, और हमारी स्वतन्त्रता हमें दे दें। जब ये लोग अपने को उन्हें इतना विवश करने में असमर्थ पाते हैं, तब पराधीनतारूपी दुःख से बचने के लिए उल्टे सीधे उपाय ढूंढने लगते हैं।

ये दुःख से बचने की इच्छाको ही सुख की इच्छा समझते हैं। ये मनुष्यता नामवाले सच्चे सुखके स्वतन्त्र अतुलनीय अस्तित्व को नहीं पहचानते। इनके मन में ऐश्वर्य को निष्कंटक रूपसे भोगने की इच्छा छिपी हुई है। ऐसे मनुष्य, अपनी इच्छासे पराधीन बननेवालों को ही अपने अधीन बनानेवाले

पशुशक्ति का निष्कण्टक ऐश्वर्य देखकर, उससे डाह करके, अपने भोगों में विघ्न देखकर, 'देशत्याग' या 'देहत्याग' करने पर उतारू हो जाते हैं। इसे उनका 'देशप्रेम' नहीं कहा जा सकता। यह उनका 'भोगप्रेम' है। इसमें उनकी भोगेच्छा पूरी होनेमें अधिक शक्तिशाली रुकावट से डरकर भाग खडा होने की प्रवृत्ति है। जबतक मनुष्य दूसरों को अपने से अधिक शक्तिमान् समझेगा, जबतक अपने को उनकी तुलनासे अधिक शक्तिमान् बनाने की चिन्ता, होड और प्रयत्न करता रहेगा, तबतक दुर्बल रहेगा और पराधीनतासे नहीं छूटेगा। ऐसे लोग स्वतन्त्रता के स्वरूप को न समझकर यों ही स्वतन्त्रता का झण्डा उठा लेते हैं और स्वयं हारकर, स्वतन्त्रता को कलंकित करनेका नाटक कर बैठते हैं।

ऐसे लोगोंको एक बात समझनी चाहिये, कि दूसरे लोग हमारे भोगों के साधनों को ही अपने अधिकार में कर सकते हैं, हमारी स्वतन्त्रता को नहीं। हमारी स्वतन्त्रता को अपने अधिकार में करना किसी के भी वश में नहीं है। कारण यह है, कि 'स्वतन्त्रता' मिट्टी पत्थर का टुकडा नहीं है, जिस पर कोई अधिकार जमा सके।

वह तो स्वतन्त्र मनों में बसनेवाली अदम्य और अनभिभवनीय पवित्र मनोदशा है। उस पर स्वतन्त्र मनुष्य के अतिरिक्त किसी दूसरे का अधिकार नहीं जम सकता। अर्थात् मनुष्य की स्वतन्त्रता को कोई नहीं छीन सकता। सच्ची स्वतन्त्रता छीननेवाला सदा असफल रहता है। स्वतन्त्र मनुष्य स्वतन्त्रता की रक्षा में अतुल शक्तिमान् होता है। कहा जा चुका है, कि स्वतन्त्रता पाने की वस्तु नहीं है, किन्तु रक्षा करनेयोग्य मनोदशा है। वह अतुलनीय अवस्था है। जब मनुष्य किसी से अपनी तुलना नहीं करता और पूर्ण शक्तिमान् रहनेका निश्चय कर लेता है, तब 'स्वतंत्र' हो जाता है। 'स्वतन्त्रता' ही सच्चा 'देशप्रेम' है।

स्वतन्त्र बन चुकने पर ही 'देशप्रेम' का अभिप्राय पूरा होता है, उससे प्रथम नहीं। परतन्त्र या दास मनुष्य 'देशप्रेम' नामक धर्म का पालन नहीं कर सकते। मनुष्य को स्वतन्त्र हो जाने पर ही दासता का रूप समझमें आता है। दास रहते हुए दासता के विषैले प्रभाव तक मनुष्य का ध्यान नहीं पहुंचता। अन्धेरे में आंख खोलने और बन्द करने का अन्तर समझ में नहीं आता। प्रकाश में आंख खोल कर प्रकाश देखना और बन्द करके अन्धेरे को समझना हो सकता है। अन्धेरे में रहकर न तो उसे अपनी स्थितिसे भिन्न स्थिति समझा जा सकता है और न उसे अन्धेरा समझा जा सकता है। भोगोंको ही सब कुछ (अर्थात् मनुष्यजीवन का सर्वस्व) मान कर निज़ी धन बटोरने और उसकी रक्षा करने में लगे हुए भोगपरायण मनुष्यों को, किसी न किसी की दासता करनी ही पडती है। दासता में रंगा हुआ उनका बेसमझ मन, उसके विषैले घातक प्रभाव को नहीं समझने देता। वह दासता से नहीं बच सकता और उससे विपरीत 'स्वतन्त्रता' को नहीं अपना सकता। विषयभोगों को ही सब कुछ माननेवाले संसार को एक दूसरे का दास रहना ही पडेगा। जब एक दास मनुष्य किसी का दास बनना स्वीकार कर लेगा, तब दूसरा दास उसका प्रभु बन जायगा। ऐसे प्रभु का प्रभु बनने का अपराधी कहना असंगत होगा। एक दास हो तो दूसरे को प्रभु बनना ही पडता है। एक दास यदि भोगी बनेगा, तो दूसरे दास को उसका परिचारक बनना पडेगा। यदि एक दास अत्याचारी बनेगा, तो दूसरे दास को अत्याचारपीडित बनना पडेगा। दास और प्रभु, शासक और शासित, शोषक और शोषित, अत्याचारी और पीडित में सब एक दूसरे के दास हैं। इनमें कोई किसी से श्रेष्ठ या ऊंचा नहीं है।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इनमें से एक सिंहासन पर बैठा हुआ दीखता हो और दूसरा उसके पैर चाटता हुआ दिखाई देता हो, एक के हाथ में शासन का दण्ड और दूसरे के सिर पर उसकी चोट पडती दीखती हो, एक लूटता दीखता हो और

दूसरा लुटता हुआ पाया जाता हो। एककी गोद में सौभाग्यलक्ष्मी हो और दूसरे की छातीपर दरिद्रता के पत्थर लदे हुए हों, एकके हाथ में तलवार की मूठ हो और दूसरे की गरदन पर तलवार की धार हो; तथापि इन सब विपरीत दीखनेवाली स्थितियों में एक ही मनोवृत्ति काम करती है। यद्यपि ये स्थिति विपरीत और भिन्नसी दिखाई देती हैं, परन्तु ये विपरीत और भिन्न नहीं हैं। इस मनोवृत्तिवाले मनुष्य सबलसे पिटते हैं और निर्बलको पीटते हैं, मारनेवालेसे भागते हैं और भागनेवालेको मारते हैं। इन पीटने और पीटनेवाले, तथा मारने और भागनेवाले दोनोंमें से कोई भी वीर नहीं है। इन सब में एक समानता है। इन सब के मनों में एक ही शैतान नाच रहा है। इन सबके मन एकसे दुखिया एकसे नरकभोजी और एकसे नरभक्षक हैं।

भोगेच्छा में असत्यपर विजय पानेसे विमुखता रहती है। भोगाभिलाषा, आत्मविश्वास और आत्मशक्ति दोनोंको खा जाती है। भोगाभिलाषीयों के भाग्य में निराशा, नपुंसकता और पददलन लिखे हुए हैं। जो अपनी भोगेच्छाके लिए, विरोधी अवस्था को पराभूत करना चाहेगा, वह अपनी भोगेच्छा नाम की निर्बलता के कारण पुरुषार्थ दिखाने के अवसर पर पुरुषार्थ नहीं दिखा सकेगा। भोगही भोगासक्त मनुष्योंका लक्ष्य होता है, वीरता नहीं। भोगासक्त मनुष्य वीरताकी कल्पना भी नहीं कर सकते। निरीह मनुष्य ही वीरता दिखा सकते हैं। मनुष्यता को अपमानित करनेवाली अवस्थाओं को पराभूत कर डालना 'स्वतन्त्रता' है। स्वतन्त्रता में असत्य को कुचल डालने का उल्लास भरा हुआ है। स्वतन्त्रतामें ही मनुष्य की पूर्ण शक्ति का विकास होता है।

'स्वतन्त्रता' मनुष्य का व्यक्तिगत धर्म है। जब तक मनुष्य समाज के पीछे चलता रहेगा, या उसे अपने पीछे चलाने का प्रयत्न करता रहेगा, तबतक उसके मन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति व्यय करने की भावना नहीं जागेगी और तबतक उसकी आंखों के सामने, उसके पूर्ण उद्यम को ललकारनेवाली आदर्श अवस्था नहीं आएगी। इस अवस्थाको स्वतन्त्रताविमुख या उसका विरोध करनेवाली अवस्था कहना चाहिए। जिस समय मनुष्य निरपेक्ष होकर साथ में दूसरों के होने न होने की अपेक्षा करके, 'मैं स्वतन्त्र हूँ' यह कहकर अपने सिरको संमान से ऊंचा करके खडा हो जायगा, तब वह 'स्वतन्त्र' बन जायगा। ऐसा मनुष्य अपने जीवनमें सत्यको प्रकट करके समाजके सम्मुख रख देगा। वह अपने अकेले जीवन से समाज को सत्यारूढ रहने का मार्ग दिखा देगा।

स्वतन्त्र मनुष्य दूसरों से अपने साथ चलने के लिए कभी कुछ नहीं कहेगा। जो कोई सत्यको पकड लेगा वही उसका साथी बन जायगा। वह विश्वास करेगा, कि सत्यही सबका सच्चा साथी है। सत्य को पकड कर कोई उसे नहीं छोड सकता। यही वह आदर्श है, जो संसार में स्वतन्त्र राष्ट्रों का निर्माण किया करता है। इस आदर्श का प्रेम 'देशप्रेम' कहाता है। पृथिवी के किसी प्रदेश का प्रेम 'देशप्रेम' नहीं है। उसे तो 'देशमोह' कहा जा सकता है।

केवल भारत में जन्म लेने के कारण, किसी भारतवासी का, अपने को पराधीन समझना, युक्तिसङ्गत नहीं। केवल किसी पराधीन समझे हुए देश में जन्म ले लेने से ही, कोई 'पराधीन' नहीं बन जाता। किन्तु मन में पराधीनता को स्वीकार करके 'पराधीन' बनता है। यद्यपि भारत के वर्तमान समाजने आज पराधीनता को स्वीकार कर रखा है, परन्तु केवल इसी बहाने को लेकर, स्वाधीनता का उपासक कोई भी सच्चा देशप्रेमी, अपने को 'पराधीन' स्वीकार नहीं कर सकता। यदि मनुष्य इस प्रकार 'पराधीन' बन जाया करे, तो फिर संसार में 'स्वाधीनता' नाम की कोई मनुष्योचित अवस्था न रहे। दूसरों की देखादेखी, या सुनासुनी, किसी अवस्थाको अपनी अवस्था कहने लगना 'पराधीनता' है। क्योंकि इस देशके अधिक लोग अपने

को पराधीन कहते हैं, यह बहाना 'स्वाधीन' मनुष्य को 'पराधीन' नहीं बना सकता । इस मनोवृत्तिको लेकर तो मनुष्य चाहे, जिस देश में रहे, वहीं 'पराधीन' हो जायगा । यदि तुम सत्य पर सुप्रतिष्ठित रहना चाहते हो, तो ऐसी पराधीन मनोदशासे बचे रहो। किसी के कहने से विना विचारे किसी अवस्था को कभी मत अपनाओ। सोच समझ कर किसी अवस्था को अपनाओ। यही मनुष्योचित स्वाभाविक 'स्वतन्त्रता' है। किसी देश में जन्म लेने के साथ 'स्वतन्त्रता' का कोई सम्बन्ध नहीं है।

किसी देश में जन्ममृत्यु होना सृष्टिव्यवस्था के अधीन है। इस विषय में मनुष्य 'स्वतन्त्र' नहीं है। देह का जन्म और इसी की मृत्यु होती है। देह की जन्ममृत्यु के बीच में इसे कुमारावस्था, यौवन, जरा, व्याधि आदि अवस्था क्रमक्रमसे प्राप्त होती रहती हैं। इन अवस्थाओं को पाने में भी मनुष्य 'स्वतन्त्र' नहीं है। ये सब अवस्था सृष्टिव्यवस्था से आती हैं और चली जाती हैं। जो मनुष्य देहों की इन अपने आप आनेजानेवाली अवश्यंभावी गतियों को, अपने वश में करनेका दुःसाहस दिखाता है, वह भ्रम में फंसकर सुखदुःखरूपी पराधीनता भोगने लगता है। यदि कोई अपने को किसी बाह्य परिस्थिति में जन्म लेनेसे ही, उस (परिस्थिति) से बन्धा हुआ मानकर, अपने स्वरूप को भूल कर, अपने को सच्चा, पूर्ण मनुष्य कहना छोडकर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, धनवान्, दरिद्र, रोगी, स्वस्थ, स्वतन्त्र या परतन्त्र मान ले और अपने अस्तित्व को उसी बाह्य परिस्थिति में सीमित कर ले, तो वह भ्रान्तिजाल में उलझा हुआ रह जाय। तब वह 'स्वतन्त्रता' के सच्चे स्वरूप को कदापि न समझ सके।

क्योंकि हम स्वाधीन देश में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये हम 'स्वाधीन' हैं और क्योंकि हम पराधीन देश में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये हम 'पराधीन' हैं; इस प्रकार की विचारहीन भावनाओंके पेट में पराधीनताओं के बीज छिपे हुए हैं। यदि कोई मनुष्य इस विस्तीर्ण भूमण्डल के किसी खण्ड में जन्म लेकर 'स्वाधीन' और 'पराधीन' बन जाता हो, यदि 'स्वाधीन' और 'पराधीन' बनने में मनुष्य का कोई कर्तापन न हो, तो मानना पडेगा, कि 'पराधीन' समझे जानेवाले के 'स्वाधीन' बनने का केवल यही मार्ग है, कि वह अपने देश की सीमा को छोडकर चला जाय और किसी स्वाधीन समझे जानेवाले देश की सीमा में जाकर घुस जाय।

निश्चय ही ऐसी स्वतन्त्रता 'स्वतंत्रता' नहीं होगी। यह नपुंसक लोगों की 'स्वाधीनता' होगी। ऐसी स्वाधीनता के उपासक लोग अपनी नपुंसकता के हालाहल को भी छोडना नहीं चाहते और स्वाधीनता के अमृत को भी चख लेना चाहते हैं। परन्तु ये दोनों स्वाद किसी एकको कभी नहीं मिलते। जो लोग स्वतंत्रता को पृथिवीकी वस्तु समझते हैं और पृथिवीकी सीमाके बन्धनमें रहते हैं, उन्हें अपनी भीरुओंमें पायी जानेवाली नपुंसकता ही स्वाधीनता दीखती है। मनुष्य भारत या चाहे जहां जन्म ले, जन्म लेते ही मनुष्यता का (अर्थात् स्वतन्त्रता का) अधिकारी तथा उसकी रक्षा के लिए पूर्ण शक्तिमान् होता है। विधाताने भारत की मिट्टी में 'पराधीनता' की तथा दूसरे देशों की मिट्टी में 'स्वतन्त्रता' की छाप नहीं मार रखी। मनुष्य भूलसे किसी देशको 'स्वाधीन' और किसी को 'पराधीन' मान लेता है। अज्ञानी मनुष्य 'स्वाधीनता' के सच्चे रूपको नहीं समझता। किसी देशमें जन्म लेना 'स्वाधीन' या 'पराधीन' होनेका कारण नहीं है।

देश की भूमि और उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थों पर, उसी देशके सम्पूर्ण मनुष्यसमाज का स्वाभाविक सामूहिक अधिकार है। इनपर निज रूपमें किसी एक मनुष्यका कोई अधिकार नहीं है। यही कारण है, कि भूमि और उसमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थों से किसी मनुष्य की निजी स्वतन्त्रताका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि यह भूमि किसी मनुष्य की होती, त

इस (भूमि) से उसकी स्वतन्त्रता का सम्बन्ध होता। यदि किसी देश का मनुष्य-समाज, अपनी भूमिका सामूहिक अधिकार, अपने हाथ में न रख सके, तो भी कोई अकेला मनुष्य चाहे, तो वह अपनी निजी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रख सकता है और ऐसा करने में उसे कोई असुविधा नहीं हो सकती। प्रत्येक स्वतन्त्रताभिलाषी मनुष्य का यही निजी कर्तव्य है, कि वह अपनी निजी स्वतन्त्रता पर चोट न आने दे। कहा जा चुका हो कि 'स्वतंत्रता' सामूहिक धर्म नहीं है। वह तो प्रत्येक मनुष्य का निजी अधिकार है। 'स्वतन्त्रता' समाज को साथ मिलकर भोगने की वस्तु नहीं है। वह अकेले भोगने की वस्तु है। परतन्त्र न रहने का अदम्य हठ ही 'स्वतन्त्रता' है।

स्वतंत्रता की नियमावली में ऐसा कोई नियम नहीं है कि पराधीन समाज में रहनेवाले मनुष्यको 'पराधीनता' और स्वाधीन समाज में रहनेवाले मनुष्यको 'स्वाधीनता' मिल जाती हो। पृथिवी के किसी भागपर किसी मनुष्य का निजी अधिकार नहीं हो सकता। मनुष्य का निजी अधिकार केवल अपने मनपर है। मनुष्य का मन एक ऐसा क्षेत्र है, जहां दूसरे किसीका अधिकार नहीं होना चाहिए। मनुष्य के मनपर दूसरे का अधिकार या प्रभाव जम जाना 'पशुता की अवस्था' है। अपनी अपनी स्वाधीन मनोदशाही 'मनुष्यका अधिकार' है। स्वतन्त्रता की रक्षा करने का क्षेत्र अपनी अपनी स्वतन्त्र मन ही है। मनुष्य को उससे बाहर कहीं भी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं करनी पडती।

जिस भूमिपर रहनेवाला मनुष्यसमाज, स्वतंत्र मनुष्यों से बना होता है, वहां की भूमि तथा उसमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ, समाजकी सामूहिक संपत्ति होते हैं, और ये सब पदार्थ प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने के साधन के रूपमें काममें आते हैं। परन्तु जिस भूमिपर बसनेवाला समाज परतंत्र मनुष्यों से बना होता है, उस देशकी भूमि और उसमें उत्पन्न हुए पदार्थ, उन मनुष्यों की स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके काममें नहीं आते। तब ये सब पदार्थ इनपर अपना निजी अधिकार जमानेवाले किसी स्वार्थी मनुष्य की या किसी स्वार्थी समूहकी संपत्ति बन जाते हैं। फिर ये सब पदार्थ, उस देशवासियों की स्वतंत्रता को छीनने के काममें आने लगते हैं। वे इस प्रकार आने लगते हैं, कि उस देशवासी स्वार्थी मनुष्य, उन पदार्थोंपर अपना अपना निजी अधिकार स्थापित करने में फँस जाते हैं। तब इन पदार्थों के मोह के कारण इन की स्वतंत्रता दूसरों से छिनती रहती है। यों वे पदार्थ उनकी स्वतंत्रता हरने के काम में लाये जाते हैं।

पृथिवीपर अधिकार जमानेसे 'स्वतंत्रता' का कोई संबन्ध नहीं है। पृथिवी का ऐसा कोई टुकडा नहीं है, जिसपर किसी निजी अधिकार जमानेवाले मनुष्यने या किसी समूहने अपना निजी अधिकार न जमा रखा हो। तुम पृथिवीपर जहां कहीं पैर रखोगे उसको निजी मालिक या तो तुम या कोई दूसरा मनुष्य या कोई समूह होगा। तब क्या तुम यह कहोगे, कि पृथिवीपर स्वतंत्र मनुष्यसमाज कहीं नहीं है? संसारकी सारी भूमि लोगोंने बांट रखी है। तब क्या कोई स्वतंत्र व्यक्ति उन सब अनधिकारियों से भूमिका अधिकार छीनता फिरेगा और उसपर अपना अधिकार जमाता फिरेगा? क्या किसी अकेले स्वतंत्र मनुष्य का ऐसा उत्तरदायित्व माना जा सकता है? नहीं नहीं, अकेले किसी स्वतंत्र मनुष्य का यह उत्तरदायित्व नहीं है, कि वह भूमियोंपर अधिकार जमाकर बैठे हुए मनुष्यों या उनके समूहों के हाथ से भूमि छीने और उसे समाजकी सार्वजनिक संपत्ति बनाये और तब अपने को 'स्वतंत्र' बनायें। ऐसा करना किसी एक मनुष्यकी शक्ति से बाहर है। यह काम उस देशके संपूर्ण मनुष्यसमाज का है। मनुष्य जिस काम को अकेला नहीं कर सकता, उसे न करना, उसकी

कर्तव्यहीनता नहीं होती। जैसे किसी भूमिमें जन्म लेनेको, अपना दुर्भाग्य मानकर, आत्महत्या करके, स्वतंत्रतारूपी सौभाग्य को पाने की इच्छा अनुचित और अग्राह्य है; इसी प्रकार अपनी निजी शक्तिसे न साधनेवाले कामको कर्तव्य मान-कर, उसे करने लगना, अकर्तव्य करना है। कहने का तात्पर्य यही है, कि तुम अपने को अपने समाज की निर्बलतासे निर्बल भी मत समझो और उसकी शक्ति से शक्तिमान् भी मत मानो। तुम केवल अपनी शक्ति से केवल उस स्वतंत्रताकी रक्षा करो, जिसकी रक्षा करनेमें तुम अनन्त शक्तिमान् हो। इसी को स्वतंत्रता की रक्षा करना कहा जाता है।

यदि किसी किसी देश के वासियों ने अपने सामूहिक अधिकारवाली भूमिको व्यक्तिगत (निजी) अधिकारों के बन्धनों में फांस डाला हो और वे उसका दुरुपयोग कर रहे हों, तो यह किसी एक मनुष्य का काम नहीं है, कि वह अपनी निजी (व्यक्तिगत) शक्ति से उस सारे भूखण्ड के या उसके किसी भाग के दुरुपयोग को रोके। कोई भी अकेला मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। ऐसे सब उद्योग स्वतंत्र मनुष्यों की शक्ति और अधिकार से बाहर होते हैं। अपनी शक्ति और अधिकार से बाहर के काम में हाथ डालना अकर्तव्य है। ऐसा करना शक्तिका दुरुपयोग है।

यदि किसी देशके मनुष्यसमाजने अपनी कर्तव्यभ्रष्टतासे अपनी भूमिको अपने से अधिक शारीरिक शक्ति रखनेवाले अधिकारी मनुष्य या किसी समूहको सौंप दिया हो, तो उस भूमिको, उस अनधिकारी के पंजोंसे छुडाना उस सारे समाज का सामूहिक कर्तव्य है। जिस दिन उस समाज का प्रत्येक मनुष्य अपने को निजी संपत्ति बनाने के लोभरूपी पापसे मुक्त कर लेगा, उस दिन उन मनुष्यों की शक्ति एकत्रित होगी, वह सामूहिक शक्ति बनेगी और स्वभाव से समाज के सामूहिक अधिकार की रक्षा करने में तत्पर होगी। निजी धन कमाने के लोभ से बचे हुए मनुष्यों की सामूहिक शक्ति, देशमें अनधिकारी दस्युओं का ठहरना असंभव बना देगी। परन्तु जब तक पराधीन समाज निजी धन के लोभ-रूपी पापका प्रायश्चित्त न करेगा और जबतक उसका किया हुआ प्रायश्चित्त पायी हुई स्वतंत्रता के रूप में प्रकट नहीं होगा, तब तक कोई भी स्वतंत्र मनुष्य स्वतंत्रता की प्रतीक्षामें बैठा नहीं रह सकता।

ऐसा करना अकर्तव्य होगा। कोई स्वतंत्र मनुष्य सामूहिक स्वतंत्रताकी प्रतीक्षामें अपनी निजी (व्यक्तिगत) स्वतंत्रताको कैसे स्थगित कर सकता है? क्योंकि ऐसा करना परतंत्रता को स्वीकार करना और सामूहिक स्वतंत्रताको भी असंभव बना देना है। सामूहिक स्वतंत्रताकी प्रतीक्षामें बैठनेवाले अज्ञानी मनुष्य (सामूहिक स्वतंत्रतानाम की काल्पनिक) स्वतंत्रताकी प्रतीक्षा में, अपनी सच्ची व्यक्तिगत स्वतंत्रताको तो स्थगित कर देते हैं, और इस भ्रम में पडकर अपने अनुयायीसमूह बनाने की चिन्तामें जुट पडते हैं, कि पहले हम सामूहिक स्वतंत्रता पालें, पीछेसे हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता मिलेगी। परन्तु बात इससे सर्वथा विपरीत है। पहले व्यक्तिगत रूपमें स्वतंत्र रहने का अदम्य निश्चय करके, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उपार्जन किया जाता है, पीछेसे ऐसे स्वतंत्र मनुष्यों के मिलनसे सामाजिक स्वतंत्रता का जन्म होता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रताही सामूहिक स्वतंत्रताकी माता है।

यदि कोई समाज अपने देशपर अपना अधिकार रखने में असमर्थ होकर, उसे दूसरों के अधिकार में छोड चुका हो, और कोई एक मनुष्य संपूर्ण समाज से पृथक् होकर उस अधिकार को अकेला प्राप्त कर लेना चाहता हो, तो वह असाध्य प्रयत्न कर रहा है। ऐसे लोग वैसे असाध्य कामों में हाथ लगाने से पहले, सामूहिक शक्ति बनाने के वृथाडम्बर में लग जाते हैं और अन्तमें

अपने को अशक्त पाकर उस काम को छोडने के लिये विवश हो जाते हैं। असाध्य कामों में शक्ति का दुरुपयोग होता है। साध्य कामों में मनुष्यकी अनन्त शक्ति को प्रकट होनेका अवसर प्राप्त होता है। शरीरों से होनेवाले कामों में, मनुष्यकी व्यक्तिगत शक्ति असफल हो सकती है, परन्तु मानसिक शक्तिसे होनेवाले कामों में, मनुष्यकी अथाह शक्ति प्रकट होती है, वहां वह अनन्त शक्तिमान् पाया जाता है। 'स्वतंत्रता' इसी मानसिक शक्तिसे पालनेयोग्य कर्तव्य है। मनुष्य विचारहीनताके कारण 'स्वतंत्रता'को शारीरिक शक्ति से पालनेयोग्य कर्तव्य मान लेते हैं, और उसके लिये डण्डा, लाठी, बल्लम, छुरा, पिस्तौल आदि का अभ्यास करते हैं। परन्तु संसार में शारीरिक स्वतंत्रता नामकी कोई स्वतंत्रता नहीं है। मानसिक स्वतंत्रताही 'स्वतंत्रता' है।

मनुष्यताविरोधी अवस्थाओं को पराभूत करते रहो। अपने जीवनमें मनुष्यताको विजयी बनाओ, यही 'स्वातन्त्र्यसंग्राम' है। शरीर स्वातन्त्र्य-संग्राम का सैनिक नहीं है, किन्तु वीर मन है। शरीरके बांध दिये जानेपर भी मन स्वातन्त्र्य-संग्राम लडता है। मन शरीरसे काम न ले सकने पर भी स्वातन्त्र्यसंग्राम लडता है। स्वातन्त्र्य-संग्राम की विधि संग्रामके समयही ईश्वर (अर्थात् मनुष्य का शुद्ध मन) बताता है। वह मनमें संसार की मनुष्यताविरोधी बडी से बडी शक्ति को परास्त करके अपने स्थानपर दृढ रहने की शक्ति देता है। उससे मनुष्य मनुष्यताविरोधी बडी से बडी शक्ति को परास्त करता है।

जब मनुष्य किसी भूभागपर जन्म लेता है, तब इस मानसिक स्वतंत्रताका मालिक बनकर जन्म लेता है। वह मानसिक स्वतंत्रता को भोगने में अनन्त शक्तिमान् होकर जन्म लेता है। समाजकी दुर्बलता स्वतंत्र मनुष्यों की मानसिक शक्तियों को संकुचित नहीं कर सकती। किसी मनुष्य का अपने को किसी पराधीन (अर्थात् अपने मनुष्यत्वकी रक्षा न करने वाले) देशके मनुष्यसमाजमें रहने के कारण, स्वतंत्रता का अनधिकारी मान बैठना भ्रान्ति है। एकाकी मनुष्य का केवल इतना कर्तव्य है, कि वह अपने को समाज की सामूहिक दुर्बलता के प्रवाह में न बहने दे, और उसकी सामूहिक दुर्बलता में हस्तक्षेप न करके, व्यक्तिगत रूपमें अपने को दुर्बलताओं से मुक्त रखे। दुर्बलताओंसे बचनेवाली इस कठिन बात का यही सरल उपाय है, कि मनुष्य सम्पत्तिको निजी बनाने के श्रमको छोडकर काम करें। यदि मनुष्य ऐसा करे तो वह देखे कि उसने उसपर आक्रमण करनेवाली सामूहिक दुर्बलता के सारे पहलुओं को एक साथ दबा दिया है और वह 'स्वतंत्र' हो चुका है। स्वतंत्रता का प्रेमही 'देहप्रेम' है।

सन्मार्गपर रहने की आत्मशक्ति 'स्वतंत्रता' है। सत्य के लिये प्रेम 'सन्मार्ग' कहाता है। अपने पवित्र मनके सिवाय किसी दूसरे के अधीन न रहना 'स्वतंत्रता' है। सत्यकी कसौटीपर अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक कर्म की परीक्षा करके, फिर उसका आचरण करना 'स्वतंत्र रहना' है। सत्यहीन मनुष्य असत्य के अनुगामी होते हैं और दासोचित कर्म करते हैं। स्वतंत्र मनुष्यों के मन में सांसारिक आकर्षण नहीं रहते। उनका संपूर्ण आकर्षण स्वतंत्रता की ओर हो जाता है। स्वतंत्र रहने में अपने को अनन्त शक्तिमान् जान जाना ही 'आत्मशक्ति' या 'स्वतंत्रता' कहाती है। अनन्त परमात्मा केवल स्वतंत्रताके रूपमें मनुष्य को दीख सकता है। स्वतंत्रता पानेकी वस्तु नहीं है, किन्तु रक्षा करने की वस्तु है। विद्यमान पदार्थ की रक्षा की जा सकती है। उसे पाने की कल्पना में उसका पास न होना स्वीकार किया जाता है। कल्पना से किसी वस्तु का अभाव मान लेना और फिर उसे पाने की चेष्टा करना, पाने का नाम देकर न पाने की चेष्टा करना है। यह भ्रान्ति है।

संसारी लोगों में 'स्वतंत्रता' या 'स्वाधीनता' का लेश भी नहीं है। स्वाभिमानी, उदार, अप्रभावित, अदम्य जीवन काटनेमें ही 'स्वतंत्रता' या 'स्वाधीनता' है। जिसे दूसरों के संसारी भोगोंसे डाह है और जो उन्हें भोग सकने के लिये स्वतंत्रता चाहता है, वह स्वतंत्रता नहीं चाहता; वह पराधीनता चाहता है। वह दासता में से मिठास चखना चाहता है। वह दासता को सह्य बनाना चाहता है।

मनकी निर्विकार, शान्त, निर्भय, बाह्य प्रभावों को पराभूत, या उपेक्षित करनेवाली स्थिति 'स्वतंत्रता' है। 'स्वतंत्रता' उस अवस्थामें आती है, जब मनमें अपने दृढनिश्चय से न टलने की अदम्य अवस्था आ जाती है। उस अवस्थामें मनको सुखदुःख की अपेक्षा या इनकी अधीनता नहीं रहती। इस अवस्था को स्वतंत्र मन का 'स्वदेश' 'स्वधाम' अर्थात् 'सदा का वासस्थान' कहा जाता है। इस अवस्थामें मनकी सब इच्छा पूरी हो जाती है, या कोई नहीं रहती। यही अवस्था स्वतंत्र मनों की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, और मित्र होती है। स्वतंत्र मन, इस पावनी अवस्था के अमृतमय ह्रदमें डूबे रहकर, उल्लासपूर्ण जीवन बिताते हैं।

'स्वतंत्रता' का यह अर्थ नहीं है, कि अच्छा खाओ, अच्छा पहनो, या किसी अपने समझे हुए विशेष स्थान में रहो, तबही स्वतंत्र बनो, नहीं तो नहीं। किसी विशेष स्थान या परिस्थिति में जन्म लेना या वास होना, मनुष्य के वश में नहीं है।

उसे सृष्टिव्यवस्थानुसार किसी स्थान या अवस्थामें रहना पडता है। जिस बातमें मनुष्य की इच्छा नहीं चलती, उसका विरोध या परिवर्तन भी उसके अधिकार में नहीं होता। क्योंकि किसी विशेष स्थान या देशमें जन्म होना मनुष्यकी इच्छा पर निर्भर नहीं है; इस लिये कोई मनुष्य किसी देश की भूभागसंबन्धी सीमा के साथ अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करने के कर्तव्य का कोई संबन्ध न माने।

जो किसी विशेष देशमें जन्म लेने मात्र से अपने को पराधीन समझ रहा है, वह सृष्टि-प्रबन्धपर यह दोष लगा रहा है, कि उसीने उसे 'पराधीन' बनाया है। परन्तु मनुष्य के विधाता का यह स्वभाव नहीं है, कि वह किसी को 'पराधीन' और किसी को 'स्वाधीन' बनाये। विधाता की सृष्टिरचनामें इस प्रकारकी विषमता नहीं हो सकती। मनुष्य के विधाता की सृष्टि-रचना तब ही सफल हो सकती है, जब उसने मनुष्य को सच्चा मनुष्य बननेका अधिकार देकर उसे उत्पन्न किया हो। मनुष्य अपने प्रभु के इस अभिप्राय को तब ही समझ सकता है, जब उसमें मनुष्यता की रक्षा करनेवाली निम्न बुद्धि जागी हुई हो, कि स्रष्टाने सब मनुष्योंको मनुष्य बनाकर उत्पन्न किया है, उसने किसी को भी मनुष्यता से हीन उत्पन्न नहीं किया।

इसपर भी यदि कोई मनुष्य अपने पराधीन रहने के अपराधको विधातापर लगायेगा, और स्वयं निर्जीव तथा निर्विरोध होकर बैठ जायगा, तो समझना होगा, कि उसका स्रष्टा विश्वस्रष्टा नहीं है, किन्तु पराधीनता का स्रष्टा है। उसके परमात्मा की संपूर्ण सृष्टिशक्ति और सृष्टिरचना की कुशलता, पराधीनता बनाने में समाप्त हो गयी। परन्तु बात यह नहीं है। स्रष्टा ही इस सृष्टि में जन्म लेकर आता है। वह क्या पराधीन रहने के लिये जन्म लेगा? क्या कभी वह पराधीनता को अपना स्वरूप स्वीकार कर सकेगा? नहीं कभी नहीं।

केवल किसी विशेष देशमें जन्म ले लेने से अपनेको पराधीन समझना, अपने में मनुष्यताको अस्वीकार कर देना है। ऐसा करना, देशनामके छिलके को अपना स्वरूप मानकर, उसके बन्धन

में फंसना है। जैसे अंधकारमें बैठकर उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करनेवाला, आंखों के रहते हुए अंधा है, इसी प्रकार जो मनुष्य केवल किसी पराधीन समझे हुए देशमें (किसी भूगोलकी सीमासे बंधनेवाले अज्ञानान्ध पराधीन मनुष्य-समाजमें) जन्म लेनेसे, अपने अनन्त शक्तिमान्, नित्यमुक्त, मानवदेहावतीर्ण परमात्मारूपी स्वरूप को भूल गया हो, और अपने को उपायरहित, पराधीन, निम्न या दास मनुष्य समझ बैठा हो, तो उस पराधीनता के बोझ ढोनेवाले मनुष्यको 'मनुष्य-शरीरधारी पशु' मानना पडेगा।

यदि कोई किसी स्वाधीन समझे जानेवाले देशमें जन्म लेने या उसमें जा बसनेसे अपने को उधारी स्वाधीनता से शक्तिमान् समझता हो, या उसके न रहने से शक्तिहीन मानता हो, वह बाघ की खाल ओढकर अपने स्वरूपको भूल जानेवाले गधे के समान है। ऐसे पुरुष छिलकों के बन्धन में रहते हैं, और अपने भीतर बसनेवाले आत्म-शक्ति या स्वाधीनता नामके दिव्य प्रकाशसे वंचित रहते हैं। ऐसे पुरुष स्वाधीनता के सच्चे उपायों को न समझ कर, दूसरों की कमायी हुई स्वाधीनता भोगना चाहते हैं।

दूसरों की कमायी हुई 'स्वाधीनता' उन्हीं के लिये 'स्वाधीनता' होती है। स्वाधीनता कमाने-वाला ही 'स्वाधीनता' भोग सकता है। जो अपने पौरुषसे 'स्वाधीनता' का उपार्जन नहीं करते, उनके लिये दूसरों की 'स्वाधीनता' 'पराधीन' बन जाती है। कर्मीकमायी 'स्वाधीनता' के आनन्दार्थियों को इन सब बातोंपर विचार करना चाहिये।

जो स्वाधीन रहने के लिये किसी देश या समूह की शक्ति की उपेक्षा कर सकता है, वही 'देश-प्रेमी' है। जो समाज शारीरिक बलको (अर्थात् जनसंख्या और अस्त्रशस्त्रों की शक्ति को) राष्ट्र की संघशक्ति समझने की भूल करता है, और अपने मनुष्यों को इसी पशुशक्ति का अंग बनाकर रखना चाहता है, उसके मनुष्य व्यक्तिगत रूपमें शक्तिहीन बने रहेंगे। वे संघशक्तिके दास अर्थात् पराधीन रहेंगे। ऐसा समाज शक्तिहीन देशों का झुंड बन जायगा। जहां समाज और मनुष्य दोनों शरीरशक्तिके दास होंगे, वहां का समाज स्वाधीन देश कहानेपर भी दुर्बल, पराधीन और मनुष्यत्व-हीन है। 'स्वाधीन देश' या समाज वह है, जो अपने मनुष्यों की स्वतंत्रता को भूगोल की सीमा, शरीरों के संख्याबल या अस्त्रबल आदि किसी भौतिक बन्धन में न रहने दे, किन्तु उन्हें आत्मिक बल से बलवान् बनाये। ऐसा समाज साक्षात् परमात्मा की शक्ति से (अर्थात् प्रत्येक मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बलसे) बलवान् रहनेवाला 'स्वतंत्र समाज' या 'स्वतंत्र देश' है। ऐसे स्वतंत्र समाज अपने मनुष्यों को यह पाठ सिखाते हैं, कि 'तुम मनुष्य हो, तुमने मनुष्यता नाम की स्वतंत्रता के प्रभु बनकर जन्म लिया है, तुम सृष्टिमें जहां जाओगे वहीं स्वतंत्र रहोगे, तुम्हारे साथ सर्वत्र परमात्मा की अनन्त शक्ति रहेगी, वह तुम्हारे बलवान् हृदय में जागी रहकर तुम्हें सदा विजय-गौरव देती रहेगी।' ऐसा स्वतंत्र समाज अपने संपूर्ण मनुष्यों को अपना स्वतंत्र प्रतिनिधि मान-कर अपनी सब आत्मिक, नैतिक और भौतिक शक्तियों से उनकी सेवा करके अपने को धन्य बनाता रहेगा। 'स्वतंत्र समाज' स्वदेश नामकी सीमा के भीतर और बाहर सर्वत्र अपने मनुष्यों की सेवा करता रहेगा।

स्वतंत्र मनुष्य अपने मनको निर्विकार तथा सुरक्षित रखने के लिये, अपने देहों तक को निछावर कर देते हैं और अपने अस्तित्व को सदुपयोग कर लेते हैं। समाजों और मनुष्यों के पारस्परिक संबन्धों से ही समाजों और मनुष्यों के 'स्वतंत्र' या 'परतन्त्र' होने की पहचान होती है।

(क्रमशः)

वेद का उत्तरदायित्व।

[लेखक- श्री० प्रो० परमात्माशरणजी, एम० ए०, पीएच.डी०, हिन्दू यूनि०, बनारस]

वेद के प्रति आर्यसमाज के उत्तरदायित्व के मुख्यतया दो विभाग हैं। एक तो पूर्णतया शुद्ध मूल-संहिता का प्राप्त करना और प्रकाशित करना; दूसरे वेद-भाष्य करना। यह तो दोहराने की आवश्यकता ही नहीं है, कि वेद पर आर्यसमाज को कितनी श्रद्धा है। यों तो वेद हिन्दूमात्र का ही मूल धर्म-ग्रन्थ एवं सब विद्याओं का स्रोत हैं, पर जो महत्त्व वेद को क्रियात्मक रूप से आर्यसमाज के प्रवर्तक ने दिया है, वह किसी आधुनिक सुधारक अथवा महात्माने नहीं दिया। उन्हीं ऋषि दयानन्द की शिक्षा के अनुसार आर्यसमाज वेद का दम भरता है। फलतः आर्यसमाज की समस्त संस्थाएं वेद-प्रचार के उद्देश्य को लेकर ही खोली और चलाई जाती हैं। वेद की शिक्षा और संस्कृति का प्रचार व प्रसार करना ही आर्यसमाज का एक मात्र उद्देश्य है। अब प्रश्न यह उठता है, कि दयानन्द के पीछे आर्यसमाज ने अपने इस एकमात्र उद्देश्य को पूरा करने के लिये क्या कार्य किया ? क्या वेद का प्रचार करने के लिये यह अत्यावश्यक नहीं कि वेद का एक प्रामाणिक मूलपाठ तो हमारे पास हो ? परन्तु हम देखते हैं, कि आर्यसमाज ने आज अपने लगभग ७० वर्ष के जीवन में सर्वथा शुद्ध वेद-संहिता के प्राप्त या तयार करने की ओर ध्यान तक नहीं दिया, उसे प्रकाशित करके जनता तक पहुँचाने की बात ही क्या! विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह बात आर्यसमाज के लिए कुछ कम खेद और लज्जा की नहीं है। जिस पुस्तक को हम समस्त ज्ञान का पुञ्ज और धर्म का स्रोत एवं मूल आधार मानते हैं, उसके प्रति क्रियात्मक दृष्टि से हम इतने उदासीन हों, कि आज ७० वर्ष तक बराबर मौखिक रूप से वेद का डङ्का बजाने के बाद उसकी मूल संहिता का शुद्ध पाठ (Text) भी हमारे पास न हो और ना हम उसे प्राप्त करने के लिए चिन्तित अथवा उत्सुक हों! इस अवस्था पर टीका करने की आवश्यकता नहीं। तनिक सा विचार करने से ही हम अनुभव कर लेंगे, कि यह कितनी शोचनीय और लज्जाजनक अवस्था है! अगर कोई बाहरी विद्वान् हमसे वेद की प्रति माँगने लगे (और ऐसा हो भी चुका है) तो कौनसा संस्करण है, जिसे हम प्रामाणिक कहकर किसी को दे सकें। क्या ऐसी दशा किसी और धर्म-ग्रन्थ की भी है? जिन्द-अवस्ता और तोरेत, कुरान और बाइबिल इत्यादि अनेक धर्म-पुस्तकों के सैंकडों एक से एक उत्तम संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। वेद के प्रामाणिक मूल का अभाव हमारे मानसिक प्रमाद और शिथिलता का द्योतक है।

पाश्चात्योंके यत्न।

मैक्समूलर तथा ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को बड़े परिश्रम से संग्रह करके और यथाशक्ति शुद्ध करके प्रकाशित कराया और उस में लाखों रुपया व्यय हुआ। परंतु न तो यह संस्करण सर्वथा प्रामाणिक तथा शुद्ध हैं और न इतने सस्ते कि कोई व्यक्ति तो क्या साधारण पुस्तकालय भी इनको खरीद सके। इन संस्करणों के एक-एक मूल वेद का मूल्य कई सौ रुपया है, परन्तु हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये (और हमें आशा है) कि वेद की प्रतियाँ मनुष्यमात्र के पास पहुँचा दी जायँ। इतना भी न हो तो कम से कम हिन्दू मात्र के तो हर घराने में वेद की प्रति होनी चाहिये।

वेदभाष्यका वाद।

कुछ काल से कतिपय विद्वानों में वेद-भाष्य के विषय पर वाद-विवाद चल रहा है। इस वादविवाद से तब ही कुछ लाभ निकल सकता है जब दोनों मतों के पोषक व्यक्तिगत भावों से पूर्णतया मुक्त होकर, शुद्ध भाव से और केवल सत्यान्वेषण के उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करें। और यदि किसी का उनसे मतभेद है, तो उसे भी

अपना मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता दें, नाराज न हों और न अपने व्यवहार में अशिष्टता का परिचय ही दें।

मूल संहिता।

परंतु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वेद के प्रति हमारा सर्वोपरि कर्तव्य यह है, कि हम मूल-संहिता की प्रामाणिक लिपि को हस्तगत करके उसे प्रकाशित करें। वेद-भाष्य में अथवा वैदिक देवताओं आदि विषयों के सम्बन्ध में जिन महानुभावों को किन्हीं विद्वानों से मतभेद भी है, उनको भी इस बात से इनकार नहीं हो सकता, कि यदि अन्य बातों को भुला भी दें, तो भी आर्यसमाज को केवल अपने मान तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए वेद के एक प्रामाणिक और सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण का तैयार कराना अत्यावश्यक है। यह संस्करण ऐसा होना चाहिये, जिसे हम गौरव के साथ संसार के विद्वन्मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें और जिसे सब लोग प्रामाणिक मानकर अपने अन्वेषण व स्वाध्याय में उसी प्रकार आधार मानने लगें, जिस प्रकार आजकल मैक्समूलरसम्पादित संस्करण माना जाता है।

संमेलनोंने क्या किया ?

यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह बात समस्त आर्य-महानुभावों एवं आर्य-संस्कृति के प्रेमियों को मान्य होगी। परन्तु विस्मय यह है, कि ऐसा अनुभव करते हुए भी अबतक किसी आर्य-संस्था ने इस कार्य को पूरा करने का यत्न नहीं किया। गत १५ वर्षों के अन्दर आर्यसमाज के चार पाँच सार्वदेशिक तथा प्रान्तीय बड़े-बड़े सम्मेलन हो चुके हैं। लेखक की तुच्छ बुद्धि में इन सम्मेलनों का मुख्य कार्य यह होना चाहिये था कि आर्य-समाज के अबतक के कार्य का सिंहावलोकन करके परिवर्तित परिस्थिति तथा नवीन सामाजिक समस्याओं को दृष्टि में रखकर भावी कार्य-क्रम निर्णय किया जाता और उसको क्रियात्मक रूप दिया जाता। इस सम्बन्ध में कुछ विचार अवश्य हुआ, परन्तु इने-गिने लोगों को छोडकर किसी के हृदय में इस कार्य के लिए उत्साह पैदा न हुआ अथवा कार्यक्षेत्र की परिस्थिति कुछ ऐसी हो गई, कि कोई विचारशील या उन्नतिशील काम करने का अवसर न रहा। परिणाम वही हुआ जो आज हमारे सामने है। इस थोड़े से वास्तविक उन्नतिशील व उदारचित्त विचार के अतिरिक्त कोई ठोस काम न हो पाया। सम्मेलनों और शताब्दियों का रूप वही रहा, जो किसी स्थानीय आर्य-समाज के एक बहुत बड़े उत्सव का हो सकता है। उनमें कोई बात न हुई। उनसे जनता की विकल मानसिक अवस्था और आजकल की अशान्ति का लेशमात्र भी समाधान अथवा संतोष न हो पाया।

आधुनिक संसार की अनेक जटिल समस्याओं का जिनके चङ्गुल में जकडा हुआ आज मनुष्यसमाज तड़प रहा है, इन समारोहों से किसी अंश में भी समाधान न हुआ। कहने को हम चाहे जितना गर्व किये जायँ और अपना ढोल पीटे जायं कि संसार के तापों को दूर करने की कुञ्जी हमारे पास है। पर यह ध्रुव सत्य है, कि संसार के तापों की तो क्या अपने तापों को हरने की दवा भी हमारे पास नहीं है, या यों कहिये कि हम उसे खो बैठे हैं।

पथप्रदर्शन।

हम दुनिया भर का पथप्रदर्शन करने का दावा तो करते हैं, पर स्वयं अंधेरे में हैं और स्वयं यह नहीं जानते कि सन्मार्ग की कुञ्जी तो हमारे पास है, पर वे आँखें तो नहीं जो देख सकें। ऋषि ने यही विवेक-रूप चक्षु हमको प्रदान किये थे और उन्हीं को हम फिर खो बैठे। प्रत्येक आर्यसमाज के उत्सव पर 'वेदों का डङ्का बजाये जायँगे' की ध्वनि तो हमारे कानों में सतत सुनाई पडती है; पर इन शब्दों की जिम्मेवारी कितनी बड़ी है, इसका ध्यान शायद हमें कभी नहीं आता। आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त की जयन्ती के अवसर पर भी लेखक ने आर्यसमाजके सम्मानित नेताओं से यह विनम्र अपील की थी, कि आर्य-संस्कृति की रक्षा एवं उन्नति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है, कि जहाँ एक ओर हम अपने भावी कार्य-क्रम तथा कर्तव्य पर पूर्ण रूप से विचार करके, उसका निर्णय करें, वहाँ वेद का एक शुद्ध और प्रामाणिक संस्करण तैयार कराने की

जल्द से जल्द योजना करें, परन्तु इस कार्य की ओर पूर्ववत् उदासीनता ही बनी रहीं । नक्कारखाने में तूती की कौन सुनता!

वेदका शुद्ध संस्करण।

अब अजमेर आर्य-प्रतिनिधि-सभाकी जयन्ती होनेवाली है। इसलिए मैंने सोचा कि एक बार और याद दिलादूं। शायद कुछ असर हो जाय। अजमेर आर्य प्रतिनिधि-सभा के लिए वेद के शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने कि योजना एक विशेष महत्त्व रखता है। अजमेर में ही महर्षि दयानन्दका जीवनोत्सर्ग हुआ और वहीं पर वैदिक यन्त्रालय स्थापित हुवा। उस बात के मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं है और न बुरा मानना चाहिये, कि चाहे जिस कारण से हो, वैदिक यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित वेदों के संस्करण में छापे की अनेक अशुद्धियाँ हैं। ऐसे संस्करण से बजाय लाभ के हानि है। इसलिए राजस्थान आर्य-प्रतिनिधि-सभा अपनी जयन्ती के उपलक्ष में यदि कोई स्मरणीय कार्य कर सकती है, तो यह कि मूल वेद-संहिता का शुद्ध संस्करण जिस प्रकार हो और जहाँ से मिल सके, उपलब्ध करके प्रकाशित करें।

पं० सातवलेकरजी का प्रयत्न।

इस सम्बन्ध में मेरा इतना वक्तव्य और है, कि श्री० पं० सातवलेकरजी वेद के अनन्य भक्त हैं और उन्होंने अपना जीवन वैदिक साहित्यकी सेवा के ही अर्पण कर दिया है। वेद का सर्वाङ्ग शुद्ध मूल पाठ तैयार करने और छापने के लिए उन्होंने पूरा पूरा प्रयास किया है और मूल संहिता के शुद्ध करने के जितने भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उन सबका प्रयोग उन्होंने किया किया है। यदि उनके तयार किये मूल को ही अपनाकर वेद के कई प्रकार के संस्करण छापे जायँ, तो एक महान् कार्य हो जायगा और आर्यसमाज अपने ऐसे कर्तव्य से उऋण होगा, जिसके पूरा न होनेसे आर्यसमाजको लज्जासे सिर नीचा करना पडता है। दूसरा प्रश्न वेदभाष्यका है। इस विषयमें मैं अपने विचार कभी फिर प्रकट करूँगा।

भूतों का अस्तित्व

(लेखक– श्री० उदयप्रसादजी)

घटना गत आश्विन शुक्ल द्वादशी की है। सूर्य अस्त हो चुका था, परंतु सांध्य अरुणिमा क्षितिज पर छा रही थी। पूर्ण अंधकार नहीं हुआ था। मैं अपनी पत्नी को और वर्ष भर के नन्हे बच्चे को लिये गंडई जमीदारी से बैल-गाडी से घर आ रहा था। सहसा मेरी पत्नी और गाडी-वान की दृष्टि किसी चीज पर पडी और वे दोनों डर गये! भय के कारण उन दोनों ने उस वक्त कुछ न कहा; परन्तु मेरी पत्नी ने खेलते हुये बच्चे को अपनी गोद में इस तरह छिपा लिया, मानों उसे कोई उठा लिये जा रहा हो!

उसके ऐसा करने का कारण पूछने पर कुछ दूर जाने के बाद उसने कहा—

"देखते नहीं, सडक के बाजू पर वह चुडैल खडी है!" मैंने हँस दिया।

इस पर नौकरने मुझे फिर कहा—

"नहीं मालिक, आप इसको छोटी बात न समझिये। मुझे तो बडा डर लगा! वह डायन बच्चे की ओर घूर रही थी; तभी तो मैंने बाईजी को बच्चे को छिपा लेने को कहा। आप लोग तो भूत–प्रेतों पर विश्वास नहीं करते; परन्तु हमें तो इनकी करतूतें अच्छी तरह से मालूम हैं। ईश्वर भला करे! थोडी दूर चल कर बच्चे को मैं झाड फूँक दूंगा, तभी मुझे चैन होगा और आप सामनेवाले नाले तक बराबर पीछे देखते चलें, संभव है कि वह हमारा पीछा करे! इनकी गति बिना अवलम्ब के नदी–नाले पार कर जाने की नहीं होती।"

यों तो मैंने भी उस भयावनी मूर्ति को वहीं पर देख लिया था। मैंने उसे कोई पगली समझकर ध्यान न दिया। काली भयावनी मूर्ति, आधी देहमें चीथडे लपेटे, खुले हुए लम्बे लम्बे बाल, सडक की बाजू में बबूल की डाली पकडे खडी थी। गाडीवान की उक्त व्याख्या तथा पत्नी के भय ने मुझे वस्तुस्थिति की वास्तविकता की जांच करने को मजबूर कर दिया। दोनों ने मना किया; परन्तु मैं न माना हाथ में छडी और टार्च लेकर मौके पर पहुँच ही गया। यही कोई आध फलांग की दूरी तो थी ही। ज्यों की–त्यों वह मूर्ति वहीं पर खडी थी।

अब कुछ अंधेरा हो चला था। इधर–उधर कोई राहगीर नहीं। निपट सुनसान! मेरे भी दिल में कुछ भय का संचार हुआ; परन्तु हिम्मत कर आगे बढा। सडक से नीचे उतरा। वह ज्यों कि त्यों प्रस्तार मूर्ति बनी खडी है। और समीप गया। मैंने जोरसे आवाज कसी, "कौन है?" बस गायब। अब मेरे प्रश्न का उत्तर कौन दे? बडा भय लगा। आगे पीछे देखते वापस तो हो रहा था; परन्तु मेरे पैरों में जंजीरें पड गयी हों या सिर पर मनों पत्थरों के बोझ कदे हुए थे।

गाडी पर आकर ये वाकयात मैंने न अपनी पत्नी से कहे और न गाडीवान से; परन्तु गाडीवानने मेरी मुखाकृति तथा चुप्पी देखकर इतना जरूर कहा "आपने अच्छा नहीं किया। हमें डर है, कि वह चुडैल आपके साथ आ न गयी हो और खास कर इनसे बच्चों के अनिष्टकी आशंका रहती है।"

प्रिय पाठको! यह कल्पित कहानी नहीं है और है न यह औपन्यासिक तूल–तमील! वह बच्चा मेरे जीवनका एक ही अवलंब था। हृष्ट–पुष्ट इतना कि एक बार पत्थरपर पटकने से भी न मरता। हम घर पहुंचे। सहसा बच्चे को एक शिकायत हुई। गलेके अंदर कुछ अटक गया हो, या बच्चे के गले को दबाकर उसे कोई ऐंठ रहा हो। शरीर का

सूखी लकडी के समान होकर अकड जाना और श्वांस का आधा-आधा घण्टा अवरुद्ध हो जाना । आराम होने पर बच्चे का इतना डरना मानों, उसके सामने कोई डरावनी चीज खड़ी हो या उसे कोई उठा लिए जा रहा हो । अपने से बडे बन्दर के साथ कुश्ती लडनेवाला बालक बिल्ली बन गया!

तीन दिनों तक यही हालत रही । कई बार उसके प्राण वापस आये और गये । वैद्य-डाक्टरोंकी इलाजें बेकार हुईं। आखिर एक बार बच्चे की यही हालत हुई और वह मेरा चांद का टुकडा सदा-सर्वदा के लिये मुझ से लूट लिया गया! बारह महीने और बारह दिन के जाग्रत सुखद स्वप्न का तार क्षण भर में टूट गया। वर्ष भर होते आया, परन्तु स्मृति ताजी है।

समय-रूपी परदे के पडने से हृदय के दुःखावेग सह लेने की शक्ति होने पर आज उस दुःखद घटनापर मैं इस लिए प्रकाश डाल रहा हूँ, कि दृश्य जगत् से परे आन्तर जगत् के रहस्यों के अभिज्ञाता तथा अनुभवी इस विषय पर अपने अनुसंधान की बातें संसार के समक्ष रखने की कृपा करेंगे।

सिद्धासन

(ले०– श्री० 'श्याम' शर्मा, बी० ए०)

स्वास्थ्य की उपयोगिता पर संसार के समस्त धर्म और सम्प्रदायों ने यत्किञ्चित् जोर दिया गया है, किंतु विशाल हिन्दू धर्म ने पग-पग पर स्वास्थ्य की महत्ता का प्रदर्शन किया है। हिन्दुओं का कदाचित् ही कोई ऐसा धर्मग्रन्थ हो, जहां इनका उल्लेख न किया गया हो। इनकी ऋतुचर्या और दिनचर्या के प्रत्येक कर्म में, धर्म के प्रत्येक आदेशमें, स्वास्थ्यरक्षा का मूल मंत्र एक वैज्ञानिक कुशलता के साथ मौजूद है। हम उसका पालन भी करते हैं, किन्तु फिर भी आज हमारा स्वास्थ्य संसार की सभी सुसभ्य जातियों से बहुत अधिक गिरा है। कारण? हम अपनी दिनचर्या और धर्म के प्रत्येक कर्तव्य का पालन तो येन-केन प्रकारेण करते हैं, किन्तु उसके वास्तविक आशय और महत्त्व को नहीं समझते! उसकी वैज्ञानिकता के रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं करते। इसीलिए हमारे यावत्कर्म कोरे कर्तव्यपालन और काम चलाऊं होते हैं। उनके प्रति हमारे हृदय में कोई सुदृढ भावना नहीं होती। उदाहरणार्थ, संध्योपासन और स्नान को ही ले लीजिये। हम धार्मिक कृत्य समझकर जल्दी जल्दी, उलटे सीधे, संध्या के समस्त मन्त्रों का एक सांस में पाठ कर जाते हैं। नहाना धर्म है, हमें उसका अभ्यास है, अस्तु जल्दी जल्दी दो चार गडवी पानी उंडेल कर हम इससे छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं। यह कार्य हमारे शारीरिक स्वास्थ्य से कितना अधिक सम्बन्धित है, इसका कोई भाव ही हमारे हृदय में नहीं होता।

सिद्धासन।

भावना और स्वास्थ्य—इन दो का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वास्थ्य ही नहीं बरन संसार का कोई भी काम और जीवन का कोई भी मनोरथ उस समय तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उस के साथ आप की दृढ इच्छाशक्ति काम नहीं करती। आये दिन के अनुभवों से पता चलता है, कि एक व्यायाम करनेवाला व्यक्ति २०-३० मिनट नियमपूर्वक व्यायाम कर थोडे ही दिनों में हट्टाकट्टा बन जाता है। इस के विपरीत एक पत्थर फोडनेवाला मजदूर दिन भर पत्थर तोडकर व्यायाम करनेवाले की अपेक्षा कई गुना हाथों की कसरत अधिक करता है, किन्तु कभी भी भुजाओं की मांस-पेशियां भली भाँति विकसित नहीं होतीं। उत्तर स्पष्ट है। एक के साथ व्यायाम करते समय हृष्टपुष्ट होने की भावना होती है, दूसरे के साथ कोरा कर्तव्यपालन। आप इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को स्मरण रख कर प्रत्येक कार्य कीजिए—फल एकान्त सन्तोषजनक होगा। अंग्रेजी की एक कहावत है—'जैसा सोचोगे वैसा बनोगे!'

आप ५-१० मिनट नित्य संध्या के लिये बैठते होंगे, किन्तु उल्टे सीधे, इसी लिये स्वास्थ्य पर उसका तनिक भी प्रभाव न पडता होगा। आज हम आपको ठीक स्थिति के सम्बन्ध में यहां पर कुछ लिखते हैं। इसके ५-१० मिनट के ही नैमित्तिक अभ्यास से आप के स्वास्थ्य में आशातीत परिवर्तन हो जायगा।

बांये पैर की एंडी गुदा और अण्डकोष के बीच में दृढता से लगाइये। दाहिने पैर की एंडी लिंगेन्द्रिय के ऊपरी (जड से ऊपर) भाग में सटा मजबूती से रखिये। चिबुक (Chin) को कण्ठमूल से सटाकर गर्दन और मेरुदण्ड को एक रेखा में रखें। साथ ही इस भावना को भी दृढ करें, कि आप के शरीर में अभिनव स्फूर्ति का संचार हो रहा है, शारीरिक और मानसिक दुर्बलताएं नष्ट हो रही हैं।

लाभ-शिश्न और गुदाके मध्य में वीर्याशय है। उनके एंडीसे दबने पर रक्तसंचरण की गति तीव्र होगी। फलतः उसमें वीर्य को रोकने और स्राव को सोखने की क्षमता बढेगी। गुदा के सङ्कोचन से उसके आसपास की नाडियों के विकसित होने और ऊपर की ओर खिंचने से वीर्य पुष्ट होगा, स्वप्नदोष की शिकायत दूर होगी और बढी हुई काम-वासना शान्त हो जायगी। इन्द्रिय के ऊपरी भाग में प्रोस्टेट (Prostate) और शिश्न मूल (Cowper) नामक ग्रन्थियां हैं। जिनका रस शुक्र में मिलता है। यौवन और पौरुष में इनका बहुत बडा हिस्सा है। दाहिने पांव की एंडी से दबने पर इनका बहुत सुन्दर व्यायाम होता है। अधिक दृढ होने पर ये अपना स्राव (रतूबत) जल्दी नहीं खारिज करतीं, फलतः वीर्य पुष्ट होता और स्तम्भनशक्ति बढती है। मूत्रव्याधियां नहीं होती हैं। चिबुक को कण्ठमूल में लगाने से सुषुम्ना नाडी जो कि स्नायु का केन्द्र है, ठीक रहती है। साथ ही चुल्लिका (Thyroid) नामक ग्रन्थि प्रभावित होकर अपना कार्य स्वाभाविक गति से करती जाती है। फलस्वरूप शारीरिक विकास ठीक होता, घेरा नहीं बढता और बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

द्वितीय स्थिति।

सिद्धासन में बैठकर दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य भृकुटी में स्थिर करना चाहिये। यहीं पर आधुनिक शरीर-शास्त्र की दृष्टि से एक पिट्युटरी (Pituitary) नामक ग्रन्थि है। जिस का सम्बन्ध शारीरिक पोषण और लैङ्गिक विकास से है। इसका अग्र भाग ज्ञानेन्द्रियों से भी सम्बन्धित है। अस्तु। यहां पर दृष्टि जमाने से मन में एकाग्रता आती है और वासनावेग काबूमें आने लगता है। इन्द्रियों की चंचलता कम होती और शरीर पुष्ट होता है।

विशेष सूचनाएं- सिद्धासन की प्रथमावस्था का अभ्यास १०-१५ मिनट तक और द्वितीय अवस्था का अधिक से अधिक गृहस्थों को ५ मिनट तक करना चाहिये। इस आसन का अभ्यास खुली हवा और एकान्त में कुछ काल तक निरन्तर करना चाहिए। समय अपनी सुविधानुसार प्रातः अथवा सायंकाल।

बद्ध-पद्मासन।

प्रस्तुत चित्र 'बद्धपद्मासन' का है। दोनों हाथोंसे पकडे गये अंगूठों को छोड कर बैठ जाइये, पद्मासन हो जायगा और एक पैर की एंडी ऊपर से हटा कर गुदा और इन्द्रिय के बीच में रखिये सिद्धासन हो जायगा। चित्र

चञ्चल प्रकृतिवालों और वीर्य-व्याधि में फँसे हुये व्यक्तियों के लिये सिद्धासन प्राचीन ऋषियों का एक उत्तम वरदान है। स्वस्थ और निरोग व्यक्ति इसके अभ्यास से और भी अधिक लाभ उठा सकते हैं। आशा है सुविज्ञ पाठक लेखक के परिश्रम को सफल करेंगे।

गेरू के लाभ

(श्री०-महाशय किशोरीलालजी गौड)

यद्यपि गेरू को सब लोग जानते हैं, पर उसके चमत्कारिक गुणों से बहुत थोडे लोग परिचित हैं। गेरू एक प्रकार की लाल रंग की मिट्टी होती है, जो बहुत सस्ती रहती है और देहाती बाजारों तक में सुगमता से मिल जाती है। यदि इस सर्वजन-सुलभ वस्तु के गुण जन-समाज को विदित हो जाएँ, तो इसमें कोई सन्देह नहीं, कि बहुतेरे गरीब लोग इससे अनेक रोगों में लाभ उठा सकेंगे।

देहातों में साधारणतया दीवारें पोतने या चित्र बनानेमें गेरू का उपयोग किया जाता है, पर आयुर्वेद में गेरू एक अपूर्व औषध माना गया है। कई रोगों में इसके अनुपान से औषधियाँ दी जाती हैं। आमाशय और मलाशय के विकारों पर तो यह बहुत ही मुफीद सिद्ध हुआ है। छह माशे गेरू और एक माशा काली मिर्च को छटाक भर पानी के साथ पीस-छान कर पिलाने से खूनी कय में इन पंक्तियों के लेखकने स्वयम् लाभ उठाया है।

तीन माशा गेरू को आध पाव पानी में रगड-छान कर सुबह-शाम पिलाने से दिल की धडकन बन्द होती है, पेशाब की अधिकता भी मिटती है। यदि पसीना अधिक आता हो तो, गेरू को पत्थर पर पानी के साथ पीस कर बदन पर लेप करके घण्टे भर बाद नहा लीजिये। गेरू को बारीक पीस, कपड-छान करके दो-दो माशे खाण्ड के शरबत के साथ अथवा ठण्डे पानी में पीने से सर्दी और पित्त का बुखार उतर जाता है। वात या कफ के बुखारमें गरम पानीका उपयोग करें।

तीन-तीन माशा गेरू सुबह ताजे पानी के साथ खाने से मस्तिष्क की गर्मी शान्त होती है। सुबह गाय की छाछ या ताजे पानी के साथ तीन माशा गेरू खाने से खूनी दस्तों को आराम होता है। गेरू को पत्थर पर घिसकर, गाढा लेप करने और तीन-तीन माशा सुबह-शाम खिलाने से दाद दूर होती है। छह माशा गेरू सुबह-शाम ताजे पानी के साथ खिलाने से उपदंश दूर होता है।

तीन माशा गेरू दो बार बकरी के दूध की लस्सी, ताजा पानी या गाय की छाछ के साथ और शाम को पानी के साथ खिलाने से स्त्रियों का सोमरोग दूर होता है। एक तोला गेरू बारीक पीस रात को मिट्टी के बरतन में पावभर पानी के साथ भिगोकर खुली हवा में रख दें। सुबह निथारकर इस पानी के साथ तीन माशे बारीक पिसा हुआ गेरू खिलाइये। इसी प्रकार सुबह भिगोकर शाम को खिलाने से, सुजाक दूर होता है। ताजे पानी के साथ गेरू खानेसे गरमीकी अधिक प्यास दूर होती है।

आगसे जली जगह पर, ततैया इत्यादि के काटने पर भी इसका लेप करने से लाभ होता है।

यदि किसी जहरी जानवर के काटने से बदन पर खुजली हो गई हो, सुर्ख दाने शरीर पर उभर आये हों, तो ६ माशे गेरू आध पाव पानीमें मिला-छानकर पीना फायदेमन्द होता है।

गेरुवे कपडे संन्यासी पहनते हैं। इसका कारण यह है कि गेरुवे रंगसे लाभ होता है।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात्तं निर्भजामो०।० ॥२६॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं०।०॥२७॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं०।०॥२८॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं०।०॥२९॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं०।०॥३०॥ (१५)

अर्थ-तू (अन्तरिक्षसंशितः वायुतेजाः) अन्तरिक्षमें तेजस्वी और वायुके तेजसे युक्त, (अहं अन्तरिक्षं अनुविक्रमे) मैं अन्तरिक्षमें पराक्रम करता हूं और (अन्तरिक्षात् तं निर्भजामः) अन्तरिक्षसे उसको हटा देते हैं··· ॥ २६ ॥

...(द्यौः संशितः सूर्यतेजाः) तू द्युलोकमें तेजस्वी और सूर्यके तेजसे युक्त है, मैं (दिवं अनुविक्रमे) द्युलोकमें पराक्रम करता हूं और उस द्युलोकसे उसे हटा देता हूं० ॥ २७ ॥······ (दिक्संशितः मनस्तेजाः०) तू दिशाओंमें तेजस्वी और मनके तेजसे युक्त युक्त है, मैं (दिशः०) दिशाओंमें पराक्रम करता हूं और दिशाओंसे उसको हटा देता हूं० ॥ २८ ॥······(आशासंशितः वाततेजाः) तू उपदिशाओंमें तेजस्वी और वातके तेजसे युक्त है, सब उपदिशाओंमें मैं पराक्रम करता हूं और उसको वहांसे हटा देता हूं० ॥ २९ ॥··· (ऋक्संशितः सामतेजाः) ऋग्वेदके ज्ञानसे तेजस्वी और सामके तेजसे युक्त है, मैं (ऋचः अनु-विक्रमे) ऋग्विज्ञानमें पराक्रम करता हूं और ऋचाओंसे उसको हटाता हूं ॥ ३० ॥···

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात्तं०।०॥३१॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं०।०॥३२॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं०।०॥३३॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं०।०॥३४॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥३५॥

अर्थ-(यज्ञसंशितः ब्रह्मतेजाः) तू यज्ञसे तेजस्वी व ज्ञानके तेजसे युक्त है, मैं यज्ञक्षेत्रमें पराक्रम करता हूं और उसको यज्ञसे हटाता हूं० ॥ ३१ ॥ ... (औषधिसंशितः सोमतेजाः) तू औषधिद्वारा तेजस्वी और सोमके तेजसे युक्त है, मैं (ओषधीः अनुविक्रमे) औषधि-विद्यामें पराक्रम करता हूं और औषधियोंसे उसको हटाता हूं० ॥ ३२ ॥... (अप्संशितः वरुणतेजाः) तू जलोंसे तेजस्वी और वरुणके तेजसे युक्त(अपः अनुविक्रमे) जलोंमें मैं पराक्रम करता हूं और जलोंसे उसको हटाता हूं० ॥ ३३ ॥ .... (कृषिसंशितः अन्नतेजाः) तू कृषिसे तेजस्वी और अन्नके तेजसे युक्त है, मैं (कृषिं अनुविक्रमे) कृषिमें पराक्रम करता हूं और कृषिसे उसे हटाता हूं ॥ ३४ ॥.... (प्राणसंशितः पुरुषतेजाः) तू प्राणसे तेजस्वी और पुरुषके तेजसे युक्त है (प्राणं अनुविक्रमे) मैं प्राण-क्षेत्रमें विक्रम करता हूं और (प्राणात् तं निर्भजामः) प्राणसे उसको हटाता हूं, कि जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं, वह न जीवे, उसको प्राण छोड देवे ॥ ३५ ॥

(६)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीद-
मेनमधराञ्चं पादयामि ॥३६॥

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् ।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३७॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते ।
ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३८॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३९॥

---

(६)

अर्थ-(अस्माकं जितं) हमारा विजय है,(अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा प्रभाव है। (विश्वाः पृतना अरातीः अभ्यस्तं) सब शत्रुसेना और वैरी परास्त हुए हैं। (अहं इदं) मैं यह (आमुष्यायणस्य अमुष्याः पुत्रस्य) अमुक गोत्रके अमुक माताके पुत्रके शत्रुके (वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) वर्चस्, तेज, प्राण और आयुको पूर्ण रीतिसे बांधता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) इस तरह इसको मैं नीचे गिराता हूं ॥ ३६ ॥

(सूर्यस्य आवृतं) सूर्यका आवर्तन अर्थात् (दाक्षिणां अन्ववृत्तं) दक्षिण दिशामें गमन है, उसके साथ (अनु आवर्ते) मैं अनुकूल हो कर जाता हूं। (सा मे द्रविणं यच्छतु) वह मुझे धन देवे। (सा मे ब्राह्मण-वर्चसं) वह मुझे ज्ञानतेज देवे ॥ ३७ ॥

(ज्योतिष्मतीः दिशः अभ्यावर्ते) तेजोयुक्त दिशाओंमें मैं गमन करता हूं। वे (ताः ०) मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ३८ ॥

(सप्त ऋषीन् अभ्यावर्ते) सप्त ऋषियोंके अनुकूल गमन करता हूं। (ते०) वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ३९ ॥

*

ब्रह्माभ्यावर्ते ।
तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥ (१६)
ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१॥

(७)

यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै ।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥४२॥
वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि ।
इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद्देवी सहीयसी ॥४३॥
राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि ।
सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥४४॥

अर्थ-(ब्रह्म अभ्यावर्ते) ज्ञानके अनुकूल मैं चलता हूं (तत् ०) वह मुझे धन और ज्ञानका तेज देवें ॥ ४० ॥

(ब्राह्मणां अभ्यावर्ते) ब्राह्मणोंके अनुकूल मैं चलता हूं। (ते ०) वे मुझे धन और ज्ञानतेज देवें ॥ ४१ ॥

(७)

(यं वयं मृगयामहे) जिसे हम ढूंढते हैं, (तं वधैः स्तृणवामहै)उसे वधोंसे-हथियारोंसे नष्ट करते हैं, और (परमेष्ठिनः व्यात्ते) परमेश्वर की विकराल दंष्ट्रामें (तं ब्रह्मणा आपीपदाम) उसे हम ज्ञानके योगसे डाल देते हैं ॥ ४२ ॥

(वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां) ईश्वरकी दाढों द्वारा बननेवाला जो (हेतिः) हथियार है, उससे (तं अभि समदात्) उसका नाश करते हैं। (तं प्सात्वा) उनका नाश करके (इयं समित्) यह जो समिधा इस यज्ञमें डाली जाती है, वह (देवी सहीयसी) शत्रुको दूर करनेके लिये समर्थ है ॥ ४३ ॥

(वरुणस्य राज्ञः बन्धः असि) वरुणराजके तू बंधनमें पडा है, (सः अमुं) वह इस (अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं) इस गोत्रके अमुक माता के पुत्रको (अन्ने प्राणे बधान) अन्न और प्राणमें बांध देता हूं ॥ ४४ ॥

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥४५॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥४६॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥४७॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥४८॥

अर्थ-हे(भुवः पते) पृथ्वीके स्वामी! (यत् ते अन्नं) जो तेरा अन्न(पृथिवीं अनु आक्षियति) पृथ्वीपर है, हे (प्रजापते) प्रजाके पालक! (तस्य त्वं नः संप्रयच्छ) तुम उसको हमें प्रदान करो ॥ ४५ ॥

हे दिव्य (आपः) जलो! (अयाचिषं)याचना करता हूं,कि (रसेन समपृक्ष्महि) हमें रससे संयुक्त करो। हे (अग्ने) अग्ने! (पयस्वान् आगमं) रसके साथ मैं आ रहा हूं (तं मा वर्चसा सं सृज) मुझे तेजसे युक्त कर ॥ ४६ ॥

हे अग्ने! (मा वर्चसा संसृज) मुझे तेजसे युक्त कर, (प्रजया आयुषा सं) प्रजा और आयुसे युक्त कर। (देवाः अस्य मे विद्युः) देवता मेरे इस भाव को जानें। (इन्द्रः ऋषिभिः सह विद्यात्) इन्द्र ऋषियोंके साथ इस विषयको जानें ॥ ४७ ॥

हे अग्ने! (यत् अद्य मिथुना शपातः) आज जो मिलकर गाली देते हैं, (यत् रेभाः वाचः तष्टं जनयन्तं) जो वक्ता वाणीका दोष करते हैं, (या मन्योः मनसः शरव्या जायते) जो क्रोधसे मनकी हिंसा होती है,(तया यातुधानान् हृदये विध्य) उससे दुष्टोंके हृदयोंका वेध कर ॥ ४८ ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवां छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥४९॥
अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥५०॥ (१७)

अर्थ-(यातुधानान् तपसा परा शृणीहि) दुष्टोंको अपने तापसे दूर भगा, हे अग्ने! (रक्षः हरसा परा शृणीहि) राक्षसोंको अपने बलसे दूर कर। (अर्चिषा मूर देवान् परा शृणीहि) अपनी ज्वालासे मूर्खोंको दूर फेंक, और (असुतृपः शोशुचतः परा शृणीहि) दूसरोंके प्राणोंपर तृप्त होनेवालों को शोक कराते हुए दूर भगाओ ॥ ४९ ॥

(विद्वान्) मैं यह सब जानता हुआ, (अस्मै शीर्षभिद्याय) इसका सिर तोडनेके लिये (अपां चतुर्भृष्टिं वज्रं प्र हरामि) जलोंके चारों ओर नाश करनेवाले वज्रको फेंकता हूं। (सः अस्य सर्वा अंगानि प्रशृणोतु) वह इसके सब अंगोंको काटे, (तत् मे विश्वेदेवाः अनु जानन्तु) वह मेरा कर्म सब देव अनुकूलताके साथ जानें ॥ ५० ॥

शत्रुके पराजयके लिये यत्न ।

शत्रुका पराभव करनेके लिये (ओज) शारीरिक बल,(सहः) शत्रुके हमले सहन करनेका सामर्थ्य, (बल) सैन्य तथा अन्यान्य प्रकारके बल, (वीर्य) पराक्रम, वीर्य की शक्ति, (नृम्णं) मानवी आनुकूल्यका सामर्थ्य, इतने साधन अवश्य हैं। पश्चात् (जिष्णुयोग) विजय प्राप्त करनेकी चातुर्यमयी योजना कैसी करनी है, इसका उत्तम ज्ञान चाहिये, सब अन्य बल होनेपर भी समयपर 'जिष्णु-'योग ' में न्यूनता हुई, तो कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीके साथ'ब्रह्मयोग'अर्थात् ज्ञानसे सिद्ध होनेवाली योजना अवश्य चाहिये। इसी तरह ' क्षत्रयोग ' क्षात्र युद्धक्षेत्रमें कुशलता से करने योग्य युद्ध के व्यूह आदि रचनाविशेष करनेकी प्रवीणता आवश्यक है। ' इन्द्रयोग ' राजा और राजैश्वर्य इनके साथ योग होना चाहिये, इसके अभावमें शेष कार्योंका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ' सोमयोग ' का दूसरा नाम है औषधियोग, शत्रुके साथ युद्ध छिडनेपर अपने लोग जखमी हो गये तो उनको शीघ्र आरोग्यसंपन्न

करनेके लिये इस वैद्योंके औषधियोग का बडा उपयोग हो सकता है। इसी तरह स्वपक्षीय लोगोंका शारीरिक बल बढानेके लिये भी इस औषधियोग की अत्यंत आवश्यकता है।

'अप्सुयोग' का नाम है जलयोग। जल का तो मानवी जीवनके साथ बडा उपयोग है। इसलिये विजयप्राप्तिके लिये जलका संयोग अच्छी प्रकार होना चाहिये। जल न मिला तो पराभव होने में कोई देरी न लगेगी।

संक्षेपसे प्रथम के ६ मंत्रोंमें विजयप्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक विषयोंकी सूचना इस तरह की है।

मंत्र ७ से २१ तक कहा है कि जो जलादि साधन अपने पास हैं, उनका उपयोग शत्रुनाश करनेके लिये करना चाहिये, जिससे शत्रु नाशको प्राप्त होवे और अपना विजय होवे।

मंत्र २२ से २४ तक कहा है कि जल से सब शरीर, मन आदिकी निर्दोषता सिद्ध होती है, उसीसे शरीरके और मनके मल दूर होते हैं। मनके मलोंसे स्वप्नदोष होता है और शरीरके मलोंसे रोग होते हैं। जलप्रयोग से ये सब दोष दूर होते हैं और मनुष्य निर्दोष होता है और विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक शरीर और मनमें दोष होंगे, तबतक विजय प्राप्त नहीं हो सकता और प्राप्त होने पर स्थिर भी नहीं रह सकता।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा उपदिशा, ऋचा, यजु, यज्ञ, औषधि, सोम, आप, कृषि, अन्न, प्राण, आदि सब स्थानोंसे शत्रुको हटाना चाहिये और इन स्थानों को शत्रुरहित करना चाहिये, यह आशय २५ से ३५ तक मंत्रोंका है।

इतना करनेपर विजय होगा और ऐसा पवित्र वीरहि शत्रुको बांध कर उसको पांवके तले दबा सकता है, यह बात ३६ वे मंत्रमें कही है।

सूर्यसे तेजस्विता, दिशाओं से विस्तृत कार्यक्षेत्र, ऋषिओंसे ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् मंत्रोंसे सुविचार और ब्राह्मणोंसे उत्तम उपदेश प्राप्त करके विजयी होनेकी सूचना मंत्र ३७ से ४१ तक के मंत्रोंमें है॥

४२--४३ इन दो मंत्रोंमें अपने शत्रुको परमेश्वरके अधीन अर्थात् उसके न्याय के अधीन करनेको लिखा है। स्वयं उसका नाश न करते हुए ऐसा करना, कि वह अपना कुछ न कर सके, और पश्चात् उसे ईश्वरके हवाले करना। परंतु ऐसा करनेके

लिये अपना बल बढाना चाहिये, शत्रुका घटाना चाहिये और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शत्रु अपना कुछ भी न बिगाड सके।

शत्रु अपना कैदी होनेपर भी उसे परमेश्वर का कैदी मानना चाहिये। उसका नाश करना है तो परमेश्वर करे।

अपने पास बल, अन्न, जल, शौर्य, तेजस्विता आदिकी अधिकता रहे, और शत्रुके पास येही वस्तु कम हों, ऐसी योजना करना चाहिये। यहातक ४७ वें मंत्र तक के मंत्रभागसे बोध मिलता है।

गाली गलोछ अपने राज्य में कोई किसीको न देवे। यह वाणीका अपव्यवहार शत्रुके राज्यमें चाहे होता रहे। दुष्टोंका विध्वंस इस तरह करना और सज्जनोंकी रक्षा करनी चाहिये। यह इस सूक्तका संक्षेपसे आशय है।

---

(६) मणिबंधन ।

(ऋषिः बृहस्पतिः । देवता--फालमणि, वनस्पतिः)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः ।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥
वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

अर्थ- (अरातीयोः भ्रातृव्यस्य) शत्रु वैरी (दुर्हादः द्विषतः शिरः)दुष्टहृदयी और द्वेष करनेवालेका सिर (ओजसा अपि वृश्चामि)वेगसे मैं तोडता हूं ॥१॥

(फालात् जातः अयं मणिः) फालसे बना हुआ यह मणि (मह्यं वर्म करिष्यति) मेरे लिये कवच जैसी रक्षा करेगा। (मन्थेन रसेन वर्चसा सह पूर्णः) मन्थनसामर्थ्य रस और वर्चसे युक्त होनेके कारण पूर्ण समर्थ मणि (मा आगमत्) मेरे पास आगया है ॥२॥

यत् त्वा शिक्कः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥
हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् ।
गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥
तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥५॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥६॥

अर्थ- (यत् त्वा शिक्कः तक्षा) जो तुझे कुशल तर्खाण (वास्या हस्तेन पराअवधीत) शस्त्रयुक्त हाथसे मारता है, (तस्मात्) उससे (जीवलाः शुचयः आपः) जीवन देनेवाले शुद्ध जल (शुचिं त्वा पुनन्तु) तुझ पवित्र वीरको पवित्र बनावें ॥३॥

(अयं मणिः) यह मणि (हिरण्यस्रक्) सुवर्णमाला, (श्रद्धां यज्ञं महः दधत्) श्रद्धा भक्ति,यज्ञ और महत्त्वका धारण करे और यह (नः गृहे अतिथिः वसतु) हमारे घरमें पूजनीय जैसा होकर रहे ॥४॥

(तस्मै घृतं सुरां मधु अन्नं क्षदामहे) उसके लिये घी, वृष्टि, जल, शहद और अन्न हम देते हैं, (सः नः पुत्रेभ्यः पिता इव) वह हमें जैसा पिता पुत्रोंको देता है, वैसे (श्रेयः चिकित्सतु) परम कल्याण देवे। यह (मणिः देवेभ्यः एत्य) मणि देवोंके पाससे यहां आकर (भूयोभूयः श्वः श्वः) वारंवार और प्रतिदिन हमें सुख देवें ॥५॥

(फालं घृतश्चुतं खदिरं उग्रं मणिं) फालसे उत्पन्न घीसे भरपूर खादिरका बनाया और वीरता बढानेवाला मणि है,(यं ओजसे बृहस्पतिः अबध्नात्) जिसको बलवृद्धिके लिये बृहस्पतिने यह मणि बांधा है, (तं अग्निः प्रति अमुंचत) उसे अग्नि मुझे देवे, धारण करावे, (सः अस्मै भूयो भूयः श्वः श्वः आज्यं दुहे) वह इसके लिये प्रतिदिन वारंवार घी देवे। (तेन त्वं द्विषतो जहि) उससे तू शत्रुओंको मार अर्थात् विध्वंस कर ॥६॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम्।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ७॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ८॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ९॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः ॥
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१०॥ (१८)

अर्थ-(यं०) जिसपर बृहस्पतिने...मणि बांधा है, (तं इन्द्रः प्रति अमुञ्चत) उसे इन्द्र मुझे देवे और (ओजसे वीर्याय कं) ओज, वीर्य और सुख प्राप्त करावे। (सः अस्मै बलं इत् दुहे०) वह उसको बल देवे ०॥७॥

(यं०) जिसपर०... (तं सोमः प्रति अमुंचत) उसे सोम मुझे देवे, (महे श्रोत्राय चक्षसे) महत्त्व, श्रोत्र और दृष्टि देवे, उसे (वर्चः दुहे०) वह वर्च देवे०॥८॥(यं०) जिसपर०.... (तं सूर्यः प्रति अमुंचत) उसे सूर्य देवे (तेन इमा दिशः अजयत) और उससे यह सब दिशाओंको जीते, (सः अस्मै भूतिं दुहे०) वह इस के लिये ऐश्वर्य देवे०॥९॥ (यं०)... (तं मणिं बिभ्रत् चन्द्रमाः) उस मणिको धारण करनेवाला चन्द्रमा (असुराणां दानवानां हिरण्ययीः पुरः अजयत्) असुरों और दानवोंकी सुवर्णयुक्त नगरियोंको पराजित करता है। (सः अस्मै श्रियं दुहे०) वह इसके लिये श्री देता है०॥१०॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥११॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१२॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१३॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१४॥

अर्थ- (यं०) जिसको बृहस्पति मणि बांधता है और (आशवे वाताय) गतिमय वायुकी शक्तिसे युक्त करता है, (सः अस्मै वाजिनं दुहे०) वह इसके लिये अश्व देता है०॥११॥

(यं०) जिसको बृहस्पति मणि बांधता है, (तेन मणिना) उस मणि से (अश्विनौ इमां कृषिं अभिरक्षतः) अश्विनीदेव इसकी कृषिकी रक्षा करते हैं। (सः भिषग्भ्यां महः दुहे) वह उन वैद्योंके द्वारा इसे बडा तेज या अन्न देता है०॥१२॥

(यं०).....(तं मणिं सविता बिभ्रत्) उस मणिको सविताने धारण किया, (तेन स्वः अयजत) उससे स्वर्गीय प्रकाशका यजन किया, (सः अस्मै सूनृतां दुहे) वह इसके लिये सत्य देता है०॥१३॥

(यं)...... (तं मणिं अपः बिभ्रतीः) उस मणिको जल धारण करती हैं, (सदा अक्षिताः धावंति) अक्षय होकर सदा दौडती हैं । (स आभ्यः अमृतं दुहे०) वह इनके लिये अमृत देता है ॥१४॥

*

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१५॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १६ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१७॥
ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत ।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥१८॥

अर्थ-(यं)...(तं शंभुवं मणिं राजा वरुणः प्रत्यमुञ्चत) उस सुखदायी मणिको राजा वरुण छोड देता है, (सः अस्मै सत्यं दुहे) वह इसके लिये सत्य देता है०॥१५॥

(यं)... (तं मणिं देवा बिभ्रतः) उस मणिको देवोंने धारण किया और (युधा सर्वान् लोकान् अजयन्)युद्ध करके सब लोकों को जीत लिया। (स एभ्यः जितिं इत् दुहे०) वह इनको विजय देता है०॥१६॥

(यं)...तं शंभुवं इमं मणिं देवता प्रत्यमुञ्चन्त) उस सुखदायी मणिको देवताओंने छोड दिया, (सः आभ्यः विश्वं इद् दुहे) वह इनके लिये सब सुख देता है०॥१७॥

(ऋतवः तं अबध्नत) ऋतु उसको बांधते रहे, (आर्तवाः तं अबध्नत) ऋतुसे उत्पन्न पदार्थ उसको बांधते हैं। (संवत्सरः तं बध्वा) संवत्सर उसे बांधकर (सर्वं भूतं विरक्षति) सब भूतमात्रकी रक्षा करता है ॥१८॥

अन्तर्दे॒शा अ॑बध्नत प्र॒दिश॒स्तम॑बध्नत ।
प्र॒जाप॑तिसृष्टो म॒णिर्द्वि॑ष॒तो मेऽध॑राँ अकः ॥१९॥
अथ॑र्वाणो अबध्नताथ॒र्व॒णा अ॑बध्नत ।
तैर्मे॒दिनो॒ अङ्गि॑रसो॒ दस्यू॑नां बिभिदुः पुर॒स्तेन॒ त्वं द्वि॑ष॒तो ज॑हि ॥२०॥(१९)
तं धा॒ता प्रत्य॑मुञ्चत॒ स भू॒तं व्य॑कल्पयत् ।
तेन॒ त्वं द्वि॑ष॒तो ज॑हि ॥ २१ ॥
यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒द् रसे॑न स॒ह वर्च॑सा ॥ २२ ॥
यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑ दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् स॒ह गोभि॑र॒जावि॒भि॑रन्ने॑न प्र॒जया॑ स॒ह ॥ २३ ॥

अर्थ-(अन्तर्देशा तं अबध्नत) अन्तर्दिशाओंने उसे बांधा, (प्रदिशः तं अबध्नत) दिशाओंने उसे बांधा, यह (प्रजापतिसृष्टो मणिः) प्रजापतिने निर्माण किया मणि (मे द्विषतः अधरान् अकः) मेरे शत्रुओं को नीचे करता है॥१९॥

(अथर्वाणो अबध्नत) अथर्वाओंने इसे बांधा (आथर्वणा अबध्नत) आथर्वणिकोंने इसे बांधा था, (तैः मेदिनः अंगिरसः) उससे बलवान् हुए आंगिरस (दस्यूनां पुरः बिभिदुः) शत्रुओंके नगरोंको तोडते रहे, (तेन त्वं द्विषतः जहि) इससे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥२०॥

(तं धाता प्रत्यमुञ्चत) उसे धाताने धारण किया था । (सः भूतं व्यकल्पयत्) वह भूतोंको बनानेमें समर्थ हुआ । (तेन त्वं द्विषतः जहि) उसके बलसे तू अपने शत्रुओंको परास्त कर ॥२१॥

(यं०) असुरक्षितिं) जिस असुर-विनाशको (देवेभ्यः बृहस्पतिः अबध्नात्) देवोंके लिये बृहस्पतिने बांधा था, (सः अयं मणिः मा) वह मणि मेरे पास (रसेन वर्चसा सह आगमत्) रस और तेजके साथ आगया है ॥२२॥

(यं०)......वह (गोभिः अजाभिः अन्नेन प्रजया सह) गौवें बकरियां अन्न और प्रजाके साथ० ॥२३॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥ २८ ॥
तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये ।
अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

अर्थ-...... (व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह) चावल जौ तथा ऐश्वर्य के साथ० ॥२४॥ ......(मधोः घृतस्य धारया कीलालेन सह) घी, मधु और पेय की धाराओंके साथ०॥२५॥..........(पयसा द्रविणेन श्रिया सह) दूध धन और श्रीके साथ०॥२६॥

(तेजसा त्विष्या यशसा कीर्त्या सह) तेज, चमक, यश और कीर्तिके साथ०॥२७॥..........(सर्वाभिः भूतिभिः सह) सब ऐश्वर्योंके साथ वह मणि (मा आगमत्) मेरे पास आया है॥२८॥

(तं इमं मणिं) इस मणिको (देवता पुष्टये मह्यं ददतु) देवताएं पुष्टिके लिये मुझे देवें। यह (अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिं) शत्रुनाशक, क्षात्रतेज बढानेवाला, वैरीका विध्वंसक यह मणि है॥२९॥

(ब्रह्मणा तेजसा सह) ज्ञान और तेजके साथ (मे शिवं प्रति मुंचामि) मैं इस कल्याणकारी मणिको धारण करता हूं। यह मणि (असपत्नः सपत्नहा) शत्रुरहित और शत्रुघातक है, तथा (मे सपत्नान् अधरान् अकः) इसने मेरे शत्रुओंको नीचे किया है॥३०

उत्त॑रं द्विष॒तो माम॒यं म॒णिः कृ॑णोतु देव॒जाः ।
यस्यं॑ लो॒का इ॒मे त्रय॑ः पयो॑ दु॒ग्धमु॒पास॑ते ॥
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३१ ॥

यं दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ उप॒जीव॑न्ति स॒र्व॒दा ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३२ ॥

यथा॒ बीज॑मु॒र्व॒रा॑यां कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति ।
ए॒वा मयि॑ प्र॒जा प॒शवोऽन्न॑मन्नं॒ वि रो॑हतु ॥ ३३ ॥

यस्मै॑ त्वा यज्ञवर्धन॒ मणे॑ प्र॒त्यमु॑चं शि॒वम् ।
तं त्वं श॑तदक्षि॒ण मणे॒ श्रैष्ठ्या॑य जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

अर्थ-(अयं देवताः मणिः) यह देवोंसे उत्पन्न होनेवाला मणि (मां द्विषतः उत्तरं कृणोतु) मुझे शत्रुओंसे अधिक उत्तम अवस्थामें रखे। (यस्य दुग्धं) जिससे दुहा गया सार (इमे त्रयः लोकाः उपासते) ये तीनों लोक प्राप्त करते हैं। (सः अयं मणिः) वह यह मणि (मा श्रैष्ठ्याय मूर्धतः अधिरोहतु) मुझे श्रेष्ठ स्थानके ऊपर चढावे ॥ ३१ ॥

देवः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवंति) देव पितर और मनुष्य जिसपर सदा निर्भर रहते हैं, वह (श्रैष्ठ्याय०) श्रेष्ठ स्थानपर मुझे चढावे ॥ ३२ ॥

(फालेन कृष्टे उर्वरायां) फालसे हल किये हुए भूमिमें (यथा बीजं रोहति) जैसा बीज उगता है, (एव मयि प्रजाः पशवः अन्नं विरोहतु) वैसाहि मेरे पास संतान, पशु और अन्न बहुत हो जावे ॥ ३३ ॥

हे (यज्ञवर्धन मणे) यज्ञ बढानेवाले मणे ! (त्वां शिवं यस्मै प्रति अमुंचं) तुझ शुभ मणिको जिसके लिये मैं धारण कराऊं, हे (शतदक्षिण मणे) सौ प्रकारकी दक्षिणा देनेवाले मणि ! (तं त्वं श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्) उसे तू श्रेष्ठताके लिये बढाओ ॥ ३४ ॥

एतामिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।
तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा॥३५॥(२१)
॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-हे अग्ने ! (समाहितं इध्मं जुषाणः) प्रदीप्त इंधनका सेवन करता हुआ (होमैः प्रति हर्य) होमहवनोंसे समृद्ध हो। (तस्मिन् समिद्धे जातवेदसि) उस प्रदीप्त अग्निसे (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (सुमतिं स्वस्ति प्रजां) उत्तम बुद्धि, कल्याण, संतान, (चक्षुः पशून्) दृष्टि और पशुओंको (विदेम) प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

इस सूक्तमें विशेष प्रकारके मणिके धारण करनेका महत्त्व दर्शाया है।

(७) सर्वाधारका वर्णन।

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-स्कम्भः आत्मा वा)

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥१॥
कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥२॥

अर्थ— (अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति) इस मनुष्यके किस अवयवमें तप करनेकी शक्ति रहती है ? (अस्य कस्मिन् अंगे ऋतं अध्याहितं) इस मनुष्यके किस भागमें ऋत— सरलताका भाव रहता है ? (अस्य श्रद्धा व्रतं क तिष्ठति) इसमें श्रद्धा और व्रत कहां रहते हैं ? (अस्य कस्मिन् अंगे सत्यं प्रतिष्ठितम्) इसके किस अवयवमें सत्य रहता है ? ॥ १ ॥

(अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते) इसके किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है ? (कस्मात् अंगात् मातरिश्वा पवते) इसके किस अवयवसे वायु बहता है ? (कस्मात् अंगात् चन्द्रमा अधिविमिमीते) किस अवयवसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है ? (महः स्कंभस्य अंगं मिमानः) और महान् स्कंभ अर्थात् विश्वाधार के किस अंगका मापन वह करता है ? ॥ २ ॥

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०] [अङ्क २

विषयानुक्रमणिका

'वैदिक धर्म' के

पाठकोंसे प्रार्थना

इस पत्र के साथ 'वैदिक धर्म' का उपहार अंक आपकी सेवा में भेजा है। उसे पढनेकी कृपा करिये।

स्वाध्याय-मण्डलने चारों वेदोंका शुद्ध और सस्ता मुद्रण करनेका कार्य प्रारम्भ किया है, तथा अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय के ग्रंथ तथा वेदके अङ्गोपाङ्गादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इसका विवरण और वेदसंहिताका नमूनापृष्ठ आप 'वेदमुद्रणका कार्य' इस लेखमें पढ सकते हैं। उसके पढनेपर आपको विदित होगा कि स्वाध्याय-मण्डल वैदिक धर्मका कितना महान् कार्य कर रहा है। अतः आप स्वाध्याय मंडल के स्थिर सदस्य बनकर मण्डलकी सहायता करिये। यदि केवल चारों वेदोंके उत्तम और सुन्दर ग्रंथही आपको चाहिये तो केवल ८) आठ रु. भेजकर चारों वेदों को आप मंगवा सकते हैं।

अब 'यजुर्वेद' तैयार है। 'ऋग्वेद संहिता' भी छपकर तैयार हुई थी परन्तु इसकी प्रथम बार की सब प्रतियां गत चार मासोंमें समाप्त हो गई हैं, इसलिये अब 'द्वितीय' वार का मुद्रण-कार्य शुरू किया है। 'अथर्ववेद' अगले मासमें तैयार होकर ग्राहकोंको भेजा जायगा। 'सामवेदसंहिता' भी छप रही है।

हमारे यहां संपूर्ण सचित्र महाभारत छपकर तैयार है, नमूनापृष्ठ और विज्ञापन पढिये। आप सहूलियतसे यह मंगा सकते हैं। सहूलियतके नियम मंगाइये। मण्डल के अन्य सब ग्रंथों का सूचीपत्र अन्तम है, उसे पढकर आप उसमेंसे चाहे सो पुस्तकें मंगा सकते हैं।

हमें दृढ आशा है कि आप अपनी आर्डर शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

प्रबन्धकर्ता—

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि. सातारा)

वर्ष १९
अंक १०
क्रमांक २२६

धर्म

आश्विन
संवत १९९५
अक्तूबर
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र हो!

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥

(ऋ० १।१।३)

हे महादातः, ईश्वर अग्ने ! आपकी कृपासे स्तुति करनेवाला मनुष्य (रयिं) उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है, कि जो धन प्रतिदिन (पोषं एव) महा पुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढानेवाला, तथा जिससे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम, और दृढांग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीरपुरुष प्राप्त हो, वैसे सुवर्णादि, तथा चक्रवर्ती राज्य, और विज्ञान-रूप धनको, मैं प्राप्त होऊं, तथा आपकी कृपासे सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं॥

(श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकृत आर्याभिविनय, पृ० २७)

स्वराज्यकी प्रार्थना।

(श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी की आर्याभिविनयसे उद्धृत)

(१) ... जैसे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं ...॥ ३ ॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओं की नीतिको प्राप्त करो,... हमको वरराज्य, वरनीति देओ,... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥(पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ, सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें,जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंका जीतनेवाले हो, इस कारणसे हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरोंके चक्रवर्ती राज्यको आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थको कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) ... हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो,तथा हम सब संसारमें सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों ! ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्टविद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य को शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) ... हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों ... सौ वर्षके उपरान्तभी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन

राजाओंका सुधार।

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का देहावसान भारतीय राजामहाराजाओंका सुयोग्य सुधार करके उनको स्वराज्यस्थापनामें लगानेके शुभ और महनीय प्रयत्नों के चलानेके कारण दिवालीके समयहि हुआ, इसलिये इस दिवालीके समय उनका वाङ्मय श्राद्ध करना हरएक भारतीय सुपुत्रके लिये अत्यंत योग्य है।

श्री स्वामिजी महाराजका कार्य केवल आर्यसमाजके धार्मिक क्षेत्रके चार दिवारोंके अन्दर हि सीमित नहीं था। भारतीय राष्ट्रका पुनरुद्धार धार्मिक सुधारद्वारा करना और इस साधनसे आर्योंका वैदिक धर्मानुशासनसे चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षितीका सार्वभौम साम्राज्य अति शीघ्र स्थापित करना ही एकमात्र प्रशंसनीय उद्देश श्री स्वामिजी महाराजका था। सूर्यचन्द्रवंशीय भारतीय राजामहाराजाओंका सुधार करके उनको धार्मिक शासनतत्पर बनानेसे शीघ्रही भारत का आधा भाग सुधर सकता है, ऐसा विचार करके, सबसे प्रथम राजपूतानाके उदेपुरादि नरेशोंके सुधार करनेके प्रयत्नोंमें वे लगे थे। इस प्रयत्न में उनको सफलताभी बहुत कुछ हो चुकी थी, इस कारण जिनकी आर्थिक हानि हुई, उनके द्वारा भयानक विषप्रयोग होनेसे श्री स्वामिजीका दिवालीके समयही देहावसान हुआ! इस कार्यकारणभावका विचार करनेसेभी उन्होंने थोडेसे दिनोंमें राजपूतानाके राजाओंमें कितना प्रचण्ड सुधार का कार्य किया था, इसकी कल्पना हरएक को हो सकती है।

विषप्रयोग करनेके विना उस स्थानके कुमार्गियोंको दूसरा कोई मार्ग रहा हि नहीं था। इसलिये स्वार्थी कुमार्गियोंने यह अन्तिम उपाय की रचना की, और एक महापुरुषका कार्य दिवालीके दीपप्रकाश के नीचे रहनेवाले गाढ अन्धकारमें अदृश्यसा हुआ। इससे भारतीय राष्ट्रकी अपरिमित हानि हो चुकी है, इसलिये इस प्रसंगसे इसका स्मरण करनेकी इच्छा है। इसका स्मरण करनेसे फिर किसीके मनमें उनके भारतीय पुनरुत्थानके विचार स्फुरित हो जायेंगे और पुनः उनके कार्यका नये उत्साहसे प्रारंभभी हो जायगा।

श्री स्वामिजीका आदर।

हमारे मनके अन्दर जो महत्त्वका स्थान श्री स्वामिजी महाराज को मिला है, वह उनकी धार्मिक शिक्षापूर्वक राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी प्रचण्ड और सर्वाङ्गपूर्ण आयोजनाके लिये हि है। यद्यपि आज वह आयोजना रही नहीं और चलीभी नहीं है, परंतु चलाना या न चलाना यह सर्वथा अनुयायियों की शक्तिपर अवलंबित रहनेवाली बात है। अतः हम सबसे पहिले भारतराष्ट्रके पुनरुत्थान की अपूर्व आयोजनाका निर्माण करनेके लिये ही श्री स्वामिजीको 'ऋषि' कहते आये हैं। ऋषि वह होता है कि जो सब अन्य जनता के पूर्वहि नया और उत्तम मार्ग ठीकठीक रीतिसे देखता है और उस मार्गको उद्घोषित भी करता है। जो अन्य लोग नहीं देख सकते, वह उनको दीखता है और जो अन्य लोग डरके मारे उद्घोषित कर नहीं सकते, वह जो ऋषि होता है, वह सब जनता के लिये बडे वेग के साथ उद्घोषित भी करता है। ऋषि दयनन्दजी के पूर्व इनके समान किसी भी नेताने भारत के पुनरुत्थान की इस प्रकारकी निश्चित आयोजना नहीं की थी। यही उनके श्रेष्ठ दूरदर्शिताका सुस्पष्ट चिह्न है।

हृदय खोलकर ईश-प्रार्थना।

किसी मनुष्यका ध्येय, इष्ट, अथवा हार्दिक काम्य क्या है, यह निःसंदेह देखना हो, तो 'उनकी ईश्वरके पास

प्रार्थना ' क्या होती है, उसको देखना चाहिये । अन्य संपूर्ण व्यवहार अन्य मनुष्योंके साथ संबंधित होते हैं, इसलिये उनमें अनंत मर्यादाएँ बीचमें खडी हो जाती हैं, परंतु ईशप्रार्थनाके समय मनुष्यके साथ दूसरा कोई नहीं रहता, माताके पास पुत्र जैसा प्रेमके साथ निर्भय होकर जाता है,वैसा भक्त परमेश्वरके पास जाता है और प्रेमसे जो अपने हृदयका अभीष्ट है, वह मांगता है। इस समय उसकी प्रार्थनाके लिये कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता क्योंकि ' भक्त और भगवान् के अन्दर प्रतिबंध करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं होती, अतः प्रार्थनामें हि हरएक का हार्दिक अभीष्ट व्यक्त होता है। इसी नियम के अनुसार श्री स्वामिजीका ध्येय उनके प्रार्थनापुस्तक " आर्याभिविनय" में प्रकट हो गया है। देखिये उनकी प्रार्थनाएं किस प्रकारकी थीं—

(१)... विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य,बल,पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं... ॥३॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओंकी नीतिको प्राप्त करो, ... हमको वरराज्य, वरनीति देओ, ... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति दे के साम्राज्यधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥ (पृ० ६५-६७)

(३)... आओ सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंको जीतनेवाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥२६॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थ को कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्ध में शूर वीर होके ... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो तथा ... हम सब संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों, ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्ट विद्या, और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्यको शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) हम लोग शत वर्षतक देखैं, जीवैं, सुनैं, कहैं, कभी पराधीन न हों,... सौ वर्षके उपरान्त भी स्वाधीन ही रहैं ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य।

श्री स्वामिजीकी बनायीं प्रार्थनाएं ये हैं। यहां उनका हार्दिक ध्येय उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है। हम आर्योंमें बल, बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, वीर्य, पुरुषार्थ बढे और आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर हो । जिस विकट राजकीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजी महाराज का जन्म हुआ था,जिस देशकी विलक्षण शोचनीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजीके जन्मस्थानके— काठियावाड गुजरातके—लोग विदेशके साथ होनेवाले व्यापार व्यवहार द्वारा कमिशन प्राप्त करके धनाढ्य बननेकी हि केवल एकमात्र इच्छा कर रहे थे, उस समय यह अकेला लंगोटबंद ब्रह्मचारी तेजस्वी स्वामी घरदार छोडकर पूर्ण असंग होकर 'आर्योंके अखण्ड-चक्रवर्ती राज्यकी शीघ्र स्थापना करनेका उपाय ढूंढ रहा था ! ' निःसंदेह यह उनकी ऋषिदृष्टिकी सिद्धता करनेवाला पर्याप्त प्रमाण है।

उस समय के राजकीय नेतागण विदेशी सरकारकी प्रार्थना और याचना करनेमें, अर्जियां करने और उनकी कृपासे कुछ नौकरियां प्राप्त करने में हि अपना जीवनोद्देश्य सफल समझ रहे थे, स्वतंत्र स्वराज्य स्थापन करनेकी कल्पनाभी उद्भूत हुई नहीं थी। आजसे ६०-७० वर्ष पूर्वका राजकीय क्षितिज पाठक देखेंगे, तो उन

को स्वतंत्र स्वराज्य कहींभी नहीं दीखेगा। हाथ जोडकर अंग्रेजोंसे प्रार्थना करनेका वायुमण्डलहि उस समय के राजकीय नेताओंके मनमें था। ऐसे घोर समयमें यह **लंगोटधारी संन्यासी आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित करनेके विचारों में मग्न होकर एकान्त सेवन कर रहा था।**

जिस समय लोग विदेशी राज्यमें रहना और उनकी नौकरीयां करना ही अपना ध्येय मानते थे, उस समय जिसने आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यका मार्ग देखा, उसको भारतीय पुनरुत्थान का ऋषि न समझें तो दूसरे किसको वह मान दिया जावे?

चक्रवर्ती राज्य का मार्ग।

श्री स्वामी दयानन्दमहाराजने केवल ईश्वरकी प्रार्थना करके हि आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य इस भूमण्डलपर होनेकी संभावना कभी नहीं मानी थी, कोई वेदका वेत्ता ऐसा मानही नहीं सकता। **कोई सच्चा वेदवेत्ता विदेशी राज्यके अन्दर क्षणभर भी नहीं रह सकता। वेदज्ञान और पारतंत्र्यस्वीकार इनका सदा विरोध ही है। इसी लिये स्वामिजी आर्योंका स्वतंत्र और अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर स्थापित करनेके इच्छुक थे!**

सब आर्य सायं प्रातः पवित्र होकर यही प्रार्थना करें, इसी लिये यह आर्याभिविनय नामक तेजस्वी ग्रंथ स्वामिजीने निर्माण किया था! लोग यदि आतुरतासे ऐसी प्रार्थनाएं करेंगे, तो वैसाही स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करनेका वायुमण्डल देशभरमें बनेगा और जैसा वायुमण्डल बनेगा, वैसा सामुदायिक प्रयत्न भी होगा। आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी स्थापना का प्रारंभ इसी तरह ईशप्रार्थना में हो सकता है।

ईश्वर उपासना।

यहां पाठक कल्पना करें कि प्रत्येक घरमें प्रातः सायं पारिवारिक प्रार्थनामें घरके सब स्त्रीपुरुष संमिलित होते हैं, और **वहां अति शीघ्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेका बल ईश्वरसे मांगा जाता है। नगरके समाजभवनमें सब नागरिक एक मतसे अपने स्वतंत्र स्वराज्यकी स्थापनाके विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं।** इसी तरह प्रांतों और राष्ट्रके वार्षिक महोत्सवमें लाखों भारतवासी संमिलित होते हैं और अपने चक्रवर्ती राज्य की शीघ्र स्थापना करनेकी प्रार्थना ईश्वरसे करते हैं, तो उस राष्ट्रमें कितना राजकीय स्वतंत्रता का मानसिक भूमिकामें वायुमण्डल बन सकता है। पाठक इस स्वामिजीकी मानसिक तैयारी करनेकी आयोजनाका महत्त्व सोचें। इस तरह राष्ट्रीय मन तैयार हुआ, तो उस मनके द्वारा हरएक दिशासे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके प्रयत्न होंगे और देश शीघ्र ही स्वतंत्र होगा, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

राष्ट्रीय संघटना।

केवल मनके विचारोंमें उक्त प्रकार स्वातंत्र्यप्रेम उत्पन्न होनेसे हि केवल स्वराज्य स्थापना नहीं हो सकती, यह तो स्वामिजी जानते ही थे। इसलिये उन्होंने भारतीयोंकी संघटना का कार्यक्रमभी तैयार किया था।

नगरनगर में आर्यसमाज स्थापन करना और वहां **धर्मार्यसभा, विद्यार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा राजार्यसभा आदि संस्थाएं स्थापन करके अपने ग्रामका सब कार्यव्यवहार स्वयं चलाना।** वेदमंत्रोंद्वारा इन सभाओंके स्थापन करनेका उपदेश श्री स्वामिजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रंथोंमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक दिया है, जो हरएक इस समयभी देख सकता है, इसलिये उनके इस विषयके वचन यहां उद्धृत करनेकी कोई अवश्यकता नहीं है। जिसने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्यादि देखा है, उनको इन सभाओंकी स्थापना करनेके उपदेशका पता है। अतः अब हम देखते हैं, कि आर्यसमाजकी इन सभाओंका कार्य क्या है–

१ धर्मार्यसभा— वेदमें कथित मानवधर्मका विचार यह संस्था करे और प्रत्येक सदस्य अपनी धर्म-मर्यादामें सुस्थिर रहता है वा नहीं यह देखे और समझा-कर सब लोगोंको धर्ममें रखे और धर्ममें लानेका यत्न करे। वेदका अर्थ करना, वेदप्रचार करना आदि कार्य इस सभाके हैं।

जनताको अधर्मसे बचाना, संस्कारोंसे सबको सुसंघ-टित करना, सत्यधर्मका प्रचार करके वेदके शुभ उपदेशोंसे

सब लोक उन्नत करना आदि कार्य इस धर्मसभा का है ।

(२) विद्यार्यसभा– इस विद्यासभाद्वारा अपने बालक-बालिकाओंके विद्याध्ययनका सुयोग्य प्रबंध करना है । प्राथमिक शिक्षासे प्रारंभ होकर अन्तिम उच्च शिक्षातक का सब प्रबंध करना इस विद्यासभा का कार्य है । ज्ञानविज्ञान, उद्योग, कलाकौशल्य आदि सब आवश्यक १४ विद्याओं और ६४ कलाओंकी अपने युवकोंको शिक्षा देना इस विद्यासभाका कार्य है । कोई आर्य-बालक या बालिका विदेशी राजप्रबंधद्वारा मिलने-वाली परतंत्र मन बनानेवाली शिक्षा न लेवे और आर्यविद्वानों द्वारा निश्चित की हुई, आर्य-विद्वानों द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुलों में प्राप्त होनेवाली, आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी जिससे अति शीघ्र स्थापना हो सकती है, ऐसी सुशिक्षा आर्योंके तरुणोंको प्राप्त हो, यह उद्देश्य इसमें श्री स्वामिजीका था । जर्मनीमें आर्ययुवकोंको भेजकर वहांकी विज्ञानविद्या प्राप्त करना भी स्वामिजीका उद्देश्य था ।

(३) न्यायार्यसभा— आर्योंके अपने झगडे, आपसके आर्योंके झगडे विदेशी राजाके अदालतों में नहीं जाने चाहियें । आर्योंके झगडे आर्योंके द्वाराहि निर्णीत होने चाहिये, आर्योंके झगडे निपटानेवाले म्लेच्छ नहीं हो सकते । यह शुद्ध और सरल आर्यत्वकी दिशा है । इसलिये श्री स्वामिजी महाराज ने 'न्यायार्यसभा' स्थापन करके इस सभाद्वारा आर्योंके आपसके झगडोंका निपटारा स्वयं आर्योंद्वारा करानेकी प्रथा शुरू करनेकी आज्ञा दी थी । और यह आज्ञा वेदानुकूल ही थी ।

(४) जो कार्य ' धर्मसभा, विद्यासभा, और न्यायसभाके कार्यक्षेत्रमें नहीं आते, उन सब शेष कार्योंके लिये ' राजार्यसभा है । आर्योंके राजकीय क्षेत्रमें जो स्वाभाविक न्यायानुकूल और नागरिक-त्वादि अधिकार और हक हैं, उनका संरक्षण करना इस सभा का कार्य है ।

(५) गोरक्षासे हि भारतीय किसानों की तथा भार-तीय कृषिकी उन्नति हो सकती है, यह जान कर श्री स्वामिजी महाराजने ' गोकरुणानिधि ' नामक ग्रंथ निर्माण किया और आर्योंको गोरक्षाके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा शुभादेश दिया । गोरक्षामें केवल गौकीहि रक्षा आती है, ऐसा नहीं अपि तु वेदानुकूल कामदुघा और घटोध्नी गौ निर्माण करना भी इस समाजका हेतु निःसंदेह है । गोदुग्ध भूमिके ऊपरका श्रेष्ठ अमृत है, इससे भारतीय जनता वञ्चित कभी न रहे, यह श्री स्वामिजिका गो आदिकी रक्षा करनेमें विशाल हेतु था । आर्य गोदुग्ध पान करके नीरोग और बलवान् बनें और स्वराज्यस्थापनाका कार्य जोरसे करें, यह उद्देश्य यहां स्पष्ट है ।

(६) भारतवर्षमें क्या और संपूर्ण पृथ्वीपर क्या, प्रजानुकूल राज्यशासनही जनताका सच्चा हित करने में समर्थ होगा, यह जानकर आर्यसमाज की घटना और नियमोपनियमावली श्री स्वामिजीने ऐसी बनायी कि जिससे प्रजानियंत्रित, प्रजासंमत, प्रजा की संमतिसे चलनेवाली, प्रजाके प्रतिनिधियोंकी बहु संमतिसे संचलित होनेवाली कार्यप्रणाली आर्योंकी बने और ऐसी संस्थामें काय करनेवाले आर्य भारतीय शासनसंस्थाके लिये सुयोग्य सदस्य बनें । आर्य-समाजके सब कार्य इसी नियमानुसार होने योग्य कार्य-प्रणाली स्वामिजीने बनायी थी, यह उनकी दूरदर्शिताही है।

आर्यसमाज नामक मुख्य संस्थाके आधीन धर्मसभा, न्यायसभा और विद्यासभा कार्य करने लग जातीं और जैसा कि श्री स्वामिजी महाराजने सोचा था, वैसा ये सब संस्थाएं कार्य करने में समर्थ होतीं, तो आज आर्योंके आधीन कितना अधिकार आ जाता, यह भी इस स्थानपर जानने योग्य है ।

न्यायार्यसभा कार्य करनेवाली हो गयी, तो सरकारी अदालतोंपर पूर्ण बहिष्कार न कहते हुए और न बोलते हुए हो सकता है । विद्यासभा कार्यक्षम हो गयी, तो सरकारी विद्यालयोंपर बहिष्कार आपहि आप हो सकता है। विद्यासभा द्वारा १४ विद्या और ६४ कलाओंकी शिक्षा शुरु होनेपर अपने सब हुनर शुरू होनेके कारण विदेशी वस्तुओंपर स्वयं बहिष्कार हो जाता है । जो अपने पुत्रोंको अपने स्वतंत्र गुरुकुल विद्यालयोंमें पढाते, अपने हुनरसे बने वस्त्रादि निर्माण करके उनकोहि पहनाते, अपनी न्यायसभा द्वारा अपने झगडे निपटाते, ऐसे पूर्ण स्वतंत्रताप्रिय आर्य सरकारी नौकरीसे

अपना जीवन कभीभी अपवित्र करेंगे नहीं और विदेशी सरकारकी पदवियां धारण करके भी अपने आपको कभी कलंकित नहीं करेंगे। क्यों कि वैदिक धर्मी विदेशी सरकारके आधीन रहनाही असंभव है। इस दिशासे कार्य हुआ होता तो दिन प्रतिदिन आर्य सच्चे आर्य हि बनते जाते।

श्री स्वामिजीद्वारा सभात्रयनिर्मित स्वयंशासक आर्य समाजकी संस्थापनासे यह कार्य उक्त प्रकार आपही आप होनेवाला था। स्वामिजीका यही उद्देश था, यह बात उनके ग्रंथोंमें सर्वत्र स्पष्ट दीखती है। यदि यह श्री स्वामिजीका उद्देश्य इस समय सफल होता, तो श्री महात्मा गांधीजी को अपने पंच बहिष्कार पुकारनेका अवसरहि न मिलता, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा वेहि बहिष्कार महात्मा गांधीजी भारतभूमिमें अवतीर्ण होनेके पूर्वहि सिद्ध होकर रहते। और महात्मा गांधीजीको दूसरा कार्यक्रम सोचना पडता। परंतु वैसा बना नहीं !!!

१. धर्मसभाद्वारा विदेशीधर्मप्रचारका प्रतिबंध,
२. न्यायसभाद्वारा अपने झगडे स्वयं मिटानेके कारण विदेशी सरकारकी **अदालतोंपर बहिष्कार,**
३. विद्यासभाद्वारा अपने गुरुकुलोंके संचालनद्वारा अपने आर्ययुवकों की शिक्षा होनेके कारण विदेशी **सरकारके शिक्षणालयोंपर बहिष्कार,**
४. उक्त विद्यालयोंमें ६४ कलाओंकी शिक्षा होनेके कारण अपने लिये आवश्य वस्तुओंके निर्माण होनेसे **विदेशी वस्त्रादिकों पर बहिष्कार,**
५. आर्योंमें अपने स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट होनेके कारण विदेशी सरकार को अपनी शक्ति प्रदान न करनेकी ओर जनताकी भावना होनेके कारण विदेशी सरकारकी **नोकरियोंपर बहिष्कार,**
६. इसी उक्त कारण उनकी **पदवियोंपर बहिष्कार,**

ये सब बहिष्कार जो महात्मा गांधीजीने सन १९२५ में पुकारे थे, **वेही बहिष्कार श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने न पुकार करते हुए कार्यव्यवहारमें लानेकी आयोजना सत्तर वर्ष पूर्वहि शुरू की थी।** जिस समय कांग्रेस का जन्मभी नहीं हुआ था, उस समय श्रीस्वामिजी महाराज इस अयोजनाको तैयार करके आर्यसमाज द्वारा प्रचलित करनेके विचारमें लगे हुए थे। यही उनके ऋषित्व का चिह्न है!

नगर और ग्राममें उस नगर का आर्यसमाज, प्रान्त के नियंत्रण के लिये प्रांतिक आर्यप्रतिनिधिसभा, और अखिल भारतका नियंत्रण करनेके लिये अखिल भारतीय सार्वदेशिकार्य प्रतिनिधिसभा, इस तरह ग्रामसे प्रारंभ होकर अखिल भारतवर्षका नियंत्रण पूर्वोक्त धर्म—विद्या-न्याय आदि सभाओंद्वारा स्वामिजीके आदेशानुसार होता, तो पाठक स्वयं जान सकते हैं, कि यह एक आर्योंका **'स्वयंशासन'** इस आर्यभूमिमें आपहि आप शुरू हो जाता। इस भरतखण्डमें विदेशी सरकार का **राजकीय क्षेत्रमें** शासन होते हुएभी, **धर्म—विद्या— न्याय—उद्योग आदि क्षेत्रोंमें आर्योंका स्वयंशासन शुरू हो जाता और यह एक आर्योंका समान बराबरीका राज्यशासन (Parallel Government) न डंका बजाते हुए और न बोलते हुए शुरू हो जाता।** और आज जो राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष अथवा सर्वाधिकारी श्री महात्मा गांधीजी एक ओर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि श्री व्हाइसराय होते हैं, और बराबरीके नातेसे राज्यशासन के विषयमें निर्णय कर रहे हैं, वैसी ही अवस्था, अर्थात् एक ओर सार्वदेशिकार्य प्र० सभाके अध्यक्ष और दूसरी ओर व्हाइसरॉय रहकर भारतवर्षके शासनका विचार बराबरीके नातेसे करते। श्रीस्वामिजी महाराजने जिस समय अपने आर्यसमाजकी घटना लिखी थी, उस समय उनके सामने यह दृश्य था!

क्या चाहा था और क्या हुआ?

परंतु इसमें कितनी सफलता आज प्राप्त हुई है? न्यायसभा तो किसीभी स्थानपर कार्य नहीं करती, विद्यासभा है, परंतु प्रायः आर्योंके युवक सरकारी युनिवर्सिटीयोंके साथ संबंध रखनेवाले कालेजोंमें हि जा रहे हैं। अदालतें तो वैसी ही आर्यवकीलोंसे भरी हैं। अन्य कार्य का तो प्रारंभ भी नहीं हुए। इस कारण श्री महात्मा गांधीजी आये और श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य हातमें लेकर जो कार्य करने लगे, उसका फल आजकी कांग्रेसकी महत्तामें दीख रहा है।

परमेश्वरका कार्य रुकता नहीं ।

अब इसमें से एक भी कार्य आर्यसमाजके लिये रहा नहीं । क्योंकि परमेश्वर भारतवर्षको अति शीघ्र स्वाधीन करना चाहता है । स्वामिजी को भेज कर ईश्वरने भारतके स्वतंत्र होनेका प्रोग्राम आर्यसमाजके द्वारा जनता के उद्धार करनेके लिये दिया । परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ, इसलिये उसी ईश्वरने पुनः महात्मा गांधीजीको भेजकर वही कार्यक्रम नये सिरेसे जनताके सामने रखा । संपूर्ण बहिष्कार अब भी हो नहीं सके, तथापि जो कार्य हुआ, उससे कांग्रेस का राज्य आधेसे अधिक भारतवर्षमें हो चुका है और उसकी प्रतिष्ठाभी पर्याप्त बढ चुकी है । महात्माजीके द्वारा प्रतिपादित सब कार्य होता, तो इस समय भारतकी प्रतिष्ठा औरभी अधिक बढ जाती ।

अब यह मान और प्रतिष्ठा जो कांग्रेसको इस समय प्राप्त हो चुकी है, आर्यसमाजको प्राप्त होना, कार्य हो जाता, तो संभव था, परंतु अब असंभव है । क्योंकि उसको सबसे प्रथम मौका मिला था, तथापि उसने आपसके झगडोंमें अपना सब समय व्यतीत किया और आवश्यक कार्य कुछ भी किया ही नहीं । परमेश्वरके राज्यमें प्राप्त अवसरपर योग्य कार्य करनेवालोंकी हि उन्नति होती है ।

श्री स्वामिजी द्वारा उपदिष्ट भारतोद्धारका कार्य इतना प्रचण्ड था कि उसके शुरू होनेपर उसमें सहस्त्रोंहि नहीं प्रत्युत लाखों मनुष्य रातदिन कार्य करते, तो भी वह, कार्य और मनुष्योंकी अपेक्षा करता । **भारतीय जनताको अपने पावोंपर अपने आत्मिक बलके सहारे अपनी शक्तिसे खडा करना,** यह कोई छोटा कार्य नहीं था । प्रत्येक ग्राममें तथा प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त तीनों सभाओं द्वारा कार्य संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें करना असंख्य मनुष्योंके अतुल आत्मसमर्पणसे ही होनेवाला कार्य था । ऋषिके मस्तिष्कसे जो अपूर्व कार्यक्रम शुरू हुआ था, वह वैसाही प्रभावशाली था । परंतु वह प्रारंभमें हि क्षीण हुआ और उसको चलानेके योग्य महान् आत्मा जैसे चाहिये थे, वैसे मिले नहीं ।

उक्त विशाल कार्यक्रमके स्थानपर आज जो कार्यक्रम बना है, वह मूर्तिपूजा न करना, श्राद्ध न करना, तीर्थ न मानना और अद्वैत न मानना, यह निषेधरूप चतुर्विध रहा है । करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं रही, और 'न करना' ही श्रेष्ठ कार्यक्रम बन गया !! श्री स्वामिजीने उक्त सभाओंकी स्थापना द्वारा '**धर्म-न्याय-विद्या-संघटनाका विधायक कार्यक्रम**' करनेके लिये जनताके सामने रखा था; क्योंकि **उनको अतिशीघ्र भारतीय स्वतंत्र राज्यशासन सुस्थिर करना था।** इस मुख्य कार्यकी आतुरता तो उसके पश्चात् किसीको वैसी प्रबल नहीं रही, इसलिये आपसके वैयक्तिक झगडे खडे हुए और मांसपार्टी × घासपार्टी, कालेजपार्टी × गुरुकुलपार्टी ऐसी पार्टियां बनीं और जिस कालेजीय जीवनका श्री स्वामिजीने स्वप्नमें भी स्मरण नहीं किया, उसकी वृद्धि हुई और जिस गुरुकुलप्रणालीकी बुनियाद रखी थी, उसका पौधा नाम-मात्र प्राण धारण कर रहा है ! परंतु समर्थ परिवारके लडके कालेजोंमें हि शिक्षा पाते हैं, और गुरुकुलपरीक्षाके पश्चात् युनिवर्सिटी की डिग्री पानेकी आतुरता दीखती है । और वैसा देखा जाय तो गुरुकुल भी कालेजके मार्गपर हि आयेगा, ऐसा दीखता है, क्योंकि 'कुल का प्रेम' बहुत थोडे स्थानोंपर रहा है, और उस स्थानपर कालेजकी 'डिसिप्लीन' प्रभावी होनेका भय बढ रहा है। अतः कहना पडता है, जो स्वामिजीने चाहा था, वह उनकी इच्छानुसार बना नहीं और जो वे नहीं चाहते थे, वही बनने पाया है ।

ऐसा क्यों हुआ ? सोचना चाहिये । पाठकों ! सोचिये ।

आर्यसमाजमें रायसाहेब, रायबहादर और सरकारी औहदेदार घुस गये, जो विदेशी सरकारके धनसे परिपुष्ट होनेवाले थे, ठेकेदार जो विदेशी राजके धनसे कारोबार करनेवाले थे, दुकानदार जो विदेशी वस्तुओं का व्यवहार कर रहे थे, इन सबकी भीड आर्यसमाजमें हो ही चुकी थी और उस भीडमें विदेशी सरकारकी अदालतों में जाकर विदेशी सरकारका कानून ठीक लोकहितकारी है, ऐसा रात दिन बोलनेवाले वकील और बैरिष्टरोंनेभी बडी भीड बढाई !

आर्यसमाज में इन लोकों की भीड बढनेसे

श्री स्वामिजीके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य के प्रोग्राम के लिये स्थान कहां मिलनेवाला था ?

उक्त सदस्योंमें ऐसा कौन रायसाहेब होगा कि जो 'यहांसे विदेशी आंग्रेजी राज्य शीघ्र चला जावे और "आर्योंका चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र यहां हो जावे" ऐसी स्वामिजीके आर्याभिविनयमें लिखी प्रार्थनाएं प्रतिदिन करता, और तदनुसार श्री स्वामिजी द्वारा प्रवर्तित तीनों सभाओंके प्रोग्राम के अनुसार कार्य करता ? क्या कभी वकील अपना अदालतों का कार्य छोड कर न्यायार्यसभा का कार्य बढा कर अपनी आमदनी घटाना चाहेंगे ? क्या कभी रायबहादुर अपने पुत्रोंको जंगलके गुरुकुलमें १४ वर्ष बंद रखनेकी इच्छा कर सकेंगे ? क्या कभी ठेकेदार अंग्रेजों की अप्रीति होने योग्य कार्य कर सकते हैं ? और क्या ही ऐसे लोग समान शासन (Parallel Governmnt) का विचार भी मनमें ला सकते हैं ? स्व० महात्मा मुनशीरामजी अर्थात् श्री स्वा० श्रद्धानन्दजी एक ही ऐसे आत्मा थे कि जो अन्दर और बाहर से स्वामिजीके कार्य को बढानेकी चिन्ता करते थे, परंतु अकेला भद्र पुरुष क्या कर सकता है ?

कभी कोई समाज ५०।६० वर्षोंतक वैदिक धर्मके तेजस्वी जीवनमें सचमुच आकर जीवित रहता हुआ विदेशी सरकारके आधीन रह सकता है? वैदिकधर्मीके लिये-वेदका धर्म जाननेवाले के लिये दोही मार्ग खुले होते हैं,एक या तो वह अपना स्वतंत्र राज्य स्थापन करेगा अथवा दूसरा मृत्युके वशमें-स्वतंत्र स्वराज्य के लिये कार्य करता हुआ-चला जायगा और अपने जीवनको अमर बनावेगा !

श्री स्वामिजी के आर्याभिविनयमें ' **आर्योंका स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र होनेकी प्रार्थना है,**' वह रायसाहेब किस तरह सिद्ध होने देंगे, और इनके कारण आर्योंमें वैदिक धर्मकी ज्योति किस तरह विशेष प्रदीप्त होती रहेगी और आचार्यजीका उद्देश्य भी किस तरह सिद्ध होगा ? श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य सिद्ध न होनेका कारण यह है । औरभी कारण हैं, परंतु उन सबका विचार करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है ।

परतंत्रताके लिये स्थान नहीं ।

वैदिक धर्म पारतंत्र्य को सह नहीं सकता, इसी लिये **श्रीस्वामिजीके रोमरोम में और वाक्य वाक्य में आर्योंके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापित करनेका भाव जागता था ।** आर्यसमाज स्थापन करनेका भी उद्देश्य यही था । परंतु विदेशी सरकारको अपनी शक्ति अर्पण करनेवाले बहुसंख्य लोग इस संस्थामें घुसनेसे स्वामिजी के सब कार्य जिधरके उधर हि रह गये और सब कार्य रुक जानेसे नाना प्रकारके आपसके झगडे शुरू हुए ।

स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेवाले विदेशी राजाकी युनिवर्सिटीसे अपना संबंध क्यों रखेंगे ? परंतु रायसाहेब दूसरा क्या कर सकते हैं? वकीलोंको धन न्यायसभासे मिलनेवाला नहीं है, इस कारण उनको न्यायार्यसभासे अरुचि होना नितान्त स्वाभाविक ही है । इसी लिये कालेज बढ गये, वकील बढ गये, रायसाहेब बढ गये, नौकर बढ गये और सब मिलकर वही करने लगे कि जो श्री स्वामिजीने कभी नहीं चाहा था ।

वेदका आधार है ।

इस तरह स्वामिजीकी सब बातें बिगड गयीं, और वे ऐसी बिगड गयीं कि इसके आगे उनका सुधार कभी होही नहीं सकता; क्योंकि अब उनही कार्योंको दूसरोंने संभाल लिया है, तथापि आर्यसमाजके पास एक ही बात रह गयी है, वह है 'वेद' । यह सबके आधारकी बात है यदि यह भी सिद्ध हुई तबभी कुछ बन सकनेकी आशा है।

परंतु वेदका धर्म जानकर प्रसार करनेवाले स्वतंत्र विचारके सदस्य चाहिये । उनको तैयार करनेके लिये गुरुकुलादि की स्थापना की गयी है । परंतु वहां भी स्वतंत्रता नहीं है । किसी बातके सिद्धान्तोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका निर्णय करनेका ठेका उन्हींके पास है, जो वेदको स्वयं बिलकुल जान नहीं सकते । और ऐसी संस्थाओंसे उत्तीर्ण होकर जगत् में आनेवाले स्नातक विद्वानों के भवितव्यका निर्णय करना कराना भी वेदानभिज्ञों की संमतिपरहि सर्वथा निर्भर है । वेदका अध्ययन किये विना और आद्योपान्त वेदको समझनेके विना ही यहां

हरकोई जान सकता है, कि यह वैदिक सिद्धांतके अनुकूल है वा प्रतिकूल !!! आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा और सार्वदेशिक सभामें बहुसंमतिसे निर्णय होता है और वहां बहुसंख्या तो वेद न जाननेवालों की ही है । और वे अपने अंतःकरण से निश्चयपूर्वक समझते हैं कि हम वैदिक सिद्धांतों को समझते हैं, यद्यपि हम वेद आद्योपान्त नहीं समझते!! इससे हमेशा यह हो रहा है कि, जो विशेष विद्वान् होकर वेद की खोज (Research) करने लगते हैं, वे ही बहिष्कृत होते जाते हैं। और जो लोगों की हां में हां मिलाते हैं, वे प्रतिष्ठा पाते रहते हैं। इस कारण विद्याकी वृद्धि रुकी है और ज्ञान की प्रगति होना असंभव हो चुका है, यही इस समयकी स्थिति है ।

पं०विश्वबंधुजी जैसे रिसर्च स्कॉलर अलग हुए,पं०रघुवीर जी स्वयंहि अलग रहे, पं० भगवद्दत्तजी कालेज के रिसर्च-विभागसे चले गये, नया कोई रिसर्च करने के लिये आगे नहीं आता, क्योंकि वह देखता है, कि दूसरों की मिट्टी किस तरह पलीत हो रही है, मैं क्यों अपनी जान खतरे में डालूं ?

श्री० स्वा० सत्यानन्द जैसे पवित्र उपदेशामृत की वृष्टि करनेवाले 'जपयोग'का प्रचार करने के कारण अर्थात् एक सत्य वैदिक मार्गका उपदेश देनेके कारण हटाये गये, वहां उनसे कमशक्ति रखनेवालों को कौन पूछता है? परन्तु पूजा तो उनकी होती है, कि जो पं०बुद्धदेवजी जैसा श्री०स्वामिजी के चित्रपर भरी सभा में लाथ मारता है, वह धर्म का मेरु समझा जाता है । वेद की खोज इस तरह एक भय का विषय हो चुका है और वह संमान का विषय होने की कोई आशा दिखाई नहीं देती ।

खोज करनेवालों को स्वतंत्रतापूर्वक खोज करने देने से हि ज्ञान की वृद्धि हो सकती है । वह तो यहां असंभव ही हो चुका है । स्तब्ध जल (Stagnant water) हो चुकने पर वह सडने लगता है, वह अवस्था आ चुकी है । श्री स्वामिजी ने यह सब पहिलेहि जान लिया था, इस लिये उन्होंने 'सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करनेके लिये सदा उद्यत होना चाहिये। ' ऐसा नियमहि बनाया और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' न मानो, विविध प्रमाणोंसे जो सत्य सिद्ध हो, वही स्वीकार करो, ऐसा असंदिग्ध शब्दों से वारंवार कहा था । परंतु वह बात अब जाती रही और श्री स्वामिजी के पश्चात् भी जो उनके नामपर छापा जा चुका है, उसके अक्षर अक्षर को मानना चाहिये, ऐसा कट्टर पन्थ शुरू हो चुका है ।

इस का परिणाम 'दयानन्द-पन्थ' बन जाने में अति शीघ्र होनेवाला है, जो उद्देश्य श्री स्वामिजी का कभी भी नहीं था ।

इसलिये जो समझते हैं, कि वेद के धर्म की जाग्रती करना ही केवल एक मात्र कार्य अब अपने पास शेष रहा है, अन्य सब कार्य जो आचार्यजीने शुरू किये थे, वे सब नष्ट हो चुके हैं, उनको वेद के शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे अध्ययन होने के लिये क्या करना चाहिये, इस विषयका हार्दिक धर्मभाव से विचार करना जाहिये ।

वेदकी खोजका मार्ग ।

जिनका धर्म 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित है, उनको उचित है कि सब से प्रथम अपने धर्मग्रंथोंकी अति शुद्ध पुस्तकें सुंदर छापकर सस्ते से सस्ते मूल्य से देने का प्रबंध करें । इन ग्रंथोंका पाठनिश्चय शास्त्रीय परंपराका विचार करके तथा पाठनिश्चयका जो शास्त्र है, उसके अनुसार करना चाहिये । प्रत्येक पद का और प्रत्येक अक्षर का तथा उदात्तानुदात्तादि स्वर का उत्तरदायित्व प्रकाशकों पर होना चाहिये । किसी भी कारण इन धर्म-ग्रंथोंमें-वेद के ग्रंथों में-एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये ।

संपूर्ण उपलब्ध शाखासंहिताएं और संपूर्ण ब्राह्मण और आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थ भी उक्त प्रकार शुद्ध, सुंदर और सस्ते छापने चाहिये । उन में प्रकरणविभाग के शीर्षक योग्य रीतिसे देकर, ये सब ग्रंथ मुद्रित होने चाहिये ।

इस तरह संपूर्ण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये सब ग्रंथ शुद्ध, सुंदर, सस्ते मुद्रित होने के पश्चात उनकी विविध प्रकारकी सूचियां बननीं चाहिये । जिससे ग्रंथ लेतेहि इसमें यह विषय इस स्थानपर है, इसका झट् पता लगेगा और अभ्यासकको सुविधा होगी । ऐसी सूचियां इन सब ग्रंथों की बननी चाहिये ।

इसी तरह वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषदोंका वाक्यकोश भी अवश्य ही बनना चाहिये। जैसा उपनिषद्वाक्य कोश बना है, जिसमें एक एक शब्दवाले वाक्य एक स्थानपर मिल सकते हैं, वैसा कोश वेद और ब्राह्मणोंका बनना चाहिये। ये कोश जैसे Bible के अनेकविध concordence बने हैं, वैसे अनेकविध बनाने चाहिये। जिससे अभ्यासक का समय व्यर्थ खर्च न होते हुए सब खोज करने की सामग्री खोजकर्ता के सम्मुख तत्काल उपस्थित हो सकेगी, और योग्य रीतिसे खोज हो सकेगी।

इसके पश्चात् सब स्मृति, सब सूत्रग्रंथ, श्रौत और गृह्य सूत्र, सब अंगोपांग ग्रंथ, तथा इतिहासपुराण, तंत्रग्रंथ तथा अन्यान्य आगमादि ग्रंथ शुद्ध और सस्ते मुद्रित होने चाहिये और इन सबकी सूचियां भी बनानी चाहिये, जिससे इसमें यह बात इस स्थानपर है, इसका पता शीघ्र लग जाय।

कई यहां पूछेंगे कि इतिहासपुराणों की हमें क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"

अर्थात् इतिहास और पुराणोंसे वेद के तत्त्वकी व्याख्या करनी चाहिये। कई वैदिक सूक्तों के अनुवाद इन ग्रंथों· में हैं, वेद का आशय जानने के लिये उनको देखना आवश्यक है, कई वेदमंत्र के आधारपर अनेक कथाएं इन ग्रंथोंमें रचीं गयीं हैं, कई तत्वज्ञान वेद के आधार से फैले हुए हैं, इनकी खोज होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे आगे की खोज का मार्ग खुला हो सकता है। इसलिये इन सब ग्रंथों का मुद्रण होना वेदकी खोज के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
(श्री० भागवत)

वेद का अर्थ दर्शाने के लिए हि महाभारत रचा गया है, अतः किस तरह उसमें वेदार्थ बताया है, इसकी खोज करना अत्यंत आवश्यक है। कूपमण्डूकवृत्ति से वेदका तत्त्वज्ञान कदापि ज्ञात नहीं हो सकता है। जो कूपमण्डूकवृत्तिसे रहना चाहते हैं, वे वैसे रहें। परंतु जिनको वैदिक धर्मका प्रेम है, उनको शास्त्रीय दृष्टिसे खोज करने के कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये।

वेदकी खोज के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध लिखना चाहिये। इतना गंभीर यह विषय है। यह कोई ऐसा ही होनेवाला कार्य नहीं है। एक एक बात के लिये पहाडों के पहाड ढूंढने पडते हैं। जिन लोगोंको इन परिश्रमोंकी कल्पना है, वेहि इस कार्य के महत्त्व को जान सकते हैं।

जो ग्रंथ मुद्रित हुए हैं, उनका भी संशोधन करके उनमें जो अशुद्धि हो, उसको बाहर निकालना चाहिये। व्रण के अन्दर शल्य रहने से वह व्रण कदापि ठीक नहीं होता है। ऐसा ही ग्रंथोंकी शुद्धता के विषय में है। ग्रंथ तो 'संशोध्यं व्रणिनोंगवत्' ग्रंथ का संशोधनव्रणकी शुद्धता के समान करना चाहिये। किसी ग्रंथ का शुद्ध पाठ निर्धारित करने के अनेक साधन हैं, उन में ये प्रमुख हैं—

१. हस्तलिखित ग्रंथों की तुलना करना,
२. मुद्रित ग्रंथों की सहायता लेना,
३. कण्ठ करनेवालों का सहाय लेना, तथा
४. अन्यान्य ग्रंथों में यदि उद्धरण हुए होंगे, तो उनका विचार करना।

पाठनिश्चय का आजकल एक पूर्ण शास्त्र बन चुका है, उन सब नियमों का सहाय लेना अत्यंत आवश्यक है। ऐसी सावधानी से जो ग्रंथ हम मुद्रित करेंगे, उस का मूल्य जगत् के संपूर्ण विद्वानों में होगा। अन्यथा वह ग्रंथ पंथाभिमानी और मतवालेहि कदाचित् क्षणमात्र मानेंगे। हमें कोई कार्य अधूरा नहीं करना चाहिये। जो शास्त्र इस समय है, उसका पूरा पूरा उपयोग करके शास्त्रशुद्ध मार्गसेहि चलना चाहिये।

लिखित ग्रंथालय।

उक्त वर्णन से पाठकों के मनमें यह बात आ चुकी होगी, कि आगे चलकर शास्त्रीय दृष्टिसे वेदोंकी खोज करनेके लिये जो शुद्ध ग्रंथों का मुद्रण करना अवाश्यक है, उसके लिये हमारे पास एक बडा और विश्वस्त हस्त-

लिखित ग्रंथों का महान् पुस्तकालय चाहिये। ये ग्रन्थ सुरक्षित रखनेके लिये प्रर्याप्त व्यय करना होगा। और भारतवर्ष में स्थानस्थानपर जा जाकर हस्तलिखित ग्रंथ लाने के लिये मनुष्य और धन इतना चाहिये कि जिस का विचार सामान्य मनुष्य कर ही नहीं सकता।

व्यय के अंदाजा के लिये हम यहां कह सकते हैं, कि ऐसे जल और अग्नि के भय से रहित मकान बनाने के लिये कम से कम एक लाख रु० लगेगा, और नानाविध हस्तलिखित ग्रंथों का सुयोग्य पद्धतिसे संग्रह किया जाय, तो दस लाख रु० भी थोडे ही होंगे। क्योंकि किन ग्रंथोंको कितना रुपया पडेगा, इसकी कोई कल्पना नहीं, और किस समय कितने ग्रंथ मिलेंगे, यह भी कोई नहीं कह सकता। भारतवर्ष में इतने ग्रंथ अभी तक छिपे पडे हैं कि उनको प्राप्त करना भी लाखों रुपयों के व्यय का कार्य है।

ग्रंथों की खोजके लिये ग्रामग्राम और घरघर में घूमनेवाले भी विद्वान् लोग चाहिये। साधारण अनाडी का यह कार्य नहीं है। उनको धन भी पर्याप्त चाहिये, धन दिये विना घरसे कोई ग्रंथ बाहर कोई भी दे नीं सकता। मान लीजिये कि आपने दस विद्वान् ग्रंथसंग्रह करने के लिये नियुक्त किये, तो उनका वेतन, प्रवास का व्यय, ग्रंथ खरीदने का व्यय, पुस्तकालय के स्थानपर सुरक्षित भेजने का व्यय, वहां सुव्यवस्था से रखने का व्यय, वहां के विषेश विद्वान् ज्ञाता पुस्तकाध्यक्ष का वेतन, पुस्तकालय के कर्मचारियों का वेतन, यह सब मिलकर प्रतिमास हजारों रु० का व्यय होगा, तो ही यह ग्रंथसंग्रह बन सकेगा। यह कोई विनामूल्य होनेवाला कार्य नहीं है। लाखों रु० खर्च करने पर भी और अधिक खर्च करने की आवश्यकता इसमें होगी।

परंतु यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदकी खोज के लिये इसके विना एक पांव भी आगे बढाया नहीं जा सकता। इतने महत्त्व का यह विषय है। अज्ञानी और शास्त्र को न जाननेवाले इसको समझ हि नहीं सकते, इसलिये इस कार्य के लिये उनसे धन मिलना असंभव है। ज्ञानी लोगों के पास धन नहीं होता, इसलिये उनसे धन खडा नहीं हो सकता। यही कठिनता है। धन के विना लिखित ग्रंथालय बनेगा नहीं, धन के विना चलेगा नहीं, अज्ञानियों से धन मिलेगा नहीं और ऐसा महान् लिखित ग्रंथालय न हुआ, तो शुद्ध ग्रंथ छापना और खोज करना असंभव है। ऐसा यह अन्योन्याश्रित विषय है। इसकी कुछ कल्पना पाठकों को हो, इसलिये यह यहां लिखा है, जो नहीं समझते उनको इस का महत्त्व समझाना भी अशक्य है। अस्तु।

वेद की खोज करने के लिये इतनी सामान्य तैयारी भी नहीं हुई है। फिर खोज कहां की? वेद का ठीक ठीक अर्थनिश्चय करना तो एक दूरकी बात है। वेद में इतने विविध विषय हैं कि उन सब विषयों का ज्ञान आजदि हरएकको होना कठीन है। वेदमें कई प्रकारकी चिकित्साएँ लिखी हैं। उनकी परिभाषा विभिन्न होती हैं, इस लिये जो पण्डित अर्थ करने लगता है, वह अपने अज्ञान के कारण उस को ठीक तरह खोल नहीं सकता। इस तरह के किसी अर्थलेखक ने अथर्ववेद का अर्थ करने के समय 'मूत्र' शब्द का अर्थ (सब शब्द ईश्वरवाचक हैं ऐसी कुछ विचित्र कल्पना करके) 'ईश्वर' अर्थ किया था। परंतु उस मंत्र में मूत्ररोगचिकित्सा का विषय था। अतः वैद्यक ज्ञान के विना वह सूक्त या मंत्र खुल नहीं सकता। इसी तरह युद्धविषयक और सेनाव्यूहविषयक मंत्रोंको खोलना युद्ध-विषय को जानने के विना हो नहीं सकता। इसी लिये एक एक विषय के पण्डित इकठ्ठे मिलकर वेदकी खोज करनी चाहिये। और उनको सब साधन मिलने चाहिये, और उनके मन परवश भी नहीं रहने चाहिये।

वेदकी खोज का विषय इतना गंभीर है। पूर्वग्रहदोष से यहां कार्य चलनेवाला नहीं और जिनमें यह दोष रहेगा, वे अर्थ का अनर्थ भी करेंगे। इस कारण इस दोषसे बचना अत्यंत आवश्यक है।

श्रीस्वामिजी महाराजने जो सार्वभौमिक भारतोत्थान का कार्यक्रम तैयार किया था, उसका तो उनके अनुयायियोंने पूर्ण विध्वंस किया ही है। अब एक वेद की बात उस कार्यक्रम में से शेष रही है, वह करने के लिये इतना प्रयास करना

आवश्यक है। परंतु यह बनेगा कैसा, यह हमारे समझमें नहीं आता। क्योंकि जो खोज करने लगता है, वह बहिष्कृत होता है। इसलिये पता तो ऐसा ही लगता है कि यह वेदविषयक कार्य भी ठीक शास्त्रीय पद्धति से होना कठीन है। और यदि सचमुच यही परिस्थिति और विचारों की गुलामी और मतवाद की कट्टरता रही, तो यह कार्य भी निःसंदेह नहीं होगा, और सचमुच यह भी न हुआ, तो श्री स्वामिजीने जो कार्य शुरू किया था, उसमें से एक भी नहीं हो सका, ऐसा ही सिद्ध होगा। सोचिये कि कितना दुर्भाग्य है।

ऋषिका उपहास।

ऋषि वह होता है कि जो सब से पहिले उन्नतिका सच्चा मार्ग स्पष्ट देखता है और उस मार्ग से जाओ, ऐसा कहता है। श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजीने भारताभ्युत्थानका सच्चा मार्ग सबसे पहिले देखा, कहा और उस मार्गपरसे चलकर अपना साध्य प्राप्त करने की रीति भी बता दी। इसलिये उनको ऋषि कहना योग्य है। परंतु जो लोग उन के बताये मार्ग पर से बिलकुल चलना नहीं चाहते, प्रत्युत विरुद्ध ही चलते हैं, उन के आदेश के अनुसार चलने के इच्छुक भी नहीं हैं, उनकी **'आर्यों का चक्रवर्ती राज्य शीघ्र स्थापित करनेकी प्रार्थना भी प्रतिदिन नहीं करते,'** तीन सभाओंका कार्य नहीं करते, स्वदेश की गुलामी और परतंत्रता बढानेवाले विदेशी राजा के प्रबंधमें नौकरियां करते, पेनशनें खाते, पदवियां धारण करते, उनकी युनिवर्सिटीयोंके कॉलेजों में स्वयं पढते पढाते और अपने पुत्रों को भेजते हैं, विदेशी वस्त्रादि परिधान करते, अपनी पंचायतें न करते हुए सरकारी अदालतों में जाते और उस धंधे से धन कमाते, विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करके धन कमाते, वेद का अध्ययन नहीं करते, न करने देते, न सहायता करते हैं, और ऐसा विरोधी आचरण करते हुए उस पवित्रात्मा ऋषिके नाम का योग्य समय में तथा अयोग्य समय में गजर करते रहते हैं, क्या इस नामजप से उस ऋषि का अपमान और उपहास नहीं होता है? **'ऋषि दयानन्द की जय'** ऐसा कौन कहे? जो उनके आदेशानुसार चलता है, वह कहे; उनके आदेशानुसार न चलनेवाले जयजयकार करेंगे, तो उनसे पूछना चाहिये, जय तो तब होगी जब उनका कार्य चलता रहेगा, और सर्वांगसंपूर्ण कार्य होता रहेगा। हमारे विचार से उनके अनुयायियोंने हि इतना उनके विरुद्ध आचरण किया है कि उनका सर्वांगसंपूर्ण कार्यक्रम अब उनसे होना असंभव है, और जो वेद का कार्य अवतक उनके हाथों में रहा है, वह भी स्वतंत्र खोज की अभाव में होगा, ऐसा दीखता नहीं। इस लिये जय कैसी होगी? और भारतवर्ष के बाहर ओंकार का झंडा कब जायगा, जब अनुयायियों के हृदयों में भी ओंकार सुस्थिर नहीं रहा?

पाठक पूछेंगे कि अनुयायियों के हृदयों में ओंकार का झंडा खडा नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है? क्या ये प्रमाण देने चाहिये? पंजाब और युक्तप्रांत में हिंदी भाषा और देवनागरी अक्षरों का भी राज्य अभीतक नहीं हुआ, तो देवभाषा-संस्कृतभाषा-का राज्य कहां होना है? अभीतक ये लोग अपसव्यगामी ऊर्दू से भी बाहर नहीं आ सके, वे संस्कृत का उद्धार क्या करेंगे? गुरुकुलों में २० और २५ वर्षों तक बडेबडे स्थानोंपर विराजमान होने पर भी संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं होते, प्रतिनिधिसभा में भी रहते हुए ऊर्दू को नहीं छोडते, वे संस्कृत से क्या करेंगे? और जो ६० वर्षों में संस्कृत अपना नहीं सके, वे वेदभाषा से क्या व्यवहार करेंगे?

जिनके हृदयों में सचमुच ओंकार का निवास हुआ है, वे छः मासोंके अन्दर हिंदी का व्यवहार कर सकते हैं और एक वर्ष के अन्दर संस्कृत में प्रविष्ट हो सकते हैं। संपूर्ण भाषाओं से संस्कृत भाषा सुगम है। ऊर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती से भी संस्कृत सुगम, सुबोध और शीघ्र साध्य होनेवाली है। ऐसी सुगम और सुबोध भाषा में-देववाणीमें- जो ५०।६० वर्षों में भी प्रविष्ट नहीं हो सके, उन के हृदयों में ओंकार का निवास कहां? श्री स्वामिजी की जन्मभाषा गुजराती थी, संस्कृत उनकी गुरुभाषा थी, परंतु अपने राष्ट्रोन्नति के कार्य के लिये जब उन्हों ने देखा कि आर्यभाषा की आवश्यकता है, तब उन्हों ने ४ महिनोंमें हिंदी सीखी और वेदभाष्य तक उस में लिखा।

कौन ऐसा है कि जो प्रतिदिन आधा घण्टा प्रयत्न करेगा, तो एक साल के अन्दर संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा? यदि सब लोग संस्कृत जान जांयगे, तो पण्डितों में सच्चा कौन और धोखा देनेवाला कौन, इसकी परीक्षा वे तत्काल कर सकेंगे। परंतु इस के लिये अन्तःकरण में तीव्र उत्सुकता चाहिये। वह कहां है ?

धार्मिक संस्था ।

संपूर्ण जगत् की धार्मिक संस्थाओं की स्थिति देखिये, युरोप–अमेरिका के सब देशों में 'मिशन सोसायटीज' हैं। परंतु उन के सब सदस्य उनके धर्मपुस्तक को आद्योपान्त जाननेवाले होते हैं, एक भी प्रबंधकारिणीका सदस्य धर्मग्रंथका अनभिज्ञ नहीं होता। मुसलमानों के धर्मप्रचारक संस्था के सदस्य भी उनके धर्मपुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन करनेवालेहि मौलवी होते हैं।

परंतु यहां देखा जाय, तो प्रतिनिधिसभाओं के सदस्यों में आद्योपान्त वेद के ज्ञाता कितने हैं? जो स्वयं नहीं जानते, वे वेदज्ञान की कठिनताओं को कैसे जानेंगे? हल करनेके उपायोंको कैसे सोचेंगे? आगे क्या करना चाहिये, इस का ज्ञान उसको कैसा होगा?

प्राचीन कालसे चली आयी प्रथा यह है, कि वेदशास्त्रज्ञहि धर्मसभा की प्रबंधकारिणी का सदस्य हो, एक वेदज्ञ भी सहस्रों अनभिज्ञों की अपेक्षा अधिक मूल्य की संमति दे सकता है। मनुने जो कहा है, वह यौंहि नहीं कहा। जबतक यह प्राचीन पद्धति प्रचलित थी तबतक वैदिक धर्म अस्ताव्यस्त नहीं हुआ था, और जिस समय वेदशास्त्रज्ञ स्वयं प्रबंधकारिणी सभाके सदस्य होंगे, उसके पश्चात् कोई कठिनता ही नहीं रहेगी।

सच्चा विघ्न वैदिक धर्म की प्रगति में यदि किस जगह है, तो वह अज्ञानियों के हाथों में ज्ञानियों की गर्दनें गयी हैं। यह विघ्न दूर हो गया, तो सब ठीक हो जायगा।

हमारी दृष्टि ।

हमारी दृष्टीमें आर्यसमाजद्वारा संचलित गुरुकुल संस्थाएं तथा अन्य संस्थाएं उनके सुयोग्य स्थानपर विराजती हैं। श्री० स्व० ला० लाजपतराय, श्री० स्व० स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज, श्री महात्मा हंसराजजी तथा अन्यान्य महापुरुषों का अतुल स्वार्थत्याग हमारे सामने है। पूर्वाश्रम के ला० मुनशीरामजी वकील होते हुए भी गुरुकुल स्थापना के लिये कालेज पार्टी से किस तरह झगडते थे यह सब हमारे आंखके सामने है। तो भी जब सामूहिक तौरपर आर्यों के सुपुत्र विदेशी सरकार के कालेजों में जा रहे हैं, वकील और बैरिष्टर आर्य कहलाते हुए अदालतों में जा रहे हैं, आर्यों के मुकदमें अदालतों में चले जाते हैं, तब दुःखसे पता लगता है, कि श्री स्वामिजी की सदिच्छा सफल होने में विघ्न कहांसे हुआ है। वही यहां दर्शाया है। कई अपवाद होंगे तो वे नियमकी हि सिद्धि करेंगे।

आज रिसर्च करनेवालोंके उपर बहिष्कार डाला जा रहा है, कट्टरता बढाने के लिये यह आवश्यक समझा जा रहा है, परंतु इससे भय यह है कि जो श्री स्वामिजीके कार्य की एकही बात–'वेद' हमारे पास शेष रही है वह भी हमारे हाथों में नहीं रहेगी।

सोचनेवाले सोचें, करनेवाले करें। नहीं तो जो बननेवाला है, वही बनेगा। **शास्त्रीय सत्य अस्वाभाविक दबावसे दब नहीं सकेगा।**

कुछ विचारणीय पत्र

ता० १५-८-३८

श्रीमान् माननीय पण्डितजी,

सादर प्रणाम!

आपकी भेजी हुई ऋग्वेद-संहिता और यजुर्वेद-संहिता सुरक्षित रूप में प्राप्त हो गई हैं। आप की इस कृपा के लिए गुरुकुल-विद्यामंदिर आप का अतिशय अनुगृहीत है।

आपका वेदोंके शुद्ध मुद्रणका पुरुषार्थ अति अभिनन्दनीय है। हम सब आप के कार्य की पूर्ण सफलता चाहते हैं।

बहुत से लोग आप के कार्य के विषयमें यद्वातद्वा लिखते बोलते रहते हैं। करने योग्य काम करना नहीं और करनेवाले को निरुत्साहित करने का प्रयन्त करना! ऐसी उनकी वृत्ति हो गई है।

आप अपने कार्य पर आरूढ रहिये! हमारे मन आपके साथ है।

सब कुलवासी आपको प्रणाम करते हैं।

विनीत

शंकरदेव

मंत्री-गुरुकुल, सूपा। (नवसारी)

शास्त्रार्थके विषयमें

कभी भी मौखिक शास्त्रार्थ नहीं करें। उसका फल कुछ नहीं।

आपने अपना विचार विस्तार से लिख दिया है-ऋषि-देवता-छन्द के विषय में, जिससे सब विचार कर सके।

अब पं० ब्रह्मदत्तजी का भी धर्म था, कि वे अपना सब कथन मासिक में प्रकट करते, जिससे सबको विचार करने का पूरा अवसर मिलता और आपके विचार के साथ तुलना कर सकते। परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। कारण क्या? मौखिक शास्त्रार्थ के लिये भी आग्रह क्यों?

हां, वे विद्वान् हैं। अपनी रीतभातसे घमंडी प्रतीत होते हैं। छिद्रान्वेषी हैं, ऐसा मालूम होता है। वहां उनकी एक टोली बन गई है। इसलिये शास्त्रार्थ नहीं करना अच्छा है।

आजतक किसीने नहीं किया, ऐसा सार्वजनिक महायोग्य काममें आप लगे हैं, उसमें बाधा डालने का वे प्रयत्न करते हैं। ईर्षा बडी बुरी चीज है। उनको कुछ काम करने का नहीं है। आप अपने काम में ही दत्तचित्त रहें। इनकी उपेक्षा करें। जो करना हो, वह वे भले ही करें। अन्य दो वेद छप चुकने पर शास्त्रार्थ का विचार रखें।

अध्यक्ष के जो तीन नाम आपने दिये हैं, वे ही रहें। क्या वे असत्यवादी हैं? दो तो आर्यसमाजी ही हैं। एक विशेष बात-आप काशीनगर का नाम शास्त्रार्थ के स्थल के लिये देवें और वहां के धुरन्धर पंडितों के भी नाम देवें।

यह कार्य सबके हितके लिये है। इसलिये जहां विद्वान नहीं वे नगर क्यों पसन्द करें?

अंतमें- हालमें ऐसे झगडे में मत पडें। अपने पवित्र कार्य में हि लगे रहे। बस-इतना बस है।

नारायण दलपतिराम भगत, अहमदाबाद।

'सामगायन'।

श्रीमान् पूज्यवर पंडितजी; सादर नमस्ते।

सर्वप्रथम मैं जो यह पत्र आप की सेवामें भेज रहा हूं, जिज्ञासु के रूप में, न कि आक्षेप।

सामवेद के गान को किस तरह से गाया जाय, यही अभी तक किसी भी भाष्यकारने स्पष्ट नहीं किया। स्वामी तुलसीरामजी तथा पं० जयदेवजी विद्यालंकार अपने भाष्यकी भूमिका में स्पष्ट नहीं लिखते। वे यही लिखते हैं कि नारद-संहिता गन्धर्ववेद आदिसे पता चल सका है। और आपके यहां से भी जो 'वैदिक धर्म' का विशेषांक निकला उसमें भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं लिखा, नारदीय शिक्षा का आधार लिया है।

प्रथम-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

(१) उदात्त में निषाद और गंधार (२) अनुदात में ऋषभ धैवत (३) स्वरित में षड्ज, पंचम, मध्यम। यह स्वर माने गये हैं, ऐसा सब भाष्यकारों का मत है।

(१) निषाद और गंधार दो होते हैं। शुद्ध और कोमल कौनसा स्वर निश्चय है, जिसको उदात्त में काम में लावें। शुद्ध या कोमल इसी तरह से अनुदात को भी। स्वरित में तो षड्ज, पंचम एक ही है, मध्यम तीव्र लगता है। कौनसा मध्यम, यह स्वर निश्चित नहीं खाली लिखने से कि इसको उदात्त अनुदात स्वरित कहते हैं। यह तो एक एक का अनुकरण दूसरे ने किया, वंशपरंपरा की लेखनशैली हुई। निश्चयात्मक नहीं कि इसी तरह गाना चाहिए।

(२) हरएक मंत्र में १. २. ३. अंक उपरको लिखे रहते हैं और कहीं कहीं क, र शब्द भी लिखे रहते हैं, इनको क्या काम में लाना चाहिये या कैसे इनका उपयोग सामगान में करना चाहिये, यह भी नहीं बताते। हां हर एक यह लिखते हैं, **'गोतम ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' 'कश्यप ऋषि इस प्रकार गाते हैं।'** परन्तु यह अभीतक किसी ने नहीं लिखा कि गोतम ने उदात्त में यह स्वर निश्चय किया और १. २. ३. वा २. ३. ४ या क. र इनमें यह स्वर या यह मात्रा निश्चय करके गाया।

मात्रा की गिनती भी किससे निश्चय की। किसी वाद्य से या कि और? और मात्रा किसको कहते हैं? इत्यादि इत्यादि अभीतक किसीने स्पष्ट नहीं किया, वही वंशपरम्परा की लेखनशैली काममें लाई जाती है। सामगान निश्चय नहीं, जिसकी इच्छा हो जैसे गाये, स्वरसहित या बेसुरा-। आपके यहां वेद छप रहे हैं और ऐसा भी मालुम हुआ है कि कई एक विद्वान् चारों वेदों के आपके यहां हैं। और महाराष्ट्र संगीत-प्रधान देश है। क्या आपके यहां विद्वानों में कोई ऐसा **सामवेदी** है, जो **स्वर** ताल सहित (वाद्य के साथ) सामवेद गा सकता है और मेरी शंका को निवारण कर सकता है? यदि हो तो मैं आकर उन महानुभाव से सामगान सीखूं।

मै मुंबईप्रदेश आर्यप्रतिनिधिसभा आणंद में (जिसके मंत्री बापुभाई, कु० पटेल मंत्री हैं) प्रचारक का कार्य करता हूं और साथ साथ वेदोंका भी प्रचार करताही हूं। मंत्रीजी के कथनानुसार ग्राहक बनानेकाभी प्रयत्न करता हूं। मेरी इच्छा कई दिनोंसे सामगान सीखने की है, परंतु अभीतक पद्धतिपूर्वक सामगान सुनने में नहीं आया जहां जहां (भावनगर आदिमें) भी सुना बेसुरा सामगान ही सुना। सामवेद आप के यहां सुरीला सामगान कोई जानता हो? तो मुझे भी अमूल्य लाभ मिले।

आपसे प्रार्थना है कि इस कमी को जो अभी तक सामगानकी पद्धतिको स्पष्ट करके वेद जो छप रहे हैं, उसमें पूर्ण रूप से किसी गायनाचार्य की सहायतासे पूर्ण करेंगे।

आशा है पत्रोत्तर देने की कृपा करेंगे। योग्य सेवा

ओ३म् शम्।

आपका कृपाकांक्षी
कन्हैयालाल आर्य
C/O आर्य- समाज, आणंद

(इसी अंक में दूसरे स्थानपर सामवेदगान कैसे गाने चाहिये, वह दिया है। यदि ये महाशय जनवरी में यहां औंध आवेंगे, तो उनको सामगान की पद्धति सिखायी जा सकती है।
—संपादक)

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम् ॥१३॥

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्बीशमर्वतः ।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥१४॥

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः ।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम् ॥१५॥ [९]

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै ।
संदानमर्वन्तं पड्बीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति ॥१६॥

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥१७॥

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त ॥१८॥

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः ।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ ॥१९॥

मा त्वा तपत्प्रिय आत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते ।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः ॥२०॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य ॥२१॥

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम् ।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान् ॥२२॥ [१०]
(१७०२)

॥ १६३ ॥

१-१३ दीर्घतमा औचथ्यः । अश्वः । त्रिष्टुप् ।

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात् ।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन् ॥ १ ॥ (१७०३)

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ २ ॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ ३ ॥

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥ ४ ॥

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना ।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥ ५ ॥ [११]

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥ ६ ॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः ।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥ ७ ॥

अनु त्वा रथो अनु मर्यो अर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनाम् ।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते ॥ ८ ॥

हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत् ।
देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥ ९ ॥

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ १० ॥ [१२]

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातइव ध्रजीमान् ।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ ११ ॥

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः ।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः ॥ १२ ॥

उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ अच्छा पितरं मातरं च ।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि ॥ १३ ॥ [१३] (१७१५)

वेदमुद्रणका कार्य

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हि हैं। परंतु किसी को अपने घर में वेदके सब ग्रंथ रखने हों, तो शुद्ध छपे, सुन्दर और सस्ते वेदग्रन्थ किसी भी स्थानपर इस समय नहीं मिलते।

युरोपमें मुद्रित कई वेदग्रंथ मिलते हैं, परंतु उनका मूल्य सैंकडों रु० होनेसे वे भारतवासियों को दुष्प्राप्य ही हैं और वहां सब वेद छपे भी नहीं हैं।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हैं और वे संपूर्ण विश्वमें अति प्राचीन धर्मग्रंथ हैं, इतने प्राचीन धर्मग्रंथ इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं हैं। अतः इनका महत्त्व अधिक है।

सब अन्य धर्मियोंके धर्मग्रंथ उत्तम छपे मिलते हैं, परंतु हमारे वेद हि अबतक शुद्ध, सुंदर और सस्ते छपे मिलते नहीं। भारतीय आर्यों-हिन्दुओं-सनातनधर्मियों को यह बात लज्जास्पद है। इस कारण हमने वेदमुद्रण का कार्य प्रारंभ किया है। शुद्ध, सुन्दर, और सस्ते सब वैदिक ग्रंथ छापने का कार्य स्वाध्यायमण्डल में प्रारंभ हुआ है, ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं और साम और अथर्व छप रहे हैं। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद पर्यंतके सब वैदिक वाङ्मयके ग्रंथ तथा वेदके अङ्गोपाङ्गादि सब ग्रंथ भी छापने हैं, इन ग्रंथोंकी संक्षिप्त सूची यह है।

१. ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रातिशाख्य, ऋग्विधान, चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

२. यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, तैत्तिरीय-संहिता, कपिष्ठल - संहिता, काठक - संहिता, मैत्रायणी-संहिता, इत्यादि संहिता ग्रंथ;

शतपथ ब्राह्मण, (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य, उपनिषद् आदि यजुर्वेदीय वाङ्मय;

३. सामवेद।

सामवेदसंहिता, सामगानके सब ग्रंथ, आरण्यकसंहिता। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय;

४. अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलादसंहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व प्रातिशाख्यादि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

यह संक्षिप्त सूची है। इन सब ग्रंथोंको शुद्ध, सुन्दर और सस्ता छापना है, इनके भाषामें भाषान्तर करने हैं, और सर्व प्रकारकी सूचियां, पदसूची, वाक्यसूची, विषयसूची, ऋषिसूची, देवतासूची, स्थानसूची, इत्यादि अनेक प्रकारकी सूचीयां बनानी हैं, जिनसे वैदिक विषयोंकी खोज करनेवालों की सहायता होगी।

इन सब ग्रंथोंका मुद्रण पांच वर्षों में समाप्त करना है और इस कार्य के लिये व्यय का अंदाजा एक लाख रु० का किया है।

इसमें मूल चार वेद की संहिताओंके ब्लाक बनाने का व्यय भी संमिलित है। वेदके ग्रंथोंमें कंपोजिंग के कारण अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं। कितना भी प्रूफ संशोधन किया, तो भी किसी स्थान में कुछ अशुद्धि रही जाती है। अतः इनके ब्लाक एक वार बनाये जायंगे, तो आगे उनसे लाखो पुस्तकें छापने पर भी अशुद्धि होने की संभावना नहीं होगी। हमेशा के लिये इस तरह शुद्ध छापनेका प्रबंध होगा, और अत्यंत सस्ता देने का भी प्रबंध होगा। इसलिये यह कार्य वैदिक धर्मकी जाग्रति के लिये अत्यंत आवश्यक है।

हमने इस समय केवल वैदिक वाङ्मय के मुद्रणका संकल्प इन पांच वर्षों में किया है, ऐसा लिखा है, इस का अर्थ यह नहीं है कि स्मृतिग्रंथ, सूत्र (श्रौत और गृह्य) ग्रंथ, इतिहास, पुराण ये छापने नहीं है और इनका वैदिक वाङ्मय से कोई संबंध नहीं है। संबंध तो अवश्य है, परंतु जबतक वैदिक वाङ्मय छपकर तैयार नहीं होगा तबतक इन ग्रंथोंके मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया जायगा, इतना ही उक्त कथन का आशय है। वैसा तो स्वाध्याय मण्डल द्वारा संपूर्ण महाभारत छापकर प्रकाशित हुआ ही है। परंतु कोई एक ही कार्यपर विशेष लक्ष्य देनेसे वह कार्य ठीक रीतिसे और शीघ्र होता है, इसलिये हमने आगामी ५ वर्षों में इस एक ही वैदिक मुद्रणकी ओर विशेष लक्ष्य देकर इसको मुद्रित करना है।

वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म के आद्य आधारग्रंथ हैं, इसकी खोज याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियोंसे करनी अत्यंत आवश्यक है। इस खोजके विना किसी तरह भी वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का निर्णय नहीं हो सकता। जब लोगोंके पास वेद के शुद्ध ग्रंथ ही नहीं हैं, तो खोज करनेवाले खोज कैसी करें? इसलिये सर्व प्रथम वेदमुद्रण का कार्य होना अत्यंत आवश्यक होनेसे वही कार्य करनेका हमने संकल्प किया है

इस कार्यका व्यय करीब एक लाख रु० होनेवाला है, इस के लिये धनिक लोग दान देंगे, तभी यह कार्य हो सकता है। सब जगत् के धार्मिक ग्रंथ धनियोंके दानोंसे हि मुद्रित होते हैं और वैदिक धार्मियों में धर्मभावना किसी तरह भी कम नहीं है, इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि धनिक वैदिक धर्मियोंसे इस पवित्र कार्य के लिये आवश्यक धन अवश्य ही प्राप्त होगा

इस धार्मिक कार्य को धन देनेवालों के निम्न लिखित प्रकार वर्ग किये गये हैं—

(१) प्रतिपालक वर्ग।

(अ) प्रथम प्रतिपालकवर्ग- जो दश हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(आ) द्वितीय प्रतिपालक वर्ग- जो पांच हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(इ) तृतीय प्रतिपालक वर्ग- जो तीन हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(२) पालक वर्ग।

(ई) प्रथम पालक वर्ग- जो दो हजार रु०की धनराशी दान देते हैं।

(उ) द्वितीय पालक वर्ग-जो एक हजार रु०की धनराशी दान देते हैं।

(ऊ) तृतीय पालक वर्ग- जो पांच सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(३) पोषक वर्ग।

(ऋ) प्रथम पोषक वर्ग- जो तीन सौ रु०की धनराशी दान देते हैं।

(ॠ) द्वितीय पोषक वर्ग- जो दो सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऌ) तृतीय पोषक वर्ग- जो एक सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

सूचना— यह सब तीनों वर्गों के लोगों की धनराशी एक समय हि स्वा० मण्डलमें पहुंचनी चाहिये। क्योंकि स्वाध्यायमण्डल का वेदमुद्रणकार्य वेगसे चल रहा है, इसलिये उसके व्यय के लिये धनकी आवश्यकता रहती है।

उक्त सब धनदाताओं को स्वाध्याय-मंडल के ग्रंथ जो उनका धन आने के बाद छपेंगे, वे सब मिल ही जायंगे, परंतु प्रतिपालक और पालक वर्ग के धनदाताओं को पूर्वमुद्रित ग्रंथ भी उनसे मांग आनेपर दिये जायंगे। पोषक वर्ग के सदस्यों को पूर्वमुद्रित ग्रंथ आधे मूल्य से मिलेंगे।

प्रतिपालक, पालक और पोषक वर्गके सब सदस्य स्थायी सदस्य होंगे, अर्थात् उनको वंशपरंपरातक उनका सदस्यपन रहेगा और उनके वंशजों को भी सब पुस्तक प्राप्त होते रहेंगे। तृतीय वर्गके पोषक सदस्यों को किसी

एक भाषा के हि ग्रंथ मिलेंगे, शेष प्रतिपालक-पालक-पोषक सदस्योंको सब भाषाओंके अर्थात् जितनी भाषाओं में स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ मुद्रित होंगे, मिलते जायंगे।

इस समय मराठी और हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं, और गुजराती भाषा में ग्रंथ प्रकाशित करने का कार्य अति शीघ्र शुरू होनेवाला है

दान।

(४) दानी- जो यथाशक्ति धन का दान करते हैं, नियमपूर्वक मासिक दान देते हैं, अथवा यथासमय सामयिक दान करते हैं। उनको उनके दान की रकम जितनी यहां प्राप्त होगी, उस रकम के अनुसार पुस्तकें, उनकी इच्छा लेने की होगी तो, भेजीं जायंगी

निधि-स्थापना।

(५) निधिस्थापना- स्वाध्यायमण्डल में नियत धनराशी नियत समय के लिये रखी जाती है, और उसके सूद में प्रतिवर्ष पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रतिशतक ६ रु० के हिसाबसे दी जाती हैं। निधि रखनेवाले की इच्छा के अनुसार ये पुस्तकें प्रतिवर्ष उनको भेजी जाती हैं।

इस प्रकारकी धनराशीका उपयोग वैदिक ग्रंथोंके मुद्रणमें होता है, इसलिये यह धनराशी कमसे कम तीन वर्षतक यहां रखनी चाहिये। तत्पश्चात् जिस समय चाहिये, उस समय एक मास की सूचनासे वापस हो सकती है।

इस प्रकारकी धनराशीमें १००) से कम अथवा १०००) से अधिक धनराशी नहीं ली जाती। एक हजारसे अधिक धनराशी उस शर्तपर ली जायगी, जब प्रतिवर्ष एक हजारसे अधिक वापस न ली जावे।

जो धनी महाशय इस रीतिसे वेदमुद्रणकी सहायता कर सकते हैं, करें।

विभागशः दान।

जो सज्जन एकदम रकम नहीं देना चाहते वे नियमपूर्वक प्रतिमास अपनी किश्त भेजकर एक वर्षके अन्दर अपने भागका रु० स्वाध्यायमण्डलमें पहुंचा देवें। एक वर्ष कार्य पांच वर्षोंमें समाप्त करना है। जो विभागशः धन देना चाहते हैं, वे एक वर्षमें अपनी सुविधाके अनुसार धन यहां भेजें।

अनामत रकम।

जो कुछ रकम अनामत अपने खातेमें रखना चाहते हैं, वे वैसा करें, उनकी रकम की समाप्तितक उनको उतने मूल्य की वैदिक या अन्य पुस्तकें, डाकव्यय माफ करके, भेजीं जायंगी। इनको डा० व्य० का लाभ होगा। उनकी रकम समाप्त होने पर उनको सूचना दी जायगी।

वी० पी० से मांग।

जो सज्जन १०) दस रु० स्वा०मण्डलमें जमा करके अपना नाम वेदके ग्राहकवर्गमें लिखेंगे और वी०पी० से पुस्तकें मंगावेंगे, उनको वैसी भेजीं जायंगी, आधा डा० व्य० उनको माफ होगा। यदि वी० पी० वापस आ गयी, तो पूरा डा० व्य० उक्त रकमसे काटा जायगा।

कमिशन।

जो सज्जन दस ग्राहक जिस प्रकारके बनावेंगे और उनकी रकम यहां भेज देंगे, उनकी रकम यहां प्राप्त होनेपर उनको एक ग्राहक उस प्रकारका बनाया जायगा। कई लोग इस तरह वेदकी बहुत सेवा कर सकते हैं।

इस समयतक बने सदस्य=

१ श्रीमंत महाराजा औन्धनरेशजी ५०००)
२ श्री० डा० लालचन्द्रजी पेन्शनर २०००)
३ मे० विठ्ठलदास हरिदास ऍंड कं १०००)
४ श्री० सेठ रामभाई नारायणभाई ५००)

इनके अतिरिक्त पोषक वर्गके बहुतसे सदस्य हैं, जिनके नाम रिपोर्ट में छपे जायंगे।

वेदके शुद्ध पुस्तकोंकी मांग।

ऋग्वेद हमारा प्रथम वारका मुद्रित सब का सब चार महिनों में समाप्त हुआ और अब द्वितीय वार अधिक सुधार करके मुद्रित करनेका कार्य प्रारंभ करना पडा है। इतनी मांग अच्छे ग्रंथों को है। इसलिये इस वेद मुद्रण की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता जितनी हो सकती है, करना हरएक वैदिक धर्माभिमानी के लिये

श्रीमान् प्रबंधकर्ता स्वाध्याय-मण्डल,

औंध, जि० सातारा

मैं आप के वेदमुद्रण के लिये ______________ वर्ग में रु०

(रुपये ______________) सहायता देता हूं ______________

____

____

कृपया स्वीकार करिये और मुझे ग्राहक बनाइये ।

भवदीय

पूर्ण नाम ______________________________________

पूर्ण पत्ता ______________________________________

तिथि ______________ जिला ______________

______________ देश ______________

'वैदिक धर्म'के ग्राहकोंके लिये
विशेष सहूलियत

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं, कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों ओर जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्याय-मण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

१६) रु० भेजनेसे आपको २०) के पुस्तक+ ५) का वैदिक धर्म मासिक मिलेगा और रेलेसे भेजनेका व्यय तथा पैकिंग माफ होकर आपका २७) से भी अधिक लाभ होगा।

पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देगें। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

जो सज्जन 'वैदिक धर्म' के पांच नये ग्राहक बनायेंगे और उनका कुल वार्षिक चन्दा २५) रु. भेजेंगे, उनको 'वैदिक धर्म' मासिक एक वर्ष विना-मूल्य मिलेगा।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक दान करना चाहते हैं, वे भी इससे लाभ उठावें।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६–१७–१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता– मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल औंध [जि० सातारा]

स्वर्गद्वारस्पृशश्चाऽसि हुताशो ज्वलनः शिखी ४४॥
वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान्रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४५ ॥
अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चाऽऽपो दिशन्तु मे ४६॥
अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम्॥ ४७ ॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥
धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहाऽनिलसंभवः।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम्॥४९ ॥
एवं स्तुतोऽसि भगवन्प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतं चैव प्रीतिं चाऽग्ने प्रयच्छ मे ॥५० ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन्यो जुहुयाद्विभुम् ।
ऋद्धिमान्सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥
सहदेव उवाच— यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नाऽर्हस्त्वं हव्यवाहन ॥ ५२ ॥

चित्रभानु, सुरेश, अनल, स्वर्गद्वार छूने-वाले हुताशन, ज्वलन, शिखी, वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग, भूरितेजा, कुमारसू, भगवान, रुद्रगर्भ और हिरण्यकृत हो। हे अग्ने ! तुम मुझको तेज दो, पवन प्राण देवें, पृथ्वी बल दें और जल सकल मङ्गल करें । हे जलोत्पादक महाभाग सुरेश्वर जातवेद अग्ने ! तुम देवोंके मुख स्वरूप हो, सो मुझको सत्य ज्योतिसे पवित्र करो । देवता ऋषि ब्राह्मण और असुर सदा सुन्दर रूपसे जिन सब यज्ञोंमें हवन करते हैं, वहांकी सत्यज्योतिसे मुझको पवित्र करो तुम धूमकेतु, शिखी पापनाशी, वायुसे बने और सब प्राणियोंमें सर्वकाल ठहरे रहते हो;अब मुझको सत्यज्योतिसे पवित्र करो । हे भगवान अग्ने! मैंने शुचि होकर प्रसन्न चित्तसे तुम्हारी यह स्तुति की, अब मुझको तुष्टि पुष्टि श्रुत और प्रीति दो (४२-५०)

श्रीवैशम्पायनजी बोले,जो ऐसा आ-ग्नेय मन्त्र पढके प्रभु अग्निका हवन कर-ते हैं, वह ऐश्वर्य युक्त और सदा दान्त होकर सब पापोंसे मुक्त होजाते हैं । हे भारत! पुरुषव्याघ्र माद्री कुमार सह-देव यह कहके, कि हे हव्यवाहन ! यज्ञ

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद्राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥३७॥
तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३८ ॥
एवमग्निर्वरं प्रादात्स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३९ ॥
वर्जयन्ति च राजानस्तत्पुरं भरतर्षभ ।
भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा ॥ ४० ॥
सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन्नाऽकम्पत यथाऽचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत्पावकं ततः ॥४१ ॥

सहदेव उवाच — त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन्नमोऽस्तु ते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४२ ॥
पावनात्पावकश्चाऽसि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४३ ॥
चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।

महाराज ! तभीसे वह वृतान्त न जान के जो कोई भूप बलपूर्वक उस नगरीको जय किया चाहते थे, वे अग्निसे जल मरते थे; हे कुरुवंशि! उस माहिष्मती पुरीमें उसकाल अबलाओंको भी कोई स्वेच्छा से ले नहीं सकता था, क्यों कि स्त्रियोंके छीने जानेके विषयमें अग्निने वर दिया था, तिससे वे स्वैरिणी बनके मनमाना वहां विचरा करती थीं । हे भरतराज ! तभी से राजगणभी अग्निके भयसे उस पुरीको त्याग देते थे, पर धर्मात्मा सहदेव अपनी सेनाको अग्निसे घेरा और भय खाया देखने परभी अचलकी भांति स्थिर बने रहे । वह शुचि होय आचमनपूर्वक उसकाल इस प्रकार स्तुति पूरित सम्भाषण करने लगे । (३७-४१)

सहदेव बोले, कि कृष्णवर्त्मन् ! तुमको नमस्कार, मेरा यह प्रारम्भ केवल तुम्हारेही लिये है । हे पावक ! तुम यज्ञरूपी हो, सो तुम्ही देवोंके मुख हो । तुम पवित्र करते हो, इस लिये पावक और हव्यको वहन करते हो, इस लिये हव्यवाहन हो । तुम्हारे लियेही वेदोंकी उत्पति हुई है, इस लिये तुम जातवेदा हुए हो ! हे विभावसो ! तुम्ही

ॐ

स्वाध्याय-मण्डल

औंध, (जि० सातारा)

द्वारा प्रकाशित

पुस्तकोंका

सूचीपत्र।

मुद्रक और प्रकाशक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा.)

Post AUNDH, (Dt. Satara)

Station RAHIMATPUR (M. S. M.-RY.)

संवत् १९९५, शक १८६०, सन् १९३९

(भा० मु० औंध.)

ॐ

स्वाध्याय-मण्डल।

पुस्तक-विक्रीके नियम।

(१) उधार पुस्तक देना बन्द किया है। सब पुस्तक वी॰ पी॰ द्वारा ही भेजे जाते हैं, अथवा पेशगी मूल्य आनेपर रजिष्ट्री डाकसे भेजे जाते हैं। पैकिंग अच्छा करनेका विशेष ख्याल किया जाता है।

(२) व्यौपारियोंके लिये निम्न लिखित प्रकार कमिशन दिया जाता है।

१००) रु०	के पुस्तकोंपर	२०)	फी	सैकडा
५०) ,,	,, ,,	१५)	,,	,,
२५) ,,	,, ,,	१०)	,,	,,
१०) ,,	,, ,,	५)	,,	,,

१०) रु० से कम मूल्य की पुस्तकोंपर कमिशन नहीं मिलेगा।

(३) वैदिक धर्म, वेदसंहिताएं, तथा संस्कृत-पाठ माला, इनपर कमिशन नहीं मिलेगा, क्यों कि इनका मूल्य पहिलेसे ही न्यून रखा है।

(४) प्राय: एक रुपयेके पुस्तकोंके लिये दो या तीन आने डाकव्यय लगता है। किसी अवस्थामें कुछ न्यून वा अधिक भी होता है। परन्तु साधारण अनुमान यही है। पुस्तकोंका जो मूल्य इस सूचीपत्रमें लिखा है, वह डाकव्यय के विना है। वी॰ पी॰ मंगवानेवालोंको पुस्तकों के मूल्य के अतिरिक्त उक्त हिसाबसे डाकव्यय देना पडेगा। किसी कारण भी वी॰ पी॰ मंगवानेवालोंको डाकव्यय माफ नहीं होगा।

(५) कोई महाशय दूसरेके नामपर वी॰ पी॰ भेजनेको न लिखें। हमारा अनुभव है कि इस प्रकार की वी॰ पी॰ याँ स्वीकृत नहीं होतीं। इस लिये ऐसी वी॰ पी॰ नहीं भेजी जायगी।

(६) बदलेमें पुस्तक नहीं दिये जाते, क्योंकि उनकी विक्री करनेका साधन यहाँ नहीं है।

पेशगी मूल्य भेजनेसे लाभ।

(७) जो लोग १०) दस अथवा अधिक रु० की पुस्तकें, पुस्तकों का सब मूल्य पेशगी म॰ आ॰ द्वारा भेजकर मंगवायेंगे, उनको उक्त कमिशनके साथ पांच फी सैकडा कमिशन अधिक मिलेगा और प्रेषणव्यय भी माफ होगा। वी॰ पी॰ मंगवाकर लोग वापस करते हैं, इससे बहुत नुकसान उठाना पडता है, इसलिये म॰ आ॰ से पेशगी मूल्य भेजनेवालोंको ही उक्त सहूलियत दी है। वी॰ पी॰ से पुस्तकें मंगवानेवालोंको यह लाभ नहीं होगा। अर्थात् वी॰ पी॰ मंगवानेवालोंको डाकव्यय देना पडेगा। ग्राहक इस बातका विचार अवश्य करें।

(८) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें वी॰ पी॰ से मंगवानेमें डाकव्यय दुगना देना पडता है। अतः १) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें होंगीं, तो ब्रिटिश पोस्टके टिकट भेजकर मंगवानेमें लाभ है। उदाहरण- दो आनेकी पुस्तकपर वी॰ पी॰ व्यय ।-) पांच आने लगता है और एक रु० के पुस्तकोंपर भी ।-) लगता है। पुस्तकें मंगवानेवाले इसका अवश्य विचार करें।

(९) पत्रव्यवहार कृपया संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा, मराठी या अंग्रेजी में कीजिये। अन्य भाषाओंके पत्र यहां पढे नहीं जाते। यहां उर्दू पढनेवाला कोई नहीं है।

(१०) वापस आई हुई पुस्तकें पुनः मंगवानी होंगी, तो डाकव्यय दुगना देना पडेगा।

(११) एक समय भेजी हुई पुस्तकें पुनः किसी भी कारण वापस नहीं ली जायगीं।

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल, आंध, (जि॰ सातारा.)

यजुर्वेदका शुद्ध मुद्रण।

यजुर्वेद

वाजसनेयी शाखासंहिता का यह मुद्रण है। इसीके समान काण्वशाखाकी संहिता है, जिस के मंत्रपाठमें कुछ भिन्नता है और कुछ मंत्र आगे पीछे हैं। दोनोंकी तुलना करना स्वाध्यायके लिये आवश्यक है, इसलिए विस्तारपूर्वक इसमें काण्व संहिताके पाठभेद मुद्रित किये हैं।

पूर्ण कपडेकी जिल्द २) डाकव्यय ॥)

यजुर्वेद-सर्वानुक्रम और पादसूची-ये दोनों भी तैयार किये हैं। सर्वानुक्रमसे प्रत्येक मंत्रके ऋषि, देवता और छन्द विदित हो सकते हैं। मूल्य १) डा० व्य० ।-)
पादसूचीसे मंत्रका प्रत्येक पाद कहां है, इसका ज्ञान हो सकता है। मूल्य १) डा० व्य० ।-)

धर्मशिक्षाके ग्रन्थ।

बालक और बालिकाओंकी पाठशाओंमें तथा घरोंमें बालबच्चोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ग्रन्थ विशेष रीतिसे तयार किये हैं।

बालकोंकी धर्म-शिक्षा।

(१) प्रथम भाग, प्रथम श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० -) डा० व्य० -)

(२) द्वितीय भाग, द्वितीय श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० =) डा० व्य० -)

वैदिकपाठमाला। (३) तृतीय श्रेणीकी धर्मशिक्षाके लिये, मू० ≡)डा० व्य० -)

अन्य ग्रंथ।

१ गीता-समीक्षा	मू० =)	डा० व्य० -)
२ श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला		
भाग १-२-३ प्रत्येकका	मू० ॥) ,,	।=)
,, ४-५-६-७ ,,	,, १) ,,	॥)
३ भक्तके भगवान् ,,	,, ॥) ,,	=)

४ **Sun Adoration**
by the Rajasaheb of Aundh मू० १) डा० ।=

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

		मू०	डा० व्य०
१ प्रथम काण्ड (सजिल्द)		२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड	,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड	,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड	,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड	,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड	,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड	,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड	,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड	,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड	,,	१॥)	।≡)
११ एकादश काण्ड	,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड	,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड	,,	१)	।-)
१४ चतुर्दश काण्ड	,,	१)	।-)
१५ १५से१८तक४काण्ड	,,	२॥)	।॥)

येही काण्ड इस स्वरूप में भी तैयार हैं।

१ से ५ काण्डतक (सजिल्द)		मू०८)	डा० व्य०१॥)
६ से १०	,,	८)	१॥)
११ से १८	,,	८)	१॥)

वैदिक यज्ञ-संस्था।

प्रथम भाग।

इस पुस्तकमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है—

पिष्ट-पशुमीमांसा। लघुपुरोडाशमीमांसा। (ले० श्री० पं० बुद्धदेवजी) दर्श और पौर्णमास, अद्भुत कुमारसंभव। (ले० श्री० पं० चन्द्रमणीजी) बुद्ध के यज्ञविषयक विचार। (संपादकीय) यज्ञका महत्व, यज्ञका क्षेत्र, यज्ञका गूढ तत्व, औषधियोंका महामख। (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तमलालजी) क्या वेदोंमें पशुओंकी बलि करना लिखा है? मू० १) डा० व्य० ।-)

[द्वितीय और तृतीय भाग समाप्त हैं।]

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा.)

स्वाध्याय-मण्डल द्वारा प्रकाशित

वैदिक धर्मके ग्रंथ।

आगम-निबंध-माला।

वेद अनंत विद्याओं का समुद्र है। इस वेदसमुद्रका मंथन करने से अनेक 'ज्ञानरत्न' प्राप्त होते हैं, इन रत्नों की यह माला है।

	मू०	डा० व्य०
१ वैदिक-राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	=)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	=)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा।	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
९ शिवसंकल्प का विजय।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता।	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१५ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
१७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र।	≡)	-)

छूत और अछूत।

प्रथम भाग मू०१) डा० व्य० ।-)
द्वितीय भाग मू०॥।) डा० व्य० ।-)

इस पुस्तकमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदिके प्रमाणोंसे छूताछूतका विचार किया है।

योगसाधन-माला।

१ सन्ध्योपासना।

योगकी दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया। (इसमें हमारा 'संध्याका अनुष्ठान' यह पुस्तक संमिलित है) मू० १॥) डा० व्य० ।-)

२ वैदिक प्राणविद्या।

प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार 'मनकी भावना' रखनी चाहिये उसका वर्णन। मू० ॥) डा० व्य० =)

३ ब्रह्मचर्य।

इस सचित्र पुस्तकमें 'अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य-सूक्त' का विवरण है। ब्रह्मचर्य-साधन और योगसाधनके योगासन तथा वीर्यरक्षणके अनुभवसिद्ध उपाय इस पुस्तकमें दिये हैं। मू० १) रु०, डा० व्य० ।-)

४ आसन।

इसमें आसनों का वर्णन चित्रों के समेत है। न मू०२)रु० डा० व्य० ।≡)

आसनोंका चित्रपट २०×३० इंच कागजपर मू० ≡) डा० व्य० -)

५ योगसाधनकी तैयारी।

योगाभ्याससे उन्नति करनेका पुस्तक। मू० ॥।) डा० व्य० ।-)

६ सूर्यभेदन-व्यायाम।

(सचित्र) बलवर्धक योगके व्यायाम मू० ॥) डा० व्य० =)

७ इन्द्रशक्तिका विकास।

मनुष्यमात्रमें इन्द्रशक्ति है; परन्तु वह इतनी जाग्रत नहीं है। उसका संवर्धन करनेकी अनुष्ठानपद्धति इसमें दर्शायी है। मूल्य ॥) और डा० व्य० =) है

संस्कृत-पाठ-माला ।

[संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय ।]

संस्कृत-पाठमालाके अध्ययनसे लाभ- (१) अपना कामधन्धा करते हुए फुरसद के समय आप किसी दूसरेकी सहायताके विना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृतका ज्ञान बढा सकते हैं। (२) प्रतिदिन घंटा पढनेसे एक वर्षके अंदर आप रामायण-महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। (३) पुस्तक अत्यंत सुगम हैं। विना नियमोंको कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है। (४) घरमें पुत्रों, पुत्रियों और स्त्रियोंको भी इन पुस्तकोंका पढना और पढाना अत्यंत सुगम है। (५) पाठशालामें जानेवाले विद्यार्थी इन पुस्तकों से बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है- (१) **प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग।** इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है। (२) **चतुर्थ भाग।** इस चतुर्थ भागमें संधिविचार बताया है। (३) **पंचम और षष्ठ भाग।** इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है। (४) **सप्तमसे दशम भाग।** इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है। (५) **एकादश भाग।** इस भागमें सर्वनाम के रूप बताये हैं। (६) **द्वादश भाग।** इस भागमें समासोंका विचार किया है। (७) **तेरहसे अठारहवे भाग तकके छः भाग।** इन छः भागोंमें क्रियापदविचारकी पाठविधि बताई है। (८) **उन्नीससे चोवीसवे भागतक के छः भाग।** इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

एक पुस्तकका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =)

३ पुस्तकोंका मूल्य १) और डा० व्य० ।)

१२ पुस्तकोंका मूल्य ४) और डा० व्य० ॥)

२४ पुस्तकोंका मूल्य ६॥) रु० और डा० व्य० ॥।=)

यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या।

'शांतिकरण' सच्ची शांतिका सच्चा उपाय। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तकमें देखिये। मू० ॥=) डा० व्य० =)

ईश उपनिषद् ।

इस उपनिषद्का सरल भाषानुवाद इस पुस्तकमें दिया है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका दी है, जिसमें ईशोपनिषद्के कई सिद्धांतोंका वैदिक प्रमाणोंसे विचार किया है और मंत्रभागोंका अर्थ निश्चित किया है। मंत्रका अर्थ देनेके पश्चात् अति विस्तृत टिप्पणी है। मू० १) डा० व्य० ।-)

केन उपनिषद् ।

केन उपनिषद्का मनन, उपनिषद् ज्ञानका महत्व, उपनिषद्का अर्थ, सांप्रदायिक झगडे, 'केन' शब्दका महत्व, वेदांत, उपनिषदोंमें ज्ञानका विकास, अग्नि शब्दका भाव, उपनिषद्के अंग, शांतिमंत्रोंमें तत्वज्ञान, तीन शांतियोंका भाव, ईश और केन उपनिषद् इत्यादि विषय इस पुस्तकमें आ गये हैं। मू० १।) रु० डा० व्य० ।=)

वैदिक अध्यात्मविद्या ।

इस पुस्तकमें दर्शाया है, कि वेदमंत्रोंमें अध्यात्मविद्या किस प्रकार है। वेदमंत्रोंकी अध्यात्मविद्या देखनेका ढंग स्वतन्त्र है। यह रीति इस पुस्तकमें कई देवताओंके सूक्तोंमेंसे कुछ मन्त्र लेकर उनमें अध्यात्मविद्या देखनेकी पद्धति स्पष्ट रीतिसे बतायी है। मूल्य ॥) और डा० व्य० ≡) है।

शतपथ-बोधामृत ।

बोधसेही हम सबकी उन्नति होनेवाली है। इसी कारण शतपथके बोध-वचनोंका संग्रह इस पुस्तकमें किया है। मूल्य ।) डा० व्य० -)

श्रीमद्भगवद्गीता

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषाटीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता- के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अ० १ से ५ मू० ३) डा० व्य० ॥=)
'' ६ '' १० '' ३) '' '' ॥=)
'' ११ '' १८ '' ३) '' '' ॥=)

डा० व्य० सहित मू० १०) रु० भेजिये।

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आणे और डा० व्यय =) है।

वेदका स्वयंशिक्षक।

जो पाठक प्रतिदिन आधा घण्टा इसके अध्ययनके लिये देंगे, उनका प्रवेश वेदके मंदिरमें सुगमतासे हो सकता है। इस समय दो भाग तैयार हैं। प्रति भाग का मू० १॥) डा० व्य० ।=)

श्रीमद्भगवद्गीताकी श्लोकार्धसूची।

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादि क्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। इस पुस्तककी सहायतासे हरएक पाठक श्रीमद्भगवद्गीताके कोई भी श्लोक कहां है, वह जान सकता है। मूल्य केवल ।=) डा० व्य० =)

देवता-परिचय-ग्रन्थ-माला।

१ रुद्रदेवताका परिचय। मू० ॥) डा० व्य० =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता। ,, ॥=) ,, =)
३ देवताविचार। ,, ≡) ,, -)
४ वैदिक अग्निविद्या। ,, १॥) ,, ।-)

यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य।

(लेखक- कर्मयोगी गणेशानंदजी गीतार्थी।)

यज्ञोपवीत वा उपनयन सोलह संस्कारोंमें दसवां संस्कार है और सनातनधर्मका मेरुदण्ड है। इस पुस्तकमें विद्वान् लेखकने अपनी विशिष्ट लेखन-शैलीसे इस विषयकी राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण विवेचना की है। वैदिक और सनातनधर्मी पाठकोंद्वारा इसका पठन होना अत्यन्त आवश्यक है। पृष्ठसंख्या १७५ मूल्य केवल १॥) रु० डा० व्यय ॥) म० आ० से २) रु० भेज दीजिये।

सम्पूर्ण महाभारत तैयार है

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है।। इस सजिल्द महाभारतका मू० ६५) रु० रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मू० भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेलवे पार्सल द्वारा हमारे व्ययसे भेजेंगे, जिससे आपको पुस्तक सुरक्षित पहुचेंगे। रुपया म० ऑर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। यदि आपके पास रेलस्टेशन नहीं हैं तो डाकद्वारा भेज देंगे।

(सूचना- महाभारतका कोई भी फुटकर पर्व आप मंगवा सकते हैं। डाकव्ययसहित मूल्य भेजना चाहिए।)

महाभारतकी समालोचना।

दो भाग। प्रत्येक भागका मू० ॥) डा० व्य० ≡)

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६–१७–१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल औंध [जि० सातारा]

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

आश्विन १८६०

अक्तूबर १९३८

श्रीमदाद्य शंकराचार्य

वर्ष १९, अंक १०] [क्रमांक २२६

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क १०

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै.यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	६)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

वर्ष १९ अंक १०

क्रमांक २२६

धर्म

भाद्रपद संवत १९९५

अक्तूबर सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र हो!

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥

(ऋ०१।१।३)

हे महादातः, ईश्वर अग्ने! आपकी कृपासे स्तुति करनेवाला मनुष्य (रयिं) उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है, कि जो धन प्रतिदिन (पोषं एव) महा पुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढानेवाला, तथा जिससे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम, और दृढांग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीरपुरुष प्राप्त हो, वैसे सुवर्णादि, तथा चक्रवर्ती राज्य, और विज्ञान-रूप धनको, मैं प्राप्त होऊं, तथा आपकी कृपासे सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं॥

(श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकृत आर्याभिविनय, पृ०२७)

स्वराज्यकी प्रार्थना।

(श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी की आर्याभिविनयसे उद्‌धृत)

(१) ... जैसे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं ...॥ ३ ॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओं की नीतिको प्राप्त करो,... हमको वरराज्य, वरनीति देओ,... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥(पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ, सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें,जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंका जीतनेवाले हो, इस कारणसे हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरोंके चक्रवर्ती राज्यको आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थको कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित कहें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) .. हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो,तथा हम सब संसारमें सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों ! ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्टविद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य को शीघ्र प्राप्त कर .... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) ... हम लोग शत वर्षतक देखैं, जीवैं, सुनैं, कहैं, कभी पराधीन न हों ... सौ वर्षके उपरान्तभी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७१)

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन

राजाओंका सुधार।

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का देहावसान भारतीय राजामहाराजाओंका सुयोग्य सुधार करके उनको स्वराज्यस्थापनामें लगानेके शुभ और महनीय प्रयत्नों के चलानेके कारण दिवालीके समयहि हुआ, इसलिये इस दिवालीके समय उनका वाङ्मय श्राद्ध करना हरएक भारतीय सुपुत्रके लिये अत्यंत योग्य है।

श्री स्वामिजी महाराजका कार्य केवल आर्यसमाजके धार्मिक क्षेत्रके चार दिवारोंके अन्दर हि सीमित नहीं था। **भारतीय राष्ट्रका पुनरुद्धार धार्मिक सुधारद्वारा करना और इस साधनसे आर्योंका वैदिक धर्मानुशासनसे चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षितीका सार्वभौम साम्राज्य अति शीघ्र स्थापित करना** ही एकमात्र प्रशंसनीय उद्देश श्री स्वामिजी महाराजका था। सूर्यचन्द्रवंशीय भारतीय राजामहाराजाओंका सुधार करके उनको धार्मिक शासनतत्पर बनानेसे शीघ्रही भारत का आधा भाग सुधर सकता है, ऐसा विचार करके, सबसे प्रथम राजपूतानाके उदेपुरादि नरेशोंके सुधार करनेके प्रयत्नोंमें वे लगे थे। इस प्रयत्न में उनको सफलताभी बहुत कुछ हो चुकी थी, इस कारण जिनकी आर्थिक हानि हुई, उनके द्वारा भयानक विषप्रयोग होनेसे श्री स्वामिजीका दिवालीके समयही देहावसान हुआ! इस कार्यकारणभावका विचार करनेसेभी उन्होंने थोडेसे दिनोंमें राजपूतानाके राजाओंमें कितना प्रचण्ड सुधार का कार्य किया था, इसकी कल्पना हरएक को हो सकती है।

विषप्रयोग करनेके विना उस स्थानके कुमार्गियोंको दूसरा कोई मार्ग रहा हि नहीं था। इसलिये स्वार्थी कुमार्गियोंने यह अन्तिम उपाय की रचना की, और एक महापुरुषका कार्य दिवालीके दीपप्रकाश के नीचे रहनेवाले गाढ अन्धकारमें अदृश्यसा हुआ। इससे भारतीय राष्ट्रकी अपरिमित हानि हो चुकी है, इसलिये इस प्रसंगसे इसका स्मरण करनेकी इच्छा है। इसका स्मरण करनेसे फिर किसीके मनमें उनके भारतीय पुनरुत्थानके विचार स्फुरित हो जायंगे और पुनः उनके कार्यका नये उत्साहसे प्रारंभभी हो जायगा।

श्री स्वामिजीका आदर।

हमारे मनके अन्दर जो महत्त्वका स्थान श्री स्वामिजी महाराज को मिला है, वह **उनकी धार्मिक शिक्षापूर्वक राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी प्रचण्ड और सर्वाङ्गपूर्ण आयोजनाके लिये हि है।** यद्यपि आज वह आयोजना रही नहीं और चलीभी नहीं है, परंतु चलाना या न चलाना यह सर्वथा अनुयायियों की शक्तिपर अवलंबित रहनेवाली बात है। अतः हम सबसे पहिले भारतराष्ट्रके पुनरुत्थान की अपूर्व आयोजनाका निर्माण करनेके लिये ही श्री स्वामिजीको 'ऋषि' कहते आये हैं। ऋषि वह **होता है कि जो सब अन्य जनता के पूर्व हि नया और उत्तम मार्ग ठीकठीक रीतिसे देखता है और उस मार्गको उद्घोषित भी करता है।** जो अन्य लोग नहीं देख सकते, वह उनको दीखता है और जो अन्य लोग डरके मारे उद्घोषित कर नहीं सकते, वह जो ऋषि होता है, वह सब जनता के लिये बडे वेग के साथ उद्घोषित भी करता है। ऋषि दयनन्दजी के पूर्व इनके समान किसी भी नेताने भारत के पुनरुत्थान की इस प्रकारकी निश्चित आयोजना नहीं की थी। यही उनके श्रेष्ठ दूरदर्शिताका सुस्पष्ट चिह्न है।

हृदय खोलकर ईश-प्रार्थना।

किसी मनुष्यका ध्येय, इष्ट अथवा हार्दिक काम्य क्या है, यह निःसंदेह देखना हो, तो 'उनकी ईश्वरके पास

*

प्रार्थना ' क्या होती है, उसको देखना चाहिये। अन्य संपूर्ण व्यवहार अन्य मनुष्योंके साथ संबंधित होते हैं, इसलिये उनमें अनंत मर्यादाएँ बीचमें खडी हो जाती हैं, परंतु ईशप्रार्थनाके समय मनुष्यके साथ दूसरा कोई नहीं रहता, माताके पास पुत्र जैसा प्रेमके साथ निर्भय होकर जाता है,वैसा भक्त परमेश्वरके पास जाता है और प्रेमसे जो अपने हृदयका अभीष्ट है, वह मांगता है। इस समय उसकी प्रार्थनाके लिये कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता क्योंकि ' भक्त और भगवान् के अन्दर प्रतिबंध करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं होती, अतः प्रार्थनामें हि हरएक का हार्दिक अभीष्ट व्यक्त होता है। इसी नियम के अनुसार श्री स्वामिजीका ध्येय उनके प्रार्थनापुस्तक " आर्याभिविनय" में प्रकट हो गया है। देखिये उनकी प्रार्थनाएं किस प्रकारकी थीं—

(१)... विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य,बल,पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं... ॥३॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओंकी नीतिको प्राप्त करो, ... हमको वरराज्य, वरनीति देओ, ... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति दे के साम्राज्यधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥ (पृ० ६५-६७)

(३)... आओ सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंको जीतनेवाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥२६॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन्! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थ को कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्ध में शूर वीर होके ... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो तथा ... हम सब संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों, ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्ट विद्या, और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्यको शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों,... सौ वर्षके उपरान्त भी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य।

श्री स्वामिजीकी बनायीं प्रार्थनाएं ये हैं। यहां उनका हार्दिक ध्येय उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है। हम आर्योंमें बल, बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, वीर्य, पुरुषार्थ बढे और आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर हो। जिस विकट राजकीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजी महाराज का जन्म हुआ था,जिस देशकी विलक्षण शोचनीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजीके जन्मस्थानके—काठियावाड गुजरातके—लोग विदेशके साथ होनेवाले व्यापार व्यवहार द्वारा कमिशन प्राप्त करके धनाढ्य बननेकी हि केवल एकमात्र इच्छा कर रह थे, उस समय यह अकेला लंगोटबंद ब्रह्मचारी तेजस्वी स्वामी घरदार छोडकर पूर्ण असंग होकर 'आर्योंके अखण्ड-चक्रवर्ती राज्यकी शीघ्र स्थापना करनेका उपाय ढूंढ रहा था! ' निःसंदेह यह उनकी ऋषिदृष्टिकी सिद्धता करनेवाला पर्याप्त प्रमाण है।

उस समय के राजकीय नेतागण विदेशी सरकारकी प्रार्थना और याचना करनेमें, अर्जियां करने और उनकी कृपासे कुछ नौकरियां प्राप्त करने में हि अपना जीवनोद्देश्य सफल समझ रहे थे, स्वतंत्र स्वराज्य स्थापन करनेकी कल्पनाभी उद्भूत हुई नहीं थी। आजसे ६०-७० वर्ष पूर्वका राजकीय क्षितिज पाठक देखेंगे, तो उन

को स्वतंत्र स्वराज्य कहींभी नहीं दीखेगा। हाथ जोडकर अंग्रेजोंसे प्रार्थना करनेका वायुमण्डलहि उस समय के राजकीय नेताओंके मनमें था। ऐसे घोर समयमें यह लंगोटधारी संन्यासी आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित करनेके विचारों में मग्न होकर एकान्त सेवन कर रहा था।

जिस समय लोग विदेशी राज्यमें रहना और उनकी नौकरीयां करना ही अपना ध्येय मानते थे, उस समय जिसने आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यका मार्ग देखा, उसको भारतीय पुनरुत्थान का ऋषि न समझें तो दूसरे किसको वह मान दिया जावे?

चक्रवर्ती राज्य का मार्ग।

श्री स्वामी दयानन्दमहाराजने केवल ईश्वरकी प्रार्थना करके हि आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य इस भूमण्डलपर होनेकी संभावना कभी नहीं मानी थी, कोई वेदका वेत्ता ऐसा मानही नहीं सकता। **कोई सच्चा वेदवेत्ता विदेशी राज्यके अन्दर क्षणभर भी नहीं रह सकता। वेदज्ञान और पारतंत्र्यस्वीकार इनका सदा विरोध ही है। इसी लिये स्वामिजी आर्योंका स्वतंत्र और अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर स्थापित करनेके इच्छुक थे।**

सब आर्य सायं प्रातः पवित्र होकर यही प्रार्थना करें, इसी लिये यह आर्याभिविनय नामक तेजस्वी ग्रंथ स्वामिजीने निर्माण किया था! लोग यदि आतुरतासे ऐसी प्रार्थनाएं करेंगे, तो वैसाही स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करनेका वायुमण्डल देशभरमें बनेगा और जैसा वायुमण्डल बनेगा, वैसा सामुदायिक प्रयत्न भी होगा। आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी स्थापना का प्रारंभ इसी तरह ईशप्रार्थना में हो सकता है।

ईश्वर उपासना।

यहां पाठक कल्पना करें कि प्रत्येक घरमें प्रातः सायं पारिवारिक प्रार्थनामें घरके सब स्त्रीपुरुष संमिलित होते हैं, **और वहां अति शीघ्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेका बल ईश्वरसे मांगा जाता है। नगरके समाजभवनमें सब नागरिक एक मतसे अपने स्वतंत्र स्वराज्यकी स्थापनाके विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं।** इसी तरह प्रांतों और राष्ट्रके वार्षिक महोत्सवमें लाखों भारतवासी संमिलित होते हैं और अपने चक्रवर्ती राज्य की शीघ्र स्थापना करनेकी प्रार्थना ईश्वरसे करते हैं, तो उस राष्ट्रमें कितना राजकीय स्वतंत्रता का मानसिक भूमिकामें वायुमण्डल बन सकता है। पाठक इस स्वामिजीकी मानसिक तैयारी करनेकी आयोजनाका महत्त्व सोचें। इस तरह राष्ट्रीय मन तैयार हुआ, तो उस मनके द्वारा हरएक दिशासे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके प्रयत्न होंगे और देश शीघ्र ही स्वतंत्र होगा, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

राष्ट्रीय संघटना।

केवल मनके विचारोंमें उक्त प्रकार स्वातंत्र्यप्रेम उत्पन्न होनेसे हि केवल स्वराज्य स्थापना नहीं हो सकती, यह तो स्वामिजी जानते ही थे। इसलिये उन्होंने भारतीयोंकी संघटना का कार्यक्रमभी तैयार किया था।

नगरनगर में आर्यसमाज स्थापन करना और वहां **धर्मार्यसभा, विद्यार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा राजार्यसभा आदि संस्थाएं स्थापन करके अपने ग्रामका सब कार्यव्यवहार स्वयं चलाना।** वेदमंत्रोंद्वारा इन सभाओंके स्थापन करनेका उपदेश श्री स्वामिजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रंथोंमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक दिया है, जो हरएक इस समयभी देख सकता है, इसलिये उनके इस विषयके वचन यहां उद्धृत करनेकी कोई अवश्यकता नहीं है। जिसने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्यादि देखा हैं, उनको इन सभाओंकी स्थापना करनेके उपदेशका पता है। अतः अब हम देखते हैं, कि आर्यसमाजकी इन सभाओंका कार्य क्या है--

१ धर्मार्यसभा-- वेदमें कथित मानवधर्मका विचार यह संस्था करे और प्रत्येक सदस्य अपनी धर्म-मर्यादामें सुस्थिर रहता है वा नहीं यह देखे और समझाकर सब लोगोंको धर्ममें रखे और धर्ममें लानेका यत्न करे। वेदका अर्थ करना, वेदप्रचार करना आदि कार्य इस सभाके हैं।

जनताको अधर्मसे बचाना, संस्कारोंसे सबको सुसंघटित करना, सत्यधर्मका प्रचार करके वेदके शुभ उपदेशोंसे

सब लोक उन्नत करना आदि कार्य इस धर्मसभा का है ।

(२) विद्यार्यसभा– इस विद्यासभाद्वारा अपने बालक-बालिकाओंके विद्याध्ययनका सुयोग्य प्रबंध करना है । प्राथमिक शिक्षासे प्रारंभ होकर अन्तिम उच्च शिक्षातक का सब प्रबंध करना इस विद्यासभा का कार्य है । ज्ञानविज्ञान, उद्योग, कलाकौशल्य आदि सब आवश्यक १४ विद्याओं और ६४ कलाओंकी अपने युवकोंको शिक्षा देना इस विद्यासभाका कार्य है । कोई आर्य-बालक या बालिका विदेशी राजप्रबंधद्वारा मिलने-वाली परतंत्र मन बनानेवाली शिक्षा न लेवे और आर्यविद्वानों द्वारा निश्चित की हुई, आर्य-विद्वानों द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुलों में प्राप्त होनेवाली, आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी जिससे अति शीघ्र स्थापना हो सकती है, ऐसी सुशिक्षा आर्योंके तरुणोंको प्राप्त हो, यह उद्देश्य इसमें श्री स्वामिजीका था । जर्मनीमें आर्ययुवकोंको भेजकर वहांकी विज्ञानविद्या प्राप्त करना भी स्वामिजीका उद्देश्य था ।

(३) न्यायार्यसभा— आर्योंके अपने झगडे, आपसके आर्योंके झगडे विदेशी राजाके अदालतों में नहीं जाने चाहियें । आर्योंके झगडे आर्योंके द्वाराहि निर्गत होने चाहिये, आर्योंके झगडे निपटानेवाले म्लेच्छ नहीं हो सकते । यह शुद्ध और सरल आर्यत्वकी दिशा है । इसलिये श्री स्वामिजी महाराज ने 'न्यायार्यसभा' स्थापन करके इस सभाद्वारा आर्योंके आपसके झगडोंका निपटारा स्वयं आर्योंद्वारा करानेकी प्रथा शुरू करनेकी आज्ञा दी थी । और यह आज्ञा वेदानुकूल ही थी ।

(४) जो कार्य ' धर्मसभा, विद्यासभा, और न्यायसभाके कार्यक्षेत्रमें नहीं आते, उन सब शेष कार्योंके लिये ' राजार्यसभा है । आर्योंके राजकीय क्षेत्रमें जो स्वाभाविक न्यायानुकूल और नागरिक-त्वादि अधिकार और हक हैं, उनका संरक्षण करना इस सभा का कार्य है ।

(५) गोरक्षासे हि भारतीय किसानों की तथा भार-तीय कृषिकी उन्नति हो सकती है, यह जान कर श्री स्वामिजी महाराजने ' गोकरुणानिधि ' नामक ग्रंथ निर्माण किया और आर्योंको गोरक्षाके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा शुभादेश दिया । गोरक्षामें केवल गौओंकी रक्षा आती है, ऐसा नहीं अपि तु वेदानुकूल कामदुघा और घटोघ्नी गौ निर्माण करना भी इस समाजका हेतु निःसंदेह है । गोदुग्ध भूमिके ऊपरका श्रेष्ठ अमृत है, इससे भारतीय जनता वञ्चित कभी न रहे, यह श्री स्वामिजिका गो आदिकी रक्षा करनेमें विशाल हेतु था । आर्य गोदुग्धपान करके नीरोग और बलवान् बनें और स्वराज्यस्थापनाका कार्य जोरसे करें, यह उद्देश्य यहां स्पष्ट है ।

(६) भारतवर्षमें क्या और संपूर्ण पृथ्वीपर क्या, प्रजानुकूल राज्यशासनही जनताका सच्चा हित करने में समर्थ होगा, यह जानकर आर्यसमाज की घटना और नियमोपनियमावली श्री स्वामिजीने ऐसी बनायी कि जिससे प्रजानियंत्रित, प्रजासंमत, प्रजा की संमतिसे चलनेवाली, प्रजाके प्रतिनिधियोंकी बहु संमतिसे संचलित होनेवाली कार्यप्रणाली आर्योंकी बने और ऐसी संस्थामें काय करनेवाले आर्य भारतीय शासनसंस्थाके लिये सुयोग्य सदस्य बनें । आर्य-समाजके सब कार्य इसी नियमानुसार होने योग्य कार्य-प्रणाली स्वामिजीने बनायी थी, यह उनकी दूरदर्शिताही है ।

आर्यसमाज नामक मुख्य संस्थाके आधीन धर्मसभा, न्यायसभा और विद्यासभा कार्य करने लग जाती और जैसा कि श्री स्वामिजी महाराजने सोचा था, वैसा ये सब संस्थाएं कार्य करने में समर्थ होतीं, तो आज आर्योंके आधीन कितना अधिकार आ जाता, यह भी इस स्थानपर जानने योग्य है ।

न्यायार्यसभा कार्य करनेवाली हो गयी, तो सरकारी अदालतोंपर पूर्ण बहिष्कार न कहते हुए और न बोलते हुए हो सकता है । विद्यासभा कार्यक्षम हो गयी, तो सरकारी विद्यालयोंपर बहिष्कार आपहि आप हो सकता है । विद्यासभा द्वारा १४ विद्या और ६४ कलाओंकी शिक्षा शुरू होनेपर अपने सब हुनर शुरू होनेके कारण विदेशी वस्तुओंपर स्वयं बहिष्कार हो जाता है । जो अपने पुत्रोंको अपने स्वतंत्र गुरुकुल विद्यालयोंमें पढाते, अपने हुनरसे बने वस्त्रादि निर्माण करके उनकोहि पहनाते, अपनी न्यायसभा द्वारा अपने झगडे निपटाते, ऐसे पूर्ण स्वतंत्रताप्रिय आर्य सरकारी नौकरीसे

अपना जीवन कभीभी अपवित्र करेंगे नहीं और विदेशी सरकारकी पदवियां धारण करके भी अपने आपको कभी कलंकित नहीं करेंगे । क्यों कि वैदिक धर्मी विदेशी सरकारके आधीन रहनाही असंभव है। इस दिशासे कार्य हुआ होता तो दिन प्रतिदिन आर्य सच्चे आर्य हि बनते जाते ।

श्री स्वामिजीद्वारा सभात्रयानिर्मित स्वयंशासक आर्य समाजकी संस्थापनासे यह कार्य उक्त प्रकार आपही आप होनेवाला था । स्वामिजीका यही उद्देश था, यह बात उनके ग्रंथोंमें सर्वत्र स्पष्ट दीखती है । यदि यह श्री स्वामिजीका उद्देश्य इस समय सफल होता, तो श्री महात्मा गांधीजी को अपने पंच बहिष्कार पुकारनेका अवसरहि न मिलता, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा वेहि बहिष्कार महात्मा गांधीजी भारतभूमिमें अवतीर्ण होनेके पूर्वहि सिद्ध होकर रहते। और महात्मा गांधीजीको दूसरा कार्यक्रम सोचना पडता । परंतु वैसा बना नहीं !!!

१. धर्मसभाद्वारा विदेशीधर्मप्रचारका प्रतिबंध,
२. न्यायसभाद्वारा अपने झगडे स्वयं मिटानेके कारण विदेशी सरकारकी **अदालतोंपर बहिष्कार,**
३. **विद्यासभा**द्वारा अपने गुरुकुलोंके संचालनद्वारा अपने आर्ययुवकों की शिक्षा होनेके कारण विदेशी **सरकारके शिक्षणालयोंपर बहिष्कार,**
४. उक्त विद्यालयोंमें ६४ कलाओंकी शिक्षा होनेके कारण अपने लिये आवश्य वस्तुओंके निर्माण होनेसे **विदेशी वस्त्रादिकों पर बहिष्कार,**
५. आर्योंमें अपने स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट होनेके कारण विदेशी सरकार को अपनी शक्ति प्रदान न करनेकी ओर जनताकी भावना होनेके कारण विदेशी सरकारकी **नोकरियोंपर बहिष्कार,**
६. इसी उक्त कारण उनकी **पदवियोंपर बहिष्कार,**

ये सब बहिष्कार जो महात्मा गांधीजीने सन १९२५ में पुकारे थे, **वेही बहिष्कार श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने न पुकार करते हुए कार्यव्यवहारमें लानेकी आयोजना सत्तर वर्ष पूर्वहि शुरू की थी।** जिस समय कांग्रेस का जन्मभी नहीं हुआ था, उस समय श्रीस्वामिजी महाराज इस अयोजनाको तैयार करके आर्यसमाज द्वारा प्रचलित करनेके विचारमें लगे हुए थे । यही उनके ऋषित्व का चिह्न है !

नगर और ग्राममें उस नगर का आर्यसमाज, प्रान्त के नियंत्रण के लिये प्रांतिक आर्यप्रतिनिधिसभा, और अखिल भारतका नियंत्रण करनेके लिये अखिल भारतीय सार्वदेशिकार्य प्रतिनिधिसभा, इस तरह ग्रामसे प्रारंभ होकर आखिल भारतवर्षका नियंत्रण पूर्वोक्त धर्म—विद्या-न्याय आदि सभाओंद्वारा स्वामिजीके आदेशानुसार होता, तो पाठक स्वयं जान सकते हैं, कि यह एक आर्योंका **'स्वयंशासन'** इस आर्यभूमिमें आपहि आप शुरू हो जाता। इस भरतखण्डमें विदेशी सरकार का **राजकीय क्षेत्रमें** शासन होते हुएभी, **धर्म—विद्या— न्याय—उद्योग आदि क्षेत्रोंमें आर्योंका स्वयंशासन शुरू हो जाता और यह एक आर्योंका समान बराबरीका राज्यशासन (Parallel Government) न डंका बजाते हुए और न बोलते हुए शुरू हो जाता ।** और आज जो राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष अथवा सर्वाधिकारी श्री महात्मा गांधीजी एक ओर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि श्री व्हाइसराय होते हैं, और बराबरीके नातेसे राज्यशासन के विषयमें निर्णय कर रहे हैं, वैसी ही अवस्था, अर्थात् एक ओर सार्वदेशिकार्य प्र० सभाके अध्यक्ष और दूसरी ओर व्हाइसरॉय रहकर भारतवर्षके शासनका विचार बराबरीके नातेसे करते । श्रीस्वामिजी महाराजने जिस समय अपने आर्यसमाजकी घटना लिखी थी, उस समय उनके सामने यह दृश्य था !

क्या चाहा था और क्या हुआ?

परंतु इसमें कितनी सफलता आज प्राप्त हुई है? न्यायसभा तो किसीभी स्थानपर कार्य नहीं करती, विद्यासभा है, परंतु प्रायः आर्योंके युवक सरकारी युनिवर्सिटीयोंके साथ संबंध रखनेवाले कालेजोंमें हि जा रहे हैं। अदालतें तो वैसी ही आर्यवकीलोंसे भरी हैं । अन्य कार्य का तो प्रारंभ भी नहीं हुए । इस कारण श्री महात्मा गांधीजी आये और श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य हातमें लेकर जो कार्य करने लगे, उसका फल आजकी कांग्रेसकी महत्तामें दीख रहा है ।

परमेश्वरका कार्य रुकता नहीं ।

अब इसमें से एक भी कार्य आर्यसमाजके लिये रहा नहीं । क्योंकि परमेश्वर भारतवर्षको अति शीघ्र स्वाधीन करना चाहता है । स्वामिजी को भेज कर ईश्वरने भारतके स्वतंत्र होनेका प्रोग्राम आर्यसमाजके द्वारा जनता के उद्धार करनेके लिये दिया । परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। इसलिये उसी ईश्वरने पुनः महात्मा गांधीजीको भेजकर वही कार्यक्रम नये सिरेसे जनताके सामने रखा । संपूर्ण बहिष्कार अब भी हो नहीं सके, तथापि जो कार्य हुआ, उससे कांग्रेस का राज्य आधेसे अधिक भारतवर्षमें हो चुका है और उसकी प्रतिष्ठाभी पर्याप्त बढ चुकी है । महात्माजीके द्वारा प्रतिपादित सब कार्य होता, तो इस समय भारतकी प्रतिष्ठा औरभी अधिक बढ जाती ।

अब यह मान और प्रतिष्ठा जो कांग्रेसको इस समय प्राप्त हो चुकी है, आर्यसमाजको प्राप्त होना, कार्य हो जाता, तो संभव था, परंतु अब असंभव है । क्योंकि उसको सबसे प्रथम मौका मिला था, तथापि उसने आपसके झगडोंमें अपना सब समय व्यतीत किया और आवश्यक कार्य कुछ भी किया ही नहीं । परमेश्वरके राज्यमें प्राप्त अवसरपर योग्य कार्य करनेवालोंकी हि उन्नति होती है ।

श्री स्वामिजी द्वारा उपदिष्ट भारतोद्धारका कार्य इतना प्रचण्ड था कि उसके शुरू होनेपर उसमें सहस्रोंहि नहीं प्रत्युत लाखों मनुष्य रातदिन कार्य करते, तो भी वह, कार्य और मनुष्योंकी अपेक्षा करता । **भारतीय जनताको अपने पावोंपर अपने आत्मिक बलके सहारे अपनी शक्तिसे खडा करना,** यह कोई छोटा कार्य नहीं था । प्रत्येक ग्राममें तथा प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त तीनों सभाओं द्वारा कार्य संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें करना असंख्य मनुष्योंके अतुल आत्मसमर्पणसे ही होनेवाला कार्य था । ऋषिके मस्तिष्कसे जो अपूर्व कार्यक्रम शुरू हुआ था, वह वैसाही प्रभावशाली था । परंतु वह प्रारंभमें हि क्षीण हुआ और उसको चलानेके योग्य महान् आत्मा जैसे चाहिये थे, वैसे मिले नहीं ।

उक्त विशाल कार्यक्रमके स्थानपर आज जो कार्यक्रम बना है, वह मूर्तिपूजा न करना, श्राद्ध न करना, तीर्थ न मानना और अद्वैत न मानना, यह निषेधरूप चतुर्विध 'न' है । करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं रही, और 'न करना' ही श्रेष्ठ कार्यक्रम बन गया !! श्री स्वामिजीने उक्त सभाओंकी स्थापना द्वारा '**धर्म-न्याय-विद्या-संघटनाका विधायक कार्यक्रम**' करनेके लिये जनताके सामने रखा था, क्योंकि उनको अतिशीघ्र भारतीय **स्वतंत्र राज्यशासन सुस्थिर करना था।** इस मुख्य कार्यकी आतुरता तो उसके पश्चात् किसीको वैसी प्रबल नहीं रही, इसलिये आपसके वैयक्तिक झगडे खडे हुए और मांसपार्टी × घासपार्टी, कालेजपार्टी × गुरुकुलपार्टी ऐसी पार्टियां बनीं और जिस कालेजीय जीवनका श्री स्वामिजीने स्वप्नमें भी स्मरण नहीं किया, उसकी वृद्धि हुई और जिस गुरुकुलप्रणालीकी बुनियाद रखी थी, उसका पौधा नाम-मात्र प्राण धारण कर रहा है ! परंतु समर्थ परिवारके लडके कालेजोंमें हि शिक्षा पाते हैं, और गुरुकुलपरीक्षाके पश्चात् युनिवर्सिटी की डिग्री पानेकी आतुरता दीखती है । और वैसा देखा जाय तो गुरुकुल भी कालेजके मार्गपर हि आयेगा,ऐसा दीखता है, क्योंकि 'कुल का प्रेम' बहुत थोडे स्थानोंपर रहा है, और उस स्थानपर कालेजकी 'डिसिप्लीन' प्रभावी होनेका भय बढ रहा है। अतः कहना पडता है, जो स्वामिजीने चाहा था, वह उनकी इच्छानुसार बना नहीं और जो वे नहीं चाहते थे, वही बनने पाया है ।

ऐसा क्यों हुआ ? सोचना चाहिये । पाठकों ! सोचिये ।

आर्यसमाजमें रायसाहेब, रायबहादर और सरकारी औहदेदार घुस गये, जो विदेशी सरकारके धनसे परिपुष्ट होनेवाले थे, ठेकेदार जो विदेशी राजके धनसे कारोबार करनेवाले थे, दुकानदार जो विदेशी वस्तुओं का व्यवहार कर रहे थे, इन सबकी भीड आर्यसमाजमें हो ही चुकी थी और उस भीडमें विदेशी सरकारकी अदालतों में जाकर विदेशी सरकारका कानून ठीक लोकहितकारी है, ऐसा रात दिन बोलनेवाले वकील और बैरिष्टरोंनेभी बडी भीड बढाई !

आर्यसमाज में इन लोकों की भीड बढनेसे

श्री स्वामिजीके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य के प्रोग्राम के लिये स्थान कहां मिलनेवाला था ?

उक्त सदस्योंमें ऐसा कौन रायसाहेब होगा कि जो 'यहांसे विदेशी आंग्रेजी राज्य शीघ्र चला जावे और "आर्योंका चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र यहां हो जावे" ऐसी स्वामिजीके आर्याभिविनयमें लिखी प्रार्थनाएं प्रतिदिन करता, और तदनुसार श्री स्वामिजी द्वारा प्रवर्तित तीनों सभाओंके प्रोग्राम के अनुसार कार्य करता ? क्या कभी वकील अपना अदालतों का कार्य छोड कर न्यायार्यसभा का कार्य बढा कर अपनी आमदनी घटाना चाहेंगे ? क्या कभी रायबहादूर अपने पुत्रोंको जंगलके गुरुकुलमें १४ वर्ष बंद रखनेकी इच्छा कर सकेंगे ? क्या कभी ठेकेदार अंग्रजों की अप्रीति होने योग्य कार्य कर सकते हैं ? और क्या ही ऐसे लोग समान शासन (Parallel Governmnt) का विचार भी मनमें ला सकते हैं ? स्व० महात्मा मुनशीरामजी अर्थात् श्री स्वा० श्रद्धानन्दजी एक ही ऐसे आत्मा थे कि जो अन्दर और बाहर से स्वामिजीके कार्य को बढानेकी चिन्ता करते थे, परंतु अकेला भद्र पुरुष क्या कर सकता है ?

कभी कोई समाज ५०।६० वर्षोंतक वैदिक धर्मके तेजस्वी जीवनमें सचमुच आकर जीवित रहता हुआ विदेशी सरकारके आधीन रह सकता है? वैदिकधर्मीके लिये-वेदका धर्म जाननेवाले के लिये दोही मार्ग खुले होते हैं,एक या तो वह अपना स्वतंत्र राज्य स्थापन करेगा अथवा दूसरा मृत्युके वशमें- स्वतंत्र स्वराज्य के लिये कार्य करता हुआ- चला जायगा और अपने जीवनको अमर बनावेगा !

श्री स्वामिजी के आर्याभिविनयमें '**आर्योंका स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र होनेकी प्रार्थना है**,' वह रायसाहेब किस तरह सिद्ध होने देंगे, और इनके कारण आर्योंमें वैदिक धर्मकी ज्योति किस तरह विशेष प्रदीप्त होती रहेगी और आचार्यजीका उद्देश्य भी किस तरह सिद्ध होगा ? श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य सिद्ध न होनेका कारण यह है । औरभी कारण हैं, परंतु उन सबका विचार करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है ।

परतंत्रताके लिये स्थान नहीं ।

वैदिक धर्म पारतंत्र्य को सह नहीं सकता, इसी लिये **श्रीस्वामिजीके रोमरोम में और वाक्य वाक्य में आर्योंके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापित करनेका भाव जागता था** । आर्यसमाज स्थापन करनेका भी उद्देश्य यही था । परंतु विदेशी सरकारको अपनी शक्ति अर्पण करनेवाले बहुसंख्य लोग इस संस्थामें घुसनेसे स्वामिजी के सब कार्य जिधरके उधर हि रह गये और सब कार्य रुक जानेसे नाना प्रकारके आपसके झगडे शुरू हुए ।

स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेवाले विदेशी राजाकी युनिवर्सिटीसे अपना संबंध क्यों रखेंगे ? परंतु रायसाहेब दूसरा क्या कर सकते हैं? वकीलोंको धन न्यायसभासे मिलनेवाला नहीं है, इस कारण उनको न्यायार्यसभासे अरुचि होना नितान्त स्वाभाविक ही है । इसी लिये कालेज बढ गये, वकील बढ गये, रायसाहेब बढ गये, नौकर बढ गये और सब मिलकर वही करने लगे कि जो श्री स्वामिजीने कभी नहीं चाहा था।

वेदका आधार है ।

इस तरह स्वामिजीकी सब बातें बिगड गयीं, और वे ऐसी बिगड गयीं कि इसके आगे उनका सुधार कभी होही नहीं सकता; क्योंकि अब उनही कार्योंको दूसरोंने संभाल लिया है, तथापि आर्यसमाजके पास एक ही बात रह गयी है, वह है 'वेद' । यह सबके आधारकी बात है यदि यह भी सिद्ध हुई तबभी कुछ बन सकनेकी आशा है।

परंतु वेदका धर्म जानकर प्रसार करनेवाले स्वतंत्र विचारके सदस्य चाहिये । उनको तैयार करनेके लिये गुरुकुलादि की स्थापना की गयी है । परंतु वहां भी स्वतंत्रता नहीं है । किसी बातके सिद्धान्तोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका निर्णय करनेका ठेका इन्हींके पास है, जो वेदको स्वयं बिलकुल जान नहीं सकते । और ऐसी संस्थाओंसे उत्तीर्ण होकर जगत् में आनेवाले स्नातक विद्वानों के भवितव्यका निर्णय करना कराना भी वेदानभिज्ञों की संमतिपरहि सर्वथा निर्भर है । वेदका अध्ययन किये विना और आद्योपान्त वेदको समझनेके विना ही यहां

हरकोई जान सकता है, कि यह वैदिक सिद्धांतके अनुकूल है वा प्रतिकूल !!! आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा और सार्वदेशिक सभामें बहुसंमतिसे निर्णय होता है और वहां बहुसंख्या तो वेद न जाननेवालों की ही है । और वे अपने अंतःकरण से निश्चयपूर्वक समझते हैं कि हम वैदिक सिद्धांतों को समझते हैं, यद्यपि हम वेद आद्योपान्त नहीं समझते!!! इससे हमेशा यह हो रहा है कि, जो विशेष विद्वान् होकर वेद की खोज (Research) करने लगते हैं, वे ही बहिष्कृत होते जाते हैं। और जो लोगों की हां में हां मिलाते हैं, वे प्रतिष्ठा पाते रहते हैं। इस कारण विद्याकी वृद्धि रुकी है और ज्ञान की प्रगति होना असंभव हो चुका है, यही इस समयकी स्थिति है ।

पं०विश्वबंधुजी जैसे रिसर्च स्कॉलर अलग हुए,पं०रघुवीर जी स्वयंहि अलग रहे, पं० भगवद्दत्तजी कालेज के रिसर्च-विभागसे चले गये, नया कोई रिसर्च करने के लिये आगे नहीं आता, क्योंकि वह देखता है, कि दूसरों की मिट्टी किस तरह पलीत हो रही है, मैं क्यों अपनी जान खतरे में डालूं?

श्री० स्वा० सत्यानन्द जैसे पवित्र उपदेशामृत की वृष्टि करनेवाले 'उपयोग'का प्रचार करने के कारण अर्थात् एक सत्य वैदिक मार्गका उपदेश देनेके कारण हटाये गये, वहां उनसे कमशक्ति रखनेवालों को कौन पूछता है? परन्तु पूजा तो उनकी होती है, कि जो पं०बुद्धदेवजी जैसा श्री०स्वामि जी के चित्रपर भरी सभा में लाथ मारता है, वह धर्म का मेरु समझा जाता है। वेद की खोज इस तरह एक भय का विषय हो चुका है और वह संमान का विषय होने की कोई आशा दिखाई नहीं देती ।

खोज करनेवालों को स्वतंत्रतापूर्वक खोज करने देने से हि ज्ञान की वृद्धि हो सकती है । वह तो यहां असंभव ही हो चुका है। स्तब्ध जल (Stagnant water) हो चुकने पर वह सडने लगता है, वह अवस्था आ चुकी है । श्री स्वामिजी ने यह सब पहिलेहि जान लिया था, इस लिये उन्होंने 'सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करनेके लिये सदा उद्यत होना चाहिये।' ऐसा नियमहि बनाया और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' न मानो, विविध प्रमाणोंसे जो सत्य सिद्ध हो, वही स्वीकार करो, ऐसा असंदिग्ध शब्दों से वारंवार कहा था। परंतु वह बात अब जाती रही और श्री स्वामिजी के पश्चात् भी जो उनके नामपर छापा जा चुका है, उसके अक्षर अक्षर को मानना चाहिये, ऐसा कट्टर पन्थ शुरू हो चुका है।

इस का परिणाम 'दयानन्द-पन्थ' बन जाने में अति शीघ्र होनेवाला है, जो उद्देश्य श्री स्वामिजी का कभी भी नहीं था ।

इसलिये जो समझते हैं, कि वेद के धर्म की जागृति करना ही केवल एक मात्र कार्य अब अपने पास शेष रहा है, अन्य सब कार्य जो आचार्यजीने शुरू किये थे, वे सब नष्ट हो चुके हैं, उनको वेद के शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे अध्ययन होने के लिये क्या करना चाहिये, इस विषयका हार्दिक धर्मभाव से विचार करना जाहिये ।

वेदकी खोजका मार्ग ।

जिनका धर्म 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित है, उनको उचित है कि सब से प्रथम अपने धर्मग्रंथोंकी अति शुद्ध पुस्तकें सुंदर छापकर सस्ते से सस्ते मूल्य से देने का प्रबंध करें । इन ग्रंथोंका पाठनिश्चय शास्त्रीय परंपराका विचार करके तथा पाठनिश्चयका जो शास्त्र है, उसके अनुसार करना चाहिये । प्रत्येक पद का और प्रत्येक अक्षर का तथा उदात्तानुदात्तादि स्वर का उत्तरदायित्व प्रकाशकों पर होना चाहिये । किसी भी कारण इन धर्म-ग्रंथोंमें-वेद के ग्रंथों में-एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये ।

संपूर्ण उपलब्ध शाखासंहिताएं और संपूर्ण ब्राह्मण और आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थ भी उक्त प्रकार शुद्ध, सुंदर और सस्ते छापने चाहिये । उन में प्रकरणविभाग के शीर्षक योग्य रीतिसे देकर, ये सब ग्रंथ मुद्रित होने चाहिये।

इस तरह संपूर्ण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उप-निषद् ये सब ग्रंथ शुद्ध, सुंदर, सस्ते मुद्रित होने के पश्चात् उनकी विविध प्रकारकी सूचियां बननीं चाहिये । जिससे ग्रंथ लेतेहि इसमें यह विषय इस स्थानपर है, इसका झट् पता लगेगा और अभ्यासकको सुविधा होगी । ऐसी सूचियां इन सब ग्रंथों की बननी चाहिये ।

इसी तरह वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषदोंका वाक्यकोश भी अवश्य ही बनना चाहिये। जैसा उपनिषद्वाक्य कोश बना है, जिसमें एक एक शब्दवाले वाक्य एक स्थानपर मिल सकते हैं, वैसा कोश वेद और ब्राह्मणोंका बनना चाहिये। ये कोश जैसे Bible के अनेकविध concordence बने हैं, वैसे अनेकविध बनाने चाहिये। जिससे अभ्यासक का समय व्यर्थ खर्च न होते हुए सब खोज करने की सामग्री खोजकर्ता के सम्मुख तत्काल उपस्थित हो सकेगी, और योग्य रीतिसे खोज हो सकेगी।

इसके पश्चात् सब स्मृति, सब सूत्रग्रंथ, श्रौत और गृह्य सूत्र, सब अंगोपांग ग्रंथ, तथा इतिहासपुराण, तंत्रग्रंथ तथा अन्यान्य आगमादि ग्रंथ शुद्ध और सस्ते मुद्रित होने चाहिये और इन सबकी सूचियां भी बनानी चाहिये, जिससे इसमें यह बात इस स्थानपर है, इसका पता शीघ्र लग जाय।

कई यहां पूछेंगे कि इतिहासपुराणों की हमें क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'

अर्थात् इतिहास और पुराणोंसे वेद के तत्त्वकी व्याख्या करनी चाहिये। कई वैदिक सूक्तों के अनुवाद इन ग्रंथोंमें हैं, वेद का आशय जानने के लिये उनको देखना आवश्यक है, कई वेदमंत्र के आधारपर अनेक कथाएं इन ग्रंथोंमें रची गयी हैं, कई तत्त्वज्ञान वेद के आधार से फैले हुए हैं, इनकी खोज होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे आगे की खोज का मार्ग खुला हो सकता है। इसलिये इन सब ग्रंथों का मुद्रण होना वेदकी खोज के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
(श्री० भागवत)

वेद का अर्थ दर्शाने के लिए हि महाभारत रचा गया है, अतः किस तरह उसमें वेदार्थ बताया है, इसकी खोज करना अत्यंत आवश्यक है। कूपमण्डूकवृत्ति से वेदका तत्त्वज्ञान कदापि ज्ञात नहीं हो सकता है। जो कूपमण्डूकवृत्तिसे रहना चाहते हैं, वे वैसे रहें। परंतु जिनको वैदिक धर्मका प्रेम है, उनको शास्त्रीय दृष्टिसे खोज करने के कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये।

वेदकी खोज के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध लिखना चाहिये। इतना गंभीर यह विषय है। यह कोई ऐसा ही होनेवाला कार्य नहीं है। एक एक बात के लिये पहाडों के पहाड ढूंढने पडते हैं। जिन लोगोंको इन परिश्रमोंकी कल्पना है, वेहि इस कार्य के महत्त्व को जान सकते हैं।

जो ग्रंथ मुद्रित हुए हैं, उनका भी संशोधन करके उनमें जो अशुद्धि हो, उसको बाहर निकालना चाहिये। व्रण के अन्दर शल्य रहने से वह व्रण कदापि ठीक नहीं होता है। ऐसा ही ग्रंथोंकी शुद्धता के विषय में है। ग्रंथ तो 'संशोध्यं व्रणिनांगवत्' ग्रंथ का संशोधनव्रणकी शुद्धता के समान करना चाहिये। किसी ग्रंथ का शुद्ध पाठ निर्धारित करने के अनेक साधन हैं, उन में ये प्रमुख हैं—

१. हस्तलिखित ग्रंथों की तुलना करना,
२. मुद्रित ग्रंथों की सहायता लेना,
३. कण्ठ करनेवालों का सहाय लेना, तथा
४. अन्यान्य ग्रंथों में यदि उद्धरण हुए होंगे, तो उनका विचार करना।

पाठनिश्चय का आजकल एक पूर्ण शास्त्र बन चुका है, उन सब नियमों का सहाय लेना अत्यंत आवश्यक है। ऐसी सावधानी से जो ग्रंथ हम मुद्रित करेंगे, उस का मूल्य जगत् के संपूर्ण विद्वानों में होगा। अन्यथा वह ग्रंथ पंथाभिमानी और मतवालेहि कदाचित् क्षणमात्र मानेंगे। हमें कोई कार्य अधूरा नहीं करना चाहिये। जो शास्त्र इस समय है, उसका पूरा पूरा उपयोग करके शास्त्रशुद्ध मार्गसेहि चलना चाहिये।

लिखित ग्रंथालय।

उक्त वर्णन से पाठकों के मनमें यह बात आ चुकी होगी, कि आगे चलकर शास्त्रीय दृष्टिसे वेदोंकी खोज करनेके लिये जो शुद्ध ग्रंथों का मुद्रण करना अवाश्यक है, उसके लिये हमारे पास एक बडा और विश्वस्त हस्त-

लिखित ग्रंथों का महान् पुस्तकालय चाहिये। ये ग्रन्थ सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त व्यय करना होगा। और भारतवर्ष में स्थानस्थानपर जा जाकर हस्तलिखित ग्रंथ लाने के लिये मनुष्य और धन इतना चाहिये कि जिस का विचार सामान्य मनुष्य कर ही नहीं सकता।

व्यय के अंदाजा के लिये हम यहां कह सकते हैं, कि ऐसे जल और अग्नि के भय से रहित मकान बनाने के लिये कम से कम एक लाख रु० लगेगा, और नानाविध हस्तलिखित ग्रंथों का सुयोग्य पद्धतिसे संग्रह किया जाय, तो दस लाख रु० भी थोडे ही होंगे। क्योंकि किन ग्रंथोंको कितना रुपया पडेगा, इसकी कोई कल्पना नहीं, और किस समय कितने ग्रंथ मिलेंगे, यह भी कोई नहीं कह सकता। भारतवर्ष में इतने ग्रंथ अभी तक छिपे पडे हैं कि उनको प्राप्त करना भी लाखों रुपयों के व्यय का कार्य है।

ग्रंथों की खोजके लिये ग्रामग्राम और घरघर में घूमनेवाले भी विद्वान् लोग चाहिये। साधारण अनाडी का यह कार्य नहीं है। उनको धन भी पर्याप्त चाहिये, धन दिये विना घरसे कोई ग्रंथ बाहर कोई भी दे नीं सकता। मान लीजिये कि आपने दस विद्वान् ग्रंथसंग्रह करने के लिये नियुक्त किये, तो उनका वेतन, प्रवास का व्यय, ग्रंथ खरीदने का व्यय, पुस्तकालय के स्थानपर सुरक्षित भेजने का व्यय, वहां सुव्यवस्था से रखने का व्यय, वहां के विशेष विद्वान् ज्ञाता पुस्तकाध्यक्ष का वेतन, पुस्तकालय के कर्मचारियों का वेतन, यह सब मिलकर प्रतिमास हजारों रु० का व्यय होगा, तो ही यह ग्रंथसंग्रह बन सकेगा। यह कोई विनामूल्य होनेवाला कार्य नहीं है। लाखों रु० खर्च करने पर भी और अधिक खर्च करने की आवश्यकता इसमें होगी।

परंतु यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदकी खोज के लिये इसके विना एक पांव भी आगे बढाया नहीं जा सकता। इतने महत्व का यह विषय है। अज्ञानी और शास्त्र को न जाननेवाले इसको समझ हि नहीं सकते, इसलिये इस कार्य के लिये उनसे धन मिलना असंभव है। ज्ञानी लोगों के पास धन नहीं होता, इसलिये उनसे धन खडा नहीं हो सकता। यही कठिनता है। धन के विना लिखित ग्रंथालय बनेगा नहीं, धन के विना चलेगा नहीं, अज्ञानियों से धन मिलेगा नहीं, और ऐसा महान् लिखित ग्रंथालय न हुआ, तो शुद्ध ग्रंथ छापना और खोज करना असंभव है। ऐसा यह अन्योन्याश्रित विषय है। इसकी कुछ कल्पना पाठकों को हो, इसलिये यह यहां लिखा है, जो नहीं समझते उनको इस का महत्व समझाना भी अशक्य है। अस्तु।

वेद की खोज करने के लिये इतनी सामान्य तैयारी भी नहीं हुई है। फिर खोज कहां की? वेद का ठीक ठीक अर्थनिश्चय करना तो एक दूरकी बात है। वेद में इतने विविध विषय हैं कि उन सब विषयों का ज्ञान आजकि हरएकको होना कठीन है। वेदमें कई प्रकारकी चिकित्साएं लिखी हैं। उनकी परिभाषा विभिन्न होती हैं, इस लिये जो पण्डित अर्थ करने लगता है, वह अपने अज्ञान के कारण उस को ठीक तरह खोल नहीं सकता। इस तरह के किसी अर्थलेखक ने अथर्ववेद का अर्थ करने के समय 'मूत्र' शब्द का अर्थ (सब शब्द ईश्वरवाचक हैं ऐसी कुछ विचित्र कल्पना करके) 'ईश्वर' अर्थ किया था। परंतु उस मंत्र में मूत्ररोगचिकित्सा का विषय था। अतः वैद्यक ज्ञान के विना वह सूक्त या मंत्र खुल नहीं सकता। इसी तरह युद्धविषयक और सेनाव्यूहविषयक मंत्रोंको खोलना युद्ध-विषय को जानने के विना हो नहीं सकता। इसी लिये एक एक विषय के पण्डित इकट्ठे मिलकर वेदकी खोज करनी चाहिये। और उनको सब साधन मिलने चाहिये, और उनके मन परवश भी नहीं रहने चाहिये।

वेदकी खोज का विषय इतना गंभीर है। पूर्वग्रहदोष से यहां कार्य चलनेवाला नहीं और जिनमें यह दोष रहेगा, वे अर्थ का अनर्थ भी करेंगे। इस कारण इस दोषसे बचना अत्यंत आवश्यक है।

श्रीस्वामिजी महाराजने जो सार्वभौमिक भारतोत्थान का कार्यक्रम तैयार किया था, उसका तो उन के अनुयायियोंने पूर्ण विध्वंस किया ही है। अब एक वेद की बात उस कार्यक्रम में से शेष रही है, वह करने के लिये इतना प्रयास करना

आवश्यक है। परंतु यह बनेगा कैसा, यह हमारे समझमें नहीं आता। क्योंकि जो खोज करने लगता है, वह बहिष्कृत होता है। इसलिये पता तो ऐसा ही लगता है कि यह वेदविषयक कार्य भी ठीक शास्त्रीय पद्धति से होना कठीन है। और यदि सचमुच यही परिस्थिति और विचारों की गुलामी और मतवाद की कट्टरता रही, तो यह कार्य भी निःसंदेह नहीं होगा, और सचमुच यह भी न हुआ, तो श्री स्वामिजीने जो कार्य शुरू किया था, उसमें से एक भी नहीं हो सका, ऐसा ही सिद्ध होगा। सोचिये कि कितना दुर्भाग्य है।

ऋषिका उपहास।

ऋषि वह होता है कि जो सब से पहिले उन्नतिका सच्चा मार्ग स्पष्ट देखता है और उस मार्ग से जाओ, ऐसा कहता है। श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजीने भारता-भ्युत्थानका सच्चा मार्ग सबसे पहिले देखा, कहा और उस मार्गपरसे चलकर अपना साध्य प्राप्त करने की रीति भी बता दी। इसलिये उनको ऋषि कहना योग्य है। परंतु जो लोग उन के बताये मार्ग पर से बिलकुल चलना नहीं चाहते, प्रत्युत विरुद्ध ही चलते हैं, उन के आदेश के अनुसार चलने के इच्छुक भी नहीं हैं, उनकी **'आर्यों का चक्रवर्ती राज्य शीघ्र स्थापित करनेकी प्रार्थना भी प्रतिदिन नहीं करते,'** तीन सभाओंका कार्य नहीं करते, स्वदेश की गुलामी और परतंत्रता बढानेवाले विदेशी राजा के प्रबंधमें नौकरियां करते, पेनशनें खाते, पदवियां धारण करते, उनकी युनिवर्सिटीयोंके कॉलेजों में स्वयं पढते पढाते और अपने पुत्रों को भेजते हैं, विदेशी वस्त्रादि परिधान करते, अपनी पंचायतें न करते हुए सरकारी अदालतों में जाते और उस धंधे से धन कमाते, विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करके धन कमाते, वेद का अध्ययन नहीं करते, न करने देते, न सहायता करते हैं, और ऐसा विरोधी आचरण करते हुए उस पवित्रात्मा ऋषिके नाम का योग्य समय में तथा अयोग्य समय में गजर करते रहते हैं, क्या इस नामजप से उस ऋषि का अपमान और उपहास नहीं होता है? **'ऋषि दया-नन्द की जय'** ऐसा कौन कहे? जो उनके आदेशानुसार चलता है, वह कहे; उनके आदेशानुसार न चलनेवाले जयजयकार करेंगे, तो उनसे पूछना चाहिये, जय तो तब होगी जब उनका कार्य चलता रहेगा, और सर्वांगसंपूर्ण कार्य होता रहेगा। हमारे विचार से उनके अनुयायियोंने हि इतना उनके विरुद्ध आचरण किया है कि उनका सर्वांगसंपूर्ण कार्यक्रम अब उनसे होना असंभव है, और जो वेद का कार्य अबतक उनके हाथों में रहा है, वह भी स्वतंत्र खोज की अभाव में होगा, ऐसा दीखता नहीं। इस लिये जय कैसी होगी? और भारतवर्ष के बाहर ओंकार का झंडा कब जायगा, जब अनुयायियों के हृदयों में भी ओंकार सुस्थिर नहीं रहा?

पाठक पूछेंगे कि अनुयायियों के हृदयों में ओंकार का झंडा खडा नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है? क्या ये प्रमाण देने चाहिये? पंजाब और युक्तप्रांत में हिंदी भाषा और देवनागरी अक्षरों का भी राज्य अभीतक नहीं हुआ, तो देवभाषा-संस्कृतभाषा-का राज्य कहां होना है? अभीतक ये लोग अपसव्यगामी उर्दू से भी बाहर नहीं आ सके, वे संस्कृत का उद्धार क्या करेंगे? गुरुकुलों में २० और २५ वर्षों तक बडेबडे स्थानोंपर विराजमान होने पर भी संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं होते, प्रतिनिधि-सभा में भी रहते हुए उर्दू को नहीं छोडते, वे संस्कृत से क्या करेंगे? और जो ६० वर्षों में संस्कृत अपना नहीं सके, वे वेदभाषा से क्या व्यवहार करेंगे?

जिनके हृदयों में सचमुच ओंकार का निवास हुआ है, वे छः मासोंके अन्दर हिंदी का व्यवहार कर सकते हैं और एक वर्ष के अन्दर संस्कृत में प्रविष्ट हो सकते हैं। संपूर्ण भाषाओं से संस्कृत भाषा सुगम है। उर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती से भी संस्कृत सुगम, सुबोध और शीघ्र साध्य होनेवाली है। ऐसी सुगम और सुबोध भाषा में-देववाणीमें- जो ५०।६० वर्षों में भी प्रविष्ट नहीं हो सके, उन के हृदयों में ओंकार का निवास कहां? श्री स्वामिजी की जन्मभाषा गुजराती थी, संस्कृत उनकी गुरुभाषा थी, परंतु अपने राष्ट्रोन्नति के कार्य के लिये जब उन्हों ने देखा कि आर्यभाषा की आवश्यकता है, तब उन्हों ने ४ महिनोंमें हिंदी सीखी और वेदभाष्य तक उस में लिखा।

कौन ऐसा है कि जो प्रतिदिन आधा घण्टा प्रयत्न करेगा, तो एक साल के अन्दर संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा? यदि सब लोग संस्कृत जान जायंगे, तो पण्डितों में सच्चा कौन और धोखा देनेवाला कौन, इसकी परीक्षा वे तत्काल कर सकेंगे। परंतु इस के लिये अन्तःकरण में तीव्र उत्सुकता चाहिये। वह कहां है ?

धार्मिक संस्था।

संपूर्ण जगत् की धार्मिक संस्थाओं की स्थिति देखिये, युरोप-अमेरिका के सब देशों में 'मिशन सोसायटीज' हैं। परंतु उन के सब सदस्य उनके धर्मपुस्तक को आद्योपान्त जाननेवाले होते हैं, एक भी प्रबंधकारिणीका सदस्य धर्मग्रंथका अनभिज्ञ नहीं होता। मुसलमानों के धर्म-प्रचारक संस्था के सदस्य भी उनके धर्मपुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन करनेवालेहि मौलवी होते हैं।

परंतु यहां देखा जाय, तो प्रतिनिधिसभाओं के सदस्यों में आद्योपान्त वेद के ज्ञाता कितने हैं? जो स्वयं नहीं जानते, वे वेदज्ञान की कठिनताओं को कैसे जानेंगे? हल करनेके उपायोंको कैसे सोचेंगे? आगे क्या करना चाहिये, इस का ज्ञान उसको कैसा होगा?

प्राचीन कालसे चली आयी प्रथा यह है, कि वेदशास्त्रज्ञहि धर्मसभा की प्रबंधकारिणी का सदस्य हो, एक वेदज्ञ भी सहस्रों अनभिज्ञों की अपेक्षा अधिक मूल्य की संमति दे सकता है। मनुने जो कहा है, वह योंहि नहीं कहा। जबतक यह प्राचीन पद्धति प्रचलित थी तबतक वैदिक धर्म अस्ताव्यस्त नहीं हुआ था, और जिस समय वेदशास्त्रज्ञ स्वयं प्रबंधकारिणी सभाके सदस्य होंगे, उसके पश्चात् कोई कठिनता ही नहीं रहेगी।

सच्चा विघ्न वैदिक धर्म की प्रगति में यदि किस जगह है, तो वह अज्ञानियों के हाथों में ज्ञानियों की गर्दनें यहीं हैं। यह विघ्न दूर हो गया, तो सब ठीक हो जायगा।

हमारी दृष्टि।

हमारी दृष्टीमें आर्यसमाजद्वारा संचलित गुरुकुल संस्थाएं तथा अन्य संस्थाएं उनके सुयोग्य स्थानपर विराजती हैं। श्री० स्व० ला० लाजपतराय, श्री० स्व० स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज, श्री महात्मा हंसराजजी तथा अन्यान्य महापुरुषों का अतुल स्वार्थत्याग हमारे सामने है। पूर्वाश्रम के ला० मुनशीरामजी वकील होते हुए भी गुरुकुल स्थापना के लिये कालेज पार्टी से किस तरह झगडते थे यह सब हमारे आंखके सामने है। तो भी जब सामूहिक तौरपर आर्यों के सुपुत्र विदेशी सरकार के कालेजों में जा रहे हैं, वकील और बैरिष्टर आर्य कहलाते हुए अदालतों में जा रहे हैं, आर्यों के मुकदमें अदालतों में चले जाते हैं, तब दुःखसे पता लगता है, कि श्री स्वामिजी की सदिच्छा सफल होने में विघ्न कहांसे हुआ है। वही यहां दर्शाया है। कई अपवाद होंगे तो वे नियमकी हि सिद्धि करेंगे।

आज रिसर्च करनेवालोंके उपर बहिष्कार डाला जा रहा है, कट्टरता बढाने के लिये यह आवश्यक समझा जा रहा है, परंतु इससे भय यह है कि जो श्री स्वामिजीके कार्य की एकही बात-'वेद' हमारे पास शेष रही है वह भी हमारे हाथों में नहीं रहेगी।

सोचनेवाले सोचें, करनेवाले करें। नहीं तो जो बननेवाला है, वही बनेगा। शास्त्रीय सत्य अस्वाभाविक दबावसे दब नहीं सकेगा।

कुछ विचारणीय पत्र

ता० १५-८-३८

श्रीमान् माननीय पण्डितजी,

सादर प्रणाम!

आपकी भेजी हुई **ऋग्वेद-संहिता** और **यजुर्वेद-संहिता** सुरक्षित रूप में प्राप्त हो गई हैं। आप की इस कृपा के लिए गुरुकुल-विद्यामंदिर आप का अतिशय अनुगृहीत है।

आपका वेदोंके शुद्ध मुद्रणका पुरुषार्थ अति अभिनन्दनीय है। हम सब आप के कार्य की पूर्ण सफलता चाहते हैं।

बहुत से लोग आप के कार्य के विषयमें यद्वातद्वा लिखते बोलते रहते हैं। करने योग्य काम करना नहीं और करनेवाले को निरुत्साहित करने का प्रयत्न करना! ऐसी उनकी वृत्ति हो गई है।

आप अपने कार्य पर आरूढ रहिये! हमारे मन आपके साथ है।

सब कुलवासी आपको प्रणाम करते हैं।

विनीत

शंकरदेव

मंत्री-गुरुकुल, सूपा। (नवसारी)

शास्त्रार्थके विषयमें

कभी भी मौखिक शास्त्रार्थ नहीं करें। उसका फल कुछ नहीं।

आपने अपना विचार विस्तार से लिख दिया है-ऋषि-देवता-छन्द के विषय में, जिससे सब विचार कर सके।

अब पं० ब्रह्मदत्तजी का भी धर्म था, कि वे अपना सब कथन मासिक में प्रकट करते, जिससे सबको विचार करने का पूरा अवसर मिलता और आपके विचार के साथ तुलना कर सकते। परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। कारण क्या? मौखिक शास्त्रार्थ के लिये भी आग्रह क्यों?

हां, वे विद्वान् हैं। अपनी रीतभातसे घमंडी प्रतीत होते हैं। छिद्रान्वेषी हैं, ऐसा मालूम होता है। वहां उनकी एक टोली बन गई है। इसलिये शास्त्रार्थ नहीं करना अच्छा है।

आजतक किसीने नहीं किया, ऐसा सार्वजनिक महायोग्य काममें आप लगे हैं, उसमें बाधा डालने का वे प्रयत्न करते हैं। ईर्षा बडी बुरी चीज है। उनको कुछ काम करने का नहीं है। आप अपने काम में ही दत्तचित्त रहें। उनकी उपेक्षा करें। जो करना हो, वह वे भले ही करें। अन्य दो वेद छप चुकने पर शास्त्रार्थ का विचार रखें।

अध्यक्ष के जो तीन नाम आपने दिये हैं, वे ही रहें। क्या वे असत्यवादी हैं? दो तो आर्यसमाजी ही हैं। एक विशेष बात-आप काशीनगर का नाम शास्त्रार्थ के स्थल के लिये देवें और वहां के धुरन्धर पंडितों के भी नाम देवें।

यह कार्य सबके हितके लिये है। इसलिये जहां विद्वान नहीं वे नगर क्यों पसन्द करें?

अंतमें- हालमें ऐसे झगडे में मत पडें। अपने पवित्र कार्य में हि लगे रहे। बस-इतना बस है।

नारायण दलपतिराम भगत, अहमदाबाद।

'सामगायन'।

श्रीमान् पूज्यवर पंडितजी; सादर नमस्ते।

सर्वप्रथम मैं जो यह पत्र आप की सेवामें भेज रहा हूं, जिज्ञासु के रूप में, न कि आक्षेप।

सामवेद के गान को किस तरह से गाया जाय, यही अभी तक किसी भी भाष्यकारने स्पष्ट नहीं किया। स्वामी तुलसीरामजी तथा पं०जयदेवजी विद्यालंकार अपने भाष्यकी भूमिका में स्पष्ट नहीं लिखते। वे यही लिखते हैं कि नारद-संहिता गन्धर्ववेद आदिसे पता चल सका है। और आपके यहां से भी जो 'वैदिक धर्म' का विशेषांक निकला उसमें भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं लिखा, नारदीय शिक्षा का आधार लिया है।

प्रथम-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

(१) उदात्त में निषाद और गंधार (२) अनुदात में ऋषभ धैवत (३) स्वरित में षड्ज, पंचम,मध्यम। यह स्वर माने गये हैं, ऐसा सब भाष्यकारों का मत है।

(१) निषाद और गंधार दो होते हैं। शुद्ध और कोमल कौनसा स्वर निश्चय है, जिसको उदात्त में काम में लावें। शुद्ध या कोमल इसी तरह से अनुदात को भी। स्वरित में तो षड्ज, पंचम एक ही है, मध्यम तीव्र लगता है। कौनसा मध्यम, यह स्वर निश्चित नहीं खाली लिखने से कि इसको उदात्त अनुदात स्वरित कहते हैं। यह तो एक एक का अनुकरण दूसरे ने किया, वंशपरंपरा की लेखनशैली हुई। निश्चयात्मक नहीं कि इसी तरह गाना चाहिए।

(२) हरएक मंत्र में १. २. ३. अंक उपरको लिखे रहते हैं और कहीं कहीं क, र शब्द भी लिखे रहते हैं, इनको क्या काम में लाना चाहिये या कैसे इनका उपयोग सामगान में करना चाहिये, यह भी नहीं बताते। हां हर एक यह लिखते हैं, 'गोतम ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' 'कश्यप ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' परन्तु यह अभीतक किसी ने नहीं लिखा कि गोतम ने उदात्त में यह स्वर निश्चय किया और १. २. ३. वा २. ३. ४ या क. र इनमें यह स्वर या यह मात्रा निश्चय करके गाया।

मात्रा की गिनती भी किससे निश्चय की। किसी वाद्य से या कि और? और मात्रा किसको कहते हैं? इत्यादि इत्यादि अभीतक किसीने स्पष्ट नहीं किया, वही वंशपरंपरा की लेखनशैली काममें लाई जाती है। सामगान निश्चय नहीं, जिसकी इच्छा हो जैसे गाये, स्वरसहित या बेसुरा-। आपके यहां वेद छप रहे हैं और ऐसा भी मालुम हुआ है कि कई एक विद्वान् चारों वेदों के आपके यहां हैं। और महाराष्ट्र संगीत-प्रधान देश है। क्या आपके यहां विद्वानों में कोई ऐसा सामवेदी है, जो स्वर ताल सहित (वाद्य के साथ) सामवेद गा सकता है और मेरी शंका को निवारण कर सकता है? यदि हो तो मैं आकर उन महानुभाव से सामगान सीखूं।

मै मुंबईप्रदेश आर्यप्रतिनिधिसभा आणंद में (जिसके मंत्री बापुभाई, कु० पटेल मंत्री हैं) प्रचारक का कार्य करता हूं और साथ साथ वेदोंका भी प्रचार करताही हूं। मंत्रीजी के कथनानुसार ग्राहक बनानेकाभी प्रयत्न करता हूं। मेरी इच्छा कई दिनोंसे सामगान सीखने की है, परंतु अभीतक पद्धतिपूर्वक सामगान सुनने में नहीं आया जहां जहां (भावनगर आदिमें) भी सुना बेसुरा सामगान ही सुना। सामवेद आप के यहां सुरीला सामगान कोई जानता हो? तो मुझे भी अमूल्य लाभ मिले।

आपसे प्रार्थना है कि इस कमी को जो अभी तक सामगानकी पद्धतिको स्पष्ट करके वेद जो छप रहे हैं, उसमें पूर्ण रूप से किसी गायनाचार्य की सहायतासे पूर्ण करेंगे।

आशा है पत्रोत्तर देने की कृपा करेंगे। योग्य सेवा

ओ३म् शम्।

आपका कृपाकांक्षी

कन्हैयालाल आर्य

C/O आर्य- समाज, आणंद

(इसी अंक में दूसरे स्थानपर सामवेदगान कैसे गाने चाहिये, वह दिया है। यदि ये महाशय जनवरी में यहां औंध आवेंगे, तो उनको सामगान की पद्धति सिखायी जा सकती है। —संपादक)

देशप्रेम।

[लेखांक २ रा+]

(लेखक- श्री० पं० रामावतार विद्याभास्कर, पो० रतनगढ, जि० बिजनौर, यू. पी.)

समाज अपने मनुष्योंका 'सामूहिक प्रतिनिधि' है। मनुष्य अपने समाज का 'आंशिक प्रतिनिधि' है। जो अपने को समाज से पृथक् समझता है, उसका समाज उसके हृदयको लाभ नहीं पहुंचा सकता। ऐसे मनुष्यों का समाज वृथापुष्ट और हृदयहीन मांसपिंडों का झुंड होता है। अपने हाडमांसको ही सब कुछ माननेवाले, और इनपर ही अपना संपूर्ण बुद्धिबल निछावर करनेवाले समाज के मनुष्य उसके हृदयहीन, वृथापुष्ट, मनुष्यनाम पाने के अयोग्य, निर्जीव तथा निकम्मे अंग होते हैं।

परन्तु जो उदार मनुष्य, अपने स्वरूप, व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा, और जीवनधारण करने के श्रेष्ठ अभिप्रायको (अर्थात् सृष्टिरचना के मूलभूत भागवत-प्रयोजन को) ममता नाम की राक्षसी बुद्धि के बन्धन से छुडा लेंगे, जो स्वतंत्र कल्याणमयी दैवी शक्ति के धनी बन जांयगे, जो समाजों का निर्माण करनेवाली ईश्वरीय विराट् कर्मशक्ति के साथ प्रत्येक मनुष्य की एकताको पहचान लेंगे और अपने कल्याण को समाजके कल्याण के साथ अच्छेद्य रूप में बांध लेंगे, वे हृदयवान्, सजीव, प्रतिष्ठित और जीवनधारण के अभिप्रायको पूरा करनेवाले कहायेंगे। ऐसे मनुष्यों से बना हुआ समाज भी ऐसा ही होगा और 'हृदयवान् समाज' कहायेगा। 'हृदयवान् समाज' अपने मनुष्यों को क्षुद्रता के बन्धनों से छुडा लेगा, और उन बन्धन-मुक्त मनुष्यों की दैवी शक्ति से स्वयं भी शक्तिमान् बना रहेगा। परन्तु हृदयहीन समाज अपने मनुष्यों को व्यक्तिगत स्वार्थोंके बन्धनों में रहना सिखायेगा और उनकी बन्धन में रहने की मनोवृत्तिसे स्वयं भी बद्ध रहेगा। ऐसा समाज स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थबुद्धिका विशालकाय प्रतिनिधि बन जायगा। वह रिशवत देकर जीवन बिताने वाली राक्षसी शक्ति बन जायगा।

दैवी शक्ति से संपन्न समाज अपने मनुष्यों को निजी संपत्ति संग्रह करने के धोके से बचाकर दुर्बल मनुष्यों की कुचेष्टाओंसे मुक्त रहना सिखायेगा। वह उन्हें स्वतंत्र, अनन्त और अदम्य शक्ति रखनेवाले, समाजसेवक तथा विमल आनन्द के मालिक बनायेगा। परन्तु राक्षसी समाज अपने दुर्बल मनवाले मनुष्यों को निजी धन की रक्षा के धोके में फंस लेगा। वह उन्हें शोषण करनेवाली राक्षसी शक्तिको घूस देना और देकर जीवित रहना सिखायेगा। वह अपने मनुष्यों को निजी धन और स्वजनों के मोह की बेडियों से जकड-कर, उन्हें दुर्बल, पुरुषार्थहीन आत्मरक्षामें असमर्थ भारवाही गधे बनाकर, राक्षसी समाज के स्वार्थरूपी बोझे को ढोनेवाले यन्त्र बना लेगा और उनसे निराशापूर्ण पराधीन जीवन कटवायेगा।

मनुष्य के विधाताने उसे रीते हाथों संसार में नहीं भेजा। उसने प्रत्येक मनुष्यको, राक्षसी समाज की राक्षसी नीति को पददलित करके शक्तिमान रहनेवाले अचूक अस्त्र से सुसज्जित करके भेजा है। पृथिवी के संपूर्ण भागों में जन्म लेनेवाले मनुष्य इस शक्ति को अपने साथ लेकर आते

+लेखांक १, वैदिक धर्म क्रमांक २२५ पृ० ७१५ देखिये।

हैं। संसार के सब मनुष्य, मनुष्य बने रहने के स्वाभाविक 'जन्मसिद्ध अधिकार' को लेकर जन्म-धारण करते हैं। अपनी मनुष्यता को अटल अक्षुण्ण और पूर्ण बनाये रखना ही 'मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार' है। मनुष्य से संसारका सब कुछ छीना जा सकता है, परन्तु उससे उसकी मनुष्यता को कोई नहीं छीन सकता। मनुष्य से मनुष्यता छीन सकनेवाली शक्ति संसार में कभी नहीं जन्मी। मनुष्यता नाम की शक्ति से शक्तिमान रहना ही 'स्वराज्य भोगना' है। इस स्वराज्य को ही 'मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार' कहा जाता है।

स्वराज्य भोगनेकी यह शक्ति, मनुष्यमें सेवा-शक्ति के रूपमें प्रकट हुआ हुआ करती है। जिसमें मनुष्यता की रक्षा करने की शक्ति होती है, वह अपने जीवनको समाजसेवासे धन्य बनाता रहता है। निजी संपत्तिके बन्धनमें न रहना (अर्थात् किसी संपत्ति को निजी संपत्ति न मानना) 'सेवाशक्ति' है। 'अपनी सेवा' ही 'सेवा' का अभिप्राय है।

मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, समाज ही सब कुछ है, समाजका ही सब कुछ है, ऐसा दृढ निश्चय ही 'सेवाशक्ति' है। अहंकार, ममता और भोगों का त्याग ही 'सेवाशक्ति' है। किसी निजी संपत्ति के मालिक बनने का मोह 'सेवा का विरोध करनेवाली मनोवृत्ति' है। सेवक के पास निजी संपत्ति का झगडा नहीं है। जो निजी संपत्तियों या उनके उपार्जनों का कोलाहल कर रहा है, वह 'सेवक' नहीं है। जिस क्षण मनुष्य व्यक्तिगत संपत्ति का मालिक बनना छोड देगा, उसी क्षण 'अनन्त शक्तिमान' बन जायगा। व्यक्तिगत संपत्ति का मोहही 'माया का परदा' है। यह परदा मनुष्य की अनन्त शक्ति को ढकनेके काम आता है और उसे उसका दर्शन, स्पर्श और आनन्द नहीं लेने देता।

जो मनुष्य व्यक्तिगत संपत्तियों के मालिक बनना छोड देते हैं, वे दैवी शक्तिवाले आदर्श समाजके अनन्त शक्तिवाले 'सेवक' बन जाते हैं। वे राक्षसी समाजमें रहते हुए भी, उसकी सब प्रकारकी घूस पर जीवित रहनेवाली बन्धन-व्यवस्था से असहयोग कर देते हैं। वे तत्क्षण स्वतंत्र राज्य के निवासी और अधिकारी बन जाते हैं। वे अपनी निर्विकार अप्रभावित मानसिक अवस्था नामके 'स्वराज्य' के मालिक हो जाते हैं। परन्तु निजी संपत्ति के लोभ से दीन और दुर्बल बने हुए मनुष्य राक्षसी समाज के साथ घूस के लेनदेन का संबन्ध रखते हैं, और घूसके बदलेमें उससे अपनी समझी जानेवाली संपत्ति पर अधिकार जमाये रखने की अनुचित आशा पाते रहते हैं। परन्तु निजी संपत्तिका अस्वीकार करनेवाले स्वतंत्र मनुष्य राक्षसी समाज के फैलाये हुए इन सब बन्धनों को क्षणभर में तोड-फोडकर फेंक देते हैं। निजी धन जनमोह के फंदेमें फंसे हुए मनुष्य, कदापि स्वतंत्रता के पुजारी नहीं हो सकते।

निजी संपत्तिका मोह और 'देशकी स्वतंत्रता' ये दो बात एक मनुष्यमें नहीं रह सकती। इनमें से एक के प्रेमी को दूसरी त्यागनी पडेगी। देशकी पराधीनता का स्वीकार करनेवाले सब लोग निजी धन-जनमोह के साथ बंधे हुए हैं। किसी देशको स्वतंत्रता तबही मिलेगी, जब उसके अधिवासी, निजी धन-जनमोह को लात मारकर, प्राणों को दांवपर लगाकर पराधीनता का विरोध करेंगे। राक्षसी समाज, धनको निजी बनाने के लोभमें फंसे हुए मनुष्यों की तृष्णारूपी आगमें ईंधन जुटानेवाला बनकर, अपने मनुष्यों को निर्बल तथा शोषण का शिकार बना लेता है।

जब तक कोई मनुष्य राक्षसी समाज की नीति से असहयोग नहीं करेगा, तबतक वह दैवी समाज का सदस्य नहीं बन सकेगा। निजी धन

के लोभने ही संसार में दासता फैलायी है। दासता नामकी विषैली बेल, निजी धन के मोहरूपी वृक्षपर चढकर फलती फूलती है। शरीरों का बांध दिया जाना 'दासता' नहीं है। मन का बन्धन को स्वीकार करना 'दासता' है। 'दासता' मनकी विकारग्रस्त, भयभीत और निर्बल अवस्था है। जिसने अपने मनको निजी धन जनके मोहबन्धन से मुक्त कर लिया है, वह दासता के बन्धन से सदा के लिये मुक्त है। वह स्वाधीन समाज का स्वतंत्र तथा शक्तिमान सेवक हैं। सेवकलोग पराधीनता के उपासक राक्षसी समाज के सब दोषों को पराभूत और लांछित करते रहते हैं। उन्हें राक्षसी समाज की किसी अकेली बुराई से संग्राम नहीं करना पडता। वे सब बुराइयों की माता 'दासता' को पराजित कर के, विजयी जीवन के स्वामी बन चुकते हैं।

यदि आज के संसारको स्वाधीनता और पराधीनता की इस कसौटी पर कसें, तो आज संसारमें सर्वत्र पराधीन तथा दाससमाज विद्यमान पायें। आज प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्यको अपने देशके दाससमाज से असहयोग करके अपने को स्वतंत्र देशका वासी 'देशप्रेमी' सिद्ध करना पडेगा। उसे किसी विशेष देशकी भौगोलिक सीमा और भौतिक साधनों की अनुकूलता-प्रतिकूलताओंको देखना छोड देना होगा। आज संसारमें सर्वत्र दुर्बल, शोषित निजी धनजनमोहसे चिपटे हुए देशवासियोंकी मानसिक निर्बलताओं की नींपर खडी की हुई धनोत्पादक संस्थाओं (कम्पनियों) के झुंडके झुंड, उन्हें सदा के लिये दासता के कठिन बन्धनों में फंसे रहने का जाल पूरते हुए पायेंगे। आज संसार में सर्वत्र राक्षसी समाज के मनुष्यों की निजी धनजनमोहरूपी निर्बलतासे लाभ उठानेवाले 'रावणराज्य'को तपता हुआ पायेंगे। उस रावणराज्य की दासता से छुटकारा पाने का यही उपाय है, कि मनुष्य निजी धनजन-मोह का परित्याग कर दे। निजी धनजन के मोहका परित्याग कर देनाही 'देशप्रेम' है। यही 'स्वराज्य' है। यही 'स्वतंत्रता' है। यही 'मनुष्यता' है।

निजी धन, जनका मोह मानना 'देशप्रेम' की घातक मनोदशा है। निजी धन, जनमोहसे जकडा हुआ कोई मनुष्य, 'देशप्रेमी' नहीं हो सकता। मनुष्य जिस समय निजी धन, जनमोह का परित्याग करता है, उसी क्षण अमृतलोक का स्वामी बन जाता है। मनुष्य इसी अमृतलोक का स्वामी बनने में अनन्त शक्तिमान और अजेय हैं। ऐसा होना उसका 'जन्मसिद्ध अधिकार' है। यही उसका 'पवित्र कर्तव्य' है। मनुष्य के इस 'जन्मसिद्ध अधिकार' को किसी पृथिवी की सीमा के साथ नहीं बांधा जा सकता। मनुष्यने इसी लिये मनुष्य-देह धारण किया है, कि वह इस अधिकार को पाये और इसका आनन्द भोगे। यही 'मनुष्य की सच्ची आवश्यकता' है। निजी धन बनाने और उसकी रक्षा करने की भावना ही चोर, डाकू, लोभी, अत्याचारी, व्यभिचारी आदि सब प्रकार के दुराचारियोंको उत्पन्न करती है।

जो समाज नियमों (कानूनों) के द्वारा अपने देश की व्यक्तिगत संपत्तिको सम रखना चाहता है, वह चोरी, छल, कपट, डाकूपन, आलस्य आदि सब प्रकार की दुष्ट प्रवृत्तियों को उत्तेजना देता है। वह अपने देशमें 'मिथ्याचारी' बनने की दुर्भावना फैलाता है। ऐसा समाज मनुष्यता का विरोध करनेवाली दुष्ट नीतियों का उपजाऊ क्षेत्र बन जाता है। यह अत्यन्त अस्वाभाविक प्रबन्ध है।

यहां पर निजी संपत्तिके मोह के सब रूपों का विचार स्पष्ट रूपसे करना आवश्यक है- (१) यह मोह संसारके संपूर्ण धनबल और जनबल को केवल अपने अधिकार में रखने के लिये 'राजा'

या 'सम्राट्' का रूप धारण करता है। ऐसे राजा या सम्राट् सेना और सेनापति नामके हत्यारों को। वेतन के रूपमें घूस देकर, इनके द्वारा जनता पर शासन करते हैं। शासन करने की यह पद्धति स्पष्ट रूपसे डाकूपन है।×

(२) परन्तु ऐसी शक्ति बहुत दिनों तक किसी एक राजा या सम्राट् नाम के मनुष्य के पास नहीं ठहर सकती। कारण यह है, कि इसके शासन करने की शक्ति, वेतनरूपमें घूस पानेवाले हत्यारों के हाथों में रहती है। राजा या सम्राटों को इन्हीं के द्वारा जनतापर अपना प्रभाव जमाना पडता है। ऐसी अवस्थामें ये राजा या सम्राट् इनके अधीन हो जाते हैं, तथा कुछ काल पश्चात् निर्बल कठपुतली बन जाते हैं और उनका अधिकार इन के पास चला जाता है। तब वे शासक या सेनापति लोग, राजाको वंशपरम्परागत साक्षी मात्र बनाकर, अपने को उसकी प्रतिनिधिसभा का रूप देकर जनता पर शासन करने लगते हैं।+

(३) जब इन लोगों की प्रतिनिधिसभा यह देखती है, कि राजा या सम्राट् के प्रतिनिधि होने में महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रजा के प्रतिनिधि बननेसे शक्ति हमारे पास रह सकती है, तब इनकी 'राजप्रतिनिधिसभा' 'राष्ट्रप्रतिनिधिसभा' का बाना पहन लेती है। तब ये लोग अपने में से ही किसी को 'राष्ट्रपति' चुनकर राजा या सम्राट् का पद तोड देते हैं। परन्तु इस ढंगकी प्रतिनिधिसभा में भी व्यक्तिगत (निजी) धनों के मालिकों के झुंड होते हैं और इनके राष्ट्रपति 'अमीरों के मुखिया' होते हैं।❀

(४) किसी 'राष्ट्रपति' के प्रभावशाली होनेपर, शासनाधिकार राष्ट्रप्रतिनिधिसभारूपी प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली के परदे के पीछे रहनेवाली एक नवीन सत्ता की मुट्ठी में पहुंच जाता है। ऐसी शासनसंस्थायें उसी राष्ट्रपति के संकेतपर चलने लगती हैं। इसी को 'फैसिज़्म' (Facism) कहा जाता है। यों राष्ट्रपति फिर एक सम्राट् का रूप धारण कर लेता है, और जो जीमें आता है, वही करता है।♣

(५) धनोत्पादक श्रमिक, (मजदूर) लोग भी धनवानों के हाथों में शासनसत्ता देखकर, इनके प्रतिपक्षमें खडे होकर अपने संघ बनाते हैं। वे कहीं कहीं शासनशक्तिको अपने हाथों में ले भी लेते हैं। श्रमिकों की शासनशक्तियां धनको व्यक्तगत संपत्ति उत्पन्न करनेवाली जनतामें समान भागमें बांटकर, अपनी निरपेक्षता का दिखावा तो करती हैं, परन्तु स्वयं भी धनोपासक होने के कारण, तथा धनकी न्यूनाधिकतासे सुखी, दुःखी होने के कारण, ये संस्थायें धनलोभ का पांचवा रूप हैं।♠

शासनशक्ति पहली चार श्रेणियों में स्पष्ट रूपसे एक यह या अनेक धनिकों के हाथों में रहती है। यद्यपि यह शासन की बागडोर पांचवी श्रेणीमें बाहर से देखने पर धनोत्पादक, श्रमिक वर्ग के हाथों में दीखती है, परन्तु यह भी अप्रत्यक्ष रूपसे धनिकों केही हाथों में रहती है। वहां भी वह श्रमिकों के नेता बने हुए कुछ ऐसे मनुष्यों के हाथों में होती है, जो अमीरों के समान अपने हाथों से कुछ नहीं कमाते। प्रत्येक पहलू से विचार करनेपर इसी निश्चयपर पहुंचना पडता है, कि व्यक्तिगत धनशक्तिही ऐसे परिवर्तनशील शासनों के सब पहलुओं की नेत्री है।

जब मनुष्य संसार के सब धनोंको अपने

(×) रूस के भूतपूर्व जार इसके उदाहरण हैं। (+) जापान तथा इंग्लैंड इसके उदाहरण हैं। (❀) यहां अमेरिका का उदाहरण लिया जा सकता है। (♣) वर्तमान जर्मनी तथा इटली इसके उदाहरण हैं (♠) वर्तमान रूस इसका उदाहरण है।

अधिकार में करनेकी दुर्भावना करता है, और सब प्रकार की पशुशक्तिको धनबल से मोल लेना चाहता है, तब अपनेको अनिवार्यरूपसे उसी पशुशक्तिपर निर्भर रहनेवाला, उसी के अधीन, और उसीकी कठपुतली बना लेता है। जब राजशक्ति धनशक्ति से पशुशक्ति खरीदनेवाले कुछ मनुष्यों के हाथों में पहुंच जाती है, तब कुछ धनिक मनुष्यों की सम्मिलित धनशक्ति, अपने धनबल से, सारी जनता को 'राष्ट्र' नाम देकर, अपनी धनशक्ति के प्रभाव से उस सारी जनता का स्थायी प्रतिनिधि बन जाने के लिये, अपने निजी धनको घूस के रूपमें व्यय करके, जनता का बहुमत मोल ले लेती है। देखा जाता है, कि जब ऐसा बहुमत किन्हीं मनुष्यों के धनबल से प्रभावित हो जाता है, तब अन्तमें जाकर सब शक्ति एकही धनी मनुष्य के हाथों में पहुंच जाती है। परन्तु जब वह एक मनुष्य धनमत्त सम्राट् बनकर, जनता के ऊपर मनमाना नाटक खेलता है, तब धनोत्पादक, श्रमिक लोग, धनिक नाम के अनधिकारियों से धनशक्ति छीनकर, उसे आपसमें बराबर बराबर बांटनेकी अविचारपूर्ण अव्यवहार्य विचार बना लेते हैं। ये लोग भी धनिकों के समान धनाधिकार को ही मनुष्य का 'जन्मसिद्ध अधिकार' मान बैठते हैं और उसी को बराबर बराबर बांटनेके धोके में फंसकर अधीमीरों के समान धन के दास बन जाते हैं।

प्रथम तो समाजमें धन की समानता होना असंभव है। दूसरे, समाजमें धनको समान बांट देनेसे उसमें समदर्शीपन का आदर्श प्रतिष्ठित होना असंभव है। इस धोके में फंसकर, धनके पीछे दौडनेवालों की धनतृष्णा कभी नहीं बुझती। उनकी सुलगती हुई धनतृष्णा, उन्हें ईर्ष्यालु बनाकर, मनुष्यसमाजमें पारस्परिक कलह के बीज बोती है। धनतृष्णा रखनेवाला समाज चोरी, ठगई, अत्याचार और व्यभिचार आदि दोषों का गढ बन जाता है।

आज का मनुष्यसमाज, आंखोंपर कोल्हू के बैलके समान, निजी धनके मालिक बननेका अंधोटा बांधकर, धनशक्ति के चारों ओर चक्कर काट रहा है। व्यक्तिगत धनको समाज में समान भागमें बांट दो, इसी को 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' समझ लिया गया है। परन्तु व्यक्तियों के कमाये हुए धनको, समाजमें समान भागमें बांटना, 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' कदापि नहीं है। कोई भी मनुष्य अपने को किसी निजी धन का मालिक न माने, इसी में 'साम्यवाद'की (अखण्ड शान्ति देनेवाली) 'समता' है। समाज के इस समता को व्यवहार में लाना सिखाओ, यही 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' है।

व्यक्तिगत धनको समाजमें समान भागमें बांटनेवाला चाहता है, कि किसी दूसरे को अपने से अधिक धनवान् मत होने दो। उसकी इस भावना के पेट में और बहुतसी दुर्भावना छिपी हुई हैं। यह भावना डाकूपन का कपटपूर्ण मनोहर संस्करण है।

समाज का सब धन, सर्वकल्याणकारिणी सार्वजनिक संपत्ति है। समाज की इस संपत्तिपर न तो किसी मनुष्यका न्यूनाधिक रूप में न्यायपूर्ण अधिकार है और न किसी का समानरूप में न्यायोचित अधिकार है। विचारहीन मनुष्यों ने समाज के इस सार्वजनिक धनपर व्यक्तिगत (निजी) अधिकार स्वीकार करके बडी भारी भूल की है। ऐसा करके मूर्ख मनुष्यने क्षुद्र स्वार्थ पूरा करने और विषय भोगने की सुविधा प्राप्त कर ली है। इस सुविधा ने मनुष्य से 'मनुष्यता' को भुलवा दिया है। व्यक्तिगत रूपमें मनुष्योंका ऐसा अधिकार स्वीकार करनेसे सार्वजनिक हितों का सर्वनाश हो गया है। देश के सब धनोंपर सबका सर्वहितकारी समान अधिकार है। समाज के बालकों से लेकर वृद्धोंतक

के मनमें इस पवित्र विचारको फैला दो कि 'हमारा कुछ नहीं, हमारे समाज का ही सब कुछ है।' यही 'आदर्श समाजवाद' है।

किसी धन को निजी धन बनाते ही मनुष्य किसी से अधिक धनवान् होकर 'घमंडी' और किसी की अपेक्षा दरिद्र रहकर 'ईर्ष्यालु' बन जाता है। व्यक्ति-धनके मालिकों में से 'ईर्ष्या' और 'घमंड' कभी नहीं जाते। किसी को अपने से अधिक धनवान् न बनने देनेकी ईर्ष्या भरी इच्छा ने धनको सबमें बराबर बराबर बांटने की भावना उत्पन्न की है। यह भावना गुप्त रूपमें तो 'धनका लोभ' है और प्रकट रूपमें 'धनियों से घृणा' है। आधुनिक जगत् का 'साम्यवाद' 'अपने को सबसे अधिक धनी बनानेकी इच्छा' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जो मनुष्य व्यक्तिगत धन के लोभ को जीत लेगा, वह धन की तृष्णा को त्यागतेही निर्लोभ, उदार बनकर, ईश्वरभावमें पहुंचकर, सच्चा सुखी बन जायगा। जिसके पास यह मनोदशा आ जायगी, वह परमात्मारूपी धन का धनी बन जायगा। जो इस धन का धनी हो जायगा, उसे न तो किसी से अधिक धनवान् होने की इच्छा सतायेगी, और न किसी से कम धनवान् होने का अनुताप रहेगा। वह अमूल्य अनुपम अतुलनीय धनका धनी बनकर, धनवत्ताके सर्वोच्च शिखर पर चढकर बैठ जायगा। जो समाज समाजवासी प्रत्येक मनुष्यको इसी सर्वोत्तम धनके धनी बनाने में लग जायगा, वही मनुष्योचित सच्चे धनकी विरोधहीन 'समता' को सुरक्षित रख सकेगा। 'मनुष्यके सद्गुण' ही मनुष्यसमाज की (दैवी) शक्ति की रक्षा करनेवाला 'सच्चा धन' है। दैवी संपत्ति ही 'मनुष्यसमाज का सच्चा धन' है। प्रतिकूलताओंको पददलित करो, मन को पवित्र रखो, ज्ञानपूर्वक कर्म करो, दूसरों के अधिकार पर दांत मत लगाओ, इन्द्रियों को पवित्र मन के वश में रखो, मनको अनासक्त बनाओ, आत्मपरीक्षण करते रहो, सत्यपर आरूढ रहकर असत्य को पददलित करते रहो, विश्वास का संबन्ध रखनेवालों के साथ निष्कपट बर्ताव करो, मानसिक निर्बलताओं के अधीन मत हो, मनपर रागद्वेष का प्रभाव मत पडने दो, अपनी शान्तिमें विघ्न मत आने दो, कर्तव्यपालन का फल मत चाहो, व्यक्तिगत चर्चा मत करो, दूसरों से सकाम बर्ताव मत करो, विषयभोगों को पाशविक निकृष्ट अवस्था मानो, दूसरों से क्रोधहीन व्यवहार करो, अकर्तव्य को कदापि सहन मत करो, व्यर्थ चेष्टा मत करो, अदृश्य बने रहो, शत्रुता करनेवाले से व्यक्तिगत द्वेष न रखकर उसका उचित प्रतिकार करो, अपनी पवित्रता न छोडने के लिये दृढ रहो मानसिक पवित्रताके अनुसार आचरण करो, सत्यका विद्रोह कभी मत करो, अपनी भौतिक शक्तिका घमंड मत करो, यही 'दैवी संपत्ति' है। यही 'आत्मज्ञान' है। यही 'मनुष्यसमाज का सच्चा धन' है। जिस दिन मनुष्यसमाज इस सच्चे धन का लोभी बनेगा, उस दिन मुक्त समाज हो जायगा।

धूल से उत्पन्न होनेवाले चांदी, सोने, हीरे, जवाहरातों या कुछ स्त्रीपुत्रपति आदि नामके नश्वर देहों को अपना मान लेनेसे समाज का बडा भारी अनिष्ट होता है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति से मनुष्यता पर वज्रपात होता है। इस प्रवृत्तिवाले मनुष्य मनुष्यता को तिलांजलि दे देते हैं और अपने माने हुए पदार्थों की रक्षा और उपार्जन की चिन्ता में मानवीय सद्गुणों को स्वाहा कर देते हैं। निजी धन बनाने की चिन्ता, समाजरक्षा के कामों की उपेक्षा कराती है। इस मनोवृत्तिवाले मनुष्यों के पास समाजकल्याणकारी सार्वजनिक कार्यों के लिये अवकाश और शक्ति नहीं रहती। समाजकी रक्षा करने और उसे वीर बनाने के लिये समाज में जिस दैवी शक्ति का होना अत्यावश्यक है, व्यक्तिसंपत्ति का अपनाव, उसी श्रेयस्करी शक्ति का घातक है। धूलसे उत्पन्न

होनेवाले पदार्थों को अपनाना, समाज के पारमार्थिक सुदृढ दैवी बन्धन को काटकर फेंक देना है। धूलसे उत्पन्न हुए पदार्थों के अपनाव से समाज, निर्बल तथा धूल के समान पददलित हो जाता है। जो समाज धूलका समान बंटवारा करने की चिन्ता में फंसेगा, वह अपने को संसार की विशाल विषमताओं से भरी हुई प्रबन्ध-पद्धति को भूल जानेवाला पागल बना लेगा।

अपने ऊपर, जगत् के सब पदार्थों को सब मनुष्यों में समान भागमें बांटने का उत्तरदायित्व लेना और इस उत्तरदायित्व को शरीरबल या गोलाबारुद की धमकी से पूरा करने का निष्फल प्रयास करना 'समाजसेवा' नहीं है। यह 'लोभसेवा' है। यह 'ईर्ष्या' है। यह ईश्वरीय प्रबन्ध का विरोध करना और मानवीय अधिकार से बाहर चला जाना है। भौतिक पदार्थों में किसी का भी अधिकार नहीं है। ये समाज की संपत्ति हैं। सृष्टिप्रबन्धने इनके संबन्धमें संपूर्ण मनुष्यों को केवल यही समान अधिकार दिया है, कि कोई भी मनुष्य इनपर अपना अधिकार न माने, कोई किसी पदार्थ को अपना न कहे, सब कुछ अपने समाज का माने, और अपने समझे हुए सब कर्मों को समाजनारायण के चरणों में समर्पित कर दिया करे। यह अधिकार जैसा एकको है, वैसा ही सबको है। इस अधिकारमें न तो 'संघर्ष' है, न 'अनुताप' है, न 'डाह' है और न 'ईर्ष्या' है। इस अधिकार में 'उल्लास' है, 'शान्ति' है और 'समता' है।

जैसे सब भूमियों में एकसी उपजाऊ शक्ति नहीं होती, सब जलाशयों में एकसमान जल नहीं होता, सब भूमि समतल और एकसी समृद्ध नहीं होती, इसमें पर्वतों की चोटी भी हैं और समुद्रों के गहरे गर्त भी हैं, सब वृक्ष लम्बाई, चौडाई, ऊंचाई तथा फलों में एकसमान नहीं होते। ये सब विषम आकारोंवाले होनेपर भी अपने अपने अवसरोंपर महत्त्वपूर्ण उपयोगों में आते हैं। सृष्टि-रचना बडी बडी विषमताओंसे भरपूर है। मनुष्यों की कर्मशक्ति भी इन्हीं विषमताओंका एक छोटासा भाग है।

मनुष्यों की कर्मशक्ति और उससे उत्पादित फलों का न्यूनाधिक होना भी उन्हीं महती विषमताओंका एक छोटासा भाग है। इस विषमता को मिटानेवाले मनुष्य असंभव परिश्रम कर रहे हैं। उन्हें इस वृथा परिश्रमको त्याग देना चाहिये। उन्हें समाज के बच्चे बच्चे को समाज के उपर्युक्त अधिकार से परिचित करा देना चाहिये। जो मनुष्य सब मनुष्यों के समान अधिकार के सिद्धान्त को मानसिक उदार अवस्था (अर्थात् स्वाभिमान नाम के सच्चे धन) से संबन्ध रखनेवाली पहचान जाता है, और दूसरों की प्रतीक्षा या उपेक्षा न करके इस अधिकार को स्वयं पाकर छोडता है, वही 'आदर्श स्वतंत्रता का सेवक' या 'सच्चा देशप्रेमी' है।

पराधीन मनोवृत्ति चार प्रकार से प्रकट होती है- (१) एक तो सोई हुई विशाल जनसंख्या जो दासता को भाग्य का भेजा समझ कर उसे हटाने का कोई उद्योग करना नहीं चाहती। (२) दूसरी भिन्नभिन्न स्वार्थ रखनेवाले संघों के रूपमें प्रकट होती है। ये सब संघ देशको पराधीन बनानेवाली शक्तिमें साझी बनना चाहकर उसके कुछ बोझ को अपने कंधोंपर ले लेते हैं और देशकी उदास जनता के (अर्थात् भाग्य भरोसे सोनेवाली पहली मनोवृत्ति रखनेवाली जनता के) कंधोंपर चढकर उसका मालिक (शासक) बनना चाहते हैं। (३) तीसरी प्रकार की पराधीन मनोवृत्ति रखनेवाले थोडे से मनुष्य, पराधीनता के कष्ट को सहन न करके, देश से दूर भागकर बनी बनायी स्वतंत्रता को भोगना चाहकर, विदेशों में पहुंचकर स्वतंत्रता पाना संभव समझते हैं। ये भी पहले और दूसरों के समान

अपने कंधोंपर चढे हुए शासनरूपी भूत को अपनी शक्ति से उतारना असंभव मानते हैं। (४) चौथी प्रकार की पराधीन मनोवृत्ति रखनेवाले कुछ मनुष्य, अधीर होकर, अपने कंधोंपर चढे हुए मालिक के वृद्धिशील भोगों को देखकर आपे से बाहर हो जाते हैं और समझते हैं, कि हमारा भोगाधिकार इसीने छीना है। ये लोग अपनी शक्ति से अपने शत्रु को अपने कंधों परसे उतारने में असमर्थ पाकर, अपने नपुंसक क्रोध की प्रदर्शनी करते हैं। ये उसकी शक्तिको न हटाकर, क्रोध के वशमें आकर, उसके कुछ नौकरों के शरीरों पर आक्रमण करते हैं।

इनमें से किसी को भी 'आत्मविश्वास' नहीं है। इन सबने यह समझ लिया है, कि किसी अधिक शक्तिमान ने इनकी शक्ति छीन ली है। ये 'परराज्य'को अपनी पराधीनता का कारण समझते हैं। ये यह नहीं समझते, कि क्योंकि तुमने अपने आप अपनी स्वतंत्रता को खोया है और तुम स्वयं पराधीन बनना स्वीकार कर चुके हो, इससे तुम दास बने हो। ये इस बात को नहीं समझते, कि तुम विदेशी शासन के कारण पराधीन नहीं बने, किन्तु तुम पहले पराधीनता को स्वीकार करके, पीछेसे विदेशी शासन के पंजों में फंसे हो। यदि ये लोग इस दृष्टिकोण से अपनी मनोदशापर विचार करें, तो इनका मन सत्यकी ओर घूम जाय और फिर ये निराशा भरे मार्गपर न भटककर 'मनुष्यता' और 'स्वतंत्रता' की सच्ची सेवा करने लगें। तब ये कर्तव्यमूढता और पागलोंकीसी बौख लाहट को छोड दें, 'कर्तव्यपरायणता' में मस्त हो जांय और 'मनुष्यता' की सेवा करनेमें ही 'स्वतंत्रता' का आनन्द लेने लगें।

धन और भोगों का त्याग ही 'स्वतंत्रता का मूल्य' है। मनुष्य को स्वतंत्रता का यही मूल्य चुकाना पडता है। परन्तु ये सब लोग अपने को इस मूल्य को चुकाने में असमर्थ पाते हैं। मनुष्य को शक्तिहीन बनानेवाली इस समझ से देशकी विशाल जनसंख्या भाग्य के साथ समझौता करके चुपचाप होकर स्वतंत्र रहनेका साहस खो बैठती है। शेष जनसंख्या का बडा भाग, शासक की चुपडी रोटीमें हिस्सा लेनेके लिये, मांग, प्रार्थनापत्र, प्रतिवाद और प्रचार करने लगता है। देश के शोषण का कमीशन ही इन लोगों का ध्येय होता है। इनसे शेष बहुत थोडेसे मनुष्य दूसरों की बनायी हुई स्वतंत्रता को भोगने के लिये स्वतंत्र समझे जानेवाले देशों में चले जाते हैं। इनसे शेष कुछ अंगुलियोंपर गिने जाने योग्य मनुष्य हताश, पागल बनकर, अपने खोये समझे हुए अधिकार को किसी शत्रु समझे जानेवाले मनुष्य की जेबमें से निकालने, और उससे बदला लेनेके कुछ उपाय करना चाहते हैं। ये सब एकही प्रकारकी असहायता अर्थात् शक्तिहीनता प्रकट करते हैं।

जो बलात्कार करनेवाले पतित लुटेरेको, अपने से अधिक शक्तिमान होने का ऊंचा पद दे देता है, वही अपने को अधम मानता है। वह ऐसा करके अपनी मनुष्यता का अपमान करता है और सत्यका अस्वीकार करता है। यों वह दासताको अपनाता है। दासमनोवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। दासलोग या तो हताश होकर कुछ नहीं करते, या ऊटपटांग काम कर बैठते हैं। दोनों से इनकी निर्बलता प्रकट होती है।

स्वतंत्र मनुष्य वह है, जो अपने आपको असत्य का विरोध करने में सारे संसार के विरुद्ध होनेपर भी अनन्त शक्तिमान समझता है। स्वतंत्र मनुष्य अपने भाग्य को किसी पराधीन समाज के साथ नथा हुआ नहीं पाता। वह समाज के पराधीन होने का बहाना बनाकर, पराधीनता से समझौता करने को कभी उद्यत नहीं होता। वह अपने आपको, अपने साथ समाज की शक्ति के न रहने पर भी पराधीनता

का विरोध करने में अशक्त नहीं पाता। वह अपने भाग्य का बोझा अपने ही कंधोंपर रखता है। वह अपने पराधीन समाज को, अपनी स्वतंत्रता को जीवित रखने में आई हुई आपत्तियों का उत्तरदाता नहीं बनाता। वह आपत्तियों को सत्यसेवा का मार्गदर्शक बना लेता है। वह अपने आपही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने को उद्यत रहता है। वह अपने को दास-समज से पृथक् करने और अकेला बन जाने में क्षण भर के लिये भी दुविधामें नहीं पडता।

स्वतंत्र मनुष्य अपनी शक्तिको, अपनी न मानकर उसे ईश्वरीय शक्ति मानता है। वह उसपर अटल विश्वास रखता है। वह अपनी स्वतंत्र स्थितिको सब प्रकार के बाह्य आक्रमणों में भी दृढता से सुरक्षित रखता है। उसकी दृष्टिमें ध्यान देने योग्य कोई बाह्य शत्रु नहीं होता। स्वतंत्र मनुष्य हताश मनुष्यों के समान न तो बाह्य शत्रु मानता है, और न बाह्य सहायता है। वह संगठित होकर शत्रु से अधिक शक्तिमान बनने के धोकेमें नहीं रहता। वह न तो संगठन करके शक्तिमान बनना चाहता है और न छिपे हुए संगठन करता है। वह संगठित होकर शक्तिमान बनानेवाले संगठनों पर विश्वास नहीं करता। वह अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा अपनी ही शक्ति से करता है। वह इस काम के लिये किसी दूसरे के शक्तिपर निर्भर नहीं रहता। वह सच्चे संगठन को समाजमें स्वतंत्र मनुष्यों के उत्पन्न होनेपर स्वभावसे आजानेवाली अवस्था मानता है।

स्वतंत्र मनुष्य सदा कर्तव्य के साथ रहता है। उसका जीवन कर्तव्य से भरा रहता है। उसकी दृष्टि में 'कर्तव्य-पालन' और 'स्वतंत्रता की रक्षा' एक ही बात है। स्वतंत्र मनुष्य को प्रत्येक क्षण अपने विरोधी दास-वातावरण से झगडना पडता है। उसे अपने सिरको प्रत्येक पद में अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये ऊंचा रखना पडता है। उसे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये सिर को धडसे पृथक् देखने तक के लिये सन्नद्ध रहना पडता है। स्वतंत्र तथा दास मनुष्यों की जीवन-रक्षामें आकाश-पाताल का अन्तर होता है। दास मनुष्य के मन का हाडमांसका मोह उसे अपने जीवन का सदुपयोग नहीं करने देता। वह अपने शरीर आत्मा और संसार को केवल श्वास लेनेके काम में लाता है। वह इस काम के लिये दूसरे की जान तक लेनेको उद्यत रहता है। यदि वह ऐसा करके सारे संसार का मालिक बन जाय, परन्तु अपने आत्माको खोदे, तो बताओ कि क्या उसने सचमुच कुछ पाया है? नहीं नहीं, उसने सब कुछ खोया है। परन्तु स्वतंत्र मनुष्य अपने शरीर और सारे संसार से अपनी स्वतंत्रता और मनुष्यता की रक्षा का काम लेता रहता है। वह भौतिक लाभहानि से ऊंचे उठे हुए मनकी निर्विकार दशा की रक्षा के लिये सब कुछ करता है। यही उसकी 'स्वतंत्रता' है, यही उसका 'स्वराज्य' है।

अपनेपर अपनाही अधिकार होना उसका 'स्वराज्य' है। उसे इसी 'स्वराज्य' की आवश्यकता है। वह इसकी रक्षा का प्रश्न आपडनेपर सारे संसारके विरुद्ध खडा हो जाने के लिये अनन्त शक्ति का उत्पत्ति-क्षेत्र बन जाता है। जिस मानसिक स्थिति की रक्षा करने से राजा 'राजर्षि' बनता है, रंक 'संत' बनता है, श्रमिक 'कबीर' या 'रैदास' बनता है, योद्धा रावण-राज्य को फूंकनेवाला वीरोंका मुकुटमणि 'महावीर' बनता है, वही 'स्वराज्य' है। इसी को 'मनुष्यता' कहते हैं। यही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् 'सच्चे मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता' है। अर्थात् इसके विना सच्चे मनुष्य से जीवित नहीं रहा जाता। इसके विना काम चला लिया जाय तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह सकता। इसकी रक्षा करने वाला मनुष्य अजेय और अपराजित बन जाता है।

जो मनोदशा इस स्थिति के विरुद्ध है, जो राजा को 'राक्षस' बनाती है, जो निर्धन को 'मंगता' बनाती है, जो श्रमिक को 'मजदूर' बनाती है, जो योद्धा को 'हत्यारा' बनाती है और सारे राज्यको 'रावणराज्य' बनाती है, वही 'दासता' 'पराधीनता' या 'गुलामी' है। 'स्वराज्य' या 'स्वतंत्रता' के साथ भौतिक हानिलाभ का कोई संबंध नहीं है।

आजकल सभ्य का समझा जानेवाला सारा संसार, रावणराज्य के पंजे में दबोचा जाकर कराह रहा है। यदि तुम रावणराज्य के पंजेसे बचने के लिये, उसी रोनेवाले दुखिया संसार के पीछे चलोगे, तो दूसरे रूपमें उसी रावणराज्य को निमन्त्रण दे लोगे।

'स्वराज्य'का अर्थ 'सत्यकी रक्षा करना' है। स्वतंत्र मानसिक अवस्था की रक्षा करना ही 'स्वराज्य' है। आत्मशक्तिपर विश्वास रखनेवाले आत्मा की रक्षा ही 'स्वराज्य' है। तुम सत्यकी रक्षा के लिये इस शरीर को जिस काममें लगाओगे, वही इसका मनुष्योचित सदुपयोग होगा।

कुछ लोग स्वराज्य की इस परिभाषाको 'आध्यात्मिक स्वराज्य' कहकर टाल देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हमें तो भौतिक स्वराज्य की आवश्यकता है। हमें आध्यात्मिक स्वराज्य से क्या लेना है? उन के लिये यही उचित उत्तर है कि—

'राजनैतिक' या 'भौतिक स्वराज्य' पाने के लिये, जिस अदम्य दृढता की परमावश्यकता है, उस अदम्य वीर मानसिक स्थितिको 'आध्यात्मिक स्वराज्य' कहा जाता है। जब किसी समाजमें यह मानसिक स्थिति आ चुकती है, तब भौतिक युद्ध नाम की अवस्था अनिवार्य रूपसे आकर खडी हो जाती है। तब यह आध्यात्मिक स्वराज्य नाम की मानसिक स्थिति विदेशी शासन का कान पकड कर निकालती है। भौतिक स्वराज्य आये या न आये, मनुष्य इस 'आध्यात्मिक स्वराज्य' से ही 'स्वतंत्र' हो चुकता है। यदि देश के सब मनुष्यों में यह मानसिक स्थिति न आये तो भी एक मनुष्य को स्वतंत्र होने से रोकनेवाला कोई सिद्धान्त नहीं है। सब के स्वतंत्र न होनेपर भी, जिस एकमें यह स्थिति आ जाती है, वही 'स्वतंत्र' हो जाता है। भौतिक स्वराज्य चाहनेवाले निराश हो सकते हैं और स्वराज्य-संग्राम छोडकर अपने घरों को लौट सकते हैं, परन्तु आध्यात्मिक स्वराज्य पा चुकनेवाले योद्धा सदा मैदान में रहते हैं। जब लडाई मैदान छोडकर चली जाती है, केवल उस समय ये लोग लडते हुए नहीं दीखते। लडाई के मैदान में आते ही ये मैदान में उतर पडते हैं। असत्य से लोहा लेते रहना इनका स्वभाव होता है। ये किसी फल के लोभ से ऐसा नहीं करते। वे राजनैतिक योद्धा नहीं होते। वे स्वाभाविक योद्धा होते हैं। निष्काम मानसिक स्थिति ही 'स्वराज्य का प्रेम' या 'देशप्रेम' है।

जिस देश के सामने 'देशप्रेम' का यह आदर्श विद्यमान होगा, उसमें स्वतंत्र समाज अपने आप संगठित हो जायगा। स्वतंत्र समाज 'सत्य' के आधार से बनता है। अपने मन्तव्योंके प्रचार से या स्वार्थसिद्ध करने की संकीर्ण मनोवृत्तिसे 'स्वतंत्र समाज' का संगठत नहीं होता है। स्वतंत्र समाज का संगठन करनेकी योग्यता केवल 'मनुष्यत्व' में है। जहां बहुत से सच्चे मनुष्य बसते हैं, वह स्थान मनुष्यसमाज के संगठित होनेका स्वाभाविक क्षेत्र है। भारत के ग्राम मनुष्यसमाज के संगठन के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। भारत का जनसमुदाय सात लाख ग्रामों में संघबद्ध होकर बस रहा है। ग्राम ही मनुष्यसमाज के संगठित होनेका स्वाभाविक क्षेत्र है, नगर नहीं। प्रारंभमें सत्यके बन्धन ने मनुष्य से ग्राम की कल्पना करायी थी। उसीने ग्रामपद्धति का निर्माण किया था। भारत के ग्रामों में आज भी उसी पद्धति का ध्वंसावशेष पाया जाता है। भारत के ग्रामों से आज तक भी राष्ट्रको संघबद्ध रखने की शक्ति लुप्त

नहीं हुई है। तात्पर्य यही है कि सच्चे ग्रामसेवक ही 'राष्ट्रसेवक' या 'देशसेवक' हो सकते हैं।

जब ग्रामवासियों में से ही सेवातत्पर ग्रामसेवक उत्पन्न होंगे, तब ग्रामों में 'स्वतंत्र समाज' उत्पन्न होने लगेगा। जब ग्रामों में स्वतंत्र मनुष्य-समाज संगठित हो चुकेगा, तब ग्रामों के स्वतंत्र समाज परस्पर संघबद्ध होकर 'स्वतंत्र राष्ट्र' का निर्माण करेंगे। जब इस प्रकार के स्वतंत्र राष्ट्र परस्पर संघबद्ध होंगे तब संसार में एक विशाल 'विश्वराष्ट्र'की रचना होगी। पहले 'स्वतंत्र मनुष्य' बनेंगे, उनसे 'स्वतंत्र समाज' बनेगा, स्वतंत्र समाजों से 'स्वतंत्र राष्ट्र' बनेगा, 'स्वतंत्र राष्ट्रों'से 'राष्ट्रतंत्र' बनेगा। यों सारा संसार, एक दूसरे के साथ कल्याणसूत्र में बंधकर चिरकाल तक आनन्द भोगेगा। इस विश्वकल्याणरूपी कल्पवृक्ष का बीज सब से पहले स्वतंत्र व्यक्तियों में अंकुरित होगा, स्वतंत्र समाजों में पलेगा, स्वतंत्र राष्ट्र में विकसित होगा और विश्वमें फलेगा।

संसार में आजतक सच्चे राष्ट्रसंघ की कल्पना ने इसलिये मूर्त रूप धारण नहीं किया कि संसार में आजतक किसी भी मनुष्यने 'स्वतंत्र राष्ट्र' की कल्पना नहीं की। आधुनिक संसार के राष्ट्रों में 'स्वतंत्रता' का नाम या चिह्न तक नहीं है। इन सब में केवल भोग-लिप्सा, स्वार्थान्धता, पराधीनता, और परराष्ट्रलोलुपता भरी पडी है। 'स्वतंत्रता' ही संसारकी सार्वजनिक संपत्ति है। इस स्वतंत्रतारूपी कल्पवृक्ष के बीज आजतक मनुष्यों के हृदयों में अंकुरित नहीं हुए। आज संसार के जिन मनुष्यों में राष्ट्रगठन करने की शक्ति है, वे सब स्वार्थान्ध होनेके कारण शक्तिहीन बने बैठे हैं और अपने अपने प्रभावों में आये हुए राष्ट्रों का सत्यानास कर रहे हैं।

भारत के सामने सृष्टिके आरंभ से लेकर आज तक 'सत्य' का ऊंचा आदर्श चला आ रहा है और भारत में तब ही से सत्य के आदर्श का विकास करनेवाली स्वतंत्र संस्कृति चली आ रही है। यही कारण है कि यह देश सदा से राष्ट्रगठन करने की शक्ति रखनेवाले अनन्त-शक्तिसंपन्न मनुष्यों को उत्पन्न करता रहा है। विधाताने भारत को ऊंची ऊंची पर्वतमालाओं और समुद्रों से वेष्टित करके स्वभाव से 'स्वतंत्र राष्ट्र' बनाया है।

यदि भारत के सात करोड कुटुम्ब अपने अपने स्वतंत्र वातावरण की रक्षा करने लगें, तो भारत स्वतंत्रता का मुख देख सके। प्रत्येक भारतवासी उसी स्वतंत्र भारत का एक भाग है। जो कोई भारतवासी स्वतंत्र मनोदशा को अपना लेता है, वही स्वतंत्र भारत का निवासी हो जाता है। अपने को स्वतंत्र रखना ही भारतवासी का भारत को स्वतंत्र बनाना है। अपने को स्वतंत्र रखनाही मनुष्य के कर्तव्यक्षेत्र की सीमा है। मनुष्य से बाहर स्वतंत्रता की रक्षा का क्षेत्र नहीं है।

जब भारत के ग्रामों में इन विचारों के ग्रामसेवक उत्पन्न होंगे, तब भारत की राष्ट्रपताका ग्रामवासी स्वतंत्र मनुष्यों के हृदयबलसे आकाश में फहरायेगी। वह भारत के राष्ट्र को संघबद्ध करेगी। वह सारे संसार को यह सिखाती रहेगी कि "स्वयं स्वतंत्र होने में ही 'स्वतंत्रता' है। दूसरों को परतंत्र बनाने का उद्यम अपनी मौत है। 'स्वतंत्रता' ही व्यक्ति की सच्ची शक्ति है। 'स्वतंत्रता' ही समाज की सच्ची शक्ति है। 'स्वतंत्रता' ही राष्ट्र की सच्ची शक्ति है। देशकी जनसंख्या की घटती बढती से, शस्त्रों की न्यूनाधिकता से 'स्वतंत्रता' न्यूनाधिक नहीं होती। जनबल या शस्त्रबलपर भरोसा करके राष्ट्रशक्तिके सेना या शस्त्रों के संग्रह पर व्यय कर डालना मूर्खता है। स्वतंत्र मनुष्य मरते दमतक स्वतंत्र रहते हैं। वे अपनी शक्ति से चोरों और लुटेरों का मानमर्दन करके अपना सिर ऊंचा रखते हैं।" यही वह कल्याणमयी सावधानवाणी है, जो यदि संसार के राष्ट्रों के घर घरमें गूंज उठे, तो मनुष्यजाति में चेतना फूंक दे और विश्वराष्ट्रकी रचना कर डाले।

*

स्वतंत्र रहने की इस कल्याणमयी शक्तिको लेकर जन्म लेनेवाले लोग ही भारत में सब से ऊंची स्थिति के मनुष्य माने जाते हैं। इस देशमें 'विश्वसेवकों' का जितना आदर होता है, उसके लिये राजाधिराज नामधारी तरसते रह जाते हैं। स्वतंत्रता नामकी कल्याणमयी शक्ति भारत की धूलमेंसे उत्पन्न और भारत के अन्तजल से पालेपोसे मनुष्यों को अपना आधार बनाकर विश्वसेवकों के जीवनमें विजयशील बनती चली आ रही है। उन विश्वसेवकोंकी यह शक्ति ही 'मनुष्यता' कहाती है। भारत के संपूर्ण भौतिक पदार्थ इस मनुष्यता की सेवा करनेमें उसकी सहायता करने लगते हैं। इस दृष्टिसे भारत भारतवासी मात्र के लिये प्यारा देश है। ऐसे देशकी सेवा करना सच्चा 'देशप्रेम' है।

क्या! लोकलोकान्तरों में भी यही वेद हैं ?

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

क्या लोकलोकान्तर में भी यही वेद हैं?

ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' अष्टम समुल्लास में प्रश्नोत्तर रूप में यह कहा है, कि यही वेद जिस प्रकार इस भूमिपर ऋषियों के द्वारा ठोस मनुष्यों को प्राप्त हुए, इसी प्रकार लोकलोकान्तरों में भी जो मनुष्य रहते हैं, उनके लिए भी यही ज्ञान प्रभुने दिया है। वह प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार से है—

(प्र०)- जिस वेद का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी है वा नहीं ?

(उ०)- उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राजव्यवस्थानीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक सी है।

(स० प्र० अ० ८ स० पृ० २८५)

इस पर बहुत प्रश्न किए जाते हैं। बहुतेरे दृढ आर्य भी इस को नहीं मानते। वे कहते हैं, भला यह कहां सम्भव है, कि उन लोकों में यही वेद की संस्कृत भाषा हो। श्री पं० नरदेवजी शास्त्री ऋषि दयानन्द के भक्त हैं, परन्तु उन्होंने भी अपने ग्रन्थ-ऋग्वेदालोचन के 'कतिपय आश्चर्य' प्रकरणमें ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है—

"स्वा० दयानन्द सर्वथा मन्वादि महर्षियों तथा शास्त्रकारों के सिद्धान्त को मानते हैं। वे वेदोंमें इतिहासादि भी नहीं मानते। वेदज्ञान को त्रिकालाबाधित मानते हैं। वेदों को इस लोकके लिये नहीं अपितु इन्हीं वेदोंको लोकलोकान्तरोंके लिये भी मानते हैं। प्रश्न यह रह जाता है, कि सृष्टिके आदि में जब चार ऋषियों पर वेद प्रकट हुए, तो वह कौनसा स्थान था? यदि इसी भूलोककी सृष्टिकी आदि का सम्बन्ध है, तो यहां इसी लोक में वेद हुए, फिर लोकलोकान्तर में वेद कैसे पहुंचे ? यदि वहां प्रकट हुए, तो यहां कैसे आए ? अथवा प्रत्येक लोक में अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा नाम के चार ऋषि होते हैं क्या? लोक-लोकान्तर के लिये यही वेद किस प्रकार हैं? इस विषय में स्वामिजीने कहीं किसी ग्रंथ में प्रकाश नहीं डाला। स्वामिजीने अत्यन्त प्रबल प्रयत्न किया है, कि वेदोंको मनुवर्णित अथवा मनुनिर्दिष्ट उच्च स्थानपर बैठाएं।

(ऋग्वेदालोचन, पृष्ठ २८९ और २९०)

आईये! थोडा इस पर भी विचार कर लें-

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अकाश, चन्द्र, नक्षत्र, सूर्य इनको वसु कहते हैं। इनका नाम वसु इसी लिये है, कि इनमें भी मनुष्यादि प्राणी निवास करते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में वसु शब्द की निरुक्ति व्याख्या करते हुए लिखा है—

"एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद् यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसवइति।"

अर्थात् क्योंकि इनमें भी मनुष्यादि प्राणी रहते हैं, अतः इन्हें वसु कहा जाता है। वर्तमान विज्ञान भी इसके अनुकूल होता जा रहा है। परन्तु अभी-तक विज्ञान इस सीमातक नहीं पहुंचा, जहां तक इन लोकलोकान्तरों का 'वसु'नामकरण करनेवाले पहुंच चुके थे।

इन लोकलोकान्तरोंमें मनुष्य क्यों रहते हैं? इस पर ऋषि दयानन्दने सत्यार्थ प्रकाशमें लिखा है-

परमेश्वरका कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता।तो क्या इतने असंख्य लोकोंमें मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है। इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। (स० प्र० अष्ट० समु०)

हां भिन्न भिन्न लोकों में मनुष्यकी आकृति में कुछ अन्तर हो, ऐसा सम्भव है, जिस प्रकार इसी भूलोकपर ही नेपाली और पंजाबी, तथा जर्मन और हिन्दोस्तानीकी आकृति भिन्न होती है। परन्तु इतना भेद होनेपर सभी मनुष्य ही है। जिस प्रकार अमेरिकन गाय, तथा भारतकी पर्वतीय गाय कुछ भिन्न कुछ न होनेपर गोत्वाऽवच्छिन्न गौ ही है, कुछ और नहीं। जब इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि भिन्न भिन्न लोकलोकान्तरों में भी मनुष्य रहते हैं, तो उनपर वही नियम लागू होंगे, जोकि इस लोकके मनुष्योंपर ! ऐसा होना इस लिये की आवश्यक है, क्योंकि सारे लोकलोकान्तरों का अधिपति एकमात्र राजा प्रभु ही है। अतः उसका नियम, व्यवस्था भी एक ही जैसी होनी चाहिये, यदि भिन्न हो तो व्यवस्था कैसे चले।

दूसरा, जब भिन्न भिन्न लोकलोकांतरों में भी मनुष्य की सृष्टि होगी, तब वहां यहां-की तरह मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने से मनुष्य की भाषा और ज्ञान नैमित्तिक ही होने चाहिये। अतः तब वे ज्ञान और भाषा की यहां की ही भान्ति अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ही होंगे। और जब ईश्वर पूर्ण है, तो उसकी भाषा और ज्ञान भी पूर्ण ही होने उचित हैं—

"पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते।"

'पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है।' और पूर्ण वस्तु एक ही होती है। अनेकत्व अपूर्णता का लिंग है, अनुमापक है। अतः उस परम पिता की भाषा और ज्ञान पूर्ण होने से एक भी हैं। और अन्यत्र दिए गए प्रमाणों से जब यह सिद्ध है कि वह भाषा और ज्ञान वैदिक भाषा और वेदज्ञान ही हैं, तो इस बातके माननेमें क्या हर्ज है कि लोक-लोकांतरों में यही वेद हैं। सम्भव है अब वहां भी वह वैदिक भाषा व्यावहारिक न रही तो क्योंकि भाषाविज्ञान का नियम है कि समय पाकर आवश्यक और कुछ अनिवार्य कारणों से एक भाषा व्यावहारिक नहीं रहती तब दूसरी व्यावहारिक भाषा की उत्पत्ति होती है।

परन्तु अनुमानद्वारा यह तो ज्ञात होता है कि आदिम भाषा वहां भी वैदिक भाषा ही रही होगी। बाकी रही यह बात की वहां किन ऋषियों पर वेद प्रकट होते हैं, अर्थात् क्या भिन्न भिन्न लोकों में एक ही अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा ऋषि होते हैं अथवा भिन्न भिन्न।

इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि, जब यह सिद्ध हो गया कि भिन्न भिन्न लोकलोकांतरों में यही वेद है, तो वहां भी वे ऋषियोंके द्वारा ही प्रकट होने चाहिए, ऐसा युक्तियुक्त है। अन्यथा आदिमकालीन मनुष्यों को वह ईश्वरीय ज्ञान और भाषा किस प्रकार समझाई जायगी? इसी लिये वेदने कहा है—

'ऋषिषु प्रविष्टाम् ।'

अर्थात् मनुष्य ईश्वरीय वाणी को ऋषियों द्वारा प्राप्त करते हैं । इस प्रकार वेदों के प्रकाश के लिये सब लोकों में ऋषियों की आवश्यकता है । यदि सब लोकलोकांतरों में उपर्युक्त अग्नि आदि चार ऋषि ही हो, तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा में व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं, अपितु ये उपाधियां हैं। जिस ऋषि पर ऋग्वेद प्रकट होता है, उसे अग्नि कहा जाता है, जिस पर यजुर्वेद उसको वायु इत्यादि । ये व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं अपितु उपाधियां हैं, इस में भी कारण है—

ऋषि दयानन्द ने इस प्रश्न का 'इन चार ऋषियों के ही हृदय में क्यों प्रकाश किया,' यह उत्तर दिया है कि वे अधिक पुण्यवान् थे ।

इस प्रकार अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है, कि ये जीवन्मुक्त पुरुषों में भी अधिक श्रेष्ठ थे, अतः इन्हों द्वारा ही वेद प्रकट किये गये हैं। परन्तु यह बात प्रमाणों द्वारा सिद्ध है कि मुक्ति से भी पुनरावृत्ति होती है, अन्यथा यदि एक सृष्टि में एक भी मनुष्य मुक्त हो और सृष्टियां अनन्त बार हो चुकी हैं, इस प्रकार अब तक सारे जीव मुक्त हो गए होते, सृष्टि-परम्परा समाप्त हो चुकी होती। प्रत्येक सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश ऋषियों द्वारा होता है और वे ऋषि अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही है. यह तो तभी सम्भव है जब अग्नि आदि उपाधियां हो, नाम नहीं। अन्यथा यह कब सम्भव है कि एक ही अग्निवाय्वादि प्रत्येक सृष्टिके प्रारम्भ में वेदों का प्रकाश करते हैं। इस सृष्टिमें जो मुक्त होने से ऋषि होने के योग्य हैं, दो तीन सृष्टियों के बाद वे न जाने कौनसी योनि में होंगे ?

इस प्रकार एक सृष्टि में सर्वत्र लोकलोकान्तरों में यदि एकही अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा द्वारा ही चारों वेदोंका प्रकाश हो तो कोई अनुचित नहीं। क्योंकि मनुष्य-सृष्टि उपरोक्त रीतिसे भिन्न भिन्न लोकों में एक ही समय नहीं होती। वैवस्वत मन्वन्तर में जो मनुष्यसृष्टि बताई है, वह भी इस लोकके लिये है। अन्य लोकों मनुष्य-सृष्टि, तथा वेदोत्पत्ति का क्रम भिन्न ही होगा। इस लोक की सृष्टि सब लोकोंके अनन्तर हुई है, अतः इस की मनुष्यसृष्टि का और लोकोंकी मनुष्योत्पत्ति के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार मनुष्योत्पत्ति के समय-भेदसे वेदोत्पत्ति का भी समयभेद होना अनिवार्य है। अतः यदि एक ही ऋषि भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न लोकों की मनुष्योत्पत्ति के प्रारम्भकालमें वेदों का प्रकाश करें, तो कोई हर्ज नहीं।

हां एक बात है, हम तो मुक्ति से भी पुनरावृत्ति मानते हैं, अतः यदि तब उन मुक्त जीवों का मुक्ति-काल ही समाप्त हो जाए, तो भिन्न भिन्न लोकोंमें अन्य अन्य ऋषियों द्वारा वेद प्रकट हो सकते हैं।

परंतु उन सबकी उपाधियां अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही होगी। उपाधि की अधिक प्रसिद्धि से उन सब ऋषियों का नाम भी अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही प्रसिद्ध है। जिस प्रकार गान्धिजी और मालवीयजी आदि।

तात्पर्य यह है कि सब लोकलोकान्तरों में जब प्रारंभिक मानवसृष्टि होती है तब तब अग्नि-वायु आदि उपाधिवाले ऋषियों द्वारा वहां वहां वेदों का प्रकाश होता है, जिस से मनुष्यों को भाषा और ज्ञानकी प्राप्ति होती है और वे अपना हानिलाभ विचार कर स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार कर सकते हैं।

अतः ऋषि दयानंद के इस सिद्धांतपर कि "भिन्न भिन्न लोकांतरों में भी यही वेद हैं, आश्चर्य इस लिये नहीं कि यह अनुपपन्न है; अपि तु इस लिये आश्चर्य है कि आजतक इस आवश्यक बात पर ऋषि के अतिशरिक्त किसी और की दृष्टि नहीं गई। ऋषियों के पास कुछ दिव्य दृष्टि होती है, इसी पर आश्चर्य है। इति शम्॥

श्रीकृष्ण-चरितामृतम् ।

(लेखक- रुलियारामजी कश्यप, लाहौर ।

ओ३म् । भूभुर्वः स्वः महज्जनस्तपस्सत्यम् ।

तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो३म् स्वाहा ॥

॥ ओ३म्कार श्रीकृष्ण प्रणाम ॥१॥

रामकृष्ण बुद्ध शङ्कर दयानन्द तिलक गांधी जवाहर
आकर्षक मनमोहन श्याम, योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम्॥२

मुरलीमनोहर प्रभुपरमेश्वर, नीलांबुद, ओढे पीतांबर।
राधारंजन श्याम, वासुदेव श्रीकृष्ण प्रणाम् ॥ ३ ॥

द्रुपदसुता को जब दुःशासन, नग्न सभा में करे कुशासन।
चीढ बढायो लाज रखायो, वस्त्र अनन्त प्रदाता श्याम,
भक्तन त्राता कृष्ण प्रणाम् ॥ ४ ॥

भीमको वध करने के हेतु, राज्य युधिष्ठिर हरने के हेतु।
कौरवगण लगे चालें चलने, द्यूत वा युद्ध बहाने करने।
सारथि बन हुए युद्धविजेता, गीतागायक श्याम,
अर्जुनप्रिय श्रीकृष्ण प्रणाम् ॥ ५ ॥

रचा राजसूयज्ञ युधिष्ठिर,
आ गए कृष्ण निमन्त्रित हो कर।
बकने लगा शिशुपाल बराबर,सैंकडों गालियां गन्दी देकर।
करते क्षमा रहे कृष्ण बराबर, अन्त में चक्र चलायो
श्याम, शिशुसंहारक कृष्ण प्रणाम् ॥ ६ ॥

कंस था राजा अत्याचारी,
मथुरा जिस से थी दुखियारी।
पुत्रि यशोदा की जिस मारी,
पटक शिलापर-घातक भारी।
उस के नाशक श्याम, कंससुमर्दक कृष्ण प्रणाम् ॥ ७॥

पूतना पहुंची दायी बनकर,
चूंचियों अपनी को विष मलकर।
कृष्ण के मुंहमें निज स्तन देकर,
बध करने लिये यत्न बडा कर।
मारी गयी स्तन ही खिंचवा कर,
नाशक उसके श्याम, पूतनाशत्रु शिशु प्रणाम् ॥ ८ ॥

यमुना तट पर गोपियां जावें,
जल भरने गागर सङ्ग ले जावें।
घाट पे बालक शोर मचावें,
कृष्ण हो अगुआ पात्र तडावें।
गोपियां सब मन में घबरावें,
पर हुईं मुग्ध न उन्हें हटावें।
गोपियों के चित्तचोर सुश्याम,
गोपीवल्लभ बाल प्रणाम् ॥ ९ ॥

पर्वत् गोवर्धन पे मेला रचाकर,
गोप सुबाला बाल ले जाकर।
दूध दही की नदियां बहाकर,
उत्तम खाद्य पदार्थ सजा कर।
रागरंग आनन्द मना कर,
बाला बाल सभी मन मोह कर।
गोप सभी को एकत्रित् कर, निज का रज के साधक
श्याम। विश्वप्रबन्धक प्रभु प्रणाम् ॥ १० ॥

शिशुपन में मक्खन खा खा कर,
बालपने में रास रचा कर।
युवा हो शत्रु सभी भगाकर,
वार्धिक् में अर्जुन को जिता कर।
अन्त में लीलालोपक श्याम,
विश्वके नाट्य-रचयिता प्रणाम् ॥११॥

॥ इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

(२)

कृष्ण–चरित ।

कृष्ण हैं काले यद्यपि, पर रहे सभी को खींच ।
मुरली की तान सुनाय के, अमृत से रहे सींच ॥ १ ॥

मुरली–मनोहर राम हैं, आकर्षक घनश्याम ।
कृष्ण प्यारे सभी को, हरिः रूप अभिराम ॥ २ ॥

अर्जुन का रथ हांकके, युद्धक्षेत्र के बीच ।
जब वे उस को ले गये, सेना दो के बीच ॥ ३ ॥

तब अर्जुन घबरा गया, सगेसम्बन्धि देख ।
धनुष हाथ से गिर गया, बान्धवबन्धु को देख ॥ ४ ॥

कहा युद्ध नहीं करूंगा, चाहे जाऊं मैं हार ।
बान्धववध के पाप का, सकूं उठा कब भार ॥ ५ ॥

तुरत सुनाई कृष्णजी, ने गीता की तान ।
अर्जुन की सभी जग उठी, वही राजसी शान ॥ ६ ॥

तुरत हुआ तय्यार वह, युद्ध करन की ठान ।
भीष्म पितामह पर दिये, बरसा पैने बार ॥७॥

नमस्कार पहिले किया, बाणं तीन शुभ फैंक ।
पाछे दिया अमृत पिला, भूमध्यास्त्र फैंक ॥८॥

निकसा जलका स्रोत् तब, भीष्म बुझाई प्यास ।
शरशय्या पर पडे उन, की पूर्ण शुभ आस ॥९॥

कृष्ण की ही थी चाल सब, हुआ भीष्म जब हट ।
नहीं भला मरता कभी, ब्रह्मचारी समरत्य ॥१०॥

(समर्थ पुरुष)

खडा कराया शिखण्डी, सम्मुख भीष्म के लाय ।
ब्रह्मचारी उस ओर न, कभी निगाह जमाय ॥११॥

भीष्मने तुरत ही फेर दी, युद्ध से अपनी पीठ ।
कृष्णाज्ञा से पार्थने, बाणों से दिया बींध ॥१२॥

गुरुद्रोण से भी लडा, जम कर अर्जुन वीर ।
झूठ युधिष्ठिर को पडा, तभी बोलना, धीर ! ॥१३॥

अश्वत्थामा हत हुआ, सुन घबराया द्रोण ।
हतोत्साह मारा गया, कृष्णाज्ञा से ही द्रोण ॥१४॥

ऐसे ही मारा गया, महारथी भी कर्ण ।
अश्वत्थामा, कृप सभी, दुर्योधन रणकरण ॥१५॥

भला कौन था वहांपर, सम्मुख कृष्ण के आ ।
जो सकता कभी युद्ध में, अर्जुन सम्मुख आ ॥१६॥

महभारत पूरा हुआ, पाण्डव गण की जीत ।
कृष्ण की नीति से हुई, अर्जुन हुआ अजीत ॥१७॥

धर्मपुत्र का धर्म तब, पाने लगा विस्तार ।
बलप्राक्रम से भीम के, पाया राज्यविस्तार ॥१८॥

अर्जुन का गाण्डीव भी, कृष्ण विभूति एक ।
था अमोघ ही धनुष वह, शिव त्रिशूल स्वयमेक ॥१९॥

एक विचित्रही वार्ता, अन्त में करूं बखान ।
"अर्जुन गुआइयां गोपियां, ओही धनुष ओहो बाण"
॥२०॥

पञ्जाबी में प्रसिद्ध है, काल समर्थ की शान ।
समय आन कर जब पडे, रहे न राजसी शान ॥२१॥

अर्जुन को कहा कृष्णने, लेता मैं बनवास ।
तुम ले जाओ गोपियां, यहां न पायं त्रास ॥२२॥

अर्जुन ले कर चल दिये, भील पडे तब टूट ।
छीन गोपियां ले गये, गर्व अर्जुन गया छूट ॥२३॥

वैराग्य हुआ उदय तब, कृष्णा की ही थी चाल ।
अर्जुन मुक्ति पा गया, कृष्ण की बूझ सुचाल ॥२४॥

(३)

सौतिः की कृष्णस्तुति ।

सौतिरुवाच--

आद्यं पुरुषमीशानं पुरूहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥२२॥

असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥२३॥

माङ्गल्यं मंगलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥२४॥

महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ॥२५॥

(महाभारत आदिपर्व अध्याय १ श्लोक २२ से २५ तक)

सौति बोले-

सबसे स्तुति किये जो गये, जिन्हें बुला रहे सर्व ।
याथातथ्य स्वरूप जो, इक अविनाशी सर्व ॥ १ ॥

साकारनिराकारमय, नित्य प्रथम सर्वेश ।
पूर रहे सर्वत्र वही, आदिपुरुष भुवनेश ॥२॥

कारण अरु जो कार्यमय, उससे भी परे दूर ।
सत्तामात्र अव्यक्त ही, विविध रहा भरपूर ॥३॥

विश्वरूप जगरूप में, बीजरूप में जौन ।
अगले पिछले सभी का, अविनाशी पिता जौन ॥४॥

शुभ मङ्गलमय सभी के, मङ्गलकर्ता वृद्ध ।
प्राचीनतम् सभी से, परम पवित्र सुशुद्ध ॥५॥

स्वीकरणीय सुप्रिय उन, दुःखहारक भगवान् ।
स्थावर जङ्गम सभी से उत्तम सब से महान् ॥६॥

सब के गुरुः निष्पाप उन, इन्द्रियगण-आधीश ।
व्यापक विष्णुः हरिः को, नमस्कार कर ईश ! ॥७॥

मैं करूं वर्णन व्यासजी, के सुपवित्र विचार ।
सभी पूजते जन जिन्हें, जो इस जग में सार ॥८॥

अद्भुत ही इन महऋषिः, व्यास ने थे किये पुराय ।
इसी से उनको पूज सब, मानते स्व को धन्य ॥९॥

उन्हीं के मत महाभारतिय, का मैं करूं व्याख्यान ।
सुनिये ऋषिगण आप सब, कृष्ण चरित सुमहान् ॥
॥१०॥

(४)

साधु ।

सोई सुसाधु जानिये साधे जो निज आत्म ।
जिस से सधा न आत्मा, क्या जान परमात्म ॥ ॥

साधु सोई करे साधना, जो मन वच देह लाय ।
अर्पण आत्मा के करे, सर्व्वस ही चित्त लाय ॥२॥

अत्मा में ही देख जो, लेता प्रभु परमात्म ।
सोई सच्चा साधु है, कहा वही मह आत्म ॥३॥

पूजा पाता सभीसे, सभी करें तिस सेव ।
दयादृष्टि से देखकर, देता तार स्व एव ॥४॥

ऐसा साधु महात्मा, साकार भगवान् ।
परमात्मा निराकार ही, मूर्तिमय सुमहान् ॥५॥

सत्यकाम सङ्कल्प भी, हों उसके सभी सत्य ।
शक्ति निरर्थक् जाय न, व्यर्थ करे न विकल्प ॥६॥

कलियुग के प्रारम्भ में, हुए महात्मा कृष्ण ।
साधु सच्चे अर्थ में, परमात्मा ही कृष्ण ॥७॥

ऐसे ही कुछ कुछ हुए ऋषिराज मिथिलेश ।
याज्ञवल्क्य के शिष्यवर, उत्तम जनक नरेश ॥८॥

सुलभा योगिन भी हुई, उसी समय दिव्य ज्योत् ।
सभा में जीता जनक जिस, दिखा परम विद्योत् ॥९॥

(५)

शक्ति ।

शक्ति महानारायणी, कही जो योगि सुसन्त ।
उसका अब वर्णन करूं झुका माथ उन्हीं सन्त ॥१॥

को, धर उनका ध्यान भी, ईश से सम्बन्ध जोड ।
उसी शक्ति के आश्रय, हो कर चित्त भी जोड ॥२॥

है विचित्र ताकत, नहीं, कर सकें जस अनुमान ।
बरते न जब तक आप पर, हो भी सके न गुमान ॥३॥

बिजुली दें ज्यों मनुज को, जिस से कांपे वह ।
थर थर करता वेग से, पलङ्ग हिलावे वह । ॥४॥

ऐसा उसका रूप इक मुझ पर चुका है बरत ।
तब समझा मैं शक्ति रही, उसी सन्तकी बरत ॥५॥

दूजा रूप मैं लख सका, हूं आप कई बार ।
ज्यों झूले पत्ता हवा, से, त्यूं बारम्बार ॥६॥
यह देह मेरी झूलती, ज्यूं झूले में बाल ।
कृष्ण रहा था झूलता, यशोदा नन्दलाल ॥७॥

इतनी भारी देह है, कैसे सकती झूल ।
अन्दर की ही शक्ति से, जैसे पवन से फूल ॥८॥
समझ नहीं मैं यह सका, कौन झुलावे आत्म ।
मेरी देह को इस तरह, या आप परमात्म ॥९॥

दूजा रूप नारायणी, शक्ति का लखा आप ।
अन्दर की तब खुल गयी, आंख, हुआ निष्पाप ॥१०॥

उसी सन्त की कृपा से, अरु अमरी कन की ।
दशा विचित्र ही हो गई, लख शक्ति उनकी ॥११॥
तीजारूप विचित्र ही, अनुभव हुआ सुसार ।
आनन्द से भर गया, कमरा मेरा सुखसार ॥१२॥

हो गया मेरा शरीर भी, आनन्द ही मय ।
यद्यपि था कुछ स्थूल ही, आनन्द से वह ॥१३॥

उस में ज्ञानतरङ्ग तब, उठतीं लीं पहिचान ।
विज्ञानमय का लिया, हस्ताक्षेप पहिचान ॥१४॥

तभी तुरन्त आनन्द में, फिर मन लगा विकल्प ।
करने, तब हुआ मनोमय, का प्रवेश सङ्कल्प ॥१५॥

इस विध तीनों शरीरका, परस्पर सम्बन्ध ।
तभी ज्ञात सब हो गया, सर्वथा ही निःशङ्क ॥१६॥

ऋतम्भरा आनन्द अरु, निर्विकल्प पहिचान ।
योग में वर्णित समाधि, तभी ली गई जान ॥ १७ ॥

महानारायणी शक्ति का, ही था सब यह खेल ।
इसी देह पर उस समय, बूझा गया देह खेल ॥१८॥

चौथा रूप इक और भी, अनुभव में गया आ ।
जिस से दिखाता आत्मा, स्वप्नमें ही बुलवा ॥१९॥

भक्त कबीर और रैक्व मुनि, दर्शन दिये सुसन्त ।
और भी उत्तम आत्मा, दश दिये मतिमन्त ॥२०॥

छठे पांचवें रूप में, स्वप्न में वर्षा हो ।
नीलाकाश में बदलियां, झम झम चमकत हों ॥२१॥

ज्योतिछटा आनन्द हो, हो शुभ्र प्रकाश ।
महानारायणी शक्ति ही, परमात्मप्रकाश ॥ २२ ॥

(६)

प्रार्थना ।

आनन्दमय आनन्दप्रद, सब शोकदुःखनाशक प्रभो!
आनन्द के भण्डार है,
सुखशान्तिप्रद सत् चित् विभो ! ॥ १ ॥

कर पाप-ताप-क्षमा हमारे,
सर्व सुख हमें दीजिये ।
सब दुःख सब ही दरिद्र अरु,
हम से परे कर दीजिये ॥ २ ॥

हम में क्षमा धीरज नहीं,
नहीं शान्ति इन्द्रियनिग्रह ।
हम कलहतत्पर हो परस्पर,
ठान बैठे विग्रह ॥ ३ ॥

कर दान धैर्य क्षमा हमें, दे हमको शान्तिः हे पिता।
वश में करा इन्द्रिय सकल,
बलवान् कर हम को पिता ॥ ४ ॥

हम वैरभाव को त्याग दें, सन्धिः करें दिलसे सभी।
होवें परस्पर प्रेम में, रंगे गये प्रति क्षण सभी ॥५॥
ऐसी कृपा हम सभी पर, होवे सदा हे दयानिधे ।।
हम सब सने हों स्नेह में, हों रंगराते हे विधे! ॥६॥

(७)

भगवान् ओ३म्कार ।

आदि मध्य अरु अन्त हैं, संसार के ओ३म् ।
जगरक्षक वे रम रहे, त्रिभुवन में स्वयमो३म् ॥१॥

भूः सत्ता हैं सभी की, वह प्रभुवर भुवनेश ।
दुःखनाशक भुवः ओ३म् हैं,
सुखमय स्वः परमेश ॥ २ ॥

वर्तमान संसार इस, में व्यापे भगवान् ।
भूत भविष्यत् जगत् में, विद्यमान् सुमहान् ॥३॥

पूजनीय महः ओ३म् ही, सकल विश्व जनः जनक।
परम तपस्वी ओ३म् तप, नरनारिप्रिय जनक ॥४॥

सत्य एकरस सलिल हैं, नित्य ओ३म् इकसार।
सभी पदार्थ-सम्बद्ध हैं, प्रजापतिः इकतार ॥५॥

व्यापक हैं आकाशवत्, खं ओ३म् निराकार।
सब में रमे आकाश हैं; विद्युत् के चमकार ॥६॥

विविध ज्योति के स्रोत् वह, सूर्य-चन्द्रमारूप।
अग्निः के भी प्रकाश-कर, विद्युज्ज्योतिःरूप ॥७॥

कालरूप भी ओ३म् ही, सर्वगणक भगवान्।
एक नियन्ता प्रजा के, यम ओ३म् सुमहान् ॥८॥

ब्रह्मा विष्णुः शिव स्वयम्, ओ३म्कार प्रभु ईश।
जग-धारक निर्माण-कर, जगहर्ता हरिः ईश ॥९॥

जीवनप्राण सभी के, प्राणप्रिय जग सब के।
दुःखहर्ता दुखियन के, सुखदाता सज्जन के।
विद्यमान् अणु में भी, परमाणू में रमें भी।
आनन्दप्रद सबके, प्रभु रक्षक शिशु के भी ॥१०॥

(८)

परमपुरुष ।

परम पुरुष आनन्दमय, चेतन सत् भगवान्।
रम रहा अणुपरमाणु में, रक्षक प्रभु सुमहान् ॥१॥

सम्बन्ध जुड जाय यदि, मनुज का ईश्वर से।
मेल कभी हो जाय यदि, उस जगदीश्वर से ॥२॥

सुमहान् बन जायगा, निश्चय ही तब मनुज।
महानारायणी शक्ति को, प्रेर सकेगा मनुज ॥३॥

अमर पुरुष श्रीराम ज्यों, पुरुषोत्तम ज्यों कृष्ण।
वेदपुरुष दयानन्द ज्यों, सिद्ध पुरुष ज्यों कपिल।

भक्त पुरुष हनुमान ज्यों, ज्यों अर्जुन महावीर।
सके प्रेर इन सभी को, भक्त नारायण धीर ॥४॥

भक्ति से ही नारायणी, परम पुरुष उस की।
सिद्ध आत्मायें तृप्त सब, सदा हैं हो सकती ॥५॥

देती तब हैं वर स्वयं, तर जाय मनुज तुरन्त।
ज्यों कबीर की दया से, कश्यप कवी सुसन्त ॥६॥

बन गया सिद्ध की दया से, क्षण में कवी सुभक्त।
प्रवर सिद्ध सुकबीरके, दरशन मात्र से भक्त ॥७॥

उसकी इक ही बात से अध्यात्म में जा।
वेद उपनिषद् काव्य शुभ, गीता गया रचा ॥८॥

भक्तप्रवर सुकबीर को, कश्यप को नमस्कार।
अमर पुरुष पुरुषोत्तमों, सिद्धों को नमस्कार ॥९॥

वेदपुरुष को भी नमः, करता कश्यप सन्त।
भक्त-सुवत्सल ईश को, नत होता मतिमन्त ॥१०॥

परम कृपा भगवान् की, यदि उस पर हो जाय।
निज चरणों में ईश-वर, यदि उस को बिठ लाय ॥११

हो कृतज्ञ वह सभी ही, पुरुषोत्तम जन का।
भगवान् को प्राप्त कर, भक्त बने सभी का ॥१२॥

आगे दो उर्दूकी कविताएं लिखी जाती हैं, एक वेदान्तपरक है, दूसरी भगवद्भक्तिपरक आशा। हैं, ऊर्दू जाननेवाले भाई आनन्दित होंगे।

(९)

सोऽहम्।

शहन्शाहे दो आलिम हूं, नहीं सानी कोई मेरा।
फकत हूं आप ही सब कुछ, जहां साराही है मेरा॥१॥

तमन्ना मुझ को हो कैसे, कि खालिक आप ही तो हूं।
सभी अशया बनाईं खुद, त्रिलोका नाथ है मेरा॥२॥

मेरी ही ज्योति से रोशन, हैं सूरज-चन्द्रमा-तारे।
मुजस्सिम ज्योति हूं मैं ही, है कुल अरजो समां मेरा ॥३॥

तमाशाई हमेशा से, तमाशे रच रहा हूं मैं।
तमाशा खुद बनूं कैसे,
तमाशा कुल जहां मेरा ॥४॥

सदा निर्लेप रहता हूं, सदा अव्यक्त ही तो हूं।
गलत मुझ को समझते हैं, जो कहते रूप है मेरा ॥५॥

हमेशा एकरस ही हूं, अखण्डात्मिक सदा रहता।
जो टुकडे करते हैं मेरे,
वह समझें भाव क्या मेरा॥ ६॥

स्वयं परमात्मा हूं मैं, रचूं माया को खुद ही तो।
दिखूं तब जीवसा बनकर,
प्रथम अवतार जो मेरा॥ ७॥

मैं तत होकर असत् पहिले,
बनूं सत रज बनूं पीछे।
तपस्या से हटाऊं तम, नहीं निज रूप वह मेरा ॥८॥

जहां मैं हूं वहां परकाश, रहता है निरन्तर ही।
फकत परकाशमय हूं मैं, यही स्वरूप है मेरा ॥९॥

पतङ्गे ज्योत के मेरी, ही उड़ते हर सूऐ नादां।
जलाता हूं नहीं उनको, अथाह है प्रेम भी मेरा ॥१०॥

मैं अपने ध्यान से ही कर, रहा हूं अग्नि को पैदा।
हूं मैं ही बर्फ का खालिक, स्वभाव मुतजाद है मेरा॥११

जमीं को और जमां को भी,
गुलिस्तां खार गुलको भी।
बना कर खुदही मैं तोडूं, निराला खेल यह मेरा ॥१२॥

(१०)

हक।

जलवए हक रू नमा क्यूंकर न हो तहरीर में।
दिल की जो तासीर क्यों जाहिर न हो तकरीर में ॥१

आशकारा हक हो जिस दिलमें वह क्यूं जाहिर न हो।
आशनाई हकसे हो उलझे न दिल तासीर में ॥ २ ॥

है हवैदा मिहर से नाजो अदा हक की सभी।
फिर खुदाई क्यूं न जाहिर चश्म की तासीर में ॥ ३ ॥

भूलकर अपनी खुदी ले राहें हक की ऐ अजीज ।
फिर खुदा होगा हवैदा हर तेरी तफसीर में ॥ ४ ॥
हक ही हकसे गरज रखूं बातल की तू परवाह न कर ।
खुद खुदा ही समझ लेगा, दिल स्याह तसरवीर में ॥५॥

(११)

भगवान् से भय ।

भगवान् से हरएक को डरना ही चाहिए ।
उसके भयङ्कर रूप से घबराना चाहिए ॥ १ ॥
जलती है आग उसके ही डर से सुन ऐ अजीज !
सूरज भी तप रहा है सबक लेना चाहिए ॥ २ ॥
बिजुली हवा की चालसे जाहिर है उस की चाल ।
उस के ही डर से भागना हम को भी चाहिए ॥ ३ ॥
है कालरूप आप वह खा जाय कुल जहां ।
उस की दया की, आस ही इक रखनी चाहिए ॥ ४ ॥
खुश उस को रख सके, अगर पायगा कुल समर ।
फल फूल खबरू उसीसे पानी चाहिए ॥ ५ ॥
फरजन्द अरजमन्द की गर रखता है तू चाह ।
उस के हुकम को टालना मत तुझ को चाहिए ॥ ६ ॥
रखने को है तय्यार तुम पे मिहर की नजर ।
पर तुम को भी तो प्रेम उस से करना चाहिए ॥७॥
खालिक है दो जहान का मालिक सभी का आप ।
उस के हवाले खुद को कर देना ही चाहिए ॥ ८ ॥
इक बार उस को तू रिझा सकता है गर कश्यप ।
फिर तो समझना उस को सदा अपना चाहिए ॥९॥

(१२)

प्रेममय भगवान् ।

गुनाह मत कर न डर उससे, प्रभू सब का पिता ही है ।
जगत्स्वामी सभी का है, परम कल्याणमय ही है ॥१॥
कमाई नेक कुछ कर ले, भला संसार का कर ले ।
कि मरने बाद भी तुझ को, कहे तू देवता ही है ॥२॥
बदी कर मत किसी से तू, बुरा सोचे किसी का मत ।
कि खिलकत सब हुई पैदा, उसी खालिक से ही तो है ॥ ३
तमन्ना सुखकी रख बेशक, मगर कर पुराय भी हर दम ।
कि नेकी का सुफल मिलता, शकल में सुख की ही तो है ॥४॥

वही प्रीतम प्यारा है, तुम्हारा मेरा अरु सब का ।
हसद का खातिमा कर इस, लिए महबूब वह ही है ॥५॥
लडाई झगडे से परहेज, तू हर वकत् ही कर ले ।
सिवाए जलन के इस में, नहीं, कुछ भी पडा तो है ॥६॥
सरासर ही तुझे नुकसान, इस से हो रहा हर दम ।
खुदा नाराज होता है, कि खुद बन्दा वही तो है ॥७॥
प्रभू को चाहे खुश करना, तू इक झगडा ही तो त्यज दे ।
लडाई छोड दे तो फिर, खुदा अपना तेरा ही है ॥८॥
सभी से खुश हमेशा रह, सभी से तू मुहब्बत रख ।
प्रभू तब ही रहेगा खुश, कि खुद वह प्रेममय ही है ॥९॥

(१३)

देवजन्मवृत्तान्त ।

(ऋग्वेद मण्डल १०, सू० ८२)

स्तुति विशेष से हम कहें, निश्चित देव-सुजन्म ।
मन्त्रप्रशंसित् हो रहे, तब देखे तिन जन्म ॥१॥
ब्रह्मा के युग में प्रभुः, ब्रह्मणस्पतिः आप ।
ज्यों लोहार छोड़े पवन, वेग-सहित्, निष्पाप ॥२॥
त्यों वे कारण तमस में, छोड़ें शक्ति स्वकीय ।
गयु, देवों से पूर्व जो, उसी में दिव्य स्वकीय ॥३॥
देवों से पहिले उसी, युग में हुआ विकास ।
असत् से सत् सुमहान् का, हिरण्यगर्भाऽभास ॥४॥
उस विस्तृत् सुप्राप्य अरु, उत्तम के सभी ओर ।
हुईं दिशाएं प्रकट तब, गिनी गईं सभी ओर ॥५॥
सत्ता उसकी प्रसिद्ध थी, अतः हुआ वही भूः ।
उत्तानपद ही स्वयं, कहलाया सुप्रभूः ॥६॥
अगली पिछली सृष्टियों, में दिशाओं के स्थान ।
भूः हो सकता है प्रकट, आशा इसकी महान् ॥७॥
अतः भुवः आशा कही, गईं दिशाएं सर्व ।
भुः के ही सम्बन्ध से, भविष्य भूः ही सर्व ॥८॥
भूः सत् अरु उत्तानपद, ही हुआ दक्ष प्रसिद्ध ।
आशा असत् दिशाओं का,
तम, अदितिः सुप्रसिद्ध ॥९॥

अदितिः से अतः दक्ष था, जन्म, अदितिः सभी ओर।
ही दक्ष के रही ठिक, प्रभु माया सभी ओर ॥१०॥
हे ब्रह्मणस्पतिः जी, अदितिःसुता तब स्वयं।
दक्ष को जब चुकी जन्म दे,
तब जनी+ देव भी स्वयं ॥११॥
अमर भाई कल्याणमय, हुए दक्ष पश्चात्।
अदितिः से ही देव सब, उत्पन्न शुभ सात ॥१२॥
उसी एकरस तमस् में, कसे कसाये वीर।
हुए सुप्रकट सर्वथा, टिके देव जभी धीर ॥१३॥
वहां लगे तब नाचने, करने शक्ति प्रसार।
तीव्र धूलि तब उड़ पड़ी, जिस से बने संसार ॥१४॥
देवों का जब दिव्य वह, थमा सर्वथा नाच।
धूलिकणों के मेलने, लोक रचे सुखसाज ॥१५॥

अन्धकार अरु धूल से, निकल पड़े त्रयी लोक।
जलसमूह अंधकारमय अरु चमकीला लोक ॥१६॥
अदितिः के सुशरीर से, सभी ओर सुप्रसिद्ध।
आठ पुत्र उत्पन्न यूं, हुए विश्व में सिद्ध ॥१७॥
सात पास रही स्वयं वह, कहलाए वही देव।
मार्ताण्ड शुभ दक्ष तो, फैंक चुकी स्वयमेव ॥१८॥
अदितिः सातों पुत्र ले, पहुंची युग के समीप।
उसी देवयुग प्रथम में, त्रयी लोक सुसमीप ॥१९॥
प्रजा बनाने मारने, यूं रचने संसार।
फैंके हुए निजी दक्ष का, करने पुनः उद्धार ॥२०॥
हो प्रसिद्ध गया विश्व में, दक्ष तभी सुमहान्।
मार्ताण्ड हो सूर्यमय, जग समग्र का प्राण ॥२१॥

भारतभूमि का अविनाशी धन।

श्रीमान् ठाकुर गंगासिंहजी साहेब, रईस नीमखेडा इस्टेट का भाषण।

प्राचीन कालसे भारतभूमि का अविनाशी धन गौ है। न्याय्य विचार से ऋषि, महा ऋषियों ने खूब छानबीन करके इस परोपकारी जीवको गौमाताकी उपाधि दी है और तमाम अंग में सारे कल्याणकारी देवताओं का दर्शन कराते हुए, हमें भवसागर से पार उतारनेवाली नौका इसी को बतलाया है। देखिए इस माता में बोलने की शक्ति नहीं है, तो भी वह सारे संसार का पालन करती है। उसमें बुद्धि नहीं है, फिर भी उसके दूध से हमे ज्ञान प्राप्त है, शक्ति व तेज बढता है। इसमें जात का कोई भेद नहीं है, कारण कि परम पिता परमेश्वरके तुल्य यह भी प्रेम व शक्ति चाहती है, वो राजा, रंक, ऋषि, फकीर, ब्राह्मण, भंगी सबको बिना भेदभाव के एकसा दूध देती है।

संसार के सब देशों में गौमाताके दर्शन होते हैं और उसकी आवश्यकता हर एक को है, परन्तु हमारी जन्म-भूमि भारत-खंड में इसका महत्त्व विशेष है। कारण कि हमारा देश एक कृषिप्रधान देश है, इसी माता के बदौलत आज तक हमारे जीवन की तमाम सामग्रियां प्राप्त होती हैं। गौमाता हमें दूध देती है, जिससे मलाई, दही, मख्खन, घी, छांछ इत्यादि प्राप्त होते हैं। इसके बछडे से हम खेती करते हैं, व इसकी बछियां हजारों जीवों को पालती है।

देखिए एक गाय सुबह शाम का अगर आठ सेर दूध दे, तो उसकी खीर से सुबह शाम के आठ आदमी का भोजन होता है और वह गाय अगर दस महिने दूध दे, तो समझिये कि चौबीस सौ मनुष्यों का पालन हो गया। इस तरह अगर गाय अच्छी है, तो आठ औलाद तक मनुष्य का पोषण कर सकती है याने गुन्नीस हजार दो सो मनुष्यों का पालन एक

+ उत्पन्न करती हुई।

गायने किया और यदि गाय को मारकर खाया जावे, तो एक गाय २५-३० मांसहारियों का पेट-रूपी कोठार एक वक्त के लिए भर सकती है। केवल २५ वर्षों में इन मांसहारियों द्वारा हमारी एक्कीस करोड गायें मारी जा चुकी हैं और अभी नित्य मारी जा रही हैं। हमारे देश में पच्चीस करोड हिन्दुओं के बीच में छे करोड के करीब गाय भैंसें हैं। मांसहारियों को चालीस हजार ४०००० के करीब गायें भक्षणके लिए नित्य चाहिए, उनको देश की और कुछ ध्यान नहीं है।

भारत के बडे बडे नेता हिन्दुस्थान की बेरोजगारी व गरीबी के मसले को हल करने के लिए कोशीश कर रहे हैं। मेरी अल्प बुद्धि से तो गौरक्षा ही एक-मात्र ऐसा उपाय है, कि जिससे हिन्दुस्थान की हर कठिनाई में एक बहुत हद तक मदद पहुंचा सकती है।

भाइयों तथा बहिनों! हम हिन्दू हैं, इस लिए हमें गौरक्षा करना चाहिए, गौरक्षा का मतलब सिर्फ गौ को मारसे बचाने का नहीं है, बल्कि उसका पोषण उचित तरीके से होना चाहिए। आज देश की दशा ऐसी गिर गयी है, कि गौ-सेवा जनता घोसी, अहिरों इत्यादि न्यून वर्गोंका काम समझती हैं, न उनके लिए गौचर है और न नस्ल सुधारका कोई प्रबन्ध है और न उनके बांधने की उचित जगह है। बे समझ जनता गाय जनी के १-२ रोज बाद चारों थनों का दूध निकाल लेते हैं और बच्चों के लिए किंचित् मात्र भी नहीं रहने देते। परिणाम उसका यह होता है, कि बछडा व बछडी दुर्बल हो जाते हैं और जब वे जनते हैं, तो माता से आधा दूध देने लगते हैं और वो दुर्बल रोती हुई गाय का ही दूध हम को प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप भारत की जनता [illegible] आज दुर्बल दिखाई दे रही है।

भारत के मनुष्यों की आयु एव्हरेज से ३५-३[illegible] साल की मानी गई है, इसका कारण गौ के दूध की कमी है। दूध कम होने के कारण गौघी का अभाव है। इस देश में ४० चालीस फी सदी बछडे-बछडी अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

भाईयों जागृत हो जाओ और गौसेवा करो, उस के बच्चों का पालनपोषण उचित रीति से करो, ग्रामों में अच्छे सांड रखो, गौशालाएं बनाओ, स्वच्छ दूध प्राप्त करो, बाल-बच्चों को पिलाओ और स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट सन्तान भारत को दो।

गौमाता के पीछे नित्य आठ आने खर्च करोगे, तो वर्ष में आप को १८० रुपया खर्च होंगे। उस बदले में गौमाता आप के २४०० चौबीससौ मनुष्य का पालन करेगी और एक बछडा देगी, जिससे और भी दूधदही की वृद्धि होगी, उसे बेंच कर मनमाना धन कमाओ और गरीबी को हमेशा के लिए ठोक मारो। मलमूत्र से खाद होगा, जिसे खेतमें डाल कर डेढा दुगना नाज पैदा करो।

भाइयों मैं आपका समय बहुत ले चुका हूं। इस लिए आखरी प्रार्थना करके भाषण मैं समाप्त करता हूं। यदि आप हिंदू हैं, तो आज से प्रण कीजिए कि हम गौ को नित्य भोजन दिए बगैर भोजन नहीं करेंगे, पानी पिलाए बगैर पानी नहीं पियेंगे। तीन थनसे ज्यादा दूध नहीं निकालेंगे। गौमाता को कभी बेचेंगे नहीं। यदि कारणवश पालन नहीं कर सके, तो गौशाला को अर्पण करेंगे, लेकिन प्राण रहते बैल व गाय को नीच कर्म करनेवाले को नहीं बेचेंगे।

दरिद्रता क्या है ?

(लेखक– पं. रामावतार विद्याभास्कर, पो. रतनगढ, जि. बिजनौर, यू. पी.)

धनकी प्यास 'दरिद्रता' है और भोगों की प्यास भी 'दरिद्रता' है। धनकी प्यास में भोगों की प्यास समायी हुई है। अकेले धनकी प्यास किसी को नहीं होती। धनकी प्यास के पास ही भोगों की प्यास का वास है। धन के साथ धन का अभिमान भी रहता है। धन मनुष्य को सदा सत्यदर्शन से दूर रखता है, यही धनाभिमान का स्वरूप है। धनोपार्जन करनेवालों का यह विश्वास है, कि हम धन के भरोसेसे, अपनी रक्षा अपने आप कर रहे हैं। धन न होता, तो हमसे हमारी रक्षा न होती। धनको अपनानेवाले मनुष्य धनके महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकते। वे अपने आपको धनकी तुच्छ शक्ति से ऊपरली शक्ति के हाथोंमें नहीं सौंप सकते। वे अपने धनके घमंडके साथ बंधे रहते हैं। वे अपने को परमात्मा के विश्वपरिवार से, तथा उसकी विश्वपरिचालनव्यवस्थासे पृथक् मानते हैं। उन्हें अपने आप अपनी व्यवस्था करने का घमंड होता है। वे विश्व के जननारायण में 'विश्वनाथ' का दर्शन करने के अवसरों को सदा खोते रह कर, अपनी कितनी बडी हानि कर रहे हैं? यह नहीं समझते। उनकी अहंकारमूढ बुद्धि, उन्हें परमात्मारूपी दयालु दाता, तथा विश्वप्रेमी नारायण से सदा पृथक् रखती है। किसी भी विश्वप्रेमी का प्रेम, किसी भी दयालु भगवान् की दया, और किसी भी दयालु दाताका दान, उनके धनाभिमान नाम के पहरेदारसे भगाया जा कर उनके पास आने का साहस नहीं करता। जो नारायण, मनुष्यमात्रमें दया, प्रेम तथा दानवृत्तिके रूपमें निरन्तर बस रहे हैं, मनुष्यों का हृदय ही उनके बसने का स्थान है। परन्तु ऐसे उदार हृदय धनाभिमानियों के पास नहीं होते।

जो धनाभिमान को त्याग देते हैं (अर्थात् धन से पूर्ण असहयोग करके अपने आपको संपूर्ण रूपसे भगवान् के हाथोंमें सौंप देते हैं) वे विश्वमानवके घटघटमें दाता, दयालु तथा प्रेमी नारायण का दर्शन पाते हैं। धनाभिमान विश्वमानवमें ऐसे नारायण का दर्शन करने की रुकावट बन जाता है। जिस समय मनुष्य अपने समझे जानेवाले सब पार्थिव धनजन आदिको अस्वीकार करने की शुद्ध बुद्धि प्राप्त करता है, तब उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। तब उसे इस सत्यका साक्षात्कार होता है, कि "ओह, मैंने अपने को जिस परमात्माके हाथमें सौंपा है, उसीने मुझपर कृपा करके, मेरे सब तुच्छ धनजन के अभिमान को छीनकर, उसके बदले में मेरे हाथों में अपने आपको सौंप दिया है, और अब वह सदा के लिये 'मेरा' हो गया है।"

साधारणरूप से यह मान लिया गया है, कि रुपया पैसा न रहना 'दरिद्रता' है। धन बटोरनेवालों के मनमें यही समाया हुआ है, कि " हम धन के भरोसे से जीवन धारण कर सकेंगे। हमें धनके अतिरिक्त जीवन धारण करने का दूसरा कोई उपाय नहीं दीखता। इसलिये हमें अवश्य धनका उपार्जन करना चाहिये और अपने को 'निर्धनता' या 'दरिद्रता' से बचाना चाहिये "। साधारण दृष्टिसे देखने पर यह सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि जीवनधारण करनेके पदार्थ धनके बदलेमें मिलते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। जिन पदार्थों के विना जीवन धारण करना असंभव है वे धनशक्ति उन्हें पाने का एकमात्र उपाय नहीं है। किन्तु जीवन के आवश्यक पदार्थ मनुष्यमें रहनेवाली कर्मशक्तिसे

प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्यों में रहनेवाली कर्मशक्ति ही मनुष्यका सर्वसमर्थ 'ईश्वर' है। यह ईश्वरही सबका निर्वाह कराता है। तुम धनधान्यसे हीन होकर चाहे जहां चले जाओ यह तुम्हारी कर्मशक्तिरूपी 'ईश्वर' वहीं तुम्हारे साथ जायगा और वही तुम्हारी जीवनयात्रा करायेगा। परन्तु इस मायामोहित मनुष्यप्राणीने इस अपने 'ईश्वर' की अवहेलना करके अपने निर्वाह तथा अपने (कर्मशक्तिरूपी निर्वाहक) ईश्वरके बीचमें, 'धन' नाम की एक काल्पनिक वस्तु बनाकर खडी कर ली है। पहले तो इसने 'धन' को महत्त्व दिया और फिर उससे प्रभावित होकर, उसीके उपार्जन में चिन्तित होकर दुःखी रहने लगा। मनुष्य अपनीही कल्पनासे दुःखी रहने लगा। मनुष्यने अपनीही कल्पनासे दुःखी रहनेकी यह बडी दयनीय अवस्था बना ली।

यह मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान स्वाभाविक रूपमें जीवनयात्रा करना नहीं चाहता। यह अपनी शक्ति का भौतिक मध्यस्थ बनाना चाहता है। यह पहले तो अपनी शक्तिसे 'धन' बनाना चाहता है, और फिर उससे भोग की सुविधा पाना चाहता है। जब इसकी कर्मशक्ति 'धन' नाम का पार्थिव बाना पहन लेती है, तब उसपर मरदे शीरपर गृध्रोंके समान सब धनलोभियों की दृष्टि पडती है। धनशक्ति झगडेका कारण बन जाती है। धनशक्ति समाज को अशान्त बनाती है। मनुष्य की कर्मशक्ति को पार्थिव रूप मिलते ही शत्रुता आदि के अवांछनीय अवसर मनुष्य के शिरपर आकर खडे हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें, पहले धन प्राप्त करना और फिर उससे अपने जीवन का निर्वाह करना, यह कितनी बडी बेसमझी की बात है? इस परिवर्तनमें मनुष्य की कर्मशक्ति की कितनी बडी मात्रा व्यर्थ नष्ट हो जाती है, इस को ध्यानमें लानेसे भी चित्त दुःखी होता है।

मनुष्य को सोचना चाहिये, कि हम बीचमें धनशक्ति को क्यों खडा करें? हम अपने भीतर रहनेवाली धनशक्ति की माता कर्मशक्ति से ही अपने जीवन का साक्षात् निर्वाह क्यों न करें? मनुष्येतर सब प्राणी अपनी कर्मशक्तिसे अपनी जीवनयात्रा करते हैं। मनुष्यों में भी ग्रामवासी कृषक आदि कर्मशक्तिजीवी मनुष्य अपनी कर्मशक्तिसे अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। कुछ थोडेसे मनुष्य ऐसे हैं, जो अपनी शक्तिसे पहले धनोपार्जन करते हैं और फिर उससे जीवन बिताते हैं। उनकी धनशक्ति उनकी कर्मशक्ति का ही रूपान्तर है। परन्तु वह कर्मशक्ति का ऐसा भौतिक रूपान्तर है, कि उसके साथ साथ झगडे विपत्ति, चिन्ता और दुराशा लगी हुई हैं। यह कर्मशक्ति का हानिकारक रूपान्तर है। कोई भी मनुष्य धनी लोगोंके ऊंचे महल देखकर उन्हें सुखी समझने की भूल न करे। थोडेसे धनी मनुष्योंके भ्रमपूर्ण उदाहरणोंसे कोई भी मनुष्य धोकेमें न आये। क्या मनुष्य इन थोडेसे उदाहरणोंसे धनकी उधारी शक्तिसे सच्ची कर्मशक्ति को अपमानित होने देगा? कर्मशक्तिका मानवी जीवनमें जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह स्थान यदि इन धनी लोगों की मायावी सफलताको देखकर, धनशक्ति को दे दिया जायगा, तो जीवनके बुरेसे बुरे दिन प्रारंभ हो जायंगे। तब जीवन अशान्तिका केन्द्र बन जायगा। तब जीवनमें कमाने, खाने और झगडने के अतिरिक्त दूसरा कोई काम न रहेगा।

धनशक्ति ने संसारमें जितने अनर्थ किये हैं, यदि मनुष्यजातिने उन सब को न भुलाया होता, तो धनशक्तिसे यह महत्त्व कभी का छिन गया होता। संसारमें जितने दुर्गुण पाये जाते हैं, वे सब आत्मशक्ति पर विश्वास न रखकर धनपर विश्वास रखनेवालों के घरोंमें निवास करते हैं। धनशक्तिसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थों को तब ही हटाया जा सकता है, जब उसे महत्त्वपूर्ण मानना छोड दिया जाय और कर्मशक्ति को ही महत्त्वपूर्ण माना जाय। जिस दिन मनुष्यजाति कर्मशक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान उसे लौटागी, उस दिन संसारसे 'दरिद्रता' का प्रश्न लुप्त हो जायगा।

मनुष्य सुख पाने के लिये धन या भोग

पदार्थोंका उपार्जन करता है। परन्तु मनुष्यको जिस सुख की आवश्यकता है, वह सुख इन धन आदि पदार्थोंमें नहीं रहता। वह सदा शान्त मनमें बसता है। सुखेच्छु पुरुष को सदा शान्त मनकी कामना करनी चाहिये न कि मनको अशान्त बनानेवाले पदार्थों की। सुख के लिये धन चाहना, प्यास बुझाने के लिये अग्नि चाहना है। यह व्यर्थ तथा हानिकर परिश्रम है। इस परिश्रम की मात्रा जितनी बढेगी, दुःख अर्थात् निर्धनता भी उतनी ही मात्रा में बढती चली जायगी।

धन के विना जीवन धारण करना असंभव माननेवालों को विचारना चाहिये, कि क्या मनुष्य धन हाथमें रहनेसे निश्चिन्त रूपसे जीवनयात्रा कर सकता है ? क्या धनसे जीवन धारण करने के मार्ग की सब बाधा डर कर भाग जाती है ? क्या धन उन सबको भगाकर मनुष्यको निर्विघ्न बना देता है ? इस समस्याको सुलझाने के लिये सबसे प्रथम यह देखना चाहिये, कि जीवन धारण करना किसे कहते हैं ? सब जानते हैं कि देह किसी का भी चिरस्थायी नहीं है। धनी निर्धन सबके देहों का विनाश अवश्यंभावी है। प्राणशक्ति शरीरोंमें कुछ दिनों के लिये आती है, सदा के लिये नहीं। न तो धन से इस प्राणशक्ति का काल बढाया जा सकता है और न धनसे इस प्राण-शक्ति की समाप्ति रोकी जा सकती है। उसे जितने दिन इस शरीरमें रहना है, वह उतने दिन रहती है और फिर चली जाती है। जिसकी मुट्ठी में धन है, वह यदि चाहे तो इस प्राणशक्ति को, इसके नियत समयसे अधिक समय तक रोक रखने के प्रयत्नमें, कुछ धन व्यय कर सकता है।

जिसके हाथमें धन नहीं है, उसके पास व्यय करने को भी कुछ नहीं है। मनुष्य अपनी प्राण-शक्ति के काल को बढाने और उस पर आयी हुई आपत्ति को हटाने में कुछ धन व्यय कर सकता है। इससे आगे पैर रखते ही मनुष्य देखेगा कि वह अधिकारहीन है। इसलिये मनुष्यों के सामने मुख्य प्रश्न यह है, कि जबतक शरीर जीवित है, तबतक मनुष्य को किस प्रकार जीवित रहना चाहिये ? और मनुष्य के जीवन में धन का क्या स्थान होना चाहिये ? इन प्रश्नों का सच्चा उत्तर ही जीवनधारण की योग्यतम विधि और स्वरूप है।

केवल लुहार की धौकनी के समान श्वास लेते रहना 'जीवन' नहीं है। भोग करने योग्य पदार्थों को रुपयेपैसे से प्राप्त करके, जबतक यह देह ईश्वरीय प्रबन्धसे जीवित रहे, तबतक श्वास लेते रहने और भोजनादि करते रहने से बढकर धन-सम्पत्ति का कोई उपयोग नहीं बनाया जा सकता। परन्तु जीवित रहने का अभिप्राय केवल श्वास लेते रहनेसे पूरा नहीं होता। वह शान्तिपूर्वक जीवन बितानेसे पूरा होता है। सच्चा धन हम उसी को कहेंगे, जिसमें इस उद्देश्य को पूरा करने की शक्ति होगी। मनुष्य अपने को अशान्ति के आक्रमणसे बचाने के लिये जिस शक्तिपर भरोसा कर सकता है, वही 'सच्चा धन' है। उस धनसे धनवान् न होना 'निर्धनता' 'दरिद्रता' या 'गरीबी' है।

ज्ञान प्राप्त करना जीवन धारण करने का उद्देश्य है। मनुष्य के मनमें अपने सम्पर्क और उपयोग में आनेवाले पदार्थों के विषयमें किसी प्रकार के विचार या मिथ्या ज्ञान न हों, वह उन सबके स्वरूपको पहचाने, उसके उपयोग में आनेवाला कोई पदार्थ उसे अपने मोहजाल में न फांस सके, इस 'ज्ञान' को प्राप्त करनेमेंही मनुष्य की कर्मशक्ति व्यय होनी चाहिये। ऐसे ज्ञान को प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य जानना चाहिये। यदि कोई अभागा मनुष्य अपनी कर्मशक्ति को ऐसे पवित्र कल्याणकारी काममें न लगाकर जीवन धारण करने की वस्तुओं को पाना जीवन-धारण का उद्देश्य बना लेगा और अपनी कर्मशक्ति को उन्हींकी प्राप्ति में लगा देगा, तो उसके जीवनधारण का अभिप्राय भोजनादि करते रहना

मात्र रह जायगा । जब मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कर्मशक्तिको ज्ञान प्राप्त करने में लगा देगा, तब ज्ञानप्राप्ति में लगाई हुई उसकी कर्मशक्ति साथही साथ इस उद्देश्यके लिए जीवनधारणा की आवश्यकता के समयतक उसके शरीर को भी जीवित रखेगी।

उद्देश्यों में अपने साधनों को ठीक रखने की शक्ति होती है । जो मनुष्य अपने जीवनके उद्देश्य को और उसे पानेकी शक्तिको भूल जाता है, वह लोगों के कुदृष्टान्तों से प्रभावित होकर अपने कर्मशक्ति को धन आदि भोग्य पदार्थों के पीछे दौडाता है । वह मन में सदा यही सोचता है कि मैं धनके विना कभी जीवित नहीं रह सकूंगा । यद्यपि संसार में करोडों मनुष्य धनके बिना जीवित रहते पाये जाते हैं, परन्तु वह इन दृष्टान्तों की ओर देखना नहीं चाहता। वह यह नहीं सोचता, कि जीवनधारण के मुख्य उद्देश्य 'ज्ञान' को प्राप्त किए बिना, जीवनधारण किए रहने पर भी, ऐसे ज्ञानहीन निकम्मे जीवन का क्या उपयोग है? धन के मोह में फंसा हुआ मनुष्य अपनी कर्मशक्ति की महत्ता को सर्वथा भूल जाता है और धनको एक स्वतन्त्र शक्ति समझकर, उसी के भरोसे रहकर, अपनी कर्मशक्ति का, धन कमाने से अधिक सदुपयोग होने की कल्पना या विश्वास तक नहीं कर सकता । परिणाम यह होता है, कि जो धन सचमुच कोई शक्ति नहीं है, उसीकी व्यर्थता में अपने जीवनको व्यर्थ मान बैठता है । अर्थात् जब वह अपने जीवन में धन के द्वारा सफलता नामवाली स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता, तब अपने जीवनको व्यर्थ समझ लेता है ।

धन कमाना जीवन का लक्ष्य (अर्थात् मुख्य काम) बनाने की मनोवृत्तिवाले लोग अपने सन्तोष को व्यय करके, या उसे खोकर, पहले तो धन कमाते हैं, और फिर चाहते हैं, कि इस धनको इच्छानुसार व्यय करके 'सन्तोष' या 'आत्मतृप्ति' कमायें । धन कमाने को जीवन का मुख्य काम बनाने का अभिप्राय, अपनी सच्ची आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली 'आत्मशक्ति' या अपने 'ईश्वर' को भूल जाना है । अज्ञानी मनुष्य अपने सर्वसमर्थ ईश्वरपर अविश्वास करके, उसका स्थान धनको दे देते हैं, और उसीसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं। जिस मनुष्य का ईश्वरपर अविश्वास, धनपर विश्वास का रूप धारण कर लेता है, उसका धन 'धन' नहीं रहता । वह ईश्वरविरोधी, (ईश्वर को भुलानेवाली अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता न छोडनेवाली) वस्तु बन जाता है । उस ईश्वरविरोधी धन का स्वरूप यह होता है, कि जब ईश्वर शान्तिस्वरूप है, तो वह धन अशान्ति का आधार है। ईश्वर को धक्का देकर लाये हुए धन में अशान्ति उत्पन्न करनेवाला गुण वर्तमान रहेगा । जब कि ईश्वर में अमर बनाने की शक्ति है, तो धन में मृत्यु को बुलानेवाले सब भाव हैं । प्रत्यक्ष देखते हैं, कि धन अशान्ति उत्पन्न करता है और मौतसे मिलाता है । सन्तोष नाम का सच्चा धन इस पार्थिव 'धन' के पास कभी नहीं रहता। अज्ञानी संसार जिस मनोवृत्ति से धन का उपयोग करता है, उसमें सन्तोष के लिये कोई आग्रह नहीं है । प्रत्युत बन्धन में पडने की ओर आग्रह है। ऐसी मनोवृत्तिवाले मनुष्य सदा बन्धनजाल में फंसे रहते हैं । धन में बन्धन से छुडाने की शक्ति नहीं है । वह मनुष्य को सुखदुःख के बन्धन-जाल में फंसानेवाला प्रलोभन है । इसलिये जीवन के लक्ष्य तथा कार्यक्रमसे धन का आग्रहपूर्वक बहिष्कार होना चाहिये । धन के त्याग दिये जाने पर मनमें जो स्थान रिक्त हो, उसमें सन्तोष को भर देना चाहिये ।

धन मनुष्य की कर्मशक्ति का ऐसा अयोग्य प्रतिनिधि, ऐसा झूठा रूपान्तर और ऐसा वंचक मध्यस्थ है, जो उसकी कर्मशक्ति को सच्चे कर्म में नहीं लगने देता और मनुष्य को निकम्मा बनाता है। जैसे बिच्छू के बच्चे उसीकी कमर पर चढ बैठते हैं और उसी को चोंट चोंट कर खा खाकर उसे मार डालते हैं, इसी प्रकार यह 'धन' अपनी माता कर्मशक्ति को निकम्मा बना कर अन्तमें उसे मार

डालता है। परिणाम में मनुष्य 'आलसी' और 'पराधीन' हो जाता है। यह मनुष्य में सब प्रकार के दुर्गुण उत्पन्न करता है और उसे अन्ततक धोके में रखता है। इस धोके की अवस्था से बच कर रहना मनुष्य की योग्यता का सच्चा अभिप्राय है। इसका केवल यही उपाय है, कि पहलेसे ही अपने दृष्टिकोण को धन के मोह से हटाकर रखो और निम्न रीतिसे अपनी कर्मशक्ति पर दृढ विश्वास जमाओ, कि हम धन जोड कर क्या करेंगे ? हमें जब जो सच्ची आवश्यकता होगी, उसे हमारी कर्मशक्ति ही पूरा करेगी। हमारी सच्ची आवश्यकता पूरी करनेवाली हमारे सत्य की अनन्त शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है। वह जहां जिस वस्तु की सच्ची आवश्यकता होती है, वहीं उसे उपस्थित करती है। हम सत्य की इस अनन्त शक्ति को छोड कर, धन की परिमित शक्ति पर क्यों भरोसा करें ? और अपने आपको धन के कठोर बन्धन में क्यों बांधें ?

वास्तविक स्थिति तो यही है, कि मनुष्य की कर्मशक्ति से ही उसके जीवन का निर्वाह होता है। उसे केवल मनोरथ के महलों के लिये धन की आवश्यकता पडती है। मनोरथ के महल न मिलने पर भी मनुष्य का जीवन अधूरा नहीं रहता। प्रत्युत जीवन अधिक शान्ति से बीतता है।

धनशक्ति की व्यर्थता दिखाने का यह अभिप्राय नहीं है, कि धन को मत छुओ, उसे हाथ मत लगाओ या धनोत्पादक कामों को रोक दो। किन्तु उसका यही अभिप्राय है, धनको अपने जीवन का लक्ष्य मत बनाओ। धनको अपने जीवन के लक्ष्य अर्थात् ईश्वर को धक्का देकर अपने पास मत आने दो। धनके साथ वहां तक सम्बन्ध रखो, जहां तक वह तुम्हारे लक्ष्यका विरोधी न हो। अर्थात् तुम मनोरथों को तिलांजलि देकर, सत्यपर प्रतिष्ठित रहते हुए, मनका पतन न करते हुए, शरीर को क्लेश न पहुंचाते हुए, केवल शरीर की जीवनयात्रा के लिए अपनी कर्मशक्ति धनोत्पत्ति में लगा सकते हो।

*

जब हमारे अन्दर रहनेवाली विराट् कर्मशक्ति कर्तव्यपालन के रूपमें परिणत होकर धनोत्पादन का रूप धारण करेगी, वह धन हमारी निजी संपत्ति नहीं होगा। किन्तु वह सम्पूर्ण मनुष्यसमाज के मनुष्यता-रूपी 'प्रभु' की सेवा का साधन होगा। ऐसा धन हमें 'दरिद्र' न बनाकर सच्चा 'श्रीमान्' बना सकेगा। हम ऐसे धनसे सम्बन्ध रखते हुए भी अपने को दरिद्र नहीं समझ सकेंगे। ऐसा धन धनतृष्णासे उत्पन्न नहीं किया जायगा। किन्तु उसे कर्तव्यपालनरूपी कल्याणमयी बुद्धि उत्पन्न करेगी।

मनुष्यको धन से सम्बन्ध रखने की एक सीमा नियत कर लेनी होगी। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करेगा, तो धन की प्यास उत्पन्न हो जायगी और मनुष्यको कभी शान्तिसे नहीं बैठने देगी। धन की प्यास कभी किसी की नहीं बुझती, यही धनमें अधूरापन है। क्या मनुष्य धन के इस अधूरेपन में अपने जीवन को अधूरा बनाना चाहेगा ? इसलिए, मनुष्य को धन के सम्बन्ध के औचित्य की एक कसौटी बना लेनी पडेगी और उसीके अनुसार इस सम्बन्ध में अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना होगा। अपने को धनके बन्धन में न फंसा कर बन्धनमुक्त रखने में ही धनका उपयोग करना होगा। अर्थात् धन के साथ सम्बन्ध रखने या छोडने की दोनों अवस्थाओं में अपनी कर्मशक्ति को आत्मकल्याण करनेवाले कार्यों में व्यय करना पडेगा।

धन से भोग के रूप रस आदि साधन सुलभ हो जाते हैं। परन्तु मनुष्य को जानना चाहिये कि इस प्रकार की भोगेच्छाओं से उसका मन पतित होता है। ये इच्छा 'स्वार्थ' कहाती हैं। यदि मनुष्य इन स्वार्थों को पूरा करने लगेगा, तो दुःखदायी मिथ्या बन्धनों में फंसता चला जायगा। केवल धनसंचय करते रहनाही स्वार्थ के फंदे में फंसे हुए मनुष्यों का काम होता है। स्वार्थी मनुष्यों को आत्मशक्ति परसे भरोसा उठ जाता है और धनशक्ति पर भरोसा जम जाता है। इससे उनका स्वार्थ का बन्धन

अर्थात् (दुःखों का बन्धन) सदाके लिये दृढसे दृढतर और दृढतरसे दृढतम होता चला जाता है। जिसके पास जितना अधिक धन संचित हो जाता है, उसके पाससे दुःखोंके बन्धनों के न हटने की संभावना भी उतनी ही शीघ्रता से बढती चली जाती है। उस में दुर्गुणों के समस्त समूह आकर बस जाते हैं। उसके सिरपर दुर्गुणों के आसपास घूमनेवाली विपत्तियां, मुरदे शरीरोंपर गृध्रों के समान सदा चक्कर काटती रहती है। अथाह संपत्ति का स्वामी हो जानेपर भी मनुष्य, अपने को शान्तिके मार्ग में निर्विघ्न समझने और विपत्तिहीन पाने के बदले, आशान्ति के कठिन बन्धनों में जकडा हुआ पाता है।

यदि मनुष्य धनपर भरोसा करेगा, तो मनुष्य को जिस धनसे श्रेष्ठ शक्तिपर भरोसा करना आवश्यक है, उसकी अवहेलना करनी पडेगी। इसके विपरीत यदि मनुष्य वास्तविक शक्तिपर भरोसा करेगा, तो उसे धनपर भरोसा करनेकी आवश्यकता न रहेगी। वह सच्ची शक्ति मनुष्य के भीतर अनन्तमात्रा में भरी पडी है। अपने को पूर्ण भ्रान्तिरहित और आनन्दमयी स्थितिमें रखनेवाली अनन्तशक्ति का झरना मनुष्य के भीतर लहर मार रहा है और मनुष्यके ध्यानकी प्रतीक्षा कर रहा है। आवश्यकता केवल एकबार अन्तर्मुख होकर उसे देख लेने की है। उसका दर्शन पाते ही विषयलोलुपतारूपी "निर्धनता" को मिटने में एक क्षण की भी देर न लगेगी। यह शक्ति ईश्वर की शक्ति कहाती है। इसी शक्ति के स्वामी ईश्वर चराचर जगत् में व्याप्त है। इस शक्ति से दूसरा कोई ईश्वर नहीं है।

जो अभागा इस आत्मशक्तिरूपी 'ईश्वर' को नहीं समझता, वह अपने को सब समय शुभ कार्य के लिये (शान्ति के मार्गपर चलने के लिये) असमर्थ पाता है (शक्तिहीन समझता है)। अपने को शुभ कार्य करने में असमर्थ पाना 'ईश्वरीय सत्ता का निषेध करना' है। यह 'नास्तिकता' है। केवल जिह्वा से ईश्वरीय सत्ता का निषेध न किये जानेपर भी, अपने में ऐसी निर्बलता रखना 'ईश्वरीय सत्ताको अस्वीकार कर देना' है। मनुष्य की सच्ची आवश्यकता अवश्य पूरी होती है। वह धन न होनेसे नहीं हो सकती; इस प्रकारका जीवित-विश्वास न होना, 'ईश्वरीय सत्ता को अस्वीकार करना' है। यही 'नास्तिकता' का स्वरूप है। इस प्रकारकी 'नास्तिकता' ही 'सच्ची निर्धनता' है। अपनी आत्मशक्ति का पता न होना 'सच्ची निर्धनता' है। अनात्मशक्तिपर भरोसा होना 'सच्ची निर्धनता' है। संसारकी कुछ वस्तुओं का मालिक बननेकी इच्छा 'निर्धनता' का स्वरूप है।

जिसने अपने को भोगरूपी बन्धनों में बंधे रहने का अधिकारी समझा है, उसके लिए यही ठीक है कि वह अपने को कल्याण का अनधिकारी, दुर्बल तथा तुच्छ प्राणी माने। सब समय रूपरसादि भोगों की इच्छाओं से उत्पन्न होनेवाले दुःखों के बन्धन-जाल में जकडा पडा रहे और बन्धन से मुक्त न होने को ही निर्विघ्नपना समझकर इस कल्पना की निर्विघ्नता को बनाए रखनेवाली धन नामकी शक्तिपर भरोसा किया करे। आत्मशक्तिपर भरोसा न करके धनशक्तिका भरोसा करनेवाले ऐसे लोग ही अपने को पतित दुःखियां और अशक्त समझते हैं। वे अपने मनमें इस विचारको कभी नहीं आने देते, कि हमारे जीवनका लक्ष्य धनसे श्रेष्ठ (ऊंचा) है और इसमें उसे पाने की शक्ति भी है। ऐसे मनुष्यों के पास कर्तव्यबुद्धि नहीं होती, किन्तु भोग-बुद्धि होती है। ऐसों की प्रवृत्ति शुभ कार्यों की ओर कभी नहीं होती। शुभ कार्य न करना, अशुभ कार्य करने के बराबर है। विचार की कमी से मनुष्य अशुभ कार्यों में लगता (या शुभ कार्यों से बचा रहता) है।

ऐसे लोग विचार किए विना भोगमार्गी संसार की देखा देखी, भोगवासना को पूरा करने के लिए धनोपार्जन को अपना ध्येय बना लेते हैं। उनकी उपार्जन-वृत्ति में सत्यासत्य उपायका विचार नहीं रहता। किसी प्रकार धन आना चाहिए, यही इनके उपार्जन

की नीति होती है। वे उपार्जन के उचित-अनुचित ढंगोंपर विचार नहीं करते। वे सत्य को अपनाने में असमर्थ रह जाते हैं। वे सत्यको ग्रहण करने में अपनी भौतिक हानि देखकर, उसमें पैर रखने का साहस नहीं करते। वे 'सत्य' को सत्य के प्रतिष्ठित रूपमें नहीं देखते। उन्हें 'सत्य' भौतिक हानि करनेवाले हानिकारक रूप में दीखता है। उन्हें सत्य उनकी लालचकी रुकावट के रूप में दीखता है। इसलिये वे 'सत्य' को दूरसे प्रणाम कर लेते हैं। वे सत्यहीन हो जाना तो सह लेते हैं, परन्तु उनसे भौतिक हानि नहीं सही जाती। यों सत्यहीन जीवन बिताना, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है।

'सत्य' ही मनुष्यजीवन में पाने योग्य एकमात्र सम्पत्ति है। उस 'सत्य' रूपी सम्पत्तिसे वंचित रहना सच्ची 'निर्धनता' है। जो इस सत्यरूपी संपत्ति से विहीन होते हैं, वेही धन, मान तथा भोग्य पदार्थों को इकठ्ठा करने के लिये पागल बनते हैं। वे इन्हें पाकर कभी क्षणिक सुख और कभी क्षणिक दुःखके भागी बनते रहते हैं। कभी सुखी और कभी दुःखी होना, इस बात का प्रमाण है, कि इस मनुष्य को सच्चे सुख का पता नहीं चला। सच्चे सुख का पता न होना 'दरिद्रता' या 'गरीबी' है। यह 'दरिद्रता' सब दुःखों का मूल है। जो इस 'दरिद्रता' का दास होकर, रूपरसादि भोगने की इच्छा से धनोपार्जन करेगा, और उसी धनको जीवन का भरोसा मान लेगा, उसकी न तो कभी धनतृष्णा मिटेगी और न कभी उसकी सुखकी इच्छा तृप्त होगी। तृष्णा ही 'दरिद्रता' है। यह कभी भोगी का साथ नहीं छोडती। चाहे जितना धन आजाने पर भी और चाहे जितने भोग्य पदार्थ मिल जाने पर भी, उनसे तृष्णा का ह्रास नहीं होता। ये सब अग्नि को घी के समान, तृष्णा को उत्तरोत्तर बढाते रहते हैं। यह तृष्णा आत्मसन्तोष को चूस डालती है। इसपर विजय पाने की शक्ति मनुष्यमात्रमें है। वह शक्ति ऐश्वरी शक्ति कहाती है। अपने को सम्पूर्ण ज्ञानी तथा आनन्दस्वरूप मानते रहना ही ऐश्वरी शक्ति का स्वरूप है। मनुष्यको दरिद्रतारोगसे मुक्त रहने के लिए इस ऐश्वरी शक्ति का दर्शन करना पडेगा, आत्मतृप्त रहना सीखना होगा, आत्मसुखको साधनाधीन मानना छोड देना पडेगा और इस प्रकार अपनी दरिद्रता की जड काट देनी पडेगी।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि यदि उसका जीवन एक सच्ची घटना है, तो उसके निर्वाह के साधन, पंखोंपर आ बैठनेवाले कबूतरों के समान, जहां यह शरीर रहेगा, वहीं इसकी सहायताके लिए, अवश्यमेव भी आकर इकठ्ठे होते रहेंगे और उसकी जीवनयात्रा कराते रहेंगी। यदि मनुष्य के जीवन की घटना सच्ची घटना है, तो साधनों का इकठ्ठा होना भी सच्ची घटना होकर रहेगी। इस नियम को जाननेवाला मनुष्य, इन दोनों घटनाओं का साक्षी होकर स्वस्थता का आनंद चखेगा। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य अपने अन्तर में इस ऐश्वरी शक्ति का दर्शन करे।

जो अपने को इस ऐश्वरी शक्तिसे शक्तिमान् नहीं समझता, वही नास्तिक है, वह रिपुओं का दास है, वह परतन्त्र है, वह निर्धन है और वही दरिद्र है। जिसे धन की भूक है, जो धन न होने से दुःखी है, जिसे धनाभाव अखरता है, जो आवश्यकता का दास है, जो विश्वकी पदार्थमाला में से किन्हीं नश्वर पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है, जो अपने को अपनी इच्छा पूरी करने में सदा असमर्थ पाता है, वही 'दरिद्र' है। 'दरिद्रता' पेडों के नीचे, फूंसके झोपडों में और खाली घरों में नहीं रहती। वह धनलोभियों के मन में रहती है। जो वर्तमान धन से अतृप्त है, वही 'दरिद्र' है। अतृप्ति ही 'दरिद्रता' है।

गुरुकुल में आवश्यक सुधार।

(लेखक— श्री स्वामी अभयदेवजी)

(गुरुकुल कांगडी में जिस आवश्यक सुधार की तरफ मैं गत तीन वर्षों से अधिकारियों का ध्यान खींचता रहा हूं, उसकी चर्चा मैं इस लेख द्वारा श्री मुख्याधिष्ठाताजी गुरुकुल कांगडी की अनुमति पाकर कर देना चाहता हूँ। इसके लिए मैं गुरुकुलोत्सव पर (१६-४-३८) को हुई विद्यासभा की बैठक में तथा उसके बाद हुई (२०-४-३८) गुरुकुलीय उपाध्याय महोदयों की समिति (विश्वविद्यालय-समिति) में मैंने जो कुछ विचार प्रकट किये थे, लगभग उन्हें ही लेखबद्ध कर रहा हूं। -'अभय')

गुरुकुल की उन्नति और रक्षा के लिए इस समय सबसे अधिक आवश्यक बात यह है, कि हम सब से अधिक ध्यान इस बात पर दें, कि गुरुकुलके गुरु [उपाध्याय व अध्यापकवर्ग] बहुत ऊंचे दर्जे के हों। इसके विना अब गुरुकुल आगे अपनी स्वस्थ उन्नति नहीं कर सकता। यदि ऐसे गुरु मिलना सचमुच सम्भव न हो तो गुरुकुलको बन्द कर देना उचित है, 'गुरुकुल' नाम लेना छोडना चाहिये। पर यह तो पूरी तरह से सम्भव है।

अभी तक गुरुकुल की कुछ गौण विशेषताएं ही ऐसी थीं, जो जमाने के लिए नई थीं, जैसे गुरुकुल की राष्ट्रीयता, इसमें हिन्दी भाषा माध्यम से शिक्षा, कुछ धार्मिक शिक्षा आदि – अतएव इन गौण कारणों से भी गुरुकुल जनता का प्यारा था और वस्तुत: उनकी कुछ जरूरतों का पूरा करनेवाला था। पर अब शीघ्र जमाना आ रहा है, बल्कि बहुत कुछ आ चुका है, कि गुरुकुल की ये विशेषतायें कोई विशेषतायें नहीं रही हैं। ये बातें अन्य संस्थाओं ने भी अपना ली है। और कांग्रेसी सरकारें तो शिक्षा को राष्ट्रीय बनाने में इतना बडा कदम उठा रही हैं, कि हममें इस दिशामें कुछ भी विशेषता नहीं रहेगी। बल्कि हम पिछड जाएंगे। इसलिए अब गुरुकुल तभी कायम रह सकता है, यदि वह अपने असली निजी रंग में चमके। गुरुकुल अपनी गौण नहीं मुख्य असली विशेषताओं के आधार पर खडा हो और यह तभी सम्भव है जब कि गुरुकुल के गुरु गुरुकुलीय आदर्शों (ब्रह्मचर्य, वैदिक संस्कृति, कुल भावना आदि) में इतने उन्नत हों कि गुरुकुलीय शिष्यों पर अपने जीवन का प्रबल प्रभाव डाल सकें।

अन्यथा यह तो हो सकता है, कि गुरुकुल भी अन्य बहुत से आखाडों व मठों की तरह चलता रहे; पर वह उसका जीवन जीवन नहीं होगा, वह मृत समान होगा, बल्कि उस तरह के गुरुकुल के जीने से उसका बन्द हो जाना अच्छा है। कई भाई गुरुकुल को इस लिए चलते रखना चाहते हैं, क्योंकि वे उससे किसी कारण सम्बद्ध हो गए हैं। कुछ हैं, जो इसे अपने दल (पार्टी) की चीज समझते हैं। पर मैं विनयपूर्वक कहना चाहता हूं, कि गुरुकुलशिक्षाप्रणाली का विचार इतना महान् है, कि वह इन तुच्छ विचारोंद्वारा परिमित नहीं किया जा सकता। गुरुकुलशिक्षणपद्धति इतनी विशाल वस्तु है, कि इसकी केवल भारतवर्ष को या आर्यसमाज को जरूरत है किन्तु सारे जगत् को इसकी जरूरत है। निःसन्देह यह सर्वोत्तम शिक्षाप्रणाली है और अब समय आ गया है [ज्यों ज्यों भारत अपनी पराधीनता की बेडियां काटता जाता है, त्यों त्यों वह समय बडी शीघ्रता से आ रहा है] जब कि यह अपने वास्तविक रूपको प्रकट कर सके। यदि हमें गुरुकुल में सच्ची श्रद्धा है, तो अभी वह समय आ पहुंचा है, जब कि हमें तपस्या करके गुरुकुल को इसके सच्चे रूप में जगत् के सामने लाकर रखना चाहिये। पर उसके लिए एकदम अत्यन्त आवश्यकता यह है, कि यहां के गुरु सचमुच गुरु हों। इस गौरवास्पद शिक्षाप्रणाली की सफलता न तो धन बहुत होने में है और न शिष्यों की संख्या बढने में, किन्तु गुरुओं की उच्चता में है। इसी आशय को लेकर मैंने गुरुकुलीय सुधार के लिए निम्न दो प्रस्ताव गुरुकुल के प्रबंधकर्तृ सभा; विद्यासभा में रक्खे थे—

१. उपाध्यायों का वेतन ७५) हो, तथा—

२. उपाध्यायोंको उनके बाहरी पाण्डित्यकी अपेक्षा उनके उच्च जीवन की दृष्टि से रखा जाए।

पहिली बात के बारे में मेरा कहना यह रहा है, कि गुरुकुल के गुरु ऊंचे से ऊंचे ब्राह्मण होने चाहिए और ब्राह्मण तो भिक्षावृत्तिवाले होते हैं, अर्थात् परमात्मा द्वारा दिये गये पर सन्तोष करनेवाले होते हैं। कम से कम इस निर्धनतम देश के वर्तमान ब्राह्मण १५०) मासिक जितना वेतन पाना जरूरी समझें, यह कितने आश्चर्य की बात है। यदि गुरुकुल के उपाध्याय अपना गुजर १५०) से कम में नहीं कर सकते, तो हम गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को क्या त्याग का पाठ सिखा सकेंगे और जनता गुरुकुल के स्नातकों से त्याग की आशा कैसे लगा सकेगी। गुरुकुल का ही एक स्नातक जो विद्यालयविभाग में अध्यापक है और बालबच्चोंवाला है, उसका यदि ४०) या ५०) में खर्च चल सकता है, तो एक उपाध्याय का ७५) में क्यों नहीं चल सकता, उसे १५०) ही क्यों चाहिये।

यदि मैं देश की औसत आमदन के हिसाब से बोलूं तब तो हमें यह पता लगेगा कि हमें १५) २०)में काम करना चाहिये। पर मैं क्रियात्मक बात कहना चाहता हूं, अतः ७५) कहता हूं। देश की बहुत सी प्रतिष्ठित और ऊंचे दर्जे के सेवकों को रखनेवाली संस्थाएं लगभग इतना वेतन देती हैं। मैंने सुना है कि सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के अध्यक्ष गोखले ७५) मासिक लेते थे।

लाला लजपतरायजी के लोक-सेवक-मण्डल के सेवक आज ५०) ७५) ही लेते हैं। इनकी योग्यता हमारे गुरुकुलीय उपाध्यायों से किसी तरह कम नहीं है। काशी-विद्यापीठ में आगे वेतन कम किये जांय, यह सोचा जा रहा है। वहां के वर्तमान आचार्य महोदयने मुझे बताया है, कि वे ७५) से ज्यादा नहीं दे सकेंगे।

बिहार विद्यापीठमें तो बहुत समय पहिलेसे वेतन ७५), ५०), ४०) हो चुके हैं। गांधी-सेवा-संघ में (जिसमें राजगोपालाचारी, राजेन्द्रबाबू, वल्लभभाई आदि सदस्य हैं) सेवक सदस्य के लिये अधिक से अधिक ७५) की मात्रा निश्चित है। युक्तप्रान्त (तथा कई अन्य प्रान्तों) के असेम्बली मेम्बरों का वेतन ७५) मासिक हो गया है। चर्खा संघ में ऐसे ऊंचे, उच्च शिक्षाप्राप्त व्यक्ति भी काम कर रहे हैं, जो अवश्य कहीं प्रोफेसरपद भी पा सकते थे, पर उनमें ऐसे भी थोडे ही हैं जो ५०) से अधिक लेते हों। ग्रामोद्योगसंघ के कार्यकर्ता को तो १५) मासिक लेकर ही कार्य करना उचित है, यह कहा जा रहा है और ऐसा ही किया जा रहा है और अभी हमने सुना है कि मध्यप्रान्त की सरकार ने नयी शिक्षायोजना चलाने के लिये १७० के करीब अध्यापक लेने थे, पर उनके पास ५४०० से भी अधिक प्रार्थनापत्र आए। उनमें एम्० ए० और बी० ए० लोगों के भी प्रार्थना-पत्र थे—पर हमें मालूम है, कि उनके साथ शर्त यह थी, कि उन्हें २५ वर्ष तक १५) मासिक (मकान मुफ्त) पर ही काम करने का तैयार होना होगा। इससे जहां हमारे देश की बेकारी की हालत का पता लगता है, वहां देश की अन्य वास्तविक हालत का भी पता लगता है। क्या ऐसी हालत में हम ७५) को कम समझेंगे। मैं तो मनुष्यता की दृष्टि से पूछता हूँ, कि हमारे कुल में वेतनों में इतना भारी भेद भी क्यों होना चाहिये, कि एक उपाध्याय-कुटुम्ब १५०) ले तथा एक हरिजन-कुटुम्ब केवल १०) ले। मैंने चाहा है, कि यह भेद अधिक से अधिक ७५) तथा कम से कम २०) यह रह जाए। यह बात तो हुई एक कुल की दृष्टि से, पर वर्णाश्रम की दृष्टि से तो गुरुकुल में जो जितना बडा, पूज्य ब्राह्मण हो वह उतना ही त्यागी, कम आवश्यकताओंवाला होना चाहिये। यदि वर्णाश्रमव्यवस्था गुरुकुल में ही न बर्ती जाय, तो कहां बर्ती जायगी ? पर मैं तो गुरुकुल के वर्तमान उपाध्यायों का (आर्यसमाज के सर्वोच्च ब्राह्मणों को) भिक्षा करने को भी नहीं कह रहा हूँ, किन्तु उन्हें ७५) मासिक नकद स्वीकार करने को कह रहा हूँ, इसमें क्या मुश्किल है, यह मैं समझ नहीं सकता।

दूसरी बात और भी अधिक स्पष्ट है। हमारे यहां किताबीपाण्डित्य को कभी इतना महत्व नहीं दिया गया, उसे 'ज्ञान' नहीं समझा गया।

हम तो सात्विक भाव के उद्रेक को, ईश्वरनिष्ठा को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। भगवद्गीता में अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा आदि का ज्ञान बताया है। किसी विषय की मालूमात (informations) के संग्रह को नहीं। इसलिये मैं यहां तक कहता हूँ, कि गुरुकुल में यदि किसी विषय के उपाध्याय या अध्यापक ऐसे न मिलें, जिनका जीवन गुरुकुलीय वायुमण्डल को बनानेवाला हो, तो उस विषय का पढाई बेशक स्थगित रखी जाये, पर अवांछनीय 'पण्डित' से उस विषय का पढवाना उचित नहीं। जब इन दो का मुकाबिला हो, तो हमारे यहां किसी भी विषय का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उसके पढानेवाले व्यक्ति का है। हम भी बाहर की नकल में यह समझते हैं, कि यदि कभी कुछ समय के लिये हमें अपने विश्वविद्यालय में किसी विषय का पढाई (उपयुक्त आदमी के अभाव में) बन्द रखनी पडे, तो यह तो हमारे लिये बडी शर्म की बात है, पर यदि पढाई का प्रबन्ध जारी रखा गया, तो पढानेवाले में मनुष्यता किसे घटिया दर्जे की है, इसमें शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं मानी जाती। यह मैंने अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये अति मात्रा का दृष्टान्त लेकर कहा। वैसे मैं यह नहीं समझता, कि यदि इस दृष्टि से पूरा यत्न किया जाय, तो किसी विषय के अध्यापन के लिये हमें गुरुकुल-योग्य व्यक्ति नहीं मिलेंगे और हमें उसकी पढाई स्थगित रखनी पड़ेगी। मेरे कथन का यह भी मतलब न लिया जाय, कि गुरुकुल के वर्तमान अध्यापक व उपाध्यायों में से सब या कुछ भी रद्दी आदमी हैं। बाहरी स्थानों की दृष्टि से वे शायद सब बड़े अच्छे हैं। पर हमारा मानदण्ड बहुत ऊंचा होना चाहिये। अतः गुरुकुल के गुरु उतने उत्कृष्ट या उतने ऊंचे दर्जे के तो होने ही चाहिये, जितने कि गुरुकुल जैसी संस्था से देश की जनता बल्कि दुनिया स्वाभाविकतया आशा करती है।

षष्ठ नियम।

(लेखक-- श्री० पं० मदनमोहन विद्याधर, प्रेममन्दिर, विजयगापट्टम.)

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियमपालनयुक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं।

[द० प्र० १ म भा० स० प्र०३ समु० पृ० ११९]

"जो जो बात सबके सामने माननीय है, उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगडे हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत में करा द्वेष छुडा, परस्पर में दृढ प्रीतियुक्त कराके सबसे सब को सुखलाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धांत सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

[सत्यार्थप्रकाश अन्तिम निवेदन]

सब आर्य और आर्यसभासदों को उचित है, कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनंद-उत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों और छोटाई, बडाई न गिनें। [आ० स० उपनियम संख्या १७]

कोई आर्य भाई किसी हेतु से अनाथ हो जावे वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तान अनाथ हो जावे, अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्यसमाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करें।

[आ० स० उपनियम २३]

जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि, इन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकते हैं।

[आ० रत्न० मा० र० सं० २०, पृ० ८९३]

'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जनां यस्यां सा मुक्तिः' जिस में छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है। ...दुःख से ...छूटकर...सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।... परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्यायधर्मकी वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढने और पढाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करें, वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करें इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि कामसे बन्ध होता है।

[स० प्र० ९ म समु० प्र० भाद० प्र० पृ० १५२]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। ...... अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्पमात्र शरीर होता है। ... अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है। उसकी शक्ति... मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा प्रेम द्वेष, संयोगविभाग,

संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव का नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे महामूढ हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है, कि दुःखों से छूट कर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। ...(१५२)... यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामोंको देखता, प्राप्त होता हुआ स्मरण करता है। ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थिर होके मोक्षसुख को भोगते हैं। ..... उससे उनको सर्वलोक और सब काम प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो जो संकल्प करते हैं वह वह लोक और वह वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूल-शरीर छोडकर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं।

[स. प्र. ९ म समु. प्र. भाद ग्र. पृ. १५२]

"बन्ध सनिमित्तक अर्थात् अविद्यानिमित्त से है। जो जो पापकर्म ईश्वरभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःखफल करनेवाले हैं, इसलिये वह बन्ध है, कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना तो पडता है।

[स्वमन्त पृ० ७९२ सं० ११]

मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूट कर बन्धरहित सर्व-व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनंद को भोग के पुनः संसार में आना।

मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास-धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार, और पुरुषार्थ आदि हैं।

[स्वम० १२, १३ पृ० ७९२]

जिससे सब बुरे काम और जन्ममरणादि दुःखसागर से छूट कर सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है, वह मुक्ति कहाती है। ... ... जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थ-सेवन, सत्पुरुषों का संग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब मुक्ति के साधन हैं।

[आर्योद्दे० र० मा० २९, ३०, पृ०८९४]

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मा, विद्या, सत्संग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है, क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष, उसको प्राप्त होता है और दुःखसागर से छूट जाता है, परन्तु जो विषय-लम्पट, विचाररहित, विद्या, धर्म, जितेन्द्रियता, सत्संग-रहित, छल, कपट, अभिमानदुराग्रहादि दुष्टतायुक्त है, सो वह मोक्षसुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है।

[आर्याभिवि० उपक्रमणिका, पृ० २]

जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है।

[आर्योद्दे० १४, पृ०८९२]

"स्वर्ग नाम सुखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है"।

[स्वमन्त० ४२, पृ० ७९५]

जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह नरक कहाता है।

[आर्योद्दे० १५, पृ० ८९२]

"नरक जो दुःखविशेष भोग और इसकी सामग्री की प्राप्ति होना है। [स्वमन्त० ४३, पृ० ७९५]

जिस (गर्भाधानादि अंत्येष्टि पर्यन्त) षोडश संस्कार कर के शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को उचित है।

[द० ग्र० संस्कार वि० पृ० २]

[धर्मार्थकाममोक्ष के लक्षण के लिये देखो, स्वमंत० तथा आर्योद्दे०।]

तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

[आर्याभिविनय]

उसी (परमेश्वर) की कृपा से हम लोक शत वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें कहें, कभी पराधीन न हों अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान, बुद्धि और पराक्रमसहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें, ऐसी कृपा आप करें, कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो तथा शत वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें, कि शत वर्ष के उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें, और स्वाधीन ही रहें ।

[आर्याभिविनय पृ० ६४]

इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फैंक के यथाशक्ति बाहर ही रोक के पुनः धीरे धीरे भीतर लेके पुनः बल से बाहर फैंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और आनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये, जैसा गोताखोर जल में डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव-लोक अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूपव्यापक परमेश्वर में मग्न कर के नित्य शुद्ध करें ।

[पं० म० य० वि० पृ० ८५८]

उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतंत्र रहें अर्थात् आरोग्य, शरीर, दृढ इंद्रिय, शुद्ध मन और आनन्दसहित हमारा आत्मा सदा रहे ।

[पं० म० य० वि० पृ०८६५]

... परमेश्वर की सम्यग् उपासना करके आगे समर्पण करे, कि हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जो जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं, जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म जो सत्यन्याय का आचरण करना है, अर्थ जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है और मोक्ष जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है । इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो ।

नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यंत मुमुक्षु ध्यान अवश्य करें, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों । देखो । अपने चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं, क्योंकि जब मन शांत, चंचल, आनन्दित व विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं, वैसे ही इन्द्रियां, प्राण आदि का ज्ञाता पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्ता और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता धारणाकर्षणकर्ता और सब से पृथक् हैं, जो पृथक् न होते, तो स्वतंत्र कर्ता इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते । ... .. इन में अविद्या का स्वरूप कह आये+। पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति, राग, दुःख में अप्रीति, द्वेष और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है, कि मैं सदा शरीरस्थ रहूँ मरूं, नहीं मृत्युदुःख से त्रास अभिनिवेश कहाता है, इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास-विज्ञान से छुडा के ब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये ।

[स० प्र०द० प्र० प्र०भा० पृ० ९ म समु पृ० २६६]

...खिलानेपिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष होता है । जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उप-कार होता है । परन्तु जो मनुष्यलोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलानापिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इससे होम करना अत्यावश्यक है ।

[स० प्र० द० प्र० प्र० भा० पृ० ३ य समु पृ० १२७]

प्रथम आर्यावर्तीय लोग व्यापार, राज्यकार्य और भ्रमणके लिये सब भूगोलमें घूमते थे । और जो आजकल छूतछूति और धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने

+ देखो अष्टम नियम

और अज्ञान बढाने से है । जो मनुष्य देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में जाने-आनेमें शङ्का नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम रीति-भान्ति देखने अपना राज्य और अच्छे व्यवहार बढाने से निर्भय शूर वीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोडने में तत्पर होके बडे ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं । भला जो महा भ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं, तो क्या है? हां इतना कारण तो है, कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं, इसलिये उनके संग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जावे, यह तो ठीक है । परन्तु जब इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करनेमें कोई भी दोष व पाप नहीं, किन्तु इनके मद्यपानादि दोषों को छोड गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं, जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसीसे उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है । ...... और यह भी समझ लें, कि धर्म हमारे आत्मा और कर्तव्य के साथ है, जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हम को देशदेशांतर और द्वीपद्वीपांतर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता । दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं । ... क्या बिना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपांतर में राज्य व व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश में ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें, तो बिना दारिद्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता ।

... हां इतना अवश्य चाहिये, कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि भूल कर भी न करें । क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है, कि जो राजपुरुषों में युद्धसमय में भी चौका लगाकर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से घोडे, हाथी रथ पर चढ या पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है । इसी मूढता से इन लोगों ने चौका लगाते लगाते विरोध करते कराते सब स्वातंत्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं ।... जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है । हां! जहां भोजन करें, उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाडू लगाने, कूडा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्यक करना चाहिये ।

[स० प्र० १० म समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३८८ से ३८९]

द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)......रसोई [भोजन]... शूद्र के हाथ की बनाई खावें । क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णस्थ स्त्रीपुरुष विद्या पढाने, राज्यपालन और पशु-पालन, खेतीव्यापार के काम में तत्पर रहैं और शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के बिना न खावें । ... आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्रीपुरुष पाकादि सेवा करें, परन्तु वे शरीरवस्त्र आदि से पवित्र रहैं । 'शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं! यह बात कपोलकल्पित झूठी है, क्योंकि जिन्होंने गुड, चीनी ,घृत, दूध, पिशान शाक फल मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया, क्योंकि जब शूद्र, चमार, भंगी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते छीलते पील कर रस निकालते हैं, तब मूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं बिना धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते आधा सांग चूस रस पीके आधा उसी में डाल देते हैं और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बनाते हैं, तब (३९०) पुराने जूते कि जिस से के तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उस को रगडते हैं । दूध में अपने उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते हैं और आटा पीसते समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते और पसीना भी आटा में टपकता जाता है, इत्यादि और फलमूलकन्द में भी ऐसी ही लीला होती है, जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सब के हात का खा लिया । ...... मुसलमान ईसाई आदि मद्यमांसाहारियों के हाथ के

खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खानापीना अपराध पीछे लग पडता है, परन्तु आपस में आर्यों का+ एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोडते और अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढती के बदले हानि होती है। विदेशियों के आर्यवर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मत-भेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढना पढाना व बाल्यावस्थामें अस्वयंवरविवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं, जब आपस में भाई भाई लडते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है ।

[स० प्र० दशम समु० द० ग्र प्र० भा० पृ० ३९१]

यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमेश्वर की आज्ञा है कि– (अघ्न्याः यजमानस्य पशून् पाहि) हे पुरुष ! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सब के सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिससे तेरी भी पूरी रक्षा होवे । ... ... ब्रह्मा से लेके आजपर्यन्त आर्यलोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इन की रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खानपान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है ... ... इनसे यह ठीक है, कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है । क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है ।

[गोकरुणानिधि, द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ९२५]

सदा स्त्रीपुरुष १० (दश) बजे शयन और रात्रि के पहले प्रहर वा ४ बजे उठ के प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन कर के धर्म अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीडा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोडें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहारविहार, औषधसेवन सुपथ्यादि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्तव्यकर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महान् कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १७८]

गृहाश्रमसंस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियतकाल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १५९]

जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करें। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रखें कि जहां तक बन सके वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न होने देवे। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के विवाह न करना, कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढाये जावें और शरीर का बल न बढावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सेकडों विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर का ही बल बढाया जाय, आत्मा का नहीं तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट, टूट, विरोध, लडाई, झगडा करके नष्टभ्रष्ट हो जायें। इसलिये सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढाते रहना चाहिये। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार–व्यभिचार और अति विषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढांग और बलयुक्त होना चाहिये। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त

+ देखो आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश ।

होगें तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जायगा। (२८२) ...... इसलिये राजा और राजपुरुषों को उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्मन्याय से बर्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।...

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० २ भा० पृ० २८२।२८३]

... पूर्ण राजनीती को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ति राज्य करें और यह समझें कि —

वयं प्रजापतेः प्रजाः अभूय (यजु० १८।२९)

हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं, वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हम को राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से सब न्याय की प्रवृत्ति करावे।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० २ भा० पृ० २८३]

राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दण्ड से और प्राप्त राज्य की रक्षा सम्भाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और व्याज से बढा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढे हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें।

[सं० वि० द० ग्र० २ य भाग पृ० १७७]

जो राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे उत्तम ज्ञान और और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की सभा नियत कर इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० २०८]

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभ गुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजाको भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि ... अपने सत्योपदेश विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें।

[ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ६७९]

राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजाप्रजा के संबंधरूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजासंबंधी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि अलंकृत करें।

[स० प्र० ६ षष्ठसमु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २३९]

एक को स्वतंत्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये, किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजाके आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।...जो प्रजासे स्वतंत्र स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें ... अकेला राजा स्वाधीन व उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है (अत्यन्त पीडित करता) है। इस लिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह व मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खालेते हैं, वैसे स्वतंत्र राजा प्रजा का नाश करता है। (२४०)

हे मनुष्यों! जो इस मनुष्यसमुदाय में ... ... सभापति होने को अत्यन्त योग्य प्रशंसनीय गुण, कर्म स्वभावयुक्त समीप जाने और शरण लेने योग्य सबका माननीय होवे, उसी को सभापति राजा करे।

हे विद्वानों! राजप्रजाजनों! तुम इस प्रकारके पुरुष को बडे चक्रवर्ती राज्य बड़े बडे विद्वानों से युक्त राज्य पालने और परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित पूर्ण विद्या विनय-युक्त सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल शत्रुरहित करो।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्र०भा० पृ० २४०, २४१]

जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां प्रजा ठगी जाती है। ... जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

[ऋग्वेदा० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ६७२]

जहां अकेला मनुष्य राजा होता है, वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख देने-

वाली लक्ष्मी है, उसको ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीडा देनेवाला होता है। इस लिये एक को राजा कभी न मानना चाहिये, किन्तु सब लोगों को उचित है, कि अध्यक्षसहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये ।

[ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वितीय भाग० पृ० ६७४]

जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतंत्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है ! अथवा जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मारकर उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है । और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख व लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये ।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ६८०]

राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती।... इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त बराबर चला आया है और आर्यों की यह एक बात बडी उत्तम थी, कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इस लिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्यावर्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे ।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५५१]

यदि सभा में मतभेद हो, तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिये ।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ २१०]

राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान और प्रजा पुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त कर परस्पर आनन्द बढावें ।

[व्यवहारभानु द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ७४३]

... वेश्यागमन व व्यभिचार कभी न करें । जहां तक हो वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि बढे हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें । सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक, तन मन धन से सर्वदा परमार्थ किया करें ।

[स० प्र० चतुर्थ समु०द०ग्र० १ म भाग पृ० २१५]

[राजा] प्रजा से ... ... जो धन लेवे, तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खानेपीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें । ...... " प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खानपान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बडी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सिद्धान्त के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पितासदृश राजा और राजपुरुषों को जाने । यह बात ठीक है, कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है । जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? ... ... दोनों अपने काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतंत्र रहें । प्रजा की साधारण सम्मति के बिना राजा व राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २७०]

... ... जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें । तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम

और नियमों के आधीन सब लोग बर्तें । सब के हित-कारक कामों में सम्मति करने के लिये परतंत्र और धर्म-युक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं, उन उन में स्वतंत्र रहें ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४२]

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं । ... ... इसलिये राजा और राज-सभा राज्य-कार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राज्य-कार्य यथावत् सिद्ध हों । जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उस को सुख सदा बढता रहता है।

इसलिये दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्यस्थान रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रख कर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करें।एक एक ग्राम में एक एक प्रधान पुरुष को रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवा पुरुष रक्खे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बडा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्म-शास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है । ... ... इसी प्रकार प्रबन्ध करें और आज्ञा देवे कि वह एक एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो जो दोष उत्पन्न हों, उन उन को गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्रामों के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे। और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधि-पति को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे सौ सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के अधिपति को सौ सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करे । और वे सब राजसभा महाराज-सभा अर्थात् सर्वाभौम चक्रवर्तिमहाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें । और एक एक दश दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिन में एक राजसभा में दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोडकर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ।

... ... बडे बडे विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें, जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें ।

... ... जो राजपुरुष अन्याय से, वादीप्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करें, उसका सर्वस्व-हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके ... ...

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ २५७-२५९]

जो अपने राज्य में उत्पन्न शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों उन सात व आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा कर के मंत्री करें और इन्हीं भी सभा में आठवां या नववां राजा हो। ये सब मिल के कर्तव्याकर्तव्य कामों का विचार किया करें ।

[स० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १७७]

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने-वाले शूर वीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हों और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात व आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्' अर्थात् मंत्री करें।

[स० प्र० षष्ठ समु० द्वि० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४१]

...राज्याधिकार ...में...पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये, अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिये ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ०२४५]

इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभा-ओं में मूर्खों को कभी भरती न करें, किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४३]

(क्रमशः)

" क्या देवता अनिश्चित हैं ? "

[लेखक- श्री० पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार (प्रतिष्ठित स्नातक) गुरुकुल कांगडी, अजमेर]

हमने आज से पांच मास पूर्व पं० सातवलेकरजी को एक पत्र लिखा था, कि हमारी इच्छा है, कि हम इस देवतावाद के प्रश्न को आर्यजगत् के सामने एक नये ही प्रकार से रखें। उसकी विधि यह होगी, हम ' वैदिक धर्म, मासिक में एक प्रश्न पूछेंगे और उसके उत्तरमें पं० ब्रह्मदत्तजी व पं० सातवलेकरजी से जिज्ञासु रूप में उसके उत्तर मांगे जायेंगे, वे दोनों तथा हमारा अपना विचार ये तीनों लेख एक साथ अगले ही मासिक पत्र के अंक में छापे जायें, ताकि स्वतंत्र भाव का परिज्ञान हो सके। मैं नहीं कह सकता कि पण्डितजीने किस विचार से उस पत्र को अपने मासिक पत्र में जगह न दी। मेरी पण्डितजी में प्रारम्भ से आस्था रही है, और उनको मैं आज भी वेदों का एक अद्वितीय विद्वान् मानता हूं, इसलिये मैं यह तो नहीं कह सकता कि उन्होंने किसी दुष्भावना से प्रेरित होकर उसको पत्र में प्रकाशित नहीं किया। कारण, आज तक उन्होंने मेरा एक भी लेख छपने से नहीं रोका। खैर, हमें इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यह सम्पादक की इच्छा है, कि वह किसी लेख को अपने पत्र में जगह दे या नहीं।

हमें न तो पं० ब्रह्मदत्तजी से कोई द्वेष और ईर्षा है और नाही पं० सातवलेकरजी से कोई विशेष प्रेम है। इसलिये हम इन दोनों को न छूते हुए हम शुद्ध रूप से यह लिखेंगे, कि वेद के देवता क्या हैं, उनका क्या स्वरूप है और उनका मंत्रों से कैसा और क्या सम्बन्ध है ?

इस लेखको हम उसी भाषा में तथा उन्हीं विचारों में लिखेंगें, जैसा कि हम आजसे छ मासपूर्व जब कि यह वादविवाद उठा भी नहीं था लिखते।

इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रार्थ उत्तम हुआ करते हैं, परन्तु शास्त्रार्थ के दो रूप होते हैं- एक 'वाद' और दूसरा 'जल्प'। 'वितण्डा' को मैं शास्त्रार्थ नहीं कह सकता। वह तो एक प्रकार की बकवास है। आर्यसमाजी जो शास्त्रार्थ अन्य मतावलम्बियों के साथ करते हैं, वह मैंने प्रायः देखा है, उसके चाहे कुछ भी कारण हों, चाहे विरोधियों के उकसाये जाने पर, चाहे 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीतिके अनुसार, वे प्रायः कर जल्प की ही कोटि में आते हैं, (मैं इन्हें बुरा नहीं मानता) 'वाद में बहुत कम' परन्तु जब हम आपस में विचार करने लगे हैं, उस वक्त हमें केवल शुद्ध वाद का ही आश्रम लेना चाहिये।

क्या आज तक सभी वैदिक विद्वान् देवताओं के स्वरूप से अनभिज्ञ थे ?

हमने तेरह सालसे ऊपर गुरुकुल कांगडी में अध्ययन कर वहां की शिक्षा प्राप्त की है। उसमें हम प्रारम्भिक वर्षों को छोड देते हैं, क्योंकि उस समय हमने वैदिक देवता के सम्बन्ध में कुछ भी पढा नहीं था। परन्तु छः (६) वर्ष की शिक्षा में और उसके बाद दिसम्बर १९३७ तक देवता के विषय में यही जानते, पढते और समझते रहें, कि देवता वेद के मन्त्रों से बहुत सम्बन्ध रखते हैं; उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, वे हमेशा के लिये मन्त्रों की तरह से ही निश्चत है, वे बदलते नहीं है।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका भी कई बार पढी, निरुक्त भी कई बार पढा, तथा समय समय पर ब्राह्मणग्रन्थों को भी जहां तहां से देखने का अवसर

हुआ, परन्तु आज तक हमारे हृदय में यह शंका ही उत्पन्न नहीं हुई कि स्वामी दयानंद, निरुक्तकार यास्क, या इसी प्रकारसे अन्य ऋषि-महर्षि देवता को अनिश्चित मानते हैं। यहां यह कहा जा सकता है कि अज्ञानवश यह हमें मालूम न हुआ हो, इस बात को मैं मान सकता हूं, कि अज्ञानवश इस सिद्धान्त को मैं नहीं समझ सका, परन्तु मैं यह कभी नहीं मान सकता कि वेद के सब के सब विद्यार्थी, हमारे वेदोपाध्याय व आचार्य आदि भी यास्क और महर्षि के इन स्थलों को नहीं समझ सके। मैं अपने साथसाथ उन सबको, जिनका वेद ही में सम्पूर्ण समय व्यतीत होता है, मूर्ख नहीं कह सकता। मुझे ऐसे विद्वान् महानुभावों से भी बात करने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है, जो स्वामी दयानन्द के अनेक सिद्धातों से मतभेद रखते हैं, उनमें से भी आज तक किसी ने इस विषय पर मतभेद प्रकट नहीं किया।

इस पर यह कहा जा सकता है, कि आकर्षण-सिद्धान्त भी तो एक न्यूटन (वर्तमान युगमें) को ही ज्ञात हुआ था, तो क्या इससे न्यूटन के अतिरिक्त अन्य विद्वानों को मूर्ख कहा जायेगा। इसके उत्तर में निवेदन है, कि- खोज या आविष्कार की शक्ति तो किसी-किसी में होती है, और यदि कोई विद्वान् खोज न कर सके तो भी उसको मूर्ख नहीं कहा जा सकता, परन्तु उस आविष्कार को और उसके सिद्धान्त को समझने की शक्ति बहुतों में होती है। परन्तु यदि समझ में भी किसी के न आये तो मूर्खता की कल्पना थोडे बहुत अंशों में की जा सकती। परन्तु यहां तो इससे भी एक कदम आगे हैं। हां, यदि शताब्दियों से देवता के विषय में किसी ने विचार न किया होता, तो हम मानने को तैय्यार हो जाते। परन्तु यहां तो खूब विचार हुआ है, अच्छा गहरा विचार हुआ है।

वह सब विचार आज भी मौजूद है। इतना होने पर भी एक ऐसी मुख्य बात जो देवता के स्वरूप से ही सम्बन्ध रखती है, विचार न किया हो या गलत विचार किया हो, यह समझमें कम आता है। इतना भी होता तो सन्तोष किया जा सकता था। परन्तु इससे भी आगे, जैसा आज कल प्रतिपादन किया जाता है कि हमारे उन आचार्यों ने, जिन्हें हम ऋषि महर्षि मानते हैं, लिखा भी है और फिर उस ऋषि की कलम से जिसकी लेखनशैली और भाषा बहुत ही सरल और विवादरहित है, लिखा हुआ मानना। इतनी लम्बी चौडी, तर्कविरुद्ध कल्पना हमारे मस्तिष्क और हृदय स्वीकार नहीं कर सकते। एक बात और लिखकर हम विषयपर विचार करेंगे।

समय समय पर वेद के सम्बन्ध में नाना विचार उत्पन्न होते रहे हैं। अवैदिकों ने वेदों के ऊपर नाना प्रकार के आक्षेप किये हैं। उन सबका जवाब बड़े धैर्य से दिया जाता रहा है। इस क्षेत्रमें आर्यसमाज ने जो कार्य किया है, उसको भुलाया नहीं जा सकता। परन्तु किसी भी संस्था को यह विचार कभी नहीं करना चाहिये, कि हमारे सिद्धान्तों की जड पाताल तक पहुंच गई है, क्योंकि इस प्रकार की भावना के उत्पन्न होने से स्वाध्याय में कमी होती है और हम देखते हैं कि आज आर्यसामाजिक क्षेत्र में इसकी कमी का अनुभव भी किया जा रहा है। आर्यग्रन्थों की विशेषता पर विचार करनेवाले, उनको पढकर समझनेवाले, मैं पूछता हूं आज आर्यसमाज में कितने हैं? यही कारण है, कि हम समय समय पर उठनेवाली विप्रतिपत्तियों पर शान्ति से विचार नहीं कर सकते।

तीन-चार वर्ष की बात है, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने वेद के सम्बन्ध में कुछ लेख लिखे थे, उनको हम "आर्यसमाज पर वज्रपात" समझने लग गये। भाइयो! यदि इतनी सी बात को, जो रोज का विषय है, हम क्यों 'वज्रपात' समझने लगते हैं? उनसे हमारी मानसिक अवस्था क्यों विचलित और अशान्त हो जाती है? कारण हमारे स्वाध्याय की कमी है। हम आक्षेपों को सुनकर आर्यसमाज की नैय्या को खतरे में समझने लगते हैं, कारण हमारे

मस्तिष्क और हृदय कमजोर हैं। उसके कुछ ही दिनों बाद पं० बुद्धदेवजी के हैदराबादवाले शास्त्रार्थ ने भी आर्यसमाज में दो पक्ष बना दिये। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। आज फिर आर्यसमाजी लोग पं० सातवलेकरजी के वेदमुद्रण के कार्य से घबरा उठे हैं। इसका कारण एकमात्र वही स्वाध्याय की कमी है। इसके साथ साथ पक्ष-पातरहित एक गुरु का अभाव है। स्वामी दयानन्द की तरह से आज पक्षपातरहित होकर सिद्धान्त-निर्णय करनेवाला कौन है ? कोई नहीं।

स्वाध्याय न होने के कारण, मान के चाहनेवाले विद्वान् हमें जिधर ले चलना चाहते हैं, हम उधर ही जाने को तैय्यार हो जाते हैं। हमें स्वामी दयानन्द के नाम से जो चाहे वह उल्लू बना सकता है। और जिसका पल्ला हमने शुरू से पकड लिया, उसको हम फिर छोडनेको तैय्यार नहीं, चाहे वह ले जाकर गड्ढे में ही पटक दे। यही हालत आज हुई है। देवतावाद के इस झमेले ने आज हमें अपने सिद्धान्त से कहीं दूर पहुंचा दिया है। ऋषि के नाम को सुनकर और ऊंची आवाज को सुनकर हम आसानी से भटक चलते हैं। आज हम कई वर्षों से इस बात का अनुभव कर रहे हैं। आज आर्यसमाज के विद्वान् युरोप के राजनीतिज्ञों की तरहसे- शान्ति के नामपर विषैली गैसे तथा टैंक्स तयार किए जाते हैं, प्रजातन्त्र व उन्नति के नाम पर साम्राज्य का विस्तार किया जाता है-हम लोग ऋषि दयानन्द के नाम से अपनी प्रशंसा प्राप्त करने में लगे हुए हैं।

हमारा मत

देवता के सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि "देवता निश्चित हैं, वे बदले नहीं जा सकते और उनका निर्देश मन्त्र में सीधा होता है।" 'सीधा' इस शब्द से हमारा आशय है कि उस शब्द का उन मन्त्रों में प्रयोग जरूर होना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सब ही मन्त्रों में बार बार एक ही शब्द का उच्चारण किया जाए। परन्तु उस अवस्था में वे सब मन्त्र एक प्रसंग में होने चाहिए। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का देवता 'अग्नि' है। यहां एक मन्त्र को छोडकर सब मन्त्रों में किसी न किसी रूप से 'अग्नि' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु प्रसंग में होने के कारण उस एक मन्त्र का देवता भी अग्नि ही है। यहां पर जो सब मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द पढा गया है, उसका कारण 'देवता का निर्देश करना' नहीं है। उसका अन्य ही महत्व है, जिसका फिर कभी प्रतिपादन करेंगे।

इसको और स्पष्ट करने के लिए यों कहा जा सकता है। जितने सूक्त या मन्त्र, एक विषय के प्रतिपादक होते हुए, यदि एक साथ पढे गए हैं, तो जो उनका देवता है, उसका एक बार उनमें जरूर उच्चारण होना चाहिए। यदि एक से अधिक बार उच्चारण किया गया हो, तो वह सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। उदाहरण से हम इसको और स्पष्ट कर सकते हैं। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का देवता 'अग्नि' है। यदि इस सूक्त में दो विषयों का वर्णन होता, अर्थात् प्रथम पांच मन्त्रों में अग्नि और पिछले तीन में 'मरुत्' देवता का और फिर नवें मन्त्र में पुनः 'अग्नि' का वर्णन किया गया होता। उस अवस्था में प्रथम पांच मन्त्रोंमें कम से कम एक बार अग्नि शब्द का उच्चारण अवश्य होना चाहिए। पुनः यदि अगले तीन मन्त्रों में मरुत् का वर्णन है, तो उनका देवता 'मरुत्' का उच्चारण तीन मन्त्रों में कमसे कम एक स्थान पर अवश्य होना चाहिए। और पुनः यदि नवें मन्त्र में अग्नि का वर्णन है, तो पुनः उस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द का उच्चारण होना चाहिए। और वे देवता निश्चित हैं। पर्यायवाची शब्द भी देवता नहीं हो सकते। इतना ही हमारा कहने का आशय है और हमारी दृष्टि में प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषि-मुनियों का भी यही मत है।

इतने विचार से हमने केवल देवता का नैश्चित्य स्थापित किया है और इतना ही हमारा 'साध्य' है। इसके द्वारा न तो हम सर्वानुक्रमणी की, नाही बृहद्देवता की और न किसी अन्य ग्रन्थ की प्रामाणिकता

❀

स्वीकार करते हैं। और अब प्रमाणों को रखकर मैं आप के सामने इस सिद्धान्त की पुष्टि करूंगा और यह बतलाऊंगा कि मुनि यास्क और ऋषि दयानन्द का यही मत है या दूसरा। यहां हम एक बार फिर लिख देते हैं कि हम किसी भी मंत्रविशेष को या सूक्त के देवता पर विचार न करेंगे। केवल देवता के स्वरूप का प्रतिपादन करेंगे।

देवता–ज्ञान का महत्त्व।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम होता है कि 'देवता-ज्ञान' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्हों ने इसका कितना महत्त्व प्रतिपादित किया है, यह आप नीचे लिखे वाक्यों में आसानी से देख सकते हैं।

मुनि कात्यायनने + लिखा है।

"एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीयं यातयामं भवत्यथान्तराश्च गर्तं वा पद्यते स्थाणुर्वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।"

अर्थात् जो मनुष्य देवताओं को बिना जाने मंत्रों को पढता है, बोलता है तथा जप, यज्ञादि करता तथा कराता है, उसका आत्मा निर्वीय होकर गढे में गिर जाता है, या स्थाणुकी तरह खडा रहता है, नहीं तो पापी तो बनता ही है। इस मुनिवचन से 'देवता-ज्ञान' का महत्त्व जाना जा सकता है। इसी प्रकार से 'बृहद्देवता' में भी लिखा है। हमें इससे कोई तात्पर्य नहीं कि बृहद्देवताके रचयिता ने देवताओं का ज्ञान किया या नहीं? क्योंकि यदि ठीक किया है तो अच्छा है, नहीं तो उनके लिये भी नरक के द्वार खुले हुए हैं- पर उनके निम्न वाक्य में प्रतिपादित विचार की सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। वे लिखते हैं—

स्वाध्यायमेव योऽधीते मंत्रदैवतविच्छुचिः।
स सत्रसदिव स्वर्गे सत्रसद्भिरपीज्यते॥
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव तु।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

मुनि कात्यायन के ही भावों को दूसरे शब्दों में यहां प्रकट किया गया है।

निरुक्तकार यास्क भी निरुक्त की आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते हुए हैं कि निरुक्त की रचना का एक प्रयोजन 'देवता का ज्ञान' कराना भी है। उनके शब्द हैं—

" अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदेतेन उपेक्षितव्यम्।"

इसकी व्याख्या करते हुए प्रो० चन्द्रमणिजी अपने निरुक्तभाष्य में लिखते हैं- "यह देवता-ज्ञान बिना निरुक्ताध्ययन के संभव नहीं।" इसी प्रकार से एक और स्थान पर लिखा हुआ है।

" अविदित्वा प्रयुञ्जानो मंत्रकण्टक उच्यते।"

अर्थात् बिना देवतादि ज्ञान के मन्त्रोंका उपयोग (किसी भी प्रकार से) करनेवाला मन्त्रकण्टक है। इससे स्पष्ट मालूम हो सकता है, कि देवतादि ज्ञान कितना महत्त्व का है। स्वामी दयानन्दजी महाराज ने यद्यपि यह तो कहीं नहीं लिखा (जहां तक मुझे स्मरण होता है) कि देवताज्ञान आवश्यक है। परन्तु ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकाको पढते हुए उनसे प्रतिपादित किये गये देवताविषयक विचारों से यह अनुमान आसानी से निकाला जा सकता है कि 'देवता का ज्ञान' उनकी दृष्टि में भी बडा महत्त्व का था। अस्तु।

परन्तु यदि देवता निश्चित नहीं है, दूसरे शब्दोंमें 'देवता' भाष्यकारों की चीज है, उस अवस्था में ज्ञान किसका किया जाये। क्योंकि देवता तो कुछ है ही नहीं। और जो चीज है नहीं उसका ज्ञान करना कुछ अप्रासंगिक मालूम देता है।

'देवता-ज्ञान' का इतना महत्त्व क्यों है? यह अगला प्रश्न मनुष्य के हृदय में उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर इतना ही है, कि 'देवता-ज्ञान' के बिना वेदार्थ का ज्ञान असम्भव है। प्राचीन आचार्यों का यह विचार हम तब से सुनते आ रहे हैं, जबसे हमने वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ किया है।

+ श्रीस्वामी दयानन्दजी कात्यायन को ऋषि मानते हैं।

और मेरा अनुमान है कि निन्यानवे प्रतिशत मनुष्य, जिन्हें वेदाध्ययन में रुचि है, आज से आठ मास पूर्व तक यही समझते रहे होंगे, कि वेदार्थज्ञान के लिये देवताज्ञान परम आवश्यक है। मुझे आज से आठ मासपूर्व तक एक भी ऐसा सज्जन नहीं मिला, जिस ने यह विचार प्रकट किया हो, कि वेद को समझने के लिये देवता का ज्ञान करना निरर्थक है। फिर क्या कारण है, कि आज से बहुत से मनुष्य इस विचार को मानने लग गये, कि वेदार्थज्ञान के लिये देवताज्ञान की आवश्यकता नहीं है। कारण इसका स्पष्ट है। स्वाध्यायकी कमी तथा आर्यसमाज में प्रशंसा प्राप्त करना, तथा ऋषि के भक्तों से आदर पाना। मैं इससे सबके सब विद्वानों को, जो देवताको अनिश्चित मानते हैं, नहीं कहता हूं। परन्तु पिच्चानवे प्रतिशत पंडित ऐसे ही हैं, जिनमें किसी को पुरोहितार्थ की तथा किसी को उपदेश की लोभ दे रही है। बाकी पांच प्रतिशत आदम्भी सच्चे हैं, जो वास्तव में, जितना उनको ज्ञान है, उसके अनुसार इसमें विश्वास रखते हैं, और यदि उनकी समझ में आ जाये, तो उसको छोडनेको भी उद्यत हो जायेंगे।

परन्तु ज्यादातर ऐसे ही विद्वान् हैं, जो बोलने तो 'देवता' पर उद्यत होते हैं, पर स्वाध्याय की कमी के कारण दो चार शब्द कह कर यदि पं० सातवलेकरजी के पक्षके हैं, तो पं० ब्रह्मदत्तजी को और यदि पं० ब्रह्मदत्तजी के पक्ष के हैं, तो पं० सातवलेकरजी को अपशब्द कहने लगते हैं, तथा उनके जीवन पर छींटे उछालते हैं। मुझे समझ में नहीं आता, कि उनके वैदिक देवता पं० ब्रह्मदत्तजी और पं० सातवलेकरजी ही हैं क्या ? मुझे यहां इतना ही कहना है, कि जब ऐसे विषय पब्लिक प्लेटफार्म पर चले जाते हैं, उस वक्त वे आर्यसमाज की नींवको खोखला करते हैं। ये पत्रिका तथा पत्र के ही विषय रहने चाहिये और केवल उन्हीं पत्रों के जो ठोस तत्त्व प्रकाशित करते हैं, ऐसा होनेसे ये विषय चाहे मूर्ख के ही सामने उपस्थित हों, पर होंगे स्वाध्यायप्रेमियों के सामने ही।

अब मैं आपके सामने प्रमाण रखता हूँ, जिससे वेदार्थज्ञान में 'देवताज्ञान' कितना स्थान रखता है, स्पष्ट प्रतिपादित हैं।

" वेदितव्यं दैवतं हि मंत्रे मंत्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मंत्राणां तदर्थमधिगच्छति॥ "

अर्थात् परिश्रम व स्वाध्याय से प्रत्येक मंत्र का देवता जानना चाहिये, क्योंकि देवताओं के जाननेवाला ही मंत्रों का अर्थ जानता है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक वाक्य संस्कृत-साहित्य में मौजूद हैं, जिन सब का इस स्थान पर उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। यह सिद्धान्त वेदपाठियों के लिये उतना ही मशहूर है, जितना कि बच्चे के लिये सूर्य का गर्म होना।

देवता की आवश्यकता।

देवताज्ञान अति दुष्कर है। देवताज्ञान के बिना वेदार्थ नहीं किया जा सकता, बिना देवता का ज्ञान किये वेदमंत्रों के उच्चारण से ही पाप लगता है, आदि प्रश्नों को सुनकर मनुष्यहृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि जिस 'देवता' के लिये इतना सब कुछ लिखा है, यदि उसको हटा दिया जाये, तो क्या हानि है। आप्तप्रमाण के अतिरिक्त क्या तर्क तथा बुद्धि की कसौटी पर भी देवता की आवश्यकता सिद्ध होती है या नहीं? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका ठीक-ठीक उत्तर देना ही देवता के प्रश्न को सुलझा सकता है।

देवता या देवता की तरह किसी अन्य चीज की भगवान् को जरुरत होनी चाहिये थी क्या, जिस समय उन्हों ने वेदों को ऋषियों पर प्रगट किया है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में होना चाहिये, तब तो देवता का नैश्चित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है— भगवान् की ओर से दिया जानेके कारण; और यदि इसका उत्तर 'नहीं' में प्राप्त होता है, तब देवता एक बिना मूल्य, बिलकुल सस्ती चीज हो जाती है।

प्राचीन ग्रथों को देखने से तो देवता कोई ऐसा

सस्ता पदार्थ नहीं ज्ञात होता, जो लड्डु की तरह उठाकर मुख में डाल लिया जाये। अब हमें युक्तियों से इस बात पर विचार करना है।

हमारे इस विचार से तो कोई असहमत न होगा, कि 'वेद' किसी एक प्रकार के ज्ञान के प्रतिपादक नहीं है। वेद 'संहिता' शब्द ही इस बात का द्योतक है। इसको यदि मैं और स्पष्ट करता चाहूं, या मुझे कोई इस शब्द का आंगल भाषामें अनुवाद करने को कहे, तो मैं तो यही कहूंगा कि Encyclopædia of True and Eternal Knowledge. हमारे विचार में तो यह एक series है, जिसमें अनेकों ग्रंथ हैं। उस बृहत्कोश (Encyclopædia) में एक एक मंत्र एकएक पुस्तक का स्थान रखती है। और उस मंत्र का एकएक शब्द उस पुस्तक का एक एक पाठ है। अगर हमारी यह कल्पना ठीक है, तो हमारे अगले विचार में कोई असत्यता नहीं हो सकती।

यह भी आप स्वीकार करेंगे, कि यह महान् ज्ञान का कोश परमात्मा की ओर से हम ही लोगों के लिये मिला है। उसकी रचना हमारे ही लिये की गई है। इस दूसरे विचार की सत्यता भी स्वयं-सिद्ध है।

अब आप जरा इस संसार की तरफ आइये।

आज बीसवीं सदी में रोज ही हजारों पुस्तकें लिखी जाती हैं। मैं पूछता हूं, कि उनमें से कितनों पर नाम नहीं होते। टाइटल पेज को छोडिये, अन्दर पुनः उसी नामका छपा एक और टाइटल पेज होता। इतने पर भी बस नहीं, आगे एक एक पृष्ठ पर पुनः उसी किताब का बार बार नाम छपा होगा। यह सब इतना बडा झंझट क्या यों ही किया जाता है? नहीं, यह बडा महत्त्वशाली है।

यदि आज बिना नामकी एक भी किताब पढनेको चाहे कितने ही बडे विद्वान् के हाथ में क्यों न दी जाये, वह उसको एक बार पढकर नहीं समझ सकेगा। उसे एक बार योंही सारी किताब को पढ जाना होगा। उसके अनन्तर जब उसका थोडा बहुत विषय-ज्ञान हो गया, उसके बाद किताब पढने पर, वो अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

बिना किताब का नाम जाने तथा बिना अध्यायों के शीर्षक का ज्ञान होने के, जब हम एक मनुष्यकृत पुस्तक को नहीं समझ सकते, जिस की भाषा हमारी ही भाषा है, तब हम उस परमात्मा की किताब को बिना शीर्षकों के होने पर जानने का दावा कैसे करते हैं, यह बात हमारे दिमाग में नहीं आ सकती।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के गहनभावों का समझने में कठिनता अनुभव करता है, न केवल विद्वत्ता के कारण, परन्तु उच्चारण की भिन्नता, प्राकृतिक अवस्थाओं का अज्ञान तथा जिस विषय का या जिस स्थान का वर्णन किया जा रहा है, उसका ज्ञान न होना भी बहुत कठिनता उत्पन्न कर देता है।

किसी बडी विद्या को छोडिये। एक बम्बई तथा लन्दन जैसे शहर को ही ले लीजिये, उसका एक सुन्दर चित्रण चाहे शाब्दिक या चित्रमय कर दीजिये। उसको देखकर तथा पढकर क्या अन्य दावा कर सकते हैं, कि आप उसका उतना ही सुन्दर वर्णन प्रतिपादन कर सकेंगे, जितना उस आदमी ने किया है, जो बम्बई या लन्दन देखकर आया है और फिर उस किताब को पढा है? नहीं, जब हमारी अज्ञानता इतनी ज्यादा है, मालूम नहीं हम वेदों को समझने के लिये परमात्मा की तरफ से दिये हुए किसी निर्देश की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। यदि हम (महर्षि दयानन्द) के चेले इतना घमण्ड करते हैं, तो यही कहना होगा कि हम बिना नाम पते की चिट्ठी किसको देनी है- जान सकते हैं। सज्जनों! ऐसे विद्वानों की जरूरत आर्यसमाज को नहीं। उसकी आवश्यकता पोस्ट-मास्टरोंको है।

हमें मालूम होना चाहिये, कि देवता, उन-उन मंत्रों के (Headings) शीर्षक हैं, वे परमात्मा की तरफ से निश्चित किये हुए हैं. उनको कोई बदल नहीं सकता। प्रभुकी तरफ से वेदों को समझने के

लिये जितने सूत्र (formula) बतलाये हैं उनमें से 'देवताज्ञान' एक है। इसी प्रकार ऋषि का ज्ञान, स्वर, छन्द आदि भी परमात्मा की तरफ से निश्चित किये हुए हैं। इसलिये हमारे में से जो कोई भी इनको अनिश्चित तथा मनुष्यकृत समझ कर बदलाने का प्रयास करता है व वेदों के सामने, परमात्मा के सामने तथा मनुष्य ही नहीं प्राणि मात्र के सामने पाप का भागी बनता है।

देवताओं का नैश्चित्य और वेदों का मूल्य।

यदि हम देवता को निश्चित नहीं मानतें, तो हमारे सामने वेदों का कोई मूल्य ही नहीं रहता। यदि परमात्माने बिना प्रकाश के रास्ता दिखलाने का प्रयास किया है, तो हम इन चर्म-चक्षुओं से कभी नहीं देख सकते। यदि उसने हमें ऐसीही चर्म-चक्षु दी हैं, तो देखने के लिये उसे सूर्य का बनाना भी जरूरी है। ठीक इसी प्रकार से यदि परमात्माने हम अल्पज्ञोंके सामने एक ऐसी भाषा में, जिसको हम जानते नहीं, ऐसे भावों को जो हमारी अक्कल से बाहर है, या उनको हमारे सामने प्रकट करने की उसे आवश्यकता महसूस हुई, तो यह कहना पडेगा कि उससे बढ कर हमारी इस सृष्टि में कोई दूसरा मूर्ख नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिये एक विद्वान् चीनी भाषा में हमारे सामने व्याख्यान देने खडा होता है, हमें वह अपने व्याख्यान का विषय नहीं बतलाता और बोलना शुरू कर देता है। हमने उसके उच्चारण को वैसे का वैसा लिख लिया, परन्तु क्या इतने मात्र से उसका व्याख्यान हमारे लिये कुछ कीमत रखता है ? नहीं, आप हजारों व्याख्यान उस भाषा में सुनकर लिख लीजिये, पर आपको कुछ भी मालूम नहीं हो सकता। आप लाख सिर पचाकर रह जाइये, आप उतने ही बडे मूर्ख बने रहेंगे, जितने कि पहले विद्वान् थे। परंतु हां, यदि आप किसी चीनी भाषा जाननेवाले को पकड लेंगे, तो समझ में आ जायगा, पर वहां तो निर्देशक किसी न किसी रूप में आ गया। दूसरा तरीका उन व्याख्यानोंको समझनेका यह हो सकता है कि आप उनके शीर्षक जान लें। अर्थात् अमुक वर्णन घोडे का है, अमुक गाय का, अमुक ऊंट का और अमुक बकरी का। उसके बाद भी आप तुलनात्मक विवेचन या comparative observation से बहुत कुछ उसको समझ लेंगे। परन्तु बिना शीर्षक के वे व्याख्यान आपके लिये बिल्कुल रद्दी हैं।

जहां भाषा, भाव, तथा शीर्षक तीनों ही अज्ञात हैं, वहां की तो कथा ही क्या है, परन्तु मैं कह सकता हूं कि जहां केवल भाषा का ज्ञान है, वहां भी बिना शीर्षक के जाने समझना अति दुष्कर है।

इतना ही नहीं, हम पूछते हैं, कि हमारेमें से कितने ऐसे विद्वान् हैं- आजके दिन जब कि वेदमन्त्रों के शीर्षक भी प्राप्त हैं- जो सम्पूर्ण वेदों को समझने का दावा करते हों ? सज्जनो ! अपने यश की इच्छापूर्ति के लिये जनता को भटकाना अच्छा मालूम नहीं देता हो।

सन् १९३८ के आर्यविद्वानों का मत।

आज से दस मास पूर्व से आर्यसमाज वैदिक देवताओं को अनिश्चित मानने लगा है। इस लिये हम जिस विचार का उल्लेख करने लगे हैं, वह आज के आर्यसमाजियों का है।

'देवता' मंत्र का प्रतिपाद्य विषय है। और क्योंकि एक मंत्र अनेकार्थ हैं, अतः उसके प्रतिपाद्य विषय भी अनेक हैं, इसलिये देवता निश्चित नहीं हैं। मंत्रों को पढकर उसका अर्थ करके उसका देवता निश्चित किया जा सकता है। अर्थात् एक मन्त्र का अर्थ एक विद्वान् हवाई जहाज के अर्थ में लगाता है, तो उसका देवता हवाई जहाज हो गया।

दूसरे विद्वान्ने उसका अर्थ बन्दूक परक किया, तो उसका देवता बन्दूक हो गया। तीसरे विद्वान्ने उसी मन्त्र का अर्थ लड्डु परक किया, तो बस लड्डु ही देवता बन गये। मुझे तो यह पढकर ही हंसी आती

है। मालूम नहीं आज के विद्वानों को यह विचार कैसे प्रभावित करता है। इस Children's Law की वेदों के लिये जरूरत नहीं है। विद्वानों! वेदों को इस अनर्थ से बचाइये, बस यही एक प्रार्थना है।

'पुंक्षु' की सिद्धि के लिए तो हम सनातनियों को बडा कोसते हैं, पर क्या आज हम भी वही नहीं कर रहे? आज इसको पढकर अत्यन्त दुःख होता है। 'या तेनोच्यते सा देवता' 'यज्ञो वा यज्ञांगो वा' इत्यादि शब्दा का कितना तोडमोडकर अर्थ किया है, इसपर सिवाय अचरजके और कुछ नहीं किया जा सकता। इन सब का अर्थ हम आगे प्रतिपादित करेंगे, जब कि विभिन्न आचार्यों के मत का उल्लेख करेंगे।

यहां एक बात और लिख देते हैं और वह यह कि जो प्रणाली वेदार्थ के लिये आजके आर्यसामाजिक विद्वान् बतलाते हैं, वह बुद्धि के भी विपरीत है। क्या कभी कोई मास्टर व अध्यापक, जब क्लास में पढाना शुरू करता है, तो क्या बिना विषय का प्रतिपादन किये हुए पढाना शुरू कर देता है? क्या आप उस अध्यापक को ठीक समझेंगे, जो क्लास में आकर पुस्तक पढना शुरू कर दे? विद्यार्थियों को मालूम नहीं, कि गुरुजी कौनसी किताब पढाना चाहते हैं।

सज्जनों! यहि केवल पठन (Reading) ही शिक्षा देने के लिये पर्याप्त होता, तो आजकल गुरुओं के लिये training colleges की जरूरत नहीं थी। पर नहीं, इस सबकी आवश्यकता है मनुष्य की बुद्धि के लिये-क्योंकि वह इतनी तीव्र नहीं है। परमात्मा ने मनुष्य की बुद्धि को कुछ इसही प्रकार का बनाया है। यह उसके स्वभाव में सम्मिलित है। जब इस सिद्धान्त को एक मनुष्य अनुभव कर सकता है, तो सर्वज्ञ परमात्मा इसको नहीं जानता था या है, यह हमारी बुद्धि में नहीं आ सकता और नाही किसी Rational Being की बुद्धि में आ सकता है।

मुनि यास्क का मत।

यह तो हुआ आज के (सन् १९३८ के) आर्यसमाजियों का मत। अब हम मुनि यास्क का मत प्रकट करेंगे।

मुनि यास्क देवता का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं-

" यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति "।
(निरुक्त ७-१)

अर्थ- जिस कामनावाले होकर ऋषि ने किसी देवता में उस अर्थ की प्राप्ति की इच्छा से स्तुति की है, उस देवतावाला वह मंत्र होता है। जैसे 'अग्निमीळे' इत्यादि मंत्र में 'अग्नि' नामक देवता में उसकी स्तुति की है, अतः वह मंत्र 'अग्नि' देवतावाला हुआ।

इस मंत्रभाग में बिलकुल स्पष्ट दो शब्द हैं, 'यस्यां देवतायाम्' और 'तद्दैवतः' इससे स्पष्ट प्रतिपादित होता है, कि वही देवता उस मंत्र का देवता है, जिस नामसे जिसकी स्तुति की गई है, न कि वह 'अर्थ' देवता है। अगर उनको (यास्क को) यही अभिप्रेत होता तो वे स्पष्ट लिखते कि वह अर्थ ही उसका देवता है। यास्क का यह मत केवल इतने से स्पष्ट न होता हो तो और देखिये। निरुक्तकार लिखते हैं, कि देवताज्ञान बडा कठिन है और जो याज्ञिक लोग यह समझते हैं, कि हम सब देवता जानते हैं * तो वे बतायें कि "त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैः" क्या देवता है? फिर लिखते हैं, कि इस मंत्रका देवता 'अग्नि' है, वायु या इन्द्र नहीं।" यदि यास्क के मत में देवता अनिश्चित होते, तो इस प्रकार की शंका करके, उनको उत्तर देने की जरूरत नहीं थी। + परन्तु वास्तव में यास्क के मत में भी देवता निश्चित हैं। इतना ही नहीं और देखिये-

* ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति।......। इन्द्रं न त्वा शवसा ...... वायु लिंगं चेन्द्रलिंगञ्चाग्नेये मंत्रे।
+ जो यह कहें कि वायु या इन्द्र देवता हैं, वे अशुद्ध हैं। (निरुक्त)

मुझे यास्क का मत इस कारणविस्तार से लिखना पड रहा है कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि में यास्क प्रामाणिक हैं। महर्षि भी उनको इस वेद के सम्बन्धमें प्रामाणिक मानते हैं। आर्यसमाजी भी यास्क को मानते हैं। और तो और १९३८ ईस्वी के आर्य-विद्वान् भी यास्कको आप्त मानकर अपने विचारों को पुष्ट करने के लिये उनको उद्धरित करते हैं।

यास्क एक और प्रकारसे इसको पुष्ट करते हैं- 'शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे, सर्वा देवता जानामीति, तस्मै देवतोभयलिंगा प्रादुर्बभूव तान्न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश॥" (नि०२।२)

अर्थात् शाकपूणि निरुक्तकार ने यह विचार किया कि वह सब देवताओं को जानता है। इसपर एक उभयलिंगा देवता उसके सामने प्रकट होकर बोली कि मैं कौनसी देवता हूं, शाकपूणि आचार्य उसको नहीं पहचान सके और उसीसे पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं। इसपर उसने निम्न ऋचा को समझने के लिये (उसी देवता को—क्योंकि उस देवतावाली वह ऋचा थी) आदेश किया। अस्तु।

इस ऋचा का अर्थ करते हुए यास्क ने इस मंत्र को विद्युत् परक लगाया है, परन्तु इस ऋचा की देवता 'विश्वेदेव' हैं। न कि 'विद्युत्'। इससे भी यही मालूम होता है कि यास्क के मत में देवता निश्चित हैं। नहीं तो वे भी इस मंत्र का देवता 'विद्युत्' मानते और विश्वेदेव को अशुद्ध प्रतिपादित करते। यदि अशुद्ध नहीं तो भी कम से कम इस स्थानपर तो 'विद्युत्' को ही देवता मानते। 'विश्वेदेव' को तो कभी स्वीकार नहीं करते। परन्तु उन्होंने 'विश्वेदेव' का खण्डन नहीं किया। अन्यथा मंत्र की देवता पर विचार करते हुए, उनके लिये यह आवश्यक था कि वे लिखते कि इसका देवता 'विद्युत्' है।

सन् १९३८ वे विद्वान् (वैदिक आर्यसमाजी) अपने मत को पुष्ट करने के लिये यास्क का निम्न वाक्य उद्धृत करते हैं।

यद्देवतः सः। यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्। प्राणो देवता वा, अस्ति हि आचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्। याज्ञदेवतो मंत्र इति॥

(नि० ७।१)

यास्क प्रश्न करते हैं कि जिन मंत्रों के देवता अनादिष्ट हैं अर्थात् एकदम साधारणतया स्पष्ट ज्ञात न होते हो, वहां क्या किया जाये। उसका उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं-

उसका देवता या तो यज्ञ है अथवा यज्ञांग है। और जहां ये दोनों भी न हो ऐसे स्थलों के लिये याज्ञिकों का मत है कि उन मंत्रों का देवता 'प्रजापति' है। निरुक्तकारों के मंत्र में वे मंत्र मनुष्य-देवताक हैं और सकाम लौकिक मनुष्यों की दृष्टि से वे कामना-देवताक हैं। आगे फिर निरुक्तकार कहते हैं कि लोक में तो विद्वान् गुरु आचार्य अतिथि तथा महापिता को भी देवता कहते हैं, परन्तु वास्तव में तो मंत्र का देवता यज्ञ ही है- इसको कर्मकाण्ड की ओर भी लगाते हैं।

अब मैं आपसे पूछता हूं कि क्या निरुक्त के उपरोक्त भाग से, एक मंत्र के अनेक देवता सिद्ध होते हैं?

विद्वानो! यास्क कहां पर किसी एक मंत्र के देवता पर विचार नहीं कर रहे हैं, वे तो सम्पूर्ण 'अनादिष्ट देवतावाले मंत्रों' पर विचार कर रहे हैं। 'यज्ञो वा यज्ञांगो वा' का केवल इतना ही तात्पर्य है कि कुछ अनादिष्ट देवता वाले मंत्रों का देवता यज्ञ है और कुछ का यज्ञांग है। ये भी जिनके न हों, उनके लिये आगे विभिन्न मत दिये हैं। इससे मंत्र अनेक देवतावाले सिद्ध नहीं होता।

नहीं तो निरुक्तकार को विभिन्न मत दिखलाने की जरूरत नहीं थी। इतना वे भी स्वीकार करते हैं कि चाहे वे मंत्र प्रजापति परक हो और चाहे मनुष्य परक, उनके देवता एकही है और निश्चित है। नहीं तो यह आपत्ति कहीं रह ही नहीं सकती।

यदि आज के विद्वानों का मत शुद्ध हो, तो यास्क को देवता पर इतना ज्यादा गहरा विचार करने की जरूरत नहीं थी। यही सब इस बात को सिद्ध करता है, कि यास्क के मत में देवता निश्चित हैं। ऐसे और भी स्थल दिखलाये जा सकते हैं, जो हमारे विचारको पुष्ट करते हैं, परन्तु उन स्थलोंपर बिल्कुल स्पष्ट न होनेसे हम उनको छोड देते हैं। क्योंकि हमारा प्रयोजन इतने से ही सिद्ध हो जाता हैं।

प्रो. चन्द्रमणि विद्यालंकार का मत।

महर्षि दयानन्द का मत हम सबसे अन्त में लिखेंगे।

जिन्होंने प्रोफेसरसाहब का निरुक्तभाष्य देखा होगा, उनको तो यह बतलाने की जरूरत नहीं है, उनके मत में देवता निश्चित हैं। यहां हम यह भी लिखना उचित समझते हैं, कि उनके भाष्य को प्रकाशित हुए हुए आज बारह वर्ष से अधिक हो चुके हैं, परन्तु शायद उनके निरुक्त में किसी भी विद्वानने कोई सिद्धान्त-विरोधी बात नहीं पाई है। और यदि किसी ने पाई भी हो, तो वह देवता के सम्बन्ध में नहीं है। इसलिये यदि हम कहें कि उनका मत आर्यसमाजियों को सन् १९३७ के दिसम्बर मास तक माननीय था, तो कोई गलत कह भी की बात न होगी।

यदि मैं उनके सम्पूर्ण स्थलोंको उद्धृत करने लगूं, तो शायद मुझे उनके निरुक्तभाष्य के दो अध्यायों को वैसा का वैसा उतार देना होगा। इस लिये मैं उनका एक ही स्थल उद्धृत करूंगा, जहां से बिल्कुल सन्देह होही नहीं सकता कि उनके मत में देवता निश्चित हैं या अनिश्चित।

'अयं सः शिङ्क्ते' इस "मंत्रका देवता 'विश्वेदेव' है।" (जो कि वेदों में छपा हुआ है।) आगे पंडितजी उस मंत्र का अर्थ करते हैं और बतलाते हैं कि इसका 'आशय निम्न है कि विद्युत् के दो रूप हैं- एक, स्तनयित्नु रूप, जो गर्जता है और दूसरा विद्युत्रूप जो प्रकाश करता है। मेघवर्ती विद्युत् क्रमशः अपने इन दोनों रूपों को दर्शाकर और वृष्टि करके अपने रूपों को पुनः छिपा लेती है।" पंडितजी के अनुसार इस मंत्र में स्पष्ट विद्युत् का प्रतिपादन है, परन्तु वे देवता 'विश्वेदेव' मानते हैं। यदि उनको १९३८ के आर्यविद्वानों का मत स्वीकार होता, तो वे 'विश्वेदेव' न लिख-कर इस मंत्र का देवता 'विद्युत्' लिखते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में देवता (हमें इससे अभी मतलब नहीं कि वे कौनसे देवता मानते हैं) निश्चित हैं।

बृहद्देवता का मत।

यहां हम इस बातका विचार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हुए हैं, कि बृहद्देवतामें लिखित कितने देवता शुद्ध हैं। यहां हम ऊपर की भांती केवल यही प्रतिपादित करेंगे कि देवता निश्चित हैं या अनिश्चित। वे लिखते हैं—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन् शक्त्या स मंत्रस्तद्देवतः॥
(बृ. दे. १।६)

इस श्लोक की तुलना निरुक्तकार यास्क के 'यत्काम ऋषिः' वचन से की जा सकती है। इस का अर्थ बिल्कुल वही है, अतः यहां विशेष व्याख्या की जरूरत नहीं है। यहां भी स्पष्ट लिखा है कि वह मंत्र उसी देवतावाला है। इनके मत में भी देवता बदलते नहीं हैं।

भाष्यकार उव्वट का मत।

यजुर्वेद का भाष्य प्रारम्भ करते हुए उव्वट लिखते हैं कि—

'मंत्रस्य वाच्यं देवता ।' अर्थात् मंत्र का वाच्य (Subject, Predicate नहीं) ही मंत्रका देवता होता है। इसलिये इससे यह स्पष्ट है कि उव्वट के मत में देवतावाची शब्द मंत्रमें पठित होना चाहिये। अर्थात् यदि किसी मंत्रमें 'अग्नि' शब्दसे नेता का वर्णन किया गया है, तो उस मंत्र का देवता 'नेता' न होकर 'अग्नि' ही है।

यहां हम यह भी बतला दें कि—

'या तेन उच्यते सा देवता॥'

का जो यह अर्थ किया जाता है कि 'जिस पदार्थ का वर्णन जिस मंत्र में हो, वही उसका देवता है' अशुद्ध है। यहां पर यदि लेखक को अर्थ से अभिप्राय होता, तो 'वर्ण्यते' का उपयोग करता न कि 'उच्यते' का। यही कारण है कि हम इन लोगों के भाष्य में देवतावाची शब्दों को निश्चित पाते हैं, चाहे अर्थ कुछ भी हो। परन्तु हां वह देवतावाची शब्द उस अर्थवाची भी होना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि एक मंत्र का देवता 'अग्नि' है तो उस मंत्रको हम आग, तेज, सूर्य आदि पदार्थों के अर्थ परक ही ले सकते हैं न कि मकान या किताब आदि के अर्थ में। उस वक्त भी वे वे अर्थ करते हुए देवतावाची शब्द स्थिर ही रहेगा। उसकी जगह पर्यायवाची शब्द भी नहीं लिया जा सकता।

वेदों के अन्य भाष्यकारों के मत।

इसी प्रकार से हम अनेक भाष्यकारों को ले सकते हैं। हम पूछते हैं कि उनमें से कितनोंने अर्थों के अनुसार वैदिक देवताओं का निश्चय किया?

अभी एक यजुर्वेद का भाष्य वृन्दावन से प्रकाशित हो रहा है– देखा कि देवता तो वही हैं, परन्तु मंत्रार्थ संसार के चारों कोनों में घूम आये हैं। लाहौर से पंजाब प्र० नि० सभा की तरफसे पं. बुद्धदेवजी विद्यालंकार आदि भी एक वेद-भाष्य प्रकाशित कर रहे हैं, परन्तु उन्होंने भी कितने मंत्रों के देवता प्रथम अर्थ करके निश्चित किये हैं। इसलिये हमें तो यही करना होगा कि आजतक लगभग सब विद्वान् वेदों के देवता निश्चित ही मानते आये हैं। हां एक-एक मंत्र के दो-दो, तीन-तीन तथा चार-चार देवता भी माने हैं, परन्तु माने सब निश्चित देवता ही हैं। और जिनको देवताओं का स्वरूप समझ में नहीं आया, उन्होंने प्राचीन सब भाष्यकारों के देवताओं को मान लिया है। पर ऐसा किसी ने नहीं किया, कि बन्दूक, गाय, पुस्तक, लड्डू ऐसे शब्दों को भी देवता मान लिया हो।

स्वामी भूमानन्दसरस्वती का मत।

स्वामी भूमानन्दजी वैदिक साहित्यके अद्वितीय तथा सच्चे विद्वान् हैं। जिन्होंने उनकी पुस्तकोंको पढ़ा हैं, वे ही उन्हें समझते हैं। वे आजकल वेदोंका अंग्रेजी में एक भाष्य लिख रहे हैं, जो शायद अभीतक के सम्पूर्ण वेदभाष्योंसे (जिस दृष्टिकोणको लेकर यह लिख रहे हैं) उत्कृष्ट होगा। वे भी सम्पूर्ण मंत्रों के देवता वेही मानते हैं। उनके मतमें भी देवता निश्चित हैं। हो सकता है, वे किसी मंत्रका देवता बदल दें, उस अवस्थामें भी, उनकी दृष्टिसे, दूसरे देवता अशुद्ध हैं। चाहे दोनोंमेंसे कोई ठीक हो, पर दोनों नहीं हो सकते। इससे उनके मतमें भी देवताका निश्चित होना सिद्ध होता है। आगे तो उनका भाष्य जनताके सामने आनेपर ही मालूम होगा– (यदि वे इस पर अपने विचार प्रकट करेंगे, कि वे देवता को निश्चित या अनिश्चित मानते हैं।) परन्तु उनके Specimen को देखकर तो उपरोक्त विचार ही पुष्ट होता है।

महर्षि दयानन्दका मत।

इतने सब मतोंको लिखकर अब हम स्वामिजी का मत लिखते हैं। कि स्वामिजी के मतमें देवता निश्चित हैं या अनिश्चित।

*

जैसा कि हमने प्रारम्भ में लिखा है कि स्वामिजी ने बिल्कुल स्पष्ट कि ' देवता निश्चित हैं ' कहीं भी नहीं लिखा है । परन्तु इसके विपरीत 'देवता अनिश्चित हैं ' भी कहीं नहीं लिखा है । ऐसी अवस्थामें हमें उनके विचारोंसे परिणाम निकालना होगा, कि वे देवताको निश्चित मानते थे या नहीं ।

उनकी दृष्टिमें देवता का बडा महत्त्व था, यह तो इससे ही मालूम होता है कि ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका लिखते हुए उन्होंने सबसे पूर्व देवतापर विचार किया है । इसमें सन्देह नहीं कि वेदोंका नित्यत्वादि विचार देवता-विचार से भी पहले किया है, परन्तु वह सब ईश्वर व वेदोंकी सत्तासे सम्बन्ध रखता है । वेदोंकी नित्य सत्ता सिद्ध होने के बादही देवता का विचार उत्पन्न होता है । परन्तु यदि वेदोंका अनित्यत्व सिद्ध हो जाये, तो देवता-विचार व्यर्थ होता है । इसी दृष्टिको मध्ये रखकर हमने यह लिखा है,कि स्वामिजीने देवता-विचार को सर्व प्रथम स्थान दिया है ।

स्वामिजी प्रश्न करते हैं-

यज्ञे देवता शब्देन किं गृह्यते ! याश्च वेदोक्ताः । अत्र प्रमाणानि । अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।

यजु० १४।२० ।

अर्थात् यज्ञमें देवता शब्दसे किसका ग्रहण होता है ? (उत्तर) जो जो वेदमें कहे हैं, उन्हींका ग्रहण होता है । इसमें यजुर्वेदका ' अग्निर्देवता ' इत्यादि प्रमाण हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्वामीजी को 'वेदमंत्रोंका जो अर्थ किया जाता है, वह देवता है ।' यह अभिप्रेत नहीं है । यदि ऐसा होता, तो वे वेदमंत्रको उच्चारण करनेकी जगह वह लिखते । यहां आप कहेंगे कि उन्होंने वह केवल यज्ञोंके लिये लिखा है । मैं मानता हूं, परन्तु जो उनका उत्तर है, वह ऐसा प्रतीत होता है, कि वह यज्ञोंके लिये तथा औरोंके लिये भी है । खैर, कमसे कम यहां इतना तो सिद्ध होता है कि स्वामीजी यज्ञोंके लिये तो देवताको निश्चित मानते हैं ।

परन्तु स्वामीजी ने उपरोक्त भागके आगे जो निम्न शब्द लिखे हैं, वह तो उनका देवतासम्बन्ध का विचार है, जो न केवल यज्ञोंके लिये हैं, परन्तु देवताका सामान्य विचार है ।

' यस्मिन्मंत्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते स एव मंत्रो अग्निदेवतो गृह्यते ' इसका अर्थ भी उन्हींकी भाषामें देखिये—' कि जिन जिन मंत्रोंमें अग्नि आदि शब्द हैं उन-उन मंत्रोंका और उन उन शब्दोंके अर्थोंका अग्नि आदि देवता नामोंसे ग्रहण होता है ।

स्वामीजीके इस भागसे बिल्कुल स्पष्ट मालूम होता है कि ' अर्थ ' देवता नहीं है परन्तु वे अग्नि आदि शब्दही उन मंत्रोंके देवता हैं । क्या इससे उनके मतमें देवता का निश्चित होना सिद्ध नहीं होता ?

स्वामीजी आगे अग्नि आदि शब्दोंके देवता होनेमें दो ' हेतु ' देते हैं ।

१. तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्-और
२. परमात्मेश्वरेण कृतसंकेतत्वात् च ।

यहां दूसरे हेतुसे यह भी सिद्ध होता है, कि उनके देवता होनेमें ईश्वरने संकेत किया है । इससे यही कहना होगा कि स्वामीजी के मतमें देवताओंके लिये ईश्वरने संकेत किया है । इतना होने पर फिर स्वामीजी के मतमें 'देवता का अनिश्चित' होना कहां ठहरता है ।

स्वामीजी और लिखते हैं-

'यानि नामानि मंत्रोक्तानि येषामर्थानां मंत्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिंगानि भवन्ति' तद्यथा 'अग्निं दूतं पुरोदधे' इत्यादि मंत्रे 'अग्नि शब्दो लिंगमस्ति। अतः किं विज्ञेयं? यत्र यत्र देवता उच्यते तत्र तत्र तल्लिंगो ग्राह्य इति।'

यहां स्वामीजी स्पष्ट लिखते हैं, कि "येषां अर्थानि" 'जिनके अर्थ' इससे उन्होंने देवता और उनके अर्थोंको अलग अलग कर यह बतला दिया है कि अर्थ देवता नहीं है।

उपरोक्त भाग की हिन्दी बनाते हुए स्वामीजी लिखते हैं-

"जो जो संज्ञा जिन जिन मंत्रोंमें जिस जिस अर्थ की होती है, उन मंत्रोंका नाम वही देवता होता है।"

स्वामीजीके इस भागसे मालूम होता है कि 'देवता' 'मंत्रका नाम' है। पर वह नाम हर कोई जिसकी मरजीमें जो आये नहीं कर सकता। इसी को मध्ये नजर रखकर स्वामीजी आगे लिखते हैं-

"अग्निं दूतं' इस मंत्रमें अग्नि शब्द चिह्न है- यहां इसी मंत्रको अग्नि देवता जानना चाहिये।" यहां स्वामीजीने यद्यपि सम्पूर्ण मंत्रको देवता मान लिया है, परन्तु उसका नाम कहीं बाहर से उठा कर नहीं रखा। मंत्रमेंसे ही जो लिंग है, उसको देवता मान लिया है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है, कि स्वामीजीके मतमें वेदमंत्रोंके अर्थ देवता नहीं है।

स्वामीजीने इतने से ही बस नहीं किया। और लिखते हैं-

'जहां जहां मंत्रोंमें जिस जिस 'शब्द'का लेख है, वही उसका देवता है। इससे स्पष्ट प्रमाण और क्या चाहिये?

स्वामीजीके मतमें पर्यायवाची शब्द भी देवता नहीं हो सकते। अर्थात् यदि किसी मंत्र का देवता 'अग्नि' है, तो उसका देवता 'वह्नि' नहीं हो सकता। इसी प्रकारसे जिसका वरुण है, उसका 'जल' नहीं हो सकता आदि।

"सो देवता शब्दसे जिस जिस गुणसे जो जो अर्थ लिये जाते हैं, सो सो ब्राह्मणादि ग्रंथमें अच्छी प्रकार लिखा है" ×

ब्राह्मणोंमें वैदिक शब्दोंके व देवताओंके अर्थ लिखे हैं, जैसे 'रात्रिर्वरुणः,''यो वै वरुणः सोऽग्निः' श्रीर्वै वरुणः' आदि अनेक अर्थ हैं, इसलिये कहीं इनको देवता न समझते स्वामीजीने लिख दिया, कि वे सब देवतावाची शब्द नहीं है परन्तु देवतावाची शब्दोंके अर्थ हैं। सो अर्थ करते हुए उनको ले लेना चाहिये।

इस प्रकारसे हम देखते हैं, कि स्वामीजीके मतमें भी हमारा ही सिद्धान्त ठीक है अर्थात्—

"देवता निश्चित हैं, वे बदले नहीं जा सकते और उनका निर्देश मंत्रमें सीधा होता है। उनका स्थान दूसरा कोई भी शब्द चाहे पर्यायवाची ही क्यों न हो नहीं ले सकता।"

यदि स्वामीजी के मतमें अर्थोंके अनुसार देवता होते, तो मैं पूछता हूं कि उनके वेदभाष्यमें कितने मंत्रोंके देवता अर्थोंके अनुसार हैं। यजुर्वेदमें सैंकडों मंत्रोंके अर्थ उन्होंने राजपक्षमें लगाये हैं, उनमेंसे कितनोंके देवता 'राजा' या 'प्रजा' है। हां इसमें शक नहीं कि जो देवतावाची शब्द हैं उनका अर्थ 'राजा' या प्रजा किया हो। पर इससे

× संस्कृत वाक्य जान बूझकर उद्धृत नहीं किये हैं क्योंकि फिर उनका अर्थ दिखलानेके लिये ये पुनः उद्धृत करने होते.

उनकी दृष्टिमें भी अर्थ देवता नहीं, यह तो स्पष्ट सिद्ध होता है।

इतना विस्तारसे लिखनेके अनन्तर हमारी आर्य विद्वानोंसे प्रार्थना है, कि सिद्धान्त के विषयमें जोशको कभी काममें नहीं लाना चाहिये। हमें व्यक्तिके नाम, गुण तथा शकल सूरतसे भी अलग रहना चाहिये। सिद्धान्तके लिये हमें हमेशा निष्पक्षपात होना चाहिये, नहीं तो हम बडी आसानीसे मूर्ख बनाये जा सकते हैं, जैसा कि आज हो रहा है।

हमारी आर्योंसे प्रार्थना है कि लेखक का नाम पढे बिना लेखको पढ जाइये और उस वक्त आप यह अनुभव करेंगे कि स्वामी दयानन्द का मत वही था, जो हमारा है। यदि आपको फिर भी यही मालूम हो, तो आप उपरोक्त लेखकी पंक्ति-पंक्तिका खण्डन कीजिये और इसको शुद्ध तथा पवित्र भावनासे पुष्ट कीजिये। जिनके पास प्रमाण न हो, सिद्धान्तके सम्बन्धमें, उनसे मेरी प्रार्थना है, कि वे अपनी कलम को नीचे रखे। एक दूसरेके प्रति कि अमुक ढोंगी है, अमुक अमुक पन्थी है, अमुक एक भाष्यमें कुछ लिखता है और दूसरेमें कुछ, आदि बातोंसे, विद्वानों! सिद्धान्त की पुष्टि या खण्डन नहीं होता। साथमें मेरी पत्र-सम्पादकों से भी प्रार्थना है कि जो लेख एक दूसरेके जीवनों पर छींटे उडानेवाले हों उनको पत्रोंमें प्रकाशित न करें। और जो ऐसा कर रहे हैं, वे धन्यवादके पात्र हैं। इतना साथमें और कह दूं कि जो लेख सिद्धान्तकी ओर तथा द्वेषपूर्ण न हो, तथा सच्ची भावनासे लिखे गये हों, उन्हें प्रकाशित करनेमें भी पत्रोंको चुप नहीं रहना चाहिये। अर्थात् शीर्षक से तो " किसी सिद्धान्तपर इस लेखमें विचार किया गया है " मालूम होता हो, पर पढने से मालूम होता है कि सिद्धान्त तो एक ओर रक्खा गया और सिवाये कीचड उछालनेके उस लेखमें कुछ नहीं-केवल ऐसे ही लेखोंके लिये हमारा लिखना है, अन्योंके लिये नहीं।

वेदकी व्यवस्था किस तरह रहेगी ?

पाठकों ! सोचिये-- तो सही–

१ वेदमंत्रों के ऋषि बदलते हैं,
२ मंत्रोंके देवता मंत्रका अर्थ करनेवालेकी इच्छासे बदलते हैं,
३ छन्दभी अनियत हैं,
४ अर्थभी बदला जाता है, अतः अस्थिर है,
५ पाठभेदभी घुसेडे जाते हैं, (जैसा अजमेर मुद्रित ऋग्वेदमें 'देवृकामा' घुसेडा गया है,)

इतना माननेपर वेदका स्वतःप्रामाण्य कहां रहेगा ? इस विषयमें हमारा निश्चित मत यह है —

१ वेदमंत्रोंके ऋषि निश्चित हैं,
२ मंत्रोंके देवता निश्चित हैं,
३ मंत्रोंके छन्द निश्चित हैं,
४ मंत्रोंका अर्थ भी प्रकरणानुकूल निश्चितहि है, (अर्थ करनेवालेपर एक एक पदके अर्थका उत्तरदायित्व है, मर्जी चाहे अर्थ कभी बदला नहीं जा सकता ।)
५ वेदमें पाठभेद भी नहीं हैं, (खोजपूर्वक पाठभेद दृग्गोचर हुए तो उनको हटानाही चाहिये । पाठभेद अनर्थकारी समझने चाहिये ।)

इस कारण वैदिक धर्मियोंके लिये वेद शाश्वत प्रमाणके ग्रन्थ हैं, उसमें अस्थिरता बिलकुल नहीं है ।

—संपादक ' वैदिक धर्म '

सामगायनकी गात्र-वीणा ।

(पृष्ठ ८१३ देखें)

वेदों का मुद्रण।

ऋग्वेद।

चारों वेदोंके मुद्रणका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें बडी खोजके साथ चला है। उसमें से '**ऋग्वेद**' का मुद्रण हो चुका था, परंतु उसकी मांग इतनी अधिक हो गयी, कि प्रथमवार की सब प्रतियां लग चुकी हैं, अब एकभी प्रति यहां शेष नहीं है, मांग प्रतिदिन बढ रही है, **इसलिये द्वितीयवार पांच हजार प्रतियां छापनेका कार्य शुरू हो चुका है। इसवार हम पांच हजार प्रतियां छापेंगे, और एक हजार प्रतियां पदपाठसहित छापेंगे**। सब लोग वेदके अच्छे और सुन्दर पुस्तक चाहतेहि हैं, और इस दूसरीवारकी छपाईमें पूर्वकी अपेक्षा अधिकही विशेषताएं रहेगी, अतः जो शुद्ध, सुन्दर और सस्ते वेदग्रंथ अपने पास रखना चाहते हैं, वे शीघ्र अपना ग्राहकमूल्य भेज दें और ग्राहक बनें।

अथर्ववेद।

अथर्ववेदकी छपाई तीनचौथाई हो चुकी है और यह ग्रंथ आगामी ३ महिनोंमें तैयार होकर ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। **इसमें हमने प्रत्येक सूक्तके ऋषिदेवता छन्द दिये हैं और प्रत्येक सूक्तके विषयका शीर्षक भी दिया है**। इससे विषयवार अध्ययन करनेवालोंको सुविधा होगी।

सामवेद का मुद्रण।

सामवेदका मुद्रण एक बडी जिम्मेवारीका कार्य है। जो सामवेद आजकल छपा मिलता है, वह तो केवल **आर्चिक** मात्र है। अर्थात् केवल ऋग्वेदकी ऋचाओंका संग्रह हि है। यद्यपि कुछ ७४ मंत्र इस समयके ऋग्वेदमें नहीं मिलते, तथापि वे ऋग्वेदकी अन्य शाखाओंमें होंगे, ऐसा ही सब मानते हैं। सामवेद ऋग्वेदके ही मंत्रोंका गायनके लिये एक संग्रह है, अतः इसका अर्थ ऐसा करते हैं—

सामन् = सा+अम
सा = ऋचा, ऋग्वेद-मंत्र
अम = स्वर, आलाप, तान, गान

अर्थात् ऋग्वेदमंत्रोंपर आलाप लेकर जो गान होता है, वही साम है। जबतक आलाप नहीं लिये जाते, तबतक वह मंत्र '**ऋचा**' हि कहा जायगा। इसीलिये सामवेद की संहिताको '**आर्चिक**' अर्थात् '**ऋचाओंका संग्रह**' कहते हैं। यह आर्चिक हम प्रथम छाप रहे हैं और हमें आशा है, कि हम इसे चार महिनोंमें छापकर ग्राहकोंको दे सकेंगे। ये सामवेदके ऋचामंत्र- आर्चिक मंत्र - जैसे हैं वैसे गायनमें प्रयुक्त नहीं होते, अर्थात् उनपर जो अंक हैं, वे गायनके नोटेशन नहीं हैं। वे केवल उदात्त-अनुदात्त-स्वरित के चिह्न हैं, जैसा देखिये—

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

यह सामवेदका प्रथम मंत्र है। यह ऋग्वेदमें मं. ६।१६।१० में है, वहां इसके स्वर ऐसे हैं-

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इन दोनोंका मीलन करनेसे इन अंकोंका संबंध स्पष्ट हो जाता है देखिये—

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २ र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इस तरह देखनेसे पता लगता है, कि जहां ऋग्वेदमें नीचे स्वरचिह्न हैं, उस अक्षरपर सामवेदमें '३' अंक होता है, जहां ऋग्वेदमें अक्षरके सिरपर खडा स्वरचिह्न होता है, वहां सामवेदमें '२' अंक होता है और जहां ऋग्वेदमें

स्वरचिह्न नहीं होता, वहां '१' अंक सामवेदमें होता है। इनमें थोडा और भेद है उसका विचार यहां नहीं किया है। सामवेदमें कई अक्षरोंपर कोई अंक नहीं होता, वे अक्षर पूर्व अक्षरके स्वरके चिह्नोंसे युक्तही समझने चाहिये। जैसा–

'दा॒तये' 'दा॒त॒यें॒' इ०

ऐसा समझना चाहिये, जैसा ऋग्वेदमें समझते हैं। इस प्रकारकी तुलनासे ऋग्वेदके स्वरोंके साथ सामवेदके स्वराङ्कोंका मीलन करनेसे सामवेदके अंक किस स्थानपर अशुद्ध हैं, इसका भी पता लगता है, और इस कारण यह अशुद्धि है या नहीं, यहभी इस निरीक्षणसे बताया जा सकता है।

सामवेदपर कई लोगोंने इस समयतक लिखा है, उनमें कईयोंने ऐसा भी लिखा है, कि ये अंक निरर्थक दिये हैं। परंतु इस खोजसे इन अंकोंकी सार्थकता सुस्पष्ट हो रही है।

सामवेद आर्चिक संहितामें— आजकल मिलनेवाली साम-वेद-संहितामें जो मंत्रसंग्रह है, वह वैसाका वैसा गाया नहीं जाता, तथापि इन मंत्रोंको कण्ठ करनेके लिये यह संग्रह है और मंत्रोंको कण्ठ करनेके विना आगेका गायन करना असंभवही है। तथापि यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिये, कि सामगानमें ये मंत्रभी इस रूपमें नहीं रहते। आगे इसी लेखमें सामगानके ५ मंत्र और उनसे बननेवाला एक एक ही गान दिया है, वह देखनेसे सामगानमें मंत्रोंके विभाग कैसे होते हैं, और मन्त्रपाठसे गानके शब्दोंका अन्तर कितना होता है, इसका पता लग सकता है, देखिये—

(१) धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ = धियो योनः प्रचो १ २१ २ ॥ हिम् आ २ ॥ दायो ॥ आऽ३ ३ ५ ॥

(२) मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या ॥ = मूर्धानंदाइ ॥ वाऽ ३ अर ॥ तिं पृथिव्याः ॥

(३) कया शचिष्ठया वृता ॥ = कयाऽ२ ३ शचा ३ ॥ ष्ठयौहोऽ३ ॥ हिम्माऽ २ ॥ वाऽ२ तोंऽ ३५ हा इ ॥

(४) अग्न आयाहि वीतये ॥ = ओम्नाइ ॥ आया हिऽ ३ वोइतो याऽ २ इ ॥ तोयाऽ २ इ ॥

(५) त्वमूषु वाजिनं देवजूतं ॥ = त्वमूषु ॥ वाजि ॥ नाऽ २ ३ ४ ५ मू ॥ देवजूताऽ २ ३ ४ मू ॥

मंत्रोंके शब्दोंके उच्चारण एक होते हैं और सामगायनमें और ही उसका रूप होता है। कुछ अक्षर अधिक बाहरसे आते हैं। कुछ अक्षर छूटते हैं, कुछ अक्षर आलापोंके कारण ह्रस्व दीर्घ अथवा अन्य प्रकारके होते हैं। जैसा ऋग्वेदमें '**वरेण्यं**' है, वहां सामवेदगानमें '**वरेणियोम्**' हो जाता है। अर्थात् किसीने सामवेदकी आर्चिक संहिता कण्ठ की, तो भी उसको पुनः उनके गान कण्ठही करने चाहिये। कोईभी मनुष्य केवल मंत्रोंको लेकर सामगायन करहि नहीं सकता, यह बात इस लेखमें दिये सामगानके ५ मंत्रोंसे सब पाठकों को विदित हो सकती है।

सामवेदमें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक ऐसे दो विभाग हैं। इनमें जो मंत्र संग्रहित हुए हैं उनमें विशेषता यह है, कि पूर्वार्चिक के एक एक मंत्रके अनेक अर्थात् दो दो, तीन तीन, पांच पांच तक सामगायन प्राचीन ऋषियोंके बनाये हैं। और उत्तरार्चिकमें जो मंत्र हैं, उनकी विशेषता यह है कि, उनके दो दो, तीन तीन या अधिक मंत्रोंका मिलकर एक सामगान होता है। यह दोनों आर्चिकोंकी विशेषता है। इस लिये सामवेद के केवल मंत्र पास रहनेसे उनका गान होना असंभव है।

प्राचीन समयके करीब ३०० से अधिक ऋषियोंने इस सामगायन की पद्धति निश्चित की है और सामसंहिताके मंत्रोंसे करीब चार हजार गायन बनाये हैं। किस मंत्रका गान किस स्वरमें होना चाहिये, कौनसे नये अक्षर, शब्द तथा वाक्य गायनमें कहां रखने चाहिये, किस अक्षरपर कैसा आलाप लेना चाहिये इन सब बातोंको उक्त ऋषियोंने निश्चित किया है।

जो अक्षर, शब्द और वाक्य गायनके समय मंत्रोंमें रखे जाते हैं, उनको '**स्तोभ**' कहते हैं। इन सब '**स्तोभों**' की गिनती प्राचीन ऋषियोंने की है, इस ग्रंथका नाम '**स्तोभगान, स्तोभसंहिता अथवा स्तोभानुसंहार**' है। इनमें इन सब स्तोभोंका संग्रह है और वर्गीकरण भी किया है। ये स्तोभ किसी गानेवालेके पास प्राप्त हुए तो भी वह किसी स्तोभको किसी मंत्रमें रखकर गा नहीं सकता। ये स्तोभ ऐसे होते हैं—

हाऊ, आउयदोहं, प, आई, आऊ, होऊ, वा, औहोवा, वोइतोयाई, इ इत्यादि।

ये गानेवाले की इच्छासे गायनमें लगाये नहीं जाते। किस छंदके मंत्रमें किस स्तोभ को किस स्थानपर रखना है, इसका निश्चय ऋषियोंद्वाराहि हो चुका है । उसको वैसाहि मानना और गाना चाहिये । इधरका एक अक्षर या स्वर उधर किया नहीं जा सकता, न आलापोंमें बदल किया जा सकता है। गायत्री मंत्रके स्तोभोंको त्रिष्टुप् मंत्रके अन्दर रखा नहीं जा सकता, और जगतीमंत्रके स्तोभ अलगहि होते हैं। इस तरह ये साम ऋषियोंद्वारा निश्चित हैं। इनकी गानपद्धतिभी निश्चित है। और स्वर भी निश्चित हुए हैं।

जो ऋग्वेदमें छन्दोंको हेरफेर कर रहे हैं, उनका वह दोष कितना अक्षम्य है, इसका निर्णय इससे हो सकता है। ऋग्वेदके वेही मंत्र सामवेदमें आये हैं और सामवेदमें उनके छन्द ऋषियों द्वाराहि नियत हो चुके हैं। हम इनका कोष्टक देकर हि बतायेंगे, कि कौनसा छन्द कहां कैसा है और उसका ऋग्वेदमें क्या रूप है। किसी भी वेदमें मनमानी गडबड कोई भी कर नहीं सकता !

यहां सामवेदका गायन करनेकी पद्धति विदित होनेके लिये यह हमने एक चित्र दिया है। (पृष्ठ ८१४ देखें) एक हाथका चित्र है, उसमें उंगलियोंमें स्वरके स्थान दिये हैं। सामगायन यथाशास्त्र करना हो, तो सबसे प्रथम इन हस्तस्वरोंका अभ्यास करना चाहिये ।

मुखसे कौनसा स्वर उच्चारण होता है, वह ठीक इस तरह दर्शाना चाहिये। इससे तालमें सहायता होती है और स्वरका अनुसंधान भी रहता है, दूसरे हाथसे भी तालकी मात्राओंकी गिनती होती है। इस तरह सामगायनके समय गायन करनेवालेका मुख और हाथ काममें आते हैं और मन उनमें लगा रहता है। सामगायनके मुख्य चिह्न ये हैं—

स्वराङ्क	सप्तस्वर	स्वरनाम	सामवेदियोंके नाम
७	प	पंचम	क्रुष्ट
१	म	मध्यम	प्रथम
२	ग	गांधार	द्वितीय
३	रे	ऋषभ	तृतीय
४	सा	षड्ज	चतुर्थ
५	नि	निषाद	मन्द्र
६	ध	धैवत	अतिस्वार्य

ये अंकोंके स्वरचिह्न हैं। एक '**अतिक्रुष्ट**' और स्वर होता है, जो 'प'से भी ऊंचा है, जो आठवा समझना चाहिये। कई पुस्तकोंमें इन क्रुष्ट स्वरोंको '११' अथवा '८' इस अंकसे भी बताया होता है। परंतु ये क्रुष्ट स्वर (उच्च स्वर) सामगायनमें बहुतहि कम आते हैं। सामवेदके सप्त स्वर '**प-म-ग-रे-सा-नि-ध**' इस क्रमसे समझने चाहिये । गायनके अक्षरोंके ऊपर लिखे अथवा गायनके अक्षरोंकी पंक्ति में लिखे अंकोंका यही स्वरमण्डल है। छः स्वर 'म-ग-रे-सा-नि-ध' इतनेही विशेषतः सामगायनमें लगते हैं, क्वचित प्रसंगमें 'प' लगता है, इससे स्पष्ट है कि बहुत आक्रोश करके सामगायन नहीं करना चाहिये। शान्त और कोमल स्वरोंके द्वारा मंजुल ध्वनिमें हि सामगायन होना चाहिये।

सामवेदके स्वर अवरोही अर्थात् पहिले उच्च होकर पीछे कम कम अर्थात् नीचे का स्वर होता है। आजकल गायन में आरोह स्वर प्रिय है। 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि-सा' यह आरोह- स्वरका चढाव है और सामवेद का स्वरका उतराव 'सा-नि-ध-प-म-ग-रे-सा' ऐसा है ।

पाठक एक घण्टी बजावें और स्वर सुनें। प्रथम उच्च स्वर होकर पश्चात् नीचा नीचा हो जाता है। वक्ता बोलने लगा तोभी प्रथम उसका स्वर बलवान् होता है और शनैः शनैः वह थक थक कर मन्द स्वरमें बोलता है अर्थात् जगत् में स्वरका उतराव ही दीखता है, अवरोह हि दीखता है । यही स्वाभाविक क्रम सामगायनमें है। इसलिये सामगायन श्रवण करनेसे मन शान्त होता है, निर्विकार होता है । आजकलके गानोंमें भी प्राचीन आर्यपद्धतिके गानोंमें और मुसलमानों की पद्धतिके तथा युरोपीयन पद्धतिके गाने में जो महत्त्वका भेद है, वह यही है कि आर्य-संगीतसे मन शान्त होता है और अन्य संगीतसे मन क्षुब्ध होता है। **सामगायनसे तो मन विशेषहि प्रशान्त हो जाता है। सामगायन का मनको प्रशान्त करना एकमात्र मुख्य उद्देश्य है**। इसलिये सामगायन विशेष आर्षप्रणालीके ही अनुसार करना चाहिये।

हमने आगे पांच सामगायन '**सा-री-ग-म**' के नोटेशनके साथ दिये हैं। उनको देखकर कोई स्वरज्ञ इन सामोंका गायन कर सकता है। इनमें ये स्वर 'काफी' राग के हैं। इनका ताल एकताल है। तथापि मात्रा और विशेष तालके लिये गायक का विशेष अभ्यास होना चाहिये ।

यह गायन रुद्रवीणा, बीन तथा चर्मवाद्यके साथ एकसे अधिक गानेवालोंको मिलकर करना चाहिये। सबका स्वर एक होना चाहिये। और गानेवालों का स्वर मधुर और

सामवेद के हस्तस्वर ।

नी
निषद
मन्द्र ५
सा
षड्ज
चतुर्थ ४
रे
ऋषभ
तृतीय ३
ग
गान्धार
द्वितीय २
अतिस्वार्य
६
ध
धैवत
७
अतिक्रुष्ट
क्रुष्ट
१
म
प्रथम
(क्रुष्ट)
मध्यम

(पृष्ठ ८१३ देखें)

बारीक मंजुल होना चाहिये। अक्षरपर जो अंक हैं, उनमें '१' अंक का स्वर 'म' है और '६' का स्वर 'ध' है, यह सबसे नीचा है और 'म' सबसे ऊंचा है। मंत्रपर अन्य चिह्न हैं, उनके अर्थ इस तरह समझना चाहिये—

स्वरचिह्न

र	स्वरको दीर्घ बोलना, द्विगुणित लंबा करना,
उ	उच्च स्वर, ऊंचा स्वर
क	कनिष्ठ स्वर, नीचा स्वर
११	अति ऊंचा स्वर, 'प' से भी ऊंचा
८	,, ,, ,, ,, ,,
ऽ	पूर्वस्वरको आलापके साथ द्विगुणित लंम्बा करना,
^	पूर्व और उत्तर स्वरोंका मिलाप करना
^	,, ,, ,, ,, ,, ,,
—	चार गुणा लंबा आलाप पूर्वस्वरका लेना
३	ओंकारमें जो ३ अंक है, वह ओंकारको त्रिगुणित करता है, परंतु स्वरको नीचा करता है। 'सा-नौ-रे' ऐसा उच्चारण ओंकार का होता है।

इतने चिह्न इस समय पर्याप्त हैं। यहां स्वाध्यायमण्डल में इन सामगायनके ग्रंथोंकी गायन करनेकी विधिका निश्चय किया जा रहा है। सामवेदी कौथुमी और राणायनी शाखाके सामगायक यहां लाये हैं। काशी, गवालियार, कन्नड देश और तामिल देशके प्रसिद्ध सामवेदपाठी बुलाये गये हैं। उनसे गानोंका श्रवण करके यहां विद्यार्थी तयार किये जा रहे हैं। सुप्रसिद्ध गानविद्यानिपुण पं० अनंत मनोहर गवय्ये रियासत औंध यहां इस सामनोटेशनमें सहाय्यता दे रहे हैं। ये आर्य प्राचीन संगीत और आधुनिक हिंदुस्थानी संगीतमें विशेष ही प्रवीण हैं और ये नोटेशनके ग्रंथ लिखते हैं। सामवेदपाठियोंके गायनके नोटेशन बनाये जाते हैं और उनको दूसरे गानविद्याके छात्रोंके पास दिया जाता है। वे इन नोटेशनोंको देखकर सामगायन करते हैं। जब इनका गायन मूल वेदपाठियोंके समान होता है, तब समझा जाता है कि, यह नोटेशन ठीक हुआ, और यह सामगायन भी ठीक हुआ।

सामगायनके संपूर्ण गायन इस तरह यहां सिद्ध करके और सामगायनके शास्त्रानुसार हरएक गायनकी परीक्षा करके सब गायन सिद्ध होनेके पश्चात् हि वे मुद्रित होंगे। इससे पहिले मुद्रण होगा नहीं। इस कारण इसको देरी लगेगी। सामगायनके उत्तर भारतके और दक्षिण भारते ग्रंथोंमें नोटेशनाङ्कोंमें और चिन्होंमें बडा अन्तर है। उत्तर भारतके ग्रंथोंमें भी बंगालके ग्रंथ और गुजरात तथा महाराष्ट्रके ग्रंथोंमें भी चिह्नोंका फेर है। इस लिये प्रत्येक गानको यहां शास्त्रीय चिकित्सासे परिशुद्ध किया जा रहा है। उत्तर भारतके स्वरचिह्न सुबोध हैं और सरल हैं, दक्षिण भारतके सामचिह्न क्लिष्ट हैं और इतने अधिक हैं कि उनका समझना भी कठिण है। परिणाममें दोनोंके स्वर एकही आते हैं। इसलिये हमने दोनों स्थानोंके सामगायक इकठ्ठे किये हैं और दोनोंका गायन देखा जाता है और स्वरचिह्न सुगम होनेके कारण उत्तर भारतके हि स्वरचिह्न रखे जांयगे और जहां आवश्यकता होगी, वह दक्षिणभारतके द्राविड चिह्नोंका निर्देश टिप्पणीमें करेंगे।

आगे जो ५ सामगायन दिये हैं, वे उत्तर भारतकी सामपद्धतिसे दिये हैं। दक्षिण भारतके चिह्न छापना हो तो नये चिह्नोंके नये टाइप बनाने पडेंगे। हम आगे उन चिह्नोंके साथ साममन्त्र मुद्रित करेंगे।

यहां इतने पण्डितोंको लाना उनको साल छः मास रखना, और प्रत्येक गायनकी पद्धतिका निर्णय करना, यह कितने व्ययका कार्य है, यह पाठक देखें। इसके पश्चात् छपाईका व्यय होना है, इसलिये केवल सामवेदके लिये-सामगायनके तीन हजार ग्रंथ छापनेके लिये कमसे कम पण्डितोंके व्ययके साथ १२०००) रु० लगेगा, ऐसा अंदाजा किया है। कम या अधिक लगना आगेके कार्यपर अवलंबित रहेगा। इस कार्यके लिये जो धनी लोग सहायता दे सकते हैं, वे अतिशीघ्र मुक्त हस्तसे भेज दें, क्योंकि यहां कार्य प्रारंभ हुआ है।

जिनके पास सामगायनके प्राचीन ग्रंथ हों, वे हमारे पास भेज दें। हम दोनों ओरका व्यय देकर कार्य होते ही वे सब ग्रंथ उनके पास भेज देंगे और छपा ग्रंथभी उनको भेट करेंगे। हमारे पास कई ग्रंथ आ चुके हैं, तथापि और जितने अधिक मिलेंगे, उतना कार्य सुगम होगा।

हमने सुना है कि बंगालमें सामगायन पर कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, हमें उनका पता लगा नहीं है। यदि कोई इनका पता दे सके, अथवा ग्रंथ दे सके, तो उसकी बडी कृपा होगी।

यह कार्य किसी एक का नहीं है, अतः जो लोग सामगायन पर श्रद्धा रखते हैं, वे इस कार्य को जो हो सके, वह सहायता करें।

सामगायनके पांच मन्त्र।

(१)

गायत्रं साम।

॥ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥ धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥

॥ गानम् ॥

गऽ रे म।। म म म म ममऽम मऽ मऽ। म मऽ मऽम म मऽ मऽ मऽ म।

ओऽ३म्॥ ॥ तत्सवितुर्वरेणियोऽम् ॥ भार्गोदेवस्य धीमाहीऽ २ ॥

ग मऽ मऽ म म गऽमऽगऽगऽ मऽमऽ म गऽ मऽमऽ गऽ रेऽसाऽनी

धियोयोनःप्रचो १२१२ ॥ हिम् आ २ ॥ दायो ॥ आऽ ३ ४ ५ ॥ १ ॥

ग रे म

ओऽ३म् ॥ दीर्घ ६ ॥ पर्व ६ ॥ मात्रा २ ॥

(२)

॥ महावामदेव्यम् ॥

॥कया नः चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ॥ कया शचिष्ठया वृता ॥ ३ ॥

॥ गानम् ॥

। रेऽ सा ग। रेऽ नी नीऽ। नी साऽ रेऽ गऽ रे साऽसा नीऽ। मऽ। मऽग मऽम ग मऽ। मऽ।

॥ ओऽ४म् ॥ काऽ५या ॥ नश्चाऽ३इत्राऽ३आभूवात् ॥ ऊ ॥ तीसदावृधःसा ॥ खा ॥

ग ग सा साऽ ग ग। म मऽ ग रेऽ ग ग। रेरेऽ गऽ रे। म मऽम ग।

औऽ३होहाइ ॥ कयाऽ२३शचाइ ॥ ष्ठयौहोऽ३ ॥ हिम्माऽ२ ॥

मऽ ग ग ग रे नी ग ग।

वाऽ२र्तोऽ३५हाइ ॥ २ ॥ दीर्घ ६ ॥ पर्व १० ॥ मात्रा १४ ॥

(३)

॥ ज्येष्ठ सामन् ॥ आज्यदोहम् ॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ॥
कवि सम्राजमतिथिंजनानामासन्नः पात्रं जनयंत देवाः ॥ ३ ॥

॥ गानम् ॥

ग रे म । गऽग, गऽग, गऽग । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽ नी
॥ ओऽ३म् ॥ हाउ, हाउ, हाउ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥

गऽमऽम म म । गऽ रे मम । ग रे साऽनीऽ । गऽमऽम म म । ग म मऽ
मूर्धानंदाइ ॥ वाऽ३अर ॥ तिंपृथिव्याः ॥ वैश्वानराम् ॥ ऋ त आ ॥

गऽ रेसा नीऽ । ग म म मऽ । गऽ रे म म । गऽ रे सा नीऽ । गऽ म म मऽ ।
जातमग्निम् ॥ कवि सम्रा ॥ जाऽ३मति ॥ थिंजनानाम् ॥ आसन्नः पा ॥

गऽ रेऽ म म । ग रेसा नीऽ ।
त्राऽ ३०जन ॥ यंतदेवाः ॥

गऽग, गऽग, गऽग । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽनीनीनी । नी ।
हाउ, हाउ, हाउ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोऽ५हाउ ॥ वा ॥

गऽ । गऽग म गऽ । गऽ । गऽग म गऽ । गऽ । गऽग म रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽ
ए ॥ आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहाऽ२ ३ ४ ५म् ॥३॥

॥ ओं ऽ३ म् ॥

(४)

॥ गौतमस्य पर्कम् ॥

॥अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ॥ नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ ४॥

॥ गानम् ॥

। साऽ नी रे ॥ सा सा सा । गऽ गऽग ऽ रे म म म मऽ ग ग । म मऽ ग ग । म मऽ गऽग ।

॥ ओऽ५म् ॥ ओग्नाइ ॥ आयाहिऽ३वोइतोयाऽ२ इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ गृणानोह ॥

ग म म मऽ ग ग । म म म ग ग । म म गऽ म मऽ ग रे । मऽ ग ग रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽनीऽनी ।

व्यादातोयाऽ२इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ नाइहोतासाऽ२३ ॥ त्साऽ२इवाऽ२ ३ ४ औहोवा॥

रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽ ।

हीऽ२ ३ ४ षी ॥ ४ ॥

॥ दी० ७ ॥ प० ९॥ मा० ९॥

(५)

॥ ताक्ष्यम्-प्रथमम् ॥

त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारꣳरथानाम् ॥
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुꣳ स्वस्तये ताक्ष्यमिहाहुवेम ॥ ५ ॥

॥ गानम् ॥

। नीऽ ध सा ॥ नीनीऽनी । गऽग । रेऽगऽरेऽसाऽनीऽ । गऽगगऽरेऽ गऽरेसा ऽ । नी नीऽरेऽग म ।

॥ ओऽ६म् ॥ त्य मू षु॥ वाजि ॥ नाऽ२३ ४ ५म्॥ देवजूताऽ२३४म् ॥ सहोवानता ॥

ग गऽ रे । गऽ रेऽसाऽनीऽ । ग ग ग ऽ रेऽ गऽरेऽसाऽ नीऽ । ग ग गऽ रे सा रे गरेऽ नीऽ।

रुताऽ३ ॥ रꣳरथानाम् ॥ आरिष्टऽनाऽ२ ३४ इमीम्॥ पृतनाऽ३४३जमाशूम् ॥

ग म । म म । मऽ ग रे गऽ रे सा रे। गऽ रे साऽ नीनीनीऽ धऽनी धऽ ।

स्वस्त ॥ याइ ॥ ताक्ष्यमिहाऽ३४३ ॥ हूऽ३वाऽ५इमाऽ ६ ५ ६ ॥ ५॥

॥दीर्घ ८ ॥ पर्व १३ ॥ मात्रा ८॥

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५)रु. वी.पी. से ५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

विषयानुक्रमणिका [अङ्क १२

(४)

॥ गौतमस्य पर्कम् ॥

॥अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ॥ नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ ४॥

॥ गानम् ॥

। साऽ नीरे ॥ सासासा । गऽगऽगऽ रे मममम मऽ गग । ममऽ गग । ममऽ गऽग ।

॥ ओऽ५म् ॥ ओग्नाइ ॥ आयाहिऽ३वोइतोयाऽ२ इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ गृणानोह ॥

ग मम मऽ गग । मममगग । मम गऽ ममऽ गरे । मऽ गग रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽनीऽनी ।

व्यादातोयाऽ२इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ नाइहोतासाऽ२३ ॥ त्साऽ२इब्राऽ२ ३ ४ औहोवा॥

रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽ ।

हीऽ२ ३ ४ षी ॥ ४ ॥ ॥ दी० ७ ॥ प० ९।मा० ९॥

(५)

॥ ताक्ष्यम्–प्रथमम् ॥

त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारꣳरथा

अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुꣳ स्वस्तये ताक्ष्यमि

॥ गानम् ॥

। नीऽ धसा ॥ नीनीऽनी । गऽग । रेऽगऽरेऽसाऽनीऽ । गऽगग

॥ ओऽ६म् ॥ त्यमूषु॥ वाजि ॥ नाऽ२३ ४ ५म्॥ देवजू

ग गऽ रे । गऽ रेऽसाऽनीऽ । गगग ऽ रेऽ गऽरे

रुताऽ३ ॥ रꣳरथानाम् ॥ आरिष्टऽनाऽ२

ग म । मम । मऽग रे गऽरेसारे । गऽ

स्वस्त ॥ याइ ॥ ताक्ष्यमिहाऽ३४३ ॥ हू

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] विषयानुक्रमणिका [अङ्क १२

वर्ष १९
अंक १२
क्रमांक २२८

धर्म

मार्गशीर्ष
संवत् १९९५
दिसेम्बर
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

निर्भय बनो

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥

(ऋ० २।४१।१०)

'हे (अङ्ग) प्रिय! (इन्द्रः) वह प्रभु (महत् भयं) बडे भारी भय को (अभीषत्) दूर भगा देता है, अर्थात् संपूर्ण भय को (अप चुच्यवत्) परे कर देता है। (हि) क्यों कि (सः) वह प्रभु (स्थिरः) सुदृढ सुस्थिर है और (विचर्षणिः) विशेष रीतिसे सब का निरीक्षण करनेवाला है।'

ईश्वरभक्ति करनेसेहि सब के संपूर्ण भय दूर होते हैं। इस लिये मनुष्य उस प्रभु की मनःपूर्वक भक्ति करें और निर्भय बनें ॥

श्री. स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन।

लेख के विषयमें प्रशंसा के कुछ पत्र।

(१)

श्री० पं० सातवळेकरजी।

देवोत्थान, कार्तिक श० ११ स० १९९५

सादर नमस्ते। 'स्वा० दयानन्द सरस्वती का साध्य और साधन' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढा, दो तीनवार पढा। मैं इस लेखसे पूर्ण सहमत हूं। वह इतनी उत्तम रीतिसे लिखा गया है, उसमें ऐसे गंभीर भाव भरे हैं कि, कोई भी सहृदय विद्वान् उसकी प्रशंसा ही करेंगे। मैं तो समय समयपर इन्ही भावों को प्रकट कर चुका हूं। इस लेख पर आपको साधुवाद देता हूं। भवदीय नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, कुलपति, महाविद्यालय, ज्वालापुर

(२)

श्री० पं० सातवळेकरजी

देहली २५।१०।३८

सादर प्रमाण। .. ... आपका लेख 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का साध्य और साधन' कई वार पढा, बहुतही आनन्द प्राप्त किया, लेख बडा ही उत्तम और भावपूर्ण है।...... भवदीय

(स्वामी) अभय (देवशर्माजी भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल कांगडी हरद्वार)

(३)

ॐ

श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट,
लाहौर १।११।३८

श्रीमन्नमस्ते।

आपका भेजा हुआ 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का साध्य और साधन' शीर्षक लेख प्राप्त हुआ। धन्यवाद। इसके अन्दर वेद के बारे में जो आपने चेतना पैदा करनी चाही है, उसके लिये आप धन्यवाद के योग्य हैं। परंतु मुझे आर्य-समाज से इस बारेमें कोई बात सिद्ध हो इस की कुछ भी आशा नहीं है। कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि वैदिक अनुसंधान को अवश्य साम्प्रदायिक रूढिचक्रसे बाहर निकल कर सामग्री की दृढ भित्तीपर आरोपित करना चाहिये। स्वस्ति।

भवदीय (पण्डित शास्त्री) विश्वबन्धुजी

(४)

श्री मान्य पं० जी नमस्ते।

आपका भेजा हुआ लेख 'देवकामा' प्राप्त हुआ, तदर्थ धन्यवाद। आर्यसमाज में विचार करनेवाले व्यक्तियों का अभाव है। आपका स्वीकृत पाठ 'देवकामा' सर्वथा ठीक है और अर्थ संगत है। आज ही मैं देख रहा था एक पद्धतिग्रन्थको, उसमें संमार्जन मन्त्र आये हैं। 'भूः पुनातु' (शिरसि) ऐसा है अर्थात् सिरपर मार्जन करना है, परन्तु अजमेर से लेकर सब पुस्तकों में 'भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः' इत्यादि मुद्रित हुआ है। यहां एक नहीं, अनेकों उदाहरण हैं जिनको पढकर ग्लानि होती है। अस्तु। भवदीय भीमदेव, लाहौर

(५)

श्रीयुत माननीय पण्डितजी। सादर प्रमाण।

आपका भेजा हुआ लेख 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजीका साध्य और साधन' पढा। स्वामिजी के उद्देश्य और उनके साधनों के विषयमें जो भी कुच्छ विचार प्रकट किये हैं, उनसे मैं पूर्ण सहमत हूं। चिरकाल से मैं भी ऐसा ही मानता हूं। इसके अतिरिक्त वेदमुद्रण की जो विशाल योजना अपने लिखी है वह सम्पन्न हो जाय तो उत्तम है।

गुरुकुल, सोनगढ ७।११।३३ आपका देवराज विद्यावाचस्पति

वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण।

शास्त्रका आधार 'वर्गीकरण' है। वर्गीकरण के विना शास्त्र बन नहीं सकता। वनस्पतियोंके वर्गीकरणसे हि वनस्पतिशास्त्र बना है, पदार्थोंके वर्गीकरणसे पदार्थविद्या के अनेक शास्त्र बने हैं, इसी तरह अन्यान्य वर्गीकरणोंसे अन्यान्य शास्त्र बने हैं। अतः यदि हमें वेदज्ञान का एक उत्तम शास्त्र बनाना हो, तो वेदमंत्रोंके विविध वर्गीकरण बनाने चाहिये। वैदिक ज्ञानका उत्तम शास्त्र किसी अन्य विधिसे बन नहीं सकता।

हमारा विश्वास।

इस समय हमारा विश्वास वेद के स्वतःप्रामाण्य पर है। वैदिक धर्म ही मानवी सभ्यता का आदर्श बताता है, ऐसा हम कहते हैं, परंतु हमारे पास वेदमंत्रों का शास्त्र अभीतक बनाही नहीं है, इसलिये न वेदकी विद्याएं हम जान सकते हैं और ना हि किसी विषय का निश्चित ज्ञान हम वेद से सिद्ध कर सकते हैं। वेद में यह बात है और यह नहीं, इसका निश्चय करने के लिये वेदमंत्रों का वर्गीकरण होना चाहिये और जैसे अन्य शास्त्र अन्यान्य वर्गीकरणोंसे बने हैं और उनसे जनताका लाभ हो रहा है, वैसा ही वेदका भी एक उत्तम शास्त्र बनना चाहिये, जिससे निश्चय से जनताका लाभ हो सकेगा।

भविष्यकाल ऐसा विशेष ज्ञानविज्ञान का आ रहा है कि, उसमें केवल विश्वास से, केवल श्रद्धासे, या केवल दुराग्रह से कार्य नहीं चलेगा, परंतु यदि कार्य चलना है, तो शास्त्र से ही कार्य चलेगा। इसलिये सर्वप्रथम हमारी श्रद्धा, भक्ति तथा विश्वास का और बुद्धि, धन और कर्तृत्व-शक्तिका रुख ऐसा बदलना चाहिये कि जिससे शीघ्रसे शीघ्र वेदका एक परिपूर्ण शास्त्र बन जाय।

चार वेद।

हमारे पास चार वेद हैं, जो हमारे आर्य आदर्श के धर्मग्रंथ हैं और वे स्वतःप्रमाण हैं, यह हमारा मत है। अतः यह सब स्वतःप्रमाणत्वादि आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये और प्रत्येक मनुष्यको अपना धर्म इन वेद के ग्रंथोंसे प्राप्त होने योग्य शास्त्रीय व्यवस्था बनाना हमारा कर्तव्य है।

वेदवेदांगादि ग्रंथोंने यही संक्षेप से बनानेका यत्न किया था, परंतु हमें इस समय उनसे भी आगे बढकर वही बात अधिक विशद करनी चाहिये और अधिक विस्तृत करनी चाहिये।

धर्मग्रंथोंका शुद्ध मुद्रण।

सर्व प्रथम हमारे पास जो चार वेद और अन्यान्य शाखा-ग्रंथ हैं, उन सबका शुद्ध मुद्रण करना चाहिये और उनकी आवश्यक सूचियां बनाना चाहिये, तथा अनुपलब्ध शाखासंहिताओंको प्राप्त करके उनका भी मुद्रण करना चाहिये। यह तो सर्व प्रथम करनेका कार्य है। उसके पश्चात् उस मसालेसे मंत्रोंके विविध प्रकार के वर्गीकरण करनेका कार्य शुरू करना चाहिये, जिससे वेद का एक ऐसा उत्तम और सर्वांगपूर्ण शास्त्र बन जायगा, कि जिससे हरएक प्रकार का मानवधर्म स्पष्ट रूपसे जनता के संमुख आ सकेगा।

प्राचीन वर्गीकरण।

(१) आर्षेयसंहिता।

आज जो ऋग्वेदसंहिता हमारे पास है, उसके प्रथम ७ मण्डलोंके मंत्रोंका वर्गीकरण ऋषियोंके क्रमके अनुसार है, देखिये—

प्रथम मण्डल	मधुच्छन्दा
द्वितीय ,,	गृत्समद
तृतीय ,,	विश्वामित्र
चतुर्थ ,,	वामदेव
पंचम ,,	अत्रिः
षष्ठ ,,	भरद्वाज
सप्तम ,,	वसिष्ठ

इस तरह ये सात मण्डल इन सात ऋषियों के तथा इनके गोत्रोंमें उत्पन्न हुए ऋषियोंके देखे मंत्रों का क्रमवार संग्रह है। अर्थात् प्रथम मण्डल में वसिष्ठ के मंत्र नहीं मिलेंगे और सप्तम मंडल में मधुछन्दा के नहीं मिलेंगे।

आगे के तीन मंडलों में विभिन्न ऋषियों के मंत्र हैं, तथापि उनमें से नवम मण्डल में केवल एक ही 'सोम' देवता के मन्त्र हैं। अर्थात् यह नवम मण्डल देवतावार मंत्रों के वर्गीकरण का एक उत्तम नमूना है। अष्टम और दशम मण्डलों में न तो देवतावार मन्त्रसंग्रह हैं और न ऋषिक्रमानुसार हैं। यदि संपूर्ण ऋग्वेद के सब मन्त्र ऋषिक्रमानुसार इकट्ठे किये जायंगे, तो वह एक 'आर्षेय संहिता' बन जायगी। इस तरह आर्षेय संहिता बन जायगी, तो एक एक ऋषि के नामसे जो जो मंत्र संग्रहित होंगे, उनका अध्ययन एक साथ हो जायगा और उससे एक प्रकारका विशेष फल भी मिल जायगा।

सूक्तों का क्रम।

इस ऋषिक्रमानुसार बनी हुई जो यह ऋग्वेदसंहिता है, उस में भी प्राय: ऐसा देखा गया है कि, जिन सूक्तों की मन्त्रसंख्या अधिक है, वे सूक्त प्रथम आ गये हैं और जिनकी मंत्रसंख्या कम है वे सूक्त पश्चात् आ गये हैं, जैसा देखिये—

द्वितीय मण्डल।

सूक्त	मंत्रसंख्या	देवता	ऋषि
१	१६	अग्निः	गृत्समद
२	१३	,,	,,
३	११	,,	,,
४	९	,,	,,
५	८	,,	सोमाहुतिः
६	८	,,	,,
७	६	,,	,,
८	६	,,	गृत्समदः
९	६	,,	,,
१०	६	,,	,,
११	२१	इन्द्रः	,,
१२	१५	,,	,,
१३	१३	इन्द्रः	गृत्समदः
१४	१२	,,	,,
१५	१०	,,	,,
१६	९	,,	,,
१७-२०	९	,,	,,
२१	६	,,	,,
२२	४	,,	,,
२३	१९	ब्रह्मणस्पतिः	,,
२४	१६	,,	,,
२५	५	,,	,,
२६	४	,,	,,
२७	१७	आदित्यः	गृत्समदः, कूर्मो वा
२८	११	वरुणः	,, ,,
२९	७	विश्वे देवाः	,, ,,

विषय समझने के लिये इतना लेख पर्याप्त है। इन सूक्तों में प्रथम अग्नि देवता के १० सूक्त हैं, उनमें पहिला १६ मंत्रों का और अन्तिम १० वाँ ६ मंत्रों का है। आगे २२ तक इन्द्र देवता के मंत्र हैं, इनमें पहिला २१ मंत्रों का और अन्तवाला ४ मंत्रों का है। आगे ब्रह्मणस्पतिके ४ सूक्त हैं, उनमें पहिला १९ मंत्रों का और अन्तिम ४ मंत्रों का है। इस तरह ऋषि का नाम बदल गया अथवा देवता बदल गयी, तो प्रथम अधिक मंत्रों के सूक्त रहेंगे और क्रमशः न्यून मंत्रसंख्यावाले सूक्त आगे आते रहेंगे।

इससे अनुमान हो सकता है, कि इस तरह जो सूक्तोंका संग्रह केवल मंत्रों की न्यूनाधिक संख्या के अनुसार ही हुआ है, उसमें विषयों का परस्पर संबंध होना असंभव है। यद्यपि एक ऋषि के और एक देवता के मंत्र इकट्ठे हुए तथापि एक सूक्त का दूसरे सूक्त के साथ संबंध होगा ही, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि ६ मंत्रोंवाले सूक्त के पीछे ५ मंत्रोंवाला सूक्त इसीलिये आया है, कि उसकी मंत्रसंख्या उससे न्यून है और २० मंत्रोंवाला सूक्त सबसे प्रथम इसलिये आया है कि उसकी मंत्रसंख्या सबसे अधिक है।

कई स्थान पर इस नियम के अपवाद भी हैं, परंतु वैसे अपवाद थोडे हैं और वहां भी कुछ कारण अवश्य है और उसी कारण के लिये न्यूना-

धिक संख्यावाले सूक्त वहां आगे पीछे हुए हैं, नहीं तो यह नियम प्रायः ऋग्वेद में सर्वत्र दीखता है। सब सूक्त क्रमवार लिखने से यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि यह ऐसा ही है।

अथर्ववेद में भी ऐसा ही मंत्रसंख्यानुसार सूक्तों का संग्रह है, जैसा देखिये—

प्रथम	काण्डमें	प्रायः	४	मंत्रोंवाले	सूक्त हैं।
द्वितीय	,,	,,	५	,,	,,
तृतीय	,,	,,	६	,,	,,
चतुर्थ	,,	,,	७	,,	,,
पञ्चम	,,	,,	८	,,	,,
षष्ठ	,,	,,	८।९	,,	,,
सप्तम	,,	,,	१	,,	,,

इस तरह प्रारंभिक काण्डों में सूक्तों का संग्रह न्यूनाधिक मंत्रसंख्या के अनुसार है। इनमें कुछ अपवाद भी हैं, परंतु नियम यही है और अथर्वसर्वानुक्रमणीकारने भी यही बात मानी है, कि इस काण्ड की प्रकृति इतने मंत्रों के सूक्तों की है और अन्य विकृति है—

पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तरकाण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेषु ऋगिति विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वा० २)

इस रीतिसे सर्वानुक्रमणीकार कहता है। सूक्त में मंत्रसंख्या कितनी है, इससे हि वह सूक्त किस काण्ड में रखना है, इसका निश्चय किया जाता है। यह अर्थविषयक व्यवस्था निःसंदेह नहीं है।

पाठक यहां पूछेंगे कि ऐसा क्यों हुआ है? इसका उत्तर यह है कि मंत्रसंख्या सहज ही से सबके समक्षमें आनेवाली है, अतः हर कोई इसको जान सकता है, इस कारण इस तरह मंत्रसंग्रह हुआ, तो यह सूक्त कहां का है, इसका ज्ञान साधारण मंत्रों की गणना करनेवाला भी केवल मंत्रसंख्या से हि जान सकता है।

समझ लीजिये कि एक वसिष्ठ का १२ मंत्रसंख्यावाला अग्निदेवता का सूक्त है, तो वह सप्तम मंडल में सूक्त १५ और १७ के मध्य में हि आ सकता है, अन्यत्र नहीं। क्योंकि १५ वाँ सूक्त १५ मंत्रों का है और १७ वाँ सूक्त ७ मन्त्रों का है, इसलिये १२ मंत्रों का सूक्त इनके मध्य में हि आना चाहिये। उक्त गणना से इस सूक्त का स्थान इस प्रकार झट कह सकते हैं। यह सुगमता किसी अन्य रीतिसे नहीं हो सकती। पाठक यह विशेषता अनुभव करें। अस्तु। इसका विशेष विचार हमें यहां करनेके लिये फुरसत नहीं है।

यहां तक हमने यह बताया कि ऋग्वेद का प्रथम सात मण्डलों का संग्रह ऋषिगोत्रानुसार है और उनमें भी मंत्रसंख्या की न्यूनाधिकताके अनुसार सूक्तक्रम है। अथर्ववेदके प्रथम ७ काण्डों का भी मंत्रसंख्यानुसार हि संग्रह है। ऋग्वेद में अन्य मण्डलों में भी सूक्तक्रम इसी तरह है। और ऋग्वेद की संपूर्ण रचना ऋषिपरंपराके अनुसार है। केवल नववाँ मण्डल सोमदेवता का है, तथापि उसमें ऋषिक्रमानुसार ही मंत्रसंग्रह है। अर्थानुसंधान से वह मंत्रसंग्रह नहीं हुआ, ऐसा इससे प्रतीत होता है।

यदि थोडा कष्ट करके ८, ९ और १० मण्डलों के मंत्र भी सब के सब आर्षेयक्रमसे लगाये जायंगे, तो एक एक ऋषिवाले मंत्र एक साथ अध्ययन के लिये मिल सकते हैं। इस आर्षेयक्रमानुसार अध्ययन से भी कुछ विशेष लाभ होना संभव है।

इसलिये ऋग्वेद और अथर्ववेदके कुलमंत्र ऋषिक्रमानुसार पुनः लगाना आवश्यक है, यही यहां सूचित करना है। यह ऋषिक्रमानुसार वर्गीकरण के विषय में इतना ही कहना इस समय पर्याप्त है।

(२) दैवत-संहिता।

दूसरा महत्त्वका मंत्रों का वर्गीकरण दैवत-संहिता के रूपमें किया जाना चाहिये। अर्थात् पृथ्वीस्थानीय देवता अग्नि आदि, अन्तरिक्षस्थानीय देवता वायु, विद्युत्, इन्द्र, आदि, द्युस्थानीय देवता सूर्य आदि, इन देवताओं के अनुसार एक एक देवता के सब मंत्र एक स्थानपर हों, ऐसा यह दैवत-संहिताका वर्गीकरण होगा। इस से अग्निदेवता के चारों वेदोंमें आने वाले मंत्र एक स्थान पर मिलेंगे; वायु, विद्युत्, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवताओं के जो जो मंत्र चारों वेदोंमें चारों ओर बिखरे पडे हैं, वे सब एक एक प्रकरण में इस दैवतसंहिता में मिलेंगे। इन्द्रका प्रकरण लिया, तो चारों वेदों के संपूर्ण इन्द्रदेवता के मंत्र उसमें यथाक्रम मिलेंगे। इसी तरह वरुण, सूर्य,

चन्द्र आदि देवताओं के प्रकरण अलग अलग रहेंगे और उस प्रत्येक प्रकरण में उस देवता के मंत्र रहेंगे । चारों वेदों से तथा किसी शाखासंहिता से कोई मंत्र छूटेगा नहीं । प्रत्येक देवता का एक एक प्रकरण रहेगा । संयुक्त देवता के भी अलग प्रकरण होंगे, और उस प्रत्येक प्रकरण में ऋषिक्रमानुसार मंत्र रखे जांयगे ।

ऐसा देवताक्रमानुसार मंत्रसंग्रह हुआ, तो एक एक देवता के संबंध में क्या क्या ज्ञान वैदिक मंत्रों में कहा है, वह एक स्थान पर मिलेगा, और अध्ययन करनेवाले के लिये सुविधा रहेगी ।

आज किसीको पता ही नहीं लगता कि अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के विषय में चारों वेदों में कहां क्या कहा है । प्राचीन काल में चारों वेदों को कण्ठ करनेवाले विद्वान् होते थे, उस समय सब विद्या उनको मुखोद्गत होती थी, तथा भाषा की कठिनता उनको नहीं थी । इसलिये उनकी बातहि और थी । आज हमारे संमुख भाषा आदिकी सब प्रकार की कठिनताएं हैं, इसीलिये ऐसे अनेक वर्गीकरण यथाशास्त्र अध्ययन के लिये होने अत्यंत आवश्यक हुआ है ।

यहां तक हमने दो प्रकार के संग्रह करने की सूचना की है । आर्षेयमंत्रसंग्रह जो है, उसको चारों वेदों तक संपूर्ण बना देना चाहिये । तथा जो दैवतसंहिता नहीं है, वह देवतावार मंत्रसंग्रह करके तैयार करना चाहिये और उसमें चारों वेदों से कोई मंत्र छोडना नहीं चाहिये । ये दो मंत्रसंग्रह सर्व प्रथम होने चाहिये ।

(३) विषयवार मन्त्रसंग्रह ।

उक्त दोनों प्रकार के मंत्रसंग्रह होने के पश्चात् विषयवार मंत्रसंग्रह करने का कार्य हाथमें लिया जा सकता है । यह कार्य उक्त दोनों संग्रह संपूर्ण होने के पूर्व प्रारम्भ ही किया नहीं जा सकता ।

विषयवार मंत्रसंग्रहमें उपासना, यज्ञ (विविध प्रकारके यज्ञयाग), चिकित्सा, औषधिप्रयोग, मंत्रचिकित्सा, प्रकाश-चिकित्सा, जलचिकित्सा अग्निचिकित्सा, हस्तस्पर्शचिकित्सा, विषचिकित्सा, राज्यशासन, राजा, प्रजा, सभा, समिति, सेना, सेनासंचालन, युद्ध, शस्त्रास्त्र, सामाजिक, विवाह, गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, प्राणायामसाधन, संयम, वानप्रस्थ, यतिधर्म, इत्यादि अनंत प्रकरण करके जो जो मंत्र जिस प्रकरण में आता है, वह उस प्रकरण में क्रमपूर्वक रख कर, ये प्रकरण विचारपूर्वक बनाने चाहिए ।

इस तरह संपूर्ण चारों वेदों के सब मंत्र इन अनेक प्रकरणों में संग्रहित होने से वेद में यह विद्या है और यह नहीं है, इसका ज्ञान होगा । प्रत्येक विद्या की खोज होगी, और नया नया आविष्कार भी वेद से हो सकेगा । तथा आज जो सब विषयों में संदेहसा प्रतीत होता है, वह भी दूर होगा । इसलिये यह तीसरा वेदमन्त्रसंग्रह विषयवार मंत्र संग्रह करके तैयार होना चाहिये ।

इसमें क्वचित् एक एक मंत्र, अथवा मंत्रभाग भी अनेक प्रकरणों में पुनः पुनः अर्थानुसार आना संभव है । कुल चारों वेदोंमें करीब २२००० मंत्र हैं, शाखाओं के सब मंत्र मिलाये जांयगे, तो २५००० से अधिक मंत्रसंख्या नहीं होगी, क्योंकि इनमें ब्राह्मणभाग का समावेश करना नहीं है, गद्य यजु और गद्य ब्राह्मणों का विचार स्वतंत्र रीतिसे होना चाहिये । यहां हम पादबद्ध मंत्रसंख्या का ही अर्थात् जिसको 'छन्द' कहते हैं, उसका विचार कर रहे हैं, क्योंकि वही मूल संहिताका भाग है ।

ऋषिक्रमानुसार 'आर्षेय-संहिता' का मंत्र-संग्रह भी २५००० होगा और दैवतक्रमानुसार 'दैवत-संहिता' का भी मंत्रसंग्रह उतना ही होगा, परंतु जो विषवार मंत्र-संग्रह होगा, उसमें वारंवार विविध प्रकरणों में मंत्रों का लेख करना पडेगा, इसलिये इस संग्रह में मंत्रसंख्या बढेगी । इस तरह तीन मंत्रसंग्रहों की सूचना यहां दी गई है ।

(४) श्रुति–वेद–आम्नाय–समाम्नाय-मन्त्र–नियम–आगम ।

एक और चौथा वर्गीकरण अब यहां बताने का विचार है, जिस वर्गीकरण की ओर इस समय तक किसी का ध्यान गया ही नहीं था । सब लोग हजारों वर्षोंसे मानते आ रहे हैं कि, श्रुति–वेद–आम्नाय आदि वेदवाचक शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं । पर्याय मानकर ही इन शब्दों का उपयोग गत सहस्रों वर्षों से हो रहा है, तथापि आज कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है कि,

ये शब्द समानार्थक पर्याय नहीं है । इस बात का स्पष्टीकरण करनेके लिये दोचार उदाहरण लेना और इस बात का अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है ।

देखिये 'अग्नि' शब्द के 'वह्नि, जातवेदा, वैश्वानर, ये पर्याय समझे जाते हैं, परंतु क्या ये गुणबोधक शब्द नहीं है ? और जो गुणबोधक शब्द होंगे, वे विभिन्न गुणों के दर्शक होने के कारण एक दूसरे के समानार्थक पर्याय किस तरह हो सकते हैं ? देखिये—

अग्नि	शब्दमें	गति	अर्थ है,
वह्नि	"	वाहकता	"
जातवेदा	"	ज्ञान	"
वैश्वानर	"	नेतृत्व	"

अतः ये शब्द पर्याय नहीं हैं। वेदमें इनका प्रयोग भिन्नार्थ में ही हो रहा है । इस विषय में और देखिये–

निघण्टु में मनुष्यवाचक २५ नाम आये हैं, उनमें **'जन्तवः, कृष्टयः, मर्याः, व्राताः, पञ्चजनाः'** ये शब्द हैं, वैसे अन्य भी शब्द विचारणीय हैं, परंतु इनका विचार होनेसे मुख्य ज्ञातव्य विषय समझ में आ सकता है, देखिये—

जन्तवः– जो जन्मको प्राप्त हुए हैं,
कृष्टयः– जो कृषिकर्म करते हैं,
मर्याः– जो मरणधर्मवाले हैं,
व्राताः– जो व्रत-नियम के अनुसार चलते हैं और संघ के नियमों का पालन करके संगठित रहते हैं,
पञ्चजनाः– जिनमें चातुर्वर्ण्यव्यवस्था है और पांचवाँ अवर्गीकृत जाति का एक भाग है। पांच विभागों में जो बांटे गये हैं ।

क्या ये शब्द पर्याय हैं ? क्या इनका भाव एक दूसरे से पृथक् नहीं है? इसी तरह अन्नवाचक २८ नाम निघण्टु में आ गये हैं, उनमें से कुछ शब्द देखिये--

अन्धः– (अन्-धः) प्राणधारणा के लिये सहायक होनेवाला,
स्वधा– (स्व-धा) अपना स्वत्व रखने में समर्थ,
रसः– प्रवाही रसदार रुचिकर अन्न,
आयुः– आयुष्य बढानेवाला अन्न,
वर्च– तेज बढानेवाला अन्न,

क्या ये सब अन्नवाचक शब्द परस्पर के पर्याय शब्द हो सकते हैं? क्या कभी आयु के लिये रस और रस के लिये वर्च का प्रयोग हो सकता है? क्या रोटीको रस कहेंगे? और मद्यको रस होनेपर भी कभी आयु कहा जा सकता है? इस तरह ये भी परस्पर पर्याय के शब्द नहीं है ।

प्रस्तर, अश्मा, शिला, क्या ये शब्द पत्थर के वाचक होने पर परस्पर के पर्याय शब्द हैं? छोटे कंकर को शिला नहीं कहा जाता, और फरशी को ही प्रस्तर (जिसमें स्तर है) कहा जा सकता है ।

अस्तु । इस तरह विचार करने पर पता लगता है, जो शब्द पर्याय समझे जाते हैं, वे सचमुच पर्याय शब्द नहीं हैं, प्रत्युत प्रत्येक शब्द विशेष गुणधर्म दर्शानेवाला स्वतंत्र ही शब्द है । 'कृष्टि' मनुष्य ही है, परंतु खेती करनेवाला मनुष्य है, 'सूरि' भी मनुष्य है, परंतु वह शास्त्रज्ञाता मनुष्य है । अतः ये दो शब्द विभिन्न भाव दर्शानेवाले हैं । भाषा में पण्डित, खत्री, बनिया, किसान कहते ही मानवों का बोध होते हुए भी विभिन्न वर्गोंका ही बोध होता है, वही बात **'वेद-श्रुति-आम्नाय-निगम'** शब्दोंका उच्चार करते ही वेदमंत्रों का बोध होते होते ही प्रत्येक शब्द से भिन्न भिन्न प्रकार के मंत्रोंका बोध होता है। इस दृष्टिसे वेदोंका वर्गीकरण होना, इस समय अत्यंत आवश्यक है । अतः इस भूमिकाको यहां ही समाप्त करके वेदवाचक इन शब्दोंसे किन किन मंत्रोंका बोध होता है, यह देखेंगे—

१ श्रुति ।

'श्रु' धातु श्रवण करना, सुनना, इस अर्थ में है, इस से 'श्रुत, श्रुति' ये शब्द बनते हैं, इनका अर्थ जो हमने सुना है, जो सुनते आये हैं, इस प्रकार का होता है । जिन मंत्रों में इस प्रकार का भाव है, उन मंत्रों को हि श्रुति कहना योग्य है, देखिये—

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।
(वा० यजु० ४०।९)

'ऐसा हम विद्वानों के मुख से सुनते आ रहे हैं ।'

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥
(अथर्व० ७।७४।१)

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्त गृध्रा इति शुश्रुमा वयम् । (अथर्व० ८।९।१८)

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ।
(अथर्व० ११।१।२९)

यश्च पणी रघुजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।
धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥
(अथर्व० २०।१२८।४)

इन मंत्रोंमें 'शुश्रुम' (हम सुनते आये हैं) यह प्रयोग देखनेयोग्य है, तथा और देखिये—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये ।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु० ॥
(ऋ० १।१०५।१७)

'त्रित कूवे में गिरा, उसने देवोंकी प्रार्थना की, बृहस्पति ने वह सुनी और उसने दुःखसे उसको छुडाया।'

इस तरह श्रुतिप्रकरण के मन्त्र हैं । यहां कोई यह न समझे कि श्रुतिविभाग में मंत्र का संग्रह होने के लिये उसमें 'श्रु' धातुका ही भूतकाल का प्रयोग होना चाहिये। नहीं, यह बात नहीं है । यह श्रुति 'मंत्र के आशय से' निश्चित की जाती है, न कि 'श्रु' धातुके प्रयोग से । देखिये इस विषय के अन्य मंत्र—

याभिर्धेनुमस्वं पिन्वथः० । (ऋ० १।११२।३)

जिस से आपने वंध्या गौ में दूध उत्पन्न किया।

याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे । याभिः कण्वं प्र सिषासन्तमावतं० ॥
(ऋ० १।११२।५)

'जिस रीतिसे आपने बन्धन में पडे रेभको और वन्दन को मुक्त करके प्रकाश में लाकर रखा और जिससे कण्व की रक्षा की'—

याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः । याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथः० ॥६॥

याभिः शुचन्तीं धनसां सुषंसदं तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये । याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्समावतं० ॥७॥

याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः । याभिर्वर्तिकां ग्रसितामुमुञ्चतं० ॥८॥

याभिः सिन्धुं मधुमन्तमसश्चतं वसिष्ठं याभिरजरावजिन्वतम् । याभिः कुत्सं श्रुतर्यं नर्यमावतं ॥९॥

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम् । याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं० ॥१०॥

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधुकोशो अक्षरत् । कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं० ॥११॥

मान्धातं क्षेत्रपत्येष्वावतम् ।
याभिर्विप्रं प्र भरद्वाजमावतम् ॥१३॥
(१।११२)

"आपने जलमें डूबनेवाले अन्तक की रक्षा की और भुज्यु कर्कन्धु और वैय्य की रक्षा की, धनाढ्य शुचन्तको उत्तम गृह दिया, अत्रि का ताप शान्त किया, पृश्निगु और पुरुकुत्स की रक्षा की, अन्ध और लूले परावृज को आपने दृष्टि दी और चलने का सामर्थ्य दिया, वर्तिका को मुक्त किया, मीठे सिंधुको बहा दिया, वसिष्ठ की रक्षा की, कुत्स श्रुतर्य और नर्य का प्रतिपाल किया, महा संग्राममें विश्पला का सहाय करके उसको जय दिया, वश और अव्या की रक्षा की, दीर्घश्रवा वणिक् और कक्षीवान् की रक्षा की, खेती में मान्धाता का सहाय किया और भरद्वाज विप्र की रक्षा की ।"

इस तरह के वर्णनों में सब प्रयोग भूतकाल के हैं। अतः यह 'श्रुति' हैं । इन मंत्रों का अर्थ जो भी हो, परन्तु इन

मंत्रों के शब्दप्रयोग ऐसे हैं कि जिनमें प्रत्यक्ष बात होने का वर्णन नहीं है, 'ऐसा ऐसा हुआ था, ऐसा आपने किया था' ऐसे वर्णन हैं। मैं यहां यह नहीं कहना चाहता कि इनका कोई आध्यात्मिक और सनातन तत्त्व दिखानेवाला अर्थ कदापि नहीं होगा, होगा और होना संभव है, परन्तु वैसा अर्थ करने या न करने की बात स्वतंत्र है। यहां मैं इतना ही दर्शाना चाहता हूं कि इस तरह के भूतकाल के वर्णनों के सब मंत्र एक 'श्रुति' नामक प्रकरण में रखने-योग्य हैं, अतः उनको 'श्रुति' कहकर एक प्रकरण में संग्रहित करने चाहिये और उन सबका अर्थ करने की एक ही पद्धति (One system) ढूंढनी चाहिए। यहां इन श्रुतियों का संग्रह एक प्रकरण में करना चाहिए, ऐसा मैंने कहा, इसका अर्थ यह नहीं है, कि इस श्रुतिविभाग में एक ही प्रकरण होगा। नहीं, इस श्रुतिविभाग में अनेक उप-विभाग होंगे, जैसा देखिये ।

विश्पला विभाग—

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं ।
सहस्रमीळह आजावजिन्वतम् ॥ (ऋ० १।११२।१०)

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥ (ऋ० १।११६।१५)

इस तरह विश्पला को लोहे की जंघा लगाने के उल्लेख चारों वेदों में जहां होंगे, वहां से इनका संग्रह विश्पला-विभाग में करना चाहिये और उन सब मंत्रों का एक ही पद्धति से विचार करना चाहिये । तथा—

अत्रि विभाग—

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यं ऋबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन । मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ (ऋ० १।११७।३)

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् । ऋबीसे अत्रिं अश्विनावनीतं उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥ (ऋ० १।११६।८)

तप्तं घर्मं ओम्यावन्तमत्रये ॥ (ऋ० १।११२।७)
हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये ॥ (ऋ० १।११९।६)

युवमत्रयेऽवनीताय तप्तं ऊर्जमोमानमश्विनावधत्तम् ।
(ऋ० १।११८।७)

युवं ऋबीसमुत तप्तमत्रये ओमावन्तं चक्रथुः ।
(ऋ० १०।३९।९)

युवं ह घर्मं मधुमन्तमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे ।
(ऋ० १।१८०।४)

उतात्रये शतदुरेषु गातुवित् । (ऋ० १।५१।३)
उपस्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना ॥ (ऋ० ८।८३।३)
अवन्तमत्रये गृहं कृणुतं युवमश्विना ॥ (ऋ० ८।७३।७)
वरेथे अग्निमातपो वदते वल्गुमत्रये ॥ (ऋ०८।७३।८)

अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसं अजोहवीन्नाधमानेव योषा ।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छतमश्विना शंतमेन ॥
(ऋ० ५।७८।४)

अत्रिमनु स्वराज्यं अग्निमुक्थानि वावृधुः ।
विश्वा अधि श्रियो दधे ॥ (ऋ० २।८।५)

यहां अत्रिप्रकरण के कुछ थोडे से मन्त्र उदाहरण के लिये दिये हैं। यदि इस तरह अत्रिप्रकरण के मन्त्र एक स्थानपर खोज करनेवालों के पास उपस्थित रहेंगे, तो इसके तत्त्वज्ञान की खोज शीघ्र हो सकती है, निःसन्देह पद्धतिसे निर्णय हो सकता है, शब्दों के अर्थ निश्चित हो सकते हैं और संदेहरहित वेदमंत्रों का अर्थ भी वेद के अन्तर्गत प्रमाणों द्वारा हि प्रकाशित हो सकता है।

चारों वेदोंमें 'श्रुति' विभाग में आनेवाले मंत्र अनेक हैं, और इस विभाग में इस तरह के प्रकरण भी अनेक हैं, कमसे कम ५०० से कम तो श्रुति-विभाग के प्रकरण नहीं हैं। परंतु एक वार इस तरह प्रकरण बन जायंगे, तो वेद का अर्थ आपही आप खुल जायगा, और वेदभाष्य संपूर्ण उत्तरदायित्व के साथ होना संभव हो जायगा।

वेद ।

अब संहिता के मंत्रोंमें किन मंत्रोंका नाम 'वेद' है, इस का संक्षेपसे विचार करेंगे। 'विद्' धातु का अर्थ 'जानना, निःसन्देह ज्ञान प्राप्त करना' है। अतः जिन मंत्रों में निःसन्देह साक्षात् ज्ञान होने का प्रत्यक्ष उल्लेख है, वे मंत्र 'वेद' इस संज्ञाके लिये योग्य हैं, देखिये—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (वा० यजु० ३०।१८)

'मैं इस पुरुष को जानता हूं, वह महान् है, सूर्य के समान तेजस्वी है, अन्धकार के परे है, इसीको जानकर मृत्यु से परे होना संभव है, उच्च गति प्राप्त करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।'

इस मंत्र में कोई भूतकाल का उल्लेख नहीं, यहां तो प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान होने का और असंदिग्ध विज्ञान का बोध है। यही मार्ग है इससे भिन्न दूसरा मार्ग नहीं, यह भी कहा है। निःसंदिग्धता की इसमें पराकाष्ठा है। अनुभव करनेके पश्चात् जैसा कोई साक्षात्कारी बोलता है, उस प्रकारकी निश्चित भाषा में यह उपदेश है। इसीलिये इसको 'वेद' नाम सार्थ होता है। यही साक्षात्कार का ज्ञान है।

श्रुति के विषय में कदाचित् किसीके मन में संदेह हो सकता है, "अन्धे को आपने आंख दिये थे और अति वृद्ध को चलने की शक्ति दी थी" (ऋ० १।११२।८)इस में भी निःसंदेह ही कहा है कि ऐसा होना आगे भी संभव है, परन्तु भाषा ऐसी भूतकाल की है कि जिससे किसीके मनमें यह संदेह होगा की आगे वह सिद्धि हमें मिलेगी या नहीं, कौन जाने। श्रुति की भाषा के कारण ऐसी शंका उपस्थित होना संभव है, परन्तु वेदविभाग के मंत्रों की भाषा ऐसी है कि वहां कोई संदेह ही नहीं है। 'वेद' का यही अर्थ है, संदेहरहित ज्ञान को ही वेद कहा जाता है। कान और आंख में अन्तर यही है। सुना और देखा में अन्तर है। भाषा के कारण यह भेद अवश्य होता है। अस्तु। 'वेद' विभाग के और कुछ मन्त्र उदाहरण के लिये देखिये—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्यो-रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्व० १०।८।४४)

'आत्मा जरारहित, तरुण, बुद्धिप्रदाता, सर्वव्यापक, स्वयंभु, अमर और निष्काम है, इस के जाननेसे मृत्यु का भय दूर होता है।'

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ (ऋ० १०।१२५।१)

तथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(वा० यजु० ४०।२)

'कर्म करते सौ वर्ष जिनेकी इच्छा करे, यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं। कर्म का लेप मनुष्य को नहीं लगता।' इस तरह के मंत्र 'वेद' विभाग में आ सकते हैं। जिन में निश्चित ज्ञान, अनुभव की भाषा में कहा होगा, वे मंत्र वेदविभाग के समझने चाहिये। श्रुतिविभाग और वेदविभाग का यह भेद सूज्ञ लोग विचार करके देखें।

आम्नाय, समाम्नाय।

'आम्ना' धातु अभ्यास करने के अर्थ में है, 'समाम्ना' का अर्थ मिलकर अभ्यास करना है। अभ्यास, अध्ययन, पुनः पुनः उच्चारण करना, इस धातुका अर्थ है और जो अभ्यस्त, पुनरुच्चारित मंत्र हैं, और जो पुनरुच्चार करने के लिये मंत्र हैं, उनकी यह संज्ञा है। उन में एक के द्वारा पुनरुच्चारित होनेवाले 'आम्नाय' विभाग में आयेंगे और संघों के द्वारा पुनरुच्चारित होनेवाले 'समाम्नाय' विभाग में आवेंगे।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह प्रसिद्ध गुरुमंत्र है। यह जप के लिये ही है, इस लिये इसका वारंवार उच्चारण करना आवश्यक है। इसका अर्थ देखने से इस में 'धीमहि' (हम सब मिलकर ध्यान करते हैं,) 'नः धियः प्रचोदयात्'

(हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करे) इत्यादि वाक्य सूचित कर रहे हैं कि यह मंत्र 'समाम्नाय' गण में रखनेयोग्य है, क्योंकि इसका शब्दार्थ संघप्रार्थना का भाव दर्शा रहा है। इसी तरह—

त्र्यंबकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(ऋ० ७।५९।१२)

यह मंत्र भी सार्वजनिक बंधनिवृत्ति करनेवाला है, और संघ की बन्धनिवृत्ति के लिये सामुदायिक प्रार्थना के लिये इसका उपयोग होता है। यह भी समाम्नाय वर्ग में रहनेयोग्य है।

ऋग्वेद में इसका पदपाठ नहीं है और सब मंत्र का मंत्र एक ही पद है, ऐसा ही माना जाता है। 'त्र्यंबकं' शब्द से 'मृतात्' तक एक ही पद है, ऐसा माना जाता है, इसका हेतु यह है कि इतने ग्यारह पद इस में होते हुए भी सबका जैसा एक ही पद बना है, उस तरह हम विविध मनुष्यों का यह संघ वैसा बना है कि जैसा एक ही मनुष्य होता है, इतना अभेद्य ऐक्य होने के पश्चात् जब संघवाले अपनी परतंत्रता के नाश के लिये इस तरह प्रार्थना करेंगे, तो क्यों वह नहीं सुनी जायगी? अस्तु। इस तरह यह मंत्र समाम्नाय वर्ग का है।

वेदों में कई वार मंत्रका चरण, मंत्र का अर्थ, पूर्ण मंत्र पुनः पुनः आया होता है। उसी का नाम अभ्यास है। जैसा वक्ता अपने भाषण में महत्त्व की बातें वारंवार दुहराता जाता है, वैसा ही वेद में किया गया है। कई लोग पुनरुक्त को दोष मानते हैं, परंतु यह पुनरुक्त नहीं, यह तो मंत्रों का 'अभ्यास' है, इस अभ्यास को किसीने दोष नहीं माना है। अभ्यास जानबूझकर होता है, पुनरुक्ति असावधानीसे होती है, यह दोनों में भेद है। वेद में अभ्यस्त मंत्र अनेक स्थानों में हैं, अतः उनको यहां लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त गायत्रीमंत्र अनेक संहिताओंमें अभ्यस्त हुआ है। और एक दो उदाहरण देते हैं—

अवविद्धं तौग्र्यं अप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्। (ऋ० १।१८२।६)

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्रविध्यतम्। (ऋ० ७।१०४।३)

येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च। (ऋ० १।१८३।३; ऋ० ६।४९।५)

यातं वर्तिस्तनयाय त्मने चागस्त्ये नासत्या मदन्ता। (ऋ० १।१८४।५)

इन मंत्रोंमें आधे मंत्र का, तथा मंत्रचरण का किस तरह अभ्यास हुआ है, वह दर्शाया है। इसी तरह पूर्ण मंत्र भी अनेक वार अभ्यस्त हुए हैं। इसी अभ्यास को 'आम्नाय' कहते हैं। इन आम्नाय मंत्रों को और समाम्नाय के मंत्रों को प्रकरणशः संग्रहीत करनेसे संहिताद्वारा कौनसा धर्म पुनःपुनः कहा है, अतः किस उपदेश को अवश्यमेव ध्यानमें धारण करना आवश्यक है, इसका परिज्ञान हो सकता है। प्रायः लोग पुनरुक्त मंत्रों का विचार छोड देते हैं, समझते हैं कि पुनरुक्ति दोष है और उसको हटाना चाहिये। परंतु वेद में जिन कल्पनाओंका वारंवार 'अभ्यास' कराया गया है, उनको महा उपदेश मान कर, उनको महावाक्य समझकर उनका विशेष मनन करना चाहिये। इस कारण आम्नाय और समाम्नाय का महत्त्व वेद में अत्यंत है और इनका संग्रह विशेष ही सूक्ष्मता के साथ करना चाहिये, ऐसा हमारा विचार इतने अध्ययन के पश्चात् निश्चित हुआ है।

मन्त्र।

'मन्' धातु विचार करना, मनन करना, सोचना इस अर्थ में है, इस से 'मन्त्र' शब्द बना है। 'मन्त्रः मननात्' ऐसा निरुक्तकार यास्काचार्यने कहा है, और बताया है कि जिनका अर्थ सोच सोचकर जाना जाता है, उनका ही नाम मन्त्र है। सब छन्दों का नाम मंत्र नहीं है, परंतु **'जो मनन का ही विषय है, मनन के विना जो कभी समझ में नहीं आ सकता'** वही मन्त्र है जैसा—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८)

यो विश्वा भुवना बभूव। (ऋ० ४।१६।५)

एकं वा इदं विबभूव सर्वम्। (ऋ० ८।५८।२)

'इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेकरूप बनता है, जो एक ही सब भुवनरूप बना है, एक ही तत्त्व यह सब बना है।'

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋ० १०।९०।२)

'विश्वात्मा पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्य काल का सब कुछ है।'

एकं सत्, बहुधा वदन्ति। (ऋ० १।१६४)

'एक ही सत् है, जिसका अनेक प्रकार वर्णन होता है।' इत्यादि अनेक मंत्र ऐसे हैं कि, जिनका शब्दार्थ बिलकुल सरल है, कोई शब्दोंकी कठिनता नहीं है, परंतु भावकी गंभीरता अत्यंत मननसे अथवा किसी गुरुके गूढ उपदेश से हि जानी जा सकती है। देखिये (एकं सत्) ये दोही शब्द हैं, अर्थ भी कोई कठिन नहीं, परंतु अन्तरात्मा में इनका—इस एक सत्य वस्तुका-ज्ञान होनेके लिये कितना कठिन है? अतः यह प्रगाढ मनन का हि विषय है, इसी कारण इन को 'मन्त्र' कहा है। इस तरह के अनेक मन्त्र चारों वेदोंमें हैं, उन सब को प्रकरणशः संग्रहीत करना चाहिये।

निगम।

'निगम्' धातु तर्कना करनेके अर्थ में है, हेतु बतलाकर किसी सिद्धान्त को सिद्ध करना, यह अर्थ इस में है। 'निगमन' शब्द (Logic) तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र के लिये उक्त कारण हि प्रयुक्त होता है। 'निगम' में भी वही अर्थ है। जिन मन्त्रोंमें हेतु दर्शाकर किसी बात की सिद्धता की हो, वे मंत्र 'निगम' नामक मंत्रसंग्रह में रखने-योग्य हैं जैसा—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्वित् धनम्?
(वा० य० ४०।१)

'जो कुछ इस विश्वमें वस्तुमात्र है, वह ईश्वर के द्वारा व्याप्त है, इसलिये त्याग से भोग करो, लोभ न करो, भला धन किस का है? (इसका विचार तो करो।)' इस मंत्र में ईश्वरकी व्यापकता का हेतु देकर त्याग करने को तथा लोभ छोडने को कहा है। यहां हेतु देकर विषय समझाने का यत्न किया है। इसलिये 'निगम' नामक मंत्र-संग्रह में इस तरह के मंत्र रखने योग्य हैं। इस तरह के अनेक मंत्र वेद में निगमविभाग के लिये योग्य हैं।

ऐसे मंत्रोंमें भूतकाल के वर्णन की श्रुति नहीं, वारंवार जप करने का अभ्यास नहीं, निश्चित ज्ञान का वेद नहीं, यहां तर्कसे कार्य लिया है, न समझनेवाली बात हेतु दर्शाकर समझानेका यत्न किया है, इसपर केवल विश्वास रखना नहीं है, साधक जितने चाहे उतने तर्क करें, शंकाएं करें, उनके उत्तर यहां दिये जायगे। यहां तर्क-शक्ति के लिये बडा क्षेत्र है। भूतकाल के वर्णन में तर्क क्या करना है, उसपर तो शब्दप्रामाण्य जैसा विश्वास ही रखना चाहिये, अंधेको आंखे मिली थीं, यह सत्य क्यों है? ऐसा कहां इसी लिये वह सत्य है, वहां तर्क का स्थान नहीं है। वारंवार जप करनेवाले मंत्रों से मनपर संस्कार होते हैं, वहां तर्क से हानि होगी। परंतु यहां जानबूझकर तर्क को मंत्र में हि स्थान दिया है, हेतु दिया है, वह हेतु ठीक है वा नहीं, इसका विचार साधक करे और अपनी तर्कनाशक्ति से यथायोग्य परीक्षा करके मंत्र का सिद्धान्त स्वीकार करे। इस तरह के मंत्रभाग इस विभाग में आते हैं। 'आगम' नामक मंत्रभाग भी तर्कशास्त्र के एक भाग में आते हैं। एक तर्कभाग में पहिले कुछ सिद्धान्त मानकर उसकी सिद्धता आगे की जाती है, और दूसरे में पहिले सब प्रकार के प्रमाण देख कर अन्त में सिद्धांत तक पहुंचना होता है। एक का नाम 'निगम' है और दूसरे का नाम 'आगम' है। दोनों प्रकार के मंत्र चारों वेदोंमें हैं, उन सबको इन विभागोंमें संग्रहीत करना चाहिये।

यहां तक हमने मंत्रोंके आशय से होनेवाले वर्गीकरण के विषय में कहा। इस वर्गीकरण के प्रत्येक विभाग में सौपचास मंत्र देना आवश्यक था, वैसा देनेकी हमारी इच्छा भी थी, परंतु वैसा करनेसे इस लेखका कलेवर बहुत ही बढ जाता, इसलिये अधिक मंत्र देनेके संकल्प को स्थगित किया है। तथापि पाठक इतने विवरण में इन विभागोंके मुख्य लक्षण जानेंगे और जो इस वर्गीकरण

को करना चाहें, वे इन सूचनाओंके अनुसार कर भी सकेंगे।

हमारा निश्चय यह हुआ है, कि प्रयत्न करके इस तरह के वर्गीकरण बन जांयगे, तो वेद का अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे हम सिद्ध कर सकेंगे। मानो वेद का अर्थ वेद ही बोलता जायगा और किसी प्रकारके संदेह वेद का निश्चित अर्थ करने में रहेंगे नहीं। इसलिये वेदार्थविचारक इन सूचनाओं का विचार इस महत्त्व की दृष्टिसे करें।

और एक वर्गीकरण।

१ स्तुति, २ प्रार्थना, ३ निन्दा, ४ आशीर्वाद, ५ भाव-विवक्षा, ६ शपथ, ७ अभिशाप, ८ आज्ञा, ९ अभिचार, १० प्रश्नोत्तर आदि विभागों में भी चारों वेदोंके मंत्र विभक्त करने चाहिये। सब प्रकार के आशीर्वाद के मन्त्र एकत्र होंगे, सब प्रकारकी निन्दा के मन्त्र इकठ्ठे होंगे, तो निःसंदेह उनके मनन से कई निश्चित अनुमान निकल सकते हैं। अतः ये भी विषय वर्गीकरण के हैं और इनके विषय में निरुक्तकारने अपने निरुक्त में कहा भी है। इस कारण खोज करनेवाले इस वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान शीघ्र देंगे, तो बहुतहि सहायता वेदार्थ करने में होगी।

वेदका वाक्यकोश।

वेदका अर्थ निश्चित, असंदिग्ध और अन्तर्गत प्रमाणों से परिपुष्ट करनेके लिये इन साधनग्रंथों के निर्माणकी अत्यंत आवश्यकता है। जैसा उपनिषद्वाक्यकोश बनाया है, उसी तरह एक एक पद के नीचे उस पदवाले मंत्र देकर एक **'वेदवाक्यकोश'** बनना चाहिये। वेदका निश्चित अर्थ करने के लिये ऐसे वाक्यकोश की अत्यंत आवश्यकता है। अमेरिकामें **'वैदिक कंकॉर्डन्स'** बनाया गया है, परन्तु वह वैदिक वाक्यसूची है। पदक्रमानुसार वैदिक वाक्यकोष बनना चाहिये।

व्यय की कल्पना।

इतने वेदमंत्रोंका संग्रह करनेके विषय में मेरे विचार मैंने यहां लिखे हैं। इनके बनाने और मुद्रणके व्ययकी कल्पना यहां देना आवश्यक है, वह ऐसी है।

१. **आर्षेय संहिता** (चारों वेदोंकी इकट्ठी) बनाने और मुद्रण करने के लिये ......६०००) रु० लगेंगे।

२. **दैवत संहिता** (चारों वेदोंकी इकट्ठी) बनाने और मुद्रण करने के लिये ......८०००) रु० लगेंगे।

३. **श्रुति-वेद-आम्नाय-समाम्नाय-मन्त्र-निगम-आगम** आदि विभागों में चारों वेदोंके मन्त्रभाग बनाने और मुद्रण करने के लिये ......२००००) रु० लगेंगे।

४. **विषयवार संहिता**–चारों वेदोंके मन्त्र विषयानुसार विभागों में संग्रहीत करने और मुद्रण करने के लिये ......२५०००) रु० लगेंगे।

५. **स्तुतिप्रार्थना-आशीर्वादादि** विभागानुसार मंत्र छाटकर प्रकरण बनाने और उनका मुद्रण करने के लिये ......१००००) रु० लगेंगे।

६. **वेदवाक्यकोश** (जैसा उपनिषद्वाक्यकोश बना है वैसा) निर्माण करने के लिये और मुद्रण करने के लिये ......५००००) रु० से अधिक व्यय होगा, क्योंकि कम से कम चार संहिताओंको दसगुणा छापनेके जितनी छपाई होगी और बनवाई लगेगी, तो अलगही है।

कुल व्यय १,१९,०००) रु०

इतना व्यय कोई संस्था करेगी, और इस कार्य के लिये २०।२५ वर्षोंतक पचीसतीस विद्वान् शास्त्रज्ञ और निष्पक्ष पंडितों को इस कार्य के लिये निश्चित होकर लगाया जाय, तो २५ वर्षोंमें सिद्ध होनेवाला यह कार्य है। इसके पश्चात् वेदका निश्चित, निर्भ्रांत और सत्य अर्थ ये ही ग्रंथ स्वयं बोलेंगे और आशंका करनेवालों की आशंकाओंको स्वयंहि ये ग्रंथ दूर करेंगे।

यह लेख केवल सूचनामात्र है। यदि कोई संस्था इसे कार्यरूप में परिणत करना चाहेगी, तो यही विषय विस्तार से लिखा जायगा।

भूतों का अस्तित्व केवल मानसिक कल्पना×।

(१)

(लेखक- श्री० वीरेन्द्रसिंहजी, बम्बई)

हर आइने दिल में है नकशा तेरा।
हर दीदह बीना में है जल्वा तेरा॥
आंखें हों तो इनसान बेन हूं देखे।
हर परदे में दरपरदा तमाशा तेरा॥

मेरी अनुमति में भूत, चुडैल व जन्तों का अस्तित्व केवल एक मानसिक भ्रम है। जहां तक मेरी अल्प बुद्धि अन्वेषण कर पाई है, मैं इसी नतीजे पर प्राप्त हुआ हूं और हमारे इतिदेशी आर्ष ग्रन्थों में भी इस विषय पर यथातथा अनेक विवेचन पाये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में विशेष कर के याज्ञवल्क्य मुनिने जाग्रत और स्वप्न-अवस्था का भेद दिखाते हुए इस विषय पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। जिस समय हमारे शरीर में प्रकृति की तमरूपी अवस्था वेगवान् होती है, तब इस प्रकार के भाव, निद्रा वा जागृत अवस्था में संकल्प की वजह से अनेक रूप में प्रकट हुआ करते हैं।

हम लोगों की अन्ध अरु मोहमय प्रवृत्तियों से फायदा उठा कर समय समय पर चाटन लोग [Charlatans of witchcraft] अपने लाभार्थ इस तरह का मिथ्या प्रलाप करके जनसमाज में भ्रम पैदा करते, तथा समाज को अज्ञानमय कूप में घसीट लेते हैं। इन के प्रवर्तक और अनुयाइयों का ईश्वरीय न्यायमय सत्ता के समीप वही गति होती है, जैसी कि इस वैदिक उक्ति से प्रकट है—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः॥'

अर्थात् आत्मघाती आत्मा को न जाननेवाले जन, अन्धतम अज्ञान में प्रवेश करके अपना अकल्याण कर लेते हैं।

इस के अलावा पितागंड जब की इस मिथ्या आन्तर् जगत् रूपी कल्पना पर यकीन करते हैं, तब उनकी सन्तानों पर भी इसी संस्कार के बीज मौजूद हो मिती पाते और वृक्षरूपको प्राप्तकर फल लाते हैं।

श्री उदयप्रसादजी जो लिखते हैं कि उन्होंने गांव से आते हुए बैलगाडी में बैठे स्वयमेव एक भिखारनरूपी औरत को रास्ते में देखा। मुमकिन है उस समय उनके रास्ते में तथा आकृतिवाली कोई पथिका गुजरी हो और जिस तरह उदयप्रसादजी की गाडी एक तरफ बडी चली गई, उसी तरह वह पथिका रास्ते से गाडी गुजर जाने पर अपनी राह पर बढ गई हो। यहां तक तो सब ठीक है। अब आगे महाशय जो लिखते हैं, कि वह आध फरलांग बढकर संशय को प्राप्त हो, अकेले वापिस आये और वापिस आने पर तब भी उसी अस्थान पर उसी व्यक्ति को वैसे ही खडे पाया सो यहां पर संशयरूपी मानसिक कल्पनाने उनके लिये संस्कारों से बद्ध हो मानसिक आकृति पाई (देखी)। और जब भयने अङ्गों को शिथिल किया, तब चैतन्य से प्रेरित हो बुद्धिने पुनः होश पाये तथा हुंकार से ओतप्रोत ध्वनि से

× 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२५, पृ०७३४ पर 'भूतोंका अस्तित्व' लेख देखो.

आवृत हो मन के तमरूपी संस्कारों पर का परदा हटा दिया और उस समय का मनकल्पित रूप-निरूप (अदृश्य) हो गया। यह रहा उनके व्यर्था का सच्चा स्वरूप। एक उर्दू कवीने बखूब ही कहा है—

बाद नादानी के बाद अज मर्गए साबित हुआ, ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था।

प्रवृत्तिप्रधान मन का इस तरह से उग्र रूप धारण करने का मुख्य श्रोत महोदय की पत्नी तथा गाडीवान के मूढ व अज्ञानमय चर्चाने पूर्ण किया। देखिए-ओलिवर वेन्डेज होम्स इसी युक्ति को कितने सरल व भावपूर्ण शब्दों में उक्त करते है-

'The automatic flow of thought is often singularly favoured by the fact of listening to a weak continuous discourse with just enough ideas in it to keep the mind busy. The induced current of thought is often rapid and brilliant in inverse ratio to the force of inducing current.×

यहां तक तो सब स्पष्ट है, अब आगे जो उदयप्रसादजीने करुणामय दृश्य बयान किया-बच्चे का गला-रुंधन और शरीर का पेंढना इत्यादि सो उससे अनुमान होता है, कि उन्होंने योग्य डाक्टरी चिकित्सा नहीं की थी, वरना उन्हें दुःखी होने की कोई वजह न होती। महोदय के लेख से स्पष्ट प्रकट है, कि गाडी में बैठे गरीब पथिका को देख कर उनकी पत्नी ने बच्चे को डर के मारे चिपटा लिया।

और इस समय उनकी पत्नी का लहू (दूध) भय और व्याकुलता के मारे विषमय हो गया था [देखो शारीरिक विज्ञानशास्त्र] सो ही बच्चे को पिलाया गया, नतीजा यह हुआ कि नन्हा बच्चा जो कि कोमलता का दिव्य रूप होता है, विषपान कर गया और उसका वेग न सहारने की वजह से Convultions due to fear शुरू हो गये। डाक्टरों के पास इस तरह के केसेज अनुमान आया करते हैं और अच्छे हो जाते हैं।

यह तो सीधी साधी (Common sense) कॉमन सेन्स की बात है। और आजकल वैज्ञान के युग में भी जो इसको भूत-प्रेत की लीला मानें, तो हम जैसा मन्दभाग्य और कौन हो सकता है। मेरे विचार में मनुष्यसमाज की इस अज्ञानमय अवस्था को देख कर श्रीकृष्ण चन्द्र ने गीता में उचित ही उक्ति की है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवा।'

अर्थात् हमारा त्रिकालाबाधित ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है। इत्यादि।

[संपादकिय वक्तव्य।]

उक्त लेख विचारणीय हैं। 'भूत' वास्तविक नहीं है, वह काल्पनिक भ्रम है, यह सिद्ध करने के लिये बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। भूत के शरीरपर कपडे दीखते हैं, हाथ में सोटी होती है, पांवोंमें जूते होते हैं। क्या कपडों, सोटियों और जूतों के भी भूत हो सकते हैं? अतः यह मनकी कमजोरी की अवस्था से भ्रम की कल्पना अवश्य है। तथापि यह मन की अवस्था संशोधनीय है और इसकी चिकित्सा भी सोचनी चाहिये।

—संपादक- 'वैदिक धर्म'

×इन भाव और संस्कारों का बीजरूप रहना गीता तक को अभिप्रेत है-
"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः॥"

(२)

भूत नहीं हैं !

पूज्य पंडितजी,

'वैदिक धर्म' का अंक एक पवित्र अंक है। इस पवित्र अंक के अंदर ऐसे वैसे भ्रांतिकारक लेखों को स्थान नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि ऐसे कपोलकल्पित लेखों से भ्रांति फैलती है, इसलिये इस विषय में मेरे चालीस वर्षों के अनुभव को मैं आपके सम्मुख रखता हूं।

इस समय मेरी आयु ५० वर्ष की है। १२ वर्ष का अनुभव इन्डीया का और २८ वर्ष का अफरीका का कुल ४० वर्ष का, इसके अंदर जो मैंने किया, वह सेवा में रखता हूं।

मुझको छोटी आयु के अंदर ही क़ीबन १० वर्ष की आयु में ही धार्मिक विषयों पर बातचीत करने का शौक पड गया था, खास कर भूतप्रेत की बातों को सुनने का शौक ज्यादा था। जहां कहीं भी ऐसी घटना का पता मिलता था, वहां जाया करता था और खास कर जो मांत्रिक इन के यंत्र-मंत्र जानते थे, उनके साथ बातचीत करता था। बडे प्रेम भाव से उन लोगों के साथ बर्ताव किया करता था, जहां तक मुझसे बन सका, मैंने खोज की कि भूतप्रेत का पता मिले मगर इसके अंदर (मूर्खता) धोखा और धूर्तपन इसके सिवाय और कुछ न पाया।

इसके बगैर मैं रातको मसानों के अन्दर जाकर और जलती हुई चिता के पास बैठकर भी देखा, मगर वहां भी कुछ न मिला।

अब इधर अफरीका में भी २८ साल के अंदर चार पांच घटनायें मेरे सामने हुई, उनकी भी मैंने अच्छी तरह से पडताल की, मगर उनके अन्दर भी वही मूर्खता और दिल की चपलता को ही प्रधान पाया। इसलिये आप वेदवेत्ता और पूर्ण ज्ञानी हैं, आप इस पर अच्छी तरह विचार करके थोडासा अपना विचार इस विषय में इस पत्र में दे दें, ताकि जनता में धोखा न फैले। मैंने जो ४० वर्ष के अंदर मेरे अनुभव के अंदर आया, मैंने आपकी सेवा में रख दिया। आगे आप जैसे उचित समझें वैसा करें।

भवदीय गुरांदित्ता आर्य, नैयरोबी

युग-योग्य।

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

आज भारतवर्ष अन्य देशों के समान पृथिवी के तमाम देशों के साथ नत्थी है। लन्दन, पेरिस बर्लिन, न्यूयार्क तथा मास्को आदि स्थानों की कोई ईजाद इसके शरीर को विना स्पर्श किये नहीं रहेगी। इसलिए जो कुछ भी भलाबुरा करना अभीष्ट है, वह युग-प्रणाली के अन्तर्गत प्रवाह का लिहाज रखते हुए ही किया जा सकता है। जिसे जीवित रहना अभीष्ट है, उसे ग्रीष्म ऋतु में गरमी के अनुकूल तथा शीत ऋतु में सर्दी के अनुकूल नियमों को अपनाना पडेगा।

यह कह देना तो सरल है कि मनुष्य अज्ञान में पाप करता है, किन्तु एक धनसम्पन्न वेश्या गंगा के तीरपर स्नान करते हुए यात्री का कम्बल चुराने की कल्पना भी नहीं करती, जब कि शीत से कांपता हुआ एक दरिद्र ग्रामीण किसी यात्री का कम्बल उठा भागता है। क्या सांख्याचार्य इस घटना पर यही व्यवस्था देंगे, कि वेश्या ज्ञानवती थी, उसके अन्तश्चक्षु खुले हुए थे, इस लिए उसने स्तेय पाप को नहीं किया और उस दरिद्र ग्रामीण के ज्ञानचक्षु बन्द थे, इसलिए वह चोरी कर बैठा? 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं?' की उक्ति क्या व्यर्थ ही है? क्या परिस्थिति ही मनुष्य को कुपथगामी नहीं बनाती? आज जितना झूट, हिंसा व स्तेय है, इसका कारण 'अज्ञान' नहीं बल्कि 'अभाव' व 'प्रचुरता' है। एक ओर मनुष्य निर्वाह न मिलने के कारण पाप करते हैं, तो दूसरी ओर आवश्यकता से अधिक को भोगों में अपव्यय करके। यदि 'अज्ञान' ही पाप का कारण होता, तो धनसम्पन्न वेश्या और कंगाल ग्रामीण दोनों ही कम्बल चुरा भागते।

आर्यसमाज का जो ध्येय है, उसे व्यावहारिक बनाये विना न यह जी सकता है, न इसके जीने की जरूरत है। जिस आदर्श, जिस नियम को कार्य के रूप में न लाया जावे, उससे कुछ भी लाभ नहीं। रैमसे मैकडोनल्डने गुरुकुल का निरीक्षण करके उसके आदर्श को स्वीकार किया किन्तु आज तक न रैमसे मैकडोनल्ड ने अपनी सन्तान को गुरुकुल में भेजा और न इंगलैंड में ही गुरुकुल खुला। इससे प्रतीत होता है कि या तो गुरुकुल एक आदर्शहीन संस्था है, या रैमसे का वक्तव्य ढोंग था, जो केवल सभा प्रसन्न करने के निमित्त काम में लाया गया। या फिर विकृत परिस्थिति के कारण आदर्श स्वीकार करनेपर भी उसे ग्रहण करने में विवशता रही। हमें यह अन्तिम बात ही ठीक प्रतीत होती है। परिस्थितियें ही मनुष्य को, किसी आदर्श की ओर लालायित होने पर भी, उस ओर नहीं जाने देतीं। अतः परिस्थिति को अनुकूल बना देने से स्वतः पाप की ओर से प्रवृत्ति हट जाती है।

आर्यसमाज पृथिवीपर है और पृथिवी से अन्यत्र जाकर यह अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इसे इस युग में इस युग के ही साधन अपनाने पडेंगे। किसी ध्रुवपर पहुंचने के लिये अनेक साधन हो सकते हैं। देहली जानेवाले के लिए यह जरूरी नहीं, कि वह बैलगाडी को ही ढूंढे। सद्यः (latest) सवारी वायुयान को क्यों न अपनावे और खास कर तब जब कि बैलगाडियें डाकुओं, नदियों द्वारा नष्ट हो जाती हों और पहुंचना हो जरूरी आज शाम से पहले।

यदि निर्वाह ठीक ठीक निश्चिन्त चलता रहे, तो किसी व्यक्ति को पाप करने की जरूरत ही न पडे, क्योंकि निश्चिन्त व सुखी जीवन मनुष्य को आनन्द देता है। आनन्द मिल जानेपर किसी कृत्रिम-व्यसन-भोग की लालसा नहीं रहती। अतः मनुष्य किस प्रकार सुखी, निश्चिन्त, सदाचारी बने इसके लिए तीन बातों की जरूरत है। (१) व्यवस्थित निर्वाह, (२) सदाचार, (३) विद्या। यदि निर्वाह व्यवस्थित व निश्चिन्त है, तो शेष दो बातें स्वयं थोडे से प्रयत्न से प्राप्त हो जावेंगी।

यदि हम 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्' के रहस्यका मूल्य समझते हैं, तो जरूरत है कि आर्यों की आजीविका शुद्ध हो। उन्हें निर्वाह के लिए झूंट, हिंसा, स्तेय आदि करना न पडे। आजीविका केवल शुद्ध ही न हो बल्की निश्चिन्त व पर्याप्त भी हो। निश्चिन्त से हमारा तात्पर्य 'मुफ्त की' 'हराम की' या 'पराइ कमाई' से नहीं है, बल्का जिसमें व्याघात न हो, अबाधित रूप से चलती रहे, उस आजीविका से है।

भारतवर्ष गांवों का देश है। यहां ग्राम ही मुख्य वस्ती है। ग्रामों से ही सदाचार का आरम्भ हो सकता है। अतः आवश्यकता है ग्रामिणों के निर्वाह को शुद्ध व निश्चिन्त करने की। जब तक नागरिक जीवन में पराई कमाई, मुफ्त की कमाइ खाने की प्रथा है तब तक शहरों में आर्यसमाजी संख्यावृद्धि तो भले हो जावे, किन्तु 'आर्य' वृद्धि नहीं हो सकती। निर्वाह को शुद्ध व निश्चिन्त करने का साधन है ग्रामिणों के श्रम का सामूहिक संगठन और वह हो सकता है मिश्रित कृषि-कार्यद्वारा। मशीनों को अपनाया जाय और उन ग्रामिणों के श्रम को सामूहिक व संगठित किया जाय, यही इस युगयोग्य है।

यह युग देने का तो है, पर दान (खैरात व भिक्षा) का नहीं। इस युग में तो अपाहिजों को भी दान देते हुए लोग मुंह मोडते हैं, फिर हर प्रकार से तन्दुरुस्त मनुष्य को दान देना कौन पसन्द करेगा? जो देगा भी, वह एक घृणा व अपमान के साथ, कुत्ते को एक टुकडा फेंकने की तरह।

हमारी संस्थाओं ने लाखों रुपये की भीख मांगी। उस याचना में लोभवश हां में हां मिलाने की विनयशीलता दिखाकर अपनी अन्तराला का भी अपघात किया और इस पराश्रित निर्वाह-प्रदान के लाखों रुपयों को खापीकर बराबर कर दिया।

दान कौन दे? और क्यों दे? ये प्रश्न विवादास्पद हैं। अतः क्यों न सब काम करें और सब स्वावलम्बन में सुखी रहें। देश के गुरुकुलों ने लगभग ८० या ९० लाख रुपया दान में लिया, जो आज तक उपार्जित होकर वापस नहीं लौटा। यदि यही ८० या ९० लाख रुपया ऋण या दान द्वारा प्राप्त करके बडे बडे कारखानों में लगाया गया होता, तो उससे अब तक पूंजी ९ करोड हो गई होती और ८०,९० लाख की पूंजी से खडे किये गये वे आरम्भिक कलकारखाने भी जीवित रहते। शेष ८ करोड के लाभ से न जाने कितने गुरुकुल रहते। इन दान मांगनेवाली संस्थाओं ने 'याचना' की पराकाष्ठा करके भी कुछ न कमाया। खा पी बराबर कर डाला।

प्रकृति का बडा सरल व मोठा नियम है, कि जिसको स्वस्थ शरीर और चार हाथपांव मिले हैं, वह अपना निर्वाह अपने बाहुबल से उपार्जन करे। यदि किसी को तेज बुद्धि इसलिए मिली होती, कि वह बुद्धि के विचारशील कार्य करके दूसरे शारीरिक श्रम करनेवालों की कमाई पर अपना निर्वाह करे, तो प्रकृति ऐसे तीक्ष्ण बुद्धि महापुरुष को हाथ पैर ही न देती। महा प्रतिभाशाली बुद्धिमान पुरुष को भी हाथ पांव देकर प्रकृति ने यह प्रमाणित कर दिया, कि वह भी

उन हाथपावों से पूरा काम ले और दिनरात शारीरिक श्रम में मर खपनेवाले मजदूरों को भी अपनी बुद्धि से विचारने व ज्ञानोपार्जन का मौका दे, जब कि उन अभागे मजदूरों की खोपडी में भी उतनी ही तीव्र मेधा है, जितनी तेज किसी दार्शनिक विद्वान् के मस्तिष्क में । आज अपने को कुलीन, सभ्य कहनेवाले उच्च वर्णस्थ लोगों की इससे अधिक और क्या पशुता हो सकती है कि वे अपने जैसे मानव-जन्तु को अपने मैले गन्दे कपडे धोनेपर मजबूर करते हैं । स्वयं अपने घरों में हगते हैं और अपने ही सजात मनुष्य-जन्तु को मजबूर करते हैं, उस गू को उनके पुनीत मन्दिर से उठाकर बाहर ले जाने के लिए और साथ ही यह कहते भी नहीं लजाते, कि आर्य-सभ्यता में मेहतर भी ऋषि बन सकता है, जब कि सारे विश्व के द्विज-देव उस मेहतर को गू की टोकरी के नीचे से निकलने का अवसर ही नहीं देते ।

अदूरदर्शी, गैर जिम्मेवार वेतनभोगी उपदेशकों के व्याख्यानों से आर्यत्व की स्थापना नहीं हो सकती । वे तो केवल 'धर्मं चर, सत्यं वद' कह देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं । वे केवल बीज बखेरना ही जानते हैं, क्षेत्र चुनना या बनाना नहीं । वे मारवाड की संतप्त शुष्क वालुकामयी भूमि में वैदिक ज्ञानरूपी केशर व कमल के बीज बखेर कर जनता को आर्यत्व की आशा दिलाने के लिए 'चढ जा सूली पै राम भला करेंगे' की पूर्ति के लिए 'इदम् इन्द्राय न इदं ममः' का निर्लेप शान्ति-पाठ पढ देते हैं, ताकि आशावादी आर्य-जनता मरुभूमि में केशर की क्यारी और कमल-सरोवर के सुख-स्वप्नों में निमग्न रहे ।

मानव-प्रकृति पर विचार करनेवाले जानते हैं, कि मनुष्य कुकर्म से बचना चाहता है । और कुकर्म से बचना ही धर्म है। फिर पापकर्म क्यों किये जाते हैं? इसका उत्तर है 'वेबसी'से-। मनुष्य जीवन चाहता है। सुखी रहना और किसी सुलभ कार्य में लगा रहना चाहता है और चाहता है जिज्ञासा की पूर्ति । जब इन चार कार्यों में व्याघात होता है, मनुष्य आन्दोलन करता है और अक्षम होने के कारण असत्य, हिंसा आदि पापों का आश्रय लेता है ।

गायत्री का जाप क्यों करना चाहिये, इसका उत्तर अथर्ववेद में इस प्रकार दिया है –

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पवमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।

वेदने स्पष्ट कर दिया है, कि मनुष्य की इच्छायें है दीर्घ जीवन, मित्रादि के सहित पूर्ण निर्वाह द्वारा सुखी जीवन, ज्ञानोपार्जन तथा परलोक । अतः जिस जीवन-सुख के लिए मनुष्य जीना चाहता है और जिस सुख से वह वंचित किया जा रहा है, यदि वह जीवन-सुख उसे फिर से प्राप्त होने लगे, किये हुए काय का उसे पूरा पुरस्कार मिलने लगे, तो उसके तीन चौथाई कुकर्म बन्द हो जावें । यह हो सकता है, इस युगयोग्य कार्य को करने से । हम यदि राजनैतिक, विश्वव्यापी तथा अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि की उपेक्षा करके केवल सदाचार व धार्मिक दृष्टि से ही विचार करें, तो आज भी वही सदाचारी बन सकता है, जो न किसी को लूटता है न किसी से लुटता है । आज ९९ प्रतिशत पाप आर्थिक कष्ट के कारण हैं ।

आज 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्' पर आचरण करने के लिए कोई आर्य-समाजी महात्मा तक तैयार नहीं । साधारण दयानन्दी तो उद्यत होने ही क्यों लगा और दण्ड के आतंक से आचरण करानेवाले मनु महाराज 'भस्मान्तꣳ शरीरम्' को प्राप्त कर चुके । अतः अब एक मार्ग है कि कमानेवाले कृषकों का, जो अन्तपर जीनेवालों के अन्नदाता, जीवनपिता हैं, संगठन कर दिया जाय । उनके श्रमको सामूहिक व संगठित करके उन्हें पर्याप्त

आजीविका देकर सुखी, दीर्घजीवी और निश्चिन्त बनाया जावे। इतना हो जानेपर वे सुखी-जीवन किसान विना उपदेश के ही सदाचारी बन जावेंगे, उसके बाद जरूरत पडेगी ज्ञान की जो सदाचारी जीवन में इतनी जल्दी उत्पन्न होकर फल फूल सकेगा, जितनी जल्दी वर्षाऋतु में घास। इसलिए याचना जैसे आत्मघातक कर्म करके पराई कमाई को अपहरण करनेवाले परान्नमुखापेक्षी हमारे ज्ञान गुरुकुल व कालेज जहां कमानेवालों का शोषण कर रहे हैं, वहां श्रमिकों के सामूहिक व संगठित होनेपर उनकी शिक्षा-संस्थाएं स्वावलम्बी होंगी और यह सम्भव होगा 'आर्यगांव' बसाकर वहां के वासियों के सामूहिक श्रमको संगठित करने से। 'आर्यगांव' ही घोषणा कर सकेगा 'मुझमें रहनेवाला कोई मानवप्राणी ऐसा नहीं है, जो भरपेट अन्न व गोरस न पाता हो। जिसके पास आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त वस्त्र व अन्य उपकरण न हों। मुझ में रहनेवाले के पास जब आवश्यकता के अनुसार सब चीजें मौजूद हैं, तब कोई चोरी क्यों करे? अनाचारी क्यों हो? झूट क्यों बोले?'

क्या आर्यसमाज इससे अधिक आर्यत्व की स्थापना कर रहा है?

असफल हो जानेपर दान मांग कर चलाई हुई संस्थाओं का कार्य व मूलधन दोनों नष्ट हो जाते हैं किन्तु सफल संस्थाओं का कार्य तो रहता है, मूलधन नहीं। खर्च के लिए फिर दान मांगना पडता है और इस 'याचना' के फैशनेबुल पेशेको चलाना पडता है। परन्तु मेरी 'आर्यगांव' की योजनामें, असफल होनेपर, कार्य व मूल धन का कुछ नाश होता है, किन्तु सफल होनेपर कार्य, मूलधन, लाभ दिन दूने रात चौगुने बढते हैं। मेरी योजना के 'आर्यगांव' की नियामक कमेटी व संचालक को भीखपर चलनेवाली संस्थाओं के कर्णधारों की तरह दानदाताओं की इच्छाओं व आदेशों के समक्ष झुकना नहीं पडेगा। उन्हें तो ऋणदाता साहूकार के आदेशानुसार अपनी मशीनरी में फेरफार करने की तनिक भी जरूरत नहीं पडती। और ऋण के अदा कर देनेपर तो कमेटी व संचालक को उनके आदर्श की आलोचना करनेवाले विश्वकुबेर तक का कान पकड कर बाहर निकालने का अधिकार हो जाता है। इसी का नाम है 'अर्थशुद्धं सर्वशुद्धम्।'

यदि धनाढ्य दानदाता देवतुल्य सदाचारी भी हो, तब भी संस्था संचालकों को परवशता की एक असह्य वेदना से गुजरना पडता है, जब वे अनुभव करते हैं, कि धन की आवश्यकता के कारण दान के लोभ से दानदाता की इच्छा के प्रति वे 'एवमस्तु' कह रहे हैं, चाहे दानदाता की वह इच्छा लाभदायक ही क्यों न हो। विवशता व लोभ से स्वीकार की हुई भलाई भी मनुष्य के आत्मिक विकास को रोकती है। अतः उस समय की दयनीय दशा कितनी मर्मभेदी होगी, जब धनपति दानदाता का जीवन बिल्कुल अनार्य हो, उसकी इच्छामें संकर मतों का विषाक्त सत्त्व हो और संचालक के सामने हों संस्था की आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति के लिए धन मिलने का उपरोक्त अनार्य से प्रलोभन! इसी लिए 'आर्यगांव' की नेक कमाई से किया हुआ आर्यप्रचार कर्मकाण्ड व व्यावहारिक व्यसन ही वैदिक यथार्थ जीवन है और यह इसी 'अर्थशुद्धं सर्वशुद्धम्' पर अवलम्बित है। इस 'आर्यगांव' में लगाया हुआ धन ठीक उसी प्रकार वापस लौट आवेगा जिस प्रकार एक पूंजीपति का धन किसी फैक्टरी में लगाया जाकर, वहां से लाभसहित वापस लौट आता है और शेष लाभ 'आर्यगांव' वालों के लिए सदाचार, नैतिक जीवन, नागरिकता, मानवचरित्र की शिक्षा दीक्षा चिरकाल तक सतत देता रहेगा। क्या आर्यप्रतिनिधिसभा, पंजाब, अपने गुरुकुल का दशांश व्यय करके भी ऐसा 'आर्यगांव' बसावेगी, जो १००० मनुष्यों को शुद्ध पवित्र १० नमूनों की

कमाई का (पराई कमाई के सभ्य अपहरण का नहीं) प्रचुर निर्वाह देकर उन्हें सदाचारी, सत्यनिष्ठ, कर्मकांडी आर्य बनावें और उनकी सन्तान की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध करके अनृत की कमाई करनेवालों के भिक्षा-दान पर निर्वाह करनेवाले परान्नमुखापेक्षी गुरुकुल के स्नातकों से अधिक सदाचारी व योग्य विद्वान् उत्पन्न करें। सब से अद्भुत व नवीन बात यह होगी, कि जो धन आर्यप्रतिनिधिसभा इस 'आर्यगांव' पर खर्च करेगी, वह सब उसके कोश में पांच वर्ष के भीतर लौट आवेगा, जब कि उनकी समस्त शिक्षा-संस्थाओं ने लाखों रुपया खाकर एक फूटी कौडी आज तक वापस नहीं की। क्या आर्यप्रतिनिधिसभा, लाहोर' इस पर कान देगी? जिनको मेरी इस योजना की सफलता अथवा व्यावहारिकता में आशंका हो, उनके लिए 'वैदिक धर्म' के कालम खाली हैं, वे अपने विरोधी विचारों को प्रकट करें।

ओ३म् की ध्वजा या यज्ञिय अग्नि।

(लेखक- श्री आचार्य अभयदेव संन्यासी)

गुरुकुल कांगडी के गत जन्म- दिवस की सभा में एक स्नातक (पं० चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार) ने कुछ ऐसी शिकायत की थी, कि गुरुकुल में राष्ट्रीय झंडे की कद्र बहुत है, पर ओम्की ध्वजा की उपेक्षा की जाती है। इस का उत्तर देते हुए श्रीमान् मुख्याधिष्ठाताजी ने श्रोताओंका समाधान करा दिया था और बताया था, कि गुरुकुल में ओम् की पताका तो सब से ऊंचे स्थानपर और सुदृढ ढंग से लगाई हुई है। श्रीमान्य पं० इन्द्रजीने भी इन दोनों झण्डों का गुरुकुल में कितना सुन्दर और उचित समन्वय किया गया है, यह बतलाया था। इन दोनों महानुभावों के कथन का समर्थन करने के अतिरिक्त मैंने एक नयी बात अग्नि के वास्तविक झंडा होने के विषय में कही थी। उस बातपर और अधिक प्रकाश डालने की मांग गुजरात के एक प्रतिष्ठित आर्य की तरफ से आई है और वैसे भी आजकल जब कि अपने अपने झंडे सार्वजनिक स्थानोंपर लगाये जाने की एक होड सी चल पडी है, अपने वे विचार प्रकट कर देना कुछ उपयोग पर लिखा जाना लाभ का हो सकता है, यह सोच कर, मैं पाठकों के लिये इन्हें लेखबद्ध कर रहा हूं।

मेरी समझ में आर्य-समाज की तरफ से ओम् के झण्डे का, ध्वजा या पताका का फहराया जाना स्पष्ट रूप से आजकल के बाह्य प्रभाव के कारण है, यह राजनैतिक प्रचारप्रणाली का अनुकरण है, धार्मिक तरीका नहीं। बाह्य चिह्न द्वारा अपने को उद्बोधन देना- इसे मैं बुरा नहीं करता-यह तो किसी अंशमें जरूरी है। पर ऐसा ही करने का धार्मिक तरीका कुछ और होता है। हम जो हवन की अग्नि प्रज्वलित करते हैं, वह भी तो एक मुख्य अंश में बाहरी चिह्नद्वारा अपने को उद्बोधन देना ही है। इसलिये मैं कहता हूं कि हमारा झण्डा अग्नि है। मैं ने प्रथम बार गुरुकुल का आचार्यपद स्वीकार करते समय कोशिश की थी, कि हम गुरुकुल में स्थायी रूप से अग्नि को स्थापित करें और उसी से लेकर नित्य की

आहवनीय अग्नि बना कर अग्निहोत्र किया करें। पर यह चल नहीं सका। महाराज शाहपुराधीश ने तो इस कार्य के लिये-जिस में ऐसी अग्नि स्थापित हो, ऐसी यज्ञशाला बनवाने के लिये-धन भी गुरुकुल को दे रखा है। जिस दिन इस तरह गुरुकुल में यज्ञिय नित्य अग्नि की स्थापना हो जायगी, उस दिन मैं समझूंगा कि गुरुकुल में सच्चा ओम् का झण्डा गड गया। वेद में तो अग्नि या सूर्य को ही असली झण्डा, केतु बताया गया है। ये ही हमारे प्रकृतिमाता के दिये हुए, जीते जागते स्वाभाविक झण्डे हैं। मैं ऐसे बहुतसे मंत्र पेश कर सकता हूं, जिनमें अग्नि को यज्ञ का केतु कहा गया है। तो हम क्यों अपने इस केतु को भुलाकर औरों की नकलमें कपडे के झंडोंपर इतना आग्रह करें। अतः जब पं० चन्द्रगुप्तजीने भाषण के बाद यह एलान किया था, कि मैं १०) ओम् के नए और बडे झण्डे के लिये देने को तैयार हूं- तो मैंने यह सलाह दी थी, कि वे ये रुपये अपने पास ही रखें और इन का उपयोग प्रतिदिन अग्निहोत्र करने में करें, तो इस से जहां उन का अपना कल्याण हो सकता है, वहां इस से गुरुकुल व आर्यसमाज का भी भला हो सकता है, न कि गुरुकुल में एक और ओम् का झण्डा लगा देने से।

कई आर्यभाई न समझने के कारण मुझे गुरुकुल में या आर्यसमाज में राजनैतिकपन लानेवाला मानते रहे हैं। पर असल में राजनैतिकपन लाने का एक उदाहरण यह है, कि हम भी राष्ट्रीय झण्डे के अनुकरण में ओम् पताका का फहराने और ध्वजागीत गाने की रस्म करने लगें। देश की स्वाधीनता की इच्छा करना और उसे पाने के लिये शुद्ध बलिदान करना, यह तो सच्चे धर्मभाव से भरे हुए हृदय से स्वभावतः निकलनेवाली वस्तु है, पर चूंकि तिरंगे झण्डे की वन्दना राजनैतिक क्षेत्र में बडे उत्साह से की जाती है, इस लिये हम भी ओम् के झण्डे के सामने वैसी ही धूमधाम और आकर्षण पैदा करें, इस दृष्टि से आर्यसमाज में यह नई प्रथा चलाना राजनैतिकपन से भरे हुवे दिमाग से निकली वस्तु है।

दूसरी तरफ देखिये कि राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवाले जो स्वभावतः धार्मिक पुरुष हैं, वे क्या कर रहे हैं? पाठकों का ध्यान उधर गया है कि नहीं, पर मुझे तो बडी खुशी हुई जब मैंने अखबारों में पढा कि फैजपूर कांग्रेस के अवसरपर बम्बई से (जहां कि कांग्रेस का जन्म हुआ था) अग्निशिखा पैदल स्वयंसेवकों द्वारा फैजपूर लाई गई और स्वागत के साथ स्थापित की गई। अब तो यह प्रथा (भारत जैसे धर्मप्राण देशकी राजनीति को शोभा देनेवाली यह प्रथा) चल पडी प्रतीत होती है, क्योंकि सुना है, उस के बाद हरिपुरा कांग्रेस में भी यह अग्निशिखा उसी तरह लाई गई और स्थापित की गई। ऐसा करनेकी प्रेरणा चाहें ओलंपिक खेलों की ऐसी अग्निशिखा से ली गयी हो, पर मूलतः यह धार्मिक है और भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुकूल है। मैं देखता हूं इस अग्निशिखा के रिवाज को ठीक तरह चलाने से हमारी राजनीति और अधिक धार्मिक ऊंचाई में उठ जाएगी, जहां कि ओम् की ध्वजा को खडा कर के और उस के चारों ओर 'राष्ट्रपताकागीत' के बिलकुल नकल में बनाए हुए गीत के गाने और जय बोलने की प्रथा पूरी करने से धर्म राजनैतिक नाचाई में उतर आता है। कांग्रेस तो हमारे असली झण्डे, अग्नि को अपना रही है, पर हम उस के कपडे के झण्डे, ध्वजारोहण की नकल करनेमें संमान समझ रहे हैं।

झण्डे को मैं राजनैतिक वस्तु इसलिये कहता हूं, क्योंकि इस का कुछ लडाई के साथ सम्बन्ध है। यह ठीक है, कि धर्म भी एक प्रकार की लडाई

लडता है पर वह लडाई और तरह की होती है। उस में राजनैतिक लडाई की तरह का जोश खरोश व राजसिकता नहीं होती किन्तु उसमें एक दृढ किन्तु शान्त सङ्कल्प तथा सात्त्विकता होती है। इस लिये इस लडाई का चिह्न अग्नि ही शोभा देता है। अग्नि को ऊपर उठने वाले शान्त प्रबल सङ्कल्प का प्रतीक सब जगह माना गया है। इस के अतिरिक्त वैसे भी, जैसे मैं ने ऊपर कहा है, कपडे कागज टीन आदियों के बने झण्डे झण्डियों की अपेक्षा अग्नि बहुत अधिक जीता जागता स्वाभाविक और उज्ज्वल केतु है।

इस से मेरा यह भी मतलब नहीं कि गुरुकुल में जो ओ३म् का झण्डा लगा हुआ है उसे उतार दिया जाय। वह जिन परिस्थितियों और अवस्थाओं में लगाया गया है, वे ठीक थीं। उस झण्डे से अब भी बहुत लोगों को उद्बोधन मिलता है। उसे उतारना उस का अपमान करना होगा परन्तु इस झण्डे के साथ और झण्डों की नकल में कुछ और प्रक्रिया जोडना, इस से तो हमें अवश्य बचना चाहिये। हमें इसे साम्प्रदायिक झण्डा न बना देना चाहिये। आज कल की भाषा में कहूं, तो इसे मुस्लिम लीग का झण्डा नहीं बना देना चाहिये। ओ३म् का झण्डा कोई राष्ट्रीय झण्डे के मुकाबिले की चीज नहीं है। राष्ट्रीय झण्डा-झंडा-तो देश में एक ही होना चाहिये। ओम् का या परमात्मा के नाम का झंडा (केतु-प्रतीक) किसी देशविशेष से, परिमित देश से संबंध रखने वाली वस्तु नहीं, किन्तु सार्वभौम वस्तु है। असल में तो, जैसे कि मैंने ऊपर कहा, वह झण्डे का विषय ही नहीं है। इस लिये उसे अन्य झंडों की बराबरी में इतने नीचे उतार लाना बहुत अशोभाजनक प्रतीत होता है। अभी अखबारों में पढा था कि खुर्जा की म्यूनिस्पेलिटी पर कांग्रेस का झण्डा लगा हुआ था, उसपर मुस्लिम लीगवालों ने अपना झण्डा लगा दिया; उन्हें देखकर सिखों, सनातन धर्मवालों और महावीर दलवालों ने भी अपने अपने झण्डे लगा दिये। मुझे आशा है कि हमारे आर्यसमाजी भाई ऐसा तो नहीं करेंगे कि ऐसे समय पर वहां ओम् का झंडा ले जाकर लगा दें। पर हम जिस तरफ झुक रहे हैं उन से अन्देशा होता है कि कहीं हम भी उसी तरफ न चले जाएं। यदि हमारे अग्निहोत्र की अग्नि के झण्डे में ऐसी शक्ति नहीं आई है कि वह सच्चा धार्मिक आकर्षण पैदा कर सके, तो हमें ठहरना चाहिये और अधिक तपस्या करनी चाहिये; पर ओम् के पवित्र झण्डे के साथ यह खिलवाड शुरू न कर देनी चाहिये।

हमें पूरे निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि हमारा असली झंडा-जिसमें आकर्षण करने की शक्ति किसी भी राजनैतिक झंडे की अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक है, चूंकि स्वयं धार्मिक क्षेत्र ही राजनैतिक क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है- अग्नि है। इस झंडे का, अग्नि का, प्रभाव जगद्व्यापक है। बेशक इस झंडे को फहराना, इस की स्थापना व आराधना करना, और हृदय से निकले वेदमंत्रों द्वारा इसकी सच्ची उपासना करना बडा कठिन है, बहुत तपस्या और आत्म-बलिदान को चाहता है। पर हमारा असली धार्मिक (असांप्रदायिक, सार्वभौम) झंडा (और प्रार्थना) है यही।

यह कपडेका ओम्का झंडा भी चूंकि आज-निरापद है इस लिये भी कुछ लोग इस को महत्व देते हैं, इसे राष्ट्रीय झंडे के मुकाबिले में रखकर इसे बढाने में धार्मिक जोश दिखलाते हैं। परन्तु यदि कभी जैसे राष्ट्रीय झंडा खतरे की वस्तु रहा है और आगे भी हो सकता है, वैसे यह ओम् की ध्वजा भी खतरनाक वस्तु हो जाय तो इस की रक्षा करनेवाले, इसके लिये जान तक दे देनेवाले, शायद वे ही आर्यवीर निकलेंगे जो कि राष्ट्रीय झंडे के लिये या देश के लिये कष्ट उठा चुके हैं, कुछ बलिदान कर चुके हैं या बलिदान करने को वस्तुतः तैयार हैं (दूसरे तो शायद तब इसे कपडे का

टुकडा कह कर इसके लिये आग्रह करना, लडाई झगडे में पडना मूर्खतापूर्ण कार्य समझेंगे)। अस्तु। मतलब यह है कि ये दोनों झंडे वस्तुतः कोई मुकाबिले की वस्तु नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

सच्चा आर्य आज वह है जो प्रतिदिन दैनिक अग्निहोत्र द्वारा, जगद्व्यापक प्रभाव रखने वाले महायज्ञद्वारा, अग्नि के झंडे की उपासना करता है तथा राष्ट्रीय महासभाद्वारा नियत अवसरोंपर अपने राष्ट्रीय तिरंगे झंडे की वन्दना द्वारा राष्ट्र-यज्ञ की इस प्रक्रिया में भी सम्मिलित होता है। उसे अग्नि में अपने राष्ट्र के पापों को भी भस्म करने वाली पवित्र शक्ति अनुभूत होती है और चर्खे से चिह्नित तिरंगे राष्ट्रीय झंडे में भी 'ओम्' का प्रकाश नजर आता है।

'आर्य-गांव'

(लेखक-- श्री० वसिष्ठजी)

(१) चार हजार से छे हजार बीघे मध्यम श्रेणी की जमीनके एक चक में एक गांव बसाया जावे, जिसका नाम "आर्यगांव" हो। उस गांवमें रहनेवालोंके निर्वाह, सुख, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए कृषिके फारम, फलोंके बाग, पुष्पवाटिकाएं, क्राफ्ट–फैक्टरी, चिकित्सालय, विद्यापीठ, कुञ्ज, टाकीभवन, रेडियो, ग्रामोफोन, व्यायाम-शाला, परिवारगृह, वस्तुभण्डार, पशुशाला, आदि होवें।

उद्देश्य।

(२) "आर्यगांव"के निवासियों को सदाचारी, संयमी, सत्यनिष्ठ, निरामिष, सात्विक कर्मकांडी बनाना।

(३) हर प्रकारकी आधुनिक मशीनों की सहायतासे कम से कम व्यय करके अधिक वस्तुएं सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना।

(४) मोटरों तथा आधुनिक मशीनों की सहायता से कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक कृषिवस्तुएं सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना। अर्थात् अन्न, ईख, कपास, तथा शाकादि सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना।

(५) आधुनिक वैज्ञानिक साधनों की सहायतासे कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक दूध उत्पन्न करने-वाली दूधशाला (Dairy Farm)सामूहिक श्रम द्वारा खोलना।

(६)(क) प्रचलित स्थानीय बागीचोंके साथ साथ वैज्ञा-निक पद्धति तथा यन्त्रोंकी सहायतासे कम से कम व्यय करके उन फलदार वृक्षोंका आरोपण भी करना जिनके फल वहां सुदूर स्थानों से आते हैं, तथा ऐसे वृक्षारोपणका आर्थिक संतुलन करना।

(ख) प्रचलित स्थानीय वृक्षों के बागीचे लगाना।

(७) निवासियों की नैतिक, सामाजिक तथा शारीरिक उन्नति करना।

(८) निवासियों को जिन्दा दिलीका अभ्यास कराना।

(९) निवासियों के मनोरंजन के लिए संगीत का अनिवार्य अभ्यास कराना।

(१०) आत्मरक्षा के लिए तैरना, पटा, बनैटी, जुत्सु आदिका अभ्यास कराना।

(११) सत्य, अहिंसा, सदाचार तथा सादगी का अभ्यास कराना।

(१२) आधुनिक यन्त्रों की सहायता से केवल स्त्री-मजदूरों को लगाकर छोटीसी क्राफ्टफैक्टरी खोलना।

(१३) केवल स्त्रियोंके कार्य करनेके लिए औषध-निर्माण-शाला तथा दर्जीखाना खोलना।

नियम।

(१४) सामाजिक शृंखला में संकलित होकर रह सकें, ऐसे व्यक्ति उक्त गांव में बसाये जावेंगे।

(१५) 'आर्यगांव' में रहनेवाला प्रत्येक नरनारी 'वासी' 'वासिनी' कहलावेगा।

(१६) (क) प्रत्येक "वासी को उसकी सेवा के परिश्रम का वेतन रुपयों में मिलेगा। कार्य योग्यता के अनुसार तथा वेतन आवश्यकता के अनुसार होगा।

(ख) प्रत्येक बालक के भरण, पोषण तथा शिक्षण का भार 'आर्यगांव' की आय तथा संचालक के प्रबन्ध के जिम्मे होगा। अतः आवश्यकता से तात्पर्य दम्पति का निर्वाह ही होगा, क्योंकि 'आर्य–गांव' की नीति में विलास, शौकीनी, नशे व फैशन के लिये कोई स्थान नहीं है।

(१७) "आर्यगांव" के वासी को कृषक, माली, ग्वाला, मजदूर, वैद्य, अध्यापक, चौकीदार, कातकाता, यन्त्रक (Mechanic), चालक (Driver), लेखक (Clerk), शिल्पी आदिके स्थान (Post) अपनी अपनी योग्यता के अनुसार मिलेंगे, परन्तु संचालक का निर्णय अन्तिम होगा।

(१८) प्रत्येक विभाग के प्रथम नियम होंगे। प्रत्येक विभाग का कर्मचारी अपने अपने विभाग के अन्तर्गत उत्तर-दाता होगा।

(१९) कोई भी अंगहीन, रोगी, मोहताज स्त्रीपुरुष "आर्यगांव" की सेवा में नियुक्त न किया जावेगा, किन्तु जो स्त्रीपुरुष सेवाकाल में रोगग्रस्त अथवा किसी दुर्घटना विशेष से अंगहीन, रोगी, मोहताज हो जावेगा, उसका भरणपोषण 'आर्यगांव' की अतिथिशाला में होगा, तथा उसे उतना ही काम करना पडेगा, जितना उसके विकृत शरीरद्वारा किसी कष्ट विशेष के विना पूरा हो सके।

(२०) ५० वर्ष से अधिक आयुके 'वासी' तथा 'वासिनी' विद्यार्थियों को कृषि, गोपालन, बागवानी, आयुर्वेद, शिल्प, यन्त्रचालन, नैतिक शिक्षा, पढना, लिखना आदि का क्रियात्मक शिक्षण देंगे। इस आयु के "वासी" अपने यौवन के सेवाकाल से आधा समय सेवा करेंगे। ये विद्यापीठ परिवार के "सहयोगी" (वानप्रस्थी) कहलावेंगे।

स्त्रियों के कार्य।

(२१) कपडे धोना, सीना, रंगना, अतिथि-शालामें भोजन बनाना, फुलवाडी लगाना, क्लाथफैक्टरी में सरल मशीनोंपर कार्य करना, इलैकट्रिक मोटर चलाना, ट्रैक्टर व मोटर चलाना। सिंचाई, फल बीनना, दूध दूहना, गोशाला की सफाई, सम्मेलनसंगीतों की उत्सवरचना। आटा, चावल व तेलकी पावर-मशीनोंपर कार्य करना। चिकित्सा, शिक्षा, सुश्रुषा करना, पढाना। बालकबालिकाओंका पालन-पोषण आदि तथा अन्य ललित कार्य।

पुरुषों के कार्य।

(२२) हल चलाना, खेती के तमाम कार्य, बागवानी, चौकीदारी, चिकित्सा, शिक्षण, मशीनों के कठिन कार्य, बढई का काम, मकान बनाना, जंगल के कठिन कार्य। प्रबन्ध। समस्त कठिन कार्य।

संचालक के अधिकार।

(२३) गांव का प्रबन्ध, व्यवस्था, अनुशासन एक योग्य व्यक्ति के हाथ में रहेगा, जो गांव का संचालक कहलावेगा, तथा जिसका वेतन ६०) मासिक होगा।

(२४) किसी व्यक्ति के रखने वा पृथक् करने का पूरा अधिकार संचालक को होगा।

(२५) "आर्यगांव" की समस्त भूमि, चर=अचर सम्पत्ति तथा मकानादि एक कमेटी के अधीन होंगे, किन्तु उस भूमि में मकान बनाने का अधिकार संचालक को ही होगा।

(२६) संचालक तथा "आर्यगांव" के वासियों के शारीरिक श्रम व दमागी विचार से जो उत्पत्ति उस भूमि में होगी, उससे बांटने का पूरा पूरा अधिकार संचालक को होगा।

(२७) आर्यत्व के आदर्श की रक्षा के लिए संचालक को अधिकार है, कि वह 'आर्यगांव' के किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने संचालक की आज्ञानुसार कार्य नहीं किया है, या जिसने नियमों का उल्लंघन किया है वा जो संचालक की दृष्टि में अयोग्य है, आर्यगांव से पृथक् कर देवे।

(२८) ऐसा पृथक् किया हुआ या किया जानेवाला व्यक्ति अपने पिछले सेवाकाल के वेतन के अतिरिक्त किसी प्रकार के लाभादि के हिस्से का अधिकारी नहीं होगा।

नियामक कमेटी।

(२९) "आर्यगांव" की योजना को मूर्त करने के लिए एक कमेटी होगी, जो अपनी जिम्मेवारीपर "आर्यगांव" की योजनाओं के लिये किसी सम्पत्तिशाली व्यक्ति अथवा व्यक्तियोंसे धन, ऋण वा दान के रूप में लेकर 'आर्यगांव' के कार्योंपर व्यय करेगी और उसके प्रबन्ध के लिए एक योग्य संचालक को नियुक्त करेगी।

(३०) यह कमेटी अपनी ओरसे एक योग्य कोषाध्यक्षको

चुनकर "आर्यगांव" में भेज देगी, जो रोजाना के विविध व्ययको चलावेगा।

(३१) यह कमेटी सब धन (जो उसे ऋण अथवा दानमें प्राप्त हुआ है) बैंक में रखेगी और "आर्यगांव" के संचालक की प्रस्तावित उन तमाम छोटी बड़ी मशीनों उपकरणों को, जो आर्यगांव में आवश्यक होंगे, मंगाकर देगी। संचालक केवल उसी व्ययको चलानेका अधिकारी होगा, जो चालू खर्च (Running Charges) के रूप में लगेगा।

(३२) कोषाध्यक्ष के अधिकारमें एक निश्चित धन चालू खर्च (Running Charges) की पूर्तिके लिए रहेगा।

(३३) भण्डारी के अधिकार में 'आर्यगांव' की समस्त उत्पत्ति तथा संपत्ति होगी।

(३४) इस उत्पन्न संपत्ति को मंडी में बेचकर उसकी आय से वेतन, वस्तुक्रय, लगान आदि दिया जाया करेगा।

(३५) तमाम ऋण के अदा हो जाने पर कमेटी को "आर्यगांव" से केवल लगान लेने का अधिकार रहेगा।

(३६) ऋणकी समाप्ति हो जानेपर वासियों की अपनी कमेटी होगी जो "उत्तराधिकारिणी कमेटी" कहलावेगी।

(३७) हर दशा में लगान नियामक कमेटी को और नियामक कमेटी द्वारा जमींदार को दिया जावेगा।

(३८) नियामक कमेटी का कर्तव्य होगा, कि वह उत्तराधिकारिणी कमेटी को प्रांतीय सरकार से Recognise करा दे।

प्रतिबन्ध।

(३९) (क) "आर्यगांव" में कोई भी नशे की चीज उत्पन्न न की जा सकेगी।

(ख) कोई 'वासी" वा "वासिनी" किसी नशीली वस्तु का उपभोग न कर सकेगा। तम्बाकु आदि तक के व्यसन को छुड़ाने का प्रयत्न किया जावेगा।

(४०) कोई मांसाहार न कर सकेगा।

(४१) असत्य, हिंसा, दुराचार, चोरी, अनधिकार तथा अनावश्यक संग्रह करनेवाला "विद्यापीठ" से पृथक् कर दिया जावेगा।

(४२) कर्तव्यपालन में प्रमाद करनेवाला तथा नियम-भंग करनेवाला दण्डित किया जावेगा।

(४३) 'आर्यगांव' के किसी 'वासी' अथवा 'वासिनी' का 'आर्यगांव' की किसी 'चर' 'अचर' सम्पत्ति पर कोई अधिकार न होगा।

चिकित्सा।

(४४) रोगी होनेपर रोगी को चिकित्सालय में औषधि मुफ्त मिलेगी। जब रोगी चिकित्सालय में रहेगा, तब उसे भोजनादि भी चिकित्सालय से मुफ्त मिलेगा, तथा इस अवधि का वेतन आधा मिलेगा।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता।

(४५) प्रत्येक 'वासी, वासिनी' को आठ घंटे दैनिक सेवाकार्य करना होगा। इसके बाद प्रत्येक वासी अपने निजी स्वाध्याय व अन्य कर्मों के लिए जो 'आर्यगांव' के नियमों के प्रतिकूल न हों, स्वतन्त्र होगा, उत्पत्तिके बढ़नेपर कार्य के घंटे घटाये जावेंगे।

(४६) प्रत्येक 'वासी' के लिए अनिवार्य होगा, कि वह अपने पारिवारिक भोजन के लिए दूध का केवल एक पशु (गाय वा भैंस) पाले। किन्तु किसी को भी उस पशु के दूध वा दूध से बने किसी पदार्थ को कहीं भी बेचने का अधिकार न होगा।

(४७) कोई भी 'वासी' एक से अधिक पशु न पाल सकेगा। उसे दूध न देनेवाले तथा जिन्होंने दूध सूखना छोड़ दिया है, ऐसे पशु गोशाला में भेज देने होंगे।

(४८) कोई भी 'वासी' अपने पशु के गोबर के उपले न बना सकेगा। पशुओंका सब गोबर खाद में जायगा।

(४९) वासियों के पशु 'आर्यगांव' के चरागाह में चर सकेंगे, जिनका कुछ कर न लगेगा।

(५०) किसी प्रकार का साम्प्रदायिक खण्डनमण्डन करने का अधिकार किसीको न होगा।

(५१) प्रत्येक श्रमजीवी (Physical labourer) को रात्रि पाठशाला में पढ़ना अनिवार्य होगा।

शिक्षा ।

(५२)आरम्भ में प्रत्येक निरक्षर वासीको साक्षर करने के लिए रात्रि विद्यालय खोले जावेंगे, जिनमें उन्हें कम से कम दो घंटे दैनिक पढना अनिवार्य होगा।

(५३) ६ वर्ष की आयुसे १६ वर्ष की आयु तक लडकियें तथा १८ वर्ष की आयु तक लडकों के लिए विद्यापीठमें विद्याध्ययन करना अनिवार्य होगा।

(५४) ६ वर्षसे ११ वर्ष तकके बालक-बालिका एक साथ पढेंगे, किन्तु बालिकाओंके सोनेका स्थान बालकों से पृथक होगा। इन बालकबालिकाओं के पालनपोषण, शिक्षण तथा संरक्षण का कार्य केवल स्त्रियोंके अधीन रहेगा।

(५५) ११ वर्षसे १८ वर्ष तक की आयुके लडकोंका शिक्षण, पालन, पोषण पुरुषों के हाथमें होगा। इस अवधि में लडके पुस्तकज्ञानके अतिरिक्त खेती, बागवानी, गोपालन को मुख्य रूपसे तथा अन्य कलाओं को गौणरूपसे क्रियात्मक सीखेंगे। लडकों की शिक्षा साहित्यादि में हिन्दी साहित्यसम्मेलन की प्रथमा के बराबर होगी, किन्तु विज्ञान, आयुर्वेद, इतिहास का शिक्षण विशारद के बराबर होगा।

(५६) ११ वर्षसे १६ वर्ष तक लडकियों का शिक्षण, पालन, पोषण लडकों से सुदूर स्थानपर केवल स्त्रियोंके हाथ में रहेगा। इस अवधि में लडकियें लोअर मिडिल की योग्यता प्राप्त कर लेंगी। उन्हें नियम २१ की उन तमाम पद्धतियों का क्रियात्मक अभ्यास कराया जायगा, जिनमें उनकी रुचि होगी।

(५७) शिक्षाकी प्रगति व्यावहारिक होगी। व्यावहारिक अभ्यासके बाद वही बात किताबी होगी।

(५८) धर्मशिक्षा भी व्यावहारिक ही होगी, जिसमें यम-नियमों का पालन का अभ्यास मुख्य रूपसे, संध्या, हवन गौण रूप से होगा। शेष बौद्धिक ज्ञान (दार्शनिक शिक्षा) प्रारम्भिक रूप में दी जायगी।

(५९) संस्कृत वैकल्पिक विषय होगा। संस्कृत पढनेवालों को कर्मकाण्ड भी सीखना होगा।

(६०) प्रत्येक वासीको संध्या, हवन तथा पर्व यज्ञ करना अनिवार्य होगा। यज्ञ न करनेवाला पतित करके बाहर निकाल दिया जावेगा।

(६१) संवत्सर, दर्शपूर्णमास (अमावस्या पूर्णिमा) चातुर्मास्य, नवसस्येष्टि, अग्निष्टोम, गोमेध (भूमि में हल चलानेवाले दिन का यज्ञ), श्रावणी, हरि-तृतिया, गृह-शुचि, (विजयादशमी), जन्मभूमि-पूजा (दीपमालिका) के यज्ञ समष्टिरूप से हुआ करेंगे।

(६२) जिन विद्यार्थियों की प्रवृत्ति लेखन, भाषण तथा उच्च ज्ञानोपार्जन में होगी, उन्हें दर्शन, विज्ञान, इतिहास, संस्कृत, वेद आदि की उच्च शिक्षा दी जायगी। निर्लोभी, सहिष्णु, परिश्रमी तथा कुशाग्र बुद्धि को कर्मकाण्ड तथा आयुर्वेद की शिक्षा दी जायगी।

(६३) जहां ६ वर्ष से १६ वर्ष तक आयु की कन्याएं तथा ६ वर्ष से १८ वर्ष तक आयुके बालक शिक्षा प्राप्त करेंगे, 'आर्यगांव' की ऐसी शिक्षा-संस्था का नाम 'विद्यापीठ' होगा।

(६४) विद्यापीठ के प्रत्येक विद्यार्थी के आहार का आधा भाग दूध तथा दूध के बने पदार्थ, चौथाई भाग ताजे फल व शाकादि, तथा शेष भाग अन्न होगा। नाना प्रकार के संस्कारों, कृत्रिम साधनों द्वारा बने मिश्रित भोजन मिठाइयें यहां वर्जित होंगी। खट्टी चीजों में ताजे नींबू अनार व आमलों के अतिरिक्त किसी अचार चटनी आदि का उपयोग विद्यापीठ में न होगा। तेलादि के पकान्न पूर्ण रूपसे तथा घीके पदार्थ आंशिक रूप से वर्जित होंगे।

(६५) विद्यार्थियों के वस्त्रों में आराम व सुविधे का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जायगा, किन्तु सजावट व फैशन को कोई स्थान न मिलेगा। वस्त्रादि के बनाने में इस बात का ध्यान रक्खा जायगा, कि जहां वस्त्र शरीर की सजावट न करे, वहां नंगे शरीर को कुरूप भी न बनावे।

(६६) 'आर्यगांव' की पशुशाला में गाय, भैंस, बकरी, भेड, घोडा, कुत्ता, गदहा, शूकर, व मुर्गा पाले जावेंगे।

अपवाद ।

(६७) केवल भिक्षा करके आहार करनेवाले विद्वान् संन्यासी इस भूमि में आनन्दी परिव्राजक कुटीर में रह सकेंगे, जो स्वेच्छा से यथा रुचि यथा समय उपदेश देंगे। वे 'आर्यगांव' के किसी कार्य में अनिवार्य रूप से नियुक्त न किये जा सकेंगे।

(६८) वैदिक जीवन व्यतीत करनेवाला ऐसा निर्लोभी संयमी विद्वान् पण्डित जो दान लेकर सब हवि कर देता हो 'आर्यगांव' में अवैतनिक पुरोहित नियुक्त किया जावेगा, जो गृहस्थोंके यज्ञादि संस्कारों में प्राप्त दक्षिणापर निर्वाह करेगा ।

(६९) यह पुरोहित दम्पति निम्न बातों में क्रियात्मक व्यसनी होगा--

(क) हाथ के कते बुने खादी के सूती ऊनी बिना सिले वस्त्र सपरिवार पहनेगा ।

(ख) दाढी केश न कटावेगा ।

(ग) पञ्च-यज्ञ नित्य प्रति करेगा ।

(घ) सात्विक भोजन करेगा ।

लाभ का बंटवारा ।

(७०) (क) "आर्यगांव" की सामूहिक खेती, बागों, दुग्धशाला तथा क्लाथ-फॅक्टरी से सब खर्च, कर्मचारियोंका वेतन, लगान आदि देकर जो बचत होगी, आरम्भ में उसका आधा भाग उस ऋण की अदायगीमें दिया जावेगा, जिससे मशीनें तथा अन्य सामान खरीदा गया है, तथा जिससे काम चालू किया गया है । चौथाई भाग स्वास्थ्य रक्षा तथा शिक्षापर, शेष भाग परिवारगृह निर्माणपर ।

(ख) ऋणके बेबाक हो जानेपर एकतृतीयांश शिक्षा, एकचतुर्थांश परिवारगृह-निर्माण, एकषष्ठांश स्वास्थ्य रक्षा, एकअष्टमांश मनोरंजन तथा एकअष्टमांश नैतिक संगठन पर व्यय होगा ।

(ग) वासियों की आवश्यकतानुसार मकान बन जानेपर एकतृतीयांश शिक्षा, एकषष्ठांश स्वास्थ्य, एकषोडशांश मनोरंजन, एकषोडशांश नैतिक संगठन और शेष का आधा आवश्यकताओं के लिए कोष में जमा रखकर शेष वासियों के वेतने के अनुपातसे उन्हें बांट दिया जावेगा ।

उत्सव व मनोरंजन ।

(७१) मनोरंजनके तीन स्थान व तीन विभाग होंगे ।

स्थान

(क) समाज-कुञ्ज (Public Parks)

(ख) समाज-भवन (Public Hall)

(ग) क्षेत्र-कोण (Field Corners)

विभाग ।

(क) वाक्चित्रपट (Talkies), ग्रामोफोन, रेडियो ।

(ख) क्रीडा,

(ग) संगीत

(७२) फिल्म व रिकार्डों का चुनाव संचालक की इच्छा पर होगा, जिससे दर्शक व श्रोताओं में संकीर्णता, कामुकता तथा विलासिता के द्वारा नैतिक जीवन का ह्रास, दुराचार की स्थापना न हो ।

उत्सव ।

(७३) नव वर्ष, श्रावणी (विद्यापीठप्रवेश) पूर्णिमा, रविवार, महापुरुषों के जन्मदिवस, वर्षाविहार, गृहसफाई (विजयदशमी), जन्मभूमि-पूजा (दीपमालिका), वसंत-विहार के उत्सव सामूहिक होंगे । इन पर विद्यापीठ में अवकाश रहेगा ।

(७४) नव-वर्ष, श्रावणी, वर्षाविहार, वसंतविहार, जन्मभूमि-पूजा पर विद्यापीठ में विद्यापीठ की ओर सहभोज हुआ करेगा ।

(७५) मरने पर मृत प्राणी के कुटम्बियों को आश्वासन देने व शोक दूर करने के लिए 'आर्यगांव' की ओर से 'जलयान' व जीवन पहेली पर सभा हुआ करेगी ।

(७६) पुंसवनसंस्कार से लेकर यज्ञोपवीत-संस्कार तक के सब संस्कार वासियों के गृहों में निजी (व्यक्तिगत) पारिवारिक संस्कार होंगे ।

(७७) वेदारम्भ, समावर्तन, विवाहसंस्कार विद्यापीठ में विद्यापीठ की ओर से होंगे ।

(७८) नियम ७३ के उत्सव सामूहिक व पारिवारिक दोनों होंगे ।

विवाह-नियम ।

(७९) प्रत्येक युवक व युवती के विवाह का खर्च विद्यापीठ के जिम्मे होगा, जो अधिक से अधिक १०) होगा ।

(८०) वर कन्या-पक्ष के स्त्री-पुरुषों को स्वतन्त्रता होगी कि वे विवाहित वर-वधु को घर लेकर सहभोज का

उत्सव अपने व्यय से करें, जिसका व्यय ३०) से अधिक न होगा।

(८१) २४ व ३० वर्ष की आयु के बीच प्रत्येक पुरुष को विवाह करना पडेगा। जो विवाह करना न चाहेगा, उसको संचालक की आज्ञानुसार समाजभूमि के विशेष कार्य में विशेष नियमों के अन्तर्गत रहना होगा, अन्यथा वह 'आर्यगांव' से पृथक् कर दिया जावेगा।

(८२) १६ व २० वर्ष की आयु के बीच प्रत्येक युवती को विवाह करना होगा। जो विवाह करना न चाहेगी, उसको संचालक की आज्ञानुसार कन्याविद्यापीठ में रहना होगा, अन्यथा वह 'आर्यगांव' से पृथक् कर दी जावेगी।

(८३) अविवाहित स्त्रीपुरुषों, विधवा व विधुरों को पूर्ण अधिकार होगा कि वे जब चाहें ४० वर्ष की आयु से पूर्व विवाह कर लें, किन्तु उन्हे नियम ८४, ८५, ८६ व ८७ के विपरीत विवाह करने का अधिकार न होगा।

(८४) १६ वर्ष की आयु से पहले स्त्री व २४ वर्ष की आयु से पहले पुरुष का विवाह न होगा।

(८५) ३० वर्ष से अधिक आयु का पुरुष अपनी आयु से आधी से कम उम्र की स्त्रीसे विवाह न कर सकेगा।

(८६) पुरुष की आयु स्त्री की आयु से कम से कम ८ वर्ष अधिक जरूर हो।

(८७) जिस स्त्रीपुरुष को चिकित्सक अयोग्य समझेगा, उनका विवाह न होगा।

(८८) विवाह करने में मुख्य मर्जी स्त्रीपुरुष की होगी, किन्तु 'आर्यत्व' के आदर्श की रक्षा के लिए संचालक का निर्णय अन्तिम होगा।

परिवारगृह।

(८९) प्रत्येक परिवार के ६ वर्ष से अधिक आयु के बालकबालिका 'आर्यगांव' की विद्यापीठ में भेज दिये जावेंगे। रोगी चिकित्सालय में रहेंगे। ५० वर्ष से अधिक आयु के स्त्रीपुरुष विद्यापीठ में सहयोगी का कार्य करेंगे, अतः परिवार में पतिपत्नी व ६ वर्ष से कम आयु के बालक ही होंगे, जिनके लिये २५×५० फीट क्षेत्रफल का परिवार-गृह पर्याप्त होगा, जिसमें दो कमरे, एक बरामदा (हवनस्थान के सहित), एक स्नानगृह, एक रसोई, एक पाखाना, पशु के लिए टीन छपरा व एक ईंधनघर होगा।

(९०) मकान सब पक्के व स्वास्थ्य कर होंगे।

अन्य नियम।

(९१) किसी वासी के मर जाने, भाग जाने अथवा जेल आदिके चले जाने पर उसके आश्रित परिवारको 'आर्यगांव से बाहर न निकाला जायगा। प्रत्युत उसकी संतान का पालन, पोषण, शिक्षण अबाधित रूप से विद्यापीठ में चलता रहेगा। 'वासी' की स्त्री को संचालक के निश्चयानुसार पारिश्रमिक लेकर अपने परिवार का निर्वाह करना होगा।

(९२) विद्यापीठ में शिल्पके ऐसे कारखाने खोले जावेंगे, तथा प्रत्येक विद्यार्थीसे शिक्षणकालमें सुभीते अनुसार कृषि आदिका इतना कार्य कराया जावेगा, जिससे शिक्षणका व्यय विद्यापीठ के इन विभागों से वसूल हो सके।

(९३) स्वास्थ्यविभाग व चिकित्सक का कर्तव्य होगा, कि वे चिकित्सा करने से पूर्व ही उन तमाम नियमों को वर्तें जिससे रोग होने की सम्भावना ही न हो। अतः समस्त वासियों के स्वास्थ्य का उत्तरदाता चिकित्सक होगा।

(९४) विद्यापीठ व "आर्यगांव" के कार्यक्षेत्रमें वासियों व विद्यार्थियों को अपने काम व 'आर्यगांव' की सब प्रकार की न्यायोचित उन्नति में उत्साही व तल्लीन बनाने के लिए पुरस्कार, छुट्टियें आदि दी जाया करेंगी। उन्हें पुरस्कार के रूपमें यात्रा के लिए मार्गव्यय व लम्बी छुट्टियें दी जाया करेंगी।

(९५) कोई अतिथि वा किसी का रिश्तेदार संचालक की अनुमति विना "आर्यगांव" में न ठहर सकेगा।

(९६) "आर्यगांव" की ओरसे एक बडा वस्तुभंडार होगा, जहां से प्रत्येक वस्तु मोल मिलेगी। कोई भी 'वासी' विना संचालक की अनुमति के कोई वस्तु बाहर से खरीद कर न ला सकेगा।

(९७) सिंचाई के लिए बिजली के मोटरपम्प होंगे। इन्हीं के द्वारा परिवारों के लिए टंकी व वाटरपाइपोंका प्रबन्ध होगा, जिससे मुख्य स्थानों के अतिरिक्त परिवार-गृहों में भी जल होंगे।

(९८) परिवारगृहोंमें बिजली की रोशनी का प्रबन्ध होगा।

(९९) बुद्धिजीवी (दमागी काम करनेवाले) को दो घंटे दैनिक ऐसे शारीरिक श्रम में अनिवार्य रूप से लगाना होगा जिससे मनुष्योपयोगी कोई आवश्यक वस्तु उत्पन्न हो। इसके लिये वाटिका का कार्य मुख्य होगा।

(१००) (क) वासियों के प्रदत्त धन से तथा यथा-शक्ति 'आर्यगांव' के फण्ड से सार्वजनिक प्रचारकों को निर्वाह व आश्रय प्रदान किया जावेगा।

(ख) दान में आनेवाले धन से दूसरे 'आर्यगांव' बसाने का प्रबन्ध किया जावेगा।

(ग) संचालक का कर्तव्य होगा, कि वह उद्योग-शाला की उत्पत्ति-साधन को इतना मितव्ययी बनावे कि 'आर्यगांव' के कारखाने की प्रत्येक वस्तु मंडी में विदेशी वस्तुओं से भी सस्ती बेची जाकर लाभ दे।

वैदिक धर्मियोंके लिये

वेद स्वतःप्रमाण हैं।

१ वेदमंत्रोंके ऋषि निश्चित हैं,

२ वेदमंत्रोंके देवता निश्चित हैं,

३ वेदमंत्रोंके छन्द निश्चित हैं,

४ (कूटमन्त्रोंको छोडकर शेष) वेदमंत्रोंका अर्थ भी प्रकरणानुकूल निश्चित और एकहि है, (और अर्थ करनेवालेपर एक एक पदके अर्थका पूर्ण उत्तरदायित्व है। मर्जी चाहे वैसा वेदमन्त्रोंका अर्थ कभी बदला नहीं जा सकता।)

५ वेदमन्त्रोंमें पाठभेद भी नहीं हैं। (खोजपूर्वक पाठभेद दृग्गोचर हुए तो उनको हटानाही चाहिये। पाठभेद अनर्थकारी समझने चाहिये।)

इसी कारण वैदिक धर्मियोंके लिये वेद शाश्वत प्रमाणके ग्रन्थ हैं, उसमें किसी प्रकार की अस्थिरता बिलकुल नहीं है। तथापि कई लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिये ऐसा नया पक्ष खडा कर रहे हैं कि जिससे जनताको यह प्रतीत हो जावे कि—

१ वेदमंत्रों के ऋषि बदलते हैं,
२ मंत्रोंके देवता मंत्रका अर्थ करनेवालेकी इच्छासे बदलते हैं,
३ छन्द भी अनियत हैं,
४ अर्थ भी बदला जाता है, अतः अस्थिर है,
५ पाठभेद भी घुसेडे जाते हैं, (जैसा अजमेर मुद्रित ऋग्वेदमें 'देवृकामा' घुसेडा गया है।)

इतना माननेपर वेदका स्वतःप्रामाण्य कहां रहेगा? यदि वैदिक धर्मियों के लिये वेद स्वतःप्रमाण, माननीय तथा शाश्वत धर्म के ग्रंथ हैं, तो निःसन्देह सोचिये, शान्तिसे विचारिये और इस अनर्थकारी मत का स्वीकार न करिये।

वैदिक धर्मका सेवक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संपादक 'वैदिक धर्म' औंध (जि. सातारा)

विचारमहत्त्व

(२ ×)

(लेखक- श्री० रामचन्द्रजी, रि० हेडमास्तर, अम्बालाशहर)

पिछले लेख में यह सम्पादन किया जा चुका है कि मनुष्य विचारों का ही पुतला है। जैसे विचार वह रखता है, वैसा ही वह बनता जाता है। तथा जो विचार हमारे मन में उपस्थित होता है, वह अपनी हि तरह के अन्य विचारों को बाहर के विचार-मंडलसे खींचकर अपनी शक्तिको बढाता रहता है। इत्यादि। इस लेखमें हम विचार के सम्बन्ध में कुछ और बातें जो बडी मर्म की हैं, अपने पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा करेंगे।

(१) विचार स्पन्दनात्मक हैं। जिस तरह जब कोई वस्तु किसी जलाशय में फेंकी जाती है, तो वह उस जलाशय में स्पन्दन (लहरें) उत्पन्न कर देती हैं। इन लहरों की बडाई, छोटाई, गहराई इत्यादि उस वस्तुके वजन तथा वेगादि पर निर्भर है। इसी तरह से जब किसी वस्तुको देखकर हमारे मनमें विचार उत्पन्न होता है, तो समझो, कि हमारे मानसिक मसाले के आशय में तरंगें उठी हैं। बस, जितने विचार हमारे मन में हैं, उतनी ही समझो तरंगें हमारे मानसिक तत्त्वाशय में उपस्थित हैं। यदि किसी तालाव में एकही समयमें बहुत से मनुष्य या पशु-पक्षी विविध दिशाओं से घुस जावें, तो आप जानते हैं, कि उसके जलमें किस प्रकार की लहरें विविध प्रकार से उठकर उस जलाशय में क्या कोलाहल मचा देती हैं। बस यही हाल साधारण मनुष्यों के मनोंका है, जिनके भीतर विविध प्रकार के विचार उठ उठकर कोलाहल मचा रहे हैं। इसी से मनमें चंचलता है। स्मृति में अस्थिरता और बुद्धि में व्याकुलता रहती है। इसी से मनोनिग्रहमें कठिनाइयां आती हैं। इन लहरों को यौगिक परिभाषा में वृत्तियां कहते हैं। इन वृत्तियों के निरोध से ही योग का कार्य आरंभ होता है।

जो हाल एक मनुष्य के मन रूपी तालाव का है वही अन्य सभी मनुष्यों के मनरूपी तालावोंका है। और यह भी ध्यान रहे कि जो मानसिक मसाला हमारे मानसिक कोष में बह रहा है, वही मसाला बाहर के जगत् में भी बह रहा है +। उसका संबन्ध हम सभों के मानसिक मसाले से है। अतः सब मनुष्यों के विचार आपस में टकराते रहते हैं। यही कारण है, कि किसी क्रियाविशेष के प्रयोग से मनुष्य दूसरों के मानसिक विचारों को दूर देश से भी उनके बिना कहे ही जान सकता है, जिसको अंग्रेजी में (Thought-reading) कहते हैं।

(२) जिस तरहसे लहरें जलाशय में अपना अस्तित्व रखती हैं। वहां अपना कार्य करती हैं, अर्थात् जल को गदला करती हैं। जलकी सतह पर स्थित वस्तुओं को वहां ले जाती हैं इत्यादि। इसी तरह से हमारे विचार भी अस्तित्व रखते हैं। हमारी वाणीपर, हमारे चेहरेपर, हमारे रक्तप्रवाह पर, हमारे मस्तिष्ककी ज्ञानतन्तुओं पर, हमारे पाचक शक्तिपर, किंबहुना हमारे सारे आचार, विचार, उच्चार, शील-स्वभावपर-सभी पर अपना प्रभाव डालते हैं।

(३) यही नहीं कि उनका प्रभाव हमारे तक

× लेखांक १ 'सङ्कल्प-महत्त्व' 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२४, पृ० ६४९ पर देखिये।

+ यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेण समाहिते। उभावाग्निश्च वायुश्च सूर्याचद्रमसावुभौ। विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्॥ (छां० ८।१।३) अर्थात् यत् ब्रह्माण्डे तत् पिंडे॥

ही खतम हो जाता है। अपितु वह भी उनके प्रभाव से बच नहीं सकते, जो हमारे संग में रहने सहते हैं।

इन उपरोक्त तीनों नियमों का यह मतलब है, कि हमारे विचार न केवल हमारे स्वास्थ्य, हमारे आचार, विहार और शीलादि को ही बिगाड या संवार रहे हैं, अपितु सारे संसार में भी वह अपना प्रभाव डाल रहे हैं। आप जानते हैं, आरम्भ में धूम्रपान किसी एक आद्य मनुष्य ने ही शुरू किया होगा। उसने इस व्यसन के प्रचार के लिए कोई उपदेशक और प्रचारक भी नहीं रक्खे। कोई इश्तिहार भी नहीं निकाले। फिर भी यह व्यसन अनेक रूप में सारी दुनिया में ही फैल गया है। यही बात अन्य व्यसनों पर भी लागू है। आजकल का तो कहना ही क्या है, जब कि एक विचार मन में आते ही अखबारों, इश्तिहारें, और रेडियो द्वारा सारे संसार में फैल जाता है। अतः आजकल सारे जगत् के ही विचारमंडल में बडा कोलाहल मचा हुआ है।

फिर क्या यह कोलाहल सारे जगतपर अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखावेगा? दिखावेगा और अवश्य दिखावेगा। हमारे शास्त्र तो कहते ही है, कि जब मनुष्यों के मलिन विचारों से जगतका विचार-मंडल विकृत हो जाता है, तो जगतमें अनेक प्रकारके उपद्रव, भूकम्प, बीमारी अकाल, लडाई आदि फैलकर मनुष्यों को पीडित करते हैं *। जिस तरहसे जल-वायू विकृत होने से देश में बीमारी फूट पडती है इसी तरह से मनोविकार से विकृत हुआ विचार-मण्डल भी उपद्रव उत्पन्न करता है।

शायद आजकल के लोग यह विश्वास न करें, कि हमारे विचारों का जगत के उपद्रवों के साथ भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है। वे शायद शास्त्र वचनों पर भी कुछ श्रद्धा न करें, अतः उनके निश्चय कराने के लिये आधुनिक फिलासफर के वचन यहां उद्धृत करते हैं। महाशय जेम्स अलन (James Allen) अपनी पुस्तक (मेन अैंड सिस्टमज़्) Men & Systems में यह लिखते हैं।

" And not alone poverty, disease and famine, but ever earth-quake, volcanic eruptions, floods and all such external happenings, would be found in their original cause, tobe intimately related to man's moral life. That external accidents have a moral cause is plainly seen in the case of violent persons bringing about fatal accidents to themselves through their folly or recklessness.

" Man's body, both by chemical and gravitational affinity, is a portion of the Earth, as his mind, both spiritually and ethically, is a portion of the moral order of the Universe. His life, being interwoven with, and inseparable from the very nature and constitution of things and being a moral entity and therefore a reasonable agent, it is within the domain of his power to discover and work with the Divine Law, instead of striving against it.

" All man's pains, afflictions, disasters, calamities are the shock resulting from running, either percipiently or blindly against the Moral Law, as a reckless rider or blind man is hurt when he runs up against a wall.

And their sorrows are not the arbitrary visitations and punishments of an offended Deity, but are matters of cause and effect, just as the pain of burning is the effect of coming into for close a contact of fire."

* देखो 'चरक-संहिता' विमानस्थान अध्याय ३, जनपदध्वंस वर्णनम् ॥

अर्थात् " न केवल गरीबी (निर्धनता), बीमारी, दुर्भिक्ष, अपितु भूकम्प, ज्वालामुखी पहाडोंका फूट जाना, बाढ अर्थात् पानी के रौ, इत्यादि बाह्य उपद्रवों के कारण मनुष्य के आचार व्यवहार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। यह बात कि बाह्य उपद्रव मनुष्य के आचरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं, इस बात से स्पष्ट हो जाती है, कि बहुधा ऐसा देखा गया है कि क्रोधी या क्रूर पुरुष अपनी अन्धाधुन्ध कारखाइयों से बहुत सी आपत्तियों को अपने ऊपर ले आते हैं।

मनुष्य का शरीर सृष्टिनियमों के अधीन है। यह प्राकृतिक पदार्थों अर्थात् पंचभूतों का बना हुआ है। पृथिवी की आकर्षणादि शक्तियों के अधीन है, अतः यह भी एक प्रकार पृथिवी का भाग या टुकडा है, जिस तरह से कि उसका मनोमय कोष जगत के ऋत और सत् नियमों के अधीन है। अतः मनुष्यका जीवन तथा अस्तित्व जगत् की प्रकृति और तत्त्वों से ऐसा मिला जुला है, कि यह उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता। और चूंकि मनुष्य एक बुद्धि रखनेवाला जीव है। अतः यह उसका धर्म है, कि वह ईश्वरीय सृष्टिनियमों को समझे और उनके अनुकूल आचरण करे न कि ईश्वरीय नियमों को उल्लंघन करे। अतः जब वह किसी ईश्वरीय नियम के साथ टकराता है, तो जिस तरह किसी दीवार से टकरानेवाले अन्धे पुरुष को चोट आती है, इसी तरह उसकी भी ईश्वरीय नियम को तोडने से यह सब आपत्तियें आवेगी ही।

बस यह आपत्तियें और उपद्रव किसी देवता विशेष के कोपादि से नहीं, बल्कि मनुष्य के अपने ही कर्मों का फल है। कार्य-कारण का सम्बन्ध सदा अटूट ही हैं। "

(४) हमारे विचारों या संकल्पों की लहरें न केवल उन्हीपर अपना प्रभाव डालती, जो हमारे संगत में आते हैं, अपितु दूरदेशस्थ मनुष्यों, पशु-पक्षियों और मृत शरीरों के मनोमय कोषों पर भी प्रभाव उनका पडता है। हां, हम लहरों की फैलावर था वेग हमारे विचारों की व्यक्तता और तीव्रता पर निर्भर है। व्यक्त और तीव्र विचार की लहरें बहुत दूर तक मार करती हैं जब कि मध्यम विचार की लहरें थोडी दूर जाकर बलहीन हो जाती है। एक महात्मा एक पहाड की कन्दरा में बैठा हुआ अपने संकल्पमात्र से ही संसार भर में सुख और शान्ति की लहरें भेज सकता है। परन्तु उनको ग्रहण वही करेंगे जो अपने मन में पहिलेसे उन शुभ विचारों के अंकुर रखते होंगे। जिनके मन शुभ विचारों से शून्य है, वह उन लहरों से फायदा नहीं उठा सकते।

अब यह बात विचारने योग्य है, कि हम उपरोक्त विचार नियमों को ध्यान में रखते हुए हम अपने विचारों को किस तरह लाभदायक बनावें।

हमारे विचार प्रायः तीन प्रकार के होंगे-

(क) वह विचार जो विशेष रूप से किसी दूसरे मनुष्य या मनुष्यों की तरफ हमने उद्दिष्ट किये हुए हैं।

(ख) वह विचार जो केवल हमारे अपने ही सम्बन्ध में है।

(ग) वह विचार जो न किसी दूसरे की ओर ही उद्दिष्ट हैं और न हमारे अपनी सम्बन्ध में उठे हैं।

अब हम उनका क्रमशः विचार करते हैं-(क) जो विचार हमने दूसरों के सम्बन्ध में उठाए हैं, वह या तो रागात्मक होंगे या द्वेषात्मक। अर्थात् या तो हम प्रेम, मोह, आदि के वश होकर या शत्रुता, नफरत इत्यादि के वश होकर उन विचारों को हम अपने मन में उठा रहे हैं। यह तो हम पहिले कह ही चुके हैं कि विचार एक प्रकार की लहरें उत्पन्न करते हैं, जो अपना प्रभाव उन सब पर डालती हैं, जो उन लहरों के दायरे में आ जाते हैं। परन्तु वह विचार जो हमने किसी विशेष उद्देश से अपने मन में उठाया है, वह सीधा उस मनुष्य

के मनोमय कोष के पास पहुंचता है जिसके लिये वह उठाया था । और वहां जाकर वह उसके शारीरिक औरा (aura) [विचारसमूह की लहरें जो लगातार प्रत्येक मनुष्य के चारों तरफ निकलती रहती हैं, जो साधारण मनुष्यों में १८ से २४ इंच तक दूरी तक पहुंचती हैं । वह एक प्रकार का धुंधला बादल सा परन्तु प्रकाशमय वस्तु है, जो स्थूल शरीर को चारों तरफ से लेपटे हुए हैं। यह दृष्टिगोचर नहीं होता हों जिनकी दृष्टि विशेष रूपसे उन्नत हो गई है, उनको वह दिखाई देता है। इसके सम्बन्धमें आगे चलकर विचार करेंगे] के साथ मिल जाता है । अब यदि वह मनुष्य जिसके लिए वह उदिष्ट था, किसी कार्यविशेष में व्यग्र नहीं है या पहिले ही उसी किस्म के विचार अपने मन में उठा रहा है, तो यह आपके विचार की लहर झट उसके विचारमण्डल में संमिलित हो जायगी और उसके विचार को सुदृढ अथवा उद्विग्न कर देगी । और यदि वह किसी काम में लगा हुआ है, तो यह लहर उचित समय का इन्तीजार करेगी। पर यह ध्यान रहे कि यह लहर अपना मुद्दा तभी पूरा करेगी जब कि उसको उस पुरुष के औरा में अपने अनुकूल मसाला मिल गया है, नहीं तो वह लौटकर उसी पुरुष के पास आ जायगी, जिसने कि उसे भेजा था ।

जैसे आप एक गेंद को किसी मनुष्य की ओर फेंकते हैं। यदि वह उसको षोच नहीं लेता, बल्कि हाथ से या बल्लेसे रोक देता है, तो वह लौट आती है। कभी कभी वह बडे जोर से भी वापिस आती है जब कि उसको रोकने में उसने कुछ बल लगाया है। इसी से कहा है कि 'गाली जावन एक है उलटत हुए अनेक।'

अंग्रेजी में भी यही कहावत है, 'Curses come home to roost' बस इस से यह सिद्ध हुआ कि हमें कभी किसी के सम्बन्ध में बुरे द्वेषात्मक भाव अपने मन में नहीं उत्पन्न करने चाहिये। इन से अपनी ही हानि है। प्रथम तो द्वेषात्मक विचार उठाने से अपने ही मनोमय जलाशय गन्दा हुआ है, द्वितीय यदि दूसरा मनुष्य जिसके प्रति हमने वह द्वेषभाव उठाया है शांति धारण कर ले, तो वह हमारा विचार द्विगुण वेगसे लौटकर हमें ही दुःख देता है। यही कारण है कि द्वेषी का मन बडा मलीन, बलहीन, क्षीण दशा को प्राप्त होता रहता है।

यदि हमारे विचार दूसरों के सम्बन्ध में प्रेम, शुभ इच्छाओं, उदारभावों के होंगे, तो वह उस दूसरे पुरुष को भी जा कर सुख देंगे, उसके भीतर भी उसी प्रकार के शुभ भावों को जागृत करेंगे और फिर वह भी आपके सम्बन्ध में शुभ विचार उठाकर आपके शुभ विचारों को सुदृढ करेगा। अतः शुभ विचार सदा परस्पर को लाभदायी होते हैं।

अब यदि हम इस नियम को समझकर इसके अनुकूल अपने जीवन को बनावें, तो सैंकडो प्रकार के कष्ट और चिंताएं जो द्वेषमूलक हैं हमारे मन से दूर होकर मनको निर्मल कर देंगी। जिससे मनकी चंचलता दूर होकर मन शीघ्रही एकाग्र हो सकता है। हजरत ईसा मसीह ने एक बडी सचाई प्रकट की है, जब उन्होंने अपने शिष्यों को यह कहा था 'कि जब तुम मन्दिर में प्रार्थना के लिए जावो, तो पहिले देखो कि तुम्हारे मन में किसी दूसरे के वास्ते द्वेषात्मक वैरभाव या नफरत के विचार तो नहीं। यदि हैं तो जाओ लौट जाओ। पहिले उस मनुष्य से अपनी सलाह करो और फिर मन्दिर में जाओ।' निस्सन्देह जब तक रागद्वेषात्मक विचार हमारे मन में कोलाहल मचा रहे हों, हमारा मन कैसे एकाग्र हो सकता है और कैसे हम ईश्वराधीन कर सकते हैं।

आजकल प्रायः यही हाल हो रहा है। मनुष्य-मनुष्य में, मतमतांतर में, राष्ट्रराष्ट्र में, देशदेशांतर में द्वेष, घृणा, छल, कपट की ज्वाला जल रही है। सब तरफ से हाहाकार की पुकार आ रही है, हजारों व्याख्यान, सैंकडों लिकचर, उपदेश, सरमन, मन्दिरों में, मसजिदों में, गुरुद्वारों में, गिरजाघरों में होते हैं, पर शान्ति का नाम नहीं। क्योंकि हमने इस एक सृष्टिनियम को समझा हुआ नहीं है। हम रोज

संध्या-मन्त्रों में पढते हैं 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' परन्तु कोई विरलाही इसके भाव को समझकर अपने मन को द्वेषाग्नि से साफ करता होगा। हम प्रतिदिन 'ओम् वाक् वाक्' इत्यादि मंत्रों को पढते हैं, परन्तु कभी भी इनको विचारते नहीं, इसी से हमारी आत्मिक उन्नति एक इंच भर भी नहीं होती।

पाठक महोदयो! इस एक नियम को अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में लगाईए और देखिए कि हम जीवनपथ से कितने दूर पडे हैं। कहने को धार्मिक हैं, विद्वान् हैं, पंडित हैं, महात्मा हैं, परन्तु हा शोक! यदि हमारी विचारों के रंगरूप को देख कर हमारी परीक्षा की जावे तो, मैं सच कहता हूं, कि हमको स्वयं अपनेसे इतनी घृणा होगी, कि हम उस रूप में अपने को देख भी नहीं सकेंगे। प्रभु, यह विचार हमारे सब पाठकोंके हृदय में आ जावे, ऐसी आप की कृपा हो।

(ख) दूसरे, वह विचार जो हम अपने ही सम्बन्ध में उठाते हैं। यह विचार चूंकि किसी दूसरे की ओर उद्दिष्ट नहीं हैं, अतः यह हमारे ही निकट घूमते रहते हैं। या तो यह अपनी किसम के अन्य विचारों को विचारमण्डल से खेंचते रहते हैं। या पुनः पुनः उसी किसम के विचारों को हमारे मनमें उठा उठाकर हमारा औरा को उसी रंगमें रंगते रहते हैं। अब यदि यह विचार कामातुरता के हैं, तो हमारे भी कामातुरताके भाव को दृढ कर रहे हैं। यदि स्वार्थता के हैं, तो हमारे भीतर स्वार्थता के भाव को बढा रहे हैं। यदि भय के हैं, तो हम को प्रतिक्षण भीरु बना रहे हैं। यदि निर्लज्जता के हैं, तो हमको कुछ दिनमें ऐसा निर्लज्ज बना देंगे, कि हम फिर अपने पिता, माता, भाई, गुरु आदि किसी की भी परवाह नहीं करेंगे। और यदि यह भाव प्रेम, उदारता, सेवा, श्रद्धा, धर्म इत्यादि शुभ गुणों के हैं, तो यह प्रतिक्षण हम को इन्हीं शुभ भावों में सुदृढ कर रहे हैं। बस समझ लो कि हमारे विचार प्रतिक्षण हमको या तो उन्नत कर रहे हैं या नीचता के गढे में ले जा रहे हैं। हम नीच विचारों को चित्त में रखते हुए, दिखाने के लिये कितने ही शुभ काम (जैसे दान देना, समाजमें या मन्दिरमें जाना, सन्ध्या, लम्बी लम्बी नमजे पढना, लेकचर देना, इत्यादि) करें, वह हमको एक इंच भी उन्नत नहीं कर सकते। उलटा दम्भ का एक और अवगुण हमारे भीतर संचार कर रहे हैं।

पापी पापसे बचाया जा सकता है, परन्तु दम्भी पापी को कौन बचावे, जो पाप को पाप जानता हुआ पाप पर प्रणय का मलम्मा चढाने की चेष्टा कर रहा है! याद रखो हम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ईश्वर को धोका नहीं दे सकते। प्रथम तो मनुष्य भी हमारे धोकेमें बहुत दिन नहीं आ सकते। परन्तु ईश्वर तो कभी आही नहीं सकता। सच पूछो तो हम धोका अपने आपको ही दे रहे हैं। अहो! क्या अच्छा हो यदि हमारे पाठकों में से एक भी इस अटल नियमको समझ कर अपना जीवन बनाना आरम्भ करे।

इस कार्य को करने के वास्ते केवल सावधानी की आवश्यकता है। प्रतिक्षण अपने मन का पहरा देते रहो। देखते रहो कि क्या क्या विचार इस मन में उठते हैं। यदि बुरे विचार उठ रहे हैं, चाहे वह कैसेही सुहावने क्यों न हों, उन को एकदम परे हटा दो। जिस तरह आप अपने भोजन पर से मखियां परे हटाते हो, जिस तरह अपने बालों परसे गर्द घट्टेको कंघे से दूर करते हो, जिस तरह अपने कपडों को मैल से साफ करते हो, जिस तरह अपने मुख चेहरे को साबुन से साफ करते रहते हो, इस से भी कहीं जरूरत इस बात की है कि हम अशुभ विचारों से अपने मन को साफ रक्खें। यह हम पहिले ही लेख में कह चुके हैं, कि विचार ही हमारा भविष्य बनाते हैं।

"शीशए दिल की यही है सूरत, कि न आने पाए इस में जरा कदूरत कि बैठ जाएगी बिल जरूरत, इस आइने में यह जंग होकर॥" बस यह सिद्ध हुआ कि हम को अपने मन की ऐसी ही पहरादारी करनी होगी, जैसे हम अपने द्रव्यकोषकी करते हैं, अपितु इस से भी अधिक यह पहरादारी किस प्रकार करनी चाहिये, इस पर तो पूरा विचार आगे चलकर, करेंगे। परन्तु यहां इतना कह देना उचित है कि इस नटखट मन की यही पहरादारी सर्वोत्तम है, कि

इस को एक क्षण भी खाली न छोडो । नहीं तो यह अपनी ऐसी रचना रचनी शुरू कर देगा, कि उसके जाल से निकलना आप के लिये दुस्तर हो जावेगा । जब कोई काम न हो तो कोई खेल ही खेलो । कोई अच्छी पुस्तक पढो । किसी अच्छे प्राकृतिक दृश्य को देखने लग जाओ । कुछ लिखना शुरू कर दो और कुछ भी न हो सके तो रस्सियां ही वाटने लग जाओ। चरखा कातो, या कोई अन्य घरका धन्धा करना शुरू कर दो । परन्तु मनको खाली मत छोडो । खाली मत शैतान की हाट बन जाता है । और जब कोई अशुभ विचार बाहर से या भीतर से मनपर आक्रमण करना चाहे, तो उस को झिडक कर धिक्कार दो । एक दो बार ऐसा करने से वह नहीं आवेगा, जिस तरह एक कुत्ता धिक्कारनेसे डरता है, ऐसे ही यह विचाररूपी कुत्ते भी धिक्कारने से डरते हैं । बात असल में यह है कि ऐसा करने से हम अपनी सात्त्विकी बुद्धि जो मन के काबू गई हुई है, शनैः शनैः जगाते हैं । और जब सात्त्विकी बुद्धि जग गई फिर वह आप ही मन को काबू कर लिया करेगी । आप फिर बेफिकर हो जावेंगे ।

(ग) अब हम उन विचारों पर ध्यान देते हैं, जो न तो किसी दूसरे के उद्देश्य से उठे हैं और न अपने ही सम्बन्ध में हैं । ऐसे विचार न तो किसी दूसरे के पास जाते हैं, न विचार उठानेवाले के ही निकट रहते हैं, परन्तु योंहि वायुमण्डलमें घूमते रहते हैं । यदि उनको अपने अनुकूल कोई विचार मिल गया या तो वह उस से मिल जाते हैं, या किसी मनोमय कोष में जो उनके अनुकूल लहरें रखता हो । स्थित हो जाते हैं। नहीं तो कुछ समयके पीछे छिन्नाभ्र की भांति नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं । इस तरह के बहुत से विचार साधारण मनुष्य उठाता रहता है । परन्तु यह हमें ध्यान रहे कि चाहे सीधे तौर पर ऐसे विचार हमारी कोई हानि या लाभ नहीं करते, परन्तु यदि वह किसी सरल स्वभाव मनुष्य के हृदय में घुस जावें और उस को प्रभावित करें, तो उसके हानि या लाभ की जिम्मेवारी हमारे पर भी आ जाती है । बस इस से यह सिद्ध हुआ कि ऐसे विचार भी हमारे अशुभ नहीं होने चाहिये ।

इस नियम को समझ जानेसे हमारी गप्पगोष्टी छूट जावेगी । बहुधा ऐसा देखा है, कि शाम के समय कई यार दोस्त मिलकर चरचा छेड देते हैं। फलाना ऐसा है । फलाना अच्छा है । फलाना स्वार्थी है इत्यादि । यह गप्पगोष्टी भी बडी हानिकारक है। प्रथम तो समय का नाश है । जीवन-समय बहुमूल्य वस्तु है । यह थैलीके रुपयों अपितु अशरफियों से भी बहुमूल्य बात है । एक मिनट के सत्प्रयोग से मनुष्य चांडाल से ऋषि बन सकता है । और उस के दुरुपयोग से ऋषि भी राक्षस बन गए हैं । पुराणों में ऐसे अनेक इतिहास भरे पडे हैं । आप लोग रोज उनको सुनते ही रहते हैं, पर शोक है कि कभी उन पर ध्यान से विचार नहीं किया ।

दूसरी हानि यह है कि यदि हम वहां गप्पगोष्टी में किसी मनुष्य के सम्बन्ध में कोई रिमार्क दे रहे हैं, तो हम एक बडी जिम्मेवारी को भुला देर हैं। भला हमारा क्या अधिकार है कि हम किसी के आचरण पर आक्षेप करें । क्या हमने उस के व्यवहारका ठीक तौरपर समझ लिया है ? क्या हमने उसके अन्दर का हृदय देखा लिया है ? यदि नहीं, तो फिर हमारा क्या अधिकार है, कि हम उस में हस्ताक्षेप करें । याद रखो ऐसा करनेसे हम उसकी बडी हानि कर रहे हैं और अपनी भी । उसकी हानि यह है, कि यदि वह दुर्गुण जो हम उस में आरोपण कर रहे हैं, उस में हैं नहीं, तो हम उसको बदनाम करके उसको कष्ट दे रहे हैं और अपने पापके भार को बढा रहे हैं । और यदि वह दुर्गुण उसमें है भी, तो हम उस की विचारवृत्ति (Thought-form) बनाकर उस के दुर्गुण को और भी बढा रहे हैं । बस बडे सावधान रहो कभी इस वृथा निन्दास्तुति में शामिल न हो । गप्प वानी से सदा दूर रहो । समय का सदुपयोग करो । यदि चार आदमी मिलकर बैठना चाहते हैं, तो अच्छे विचारों का आन्दोलन करो । उत्साहपूर्ण, दयार्द्र, भावशाली, स्वार्थत्याग, सेवाभावुक, प्रेमवर्धक भावों और विचारोंपर बात-चीत छेडो । यदि ऐसा किसी गोष्टी में नहीं हो रहा

है, तो तुरंत उसको छोडकर बाहर जंगलमें मनन करते हुए सैर करने चले जाओ। ऐसी गोष्टियों को प्लेग और हैजेके कीटाणुओं से भी बढकर हानिकारक समझो।

अब यदि इस नियम कोही मनुष्य समझ कर इस पर आचरण करे, तो बहुतसे झगडे, लडाइयां, मुकद्मे बाजियां इन जो गप्पगोष्टियों से उत्पन्न होती हैं, नष्टप्राय हो जावेंगी। मन को कितनी स्थिरता, एकाग्रता, निश्चलता प्राप्त हो जावेगी। बहुत से भाई पूछा करते हैं कि मन को किस तरह एकाग्र करें। उन से मेरी यही निनय है कि पहिले वह इन मानसिक नियमों को पूरे तौर पर समझें, तो फिर उन को मन की एकाग्रता के नियम स्वयं ही समझ में आ जावेंगे।

धर्म और देशप्रेम

(लेखक- श्री० रघुनाथप्रसाद पाठक)

प्रायः ईसाई आचारशास्त्री धर्म और देशभक्ति में संगति बिठाते समय बहुत परेशान रहते हैं। धर्म, प्रेम, सत्य, न्याय, सहानुभूति, आत्मसमर्पण और प्राणीमात्र से प्रेम और उनके कल्याण की श्रेष्ठ भावनाओं और आचरण की शिक्षा देता है। देशप्रेम जो वस्तुतः एक पवित्र गुण है, बहुत निकृष्ट अर्थों में व्यवहृत होने लग गया है। साधारणतया लोग देशप्रेम को घृणा, युद्ध और प्रत्येक प्रकार के अत्याचार और हिंसा का प्रतिपादक समझने लग गये हैं। ऐसी अवस्था में देशप्रेम और धर्म में विरोध का दीख पडना स्वाभाविक है। यही कारण है लोग देशप्रेम का अर्थ "युद्ध" मानने लग गये हैं और युद्धविरोधी लोग देशप्रेमविषयक इस प्रकार की परिभाषाओं का समर्थन करने लग गये हैं कि 'देशप्रेम धूर्तों का आश्रयस्थान है '' (Patriotism is the last refuge of a scoundrel; परन्तु क्या वस्तुतः देश-प्रेम धर्म-विरोधी है ?

देश-प्रेम विश्व-प्रेम का दूसरा रूप है। इसका वास्तविक रूप मानवता का प्रसार तथा उसका संरक्षण करना, सब को समान रूप से जीने तथा हर प्रकार की लौकिक और पारलौकिक उन्नति कर देना, संसार के प्राणीमात्र का कल्याण सम्पादन करने की सुविधा प्रदान करना तथा समाजमें सुख और शान्ति का वातावरण स्थापित करना है। दूसरे शब्दों में इसे ही हम धर्म का स्वरूप कह सकते हैं। देश-प्रेम का अर्थ यह नहीं है, कि मनुष्य देश-प्रेम के वशीभूत हो मानवता के नाते उचित और अनुचित का विचार किए वगैर आचरण करे और अपने देश से भिन्न देशों से घृणा करे, तथा पापाचार से समाज की सुखशान्ति और समृद्धि का विनाश करे। देश-प्रेम का जो रूप ऊपर रक्खा गया है, वस्तुतः वह धार्मिक ही है और देश-प्रेम और धर्म में कोई विरोध नहीं है। इस का अर्थ यह नहीं है कि देश-प्रेम के इस विशाल दृष्टिकोण को दृष्टि में रखकर मनुष्य अपने देश को या उसके प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जाय या उन की उपेक्षा करे। मनुष्य को अपने देश की सेवा जो कुछ बन पडे, अवश्य करनी चाहिए, परन्तु मानवता के विशाल भाव से उसकी रक्षा करते हुए और इस इच्छा के साथ कि देश अपनी जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु मानव-समाज को अर्पण कर सकता है, अवश्य करे। तथा अपने देश, समाज की सुखशान्ति और अभिवृद्धि में श्रेष्ठ योग देवे।

श्रीयुत लुइस-यल-मैन (Mr. Louis L. Mann) ने पिछले दिनों 'यूनिटी' (Unity) नामक सुप्रसिद्ध अङ्ग्रेजी पत्र में इस विषय पर अच्छा विचार किया था। उन्हों ने सिद्ध किया था कि देश-प्रेम धर्म-विरोधी नहीं है। वरन् धर्म का ही दूसरा रूप है। उनके लेख में कुछ आवश्यक अंश इस प्रकार है। —

"There is the patriotism that is true and the patriotism that is false. The latter embrace Chauvinism, Jingoism, Deocaturism, by which is meant- "My country right or wrong- " imperialism and nationalism conceived not as a means but as an end. Our generation has been wrongly conditifoned upon the subject of Patriotism. We are totally blind to its peaceful implications, whenever the word is uttered it at once calls up the picture of war in our mind; as if peace did not have her victories no less renowned than war! As if peace did not have need of patriotism as demanding and exacting as that of war.

As if those great souls who struggle to abolish poverty, to alleviate disease, to reduce crime, to elimina te ignorance, to free schools from the control of politics, who fight against graff and corruption and dishonesty in government, to say notihng of the 'microbe-hunters' and the 'Death-fighters and the Red Cross and the Salvation army who struggle to redeem the victims of misfortune from their lowly estate are not patriotic. Patriotism must not be defined as a love for one's country in terms of a willingness to die for one's country. It must be efined as a love for one's country- to live for one's countrymen."

ये अर्थात् देश-प्रेमके दो रूप हैं। एक सच्चा और दूसरा झूठा। सच्चा देश-प्रेम धर्म की अवज्ञा नहीं करता। दूसरा अर्थात् झूठा देश-प्रेम सैनिकवाद, और युद्धवाद को स्वीकार करता है। जिस का अर्थ- 'मेरा देश सही हो या गलत-साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता (Nationalism) है। हमारी वर्तमान सन्तति का देश-भक्ति के गलत रूप पर निर्माण हुआ है। हम देश-भक्तिके शान्त, गूढ भावों के प्रति नितान्त अन्धे हैं। देश-भक्ति शब्द का नाम लेते ही मस्तिष्क में 'युद्ध' का चित्र आ जाता है। मानो शान्ति संसार से कूच कर गई है। मानो शान्ति का देश-प्रेम पर कोई अधिकार नहीं है। सब कुछ अधिकार 'युद्ध' का ही है। मानो संसार के वे महान् व्यक्ति देश-प्रेमी नहीं है। जो निर्धनता के विनाश, महामारियोंके उन्मूलन, अपराधोंके निराकरण और अज्ञान के निवारण के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं। जो राजनीति के पाश से स्कूलों को बेईमानी, धूर्तता, मक्कारी, शोषण, दोहन और लूटखसोट से शासनों को मुक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। दार्शनिकों, धर्मजीवियों और जनोपकारक संस्थाओं की तो गणना ही क्या जो दुःखी और पीडित समाज के कष्टों के निवारण के उपाय कर रहे हैं वा बतला रहे हैं। देश के लिए मरने की इच्छा के रूप में देश-भक्ति की परिभाषा नहीं होनी चाहिए। वरन् इस की परिभाषा देशवासियों के लिए जीने की इच्छा के प्रकाश के रूपमें होनी चाहिए, जिससे देश-विशेष समस्त मानवसमाजके कल्याण-सम्पादनमें जो योग दे सके देवे। इस प्रकारके देश-प्रेम और धर्म में कोई विरोध होगा वरन् वह स्वयं धर्मकाही दूसरा रूप होगा।

इन विचारों से कौन समझदार व्यक्ति होगा, जो सहमत न होगा। इस में संसार भर को कुटुम्ब समझने की वैदिक शिक्षा की स्पष्ट झलक है।

वस्तुतः जबतक समाज का इस प्रकार की वैदिक शिक्षाओं पर पुनर्निर्माण नहीं होता, तबतक इस प्रकार की गलत फहमियां दूर न होंगी और न उस का अभीष्ट कल्याण ही सिद्ध होगा। हर्ष है वह समय तेजा के साथ आ रहा है, जब संसार वैदिक शिक्षाओं की ओर घूमेगा और अपना कल्याण सम्पादन करेगा।

षष्ठ नियम ।

(२)×

(लेखक– पंडित मदनमोहन विद्याधर, विझगापट्टम)

विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुणकर्मस्वभावों में सदा वर्त्त के अच्छे अच्छे काम किया करें ।

(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४२)

(युद्ध में अशक्त जनों का संहार न करते हुए) ...उनको पकड के जो अच्छे हों, बंदीगृह में रख दे और भोजन, आच्छादन यथावत देवे और जो घायल हुए हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिडावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इसपर ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लडकेवालों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनकी अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छी प्रकार जम जाय और जिस में पुनः पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोडकर अपने अपने घर वा देश को भेज देवे और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको कारागृह में रक्खे।... जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे, उसकी स्त्री तथा असमर्थ लडकों का यथावत् पालन करे ।

(स. प्र. षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २५४, २५५)

(राजा) अपने मन से एक भी काम न करे, कि जबतक सभासदों की अनुमति न हो।

(स० प्र० षष्ठ स. मु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २६१)

जो धार्मिक राज्य हो, उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रवल हो, उसीके जीतनेके लिए...प्रयोग करना उचित है।

(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ० २६४)

(शत्रु को) जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञाके अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसा उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे, जिससे पुनः उपद्रव न हो और जो हार जाय, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो, जो उस को बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे। क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवांछित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिडावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने तुझ को पराजित किया है, ऐसा भी कहे, किन्तु आप आप हमारे भाई हैं, इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।

(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ २६८)

(प्रश्न) जो राजा व राणी अथवा न्यायाधीश वा उस की स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे ?

× इसका प्रथम लेख वैदिक धर्म के अक्तूबर मासके अंकमें पृ० ७८७ पर है।

(उत्तर) सभा अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिए।... राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है. जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड क्यों क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें, तो अकेला राजा क्या कर सकता है, जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्यायधर्म को डुबा के सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाएं।

(स. प्र. षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ० २८०.२८१)

...तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं, प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक आर्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किए जावें। दूसरी आर्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार कि विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५३१)

हे परमेश्वर! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिए और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आपके राज्य को सत्य-न्याय से सुशोभित करें।

हे परमेश्वर! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, आप ही सदा नित्य स्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य, ऐश्वर्य के देनेवाले आपही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय करानेवाले हैं। हे जगदीश्वर! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले. इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्यप्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञापालन करते हैं उनको वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोलका राज्य तुम्हारे आधीन है। (ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५४०)

अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५४४)

जैसे पूर्ण वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आए हैं, वैसे ही गुण, कर्म, स्वभावसे वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इनमें मनुष्यकृत् तत्व उनके गुण, कर्म, स्वभावसे पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानोंका काम है।

(स० प्र० ११ समु० प्र० भा० द० ग्र० पृ० ५२६)

आदिसृष्टि में ... एक मनुष्यजाति थी। .. पश्चात् श्रेष्ठों का नाम आर्य विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज-विद्वानों का नाम आर्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाडी नाम हुआ। (३४१)

...आर्य नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषोंका और इन से विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अथात् अनाडी है।

(स प्र. अष्टम समु. प्र. भा. द. ग्र. पृ. ३४२)

प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है। ... मनुष्य-जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीतिसे इन के दो भेद हैं, उन एक आर्य और दूसरा दस्यु। ... ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र ये चार भेद गुणकर्मों से किये गये हैं। इनका नाम, वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुणकर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये। ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ग होता है। परमैश्वर्य बल वीर्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय-वर्ण होता है। ...

[ऋग्वेदादि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ० ५५२, ५५३]

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रय कहाते हैं। इन में से पांच व आठ वर्ष की ऊमर से अडतालीस वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम, जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नतिसे सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ, जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास, जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इन मेंसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमो का मूल है, उस के ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगडने से नष्ट हो जाते हैं। ...
(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५४, ५५५)

जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है।
(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५८)

...शीघ्रही (ब्रह्मचारी) विद्या को ग्रहण करके पूर्व-समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उत्तर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है। (ऋ० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५७)

गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह सम्पूर्ण विद्या पढ चुके तब अपने तुल्य स्त्रीसे स्वयंवर करे। गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को धर्म, उन्नति और ग्रामवासियोंके हित के लिये जो जो काम करना है, तथा वनवासियों के साथ हित और सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिए जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए, सो सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोडकर सर्वथा सबके हितकारी बनें।... जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नतिका कारण है।... किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है।
(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५६०, ५६१)

सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढने में व्यतीत करना चाहिए और पूर्ण विद्या को पढकर उससे संसार की उन्नति करने के लिए गृहाश्रम भी अवश्य करें, तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकांत में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय करानेके लिए संन्यासाश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। (ऋग्वेद दि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५६६)

जिस पुरुष व स्त्री को विद्या, धर्म, वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। ... विद्या पढने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचारध्यान और विज्ञान बढाने, तपश्चर्या करनेके लिए वानप्रस्थ और वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार, धर्मव्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदिके लिए संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे सन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।... जो स्वयं धर्ममें चल कर सब संसार को चलाते हैं, जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में

परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वे ही धर्मात्मा जनसंन्यासी और महात्मा हैं । '

(स० प्र० ५ म० समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २३७,३७८)

संन्याससंस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण पक्षपात छोड के विरक्त होके सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे ।

(स० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० २२१)

संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उस की आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्यायधर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्याके प्रचारसे सब मनुष्योंको सुख पहुंचता रहे। चाहे निन्दा चाहे प्रसंशा; चाहे मान, चाहे अपमान; चाहे जीना, चाहे मृत्यु; चाहे हानि, चाहे लाभ हो; चाहे कोई प्रीति करे चाहे कोई वैर बान्धे; चाहे अन्न, पान, वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत, उष्ण कितना ही क्यों न हो, सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करते रहे । ... परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे । ... जिस जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पडौसी, नौकर बडे और छोटोंमें विरोध दूर कर प्रेम बढे, उस उसका उपदेश करे ।

विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्यायोगाभ्याससत्संग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने न मनवावे । वैसे ही गृहस्थों को मातापिता, आचार्य अतिथि स्त्री के लिए विवाहित पुरुष और पुरुष के लिए विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्ति को पूज्य न समझावे । ... आप शुभ गुणकर्म स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे ।...इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे ।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भाग- पृ. २४७, २४८)

रजवीर्य के योग से ब्राह्मणशरीर नहीं होता, किंतु ...पढने पढाने... विचार करने, नानाविधके होमके अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढने पढाने, पौर्णमासी इष्टि आदि के करने विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति, पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ बलिवैश्य देवयज्ञ और अतिथियज्ञ, अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण परोपकारादि सत्य कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ के दुष्टाचार छोड श्रेष्ठाचार में बर्तने से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है । ... किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढय होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फैंक देवे ! क्या जिस का पिता अन्धा हो, उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड लेवे ! जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भि कुकर्म ही करे ! नहीं नहीं किन्तु जो जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उन का सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है ।

जो कोई रजवीर्य के योग से वर्णव्यवस्था माने और गुणकर्मों के योग से न माने, तो उस से पूछना चाहिये, कि जो कोई अपने वर्ण को छोड नीच अन्त्यज अथवा क्रश्चीन मुसलमान हो गया हो, उस को भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुणकर्मस्वभाववाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उस को नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम- भा. पृ. १७९, १८०)

जैसा मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण, कर्म, स्वभावसे युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है। ... जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुणकर्मस्वभाववाला हो, तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्यकुलमें उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण,कर्म, स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय व वैश्य के कुलमें उत्पन्न होके ब्राह्मण, ब्राह्मणी वा शूद्र के समान होनेसे ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष वा स्त्री हों, वह वह उसी वर्णमें गिनी जावे ॥

अधर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम उत्तम वर्णों को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे, कि जिस जिसके योग्य होवे।

वैसे अधर्माचरणसे पूर्व पूर्व अर्थात् उत्तम उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचेवाले वर्णोंको प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे। जैसे पुरुष जिस जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। ... इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने अपने गुणकर्मस्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं, अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी। ... यह गुणकर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। ...

ब्राह्मण के पढना पढाना, यज्ञ करना कराना, दान लेना देना, ये छः कर्म हैं; परन्तु (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है।...

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड के श्रेष्ठोंका सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सबका पालन (दान) विद्याधर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना व कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढना और पढवाना, विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना (क्षत्रिय)।

गाय आदि पशुओं का पालन, वर्धन करना (दान) विद्याधर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का पढना, सब प्रकार के व्यापार करना, (व्याज लेना तथा देना) खेती करना, ये वैश्य के गुणकर्म हैं।

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों के छोड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना, यही एक शूद्र का गुणकर्म है।

जिस जिस पुरुष में जिस जिस वर्ण के गुणकर्म हों, उस उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चालचलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पडेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि व विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है, कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार वर्णों को अपने अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १८१-१८५)

...वर्णव्यवस्था गुणकर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं। जो पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्या भाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिस में हो, वह क्षत्रिय, क्षत्रिया। और विद्वान् होके कृषि, पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरत्वादि गुण जिस में हो, वह वैश्य, वैश्या। और जो विद्याहीन, मूर्ख हो वह शूद्र, शूद्रा कहावे।

धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो जो कर्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुणकर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम उत्तम वर्ण नीचे नीचे के वर्ण को प्राप्त होवे और वेही उस उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें। उत्तम गुणकर्मस्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय, ब्राह्मणवर्णके अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है, वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते और उत्तम वर्णभय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं, इससे संसार की बडी उन्नति है।"

(सं. वि, द. ग्र. द्वितीय भाग पृ. ११८, ११९)

[वैश्यों के कर्म ब्रह्मचर्यादि से वेदादि विद्या] पढ (विवाह करके) देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीपद्वीपान्तरमें आना जाना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशु-पालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी करानी, धन का बढाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यतासे सब व्यवहार करना सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी, जिससे कोई नष्ट न होने पावे। शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विजलोग उसके खान-पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादिमें जो कुछ व्यय हो, सब कुछ देवें। अथवा मासिक कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख, हानि, लाभ में एकमत्य रह कर राज्य और प्रजा की उन्नति में तनमनधन का व्यय करते रहना।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. २०८, २०९)

(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढावें। (दो) पूर्ण विद्या पढें। (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। (४) यज्ञ करावें। (५) विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रोंको दान देवें। (६) न्यायसे धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थोंसे दान लेवे भी। इनमें से तीन कर्म पढना, यज्ञ करना, दान देना धर्म में। और तीन कर्म पढाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है। (शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने दे (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीतउष्ण, निन्दास्तुति, क्षुधातृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) रागद्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना (शान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे, तो भी उन पर कृपालु रह कर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र, सरल, शुद्ध पवित्र भाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ के विचार कर उनके शब्दार्थसम्बन्धों को यथावत् जानकर पढाने का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथ्वी से लेके परमेश्वरपर्यंत पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् कर के यथावत् उपकारग्रहण करना कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक पर-जन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुणधर्म में समझना। सब से उत्तम गुणकर्मस्वभाव को धारण करना। ये गुणकर्म जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुणकर्म-

स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्ही को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे।

दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) सांगोपांग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना। (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वथा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्मके लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढाना न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेव प्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेंद्रिय रहना, लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना। (शौर्यम्) शस्त्रसंग्राम, मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना। (तेजः) प्रगल्भ उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना।

(धृतिः) चाहे कितनी आपत्, विपत्, क्लेश, दुःख प्राप्त हों, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग् युद्ध, दूतत्व, विचारादि सब में अति चतुरबुद्धिमान् होना। (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना। (दानम्) ... (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके, पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोडकर, धर्माधर्म करनेवालों का यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा व राजपुरुषों के अच्छेबुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रातदिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ, तेजस्वी, दीर्घायु रख के आत्मा को न्यायधर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुणकर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इन का भी इन्हीं गुणकर्मों के मेल से विवाह करना। और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढावे, वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों की न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों, वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें।

(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि का बेचना। (वणिकपथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) व्याज का लेना (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्नादि की रक्षा, खाद और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुणकर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिए।

(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढने से भी विधान आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनुसूयया) निन्दा से रहित, प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवादि कर्म जिस व्यक्तिमें हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्ही की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए। इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें, तो उस कुलदेश और मनुष्यसमुदाय की बडी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुणकर्मस्वभाव हों, तो अति विशेष है।

(सं० वि० द० प्र० द्वितीय भाग पृ० १९९-२०३)

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्यापढ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वरकन्या का विवाह करावेंगे, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्यों कर न डूबेंगे।... (प्रश्न) विवाह अपने अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी? (उत्तर) अपने अपने वर्ण में, परन्तु वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार होनी चाहिए, जन्ममात्र से नहीं। ... इसी क्रमसे विवाह होना चाहिये, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।
(सं. वि. द. ग्र. द्वितीय भाग पृ० ११७, ११८)

विवाहवर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुणकर्मस्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १६८)

यह गुणकर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मणवर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रियवर्ण का क्षत्रिया, वैश्यवर्ण का वैश्या और शूद्रवर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये तभी अपने अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १८२)

सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अडतालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाहसमय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे, तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस पैंतीस वा चालीस के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अडतालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगडने से बिगाड हो जाता है।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १७२, १७३)

(प्रश्न) विवाह करना मातापिता के आधीन होना चाहिये वा लडकालडकी के आधीन रहे? (उत्तर) लडकालडकी के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो मातापिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लडकालडकी की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, मातापिता का नहीं।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १७५)

जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्रीपुरुष विवाह करना चाहें; तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीरका परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये, जब तक इनका मेल नहीं होता, तबतक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १७६)

जब तक इसी प्रकार सब ऋषिमुनि, राजामहाराजा आर्यलोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ ही के स्वयंवरविवाह करते थे, तबतक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् मातापिता के आधीन विवाह होने लगा, तबसे क्रमशः आर्यावर्त देशकी हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड को सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवरविवाह किया करें। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १७८)

इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये, क्योंकि युवावस्था में स्त्रीपुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है। परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रय और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको फोटोग्राफ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओंकी अध्यापिकाओं के कुमारों की, कुमारों के अध्यापकोंके पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस जिस का रूप मिल जाय, उस उस के इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यंत जन्मचरित्र का पुस्तक हो, उनको अध्यापक लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस जिस के साथ जिस जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें, कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना।

जब इन दोनों का निश्चय परस्परविवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें, तो वहां, नहीं तो कन्याके मातापिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्याओं के मातापिता आदि महापुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ करना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। जब दोनों का दृढ प्रेम विवाह करने में हो जाय तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

(स० प्र० चतुर्थ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १८६-१८७)

गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं, बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है। ... इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। ... जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। ... परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर-प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवरविवाह है।

(स० प्र० चतुर्थ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २२१,२२२)

जो कन्या माता के कुल की छः पीढियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है।... दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए। निकट और दूर विवाह करने में गुण ये हैं।

(१) एक- जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीडा, लढाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्ग भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्परविवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा- जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र, पितृ व मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदलबदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) तीसरा- जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र, मातृपितृकुल से पृथक् वर्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) चौथा- जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खानपान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूर देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) पांचवें- निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुखदुःख का मान और विरोध

होना भी सम्भव है, दूर देशस्थों में नहीं।

(६) छठे- दूर दूर देशके वर्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होनेमें सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होनेमें नहीं। कन्या का नाम दुहिता इस कारण से है, कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट में रहने में नहीं।

(७) सातवें- कन्याके पितृकुल में दारिद्रय होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब तब इसको कुछ न कुछ देना ही होगा।

(८) आठवां-कोई निकट होनेसे एक दूसरे को अपने अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जावेगी, एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है। इत्यादि कारणों से पिताके एक गोत्र, माता की छः पीढी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा पृ. १७०,१७१)

(प्रश्न)- स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होने-योग्य है वा नहीं? (उत्तर) युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र प्र. भा. पृ. २०९)

जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं। एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानोंमें से किसी एक ठिकाने आगे... सब विधि करे।

(स. वि. द. ग्र. द्वि. भा पृ. १०३)

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत विद्याबलको प्राप्त तथा सब प्रकारसे शुभ गुण- कर्म-स्वभावोंमें तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के...सन्तानोत्पत्ति और अपने अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। (स. वि. द. ग्र. द्वि. भा. पृ. १०९)

जितना सामर्थ्य २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीरमें होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीरमें १६ (सोलह) वर्ष में हो जाता है। यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहे, तो २५ (पचीस) वर्ष का पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं। ...इस अवस्था में जो विवाह करना, वह अधम विवाह है; जो १७ (सत्रहवें) वर्ष की स्त्री और ३० (तीस) वर्ष का पुरुष, १८ (अठारह) वर्ष की स्त्री और ३६ (छत्तीस) वर्ष का पुरुष विवाह करे, तो इसको मध्यम समय जानो और जो २० (बीस), २१ (इक्कीस), २२ (बाईस) वा २४ (चौबीस) वर्ष की स्त्री ४० (चालीस), ४२ (बयालीस), ४६ (छयालीस) और ४८ (अडतालीस) वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है। ...जो मनुष्य अपने सन्तान कुलसम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन...बातों का यथावत् आचरण करें॥ (स. वि. द. ग्र. द्वि. भा पृ. ९३)

वधू और वर की आयु कुल, वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा करे, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून डयोढी और अधिकसे अधिक दूनी होवे। (स. वि. द. ग्र. २ य भा. पृ. ११०)

यथावत् उत्तम रीतिसे ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे। (स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११२)

(प्रश्न) "अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी? (उत्तर) इन श्लोकों और उनके माननेवालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीतिसे बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा, उनको नष्ट, भ्रष्ट, रोगी, अल्पायु करते हैं, वे अपने कुलका जानो सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें, तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ (सोलह) वर्ष से न्यून कन्या और (पच्चीस) २५ वर्षसे न्यून

पुरुष का विवाह कभी न करें करावें। इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उनको अधिक आनन्द होगा। (स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११४)

जितना दूर देश में विवाह होगा, उतना ही उनको अधिक लाभ होगा। (प्रश्न)- अपने गोत्र व भाईबहिनों का परस्परविवाह क्यों नहीं होता? (उत्तर)- एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुणदोष भी विदित रहते हैं। तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसर जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुलके साथ संबंध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढता है, निकट से नहीं।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११५)

आर्यावर्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था (अर्थात्) पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवरविवाह होता था तभी देशकी उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिए, जिससे आर्यावर्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११९)

पूर्ण युवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ (सोलह) वर्ष की कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होनेसे अधिक उत्तमता होती है।...

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. २७)

... यदि शीघ्र विवाह करना चाहें, तो कन्या १६ (सोलह) वर्ष की और पुरुष २५ (पच्चीस) वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० (बीस) वर्ष पर्यंत और पुरुष का ४० (चालीस) वर्ष और उत्तम समय कन्या का (चौबीस) वर्ष और पुरुष का अडतालीस वर्ष पर्यन्त वा है। जो अपने कुलकी उत्तमता उत्तम सन्तान दीर्घायु सुशील बुद्धि, बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ (सोलह) वर्षसे पूर्व कन्या और २५ (पचीस) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें। यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें। (सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० २९)

बडी बडी बिरादरियों के अन्दर बहुत सी फिक्री बन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढता जाता है। चाहे कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो।... ऐसा खर्च किस काम आवेगा? एक का मरना और मुष्टण्डों का पेट भरना। मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को कर्ज में डुबाना इससे बढकर दीवानापन और क्या हो सकता है? (उपदेशमंजरी, पृ० १३५, आर्यपुस्तकालय, बरेली, द्वारा सन् १९३१ में छठी वार मुद्रित)

विवाह में परस्पर स्त्रीपुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है, कि दोनों के मन, चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लडका लडकी इन बातों को क्या जान सकते हैं?

(उपदेशमंजरी, पृ० १३९)

अब अभाग्योदयसे और आर्यों के आलस्यप्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है।... दुर्दिन जब आता है तब देशवासिओं को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पडता है। कोई कितना ही करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतांतर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पितामाता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न भिन्न भाषा,

पृथक् पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है । बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है ।

(स० प्र० अष्टम समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३४४)

इसलिए जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा । क्योंकि हम और आपको अति उचित जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना अब भी पालन होता है. आगे होगा. उसकी उन्नति तनमनधन से सब जने मिलकर प्रीतिसे करें । इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता । यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें तो बहुत अच्छी बात है. क्योंकि समाज का सौभाग्य बढाना समुदाय का काम है. एक का नहीं । (स० प्र० ११ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५३१, ५३२)

उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसीमें सब की निष्ठा की और एक दूसरे का सुख-दुःख, हानिलाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था । अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है । परमात्मा सब के मन में सत्यमत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्यामत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों. इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोडके आनन्द को बढावें ।

(स० प्र० १० समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३९७)

... भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया, पिया, अब भी खातेपीते हैं और अपने मातापिता, पितामहादि के मार्ग को छोड दूसरे विदेशी मतोंपर अधिक झुक जाना, इंग्लिश भाषा पढ के पण्डिताभिमानी होना... स्थिर और बुद्धिकारक काम क्यों हो सकता है ?

(स० प्र० ११ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५२७)

इन्होंने [ब्रह्मसमाजी तथा प्रार्थनासमाजी] यही समझा होगा कि खानेपीने और जातिभेद तोडनेसे हम और हमारा देश सुधर जावेगा । परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां उलटा बिगाड होता है। (प्रश्न) देखो यूरोपियन लोग मुण्डे जूते, कोट, पतलून पहिरते. होटल में सब के हाथ का खाते हैं, इसीलिये अपनी बढती करते जाते हैं ? (उत्तर) यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि मुसलमान, अन्त्यज लोग सब के हाथ का खाते हैं, पुनः उनकी उन्नति क्यों नहीं होती ? जो युरोपियनों में बाल्यावस्थामें विवाह न करना, लडकालडकी को सुशिक्षा करना कराना, स्वयंवर विवाह होना बुरे बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता, वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फसते, जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं, अपनी स्वजाति की उन्नतिके लिये तन-मन-धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड उद्योग किया करते हैं। देखो!

अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं. इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान तथा प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते । देखो ! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक यह लोग मोटे कपडे आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेशमें पहिरते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोडा और तुममेंसे बहुत से लोगों ने उनकी नकल कर ली इसीसे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं ।...जो जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं । अपने देशवालों को व्यापार आदिमें सहाय देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे अच्छे कर्मोंसे उनकी उन्नति है । जो कुछ करना, वह सोच विचार के करना चाहिये, जिसमें पुनः पश्चात्ताप न करना पड़े। देखो! वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगीके लिये है, निरोगी के लिये नहीं । विद्यावान् निरोग और विद्यारहित अविद्यारोगसे ग्रस्त रहता है। उस रोगके

छुडाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको अविद्या से यह रोग है कि खानेपीने ही में धर्म रहता है और जाता है। जब किसी को खाने में पीने में अनाचार करता देखते हैं, तब कहते और जानते हैं कि वह धर्मभ्रष्ट हो गया। उसकी बात न सुननी और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते।…परमार्थ तो तभी होता जब तुम्हारी विद्या से उनको लाभ पहुंचता।

[स. प्र. ११ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. ५२७-५२८]

सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना उचित है। मनुष्यजन्म का होना-सत्यासत्यके निर्णय करने कराने के लिये है, नकि वादविवाद, विरोध करने कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्यजाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड, सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध-जाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सब के प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्य मत हो जायें।…सर्व शक्तिमान् परमात्मा एकमत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

[स. प्र. एकदश समु. द. ग्र प्र. भा. पृ. ४००]

…हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धनको …सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हो।

[आर्याभि० विनय पृ. २८]

हे रुद्र भगवन्! आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त हो के वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रह प्राप्त हों।

[अर्याभि विनय पृ. २२]

दिव्य गुणों के सह वर्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हो, सब जगत् में भी प्रकाशित हों, जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो, वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्य, वान् हैं।

[आर्याभि० विनय पृ. ५]

हे कृपानिधे! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम चातुर्य, विविध धन, ऐश्वय, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसम्पादनादि गुणोंमें सब नरदेह-धारियों से अधिक उत्तम करो, तथा सबसे अधिक आनन्द, भाग, सब देशों में अव्याहत गमन (इच्छा-नुकूल जाना आना), आरोग्य, देहशुद्ध मानस बल और विज्ञान इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और पालनायुक्त करो, विद्यादि उत्तमोत्तम धन, विद्वानों के बीच में प्राप्त करो, अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खे ॥

(आर्याभिवि० पृ. ११-१२)

हे सहनशीलेश्वर! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों,… आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान् रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों, एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्डरहित करें… हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें…, आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सब से अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्यप्रति से परम वीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हम में सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों… हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोडके एक सत्यसनातन मतस्थ हों, जिस से समस्त वैरभाव के मूल जो पाखण्डमत वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों।

हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सब के सुखोपकारमें परम

प्रीति से लगावें- हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं । एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीडा होने से होता है, दूसरा आधिभौतिक जो शत्रु सर्प- व्याघ्र- चौरादिकों से होता है और तीसरा आधिदैविक जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्ण इत्यादिसे होता है। हे कृपासागर ! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें, जिस से हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें। ... हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझ को छुडा के, सब सुखों को प्राप्त कर। हे प्रजापते ! मुझ को अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व, गवादि, उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुख कारक उसको शीघ्र प्राप्त करा।

[आर्याभिवि० पृ. ३७, ३८]

जब तक जीवें तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहें। [आर्याभिवि० पृ. ४८]

वैदिक ज्ञान का स्वरूप- यज्ञ ।

(लेखक- स्व० वा० पं० रघुनन्दन शर्माजी।)

हमने दिखलाया है कि आदि नैमित्तिक ज्ञान प्रावेशिक होता है और उसमें पारलौकिक ज्ञान विशेष तथा लौकिक ज्ञान साधारण होता है। पारलौकिक ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति तक जाता है और लौकिक ज्ञान संसार के समस्त कार्यों को करके पारलौकिक सिद्धि में मदद देने तक पहुँचता है । इतने ज्ञान से मनुष्य की बुद्धि विकसित हो जाती है और वह बहुत दूर तक ज्ञान-विज्ञान में उन्नति कर लेता है। परमात्मा के जान लेने पर— प्राप्त कर लेने पर-तो उसे कुछ ज्ञातव्य ही नहीं रहता। हर एक विषय हस्तामलक हो जाता है।

अतः हम यहाँ वेदों के समस्त ज्ञानभंडारका थोड़ा सा नमूना दिखलाना चाहते हैं। वेदों का समस्त ज्ञानभंडार अकेले एक ' यज्ञ ' ही में चरितार्थ है। वेद में जो कुछ कहा गया है, वह यज्ञ के ही लिए है। वैदिक ज्ञान यज्ञों में ही ओतप्रोत है। इसलिए हम यहाँ थोड़ासा यज्ञ विषय का वर्णन करते हैं और देखते हैं कि उसका स्वरूप आदि ज्ञान के स्वरूप से मिलता है या नहीं।

यज्ञ शब्द ' यज् ' धातु से बनता है। यज् धातु का अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान है। अपने से जो बड़े हैं, वे देवसमान हैं। उनकी पूजा करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ संगति करना और छोटों को कुछ देना भी यज्ञ ही है। यह छोटाई बड़ाई केवल मनुष्योंमें ही न समझनी चाहिये, प्रत्युत संसार का चाहे जो पदार्थ हो, चाहे जो शक्ति हो और चाहे जो गुण हो, यदि वह बड़ा है तो पूजनीय है, यदि बराबरवाला है तो मिलने के योग्य है और यदि छोटा है तो कुछ पाने का अधिकारी है। जिस प्रकार उक्त तीनों व्यक्ति हम से पूजा, सङ्गति और दान पाने के अधिकारी हैं, उसी तरह हम भी दूसरों के द्वारा योग्यतानुसार पूजा, मेल और दान पाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार से समस्त जड और चेतन जगत् को परस्पर एक दूसरे से लाभ पहुँचाना ही यज्ञ है। ऐसे महान् यज्ञ को शतपथब्राह्मण १-७-४५ में ' यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ' अर्थात् यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि जितने श्रेष्ठतम कर्म हैं, सब यज्ञ ही हैं। इन यज्ञों के तीन विभाग हैं— कर्मयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ और उपासनायज्ञ। षोडश संस्कार (विवाह, सन्तान), शिक्षा, आहार, वस्त्र, गृह, समाज, राज्य, कृषि, पशुपालन, संगीत, गणित, भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन, इमारत, यन्त्र, शस्त्र, वाहन और युद्धविद्या आदि पदार्थ और विद्याएँ कर्मयज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्ण, आश्रम और स्वाध्याय आदि ज्ञानयज्ञ से सम्बध रखते हैं। और सदाचार, दया, प्रेम, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग और समाधि आदि क्रियाएँ उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के यज्ञों में वेद का लौकिक और पारलौकिक ज्ञान चरितार्थ होता है। अतः यहाँ हम पहिले कर्मयज्ञ का वर्णन करते हैं।

कर्मयज्ञ ।

इस यज्ञ को आर्यों ने बड़ी ही उन्नत दशा तक पहुँचाया था। इसके स्थूल और सूक्ष्म विज्ञानों को देखकर हमारी यह बात बहुत अच्छी तरह पुष्ट हो जाती है कि वैदिक ज्ञान से मनुष्य काल्पनिक ज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति कर सकता है। ऋषियों ने वैदिक ज्ञान के द्वारा यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले उच्च से उच्च भौतिक विज्ञान में अपनी गति कर ली थी। यद्यपि ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में इन यज्ञों के अनेकों प्रकार बहुत विस्तार से वर्णित हैं, परन्तु बीज रूप से अथर्ववेद ११-७ में कुछ यज्ञों का वर्णन इस प्रकार है—

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह: ॥ ८ ॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ॥ ९ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ॥ १९ ॥
(अथर्व० ११।७)

इन मन्त्रों में राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्न्याधान और चातुर्मास्य का वर्णन आता है । इस वेद का गोपथब्राह्मण इन यज्ञों का जो क्रम बतलाता है, उस क्रम में अग्न्याधान, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण (नवसस्येष्टि), चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावाले, बहुत दक्षिणावाले और असंख्य दक्षिणावाले यज्ञों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि जो इन यज्ञकर्मों को जानता है, वह यज्ञों के साथ एक आत्मा होकर और एक निवास होकर दिव्य गुणोंको पाता है ※ । इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है-

अग्न्याधान।

अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत् ।
(गोप० ५।५।८)

अर्थात् पूर्ण आहुति पर्यन्त अग्न्याधान करे । यह अग्न्याधान है।

अग्निहोत्र।

अग्नये एव सायं सूर्याय प्रातः एव ह वै अग्निहोत्रं जुहोति । (शतपथ २।२।४।१७)

अर्थात् अग्नि के लिए सन्ध्यासमय और सूर्य के लिए प्रातःकाल जो हवन किया जाता है, वह अग्निहोत्र है।

दर्शपूर्णमास।

सुवर्गाय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते।
(तैत्ति० सं० २।२।५)

अर्थात् अमावस्या और पूर्णिमा के दिन के हवन को दर्शपूर्णमास कहते हैं।

चातुर्मास्य।

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी।
(गोप० ३।१।११)

अर्थात् फाल्गुणी पूर्णमासी, आषाढ़ी पौर्णमासी और कार्तिकी पौर्णमासी को जो यज्ञ किये जाते हैं, वे चातुर्मास्य कहलाते हैं।

आग्रहायण वा नवसस्येष्टि ।

उत्तरायण दक्षिणायन के आरंभमें जो यज्ञ होते हैं, वे आग्रहायण या नवसस्येष्टि कहलाते हैं।

अग्निष्टोम।

एष वै ज्येष्ठो यज्ञानां यदग्निष्टोमः, (तस्मात् उ ह वसन्ते वसन्ते) ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत्। (ताण्ड्य ब्रा० ६।३।८; शत० १०।१।२।९)

अर्थात् जो प्रति वर्ष वसन्तमें वार्षिक यज्ञ होता है, उसे अग्निष्टोम कहते हैं। इस के अग्निष्टोम, उक्थ, वाजपेय, अतिरात्र आदि अनेक प्रकार हैं। यह उपर्युक्त सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहलाता है ।

पितृयज्ञ।

अथ यत् प्रजां इच्छते यत् पितृभ्यो निपृणाति।
(श० ६।७।३।७)

अर्थात् जो पुत्र चाहता है और जो पितरों को तृप्त करता है। पुत्रार्थी को पितृयज्ञ आवश्यक है। यही पुत्रकामेष्टि है।

पञ्च महायज्ञ।

पञ्च वै एते महायज्ञाः सततिप्रतायन्ते।
(तैत्ति० आ० २।१०)

अर्थात् ये पञ्च महायज्ञ हैं, जो सदा आरंभ किए जाते हैं।

राजसूय और अश्वमेध यज्ञ।

राज्ञः एव सूयं कर्म। राजा वै रायसूयेन इष्ट्वा भवति। (शतपथ १३।२।२।१)

※ अथातो यज्ञक्रमाः। अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्रात्, दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रहायणमाग्रहायणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मासेभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेयः वाजपेयादश्वमेधः अश्वमेधात्पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः स य एवमेतान् यज्ञक्रमान् वेद यज्ञेन स आत्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम्। (गोप० ब्रा० १।५।७)

अर्थात् राजसूय से ही राजा होता है। यह राजगद्दी के समय का यज्ञ है।

राजा वै एष यज्ञानां यद् अश्वमेधः।

(१३।२।२।१)

सर्वाः वै देवताः अश्वमेधे अन्वयत्ताः तस्माद् अश्वमेधयाजी सर्वादिशो अभिजयन्ति।

(शत० १३।१।२।९।३)

अर्थात् सब देवता अश्वमेध में आते हैं। अश्वमेध करनेवाला सब दिशाओं का जीतनेवाला होता है।

श्रीर्वैराष्ट्रं। राष्ट्रं वै अश्वमेधः।
तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्।

ऐश्वर्य ही राज्य है। राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए सम्राट् अश्वमेध करे। इसे अश्वमेध यज्ञ कहते हैं।

गोमेध यज्ञ।

पृथिवी का उर्वरा बनाना, नई भूमि तय्यार करना और नये नये टापू तलाश करना, इस यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसे गोमेध यज्ञ कहते हैं।

सारांशरूप से यज्ञों का यही क्रम और प्रकार है। इस सारांश में बतला दिया गया है कि किस यज्ञ के बाद कौनसा यज्ञ करना चाहिये और कितने यज्ञ विशेष रूप से महत्त्ववाले हैं। अतः हम चाहते हैं कि इन यज्ञों से निष्पन्न होनेवाले फलों के नाम से जो आधुनिक ग्रन्थों में नाम दिए गए हैं, उन नामों के साथ कुछ यज्ञों की उपयोगिता का वर्णन भी कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय। क्योंकि वैदिक आर्यों का वह सनातन विश्वास है कि यज्ञों से आरोग्यता, सन्तति, वर्षा का नियन्त्रण, राज्य, विद्या, सेवा और परमात्मा की प्राप्ति होती है। इन सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्यजीवन में फिर कोई ऐसी काम्य वस्तु शेष नहीं रह जाती, जिसके लिए वह लालायित होता रहे। इनके द्वारा लोक परलोक के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। इन यज्ञों का खुलासा विवरण इस प्रकार है—

आरोग्यता।

आरोग्यता दो प्रकार की है। एक व्यक्ति की, दूसरी समाज की। जुकाम, बुख़ार, दस्त और शरीरपीड़ा आदि मौसमी, तथा चेचक हैज़ा, प्लेग और इन्फ्लूएंज़ा अथवा अन्य ऐसी ही सामयिक बीमारियाँ होती हैं, जो सब पर आक्रमण करती हैं। अतः जो बीमारियाँ एक व्यक्ति को होती हैं, उनके निवारण का नाम चिकित्सा अर्थात् आयुर्वेद है और दूसरे प्रकार की सार्वजनिक बीमारियाँ जिस सामूहिक रीति से निवारण की जाती हैं, उसका नाम 'भैषज्य यज्ञ' है।

सन्तान।

सन्तान न होती हो, तो सन्तान उत्पन्न करनेवाले, मनमानी सन्तान उत्पन्न करनेवाले, तथा सन्तान को दीर्घजीवी बनानेवाले यज्ञ का नाम 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ' है। इस यज्ञ का कुछ भाग गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों में तथा कुछ भाग पितृयज्ञ में मिला हुआ है। इसका कुछ वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में दिया हुआ है।

वर्षा का नियन्त्रण।

पूर्व समय में ऋषियों ने अवर्षण के समय यज्ञों द्वारा उसी तरह पानी भी बरसाया था, जिस प्रकार यज्ञों के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया था। वेद का 'निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु' अर्थात् इच्छानुसार वर्षा हो, यह वाक्य इसी बात की सूचना देता है। इसको 'अवर्षण यज्ञ' कहते हैं।

सम्पत्ति।

आवश्यक पदार्थों का नाम सम्पत्ति है। आजकल क अर्थशास्त्र भी सम्पत्ति का यही अर्थ करता है। रुपया तो केवल क्रयविक्रय का साधन है। जब अधिक धन होता है, तब रुपया काम नहीं देता। वहाँ नोट, चेक अथवा बदले के माल से ही काम चलता है। संसार में जितना माल है, उतने मूल्य के लिए सोना और चाँदी नहीं है। इसलिए वैदिकोंने आदिम काल ही में पशुओं, अन्नों और अन्य आवश्यक पदार्थों को ही सम्पत्ति माना था। यज्ञों में अन्न, घृत, मेवा, औषधि और काष्ट आदि पदार्थों की आवश्यकता होती है। इस लिए कृषि, इष्टापूर्त (जिसमें कुँवा, ताल, बाग़, बग़ीचे सम्मिलित हैं), जंगल और अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। यही सम्पत्ति है। यज्ञानुष्ठान का मन में

संस्कार होते ही सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसे 'गोमेध यज्ञ' कहते हैं। देशों की बनावट, नये टापू तलाश करना और भूमि को उर्वरा बनाना इसका प्रधान उद्देश्य है।

राज्य— आर्यसभ्यता में अश्वमेध अर्थात् चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा भी एक विशेष उपज है। सबसे बड़ा यज्ञ यही है। एक राष्ट्र में संसार भर के मनुष्यों का सुखदुःख सम्मिलित करके **'सबसे सबको लाभ पहुँचाना'** इस यज्ञ का अभिप्राय है। यज्ञ की कामना करनेवाले के मन में तुरन्त ही राज्य का अंकुर उत्पन्न होना, स्वाभाविकसी बात है। इस यज्ञ के लिए शौर्य और युद्धकौशल्य उत्पन्न करना प्रथम कर्तव्य होता है। युद्ध से मुँह छिपानेवाला आर्य नहीं समझा जाता। अर्जुन को ऐसा देखकर कृष्णने कहा था कि-

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं अकीर्तिकरमर्जुन।

अर्थात् 'हे अर्जुन! तेरी ये कायरपने की बातें अनार्यों की हैं'। इस यज्ञ का नाम **'अश्वमेध यज्ञ'** है।

सेवा— पंच महायज्ञों के द्वारा सौर और चान्द्र संसार को आप्यायित करके अतिथिओं, वृद्धों, रोगियों, पतितों, पशुपक्षियों और कीटपतङ्गों तक को आहार पहुँचाने से बड़ी, संसार की और क्या सेवा हो सकती है? इसी को **'पंच महायज्ञ'** कहते हैं।

ईश्वर— जो मनुष्य इतना सब कुछ करके भी निःस्वार्थभाव से कहता है कि **'इदं न मम'** अर्थात् यह मेरा नहीं है, उससे बढ़कर ईश्वरार्पणबुद्धि और क्या हो सकती है? ऐसे कर्म करनेवाले को **'न कर्म लिप्यते'**। अर्थात् कभी कर्मबन्धन नहीं होता। वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यह **'उपासनायज्ञ'** है।

उपर्युक्त यज्ञों के यही प्रकार और लाभ हैं। ये समस्त लाभ, भैषज्य, यज्ञ, पुत्रकामेष्टि यज्ञ, अवर्षण यज्ञ, गोमेध यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ और पंच महा यज्ञों से प्राप्त हो जाते हैं। इनमें से पुत्रेष्टि और अवर्षण यज्ञों पर हम यहाँ अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। पर यदि रामायण की कथा सत्य है, तो जनक ने अवर्षण दूर करने के लिए और दशरथ ने अपुत्रत्व मिटाने के लिए यज्ञ किये थे और दोनों में सफलता हुई थी। रामायण की ये दोनों घटनाएँ निकाल डालने पर रामायण का ऐतिहासिक भाग हिल जाता है। अतएव इन घटनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु अब तो वह ज़माना है कि जब सन्तान प्रतिरोध का बन्दोबस्त हो रहा है और नहरों से आबपाशी का सिलसिला जारी है। पुराने ज़माने में भी लोगों ने दत्तक पुत्र और संन्यास तथा इष्टापूर्त अर्थात् कुवाँ, ताल, नहर बनवाकर इन दोनों बातों को सरल कर लिया था। इसलिए यदि इन दोनों यज्ञों को छोड़ भी दें, तो शेष छे प्रकार के यज्ञ ही ऐसे हैं कि जिनके फलों के प्राप्त होने पर हर प्रकार की कृतकृत्यता हो जाती है।

इसीलिए समस्त संसार ने यज्ञों को स्वीकार किया था और अबतक संसार के प्रायः सब संप्रदायों में वे प्रचलित हैं। यह सब 'फिज़िकेल रिलीजन' में मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है। संसार में क्या नये और क्या पुराने जितने धर्म प्रचलित थे और हैं, सबमें यज्ञ का कोई न कोई प्रकार अवश्य स्वीकार किया गया है। आर्यों की समस्त प्राचीन शाखाओं में यज्ञ प्रचलित था। प्राचीन समय में ग्रीकों और रोम-निवासियों के यहाँ भी यज्ञ प्रचलित थे। पारसियों और वैदिक आर्यों में यज्ञ अब तक प्रचलित हैं। जैनियों में भी धूपदीप, जो यज्ञ का ही अवशिष्ट और सूक्ष्म रूप है, प्रचलित है। यह तो आर्यशाखा की बात हुई। सेमिटिक शाखा के भी इस समय तीन धर्म—यहुदी, ईसाई और मुसलमानी—प्रचलित हैं। इनमें से यहूदियों के यहाँ यज्ञ होते थे। वे कुंड को 'कैर' कहते थे। ईसाई और मुसलमानों में भी ऊदबत्ती और लोबान आदि जलाने का रिवाज अबतक मौजूद है। भले, उनके रूप बिगड़े हुए हैं, पर इससे इनकार नहीं हो सकता कि वह यज्ञ का अपभ्रष्ट रूप नहीं है। इस तरह से मनुष्यजाति की यह दूसरी सेमिटिक शाखा भी यज्ञ को पुराकाल से लेकर अबतक करती और मानती जाती है। तीसरी तुरानी शाखा में भी यज्ञ के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। चीनवाले यज्ञ को 'घोम' कहते हैं, जो होम के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार से मनुष्यजाति के तीनों विभागों में यज्ञ जारी थे और जारी हैं। मिश्रकी प्राचीन जातियों

में तथा अमेरिका के रेड इंडियनों में भी यज्ञ की प्रथा जारी थी। कहने का मतलब यह कि यज्ञ मनुष्य का आदिम धर्म है। यज्ञ इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि सब मनुष्य एक ही वंश की शाखा उपशाखा हैं और यह यज्ञ उस समय उत्पन्न हुआ था, जब संसार में थोड़े से मनुष्य पैदा हुए थे और वे सब एक ही स्थान में रहते थे। एक विज्ञानवेत्ता ने लिखा है कि अग्नि का उत्पन्न करना ही मनुष्य का आदिम वैज्ञानिक आविष्कार है। यहीं से उसकी बुद्धि का विकास हुआ है। लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पन्न करना भौतिक विज्ञान में प्राथमिक आविष्कार है और मौलिक है। हमारा तो यह दावा है कि मनुष्य में यदि यज्ञ का ज्ञान न होता, तो वह इस उन्नति को पहुँचता ही नहीं, जिसमें वह इस समय मौजूद है।

गत पृष्ठ में हमने यज्ञों की व्यापकता दिखलाते हुए, उनकी प्राचीनता पर भी कुछ लिख डाला है। किन्तु प्रश्न यह है कि आर्यों में इसका रिवाज कबसे आरंभ हुआ। हम देखते हैं कि आर्यजाति का कोई संस्कार, कोई धार्मिक कृत्य और कोई त्योहार ऐसा नहीं है, जिसमें होम न होता हो। जहाँतक लिखित प्रमाण मिलता है, वहाँतक आर्यजाति में यज्ञों का होना पाया जाता है। हम इससे पूर्व में दिखला आये हैं कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन-आदिम-और अपौरुषेय हैं। विदेशी भी मानते हैं कि वेदों से प्राचीन संसार में कोई लिखित पुस्तक नहीं है। उन वेदों में यज्ञों का वर्णन है। अतः यज्ञ वेदकालीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। ये वेद चार हैं। चारों में ऋग्वेद प्रथम है। इस सर्व प्रथम ऋग्वेद के सर्व प्रथम मन्त्र में—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमम्॥

इस प्रकार यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज् और होता का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए यज्ञ उतने पुराने हैं, जितना पुराना ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है।

यज्ञों के तीन संसार और तीन प्रकार।

वेदों में तीन संसारोंका वर्णन है। एक आकाशीय है। जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, जल और विद्युत् आदि हैं। इस आकाशीय संसार में राजा, पुरोहित, सेना, नगर, ग्राम, वीथी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, नदी, समुद्र, जंगल, पशु, पक्षी, आदि सभी कुछ है। वहाँ शत्रु हैं, बड़े बड़े युद्ध हैं और जो कुछ यहाँ संसार में दिखाई पड़ता है, वह सब आकाशीय संसार में मौजूद है। जिस प्रकार यह आकाशीय संसार है, उसी प्रकार का दूसरा संसार मनुष्य का शरीर है, जिसमें नगर, द्वार, राजा, ऋषि, शत्रु, ब्राह्मण, युद्ध और उसी प्रकार के समस्त पदार्थ हैं, जिस प्रकार के आकाशीय संसार में हैं। तीसरा यह पृथिवीस्थ संसार है, जिसमें उक्त सभी पदार्थ मौजूद हैं। वेदों के ये तीनों संसार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहलाते हैं।

इनमें से आकाशीय संसार और मनुष्यशरीरस्थ संसार दोनों परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखते हैं। आकाशीय संसार का एक एक पदार्थ शारीरिक संसार का आधार है। आकाशीय संसार में जिस प्रकार अन्य समस्त पदार्थ विराजमान हैं, उसी तरह वहाँ यज्ञ भी हुआ करता है और जिस प्रकार आकाश में यज्ञ हुआ करता है, उसी तरह शरीर में भी यज्ञ हुआ करता है। ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड के यज्ञ निरन्तर जारी रहते हैं। किन्तु परिवर्तनों के कारण कभी कभी दोनों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसलिए भौतिक यज्ञों से दोनों का सामञ्जस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है। हम चाहते हैं कि यहाँ थोडासा पिण्ड ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उनका परस्पर सम्बन्ध वर्णन कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय और ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार यज्ञ वैज्ञानिक नींव पर स्थित हैं और पिण्ड ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध रखते हैं।

पिण्ड व ब्रह्माण्ड का संबंध।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का परस्पर संबंध बताते हुये एक वेदमन्त्र कहता है कि—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिव्यां गोपीथाय॥
(अथर्व० ५।८।७)

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष मेरी आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यावा और पृथिवी के बीचमें सुरक्षित रखता हूँ। यह मन्त्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्पष्ट सम्बन्ध बतलाता है। यजुर्वेद के दूसरे स्थानों में है कि—

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत; यस्य वातः प्राणाप्राणौ;
नाभ्याऽसीदन्तरिक्षꣳ,दिशः श्रोत्रं, पद्भ्यां भूमिः॥

अर्थात् द्यौ शिर, वायु प्राण, अन्तरिक्ष नाभि, दिशा कान और भूमि पैर हैं। यहाँ भी वही सम्बन्ध वर्णित है। वेदों में इस प्रकार के बहुत वर्णन हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात प्रत्यक्ष भी है कि विना सूर्य के हम देख नहीं सकते, विना वायु के साँस नहीं ले सकते और विना पृथिवी के खड़े नहीं हो सकते। कहने का मतलब यह कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के साथ नत्थी है। जैसे यह दोनों का आधार आधेय वर्णित है, वैसे ही वेदों में दोनों जगह के यज्ञों का भी वर्णन है। ब्रह्माण्ड यज्ञ के विषय में लिखा है कि—

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥
(यजुर्वेद ३१।१५,१४)

अर्थात् यज्ञवेदी की सात परिधियाँ हैं। उसमें इक्कीस समिधा हैं। ऐसे यज्ञ को देवताओं ने फैला रक्खा है, जिसमें पुरुष पशु बँधा हुआ है। पुरुष के द्वारा हवि से देवता जिस यज्ञ को फैलाते हैं, उस यज्ञ में वसन्तऋतु घी है, ग्रीष्मऋतु ईंधन है और शरद् ऋतु हवि है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

तमाहरत् येनायजत तस्याग्निर्होताऽऽसीत् वायुरध्वर्युः। सूर्य उद्गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्यः सदस्यः॥ (गोपथ० १।१३)

अर्थात् अग्नि होता, वायु अध्वर्यु, सूर्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा और वर्षा सदस्य है। यह ब्रह्माण्ड यज्ञ है। पिण्डयज्ञ के लिए वेद में लिखा है कि—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥
(अथर्व० ११।८।२९)

अर्थात् हड्डियों की समिधा बनाकर, रेत का घी करके और आठ प्रकार के रसों को लेकर सब देवताओंने पुरुष में प्रवेश किया। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः।

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है। क्योंकि वह यज्ञ को करता है। वह उतना ही सत्कर्म करता है, जितना वह स्वयं होता है। इसलिए पुरुष ही यज्ञ है। इसी तरह छान्दोग्य उपनिषद् में भी पुरुष को यज्ञ कहा है। वहाँ लिखा है कि—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं यानि चतुश्चत्वारिंꣳशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं, यान्यष्टाचत्वारिंꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम्।
(छान्दोग्य० ३।१२)

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है। इसके जो चौबीस वर्ष हैं, वह प्रातःसवन है। जो चवालीस वर्ष हैं, वह माध्यन्दिन सवन है और जो अड़तालीस वर्ष हैं, वह तृतीय सवन है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ऊपर जिस सूर्य आदि देवताओं का ब्रह्माण्ड यज्ञ के नाम से वर्णन हुआ है, वही देवता मनुष्यशरीर में प्रवेश कर गये और मनुष्यशरीर के पदार्थों को यज्ञ की सामग्री बनाकर वहाँ भी यज्ञ करने लगे। गोया पिण्डब्रह्माण्ड के यज्ञ और उन दोनों का सम्बन्ध दृढ हो गया और इस प्रकारसे यह नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी सम्बन्ध के अनुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के दोनों यज्ञ, यज्ञ के तीनों धर्म- देवपूजा, संगति और दान- निरन्तर कर रहे हैं। गर्मी, सर्दी, जल, हवा, प्रकाश और अन्धकार से ब्रह्माण्ड सदैव हमारी सबकी पूजा, संगति और दान किया करता है। मनुष्यशरीर भी सर्दी, गर्मी, प्रकाश आदि से संगति करता है। इन्द्रियाँ परस्पर पूजा करती हैं और दान देती हैं। इसी तरह मनुष्यशरीर भी अन्य प्राणियों

के साथ पूजा, संगति और दान का व्यवहार करता है। इस तरह पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों, यज्ञ का कार्य बराबर सम्पादन करते हैं। हम कह आये हैं कि ब्रह्माण्ड पिण्ड का आधार है। शरीर बिलकुल ही ब्रह्माण्ड के आधीन है। आँख सूर्य की, श्वास वायु का और पैर पृथिवी के मोहताज हैं। पर जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता है और पृथिवी ठंडी या गर्म हो जाती है, अर्थात् जब दोनों संसारों में विषमता उत्पन्न हो जाती है, तब हम तीसरी भौतिक यज्ञ से दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न करते हैं। हम चिराग़ जलाकर सूर्य का काम लेते हैं, पंखा झलकर वायु का काम लेते हैं और जूता पहनकर या ऊँचे मंच पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं।

यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसी लिए वेद में कहा गया है कि-

'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्,
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:'

अर्थात् यज्ञ से यज्ञ कल्पित हुए हैं। देवता भी यज्ञ से यज्ञ कर रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है, कि 'यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति।' अर्थात् मैं यज्ञ से यज्ञ का निर्माण करता हूँ। इस सब वर्णन का यही मतलब है कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के यज्ञों की विषमता का भौतिक यज्ञों से सामञ्जस्य करते रहना चाहिए।

यद्यपि सत्कर्म मात्र यज्ञ के नाम से कहा गया है, पर भैषज्य यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ, अवर्षण यज्ञ, गोमेध यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ और पंच महायज्ञ आदि स्थूल और व्यावहारिक यज्ञ प्रधान हैं। ये सभी यज्ञ अपने अपने ढंग के निराले हैं। अतएव इन सबके साधन भी निराले हैं। अपने अपने यज्ञ के अनुकूल साधन अलग अलग होने पर भी अग्न्याधान, हवनीय पदार्थ, समयनिरूपण और यज्ञदेश का विचार आदि सबमें हैं। सबों में यज्ञकर्ता, यज्ञमण्डप आदि एक समान ही होते हैं। परन्तु कुण्डों की बनावट, पात्र, हवनीय पदार्थ और अन्य विधियाँ अलग अलग हैं। इसी तरह और भी बहुत सी बातों में अन्तर है। जैसे अश्वमेध में अमुक प्रकार का घोड़ा, युद्धसामग्री, सेना आदि विशेष रूप से आवश्यक होते हैं, किन्तु पुत्रेष्टि में इनकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह कि यज्ञों में सामान्य विशेष भाव सदैव बना रहता है। इसीलिए सबके उपकरण भी सामान्य विशेष रूप से पृथक् पृथक् और एक समान भी होते हैं। आगे हम यज्ञों का वर्णन करते हुए यह भी बतलाते जायँगे कि किन किन यज्ञों में कौन कौन सी चीज़ें विशेष रूप से आवश्यक होती हैं। यज्ञों को सफल बनाने के लिए बहुत से पदार्थों के साथ अनेक प्रकार की विद्याओं की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी एक भी आवश्यक विद्या नहीं है, जिसकी यज्ञ में ज़रूरत न होती हो। आर्यलोग इसीलिए यज्ञों को धर्म का मूल बतलाते हैं और थीबो साहब कहते हैं, कि 'आर्यों के पुरातन धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विद्याएँ हैं, सब उनकी निज की उपज है' +। भैषज्य यज्ञ आर्यों का पुरातन धर्म है और उसका सम्बन्ध आयुर्वेद से है। अतः आयुर्वेद भी आर्यों की ही उपज है।

हम पहिले ही बता आये हैं कि यज्ञ के लाभों में सबसे बड़ा लाभ सार्वजनीन आरोग्यता है। सफ़ाई, सड़क, रोशनी, अस्पताल आदि जिस प्रकार सार्वजनीन आरोग्यता के साधन हैं, उसी प्रकार यज्ञ भी हैं। आरोग्यता का सम्बन्ध ज़िंदगी से है। संसार में जीवन सबसे अधिक मूल्यवान् है। अतः सार्वजनीन जीवनरक्षा का श्रेय होने के कारण यज्ञ का आरोग्यसम्बन्धी विषय प्रथम और प्रधान है। क्योंकि आरोग्यता नष्ट होने पर शरीर रोगी हो जाता है और रोग से मृत्यु का भय रहता है। मृत्यु कोई पसन्द नहीं करता। एक व्यक्ति का जीवन चाहे सबके लिए मूल्यवान् न हो, पर सबका जीवन तो सबके ही लिए मूल्यवान् है। इसलिए जिसमें सार्वजनीन आरोग्यता का

+ Science is closely connected with the ancient Indian Religion and must be considered as having sprung up among the Indians themselves.

विधान हो, वही यज्ञ सब यज्ञों में अधिक उपयोगी, आवश्यक और वर्णन करने योग्य है। अतएव हम यहाँ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले भैषज्य यज्ञ का वर्णन करते हैं।

यज्ञों में आयुर्वेद।

भैषज्य यज्ञ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें देशकाल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि '**भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते**' अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ पैदा होती हैं, इसलिए इनका प्रयोग ऋतुसन्धियों में होता है। छान्दोग्य ४।१७।१८ में भी लिखा है, कि '**भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति।**' अर्थात् जिनमें वैद्यकशास्त्रज्ञ ब्रह्मा होता है, वे भैषज्य यज्ञ हैं। इन दोनों प्रमाणों में ऋतुसन्धि और भैषज्य का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए वनस्पतियों के गुण और समय का ज्ञान होना आवश्यक है। ओषधियों के लिए स्पष्ट लिखा है, कि '**यस्य देशस्य यो जन्तुः तत्तस्यौषधं हितं**' अर्थात् जो प्राणी जिस देश का होता है, उसके लिए वहाँ की ही उत्पन्न ओषधियाँ हितकर होती हैं। इसके अतिरिक्त ओषधिओं पर ऋतुओं का प्रभाव देशभेद से अलग अलग होता है। इसलिए देश का भी ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। देश, काल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान आयुर्वेद से ही संबंध रखता है। इसमें शारीरिक ज्ञान और निदान मिला देने से ही पूरा आयुर्वेद बन जाता है। शारीरिक, निदान, त्रिदोष, नाडीज्ञान और अन्य ऐसी ही अनेक बातें हैं, जो व्यक्तिव्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं और वेदों में विस्तार से वर्णित हैं। किन्तु हम यहाँ सार्वजनीन व्याधियों के सार्वजनीन उपचार का ही वर्णन कर रहे हैं। इसलिए उन विषयों का वर्णन करना उचित नहीं समझते। सफ़ाई, रोशनी, सड़क और अस्पताल आदि म्युनिसिपालिटी के काम जिस प्रकार सार्वजनिक हैं, उसी तरह यह यज्ञ भी है। होली ऐसा ही सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ है, जो संवत्सर के अन्त में किया जाता है। यह नवसस्येष्टि भी कहलाती है। 'नवसस्य' का नाम होला है। हरे चनों को भूनकर लोग होला खाते हैं। इसीलिए होली में भुने हुए हरे चने ही होला कहलाते हैं। यह होली एक प्रकार का भैषज्य यज्ञ ही है।

संसार में सर्दी और गर्मी दो ही हैं। सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी है। यजुर्वेद २३।१० में स्पष्ट कहा है कि '**अग्निर्हिमस्य भेषजम्**' अर्थात् अग्नि शीत की दवा है। अर्थापत्ति से समझ लेना चाहिए कि सर्दी भी गर्मी की दवा है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च।
यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यं।
अग्नीषोमयोर्हं वै तावती विभूतिः प्रजातिः।
सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमा सौम्यः। (शतपथ०)

अर्थात् सूखा और गीला दो ही हैं, तीसरा नहीं। अग्नि ही सूखा है और सौम्य ही गीला है। इस प्रकार अग्नि और सौम्य की उत्पादक शक्ति विविध प्रकार की है। सूर्य ही अग्नि है और चन्द्रमा ही सौम्य है। अग्नि और जल से ही पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई है। तीसरी चीज़ वायु है, जो न शीत है न उष्ण। वायु धूप के संयोग से उष्ण और जल के संयोग से ठंडी हो जाती है और दोनों के प्रभाव को प्रबल कर देती है। यही सिद्धान्त आयुर्वेद में भी वर्णित है। वेदों में अग्निषोमौ का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जो अग्नि और जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अर्थात् संसार में सर्दी और गर्मी दो ही असर हैं। यही दो असर संसार के समस्त पदार्थों में हैं। किसी पदार्थ में गर्मी अधिक हैं और किसी में सर्दी। इसीलिए कोई पित्तकर है और कोई कफकर। परन्तु बादी करनेवाले पदार्थों का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। गर्म पदार्थ भी बादी करते हैं और सर्द भी। अर्थात् जिन पदार्थों में गर्मी सर्दी से अधिक होती है, वे भी बादी होते हैं और जिनमें सर्दी गर्मी से अधिक होती है, वे भी बादी होते हैं। पर जिन पदार्थों में गर्मी सर्दी बराबर होती है, वे बादी नहीं होते। उन्हीं का नाम मातदिल और त्रिदोषघ्न है। इस सबका कारण स्पष्ट है कि वायु निज में कुछ भी असर करनेवाली नहीं है। वह प्रबल गुण के

साथ मैत्री करके उसके बल को बेहद बलवान् कर देता है। संसार के सर्द और गर्म पदार्थ वायु के सहचार से अधिक बलवान् हो जाते हैं। इसलिए कहा है कि कफ और पित्त पंगु हैं। वायु जहाँ उनको ले जाता है, वहाँ वे उसी तरह जाते हैं, जैसे हवा पाकर मेघ भागते हैं।

परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु उनका कारण भी है। इस सर्दी गर्मी का कारण तो ऋतुएँ हैं। ऋतुओं के योग से पदार्थों में प्रायः ऋतुओं के गुण आया करते हैं। इन ऋतुओं का जन्म सूर्य और पृथिवी की चाल पर है। इसलिए देशभेद से ऋतुओं में और ऋतुभेद से पदार्थों के गुणों में अन्तर पड़ जाता है। इस सब वैज्ञानिक भेद के जाननेवाले को भिषक् कहते हैं। छान्दोग्य के अनुसार भैषज्य यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह इस विद्या का जाननेवाला होता है। उसके पास वे ओषधियाँ जो भैषज्य यज्ञ में काम आती हैं, बहुतायत से तैयार रहती हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।
(ऋग्वेद १०।९७।६)

अर्थात् जिसके पास नाना प्रकार की अनेक ओषधियाँ राजा की सभा की भाँति खूब सजी हुई, सिसिले से इकट्ठी रखी हों, वह रक्षोह अर्थात् रोग का नाशक और अमीवचातन अर्थात् रोगबीजों का दूर करनेवाला भिषक् है। अथर्व० ५।२९।१ में लिखा है कि 'त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता'। अर्थात् ओषधियों का बनानेवाला तू वैद्य है। बात स्पष्ट हो गई कि भैषज्य यज्ञों के लिए ऐसे वैद्य की आवश्यकता है, जो देश, काल और पदार्थोंके गुण जानता हो, तथा हवनीय ओषधियाँ अपने पास रखता हो। भैषज्य यज्ञोंमें जिन ओषधियों की आवश्यकता होती है, वे बहुत हैं। उनकी एक सूची स्वामी दयानन्द ने रोगनाशक, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक और मिष्ट तथा सुगंधित पदार्थों के नाम से दी है। वेदों में बहुत सी ओषधियों का वर्णन है, जो अमुक अमुक यज्ञों में काम आती हैं। पर यहाँ हम कुछ ऐसी ओषधियों का वर्णन करते हैं, जिनका अब पता नहीं लगता। यजुर्वेद में हवनीय ओषधियों को अम्ब कहा गया है। वहाँ लिखा है कि—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रतो यूयमिमं मे अगदं कृत॥
(यजु० १२।७६)

"हे अम्ब! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम हज़ारों प्रकार से उगती हो! तुम मेरे यज्ञ में आओ और सबको आरोग्य करो। दूसरे स्थान में कहा गया है कि 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व'। अर्थात् यह तेरा रुद्र भाग है, उसको अम्बिका की बहनों के साथ होम कर। यहाँ अम्बा की तरह अम्बिका का भी वर्णन आया है और तीनों बहनों का ज़िक्र भी है। अन्य मन्त्र में है कि–

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन॥
(यजु० २२।१८)

अर्थात् हे अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके! तुम्हारा प्राण, अपान, व्यान के लिए हवन करते हैं। इनके लिए निम्न लिखित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(यजु० ३।६०)

अर्थात् सुगन्धि और पुष्टि के बढ़ानेवाली तीनों अम्बिकाओं को हवन करता हूँ, जिससे मृत्यु के दुःख से उसी तरह छूट जाऊँ, जिस तरह पका हुआ फल अनायास अपने बन्धन से छूट जाता है, परन्तु मोक्ष से न छूटूँ।

इस वर्णन से मालूम हो गया कि अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका अर्थात् तीनों बहनों को रोगनाश करने और जीवनरक्षा के लिए हवन करने को कहा गया है। ये ओषधियाँ हैं, मनुष्य नहीं। किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि इनकी पहिचान किसी को नहीं है। बहुत कुछ अन्वेषण करने पर यह तो पता लग गया है कि ये ओषधियाँ हैं और इनके पर्याय नाम अमुक अमुक हैं, परन्तु इनका पहिचाननेवाला आज कोई नहीं है। इनका आज यदि पता मिलता, तो बड़ा काम निकलता। क्योंकि यजुर्वेद ३।५७ में जहाँ इन तीनों बहनों का हवन करना लिखा है, वहाँ चूहे का भी वर्णन है ×।

× एष ते रुद्र भागः आखुस्ते पशुः। (यजु० ३।५७) अर्थात् यह तेरा रुद्र भाग है, तेरा पशु चूहा है।

सम्भव है, ये प्लेग की दवाएँ हों और सार्वजनिक रोगों के दूर करने के लिए भैषज्य यज्ञ में प्रयुक्त होती हों। पर आज तो लोग इन्हें भूल गए हैं। भूल जायँ, इस बात का यहाँ ज़िक्र नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि यज्ञों में वैद्यक के ज्ञान की आवश्यकता है। कोई यह नहीं कह सकता कि यज्ञोंके लिए आयुर्वेद के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और वैदिक काल के आर्य बिना वैद्यकज्ञान के ही यज्ञ किया करते थे, अथवा केवल कार्बन फैलाते थे। हम देखते हैं कि आजकल चेपी बीमारियों के लिए बड़े बड़े डॉक्टरों ने भी आग जलाना, शक्कर जलाना और नीम की पत्ती जलाना आरम्भ कर दिया है। यह उन में भैषज्य यज्ञ का आरम्भ है। इस आरम्भ से हम आशा करते हैं कि वर्तमान विज्ञान भी कभी यज्ञों की सार्थकता पर प्रकाश डालेगा। यहाँ तक के वर्णनसे देखा गया कि ऋतुसंधियों में व्याधियाँ होती हैं, तभी भैषज्य यज्ञों का प्रयोग होता है। अतः प्रश्न होता है कि क्या यज्ञों में ऋतुसन्धियों को जानने के लिए ज्योतिष् का ज्ञान आवश्यक है?

यज्ञों में ज्योतिष्।

यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता अनिवार्य है। आर्यों के दो विश्वास ऐसे हैं, जिनके कारण ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। एक तो भैषज्य यज्ञ के लिए ऋतुओं की सन्धियाँ जानना, दूसरे दक्षिणायन और उत्तरायण में मरनेसे दो प्रकार की गतियाँ मानना। वे मानते थे कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है और दक्षिणायन में मरने से पुनर्जन्म होता है। जिसका यह विश्वास हो कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है, वह भला उसके बारीक ज्ञान के बिना कैसे रह सकता है? देशी और विदेशी विद्वान् एक स्वर से कहते हैं कि आर्योंमें ज्योतिष् का प्रादुर्भाव यज्ञों का समय देखने के लिए ही हुआ है। भास्कराचार्य 'सिद्धांतशिरोमणि' में कहते हैं कि वेदों में यज्ञों का वर्णन है और यज्ञ काल के आश्रित हैं। इसलिए जिसमें काल का वर्णन हो वह ज्योतिष्शास्त्र वेद का अङ्ग कहलाता है※। ज्योतिष् वेद का नेत्र इसी कारण कहलाता है कि ज्योतिष् से समय दिखलाई पड़ता है। इसीलिए जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् थीबो कहता है कि यज्ञों का ठीक समय जानने के लिए ही आर्यों में सबसे पहिले ज्योतिष्शास्त्र के सूक्ष्म अवलोकनों की आवश्यकता हुई+। यह बात बिलकुल सत्य है कि यज्ञ, चाहे छोटे हों या बड़े, संधियों में ही होते हैं। संधि के लिए दूसरा शब्द पर्व है। गाँठ, जोड़ अथवा सन्धि को पर्व भी कहते हैं। प्रातः सायं की सन्धि में हवन होता है×। पक्ष की संधि, मास की सन्धि ऋतु की संधि ❧ चातुर्मास्य की संधि, दोनों अयनों की संधि पर ही यज्ञ (हवन) होते हैं। यही सब संधियाँ पर्व भी कहलाती हैं। इनका सूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष् से ही होता है। पक्ष और मास की संधि चाहे चन्द्रमा के स्थूल अवलोकन से अमावस्या और पूर्णिमा के दिन मालूम हो जाय, पर ऋतु, अयन, संवत्सर का संधिज्ञान जब तक सायन गणनानुसार ज्योतिष् का ठीक ठीक ज्ञान न हो, तब तक नहीं हो सकता।

※ वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात्कालबोधो यतः स्याद्वेदांगत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।

+ The want of some rule by which to fix right time for the sacrifices gave the first impulse to astronomical observation.

× प्रातर्प्रातर्गृहपतिर्नो०। सायं सायं गृहपतिर्नो०। ये सुबह शामके सवन कहलाते हैं। इन्हीं के कारण उदय से उदय तक के समय को सावनदिन कहते हैं।

❧ ऋतुओं में ही यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का नाम ऋत्विज् अर्थात् ऋतुओं में यजन करनेवाला है।

वेदों में ऋतुओं के हिसाब से १२ महीनों के नाम दिये हुए हैं ✽। अतः प्रश्न है कि इन महीनों की संधियों को वे कैसे जानते थे? वे कैसे जानते थे कि मधुमास आज बीत गया और माधव लगा, तथा आज माधव बीतने पर वसन्तऋतु ख़तम हुई? वेदों में इसी तरह दोनों अयनों का भी वर्णन है॰। यह भी कैसे जाना जाता था कि आज उत्तरायण समाप्त हुआ और दक्षिणायन लगा? इसके लिए तो उनको अयनों का बहुत ही सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। अयनों का सूक्ष्म ज्ञान इसलिए भी होना चाहिये कि वे उत्तरायण को मोक्षदाता मानते थे। वे हमेशा कहते थे कि **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** अर्थात् उत्तरायण के लिए परमेश्वर की भक्ति के सिवा और कोई दूसरा पन्थ नहीं है। दोनों पन्थ शास्त्रों में कहे गये हैं। दक्षिण अयनवाले चन्द्रलोक को जाकर फिर जन्ममरण के फेर में पड़ते हैं, परन्तु उत्तरायणवाले सूर्यलोक को जाते हैं और फिर नहीं आते। ऐसे बड़े काम के मुहूर्त (क्षण) को जिसमें दोनों अयन जुदा होते हैं, उन्होंने न जाना हो यह नहीं कहा जा सकता।

ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में मार्टिन हाग कहते हैं कि 'जो यज्ञ साल भर चलता है वह सौर जगत् की वार्षिक परिक्रमा का रूप ही है। यह यज्ञ दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता है, जिसका प्रत्येक भाग तीस अंशों में छे छे मास का होता है। दोनों के बीच में जो दोनों अयनोंको काटता है, वह 'विषुवान्' नामी दिन है'+। इससे ज्ञात होता है कि आर्यों को दोनों अयनों का और वर्ष समाप्त होनेवाले दिन का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी से उन्होंने उसका नाम विषुवान् रक्खा था, क्योंकि यज्ञ सौर जगत् की आकृति के ही होते हैं। कहा भी है कि **'यज्ञो वै संवत्सरः'** अर्थात् यज्ञ संवत्सर ही है। यज्ञों में स्थापित इन्द्र, वरुण, कुबेर, गणेश और गौरी क्रम से अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी के रूप ही हैं। इन के प्रतिनिधि दीपक, कलश, अन्न, नवग्रह और गौरी आदि हैं। यह गौरी पृथिवी की प्रतिमा ही है। इसकी बनावट में अब तक पृथिवी के ध्रुवप्रदेश दबे हुए होते हैं। यज्ञों में अन्य ग्रह भी बनाए जाते हैं, जिनके स्थान में मन्थिन आदि पात्र रक्खे जाते हैं, जो ग्रहों के ही रूपक हैं। इस तरह से यज्ञ जगद्रूपी वर्ष का रूप ही है। वर्ष को अनुकूल बनाने के लिये ही यज्ञ होता है। अतः हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि आर्यों को ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान था और उसका उपयोग यज्ञों में होता था।

पाश्चात्य विद्वान् और कुछ एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि 'सायन गणना आर्यों की उपज नहीं है। क्योंकि आर्यों के प्राचीन साहित्य में राशियों के नाम नहीं हैं। बारह राशियाँ, उनके मेष वृषादि रूप और ३६५ दिन ६ घण्टे का वर्ष आदि आर्यों के नहीं हैं। आर्यलोग चान्द्र वर्ष और नाक्षत्र वर्ष जानते थे। नाक्षत्र वर्ष सायन वर्ष से कुछ मिनट बड़ा है। इसलिये २००० वर्ष में एक महीना आर्यों को पीछे खिसकाना पड़ता था। उनको विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त में जो 'नति' या तिर्यक्त्व है, उसका

✽ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू (१३।२५)। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू॥ (१४।६)
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (१४।१५)। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू॥ (यजु० १५।५७)

॰ द्वे सृती अश्रृणवं पितॄणामहं देवानामुत०। (यजु० १९।४७)
षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत। (अथर्व० ८।९।१७)

+ The satras which lasted for one year were nothing but an imitation of the sun's yearly course. They were divided into two distinct parts, each consisting of six months of 30 days each. In the midst of both was the Vishuvan i. e. the equator or the central day, cutting the whole satra into two halves. (Ait. Brah. Intro., p. 48.)

ज्ञान नहीं था। यहाँ के प्राचीन साहित्य में बारह राशियों के नाम नहीं मिलते हैं। इसलिये मेष, वृष आदि गणना ग्रीकों की है।'

इन बातों में से केवल इतना तो हमें भी स्वीकार है कि मेष, वृष आदि नाम हमारे पुराने ग्रन्थों में नहीं मिलते, पर इतने से क्या यह सिद्ध हो गया, कि हमको बारह राशियों के रूपों और उनके द्वारा उत्पन्न हुए वर्ष का ज्ञान नहीं था? वेदों में बारह राशियों के रूपों का वर्णन आया है॥। अभी हमने बारह सायन महीनों के नाम दो दो ऋतुओं के साथ फुटनोट में लिखे हैं। वेदों में बारह आदित्यों के नाम प्रसिद्ध हैं। शतपथ में आया है कि बारह आदित्य हैं, ये सबको देते हैं, इसलिए आदित्य कहलाते हैं+। पं० सत्यव्रत सामश्रमी इन बारह आदित्यों के नाम सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी, वृषाकपि, यम, अजएकपात् और समुद्र बतलाते हैं। यही बारह राशियों के नाम हैं। इस तरह से राशियों के नाम, उन के रूप और उन के मधु माधव आदि महीनों के नाम वेदों में लिखे हुए हैं। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्य सायन वर्ष जानते थे। अयनज्ञान जब उनको था, तो सायन का ज्ञान अवश्य ही था। क्योंकि सायन का अर्थ ही अयन के साथ होता है। अयनज्ञान के लिए पृथिवी का घूमना, राशिपथ, उसके बारह भाग, अधिमास, ग्रहण, ध्रुवों में छे मास की रात और दिन, क्रान्तिवृत्त, विषुववृत्त, नति और विषुवान् आदि का ज्ञान होना ही चाहिए। यदि इतनी बातें वेदों में हों, तो समझना चाहिए कि वैदिकों को सायन गणना याद थी। अतः हम दिखलाना चाहते हैं कि ये बातें वेदों में हैं। सबसे पहिले हम वेदों से पृथिवीके गोल होने और घूमने का वर्णन दिखलाते हैं। ऋग्वेद में लिखा हैं कि--

> चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण। (ऋ० १।३३।८)

अर्थात् पृथिवी गोलाकार है। इस का आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है और आधा भाग अन्धकारावृत रहता है। यह सूर्य के ही आकर्षण से ठहरी है। पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है, इस बात का वर्णन ऋग्वेद में दूसरी जगह इस प्रकार है कि 'उक्षाधार पृथिवीं उत द्याम्' अर्थात् पृथिवी सूर्य के आधार पर ठहरी है। वेद में दूसरी जगह स्पष्ट ही लिखा है कि 'दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः'। अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किये हुए है। तीसरी जगह ऋ० १०।१४९।१ में है कि 'सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात् अस्कम्भने सविता द्यामदृंहत'। अर्थात् निराधार प्रदेश में सूर्ययन्त्र द्वारा पृथिवी घूम रही है और उसी ने ग्रहों को दृढ किया है। अथर्ववेद में पृथिवीके घूमने के विषय में है कि-- (अथर्व० १२।१।५२)

> यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि। वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्तावृत्ता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि। (अथर्व०)

अर्थात् जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्तावृत्ता होते हैं और जिसके ३० दिन और १२ महीने धाम हैं, वह हमारी रक्षा करे। यहाँ स्पष्ट भूमि और पृथिवी के साथ वृत्तावृत्ता दो बार आया है, जिससे दैनिक और वार्षिक गतियाँ स्पष्ट होती हैं। यहाँ इस वृत्त शब्द का अर्थ चक्कर ही है। जिस मार्ग होकर पृथिवी साल भर में घूम आती है, वही राशिपथ है। उस को वैश्वानर कहते हैं। वेद में लिखा है कि--

---

॥'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं'। यह मेष वृषादि १२ आकृतियों का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि मेष, वृष आदि नाम यहाँवालों ने ही रक्खा होगा और यहाँ से ही ग्रीकों ने लिया होगा।

+कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति। (शतपथ ब्राह्मण १४।३।५।६-७)

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः। (अथर्ववेद ८।९।६)

अर्थात् वैश्वानर राशिपथ के ऊपर जो स्थान है, उससे सूर्य छे भाग एक ओर और छे भाग दूसरी ओर रहता है। इसी से ध्रुवों में छे मास की रात और छे मास का दिन होता है। इस वैश्वानर नामी राशिचक्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी आया है कि—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलन्। (बाल० सर्ग ६०)

अर्थात् गगन में वैश्वानर पथ के बाहर बहुत से चमकीले नक्षत्र हैं। इस पर राम नामक टीकाकार कहता है कि ज्योतिषूचक्रमार्ग से बाहर सब नक्षत्र प्रकाशित हैं। यह ज्योतिषूचक्रमार्ग राशिचक्र ही है। इस राशिपथ के १२ भाग हैं। ऋग्वेद में है कि-

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचला सः। (ऋग्वेद १।१६४।४८)

अर्थात् १२ भागों में विभक्त ३६० अंश का एक चक्र (संवत्सर का क्षेत्र) होता है। जिसमें सर्दी, गर्मी, वर्षा तीन नाभियाँ हैं। मन्त्र कहता है कि इस चक्र के ३६० अंश अचल हैं। इससे ये सावनदिन नहीं, प्रत्युत सायनदिन प्रतीत होते हैं। यही मन्त्र अथर्व में पाठभेद से इस प्रकार आता है।

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये। (अथर्व० १०।८।४)

इसमें शङ्कु और खीला बताकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह ज्योतिष् का चक्र बिलकुल सायन है। इस चक्र का वर्णन महाभारत में भी इस तरह है-

चतुर्विंशतिपर्वं त्वां षण्णाभि द्वादशप्रधि।
तत्त्रिषष्टि शतं वै तु चक्रं पातु सदागतिः॥ (वनपर्व अ० १३३)

अर्थात् हे राजन्! वह चक्र तुम्हारा कल्याण करे, जिसमें २४ पर्व, ६ नाभियाँ, १२ घेरे और ३६० आरे हैं। यह वही चक्र है, जिसका वर्णन वेद में किया गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यह चक्र बहुत पुराना है और वैदिक साहित्य में पाया जाता है। इस चक्र से आकाशस्थ ग्रहों के वेधने का चक्र उत्पन्न होना असंभव नहीं है। ऐसे एकाध चक्र के विना सूर्य की प्रदक्षिणा और उत्तर गति का सूक्ष्म ज्ञान एवं दिशाओं का भी सूक्ष्म ज्ञान होना संभव नहीं है। इतिहास से सिद्ध है कि भारतकाल में आर्यों को इन दोनों बातों का सूक्ष्म ज्ञान हो गया था'। इसी चक्र से चान्द्रवर्ष का अन्तर ज्ञात होता था और तेरहवें महीने की योजना हुई थी। क्योंकि राशिचक्र का यदि सूक्ष्म ज्ञान न हो जाता, तो वैदिक आर्यों को अधिक मास या १३ वें मास का ज्ञान न होता। ऋग्वेद में लिखा है कि 'वेद मासो धृतव्रतो' और अथर्व० १३।३।८ में है कि 'अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते'। अर्थात् ३० दीन का महीना मानने से १३ वाँ महीना मानना पड़ता है। इस वर्णन से ऊपरवाले चक्र को नहीं कहा जा सकता कि वह चान्द्र है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य को बारह दिन और बारह रात्रि तक ठहरकर साल पूरा करने की विधि लिखी है ×। इसलिए वैदिक आर्य सायन गणना जानते थे। यदि वे सायन गति न जानते, तो ग्रहण न जान सकते। परन्तु वेदोंमें ग्रहण का वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि-

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्। गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः। (ऋ० ५।४०।५-६)

अर्थात् हे सूर्य! तुम्हें चन्द्रमा ने जो अन्धकार से घेर लिया है, इससे ज्योतिष् और रेखागणित न जाननेवाले मुग्ध हो रहे हैं। द्यौलोक में तुम्हारा प्रकाश है, उसको

× द्वादश द्यून् यदगोह्य। (ऋग्वेद ४।३३।७)

*

चन्द्रमा ने आच्छादित कर दिया है। इसलिए विद्वान् लोग सूर्य को तुरीययन्त्र से देख सकते हैं। यहाँ साफ़ कह दिया है कि जो रेखागणित नहीं जानता, वह अक्षेत्रविद् है और ग्रहण से मुग्ध हो जाता है। पर जो विद्वान् है, वह गणित करके देख लेता है कि किस दिन चन्द्र सूर्य के ऊपर आ जावेगा और यह घटना पृथिवी के किस स्थान से दिखेगी। ग्रहण का समय किसी प्रकार नहीं मालूम हो सकता, जब तक पृथिवी और चन्द्रमा की चालें ठीक न मालूम हों और जब तक अक्षांशज्ञान न हो। इस ऋग्वेद की घटना का वर्णन समस्त प्राचीन ग्रन्थों में आया है। यहाँ हम उनमें से नमूने के लिए कुछ प्रमाण लिखते हैं।

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः। सूर्यं तमसा विव्याध।
(शतपथ ५।३।२।२)

स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसाविध्यत्।
(गोपथ ३।१९)

स्वर्भानुर्वा आसुरः आदित्यं तमसाऽविध्यत्।
(ताण्डय। ४।५।२)

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
(ऋग्वेद ५।४०।५)

अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम्।
(वाल्मीकि० यु० स० १०२।३)

ये पाँचों वाक्य उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों का ही आशय कह रहे हैं। इन सब का मतलब यही होता है कि सूर्य को स्वर्भानु (चन्द्रमा) अपने अन्धकार से छिपा देता है। सारांश यह कि वैदिकों को ग्रहण का पूर्ण ज्ञान था। ज्ञान ही नहीं था, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने सायनगणना के लिए वेधशाला के राशिचक्र का निर्माण किया था, उसी तरह ग्रहण देखने के लिए तुरीययन्त्र का भी आविष्कार कर लिया था। इस तुरीययंत्र का वर्णन भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में किया है + और शिल्पसंहिता में तो दूरबीन बनाने का भी विस्तारसे वर्णन है। वहाँ लिखा है कि-

मनोवाक्यं समाधाय तेन शिल्पीन्द्र शाश्वतः।
यन्त्रं चकार सहसा दृष्ट्यर्थे दूरदर्शनम्॥
पलालाग्नौ दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरं।
शोधयित्वा तु शिल्पीन्द्रो नैर्मल्यं क्रियते च।
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सूपविष्कृतं॥
वंशपर्वसमाकारं धातुदण्डप्रकल्पितम्।
तत्पश्चादग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः॥
(शिल्पसंहिता)

अर्थात् दूर तक देखने के लिए इस प्रकार का यन्त्र बनाना चाहिए कि पहिले मिट्टी को जलाकर काँच तैयार करे। फिर उसको साफ़ करके उस स्वच्छ काँच को बाँस या धातु की नली में (आदि, मध्य और अन्त में) लगाकर देखे। यह तुरीययन्त्र की भाँति ही ग्रहों के देखने में काम आता है। इस तमाम वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकों को ग्रहण जानने का ज्ञान था। यदि ग्रहण न जान सकते होते, तो उन्हें कैसे मालूम होता कि सूर्य को चन्द्रमा ढकता है? क्योंकि सूर्यग्रहण हमेशा अमावास्या को ही होता है, जिस दिन चन्द्रमा का कहीं पता ही नहीं रहता, सो भी दिन के समय और हर अमावास्या को नहीं, किन्तु कभी कभी। कभी किसी अमावास्या के रोज़ दिन के समय सूर्य को चन्द्र से ढकनेवाले सूर्यग्रहण की कल्पना, सो भी तुरीयन्त्र के द्वारा, क्या कभी आकस्मिक हो सकती है? कभी नहीं। इसके सिवा वेदों में ध्रुवप्रदेश में होनेवाले छे छे मास के दिनरात का भी वर्णन है, जिससे प्रकट हो जाता है कि याज्ञिक ज्योतिषियों को सायन गणना का पूरा ज्ञान था।

अभी हमने दिखलाया था, कि अथर्ववेद ८-९-६ के 'वैश्वानरस्य प्रतिमा' मन्त्र में बतलाया गया है, कि वैश्वानर राशिपथ पर घूमती हुई, पृथिवी में छे मास की रात और छे मास के दिन होते हैं। इसी विषय का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में आया है, कि 'एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः' अर्थात् मनुष्यों का संवत्सर देवताओं के एक दिन के बराबर है। यह

+ दृगुच्चमूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रन्ध्रे।
विलोकयेत्खेचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये॥ (सिद्धांतशिरोमणि)

देवताओं का दिन ध्रुवप्रदेशों में ही होता है। वैदिक काल में ही आर्यों को इसका ज्ञान था। किन्तु ईस्वी सन् पूर्व ४५० वर्ष तक ग्रीकों को इस बात का ज्ञान नहीं था। **'आर्यों का उत्तरध्रुव-निवास'** में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'हीराडोटस् नामक ग्रीक इतिहासज्ञ के समय (४५० ई० पूर्व) में लोगों को यह बात असत्य मालूम होती थी कि इस पृथिवी पर लोग छे मास की भी रात मानते हैं'। इससे ज्ञात होता है कि ध्रुवों में छे मास की रात और छे मास का दिन मालूम करना ज्योतिष् और भूगोल के महान् सूक्ष्म ज्ञान पर ही अवलम्बित है। जब तक क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त के चलाचल का ज्ञान न हो, तब तक ध्रुवका का हाल मालूम ही नहीं होता। क्रान्तिवृत्त राशिचक्र है, जो अचल है। परन्तु विषुववृत्त पृथिवी की गोलाई की रेखा है, जो नति अर्थात् पृथिवी के झुकाव के कारण चला करती है। इन्हीं दोनों से रातदिन का घटाव बढ़ाव, रातदिन की बराबरी और सायन वर्ष होता है। वैदिक आर्यों में ध्रुव का ज्ञान होने से इन सब बातों का ज्ञान पाया जाता है। अतएव सिद्ध है, कि वैदिक आर्य सायनगणना अच्छी तरह जानते थे।

उनको नति का भी ज्ञान था। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त के बीच में लगभग २२॥ अंश का जो कोण है, उसे नति कहते हैं। लोकमान्य तिलक कहते हैं, कि 'प्रोफ़ेसर लड्विगके कथनानुसार ऋग्वेदमें क्रान्तिवृत्त और विषुत्ववृत्त की नति अर्थात् तिर्यक्त्व का उल्लेख है' ×। नति का सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही ध्रुवों का हाल मालूम हो सकता है और तभी सायन गणना ठीक हो सकती है। ग्रीक लोगों को ध्रुव का ज्ञान नहीं था। इससे पाया जाता है कि वे क्रान्ति वृत्त का रहस्य नहीं जानते थे, किन्तु आर्य लोग जानते थे। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि आर्यों ने सायन गणना ग्रीकों से सीखी?

वैदिक आर्यों का वर्ष हमेशा सायन था और वह वसन्त ऋतु से ही आरम्भ होता था। तैत्तिरीय में लिखा है कि '**मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः**'। अर्थात् वसन्त ऋतु सब ऋतुओं का मुख है। इसके विषय में 'ओरायन' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यह मानने में लेशमात्र हरज नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में, जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था, तभी वर्ष का आरम्भ होता था'। इससे सिद्ध है कि वैदिक आर्यों का वर्ष सायन था। क्योंकि सायन गणना में ही वर्ष ऋतुओंवाला होता है और ऋतुएँ अयनोंवाली होती हैं। हम पहिले ही कह आये हैं कि ऋतुओं की सन्धियों में यज्ञ करने के लिये और उत्तरायण को मोक्षसाधक मानकर उसकी प्रतीक्षा करने के लिए उनको अयनचलन का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो गया था। सूक्ष्म ज्ञान से ही वे वर्ष के मध्य का दिन निकाल सकते थे और उसी दिन से वसंत ऋतु का आरम्भ मान करके वर्ष का आरंभ करते थे। यह सब कुछ बिना अयनगति और राशिचक्र के ठीक ठीक ज्ञान के हो ही नहीं सकता।

ग्रीकों को इतना सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। उनके विषय में लोकमान्य तिलक 'ओरायन' में कहते हैं कि 'दूसरे सर्व राष्ट्रों से पूर्व और विशेष सूक्ष्मता से अयनगति को भारतवासियों ने ही जाना था। ग्रीक ज्योतिषशास्त्रज्ञ हिपार्कस्ने इस अयनगति को प्रतिवर्ष कम से कम ३६ विकला माना है, परन्तु इस समय वह ठीक ५०। विकला है और भारतीय ज्योतिर्विदों के हिसाब से वह ५४ विकला है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीयों ने अयनगति ग्रीकों से नहीं लिया। इस अयनगति को भारतीय ज्योतिषियों ने स्वयं ढूँढ निकाला है, इसमें ज़रा भी शक नहीं।' हमारा तो विश्वास है कि यह ज्ञान ग्रीकों ने भारत से ही सीखा है। भारतवासी 'पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं' के अनुसार बारह राशियों की आकृतियों को जानते थे। वे उन्हें प्रतिमा अर्थात् नाप बतलाते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि निस्संदेह मेष, वृष आदि राशियों के नाम भी यहाँवालों ने ही रक्खे हैं

× Prof. Ludwig goes further and holds that the Rigveda mentions the inclination of the ecliptic with the equator (1. 110. 12) and the axis of the Earth (10. 89. 4). (Orion, p. 158.)

और पीछे से उन आकृतियों के नामों का ग्रीकों ने अनुवाद कर लिया है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि यहाँवाले राशिचक्र, अयनगति और सायन वर्ष वैदिक काल से ही जानते थे। क्योंकि उनको यज्ञ में ज्योतिष्के सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता होती थी।

इस वैदिक ज्ञान से ऋषियों ने अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा ज्योतिष्सम्बन्धी जो सूक्ष्म ज्ञान आविष्कृत किया था, वह समय की अस्थिरता है। समय जिसे काल कहते हैं, वह पानी की धारा की भाँति अटूट बहता है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान की रेखा नहीं खींची जा सकती। कोई नहीं कह सकता कि इतने बजकर इतने मिनट और इतने सेकंड पर वर्ष समाप्त हुआ और नया लगा। क्योंकि काल प्रवाह का अबाधित गति से बह रहा है। यज्ञों के लिए ऋषियों को वर्ष का कोई एक ऐसा दिन मुक़र्रर करना पड़ता था, जिससे वे छे छे महीने के दोनों अयनों को बाँट दें। उन्होंने उस दिन का नाम विषुवान् रक्खा था और उसको निश्चित भी कर दिया था। पर कालप्रवाह अस्थिर है, यह सोचकर उन्होंने गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि संवत्सर का विषुवान् आत्मा है और दो महीने अंग हैं। जहाँ आत्मा वहाँ अंग और जहाँ अंग वहाँ आत्मा है। आत्मा अंगों से अलग नहीं और अंग आत्मा से अलग नहीं। इसी तरह इधरवाले दिनों का वह पसीना है जो उधरवाला है और उधरवाले दिनों का यह पसीना है जो इधरवाला है। यही संवत्सर है *।

कितना सूक्ष्म विज्ञान है? वे यह मानते हैं कि दो महीनों के बीच में कोई स्थान है, जो दोनों का आत्मा है। पर उसका नियंत्रण नहीं हो सकता, इसलिए कभी जरासा इस ओर और कभी जरासा उस ओर हो जाता है। क्योंकि दोनों खण्ड एक दूसरे का पसीना हैं। रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यज्ञों में प्राची दिशा का साधना आवश्यक है और वर्षसत्र करते समय विषुवदिवस जानने का बड़ा माहात्म्य है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्व के उदय होता है'। इस तरह से जहाँ वर्ष स्थिर करने के लिए, विषुवान् दिन नियत करने के लिए, वसंतसम्पात कायम करने के लिए और मोक्षदायक उत्तरायण जानने के लिए इतना सूक्ष्म विचार हो, वहाँ कौन कह सकता है कि वेदों की पूर्ण शिक्षासे आगे बढने, विचार सकने और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों के निश्चित करने का ज्ञान नहीं होता?

दूसरी सूक्ष्मता है सूर्य के उदय अस्त की। आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि सूर्य का उदयास्त वैदिक काल में आजकल की भाँति ज्ञात नहीं था, परन्तु यह बात नहीं है। ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि न सूर्य कभी अस्त होता है और न उदय होता है। वह सदैव बना रहता है। परन्तु जब पृथिवी से छिप जाता है, तब रात्रि हो जाती है और जब पृथिवी उसकी आड से हट जाती है, तो दिन हो जाता है। यही बात डॉक्टर हॉगने ऐतरेय ब्राह्मणके अनुवादमें स्वीकार की है ×। ऐसी दशामें कौन कह सकता है कि खगोलिक भूगोल का सूक्ष्म ज्ञान उन्होंने नहीं आविष्कृत किया था? इसी तरह पृथिवी का आकर्षण भी उन्होंने ज्ञात कर लिया था। भास्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कोई भी भारी पदार्थ ऊपर की ओर फेंकने से वह नीचे गिर जाता है।

---

* आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासौ, यत्र वा आत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा। न वा आत्माऽङ्गान्यतिरिच्यते नोऽङ्गान्यात्मानमतिरिच्यन्ते। इत्येवमु हैव तदपरेषां स्त्रिदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः। (गोपथ० ४। २९)

× स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति……अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिम् परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्लोचति न ह वै कदाचन निम्लोचति। (ऐतरेय० ३। ४। ६)

The Aitareya Brahmana explains that the sun neither sets nor rises, that when the Earth, owing to the rotation on its axis is lighted up, it is called, and so on. (Haug's Aitareya Brahmana, Vol. 11, p. 243.)

इससे सिद्ध है कि पृथिवी में आकर्षण है +। लोग इस आकर्षणके आविष्कार का श्रेय न्यूटन् को देते हैं, पर न्यूटन् के सैकडों वर्ष पूर्व यह ज्ञान यहाँ उत्पन्न हो चुका था। इसी तरह ग्रहों के आकर्षण की जो दूसरी बात समुद्र में ज्वारभाटे की है, वह भी आर्यों को ज्ञात थी। विष्णुपुराण में लिखा है कि यथार्थ में ज्वारभाटा से समुद्र का जल कम और अधिक नहीं हो जाता, प्रत्युत अग्नि पर थाली में जल रखने से जिस प्रकार वह उमड पडता है, उसी तरह चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वारभाटा होता है। ॐ ज्योतिष् का सूक्ष्म गणित बीजगणित के विना सरलता से नहीं हो सकता। अतः आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष् के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम् लिखते हैं कि 'बीजगणित और रेखगणित का आविष्कार तथा ज्योतिष् के साथ उनका उपयोग सबसे प्रथम हिंदुओं के ही द्वारा हुआ है' ☙।

यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले ज्योतिषज्ञान की बदौलत ऋषियों को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त हुआ था। यज्ञों में जिस प्रकार पदार्थों के गुण और समय के प्रभाव के ज्ञान की आवश्यकता होती थी, उसी तरह यज्ञके लिए दिशा और देशके ज्ञान की भी आवश्यकता होती थी।

यज्ञों में कला--कौशल्य, कृषि और पाकशास्त्र।

आजकल जिसको 'इण्डस्ट्री' कहते हैं, वैदिक काल में उसी को शिल्पशास्त्र अथवा कलाज्ञान कहते थे। इसके जाननेवाले विश्वकर्मा या शिल्पी कहलाते थे। यज्ञमण्डप, कुण्ड, यज्ञपात्र, शस्त्रास्त्र, शकट और रथ आदि जितने कारीगरी से सम्बन्ध रखनेवाले याज्ञिक पदार्थ हैं, सबका समावेश उक्त शास्त्र में किया जा सकता है। यज्ञपात्र मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, वांस्य लकड़ी, ताँबा, पीतल, सोने और चाँदी आदि के होते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार के अन्नों और ओषधियों की भी आवश्यकता होती थी। इसलिए उनके उत्पन्न करने में जिन औज़ारों की आवश्यकता होती थी, वे भी बनाये जाते थे। हल, फाल आदि जोतने के, चक्र आदि पानी निकालने के, और ज़मीन खोदने, काटने, पटिने, पीसने, कूटने आदि के सभी यंत्र बनाये जाते थे। इसी तरह यज्ञरक्षा के लिए बाणों से लदी हुई गाड़ियाँ और रथ भी होते थे। उनके बनाने के भी सब साधन थे। पंच महायज्ञों के स्रुवा, प्रणेता से लेकर अश्वमेध यज्ञ के युद्ध उपकरणों तक सभी कारीगरी के पदार्थ बनाये जाते थे। वीणा, मृदङ्ग आदि संगीत के, शङ्ख, घण्टा आदि उत्सव के और रणभेरी आदि युद्धों के वाद्य भी बनाए जाते थे। कहने का मतलब यह कि वैदिक काल के याज्ञिक पदार्थ संख्या में बहुत थे। एक चक्रवर्ती राजा से लेकर एक साधारण किसान तक के आवश्यक यंत्र और शस्त्रास्त्र तैयार होते थे। कपास और उर्ण वस्त्रों की भी यज्ञों में आवश्यकता होती थी। क्योंकि पुरुषों और स्त्रियों को अधो और उत्तरीय वस्त्र पहनकर यज्ञ में आना पड़ता था। इसी तरह सत्तू छानने के लिए उर्ण सूत्र से मढ़ी हुई तितउ (छानती) और शूर्प की भी आवश्यकता होती थी। वस्त्रों के बुनने और सूत कातने के औजार भी बनाये जाते थे। कहाँ तक गिनावें, सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ उपस्थित थे और सब यज्ञों के ही लिए थे, शौक़ के लिए नहीं।

उन दिनों में कारीगरी का मान भी बहुत था। यजुर्वेद में 'कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः' के अनुसार कुम्हार और बढ़इयों से लेकर जितने कारीगर हैं, सबके लिए आदर और अन्न की व्यवस्था बतलाई गई है। शिल्पियों और रथकारों को यज्ञ में शरीक होने का भी आदेश है और इनका दर्जा ब्राह्मणों के बराबर दिया गया है। इसीलिए उस समय के आर्य कलाकौशल के द्वारा

+ आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समं समन्तात् क पतत्वियं खे। (गोलाध्याय)

ॐ स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा। तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तम। (विष्णुपुराण)

☙ To the Hindus is due, the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy. (Indian Wisdom, p. 185.)

विश्वविजयी होकर 'अश्वमेध' कर सकते थे। क्योंकि कलाकौशल की महिमा महान् है। इस कलाकौशल में यज्ञों के पात्रों की बड़ी महिमा है। उनके बनाने में बड़ी कारीगरी है। वे पदार्थों के रखने और यज्ञ का काम चलाने के लिए बनाये जाते थे। इसलिए इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता था कि उनका अच्छी तरह उपयोग हो सके। इन पात्रों में बहुत से खाद्य द्रव्य भी रक्खे जाते थे। क्योंकि यज्ञों में पाकशास्त्र का भी विशेष स्थान है। पाक का सम्बन्ध कृषि से है, इसलिए यहाँ कृषि और पाक का वर्णन भी होना आवश्यक है।

यज्ञोंमें ओषधियों के अतिरिक्त जौ, चावल, तिल, सत्तू, हवि, करम्भ, मालपुआ और भात आदि का भी हवन होता है। बगीचोंके अनेक मेवों और जंगलों की अनेक जड़ी बूटियोंका भी हवन होता है। दोनोंका कृषिसे सम्बन्ध है, इसलिए यज्ञोंके प्रकरणमें कृषि का स्थान बहुत विशेष है। वेदों में खेती का वर्णन विस्तार से आया है, तथा अनेक प्रकार के अन्नों के नाम भी आते हैं। वहाँ लिखा है कि '**सीरा युञ्जन्ति कवयः, अर्वाची सुभगे भव सीते, युनक्तु सीरा, शुनं वाहा शुनं फाल।**' अर्थात् बड़े बड़े विद्वान् हलों को गोड़ते हैं। हे हल की फाल! हमारे लिए कल्याणदायक हो। हल को चलाओ, बैलों और हल की फाल को चलाओ। इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में है कि '**यत्र वा अस्यै बहुलता ओषधयः तदास्या उपजीवनीयतमम्**' अर्थात् जहाँ ओषधियों की बहुलता होती है, वहीं जीवन का साधन-अन्न-उत्पन्न होता है। कृषि के अतिरिक्त बाग़बग़ीचे लगाना भी एक प्रकार का यज्ञ ही कहा गया है। इस यज्ञ का नाम '**इष्टापूर्त**' है। इष्टापूर्त में कुँआ और तालाब बनवाना तथा बाग़बग़ीचे लगाना सम्मिलित है। बाग़ों से ही काष्ठ और यज्ञोपयोगी फल मिलते हैं। रहे जंगल, वे तो यज्ञों की जान ही हैं। वेदों में जंगलों का विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त बड़े महत्त्व का है। आर्यों का एक आश्रम ही जिसका नाम वानप्रस्थ आश्रम है, बिलकुल ही जंगलों के आधार पर स्थित है। वनस्थों को नित्य फलमूल से यज्ञ करने का विधान किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि '**स्वादोः फलस्य जग्ध्वा, बहन्नम् कृषीबलम्**' अर्थात् जंगलों से सुस्वादु फलों की और विना खेती के ही बहुत से अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए यज्ञ के साधनों में खेती, जहाँ से हवनीय अन्न मिलते हैं, बग़ीचे, जहाँ से समिधा मिलती हैं और अरण्य, जहाँ से ओषधियाँ और नाना प्रकार की मेवा प्राप्त होती हैं, बहुत आवश्यक हैं। अन्न, समिधा और मेवोंसे ही पाक बनते हैं। अतः यज्ञोंमें पाकशास्त्र का भी महत्त्व कम नहीं है।

यज्ञों के लिए वेदों में हवि, करम्भ, सत्तू और मालपुए तथा ओदन बनाने का वर्णन आता है। यजुर्वेद २०। २९ में 'धानावन्तं करम्भिणं' मन्त्र आया है, जिसका अर्थ यह है कि हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे धानवाले पदार्थ, दहीमिश्रित सत्तूवाले करम्भ और मालपुएवाले उक्थ के पुरोडाश का सेवन कीजिये। अथर्ववेद में ओदन तथा यजुर्वेद में हवियों का वर्णन भी आता है। इसलिए वैदिक याज्ञिक पाकशास्त्र में बहुत ही कुशल प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि आर्यों के धर्मानुसार और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार तो जो कुछ पकाया जाय, वह यज्ञ के ही लिए पकाया जाय, अपने लिए नहीं। क्योंकि लिखा है कि '**जो केवल अपने लिए पकाता है, वह निरा पाप खाता है**'। अतः यज्ञशिष्ट ही खाना चाहिए। यज्ञ का प्रसाद ही अपनी खुराक है। यह भी इसलिए कि यदि इसमें इतना भी मनुष्य का स्वार्थ न होगा, तो वह हवनीय पदार्थों को उत्तमता के साथ न पकावेगा। अर्थात् जैसे तैसे बना डालेगा। पर पुरोडाश-प्रसाद-पाने के लोभ से उत्तम बनावेगा। पाक की उत्तमता खाने से ही मालुम होगी और यदि त्रुटि होगी, तो वह दूसरे दिन दूर की जा सकेगी। इसलिए प्रसाद के तौर पर यज्ञान्न खाया जाता है। अन्यथा वैदिकों की असली खुराक तो फल और दूध ही है। दूध के विना घृत और दधि प्राप्त नहीं हो सकता और विना दूध घृत के हवि, अपूप, करम्भ आदि बन नहीं सकते हैं। दूध, घृत आदि पशुओं से प्राप्त होते हैं, अतः यज्ञ में पशुपालन भी एक प्रधान कार्य है।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा ॥२४॥
वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥२५॥
वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥२६॥
य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥२७॥

अर्थ- (एकः युधः संसृजति) एक योद्धा व्यवस्थाको उत्पन्न करता है। (यः अस्याः इत् वशी एकः) जो इस गौका एक ही वश करनेवाला है। (यज्ञाः तरांसि अभवन्) यज्ञ पार करनेवाले हैं, और (तरसां चक्षुः वशा अभवत्) पार होनेवालों की आंख गौ बनी है। गौकी सहायतासे सब लोग दुःखोंसे पार होते हैं ॥ २४ ॥

(वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णात्) वशा गौ यज्ञ स्वीकारती है, (वशा सूर्यं अधारयत्) वशा गौने सूर्य धारण किया है । (वशायां ओदनः अविशत्) गौमें भात अन्न प्रविष्ट है और वह (ब्रह्मणा सह) ज्ञानके साथ प्रविष्ट हुआ है। गौके आधारसे यज्ञ, अन्न और ज्ञान सुरक्षित रहते हैं ॥ २५ ॥

(देवाः वशां अमृतं आहुः) देव गौको अमृत कहते हैं, (वशां मृत्युं उपासते) गौको मृत्यु समझकर उपासना करते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) गौ हि यह सब हुई है, अर्थात् (देवाः मनुष्याः असुराः पितर ऋषयः) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि यह वशाकाही रूप है ॥ २६ ॥

(यः एवं विद्यात्) जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, (सः वशां प्रति-गृह्णीयात्) वह वशा गौका दान लेवे । तथा वशा गौके दाता को (यज्ञः सर्वपात् अनपस्फुरन् दुहे) यज्ञ सब प्रकारसे सफल होकर विचलित न होता हुआ सुयोग्य फल प्रदान करता है ॥ २७ ॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८॥
चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः ।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥२९॥
वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३०॥
वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥३१॥

अर्थ- (वरुणस्य आसनि अन्तः तिस्रः जिह्वाः) वरुण के मुखमें तीन जिह्वाएं (दीद्यति) चमकती हैं। (तासां मध्ये या राजति) उनके बीच में जो विशेष चमकती है, (सा वशा) वह वशा गौ ही है, अतः वह (दुष्प्रतिग्रहा) दानमें स्वीकार करना कठिन है ॥ २८ ॥

(वशायाः रेतः चतुर्धा अभवत्) वशा गौका वीर्य चार प्रकारसे विभक्त हुआ है। (आपः तुरीयं) आप् चतुर्थ भाग है, (अमृतं तुरीयं) अमृत अन्न चौथा भाग है, (यज्ञः तुरीयं) यज्ञ चौथा भाग है और (पशवः तुरीयं) पशु चौथा भाग है। यह सब वशा का चतुर्धा वीर्य है ॥ २९ ॥

(वशा द्यौः) वशा द्यौ है, (वशा पृथिवी) वशा ही पृथिवी है, (वशा प्रजापति विष्णुः) वशा ही प्रजापालक विष्णु है। ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं, वे (वशायाः दुग्धं अपिबन्) वशा गौका दूध पीते हैं ॥ ३० ॥

(ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं वे (वशायाः दुग्धं पीत्वा) वशा गौका दूध पीकर पश्चात् (ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि) वे स्वर्गके स्थानमें (अस्याः पयः उपासते) इसके दूधकी प्राप्ति करते हैं ॥ ३१ ॥

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥३२॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥३३॥
वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति ॥३४॥ (३५)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५॥

॥ इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(एनां सोमं एके दुह्रे) इससे सोमका कईयोंने दोहन किया है,(एके घृतं उपासते) कई इससे घृतकी प्राप्ति करते हैं। (एवं विदुषे वशां ददुः) जो इस प्रकारके विद्वान् को गौका प्रदान करते हैं, (ते दिवः त्रिदिवं गताः) वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा) ब्राह्मणोंको वशा गौ देकर (सर्वान् लोकान् सं अश्नुते) सब लोकोंको प्राप्त करते हैं। (अस्यां ऋतं ब्रह्म अथो तपः हि आर्पितम्) इसमें ऋत, ज्ञान, तप आश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

(देवाः वशां उपजीवन्ति) देवताएं वशा गौपर उपजीवन करती हैं (उत मनुष्याः वशां) और मनुष्यभी वशा गौपर ही जीवित रहते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) वशा गौ ही यह सब हो गयी है (यावत् सूर्यः विपश्यति) जहां तक सूर्य का प्रकाश पहुंचता हैं ॥ ३४ ॥

पंचम अनुवाक समाप्त ।

दशम काण्ड समाप्त ।

सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्म।

सूक्त ७ से सूक्त १० तक का स्पष्टीकरण किया नहीं,वह अब संक्षेपसे करना है।

सूक्त ७ और ८ में सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है और यह विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है।

प्रथमके २२ मंत्रोंतक 'कतमः स्वित् एव सः' वह देव कौनसा है? ऐसा प्रश्न किया है। उस एक सर्वाधार देवताके विषयमें किसीको संदेह नहीं है, उसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें करते हैं और अन्तमें पूछते हैं, कि 'वह देव, जिसका की यहांतक वर्णन हुआ है, वह कौनसा है।' इस उपदेश की अपूर्व विधिका तात्पर्य यह है कि, जिसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें अथवा मंत्रभागोंमें किया गया है, वह देव कहां है, उसका अनुभव पाठक लेवें। जो श्रेष्ठ ब्रह्म है, उसका वर्णन मंत्रों में किया है, वह अनुभवमें आने योग्य है, मनुष्यका जन्म ही इस कार्यके लिये है। अब देखिये इस वर्णन का अनुभव कैसा आ सकता है।

प्रथम मंत्रमें " तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा, और सत्य किस अंग या अवयवमें रहता है," यह पूछा है। मनुष्यके किस अंगमें 'सत्य' रहता है? पाठक सोचें और अपने अन्दर देखें, तथा अनुभव लें, कि अपने अन्दर कहां किस स्थानमें सत्य रहता है, वही आत्मा है, यह निश्चयसे पाठक जान सकते हैं, आत्म-बुद्धि-मन-चित्त इस अन्तः करणचतुष्टय में हि सत्य श्रद्धा आदिका निवास है।

आगे मंत्र २, ३ और ४ इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके किस अंगमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तारिक्ष, द्युलोक, उत्तर द्युलोक, जलप्रवाह ये रहते हैं इसकी पृछा की है।

पाहिले मंत्र में सत्य श्रद्धा आदिका स्थान मानव-व्यक्ति में पूछा है और अगले इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके देहके अग्नि वायु आदि देव किस अंगमें और किस अवयवमें रहते हैं, यह प्रश्न पूछा है। वेदमें व्यक्तिगत आत्मतत्त्व और विश्वगत आत्मतत्त्वका विचार विभिन्न रीतिसे नहीं होता है, यह पाठक यहां देखें। विश्वव्यापक आत्मतत्त्व का ज्ञान यथार्थ रीतिसे होनेके लिये इस वर्णन की शैली को यथावत् जानना चाहिये।

आगे मंत्र ५ और ६ कालस्वरूपका वर्णन है। इस कालस्वरूप के मास, पक्ष, ऋतु, अयन, अहोरात्र, पर्जन्यधाराएं (वर्षाकाल) सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं।

यहांतक पाठक देख सकते हैं कि प्रथम मंत्रमें वैयक्तिक सत्य श्रद्धा आदि गुण, आगेके तीन मंत्रोंमें पृथिव्यादि विश्वके पदार्थ और आगेके दो मंत्रोंमें काल के सब अवयव उसी एक सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं, ऐसा कहा है। यहां वैयक्तिक श्रद्धादि गुण व्यक्तिगत आत्माके आधारसे रहते हैं, ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत येभी विश्वात्माकेहि आधारसे रहते हैं, ऐसा कहा है।

जो संपूर्ण लोकलोकान्तरोंको धारण कर रहा है, वह प्रजापतिभी उसी सर्वाधार स्कंभमें आश्रित है, यह कथन मंत्र ७ में है। यहां प्रजापति नाम सर्वाधार विश्वात्माके आधार से रहनेवाले लोकपालक का है। अष्टम मंत्रमें कहा है, कि प्रजापति उच्च, मध्यम और कनिष्ट (सात्त्विक, राजस और तामस) विश्वके पदार्थ निर्माण करता है और इस तरह त्रिविध विश्वकी उत्पत्ति होते ही स्कंभ नामक जो सर्वाधार आत्मा है, वह उस त्रिविध विश्वमें प्रविष्ट होता है और अन्दर व्याप कर रहने लगता है। ऐसा होनेपर मंत्रमें प्रश्न पूछा है, कि इस तरह सर्वाधार आत्माका प्रवेश त्रिविध विश्वमें होनेके पश्चात् उस विश्वात्माके कितनेसे अंशने इस विश्वको व्यापा है और कितना विश्वात्माका भाग अवशिष्ट रहा है, जो इस विश्वके साथ संबंधित हि नहीं हुआ? अर्थात्—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋ० १०।९०)

एक अंशमात्रमें ये सब भूत हैं और शेष सब परमात्मा अपने स्वरूपमें विराजता है। यह अनंत विश्व यद्यपि हमारी दृष्टिमें अनन्त और अगाध है, तथापि परमात्मा की दृष्टिसे वह अत्यंत अल्प, अंशमात्र है। यही बात समझाने के लिये इस अष्टम मंत्रमें ये दो प्रश्न किये हैं, कि विश्वमें इसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ है और इसका शेष अंश कितना है? इसका उत्तर यही है, कि विश्व एक अल्पसा अंश है और शेष अनन्त परमात्मा है, जो इस विश्वसे बाहर है।

नवम मंत्रमें फिर पूछा है, कि भूतकालके विश्वमें कितना परमात्मा प्रविष्ट हुआ था, और भविष्यकालके विश्वमें कितना प्रविष्ट होगा, और वर्तमानकालीन विश्वमें कितना प्रविष्ट हुआ है? अर्थात् इनका उत्तर यही है, कि भूत, वर्तमान और भविष्य-

कालीन सब मिलकर विश्व एक अल्प अंशके बराबर है,विश्वके बडेपनसे परमात्माका बडापन अनंतगुणा है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है। इस मंत्रमें तीसरा चरण अत्यंत महत्त्वका है, वह यह है—

यत् एकं अंगं सहस्रधा अकरोत् ॥ (मं० ९)

" जो अपने एक अंगको सहस्रों भागोंमें विभक्त करता है। " जैसा सूर्यका विभाग होकर ग्रह और उपग्रह बने, पृथ्वीके विभाग हो कर स्थावर,जंगम,वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य बने। एक अंगके सहस्रों पदार्थ इस तरह बनते हैं। यही बात इसी सूक्तके २५ वें मंत्रमें इस तरह कही है—

बृहन्तो नाम ते देवाः ये असतः परिजज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

" वे बडे देव असत् से उत्पन्न हो चुके हैं और यह असत् सर्वाधार परमात्माका एक अंग ही है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं॥ "

स्कम्भ नाम सर्वाधार परमात्मा है, इसके दो अंग हैं। एक का नाम सत् और दूसरे का नाम असत् है। इन दोनों अंगोंका मिलकर नाम स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमात्मा है। इस स्कंभ के एक अंगसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु आदि सब लोक-लोकान्तर बने हैं,इसीका अर्थ "इसने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त कर दिया।' इस ९ म मंत्रमें स्पष्ट कह दिया है। पाठक इस तरह मंत्रका आशय जान सकते हैं। शतपथादि ब्राह्मणमें कहा है कि

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ॥

' ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त '। इनका अधिक स्पष्टीकरण ऐसा किया है, कि मूर्त शरीर और इन्द्रियां हैं और अमूर्त प्राण, मन आदि हैं। यह मूर्त और अमूर्त मिलकर ब्रह्म होता है। यही आशय स्कंभ नाम सर्वाधार परमात्माके असत् नामक एक अंगसे सब लोकलोकान्तर बनें हैं, इस मंत्रमें प्रकट हुआ है, और वे कैसे बने हैं, इसका स्पष्टीकरण ' इस स्कंभ नामक विश्वात्माने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त करके यह विश्व बनाया, इस ९ म मंत्रमें हुआ है।

दशम मंत्रमें इस स्कम्भ नामक सर्वाधार में लोक, कोश, आप, असत् और सत् रहते हैं और ये वहां हैं, यह बात ब्रह्मज्ञानी लोग यथावत् जानते हैं, ऐसा कहा है, वह उक्त बात उक्त दृष्टिसे हि समझना चाहिये।

आगे ११ और १२ इन दो मंत्रोंमें वही बात दुहराई है, कि जो पहिले १ से ४ मंत्रोंमें कही है। स्कम्भ नामक विश्वाधार के अंग में अर्थात् शरीरमें अग्नि आदि देवताएं अपने अपने स्थानमें रही हैं। अर्थात् अग्नि, आप्, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र मिलकर उस सर्वाधार का शरीर है। आगेके चार मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १३ से १६ तक यही बात कही है---

मं० १३ = जिस सर्वाधारके शरीरके अंगोंमें ३३ देवताएं रही हैं।

मं० १४ = सब पहिले उत्पन्न हुए ऋषि, भूमि, ऋचा, साम, यजु, एक मुख्य ऋषि ये सब उसी सर्वाधारमें रहते हैं।

मं० १५ = पुरुषमें अमृत और मृत्यु रहते हैं। समुद्र जिसकी धमनियां हैं।

मं० १६ = चारों दिशा-उपदिशाएं जिसमें नाडियां हैं, जहां यज्ञ विशेष महत्त्व का स्थान पाकर रहा है।

इस तरह सर्वाधार परमात्माके शरीरके अंग बनकर ये सब पदार्थ रहे हैं। इसका ही स्पष्टीकरण पाठक आगे देख सकते हैं।

मं० १८ = इस सर्वाधारका मुख अग्नि है, चक्षु अंगिरस हैं, अन्य अवयव यातु-जन्तुमात्र है,

मं० १९ = ब्राह्मण जिस सर्वाधारका मुख है, जिह्वा मधुकशा- गौ है, जिस का दुग्धाशय विराट् विश्व है।

मं०२० = उससे ऋग्वेद, यजुर्वेद हुए और साम जिसके लोम है और अथर्वा-ब्रह्मा-जिसका मुख है।

पाठक इस वर्णनकी तुलना १३ से १६ मंत्रोंके साथ करें। मंत्र १३ से १६ तक जो कहा है, वही अधिक सुदृढ करनेके लिये मंत्र १८ से २० तक के मंत्र हैं। विश्वरूपी परमात्माके ये सूर्यादि अवयव हैं, यह विश्वही उसका शरीर है, वेद ही उसकी वाणी है, वेदके द्वारा वही सब मनुष्योंके साथ बोल रहा है। जो वेदवेत्ता ब्राह्मण है, वही उसका मुख है। इस तरह परमात्मा प्रत्यक्ष हो रहा है, पाठक इस रूपमें परमात्माका साक्षात्कार करना सीखें।

१७ वे मंत्रमें परमात्मसाक्षात्कार करनेकी और एक विशेष युक्ति दी है, वह यह है कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्॥ (१७)

"जो पुरुषमें- मनुष्यके अन्दर ब्रह्म जानते हैं वे ही परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। यहां व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिये। व्यष्टि एक व्यक्ति है,समष्टि व्यक्तिसमूहका नाम है, और परमेष्ठी स्थिरचर विश्वसंपूर्णका नाम है। मनुष्य विश्वव्यापक परमेष्ठी को किस तरह जान सकता है? मनुष्यका इन्द्रियसमूह अल्प शक्तिवाला है, उससे विश्वसमष्टिका आकलन कैसे हो सकता है? उत्तरमें कहते हैं कि मनुष्य अपने अन्दर वही विश्वकी बातें अनुभव करे। मनुष्य अपने अन्दर देखे, कि मेरा आंख सूर्य ही है, अग्नि शरीरमें उष्णतारूप धारण किये हैं, जलतत्त्व रक्तरूपसे मेरे शरीरमें है और नाडियों में प्रवाहित हो रहा है, वायु मेरा प्राण बना है, पृथ्वी भी हड्डियोंके रूपसे शरीरमें है, दिशाएं कान में रहीं हैं, इसी तरह ३३ देवताएं मेरे इस छोटेसे शरीर में अंशरूपसे आकर रही हैं और यहां मुझे सहायता दे रहीं है। मैं आत्मा हूं और ये ३३ देव यहां मेरे सहायक होकर इस शरीरमें मेरे वशवर्ती हो रहे हैं। यही ज्ञान पुरुष—मनुष्य—के शरीरमें लेने योग्य है। यही शरीरमें मूर्त और अमूर्त ब्रह्म रहता है। इसको यथावत् जाननेसे विश्वमें-विश्वात्मामें- येही ३३ देव वैसे रहे हैं,यह साधक जान सकता है और अपने शरीर के अंशरूप देवोंका विश्वव्यापक परमात्मदेहमें रहनेवाले देवोंके साथ क्या संबंध है,यहभी देखा जा सकता है। जैसा आंखका सूर्य से संबंध इ०। इस तरह विचार करनेसे साधक अपने आपको परमात्माके विश्वव्यापक देहमें एक अंश- अल्प अंशरूप देख सकता है। जो इस तरह अपने शरीरमें अनुभव कर सकेंगे, वेही ब्रह्माण्डदेहमें ब्रह्मका अनुभव और साक्षात्कार कर सकते हैं। यह ब्रह्मसाक्षात्कार की साधना है।

जो इस तरह मनुष्य अपने अन्दर ब्रह्म देख सकते हैं, वे परमेष्ठी, प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्मको भी क्रमशः जान सकते हैं और अन्ततः सर्वाधार परमात्माको जान सकते हैं।

कई साधक असत्को ही श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं, और दूसरे साधक सत् को ही श्रेष्ठ मानकर उपासना करते हैं। इस तरह दोनों उपासनाएं मनुष्यों में शुरू हैं। यह मंत्र २१ में वर्णन है। परंतु आगे (मं० २२ में) कहा है,कि जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, और जिसमें भूत,वर्तमान और भविष्य काल के सब लोकलोकान्तर रहे हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर सबका उपास्य देव है॥

(मं० २३ =) जिस परमात्माके निधिका संरक्षण सब तैंतीस देव करते हैं,

उस निधिको कौन जानता है? इस मंत्रका अनुभव पाठक अपने अन्दर भी देख सकते हैं, क्योंकि सब ३३ देवों द्वारा—देवताओंके अंशोंद्वारा ही यहांके आत्माकी रक्षा हो रही है। यहां सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि आये हैं, रहे हैं और यहांके निधिकी रक्षा कर रहे हैं। इसी का वर्णन आगेके २४ वें मंत्रमें कहा है कि ब्रह्मज्ञानी और देव जहां श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, यह जो जानता है, वही ज्ञानी होता है। २५ वे मंत्रमें सर्वाधार परमात्मा का एक अंग असत् है, जिससे अग्न्यादि सब देवताएं बनी हैं, ऐसा वर्णन है, अर्थात् यह बात यहां स्पष्ट हो चुकी है कि सर्वाधार परमात्माके शरीर के दो अंक हैं, एक सत् और दूसरा असत्। दोनों मिलकर सर्वाधार परमात्मा होता है, जिसका आधार सब विश्वको है। इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण मंत्र २७ में करते हैं— जिसके शरीरमें ३३ देव एक एक अवयवमें रहते हैं, अर्थात् जिसके शरीरके अवयव इन देवताओंके हि बने हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है, इसको ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं।

इस स्थानपर परमात्मा मूर्त-अमूर्त, दोनों रूपोंवाला है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। परमात्माका प्रत्येक गात्र एक एक देवताका बना है। वस्तुतः मनुष्यके गात्रभी सब देवताओंके हि बने हैं। क्या हमारे गात्रों और अंगोंमें पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु आकाश ये देवताएं नहीं हैं? हैं और अवश्य हैं। इसी तरह विश्वाधार परमात्माके विश्वदेहके प्रत्येक अंगभी देवताओं के ही बने हैं। इस तत्वज्ञानको ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं, अन्य मूढ क्या जानेंगे ?

२६ वे मंत्रमें एक विशेषहि महत्त्वकी बात कही है, वह यह कि—

स्कंभः पुराणं प्रजनयन् व्यवर्तयत्॥ (२६)

"सर्वाधार परमात्मा अपने पुराणे अंगको पुनः जन्म देता हुआ, उसको परिवर्तित करता है, अर्थात् नया ही बनाता है।" यह इस सर्वाधारका अंग पुराणा होनेपर भी उसीकाही समझना चाहिये। उसीका है ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं। यही बात आगे अगले सूक्तमें दर्शायेंगे—

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः। (सूक्त८।२८)

'एकही देव जो मनमें प्रविष्ट हुआ है, वह पहिले जन्मा था, वही पुनः गर्भमें आ गया है।' यह नया बननेके लिये ही गर्भमें आ गया है। यही बात अन्य वेदोंमें भी है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
(वा० यजुः० ३२।४)

" यह देव सब दिशाओंमें व्याप्त है, यही पहिले जन्मा था, और यही अब गर्भमें आ गया है, यही भूत कालमें हुआ था और यही भविष्य कालमें जन्म लेनेवाला है, तात्पर्य यह कि यही सब-अनंत मुखवाला प्रत्येक मनुष्यमें रहता है । " अतः यही पुराणा हो जानेपर पुनः पुनः जन्म लेता है और नया बनता है क्योंकि मृत्युभी यही है और जन्म भी यही है । यम (मृत्यु) भी वही है और प्रजापतिभी अथवा पिताभी वही है ।

मं० २८ में हिरण्यगर्भ भी उसी स्कंभ-- सर्वाधारसे सामर्थ्य प्राप्त करके हुआ, यह बात दर्शाइ है । तात्पर्य यह कि इस सर्वाधार परमात्मामें सब लोक, सब तप, सब ऋत, अर्थात् सब कुछ समाया है । इसीका नाम इन्द्र है और इसी कारण इन्द्रमें यह सब कुछ है, ऐसा कहा जाता है । (मं० २९-३०) इस परम देवका नाम प्रातःकालमें सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व ध्यानद्वारा स्मरण करनेसे अपना आत्मिक स्वराज्य प्राप्त होता है, जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्यका प्राप्तव्य है । यह नामजप एक प्रकारका वाग्यज्ञ ही है ।

ईश्वरका शरीर ।

आगे ३ मंत्रोंमें (अर्थात् मं० ३२--३४ इन मंत्रोंमें) ईश्वरके शरीरका वर्णन है । भूमि उसके पांव हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक सिर है, सूर्य आंख है, नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी उसका दूसरा आंख है, अग्नि मुख है, वायु प्राण और अपान है, अंगिरस आंख बने हैं, दिशाएं कान हैं । इस तरह इस सर्वाधारका ब्रह्माण्ड देह है । पाठक इस तरह इस परमात्माका साक्षात्कार करें । इसी परमात्माने यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सब दिशा उपदिशाओं का धारण किया है, वह सब भुवनोंके अन्दर व्याप कर रहता है । सबका धारण करता है । (मं० ३५)

इस परमात्माने हि ' सोम ' नामक दिव्य औषधि बनायी है, वायु और मन को चञ्चल बनाया है, जलोंको प्रवाही बनाया है । इसी भुवनोंके बीचमें वर्तमान देवताके

आश्रयसे सब देवताएं रहती हैं,जिस तरह शाखाएं वृक्षके आश्रयसे रहती हैं। हाथ, पांव, वाणी, कान, चक्षुसे जिसको उपहार पहुंचाया जाता है, सब देवता जिसकी उपासना करके उपहार पहुंचाते हैं, वही अनन्त ईश्वर सबका उपास्य है। (मं० ३६-३९)

उसमें अन्धकार नहीं है, पाप उससे दूर है, तीनों ज्योतियां उसीमें हैं। वही सर्वत्र गुप्त रहनेवाला प्रजापति है। दिनप्रभा और रात्री ये दो स्त्रियें छः ऋतुवाला संवत्सररूपी वस्त्र बुन रहीं हैं, न ये कभी थकती हैं और न अपना कार्य समाप्त करती हैं। इनपर अधिष्ठाता एक पुरुषभी है, जो धागा देता है और कार्य करवाता है। सब ताना और बाना यह काल ही है। यह उसी परमात्माकी शक्तिका एक महिमा है। (मं० ४०--४४)

पाठक इस तरह इस सूक्तका मनन करें और परमात्माका साक्षात्कार करनेको सीखें। इसी लिये मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। अब इसी परमात्माके वर्णनपरक आगेका मनोरम सूक्त देखिये—

सूक्त ८, ज्येष्ठ ब्रह्म।

पूर्व सूक्तमें जिस स्कंभ-स्तंभ-सर्वाधार परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीका वर्णन करके पुनः इसी सूक्तमें वही विषय समझाते हैं—

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो कुछ विश्व है, उस सबका अधिष्ठाता वही परमात्मा है, वही सबका प्रकाशक है, वही सबका उपास्य है (मं० १)। इसी परमात्माने पृथ्वी और द्यु धारण किये हैं, इतनाही नहीं परंतु—

स्कंभः इदं सर्वं, आत्मन्वत्, यत् प्राणत्, यत् निमिषत्।

(मं० २)

यह सर्वाधार परमात्माही यह सब कुछ विश्व है, जिसमें आत्मा है और जो प्राणापान लेताछोडता है और निमेषोन्मेष करता है। देखिये—

स्कंभ इदं सर्वं। (अथर्व० १०।८।२)
पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ० १०।९०।२)
एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्। (ऋ० १०।७।९)
वासुदेवः सर्वं। (भ० गीता ७।१९)

विश्वं विष्णुः। विष्णुसहस्रनाम (म० भारत)

' स्कंभ ही सब कुछ है, पुरुष ही सब कुछ है, उसके एक अंगसे सहस्रों वस्तुएं बनी हैं, वही सब कुछ है। ये सब वर्णन विश्वात्माके ही हैं। यदि वही सब कुछ है,तो जो दीखता है, वह भी सब उसीका रूप है। यह सिद्ध है।

(मं० ३) तीन प्रकारकी प्रजाएं हैं, एक सत्त्वगुणी, दूसरी रजोगुणी और तीसरी तमोगुणी। सब विश्व इन तीनों गुणोंसे भरपूर है, कोई वस्तु इन गुणोंसे रहित नहीं है। सत्त्व-गुणी प्रकाशमें रहते हैं, रजोगुणी भोगमें विराजते हैं और तमोगुणी अन्धकारमें जाते हैं।

(मं० ४-५) बारह महिने, तीन काल अर्थात् गर्मी, वृष्टी और सर्दी, और तीन सौं साठ दिवस यह सुस्थिर कालचक्र है। इसमें ६ ऋतु हैं, एक अधिक मास है, वह अकेलाहि रहता है।

(मं० ६--८) एक पुराणकालसे विद्यमान महत्पद है; उसी पदके साथ स्थावर जंगम सब कुछ संबन्धित है। कोई वस्तु उससे संबंध न रखनेवाली यहां नहीं है। एक चक्र है जो आगेपीछे चलता रहता है, उसके आधे भागसे यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है,जो दूसरा आधा भाग है वही गूढ है,वह हरएक जान नहीं सकता। इसकी गति दीखती नहीं है, परंतु उसकी जो स्थिति है, वही दीखती है। गतिमें भूतकाल गया है, इसलिये दीखता नहीं, और भविष्य काल आया नहीं है, इस कारण दीखता नहीं है, वर्तमान काल अति अल्प है, वह अंशरूपसे दीखता है।

(मं० ९) मनुष्यका सिर एक पात्र है, उसका मुख नीचे है, इसमें सब विश्वरूपी यश रहता है, सब मनुष्यका सामर्थ्य इसीमें रहता है। मस्तक बिगड गया तो मनुष्यत्व ही नष्ट होता है। वहां सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि हैं। ये ही इस खजानेके बडे संरक्षक हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इस का महत्त्व जाने और इसकी उत्तम रक्षा करे। क्योंकि संपूर्ण मानवता यही है।

एकही है।

यत् एजति, पतति, यत् च तिष्ठति, प्राणत्, अप्राणत्, निमिषत् च यत् भुवत्। तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार, तत् संभूय एकं एव भवति। (मं० ११)

'इस विश्वमें कंपन,पतन, स्थिरत्व से युक्त, प्राणयुक्त, प्राणरहित, निमेष करने-वाला ऐसे अनेक वस्तुमात्र हैं। यह सब मिलकर एकही सत् तत्त्व होता है और वही तत्त्व विश्वरूप है अर्थात् सब रूपोंका धारण करता है, उसीने इस पृथ्वीको धारण किया है।' वही एक तत्त्व है, शेष जो है, वे सब उसके रूप हैं।

(मं० १२) एक अनन्त सत् तत्त्व है, वही सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त और सान्त ये दोनों अन्तमें एकदूसरेमें मिले हुए हैं। इसका भूत भविष्य देखता हुआ विद्वान् ही आगे बढता है, उन्नति करता है।

(मं० १३) एक प्रजापति है, वह वस्तुतः अदृश्यमान है, वह गर्भमें संचार करता है और गुप्त रूपसे अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है। उसके एक आधे भाग-सेहि यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, उसका जो शेष भाग है, वह गुप्त है, वह पहचानना कठिन है।

सब लोग इस सत् तत्त्वको आंखसे देखते हैं,परंतु सब इसको मननसे जानते नहीं। (मं० १४) जो दिखाई देता है, वह भी उसीका रूप है, परंतु यह सबको समझमें नहीं आता है। (मं० १५) वह सत् तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है,वह दूर भी है और पास भी है, वह पूर्णभी है और हीनमें भी वही है। यही बडा पवित्र और उपास्य है, सब इसीके पास उपहार पहुंचाते हैं। (मं० १६) जिसके बलसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है और जिसमें अस्त को प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, उससे और दूसरा कोईभी श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है। (मं० १७) वेदवेत्ता जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही प्रकाश देनेवाला आदित्य है,जो सबका आदान करता है। वही सबका आधार है। उसी के आधारसे सब अन्य देव हैं। सबको प्रकाशित करनेवाला वही एक देव है। (मं० १८)

एकही ज्येष्ठ ब्रह्म है। सत्य, ज्ञान और प्राण उसीसे संबंधित हैं। जैसा दोनों अरणियोंसे अग्नि निकलता है, वैसा ही सर्वत्र वही सत्तत्त्व है और प्रकटभी होता है। गर्भमें (अपाद) पादरहित ही गर्भ सर्वप्रथम होता है, वही आगे (स्वर) प्रकाश-को प्राप्त करता है, और वही चतुष्पाद—दो हाथों और दो पावोंसे युक्त— हो कर सब प्रकारके भोग भोगता है। (मं० १९--२१) वह भोग्य होता है, भोक्ता होता है, बहुत अन्न प्राप्त करता है और वही सनातन देवता की उपासना करके कृतकृत्य होता है। (मं० २२)

यही एक सनातन सत् तत्त्व है। जो फिरसे नया नया होता है, जैसे वारंवार दिन और रात होते हैं, इसी तरह यह उत्पत्ति और लय होता है। (मं० १३) सौ, हजार, दशलक्ष, अर्बुद असंख्य शक्ति इसमें है, इसकी यह शक्ति कोई जान नहीं सकता। यही देव इस सबको प्रकाशित करता है। (मं० २४) बालसेभी सूक्ष्म यह है, सबको घेरनेवाली ही यह देवता है और वही प्रियरूप है। (मं० २५) यही कल्याण करनेवाली, अजर और अमर है। इस मृत देहमें यह न मरनेवाली देवता है। यह स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध आदि सब रूपोंमें होती है,इसी लिये इसको विश्वतोमुख कहते हैं। (मं० २६--२७)

यही पिता और यही पुत्र है, यही ज्येष्ठ है और यही कनिष्ठ है। यही एक देव मनमें प्रविष्ट हुआ है, वही एक बार जन्मकर फिर गर्भमें पुनर्जन्म के लिये आता है। (मं० २८)

पूर्ण परमात्मासे हि यह पूर्ण विश्व बना है, क्योंकि जैसा वह पूर्ण है, वैसा यहभी पूर्ण है। इसको जविन उसीसे मिलता है। जहांसे इसको जीवन मिलता है,उस मूल स्रोत को जानना चाहिये। (मं० २९) यही सनातन है, और यही सब कुछ बन गयी है। यही बडी देवता है। (मं० ३०) एक देवता हैं जो ऋतसे युक्त है,उसकी ही शक्तिसे ये वृक्ष हरेभरे दीख रहे हैं। (मं० ३१) पास होनेपर भी दीखता नहीं और पास होनेपरभी उसका त्याग नहीं किया जाता। उसी ईश्वरका यह काव्य है, जो नाशको नहीं प्राप्त होता और जीर्णभी नहीं होता। (मं० ३२)

अपूर्व देवताने प्रेरित हुई वाणी सब कोई बोलते हैं; इस वाणीकी मूल प्रेरणा जहांतक पहुंचा देती है, वही बडा ब्रह्म है। ब्रह्मको प्राप्त करनेका यही साधन है कि वाणीका मूल देखो। (मं० ३३) जहां देव और मनुष्य नाभिमें आरे रहनेके समान आश्रित हुए हैं, वही माया से छिपा हुआ सत्तत्त्व है, उसीको जलका पुष्प कहते हैं, क्योंकि उसी फूलसे विश्वका बीज उत्पन्न होता है। (मं० ३४) वायुका संचलन, दिशाओं का अवकाश, तथा अन्यान्य कार्य उसीसे हो रहे हैं। (मं० ३५)

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो रहता है वह वही एक देव है, इसीके ये रूप हैं, प्रत्येक दिशामें वही भिन्नभिन्न दीखता है। (मं० ३६) जो इस फैले हुए विश्वव्यापक सूत्रात्मा को जानता है, जिस सूत्रमें सब विश्वके लोकलोकान्तर पिरोये हैं, सब प्राणी उसीमें हैं और कोई उससे बाहर नहीं है। (मं० ३७--३८)

विश्वको जलानेवाला अग्नि पृथ्वीपर है, उसका सहायक वायुभी अन्तरिक्षमें हैं, द्युलोकमें सबको प्रकाश देनेवाला सत्यधर्मा सूर्य है। यह सब एकके ही सामर्थ्यसे कार्य हो रहा है। (३९--४२)

एक कमल है, तीन गुणोंसे वह बंधा है, नौ द्वार हैं, उनमें वह कमल रहता है। यही हृदयकमल है, नौ द्वारोंवाला स्थान यह शरीर ही है। इस कमलमें जो पूज्य देव है, वही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। (मं० ४३)

निष्काम, धैर्ययुक्त, अमर, स्वयंभू, रससे संतुष्ट होनेवाला, कहीं भी न्यून नहीं, सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ वह देव है। उसको यथावत् जाननेसे हि मृत्युका डर दूर हो जाता है; यही आत्मा अजर,अमर और सदा तरुण है। यही सब शक्तियों का केन्द्र है। यही आनंद देनेवाला है। उसको यथावत् जाननेके लिये हि मनुष्य यहां उत्पन्न हुए हैं।

गौ।

आगे सूक्त ९ और १० में गौका वर्णन है। गौका यहां नाम ' शतौदना ' है। सैंकडों मनुष्योंका अन्न देनेवाली गौ शतौदना कहलाती है। कल्पना करिये कि प्रतिदिन १० सेर दूध गौ देती है। इस हिसाबसे प्रतिदिन पांच मनुष्योंका पेट भरती है, एक मासमें १५० मनुष्यों का पेट भरती है और छः सात महिनोंमें एक सहस्र मनुष्योंका पेट पालन करती है। इस हिसाबसे एक आयुमें गौ दस हजार मनुष्योंका पेट पालन कर सकती है और उसकी संतानसे और अधिक। गौका यह महत्त्व है। गौका दूध बीमारों और अशक्तोंको तो अमृत जैसा है, बालकोंके लिये तो गौ माताका स्थान धारण करती है। गौके दूधसे बल मेधा और बुद्धिकी वृद्धि होती है। शतौदना गौका यह महत्त्व है।

यह गौ स्वर्गीय वस्तु है। कामधेनु यही है,जो गौ जिस समय चाहिये उस समय दूध देती है, उसका नाम ' कामदुघा ' है। कामधेनु यही है। गौ विद्वान ब्राह्मण को दान देनेसे बडा लाभ है, यह दान अन्न और सुवर्ण के साथ (अपूप, हिरण्य) होना चाहिये। (मं० ७-८) यज्ञके शमिता, अन्नके पाचक, देवोंके वसु, मरुत् और आदित्य ये सब गौ के संरक्षक हैं। देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व और अप्सरागण ये सब गौकी रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि गौके दूधसे हि अग्निष्टोम और अतिरात्र ये

यज्ञ होते हैं। (मं० ९)

जो शतौदना गौका दान विद्वान् को करता है, उसको अन्तरिक्ष, भूमि, दिशा, मरुत् तथा अन्य सब लोकोंमें उत्तम स्थान प्राप्त होता है (मं० १०)। सबकी पवित्रता करती हुई यह गौ देवोंको यज्ञद्वारा प्राप्त करती है। त्रिलोक में जो देवताएं हैं वे सब गौके दूधसे तृप्त होती हैं, दूध, घी इसीसे उनको प्राप्त होता है। (मं० ११--१२)

आगे मं० १३ से २४ तक कहा है कि इसी तरह गौका वर्णन है कि यह गौके अवयव और गौ दाताका कल्याण करे और दूधदहीघृत आदि सब वस्तु उसको पर्याप्त प्राप्त हों और दाता स्वर्गको प्राप्त हो।

आगे २७ मंत्र तक ब्राह्मणोंको पृथक् पृथक् गौ दान करनेका वर्णन है।

दशम सूक्तमें भी ऐसा ही गौका वर्णन है। गौका दान लेनेका अधिकारी कौन है, इस विषयमें द्वितीय मंत्रकी सूचना अत्यंत महत्त्वकी है। जो यज्ञका तत्त्व जानता है, वही गौका दान लेवे। गौ अपने भोग के लिये लेनी नहीं है, प्रत्युत यज्ञके लिये लेनी है, यह जो जानता है, वही दान लेवे और उसीको दान दिया जावे। (मं० १--२)

इस सूक्तमें गौका नाम वशा है। वशा गौ वह है कि जो सुखसे दोहि जाति है। दूसरी ' सूतवशा ' है, अर्थात् जो नौकर को वश रहती है। अन्य गौवे वशमें नहीं रहतीं। वशा गौ सबमें उत्तम है, क्योंकि वह न मारती है, न लाथें लगाती है और हर समय दूध देती है।

संपूर्ण पृथ्वी, तथा आप इन सबकी रक्षा यह गौ करती है। सहस्र धाराओंसे दूध देकर यह गौ हरएक का संरक्षण करती है। (मं० ४)

गौका उत्सव।

जो उत्तमसे उत्तम गौ होती है, उसका महोत्सव करते हैं, गौ आगे चलायी जाती है, उसके पीछे सौ मनुष्य पात्र लेकर चलते हैं; सौ मनुष्य दोहन करनेवाले चलते हैं, सौ मनुष्य उसकी रक्षा करनेवाले गोपके रूप में चलते हैं; गौके पीछे इस तरह ३०० मनुष्य बडे आनंदसे चलते हैं। (मं० ५) बडबाजे बजाये जाते हैं और नगर भरमें इसका यह उत्सव मनाया जाता है। यज्ञद्वारा गौके दूधसे सबका जीवन उत्तम रीतिसे होता है, इसलिये उत्तम गौका यह वार्षिक उत्सव किया जाता है।